संसार की पाँच प्रमुख शासन-प्रणालियाँ

(FIVE MAJOR WORLD GOVERNMENTS)

लेखक

अनूप चन्द कपूर, एम० ए०, पी-एच० डी०

महेन्द्र कालिज, पटियाला

अनुवादक

विश्व प्रकाश, एम० ए०, डी० पी० ए०

१९५८

एस० चन्द एण्ड कम्पनी

दिल्ली—जालन्धर—लखनऊ

By the same author

MAJOR WORLD GOVERNMENTS	12/8/-
PRINCIPLES OF POLITICAL SCIENCE	11/-
राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त	६/-

एस० चन्द एण्ड कम्पनी
आसफ अली रोड   नई दिल्ली
फव्वारा   दिल्ली
माई हीरा गेट   जालन्धर
लाल बाग   लखनऊ

मूल्य १३·५०

गौरीशकर शर्मा, एस० चन्द एण्ड कम्पनी, फव्वारा, दिल्ली द्वारा प्रकाशित
एव उग्रसेन दिगम्बर, इण्डिया प्रिंटर्स, एस्प्लेनेड रोड, दिल्ली द्वारा मुद्रित

हिन्दी संस्करण की प्रस्तावना

आज जब कि भारत के अधिकाश राज्यो ने हिन्दी को राज-भाषा मान लिया है और सघ सरकार भी ८-७ वर्षो के अन्दर ही इसे अपने समस्त कार्यों मे प्रयुक्त करने लगेगी, यह अतीव आवश्यक है कि उसमे विभिन्न सामाजिक और वैज्ञानिक विषयो पर उच्च मौलिक साहित्य का निर्माण हो जो न केवल विश्वविद्यालय की ऊँची से ऊँची कक्षाओ के छात्रो की आवश्यकता पूरी करता हो, प्रत्युत जनसाधारण की भी ज्ञान-पिपासा को शान्त कर सके । यह तभी सम्भव हो सकता है जब कि हमारे मनीषी हिन्दी मे ही चिंतन करे और फिर हिन्दी मे ही अपने विचारो को प्रकट करें । दुर्भाग्य से इस समय ऐसे समर्थ विद्वानो और लेखको का अभाव है । जब तक ऐसा नही होता, हमारे लिए दूसरा रास्ता यह रह जाता है कि हम विदेशी भाषाओ के, विशेषकर अग्रेजी के, विभिन्न विषयो से सम्बन्धित प्रामाणिक ग्रन्थो को हिन्दी मे ले आयें । प्रस्तुत पुस्तक इसी दिशा मे एक लघु प्रयास है ।

इस पुस्तक के लेखक डा० अनूपचन्द कपूर, एम० ए०, पी-एच० डी०, (प्राध्यापक, राजनीति-विभाग, महेन्द्र कालिज, पटियाला) राजनीति के ख्यातिनामा विद्वान् हैं । डा० साहब की पहले भी राजनीति के विभिन्न अगो पर कई पुस्तकें छप चुकी हैं और उनमे से कुछ का हिन्दी मे भी अनुवाद हो चुका है । यह पुस्तक उनकी 'Five Major Governments' पुस्तक का हिन्दी रूपान्तर है । जब इस पुस्तक का हिन्दी अनुवाद हो रहा था, डा० साहब ने अपनी मूल पुस्तक में यत्र-तत्र महत्वपूर्ण सशोधन और परिवर्तन किये थे, जिन्हें मैंने अनुवाद मे यथायोग्य स्थान दिया है । मुझे हर्ष है कि अनुवाद का कुछ अश डा० साहब ने स्वय देख लिया था और उसे पसन्द किया था । जैसा कि 'Five Major Governments' नाम से स्पष्ट है, इस पुस्तक मे आधुनिक विश्व के पांच प्रमुख देशो इगलैण्ड, अमेरिका, स्विट्ज़रलैण्ड, रूस और भारत की शासन-प्रणालियो का वर्णन है ।

यह कहना शायद अप्रासगिक न होगा कि आज जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर राजनीति की छाप है, और जैसा कि जी० डी० एच० कोल ने कहा है 'हम चाहे राजनीति की परवाह न करें, राजनीति हमारी परवाह अवश्य करती है' । राजनीतिक सस्थाएँ मनुष्य-जीवन के हर पहलू को नियन्त्रित कर रही हैं । ऐसी स्थिति मे प्रत्येक सुसस्कृत नागरिक के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह विभिन्न देशो की राजनीतिक सस्थाओ और शासन-प्रणालियो का समुचित ज्ञान प्राप्त करें । इस पुस्तक मे जिन पाँच विभिन्न देशो की शासन-प्रणालियो का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है, उनमे से प्रत्येक अपने मे एक विशिष्ट वर्ग है और उसकी शासन-विज्ञान के क्षेत्र मे अतुलनीय देन है । इगलैण्ड अपनी ससदीय शासन-प्रणाली के लिए , अमरीका अपने सघवाद और अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के लिए , स्विट्ज़रलैण्ड अपनी बहुल कार्य-

पालिका और जनमत-सग्रह तथा आरम्भक जैसी प्रत्यक्ष लोकतत्र की सस्थाओ लिए, और रूस अपनी प्रेजीडियम, दल तथा शासन की एकरूपता और सैद्धान्ति आधार के लिए उल्लेख्य है। भारतीय छात्रो के लिए भारतीय शासन-प्रणाली अध्ययन करना क्यो आवश्यक है, इस सम्बन्ध मे कुछ विशेष कहने की जरूरत न है। अधिक से अधिक यही कहना काफी होगा कि शासन-प्रणाली देश के जीवन प्रतिबिम्ब होती है और यदि हम वर्तमान भारतीय जीवन-प्रवाह को समझना चाह है, तो हमारे लिए भारत की राजनीतिक और सवैधानिक सस्थाओ को समझ अपेक्षित है।

जैसा कि पाठको को पाद-टिप्पणियो और सदर्भ-निर्देशो से ज्ञात होगा, पुस्त को लिखने मे विद्वान् लेखक ने कठिन परिश्रम किया है। आज प्रत्येक देश मे नि नये परिवर्तन हो रहे है। लेखक ने पुस्तक मे विवेच्य शासन-प्रणालियो के अद्यत परिवर्तनो का समावेश किया है। पुस्तक विभिन्न भारतीय विश्वविद्यालयो के बी० ए और एम० ए० के तथा प्रतियोगी परीक्षाओ मे भाग लेने वाले प्रत्याशियो की आवश्यक ताओ को भली प्रकार पूरा करती है। पुस्तक मे सर्वत्र ही तुलनात्मक पद्धति को अपना गया है और लेखक ने जहाँ तक हो सका है निर्वैयक्तिक एव निष्पक्ष दृष्टिकोण प्रस्तु करने का प्रयास किया है।

दो शब्द अनुवादक के बारे में। एक भाषा से दूसरी भाषा मे अनुवाद कर काफी मुश्किल काम है क्योकि इसके लिए न केवल दोनो भाषाओ पर अधिकार की आवश्यकता है, प्रत्युत विषय का ज्ञान भी बहुत जरूरी है। मैं इस प्रयास मे कहाँ त सफल हुआ हूँ, इसका निर्णय तो सुविज्ञ पाठक ही कर सकेंगे। मैं अपनी ओर से केव यही कह सकता हूँ कि मैंने शब्दानुवाद की अपेक्षा भावानुवाद पर ज्यादा ध्यान दिया और भाषा यथासाध्य सरल एव सुबोध रखी है। जहाँ तक पारिभाषिक शब्दावली क प्रश्न है, इस सम्बन्ध मे हिन्दी-जगत् मे अराजकता-सी मची हुई है। सविधान की ए शब्दावली है, शिक्षा मन्त्रालय विभिन्न विषयो के ऊपर अपनी अलग से शब्दावलि निकाल रहा है, पारिभाषिक शब्दो के सम्बन्ध मे डा० रघुवीर का अपना एक अल 'स्कूल' है और समाचारपत्र अपने ही शब्द गढ रहे है। आज के भाषा-सक्रमण युग यह स्वाभाविक भी है। मैंने पुस्तक के अनुवाद मे सविधान की शब्दावली को मू माना है और जहाँ उससे काम नही चला है, सर्वाधिक प्रचलित एव बोधगम्य शब्दो क लेने का प्रयास किया है चाहे वे किसी भी स्रोत से मिले हो या मुझे स्वय गढने प हो। हाँ, मैंने कोष्ठो मे प्राय सभी महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्दो के अंग्रेजी पर्या दे दिए हैं।

—विश्व प्रका

विषय-सूची

(Contents)

Contents

अध्याय　　　　पृष्ठ

इंगलैण्ड की शासन-प्रणाली (१-२२९)

(The Government of England)

१. संविधान की प्रकृति और विषय-वस्तु　१
(Nature and Content of the Constitution)

२ राजा और क्राउन　२३
(The King and the Crown)

३ प्रिवी परिषद्, मन्त्रालय और मन्त्रिमण्डल　४५
(Privy Council, Ministry and Cabinet)

४. मन्त्रिमण्डल की कार्य-प्रणाली　६३
(The Cabinet at Work)

५. शासन का संगठन　९०
(Machinery of Government)

६ संसद्　१०९
(Parliament)

७ संसद् (क्रमशः)　१४२
(Parliament—*contd*)

८. विधि और न्यायालय　१७७
(Law and the Courts)

९. राजनीतिक दल　१९६
(Political Parties)

१०. स्थानीय शासन　२१३
(Local Government)

संयुक्त राज्य अमेरिका का शासन (२३०-३७४)

(The Government of the United States of America)

१. एक राष्ट्र का जन्म　२३०
(The Birth of a Nation)

अध्याय पृष्ठ

२. सयुक्त राज्य अमेरिका के सविधान की मुख्य विशेषताएँ (Essentials of the American Constitutional System) २४०

३ अध्यक्ष-पद (The Presidency) २६१

४ मन्त्रिमण्डल और प्रशासनिक विभाग (The Cabinet and the Executive Departments) २८८

५ कांग्रेस सगठन एव सरचना (Congress Structure and Composition) ३०३

६ कांग्रेस (क्रमश) (Congress—*contd*) ३२४

७ सघीय न्यायपालिका (Federal Judiciary) ३४७

८ राजनीतिक दल (Political Parties) ३६६

स्विट्जरलैण्ड का शासन (३७५-४८३)

(The Government of Switzerland)

१ देश और जनता (The Country and its People) ३७५

२ स्विस परिसघ की मौलिक विशेषताएँ (Basic Features of the Swiss Confederation) ३८७

३ कैण्टनो का शासन और स्थानीय स्वशासन (The Cantonal and Local Government) ४०६

४ स्विस सघीय शासन का स्वरूप (The Frame of National Government) ४१६

५ स्विस सघीय शासन का स्वरूप (क्रमश.) (The Frame of National Government—*contd*) ४४०

६ स्विस सघीय शासन का स्वरूप (क्रमश) (The Frame of National Government—*contd*) ४५३

७ जनमतसग्रह और आरम्भक (The Referendum and the Initiative) ४६१

८. राजनीतिक दल (Political Parties) ४७४

अध्याय पृष्ठ

सोवियट रूस की शासन-प्रणाली (४८४-५७३)

(The Government of the U S S.R.)

१. स्टालिन सविधान ४८४
(The Stalin Constitution)

२ केन्द्रीय शासन-व्यवस्था ५०६
(Government at the Centre)

३. केन्द्रीय शासन-व्यवस्था (क्रमश) ५१९
(Government at the Centre—*contd.*)

४ केन्द्रीय शासन-व्यवस्था (क्रमश) ५२६
(Government at the Centre—*contd.*)

५. न्यायपालिका ५३८
(The Judiciary)

६. प्रादेशिक शासन ५५१
(Regional Government)

७. साम्यवादी दल ५५७
(The Communist Party)

परिशिष्ट—१ (पारिभाषिक शब्दावली) ५७४
(Glossary of Technical Terms)

भारतीय गणराज्य का शासन (१-३८४)

(The Indian Republic)

१. सविधान का निर्माण १
(Making of the Constitution)

२ भारत के सविधान की मुख्य विशेषताएँ १०
(Salient Features of the Constitution)

३ मौलिक अधिकार और राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व ४४
(Fundamental Rights and the Directive Principles of State Policy)

४ केन्द्रीय शासन ८०
(Government at the Centre)

५ केन्द्रीय शासन (क्रमश) १३२
(Government at the Centre—*contd.*)

अध्याय पृष्ठ

६ केन्द्रीय शासन (क्रमश) १६३
(Government at the Centre—*contd*)

७ उच्चतम न्यायालय १६६
(The Supreme Court)

८ सघ और राज्य २२६
(The Union and the States)

९ राज्य की कार्यपालिका २७०
(The State Executive)

१०. राज्य का विधानमण्डल २६६
(The State Legislature)

११ राज्य की न्यायपालिका ३२०
(The State Judiciary)

१२ सघ और राज्यो के अधीन सेवाएँ ३३४
(Services under the Union and the States)

१३ राजनीतिक दल ३५१
(Political Parties)

१४. क्षेत्रीय परिषदें ३७६
(Zonal Councils)

संसार की पाँच प्रमुख शासन-प्रणालियाँ

इंगलैण्ड की शासन-प्रणाली

(The Government of England)

अध्याय १

संविधान की प्रकृति और विषय-वस्तु

(Nature and Content of the Constitution)

इंगलैण्ड के संविधान की प्रकृति (Nature of the English Constitution)—इंगलैण्ड को छोड़कर संसार के अन्य प्रत्येक देश में 'संविधान' का अभिप्राय वैधानिक नियमों के एक ऐसे समूह से होता है जो उस देश के शासन को संचालित करते हैं और एक या अनेक प्रलेखों (documents) में लिपिबद्ध रहते हैं। इस प्रकार के प्रलेख को (या प्रलेखों को) या तो कोई संविधान सभा (Constituent Assembly) बना सकती है, अथवा वह किसी विधानमंडल की कृति हो सकता है। यह भी सम्भव है कि उसे कोई राजा अपनी प्रजा के लिए स्वीकार करे और यह वचन दे कि वह तथा उसके उत्तराधिकारी उद्घोषणा (proclamation) के उपबन्धों के अनुसार शासन करेंगे। इस प्रकार, 'संविधान' का अर्थ एक ऐसा लिखित, निश्चित और क्रमबद्ध प्रलेख है जिसमें शासन-संचालन के सामान्य नियमों का उल्लेख होता है। संविधान का एक विशिष्ट स्वरूप होता है और उसे अत्यन्त पवित्र समझा जाता है। 'संविधान' में संशोधन तथा परिवर्तन करने की प्रक्रिया संविधि (statutory) या सामान्य विधि में संशोधन तथा परिवर्तन करने की प्रक्रिया से भिन्न हुआ करती है। यह आवश्यक है कि विधान-मंडलों द्वारा निर्मित विधि (statutory law) संविधान की अन्तरात्मा के अनुकूल हो अन्यथा उसे अवैधानिक (*ultra vires*) माना जाता है।

लेकिन, अंग्रेजी संविधान का न तो किसी योजनानुसार निर्माण ही हुआ है और न वह कभी लेखबद्ध ही किया गया है।[1] वह अनिश्चित है। अंग्रेजों ने अपनी राजनीतिक व्यवस्था का किसी औपचारिक प्रलेख के रूप में कभी निरूपण नहीं किया

---

[1] १६५३ के शासन-उपकरण (Instrument of Government) को छोड़ कर। लेकिन यह शासन-उपकरण जिसने क्रॉमवेल (Cromwell) को लॉर्ड प्रोटेक्टर (Lord Protector) बना दिया था और एक नए विधान-मंडल की स्थापना की थी, केवल कुछ ही वर्षों तक इंगलैण्ड का संविधान रहा था। १६६० में राजतन्त्र की पुनर्प्रतिष्ठा (Restoration) ने इसे समाप्त कर दिया और इंगलैण्ड में पुनः पुरानी शासन-प्रणाली चालू हो गई।

इंगलैण्ड की शासन-प्रणाली

(The Government of England)

अध्याय १

संविधान की प्रकृति और विषय-वस्तु

(Nature and Content of the Constitution)

इंगलैण्ड के संविधान की प्रकृति (Nature of the English Constitution)—इंगलैण्ड को छोड़कर संसार के अन्य प्रत्येक देश में 'संविधान' का अभिप्राय वैधानिक नियमों के एक ऐसे समूह से होता है जो उस देश के शासन को संचालित करते हैं और एक या अनेक प्रलेखों (documents) में लिपिबद्ध रहते हैं। इस प्रकार के प्रलेख को (या प्रलेखों को) या तो कोई संविधान सभा (Constituent Assembly) बना सकती है, अथवा वह किसी विधानमंडल की कृति हो सकता है। यह भी सम्भव है कि उसे कोई राजा अपनी प्रजा के लिए स्वीकार करे और यह वचन दे कि वह तथा उसके उत्तराधिकारी उद्घोषणा (proclamation) के उपबन्धों के अनुसार शासन करेंगे। इस प्रकार, 'संविधान' का अर्थ एक ऐसा लिखित, निश्चित और क्रमबद्ध प्रलेख है जिसमें शासन-संचालन के सामान्य नियमों का उल्लेख होता है। संविधान का एक विशिष्ट स्वरूप होता है और उसे अत्यन्त पवित्र समझा जाता है। 'संविधान' में संशोधन तथा परिवर्तन करने की प्रक्रिया संविधि (statutory) या सामान्य विधि में संशोधन तथा परिवर्तन करने की प्रक्रिया से भिन्न हुआ करती है। यह आवश्यक है कि विधान-मंडलों द्वारा निर्मित विधि (statutory law) संविधान की अन्तरात्मा के अनुकूल हो अन्यथा उसे अवैधानिक (*ultra vires*) माना जाता है।

लेकिन, अंग्रेज़ी संविधान का न तो किसी योजनानुसार निर्माण ही हुआ है और न वह कभी लेखबद्ध ही किया गया है।[1] वह अनिश्चित है। अंग्रेज़ों ने अपनी राजनीतिक व्यवस्था का किसी औपचारिक प्रलेख के रूप में कभी निरूपण नहीं किया

---

[1] १६५३ के शासन-उपकरण (Instrument of Government) को छोड़ कर। लेकिन यह शासन-उपकरण जिसने क्रॉमवेल (Cromwell) को लॉर्ड प्रोटेक्टर (Lord Protector) बना दिया था और एक नए विधान-मंडल की स्थापना की थी, केवल कुछ ही वर्षों तक इंगलैण्ड का संविधान रहा था। १६६० में राजतन्त्र की पुनर्प्रतिष्ठा (Restoration) ने इसे समाप्त कर दिया और इंगलैण्ड में पुनः पुरानी शासन-प्रणाली चालू हो गई।

है। फलत , ऐसा कोई एक स्थल नही है जहाँ कि सम्पूर्ण 'सविधान' स्पष्ट और निश्चित रूप से लिखा हुआ हो। ऐसी वहुत सी पुस्तके पाई जा सकती हैं जो ब्रिटिश सविधान का वर्णन करती हैं, लेकिन उनमें एक भी ऐसी पुस्तक नही होगी जिसमे कि ब्रिटिश सविधान मिल सके। यह ठीक है कि ससद् (Parliament) के कुछ ऐसे अधिनियम (enactments) अवश्य हैं जो ब्रिटिश सविधान का निर्माण करते हैं, लेकिन ये अधिनियम एक ही तिथि के नही हैं। जब और जिस रूप मे उनको आवश्यकता हुई, उनका निर्माण कर लिया गया। ब्रिटिश सविधान का सवसे महत्त्वपूर्ण अश वह है, जो लिखित विधि से वाहर रक्खा गया है और केवल लोकाचार (custom) के ऊपर टिका हुआ है। इगलैण्ड में ऐसी भी कोई विधि नही है जिसके सम्बन्ध में हम कह सके कि चूंकि वह सविधान की एक माँग है अत वह एक ऐसी प्रक्रिया द्वारा बदली जा सकती है जो साधारण विधि को वदलने की प्रक्रिया से भिन्न होती है। इगलैण्ड में सविधानिक विधि (Constitutional law) और साधारण विधि (ordinary law) की स्थिति एक-सी है। दोनो का उद्गम एक है और उनके पारण तथा सशोधन की प्रक्रिया भी समान है।

इसलिए, यह स्पष्ट है कि इगलैण्ड का कोई न्यायालय या अन्य कोई सत्ता वैधानिक रूप से ऐसा नही कर सकती कि वह ससद् के किसी अधिनियम को प्रवर्त्तित करना अस्वीकार कर दे और इस प्रकार उसे तिरस्कृत कर दे।

अत , अग्रेजी सविधान अधिकतर अलिखित सविधान है। वह ऐतिहासिक विकास का फल है। ब्रिटिश राष्ट्र की वृद्धि के साथ उसका विकास हुआ है, उसकी इच्छाओ के अनुकूल वह बदला है और उसने स्वय को विभिन्न युगो की आवश्यकताओ के अनुसार ढाल लिया है। जेनिग्ज़ (Jennings) ने यह ठीक ही कहा है, 'यदि सविधान का अर्थ सस्थाएँ हैं और वह कागज नही है जो उनका वर्णन करता है, तो ब्रिटिश सविधान का निर्माण नही हुआ है, प्रत्युत विकास हुआ है—और कोई कागज नही है।"[1] ज्यो-ज्यो आवश्यकता उत्पन्न हुई, समय-समय पर आधुनिक राज्यो के कार्यों का सचालन करने के लिए आवश्यक सस्थाओ की स्थापना की गई। इन सस्थाओ का निर्माण "तात्कालिक आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए हुआ था लेकिन, बाद में, उन्हें अधिक व्यापक और कभी-कभी दूसरे कार्यों को करने के लिए सशोधित कर लिया गया। समय-समय पर राजनीतिक और आर्थिक परिस्थितियो ने सुधारो को आवश्यक कर दिया है। (इगलैण्ड में) आविष्कार, सुधार और शक्तियो के सशोधित वितरण का अविच्छिन्न प्रक्रम रहा है। भवन में निरन्तर वृद्धि हुई है, सशोधन-सुधार हुआ है और यत्र-तत्र पुनर्निर्माण भी हुआ है जिससे वह प्रत्येक शताब्दी में अभिनव हो गया है लेकिन ऐसा कभी नही हुआ है कि उसे भूमिसात् कर दिया गया हो और दुबारा नई वुनियादो पर निर्मित किया गया हो।"[2] दूसरे शब्दो में, ब्रिटिश सविधान "विवेक

---

[1] Jennings, W I The Law and the Constitution (1948) p 8

[2] *Ibid*

और सयोग का जात" (the child of wisdom and chance) है।[1] वह एक ऐसे प्रक्रम का परिणाम है, जिसमें अधिकार-पत्र (charters), सविधियाँ (statutes), न्यायिक निर्णय (judicial decisions), पूर्वदृष्टान्त (precedents), रीति-रिवाज (usages) और परम्पराएँ (traditions) आदि अनेक तत्त्व समय-समय पर एक-एक कर के प्रविष्ट होते गए हैं और उन्होंने युगधर्म के अनुसार देश की राजनीतिक सस्थाओ का रूप-निर्माण किया है। इसलिए, अग्रेजी संविधान का सदैव ही विकास एव सशोधन हो रहा है। वह एक गतिशील सविधान है, उसकी जडें अतीत में और शाखाएँ भविष्य के गर्भ में हैं। न तो १६८८ में कोई व्यक्ति यह भविष्यवाणी कर सकता था कि आज के इगलैण्ड का सविधान क्या होगा और न हमारे काल का कोई व्यक्ति यह भविष्यवाणी कर सकता है कि आज से दो शताब्दियों पश्चात् सविधान का स्वरूप कैसा होगा।

सक्षेप में, ब्रिटिश सविधान ऐसे नियमो का एक समूह है जो राजनीतिक सस्थाओ के सगठन एव कार्यों का तथा उनके सचालन के सिद्धान्तो का वर्णन करते हैं। उसका स्वरूप ठीक वैसा ही है जैसा कि अन्य किसी देश के सविधान का। अन्तर केवल यही है कि अग्रेजी सविधान को कभी क्रमबद्ध, सहिताबद्ध औद सुव्यवस्थित रूप मे नही रक्खा गया है। शायद, भविष्य में भी ऐसी कोई चेष्टा नही की जायेगी कि इन समस्त नियमो और सिद्धान्तो को मिला कर एक सुग्रथित और सुसगत सविधान का रूप दे दिया जाये। वस्तुत, यह एक असम्भव कार्य है क्योंकि न केवल लोकाचारो (usages) और परम्पराओ (traditions) का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है, प्रत्युत उनमे से बहुत से इतने अनिश्चित हैं कि उन्हें लिपिबद्ध नही किया जा सकता। अपरच, एक राजनीतिक प्राणी के नाते, अग्रेज ने ऐसी शासन-प्रणाली को कभी पसन्द नही किया है जो कुछ निश्चित सिद्धान्तो और कट्टर नियमो पर आधारित हो। वह व्यावहारिक, यथार्थवादी और व्यापार-पटु होता है। देश-काल के अनुसार कार्य करना उसके जीवन का निर्देशक सिद्धान्त है और वह अवसरो को पहचानने की अपूर्व क्षमता रखता है। इस प्रकार, वह किसी तर्क को नही जानता और अग्रेजी सविधान में तर्क का अभाव है। इसका परिणाम जैसा कि ऑग (Ogg) ने कहा है, "एक ऐमा सविधानिक सगठन है जिसमें एकरूपता नही है, एक ऐसी शासन-व्यवस्था है, जो बहुत युक्तिहीन है।" लेकिन इसका यह तात्पर्य नही है कि अग्रेजी सविधान 'भानमती का पिटारा' मात्र है। इगलैण्ड की शासन-प्रणाली के नियम और सिद्धान्त अग्रेजो के अनुभव से नि सृत हुए हैं और उनका सजगता से पालन तथा प्रयोग किया गया है।

ब्रिटिश सविधान के सम्बन्ध में पेन तथा डी टोकियावेली के विचार (Views of Paine and De Tocguivelle on the English Constitution)—

---

[1] ब्रिटिश सविधान के लिए इस विशेषण का प्रयोग श्री स्ट्रार्ची (Mr Starchey) ने अपनी पुस्तक 'क्वीन विक्टोरिया' में किया है। ऑग (Ogg) ने अपनी कृति 'English Government and Politics' में इसे उद्धृत किया है। देखिए, पृ० ६८।

बहुत से लेखको का विचार है कि ब्रिटिश सविधान का अस्तित्व ही नही है। इन लेखको में थॉमस पेन तथा एलेक्सिस डी टोकियावेली प्रमुख हैं। थॉमस पेन लिखित सविधानो का महान् समर्थक था। उसने स्पष्ट रूप से कहा है कि जहाँ सविधान को "आँखो के सामने उपस्थित नही किया जा सकता, वहाँ कोई सविधान नही होता।' बर्क ने अपनी पुस्तक 'Reflections on the French Revolution' में अग्रेजी सविधान का बडी योग्यता से प्रतिपादन किया है। बर्क को दिए अपने एक ओजपूर्ण उत्तर में पेन ने कहा था, "क्या श्री बर्क अग्रेजी सविधान उपस्थित कर सकते हैं? यदि वे नही कर सकते, तो फिर हम यह ठीक निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि यद्यपि उसकी चर्चा तो बहुत हुई है, लेकिन सविधान जैसी किसी वस्तु का न तो अस्तित्व है और न कभी था।" इसके एक पीढी पश्चात् फ्रास के सुप्रसिद्ध शासन-शास्त्री डी टोकियावेली ने कहा था, "इगलैण्ड में सविधान निरन्तर बदलता रहता है या यह कहना ज्यादा सही है कि उसका अस्तित्व ही नही है।" इन आरोपो के कारण चाहे कुछ भी रहे हो, पेन और डी टोकियावेली के निष्कर्ष गलत थे। कोई भी राज्य सविधान-विहीन नही हो सकता। यह सही है कि ऐसा कोई प्रलेख नही है जिसे कि अग्रेजी सविधान का कोई छात्र सन्दर्भ के लिए देख सके। लेकिन, ससार में ऐसा एक भी सविधान नही है जो कि पूर्णत लिखित हो या पूर्णत अलिखित हो। प्रत्येक सविधान में ही लिखित और अलिखित तत्त्व उपस्थित होते हैं। सभी लिखित सविधान समय के साथ-साथ परिवर्द्धित होते हैं। सविधान के उपबन्धो पर लोकाचारो (customs), और न्यायिक निर्णयो अथवा न्यायिक निर्वचनो (judicial interpretations) का प्रभाव अवश्य पडता है। ब्राइस (Bryce) ने लिखा था, "लिखित सविधान व्याख्या द्वारा विकसित, निर्णयो द्वारा आभूषित और लोकाचारों (customs) द्वारा विस्तृत हो जाते हैं और कुछ समय पश्चात् उनके अक्षरश पाठ उनका पूरा अर्थ प्रकट नही करते।"

किसी भी शासन-प्रणाली में रीति-रिवाजो और परम्पराओ का कुछ न कुछ तत्त्व अवश्य रहता है। लिखित सविधान में, शासन की सभी सस्थाओ से सम्बन्ध रखने वाले सभी नियमो का समावेश नही रहता। लिखित सविधानो के निर्माता यह भी नही कर सकते कि वे भविष्य का पहले से अन्दाज कर लें और सविधान को इस प्रकार निर्मित करे कि भविष्य मे आने वाली पीढियो के उपयुक्त शासन का अन्तिम स्वरूप निश्चित हो जाय। मनुष्य गतिशील है और उसी प्रकार उसकी राजनीतिक सस्थाएँ भी गतिशील हैं। इसलिये सविधान किसी भी अर्थ में स्ट्रेट जैकिट (strait jacket) के रूप में नही बनाया जा सकता, अथवा उसे प्रारभ से ही पूर्ण नही बनाया जा सकता। सविधान में वृद्धि और विकास के लिए गुजाइश रहनी चाहिये यदि सविधान को इसलिए और इस उद्देश्य से बनाया गया है कि वह भविष्य में सर्व-साधारण के हितो और आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। सविधान के निर्माता प्रारम्भ में सविधान को एक ढाँचा या ककाल मात्र का स्वरूप प्रदान करते हैं अथवा शासन-

यन्त्र का प्रस्थानविन्दु (starting point) निर्मित करते हैं, और उसके वाद आने वाली नस्लें उस ककाल या ढाँचे को नियमो, प्रथाओ, 'सकट, काल की आवश्यकताओ (exigencies), राष्ट्रीय आपात् काल की मुसीवतो, आर्थिक विकासो एव ऐसे अन्य क्रिया-कलापो, जिनका सम्बन्ध राष्ट्र की समृद्धि से हो, के अनुरूप मास-मज्जा से पूर्ण कर लेते हैं।

इस प्रकार, लिखित और अलिखित सविधानो मे केवल मात्रा (degree) का अन्तर हो सकता है, प्रकार (kind) का नही। जहाँ कही शासनिक सस्थाओ के सृजन और सचालन को निर्धारित करने वाले नियम होते हैं, वही सविधान का अस्तित्व होता है। इगलैण्ड में ऐसी सस्थाएँ और ऐसे नियम वर्तमान हैं और जैसा कि ऑग और जिक, (Ogg and Zink) लिखते हैं, "यह निश्चित है कि पेन (Paine) तथा टोकियावेली (Tocquivelle) के कालो से काफी पहले, इगलैण्ड में इस प्रकार के नियम थे, अग्रेजो को उन नियमो के अस्तित्व का पूर्ण ज्ञान था और वे उनके इतिहास पर गर्व करते थे।"[1]

सविधान के अवयवी भाग

(Component Parts of the Constitution)

ब्रिटिश सविधान के स्रोत अनेकमुखी हैं और हम उन्हें छ मुख्य श्रेणियो में बाँट सकते हैं।[2] पहिली श्रेणी में कुछ बडे-बडे अधिकार-पत्र (charters) आवेदन-पत्र (petitions), सविधियाँ (statutes) और मैग्ना कार्टा (Magna Carta, 1215), पेटीशन ऑफ राइट्स (Petition of Rights, १९३६), १९३६ के एब्डिकेशन एक्ट (Abdication Act of 1936) द्वारा, सशोधित एक्ट ऑफ सेटिलमेंट (Act of Settlement, 1701), एक्ट ऑफ यूनियन विद स्कॉटलैण्ड (Act of Union with Scotland, 1707), ग्रेट रिफार्म एक्ट (Great Reform Act, 1832), पार्लियामेंट एक्ट (Parliament Act, 1911) तथा १९४९ में सशोधित उसका नया रूप, १९२० का गवर्नमेंट ऑफ आयरलैण्ड एक्ट (Government of Ireland Act, 1920), १९३६ का पब्लिक आर्डर एक्ट (Public Order Act of 1936), १९३७ का मिनिस्टर्स ऑफ दि क्राउन एक्ट (Ministers of the Crown Act of 1937), रिप्रेज़ेंटेशन ऑफ दि

---

[1] Ogg F A, and Zink, H Modern Foreign Governments (1953) p 26

[2] सर मोरिस एमोस (Sir Maurice Amos) ने सविधान के नियमों को तीन प्रकारों में बाटा है (१) विधि-नियम (Rules of Law), इन में सामान्य विधि के नियम (Rules of the Common Law), सविधि-विधि के नियम (Rules of Statute Law) और विधि (Law), या ससद् के तथाकथित विशेषाधिकार सम्मिलित हैं। (२) सविधान के अभिसमय (Conventions of the Constitution), और (३) वे सिद्धान्त जो प्रजा की स्वतन्त्रता से सम्बन्ध रखते हैं। (The English Constitution, 1930, p 24)।

पीपुल एक्ट, १९४९ (Representation of the People Act, 1949), स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिनिस्टर, १९३१ (Statute of Westminister, 1931) तथा भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम, १९४७ (Indian Independence Act, 1947) आदि दूसरे महान् सीमा-चिन्ह आते हैं। इनमें से अधिकाश अधिनियम ससद् द्वारा पास किए गए हैं, लेकिन मैग्ना कार्टा (Magna Carta) जैसा प्रलेख अग्रेजी सविधान का एक अग समझा जाता है क्योकि वह राष्ट्रीय इतिहास का एक महान् सीमा-चिन्ह है। ससद् के अन्यान्य अधिनियमों को "तथ्यो के साथ विशेष तोड-मरोड किए बिना ही मैग्ना कार्टा का सीधा वशज समझा जा सकता है।"[1] ज्येष्ठ विलियम पिट (Elder William Pitt) का कहना था कि मैग्ना कार्टा, पिटीशन ऑफ राइट्स तथा बिल ऑफ राइट्स (Bill of Rights) अग्रेजी सविधान की बाइबिल है। इन अधिकार-पत्रो (charters) तथा सविधियो (Statutes) के बारे में एक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि वे राजनीतिक तनाव एव सकट के परिणाम थे और उनमें उस सकट के निर्णय की शर्तें समाविष्ट हैं। अपने विवेच्य विषय के कारण वे सविधान के भाग हैं। चूँकि वे सविधानिक सघर्ष के सदर्भ में उत्पन्न हुए हैं, अत उनके ऊपर सविधानिक विधि (Constitutional law) का छापा है।

दूसरे, ऐसी भी बहुत सी साधारण सविधियाँ हैं जिन्हें ससद् ने समय-समय पर मताधिकार, निर्वाचन-पद्धतियो और सार्वजनिक अधिकारियो के अधिकारो तथा कर्त्तव्यो आदि के सम्बन्ध में पास किया है। पहली श्रेणी में उल्लिखित सविधानिक सीमा-चिह्नो के प्रतिकूल, ये सविधियाँ किसी सविधानिक सघर्ष की फल नही हैं। जब और जिस समय उनकी आवश्यकता हुई थी, उन्हें साधारण प्रक्रिया द्वारा पास कर दिया गया था। उदाहरणार्थ, १८६७ और १९४४ के बीच में मतदान के अधिकार को विस्तृत करने वाली जितनी विधियाँ पास हुई थी, उनमें से किसी ने भी १८३२ के सुधार अधिनियम (Reform Act of 1832) की भाँति उत्तेजना पैदा नही की थी। फिर भी, ये समस्त सविधियाँ राजनीतिक लोकतत्र के विकास के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं और उनको रद्द करने की चेष्टा राष्ट्र के सविानिधक भाव के प्रतिकूल समझी जायेगी। वस्तुत, यदि इगलैण्ड में इनमे से एक भी सविधि को रद्द करने की कभी कोई चेष्टा की गई, तो इगलैण्ड में शासन का यथावत् सचालन दूभर हो जायेगा।

---

[1] आर. के गुच (R K Gooch) ने 'दि गवर्नमेंट आफ इगलेण्ड", (The Government of England, 1953) नामक पुस्तक में पृ० ६४ पर लिखा है, "प्राविधिक दृष्टि से मैग्ना कार्टा सम्राट् का एक अधिनियम है जिसे उसने अपनी महान् परिषद की मत्रणा से बनाया था। ससद् इसी महान् परिषद् से निकली है। आज भी प्राविधिक दृष्टि से ससद् का अधिनियम "ससद की सहमति और मत्रणा सहित" सम्राट् द्वारा अधिनियमित होता है। इसी प्रकार डा० गुच ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि सिद्धान्तत पेटीशन आफ राइट्स (Petition of Rights) ससद् के अधिनियम से भिन्न नहीं है, और "साहित्यिक दृष्टि से बिल आफ राइट्स स्वय ही ससद् का एक अधिनियम है।" (उपर्युक्त, पृ० ६४-६५)।

सविधानिक नियमो का तीसरा स्रोत उन अभियोगो के सम्बन्ध में न्यायाधीशो के निर्णय हैं जिन्हें वे न्यायालयो में सुनते हैं। अभियोगो का निर्णय करते समय न्यायाधीश बडे-बडे अधिकार-पत्रो एव सविधियो के उपबन्धो की टीका व व्याख्या करते हैं और उनका विकास करते हैं। इस प्रकार के न्यायिक निर्णय अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयो के तत्स्थानी हैं। अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयो ने वहाँ के सविधान के उपबन्धो को स्पष्ट और विकसित करने में बडी सहायता दी है।

चौथा स्थान सामान्य विधि (Common Law) के सिद्धान्तो का है। सविधानिक महत्त्व के बहुत से मुख्य मामले उनके अन्तर्गत आते हैं। उदाहरण के लिए, राजा ने अपना परमाधिकार (prerogative)[1] तथा ससद् ने अपनी सर्वोच्चता सामान्य विधि से प्राप्त की है। इगलैण्ड में जनता की नागरिक स्वतन्त्रताएँ, जो बिल ऑफ राइट्स (Bill of Rights) में लिपिबद्ध हैं, सामान्य विधि के नियमो द्वारा सरक्षित हैं।

सामान्य विधि के सिद्धान्तो को न तो ससद् द्वारा पास की गई और न राजा द्वारा विनिर्दिष्ट किसी विधि ने सस्थापित किया है। उनका विकास अकेले रीति-रिवाजो (usage) के आधार पर हुआ है। न्यायाधीशो ने "देश के लोकाचारो" (customs) को अभिज्ञात किया, उन्हें व्यक्तिगत अभियोगो में प्रयुक्त किया और परवर्ती अभियोगो मे निर्णयो के लिए पूर्व दृष्टान्तो या पूर्वोदाहरणो (Precedents) की स्थापना कर दी। ज्यो-ज्यो "पूर्वोदाहरणो द्वारा इन निर्णयो का क्षेत्र विस्तृत होता गया, साधारण व्यवहार के कुछ ऐसे सिद्धान्त पैदा हो गए जो अग्रेजो की स्वतत्रता की रक्षा करने में एक प्राचीर का-सा कार्य करते हैं और ब्रिटिश सविधान के आवश्यक भाग हैं।"[2] इस प्रकार सविधिक विधि (Statutory law) की भाँति सामान्य विधि का भी निरन्तर विकास हो रहा है।[3]

सविधानिक नियमो का एक अन्य स्रोत रीति-रिवाजो (usages) और

---

[1] जिस समय राजा सामन्ती अधिपति था, परमाधिकार शब्द उसके समस्त अधिकारों को सूचित करता था। आजकल इस शब्द का प्रयोग राजमुकुट की स्वविवेकी सत्ता को प्रकट करने के लिए होता है। दूसरे शब्दों में आजकल यह शब्द यह बताता है कि राजा अथवा उसके कर्मचारी ससद् के अधिनियम के प्राधिकार के बिना क्या कर सकते हैं।

[2] Carter, M G and Others The Government of Great Britain (1953), p 41

[3] सामान्य विधि देश की विधि का वह भाग है जो परम्परागत और न्यायाधीश निर्मित होता है। "सामान्य विशेषण की व्याख्या यह है कि मध्य युग में राजा के उच्च न्यायालय जिस विधि का प्रवर्तन करते थे, वह 'देश का सामान्य लोकाचार' (Common Custom of the Realm) कहलाती थी तथा उन विशिष्ट लोकाचारों से भिन्न होती थी जो स्थानीय क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत आते थे।" Harrison, W The Government of Britain (1952), Appendix B, p 161-162

अभिसमयो (conventions) में पाया जाता है। इगलैण्ड में सविधान के अभिसमय सविधानिक विधि (constitutional law) की अन्तरात्मा हैं। वहाँ आधारभूत अभिसमय मन्त्रिमडलीय शासन (cabinet government) का अभिसमय है। अन्य सभी अभिसमय इसी से निकलते हैं। यद्यपि सविधान के अभिसमयो की वैधता पर न्यायालयो में विचार नही हो सकता, फिर भी वे इगलैण्ड की राजनीतिक व्यवस्था के सबसे महत्त्वपूर्ण अग हैं और उनका बडी सावधानी से पालन होता है।

ब्रिटिश सविधान के स्रोतो के रूप में अन्तिम स्थान उन प्रख्यात लेखको की टीकाओ (commentaries) का है जिनकी रचनाओ को इगलैण्ड की सविधानिक विधि के सम्बन्ध में प्रामाणिक माना जाने लगा है। इन टीकाओ ने विविध अभिसमयात्मक नियमों (Conventional rules) को क्रमबद्ध कर दिया है, उनका एक दूसरे के साथ सम्बन्ध निश्चित कर दिया है और मूल सिद्धान्तों के सन्दर्भ द्वारा उन्हे कुछ हद तक एकता की कडी में बाँध दिया है। कुछ स्थितियो में इन लेखको ने विशिष्ट श्रेणियो के नियमो के सचालन के सम्बन्ध में बडे विस्तृत और सुसगठित विवरण प्रस्तुत किए हैं। इस विषय मे तीन प्रमुख उदाहरण हैं—**एसन का लॉ एण्ड कस्टम ऑफ दि कॉस्टीट्यूशन** (Anson's Law and Custom of the Constitution), **मे का पार्लियामेंट्री प्रेक्टिस** (May's Parliamentary Practice), और **डायसी का लॉ ऑफ दि कास्टीट्यूशन** (Dicey's Law of the Constitution)।

सविधान के अभिसमय

(Conventions of the Constitution)

डायसी (Dicey) ने सविधान के असख्य लोकाचारो (Customs), परम्पराओ (traditions) और पूर्वदृष्टान्तो (precedents) को सविधान के अभिसमयो (Conventions of the Constitution)[1] का नाम दिया था। ये अभिसमय ब्रिटिश सविधान के अभिन्न अग हैं। ये अभिसमय अग्रेजो के स्वभाव में इतने गहरे प्रविष्ट हो गए हैं और शासन का सगठन उनकी बुनियादो[2] पर इतनी

---

[1] जॉन स्टुअर्ट मिल (John Stuart Mill) उन्हें "सविधान के अलिखित सूत्र" (The unwritten marxims of the Constitution) कहता था। एसन (Anson) उन्हें "सविधान के लोकाचार" (the Customs of the Constitution) के नाम से सम्बोधित करता था। जेनिग्ज (Jennings) के विचार से इनमें से कोई भी सूत्र वास्तविक अर्थ को स्पष्ट नहीं करता। अब साधारणत डायसी (Dicey) का सूत्र ही सर्वमान्य हो गया है। The Law and the Constitution, p 80 से उद्धृत।

[2] "यद्यपि 1837 में "सविधान के अभिसमय" शब्दावली का नियमित रूप से प्रयोग नहीं होता था, फिर भी उनसे अभिप्रेत वस्तु वही कारगर मानी जाती थी और वह क्राति के बाद से इसी प्रकार महत्त्वपूर्ण रही थी।" Keith, A B The Constitution of England from Queen Victoria to George VI, Vol I, p 12

दृढता से टिका हुआ है कि उनके विना सविधान यदि पगु नही, तो पूर्णत अव्यावहारिक अवश्य हो जाता है । और फिर भी, वे सविधान की विधि नही हैं ।

विधि और अभिसमय (Law and Convention)—डायसी ने विधियो और अभिसमयो में भेद किया है ।[1] विधियाँ विधायी सत्ता द्वारा निर्मित और न्यायालयो द्वारा प्रवर्त्तित नियम हैं । अभिसमयो का निर्माण विधान-मडल नही करते । वे सविधान के अलिखित भाग होते हैं और न्यायालयो द्वारा प्रवर्तित नही किए जाते । लेकिन विधियो और अभिसमयो का भेद आधारभूत महत्त्व का नही है क्योकि उनमें विषय-वस्तु अथवा प्रकृति की दृष्टि से कोई अन्तर नही होता । जेनिग्ज़ ने यह ठीक ही कहा है, "अभिसमय सविधान के सब से महत्त्वपूर्ण नियम इस कारण होते हैं क्योकि वे जनसाधारण की स्वीकृति पर टिके होते हैं । अलिखित सविधान इसलिए विधि नही होता कि किसी ने उसका निर्माण किया है, प्रत्युत इसलिए होता है क्योकि वह स्वीकार कर लिया गया है ।" क्या विधि है और क्या अभिसमय है, "ये मुख्यत पारिभाषिक प्रश्न हैं । इनके उत्तर केवल उन्ही को ज्ञात हैं जिनका कार्य उन्हें ज्ञात करना है । जनसाधारण के लिए इस बात का कि कोई नियम न्यायिक अधिकारियो द्वारा अभिज्ञात है या नही, विशेष महत्त्व नही है ।"[2]

प्राविधिक दृष्टि से भी, व्यवस्थापन (legislation) और अभिसमयो के बीच कोई स्पष्ट विभाजक-रेखा नही खीची जा सकती । उदाहरण के लिए डोमीनियनो (dominions) और इगलैण्ड के सम्बन्धो का नियमन करने वाले कुछ अभिसमय विशेषकर वे अभिसमय जो सम्राट् की उपाधियो[3] तथा ब्रिटिश ससद् की विधायी सत्ता से सम्बन्ध रखते हैं, १९३१ के स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिनिस्टर (Statute of Westminster of 1931) में शामिल कर लिए गए हैं ।[4] इनमें से पहले अभिसमय का महत्व एडवर्ड अष्टम् (Edward VIII) के सिंहासन-त्याग के समय प्रकट हो गया था, १९४७ के भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम (Indian Independence Act, 1947) के पश्चात् राजकीय उपाधियो में डोमीनियनो की पूर्ण स्वीकृति के साथ परिवर्तन किया गया था ।

---

[1] Law of the Constitution, p 23

[2] Jennings, I W Cabinet Government, p 3

[3] "जहां तक राजमुकुट (Crown) ब्रिटिश राष्ट्रमडल के सदस्यों के स्वतन्त्र सहयोग का प्रतीक है और ये सदस्य राजमुकुट के प्रति सामान्य निष्ठा द्वारा सयुक्त हैं, राष्ट्रमडल के समस्त सदस्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को देखते हुए यह उनकी परम्परागत वैधानिक स्थिति के अनुकूल ही होगा कि सिंहासन के उत्तराधिकार तथा राजकीय उपाधियों से सम्बन्ध रखने वाली विधि में परिवर्तन करने के लिए इगलैण्ड की ससद् के साथ ही साथ समस्त डोमीनियनों की स्वीकृति भी आवश्यक हो ।"

[4] "यह परम्परागत वैधानिक स्थिति के अनुकूल ही है कि भविष्य में इगलैण्ड की ससद् द्वारा निर्मित कोई भी विधि कथित डोमीनियनों में से किसी के ऊपर उस डोमीनियन की विधि के रूप में उस समय तक लागू नहीं होगी जब तक कि इसके लिए वह डोमीनियन स्वय प्रार्थना न करे और इसके लिए उसकी स्वीकृति न हो ।"

इसी प्रकार, इगलैण्ड की कुछ सस्थाएँ जो अभिसमयो के परिणामस्वरूप विकसित हुई हैं, विधि द्वारा अभिज्ञात हैं। १६३७ के पूर्व प्रधान मत्री का पद[1] तथा मत्रिमडल की सस्था विधि द्वारा मान्य नही थी। १६३७ के मिनिस्टर्स ऑफ दि क्राउन एक्ट (The Ministers of the Crown Act, 1937) ने "उस व्यक्ति के लिए जो प्रधान मत्री तथा फर्स्ट लॉर्ड ऑफ दि ट्रेज़री (First Lord of the Treasury)" है, १०,००० पौंड वार्षिक वेतन की व्यवस्था की है। इसी अधिनियम ने उन मत्रियो के वेतनो की भी व्याख्या की है जो "मत्रिमडल के सदस्य" हैं। यह अधिनियम "दल", "विरोधी पक्ष" तथा "विरोधी पक्ष के नेता" को भी अभिज्ञात करता है। तथापि, यह ध्यान देने योग्य है कि मिनिस्टर्स ऑफ दि क्राउन एक्ट के उपबन्ध इन अभिसमयो को वैध रूप नही देते। वे तो केवल यह स्वीकार करते हैं कि इन अभिसमयो का अस्तित्व है। किन्तु जहाँ एक बार विधि अभिसमयो के अस्तित्व को स्वीकार कर लेती है, अभिसमय और विधियो में बहुत कम अन्तर रह जाता है। जेनिंग्ज (Jennings) का कहना है कि "ब्रिटिश सविधान की अभिसमयात्मक व्यवस्था वस्तुत बहुत कुछ सामान्य विधि की व्यवस्था के समान है।"[2]

अभिसमयों के भेद (Kinds of Conventions)—अभिसमयो के तीन भेद हैं। पहले प्रकार के अभिसमय वे हैं जो ससदीय प्रभुसत्ता के प्रकाश में ससद् तथा कार्यपालिका के बीच उचित सम्बन्धो की स्थापना करते हैं। १६८८ की गौरवपूर्ण क्राति (The Glorious Revolution of 1688) ने सदैव के लिए यह निश्चित कर दिया कि ससद् की शक्ति सर्वोच्च है और वह राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक पहलू को नियत्रित कर सकती है। राजा की शक्तियाँ सीमित हो गईं और सविधानिक विकास के परिणामस्वरूप मत्रिमडल का उत्थान हुआ। इसलिए, मत्रिमडल के शासन के आवश्यक नियमो की व्यवस्था केवल अभिसमय ही करते हैं। अभिसमयो के अनुसार यह आवश्यक है कि राजा के मत्री ससद् के सदस्य हों, उनका कॉमन सभा (House of Commons) में बहुमत वाले दल से सम्बन्ध होना चाहिए और उन्हें उस दलगत नेता की अधीनता में कार्य करना चाहिए जो प्रधान मत्री कहलाता है। अभिसमयो के अनुसार यह भी आवश्यक है कि मत्रिमडल अपने कार्यों के लिए ससद् के प्रति उत्तरदायी है और वह उसी समय तक पदारूढ रह सकता है जब तक कि उसे कामन-सभा का विश्वास मिलता रहता है। यदि बहुमत घटकर अल्पमत रह जाता है और कॉमन सभा अपना समर्थन वापिस ले लेती है, तो या तो मत्रिमडल त्याग पत्र दे देता है अथवा अधिदेश (Mandate) के लिए निर्वाचकों से अपील करता है। यदि निर्वाचको का निर्णय मत्रिमडल के प्रतिकूल जाता है, तो उसके लिए यह आवश्यक होता है कि वह त्याग-पत्र

---

[1] वस्तुत, प्रधान मत्री के पद को विधि ने १६१७ में उस समय अभिज्ञात किया था जबकि चेकर्स एस्टेट एक्ट (Chequers Estate Act) ने "प्रधान मत्री के नाम से विख्यात" पदाधिकारी को सज्जित ग्राम्यवास के रूप में चेकर्स एस्टेट प्राप्त करने का सुअवसर दिया।

[2] Cabinet Government p 5

दे दे और विरोधी दल को सरकार का निर्माण करने दे। यदि विरोधी दलो की सख्या एक से अधिक है और साधारण निर्वाचन के परिणामस्वरूप किसी एक दल को स्पष्ट बहुमत नही मिलता तो वह ससद् के सामने आ सकता है और कॉमन सभा (House of Commons) के मत द्वारा अपना भाग्य-निर्णय करा सकता है। १९२४ में अनुदार दल के मत्रिमडल ने यही किया था। "लेकिन वह दूसरे विघटन की माँग नही कर सकता और न राजमुकुट (Crown) को यदि उससे यह माँग की जाए, इसे स्वीकार ही करना चाहिए।"[1] अभिसमय यह भी निश्चित करते हैं कि मत्रिमडल को अपने सम्पूर्ण प्राधिकार के साथ घरेलू सकट का प्रतिकार करना चाहिए लेकिन उसे तुरन्त ससद् आहूत करके उससे मत्रणा अवश्य करनी चाहिए। इसी प्रकार, वैदेशिक मामलो के सचालन में भी मत्रिमडल को कॉमन सभा की इच्छाओ का पूरा आदर करना पडता है। "वह कॉमन-सभा की यथाशीघ्र स्वीकृति पाए विना युद्ध, तटस्थता या शान्ति की घोषणा नही कर सकता और न महत्त्वपूर्ण सधियाँ ही कर सकता है। राजमुकुट (Crown) किसी निश्चित कार्यवाही के लिए वचनवद्ध हो, इसके पूर्व यह उचित है कि कॉमन-सभा से मत्रणा कर ली जाए।"[2]

(२) दूसरे प्रकार के अभिसमय ऐसे हैं जो विधायी प्रक्रिया और ससद् के दोनो सदनो के सम्बन्धो से सम्बन्ध रखते हैं। ससद् प्रत्येक वर्ष समवेत होती है और वह दो सदनो से मिलकर वनी है, यह वात लोकाचार के ऊपर आधारित है। वित्तीय मामलो में मत्रिमडल की सत्ता के अधीन रहते हुए कॉमन सभा ही पहल करती है और लॉर्ड-सभा की स्थिति उससे नीची रहती है, यह सिद्धान्त १९११ के ससदीय अधिनियम (Parliament Act of 1911) के पूर्व केवल अभिसमय के ऊपर ही आश्रित था। १९११ के अधिनियम ने और १९४९ में होने वाले उसके सशोधन ने लॉर्ड-सभा की उन विधायी शक्तियो के ऊपर जो अब तक केवल अभिसमय द्वारा ही नियमित होती थी, कुछ निश्चित प्रतिवन्ध लगा दिए। यह सिद्धान्त भी, कि जब लॉर्ड-सभा अपीलीय न्यायालय के रूप में कार्य करती है, उस समय लॉर्ड सभा में लॉ लॉर्ड (Law Lord) को छोड कर अन्य कोई पीयर नही वैठता है, रूढिगत ही है। पुनश्च, ऐसे भी बहुत से अभिसमय हैं जो ससदीय प्रक्रिया को नियमित करते हैं। यह एक अभिसमय ही है कि प्रत्येक विधेयक का तीन वार वाचन (reading) होना चाहिए, तव कही जाकर उस पर अन्तिम मतदान होता है। यह भी एक अभिसमय ही है कि जव सरकारी पक्ष की ओर से एक भाषण हो चुकता है, तव विरोधी पक्ष की ओर से एक भाषण होता है। वस्तुत सम्राट् या साम्राज्ञी विरोधी पक्ष (His or Her Majesty's Opposition) का सम्पूर्ण विचार अभिसमय का परिणाम है। अभिसमय यह भी माँग करते हैं कि कॉमन-सभा (House of Commons) के स्पीकर (Speaker) को निर्दल व्यक्ति हो जाना चाहिए और उसे स्पीकर-पद के लिए

---

[1] Keith, A B The British Cabinet System (second edition by N. H Gibbs, 1952), p 2

[2] *Ibid*, *p.* 3।

निर्वाचन में खड़े होने के पूर्व अपने दल की सदस्यता त्याग देनी चाहिए। एक अन्य अभिसमय यह है कि अवकाश ग्रहण करने वाले स्पीकर का निर्विरोध निर्वाचन होना चाहिए और जितनी बार वह चाहे, उसे निर्वाचित किया जाना चाहिए।

अतश, कुछ अभिसमय ऐसे हैं जिनका उद्देश्य एक ओर तो सरकार एव विधायी कृत्य तथा दूसरी ओर निर्वाचकों (electorate) के निर्णय के बीच सामजस्य स्थापित करना है। एक अभिसमय इस प्रकार का है कि सरकार को किसी विवादास्पद विषय पर उस समय तक कोई विधान प्रस्तुत नही करना चाहिए जब तक कि उसे ऐसा करने के लिए निर्वाचको से अधिदेश (mandate) न मिल गया हो। यह प्रथा जो आजकल "अधिदेश अभिसमय" (mandate convention) कहलाती है, लोक-प्रभुत्व (popular sovereignty) के सिद्धान्त की सत्यता प्रमाणित करती है।[1] इसके अनुसार यह आवश्यक हो जाता है कि यदि सरकार की नीति का कोई अश क्रातिकारी परिवर्तन करता है, तो इस अश को उस कार्यक्रम का एक भाग होना चाहिए जिस पर सरकार ने पहला चुनाव लडा था और "यदि ऐसा नहीं है, तो विरोधी दल को अपनी सक्रियता अथवा निष्क्रियता द्वारा यह प्रकट कर देना चाहिए कि यह कोई विशेष विवादास्पद विषय नही है।" १९४५ में श्रमिक दल की विजय के तुरन्त बाद लॉर्ड सभा (House of Lords) में अनुदार दल के बहुमत ने राष्ट्रीयकरण करने वाले विधेयकों तक को इस आधार पर स्वीकार कर लिया था कि श्रमिक दल को इस सम्बन्ध में निर्वाचको का अधिदेश (mandate) मिल गया है।[2] यह अभिसमय न केवल विधान के ऊपर ही, प्रत्युत विदेश-नीति के ऊपर भी लागू होता है। इस प्रकार का एक अन्य उदाहरण यह है कि जब मत्रिमडल निर्वाचको से अपील करता है और निर्वाचको का निर्णय मत्रिमडल के प्रतिकूल पडता है, तब मत्रिमडल को अपने पद से हटना पडता है और वह दूसरी बार ससद् का विघटन नही कर सकता। ग्रीव्ज़ (Greaves) के अनुसार, "इन अभिसमयो के पीछे राजनीतिक अनुशास्ति (political sanction) जैसी कुछ चीज रहती है।"[3]

---

[1] १९४५ में श्रमिक दल के घोषणा-पत्र में कहा गया था, "हम इस बात की स्पष्ट अधिसूचना देते हैं कि हम लॉर्ड-सभा द्वारा जनता की इच्छा के मार्ग में प्रस्तुत की गई किसी बाधा को स्वीकार नहीं करेंगे।"

[2] लार्ड-सभा में अनुदार दल के नेता विस्काउंट कार्नबोर्न (Viscount Cornborne) ने कहा था, "हमारे व्यक्तिगत विचार चाहे कुछ भी हों, लेकिन हमें यह साफ तौर से स्वीकार कर लेना चाहिए कि ये प्रस्ताव हाल के साधारण निर्वाचन में देश के सामने रक्खे गए थे और इस देश की जनता को इन प्रस्तावों का पूरा ज्ञान था। फिर भी, उसने श्रमिक दल को सत्तारूढ किया है। इसलिए, मेरे विचार मे सरकार इस बात का उचित ही दावा कर सकती है कि उसे इन प्रस्तावों को पुरोस्थापित करने का अधिदेश प्राप्त है। जबकि देश ने अभी कुछ ही दिन हुए अपना विचार प्रकट किया है, इस सदन के लिए वैधानिक दृष्टि से यह गलत होगा कि वह उन प्रस्तावों का विरोध करे जो निश्चित रूप से निर्वाचकों के सामने रख दिए गए थे।"

[3] Greaves, H R G The British Constitution (Second Edition, 1951), p 18

अभिसमयो के इन भेदो में हम एक भेद उन अभिसमयो का और जोड सकते हैं जो डोमीनियनो तथा इगलैण्ड के सम्बन्ध को नियमित करते हैं। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं १९३१ का स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिनिस्टर (Statute af Westminister of 1931) उन अभिसमयो को एक वैधानिक रूप दे देता है जो एक समय अन्तर्साम्राज्यिक सम्बन्धो का नियमन करते थे। इस प्रकार, स्टेट्यूट ऑफ वेस्टमिनिस्टर डोमीनियनो की विधायी स्वतत्रता को वैधानिक अनुशास्ति प्रदान करता है। राष्ट्रमडल के पारस्परिक सहयोग की पद्धतियाँ विशुद्ध रूप से अभिसमयात्मक हैं। उदाहरण के लिए राष्ट्रमण्डल के किसी भाग द्वारा सधियाँ करने के नियम १९२३, १९२६ और १९३० के साम्राजिक सम्मेलनो (Imperial Conferences) के प्रतिवेदनो में पाये जाते हैं। इसी प्रकार डोमीनियन के गवनर-जनरल की स्थिति भी १९२६ और १९३० के सम्मेलनो के समझौतो द्वारा निर्धारित होती है। राष्ट्रमण्डलीय देशो का सहयोग-सूत्र और इस प्रकार एक इकाई के रूप में उनका कार्य-सचालन उनके सामान्य सद्भाव एव पारस्परिक समझौते द्वारा ही सभव हो सका है।

अभिसमयो की अनुशास्ति (Sanction behind Conventions)—आमतौर पर यह सवाल पूछा जाता है कि इगलैण्ड में अभिसमयो का इतनी दृढता से क्यो पालन होता है? डायसी (Dicey) ने इस शका का कुछ हद तक समाधान किया है।[1] उसका निष्कर्ष है कि यदि हम अभिसमयो का अतिक्रमण करते हैं, तो इसका अर्थ यह होता है कि हम अन्ततोगत्वा विधि का भी अतिक्रमण करते हैं। उसने इस सम्बन्ध में प्रति वर्ष समद् के सत्र (Session) के सयोजन का उदाहरण प्रस्तुत किया है और कहा है कि यदि प्रतिवर्ष ससद् का सत्र आहूत न किया जाये, तो इससे केवल अभिसमय ही भग होगा, विधि नही। लेकिन, यदि ससद् का सत्र प्रति वर्ष आहूत न हो, तो राजस्व (revences) एकत्रित करना और सेना तथा वायुवल (वार्षिक) अधिनियम (Army and Air Force [Annual] Act) पास करना सम्भव नही होगा। इस स्थिति में अनधिकृत करो द्वारा एकत्रित किए गए धन के आधार पर सेना तथा वायुवल को रखना अवैध होगा। यदि कोई ऐसा करता है, तो उसे न्यायालय के सम्मुख लाया जा सकता है और विधि के अनुसार दण्डित किया जा सकता है। इसलिए, यह नितान्त आवश्यक हो जाता है कि ससद् वर्ष में कम से कम एक बार अवश्य आहूत होनी चाहिए। यदि ऐसा नही होता, तो इसका अभिप्राय यह है कि परोक्ष रीति से देश की विधियाँ भग होती हैं।[2]

---

[1] Law of the Constitution, Op Citd Ch XV

[2] यदि मत्रिमटल ने कॉमन-सभा का विश्वास खो दिया है, तब भी वह काफी लम्बे समय तक पदारूढ रह सकता है। जब ससद् वार्षिक बजट पास कर चुकती है और यह आम तौर पर जुलाई के प्रारम्भ में होता है, कॉमन-सभा मत्रिमडल के ऊपर कोई नियत्रण नहीं रखती। हो सकता है कि ससद् का कोई सत्र आगामी अप्रैल तक आहूत न हो और मत्रिमडल यद्यपि वह अब कॉमन-सभा का विश्वास-भाजन नहीं रहा है, विधि को भग किए बिना ही पदारूढ रह सकता है। मत्रिमडल के लिए सत्तारूढ बने रहने के और भी उपाय है। Laski, H J . Democracy in Crisis, Ch II

लेकिन, इससे ही सम्पूर्ण शका का समाधान नही हो जाता। लॉवेल (Lowell) ने यह ठीक ही कहा है कि इगलैण्ड प्रतिवर्ष ससद् के सत्र करने के लिए विवश नही है। चूंकि ससद् प्रभुसस्था (sovereign body) है, अत वह सेना और वायुबल अधिनियम (Army and Air Force Act) पास कर सकती है और वर्तमान वार्षिक करो को कई वर्षो के लिए स्वीकार कर सकती है। अपरच, कुछ अभिसमय ऐसे हैं जिनके अतिक्रमण से विधि का भग होना आवश्यक नही है। उदाहरण के लिए, यदि स्पीकर (Speaker) पद पर निर्वाचित होने के पश्चात् अपने दल की सदस्यता को न त्यागे अथवा सरकार विरोधी पक्ष (His majesty's opposition) अभिज्ञात न करे अथवा कॉमन-सभा में कार्य-सचालन से सम्बन्ध रखने वाले अभिसमयो का पालन न किया जाये, तो इससे विधि भग नही होती। इसी प्रकार, यदि प्रधान मन्त्री लॉर्ड-सभा से लिया जाता है, तब भी विधि भग नही होती। इसी भाँति, देश की परिवर्तित राजनीतिक परिस्थिति की माँग होने पर पूर्वोदाहरणो या पूर्वदृष्टान्तो (precedents) को भी तोडा जा सकता है। डिज़रैयली (Disraeli) ने १८६८ में साधारण निर्वाचन मे पराजित होने पर ससद् के सम्मुख उपस्थित हुए बिना ही त्याग-पत्र देकर परम्परागत रूढि (usage) की उपेक्षा की थी। १९२९ में बाल्दविन (Baldwin) ने पुन पुराने अभिसमय का अनुसरण किया था और ससद् के सामने उपस्थित होना तथा उसका निर्णय प्राप्त करना अपने लिए पूर्णत सविधानिक माना था। जैनिग्ज (Jennings) का कहना है, "अभिसमयो का अस्तित्व केवल अपने लिए ही नही है, उनका अस्तित्व इसलिए है क्योकि इसके कुछ श्रेष्ठ कारण हैं।"[1] इसलिए, डायसी (Dicey) के निष्कर्ष सर्वमान्य नही हैं।

लॉवेल (Lowell) का कहना है कि अभिसमयो के समर्थन का कारण केवल यही नही है कि उनके उल्लघन से विधि का उल्लघन होता है। उसके विचार से उनके समर्थन का कारण कुछ और है। सविधान की विधियो के प्रतिकूल, अभिसमय व्यावहारिक राजनीति के क्षेत्र में सार्वजनिक व्यक्तियो के मार्ग-निर्देशन के लिए एक नैतिक सहिता का निर्माण करते हैं। लॉवेल (Lowell) का विचार है कि, "अभिसमयो का पालन इसलिए होता है क्योकि वे सदाचार-सहिता (Code of honour) हैं। वे एक प्रकार से खेल के नियम हैं और समाज मे जिस अकेले वर्ग ने इगलैण्ड के सार्वजनिक जीवन के सचालन को अब तक पूर्णत अपने हाथ में रखा है, वह स्वय इस प्रकार के दायित्व के प्रति विशेष रूप से सवेदनशील है। अपरच, यह तथ्य ही कि एक वर्ग ही सम्पूर्ण राष्ट्र की सहमति के द्वारा जनता के निक्षेपाधिकारी (*trustee*) के रूप में शासन करता है, उस वर्ग को इस बात के लिए बहुत अधिक सजग कर देता है कि वह उन सद्भावो का उल्लघन न करे जिनके ऊपर यह निक्षेप (trust) टिका हुआ है।"[2] अभिसमयो के लिए एक अन्य अनुशास्ति (sanction) लोकमत (public opinion) से आती है। अतत, शासन की शक्ति निर्वाचको की सहमति

---

[1] Cabinet Government op citd p 17

[2] Government of England, Vol I, p 12-13.

के ऊपर आधारित है और शासन के विभिन्न विभागो की शक्तियो का प्रयोग इस सिद्धान्त के अनुसार ही होना चाहिए। इसलिए, यदि इस सिद्धान्त का अतिक्रमण होता है, तो सरकार का कार्य यद्यपि अवैध नही परन्तु असविधानिक अवश्य हो जाता है। यदि अभिसमयो का अतिक्रमण होता है, तो विधित कोई गल्ती नही होती। लेकिन, इगलैण्ड में एक विधिगत सत्य एक राजनीतिक असत्य बन सकता है। एडवर्ड अष्टम (Edward VIII) जैसे लोकप्रिय और गतिशील व्यक्ति भी अपनी पसन्द की महिला से विवाह करने में अपने मन्त्रियो की इच्छाओ तथा परामर्श के विरुद्ध नही जा सके थे। वास्तव में, अभिसमयो का पालन उन राजनीतिक कठिनाइयो के कारण होता है जो उनके उल्लघन पर उठ खड़ी होती हैं। उनके उल्लघन का प्रश्न उठाना काफी हद तक व्यर्थ है क्योकि वास्तव में उनका उल्लघन नही होता। यदि किसी अभिसमय का उल्लघन होता है जैसा कि १९०९ में लॉर्ड-सभा ने लॉयड जार्ज (Lloyd George) के सुप्रसिद्ध बजट को अस्वीकार करके किया था, तो तुरन्त ही यह माँग उठ खड़ी होती है कि इस अभिसमय को विधि का रूप दे दिया जाय। निर्वाचको ने उदार दल (Liberal Party) को इस बात का पूरा समर्थन दिया था कि वह जैसे चाहे, लॉर्ड-सभा की वित्तीय तथा विधायी शक्तियो को निर्धारित कर सकती है। इसी का परिणाम १९११ का ससदीय अधिनियम (Parliament Act of 1911) था जिसने यह व्यवस्था की कि लॉर्ड-सभा धन-विधेयको (money-bills) को एक महीने से अधिक समय के लिए निलम्बित नही कर सकती। इसी अधिनियम ने लॉर्ड-सभा की विधायी शक्तियो को भी सीमित कर दिया था।

जेनिंग्ज़ (Jennings) के अनुसार "शासन एक सहकारी कार्य है और केवल विधि के नियम ही सामान्य कार्यवाही का उपबन्ध कर सकते हैं।"[1] इसका अर्थ यह है कि व्यक्तियों की गतिविधियो में एकता होनी चाहिए। यदि कोई व्यक्ति अपना पार्ट अच्छी तरह अदा करना चाहता है तो यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह कुछ नियमो का पालन करे। नियमो का पालन इसलिए नही होता है कि वे अभिसमय है या विधियाँ हैं, प्रत्युत इसलिए होता है, क्योकि व्यक्तियो का स्वभाव ही यह है कि वे उनका पालन करें।[2]

अभिसमयों के उपयोग (Uses of Conventions)—इगलण्ड में अभिसमयो ने एकात्मक शासन (Unitary government) के अन्तर्गत लोकतत्रात्मक व्यवस्था का सचालन सुलभ कर दिया है। वे विधि की भाँति जड नही हैं। वे विधि की शुष्क अस्थियो पर मास का काम करते हैं और इस प्रकार उन्होंने शासन के कठोर वैधानिक

---

[1] The Law and the Constitution, op citd , p 98

[2] "शोध करने पर यह प्रतीत होगा कि सविधानिक मामलों में रूढि सामायिक सविधानिक व्यवस्था के सम्बन्ध में किसी निश्चित सुविधा अथवा उपयोगिता के ऊपर आधारित होती है और ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, उसका पालन अनुसरण तथा पूर्वोदाहरण की नकल करने के सामान्य मनोवैज्ञानिक प्रभाव के अनुसार होता है।"

The British Cabinet System, op citd , p 5.

२. **विकास और अविच्छिन्नता का नमूना** (A specimen of development and continuity)—अग्रेज़ी सविधान का इतिहास के किसी विशेष काल में निर्माण नही हुआ था और वह एक प्राणी की भाँति निरन्तर विकसित होता रहा है। फलत, वह सर जेम्स माइतोश (Sir James McIntosh) के इस सूत्र को सार्थक करता है कि सविधानो का विकास होता है, वे निर्मित नही होते। इस प्रकार, ब्रिटिश सविधान हज़ारो वर्षों के क्रमिक विकास और विस्तार का फल है। इगलैण्ड के सम्पूर्ण इतिहास काल में उस देश में कभी क्रान्तिकारी राजनीतिक परिवर्त्तन नही हुए हैं। वस्तुत, इगलैण्ड की समस्त राजनीतिक क्रान्तियाँ, यदि उन्हे क्रान्तियाँ कहा जा सकता है, रूढिवादी रही हैं। इगलैण्ड सदैव ही अविच्छिन्न वैधानिक विकास के पथ पर बढ़ता रहा है और उसने अपनी सस्थाओ को धीरे-धीरे और सावधानी से देश की बदलती हुई परिस्थितियो और आवश्यकताओ के अनुसार सशोधित कर लिया है। ऑग (Ogg) का कहना है, "राजनीतिक परिवर्त्तन नियमत इतने धीरे-धीरे हुए हैं, परम्पराओ के प्रति निष्ठा इतनी स्वाभाविक रही है, और अन्तरात्मा के बदल जाने पर भी अभ्यस्त नामो तथा रूपो को बनाए रखने की प्रेरणा इतनी बलवती रही है कि इगलैण्ड का सविधानिक इतिहास इतनी अविच्छिन्नता प्रकट करता है कि उसकी अन्य किसी देश के साथ तुलना करना कठिन है।"[1] जिस प्रकार कि अतीत के साथ कभी नाता नही टूटा है, ठीक इसी प्रकार सविधान मे यह प्रवृत्ति भी नहीं है कि उसका भविष्य में वर्तमान के साथ सम्वन्ध-विच्छेद हो। सविधान परिवर्तन के मार्ग में कोई प्रतिरोध या बाधा उपस्थित नहीं करता। इसलिए, यह कहना काफी सही है कि अग्रेज़ी सविधान का अतीत वर्तमान में प्रवाहित हो रहा है और वर्तमान भविष्य में प्रवाहित होगा।

३ **सिद्धान्त और व्यवहार का अन्तर** (Difference between theory and practice)—इगलैण्ड में वैधानिक विकास की क्रमिकता ने और स्थिति में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन हो जाने के बाद भी परम्परागत स्वरूपो को बनाए रखने की प्रवृत्ति ने सिद्धान्त और व्यवहार के बीच भारी अन्तर पैदा कर दिया है। "इगलैण्ड की शासन-प्रणाली अन्तिम सिद्धान्त मे निरकुश राजतन्त्र, देखने में मर्यादित वैधानिक राजतन्त्र और व्यवहार में लोकतन्त्रात्मक गणराज्य है।" सिद्धान्त में या वैधानिक दृष्टि से इगलैण्ड का शासन सम्राट् मे निहित है। राज्य के सैनिक और असैनिक अधिकारियो को वही नियुक्त एव अपदस्थ करता है। मन्त्री उसके मन्त्री होते हैं और वे उसके प्रसादपर्यन्त पद धारण करते हैं। वह सम्पूर्ण विधि का स्रोत एव न्याय का उत्स है। वह ससद् को आहूत करता है तथा उसका विघटन एव सत्रावसान करता है। उसके आदेश के विना कोई भी ससदीय निर्वाचन नही हो सकता। ससद् द्वारा निर्मित

---

[1] English Government and Politics, op citd, p 68 सत्रहवीं शताब्दी के युद्ध तथा क्रान्ति को भी युगान्तकारी परिवर्तन नही समझा गया था। इसके विपरीत, "निकट का परीक्षण करने पर यह प्रकट होता है कि जो कुछ हो रहा था वह केवल उन्हीं सिद्धान्तों और रूढियों की पूर्ण एव शाश्वत विजय मात्र थी जिनका काफी समय पहले से विकास हो रहा था।" Ibid

और वहाँ की शासन-प्रणाली ससार की सबसे अधिक लोकतन्त्रात्मक शासन-प्रणालियो में से एक है ।[1]

४ **ससद् की सर्वोच्चता** (Sovereignty of Parliament)—ब्रिटिश सविधान ससद् की सर्वोच्चता स्थापित करता है । इसका अभिप्राय यह है कि ब्रिटिश संसद् वैधानिक दृष्टि से किसी भी प्रकार की विधि को बनाने या रद करने के लिए सक्षम है और देश का कोई भी न्यायालय उसकी वैधता पर सन्देह नही कर सकता । इस प्रकार, ससद् का प्राधिकार सर्वग्रासी एव निरकुश है और उसके अन्दर साधारण विधियो का अधिनियमन तथा स्वय शासन के अन्दर किए जाने वाले बडे से बडे परिवर्तन तक शामिल हैं । इगलैण्ड में न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review) की प्रथा नही है और कोई भी सत्ता यह नही कह सकती कि ससद् द्वारा निर्मित विधियाँ असविधानिक (*Ultra vires*) हैं । अब निषेधाधिकार (Veto power) भी पुराना पड गया है और सम्राट् के लिए यह आवश्यक है कि वे ससद् द्वारा पास किए गए समस्त विधेयको पर अपनी स्वीकृति दे दें । ससद् वास्तव में सर्वोच्च है या नही, यह एक पृथक् प्रश्न है । लेकिन, जहाँ तक विशुद्ध विधि का प्रश्न है, वह सर्वोच्च है ।

५ **लचीला सविधान** (Flexible constitution)—जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, इगलैण्ड में ऐसी कोई सहितावद्ध और मूलभूत सविधानिक विधि (Constitutional law) नही है जो सविधिक विधि (Statutory law) से ऊँचा स्थान रखती हो । सविधानिक विधि का निर्माण एव सशोधन करने की शक्ति ससद् में विहित है और इसकी प्रक्रिया भी वही है जो कि किसी साधारण विधेयक के अधिनियम की होती है । इसके अतिरिक्त, स्विट्ज़रलैण्ड और आॅस्ट्रेलिया जैसे देशो में सविधानिक सशोधनो पर जनमत सग्रह के रूप में जनता का अनुसमर्थन (Ratification) प्राप्त करना आवश्यक होता है । इगलैण्ड में यह प्रथा बिल्कुल प्रचलित नही है । इगलैण्ड का सविधान सुपरिवर्तनीय और उत्तरदायी (Responsive) है । उसके अन्दर एक बडा गुण यह है कि वह समय की आवश्यकताओ के अनुसार परिवर्त्तित हो सकता है और लोकमत को सन्तुष्ट कर सकता है ।

६ **एकात्मक सविधान** (A Unitary Constitution)—इगलैण्ड का सविधान एकात्मक (Unitary) है और वह भारत तथा अमरीका के सविधानो की भाँति सघात्मक (Federal) नही है । यद्यपि इगलैण्ड में भी विकेन्द्रीकरण है लेकिन वहाँ सम्पूर्ण शक्ति लन्दन में अधिष्ठित केन्द्रीय सरकार के पास से निसृत होती है । इगलैण्ड के स्थानीय क्षेत्र अपनी शक्तियाँ ससद् के अधिनियमो से प्राप्त करते हैं । केन्द्रीय सरकार इन शक्तियो को अपनी इच्छानुसार सकुचित या विस्तृत कर सकती है । इसके विपरीत सघ का मूलतत्त्व सम्मिलन (Union) है, एकता (Unity) नही । उसके एकको की शक्तियाँ एव क्षेत्राधिकार मौलिक और सुनिश्चित होते हैं और वे

---

[1] वेब दम्पत्ति ने इगलैण्ड की शासन-प्रणाली के लिए 'मुकुटयुक्त गणराज्य' (Crowned Republic) सूत्र का प्रयोग किया था ।

के लिए किए गए शताब्दियो के सघर्ष का परिणाम हैं। अमरीका और भारत के विपरीत, इगलैण्ड मे सविधान नागरिको को विशिष्ट अधिकार नही देता। वहाँ ऐसा कोई ससदीय अधिनियम भी नही है जो जनता के पास मूल अधिकारो को निर्धारित करता हो। फिर भी, इगलैण्ड में अधिकतम स्वतत्रता है और इसका कारण जैसा कि डायसी ने कहा है, विधि का शासन (Rule of Law) है।

विधि का शासन, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, कभी सविधि के रूप में अधिनियमित नही हुआ है। वह ससद् के विविध अधिनियमो, न्यायिक निर्णयो और सामान्य विधि में अन्तर्निहित है। लॉर्ड हीवर्ट (Lord Hewart) के अनुसार, विधि के शासन का अर्थ, "व्यक्तियो के अधिकारो का निर्धारण या निर्वहन करने के लिए विधि की प्रधानता या सर्वोच्चता है। यह स्वेच्छाचार या अन्य किसी पद्धति से भिन्न है।"[1] यहाँ यह कहना पर्याप्त होगा कि जब शासन की शक्तियाँ मनमाने ढग से नही, प्रत्युत कुछ सुनिश्चित और बन्धनकारी नियमो के अनुसार प्रयुक्त होती हैं, तब कहा जाता है कि उस शासन की प्रजा विधि के शासन के अन्तर्गत रह रही है। जीवन की ये दशाएँ केवल वही प्राप्त की जा सकती हैं जहाँ विधि के सम्मुख समानता हो और विधि को सर्वोच्च, एकरूप तथा सार्वभौम माना जाता हो। नागरिक, न्यायालय, प्रशासनिक अधिकारी और सम्राट्—ये सभी विधि के शासन के अधीन हैं। दूसरे शब्दो में, "विधि के शासन के अन्तर्गत विधि के स्वीकृत सिद्धान्तो और वैधानिक दृष्टि से सक्षम अधिकारियो की कार्यवाही के अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार से न तो राज्य द्वारा मनमाने दायित्वो का आरोप हो सकता है, न सम्पत्ति में हस्तक्षेप हो सकता है और न वैयक्तिक स्वतन्त्रता को कम किया जा सकता है।" न्यायालय इन सिद्धान्तो को अभिज्ञात करते हैं और इसलिए न्यायपालिका जनता की स्वतन्त्रताओ की सशक्त सरक्षिका है।

६ सविधान में आनुवशिकता का तत्त्व (Hereditary Character in the Constitution)—ब्रिटिश सविधान की एक अन्य विशेषता आनुवशिकता का तत्त्व है। इगलैण्ड में राजतत्र आनुवशिक सिद्धान्त पर आधारित है और लॉर्ड-सभा के अधिकाश सदस्य आनुवशिक पीयर हैं। यह सही है कि सम्राट् या लार्ड-सभा देश की राजनीतिक व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण भाग नही लेते लेकिन फिर भी उनका अस्तित्व उन लोकतन्त्रात्मक आदर्शों के अनुकूल नही दीखता जिनके प्रति अग्रेजो के हृदय में इतना अधिक स्नेह है।

Suggested Readings

Amos, M	The English Constitution (1930), Chaps I, II
Anson, W R	Law and Custom of the Constitution (1922) vol I pp 1-13

---

[1] The New Despotism, p 19.

अध्याय २

राजा और क्राउन

(The King and the Crown)

राजा और क्राउन (The King and the Crown)—प्राचीन काल में शासन के सारे अधिकार उस व्यक्ति के हाथ में रहते थे जो क्राउन पहिनता था। क्राउन के अर्थ हैं वह टोपी जिसको राजा राज्य-पद के चिन्ह स्वरूप पहिनता है। इतिहास के लम्बे काल में वे सारी शक्तियाँ व्यक्तिगत रूप में राजा के हाथो से निकल गई हैं और वे एक जटिल-सी निर्वैयक्तिक सस्था क्राउन के हाथो में आगई है। किन्तु इसके अर्थ यह नही हैं कि देश की राजनीति में सम्राट् का कोई स्थान ही नही है। राष्ट्र के प्रधान के रूप में राजा अब भी है और वह पहिले की ही तरह क्राउन पहिनता है। अब भी पहिले की ही तरह राजा प्रधान अधिशासी शक्तियो का स्रोत है और ससद् सहित राजा सर्वोच्च विधायी शक्ति है। वह न्याय के सम्बन्ध में भी सब से बडी शक्ति है और मान-मर्यादा की दृष्टि से भी राजा का पद अत्यन्त महान् है। वह सारे राज्य की स्थल, जल तथा वायु तीनो सैनिक सेवाओ का प्रधान है। सक्षेप में राजा अब भी सारी शक्ति एव अधिकारो का स्रोत है, एक प्रकार का महान् लेविआथन (Great Leviathan) है जो अपने व्यक्तित्व में राज्य के गौरव एव एकता का प्रतीक है।

आज भी राजा की वैधानिक शक्तियाँ वही हैं। किन्तु वैधानिक सत्य प्राय इगलैंड में राजनीतिक असत्य होता है। तक १६८८ राजा देश के सविधान में प्रमुख स्थान रखता था। वह राज्य भी करता था तथा शासन भी। कुछ दिनो के बाद स्थिति बदल गई। फिर राजा केवल राज्य करने लगा, किन्तु धीरे-धीरे शासन-सत्ता उसके हाथो से निकलती गई। आजकल सविधान का तथ्य यह है कि राजा का शासन के मामलो पर व्यक्तिगत रूप से कोई अधिकार नही है। राजा के पद से सम्बद्ध समस्त शक्तियाँ और अधिकार अब क्राउन को हस्तान्तरित कर दिये गये हैं।

क्राउन (Crown) कोई एक व्यक्ति-विशेष नही है। यह एक गढी हुई योजना, एक अमूर्त विचार है। सर सिडनी लो (Sir Sydney Low) इसको "सुविधाजनक कामचलाऊ उपकल्पना" (Convenient working Hypothesis)[1] कहते हैं। सर मौरिस एमौस (Sir Maurice Amos) ने कहा है, "क्राउन वैधानिक रूप में सम्राट् की प्रभु शक्तियो, असाधारण अधिकारो एव सामान्य अधिकारो का भण्डार है।[2] ऐतिहासिक रूप में सम्राट् तथा क्राउन के अधिकार तथा शक्तियाँ समान हैं। वैधानिक

---

[1] Governance of England, p 255

[2] The English Constitution, op Citd , p 88

१७०१ का समझौता अधिनियम (Act of Settlement of 1701) जिसको ससद् ने पारित किया था। इसमें दिया हुआ है कि राजपद (Crown) हैनोवर वशीय, इलैक्ट्रेस सोफिया (Electress Sophia)[1] के वशजो में से आनुवशिक क्रम से चलेगा जब तक कि राजा अथवा वश प्रोटेस्टेंट[2] बना रहेगा। आनुवशिक सिद्धान्त के साथ ज्येष्ठत्व (Primogeniture) का साधारण नियम भी जोड दिया गया। मौलिक नियम ये हैं कि छोटे वशज की अपेक्षा बडे वशज को मान्यता दी जाती है और उसी वश में स्त्री की तुलना में पुरुष वशज को श्रेष्ठता प्रदान की जाती है। किन्तु हर हालत में उत्तराधिकारी का प्रोटेस्टेंट मतावलम्बी होना आवश्यक है। यदि उस वश के सभी प्रोटेस्टेंट मतावलम्बी उत्तराधिकारी मर जाय और यदि मान्य-सगोत्र-सम्बन्ध के आधार पर कोई उचित उत्तराधिकार न मिल सके, तो ससद (Parliament) को अधिकार दिया गया है कि वह राज्य-पद (Crown) किसी दूसरे वश को दे सकती है और इस प्रकार नया राजवश प्रारम्भ किया जा सकता है।[3] जब राज्य सिहासन का उत्तराधिकारी नाबालिग (१८ वर्ष की आयु से कम आयु वाला) होता है अथवा जब कभी शासनकर्त्ता सम्राट् शारीरिक अथवा मानसिक रोग के कारण शासन करने के अयोग्य हो जाय तो रीजेंट (Regent) की व्यवस्था कर दी जाती है जो 1937 एव 1943 में ससद् द्वारा पारित रीजेंसी अधिनियमो (Regency Acts) के अनुसार होती है।

वर्तमान साम्राज्ञी हर मैजेस्टी क्वीन एलिजाबेथ द्वितीय (Her Present Majesty Queen Elizabeth II) की पदवी, १९३६ के सिहासन-त्यजन अधिनियम Abdication Act of 1936) के आधार पर है। राजा एडवर्ड अष्टम् (King Edward VIII) ने १९३६ में इस कारण सिहासन-त्याग किया कि सम्राट् श्रीमती सिम्पसन (Mrs Simpson) से विवाह करना चाहते थे।[4] ड्यूक आफ यार्क

---

[1] सोफिया जेम्स प्रथम की पौत्री थी और एक छोटे से जर्मन राज्य, इलैक्ट्रेट आफ हैनोवर के शासक की विधवा थी।

[2] यह अधिनियम विलियम तृतीय के राज्य-काल में मेरी (Mary) की मृत्यु के पश्चात पास किया गया था। यह आशा की गई थी कि न तो विलियम के, न उसके भाई या भावज के जो रानी एन बनीं, कोई सन्तान होगी। अत अधिनियम में कहा गया कि यदि सभी सन्तान ही न रहें तो क्राउन और शासनाधिकार सारे विशेषाधिकार और सारी शक्तियां महामहिमामयी राजकुमारी सोफिया और उसके प्रोटेस्टेन्ट उत्तराधिकारियों को हस्तान्तरित हो जायेंगी।

[3] १९३१ के स्टेट्यूट आफ वैस्टमिनिस्टर्स की प्रस्तावना में कहा गया है कि यह सविधान की रीति के अनुसार ही होगा कि राष्ट्रमडल के सारे देश आपस में मिलकर तय करें कि राज्य सिहासन पर उत्तराधिकार से सम्बन्धित यदि सम्राट् की पदवी में कोई हेर-फेर हुए हों तो इसके लिए इगलैंड की और सारे राष्ट्रमडलीय देशों की ससदों की स्वीकृति आवश्यक होगी।

[4] श्रीमती सिम्पसन प्रारम्भ में अमरीकी नागरिका थीं किन्तु अपने दूसरे विवाह से वे ब्रिटिश नागरिका बन गईं जबकि उन्होंने अपने अमरीकी पति से सम्बन्ध विच्छेद कर लिया। एडवर्ड

(Duke of York) जो राजवंश में उत्तराधिकारी बनने योग्य अगले व्यक्ति थे, राज्य सिंहासन पर जॉर्ज षष्ठम् (George VI) की पदवी लेकर आसीन हुए।[1] जॉर्ज षष्ठम् के कोई पुत्र न था और उनकी ज्येष्ठा पुत्री राजकुमारी एलिज़ाबेथ (Princess Elizabeth) १९५२ में अपने पिता की मृत्यु पर साम्राज्ञी बना दी गई।

सम्राट् के विशेषाधिकार और विमुक्तियां (Royal Privilīges and immunities)—सम्राट् अनेकों वैयक्तिक विशेषाधिकारों एवं विमुक्तियों का उपभोग करता है। वह किसी भी साधारण नागरिक की तरह भूमि अथवा अन्य सम्पत्ति खरीद सकता है, उसका प्रबन्ध कर सकता है अथवा उसको बेच सकता है। किन्तु सम्राट् देश की विधि से ऊपर है। उसके वैयक्तिक चरित्र के सम्बन्ध में उसके ऊपर किसी अदालत में कानूनी अभियोग नहीं लाया जा सकता। डायसी (Dicey) ने तो मज़ाक में यहाँ तक कह डाला कि यदि सम्राट् अपने प्रधान मंत्री को ही गोली मार दे तो भी उसके विरुद्ध कोई वैधानिक कार्यवाही नहीं की जा सकती। सम्राट् को गिरफ्तार नहीं किया जा सकता। किसी मुकदमे में वह जवाबदेही के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। देश के वैधिक अधिकारी (Officers of the Law) किसी देनदारी के सम्बन्ध में सम्राट् का माल कुर्क नहीं कर सकते और राजभवन में सम्राट् के विरुद्ध कोई न्यायिक कार्यवाही (Judicial processes) उस समय तक नहीं की जा सकती जब तक कि उस भवन में सम्राट् निवास करेंगे।

राजा को राजकोष से वार्षिक ग्राण्ट के रूप में बहुत बड़ी धन-राशि मिलती है। यह धन-राशि, संसद् सम्राट् के लिए सिविल लिस्ट (Civil list) के नाम से स्वीकृत करती है। यह सिविल लिस्ट प्रत्येक सम्राट् के राज्य-काल के आरम्भ में संसद द्वारा निश्चित की जाती है जो सम्राट् के राज्य-काल पर्यन्त तथा उसके ६ मास बाद तक मिलती रहती है। वर्तमान साम्राज्ञी की वार्षिक सिविल लिस्ट (Civil list) की धन-राशि ४७५,००० पौंड है। उसका विवरण इस प्रकार है—साम्राज्ञी के निजी व्यय का धन (Privy purse) ६०,००० पौंड, परिवार के वेतन आदि १८५ ००० पौंड, पारिवारिक खर्चे १२१,८०० पौंड दान आदि १३,३०० पौंड और अन्य आकस्मिक आवश्यकताएँ ९५,००० पौंड। इसके अतिरिक्त आधुनिक सम्राज्ञी के पास बहुत बड़ी निजी धन राशि है जो रानी विक्टोरिया (Queen Victoria) के काल से चली आ रही है।

अष्टम जो उस समय तक कुआरे थे, श्रीमती सिम्पसन से विवाह करना चाहते थे और श्रीमती सिम्पसन ने अदालत में प्रार्थना की कि उन्हें द्वितीय पति से भी सम्बन्ध विच्छेद या (divorce) मिल जाय। मन्त्रिमंडल ने इस विवाह पर आपत्ति की और फलस्वरूप सम्राट् ने १० दिसम्बर १९३६ को अपनी ओर से तथा अपनी होने वाली सन्तान की ओर से राज्य-त्याग कर दिया।

[1] सिंहासन-त्यजन् अधिनियम को सारे राष्ट्रमंडलीय देशों की संसदों ने पारित किया, इस प्रकार १९३१ के स्टेट्यूट आफ वेस्टमिनिस्टर (Statute of Westminister, 1931) के अनुरूप कार्यवाही हो गई।

क्राउन की शक्तियाँ

(Powers of the Crown)

क्राउन की शक्तियाँ (Powers of the Crown)—यदि राजा को केवल भाववाचक अमूर्त्त सस्था मान लिया जाय तो क्राउन की वही शक्तियाँ है जो राजा के पद की शक्तियाँ हैं। यह फिर समझ लेना चाहिए कि इन शक्तियो का उपभोग सम्राट् स्वय नही करता। मन्त्री लोग सम्राट् के नाम में इन शक्तियो का उपभोग करते हैं। मन्त्री लोग ससद् के प्रति उत्तरदायी होते हैं अत ससद ने उन्हे अधिकार दिया हैं कि वे इन शक्तियो का उपभोग करे। क्योकि क्राउन की शक्तियाँ, सम्राट् की वैयक्तिक शक्तियाँ नही होती, अत उनको सम्राट् की अभिहित शक्तियाँ (Nominal powers of the king) कहा जा सकता है जो सम्राट् की वास्तविक शक्तियो से भिन्न है। मन्त्री ही वास्तव में देश का शासन करते हैं और वे सम्राट् के नाम में, उसकी अभिहित शक्तियो का उपभोग करते हैं।

शक्ति के स्रोत (Sources of Power)—क्राउन की शक्तियो के दो स्रोत हैं। वे परमाधिकारो (Prerogatives) एव सविधियो अथवा परिनियमो (Statutes) से प्राप्त होती हैं। क्राउन की परिनियत (Statutory) शक्तियो का तात्पर्य उन कर्त्तव्यो से है जिनको पूरा करने के लिए ससद् के अधिनियमो द्वारा कार्यपालिका को आदेश मिला हो। इन परिनियत (Statutory) शक्तियो में न केवल वे अधिकाश शक्तियाँ सम्मिलित हैं जिनके आदेशानुसार शासन के विभिन्न विभाग चलते हैं बल्कि वे शक्तियाँ भी सम्मिलित हैं जिनके आधार पर व्हाइट हॉल (White Hall) स्थानीय प्रशासन अधिकारियो एव अन्य सस्थाओ पर, जो क्राउन से अलग हैं, नियन्त्रण रखता है। इस विषय में क्राउन की शक्तियाँ कई प्रकार की हैं, विस्तृत हैं साथ ही बराबर वर्द्धमान हैं। ससद् के अधिनियम वास्तव मे क्राउन की शक्ति के फलदायक स्रोत बन गए हैं, विशेषकर उस समय से जब से कार्यपालिका को प्रदत्त व्यवस्थापन अथवा प्रत्यायुक्त विधान (Delegated Legislation) का अधिकार मिल गया है।

क्राउन को जो शक्तियाँ एव विशेषाधिकार साधारण विधि से प्राप्त हुए हैं, उन्हें परमाधिकार (Prerogative) कहते हैं। क्राउन के परमाधिकार की व्याख्या करते हुए डायसी (Dicey) कहता है कि "ये क्राउन की स्वच्छन्द एव स्वाधीन शक्ति का शेष है जो कभी-कभी उसके हाथो में न्यायानुसार छोड दिया जाता है।"[1] प्रारम्भ में परमाधिकार (Prerogative) उन अधिकारो का समूह था जो राजा को सामन्ती महाराजा होने के नाते प्राप्त होते थे और वे परमाधिकार सम्राट् की शक्ति के मुख्य आधार तब तक बने रहे जब तक कि देश में पूर्ण ससदीय शासन-व्यवस्था स्थापित न हो गई। १७वी शताब्दी में सम्राट् द्वारा इस परमाधिकार

---

[1] Law of the Constitution, op Citd, p 424

(Prerogative) के उपभोग मे और दूसरी ओर संसद् के इस परमाधिकार के रोकने के सतत दृढ उद्योग में चाहे वह सविधि या परिनियम (Statute)[1] द्वारा रोका जाय या संसद् के प्रति उत्तरदायी मंत्रियो द्वारा रोका जाय, लगाकर संघर्ष रहा। इस संघर्ष में, जैसा कि हम पढ़ चुके हैं, संसद् (Parliament) विजयिनी होकर निकली और सम्राट् की परमाधिकारो सम्बन्धी शक्ति जो उसके व्यक्तित्व में निवास करती थी, प्राय छिन गई। कुछ परमाधिकार (Prerogatives), परिनियमो अथवा सविधियो (Statutes)[1] द्वारा रद्द कर दिये गये, कुछ बहुत काल तक प्रयुक्त न होने के कारण स्वय ही नष्ट हो गये और जो परमाधिकार शेष रहे, उन्हे क्राउन ने ग्रहण कर लिया। क्राउन के परमाधिकार इतने है कि उनकी सूची बनाना असम्भव है। कुछ परमाधिकारो की स्थिति और सीमायें ऐसी हैं जिनमें सविधानिक कठिनाइयाँ हैं। किन्तु क्राउन के कुछ वास्तविक परमाधिकार (Prerogatives) हैं जैसे संसद् को आहूत करना, (Summoning of Parliament), युद्ध अथवा तटस्थता (Declaration of War or Neutrality) की घोषणा, सधियो का अनुसमर्थन (Ratification of Treaties), सार्वजनिक पदो पर नियुक्ति (Appointment to Offices), राजसेवको का बर्खास्तगी (To dismiss the servents of the Crown), उनकी सेवा-स्थिति की उचित व्यवस्था करना और अपराधियो को क्षमा करने का अधिकार।

परमाधिकार (Prerogative) शब्द से अर्थ निकलता है क्राउन की स्वाधीन शक्ति वा अधिकार, अथवा राजा या उसके सेवक संसद् द्वारा पारित किसी अधिनियम के बिना भी केवल अपने अधिकार से क्या क्या कर सकते हैं, यही परमाधिकारो की व्याख्या है। क्राउन के परमाधिकार से एक सुगम तत्र (Convenient mechanism) का जन्म होता है जिससे शासन के विभिन्न महत्त्वपूर्ण क्रिया-कलाप चलते रहते हैं। यद्यपि परमाधिकार (Prerogative) मे सविधिक अथवा परिनियत शक्ति (statutory authority) का अभाव है, फिर भी अदालतो में इसको मान्यता प्रदान की जाती है। क्राउन की अधिकतर परमाधिकारिक शक्तियो का आधार है देश की सामान्य अथवा प्रचलित प्राचीन विधि (comman law) और देश की सामान्य अथवा प्रचलित प्राचीन विधि के नियमो (Rules of Common Law) के आधार पर ही इगलैण्ड का सविधान टिका हुआ है। इसके अतिरिक्त क्राउन को कुछ परमाधिकारिक शक्तियाँ सविधि अथवा परिनियम (Statute)[2] से भी मिली हैं अत कोई अदालत यह निश्चय कर सकती है कि संसद द्वारा पारित अमुक अधिनियम परमाधिकार की

---

[1] अधिकार पत्र (Bill of Rights) की धाराओं को देखिये जिसमें विधियों में विघ्न डालने अथवा उनका तिरस्कार करना वर्जित था, उसी प्रकार समझौता अधिनियम (Act of Settlement) एवं संसद् द्वारा पारित अन्य अधिनियम भी थे।

[2] १८७६ में अपीलेट जूरिसडिक्शन एक्ट (Appelate Jurisdiction Act) ने क्राउन को अधिकार दे दिया कि वह चार न्यायाधीशों को जीवनपर्यन्त लार्ड नियुक्त कर सकता है और अब यह संख्या बढ़ गई है।

श्रेणी में आता है वा नही, अथवा कहाँ तक सविधि वा परिनियम (Statute) द्वारा क्राउन की परमाधिकारिक शक्ति को कम कर दिया गया है या नष्ट कर दिया गया है।

क्राउन की कार्यपालिका शक्तियाँ

(Executive Powers of the Crown)

क्राउन की कार्यपालिका शक्तियाँ इतनी अधिक हैं कि उनमें से कुछ का ही वर्णन किया जा सकता है। पिछले दिनो मे वे वढी हैं, हमारे समय में भी वे वढ रही हैं और वे तब तक वढती रहेंगी जब तक कि आधुनिक राज्यो के कार्य-कलाप बढते रहेंगे। क्राउन सर्वोच्च कार्यपालिका सत्ता है, इस नाते उसका कर्त्तव्य है कि उसके अधीन सारी राष्ट्रीय विधियो का यथावत् पालन हो। वह प्रशासनिक विभागो एव राष्ट्रीय सेवको के सारे काम-काज की देखभाल करता है। सम्राट् ही देश की प्रचलित विधि के अनुकूल राजस्व इकट्ठा करता है तथा उसमें वृद्धि करता है, वही सारे राष्ट्रीय एव प्रशासनिक पदो पर नियुक्तियाँ करता है, साथ ही न्यायाधीशो (Judges), विशपो (Bishops), तथा सेना, नौसेना एव हवाई सेना के अफसरो की नियुक्ति करता है, राष्ट्रीय सेवको की सेवा-स्थिति की उचित व्यवस्था करता है, अधिकारियो के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही भी करता है, अथवा उन्हें पदच्युत भी करता है, [जज (Judges) एव शासन कुछ अन्य के भृत्य इसमे अपवाद हैं][1]। क्राउन ही समस्त राष्ट्रीय सैनिक सेवाओ का सर्वोच्च सेनापति है। क्राउन ही स्थानीय प्रशासन के सारे कार्यों की देखभाल एव कुछ स्थितियो में नियन्त्रण भी करता है, विशेपकर पौरो अथवा बौरो (Boroughs) तथा काउण्टियो (Counties) के क्षेत्रो में। स्थानीय प्रशासन (Local Government) तथा कुछ अन्य निकायो, जैसे ब्रिटिश ब्राडकास्टिग कार्पोरेशन (British Broadcasting Corporation) के अधिकारी, क्राउन के सेवक (Officers) नही हैं। इसमे सन्देह नही कि ससदीय अधिनियमो द्वारा ही इन निकायो (bodies) का जन्म हुआ है फिर भी वे क्राउन के आश्रित नही हैं। क्राउन के इन निकायो के ऊपर केवल कुछ प्रवन्ध सम्वन्धी नियन्त्रण है। इन निकायो की कुछ विशिष्ट मामलो पर ही क्राउन को शासन एव नियन्त्रण का अधिकार है।

क्राउन ही ग्रेट ब्रिटेन के अन्य देशो के साथ सम्वन्धो का निर्वहन करता है। वह स्वदेश के राजदूतो को विदेशो में भेजता है तथा विदेशी राजदूतो का स्वागत करता है। वह उसी प्रकार अन्य राजनयिक अभिकर्त्ताओ (Diplomatic agents) को वाहर भेजता अथवा विदेशो से आने वालो का स्वागत करता है, सक्षेप में समस्त विदेशी मामले अथवा विदेशी कार्य क्राउन की ही ओर से अथवा उसके नाम में

---

[1] न्यायाधीशों (Judges) को ससद् की दोनों सभाओं के सम्मिलित वक्तव्य पर ही निकाला जा सकता है—See Infra।

होते हैं। युद्ध की घोषणा करना और शान्ति सन्धि करना, ये दोनो क्राउन के परमाधिकार (Prerogatives) हैं। क्राउन को सन्धि करने का भी अधिकार है और समस्त अन्तर्राष्ट्रीय अनुबन्ध क्राउन के नाम में ही किये जाते हैं। क्राउन द्वारा की हुई सधियो पर ससद् की स्वीकृति की उस समय तक आवश्यकता नही है जब तक कि उसमे ससदीय स्वीकृति सम्बन्धी शर्त न हो अथवा जब तक कि उसमें कोई ऐसा मामला ग्रस्त न हो जैसे स्व-भूभाग का परित्याग, धन की अदायगी (Payment of money), अथवा देश की प्रचलित विधि में परिवर्त्तन, जिनको विध्यनुकूल बनाने के लिये ससद् की स्वीकृति की आवश्यकता होती है। किन्तु कोई "उच्च नैतिक महत्त्व की सन्धि" जैसे कि १९२५ की लोकार्नो सन्धि (Locarno Treaty of 1925) निश्चितत ससद् की दोनो सभाओ के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत की जायेगी।

जब सन् १९१९ मे वार्साई की सन्धि (Treaty of versailles) ससद् में उसकी स्वीकृति के हेतु प्रस्तुत की गई तो कुछ लोगो ने जो विदेशी सम्बन्धो पर भी ससद् के नियन्त्रण के पक्षपाती हैं, आशा की थी कि भविष्य में कोई भी सधि ससद् की स्वीकृति के विना नही की जायगी। श्रमिक दल के नेताओ की भी यही इच्छा थी। किन्तु रैम्जे मैक्डोनल्ड (Ramsay MacDonald) और ऐटली (Atlee) की श्रमिकदलीय सरकारो ने इस दिशा में कुछ भी नही किया। सम्भवत उन्हें वह नीति व्यावहारिक जान पडी और सन्धियाँ लगातार केवल क्राउन के ही द्वारा तय तथा प्रमाणित की जाती रही।

ब्रिटेन के उपनिवेशो तथा सुदूरस्थ अधीन प्रदेशो के शासन का क्राउन ही वास्तविक अध्यक्ष है। स्व-शासित राष्ट्रमण्डलीय देशो जैसे कनाडा (Canada), आस्ट्रेलिया (Australia), न्यूज़ीलैण्ड (Newzealand), पाकिस्तान (Pakistan) आदि में गवर्नर-जनरल को क्राउन ही नियुक्त करता है और १९२६ में की गई व्यवस्था के अनुसार, गवर्नर-जनरल सम्राट् का निकटतम प्रतिनिधि है।

क्राउन की विधायिनी शक्तियाँ

(Legislative Powers of the Crown)

क्राउन की मुख्य रूप से कार्यपालिका शक्तियाँ हैं यद्यपि इसका अर्थ यह नही है कि उसकी केवल यही शक्तियाँ हैं। सयुक्त राज्य अमेरिका में कार्यपालिका, न्यायपालिका तथा विधायी तीनो प्रकार के कर्त्तव्यो को तीन अलग-अलग विभागो में दिखाया गया है। यद्यपि अमरीकी सविधान के निर्माता शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त (Doctrine of the separation of Powers) को पूरी तरह से अन्त तक नहीं निभा सके। ग्रेट ब्रिटेन में शक्तियो के इस प्रकार पृथक्करण के सिद्धान्त को कोई विशेष महत्त्व नही दिया जाता। विधायी शक्ति स-ससद् सम्राट् के हाथो में है। प्रत्येक परिनियम या सविधि (Statute) जब ससद् द्वारा पारित होती है तो उसमें लिखा होता है "यह सविधि या परिनियम सम्राट् के द्वारा तथा लार्ड सभा एव लोकसभा

के सदस्यो की अनुमति से और उनके अधिकार से पारित किया जाता है।" यहाँ भी और स्थानो की तरह राजा ने अपनी विधायी शक्ति क्राउन को सौंप दी है। अत क्राउन ही राष्ट्रीय विधानमण्डल का अभिन्न भाग (Integral part) है, और क्राउन की स्वीकृति, सविधि पारित होने के लिये अत्यन्त आवश्यक है।

क्राउन के मत्रीगण जो देश की सर्वोच्च कार्यपालिका का सृजन करते हैं, ससद् के सदस्य भी होते हैं। वे ससद् की कार्यवाहियो पर निगाह एव नियन्त्रण रखते हैं और वे ही यह निर्णय करते हैं कि ससद् में अमुक विषय पर किस प्रकार चला जाये। इस प्रकार क्राउन ही ससद् को आहूत करता है (Summons), सत्रावसान करता है (Prorogues), अथवा विसर्जित (Dissolve) करता है। जब नयी ससद् का सम्मेलन होता है तो प्राय सम्राट् ही राज्य-सिंहासन से भाषण (Speech from the Throne) देता है और उसके द्वारा ससद् का स्वागत करता है। सम्राट् अपने भाषण में बताता है कि क्राउन का विधायी कार्यक्रम (Legislative Programme) क्या है और वह शासन के महत्त्वपूर्ण एव विविध राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय मामलो पर जो विचार होते हैं, उन्हें व्यक्त करता है। किन्तु सम्राट् के भाषण को वास्तव में मत्री लोग ही तैयार करते हैं और सम्राट् को पढने मात्र के लिये दे देते हैं। वह उस भाषण में कोई परिवर्त्तन नही कर सकता और न कोई नई बात बढा सकता है।

ससद् का कोई भी कानून उस समय तक सविधि पुस्तक में दर्ज नही हो सकता जब तक कि क्राउन उस पर राजकीय स्वीकृति न दे दे। इसका अर्थ है कि राजा ससद् द्वारा पारित किसी कानून पर स्वीकृति प्रदान करने से इनकार कर सकता है अथवा उसको प्रतिनिषिद्ध (Veto) कर सकता है। किन्तु सन् १७०७ से प्रतिनिषेध अधिकार (Veto Power) का कभी भी उपयोग नही हुआ है। इस प्रकार प्रतिनिषेध अधिकार (Veto power) स्वय ही लुप्त हो गया है। आजकल तो राजा स्वय विधेयको पर अपनी स्वीकृति देता भी नही। यह स्वीकृति पाँच कमिश्नरो द्वारा दी जाती है, जिनकी नियुक्ति क्राउन राजकीय साइन मैन्युअल (Sign manual) के अनुसार करता है। यह समस्त कार्यवाही एक सुन्दर औपचारिकता के रूप में होती है।

परिषद्-आदेश (Orders in Council)—क्राउन स्वय यह क्षमता रखता है कि वह कार्यपालिका सम्बन्धी कुछ आज्ञायें दे सकता है। इन्ही आज्ञाओ को इगलैण्ड में परिषद्-आदेश (Orders-in Council) कहते हैं। ये परिषद्-आदेश दो प्रकार के होते हैं। पहिले प्रकार के वे आदेश होते हैं जो साधारण प्रशासनिक नियम होते हैं और उन नियमो के आधार पर शासन की विभिन्न शाखायें अपना-अपना नैत्यिक काम-काज (Routine business) चलाती हैं। दूसरे प्रकार के परिषद्-आदेश वे होते हैं जिनकी आज्ञा ससद् देती है और इस प्रकार के आदेशो को प्राय परिनियत आदेश (Statutory order) कहते हैं। ऐसे आदेशो का वही महत्त्व है जो विधि का क्योंकि वे ससद् के अधिकार से पास किये जाते हैं। इस प्रकार के आधीन विधान (Subordinate Legislation) का बहुत अधिक महत्त्व बढ गया है और इस विषय पर

अन्यत्र विस्तार से विचार किया गया है।

क्राउन की न्यायपालिका शक्तियाँ

(Judicial Powers of the Crown)

राजा को अब भी न्याय का स्रोत (Fountain of Justice) कहा जाता है। इस ऐतिहासिक कथन का अर्थ यह है कि सम्राट् का सद्विवेक न्याय-व्यवस्था में अन्तिम वाक्य है। अब ऐसा नही है। इगलैण्ड में स्वतन्त्र न्यायपालिका के सिद्धान्त के अनुसार आचरण होता है। इसके अनुसार न्यायाधीश तथा अदालतें पूर्ण तौर पर देश की कार्यपालिका के अधिकार-क्षेत्र से स्वतन्त्र हैं। फिर भी अदालतें क्राउन के अधिकार-क्षेत्र से पूरी तरह बाहर नही है। क्राउन ही न्यायाधीशो की, काउण्टियो (Counties) तथा पौरो अथवा बौरोज (Boroughs) के न्यायाधीशो (Justices of Peace) की नियुक्ति करता है। लार्ड चासलर (Lord Chancellor), जो मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता है, सारी न्यायपालिका के कार्य की देखभाल करता है। सभी मामले जो प्रिवी परिषद् (Privy Council) की न्यायिक समिति (Judicial Committee) के सम्मुख निर्णयार्थ आते हैं, उन पर अन्तिम निर्णय क्राउन ही करता है। अन्तश क्राउन के पास क्षमादान का परमाधिकार (Prerogative) है जिसके द्वारा वह ऐसे अपराधियो को क्षमा कर सकता है जो फौजदारी के अपराधो के दोषी हो।

राजा कोई गलती नहीं कर सकता (The king can do no wrong)—सक्षेप मे क्राउन की शक्तियो का वर्णन किया जा चुका है। इसमे सन्देह नही कि क्राउन का सम्राट् के व्यक्तित्व से गहरा सम्बन्ध है किन्तु व्यक्तिगत राजा अधिकतर, राज्य तथा कार्यपालिका का औपचारिक मुखिया है। किन्तु वास्तविक एव शक्तिशाली मुखिया क्राउन ही है। राजा की स्थिति का लोवेल (Lowell) ने सही मूल्याकन किया है। वह कहता है, "सविधान के पुराने सिद्धान्त के अनुसार मत्री लोग राजा के सलाहकार होते थे। उनका काम था सलाह देना और राजा का काम था निर्णय करना। अब स्थिति बिल्कुल विपरीत हो गई है। राजा से सलाह ली जाती है किन्तु मन्त्री निर्णय करते हैं।" बहुत से मामलो में सम्राट् की व्यक्तिगत जानकारी प्राय नही के बराबर ही होती है किन्तु उन पर मत्री अपना निर्णय दे देते हैं। और यदि सम्राट् की जानकारी हो भी तो सम्भव है कि उसकी उन विषयो में बिल्कुल रुचि न हो, यद्यपि निश्चित रूप मे क्राउन की शक्तियो का प्रयोग सम्राट् के ही नाम में किया जाता है।

दो मुख्य सिद्धान्त हैं जिन पर इगलैण्ड के सविधान का ढांचा स्थिर है। प्रथम यह है कि सम्राट कोई सार्वजनिक कार्य केवल स्व-विवेक के आधार पर नही कर सकता। उसे सभी कार्य मत्रियो की सलहा पर करने पडते हैं। दूसरा यह है कि मत्रीगण जो भी काम सम्राट् के नाम मे करते हैं उस कार्य के लिए मत्री ससद् (Parliament) के प्रति उत्तरदायी हैं और यही, इस अर्थ-पूर्ण वाक्याश का मतलब है, "राजा कोई गलती नही कर सकता" (The king can do no wrong)।

'अर्थात् राजा कोई भी ऐसा गलत या ठीक काम स्वविवेक से कर ही नही सकता जिसमें कोई वैधिक हित सन्निहित हो।" सम्राट् के किसी मामले पर व्यक्तिगत विचार कुछ भी हो, किन्तु सविधानिक सम्राट् होने के नाते उसे मन्त्री की बात माननी ही होगी क्योकि सम्राट् को हर समय याद रखना चाहिए कि मन्त्रियो की पीठ पर जनता के प्रतिनिधियो के बहुमत का हाथ है और अपने सभी कृत्यो के लिए वे व्यक्तिगत रूप से भी और समस्त मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से भी ससद् के प्रति उत्तरदायी है।[1] यह लगभग ३०० वर्ष की सुस्थापित परम्परा है।[2] सविधान में अभिसमयो का बडा महत्त्व होता है और इगलैण्ड का प्रत्येक सम्राट् राज्यारोहण के समय प्रतिज्ञा करता है कि वह सविधान की रक्षा करेगा तथा संविधानिक सम्राट् की भाँति आचरण करेगा।

इसके अतिरिक्त मन्त्री अपने द्वारा किये हुए किसी गलत निर्णय के लिए 'राजा की आज्ञा' की आड नही ले सकता। टॉमस ऑसबोर्न, अर्ल आफ डैन्बी (Thomas Osborne, Earl of Danby)[3] के ऊपर १६७६ में "अभिद्रोहात्मक मुकद्दमा चलाया गया जिसमें उसके ऊपर फौजदारी एव दुश्चरित्र सम्बन्धी अपराध भी थे।" डैन्बी (Danby) ने अपने बचाव मे कहा कि उसने जो कुछ भी किया वह राजा के आदेश पर किया और राजा कोई गलती नही कर सकता। अपने महाभियोग (Impeachment) के समय उसने राजकीय क्षमा भी उपस्थित की लेकिन ससद् ने इन सब बातो को अवैध माना।[4] इस प्रकार यह सदैव के लिये निश्चित हो गया कि मन्त्रीगण अपने द्वारा किये गये किसी अवैध या असविधानिक कृत्य के लिये 'राजा के आदेश' की शरण नही ले सकते और इस प्रकार मन्त्रीगण सम्राट् की वैधिक विमुक्तियो (Legal immunities of the occupant of the throne) की शरण लेकर अपनी रक्षा नही कर सकते।

---

[1] १९१३ में एस्क्विथ (Asquith) ने सम्राट् के अधिकार तथा कर्त्तव्य पर जो ज्ञापन लिखा था उसे देखिये।

"Life of Lord Oxford and Asquith", op. Cit, vol II, p 21-39.

[2] चार्ल्स द्वितीय के शासन-काल में एक दरबारी राजा के शयन-कक्ष के दरवाजे पर निम्न पक्तियां लिख दीं, "Here lies our Sovereign Lord, the King, whose word no man relies on; He never says a foolish thing, Nor ever does a wise one"

इस पर सम्राट् ने उत्तर दिया था कि "यह बात बिल्कुल सही है क्योंकि वचन तो मेरे होते हैं लेकिन मेरे कार्य मन्त्रियों के होते हैं।"

[3] डैन्बी (Danby) लार्ड हाई ट्रेजरर के पद पर क्लिफर्ड (Clifford) के बाद आसीन हुआ, और इस प्रकार क्राउन का सर्वोच्च मन्त्री बना।

[4] डैन्बी केस में राजकीय क्षमा के सम्बन्ध में प्रस्ताव के लिए देखिये, "Select Documents of English Constitutional History," op cit 439.

राजपद का औचित्य

(The Justification of Monarchy)

अग्रेजी शासन-व्यवस्था में सम्राट् की स्थिति केवल औपचारिक मात्र है और यह भी तथ्य है कि ऐसे अभिसमय (Conventions) स्थापित हो गये हैं जिनके कारण वह अपनी वैधानिक शक्तियो का भी उपभोग नही कर सकता। तो इससे यह प्रश्न उठता है कि फिर इगलैण्ड में राजपद समाप्त क्यो नही कर दिया जाता। कुछ लोगो का विचार है कि राजपद पर जितना राष्ट्र को व्यय करना पडता है, उससे राष्ट्र को उतना लाभ नही है। कुछ लोग राजपद को राजनीतिक असगति (Political anachronism) कहते हैं। किन्तु वास्तविक सत्य यह है कि ब्रिटेन के अधिकतर लोग राजपद समाप्त करने के पक्ष में नही हैं। पिछली शताब्दी में १८७० के आस-पास लोगो में प्रवल गणतन्त्रीय विचारो का उदय हुआ।[1] इससे उस समय वडी उत्तेजना फैली जब इस विचारधारा को सर चार्ल्स डिल्के (Sir Charles Dilke) जैसे व्यक्तियो ने भी ग्रहण कर लिया[2] और जिस समय कि चेम्बरलेन (Chamberlain) ने भविष्यवाणी की "गणतन्त्र अवश्य स्थापित होगा और जिस रफ्तार से इस दिशा में हम जा रहे हैं, यह हमारे समय में ही स्थापित हो जायगा।"[3] किन्तु कुछ वर्षों में यह आन्दोलन ठण्डा हो गया "और रानी विक्टोरिया (Queen Victoria) ने डिल्के (Dilke) को मन्त्रिमण्डल का सदस्य नियुक्त किरने से पूर्व उसको बाध्य किया कि वह अपनी पहिली धारणाओ के विरुद्ध स्व-मत घोषित करे।"

तब से इगलैण्ड में राजपद अधिक लोक-प्रिय रहा है और अब प्राय सभी राजनीतिक विचारको ने राजपद को बिना बहस के स्वीकार कर लिया है।[4] लास्की

---

[1] सितम्बर १८७० मे ट्राफलगर स्क्वेयर (Trafalgar Square) में गणतन्त्रीय प्रदर्शन हुआ और १८७१ मे लन्दन (London) में गणतन्त्रीय क्लब की स्थापना हुई जिसका प्रथम अध्यक्ष चार्ल्स ब्रैडला (Charles Bradlaugh) था। इस क्लब के प्रतिष्ठापन के अवसर पर लार्ड ब्रैडला ने कहा, "राज्य के उत्तराधिकारी के पास न बुद्धि है, न योग्यता है, न गम्भीरता है और न प्रतिष्ठा का भाव है। इन गुणों के अभाव के कारण वह महान् राष्ट्र में सर्वप्रथम स्थान ग्रहण करने के योग्य नहीं हो सकेगा।"

[2] न्यूकैसिल (Newcastle) की एक भारी सभा में बोलते हुए डिल्के (Dilke) ने क्राउन के ऊपर जो भारी व्यय होता है उसकी आलोचना की। उसने कहा, "मैं विश्वास दिलाता हूँ कि गणतन्त्र में वे दोष नही होगे जो राजतन्त्र में निहित हैं। मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि देश का एव समाज का मध्यवर्ग गणतन्त्र का स्वागत करेगा।"

[3] इस आन्दोलन के प्रबल समर्थकों में निम्न व्यक्ति भी थे—ट्रेड यूनियनिस्ट ब्राइट ऑडगर (Trade Unionist Bright Odger), शेफील्ड के ससद्-सदस्य मुन्डेला (Mundella, M P. of Sheffield) एव जॉन मार्ले (John Morley)।

[4] अब भी कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो सिद्धान्त स्वरूप गणतन्त्र के समर्थक हैं। ससद् के कतिपय सदस्यों ने एडवर्ड अष्टम के राज्य त्याग के बाद इगलैंड में गणराज्य स्थापित करने की इच्छा व्यक्त की थी।

(Laski) लिखता है, "स्पष्ट शब्दो में यदि कहा जाय तो राजतन्त्र ने अपने आपको प्रजातन्त्र के हाथो साकेतिक रूप में बेच दिया है और इस विक्रय से सभी वर्गों को इतनी अपार प्रसन्नता हुई है कि उस सार्वजनिक खुशी के गगनभेदी स्वर में इक्के-दुक्के मतभेद की आवाज़े सुनाई भी नही पडती। यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि ट्रेड यूनियन कांग्रेस (Trade Union Congress) के अधिकारी समाचारपत्र शाही परिवार के बारे में तसवीरो और खबरो के लिए और समाचारपत्रो से अधिक स्थान देते हैं।"[1] यद्यपि क्राउन पर इगलैण्ड में जो व्यय होता है, और अन्य देशो में जो व्यय होता है, उसमे महान् अन्तर है फिर भी ऐसी तुच्छ बात कही जाती है कि "लोगो को क्राउन से उतना लाभ नही होता जितना उस पर व्यय होता है।"[2] इसमें सन्देह नही कि राजपद के साथ कुछ आवश्यक शिष्टाचार, आडम्बर एव आचार-नियम जुडे हुए हैं जिनके कारण कुछ व्यर्थ व्यय होता है और बहुत से लोग इस प्रदर्शन की सर्वसाधारण की दरिद्रता और मुसीबतो से तुलना करने लगते हैं। किन्तु गूच (Gooch) के अनुसार इस प्रश्न को उठाने के यह अर्थ नही हैं कि "राजतन्त्र को समाप्त कर दिया जाय।"[3] जैनिग्ज (Jennings) के अनुसार "प्रजातन्त्रात्मक शासन बेजान तर्कों और शोभाहीन नीतियो तक ही सीमित नही है। उसमें कुछ रगीनी, कुछ तडक-भडक होनी ही चाहिए और ऐसी स्पष्ट तडक-भडक और कहाँ देखने को मिलेगी जैसी कि शाही पोशाक (Royal Purple) में मिलती है।[4] चर्चिल (Churchill) के अनुसार "हमारे समस्त लोगो के हृदयो में राजतन्त्र गहरा पैठा हुआ है और यह सभी को अत्यन्त प्रिय है।"[5] सम्राट् के प्रजाजनो द्वारा राजतन्त्र की ऐतिहासिक एव सार्वजनिक प्रशसा के कारण हैं इतिहास के, मानवी निमित्तो के, भावुकता के एव लाभ के कुछ मिश्रित तथा उलझे हुए परिणाम।

१ **सम्राट् का व्यक्तिगत अधिकार** (Personal authority of the King)—शासन के व्यावहारिक सचालन में सम्राट् अब भी व्यक्तिगत रूप से कुछ विशिष्ट कार्य सम्पादित करता है। वह स्वय विदेशी राजदूतो का स्वागत करता है यद्यपि यह कार्य पूर्णतया औपचारिक है क्योकि यह सदैव मत्री की उपस्थिति में होता है।[6] ससद् के उद्घाटन के समय सम्राट् सिहासन से भाषण देता है किन्तु जो वक्तृता

---

1. Laski, H J Parliamentary Government in England (1938), p 392

2 Greaves, H R G. The British Constitution, op cit, p. 83-84

3 The Government of England, op cit, p. 107.

4 Jennings British Constitution, pt III

5. चर्चिल का १९५२ में जार्ज षष्ठम् की मृत्यु पर दिया गया भाषण।

6 १९२९ में जार्ज पन्चम ने रूस के राजदूत का सत्कार करने मे आपत्ति की। विदेश मत्री ने नम्रता किन्तु दृढ़तापूर्वक कहा कि इस सम्बन्ध में केबिनेट निश्चय कर चुकी है और तब सम्राट् ने राजदूत का स्वागत किया।

राजपद का औचित्य

(The Justification of Monarchy)

अग्रेजी शासन-व्यवस्था में सम्राट् की स्थिति केवल औपचारिक मात्र है और यह भी तथ्य है कि ऐसे अभिसमय (Conventions) स्थापित हो गये हैं जिनके कारण वह अपनी वैधानिक शक्तियो का भी उपभोग नही कर सकता। तो इससे यह प्रश्न उठता है कि फिर इगलैण्ड में राजपद समाप्त क्यो नही कर दिया जाता। कुछ लोगो का विचार है कि राजपद पर जितना राष्ट्र को व्यय करना पडता है, उससे राष्ट्र को उतना लाभ नही है। कुछ लोग राजपद को राजनीतिक असगति (Political anachronism) कहते हैं। किन्तु वास्तविक सत्य यह है कि ब्रिटेन के अधिकतर लोग राजपद समाप्त करने के पक्ष में नही हैं। पिछली शताब्दी में १८७० के आस-पास लोगो में प्रबल गणतन्त्रीय विचारो का उदय हुआ।[1] इससे उस समय बडी उत्तेजना फैली जब इस विचारधारा को सर चार्ल्स डिल्के (Sir Charles Dilke) जैसे व्यक्तियो ने भी ग्रहण कर लिया[2] और जिस समय कि चेम्बरलेन (Chamberlain) ने भविष्य-वाणी की "गणतन्त्र अवश्य स्थापित होगा और जिस रफ्तार से इस दिशा में हम जा रहे हैं, यह हमारे समय में ही स्थापित हो जायगा।"[3] किन्तु कुछ वर्षों में यह आन्दोलन ठण्डा हो गया "और रानी विक्टोरिया (Queen Victoria) ने डिल्के (Dilke) को मन्त्रिमण्डल का सदस्य नियुक्त करने से पूर्व उसको बाध्य किया कि वह अपनी पहिली धारणाओ के विरुद्ध स्व-मत घोषित करे।"

तब से इगलैण्ड में राजपद अधिक लोक-प्रिय रहा है और अब प्राय सभी राजनीतिक विचारको ने राजपद को बिना बहस के स्वीकार कर लिया है।[4] लास्की

---

[1] सितम्बर १८७० में ट्राफलगर स्क्वेयर (Trafalgar Square) में गणतन्त्रीय प्रदर्शन हुआ और १८७१ में लन्दन (London) में गणतन्त्रीय क्लब की स्थापना हुई जिसका प्रथम अध्यक्ष चार्ल्स ब्रैडला (Charles Bradlaugh) था। इस क्लब के प्रतिष्ठापन के अवसर पर लार्ड ब्रैडला ने कहा, "राज्य के उत्तराधिकारी के पास न बुद्धि है, न योग्यता है, न गम्भीरता है और न प्रतिष्ठा का भाव है। इन गुणों के अभाव के कारण वह महान् राष्ट्र में सर्वप्रथम स्थान ग्रहण करने के योग्य नहीं हो सकेगा।"

[2] न्यूकैसिल (Newcastle) की एक भारी सभा में बोलते हुए डिल्के (Dilke) ने क्राउन के ऊपर जो भारी व्यय होता है उसकी आलोचना की। उसने कहा, "मैं विश्वास दिलाता हूँ कि गणतन्त्र में वे दोष नही होंगे जो राजतन्त्र में निहित हैं। मैं विश्वासपूर्वक कहता हूँ कि देश का एवं समाज का मध्यवर्ग गणतन्त्र का स्वागत करेगा।"

[3] इस आन्दोलन के प्रबल समर्थकों में निम्न व्यक्ति भी थे—ट्रेड यूनियनिस्ट ब्राइट ऑडगर (Trade Unionist Bright Odger), शेफील्ड के ससद्-सदस्य मुन्डेला (Mundella, M P of Sheffield) एव जॉन मार्ले (John Morley)।

[4] अब भी कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो सिद्धान्त स्वरूप गणतन्त्र के समर्थक हैं। ससद् के कतिपय सदस्यो ने एडवर्ड अष्टम के राज्य-त्याग के बाद इगलैंड में गणराज्य स्थापित करने की इच्छा व्यक्त की थी।

(Laski) लिखता है, "स्पष्ट शब्दो में यदि कहा जाय तो राजतन्त्र ने अपने आपको प्रजातन्त्र के हाथो साकेतिक रूप में बेच दिया है और इस विक्रय से सभी वर्गों को इतनी अपार प्रसन्नता हुई है कि उस सार्वजनिक खुशी के गगनभेदी स्वर में इक्के-दुक्के मतभेद की आवाजें सुनाई भी नही पडती । यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि ट्रेड यूनियन काँग्रेस (Trade Union Congress) के अधिकारी समाचारपत्र शाही परिवार के बारे में तसवीरो और खबरो के लिए और समाचारपत्रो से अधिक स्थान देते हैं ।"[1] यद्यपि क्राउन पर इगलैण्ड मे जो व्यय होता है, और अन्य देशो मे जो व्यय होता है, उसमें महान् अन्तर है फिर भी ऐसी तुच्छ बात कही जाती है कि "लोगो को क्राउन से उतना लाभ नही होता जितना उस पर व्यय होता है ।"[2] इसमें सन्देह नही कि राजपद के साथ कुछ आवश्यक शिष्टाचार, आडम्बर एव आचार-नियम जुडे हुए हैं जिनके कारण कुछ व्यर्थ व्यय होता है और बहुत से लोग इस प्रदर्शन की सर्वसाधारण की दरिद्रता और मुसीबतो से तुलना करने लगते हैं । किन्तु गूच (Gooch) के अनुसार इस प्रश्न को उठाने के यह अर्थ नही हैं कि "राजतन्त्र को समाप्त कर दिया जाय ।"[3] जैनिग्ज़ (Jennings) के अनुसार "प्रजातन्त्रात्मक शासन बेजान तर्कों और शोभाहीन नीतियो तक ही सीमित नही है । उसमें कुछ रगीनी, कुछ तडक-भडक होनी ही चाहिए और ऐसी स्पष्ट तडक-भडक और कहाँ देखने को मिलेगी जैसी कि शाही पोशाक (Royal Purple) में मिलती है ।[4] चर्चिल (Churchill) के अनुसार "हमारे समस्त लोगो के हृदयो में राजतन्त्र गहरा पैठा हुआ है और यह सभी को अत्यन्त प्रिय है ।"[5] सम्राट् के प्रजाजनो द्वारा राजतन्त्र की ऐतिहासिक एव सार्वजनिक प्रशसा के कारण हैं इतिहास के, मानवी निमित्तो के, भावुकता के एव लाभ के कुछ मिश्रित तथा उलझे हुए परिणाम ।

१ सम्राट् का व्यक्तिगत अधिकार (Personal authority of the King)—शासन के व्यावहारिक सचालन में सम्राट् अब भी व्यक्तिगत रूप से कुछ विशिष्ट कार्य सम्पादित करता है । वह स्वय विदेशी राजदूतो का स्वागत करता है यद्यपि यह कार्य पूर्णतया औपचारिक है क्योकि यह सदैव मत्री की उपस्थिति में होता है ।[6] ससद् के उद्घाटन के समय सम्राट् सिहासन से भाषण देता है किन्तु जो वक्तृता

---

[1] Laski, H J Parliamentary Government in England (1938), p 392

[2] Greaves, H R G. The British Constitution, op cit, p 83-84

[3] The Government of England, op cit , p. 107.

[4] Jennings British Constitution, pt III.

[5] चर्चिल का १९५२ में जार्ज षष्ठम् की मृत्यु पर दिया गया भाषण ।

[6] १९२९ में जार्ज पञ्चम ने रूस के राजदूत का सत्कार करने में आपत्ति की । विदेश मन्त्री ने नम्रता किन्तु दृढतापूर्वक कहा कि इस सम्बन्ध में केबिनेट निश्चय कर चुकी है और तब सम्राट् ने राजदूत का स्वागत किया ।

के समक्ष विचारार्थ आती हैं। वह मन्त्रिमण्डल के सभी पत्रो को देखता है चाहे उन्हें मन्त्रिमण्डल के दफ्तर से घुमाया जाय अथवा विभागो द्वारा मन्त्रिमण्डल की कार्यावलि (agenda) उसे पहिले ही भेज दी जाती है और वह ज्ञापन (Memoranda) के सम्वन्ध में सम्वन्धित उत्तरदायी मन्त्री से वातचीत कर सकता है। यदि सम्राट् को किसी विभाग (Department) से किसी जानकारी की आवश्यकता हो, तो वह उसे माँग सकता है। उसको मन्त्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही की विवरण पुस्तक मिलती है और विदेश मन्त्रालय द्वारा प्रसारित समस्त प्रेपण-पत्र (Daily print of despatches) प्रतिदिन प्राप्त होते हैं। ससद् के वाद-विवादो को भी वह "ससदीय प्रतिवेदन" (Official Report) से पढता रहता है। यदि उसको किसी अन्य जानकारी की आवश्यकता होती है तो वह अपने सेक्रेटरी के द्वारा मँगवा सकता है। इसके अतिरिक्त उसका निजी कर्मचारी वर्ग होता है जो उसको समस्त राजनीतिक महत्त्व की घटनाओ से अवगत कराता रहता है। सक्षेप में प्रधान मन्त्री का यह कर्त्तव्य होता है कि वह सम्राट् को उन सभी वातो से अवगत रखे जो देश अथवा विदेशो में हो रही हो, मन्त्रिमण्डल के सव निर्णय भी वतावे और किसी भी नीति पर चलने के कारणो को समझाने के लिये उसे सदैव तैयार रहना चाहिये। जैनिंग्ज़ (Jennings) कहता है कि "कुछ मामलो पर विशेषकर विदेशी मामलो पर एव राष्ट्रमण्डल सम्वन्धी मामलो पर प्राय सम्राट् को प्रधान मन्त्री से भी अधिक जानकारी होती है।"

इस प्रकार सम्राट् को इतनी राजनीतिक जानकारी एव अनुभव हो जाता है जितना किसी अन्य शासनाधिकारी राजनीतिज्ञ को भी होना कठिन है। वैजहॉट (Bagehot) ने ठीक ही कहा था कि सम्राट् को प्रधान मन्त्री की अपेक्षा दो विशेष लाभ हैं। पहिला लाभ तो यह है कि जहाँ प्रधान मन्त्री एव मन्त्रीगण वदलते रहते हैं, सम्राट् अपने पद पर मृत्युपर्यन्त चलता है। अत मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही उसके लिये वरावर एक-सी चलती रहती है और यदि शासन कभी वदलता भी है "तो सम्राट् की दृष्टि में साधारण कार्यकर्त्ता लोगो की अदला-वदली है।" इस सवके कारण सम्राट् एक प्रकार से विश्वसनीय मन्त्री के समान है जिसकी सलाह प्रत्येक बुद्धिमान् मन्त्री अवश्य लेना चाहेगा। सक्षेप में कह सकते हैं कि "सम्राट् सदैव जानता है कि सामयिक प्रधान मन्त्री के पूर्वगामियो ने क्या गलती की थी और सम्भवत वह यह भी जानता है कि उन्होने वे गलतियाँ क्यो की थी।"

इसके अतिरिक्त सम्राट् के विचार तथा उद्देश्य इस कारण और भी लाभदायक होते हैं कि वे राजनीतिक विवादो से आच्छादित नही होते। सम्राट् की किसी दल विशेष में आस्था नही होती। और सभी को सम्राट्-पद के प्रति परम्परागत आदर-भाव है जिसके कारण उसके विचारो का महत्त्व वढ जाता है। श्री एस्क्विथ (Mr Asquith) ने सम्राट् के अधिकारो एव कर्त्तव्यो पर ज्ञापन लिखते समय कहा है, "सम्राट् का यह अधिकार भी है और कर्त्तव्य भी कि वह अपने मन्त्रियो को वह

सारी जानकारी प्रदान करे जो उसे हो, उन सभी आक्षेपो से अवगत करे जो मन्त्रियो द्वारा दी गई सलाह पर उचित रूप से लगाये जा सकते हैं और यदि सम्राट् की राय में कोई दूसरी नीति उपयुक्त जान पडे तो उसे मन्त्री के समक्ष प्रस्तुत करे। मन्त्री लोगो को इस प्रकार की मन्त्रणाएँ सदैव आदरपूर्वक स्वीकार करनी पडती हैं और उन मन्त्रणाओ पर किसी अन्य क्षेत्र से दी गई मन्त्रणा की अपेक्षा अधिक समादर से विचार किया जाता है।"[1]

किन्तु सम्राट् का काम मुख्य रूप से मन्त्रणा देना ही है। वह अपने विचारो को दृढतापूर्वक रख सकता है। वह मन्त्रियो द्वारा दी गई सलाह पर विरोध प्रदर्शित कर सकता है। किन्तु उसे हठ नही करनी चाहिये। और अन्त में यदि मन्त्री सम्राट् के विचार से सहमत न हो तो सम्राट् को मान जाना चाहिये। सम्राट् इस हद तक हठ नही कर सकता कि शासन का स्थायित्व ही खतरे में पड जाय।

३. **सम्राट् मध्यस्थ के रूप में** (The King as Mediater)—सम्राट् प्राय. मध्यस्थ के रूप में कार्य करता है और अपने प्रतिष्ठा प्रभाव के द्वारा राजनीतिक मत-भेदो को तय कराता है या जहाँ तक सम्भव हो "विरोध की प्रचण्ड-भावना को कम कराता है।" क्योकि सम्राट् के पास कोई वास्तविक राजनीतिक शक्ति नही होती और उसके कोई भी राजनीतिक शत्रु भी नही होते, उसकी मन्त्रणा का आदर किया जाता है और वह प्राय मान ली जाती है। सन् १८७२ में रानी विक्टोरिया ने बिना ग्लैड्स्टन को बताये लॉर्ड रसेल (Lord Russell) को लिखा था और उससे आग्रह-पूर्वक प्रार्थना की थी कि वह अल्बामा प्रश्न (Albama Question) सम्बन्धी पत्रो के लिये आग्रह न करे ताकि शासन व्यग्रता से बचा रहे। पुन १८८१ में रानी विक्टोरिया ने जनरल पोन्सनबी (General Ponsonby) से कहा कि वह सर स्टैफर्ड नॉर्थकोट (Sir Stafford Northcote) तथा लार्ड बीकन्सफील्ड (Lord Beaconsfield) से मिल लें जिससे आयरलैण्ड का विरोध समाप्त कराने के लिये शासन के जो प्रस्ताव हैं उन पर सर्वसम्मत समझौता हो जाय। साम्राज्ञी की मध्यस्थता से एक बार पुन बडा लाभ हुआ जब कि ससद् के दोनो सदनो के मतभेद दूर हो गये। सन् १९१३ एव १९१४ में सम्राट् जार्ज पचम ने प्रयत्न किया कि होम रूल बिल (Home Rule Bill) पर समझौता हो जाय। कुछ इस बात का भी सबूत मिला है कि १९१६ मे लार्ड स्टेम्फर्डम (Lord Stamfordham) ने, जो सम्राट् के निजी सचिव थे, श्री एस्क्विथ तथा श्री लायड जार्ज (Mr Asquith and Mr Lloyd George) के झगडे को सुलझाने का प्रयत्न किया था, जिसके फलस्वरूप एस्क्विथ ने त्याग-पत्र दे दिया। सन् १९२१ के आयरिश होम रूल सम्बन्धी विवाद में जार्ज पचम (George V) को भी काफी परिश्रम करना पडा था।

४ **सम्राट्, राष्ट्र की एकता का प्रतीक** (The King as Symbol of

---

[1] Life of Lord Oxford and Asquith, op citd, Vol II. pp 29-31

Unity)—इगलेंड का सम्राट् एक ही साथ कनाडा तथा समस्त राष्ट्रमण्डलीय देशो का भी सम्राट् है। विस्टन चर्चिल कहता है कि, "सम्राट् एक दुर्बोध तथा जादूभरी कडी है जिसने हमारे ढीले बँधे हुए किन्तु दृढता से जुडे हुए राष्ट्रमण्डलीय देशो, राज्यो तथा जातियो को मिले हुए रखा है।"[1] इस प्रकार दूर-दूर बिखरे हुए राष्ट्रमण्डलीय देशो के बीच में सम्राट् एकता का अपरिहार्य-प्रतीक (Indispensable Symbol of Unity) है। वैल्डविन (Baldwin) ने एक बार एडवर्ड अष्टम् (Edward VIII) से कहा था कि "सम्राट् ही हमारे बचे-खुचे साम्राज्य की अन्तिम कडी है। यदि इस कडी को तोड दिया जायगा तो स्वतन्त्र राष्ट्रमण्डलीय देशो के बीच कुछ भी सामान्य प्रतीक नही रहेगा।" इन्ही एकता के प्रतीकस्वरूप बन्धनो को सुदृढ बनाने के लिये स्टेट्यूट आफ वैस्टमिनिस्टर (Statute of Westminster) की एक धारा में कहा गया है कि जब कभी राज्य-सिहासन के उत्तराधिकार के सम्बन्ध मे कोई परिवर्त्तन हो तो उस समय, तदर्थ, राष्ट्रमण्डल के सभी सदस्य राष्ट्रो की अनुमति आवश्यक होगी।

५ सम्राट्, ब्रिटिश जाति के प्रधान के रूप में (The King as the Chief of a Nation)—लार्ड बाल्फर (Earl of Balfour) लिखता है कि "ब्रिटेन के राजा के पद का ब्रिटेन के सविधान के अन्य भागो की तरह एक अत्यन्त अर्वाचीन पहलू भी है। हमारा सम्राट् अपनी उत्पत्ति (Descent) और अपने पद के कारण हमारे राष्ट्रीय इतिहास का जीवित प्रतीक है। अत सम्राट् हमारी सस्थाओ के स्वरूप को आच्छादित नही करता, वरन् वह उस स्वरूप को उजागर करता है। वह न तो किसी दल का नेता है न किसी वर्ग विशेप का प्रतिनिधि है, वह तो सारी ब्रिटिश जाति का प्रधान है। ·· वह सभी का सम्राट् है"।[2] वह वास्तव में सभी का सम्राट् है और सभी अग्रेज लोग ऐसा ही सोचते हैं। सम्राट् के राज्यारोहण, राज्य-तिलक अथवा महोत्सव (Jubilee) के अवसरो पर सभी लोग उसके प्रति राज-भक्ति का अपूर्व प्रदर्शन करते हैं। जोश से भरे हुए राज-भक्त प्रजाजन राज-मार्गों पर खडे होकर सम्राट् की सवारी निकलते हुए देखते हैं जब कि वह राजकीय सजधज के साथ ससद् के उद्‌घाटन के लिये जाता है। वास्तव मे सम्राट् की प्रत्येक हरकत प्रजा के लिये नई खबर (News) है और उसको प्रचार (Publicity) के हर उपाय द्वारा लोगो के सम्मुख लाया जाता है। लास्की (Laski) का कथन है कि "लडाई के बाद से व्यक्तिगत सम्राट् के बारे में जो कुछ प्रशसाएँ निकली हैं वे पिछले साठ वर्षों के सम्राटो की अपेक्षा किसी अर्द्ध देवता (Demi God) के बारे में कही जाती तो अधिक उपयुक्त जान पडती।[3]

किसी राजतन्त्र-प्रणाली वाले देश में, राजपद का माध्यम देश-भक्ति के सचार के लिये अति उत्तम है, विशेपकर ऐमे देश में जहाँ राजतन्त्र का लम्बा एव

---

[1] जार्ज छठवें (George VI) की मृत्यु पर चर्चिल द्वारा ब्राडकास्ट भाषण।

[2] Introduction to Begehot's English Constitution, p XXV

[3] Laski Parliamentary Government in England, p 389.

शानदार इतिहास रहा हो। जैनिग्ज कहता है कि "हम एक ही समय में शासन को बुरा कह सकते हैं, साथ ही सम्राट् का जय-जयकार कर सकते हैं।"[1] एक ही आदमी सम्राट् का राजभक्त हो सकता है, साथ ही शासन का विरोधी भी हो सकता है। अनुदार दल के सदस्य (Coservatives) सन् १९१४ में सम्राट् के प्रति पूर्ण राजभक्त रहे यद्यपि वे उदार दल (Liberal) के शासन की नीति सम्बन्धी कुछ बातो का विरोध करते रहे। प्रजा की देश-भक्ति का चाव उस समय और भी तीव्र हो जाता है जब कि सम्राट् युद्ध की घोषणा करता है और शाही सेनाओ के लिये रँगरूटो की माँग करता है। देश की माँग—"तुम्हारा सम्राट् तथा तुम्हारा देश तुम्हारी सेवाएँ चाहता है"—सभी को यह याद दिला देती है कि वे सब एक राज्य के लोग हैं। इस एकता का अत्यन्त साकार प्रतीक है, सम्राट्। श्री लायड जार्ज (Mr Llyod George) के अनुसार सन् १९१७ में सम्राट् के अथक परिश्रम एव सहायता के फलस्वरूप ही औद्योगिक अशान्ति शान्त हुई जबकि सम्राट ने गोला-बारूद के कारखानो एव अन्य स्थानो पर जा-जाकर युद्ध के निमित्तो के बारे में फैली हुई गलतफहमी को दूर किया।[2] जार्ज छठवें ने भी युद्ध के बहुत से केन्द्रो और इगलैंड के बहुत से बमो से नष्ट किये हुए स्थानो को स्वय जाकर देखा जिसके फलस्वरूप सिपाहियो तथा नागरिको में देशप्रेम का नया जोश उमडने लगा। सभी ने युद्ध जीतने के लिये जानो की बाजी लगा दी और अन्त में सम्राट् की राजभक्त प्रजा की ही विजय हुई। इगलैंड के राष्ट्रीय गीत का अर्थ है, "भगवान सम्राट् की रक्षा करे" (God Save the King)", और वे सभी कुछ सम्राट् के लिये ही करते हैं यहाँ तक कि उसी के लिये जान भी दे सकते हैं; और सम्राट् इगलैंड में राज्य का ही प्रतीक है।

६ **सम्राट् का सामाजिक व्यक्तित्व** (The king as a social figure)—सम्राट् केवल राजनीतिक यन्त्र का पुर्जा मात्र ही नही है। वह देश के सामाजिक ढाँचे का एक आवश्यक अग है और इस प्रकार उसका पर्याप्त सामाजिक प्रभाव है। शाही परिवार कला एव साहित्य के क्षेत्रो तक में भी सद्व्यवहार (morality) लोकव्यवहार (Fashion)[3] एव कौशल (aptitude) का समावेश कराता है। यदि किसी सार्वजनिक कार्य में सम्राट् का अवलम्बन मिल जाय तो वह बडा लाभकारी होगा और वह कार्य निश्चित रूप से लोकप्रिय हो जायगा। कोई दूसरा व्यक्ति, चाहे वह कितना ही महान् क्यो न हो, सारे ही राष्ट्र का प्रेम-पात्र नही हो सकता।

---

[1] Jennings The English Constitution, op cit, p 111

[2] Cabinet Government, op cit, p. 364

[3] राजकुमारी मारगैरेट (Princes Margaret) एव राजकुमारी रोज जो अब साम्राज्ञी एलिजैबिथ द्वितीय (Elizabeth II) हैं, दोनों ने शाम को १९३९ के वसन्त में बिना हेट पहिने घूमने जाना प्रारम्भ कर दिया। इससे लन्दन के बच्चों का फैशन बन गया और बच्चों के हेटों की बिक्री कम हो गई। बच्चों के हेट बेचने वालों का एक मडल साम्राज्ञी से मिला और अपनी परेशानी साम्राज्ञी को बताई। साम्राज्ञी ने बच्चों को आज्ञा दी कि वे शाम को टहलने जाते समय हेट अवश्य पहिनें और बच्चों में फिर हेट पहिनने का फैशन हो गया।

वेजहॉट कहता है कि "इस प्रकार यह स्पष्ट हो जायगा कि सम्राट् के इन शानदार उत्सवो का उसके शासन के अन्य उत्सवो की अपेक्षा कही अधिक महत्त्व है।" यदि प्रजातन्त्र के माने हैं, प्रजा के द्वारा शासन तथा प्रजा के लिये शासन—तो सम्राट् की उपस्थिति एव उसका योग शासन को प्रजातन्त्रीय बनाता है। लास्की (Laski) ने ठीक ही कहा कि "सम्राट् का वास्तविक कार्य एक महान् औपधिस्वरूप रहा है न कि कलहपूर्ण हितो के बीच मध्यस्थ स्वरूप।"

७ **सम्राट् और संसदीय शासन** (The King and Parliamentary Government)—मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली ऐसे किसी भी देश में सफल नही हुई है जहाँ पर नाम मात्र का राष्ट्र का प्रधान न हो—वह चाहे इगलैंड की तरह से राजा हो अथवा फ्रास की तरह राष्ट्रपति हो। किन्तु राजनीतिक दृष्टिकोण से जो व्यक्ति किसी दल विशेप का न हो और दलगत आस्थाओ से ऊपर हो, वही व्यक्ति ससदीय शासन-प्रणाली के लिये सर्वाधिक उपयुक्त प्रधान होगा। राज्य का चुना हुआ प्रधान प्रायः उन्नत पद प्राप्त राजनीतिज्ञ (Promoted Politician) ही होता है, और वह चाहे कितनी भी निष्ठापूर्वक अपनी पुरानी दलगत आस्थाओ को भुलाने का प्रयत्न करे किन्तु वह ऐसा पूरी तरह नही कर सकता। और यदि वह (चुना हुआ प्रधान) भूल भी जाय तो भी उसके पुराने साथी तो नहीं भूल जायेगे। किन्तु चुने हुए प्रधान के विपरीत, सम्राट् की कोई दलगत आस्थाएँ नही होती। उसकी अति महत् स्थिति है—एक महान् राज्य-सिहासन का सम्राट् होने के कारण वह एक विल्कुल दूसरे ही प्रकार के वातावरण में विचरता है। वह सभी का सम्राट् है और किसी दल विशेप से उसका कोई सम्वन्ध नही रहता। "इसके फलस्वरूप वह सदैव न केवल पक्षपात-रहित होकर सभी काम करता है—वल्कि इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण वात यह है कि सभी उसकी पक्षपात-शून्यता पर पूर्ण विश्वास करते हैं।" यदि इगलैण्ड में ससदीय शासन को उसी प्रथम श्रेणी की प्रणाली के रूप में रखना है जिसमें उसका विकास हुआ है तो हमको उस प्रणाली के प्रतिनिधि के रूप में अत्यन्त महाप्रतापी एव पूर्ण पक्षपातहीन सम्राट्-पद को रखना ही होगा।

निष्कर्ष (Conclusion)—इगलैण्ड के सम्राट् की लोकप्रियता तथा ब्रिटिश राजनीति में उसके प्रमुख स्थान को सभी मानते हैं। इगलैण्ड मे इस वात के प्रयत्न हुए हैं कि लार्ड सभा (House of Lords) को या तो सुधारना चाहिये अन्यथा उसका अन्त कर देना चाहिये; और लोकसभा (House of Commons) और मन्त्रिमण्डल (Cabinet) को भी सुधारने के प्रयत्न हुए हैं। किन्तु राजपद सदैव समय के अनुरूप रहा है। सर्वसाधारण अनुभव करते हैं कि "राजपद देश को एकता, गौरव एव स्थिरता प्रदान करता है।" यदि राजपद को समाप्त किया जाता है तो उसके स्थान पर या तो फ्रास के अध्यक्ष की तरह या अमेरिका के अध्यक्ष की तरह अध्यक्ष-पद (Presidency) स्थापित होगा। फ्रास का अध्यक्ष-पद ठीक नही है क्योकि फ्रास का अध्यक्ष न शासन करता है न राज्य करता है। यदि हम अमेरिका जैसा अध्यक्ष-

पद रखें तो हमको अपने देश के राजनीतिक ढाँचे में क्रान्तिकारी परिवर्त्तन करने पडेगे। अग्रेज इसके लिये कभी राजी न होगे। अग्रेज अपने स्वभाववश अ-परिवर्त्तनवादी है और अपनी पूज्य सस्थाओ को नष्ट करने के लिये कभी तैयार नही होगा। राजपद के अपने लाभ हैं जो इगलैड में एक सस्था के रूप मे स्पष्ट एव विशिष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं। लॉवेल (Lowell) ने ठीक ही कहा है, "यदि राजा, राज्य के पोत की प्रेरक शक्ति नही है, तो भी वह उस पोत का मस्तूल है जिस पर पाल लटका हुआ है और इस प्रकार वह उस पोत का न केवल लाभदायक अपितु अत्यन्त आवश्यक भाग है" और इस प्रकार चाहे प्रजातन्त्र में राजपद असामयिक जान पडे किन्तु वह ब्रिटेन की सविधानिक शासन-प्रणाली मे इतनी पूर्णता से घिरा हुआ है कि ऑग (Ogg) के शब्दो में देश इसी प्रकार "राजपदीय गणराज्य" (Crowned Republic) बना रहेगा एव बना रहना चाहिये। इस दिशा में केवल साम्यवादी (Communists) ही विरोध करते हैं।

Suggested Readings

Greaves, H R G	The British Constitution (1951), Chap IV.
Jennings, W I	Cabinet Government (1951), Chap XII.
,, ,,	The British Constitution (1942), Chap V.
Keith, A B.	The Constitution of England From Queen Victoria to George VI, Vol. I, Chapters II, III.
Laski, H J	Parliamentary Government in England (1938), Chapter VIII
Lowell, A L	The Government of England (1908), Vol. I, Chap I
Marriot, J A R	Mechanism of the Modern State (1927), Vol. II, Chapters XXIII, XXIV
Martin, K	The Magic of Monarchy
Munro, W. B	The Governments of Europe (1947), Chap IV.
Ogg, F A.	English Government and Politics (1936), Chapters IV and V
Ogg and Zink	Modern Foreign Governments (1953), Chapter III.
Stannard, H	The Two Constitutions (1950), Chapter I.

अध्याय ३

प्रिवी परिषद्, मन्त्रालय और मन्त्रिमण्डल

(Privy Council, Ministry and Cabinet)

क्राउन की शक्तियाँ कई साधनो द्वारा प्रयुक्त की जाती हैं। कुछ का प्रयोग मन्त्री लोग अपने विवेक से उन विभागो (Departments) में करते हैं, जो उसके आधीन होते हैं। कुछ का प्रयोग प्रिवी परिषद् (Privy Council) तथा उसकी विभिन्न समितियाँ करती हैं, कुछ का प्रयोग मन्त्रिमण्डल करता है और कुछ का प्रयोग स्थायी सिविल सर्विस के अधिकारियो की सहायता से होता है। अब हम विचार करेंगे कि वे सभी साधन किस प्रकार अपना-अपना कार्य करते हैं।

प्रिवी परिषद्

(The Privy Council)

उत्पत्ति तथा विकास (Origin and Development)—इगलैण्ड में प्रारम्भिक काल से ही एक परिषद् हुआ करती थी, वह कुछ ऐसे व्यक्तियो की मण्डली थी, जो राजा की सेवा में उपस्थित रहा करते थे, कुछ नियमित कर्त्तव्य करते रहते थे और राजा को सलाह देने का कार्य करते थे। प्रिवी परिषद् (Privy Council) एक सरकारी नाम है जो विधि में उन लोगो के लिये प्रयुक्त हुआ है जो राजा के सलाहकार होते हैं। प्रिवी परिषद् का आदि मूल राजा की वही परिषद् (King's Council) अथवा लघु परिषद् (Curia Reges) थी जो नॉरमन काल से विभिन्न नामो में किन्तु अविच्छिन्न इतिहास के रूप में चली आ रही है। लेंकास्ट्रियन वश (Lancastrian kings) के राजाओ के काल में प्रयत्न किया गया था कि यह परिषद् ससद् के आधीन रहे किन्तु सफलता नही मिली। १६वीं शताब्दी में राजा की परिषद् अथवा प्रिवी परिषद् ट्यूडर राजाओ की निरकुशता की शक्तिशाली माध्यम बन गई। अगली शताब्दी में इस परिषद् की शक्तियो में कमी आगई। अब राजा के सलाहकारो में से भी एक अन्तरग सभा (Inner circle of the king's advisers), बन गई जिसके हाथो में वास्तविक शक्ति आगई और यही अन्तरग सभा मन्त्रिमण्डल या केबिनेट (Cabinet) कहलाने लगी।

प्रिवी परिषद् का आधुनिक स्वरूप तथा उसके कार्य (Its Present Composition and functions)—प्रिवी परिषद् इस समय भी वर्त्तमान है किन्तु आजकल इसके पास मन्त्रणा देने के सम्बन्ध में कोई शक्ति नही है। यह केवल एक औपचारिक समिति है "जिसके द्वारा बहुत सी प्राचीन रचनाएँ नये रूप में होती रहती हैं, किन्तु

जो वास्तव में ससद् अथवा मन्त्रियो के विनिश्चयो को व्यावहारिक स्वरूप देती हैं।" मन्त्रणा देने के सम्बन्ध में सारा भार अब मन्त्रिमण्डल ने अपने ऊपर ले लिया है।

आजकल प्रिवी परिषद् मे लगभग ३०० सदस्य हैं। किन्तु इसकी सारी कार्यवाही केवल चार या पांच सदस्यो की उपस्थिति में ही की जाती है जो सदैव मन्त्रिमण्डल के भी सदस्य होते हैं। समस्त प्रिवी परिषद् केवल एक मौके पर सम्मिलित होती है—जब कि सम्राट् की मृत्यु होती है। उस समय यह समस्त लार्ड सभा (Lords Spiritual and Temporal) तथा कुछ अन्य प्रतिष्ठित व्यक्ति, लार्ड मेयर (Lord Mayor), एल्डरमैन ऑफ लन्दन (Alderman of London) आदि के सहित समवेत होती है और राज्य-सिहासन के उत्तराधिकारी को घोषित करती है।

प्रिवी परिषद् में समस्त केबिनेट मन्त्री जो इस समय हो तथा जो पहिले कभी रह चुके हो, सदस्य होते हैं[1], साथ ही प्रिंस ऑफ वेल्स (Prince of Wales), शाही ड्यूक गण (Royal Dukes), प्रधान धर्माधिकारीगण (Arch bishops) लन्दन के बिशप (Bishop of London) और बहुत से अन्य व्यक्ति जो राजनीति, कला, साहित्य, विज्ञान अथवा कानून आदि किसी क्षेत्र में विख्यात हो परिषद् के सदस्य (Privy Councillars) बना दिये जाते हैं। आजकल राजदूत भी प्राय प्रिवी काउन्सिलर्स बना दिये जाते हैं और सन् १८९७ से ऐसी प्रथा-सी बन गई है कि अधिराज्यो (dominions) के प्रधान मन्त्रियो को भी नियमपूर्वक प्रिवी परिषद् का सदस्य बना दिया जाता है।[2] लोकसभा (House of Commons) के स्पीकर को भी प्रिवी परिषद् की सदस्यता विधिवत् अर्पित की जाती है। प्रिवी परिषद् के सभी सदस्यो की उपाधि 'सम्माननीय' (Right Honourable) होती है।

प्रिवी परिषद् की सभाएँ प्राय बकिंघम पैलेस (Buckingham Palace) में दो या तीन सप्ताहो में एक बार होती हैं और साधारणतया राजा उनमें उपस्थित होता है। पुरानी प्रथा के अनुसार इस सभा की गणपूर्ति (Quorum) ३ सदस्यों से हो जाती है और ऐसा स्पष्टत इस कारण है कि केवल चार या पाँच सदस्यो को आमन्त्रित किया जाता है जो प्राय सभी मन्त्रिमण्डल के सदस्य होते हैं। बहुत ही कम अवसरो पर मन्त्रिमण्डल के सदस्यो के अतिरिक्त किसी व्यक्ति को परिषद् की बैठक में बुलाया जाता है। लार्ड प्रेसीडेण्ट (Lord President) जो सदैव केबिनेट का मन्त्री (Cabinet Minister) होता है, इसकी सभाओ का सभापतित्व करता है। ये चार या पाँच प्रिवी कौंसिलर लार्ड प्रेसीडेण्ट (Lord President) की अध्यक्षता में सम्मिलित होकर सारी कार्यवाही, समस्त प्रिवी परिषद् (Privy Council) के नाम में करते हैं।

---

[1] जो व्यक्ति एक बार प्रिवी परिषद् का सदस्य बन जाता है वह आमतौर पर जीवनपर्यन्त सदस्य बना रहता है।

[2] जनरल हर्टज़ॉग (Gen Hertzog) तथा मि० डी० वेलेरा (De Velara) ने प्रिवी परिषद की सदस्यता अस्वीकृत कर दी थी।

प्रिवी परिषद् एक विचार-शील निकाय नही है। इस अर्थ में यह मन्त्रिमण्डल से भिन्न है। यह मुख्यत कार्यपालिका सम्बन्धी कर्त्तव्यो का निर्वहन करती है और मन्त्रियो द्वारा किये गए विनिश्चयो पर अपनी औपचारिक आज्ञा प्रदान करती है। प्रिवी परिषद् द्वारा जारी की गई आज्ञाएँ परिषद्-आदेश (Orders-in-Council) कहे जाते हैं और वे या तो परिनियत या परमाधिकारिक आदेश (Statutory or Prerogative) होते हैं। परिनियम या सविधि सम्बन्धी आदेशो को प्रदत्त या प्रत्यायुक्त विधान (Delegated Legislation) समझना चाहिये। ससद् (Parliament) विधि द्वारा ऐसे मामलो में आज्ञा दे देती है कि परिषद्-आदेश के द्वारा नियम बना लिये जाएँ। राजा के परमाधिकार सम्बन्धी परिषद्-आदेश (Orders-in-Council) बिल्कुल भिन्न हैं। इनके द्वारा क्राउन अपने परमाधिकारो का सीधा उपभोग करता है और इस सम्बन्ध में ससद् से औपचारिक सम्मति लेने की भी आवश्यकता नही है। यह वास्तव में अ-ससदीय विधान है। किन्तु इस प्रकार के परिषद्-आदेश (Orders-in-Council) रूढ़ित उपनिवेशो के लिये विधान निर्माण करते समय निकाले जाते हैं क्योकि उपनिवेशो मे प्रतिनिधिक सभायें (representative assemblies) नही हैं।

प्राचीन काल की तरह आज भी प्रिवी परिषद् से ही समितियो के लिये तालिका (panel) तैयार की जाती है। जर्सी एव ग्वेर्नसे (Jersey and Guernsey) के सम्बन्ध मे समिति का पुराना इतिहास है। इसी प्रकार ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय तथा स्काटलैण्ड के विश्वविद्यालयो के लिये समितियाँ हैं। रानी विक्टोरिया के आरम्भिक शासन-काल में प्रिवी परिषद् को समिति के माध्यम द्वारा बहुत से अन्य कर्त्तव्य सौंप दिये गये थे, किन्तु वे सब बाद में विभागो (Departments) को दे दिये गए। प्रिवी परिषद् का सम्बन्ध शिक्षा के साथ बहुत काल तक रहा और अन्त में १८९९ में समिति के स्थान पर शिक्षा-बोर्ड स्थापित किया गया जिसका सभापति, स्वतन्त्र व्यक्ति नियुक्त किया गया।

इन प्रिवी परिषद् की समितियो में सबसे मुख्य समिति न्यायिक समिति (Judicial Committee) है जिसका निर्माण १८३३ में किया गया था। इस समिति में मुख्य रूप से न्यायाधीशगण और भूतपूर्व लार्ड चासलर (Lord Chancellors) होते हैं और यह चर्च के सम्बन्ध में समस्त मामलो की सर्वोच्च अपीलीय कोर्ट के रूप में कार्य करती है और समस्त साम्राज्य की भिन्न-भिन्न अदालतो से जो अपीलें आती हैं उन पर निर्णय देती है।

प्रिवी परिषद् के कार्यालय का एक मुख्य कर्त्तव्य यह है कि वह विभिन्न प्रकार की खोजो एव अनुसन्धानो का प्रबन्ध एव देखभाल करे। इसका यह भी कार्य है कि आर्थिक एकीकरण की दिशा मे प्रयत्न करे, साथ ही ब्रिटिश ब्रॉडकास्टिंग कार्पोरेशन (B. B C) की नीति निर्धारण करे और केन्द्रीय सूचना कार्यालय के कार्यों की भी देखभाल करे।

मंत्रालय

(The Ministry)

मंत्रालय और मंत्रिमंडल (The Ministry and the Cabinet)—मंत्रालय (Ministry) शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। कभी-कभी यह मंत्रिमंडल (Cabinet) के अर्थों में भी प्रयुक्त होता है मानो दोनों शब्द समानार्थक हों। कभी-कभी इसका अर्थ होता है मंत्रिमंडल और उसके साथ सम्मिलित वे सब मन्त्री जो मंत्रिमंडल के सदस्य नहीं होते। मंत्रालय शब्द का दूसरा अर्थ अधिक उत्तम है। जब नये प्रधान मन्त्री की नियुक्ति होती है तो उसे लगभग ७० पदों पर नियुक्तियाँ करनी पड़ती हैं, जिनमें कुछ बड़े पद तथा कुछ छोटे पद होते हैं, और वे सब मिलाकर मंत्रालय (Ministry) कहलाते हैं। उदाहरणार्थ चर्चिल (Mr Churchill) ने १९५१ में जो मंत्रिमंडल बनाया था उसमें १६ सदस्य थे। मंत्रिमंडल के इन मन्त्रियों के अतिरिक्त २२ अन्य मन्त्री थे जो मंत्रिमंडल में नहीं थे। इनके अतिरिक्त ३० से अधिक उपमन्त्री थे और इन लगभग ६० मन्त्रियों के योग से चर्चिल का मंत्रालय (Ministry) बना। एन्थोनी ईडन (Anthony Eden), चर्चिल के कार्य-मुक्त होने के उपरान्त प्रधान मन्त्री बना। उसने कुछ ही परिवर्तन करके लगभग उसी मंत्रालय से अपना काम चलाया। इस प्रकार सुगमता के अभिप्राय से मंत्रालय में सभी प्रकार के बड़े और छोटे मन्त्री सामूहिक रूप से समझे जाते हैं।

नामकरण एवं प्रभाव के कारण भी मन्त्री लोग भिन्न होते हैं। मंत्रालय (Ministry) के मन्त्रियों में से लगभग बीस प्रभावशाली मन्त्रियों का तो मंत्रिमंडल बनता है। वे सामूहिक रूप से ही समवेत होते, नीति निर्धारित करते और सामान्यतः शासन का मार्ग दर्शन करते हैं। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि मंत्रिमंडल का प्रत्येक मन्त्री आवश्यकतः किसी न किसी प्रशासनिक विभाग (Administrative Department) का अध्यक्ष ही हो। कुछ ऐसे पद होते हैं जिनमें वेतन तो मिलता है किन्तु कोई विशिष्ट कार्य उस पद के लिए निर्दिष्ट नहीं है। ऐसे महान् राजनीतिक प्रभाव के व्यक्ति जिनकी क्षमता विभागीय काम देखने-भालने योग्य नहीं रह जाती अथवा ऐसे लोग जिनकी प्रशासन में रुचि न रह गई हो किन्तु जिनकी मन्त्रणा का सदैव महत्त्व है, ऐसे पदों पर नियुक्त कर दिये जाते हैं, तथा उन्हें उन पदों के लिये कोई विशिष्ट कर्त्तव्य करने नहीं होते।[1] उदाहरणतः लार्ड प्रिवी सील (Lord Privy Seal) के समस्त कर्त्तव्य १८८४ में समाप्त कर दिये गये किन्तु फिर भी वह मंत्रिमंडल का सदस्य रहता है। लार्ड प्रेसीडेण्ट ऑफ़ दी काउन्सिल (Lord President of the Council) को भी सामान्य से काम देखने पड़ते हैं। "कभी-कभी इन पदों पर

---

[1] १८६८ के व्यापार बोर्ड में (Board of Trade) जॉन ब्राइट (John Bright) सफल प्रशासक सिद्ध नहीं हुआ। किन्तु बाद में वही चान्सलर ऑफ़ दी डची (Chancellor of the Duchy) के पद पर अत्यधिक सफल सिद्ध रहा।

उचित ही ऐसे मन्त्री नियुक्त कर दिये जाते हैं जिन पर महान् उत्तरदायित्व के वे काम डाल दिये जाते हैं जो सामान्य किस्म के अधिक किन्तु विभागीय किस्म के काम होते हैं।" यही बात सर जॉन एण्डरसन (Sir John Anderson) के बारे में भी जो १९४०-१९४३ तक लार्ड प्रेसीडेण्ट (Lord President) बना रहा, और इसी प्रकार हर्बर्ट मॉरिसन १९४५ के श्रमिक दलीय शासन (Labour Government) में लार्ड प्रेसीडेण्ट नियुक्त हुआ। इसके अतिरिक्त विभागहीन मन्त्रियो (ministers without portfolio) की नियुक्ति हो सकती है।

द्वितीयत कुछ ऐसे मन्त्री नियुक्त किये जाते हैं जिनका दर्जा मन्त्रिमण्डल के मन्त्री के समकक्ष (As of Cabinet rank) ही होता है। एटली (Mr Atlee) ने १९४९ में जो श्रमिक सरकार बनाई थी उसमें १५ ऐसे मन्त्री थे।[1] मन्त्रिमण्डल दर्जे के मन्त्री (Ministers of the cabinet rank) प्रशासनिक विभाग के अध्यक्ष होते हैं, और यद्यपि औपचारिक रूप से उनका वही दर्जा होता है जो मन्त्रिमण्डल के मन्त्री का, और दोनो को समान वेतन भी मिलता है, किन्तु वे स्वय मन्त्रिमण्डल के मन्त्री नही होते। वे मन्त्रिमण्डल की बैठको में तभी उपस्थित होते हैं जब प्रधान मन्त्री उन्हे विशेष रूप से उनके विभाग से सम्बद्ध किसी मामले पर मन्त्रणा करने के लिये आमन्त्रित करे।

तृतीयत ससदीय सचिव (Parliamentary Secretaries) अथवा प्रवर-सचिव (Under Secretaries) होते हैं जो मन्त्रियो को विभागीय काम निबटाने में सहायता देते हैं। इनको कभी-कभी उप-मन्त्री (Junior ministers) भी कहा जाता है और ये अधिकारसम्पन्न पक्ष या दल के युवक सदस्य होते हैं जिनकी योग्यता और कार्यक्षमता की जाँच इन छोटे पदो पर की जाती है और इस प्रकार उन्हें बड़े पदो के योग्य बनाया जाता है। अन्तत शाही परिवार के पाँच राजनीतिक अधिकारी होते हैं जिनमें कोषाध्यक्ष (Treasurer), नियन्त्रक (Comptroller) तथा राजमहल का प्रधान कर्मचारी (Chamberlain) भी सम्मिलित होते हैं। इन पदो का राजनीतिक महत्त्व है, और इन पर काम करने वाले लोग मन्त्री समझे जाते हैं।

इन समस्त श्रेणियो के मन्त्रीगण, जिनको मिलाकर मत्रालय का निर्माण होता है, ससद् के सदस्य होते हैं, और वे सब लोकसभा (House of Commons) के बहुमत दल से सम्बन्धित होते हैं।[2] वे सब व्यक्तिगत रूप से एव सामूहिक रूप से

---

[1] Jennings Cabinet Government, op cit, p 505

[2] यह पूर्ण प्रचलित अभिसमय है कि मन्त्री या तो लार्ड सभा (House of Lords) का या लोकसभा (House of Commons) का सदस्य हो किन्तु इस अभिसमय के कतिपय अपवाद भी रहे हैं। १८४५ में ग्लैड्स्टन (Gladstone) उपनिवेशिक मन्त्री (Colonial Secretary) था। इस पद पर ग्लैड्स्टन ससद् का सदस्य न होते हुए भी नौ मास तक बना रहा। सन् १९२२-२३ में सर ए० जी० बॉसकावन (Sir A G Bosecawen) कृषि-मन्त्री इसी प्रकार रहे। जनरल स्मट्स (General Smutts) विभागहीन मन्त्री रहा और फिर युद्धकाल में १९१६ से युद्ध के अन्त तक युद्ध मन्त्रिमण्डल का सदस्य रहा, यद्यपि वह इस काल में ससद् के सदस्य नहीं थे। रैम्ज़े मैकडानल्ड

लोकसभा के प्रति उत्तरदायी हैं और वे तभी तक मन्त्री बने रह सकते हैं जब तक लोकसभा के विश्वास-भाजन बने रहे। "इस प्रकार मत्रालय में क्राउन के सभी अधिकारीगण भी हो सकते हैं। यदि वे ससद् के सदस्य हो और लोकसभा के प्रति सीधे उत्तरदायी हो और उन्हें लोकसभा के स्थायी बहुमत का समर्थन प्राप्त हो।" किन्तु सारे मत्रालय के सामूहिक कर्त्तव्य कुछ नही हैं। यह काम मन्त्रिमण्डल का है। मन्त्रिमण्डल के मन्त्री एक समिति के रूप में समवेत होते हैं, विचार करते हैं, नीति निर्धारित करते हैं, और उन्ही को यह भी देखना पडता है कि उस नीति पर ठीक-ठीक आचरण हो रहा है अथवा नही। समस्त मत्रालय कभी भी एक साथ नही समवेत होता और वह कभी भी नीति सम्बन्धी कोई निर्णय नही करता। एक साधारण मन्त्री के कर्त्तव्य—मन्त्रिमण्डल मन्त्री की बात ही दूसरी है—अकेले उसके कर्त्तव्य होते हैं जिनका सम्बन्ध उस प्रशासनिक विभाग अथवा विभागो से है जो उसके अधिकार में होते हैं। "सक्षेप में कह सकते हैं कि मन्त्रिमण्डल का मन्त्री महत्त्वपूर्ण विषयो पर विचार करके निश्चय करता है, प्रिवी परिषद् उन विनिश्चयो को क्रियान्वित करने की आज्ञप्ति जारी करती है और उन्हे क्रियान्वित करना व्यक्तिगत मन्त्री का काम है। यह तीनो क्रियाएँ अलग-अलग चलती हैं और देखी जा सकती हैं चाहे ऐसा हो सकता है कि मन्त्रिमण्डल का मन्त्री, प्रिवी परिषद् और मन्त्री तीनो एक ही व्यक्ति क्यो न हो।"

मन्त्रिमण्डल

(The Cabinet)

मन्त्रिमण्डल एक प्रकार से ब्रिटिश सविधिक शासन-प्रणाली का हृदय है। यह वह सर्वोच्च नियन्त्रक शक्ति है जिसको बार्कर (Barker)[1] के शब्दो में नीति का चुम्बक कह सकते हैं। वह समस्त कार्यपालिका-शक्ति का एकीकरण और नियन्त्रित करता है और साथ ही व्यवस्थापिका के बिखरे हुए भागो को पूर्ण करता है तथा उन्हें मार्ग-दर्शन देता है। बैजहाट के अनुसार "ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल एक हाइफन (Hyphen) है जो जोडता है, एक बकसुआ (Buckle) है जो कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका को जकड देता है।" लॉवेल (Lowell) उसे "राजनीतिक वृत्तखण्ड के मेहराब के बीच का पत्थर कहता है।" सर जोन मैरियट (Sir John Marriot) के अनुसार "मन्त्रिमण्डल वह धुरा है जिसके चारो ओर सारा शासन चक्र घूमता है।" रैम्जे म्योर (Ramsay Muir) के अनुसार "मन्त्रिमण्डल राज्य के जहाज का परिचालक चक्र है।" सर आइवर जैनिग्ज़ ने ठीक ही कहा है "कि मन्त्रिमण्डल समस्त ब्रिटिश शासन-प्रणाली को एकता

(Ramsay MacDonald) और उसका पुत्र माल्कम मैकडानल्ड (Malcolm MacDonald) नवम्बर १९३५ से १९३६ के आरम्भ तक मन्त्रिमण्डल के मन्त्री रहे, यद्यपि वे दोनों ससद् के सदस्य नहीं थे। नवम्बर १९३५ में जो आम चुनाव हुआ उसमें दोनों पिता और पुत्र हार गये।

[1] Britain and the British People (1943), p 54

प्रदान करता है।" मन्त्रिमण्डल का कैसी भी रगीन कलम से चित्रण किया जाय और इसको किसी भी दृष्टिकोण से देखा जाय, यह निस्सन्देह इगलैण्ड में समस्त राजनीतिक क्रियाओं की प्रेरक शक्ति है। फिर भी मन्त्रिमण्डल की स्थिति कुछ अनियमित-सी है।

मन्त्रिमण्डल भी ब्रिटेन की बहुत सी सविधानिक सस्थाओ की ही तरह सयोग का जात है। १९३७ तक मन्त्रिमण्डल शब्द किसी ससद् द्वारा पारित विधि में प्रयुक्त नही हुआ और मिनिस्टर्स आफ दि क्राउन एक्ट (Ministers of the Crown Act, 1937) में इसका सयोगवश नाम आया है।[1] मन्त्रिमण्डल का कोई वैधिक अस्तित्व ही नही है अत इसके कार्य भी अनियमित ही हैं। इसीलिए मन्त्रिमण्डल के न्यायिक कर्त्तव्य औपचारिक रूप से प्रिवी परिषद् के नाम में किये जाते हैं क्योकि देश की प्रचलित विधि के अनुकूल प्रिवी परिषद् का अस्तित्व है। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल-शासन-प्रणाली का समस्त यन्त्र अभिसमयो पर आधारित है जो अलिखित होते हुए भी सदैव उतने ही मान्य एव यथार्थ तथा शुद्ध हैं जितने कि विधि के नियम। निस्सन्देह यह ब्रिटिश सविधान की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण देन है।

प्रधान मन्त्री के पद का विकास और मन्त्रिमण्डल (Development of the Office of Prime Minister and Cabinet)—मन्त्रिमण्डल शब्द का प्रयोग प्रारम्भ में कुछ ऐसे मन्त्रियो की समिति के लिए होता था जिससे स्टुअर्ट वंश के अन्तिम राजा अपने पूर्वगामियो की प्रिवी परिषद् को त्यागकर मन्त्रणा किया करते थे। इसके बाद १६८८ की महान् क्रान्ति हुई और फलस्वरूप ससद् की शक्तियाँ बढ गई। विलियम तृतीय (William III) ने राज्य-सिंहासन पर आते ही अपना मन्त्रिमण्डल व्हिग (Whigs) तथा टोरी (Tories) दलो मे से बनाया। किन्तु उसने शीघ्र ही अनुभव किया कि टोरी (Tories) दल के सदस्य उसकी नीति की कटु आलोचना करते हैं जिसके कारण उसको शान्तिपूर्वक शासन चलाना कठिन हो गया। इसलिये उसने धीरें-धीरे अपने मन्त्रिमण्डल में से टोरियो (Tories) को निकाल दिया और उसने पहिली बार अपने मन्त्रिमण्डल मे सभी मन्त्री एक ही दल के रखे। सन् १६९६ की ह्विग पार्टी (Whigs) की गुप्त समिति (Junto) ही वास्तव में मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली की जननी थी। साम्राज्ञी एन (Queen Anne) के शासन-काल में इसका और भी अधिक विकास हुआ, क्योकि अब वह गुप्त समिति (Whig Junto) नीति भी निर्धारित करने लगी जबकि उसके पूर्वगामी अपने मन्त्रिमण्डलो से केवल मन्त्रणा भर कर लेते थे। किन्तु रानी एन (Queen Anne) यदि किसी मन्त्री से अप्रसन्न हो जाती थी तो उसे हटा भी देती थी। साथ ही विलियम और एन दोनो (William and Anne) मन्त्रिमण्डल की सभाओ मे उपस्थित होकर स्वय अध्यक्षता करते थे।

---

[1] मिनिस्टर्स आफ दी क्राउन एक्ट, १९३७ (Ministers of the Crown Act, 1937) मे मन्त्रिमण्डल का जिक्र सयोगवश वहाँ आया है जहाँ मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियों को अन्य मन्त्रियों की अपेक्षा अधिक वेतन की बात कही गई है।

वास्तविक मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली का जन्म उस समय हुआ जबसे राजा ने मन्त्रिमण्डल की सभाओ में स्वय उपस्थित होना बन्द कर दिया। ऐसा सयोगवश १७१४ में हुआ जब जार्ज प्रथम (George I) ने परिषद् की सभाओ में इस कारण उपस्थित होना बन्द कर दिया कि वह अग्रेजी भाषा नही जानता था। राजा ने मन्त्रिमण्ल के एक शक्तिशाली मन्त्री सर राबर्ट वालपोल (Sir Robert Walpole) को आदेश दिया कि वह उसके स्थान पर मन्त्रिमण्डल का कार्य-सचालन करे। राजा की अनुपस्थिति में वालपोल (Walpole) ही मन्त्रिमण्डल का अध्यक्ष बन गया और अब अन्य मन्त्री उसके नेतृत्व में कार्य करने लगे। मन्त्रिमण्डल का सभापति होने के नाते वह मन्त्रिमण्डल की सभाओ का सभापतित्व भी करता था, मन्त्रिमण्डल के विनिश्चियो का सचालन एव मार्ग-दर्शन भी करता था, मन्त्रिमण्डल द्वारा किये गये विनिश्चयो को राजा की सेवा में निवेदित करता था और फिर राजा के विचारो से मन्त्रिमण्डल को अवगत कराता था। इसके अतिरिक्त ससद् का सदस्य होने के नाते वह ससद् और मन्त्रिमण्डल के बीच कडी का काम करता था। वालपोल (Walpole) की इस नई स्थिति और उसके कर्त्तव्यो से ही वास्तव में प्रधान मन्त्री के पद का उदय हुआ, यद्यपि वह सदैव प्रयत्नपूर्वक अस्वीकार करता रहा कि वह किसी प्रकार अन्य मन्त्रियो का प्रधान है।

बीस वर्ष तक वालपोल (Walpole) शासन का प्रधान बना रहा और इस काल में वह प्रणाली, जो अभी तक कल्पना में ही थी, मूर्त्त रूप धारण करने लगी तथा उसमें कुछ स्थायित्व आने लगा। वास्तव में वालपोल के शासन मे वह सब आवश्यक गुण बीज रूप में वर्तमान थे जो आधुनिक मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली में प्रौढ रूप में पाये जाते हैं। "वालपोल ने ही सर्वप्रथम देश की राजनीतिक आवश्यकताओ के अनुसार, देश का शासन स्वय चलाया। वालपोल ने ही सर्वप्रथम लोकसभा (House of Commons) में देश-हित के कार्य सम्पादित किये। वालपोल ने ही सर्वप्रथम देश का शासन करते समय अनुरोध किया कि उसकी नीति एव कार्यों पर ससद् के सभी सदस्यो का अनुमोदन होना चाहिये। वालपोल के काल में ही लोक-सभा राज्य की प्रभावशाली शक्ति के रूप में परिणत हो गई और अब योग्यता, प्रभाव एव वास्तविक शक्ति के अनुसार लार्ड सभा (House of Lords) की अपेक्षा ऊँची हो गई। और वालपोल ने ही सर्वप्रथम यह उदाहरण उपस्थित किया कि उसने सम्राट् का पूर्ण प्रेम एव विश्वासपात्र बने होने पर भी इस कारण अपना पद त्याग दिया कि अब उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त नही रह गया था।" वालपोल ने ही अपने कार्य-काल में सर्वप्रथम अपना कार्यालय डाउनिग स्ट्रीट के न० १० के भवन में (No 10, Downing Street) रखा, जो बाद मे होने वाले प्रधान मन्त्रियों का सरकारी निवास-स्थान (Official residence) बना रहा।

इन्ही दिनो मन्त्रीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त (The Principle of Ministerial Responsibility) का उदय हुआ, अर्थात् यह सिद्धान्त कि मन्त्री ससद् के प्रति अपने समस्त सामाजिक कार्यों के लिये उत्तरदायी है और यदि कभी ससद् के

विचार से मन्त्री ने कोई ऐसा कार्य किया है जिससे देश का अहित होता हो तो संसद् उसके विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही कर सकती है। मन्त्रीय उत्तरदायित्व का सिद्धान्त धीरे-धीरे विकसित हुआ। सर्वप्रथम, चार्ल्स प्रथम (Charles I) के राज्य-काल में स्टैफर्ड (Stafford) के विरुद्ध ससद् ने इस कारण कार्यवाही की कि उसने राजा को गलत सलाह दी थी। राजा ने भरसक उसको बचाने का प्रयत्न किया किन्तु स्टैफर्ड को ससद् द्वारा दिया गया दण्ड भुगतना पडा।[1] चार्ल्स द्वितीय के राज्य-काल में डैनबी के मामले (Danby's case) में भी वही हुआ। तब से मन्त्रीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को ससदीय शासन-प्रणाली की आवश्यक शर्त के रूप में स्वीकार किया जाता है।

किन्तु इसके यह अर्थ नही हैं कि १८वी शताब्दी में ससदीय शासन-प्रणाली पूर्ण रूप से स्थापित हो गई थी अथवा राजा की स्थिति मन्त्रिमण्डल के साथ सम्बन्धो में शून्यवत् हो गई थी। सर रॉबर्ट वालपोल भी अपने आपको राजा का सेवक मात्र समझता था और वह यह भी समझता था कि राजा उसे पदच्युत कर सकता है। जार्ज तृतीय ने चाहा कि कुछ ऐसे मन्त्री मन्त्रिमण्डल में बढ़ा लिये जायें जो विरोधी दल के सदस्य हो। जार्ज चतुर्थ ने प्रयत्न किया कि मन्त्रियो में फूट पड जाये अत उनसे कहा गया कि वे अलग-अलग कैंनिग (Canning) की विदेश नीति पर अपना-अपना मत दें। विलियम चतुर्थ ने एक बार अथवा सम्भवत दो बार सोचा कि उस मन्त्रिमण्डल को भग कर दिया जाय जिस पर लोकसभा तथा निर्वाचकगण (Electorate) का पूर्ण विश्वास था।

इस प्रकार मन्त्रिमण्डल प्रणाली का पूर्ण सिद्धान्त तथा व्यवहार जिस रूप में १८वी शताब्दी में विकसित हुआ, वह अपने आधुनिक स्वरूप में रानी विक्टोरिया (Queen Victoria) के शासन-काल से पहिले विकसित नही हुआ। पील (Peel), डिजरैली (Disraeli) तथा ग्लैड्स्टन (Gladstone) के कालो में तो मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली चरम उत्कर्ष को पहुँच गई थी। ग्लैड्स्टन के सहयोगी, मॉर्ले (Morley) ने लाइफ आफ वालपोल (Life of Walpole) नामक पुस्तक ग्लैड्स्टन की सहायता से लिखी थी। उस पुस्तक में एक अध्याय में मन्त्रि-प्रणाली के क्रिया-कलाप की अत्यन्त मौलिक एव सुन्दर व्याख्या की गई है।[2]

बीसवी शताब्दी में मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली के विकास के सम्बन्ध में विचार करना अभी जल्दबाजी होगी। किन्तु दो आवश्यक विचार प्रस्तुत करना अप्रासगिक न होगा। प्रथम यह कि मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियो की सख्या जहाँ पहिले १२ अथवा उससे

---

[1] स्टैफर्ड के ऊपर लोकसभा ने देश के प्रति विश्वासघात का जुर्म लगाया जिसमें कहा गया कि उसने देश की प्राचीन एव मौलिक विधि को बदलकर देश में मनमाना जालिम और स्वेच्छाचारी शासन स्थापित करने का प्रयत्न किया था। देखिये—Select Documents of English Constitutional History, op cit, p 361

[2] Devery, K · British Institutions of Today (1948), p 41.

भी कम थी, अब १८ या इससे भी अधिक होने लगी है। सर राबर्ट पील (Sir Robert Peel) ने अपने मन्त्रिमण्डल में १३ मन्त्री रखे, डिज़रैली (Disraeli) ने सन् १८७४ में १२ मन्त्रियो के मन्त्रिमण्डल से ही काम चलाया। तब से मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियो की सख्या बराबर बढ ही रही है। शासन के अधिकार एव कर्त्तव्यो में वृद्धि हो जाने के फलस्वरूप अब यह प्रथा-सी बन गई है कि मुख्य-मुख्य विभागो के अध्यक्ष मन्त्रियो को और कुछ विभागहीन मन्त्रियो को भी जैसे कि लार्ड प्रेज़ीडेण्ट आफ दी काउन्सिल (Lord President of the Council), लार्ड प्रिवी सील (Lord Privy Seel), और कभी-कभी चासलर आफ दी डची आफ लकास्टर (Chancellor of the Duchy of Lancaster) मन्त्रिमण्डल में ले लिये जाते हैं। दोनो महायुद्धो के काल में मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियो की सख्या बीस से कम प्राय नही रही। १९३५ में यह सख्या २२ हो गई थी। किन्तु मन्त्रिमण्डल का आकार बढ जाने से लोगों में असन्तोष था। उनका कहना था कि २१ या २२ मन्त्रियो का मन्त्रिमण्डल इतना बडा हो जाता था कि उसमें ठीक-ठीक विचार विनिमय होना कठिन हो जाता था। इस आलोचना के फलस्वरूप एटली (Atlee) ने सन् १९४९ मे अपने मन्त्रिमण्डल मे १६ मन्त्री रखे और चर्चिल ने १९५१ मे १६ मन्त्री नियुक्त किये किन्तु कुछ ऐसे मन्त्री भी थे जो मन्त्रिमण्डल के मन्त्री तो न थे किन्तु उसी दर्जे के थे। यह निस्सन्देह एक नया आविष्कार है। जो मन्त्री मन्त्रिमण्डल में न होते हुए भी उसी दर्जे के होते हैं (The Ministers not in the Cabinet) उनका दर्जा मन्त्रिमण्डल के समकक्ष ही होता है, मन्त्रिमण्डल द्वारा किये गये प्राय सभी निर्णय सिवाय अत्यन्त गोपनीय निर्णयो के उनके पास भेजे जाते हैं, और वे मन्त्रिमण्डल की समितियो में पूरा भाग लेते हैं। किन्तु वे मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणाओ में तभी भाग लेते हैं जब उनको विशिष्ट रूप से तदर्थ आमन्त्रित किया जाय और जबकि विचारणीय विषय उनके विभाग से सम्बद्ध हो।

इसी सम्बन्ध में दो बाते और ध्यान में रखनी चाहिये। प्रथम तो मन्त्रिमण्डल के बढे हुए कार्य-भार को निबटाने के उद्देश्य से मन्त्रिमण्डल समितियों का प्रचलन हो गया है जिनमें सारे विवादास्पद मामले तय किये जाते हैं, द्वितीयत श्रमिकदलीय सरकार ने यह चलन प्रारम्भ किया कि मन्त्रिमण्डल सप्ताह मे दो बार समवेत हो, जबकि युद्ध से पूर्व सप्ताह में केवल एक बार समवेत हो जाना पर्याप्त था। यह प्रथा सम्भवत काफी समय तक चलेगी।

बीसवी शताब्दी का दूसरा महत्त्वपूर्ण विकास यह है कि अब मन्त्रिमण्डल राष्ट्रीय आपात् कालो में दल-गत निष्ठा को त्याग देता है जिसके फलस्वरूप राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन मिलता है। इगलैंड के बारे में पुराने ज़माने से यही कहा जाता है और यह आज भी सच है कि वहाँ मिली-जुली सरकार (Coalition) के प्रति आम घृणा है, क्योकि इसे लोग ससदीय शासन-प्रणाली का अशुद्ध रूप मानते हैं। मिली-जुली सरकारो में चाहे, कुछ भी दोष हो, किन्तु २०वी शताब्दी का यह विकास महत्त्वपूर्ण है जिसके अनुसार अग्रेज़ लोग अपने आपको यथा-काल व्यवस्था के

अनुरूप बना लेते हैं। युद्ध काल की मिली-जुली सरकार (Coalition Government) का ज़िक्र करते हुए जैनिंग्ज (Jennings) लिखता है कि जिस मिली-जुली सरकार ने १९४०-१९४५ के बीच मानव-सभ्यता एव सस्कृति को नष्ट होने से बचा लिया, वह इतनी ही सम्मिलित सरकार रही जितनी कि कोई अन्य साधारण एकदलीय सरकार होती।[1] सन् १९३२ की राष्ट्रीय सरकार ने भी अपनी एकता की रक्षा की। भिन्न मत होते हुए भी वे सम्मिलित रहे।[2]

मन्त्रिमण्डलीय शासन के लक्षण

(Features of the Cabinet Government)

इस प्रकार मन्त्रिमण्डल एक चक्र के अन्दर चक्र (A wheel within a wheel) है। उस पहिये की बाहरी गोलाई लोकसभा के बहुमत दल को समझना चाहिये। उसके बाद अन्दर की गोलाई मन्त्रिमण्डल को समझनी चाहिए जिसमें उस दल के प्रमुखतम व्यक्ति रहते हैं। उस पहिये की सबसे छोटी गोलाई मन्त्रिमण्डल को समझना चाहिये जिसमें दल के चोटी के नेता ही रहते हैं। "इस प्रकार पार्टी के समस्त क्रिया-कलाप में एकता आजाती है और इस एकता को प्राप्त करने के लिए यह अत्यन्त आवश्यक हो जाता है कि समस्त नियन्त्रण एक छोटे से निकाय के हाथो में रहे जिससे मिल-जुलकर और आसानी से काम चलता जाय।" सक्षेप में मन्त्रिमण्डल ही सारे शासन रूपी यन्त्र को चलाने वाली शक्ति (the driving and steering force) है। किन्तु मन्त्रिमण्डल, महत्त्वपूर्ण होते हुए भी विधि के अनुसार अनियमित-सी सस्था है। इसका अस्तित्व और इसके क्रिया-कलाप कुछ सुस्थापित अभिसमयो, प्रथाओ और पूर्व दृष्टान्तो पर आधारित है। मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली की समस्त व्यवस्था का तथ्य यह है कि शासन का सारा कार्य मन्त्री लोग राजा के नाम मे करते हैं। ये मन्त्री ससद् के बहुमत दल के सदस्य होते हैं और अपने समस्त सार्वजनिक तथा वैयक्तिक क्रिया-कलापो के लिए वैयक्तिक रूप में भी एव मन्त्रिमण्डल के सामूहिक रूप में भी ससद् के प्रति उत्तरदायी हैं। मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली के इन महत्त्वपूर्ण लक्षणो पर हम विशदता से विचार करेंगे।

१ **नाम मात्र का कार्यपालिका प्रधान** (A Titular Executive Head)—प्रथमत यह समझ लेना चाहिए कि मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली का अर्थ है कि राजा के हाथो में न तो नीति-निर्देशन है न वह स्वय कोई निर्णय कर सकता है, न वह देश के प्रति, शासन द्वारा किए गये निश्चयो के लिये उत्तरदायी है। क्राउन की समस्त राजनीतिक एव कार्यपालिका शक्तियो का प्रयोग कुछ राजनीतिक अधिकारी व्यक्ति राजा के नाम पर करते हैं। ये व्यक्ति ससद् के बहुमत दल के सदस्य होते हैं। इन राजनीतिक व्यक्तियो की आलोचना की जा सकती है और उनको प्रश्नो का उत्तर

---

[1] Cabinet Government, op. cit , p 247.

[2] Laski Crisis and the Constitution, (1932)

देने के लिए बाध्य किया जा सकता है । और यदि ससद् उनकी नीति से सन्तुष्ट न हो तो उनको अपने पदो से हटाया जा सकता है । क्योकि राजा का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही होता अत वह उन गोपनीय वाद-विवादो मे भाग भी नही लेता जिनमें मन्त्री लोग यह निश्चय करते हैं कि राजा को क्या मन्त्रणा दी जाय । दूसरे शब्दो मे राजा मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणाओ में सभापति का आसन ग्रहण नही करता । प्रारम्भ मे सयोगवश ही राजा ने मन्त्रिमण्डल की सभाओ में उपस्थित होना बन्द किया था किन्तु वही पग आगे चलकर अत्यन्त सविधानिक महत्त्व का सिद्ध हुआ । इसी से उत्तरदायी मन्त्रिमण्डल के सिद्धान्त का विकास हुआ ।

२ **मन्त्रियो का ससद् के बहुमत दल से चुनाव** (Ministers chosen from Parliamentary Majority)—दूसरी बात यह है कि मन्त्री लोग ससद् के सदस्य होते हैं और आजकल वे प्राय लोकसभा (House of Commons) के ही सदस्य होते हैं और वे उस दल में से छाँटे जाते हैं जिसका लोकसभा में बहुमत होता है । इन दोनो तथ्यो का अत्यन्त मौलिक महत्त्व है । ससद् की सदस्यता के कारण मन्त्री लोगो का स्वरूप प्रतिनिधिक तथा उत्तरदायी हो जाता है । इसके अतिरिक्त शासन की कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका शक्तियाँ एक साथ जकड जाती हैं जिसके फलस्वरूप शासन के दोनो आवश्यक अग विपरीत दिशाओ में कभी नहीं जाने पाते । इस प्रकार कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका में जो अनुरूप सहकार्यता उत्पन्न होती है उसके फलस्वरूप स्थायी एव कार्यक्षम शासन का जन्म होता है । ऐसी सरकार सदैव लोक-हित का ध्यान रखेगी । इसके अतिरिक्त मन्त्रिमण्डल के मन्त्री लोकसभा के बहुमत दल के नेता होते हैं और नेता होने के नाते ससद् मे होने वाली समस्त हलचल के वही नियन्त्रक होते हैं । इससे शासन की कार्यपालिका को अच्छा अवसर मिल जाता है कि वह अपने विचारो एव प्रस्तावो को अच्छे प्रकार से उपस्थित कर सके, उनका समर्थन कर सके तथा उनकी जवाबदेही कर सके ।

अब तो यह सुनिश्चित प्रथा है कि ये मन्त्री या तो लार्ड सभा के कुलीन (Peers) हो अथवा लोकसभा के सदस्य हो यद्यपि कुछ इस प्रकार के अपवाद भी रहे हैं जबकि कुछ मन्त्री ससद् के सदस्य भी न थे । जनरल स्मट्स (General Smutts) विभागहीन मन्त्री था और १९१६ से युद्ध के अन्त तक प्रथम युद्धकालीन मन्त्रिमण्डल का मन्त्री रहा यद्यपि इस काल में वह ससद् का सदस्य न था । सर ए० जी० बॉसकेवेन (Sir A G Boscawen) कृषि-मन्त्री भी १९२२-२३ में इसी प्रकार का मन्त्री रहा । रैम्जे मैकडानल्ड (Ramsay MacDonald) और माल्कम मैकडानल्ड (Malcom MacDonald) दोनो मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे यद्यपि नवम्बर १९३५ से १९३६ के प्रारम्भ तक वे दोनो ससद् के सदस्य न थे ।

३ **प्रधान मन्त्री का नायकत्व** (Leadership of the Prime Minister)—मन्त्रिमण्डल राजनीतिक खिलाडियो की एक टीम के समान है जो प्रधान मन्त्री के नेतृत्व में राजनीति का खेल खेलती है । मॉर्ले (Morley) के अनुसार प्रधान मन्त्री, मन्त्रि-

मण्डल के वृत्तखण्ड की मुख्य शिला (Keystone of the arch) है। यद्यपि मन्त्रिमण्डल में उसके सभी सदस्य समकक्ष ही होते हैं, सबका समान अधिकार होता है और सब मिलकर काम करते हैं, फिर भी मन्त्रिमण्डल का प्रधान बराबर वाले दर्जे के मन्त्रियो में प्रधान (First among Equals) होता है। इस कारण प्रधान मन्त्री के पद की शक्ति तथा अधिकार बहुत अधिक बढ जाता है। ससद् के बहुमत दल का वह नेता होता है और समस्त मन्त्रिमण्डल उसके नेतृत्व में कार्य करता है। यह ठीक है कि कहने को राजा ही प्रधान मन्त्री को चुनता है किन्तु व्यवहारत राजा उसी एक व्यक्ति को प्रधान मन्त्री चुनने के लिये बाध्य है जिसे बहुमत दल ने अपना नेता चुना है।

वालपोल (Walpole) के काल से ही यह प्रथा चली आ रही है कि प्रधान मन्त्री ही अपने मन्त्री स्वय चुनता है। इसमे सन्देह नही कि मन्त्रियो की नियुक्ति राजा ही करता है किन्तु शुद्ध व्यावहारिक दृष्टि से उनकी नियुक्ति प्रधान मन्त्री ही करता है। प्रधान मन्त्री, मन्त्रियो की सूची तैयार करके सम्राट् की औपचारिक स्वीकृति के लिये उपस्थित करता है और सम्राट् उसको स्वीकृति प्रदान कर देता है। जिस प्रकार कि प्रधान मन्त्री अपने मन्त्री चुनता है उसी प्रकार उसे सविधानिक अधिकार है कि वह उन्हें अपदस्थ भी कर सकता है। बिना प्रधान मन्त्री के मन्त्रियो का कोई व्यक्तित्व ही नही है।[1] १९३१ में रैम्जे मैकडानल्ड (Ramsay MacDonald) ने अपने सहयोगियो से बिना पूछे ही मन्त्रिमण्डल से त्याग-पत्र दे दिया और लास्की (Laski) के शब्दो में "जब राष्ट्रीय सरकार (National Government) की घोषणा हुई तभी मन्त्रियो को अपनी राजनीतिक मृत्यु का चेत हुआ।" एक दल अपनी दलगत निष्ठा बनाये रखता है और प्रधान मन्त्री के नेतृत्व में शासन के साधन रूप में वह अपनी अप्रतिहत एव ससृष्ट (Corporate) सत्ता बनाये रखता है। इस सब के फलस्वरूप एक ओर मन्त्रियो में आपस में एकता तथा घनिष्ठ सहयोग बना रहता है और दूसरी ओर मन्त्रिमण्डल तथा ससदीय बहुमत में भी एकता तथा सामञ्जस्य बना रहता है।

4 **मन्त्रीय उत्तरदायित्व** (Ministerial Responsibility)—मन्त्रीय उत्तरदायित्व मन्त्रिमण्डल शासन-प्रणाली का सार है और सामुदायिक उत्तरदायित्व, आधुनिक राजनीतिक जगत के लिये ब्रिटेन की मुख्य देन है। मन्त्रीय उत्तरदायित्व से हम दो बातें समझते हैं। प्रथमत, मन्त्रिमण्डल का प्रत्येक मन्त्री किसी एक विभाग का मार्गनिर्देशन करता है और उस विभाग के लिये वह स्वय उत्तरदायी है। इस व्यक्तिगत उत्तरदायित्व के अतिरिक्त, हर एक मन्त्री शासन के समस्त मन्त्रियो के सहित सामुदायिक रूप से भी "अपने विभाग के अतिरिक्त शासन के अन्य क्षेत्रो में भी जो कुछ महत्त्वपूर्ण कार्यवाही होती है उस सब के लिये उत्तरदायी ।" मन्त्रिमण्डल एक इकाई है "जहाँ तक उसका सम्बन्ध राजा से है और जहाँ तक उसका सम्बन्ध व्यवस्थापिका

---

[1] नीचे देखिये।

सभा से भी है, वह इकाई ही है ।" मन्त्रिमण्डल एक इकाई के रूप मे ही शासन-सत्ता सँभालता है और उसी प्रकार एक इकाई के रूप में ही राज्य-सत्ता त्यागती है । सारे ही सदस्य एक ही राजनीतिक दल के होते हैं और उसी दल द्वारा मान्य तथा चुने हुए एक ही व्यक्ति के नेतृत्व में कार्य करते हैं और इसलिये वे सब साथ-साथ ही डूबते तथा साथ-साथ ही तैरते हैं (They swim and sink together) । यदि किसी मन्त्रिमण्डल का पतन हो जाता है तो सारे दल का भी पतन हो जाता है और उसके साथ सारे राजनीतिक अधिकारी वर्ग का भी पतन हो जाता है—उन सभी का एक साथ पतन होता है चाहे उनमें से कोई किसी भी प्रकार के पद पर हो । मन्त्रिमण्डल का सार है परस्पर-आधीनता अथवा सम्मिलित मोर्चा (Solidarity or Common front) और यह मन्त्रिमण्डल के प्रत्येक मन्त्री अथवा अन्य मन्त्री के लिये भी बाध्य है कि वे सब एकमत होकर किसी निर्धारित नीति पर चलेंगे तथा उस नीति पर चलने के लिये सब सामुदायिक रूप से उत्तरदायी होगे और उस आधार पर सब या तो साथ-साथ शासन करेंगे अथवा सबका एक साथ पतन होगा ।[1]

सन् १८७२ में लार्ड नार्थ (Lord North) का मन्त्रिमण्डल प्रथम बार क्रुद्ध लोकसभा के सम्मुख झुक गया । तब से इगलैंड मे मन्त्रिमण्डल के मन्त्री इस हद तक एक दूसरे के अधीन हैं कि अब लोकसभा के निन्दा-प्रस्ताव पर कोई भी एक मन्त्री अकेला त्याग-पत्र नही देता । अन्तिम उदाहरण जबकि लोकसभा के निन्दा-प्रस्ताव पर किसी एक मन्त्री ने त्याग-पत्र दिया हो, १८६४ में लोवे (Mr Lowe) और १८६६ में लार्ड चासलो वेस्टबरी (Lord Chancello Westbury) का था । किन्तु इसके यह माने नही हैं कि यदि ससद् किसी मन्त्री से अप्रसन्न हो जाये तो भी किसी मन्त्री के अकेले त्याग-पत्र की नौबत ही नही आ सकती । यदि ससद् की अप्रसन्नता का कारण अधिकारी का अविवेक अथवा मन्त्री का कोई अविचारपूर्ण कृत्य हो तो सम्बन्धित मन्त्री को बाध्य किया जा सकता है कि वह उससे पूर्व ही त्याग-पत्र दे दे कि लोकसभा में उस विषय पर विवाद हो और उसके फलस्वरूप उसे लोकसभा के निन्दा-प्रस्ताव द्वारा अपदस्थ किया जाय । जे० एच० टॉमस को १९३६ में बाध्य किया गया कि वह बजट के भेद खुल जाने के कारण त्याग-पत्र दे दे ।[2] सर ह्यू डाल्टन (Sir Hugh Dalton) वित्त मन्त्री को भी ऐसे ही अविवेक

---

[1] लार्ड सेलिसबरी (Lord Salisbury) ने यह नियम स्पष्टत १८७८ में सुनाया । "मन्त्रिमण्डल में जो कुछ भी होता है, उस सब के लिये मन्त्रिमण्डल का प्रत्येक सदस्य, यदि वह त्याग-पत्र नहीं देता तो पूर्णरूप से उत्तरदायी है । उसको यह अधिकार नहीं रह जाता कि वह बाद में कहे कि वह एक बात पर समझौता स्वरूप मान गया तथा दूसरे मामले में उसे साथियों ने राजी कर लिया । यह सब कुछ इस सिद्धान्त पर आधारित है कि मन्त्रिमण्डल का प्रत्येक मन्त्री हर निश्चय के लिये उत्तरदायी है जहां तक कि वह निश्चय होने पर त्याग-पत्र न दे दे और ससद के प्रति सामुदायिक उत्तरदायित्व इसी सिद्धान्त पर आधारित है, और इसी प्रकार ससदीय उत्तरदायित्व का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त स्थिर रह सकता है ।"

[2] श्री जे० एच० टामस (J H Thomes) उपनिवेशों का सेक्रेटरी (Colonial

के कारण त्याग-पत्र देना पडा था ।[1] सन् १९३५ में सर सेम्युएल होर (Sir Samuel Hoare) ने स्वय त्याग-पत्र दे दिया था, पूर्व इसके कि लोकसभा उसके द्वारा किये गये इटली-इथियोपिया प्रस्ताव पर विचार करे ।[2]

यदि विवादग्रस्त प्रश्न नीति से सम्वन्ध रखता है, तो प्राय अधिकतर मन्त्रिमण्डल उस नीति का उत्तरदायित्व स्वय अपने ऊपर ले लेता है और उस स्थिति में यदि लोकसभा अविश्वास का प्रस्ताव पास कर देती है तो उस अविश्वास-प्रस्ताव को सारे मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास मान लिया जाता है। ऑग (Ogg) ने मन्त्रीय उत्तरदायित्व के इस पहलू का विशदता से वर्णन किया है। वह लिखता है, "यदि कभी मन्त्री या तो अपनी भूल के कारण अथवा अपने किसी ऐसे अधिकारी की भूल के कारण जिसके लिये वही उत्तरदायी हो, ऐसी कष्टजनक स्थिति में पड जाये तो मन्त्रिमण्डल के अन्य साथी उस अकेले मन्त्री को अकेले डूबने अथवा उतराने के लिये छोड नही देते—वे दूर से खडे तमाशा भर ही नही देखते रहते अपितु या तो वे कूद पडते हैं और उसको बाहर निकाल फेंकते हैं अथवा उसे भी अपनी टूटी नाव में सवार कर लेते हैं और उसका और अपना भाग्य एक में जोड लेते हैं। दूसरे शब्दो में या तो वे उसकी आलोचना कर डालते हैं और उसको अपदस्य कर देते हैं, पूर्व इसके कि लोकसभा उस पर निन्दा-प्रस्ताव पास करके उसे अपदस्य करे अथवा वे उसकी सहायता पर अड जाते हैं और उसका किसी भी स्थिति में समर्थन करते रहते हैं। दूसरी प्रकार का अर्थात् मन्त्री के समर्थन का मार्ग प्राय. अपनाया जाता है—जिसका फल यह हुआ है कि सारे मन्त्रिमण्डल का समैक्य अथवा सामुदायिक उत्तरदायित्व निश्चित रूप से सैद्धान्तिक रूप में माना जाने लगा है ।' [3]

गोपनीयता (Secrecy)—इस प्रकार मन्त्रिमण्डल एक गुप्त निकाय है जो अपने निर्णयो के लिये सामुदायिक रूप मे उत्तरदायी है। मन्त्रिमण्डल का विचार-विमर्श गुप्त रीति से होता है और इसकी समस्त कार्यवाही पर गोपनीयता का पर्दा पडा रहता है। मन्त्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही की गोपनीयता के सम्वन्ध मे विधि ने एव अभिसमयो ने भी सरक्षण प्रदान किया है। प्रत्येक मन्त्रिमण्डल मन्त्री को प्रिवी परिषद् के समक्ष शपथ लेनी पडती है कि वह मन्त्रिमण्डल के भेद किसी को नही वतायेगा। इसके

Secretary) था । उसने वजट के भेद अपने दो मित्रो को खोल दिये। इस प्रकार उन मित्रों ने अवैध रूप से अपने आपको करों से वचा लिया ।

[1] सर ह्यू डाल्टन (Sir Hugh Dalton) ने प्रेस रिपोर्टर (Press reporter) को राष्ट्रीय आय-व्ययक (Budget) के सम्वन्ध में कुछ पूर्व सूचना दे दी। और इससे वह सूचना उक्त पत्र मे वित्त मन्त्री के लोकसभा के वजट भाषण से १५ मिनट पूर्व छप गई।

[2] सर सैम्युल होर (Sir Samuel Hoare) ने फ्रास के प्रधान मन्त्री लावेल (Laval) के साथ एक गुप्त समझौता किया जिसके अनुसार निश्चित किया गया कि लगभग आधा ईथोपिया (Ethopia) का भूभाग इटली को दे दिया जाय और इस प्रकार इटली और ईथोपिया का युद्ध समाप्त कराया जाय जो इस समय चल रहा था ।

[3] Modern Foreign Governments, op Citd , p 103.

लिये 'शासन-भेद-अधिनियम, १९२०' (Official Secrets Act, 1920) भी है, जिसके अनुसार सरकारी प्रलेखो अथवा अन्य गोपनीय सूचना का किसी अवैध व्यक्ति या व्यक्तियो को देना दण्डनीय है।[1] किन्तु शायद इन नियमो के वैधिक पालन के लिये व्यावहारिक उपयोगिता ही मुख्य रूप से उत्तरदायी है। वास्तव में इसका सैद्धान्तिक आधार यह है कि मन्त्रिमण्डल अपना निर्णय सम्राट् को निवेदन करता है और सम्राट् की स्वीकृति के बिना कोई निर्णय प्रकाशित नही किया जा सकता। इसका व्यावहारिक आधार यह है कि नीति निर्धारण करते समय अथवा किसी प्रश्न पर खूब खुलकर वाद-विवाद हो जिससे कि सम्मिलित निर्णय हो सके और इस बात का डर न रहे कि हरेक मन्त्री ने वाद-विवाद में क्या कहा अथवा किस मन्त्री की कोई बात कहाँ तक मानी गई, ये बाते खुलकर प्रकाश मे न आवें।[2] लार्ड सेलिसबरी (Lord Salisbury) के अनुसार "खूब खुलकर वाद-विवाद होना चाहिये।"[3] वह कहता है कि "यदि ऐसे आदमियो से, जो सार्वजनिक कार्य के लिये तथा किसी सम्मिलित निर्णय पर पहुँचने के लिये एकत्रित हुए हैं प्रौढ, विचारयुक्त तथा स्वतन्त्र विचारो पर आधारित नीति निर्धारित कराना चाहते हो तो निश्चय ही उनको वाद-विवाद की खुली छूट ही मिलनी चाहिये। यदि मन्त्रिमण्डल के वाद-विवादो की कार्यवाही प्रकाशित की जायगी तो इससे मन्त्रियों का परस्पर विचार-स्वातन्त्र्य नष्ट हो जायगा और वे सम्मिलित निर्णय सम्भवत कभी न कर सकेंगे। इसके अतिरिक्त यदि यह पता लग जायगा कि मन्त्रियो में क्या-क्या मतभेद थे तो इससे समस्त दल द्वारा अतश निर्धारित नीति के पूर्ण समर्थन में कठिनाई आयेगी। इससे विरोधी दल को भी सरकार के ऊपर आक्रमण करने के लिये अवसर प्राप्त होगे क्योकि विरोधी दल तो सदैव ऐसे मर्मस्थलो की ताक मे रहता ही है। आजकल उग्र राष्ट्रीयता तथा विरोधी राष्ट्रवादी भावनाओ का प्राबल्य है, अत मन्त्रिमण्डल की गोपनीयता अत्यन्त आवश्यक है ताकि मन्त्रिमण्डल की विचारधारा पूर्ण विचारार्थ एव सुनिर्धारित नीति निश्चित करने से पूर्व ही व्यग्र, उन्मत्त तथा उत्तेजित भावनाओ में न बह जाय। अत गोपनीयता, ससदीय शासन-प्रणाली के लिये अत्यन्त आवश्यक है। गोपनीयता से राजनीतिक एकमतता (Unanimity) उत्पन्न होती है और राजनीतिक एकमतता पूर्णरूप से गोपनीयता

---

[1] जार्ज लैंन्सबरी (George Lansbury) मन्त्रिमण्डल का एक मन्त्री था। उसके पुत्र एड्गर लैन्सबरी पर १९३४ में जुर्माना किया गया क्योंकि उसने एक ज्ञापन छपवा दिया जिसको उसके पिता ने १९२९-३१ मे श्रमिक सरकार के समक्ष उपस्थित किया था।

[2] Cabinet System, op Citd, p 248

[3] लार्ड सेलिसबरी (Lord Salisbury) ने कहा कि विवादों की गोपनीयता उसी सूरत में रह सकती है जब कि उस सम्बन्ध में प्रस्ताव खुलकर आवें उतने ही खुलकर जितने कि निजी बातचीत में आते हैं। बातचीत करते समय सदस्यों को यह भय न रहना चाहिए कि मुँह से कोई बात अनुकूल अथवा असगत न निकल जावे अथवा जिसको वे भविष्य में स्वय न्याय्य न ठहरा सकें।"

Cecil, Guendolen Life of Lord Salisbury, Vol II, page 223

पर आश्रित है। गोपनीयता (Secrecy) तथा राजनीतिक एकमतता (Political unanimity) दोनो के ही कारण मन्त्रिमण्डल में उत्तरदायित्व की भावना का सचार होता है, और क्योकि यह बहुत दिनो तक—किसी नीति सम्बन्धी निर्णय के काफी लम्बे अर्से तक—पता नही चल पाता कि किसी नीति का वास्तविक प्रणेता कौन है, कौन नही, अत यह बात ध्यान में रखने की अत्यधिक आवश्यकता है कि मन्त्रिमण्डल में कैसे व्यक्ति लिये जायँ अर्थात् कोई ऐसा व्यक्ति न ले लिया जाय जो इतना अविवेकी हो कि अपने अविवेक के कारण अपने योग्य साथियो का पतन करादे ।[1]

प्रथम विश्व युद्ध तक मन्त्रिमण्डल की कार्यवाहियो का अभिलेख (Record) नही रखा गया। प्रधान मन्त्री के अतिरिक्त और कोई मन्त्री उस बातचीत के बारे में कोई टिप्पणी भी नही ले सकता था। मन्त्री लोग केवल अपने विभागो को यह बताते थे कि उनके विभाग के सम्बन्ध में क्या निर्णय हुए, और वह भी जब यदि उन्हें याद रह गया।[2] मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही का यह तरीका युद्धकाल में बिल्कुल अनुपयुक्त सिद्ध हुआ और लायड जार्ज ने सबसे पहला काम यह किया कि मन्त्रिमण्डल सचिवालय का सृजन किया जिसके सुपुर्द यह काम किया गया कि वह युद्ध-मन्त्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही की उचित व्यवस्था करे। १९१८ में शासन-यन्त्र-समिति (Machinery of Government Committee) ने सिफारिश की कि "मन्त्रिमण्डल-सचिवालय स्थायी रूप से रहना चाहिए जिसका कार्य होगा कि मन्त्रिमण्डल के कार्यक्रम को ठीक-ठीक स्वरूप प्रदान करे, सभाओ के विचारार्थ समस्त जानकारी एव सूचना एकत्र करे, और समस्त निर्णयो को सम्बन्धित विभागो को प्रेषित करे" ।[3] १९२२ में श्री बोनर लॉ (Mr (Bonar Law) चाहते थे कि मन्त्रिमण्डल सचिवालय भग कर दिया जाय किन्तु उस समय तक इस सचिवालय की उपयोगिता सिद्ध हो चुकी थी, अत. निर्णय हुआ कि इसको बराबर जारी रखा जाय यद्यपि इसके कर्त्तव्य और अधिक स्पष्ट कर दिये गए ।[4]

मन्त्रिमण्डल के अभिलेख (Records) अत्यन्त गोपनीय होते हैं और उनकी औपचारिक रिपोर्ट प्रकाशित नही की जाती ।[5] मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही का विवरण

---

[1] Ibid

[2] श्री एस्क्विथ (Mr Asqueth) के शासन-काल में यह आम तौर पर होता था कि किसी भी मन्त्री का निजी सचिव प्रधान मन्त्री के निजी सचिव से फोन पर पूछ लिया करता था कि आज क्या निर्णय हुए।

[3] As quoted in Jennings' Cabinet Government, op Citd., p 226.

[4] मन्त्रिमण्डल सचिवालय के निम्न कर्त्तव्य हैं —(क) ज्ञापन तथा अन्य प्रलेख घुमाना जिनकी मन्त्रिमण्डल अथवा समितियों को आवश्यकता हो। (ख) प्रधान मन्त्री के आदेश पर मन्त्रिमण्डल का कार्यक्रम तैयार करना, तथा समिति के सभापति के आदेश पर मन्त्रिमण्डल-समिति के लिये कार्य-क्रम तैयार करना। (ग) मन्त्रिमण्डल तथा समितियों की सभाओं की सूचना भेजना। (घ) मन्त्रिमण्डल तथा समितियों के निर्णयों को एकत्र करना तथा घुमाना और मन्त्रिमण्डल समितियों की रिपोर्टं तैयार करना (ङ) मन्त्रिमण्डल की आज्ञानुसार मन्त्रिमण्डल के प्रयत्न तथा निर्णय रखना।

[5] १९१७ तथा १९१८ में दो अपूर्ण रिपोर्टें प्रकाशित की गई ।

अत्यन्त गोपनीयता से रक्षित रहता है। मन्त्रिमण्डल के सचिव को आदेश मिला हुआ है कि मन्त्रिमण्डल की कार्यवाही का सक्षिप्त विवरण लिखते समय "इस बात का ध्यान रखा जाय कि किसने क्या विचार व्यक्त किये, इस सम्बन्ध में मौन रखा जाय और जहाँ तक सम्भव हो उस सक्षिप्त विवरण में केवल वे निर्णय ही लिखे जायँ जो किये गये हो।" सक्षिप्त विवरण तैयार करने (Reproduction of the Minutes) में कम से कम कर्मचारी रखे जाते हैं और ज्यो ही प्रतिलिपि उतार ली जाय, हाथ की लिखी टिप्पणियाँ नष्ट कर दी जाती है। तब उन प्रतिलिपियो को खास किस्म के लिफाफो में मुहरबन्द किया जाता है और उन पर सम्बन्धित मन्त्रियो या विधि अधिकारियो (Law officers) के पते लिखे जाते हैं। इन लिफाफो को लोहे की तिजोडियो में सुरक्षित करके रखा जाता है और उनको विशेष दूतो द्वारा भेजा जाता है। इस समस्त कार्यवाही के अभिलेख की प्रतिलिपि मन्त्रिमण्डल के कार्यालय मे मन्त्रिमण्डल के सचिव की देखभाल मे रखी जाती है।[1]

---

[1] Cabinet Government, op. Citd , p 254

अध्याय ४

मन्त्रिमण्डल की कार्य-प्रणाली

(The Cabinet at Work)

मन्त्रिमण्डल के कार्य (Functions of the Cabinet)—१९१८ की शासन-यन्त्र-समिति (Machinery of Government Committee) की रिपोर्ट के अनुसार, मन्त्रिमण्डल के निम्न तीन मुख्य कार्य हैं—

(१) ससद् में उपस्थित की जाने वाली नीति का अन्तिम निर्धारण;

(२) ससद् द्वारा निर्धारित नीति के अनुरूप राष्ट्रीय कार्यपालिका का सर्वोच्च नियन्त्रण, और

(३) राज्य के विभिन्न विभागो के प्राधिकारो (Authorities) का निरन्तर परिसीमन करना तथा उन्हें सम्बन्धित करना।

(१) **नीति-निर्धारण सम्बन्धी कार्य** (Policy determining Functions)। जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है, मन्त्रिमण्डल एक विचारशील एव नीति-निर्धारण करने वाला निकाय है। यह समस्त राष्ट्रीय एव अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर विचार करता है तथा उन पर निर्णय करता है। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल के सदस्य प्रत्येक समस्या पर सरकारी नीति सम्बन्धी सर्वसम्मत निर्णय करने का प्रयत्न करते हैं। किसी समस्या पर चाहे उनमें आपसी मतभेद हो, किन्तु ससद् के समक्ष तथा ससार के समक्ष वे सर्वसम्मत निर्णय ही उपस्थित करते हैं। यदि कोई मन्त्री मन्त्रिमण्डल के निर्णयो से सहमत नही है, तो वह त्याग-पत्र दे सकता है।

जब मन्त्रिमण्डल नीति सम्बन्धी निश्चय कर लेता है, तो सम्बन्धित विभाग उसे क्रियान्वित करता है। इस क्रियान्विति में या तो वर्तमान वैधिक ढाँचे के अनुसार ही विभाग, प्रशासनिक विधि द्वारा कार्य चला लेता है अथवा संसद् में विधि-परिवर्तन के हेतु नया विधेयक उपस्थित करना पडता है। इस प्रकार विधान, प्रशासन की दासी मात्र है और बैजहॉट (Bagehot) के अनुसार मन्त्रिमण्डल वह यन्त्र है जो कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका को जोडने वाली कडी है। मन्त्रिमण्डल ससद् को किसी कार्य के लिए एक विशेष प्रकार से आज्ञा देती है और जब तक मन्त्रिमण्डल को लोकसभा के बहुमत का विश्वास प्राप्त है, तब तक निश्चय ही उसे ससद् की तदर्थ स्वीकृति मिल जायगी। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल, ससद् को आज्ञा देता है और निर्धारित नीति की क्रियान्विति में ससद् की सहायता प्राप्त करता है।

मुख्यत यही मन्त्रिमण्डल के व्यवस्थापक कृत्य हैं। किन्तु मन्त्रिमण्डल के वैधिक तथा प्रशासनिक कृत्यो में पूर्ण विभाजन-रेखा नही खीची जा सकती। जेनिंग्ज

(Jennings) लिखता है, "आधुनिक राज्य मे अधिकतर विधान-निर्माण प्रशासनिक विभागों को अधिकार प्रदान करने के लिये होता है।" इस प्रकार ससद् के प्रत्येक सत्र से पहिले, मन्त्रिमण्डल, समस्त विधान-निर्माण सम्बन्धी कार्य-क्रम तैयार कर लेता है। ससद् में सरकारी विधेयको (Public Bills) को मन्त्रिमण्डल का कोई मन्त्री अथवा मन्त्रिमण्डल की ओर से कोई अन्य मन्त्री ही उपस्थित करता है तथा उनका मार्ग-दर्शन करता है। विधान-निर्माण के सम्बन्ध में मन्त्रालय (Ministry) के ऊपर मन्त्रिमण्डल (Cabinet) पूरी तरह छाया हुआ रहता है क्योंकि बिना मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति के कोई भी विधेयक उपस्थित ही नही किया जा सकता और मन्त्रिमण्डल की विधान निर्मातृ समिति (Legislative Committee of the Cabinet) ससद् के सत्र आरम्भ होने से पहिले विचार करती है कि आने वाले ससदीय सत्र में कौन-कौन विधेयक उपस्थित किये जायेगे। सक्षेप में कहा जा सकता है कि इसमे कोई अतिशयोक्ति नही है कि मन्त्रिमण्डल ही ससद् की मत्रणा पर विधान-निर्माण करता है। ऑग (Ogg) ने मन्त्रिमण्डल के नीति-निर्धारण सम्बन्धी कर्त्तव्यो का सक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया है "मन्त्रिमण्डल के मन्त्री नीति निर्धारित करते हैं, निर्णय करते हैं, उन सभी बातो पर विधेयको के प्रारूप तैयार करते हैं जिन पर उनके विचार से नव-विधान-निर्माण आवश्यक है और ससद् को केवल आज्ञा करते हैं कि वह निर्णयो पर आचरण करे, तथा समर्थन मे आवश्यक मत प्राप्त करके उनकी नीति को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान करे।"

(२) राष्ट्रीय कार्यपालिका का सर्वोच्च नियन्त्रण (Supreme Control of the National Executive)—मन्त्रिमण्डल इस अर्थ में सर्वोच्च कार्यपालिका नही है क्योकि इसके पास कोई वैधिक अधिकार नही हैं। वैधिक रूप से सम्राट् ही सर्वोच्च कार्यपालिका है, यद्यपि व्यवहार में, क्राउन, वास्तविक कार्यपालिका है। किन्तु क्राउन एक कल्पना है, कोई स्पष्ट सत्ता नही है। वास्तविक शक्ति, जो क्राउन के स्थान पर कार्य करती है, मन्त्रिमण्डल है। यही मन्त्रीगण शासन के विभिन्न विभागो के मुखिया होते हैं, और वे ही ससद् द्वारा स्वीकृत तथा मन्त्रिमण्डल द्वारा निर्धारित नीति को क्रियान्वित करते हैं। अपने विभागो के कार्य-सचालन में वे मन्त्री, चाहे वे मन्त्रिमण्डल के मन्त्री हो अथवा न हो, सावधानी से मन्त्रिमण्डल के आदेशो का पालन करते हैं तथा उसके द्वारा निर्धारित नीतियो तथा किये हुए निर्णयो को क्रियान्वित करते हैं। इस सम्बन्ध मे कोई भी भूल दलगत शासन के अनुशासन के विरुद्ध अपराध है और इसके फलस्वरूप मन्त्री अपदस्थ किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, यदि मन्त्रिमण्डल चाहे तो, सपरिषद् सम्राट् (King-in-Council) का उपाय ग्रहण कर सकता है जिसके द्वारा आम नीति निर्धारण का कार्य प्रिवी परिषद् पर छोड दिया जाता है, जो मन्त्रिमण्डल के विनिश्चय, परिषद्-आदेशो के रूप में निकाल देती है। इस प्रकार युद्ध की घोषणा तक की जा सकती है। इस प्रकार मन्त्रिमण्डल ही सर्वोच्च राष्ट्रीय कार्यपालिका है, चाहे वैधानिक रूप में असली कार्यपालिका सम्राट् है जिसकी ओर से क्राउन ही सब कुछ करता है।

"जिस मुख्य साधन अथवा उपाय के द्वारा राजा अथवा क्राउन राष्ट्रीय नीति का निर्धारण करता है, साथ ही यह भी देखता है कि उस नीति की क्रियान्विति ठीक-ठीक हो रही है अथवा नही, तथा सारे विभागो के कार्य-कलापो में उसी नीति के अनुरूप समन्वय है अथवा नही, वह मन्त्रिमण्डल के मन्त्रीगण ही हैं।"

प्रत्यायुक्त अथवा प्रदत्त व्यवस्थान (Delegated Legislation) की शक्ति ने तो मन्त्रिमण्डल के कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार और भी विस्तृत कर दिये हैं। ससद् को अधिकार है कि वह सपरिषद् सम्राट् (King-in-Council) को या क्राउन के किसी व्यक्तिगत मन्त्री को या अन्य व्यक्तियो अथवा निकायो को नियम बनाने अथवा व्यवस्था करने का अधिकार दे सकती है। इसी को प्रदत्त अथवा प्रत्यायुक्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation) का अधिकार कहते हैं। आधुनिक काल में व्यवस्थापन का कार्य बहुत बढ गया है तथा अत्यधिक प्राविधिक (Technical) हो गया है। इसलिये ससद् प्राय विधियां सक्षिप्त रूप में पारित करती है और यह कार्य मन्त्रिमण्डल अथवा मन्त्रियो के ऊपर छोड दिया जाता है कि वे आवश्यक न्यूनताएं पूर्ण कर लें और उसी के अनुसार नियम (Rules) तथा विनियम (Regulations) बनालें जिनसे उन विधियो को क्रियान्वित किया जा सके।

(३) **मन्त्रिमण्डल का समन्वयकारी स्वरूप** (The Cabinet as a Co-ordinator)—मन्त्रिमण्डल का मुख्य कार्य है शासन के विभिन्न विभागो का मार्ग दर्शन तथा उनके कार्यों में समन्वय प्राप्त करना। समस्त प्रशासन बीस या इससे अधिक विभागों में पूर्ण रूप से विभाजित नही किया जा सकता। किसी एक विभाग के कार्य का दूसरे विभाग के कार्यों पर प्रभाव पड सकता है और निश्चितत प्रत्येक महत्त्वपूर्ण समस्या का सम्बन्ध कई विभागो से होता है। किसी विदेश-नीति सम्बन्धी निर्णय का प्रभाव अवश्य ही प्रतिरक्षा विभाग तथा व्यापार नीति दोनो पर पडेगा। शिक्षा सम्बन्धी नीति के किसी निर्णय का प्रभाव अवश्य ही स्वास्थ्य विभाग, श्रम-विभाग अथवा करारोपण नीति पर पड सकता है। यदि किसी एक विभाग के निर्णय से किसी दूसरे विभाग पर प्रभाव न भी पडता हो, तो भी वित्त विभाग पर तो निश्चय ही प्रत्येक निर्णय का प्रभाव पडता है। मन्त्रिमण्डल, समस्त विभागो में नीति सम्बन्धी समन्वय प्राप्त करता है।[1] "इसके द्वारा न केवल प्रशासनिक निर्णयो में एक विशिष्ट नीति सम्बन्धी विलक्षण एकता आ जाती है, बल्कि वही आम निर्धारित नीति समस्त व्यवस्थापन में समन्वित

---

[1] मन्त्रिमण्डल (Cabinet) की आज्ञा है कि जिन प्रस्तावों का प्रभाव अन्य विभागों पर पडता हो उनको मन्त्रिमण्डल के सम्मुख उस समय तक प्रस्तुत न किया जाय जब तक कि सम्बन्धित विभागों से सरकारी स्तर पर उक्त सम्बन्ध में विचार-विनिमय न किया गया हो, और जहां तक सम्भव हो, सम्बन्धित मन्त्री के साथ विचार कर लिया जाय। जब कभी विभागों के हितों में इस प्रकार सघर्ष उत्पन्न हो जाता है, तो ऐसे विवादग्रस्त प्रस्ताव उस समय तक मन्त्रिमण्डल के समक्ष उपस्थित नहीं किये जाने चाहिएं जब तक कि समझौते की सारी कोशिशें न कर ली गई हो। See Cabinet Government, op Citd , p 228

दिखाई पडने लगती है।" अन्तर्विभागीय सम्बन्धो में सब विभाग इस बात का प्रयत्न करते हैं कि उनमें कम से कम मतभेद हो और वे यथासम्भव एकमतता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। यदि विभागो के मतभेद इतने तीव्र हो जायें कि सुलझाने में कठिनाई हो, तो प्रधान मन्त्री मध्यस्थ बनकर समझौता कराता है। यदि किसी भी स्थिति मे समझौता नही हो पाता तो अन्त में उस विवाद की अपील मन्त्रिमण्डल में की जाती है।

किन्तु मन्त्रिमण्डल, इतने बडे सभी काम अपने ही ऊपर नही ले सकता। परम्परा के अनुसार मन्त्रिमण्डल सामान्य शासन-कारी निकाय है। यह प्राय एक सप्ताह में दो बार समवेत होता है, वह भी दो-दो घण्टे के लिये। इसके अतिरिक्त मन्त्रिमण्डल मे इतने सदस्य होते हैं कि कोई प्रभावी निर्णय करना कठिन हो जाता है। मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियो में अधिकतर विभागों के अध्यक्ष होते हैं, और उन्हे विभागीय कार्यों से ही फुर्सत नही मिल पाती इसलिये मन्त्रिमण्डल "न तो चाहता है कि शासन की समस्त कार्यवाहियो का स्वय ही नियन्त्रण करे न वह, यदि चाहे तो भी, कर ही सकता है"। इसका फल यह हुआ है कि मन्त्रिमण्डल की समितियो का विकास हुआ है जो न केवल व्यवस्थापन का कार्य करती हैं बल्कि अन्तर्विभागीय मामलो में भी एकरूपता लाती हैं तथा सभी विभागो के समस्त क्रिया-कलाप, शासन की सामान्य नीति के अनुरूप चलाती हैं।

मन्त्रिमण्डल की समितियां (Cabinet Committees) दो कार्य करती हैं। प्रथमत वे उन मामलो पर विचार करती हैं तथा रिपोर्ट करती हैं जो कि मन्त्रिमण्डल के समक्ष विचारार्थ उपस्थित होने को होते हैं। इस समय सम्बन्धित मामले के हर पहलू पर खूब सोच-विचार किया जाता है और फिर कुछ सर्व-सम्मत निर्णय कर लिया जाता है। द्वितीयत, कम महत्त्व के प्रश्नो पर समितियाँ केवल उन्ही अधिकारो का प्रयोग करती हैं जो तदर्थ मन्त्रिमण्डल उन्हे प्रदान करता है और तदनुसार वे निर्णय करती हैं। यदि यह कार्य समितियाँ न करती तो इसमें मन्त्रिमण्डल का काफी समय व्यर्थ व्यय होता। इसके अतिरिक्त, मन्त्रिमण्डल की अपेक्षा समिति सदैव छोटी होती है और इसके सदस्य ऐसे मन्त्री भी हो सकते हैं जो मन्त्रिमण्डल के मन्त्री न हो। कभी-कभी ससदीय सचिव (Parliamentary Secretaries) भी इसकी सदस्यता प्राप्त कर सकते हैं। यह भी देखा गया है कि स्थायी सिविल सर्विस के उच्च अधिकारी भी इन समितियो में उपस्थित होते हैं और वहाँ के अपने मन्त्रियो को सहायता प्रदान करते हैं। मन्त्रिमण्डल की कुछ ऐसी भी समितियाँ (Cabinet Committees) होती हैं जिनका विशेष राजनीतिक महत्त्व नही होता और उनमें सिविल सर्विस के अधिकारी भी पूर्ण अधिकारी सदस्य बना दिये जाते हैं, और वहाँ वे बराबरी के दर्जे से बोल सकते हैं। "किन्तु, सामान्यत नीति के सम्बन्ध में मन्त्रियो का ही उत्तरदायित्व रहता है, और सिविल सर्विस के अधिकारी प्राय. तभी बोलते हैं जब उनसे मन्त्रणा मांगी जाती है।"

उपर्युक्त कार्यों के अतिरिक्त दो कार्य और हैं—

(४) मन्त्रिमण्डल ही राज्य के समस्त व्यय के लिये उत्तरदायी है और उस समस्त व्यय की पूर्ति के लिये वित्त जुटाना उसी का काम है। इसमे सन्देह नही कि वार्षिक आयव्ययक (Budget) उपस्थित करना तथा उस पर निर्णय करना मन्त्रिमण्डल का कार्य नही है। किन्तु आयव्ययक (Budget) का अत्यधिक राजनीतिक महत्त्व है, इसलिये यह मामला सदैव मन्त्रिमण्डल के सम्मुख आता है और वित्तमन्त्री (Chancellor of the Exchequer) अपने लोकसभा के आयव्ययक सम्बन्धी भाषण से कुछ दिन पूर्व मन्त्रिमण्डल को कुछ मौखिक जानकारी इस सम्बन्ध में कराता है।[1] इस अनोखे व्यवहार का कारण यह है कि आयव्ययक (Budget) के सम्बन्ध में गोपनीयता (Secrecy) की अत्यधिक आवश्यकता है। किन्तु यदि मन्त्रिमण्डल चाहे तो आयव्ययक के बारे में कुछ अधिक समय पूर्व भी जानकारी माँग सकता है और उस पर मन्त्रिमण्डल में विशद रूप से विचार-विनिमय भी किया जा सकता है।[2] आयव्ययक के आगणनो (Estimates) के सम्बन्ध में मन्त्रिमण्डल को पूर्ण अधिकार है।[3] करारोपण के नये प्रस्तावों के सम्बन्ध में यदि करारोपण की नीति में आमूल परिवर्त्तन कर दिये गये हैं तो उन पर मन्त्रिमण्डल में विशदता से विचार करना होगा, उसके बाद ही आयव्ययक (Budget) ससद् में उपस्थित किया जायगा। १९३७ में विंस्टन चर्चिल (Winston Churchill) ने कहा था, "यद्यपि आर्थिक नीति के सामान्य अभिन्यास (General layout) पर वित्तमन्त्री (Chancellor of the Exchequer) का पूर्ण अधिकार है और वित्तमन्त्री को मन्त्रिमण्डल के समक्ष आयव्ययक अन्तिम रूप में ही रखना चाहिये किन्तु नये राज्य-करो के सम्बन्ध में सदैव से एक विशेष तरीका रहा है और रहना भी चाहिये, "मेरे विचार से यदि कोई वित्त मन्त्री आयव्ययक के ससद् में उपस्थित किये जाने के दो-चार दिन पहिले ही उसे मन्त्रिमण्डल में उपस्थित करे और यदि उस आयव्ययक में नये करारोपण सम्बन्धी प्रस्ताव हो जिन पर पहिले विचार नही किया गया, तो यह कार्य मेरे विचार से प्रचलित प्रथा के विपरीत होगा।" इसके अतिरिक्त, ससद् में आयव्ययक (Budget) उपस्थित किये जाने के बाद भी मन्त्रिमण्डल उसमें सुधार कर सकता है। पुनश्च, मन्त्रिमण्डल आयव्ययक को पूर्णरूप से अस्वीकृत भी कर सकता है यदि इस सम्बन्ध में ससद् की ऐसी इच्छा है अथवा सर्वसाधारण आयव्ययक से असन्तुष्ट हो, यद्यपि इसके कारण वित्तमन्त्री का त्याग-पत्र अवश्य आ सकता है।

(५) सामान्यत सभी नियुक्तियाँ मन्त्रिमण्डल नही करता। किन्तु राज्य की ओर

---

[1] प्राय चार या पाँच दिन का समय दिया जाता है।

[2] १८६० में मन्त्रिमण्डल ने ग्लैड्स्टन (Gladstone) के आयव्ययक (budget) सम्बन्धी आकड़े बजट के ससद् में उपस्थित होने की तिथि से १ महीने पूर्व माग लिये। क्योंकि वित्तीय वर्ष चालू था, अत ग्लैड्स्टन सहमत नहीं हुआ किन्तु उसने एक सप्ताह पूर्व आयव्ययक दिखा दिया।

[3] आयव्ययक (Budjet) के आगणनों (estimates) के सम्बन्ध में मन्त्रिमण्डल की अस्वीकृति के कारण रेन्डल्फ चर्चिल (Lord Randalph Churchill) ने १८८६ में त्याग-पत्र दे दिया तथा ग्लैड्स्टन (Gladstone) ने १८९४ में त्याग-पत्र दे दिया था।

से विभिन्न देश और विदेशो में होने वाली महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ करना मन्त्रिमण्डल का उत्तरदायित्व है। शाही परिवार के किसी व्यक्ति की गवर्नर-जनरल के पद पर नियुक्ति सदैव मन्त्रिमण्डल ही करता है। इसी प्रकार कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण पदो पर भी, जैसे राजकीय कोष का सचिव (Secretary to the Treasury), मुख्य नियोजन-प्राधिकारी (Chief Planning Officer) की मन्त्रिमण्डल से पूछकर ही नियुक्तियाँ की जाती हैं।

मन्त्रिमण्डल का अधिनायकत्व

(Dictatorship of the Cabinet)

रैम्जे म्योर (Ramsay Muir) का कथन है कि "जो निकाय इतना शक्तिशाली है वह सिद्धान्त रूप में अवश्य ही सर्वशक्तिमान् है चाहे व्यवहारत. वह अपनी सर्वशक्तिमत्ता को प्रयुक्त करने में समर्थ न हो। जब कभी मन्त्रिमण्डल को ससद् के पूर्ण बहुमत का विश्वास होता है, तब तो मन्त्रिमण्डल अधिनायक की तरह व्यवहार करता है, हाँ, बाहरी दिखावे के कारण वह किसी हद तक मर्यादित रहता है। आजकल का यह अधिनायकत्व दो पीढ़ी पहिले की अपेक्षा कही अधिक कठोर है"।[1] कोई सरकार, जिसका लोकसभा में वास्तविक बहुमत है, निश्चिन्त रहती है कि जब तक ससद् रहेगी, तब तक वह भी सत्तारूढ रहेगी। शासन की शक्ति का, यह एक प्रकार से यन्त्रवत स्रोत है और इसके बल पर मन्त्री लोग जो चाहें प्रस्ताव करते हैं और उन प्रस्तावो पर मनमाने ढग से निर्णय कर डालते हैं। वास्तव में शासन के हाथ मे वे साधन हैं जिनके बल पर वह अपना बहुमत बनाये रख सकता है। दलगत अनुशासन की बढ़ती हुई कठोरता तथा सचेतक (Whip) के सघटन की कार्यक्षमता के कारण सभी सदस्य अपने दल का अधे होकर समर्थन करते हैं। इस दिशा में मन्त्रिमण्डल के पास सबसे प्रभावकारी अस्त्र है "सदन को भग करने की शक्ति"। जैनिग्ज (Jennings) कहता है कि "सदन को भग करने की शक्ति" ससद् के सदस्यो के सर पर वडी लाठी की तरह तनी रहती है।" कोई भी सदस्य नये चुनाव का झझट मोल लेना नही चाहता। इसमें समय और धन दोनो की आवश्यकता होती है और चुनाव के बाद यह निश्चित नही होता कि वह सफल हो ही जायगा। इसलिये सभी सदस्य सचेतक (Whip) की आज्ञा का पालन करते हैं और जब तक शासन के सभी समर्थक सदस्य सचेतक (Whip) की आज्ञा-पालन करते रहते हैं, तब तक मन्त्रिमण्डल सर्वोच्च सत्ता धारण किये रहता है।

बहुमत द्वारा उत्साहित तथा शक्ति के नशे में, कोई शासन लोकसभा में इस प्रकार के निर्णय भी करा सकता है जो देश के लिये हानिकर सिद्ध हो। यह भी हो सकता है कि सत्तारूढ दल अपने उन सब वायदो को भूल जाय अथवा उन वायदो के विरुद्ध कार्य करे जो उसने आम चुनाव के समय किये थे। ऐसा १९३८ मे हो भी

---

[1] How Britain is governed (1931), p 89

चुका है। १९३५ में अनुदार दल (Conservative Party) का लोकसभा में भारी बहुमत था। इस विजय के लिये अनुदार दल ने प्रतिज्ञा की थी कि वह राष्ट्रसघ (League of Nations) के प्रति वफादार रहेगा और इटली द्वारा एबीसीनिया (Abysinia) के प्रति किये गये अत्याचारो की भर्त्सना करेगा। किन्तु आने वाले वर्षों में शासन की नीति राष्ट्रसघ के सिद्धान्तो के सर्वथा विरुद्ध रही और अनुदार दल ने जो वायदे आम चुनाव के समय किये थे वह उनको भी भूल गया।

जहाँ शासन एक बार सत्तारूढ हुआ कि उसके ऊपर ससद् के कोई अकुश नहीं रहते सिवाय कतिपय उन स्थायी आज्ञाओ के जिनके द्वारा लोकसभा का कार्य चलता है। ये स्थायी आज्ञायें (Standing orders) किसी भी हालत में परिनियम अथवा सविधियां (Statutes) नही हैं। इनको केवल लोकसभा ही बहुमत के प्रस्तावो पर पास कर देती है। अत कोई भी शासन, जब तक कि उसकी पीठ पर लोकसभा के बहुमत का हाथ है, इन अस्थायी आज्ञाओ में अपनी इच्छानुसार परिवर्त्तन भी कर सकता है यदि ऐसा करने से उसके कुछ प्रस्ताव आसानी से पास हो सकते हैं। १९४५-५० के श्रमिक दल के शासन-काल में इस बात का बहुत भय था। शासन प्रतिज्ञाबद्ध था कि राष्ट्रीयकरण किया जायगा, अत इस दिशा में ससद् में जी-तोड प्रयत्न किया गया। लोकसभा में जब परिवहन विधेयक (Transport Bill) तथा नगर एव काउण्टी नियोजन विधेयक (Town and County Planning Bill) पर स्थायी समिति (Standing Committee) में तथा अगले विधेयक प्रक्रम में विचार हो रहा था तो शासन ने बीच ही में गिलोटीन प्रतिबन्ध (Guillotine) लगाकर वाद-विवाद शीघ्र ही समाप्त करा दिया। लोकसभा के इतिहास में यह पहिला अवसर था कि स्थायी समिति की कार्यवाही मे किसी विधेयक के ऊपर इतनी कडी कार्य-प्रणाली अपनायी गई हो। गिलोटीन (Guillotine) के फलस्वरूप परिवहन के विधेयक की ३७ धाराओ (Clauses) तथा ७ अनूसूचियो (Schedules) पर स्थायी समिति मे विचार ही नही किया गया, और इसके अतिरिक्त और भी बहुत से विधेयको पर गिलोटीन (Guillotine) उपाय द्वारा विचार रोक दिया गया। नगर एव काउण्टी नियोजन विधेयक (Town and County Planning Bill) के सम्बन्ध में भी लगभग ५० धाराओ तथा ६ अनुसूचियो पर स्थायी समिति में विचार नही किया गया। प्रतिवेदन स्तर (Report Stage) में पुन गिलोटीन की नीति अपनायी गई।[1] इस प्रसग में प्रो० कीथ (Prof Keith) ने कहा है, "जिस शासन की पीठ पर विशाल बहुमत का हाथ है, वह मनमाना व्यवस्थापन कर सकता है, इस सम्बन्ध में यदि कोई अकुश उसके ऊपर है, तो वह उसी की अच्छी विवेक-बुद्धि है अथवा उसका वाद-विवाद सम्बन्धी उन प्रचलित नियमो के प्रति आदर है जिन पर सदैव ही सभी दलो ने आचरण किया है"।[2]

---

[1] The Brititsh Cabinet System, op. Citd , p 248

[2] The British Cabinet System, op Citd., p. 249.

किन्तु इसका यह अभिप्राय नही है और जैनिग्ज का यह कथन सत्य भी नहीं है कि "जिस शासन की पीठ पर प्रवल बहुमत का हाथ है, वह अल्पकाल के लिये अधिनायकवाद स्थापित कर लेता है।"[1] लोकसभा ऐसा स्थान नही है जहाँ विजेता दल, हारे हुए दल पर असयमित अधिकार प्रदर्शित करे, अथवा निर्बल राजनीतिक अल्पमत दल के ऊपर शासन करे। विजेता दल को बाहरी प्रभावो का भी ध्यान रखना ही पडता है। ससदीय शासन-प्रणाली में ससदीय सहनशीलता अनिवार्य है। अल्पमत दल मानता है कि बहुमत दल शासक बनेगा, साथ ही बहुमत दल मानता है कि अल्पमत का कार्य आलोचना करना है। निस्सन्देह स्थायी आदेश यही हैं कि बहुमत दल की इच्छा ही चलेगी। किन्तु इन आदेशो से सरकार की स्थिति का सही-सही मूल्याकन नही हो सकता। इन आदेशो की न्यूनता को सदन की प्रथाये तथा अभिसमय पूर्ण करते हैं। सदन की प्रथाये ये हैं कि "बहुमत दल वाद-विवाद के उन समस्त नियमो का पालन करता चले जिन पर सभी दल पीढियो से चलते आ रहे हैं।" प्रारम्भ में इन प्रथाओ का जन्म इस कारण हुआ कि सदन के सभी सदस्यो के अधिकार सुरक्षित रहे और आज भी ये प्रथायें प्राइवेट सदस्य अर्थात् सम्राट् के विरोधी दल की रक्षा के लिये हैं।

सदन की प्रचलित प्रथायें काफी हद तक बहुमत के शासन की कठिनाइयो को दूर कर देती हैं। उदाहरण के तौर पर प्राइवेट सदस्य के शासन से सर्वसाधारण के हित में प्रश्न पूछने के अधिकार से सम्बन्धित स्थायी आदेश को ले लीजिये, जिसके द्वारा कि वह प्रशासन के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सके। किन्तु इस सम्बन्ध में प्रथा, स्थायी आदेश से भी अधिक महत्त्व रखती है। ससद् विरोधी दल को समय देती है कि वह शासन के कार्य की आलोचना कर सके। जिन विभिन्न स्तरो अथवा प्रक्रमो (Stages) में से होकर, सदन मे विधेयक गुजरता है—जिस प्रकार प्रथम वाचन, द्वितीय वाचन, समिति प्रक्रम तथा रिपोर्ट प्रक्रम और अन्तिम तृतीय वाचन—ये सब स्तर या प्रक्रम इसी बात को ध्यान में रखकर स्थापित किये गये हैं। प्रदाय अथवा सम्भरण समिति (Committee of Supply) में विरोधी दल ही वाद-विवाद का विषय निश्चित करता है। सदन की कार्यवाही मे विभिन्न स्तरो अथवा प्रक्रमो (Stages) पर कितना-कितना समय व्यय किया जाय, इसका निर्णय प्राय स्पीकर की कुर्सी के पीछे किया जाता है, अथवा साधारण प्रणालियो द्वारा, जैसे शासन-दल तथा विरोधी दल के सचेतक (Whips) अपने-अपने नेताओ से पूछकर अरीतिक रूप से बातचीत के द्वारा निश्चय करें कि विभिन्न प्रक्रमो पर कितना-कितना समय व्यय किया जायगा। वे यह भी निश्चय कर लेते हैं कि किन-किन विषयो पर वाद-विवाद होगा, किन-किन विषयों पर जानकारी दी जायगी तथा विरोधी दल किस क्रम से आक्रमण करेगा।

सम्राट् की सरकार के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण दर्जा सम्राट् के विरोधी दल का

---

[1] Cabinet Government, op Citd, p 442

होता है। विरोधी दल का कर्त्तव्य है विरोध करना। यह शासन के ऊपर तथा व्यक्तिगत मन्त्रियो के ऊपर आक्षेप करता है। ससदीय शासन-प्रणाली में विरोधी दल द्वारा शासन के ऊपर प्रयत्नपूर्ण आक्षेप करते रहने से दोषपूर्ण प्रशासन तथा भ्रष्टाचार के ऊपर बहुत कुछ अकुश बना रहता है। इसके द्वारा, व्यक्तिगत अन्याय भी रोका जा सकता है। शासन भी अपने कर्तव्य को समझता है कि उसे न्यायपूर्वक शासन करना चाहिये और आलोचना की प्रतिक्रियास्वरूप विरोधी दल को दबाना नही चाहिये, बल्कि समझदारी तथा तर्क से काम लेना चाहिए जिससे कि निर्वाचकगण (Electorate), की स्वीकृति प्राप्त हो सके। यदि कोई सरकार सदन की परम्पराओ का आदर नही करती, अथवा विरोधी दल की अवहेलना करती है, तो इससे वह स्वय खतरे में पड सकती है। सम्राट् का विरोधी दल कभी न कभी सरकार का भी निर्माण कर सकता है। शासन की कमियो से विरोधी दल को आक्षेप करने के उपयुक्त अवसर मिलते हैं और उन कमियो के आधार पर विरोधीगण जनमत का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं। "सदन ही विरोधी दल का मञ्च (Platform) है, समाचारपत्र ही उसके ध्वनिविस्तारक यन्त्र (Microphones) है, तथा समस्त जनता ही उसकी श्रोता-मण्डली है।" जिस शासन की पीठ पर जनता का अनुमोदन नही रहता, उसका बहुमत (Majority) नष्ट हो जाता है, और जब बहुमत नही रहेगा तो शासन भी नही रहेगा।

कोई शासन अपने साथियो की प्रतिक्रिया की भी अवहेलना नही कर सकता। यह सत्य है कि कोई व्यक्ति ससद् का सदस्य केवल अपने दल की सहायता से ही बन सकता है और उसका राजनीतिक जीवन बहुत कुछ इस बात पर निर्भर है कि वह अपने दल की कहाँ तक सहायता करता है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वह पूर्णतया अधीन है अथवा उसके ऊपर अपने दल के नेताओ के अतिरिक्त और किसी का प्रभाव पड ही नही सकता। उसका अपने निर्वाचन-क्षेत्र (Constituency) से निरन्तर सम्पर्क बना रहता है और वह जनमत किस ओर जा रहा है इसका सदैव ध्यान से अध्ययन करता रहता है। यदि उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि शासन अप्रिय होता जा रहा है तो वह शोर मचाने लगता है अन्यथा इससे उसको निर्वाचिन-क्षेत्र से मिलने वाले मत कम हो जायँगे। इसके अतिरिक्त स्वय दल में भी कुछ निहित स्वार्थ वाले वर्ग होते हैं। ये वर्ग सदैव शासन की प्रत्येक गतिविधि पर निगाह रखते हैं और जहाँ उनके व्यक्तिगत हित टकराते हैं, वही वे शोर मचाने लगते हैं। "इस प्रकार शासन के कार्य ऐसी पृष्ठभूमि में संचालित होते हैं जिन पर सदैव बाहरी प्रभाव पडते रहते हैं, यहाँ तक कि ये प्रभाव सदन के लॉबी क्षेत्रो में भी पडते रहते है; और सचेतको (Whips) का यह कर्त्तव्य है कि वे शासन को बताते रहे कि देश में अथवा सदन में जनमत किस दिशा में जा रहा है। यदि निर्वाचिन-क्षेत्रो में (Constituencies), अथवा अपने दल के निहित-स्वार्थ वाले वर्गों में अथवा पर्याप्त संख्या में पीछे बैठने वाले के निष्क्रिय सदस्यो (Back-benchers) में अशान्ति

किन्तु इसका यह अभिप्राय नही है और जैनिग्ज का यह कथन सत्य भी नहीं है कि "जिस शासन की पीठ पर प्रबल बहुमत का हाथ है, वह अल्पकाल के लिये अधिनायकवाद स्थापित कर लेता है।"[1] लोकसभा ऐसा स्थान नही है जहाँ विजेता दल, हारे हुए दल पर असयमित अधिकार प्रदर्शित करे, अथवा निर्बल राजनीतिक अल्पमत दल के ऊपर शासन करे। विजेता दल को बाहरी प्रभावो का भी ध्यान रखना ही पडता है। ससदीय शासन-प्रणाली मे ससदीय सहनशीलता अनिवार्य है। अल्पमत दल मानता है कि बहुमत दल शासक बनेगा, साथ ही बहुमत दल मानता है कि अल्पमत का कार्य आलोचना करना है। निस्सन्देह स्थायी आदेश यही हैं कि बहुमत दल की इच्छा ही चलेगी। किन्तु इन आदेशो से सरकार की स्थिति का सही-सही मूल्याकन नही हो सकता। इन आदेशो की न्यूनता को सदन की प्रथायें तथा अभिसमय पूर्ण करते हैं। सदन की प्रथायें ये हैं कि "बहुमत दल वाद-विवाद के उन समस्त नियमो का पालन करता चले जिन पर सभी दल पीढियो से चलते आ रहे हैं।" प्रारम्भ में इन प्रथाओ का जन्म इस कारण हुआ कि सदन के सभी सदस्यो के अधिकार सुरक्षित रहे और आज भी ये प्रथायें प्राइवेट सदस्य अर्थात् सम्राट् के विरोधी दल की रक्षा के लिये हैं।

सदन की प्रचलित प्रथायें काफी हद तक बहुमत के शासन की कठिनाइयो को दूर कर देती हैं। उदाहरण के तौर पर प्राइवेट सदस्य के शासन से सर्वसाधारण के हित में प्रश्न पूछने के अधिकार से सम्बन्धित स्थायी आदेश को ले लीजिये, जिसके द्वारा कि वह प्रशासन के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त कर सके। किन्तु इस सम्बन्ध में प्रथा, स्थायी आदेश से भी अधिक महत्त्व रखती है। ससद् विरोधी दल को समय देती है कि वह शासन के कार्य की आलोचना कर सके। जिन विभिन्न स्तरो अथवा प्रक्रमो (Stages) में से होकर, सदन में विधेयक गुजरता है—जिस प्रकार प्रथम वाचन, द्वितीय वाचन, समिति प्रक्रम तथा रिपोर्ट प्रक्रम और अन्तिम तृतीय वाचन—ये सब स्तर या प्रक्रम इसी बात को ध्यान में रखकर स्थापित किये गये हैं। प्रदाय अथवा सम्भरण समिति (Committee of Supply) में विरोधी दल ही वाद-विवाद का विषय निश्चित करता है। सदन की कार्यवाही में विभिन्न स्तरो अथवा प्रक्रमो (Stages) पर कितना-कितना समय व्यय किया जाय, इसका निर्णय प्राय स्पीकर की कुर्सी के पीछे किया जाता है, अथवा साधारण प्रणालियो द्वारा, जैसे शासन-दल तथा विरोधी दल के सचेतक (Whips) अपने-अपने नेताओ से पूछकर अरीतिक रूप से बातचीत के द्वारा निश्चय करें कि विभिन्न प्रक्रमो पर कितना-कितना समय व्यय किया जायगा। वे यह भी निश्चय कर लेते हैं कि किन-किन विषयो पर वाद-विवाद होगा, किन-किन विषयो पर जानकारी दी जायगी तथा विरोधी दल किस क्रम से आक्रमण करेगा।

सम्राट् की सरकार के बाद दूसरा महत्त्वपूर्ण दर्जा सम्राट् के विरोधी दल का

---

[1] Cabinet Government, op Citd, p 442

होता है। विरोधी दल का कर्त्तव्य है विरोध करना। यह शासन के ऊपर तथा व्यक्तिगत मन्त्रियो के ऊपर आक्षेप करता है। ससदीय शासन-प्रणाली में विरोधी दल द्वारा शासन के ऊपर प्रयत्नपूर्ण आक्षेप करते रहने से दोषपूर्ण प्रशासन तथा भ्रष्टाचार के ऊपर वहुत कुछ अकुश वना रहता है। इसके द्वारा, व्यक्तिगत अन्याय भी रोका जा सकता है। शासन भी अपने कर्तव्य को समझता है कि उसे न्यायपूर्वक शासन करना चाहिये और आलोचना की प्रतिक्रियास्वरूप विरोधी दल को दवाना नही चाहिये, वल्कि समझदारी तथा तर्क से काम लेना चाहिए जिससे कि निर्वाचक-गण (Electorate), की स्वीकृति प्राप्त हो सके। यदि कोई सरकार सदन की परम्पराओ का आदर नही करती, अथवा विरोधी दल की अवहेलना करती है, तो इससे वह स्वय खतरे में पड सकती है। सम्राट् का विरोधी दल कभी न कभी सरकार का भी निर्माण कर सकता है। शासन की कमियो से विरोधी दल को आक्षेप करने के उपयुक्त अवसर मिलते हैं और उन कमियो के आधार पर विरोधीगण जनमत का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हैं। "सदन ही विरोधी दल का मञ्च (Platform) है, समाचारपत्र ही उसके ध्वनिविस्तारक यन्त्र (Microphones) हैं, तथा समस्त जनता ही उसकी श्रोता-मण्डली है।" जिस शासन की पीठ पर जनता का अनुमोदन नही रहता, उसका वहुमत (Majority) नष्ट हो जाता है, और जव वहुमत नही रहेगा तो शासन भी नही रहेगा।

कोई शासन अपने साथियो की प्रतिक्रिया की भी अवहेलना नही कर सकता। यह सत्य है कि कोई व्यक्ति ससद् का सदस्य केवल अपने दल की सहायता से ही वन सकता है और उसका राजनीतिक जीवन वहुत कुछ इस वात पर निर्भर है कि वह अपने दल की कहाँ तक सहायता करता है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वह पूर्णतया अधीन है अथवा उसके ऊपर अपने दल के नेताओ के अतिरिक्त और किसी का प्रभाव पड ही नही सकता। उसका अपने निर्वाचन-क्षेत्र (Constituency) से निरन्तर सम्पर्क वना रहता है और वह जनमत किस ओर जा रहा है इसका सदैव ध्यान से अध्ययन करता रहता है। यदि उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि शासन अप्रिय होता जा रहा है तो वह शोर मचाने लगता है अन्यथा इससे उसको निर्वाचन-क्षेत्र से मिलने वाले मत कम हो जायेंगे। इसके अतिरिक्त स्वय दल में भी कुछ निहित स्वार्थ वाले वर्ग होते हैं। ये वर्ग सदैव शासन की प्रत्येक गतिविधि पर निगाह रखते हैं और जहाँ उनके व्यक्तिगत हित टकराते हैं, वहीं वे शोर मचाने लगते हैं। "इस प्रकार शासन के कार्य ऐसी पृष्ठभूमि में संचालित होते हैं जिन पर सदैव वाहरी प्रभाव पडते रहते हैं, यहाँ तक कि ये प्रभाव सदन के लॉवी क्षेत्रो में भी पडते रहते हैं; और सचेतको (Whips) का यह कर्त्तव्य है कि वे शासन को वताते रहे कि देश में अथवा सदन में जनमत किस दिशा में जा रहा है। यदि निर्वाचन-क्षेत्रो में (Constituencies), अथवा अपने दल के निहित-स्वार्थ वाले वर्गों में अथवा पर्याप्त संख्या में पीछे वैठने वाले के निष्क्रिय सदस्यो (Back-benchers) में अशान्ति

पाई जाती है तो इसके फलस्वरूप शासन के कार्यो, उपायो तथा प्रस्तावो में परिवर्तन कर दिये जाते हैं।" यदि किसी शासन पर ये प्रभाव काम नही करते तथा यदि इन प्रभावो के फलस्वरूप वह शासन अपना मार्ग नही बदलता, तो वह न तो प्रजा का शासन है, न प्रजा के द्वारा शासन है।

इसलिये मन्त्रिमण्डल ही, बहुमत के विचारो का सर्वोच्च व्याख्याता है, और यह बहुमत तथा अल्पमत सभी पर समान रूप से शासन करता है। किन्तु वह जनमत की अवहेलना नही कर सकता। अन्तिम शक्ति प्रजा के हाथो में है, और मन्त्रिमण्डल को याद रखना चाहिए कि भविष्य में अपने कारनामो का हिसाब किसको चुकाना होगा, तथा किसने उसको शासन-सत्ता से विभूषित किया था। सन् १९३४ में अशान्ति-उत्तेजक विधेयक (Incitement to Disaffection Bill) की कतिपय धाराओ के विरुद्ध काफी कोलाहल हुआ। राष्ट्रीय सरकार की पीठ पर असाधारण बहुमत था और विधेयक पास भी हो गया "किन्तु जिस रूप में वह विधेयक प्रस्तुत किया गया था उससे कही अधिक परिवर्त्तित स्वरूप में वह पास किया गया।" यह परिवर्त्तन जनमत ने ही किया। दिसम्बर १९३५ में, इटली-इथियोपिया के झगडे के निपटारे के लिए इगलैण्ड तथा फ्रास ने जो प्रस्ताव उपस्थित किये, उनके विरुद्ध इतना प्रबल कोलाहल मचा कि मन्त्रिमण्डल को अपने निर्णय पर पुनर्विचार करना पडा। मन्त्रिमण्डल ने सोचा कि "इतने महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर प्रजातन्त्र में जितना जनमत का समर्थन रहना चाहिए उतना शासन के पास नही है।" तत्कालीन विदेश मन्त्री सर सेम्युएल होर (Sir Samuel Hoare) ने त्याग-पत्र दे दिया क्योकि "देश के बहुत बडे समुदाय का विश्वास उन्हे प्राप्त नही था।" उन्होने आगे कहा कि "मैं अनुभव करता हूँ कि विदेश मन्त्री को अन्य किसी मन्त्री से अधिक समस्त देशवासियो का विश्वासपात्र होना चाहिए तथा सभी का समर्थन उसके पीछे होना चाहिए। आज सभी का अनुमोदन मुझे प्राप्त नही है, और ज्यो ही मुझे इस तथ्य का भान हुआ, बिना किसी की प्रेरणा के और बिना किसी की सलाह लिये हुए, मैंने प्रधान मन्त्री से प्रार्थना की कि मेरा त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया जाय।" सन् १९४० में प्रबल जनमत की माँग पर चेम्बरलेन (Chamberlain) की सरकार को त्याग-पत्र देने के लिये बाध्य होना पडा। पुन १९४६ में इस्पात बोर्ड (Steel Board) के अधिकारो तथा कर्त्तव्यो के बारे मे सरकार को काफी परिवर्त्तन करने के लिये बाध्य होना पडा। अत यदि प्रजातन्त्र का यह सिद्धान्त मान लिया जाय कि शासन प्रजा की सम्मति से ही सम्भव हो सकता है, तो मन्त्रिमण्डल का अधिनायकवाद सत्य तथ्य नही है।

प्रधान मन्त्री

(The Prime Minister)

अरीतिक आधार (Informal basis)—जॉन मॉर्ले (John Morley) के अनुसार "प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल के वृत्तखण्ड का मुख्य पत्थर (Key-stone) है।"

किन्तु जैनिग्ज (Jennings) कहता है कि "प्रधान मन्त्री को सविधान रूपी भवन का मुख्य पत्थर (Key-stone) कहना अधिक उपयुक्त होगा।" यह वाक्याश जितना सुन्दर एव विचित्र है, उतना ही सही भी है। प्रधान मन्त्री देश का सर्वाधिक शक्ति-सम्पन्न व्यक्ति है। सम्राट के जो विशेषाधिकार छिन गये हैं, वे सभी विशेषाधिकार क्राउन के उत्तरदायित्वपूर्ण सलाहकार (Responsible adviser of the Crown) के रूप में प्रधान मन्त्री के हाथो में आ गए हैं। सम्राट् के जो विशेषाधिकार, प्रधान मन्त्री हाथो में नही आए, वे मन्त्रिमण्डल को मिल गए हैं। "किन्तु मन्त्रिमण्डल के निर्माण में, मन्त्रिमण्डल के जीवन में, तथा मन्त्रिमण्डल की मृत्यु मे भी प्रधान मन्त्री ही केन्द्रीय शक्ति है।"[1] मन्त्रिमण्डल का अध्यक्ष होने के नाते वह मन्त्रिमण्डल का पुरोगामी सदस्य (Leading Member) होता है। वही मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है, वह उसको बदल सकता है तथा नष्ट भी कर सकता है। ग्रीव्ज (Greaves) कहता है कि "शासन समस्त देश का स्वामी है और प्रधान मन्त्री शासन का स्वामी है।"[2] इतना महत्त्वपूर्ण पद होते हुए भी प्रधान मन्त्री के पद का विधि में निकट भूत काल तक में कही उल्लेख नही था। देश की अन्य वहुत सी सस्थाओ की तरह ही प्रधान मन्त्री का पद भी आकस्मिक घटना का प्रतिफल अथवा सयोग का जात (The child of Chance) था। प्रधान मन्त्री की स्थिति के वारे में किसी परिनियम अथवा सविधि (Statute) में कुछ जिक्र नही है और प्रधान मन्त्री का वेतन अब भी उसे ट्रेजरी का प्रथम लार्ड (First Lord of the Treasury) होने के नाते मिलता है। ट्रेजरी के प्रथम लार्ड का यह पद प्रधान मन्त्री के पद के साथ सन् १७२१ से जुडा हुआ है।[3] सन् १८७३ से पूर्व प्रधान मन्त्री शब्द का प्रयोग किसी राष्ट्रीय प्रलेख (Public Document) में नही हुआ किन्तु उस वर्ष जव लार्ड वीकन्सफील्ड (Lord Beaconsfield) ने वर्लिन की सन्धि पर हस्ताक्षर किए तो उस सन्धि की प्रथम धारा में लार्ड वीकन्सफील्ड को 'महामहिमामयी साम्राज्ञी की ट्रेजरी का प्रथम लार्ड तथा इगलैण्ड का प्रधान मन्त्री' (First Lord of her Majestys Treasury, Prime Minister of England) कहकर सकेत किया गया। सर सिडनी लो (Sir Sydney Low) के विचार से "यह नामकरण उन विदेशियो की अज्ञानता के प्रति कुछ रियायत मात्र थी, जो व्रिटेन के पूर्ण शक्ति युक्त महादूत की वास्तविक स्थिति को समझ न पाते यदि उसका केवल अधिकारीय

---

[1] Laski Parliamentary Government in England, op Citd, p. 228

[2] The British Constitution, op Citd, p 108 109

[3] श्री वाल्फोर (Mr Balfour) ने १९०२ में हैडिंगटन (Haddington) में भाषण देते हुए कहा था, "प्रधान मन्त्री को इस नाम से वेतन नहीं मिलता। ससद् की किसी विधि में उसका उल्लेख नहीं है। और यद्यपि देश के सविधानिक ढाचे में उसका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है, पर उसका देश की प्रचलित विधि में कोई स्थान नहीं है। यह अनोखा-सा विरोधाभास है।"

—As quoted in Marriot's English Political Institution, p 85.

अभिधान (Official title) मात्र ही दिया जाता।"[1] काफी समय के बाद १९०६ में प्रधान मन्त्री की स्थिति को राज्य के उत्सवो से सम्बन्ध रखने वाली सामाजिक प्राथमिकताओ की तालिका मे मान्यता प्रदान की गई। प्रधान मन्त्री को राज्य का, आदर की दृष्टि से, चौथे नम्बर का प्रजाजन माना जाने लगा। उसे यार्क के आर्चबिशप (Archbishop of York) से निचला दर्जा दिया गया। १९१७ के चेकर्स एस्टेट ऐक्ट (Chequers Estate Act of 1917) में "प्रधान मन्त्री पद ग्रहण करने वाले व्यक्ति का जिक्र आया है" और उस पद के धारण करने वाले व्यक्ति के लिए चेकर्स (Chequers) प्रयोग करने की अनुमति दी गई है।"[2] १९३७ के 'क्राउन के मन्त्री अधिनियम' (The Minister of the Crown Act of 1937) ने प्रथम बार प्रधान मन्त्री के पद को मान्यता प्रदान की है जिसमें उसको सरकार के प्रथम मन्त्री (First Lord of the Treasury) तथा साथ ही साथ प्रधान मन्त्री दोनो पदो के लिए १०,००० पौं० वार्षिक वेतन स्वीकार किया गया है।[3] किन्तु इस विधान (Provision) से भी प्रधान मन्त्री को वास्तविक शक्ति नही मिलती। "इन से तो केवल प्रधान मन्त्री की सविधानिक स्थिति भर को मान्यता मिलती है, किन्तु उस स्थिति को सविधानिक स्वरूप देना अभी शेष है।" प्रधान मन्त्री के पास विधि-विहित वास्तविक शक्ति बिल्कुल नही है। उसको समस्त शक्ति एव अधिकार सविधानिक अभिसमयो से ही प्राप्त हुए हैं और वे समस्त अधिकार उन्ही अभिसमयो से मर्यादित भी हैं। अत, आधार रूप मे ग्लैड्स्टन (Gladstone) का वाक्य अब भी उतना ही यथार्थ है जितना कि उस समय था, जबकि उसने कहा था कि "इस विस्तृत विश्व में कही भी इतने बडे पदार्थ की इतनी छोटी छाया नही होती। कही भी ऐसा व्यक्ति नही है जिसमें इतनी महान् शक्ति निहित हो, किन्तु औपचारिक उपाधि के रूप में दिखावे के लिए कुछ भी न हो।"[4]

प्रधान मन्त्री की नियुक्ति (The Choice of a Prime Minister)—मन्त्रिमण्डल का निर्माण मुख्यत सम्राट् द्वारा प्रधान मन्त्री की नियुक्ति पर निर्भर है। १८वी शताब्दी में प्राय देखा जाता था कि मन्त्रिमण्डल में समन्वय का अभाव था और उस समय क्राउन के मुख्य अथवा प्रधान मन्त्री के लिये यह नितान्त आवश्यक था कि उसके ऊपर न केवल सम्राट् की कृपा हो, बल्कि सर्वसाधारण का समर्थन भी उसे प्राप्त हो। जार्ज तृतीय के आरम्भिक शासन-काल में एक बार पुन प्रयत्न किया गया था कि सम्राट् की शक्ति फिर सम्राट् को मिलनी चाहिये, आशय यह था कि केवल ऐसे मन्त्री चुने जायें जो सम्राट् को स्वीकार्य हो। यह प्रयत्न विफल रहा, और १८३२

---

[1] The Governance of England, p 156

[2] चेकर्स में आजकल प्रधान मन्त्री का अधिकारी देहाती निवास-स्थान है।

[3] चौथी धारा में कहा गया है "उस व्यक्ति को जो प्रधान मन्त्री तथा सरकार का प्रथम मन्त्री होगा, दस हजार पौं० वार्षिक वेतन मिलेगा।"

[4] Quoted in English Political Institutions, op Citd, p 86.

तक लोकसभा में बहुमत दल के मुखिया के रूप में प्रधान मन्त्री को स्वीकार कर लिया गया।

आजकल सम्राट् लोकसभा में निर्वाचित बहुसख्यक राजनीतिक दल के मान्य नेता को आमन्त्रित करता है और वही नेता प्रधान मन्त्री बनता है। यदि किसी दल को बहुमत प्राप्त हो जाता है, और उस दल का नेता भी है, तो सम्राट् को प्रधान मन्त्री चुनने की आवश्यकता नही पडती। किन्तु सम्राट् को उस स्थिति में चुनाव करना पडता है जबकि किसी दल का बहुमत तो हो, किन्तु उस दल का नेता न हो, अथवा जबकि किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत न हो। श्रमिक दल (Labour Party), की तरह अनुदार दल (Conservative Party) के लिये यह आवश्यक नही है कि जब कभी उसका लोकसभा में बहुमत हो तो उसका अपना सर्वसम्मत नेता भी हो। मि० बाल्डविन (Baldwin) १९२३ में नेता बने तथा मि० चेम्बरलेन (Chamberlain) १९३७ में नेता बने क्योकि वे दोनो प्रधान मन्त्री थे। ऐसी स्थिति में सम्राट् का कर्त्तव्य है कि वह ऐसा व्यक्ति प्रधान मन्त्री चुने जिसे दल का पूर्ण समर्थन प्राप्त हो। सम्राट् को प्रधान मन्त्री के चुनाव के सम्बन्ध में वास्तविक छूट उस समय मिलती है जबकि कोई प्रधान मन्त्री अपना त्याग-पत्र दे अथवा उसकी मृत्यु हो जाय, और जबकि उसका स्थान ग्रहण करने वाला कोई दूसरा मान्य नेता न हो। सन् १९२३ में सम्राट् जार्ज पञ्चम (George V) को लार्ड कर्जन (Lord Curzon) तथा मि० बाल्डविन (Mr Baldwin) मे से एक को चुनना था, यद्यपि उस समय वास्तविक विवादग्रस्त समस्या यह थी कि प्रधान मन्त्री को लार्ड सभा (House of Lords) में से लिया जाय अथवा लोकसभा (House of Commons) में से। इसके बाद १९४० में पुन. ऐसी ही स्थिति आ गई, जबकि मि० चेम्बरलेन (Mr Chamberlain) ने त्याग-पत्र दे दिया। उस समय श्रमिक दल के जो नेता राष्ट्रीय सरकार में थे, वे लोग चेम्बरलेन के अथवा "म्यूनिक (Munich) से सम्बन्धित" किसी अन्य व्यक्ति के नेतृत्व में काम करने के लिये तैयार नही थे। सर जॉन साइमन (Sir John Simon) एक राष्ट्रीय उदारवादी नेता (Liberal National) थे, किन्तु उनका नेतृत्व अनुदार दल (Conservative Party) को मान्य नही था, अत सम्राट् ने चर्चिल को नेता चुना।

जब किसी भी दल का स्पष्ट बहुमत नही होता, उस समय दो सभावनाएँ होती हैं, या तो मिली-जुली सरकार की स्थापना अथवा अल्पसख्यक दल की सरकार की स्थापना जिसको कुछ विरोधी दलो का भी समर्थन प्राप्त हो जाय। १९२४ में बाल्डविन सरकार के त्याग-पत्र पर सम्राट् जार्ज पचम को निर्णय करना पडा था कि वह उदारदलीय नेता मि० एस्क्विथ (Mr Asquith) को बुलावें, अथवा श्रमिक दल के नेता मि० रैम्जे मैकडानल्ड को बुलावें, अथवा किसी अन्य व्यक्ति को आमन्त्रित करें जो मिली-जुली सरकार (Coalition) बनाने का प्रयत्न करे। सम्राट् ने मि० रैम्जे मैकडानल्ड को आमन्त्रित किया, यद्यपि लोकसभा के केवल एक-तिहाई सदस्यो का समर्थन उन्हें प्राप्त था। इसके बाद फिर १९२९ में रैम्जे मैकडानल्ड (Ram

MacDonald) ने दुबारा उदार दल के समर्थन पर, श्रमिक सरकार का निर्माण किया।

ऐसे उदाहरण बार-बार नही आते। किन्तु जब कभी ऐसे अवसर आते हैं तो उनसे उदाहरण की महत्ता पर प्रकाश पडता है। सम्राट् के निर्णय पर राजनीतिक अवस्थाओ का भी प्रभाव पडता है। सम्राट् का मुख्य ध्येय यह होता है, "कि प्रधान मन्त्री ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जिसे साथी मिल सकें, और उन साथियो के सहयोग से उसे लोकसभा का सहयोग मिल सके। किन्तु जब कभी सम्राट् का निर्णय स्पष्ट नही होता, तो उस समय यह अतीव आवश्यक है कि सम्राट् पूर्णतया निष्पक्ष हो। सम्राट् भी किसी-किसी के प्रति अनुकूल अथवा प्रतिकूल विचार रखते हैं जिस प्रकार कि विक्टोरिया, ग्लैड्स्टन से अप्रसन्न थी, यद्यपि राजनीतिज्ञो की अपेक्षा सम्राट् अथवा साम्राज्ञी कम पक्षपाती होते हैं।

अब यह एक सुनिश्चित नियम-सा बन गया है कि प्रधान मन्त्री या तो कोई कुलीन पुरुष (Peer) होना चाहिये अथवा उसका लोकसभा का सदस्य होना आवश्यक है। सर राबर्ट वालपोल (Sir Robert Walpole) के काल से लेकर अब तक के सभी प्रधान मन्त्री या तो लार्ड सभा या लोकसभा के सदस्य अवश्य रहे हैं। १९०२ में लार्ड सेलिसबरी (Lord Salisbury) के त्याग-पत्र के बाद कोई भी कुलीन पुरुष (Peer) प्रधान मन्त्री नही बना है। १९२३ में यह समस्या सामने आई कि क्या किसी कुलीन पुरुष को प्रधान मन्त्री बनाया जाय। बोनर लॉ (Bonar Law) के त्याग-पत्र से सम्राट् के समक्ष केवल दो विकल्प रह गये—या तो लार्ड कर्जन या मि० स्टेनली बाल्डविन को प्रधान मन्त्री बनाया जाय। इससे पूर्व भी यह अनुभव किया जा चुका था कि प्रधान मन्त्री केवल लोकसभा में से लिया जाना चाहिये जहाँ सरकारें या तो बनती हैं अथवा अपदस्थ की जाती हैं। यह भी माना जाता था कि लोकसभा की यह मान्यता उचित ही थी कि "उसका मुख्य प्रतिनिधि उसके प्रभाव में रहना चाहिये और वह स्वय लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होना चाहिये।"[1] इसमें सन्देह नही कि कर्जन (Curzon) कुलीन पुरुष था। किन्तु केवल यही विचारणीय विषय न था। उसके व्यक्तित्व के कारण भी निर्णय उसके विरुद्ध हुआ।[2] इन दोनो तथ्यो के फलस्वरूप स्टेनली बाल्डविन प्रधान मन्त्री नियुक्त हुआ, यद्यपि उसको मन्त्रिमण्डल के मन्त्रित्व का केवल आठ महीने का अनुभव था जो उसने बोनर लॉ के प्रधान मन्त्रित्व में उपार्जित किया था।

केवल एक ही पूर्व प्रमाण से यह नियम नही बन जाता कि प्रधान मन्त्री का लोकसभा का सदस्य होना नितान्त आवश्यक है। किन्तु कीथ (Keith) ठीक ही

---

[1] Har Court quoted in Jennings' Cabinet Government, p 22

[2] लार्ड कर्जन के चरित्र में कतिपय दुर्बलताएँ थी जो निम्न पक्ति में लक्षित है—"जाज नेथेनियल विसकाउट कर्जन (Geroge Nathaniel Viscount Curzon) वास्तव में अत्यन्त लोकप्रिय व्यक्ति है।"

कहता है कि "प्रधान मन्त्री पद के लिये किसी कुलीन पुरुष का चुना जाना एक असाधारण-सी बात होती।"[1] यदि शासन केवल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी हो तो लोकसभा में पास किये गये शासन के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव के फलस्वरूप या तो शासन को त्याग-पत्र देना होगा अथवा ससद् भग करने की प्रार्थना करनी होगी। इसके अतिरिक्त प्रधान मन्त्री दलगत सघटन के लिये भी उत्तरदायी होता है। दलगत सघटन का महत्त्व लोकसभा में ही रहता है, लॉर्ड सभा में नही। सक्षेप में कह सकते हैं कि यदि प्रधान मन्त्री ससद् की नाडी ठीक-ठीक परखना चाहता है तो उसे लोकसभा की नाडी परखनी चाहिये। प्रधान मन्त्री लोकसभा में से ही लिया जाना चाहिये, यह पूर्व प्रमाण (Precedent) सदैव के लिये एक निश्चित प्रथा बन चुकी है।

प्रधान मन्त्री के कर्त्तव्य (Functions of the Prime Minister)—जैसा कि पहिले भी कहा जा चुका है, प्रधान मन्त्री, सविधान में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। उसी के हाथ में शासन की समस्त सत्ता रहती है। उसके दु सह कर्त्तव्य हैं और उसका अधिकार-क्षेत्र असीम है जिसका वर्णन ग्लैडस्टन (Gladstone) ने इस प्रकार किया है, "ब्रिटिश शासन का मुखिया किसी भी अर्थ में ग्राण्ड वज़ीर (Grand Vizier) नही है। मन्त्रिमण्डल के अन्य साथियो के ऊपर उसे कोई विशेष अधिकार प्राप्त नही हैं। बहुत ही कम अवसरो पर जबकि मन्त्रिमण्डल अपना निर्णय सदस्यो की मतगणना के आधार पर करता है, तो प्रधान मन्त्री की वोट अन्य साथियो की तरह एक वोट का मूल्य रखती है। किन्तु मन्त्रिमण्डल के अन्य साथियो की नियुक्ति अथवा वियुक्ति (Dismissal) सम्राट् प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा पर करता है। ऐसे पूर्ण सुयोजित शासन में, जैसा कि १८४१-४६ तक सर रॉबर्ट पील का था, कोई भी महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न नही होता, न किसी विभाग में कोई नया काम प्रारम्भ ही किया जाता है जब तक कि तत्सम्बन्धी पूर्व जानकारी प्रधान मन्त्री को न हो, और कोई भी महत्त्वपूर्ण बात मन्त्रिमण्डल में निर्णयार्थ प्रस्तुत किये जाने से पूर्व प्रधान मन्त्री के सामने अवश्य लाई जाती है। वह सम्राट् के समक्ष मन्त्रिमण्डल की समस्त कार्यवाही की रिपोर्ट प्रस्तुत करता है, और उसे सम्राट् से बार-बार भेंट करनी पडती है।"[2] ग्लैडस्टन ने जो कुछ कहा है, उसमें सचाई का बहुत बडा अश है। किन्तु निकट भूतकाल में प्रधान मन्त्री के अधिकार-क्षेत्र में और भी वृद्धि हुई है। मताधिकार में वृद्धि के अतिरिक्त ग्लैड्स्टन (Gladstone) तथा डिज़रैली (Disraeli) ने जो महिमा प्रधान मन्त्री पद को दी, उस सब के फलस्वरूप प्रधान मन्त्री के पद का गौरव, सयुक्त राज्य अमेरिका के अध्यक्ष के समक्ष ही हो गया है। आजकल कोई-कोई तो उसे अधिनायक की उपमा देने लगे हैं। ग्रीव्ज़ (Greaves) के अनुसार "उसकी औपचारिक शक्तियाँ तो निश्चय ही एक अनियन्त्रित शासक की-सी दिखाई देती हैं।" यह अतिशयोक्ति हो सकती है, किन्तु इसमें सन्देह नही कि उसकी शक्तियाँ तथा सामर्थ्य विशाल हैं।

---

[1] Keith Cabinet System of Government, p 29.

[2] Quoted in Keith's British Cabinet System, p 65

(१) प्रधान मन्त्री शासन का निर्माण करता है। सम्राट् ने जहाँ प्रधान मन्त्री का चुनाव किया कि उसका शासन-निर्माण के सम्बन्ध में मुख्य कार्य समाप्त हो जाता है, क्योकि मन्त्रियो की सूची तैयार करना और उसे सम्राट् की स्वीकृति के लिये प्रस्तुत करना—यह काम प्रधान मन्त्री का है। प्राविधिक दृष्टि से मन्त्रियो की नियुक्ति अन्तिम रूप से सम्राट् के हाथो में रहती है क्योकि वही उन्हें नियुक्त करता है। किन्तु व्यवहारत प्रधान मन्त्री ही निर्णय करता है और सम्राट् की स्वीकृति एक औपचारिकता मात्र है। साम्राज्ञी विक्टोरिया ने भी राजनीतिक कारणो के आधार पर कभी किसी मन्त्री की नियुक्ति पर आपत्ति नही की।

शासन के निर्माण मे प्रधान मन्त्री को दोनो सदनो के अपने दल के मुख्य नेताओ के विचारो तथा स्वत्वो को ध्यान में रखना पडता है। किन्तु जैसा कि मि० एमरी (Mr Amery) ने कहा है, "जहाँ एक बार ससद् ने प्रधान मन्त्री द्वारा चुने हुए शासन के मन्त्रियो को तथा उनके अधीन विभागो को स्वीकार कर लिया फिर प्रधान मन्त्री पूर्ण स्वेच्छया शासन का निर्माण कर सकता है—अपनी व्यक्तिगत इच्छा से भी जो वह ठीक समझे, कर सकता है।"[1] यह प्रधान मन्त्री ही निर्णय करता है कि मन्त्रिमण्डल में कितने मन्त्री हो और उसमें कौन-कौन मन्त्री लिये जायें। वास्तव में, शासन के निर्माण में प्रधान मन्त्री को पूरी छूट रहती है—"इस सम्बन्ध में न तो ससद्, न दलीय कार्यपालिका (Party Executive) ने ही उसके ऊपर कभी कोई दवाव डाला है।" वह अपने दल से वाहर का व्यक्ति भी मन्त्रिमण्डल में ले सकता है, यहाँ तक कि ससद् से वाहर का व्यक्ति भी ले सकता है यदि उसके विचार से उसे कोई ऐसा व्यक्ति मिल जाय जो किसी विशिष्ट काम के लिये विशेष योग्य हो। उदाहरणस्वरूप १९०३ में वाल्फर (Balfour) ने उपनिवेश मन्त्री पद लार्ड मिलनर (Lord Milner) को उस समय दे दिया जव कि वह दक्षिणी अफ्रीका में उच्चायुक्त (High Commissioner) था, और जव कि उसे विल्कुल ससदीय अनुभव नही था। मैकडानल्ड (MacDonald) ने सन् १९२४ में किसी भी दल से असम्वद्ध, भारत के अवकाश-प्राप्त वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड (Lord Chelmsford) को नौसैनिक मन्त्री का पद दे दिया। इस सम्बन्ध में सवसे अधिक उल्लेख्य उदाहरण यह है, जवकि १९२४ मे वाल्डविन (Baldwin) ने चर्चिल को वित्तमन्त्री (Chancellor of the Exchequer) नियुक्त कर दिया। अनुदार दल इस नियुक्ति पर वहुत अप्रसन्न हुआ। किन्तु "नियुक्ति हो चुकी थी, और ससद् का अनुदार दल यद्यपि इससे प्रसन्न न था, किन्तु सिवाय असन्तोष प्रकट करने के और कुछ न कर सका।" प्रधान मन्त्री की इस शक्ति का उल्लेख करते समय एमरी (Amery) कहता है कि "मन्त्रिमण्डल के निर्माण के सम्वन्ध में जितनी स्वेच्छाचारिता से व्रिटिश प्रधान मन्त्री कार्य करता है, उतनी स्वेच्छाचारिता से बिरले अधिनायक ही कार्य करते हैं।"[2]

---

[1] Champion and Others Parliament, A Survey, p 63

[2] Champion and Others Parliament, A Survey, p 63

विभागो के वितरण के सम्बन्ध में भी प्रधान मन्त्री अपनी इच्छा से कार्य करता है यद्यपि यदि कोई अनुभवी राजनीतिज्ञ न चाहे तो किसी विभाग को अस्वीकृत भी कर सकते है, बशर्ते कि उस दल में उनको इतना समर्थन एवं समादर प्राप्त हो कि शासन उनकी सेवाओ के बिना चल ही न सके, और दल ऐसा अनुभव करने लगे कि ऐसे व्यक्ति की सेवाओ से वचित होना अबुद्धिमत्तापूर्ण होगा। किन्तु प्रधान मन्त्री जो विभागो के वितरण के विषय में अन्तिम निर्णय करता है उसे सामान्यत कभी अस्वीकृत नही किया जाता, क्योंकि किसी पद की अस्वीकृति का अर्थ हो सकता है न केवल उस ससद् काल के लिये पद-हीनता, बल्कि सदैव के लिये पद मे वचित रहना। सर राबर्ट हार्न (Sir Robert Horne) व्यापार मन्त्रालय तथा वित्त मन्त्रालय के प्रधान के रूप में अत्यन्त सफलता के साथ कर चुका था किन्तु ९२४ में उसने बाल्डविन द्वारा दिए गए श्रम मन्त्रालय का प्रधान बनना अस्वीकार कर दिया और फिर भविष्य में कभी किसी पद के लिए उसके नाम पर विचार ही नही किया गया। एमरी (Amery) कहता है कि "यह असाधारण प्रभावशाली अथवा भाग्यवान् राजनीतिक दिग्गज के ही बूते की बात है कि जो एक बार बाहर निकाले जाने के बाद पुन. शासन मे स्थान पा सके, जैसा कि चर्चिल तथा लेखक (एमरी) के साथ १९२९ के बाद दस वर्ष तक हुआ।"[1]

(२) यदि शासन-यन्त्र को सुचारु रूप से तथा कार्य-साधन रूप से चलाना है तो प्रधान मन्त्री का यह असदिग्ध अधिकार है कि वह मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियो की नियुक्ति करे, उनके विभागो में परिवर्त्तन करे तथा यदि कभी आवश्यक हो जाए तो उन्हें अपदस्थ भी करे। अपने पक्षपातहीन विवेक के अनुसार वह जिस व्यक्ति को जिस पद पर नियुक्त करना चाहे कर सकता है। यदाकदा उसको यह भी देखते रहना चाहिए कि प्रत्येक मन्त्री की देख-रेख में सब विभाग ठीक कार्य कर रहे हैं या नही, और उसे यह भी देखते रहना चाहिए कि प्रत्येक विभाग का कार्य अच्छे ढग से चल रहा है अथवा नही। एक टीम के कप्तान होने के नाते, साथ ही समस्त प्रशासन का मुखिया होने के नाते, वह अपने साथियो में से किसी से भी किसी समय त्याग-पत्र माँग सकता है यदि उसके विचार अथवा न्याय बुद्धि के अनुसार उस मन्त्री के मन्त्रिमण्डल में रहने से समस्त मन्त्रिमण्डल की कार्य-क्षमता, योग्यता, ईमानदारी अथवा समस्त शासन की नीति पर कु-प्रभाव पडने की आशका है।

प्रधान मन्त्री सम्राट् को भी मन्त्रणा दे सकता है कि वह किसी मन्त्री को नियुक्त कर दे। विधि के अनुसार कोई मन्त्री अपने पद पर सम्राट के प्रसाद-पर्यन्त ही बना रह सकता है, और इसीलिए सम्राट् जब चाहे उसे वियुक्त (Dismiss) भी कर सकता है। अब यह सुनिश्चित प्रथा-सी बन गई है कि सम्राट्, मन्त्री के वियुक्त (Dismissal) सम्बन्धी विशेषाधिकार का प्रयोग केवल प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा पर

---

[1] Champion and Others Parliament, A Survey, p 64

ही करेगा। किन्तु इसमें सन्देह है कि प्रधान मन्त्री मन्त्री के वियुक्त (Dismissal) करने की मन्त्रणा यूं ही दे देगा जब तक कि यह कार्यवाही अत्यन्त आवश्यक न होगई हो। फिर भी वियुक्त (Dismissal) करने सम्बन्धी अधिकार तो निश्चय ही प्रधान मन्त्री के पास हैं। प्रधान मन्त्री के इस अधिकार की चर्चा करते हुए सर रॉबर्ट पील ने कहा था कि "साधारणतया यदि प्रधान मन्त्री तथा उसके एक मन्त्री में गहरे मतभेद उत्पन्न हो जायें और यदि वह मतभेद मित्रवत वातचीत द्वारा तय न हो सके तो इसका फल यह होगा कि मन्त्री को हटना पड़ेगा, प्रधान मन्त्री[1] को नहीं।" किन्तु ऐसा सकट काल सम्भवत कभी नहीं आयगा। इगलैण्ड मे ऐसी परम्परा है कि "कोई मन्त्री पद का भूखा नहीं है, किन्तु यदि लोकहित के लिये उसे मन्त्री-पद निभाना पड़े तो उस पद पर वह बना रह सकता है।"[2] इसी परम्परा में पद-त्याग का कर्त्तव्य भी सम्मिलित है, जब कभी मन्त्री को ऐसा आभास मात्र भी मिल जाय। इस प्रकार मन्त्रियो ने बहुत बार त्याग-पत्र दिये हैं। मि० लोवे (Lowe) तथा मि० एरीटन (Mr. Aryton) ने सन् १८७३ में त्याग-पत्र दिये कर्नल सीली (Colonel Seely) ने १९१४ में त्याग-पत्र दिया, मि० मोन्टेग्यू (Mr Montague) तथा मि० ऑस्टिन चेम्बरलेन (Mr Austin Chamberlain) ने १९१७ में त्याग-पत्र दिये, और सैम्यूएल होर (Sir Samuel Hoare) ने १९३५ में त्याग-पत्र दिया।

(३) फिर प्रधान मन्त्री अपने दल का नेता होता है। आम चुनाव (General Election) वास्तव में प्रधान मन्त्री के चुनाव के लिये ही होता है। अनिश्चित मत-दाता लोग, जो वास्तव में चुनावो का निर्णय करते हैं, न किसी दल विशेष का समर्थन करते हैं, न किसी नीति का। वे एक नेता का समर्थन करते हैं। इसलिये प्रधान मन्त्री को प्रभावी नेतृत्व करना पड़ता है। वह शिष्टमण्डलो का आदर-सत्कार करता है, और उनसे विचार-विनिमय करता है, दलीय सम्मेलनो में एव अन्य महत्त्व-पूर्ण अवसरो पर भाषण देता है जिनको देश-विदेशो में ध्यान से सुना और पढ़ा जाता है, और इस प्रकार वह जनमत को दिशा प्रदान करता है। अत, प्रधान मन्त्री को न केवल जनमत का वारीकी से अध्ययन करना चाहिए, वल्कि प्रचार-कार्य में भी पटु होना चाहिए। "उसे मालूम होना चाहिए कि क्या कहा जाय, उसे कहाँ कहा जाय और किस समय विल्कुल मौन धारण करना श्रेयस्कर है।" यह सब प्रधान मन्त्री के व्यक्तित्व, प्रतिष्ठा एव कौशल पर अवलम्बित है। जैनिंग्ज (Jennings) ने स्पष्टतया कुछ गुण बताये हैं जो एक प्रधान मन्त्री में अवश्य होने चाहिएँ। वह कहता है, "जहाँ तक प्रधान मन्त्री का व्यक्तित्व एव प्रतिष्ठा जनमत पर पर्याप्त प्रभाव डालते हैं उसको अपने व्यक्तित्व में फिल्मो के अभिनेताओ की-सी आकर्षकता पैदा करनी चाहिए, एव तदर्थ अपना वनाव-शृगार सजधज के साथ उसी प्रकार करना चाहिए जैसे कि ग्लैड्स्टन अपने कालरो (Collars) को ठीक-ठीक रखते थे, मि० लायड् जार्ज अपने

---

[1] Keith British Cabinet System, p 82-83

[2] Jennings Cabinet Government, p 197

बालो को खूब संवारकर रखते थे, मि० बाल्डविन अपनी पाइप (Pipe) को हर समय मुँह में रखते थे और मि० चर्चिल सदैव सिगारो से अपने आप को सज्जित रखते थे। किन्तु फिल्मी अभिनेता में जो गुण नही होते, प्रधान मन्त्री को कुछ ऐसे भी गुण उपार्जित करने चाहिएं जैसे कि उसे स्वय भाषण तैयार करने वाला होना चाहिये, और उसे अच्छा वक्ता होना चाहिए। इससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हैं उसके ध्वनि विस्तारक यन्त्र के सामने खडे होने के सलीके (Microphone Manners), क्योकि बहुत ही कम लोग सभाओ में उपस्थित होते हैं किन्तु करोडो व्यक्ति रेडियो (Radio) के द्वारा उसकी वक्तृताएँ सुनते हैं। अतश, यह भी आवश्यक है कि उसमें इतनी योग्यता होनी चाहिए कि वह अपने राजनीतिक मित्रो का विश्वासभाजन रहे और उनकी निष्ठा अपने में बनाए रखे, और इससे इस दिशा में बडी सहायता मिलती है यदि वह उनका (राजनीतिक मित्रो) नाम याद रख सके; उनके परिवार के बारे में ठीक-ठीक व्यक्तिगत प्रश्न पूँछ सके, यह भी याद रख सके कि कब उन्हें सहानुभूति की और कब उन्हें बधाई की आवश्यकता है, साथ ही यह भी आवश्यक है कि वह सभी के साथ समान विनम्रता के साथ मिल-जुल सके।

बिना नेता के किसी दल का काम चल ही नही सकता। वास्तव में बिना नेता के दल की स्थिति दयनीय हो जाती है। उसी प्रकार कमजोर नेता वाला दल भी कमजोर ही रहता है। कमजोर नेता वाला दल लोक-प्रिय नहीं हो सकता, न वह शासन सचालित करने के योग्य ही हो पाता है। अनुदार दल में तो नेता ही सब कुछ है। समस्त दल के सघटन पर तथा उसकी निधि पर नेता का ही नियन्त्रण रहता है। उसको सदस्यो के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करने का भी अधिकार होता है और यदि कोई सदस्य उसका विरोध करने का साहस करता है तो नेता उसके विरुद्ध कार्यवाही करता है। वास्तव मे प्रधान मन्त्री तथा दल की प्रतिष्ठा एक ही चीज है। दल ही नेता को चुनता है, किन्तु जहाँ एक बार नेता का चुनाव हुआ, सारा दल उस नेता का समर्थन करता है। आम चुनाव में दल को जो बहुमत मिलता है, उसका श्रेय दल को मिलता है किन्तु समस्त दल की अनुशक्ति नेता के प्रति होती है और समस्त दल उसी नेता का ही दल माना जाता है। प्रधान मन्त्री की यही वास्तविक शक्ति है। अत प्रधान मन्त्री के लिए यह अत्यावश्यक है कि वह अपने दल में एकता बनाये रखे और अपने व्यक्तित्व के प्रभाव से अपने साथियो की समस्त दल के प्रति निष्ठा बनाये रखे तथा समस्त देश का विश्वास बनाये रखे।

४ प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल का प्रधान होता है। यह भली प्रकार माना जाता है कि इगलैण्ड में तथा प्राय सभी आँग्ल-सैक्सन देशो में "किसी समिति का प्रधान कई प्रकार की निष्ठाओ में आबद्ध रहकर कार्य करता है, उसको कुछ इस प्रकार की भावनाओ के मध्य कार्य करना पडता है कि समिति की कार्यवाही को आदेशो के बल पर अधिक अच्छा बनाया जाय और प्रत्येक व्यक्ति को तैयार रहना

गडबड पैदा हो जाय अथवा मतभेद के कारण विभाग की गाडी चलते-चलते रुक जाय तो वह उचित रूप से हस्तक्षेप कर सके ।

६ प्रधान मन्त्री ही लोकसभा (House of Commons) का नेता होता है । आजकल ऐसा चलन है कि वह अपने किसी साथी को लोकसभा का नेता मनोनीत करता है ताकि इस उत्तरदायित्व से उसे छुट्टी मिल जाय,[1] किन्तु लोकसभा के नेता के रूप में भी अन्तिम उत्तरदायित्व प्रधान मन्त्री का ही है। इसका अर्थ है कि मुख्य नीति सम्बन्धी घोषणाएँ प्रधान मन्त्री को ही करनी पडती हैं और किसी विभाग विशेष से असम्बन्धित अथवा शासन की आम आलोचनाओ से सम्बन्धित प्रश्न प्रधान मन्त्री से ही किये जाते हैं । वही आम महत्त्व के वाद-विवादो को आरम्भ करता है और वही रक्षा विभाग, विदेश विभाग अथवा गृह विभाग से सम्बन्ध रखने वाले वाद विवादो मे हस्तक्षेप करता है । वास्तव में ससद्, प्रधान मन्त्री को ही नीति का स्रष्टा मानती है । यह भी माना जाता है कि यदि अन्य मन्त्रियो से कोई भूल हो जाय तो प्रधान मन्त्री ही उस भूल को सुधार सकता है ।

ससद् के दलीय सचेतक प्रधान मन्त्री के नियत्रण में रहते हैं और उन्ही के द्वारा वह लोकसभा में रहने वाले अपने दल के सभी सदस्यो को आवश्यक आदेश देता रहता है । मुख्य सचेतक की सहायता से वह सदन को समय सूचक कार्यवाही निर्दिष्ट करता है, कार्य-व्यवहार निर्दिष्ट करता है और विरोधी दल की राय जानकर प्रत्येक कार्यवाही के लिये समय निर्दिष्ट करता है । वह लोकसभा के स्पीकर (Speaker) तथा सभापति की इस रूप में सहायता भी करता है कि सदन में व्यवस्था तथा मर्यादा वनी रहे। सक्षेप में हम कह सकते हैं कि सदन प्राय प्रधान मन्त्री के नियन्त्रण में रहता है । शासन का वहुमत एव सभी में आपस में अच्छे सम्बन्ध बने रहें, यह सब प्रधान मन्त्री के सुदक्ष नेतृत्व तथा ससदीय योग्यता पर निर्भर है ।

७ जनसाधारण के महत्त्व की वातो को क्राउन तक पहुँचने का माध्यम (Channel of Communication) प्रधान मन्त्री ही होता है, यद्यपि ऐसे भी कई उदाहरण मिलते हैं जबकि "प्रधान मन्त्री की उपेक्षा करके"[2] कई मन्त्रियो ने भी क्राउन से सीधा सम्पर्क स्थापित कर लिया । कहने का तात्पर्य यह है कि मन्त्रिमण्डल के निर्णयो को मन्त्रिमण्डल सचिवालय लिपिवद्ध करता है और वही उसकी नकल सम्राट् को भेजता है । इसके अतिरिक्त सम्राट् को मन्त्रिमण्डल के वार्तालाप एव निर्णयो की कोई सूचना नही होती, सिवाय उन वातो के जिन्हें प्रधान मन्त्री स्वेच्छया सम्राट् को वतावे । एक वार जहाँ प्रधान मन्त्री ने सम्राट् को इस सम्बन्ध में सूचना दे दी, फिर, "किसी अन्य मन्त्री द्वारा इसके दुहराये जाने की आवश्यकता नही है ।" वह

---

[1] सन् 1945 की श्रमिक सरकार में मि० हर्बट मारिसन (Herbert Morrison) लोकसभा का नेता था ।

[2] Finer The Theory and Practice of Modern Government, p 592.

सम्राट् का मुख्य सलाहकार होता है और आपात काल में वह सर्वप्रथम प्रधान मन्त्री की ही सलाह मांगेगा। प्रधान मन्त्री सम्राट् को सलाह देता है कि सम्राट् किन-किन सरकारी कार्यों में भाग ले जैसे किसी विदेश मे यात्रा, साम्राज्य के किसी भाग की यात्रा अथवा राष्ट्रमण्डल के किसी देश की यात्रा। मि० स्टैन्ले वाल्डविन (M Stanley Baldwin) इसे अपना अधिकार तथा कर्त्तव्य समझते थे जिसके आधार पर उन्होंने सम्राट् एडवर्ड अष्टम को उनके श्रीमती सिम्पसन के साथ होने वाले विवाह के सम्बन्ध में सलाह दी। प्रधान मन्त्री वाल्डविन ने मन्त्रिमण्डल से उस समय सलाह मांगी जबकि उनके और सम्राट् के बीच इतना मतभेद उत्पन्न हो चुका था जिसका दूर किया जाना असम्भव था। उस समय प्रधान मन्त्री, "सदैव की भांति सम्राट् और मन्त्रिमण्डल के बीच कडी का काम करने लगा और इस प्रकार एक के निर्णय तथा विचार दूसरे तक पहुँचाने लगा।"

८ प्रधान मन्त्री के पास सरक्षण एव कृपा (Patronage) के अपार स्रोत हैं। उपाधियां सम्राट् की ओर से ही दी जाती हैं, किन्तु कोई भी उपाधि सम्राट् उस समय तक नही दे सकता जब तक कि प्रधान मन्त्री तदर्थ सिफारिश न करे। यदि कभी सम्राट् चाहे कि उसके किसी कुटुम्बी को महान् उपाधि (Order) दी जाय, अथवा पीयर (Peer) बनाया जाय, तो भी वह सिफारिश प्रधान मन्त्री की ही सूची में आयेगी। किन्तु इस सम्बन्ध में कुछ ऐसे भी अपवाद हैं जैसे आर्डर आफ सेंट माइकेल एण्ड सेंट जार्ज (Order of St Michael and St George), अथवा नौसेना, स्थल सेना एव वायु सेना सम्बन्धी उपाधियां, जिनमें सम्बन्धित मन्त्री स्वय सम्राट् को तदर्थ सलाह देते हैं।

सभी बडे पदो पर नियुक्तियां जैसे विशप, राजदूत, न्यायाधीश, विभागीय प्रमुखगण, उपनिवेशो के गवर्नर, उन स्थायी आयोगो (Commissions) और बोर्डों के मुख्य अधिकारी जिनके द्वारा सार्वजनिक सेवाओ का नियन्त्रण होता है, प्रधान मन्त्री ही करता है। स्वभावत जब यह नियुक्तियां की जाती हैं तो वह विभागीय अध्यक्षो की भी राय लेता है किन्तु अन्तिम निर्णय प्रधान मन्त्री ही करता है। पुन यद्यपि विभागीय प्रमुख अपने-अपने विभागीय मन्त्रियो के लिए उत्तरदायी हैं किन्तु समस्त सिविल सर्विस के ऊपर वित्त मन्त्रालय का नियन्त्रण होता है और वित्त मन्त्रालय के ऊपर प्रधान मन्त्री का प्रथम लार्ड होने के नाते नियन्त्रण रहता है।

९ प्रधान मन्त्री यदा-कदा अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनो में और सभाओ में भाग लेने जा सकता है। लार्ड बीकन्सफील्ड (Lord Beaconsfield) ने बर्लिन की सभा में भाग लिया, लायड जार्ज (Lloyd George) ने पेरिस की शान्ति परिषद् (Peace Conference at Paris) में भाग लिया, और नेविल चेम्बरलेन (Neville Chamberlain) ने जर्मनी में कई सम्मेलनो में भाग लिया जिनके फलस्वरूप म्यूनिच समझौता

---

1 Greaves The British Constitution, p 110

(Munich agreement) हुआ। चर्चिल इस सम्बन्ध में द्वितीय महायुद्ध-काल में बहुत आगे बढ गया। इस काल में उसने ६ बार अध्यक्ष रूजवेल्ट (President Roosevelt) से भेंट की और दो बार स्टालिन (Stalin) से भेंट की। रैम्जे मैक्डानल्ड (Ramsay MacDonald) ने स्वय १९२९ में मि० डाज (Mr Dawes) से आँग्ल-अमरीकी सम्बन्धों पर बातचीत की। वह अमरीका भी गया, और वहाँ जाकर उसने अध्यक्ष हूवर (President Hoover) से शस्त्रास्त्र-सचय में कमी करने के सम्बन्ध में बातचीत की।

१० राष्ट्र-मण्डलीय देशो के साथ भी मन्त्रिमण्डल की ओर से प्रधान मन्त्री ही व्यवहार करता है। इसका श्रेष्ठ उदाहरण उस समय उपलब्ध हुआ जब एडवर्ड अष्टम् (Edward VIII) के राज्य-त्याग के समय राष्ट्र-मण्डलीय देशो से सलाह माँगी गई कि किस प्रकार राज्य-त्याग का मामला निपटाया जाय।

प्रधान मन्त्री की स्थिति (The Prime Minister's Position)—प्रधान मन्त्री की शक्तियाँ वास्तव में अति विशाल हैं। किन्तु उसके अन्य साथियो में उसकी क्या स्थिति है ? लार्ड मॉर्ले (Lord Morley) ने उसे समकक्षो में प्रथम (*Primus Inter Pares*) कहा। उसने कहा, "यद्यपि मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्यो का समान दर्जा है, समान अधिकार से प्रत्येक सदस्य बोलता है, और जब कभी सयोगवश मत-विभाजन का समय आता है तो हर एक की एक ही वोट मानी जाती है, फिर भी मन्त्रिमण्डल का प्रधान समकक्षो में प्रथम अवश्य रहता है, और जब तक वह प्रधान मन्त्री बना रहता है, उसकी स्थिति अत्यधिक अधिकारपूर्ण बनी रहती है।" आजकल ऐसी कोई उपाधि कही अधिक सङ्कोची मानी जायगी। रैम्जे म्योर (Ramsay Muir) जो आधुनिक लेखक है, प्रधान मन्त्री के सम्बन्ध में इस प्रकार के वर्णन को मूर्खतापूर्ण बताता है, यदि यह वर्णन एक ऐसे अधिकार-पूर्ण व्यक्ति के बारे में है जो अपने साथियो की नियुक्ति एव पदच्युति के लिये क्षम हैं। वह वास्तव में, चाहे वधिक रूप से न सही, राष्ट्र का कार्यकारी प्रधान है जिसके हाथो में इतनी अपार शक्ति है जितनी कि ससार के किसी भी सविधानिक शासक के हाथो मे नहीं है, यहाँ तक कि सयुक्त राज्य अमेरिका के प्रधान के हाथो मे भी नही है।[1] एक अन्य लेखक कहता है कि ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की अद्वितीय स्थिति का वर्णन सर विलियम वेरन हारकोर्ट (Sir William Veron Harcourt) ने निम्न लेटिन वाक्याश में अधिक अच्छे ढग से किया है, "नक्षत्रो के बीच चन्द्रमा" (Inter Stellas luna minores)। यद्यपि यह लेटिन वाक्याश भी प्रधान मन्त्री की अन्य मन्त्रियो के साथ सही सही स्थिति का मूल्याकन उचित ढग से नही कर पाता।[2] जैनिग्ज (Jennings) कहता है कि प्रधान मन्त्री केवल "समकक्षो में प्रथम मात्र ही नही है।" "वह नक्षत्रो के बीच चन्द्रमा मात्र भी

---

[1] How Britain is Governed, op Citd p 83

[2] Modern Foreign Governments, op Citd p 90

नही है।" "वह तो वास्तव मे सूर्य है, जिसके चारो ओर उपग्रह चक्कर लगाते रहते हैं।"[1]

प्रधान मन्त्री वास्तव में सूर्य है जिसके चारो ओर उपग्रह चक्कर काटते रहते हैं। प्रधान मन्त्री की वास्तविक शक्ति महान् है यदि वह अपनी पूरी शक्ति और अपने समस्त अधिकारो का प्रयोग करने लगे। उसकी वास्तविक शक्ति का कारण यह है कि वह सर्वसाधारण द्वारा चुना हुआ व्यक्ति है। सन् १८३२ के सुधार अधिनियम से लेकर आज तक जितने भी आम चुनाव हुए हैं वे सब दल के नेता के व्यक्तित्व के आधार पर लडे गये हैं, न कि किसी सिद्धान्त के आधार पर। वास्तव में आजकल जो आम चुनाव लडा जाता है वह दो दलो के होने वाले प्रधान मन्त्रियो के सम्बन्ध में लोकमत जानने के लिये होता है। ग्लैडस्टन (Gladstone) ने सन् १८५७ के आम चुनाव के ऊपर कटाक्ष करते हुए ठीक ही कहा था, "यह १८८४ का जैसा आम चुनाव नही है जबकि पिट (Pitt) ने देश से अपील की थी कि क्या क्राउन अल्पमत वाले शासन का दास रहेगा, न यह चुनाव १८३१ के से चुनाव की तरह है जबकि ग्रे (Grey) ने सुधारो के ऊपर जनमत माँगना चाहा था, न यह चुनाव १८५२ जैसा चुनाव है जबकि चुनाव व्यापार-सरक्षण के आधार पर लडा गया था। देश को इस १८५७ के आम चुनाव में कैण्टन नदी की सीमाओ के बारे में तय करना नही था, बल्कि केवल यही तय करना था कि क्या देश पामर्स्टन (Palmerston) को प्रधान मन्त्री चुनेगा या नही।" इसके बाद १८८० के आम चुनाव में ग्लैड्स्टन ने अपने प्रसिद्ध मिडलोथियन प्रान्त के चुनाव दौरे (Midlothian Campaign) में, बीकन्सफील्ड के शासन की घोर आलोचना की। अब निर्वाचको (Electors) को केवल यह तय करना था कि क्या वे लार्ड बीकन्सफील्ड (Lord Beaconsfield) को प्रधान मन्त्री बनाना चाहते हैं अथवा ग्लैडस्टन को, यद्यपि ग्लैडस्टन (Gladstone) अब अपने दल का नेता भी नही था। यह ग्लैडस्टन की व्यक्तिगत जीत थी और वह सर्वसाधारण की पसन्द द्वारा प्रधान मन्त्री चुना गया। सन् १९४५ का आम चुनाव, वास्तव में चर्चिल द्वारा अपने को दुबारा प्रधान मन्त्री चुने जाने के लिये, व्यक्तिगत अपील थी। अनुदार दल को आशा थी कि चर्चिल की लोकप्रियता से दल विजयी होगा। हर एक भोजन-भवन में प्रधान मन्त्री की तस्वीर लटकी हुई थी जिसके नीचे ये शब्द लिखे हुए थे "उसको युद्ध का अधूरा काम पूरा करने दो" (Help him to finish the Job)। और उसी के नीचे छोटे अक्षरो में यह असगत आदेशात्मक वाक्याश जडा हुआ था, "युद्ध-जन्य क्षति को वोट दो," (Vote for the Bloggs)।

अनुदार दल (Conservative Party) ने चुनाव घोषणा-पत्र भी प्रकाशित नहीं कराया। किन्तु चर्चिल ने अपना चुनाव घोषणा-पत्र प्रकाशित कराया और यह ठीक "मैं" शब्द से प्रारम्भ हुआ। अन्य चुनाव-प्रत्याशियो ने भी अपनी-अपनी दलगत

---

[1] Cabinet Government, op Citd, p 183

निष्ठा को भुलाकर अपने आपको "चर्चिल के प्रत्याशी" कहना प्रारम्भ कर दिया। समाचारपत्रो ने भी इस प्रकार के शीर्षक छाप-छाप कर अपना-अपना कर्त्तव्य पूरा किया, "या तो चर्चिल प्रधान मन्त्री बने या बरबादी" अथवा "चर्चिल और लास्की" जिसमें मि० हैरल्ड लास्की (Mr Harold Laski) को विशेष रूप से शैतान बताया गया।[1] दूसरे शब्दो मे निर्वाचकगरण से कहा गया कि या तो चर्चिल को चुनो या उसके मुख्य विरोधी को, और फलत निर्वाचकगरण ने चर्चिल के विरोधी को चुन लिया।

"इस प्रकार की चुनावबाजी (Electioneering) से प्रधान मन्त्री राष्ट्र का प्रतीक बन जाता है और इसीलिये जब तक वह प्रधान मन्त्री बना रहता है, उसका कोई सहयोगी उससे मुकाबला करने का साहस नही कर सकता।"[2] इससे ससद् में तथा शासन में प्रधान मन्त्री को अपने साथियो पर छा जाने का अवसर मिलता है। इसके अतिरिक्त वह अन्य मन्त्रियो को नियुक्त भी करता है और अपने पदो से वियुक्त भी करता है। वह मन्त्रियो का मनमाने ढग से हेर-फेर कर सकता है। यह उसी के निर्णय पर निर्भर है कि ससद् का विलयन (Dissolution) होगा या नही, और होगा तो कब। विभागो के आपसी मतभेदो में वह मध्यस्थता करता है, और यदि यह मतभेद मन्त्रिमण्डल तक पहुँच जायँ, तो भी उसी की बात मानी जाती है। इसलिये, यदि कोई मन्त्री प्रधान मन्त्री को अप्रसन्न कर दे अथवा उसके अधिकार को चुनौती दे बैठे, तो इससे उस मन्त्री की समस्त राजनीतिक आकाक्षायें सदैव के लिये नष्ट हो सकती हैं। हाँ, यदि प्रधान मन्त्री ने अपने कर्त्तव्य का इतने भद्दे ढग से निर्वहन किया हो कि सब की राय में वह प्रधान मन्त्री पद के लिये अयोग्य दिखाई देने लगे, तो सम्भव है कि वह मन्त्री अपने स्थान पर बना रहे।

किन्तु प्रधान मन्त्री की निष्ठा अपने दल के साथ रहती है। इसमें सन्देह नही कि काफी हद तक दल को उसकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा से सफलता मिलती है। वही दल की एकता के लिये उत्तरदायी है। किन्तु दल से वियुक्त वह कुछ भी नही है। वह निर्वाचकगरण के सम्मुख व्यक्तिगत रूप से नही जाता, बल्कि किसी दल विशेष के नेता के रूप में जाता है। वह जो कुछ भी है, और जो कुछ भी वह अपने आपको मानता है वह सब दल का बनाया हुआ है। जब तक उस दल से उसका सम्बन्ध बना रहता है, "तब तक वह किसी हद तक नीति निर्धारित करने के योग्य बना रह सकता है।" जहाँ एक बार दल से वह अलग हुआ, तो उसकी दशा रैम्जे मैकडानल्ड (Ramsay MacDonald) की-सी हो जाती है। एस्क्विथ (Asquith) और लायड जार्ज (Llyod George) के जीवन-वृत्त से भी ऐसा ही आभास मिलता है। सर राबर्ट पील (Sir Robert Peel) का सम्बन्ध अपने दल से १८४५ मे छूट गया और इससे उसका भविष्य अन्धकारमय हो गया। ग्लैड्स्टन (Gladstone), १८९२ में पुन प्रधान मन्त्री

---

[1] Jennings Cabinet Government, op Citd, pe 186

[2] Laski, H J Parliamentary Government in England, p 242

बना क्योंकि उसका सम्बन्ध दल से बराबर बना रहा। इसलिये जब प्रधान मन्त्री अपने पद पर रहता है उसका अधिकार निम्न बातो पर निर्भर है—(१) उसका व्यक्तित्व, (२) उसकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा, और (३) दल के द्वारा उसका समर्थन। सीमित एव निर्धारित शक्तियाँ, चाहे वे वैधिक रूप से प्रधान मन्त्री को प्राप्त भी हो, किसी प्रकार प्रधान मन्त्री को सहायक सिद्ध नही होती। जैनिंग्ज (Jennings) के विचार से "प्रधान मन्त्री का पद उतना ही प्रभावशाली अथवा प्रभावशून्य बन सकता है जितना स्वय प्रधान मन्त्री बनाना चाहे और जितना अन्य मन्त्री उसे बन जाने दें।" उसका अधिकार एव उसकी प्रतिष्ठा महान् है, किन्तु किसी प्रधान मन्त्री की प्रतिष्ठा उतनी ही होगी जितना समर्थन उसको दल की ओर से मिलता रहेगा।

Suggested Readings

Amos, A.	The English Constitution (1930) Pp 63-83, 130-149
Brogan, D W	The American Political System (1948), Chap II.
Champion & Others	British Government since 1918 (1951), Chap II.
,,	Parliament, A Survey (1952), Chaps II & III.
Derry, K	British Constitution of Today (1948), Chap IV,
Greaves, H R G	The British Constitution (1951), Chap V
Finer, H	The Theory and Practice of Modern Government (1954), Chap XXIII
Jennings, W I	The British Constitution (1942), Chaps VII & VIII.
,,	Cabinet Government (1951), Chaps II, III, VIII, IX, XIII
Keith, A B.	British Cabinet System (1952), revised by Gilles), Chaps II, V.
Laski, H J.	The Crisis and the Constitution (1932)
,,	Parliamentary Government in England (1938), Chaps V
Lowell, A.L	The Government of England (1919) Vol I. Chaps II & III
Muir, R	How Britain is Governed (1938), Chap III
Ogg, F	English Government and Politics (1936), Chaps. VI and VII.
Ogg, F and Zink, H	Modern Foreign Governments (1953), Chaps. IV & V
Stannard, H.	The Two Constitutions (1949), Chapter II

युक्त सेवा, (२) खुली हुई प्रतियोगी परीक्षाओ द्वारा प्रवेश, (३) सेवा पदो का इस प्रकार वर्गीकरण कि बौद्धिक विकास-शील व्यक्ति शासन में नीति निर्धारण के लिए तथा लिपिक वर्ग रोजमर्रा का काम चलाने के लिए नियुक्त हो तथा इन दोनो वर्गों की प्रवेश-परीक्षाएँ भी अलग-अलग हो।[1] १९२० में पुनर्गठन समिति (Re-organization Committee)—राष्ट्रीय परिषद् की एक समिति (A Committee of the National Council)—की सिफारिशो के फलस्वरूप सिविल सर्विस का पुनर्गठन किया गया और प्रशासनिक एव लिपिक वर्ग (Clerical class) के बीच में एक अधिशासी वर्ग (Executive grade) की ओर स्थापना कर दी गई। रिपोर्ट में आगे कहा गया कि जनपद सेवाओ (Civil Service) के दो मुख्य भाग होगे। "एक श्रेणी में वह सब काम आएगा जो सीधा-सादा रोज़मर्रा का है जिसमें सुनिर्देशित एव सुव्यवस्थित कार्य आता है एव साधारण मामलो पर निर्णय देने होते हैं। दूसरी श्रेणी में नीति निर्धारण का कार्य आता है जिसमे आधुनिक प्रचलित नियमो अथवा निर्णयो में परिवर्तन करना पडता है तथा जिसमें शासन सघटन एव शासन चलाने का कार्य करना पडता है।" ये दोनो मुख्य श्रेणियाँ आजकल की प्रचलित चार श्रेणियो में से दो हैं।

१ **प्रशासनिक वर्ग** (Administrative Class)—प्रशासनिक वर्ग सारी सिविल सर्विस का मुख्य एव धुरी के समान वर्ग है। स्थायी सेक्रेटरी से लेकर असिस्टेंट प्रिंसिपल तक, ऊपर से नीचे सारे वर्ग का नामकरण इस प्रकार है—स्थायी सेक्रेटरी, डिप्टी सेक्रेटरी, अण्डर सेक्रेटरी, असिस्टेण्ट सेक्रेटरी, प्रिंसिपल एव असिस्टेंट प्रिंसिपल। यह अन्तिम वर्ग प्रिंसिपल द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है और "इसका कर्त्तव्य है कि वह अपने राजनीतिक प्रभु के आदेशो, घोषणाओ एव आज्ञाओ को सिविल सर्विस के अन्य अफसरो के माध्यम से आम जनता तक पहुँचावे।" अत इस वर्ग पर नीति निर्धारण का, तथा विभाग को चलाने का उत्तरदायित्व आ जाता है। ये लोग परामर्श देने वाले "एक प्रकार के बौद्धिक सघ" हैं जो हर प्रकार की प्रशासनिक कठिनाइयो के लिए जो प्रतिदिन के विभागीय काम-काज मे आती हैं हल ढूंढ निकालते हैं, तथा इस प्रकार के अपने परामर्श प्रस्तुत करते हैं जो उच्च क्षेत्रो में नीति के निर्धारण में सहायक होते हैं तथा जटिल नियमो की इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि कठिन मामले भी सुलझ जायें। सर वारेन फिशर (Sir Warren Fisher) ने ठीक ही उन नियमो पर प्रकाश डाला है जिन पर सिविल सेवक चलते हे "नीति निर्धारण करना मन्त्रियो का काम है। जहाँ एक बार नीति निर्धारित हुई कि सिविल सेवक परम पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है कि उस नीति को क्रियान्वित करने का पूर्णरूपेण प्रयत्न करे चाहे वह स्वय उस नीति से सहमत हो या न हो। यह अनुल्लघनीय नियम है जिस पर कभी दो मत नही हो सकते। साथ ही यह भी सिविल सेवको की परपरा रही है कि जिस समय नीति

---

[1] Finer the Theory and Practice of Modern Government, P 767

निर्धारण सम्बन्धी निर्णय हो रहे हो तो वह अपने मन्त्री को सारी जानकारी दे, अपना सारा अनुभव उस को बता दें। साथ ही ऐसा करने में उसको डरने वा हिच-किचाने की आवश्यकता नही है। उसको इसलिये भी डरने की आवश्यकता नही है कि उसकी सलाह मन्त्री की पहली राय से मेल नही खाती। सारे सगत तथ्य मन्त्री को देने में, जिनमें कभी-कभी सारे विभाग में ही उथल-पुथल हो सकती है, जनपद सेवक (civil servant) को बडी होशियारी बर्तनी चाहिये। साथ ही मन्त्री को तत्सम्बन्धी पुराने तथ्यो से अवगत कराने में भी उसको बडी ही बुद्धिमानी तथा वैयक्तिक निष्पक्षता से काम करने की आवश्यकता है।[1]

प्रशासनिक वर्ग ने टॉमलिन कमीशन (Tomlin Commission)[2] के समक्ष स्वयं अपने कर्त्तव्यो को एक लिखित बयान में इस प्रकार व्यक्त किया था। इन कर्त्तव्यो को जेनिग्ज (Jennings) ने सही-सही लिखा है। वह लिखता है कि जनपद सेवक (civil servant) का काम है कि वह सलाह दे, चेतावनी दे, स्मृति-पत्र लिखे तथा वक्तृतायें तैयार करे जिनमें सरकार की नीति निर्देशित हो। फिर उस नीति के फलस्वरूप निर्णय करे। साथ ही उन कठिनाइयो की ओर भी ध्यान आकर्षित करे जो निर्धारित नीति पर चलने में आ सकती है। आम तौर पर सिविल-सेवक का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह शासन का कार्य उसी प्रकार चलावे जिस प्रकार से मन्त्री द्वारा नीति निर्धारित की गई है।[3]

इन कठिन उत्तरदायित्वो को क्षमतापूर्वक निभाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रशासनिक वर्ग की बुद्धि परिपक्व हो, तथा वे शिक्षित एव प्रशिक्षित हो ताकि कठिन से कठिन समस्याओ को भी सुलझाने मे समर्थ हो। प्रशासक में जिन गुणो की विशेष आवश्यकता है वे हैं विवेकपूर्ण निर्णय, व्यवहार-कुशलता एव अन्तर्दृष्टि तथा पक्षपातहीनता। डा० फाइनर (Dr Finer) कहता है कि जो लोग सिविल सर्विस में प्रवेश करते हैं वे केवल सलाहकार ही नही हैं। वे नये शासक है जो बीस वर्ष बाद विभाग के स्थायी अध्यक्ष बन सकते हैं अथवा उनका विभाग से निकटतम सम्पर्क हो सकता है।[4]

सिविल सेवक (civil servants) प्राय विश्वविद्यालयो के स्नातक होते हैं जो अपने-अपने विश्वविद्यालयो मे अग्र श्रेणी के छात्र समझे जाते हैं। सिविल सर्विस में प्रवेश करने पर उन्हे प्रशासन सम्बन्धी प्रत्येक कार्य की प्रशिक्षा दी जाती है जो

---

[1] As quoted in Jennings Cabinet Government, op Citd, pp 114-115.

[2] Finer The Theory and Practice of Modern Government, op Citd, pp 769-770

[3] Jennings Cabinet Government, op Citd, p 116

[4] Finer The Theory and Practice of Modern Government, p 770.

युक्त सेवा, (२) खुली हुई प्रतियोगी परीक्षाओ द्वारा प्रवेश, (३) सेवा पदो का इस प्रकार वर्गीकरण कि बौद्धिक विकास-शील व्यक्ति शासन में नीति निर्धारण के लिए तथा लिपिक वर्ग रोजमर्रा का काम चलाने के लिए नियुक्त हो तथा इन दोनो वर्गों की प्रवेश-परीक्षाएँ भी अलग-अलग हो।[1] १९२० में पुनर्गठन समिति (Re-organization Committee)—राष्ट्रीय परिषद् की एक समिति (A Committee of the National Council)—की सिफारिशो के फलस्वरूप सिविल सर्विस का पुनर्गठन किया गया और प्रशासनिक एव लिपिक वर्ग (Clerical class) के वीच में एक अधिशासी वर्ग (Executive grade) की और स्थापना कर दी गई। रिपोर्ट मे आगे कहा गया कि जनपद सेवाओ (Civil Service) के दो मुख्य भाग होंगे। "एक श्रेणी में वह सब काम आएगा जो सीधा-सादा रोजमर्रा का है जिसमें सुनिर्देशित एव सुव्यवस्थित कार्य आता है एव साधारण मामलो पर निर्णय देने होते हैं। दूसरी श्रेणी मे नीति निर्धारण का कार्य आता है जिसमे आधुनिक प्रचलित नियमो अथवा निर्णयो में परिवर्तन करना पडता है तथा जिसमें शासन सघटन एव शासन चलाने का कार्य करना पडता है।" ये दोनो मुख्य श्रेणियाँ आजकल की प्रचलित चार श्रेणियो में से दो हैं।

१. **प्रशासनिक वर्ग** (Administrative Class)—प्रशासनिक वर्ग सारी सिविल सर्विस का मुख्य एव धुरी के समान वर्ग है। स्थायी सेक्रेटरी से लेकर असिस्टेंट प्रिंसिपल तक, ऊपर से नीचे सारे वर्ग का नामकरण इस प्रकार है—स्थायी सेक्रेटरी, डेप्टी सेक्रेटरी, अण्डर सेक्रेटरी, असिस्टेण्ट सेक्रेटरी, प्रिंसिपल एव असिस्टेंट प्रिंसिपल। यह अन्तिम वर्ग प्रिंसिपल द्वारा प्रशिक्षित किया जाता है और "इसका कर्त्तव्य है कि वह अपने राजनीतिक प्रभु के आदेशो, घोषणाओ एवं आज्ञाओ को सिविल सर्विस के अन्य अफसरो के माध्यम से आम जनता तक पहुँचावे।" अत इस वर्ग पर नीति निर्धारण का, तथा विभाग को चलाने का उत्तरदायित्व आ जाता है। ये लोग परामर्श देने वाले "एक प्रकार के बौद्धिक सघ" हैं जो हर प्रकार की प्रशासनिक कठिनाइयो के लिए जो प्रतिदिन के विभागीय काम-काज मे आती हैं हल ढूंढ निकालते हैं, तथा इस प्रकार के अपने परामर्श प्रस्तुत करते हैं जो उच्च क्षेत्रो में नीति के निर्धारण में सहायक होते हैं तथा जटिल नियमो की इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि कठिन मामले भी सुलझ जायें। सर वारेन फिशर (Sir Warren Fisher) ने ठीक ही उन नियमो पर प्रकाश डाला है जिन पर सिविल सेवक चलते हे "नीति निर्धारण करना मन्त्रियो का काम है। जहाँ एक बार नीति निर्धारित हुई कि सिविल सेवक परम पुनीत कर्त्तव्य हो जाता है कि उस नीति को क्रियान्वित करने का पूर्णरूपेण प्रयत्न करे चाहे वह स्वय उस नीति से सहमत हो या न हो। यह अनुल्लघनीय नियम है जिस पर कभी दो मत नही हो सकते। साथ ही यह भी सिविल सेवको की परपरा रही है कि जिस समय नीति

---

[1] Finer the Theory and Practice of Modern Government, P 767

निर्धारण सम्बन्धी निर्णय हो रहे हो तो वह अपने मन्त्री को सारी जानकारी दे, अपना सारा अनुभव उस को वता दें। साथ ही ऐसा करने में उसको डरने वा हिच-किचाने की आवश्यकता नही है। उसको इसलिये भी डरने की आवश्यकता नही है कि उसकी सलाह मन्त्री की पहली राय से मेल नही खाती। सारे सगत तथ्य मन्त्री को देने में, जिनमें कभी-कभी सारे विभाग में ही उथल-पुथल हो सकती है, जनपद सेवक (civil servant) को वडी होशियारी वर्तनी चाहिये। साथ ही मन्त्री को तत्सम्वन्धी पुराने तथ्यो से अवगत कराने में भी उसको वडी ही बुद्धिमानी तथा वैयक्तिक निष्पक्षता से काम करने की आवश्यकता है।[1]

प्रशासनिक वर्ग ने टॉमलिन कमीशन (Tomlin Commission)[2] के समक्ष स्वय अपने कर्त्तव्यो को एक लिखित वयान में इस प्रकार व्यक्त किया था। इन कर्त्तव्यो को जेनिंग्ज़ (Jennings) ने सही-सही लिखा है। वह लिखता है कि जनपद सेवक (civil servant) का काम है कि वह सलाह दे, चेतावनी दे, स्मृति-पत्र लिखे तथा वक्तृतायें तैयार करे जिनमें सरकार की नीति निर्देशित हो। फिर उस नीति के फलस्वरूप निर्णय करे। साथ ही उन कठिनाइयो की ओर भी ध्यान आकर्षित करे जो निर्धारित नीति पर चलने में आ सकती है। आम तौर पर सिविल-सेवक का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह शासन का कार्य उसी प्रकार चलावे जिस प्रकार से मन्त्री द्वारा नीति निर्धारित की गई है।[3]

इन कठिन उत्तरदायित्वो को क्षमतापूर्वक निभाने के लिए यह आवश्यक है कि प्रशासनिक वर्ग की वुद्धि परिपक्व हो, तथा वे शिक्षित एव प्रशिक्षित हो ताकि कठिन से कठिन समस्याओं को भी सुलझाने में समर्थ हो। प्रशासक में जिन गुणो की विशेष आवश्यकता है वे हैं विवेकपूर्ण निर्णय, व्यवहार-कुशलता एव अन्तर्दृष्टि तथा पक्षपातहीनता। डा० फाइनर (Dr Finer) कहता है कि जो लोग सिविल सर्विस में प्रवेश करते हैं वे केवल सलाहकार ही नहीं हैं। वे नये शासक है जो वीस वर्ष वाद विभाग के स्थायी अध्यक्ष वन सकते हैं अथवा उनका विभाग से निकटतम सम्पर्क हो सकता है।[4]

सिविल सेवक (civil servants) प्राय विश्वविद्यालयो के स्नातक होते हैं जो अपने-अपने विश्वविद्यालयो मे अग्र श्रेणी के छात्र समझे जाते हैं। सिविल सर्विस में प्रवेश करने पर उन्हें प्रशासन सम्वन्धी प्रत्येक कार्य की प्रशिक्षा दी जाती है जो

---

[1] As quoted in Jennings Cabinet Government, op Citd, pp 114-115.

[2] Finer · The Theory and Practice of Modern Government, op Citd, pp 769-770

[3] Jennings Cabinet Government, op Citd., p. 116.

[4] Finer The Theory and Practice of Modern Government, p 770.

काफी समय तक चलती रहती है। मैकौले (Macauαly) एव जोवेट (Jowett) के मतानुसार बौद्धिक कर्त्तव्यो के निर्वहन के लिये किसी विशिष्ट प्रशिक्षा के मुकावले में इस प्रकार की व्यावहारिक प्रशिक्षा कही उत्तम है। उनका यह भी मत है कि इस प्रकार की व्यावहारिक प्रशिक्षा से उनके चरित्रगत गुणो पर भी प्रकाश पडेगा। यही कारण है कि इगलैंड के सिविल सर्विस अधिकारियो का दृष्टिकोण उदार होता है।

२ **अधिशास्त्री वर्ग** (Executive class)—अगला अधिशास्त्री वर्ग है। प्राय इस वर्ग के सेवक १८ से १९ वर्ष के युवको अथवा युवतियो में से छाँटे जाते हैं, जिन्होने उच्चतर माध्यमिक (Secondary) शिक्षा समाप्त कर ली हो तथा साथ ही प्रतिस्पर्द्धी परीक्षा में भी उत्तीर्ण हो चुके हो। यदि लिपिक वर्ग के सेवको में भी चातुर्य, आरम्भक-गुण (initiative) एव निर्णय-कुशलता आदि गुण हो तो वे भी पदोन्नत होकर इस वर्ग मे पहुँच सकते हैं। अधिशासी वर्ग के कर्त्तव्य पुनर्गठन समिति की रिपोर्ट के शब्दो मे ही सुनिये। 'इस वर्ग को हम हिसाव-किताब की जाँच-पडताल तथा रसद आदि का ऊँचा काम सौपना चाहेगे। साथ ही इस विभाग को सिविल अधिकारियो के विशिष्ट प्रशासनिक कार्य सौपेंगे। यह कार्य कई प्रकार के हैं तथा कम या अधिक मात्रा मे इन सभी कार्यों में निर्णय-कुशलता, आरम्भक गुण एव चातुर्य आदि गुणो की आवश्यकता है। इस वर्ग के छोटी श्रेणी के कर्मचारियो को उन कुछ विशिष्ट एव कम महत्त्व के मामलो का आलोचनात्मक परीक्षण करना होता है जो स्पष्टत मान्य विनियमो (Approved regulations) एव सामान्य निर्णयो के अन्तर्गत नही आते। वे अधिक महत्त्व के मामलो में प्रारम्भिक शोध करते हे तथा छोटे-मोटे कार्य-व्यापारो में निर्देश भी देते हे।" इस वर्ग के ऊँचे कर्मचारी आन्तरिक सगठन एव नियन्त्रण तथा विभाग के सामान्य कार्य-व्यापार देखते हैं। इस वर्ग के कर्मचारी, सक्षेप मे, प्रारम्भिक जाँच-पडताल करते हे इससे पूर्व कि विभाग तथ्य एकत्र करे, उन तथ्यो को वर्गीकृत करे और उन पर विचार व्यक्त करे। कम महत्त्व की वातो पर यह वर्ग अपना मत भी व्यक्त कर सकता है। इस प्रकार इनका कार्य-क्षेत्र कुछ-कुछ सेना के अनायुक्त अधिकारियो (Non commissioned officers) की भाँति होता है।

३ **लिपिक वर्ग** (The clerical class)—यह एक बहुत वडा वर्ग है जिसमें पुरुप और स्त्रियां सभी हे। १६ और १७ वर्ष के युवक एव युवतियाँ इस वर्ग मे प्रवेश कर सकते हे और एतदर्थ प्रतियोगी परीक्षा के लिये उच्चतर माध्यमिक स्कूल की इन्टरमीडिएट परीक्षा पास होनी चाहिए। इस वर्ग में वहुत से पदोन्नत होकर भी पहुँच जाते हे। प्रारम्भ में जो नित्य-प्रति के काम उन्हे दिये जाते हे, उसके अतिरिक्त उनको छोटे लिपिको (Junior clerks) का कार्य भी देखना पडता है, हिसाव-किताव, दावे (Claims) परिलेख आदि जाँचने पडते हैं तथा तरह-तरह के तथ्य एव आंकडे एकत्र करने पडते हैं। इन्हें आरम्भक गुण (initiative) और स्व-विवेक (discreation) गुण की विशेष आवश्यकता नही होती है। उनका काम

यन्त्र तुल्य एव वारवार दुहराने वाला है अथवा समय-समय पर जो भी काम उन्हे करने को दिया जाय, वे करते हैं।

४ लेखक-सहायक वर्ग (The Writing Assistant Class)—सबसे नीचे निम्न लेखक सहायक वर्ग है। इस वर्ग में प्राय स्त्रियां कार्य करती हैं और वे अधिकतर इस प्रकार के विभागो में पाई जाती हैं, जैसे डाकखाना, स्वास्थ्य-विभाग, श्रम विभाग अन्तर्देशीय राजग्व विभाग आदि जिन में अधिकतर साधारण कार्य करने पडते हैं। इन साधारण कामो में ऐसे काम आते हैं जैसे कागज में छेद करना, सूचीपत्र वनाना, स्वीकृति-पत्र भरना, फार्म भरना, पत्रो पर पते लिखना, कार्ड इन्डेक्स (Card Index) तैयार रखना आदि आदि। इस वर्ग के कर्मचारी १६ तथा १७ वर्ष की आयु वालो मे से लिये जाते हैं जिसके लिये माल में दो परीक्षाएँ होती है। परीक्षाएँ सामान्य-सी होती है। और वे देश की शिक्षा-प्रणाली के किसी विशिष्ट दर्जे से मेल खाती है। किन्तु जो लोग इस वर्ग में प्रवेश करते है उनका शैक्षिक स्तर इस वर्ग के लिए मान्य शक्षिक स्तर से ऊँचा होता है।

व्यवसायी, प्रावैधिक एव वैज्ञानिक कार्यकर्त्ता (Professional, Technical and Scientific Personnel)—प्रशासनिक वर्ग के अतिरिक्त, शासन को वहुत से व्यवसायी, शिल्प-वैज्ञानिक, एव वैज्ञानिक कार्यकर्त्ताओ की आवश्यकता होती है। इनमें वैरिस्टर, सोलिसिटर, डाक्टर, शिल्पी, इजीनियर, वैज्ञानिक तथा प्रावैधिक एव अनुसन्धानकर्त्ता होते हैं। कहने की आवश्यकता नही कि देश के प्रशासन में उनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि राज्य कुछ भी करना चाहे जैसे विधि का प्रारूप तैयार करना अथवा नीति का निर्धारण, किसी न किसी स्थान पर वैज्ञानिक अथवा किसी विपय के प्रवीण व्यक्ति की सलाह की आवश्यकता अवश्य पडेगी।

इस प्रकार के स्थानो के लिये प्रतियोगी परीक्षाओ की आवश्यकता नही है। इन विशेपज्ञो के पास मान्य योग्यता एव विशिष्ट प्रशिक्षण तथा अनुभव होता है जो किसी विशिष्ट स्थान के लिये आवश्यक हो। रिक्त स्थानो का विज्ञापन पत्रो में दिया जाता है और प्रतियोगी मौखिक इन्टरव्यू द्वारा चुनाव कर लिया जाता है।

सिविल सर्विस का मूल्याकन

(Civil Service evaluated)

सिविल सर्विस का कार्य (Role of Civil Service)—इगलैण्ड में सिविल सर्विस का उदय हाल की चीज़ है। इस समय ब्रिटिश सिविल सर्विस को सविधानिक महत्त्व भी प्राप्त हो गया है। इस सम्वन्ध में तीन वातें ध्यान देने योग्य हैं। प्रथम तो यह है कि राज्य अव निपेधात्मक न होकर निश्चित रूप से लोक-कल्याणकारी है। ज्यो-ज्यो राज्य के कर्त्तव्य वढे, योग्य एव सुदक्ष सेवको की भी आवश्यकता

का अनुभव हुआ। वास्तव में मन्त्री लोग विवश हुए कि नीति-निर्धारण सम्वन्धी बडे-बडे निर्णयो को छोडकर सव काम अपने विभाग के अफसरो पर छोड दिया जाय। और जव कोई ऐसी समस्या भी आजाय जिसमें मन्त्री के निर्णय की आवश्यकता है तो भी इस सम्वन्ध में मन्त्री को पूरा विवरण, तत्सम्वन्धी पूरी रिपोर्ट प्रस्तुत करनी होगी ताकि उसके समक्ष विचारार्थ सारे तथ्य एव विचार प्रस्तुत हो। जनपद सेवकगण (Civil Servants) इस वात मे दक्ष होते हैं कि विचारार्थ किसी मामले में क्या तथ्य एकत्र किये जायें तथा उन्हे किस प्रकार प्रस्तुत किया जाये।

भरती की पद्धति (System of Recruitment)—दूसरी वात यह है कि सिविल सर्विस के लिये भरती एक स्वतन्त्र सस्था द्वारा हो जिसे सिविल सर्विस कमीशन (Civil Service Commission) कहते हैं। खुली प्रतियोगी परीक्षा उन विशिप्ट एव व्यावसायिक विपयो में नही होती जो व्यावसायिक-प्रशासन-कार्यों के लिये आवश्यक समझे जाते हैं। इस प्रकार की परीक्षाओ में निश्चित रूप से कुछ दोप हैं। किन्तु ब्रिटेन में प्रतियोगी परीक्षाओ का जो नियम है उससे प्रत्याशियो की सामान्य योग्यता देखी जाती है। मौखिक इन्टरव्यू मे देखा जाता है कि प्रत्याशी कितना चतुर है, कितना सावधान है, उसका चरित्र-गठन किस दर्जे का है, तथा आरम्भक गुण एव नेतृत्व-गुण उसमें कहाँ तक वर्तमान हैं जिनके वल पर होने वाला प्रशासक न केवल सोच सके, बहस कर सके एव लिख सके वल्कि सलाह दे सके, निर्णय कर सके तथा नेतृत्व भी कर सके।

किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि इगलैण्ड में नियुक्तियो में अथवा पदोन्नति वैयक्तिक अथवा राजनीतिक प्रभाव नही पडते। किन्तु अशोभन पक्षपात वल्कुल नही है। यही मुख्य कारण है कि इगलैण्ड में जनपद सेवको (Civil ervants) में श्रेष्ठ कार्य-क्षमता पाई जाती है। इगलैण्ड में जनपद सेवक को उस द तक निराश नही किया जाता अथवा चिढाया नही जाता जितना कि कनाडा (Canada) अथवा विशेप रूप से भारत मे जहाँ कम योग्यता रखने वाले, मन्त्री पिट्ठू व्यक्ति जनपद सेवक (Civil Servant) के सर पर सवार कर दिये ाते हैं। ब्रिटिश सिविल सर्विस कमीशन की यह परम्परा रही है कि व्यक्ति ईमानदारी साथ अपने विचार व्यक्त कर सकें तथा निडर होकर आलोचना कर सके। किन्तु व तक राजनीतिक लोग नियुक्तियो, पदोन्नति अथवा उपाधि-वितरण पर अपना द्दा एव अनिच्छित प्रभाव डालना न छोडेंगे। डा० जेनिग्ज़ (Dr Jennings) के त से इस वात का पूरा भय है कि सर्वत्र "मिथ्या प्रशसा, चापलूसी एव स्वार्थ-रता का ही वोलवाला हो जायगा।"

सिविल सर्विस की आचरण-नियमावली (Civil Service Code of Conduct)—तीसरा मुख्य कारण यह है कि ब्रिटिश-जनपद सेवको का विशिष्ट आचार-सिद्धान्त है जिसका पालन करना प्रत्येक ब्रिटिश सिविल सेवक का पुनीत कर्त्तव्य है। यह आचारशास्त्र कुछ तो पार्लियामेंट की विधियो में दिया हुआ है, कुछ आज्ञाओ एव

अधिनियमो में दिया हुआ है, कुछ शासन अथवा विभागो द्वारा निकाली हुई आज्ञाओ में दिया हुआ है। वार्कर (Barker) कहता है कि "यह अशिथिल एव दृढ आचार-सहिता है जिसके प्रभाव से आर्थिक भ्रष्टाचार अथवा राजनीतिक कुप्रभाव पर अकुश रहेगा। जो इस सहिता में निहित हैं, जो ऊँचे आदर्श यह दिखाती है वे इतने ही प्रभावी हैं जितने किसी डाक्टर अथवा वकील के किसी देश में व्यावसायिक आदर्श होते है तथा उन्ही की तरह से ब्रिटेन के प्रशासनिक आचार-सिद्धान्त भी सारे ससार के लिये मान्य आदर्श वन गए हैं।

ब्रिटिश सिविल अधिकारी आर्थिक अथवा राजनीतिक प्रश्नो पर पूर्णतया तटस्थ एव पक्षपातहीन रहता है। "उसके लिये वर्जित है कि वह राजनीतिक भाषण दे, दलगत लेख लिखे अथवा छपवाए, किसी दल विशेष का पत्र-सम्पादन करे, अथवा किसी दल के प्रत्याशी का चुनाव में समर्थन करे अथवा किसी पार्टी की कमेटी की किसी प्रकार सेवा करे।" वह सम्भवत ही, किन्तु विशेषकर अपनी प्रशिक्षा के कारण राजनीतिक दलवन्दी से अलग रहता है। उसका न कोई वैयक्तिक स्वार्थ है, न भविष्य के लिये कोई आशा। उसका स्थान सुरक्षित होने के कारण, वह इस विचार से कार्य करता रहता है कि उसे सर्वदा लगातार एक सरकार में ही कार्य करना होगा। वास्तव में आने अथवा जाने वाली मन्त्रि-परिषदो के लिये वह कडी का काम करता है तथा वह उन सव सिद्धान्तो, नियमो एव पद्धतियो का भण्डार है जो सदैव चलती हैं चाहे सरकारें वदलें या रहे। शासन का स्वरूप चाहे कैसा हो, वह सदैव समान-निष्ठा से अपना कार्य करता है। जव १९३२ मे इगलैण्ड ने सरक्षणवादी (Protectionist) नीति अपनाई, वित्त-विभाग एव वाणिज्य-विभाग के अधिकारियो ने अच्छी से अच्छी सरक्षणात्मक व्यवस्था को प्रस्तुत करने का प्रयास किया। जव सन् १९२४ में मैक्डोनल्ड (MacDonald), लार्ड कर्जन (Lord Curzon) के स्थान पर विदेश मन्त्रालय में आये तो वही अधिकारी मैकडोनल्ड का भी निजी सचिव रहा जिसने लार्ड कर्जन की सेवा की थी। श्रमिक दल को १९२४-१९२९ अथवा १९४५ में यह मौका ही नही था कि वह सिविल सर्विस के अधिकारियो को इधर से उधर स्थानान्तरित करते। जैनिग्ज (Jennings) ने लिखा है कि "विदेश-नीति में कोई कठिनाई न पडे, इस डर से आर्थर हैंडरसन (Arthur Henderson) ने, जो १९२९ में विदेश मन्त्री वने, विदेश मन्त्रालय में सरकारी श्रमिक दल का कार्यक्रम 'श्रम एवं राष्ट्र' (Labour and the Nation) सवके पास देखने को भेजा। किन्तु १९४५ तक श्रमिक दल के राजनीतिज्ञो के विचार सव अधिकारियो की इस हद तक समझ में आ चुके थे कि इस प्रकार की सावधानी अनावश्यक मालूम पडने लगी।"

ऐसा भी कभी देखने मे नही आया कि सिविल सेवको ने विरोधी दल के साथ मिल कर शासक दल के प्रति षड्यन्त्र किया हो। सभी सिविल सेवक शासक दल के प्रति सामयिक निष्ठा अनुभव करते हैं तथा उसके कार्यक्रम को पूर्ण करने का प्रयत्न करते हैं, भले ही वह कार्यक्रम उनकी रुचि एव मन के अनुकूल न भी हो। सभी

अपना काम ईमानदारी के साथ करते हैं। चोटी के अफसर स्पष्ट एव खुलकर सलाह देते हैं जब तक कि मन्त्री कोई अन्तिम निर्णय नही करते। किन्तु जहाँ नीति के सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय हुआ, कि सिविल सेवक का पवित्र कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उस नीति को ईमानदारी एव वफादारी से निभावें, वे विश्वस्त एव गोपनीय लिखा-पढी को भी अपने आगे होने वाले मन्त्री से छिपाते हैं। यदि कोई मन्त्री ऐसी स्कीम बनाता है जो क्रियान्वित नही हुई, तो स्थायी सेक्रेट्री उस स्कीम को आगे होने वाले मन्त्री को दिखाने से इन्कार कर सकता है, और सम्बन्धित मन्त्री इस प्रकार के व्यवहार को उचित ठहरायगा। सिविल सेवक किसी ऐसी खबर के आधार पर जो उसे अपने कार्य के बीच में मिलती रहती हैं, अपना कोई निजी लाभ नही उठा सकता। ऐसी मिसालें कम मिलती हैं जब कि कोई स्थायी सेक्रेटरी—जैसे कि १६३६ में हवाई मन्त्रालय का सेक्रेटरी (Secretary of the Air) इस आधार पर बर्खास्त किया गया कि उसने सरकारी तथ्यो की जानकारी के आधार पर निजी लाभ करना चाहा—इस कारण अपने पद से हटाया गया हो कि उसने जनपद-सेवा आचार-सहिता (Civil Service code) के विरुद्ध काम किया हो।

क्या मन्त्री अपने विषय के प्रवीण हो? (Should the Ministers be Experts?)—प्राय शिकायत की जाती है कि मन्त्री को विभागीय विषय की जानकारी नही होती, वे शासन-कार्य में भी प्रवीण नही होते, तथा शासन का सारा कार्य सिविल सेवक ही चलाते हैं। यह ठीक है कि मन्त्री उस विषय का ज्ञाता नही होता और उसको अपने विभाग के बारे में विशेष जानकारी नही होती। फिर मन्त्रियो की नियुक्ति तथा विभागो का वितरण, राजनीतिक प्रभावो पर निर्भर रहता है न कि मन्त्री की किसी विशेष विभाग के प्रति रुचि अथवा विशेष जानकारी पर। अगर कही मन्त्री को अपनी रुचि का विभाग मिल भी गया तो भी वह उस विभाग का, उस विषय का प्रवीण प्रवक्ता नही हो सकता। विभागीय शासन में अत्यन्त विस्तारपूर्ण कई प्रकार के विस्तृत प्रशासनिक कार्य आते हैं। मन्त्री के लिए यह सम्भव नही हो सकता कि वह सब बारीकियो को समझे तथा सारी फाइलो को देखकर किसी मामले का निर्णय करे, विशेषकर जबकि उनका ध्यान विस्तृत राजनीति में लगा होता है जैसे मन्त्रिमण्डल की कार्यवाहियाँ, पार्लियामेट अथवा प्लेटफार्म। अत मन्त्री लोग प्राय किसी मामले पर भी अपना निर्णय देने में असमर्थ रहते हैं। वे प्राय उसी पर हस्ताक्षर कर देते हैं जो कुछ उनके सेक्रेटरी आदि उनकी ओर से आज्ञा लिखकर लाते हैं। अत यह कहा जाता है कि केवल उन्ही लोगो को मन्त्री नियुक्त किया जाय और विभाग उन्ही को सौपे जायँ जिनको उस विभाग की व्यावसायिक जानकारी हो तथा उस कार्य का अनुभव हो। यह भी कहा जाता है कि यदि फ्रास आदि यूरोपीय देशो में प्राय सैनिक अफसरो को युद्ध-मन्त्री एव नौसैनिक अफसरो को नौसेना मन्त्री बनाया जा सकता है तो उसी प्रकार इगलैण्ड में क्यो नही हो सकता? दूसरी मिसाल अमेरिका की दी जाती है जहाँ रिवाज होता जा रहा है कि कुछ मुख्य शासकीय

विभागो में—जैसे कृषि विभाग, श्रम विभाग आदि—सम्वन्धित विभागो के प्रवीण एव ज्ञाता मन्त्री बनाये जायँ।

किन्तु जिन देशो में ससदात्मक शासन-प्रणाली (Parliamentary Government) है, वहाँ की यह समस्या ही नही है। मन्त्रिमण्डलीय शासन का सार यह है कि मन्त्रिमण्डल उत्तरदायी होता है। यह उत्तरदायित्व सारे देश ने आम चुनाव के समय सौपा था, और शासन को यह उत्तरदायित्व वहन करना होगा जब तक वह दल सत्तारूढ रहेगा। एक विशेष नीति के लिये सरकार जिम्मेदार है और उसका प्रथम कर्त्तव्य है कि वह उनकी इच्छा पूर्ण करे जिन्होने सत्ता सौंपी है। इस सम्वन्ध में जार्ज कार्नवाल (George Cornewall) ने ठीक ही कहा है और वैजहोट (Bagehot) ने एव अन्य लेखको ने भी बार-बार इसको दुहराया है, "विभाग को चलाना, मन्त्री का काम नही है। उसका काम यह देखना है कि विभागीय काम ठीक से हो रहा है या नही।" स्वर्गीय रैमजे मैकडोनल्ड (Ramsay MacDonald) ने इसी बात को और भी स्पष्ट कहा, "मन्त्रिमण्डल एक पुल का काम करता है जो आम जनता को प्रवीण वर्ग से मिलाता है, अथवा यो कहिये की सिद्धान्त को व्यवहार से मिलाता है। वह विभागो को सचालित नही करता, वह उन्हे एक विशिष्ट दिशा देता है।" अत मन्त्री का काम है कि वह नीति निर्धारित करे और देखे कि तदर्थ नियुक्त अधिकारी वर्ग उस नीति को ठीक-ठीक क्रियान्वित करते हैं कि नही। सिविल सर्विस का अधिकार अथवा प्रवीण वर्ग के अधिकार का स्रोत प्रभाव है, शक्ति नही। लास्की के शब्दो मे, "सिविल सर्विस, परिणाम सूचित करती है, आदेश नही। जो निर्णय होता है, वह मन्त्री का होता है। उसका कार्य ऐसी सामग्री को प्रस्तुत कर देना है, जिसके आधार पर सर्वश्रेष्ठ निर्णय किया जा सकता है।"

यदि मन्त्री विशेषज्ञ न हो तो भी कई लाभ हैं। अविशेषज्ञ सारे विभाग पर दृष्टि रखेगा। उसका दृष्टिकोण व्यापक होगा, वह स्वय समझौता-वादी होगा, इस प्रकार प्रगतिशील विचारो वाला होगा। किन्तु विशेषज्ञ का दृष्टिकोण सकुचित होता है और वह छोटी-मोटी पारिभाषिक बातो को बहुत अधिक महत्त्व दे बैठेगा। जब कोई विशेषज्ञ, किसी विशेषज्ञ के काम की देख-भाल करता है तो सम्भावना रहती है कि आपस में असहमति एव असन्तोष उत्पन्न हो क्योकि विशेषज्ञो का स्वभाव ही होता है कि वे एक-मत नही होते। अत जहाँ तक हम चाहते हैं कि काम अधिक हो, फल लाभदायक हो, कलह न हो, अक्षमता अथवा नौकरशाही (Bureaucracy) सर्वत्र न फैल जाय, तो यह आवश्यक है कि विशेषज्ञ तथा अविशेषज्ञो का समन्वय हो।[1] पुन, अविशेषज्ञ मन्त्री एक विभाग तथा दूसरे विभाग के बीच कडी का काम कर सकता है, अथवा अपने विभाग और निम्न सदन (House of Commons) के बीच में भी कडी का काम दे सकता है, क्योकि सदन (Parliament) के प्रति वह एक विशेष नीति पर चलने के लिये उत्तरदायी है। सारी सरकार एक इकाई है,

---

[1] Lowell, A L.: The Government of England, Vol I, p 173.

और उसमें तथा उसके प्रशासन में पूर्ण एकरूपता होनी चाहिए। एक अविशेषज्ञ जो सारे विभागों को साधारण दृष्टि से देखता है, वह स्वय को तथा अपने विभाग को सारे शासन-यन्त्र का एक पुर्जा समझता है और अपनी नीति को शासन की आम नीति के अनुरूप ढालता है। वह यह चाहेगा कि शासन के विविध अग एक-रूप रहें अर्थात् उसकी चेष्टा रहेगी कि सब मिलकर एक टीम (Team) की भाँति कार्य करें।

यह सच है कि विभाग के अध्यक्ष को अपने विभाग के कार्य की पूरी जानकारी होनी चाहिए। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि वह उस विषय का विशेषज्ञ ही हो। प्रत्येक विभाग में बंटे काम होते हैं, और अनेको समस्याएँ आती हैं जिनमें ऊँची योग्यता तथा जानकारी की आवश्यकता होती है और ऐसे विभागीय अध्यक्ष भी जो वर्षो से स्थायी रूप से उस विभाग में काम कर चुके हो, उन प्रत्येक समस्याओ पर एक-सी अधिकारपूर्ण जानकारी नही रख सकते। तो फिर मन्त्री बेचारे के लिए, जिसका कार्यकाल अल्प एव सकटमय होता है, कैसे सभव हो सकता है कि वह अपने विभाग में आने वाली सभी समस्याओ पर अधिकारपूर्ण विशेषज्ञता प्राप्त करे। विभागो के स्थायी सेक्रेटरी या अध्यक्ष भी उस माने मे विशेषज्ञ नही कहे जा सकते हैं जैसे कि कोई बडा वैज्ञानिक, सर्जन या कोई कलाकार अपने-अपने क्षेत्र में विशेषज्ञ माने जावेंगे। प्रो० लास्की (Prof Laski) के शब्दो मे वे उस दुनिया में नही रहते जिसमें सर्वसाधारण प्रवेश न पा सकें। यदि किसी को मालूम है कि सर जान साइमन (Sir John Simon) एव सर स्टेफर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) कितने योग्य बारीकियो को समझने वाले थे तो वह सहमत हो जायगा कि ऐसी ही योग्यता की आवश्यकता है जिसके द्वारा मन्त्री सफलतापूर्वक अपने विभाग का कार्य चला सकता है। अन्त में लास्की (Laski) कहता है कि हम अफसरो को अर्थ-विभाग में इस कारण नही भेजते कि वे सुदक्ष अर्थशास्त्री हैं, इसी प्रकार हम उहे कृषि-विभाग में अथवा शिक्षा-मन्त्रालय में इसलिए नही भेज देते हैं कि वे कृषि-विशेषज्ञ या शिक्षा-शास्त्री हैं। वे शासको के रूप में महत्त्व रखते हैं किन्तु इस कारण नही कि वे किसी विशिष्ट विषय की विशेष जानकारी रखते हैं बल्कि इस कारण कि हमको उनकी प्रशासनिक योग्यता पर विश्वास है, प्रशिक्षा के कारण उनमें वे गुण विद्यमान हैं जिनके बल पर वे आरम्भक एव निर्णय दोनो कार्य कर सकेंगे। यही वे गुण हैं जिनके बिना शासन चलाया नही जा सकता। और यही गुण राजनीतिक अध्यक्ष में भी होने चाहिएँ यदि वह अपने पद का सफलतापूर्वक निर्वहन करना चाहता है।[1]

"नौकरशाही शासन" की ओर बढती हुई प्रवृत्ति (Growing Tendency towards Bureaucratic Government)—ब्रिटिश शासन यन्त्र के ऊपर यह भी आक्षेप है कि यह कर्मचारी वर्ग का राज्य बनता जा रहा है। रैम्जे म्योर (Ramsay Muir) का कथन है कि इगलैण्ड मे नौकरशाही का राज्य इस कारण पनप रहा है

---

[1] Laski Parliamentary Government in England. op Citd, p 293.

कि वहाँ के मन्त्रिमण्डल सदन के प्रति उत्तरदायी होते हैं। उसका कहना है कि स्थायी सिविल सर्विस के अधिकारियों का प्रभाव लगातार शासन के कामो मे, विधि तैयार करने मे एव वित्त के मामलो मे पडता है जो ब्रिटिश शासन का एक अग बन गया है। अत 'कर्मचारियों द्वारा शासन' आवश्यक हो गया है, यद्यपि इस की शक्ति 'उत्तरदायित्वपूर्ण मन्त्रिमण्डल' के सिद्धान्त के कारण कुछ मर्यादित है।[1] इस आलोचना का अर्थ है कि स्थायी कर्मचारी वर्ग ही सारे राष्ट्र की जीवन-नौका के कर्णधार हैं। इस सम्बन्ध में अनेको तर्क—और उनमें पर्याप्त सार भी है—दिये जाते हैं। प्रथमत निर्धारित नीति के क्रियान्वित करने में प्रतिदिन बहुत से ऐसे काम किये जाते हैं जिनमें विशिष्ट नीति पर चलना पडता है। मन्त्री तो केवल ससद् द्वारा स्वीकृत नीति की दिशा इगित करता है और विभाग से आशा करता है कि वह उसे क्रियान्वित करे। उसके पास इतना समय नही होता कि वह प्रतिदिन के काम-काज का निरीक्षण करे। स्थायी सेक्रेटरी विशेषज्ञ होता है जो उस सम्बन्ध में सारी बारीकियो और अन्तग्रस्त विवादो से भिज्ञ होता है, अत वही प्रतिदिन की प्रशासनिक नीति का सचालन कर सकता है।

दूसरी बात यह है कि नई नीति निर्धारित करने में—जैसे ससद् के समक्ष विधेयक प्रस्तुत करना—सिविल सर्विस के अधिकारी का प्रभाव महान् होता है। पार्लियामेंट से अथवा दल से मन्त्री को नीति के सम्बन्ध मे अस्पष्ट-सा आभास मिलता है, किन्तु विधेयक का प्रारूप तैयार करने के लिए जिन आंकडो अथवा तथ्यो की आवश्यकता पडती है वे सब सम्बन्धित विभाग को ही जुटाने पडते हैं। इसके उपरान्त विधेयक का प्रारूप तैयार करना भी एक उलझा हुआ एव कठिन काम होता है। यदि कोई अविशेषज्ञ इस काम को अपने हाथो में लेलेगा तो सब गडबड हो जायगा। इस काम को वित्तीय-ससद्-सलाहकार (Parliamentary Counsel to the Treasury) करते हे। केवल विशेषज्ञ ही नई नीति को पुराने शासन में ठीक बैठा सकता है। स्थायी पदाधिकारी को बार-बार मन्त्री को यह बताना भी पड सकता है कि क्या किया जा सकता है अथवा क्या नही हो सकता, और साथ ही वह कह देता है कि जो कुछ किया जा सकता है वह किस प्रकार किया जा सकता है। इस प्रकार नई नीति उन सारे सशोधनो एव सुझावो का फल होती है जिसका श्रेय स्थायी सिविल सेवको को है।[2] नीति-निर्धारण में जिन अधिकारियो का विशेष प्रभाव पडता है वे शीर्ष स्थानीय जनपद सेवक ही नही हैं। बहुत से कम महत्त्व के निर्णय भी करने पडते है। कुछ में नीति-निर्णय भी करना पडता है। इन पर निचले दर्जे के सिविल सेवको का प्रभाव पडे बिना नही रहता। प्रत्येक विभाग में उत्तरदायित्व बँटा रहता है। इसका अर्थ है कि निचले दर्जे के जनपद-सेवको का भी नीति-निर्धारण में कुछ न कुछ हाथ है।

तृतीयत पार्लियामेंट में प्रश्न पूछने का नियम बहुत ही अच्छा ढग है जिसके

---

[1] Refer to Ramsay Muir's 'How Britain is Governed' chap II.

[2] Burns C D White Hall, p. 69

द्वारा जनता को शासन-विभागो के क्रिया-कलापो पर कुछ कहने का अधिकार मिल जाता है और इस प्रकार यदि शासन द्वारा कोई अन्याय हुआ है तो उसका प्रतिकार हो सकता है। किन्तु इगलैण्ड की ससदात्मक शासन-प्रणाली के आलोचक मानते हैं कि यह ढग प्राय प्रभाव-शून्य है। प्रश्नो के उत्तर निश्चय ही मन्त्री देता है किन्तु वे उत्तर स्थायी अधिकारियो द्वारा तैयार किये जाते हैं। यदि विशेषज्ञ द्वारा प्रस्तुत किया हुआ प्रश्न का उत्तर सही मामले को छिपाना चाहे तो गैरसरकारी सदस्य (Private member) के लिए यह अत्यन्त कठिन होगा कि वह सही तथ्य पा सके। इसके अतिरिक्त स्थायी अधिकारी यदि सारा सत्य बताना भी चाहें, तो भी प्रश्नकर्ता कठिनाई में पड जाता है क्योकि वह प्रभावी प्रश्न बनाने व पूछने में अशक्य है। और यदि प्रश्न प्रभावी भी है, तो भी यह उस समय पूछा गया जबकि शासन ने अपना काम कर लिया। और अभी तक भी ऐसा प्रभावी उपाय नही निकल पाया है जिससे विभाग की प्रतिदिन की नीति पर उसके क्रियान्वित होने से पूर्व कुछ नियन्त्रण स्थापित हो सके।

बताया गया है कि कर्मचारियो के शासन अथवा नौकरशाही में सबसे बडा भय इस पद्धति का है जिसके द्वारा विभाग देश के लिए ऐसी विधि तैयार करते हैं जो आज्ञाओ अथवा अधिनियमो की शक्ल में होते है और जो पार्लियामेंट द्वारा स्वीकृत नियमो का स्थान पा लेते हैं। इस प्रकार विभाग को न्यायाधिकार मिल जाता है, वह इस प्रकार, कि वे अपने प्रतिदिन की कार्यवाही में बहुत से विवादास्पद विषयो पर न्यायिक निर्णय दे डालते हैं। दूसरे शब्दो में प्रदत्त अथवा प्रतिनिधिक विधि—अधिकार (Delegated legislation) एव प्रशासनिक न्यायाधिकार, इन दोनो अस्त्रो से सुसज्जित राज्य का शासकीय विभाग अत्यन्त सबल हो गया है। यह ठीक है कि देखने में विधि अधिकार का प्रयोग विभाग मन्त्री के नाम में करता है किन्तु वास्तव मे इन अधिकारो का प्रयोग स्थायी अधिकारी ही करते हैं। राज्य का शासकीय विभाग एक पग और बढ जाता है और एक प्रकार की न्याय सभा स्थापित कर देता है जो इन आज्ञाओं अथवा अधिनियमो से उत्पन्न झगडो का निर्णय करते हैं। जहां तक इन न्याय सभाओ के निर्णय, पार्लियामेंट द्वारा प्रदत्त अधिकारो की सीमा में रहते है, यह वैधानिक है और मन्त्री के निर्णय के औचित्य को अथवा मन्त्री की बुद्धिमानी को किसी न्यायालय में चुनौती नही दी जा सकती। यह निर्णय अन्तिम है। किन्तु इस अन्तिम निर्णय के पीछे किसी अदृश्य सिविल सर्वेण्ट (Civil Servant) का हाथ है। इसके अतिरिक्त मन्त्री अथवा सिविल सर्वेण्ट (Civil Servant) के ऊपर न्यायिक प्रकिया बाध्य नही है किन्तु न्यायालयो के ऊपर न्यायिक प्रक्रिया बाध्य है। अत मन्त्री अथवा सिविल सर्वेण्ट (Civil Servant) प्रभावित पक्ष को बिना सफाई और सबूत का अवसर दिये ही निर्णय कर सकते हैं। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शासन के हाथो में विधायी एव न्याय सम्बन्धी शक्तियो के आ जाने से प्रशासनिक विभागो का अधिकार-क्षेत्र स्वेच्छाचारी एव निरकुश हो गया है। इस प्रकार प्रशासनिक विभागो ने ससद् को

विधायी अधिकारों से तथा न्यायालयो को न्यायिक अधिकारो से वचित कर दिया है और इस सबका स्वाभाविक फल है सर्वशक्तिमान् नौकरशाही शासन ।

किन्तु यह भी सही मूल्याकन नही है । लोवेल (Lowell) ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक दी गवर्नमेण्ट ऑफ इगलैण्ड (The Government of England) में लिखा है कि इगलैण्ड में नौकरशाही (Bureaucracy) के शासन का भय इस कारण कम हो गया है कि वहां अविशेषज्ञ (amateur) एव विशेषज्ञ (Professional) का विशेष प्रकार का मेल है जिसके फलस्वरूप राजनीतिक एव अ-राजनीतिक शासन के तत्त्वो में स्पष्ट भेद है ।[1] लास्की (Laski) के अनुसार "नौकरशाही शासन (Bureaucracy) उस शासन-व्यवस्था को कहते हैं जिसमे सम्पूर्ण नियत्रण अधिकारियो के हाथो में इतना अधिक रहता है कि उनकी शक्ति से साधारण नागरिको की स्वतत्रताओ का हनन होता है ।"[2] इगलैण्ड में स्थायी अधिकारी पूर्णरूपेण स्वेच्छाचारी नही हैं । इसमें सन्देह नही है कि सिविल सर्विस के पास अपार अनुभव एव जानकारी है । वे मन्त्रिमण्डल को एव पार्लियामेण्ट को वे सब तथ्य एव जानकारी प्रदान करते हैं जो विविध विषयो पर नीति निर्धारित करते समय आवश्यकत मांगी जाती है । किन्तु वे शासन पर छाये नही रहते, न वे शासन की प्रवृत्ति एव स्वरूप को बनाते हैं । प्रत्येक विभाग के ऊपर एक उत्तरदायी राजनीतिक अध्यक्ष अथवा मन्त्री होता है जो वास्तव में शासन करता है । वही पार्लियामेंट के प्रति तथा जनता के प्रति भी किसी विशिष्ट नीति पर चलने के लिये उत्तरदायी होता है और सिविल सर्विस के अधिकारियो को अपने आपको इस प्रकार ढाल लेना चाहिये कि वही नीति ठीक-ठीक क्रियान्वित होती चली जाय । यदि पार्लियामेंट का कोई सदस्य जो जनता का प्रतिनिधि है ऐसा अनुभव करता है कि अमुक व्यक्ति के साथ अन्याय हुआ है अथवा कोई कार्य अनुचित उद्देश्यो द्वारा सम्पादित हुआ है, तो वह निजी तौर पर मन्त्री से उसके सम्बन्ध में पूछताछ कर सकता है । प्राय सब मन्त्री लोग प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार बातचीत करना चाहेंगे । यदि मन्त्री द्वारा दिया हुआ स्पष्टीकरण असन्तोपजनक है तो वह सदन में तत्सम्बन्धी प्रश्न पूछ सकता है । यदि मन्त्री द्वारा दिया हुआ उत्तर फिर भी सन्तोपजनक नही है तो वह इस प्रकार के विषय को लेकर बहस कर सकता है । किन्तु उत्तरदायी मन्त्री इस प्रकार की स्थिति से बचना चाहेगा, क्योकि डा० जेनिंग्ज (Dr Jennings) लिखता है कि "प्रश्न पूछे जाते हैं, यह ठीक है, किन्तु इससे भी महत्त्वपूर्ण बात यह है कि प्रश्न पूछे जा सकते हैं ।"[3] इस कारण मन्त्री सदैव चौकन्ना रहता है । उसको गलती नही करनी चाहिए क्योकि वह उत्तरदायी है । जनपद-सेवक (Civil Servants) भी

---

[1] Lowell The Government of England, Vol I, chap VIII.

[2] Laski . As quoted in Parliamentery Government in England, op citd, p 288.

[3] Jennings . The British Constitutions, op Citd, p 134.

लिये कुछ विशिष्ट व्यक्तियो को चुनकर बुलाते थे। इस प्रकार की बातचीत ने सन् १२१३ मे एक विशेप रूप धारण किया जबकि राजा जॉन (King John) ने, जिसको धन की आवश्यकता थी, प्रत्येक देश के नगराधिप को आज्ञा दी कि वह अपने-अपने प्रदेश से चार उपाधियुक्त प्रतिष्ठित व्यक्ति राजा के साथ राज्य की समस्याओ पर बातचीत करने के लिये भेजे। इसी में ससद् शब्द के आधुनिक अर्थ बीज रूप में वर्तमान हैं।

ससद् का विकास (Growth of Parliament)—ससद् का विकास प्राय स्वय प्रवर्तित, दीर्घसूत्री एव दैवयोग-आश्रित था। पहले वह आधुनिक ससद् से भिन्न थी। आठ शताब्दियो में जाकर पुरानी ससद् का रूप शासी-निकाय (Governing body) के रूप में परिवर्तित हुआ है जिसमें पूर्ण वयस्क मताधिकार के आधार पर सारे देश से चुनकर व्यक्ति आते हैं और यह सुधार-क्रम हमारे ही समय में पूर्ण हुआ है। इन आठ शताब्दियो का युग सघर्ष का काल रहा है और बुरे राजाओ के राज्य-काल में यह सघर्ष राजा जॉन (King John) से प्रारम्भ हुआ। हम सभी जानते हैं कि किस प्रकार नैराश्य की अवस्था में कुलीनो ने राजा को बन्दी बना लिया और १५ जून सन् १२१५ को राजा को निरुपाय करके महान् चार्टर या मैग्नाकार्टा (Magnacarta) पर हस्ताक्षर करने पर विवश किया।

यह साधारण प्रजा की राजा के ऊपर विजय नही थी बल्कि इ ग्लैण्ड के धनिक एव प्रतिष्ठासम्पन्न व्यक्तियो की राजा के ऊपर विजय थी। मैग्नाकार्टा से कुलीन वर्ग को यह आश्वासन मिल गया कि वे मनमाने ढग से गिरफ्तार न हो सकेंगे और यह भी आश्वासन मिला कि राजा बिना प्रजाजनो की सलाह लिये कुलीन सरदारो पर कोई कर न लगावेगा। अगले ८० वर्ष तक सघर्ष राजाओ तथा देश के बडे लोगो के बीच में रहा। राजा लोग रुपयो की आवश्यकता में थे और देश के प्रतिष्ठित व्यक्ति चाहते थे कि वे निश्चय करेंगे कि राजा की माँग न्याययुक्त है या नही। इसी सघर्ष के फलस्वरूप इस सिद्धान्त का जन्म हुआ, "बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नहीं" (No taxation without representation) और फिर ये सभाएँ विधान-निर्मात्री सभाओ में परिणत हो गईं।

प्रारम्भ में ससद् तभी बुलाई जाती थी जब राजाओ को धन की आवश्यकता पडती थी। राजा अपनी इच्छानुसार ही ससद् बुलाता था। इसका मुख्य काम यह था कि राजा से पूछे कि धन की किस काम के लिये आवश्यकता है, यह किस प्रकार खर्च किया जायगा और यह मिलकर सलाह करना भी था कि इच्छित धन-राशि किस प्रकार उपार्जित की जाय। आज भी ससद् का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य यही है।

पार्लियामेण्ट या ससद् शब्द के आधुनिक अर्थों में सबसे प्रथम १२६५ मे साइमन डी मोटफर्ड (Simon de Montford) ने ससद् को आहूत किया, क्योकि उसने प्रत्येक प्रान्त मे से दो उपाधिधारी कुलीनो को आमन्त्रित किया तथा कुछ नगरो में

से भी कतिपय प्रतिनिधि बुलाये। उस पार्लियामेण्ट का प्रतिनिधिक स्वरूप किसी हद तक इस कारण कम हो जाता है कि उसने केवल अपने समर्थक वर्ग में से ही लोगो को चुना। १२९५ में एडवर्ड प्रथम (Edward I) ने जिसे युद्धो के लिए धन की आवश्यकता थी, आदर्श पार्लियामेण्ट (Model Parliament) को आहूत किया। इसमें प्रधान धर्माध्यक्ष (Archbishops), धर्माध्यक्ष (Bishops), मठाधिकारी (Abbots), कुलीन (Earls) एव महाकुलीन (Barons) लोगो को बुलाया गया। ये सब जमीदारो के रूप में सम्मिलित हुए। नगराधिपो को भी आज्ञा दी गई कि प्रत्येक प्रान्त मे से दो उपाधिकारी कुलीन चुने जायँ, प्रत्येक नगर में से दो नागरिक चुने जायँ, और प्रत्येक अधिकारप्राप्त नगर में से दो नगर-प्रतिनिधि चुने जायँ, निचले दर्जे के धर्माधिकारियो में से भी पादरियो के द्वारा प्रतिनिधि बुलाये गये। इस प्रकार सामन्त शाही सभा (Feudal Council) मे एक प्रतिनिधिक तत्त्व भी जोड दिया गया।

इस समस्त कार्यवाही मे से दो महत्त्वपूर्ण फल निकले। राजा द्वारा आहूत ससद् के लिये आमन्त्रित व्यक्ति केवल इसी विषय पर बातचीत करते थे कि धन करो द्वारा किस प्रकार एकत्र किया जाय। यद्यपि वे इस स्थिति से पूर्ण सन्तुष्ट तो न थे किन्तु उनमें इतना साहस न था कि वे राजा को अप्रसन्न कर सकते और उसकी धन सम्बन्धी माँगो पर प्रश्न कर सकते। किन्तु जब कभी वे ससद् में उपस्थित होते तो वे अपने साथ स्थानीय कष्ट-गाथाएँ लाते और राजा के समक्ष प्रार्थना-पत्र उपस्थित करते तथा उसके द्वारा अपने-अपने प्रदेश में हो रहे अत्याचारो पर प्रकाश डालते तथा उन्हे दूर करने की प्रार्थना करते। यदि राजा उन कष्ट-गाथाओ पर ध्यान न देता तो कर देने वालो प्रजा के प्रतिनिधि राजा की धन सम्बन्धी माँगो को पूरा करने में अडचनें डालते। धीरे-धीरे यह नियम-सा बन गया कि राजा की धन की माँग पूर्ण करने से पूर्व प्रजा की कठिनाइयाँ दूर होनी चाहियें। समय बीतने पर एक बात और हुई। प्रारम्भ मे लोगो की कठिनाइयाँ विशिष्ट थी तथा व्यक्तिगत थी, किन्तु अब मालूम होने लगा कि बहुत से व्यक्तियो को तथा बहुत सी जगहो पर सबको समान शिकायतें थी। अत. उन कठिनाइयो पर ससद् मे विचार-विनिमय होने लगा और यदि अन्य सदस्यो ने भी उन सदस्यो का साथ दिया तो वे मिलकर ससद् से राजा के पास प्रार्थना भेजने लगे। यदि राजा उनकी प्रार्थना को मान लेता, तो उसी प्रार्थना-पत्र पर अपनी स्वीकृति देते हुए निम्न शब्द लिख कर लौटा देता "स्वीकृत" (*Le roi le veult*) यदि राजा अस्वीकार कर देता तो भी निम्न शब्दो सहित प्रार्थना-पत्र लौटा देता था "पुन विचार किया जायगा" (*Le roi s'aveseia*) आजकल भी लोगो के प्रस्ताव विधेयक-रूप में यदि स्वीकृत होते हैं तो उस पर लिख दिया जाता है (*Le roi le veult*) लगभग २०० वर्षों से भी अधिक से (*Le roi s' aviseia*) शब्दो का प्रचलन ही नही है।

इसमे भी महत्त्वपूर्ण दूसरा विकास हुआ। ऐसी प्रथा पड गई कि राजा उस समय तक प्रजा पर कर नही लगा सकता था जब तक ससद् अनुमति न दे और

धन एकत्र करने का साधन न वनावे । अन्त में यह कठोर नियम वन गया और क्रौमवेल (Cromwell) तथा चार्ल्स (Charles) में जो सघर्ष चला वह इस सम्वन्ध में अन्तिम पराकाष्ठा थी । इस सघर्ष का दूसरा महत्त्वपूर्ण फल यह था कि इस सघर्ष से सदैव के लिए निर्णय हो गया कि देश का असली शासक कौन है ? राजा अथवा ससद् । इस झगडे का अन्त ससद् द्वारा राजा चार्ल्स को फाँसी देकर हुआ और फिर इसके वाद क्रौमवेल (Cromwell) द्वारा कुछ वर्षों के लिए ससद् का दमन हुआ । किन्तु सन् १६६८ की क्रान्ति ने निश्चितत सिद्ध कर दिया कि समद् की शक्ति सर्वोपरि है । स्टुअर्ट वश (Stuart Dynasty) के अन्तिम राजा द्वारा राज्य त्यागने के वाद, ससद् ने राज्य-सिहासन के लिए हैनोवर वश (Hanoverian Dynasty) को आमन्त्रित किया । इससे सविधानिक महत्त्व के दो महत्त्वपूर्ण फल निकले । प्रथमत यह कि राजतन्त्र ससद् का दास था, तथा द्वितीयत यह कि इगलैण्ड का भविष्य में कोई भी राजा अवश्य ही सविधानिक राजा होगा जिसके लिए मत्रिमण्डल की सलाह पर काम करना आवश्यक होगा । इससे राजाओ तथा ससद् के वीच चल रहा ४०० वर्षों का पुराना सघर्ष समाप्त हो गया और इसके उपरान्त ससद् के प्रजातन्त्रात्मक स्वरूप में निरन्तर सुधार हुआ है ।

मैगनाकार्टा ने कुलीन वर्ग के ऊपर राजा के फौलादी पजे की पकड कुछ ढीली कर दी थी । क्रौमवेल (Cromwell) तथा चार्ल्स (Charles) के वीच जो सघर्ष चला वह इस तथ्य का द्योतक था कि एक नया वर्ग पैदा हो रहा है जो शासन सम्वन्धी अधिकारो का इच्छुक है । १६८८ की क्रान्ति ने सिद्ध कर दिया था कि ससद् सर्वोपरि सत्ता है और राजतन्त्र ससद् का आश्रित है । किन्तु ससद् अभी पूर्णरूपेण प्रजातन्त्रात्मक न थी । १८३२ से पूर्व केवल कुछ हजार मतदाता सारे देश में विखरे पडे थे । ससद् के स्थान (Seats) जो पॉकेट वरोज (Pocket Boroughs) अथवा रॉटन वरोज (Rotten Boroughs) कहलाते थे प्राय धनिको के आश्रित थे और वे स्थान इस प्रकार वेचे तथा खरीदे जाते थे जैसे कि स्कध विपणि (Stock exchange) में अश (Shares) खरीदे अथवा वेचे जाते हैं । इस दिशा में पास किया हुआ सन् १८३२ का प्रथम सुधार अधिनियम सावधानीपूर्ण पग था जिसके उपरान्त भी श्रमिक वर्ग को देश के शासन में कोई प्रतिनिधित्व नही मिला । सव कुछ होने पर भी केवल एक लाख अतिरिक्त व्यक्तियो को मताधिकार और मिला, और इससे मध्य वर्ग को भी पूर्ण मताधिकार नही मिल सका । इस प्रकार ससद् अभी साधारण जनता की ससद् न थी ।

सन् १८३२ से १९२८ तक थोडा-थोडा समय छोड कर लगातार मताधिकार सम्वन्धी सुधार हुए हैं । पहले उच्च-मध्य वर्ग को कुछ रियायते मिली, फिर निम्न मध्य वर्ग को रियायतें मिली, फिर नगरो के श्रमिको को मताधिकार मिला, तव वहुत से गृह-स्वामियो को, फिर वयस्क पुरुषो को जो २१ वर्षों से अधिक आयु वाले हो और ३० वर्ष से ऊपर की युवतियो को चुनाव-अधिकार मिले, और अन्त में तो सभी २१ वर्ष

से अधिक आयु वाले स्त्री-पुरुषों को मताधिकार मिल गया ।

संसद् सम्बन्धी परिवर्त्तनों का सारांश (Summary of the changes bought about)—संसद् के सम्बन्ध में जो महत्त्वपूर्ण हेरफेर इन आठ शताब्दियों में हुए हैं, उनका सारांश इस प्रकार है—

(१) आठ शताब्दियों पूर्व संसद् राजा की इच्छा पर बुलाई जाती थी । जब संसद् का अधिवेशन होता था तो उसके पास इतनी शक्ति नहीं थी कि कानून बना सके । इसका काम केवल इतना था कि राजा जितना धन माँगे उसकी मंजूरी दे दे और वार्तालाप द्वारा निश्चित करे कि किस प्रकार राजा के लिए करों द्वारा धन एकत्र किया जाय । आजकल संसद् बुलाने के लिए सम्राट् बाध्य है । अब संसद् प्रतिदिन की साधारण चीज बन गई है और इसकी सभायें कुछ थोड़ा-सा छुट्टी का समय छोड़कर प्रायः सारे वर्ष चलती ही रहती हैं ।

(२) पहिले लोग संसद् के लिए राजा द्वारा छाँटे जाते थे । अब प्रजा द्वारा चुने जाते हैं ।

(३) पहिले बहुत ही कम व्यक्तियों को मताधिकार था, अब सारे देश में पूर्ण वयस्क मताधिकार है जिसमें स्त्री तथा पुरुष सभी भाग ले सकते हैं ।

(४) अब शक्ति राजा के हाथ में न रहकर संसद् के हाथों में आ गई है । राजा, राज्य का केवल संविधानिक मुखिया मात्र है जिसको मन्त्री की सलाह पर चलना पड़ता है, और मन्त्री लोग संसद् के प्रति उत्तरदायी हैं ।

(५) संसद् में भी सारी शक्ति लार्ड सभा (House of Lords) से निकल कर लोकसभा (House of Commons) के हाथों में आ गई है ।

संसद् की प्रभुता (Sovereignty of Parliament)—संसद् के सम्बन्ध में इस संक्षिप्त वर्णन से आपने जान लिया होगा कि संसद् का राजा के साथ संघर्ष रहा जिसमें यह निश्चित होना था कि प्रभुसत्ता का भोक्ता कौन है, राजा अथवा संसद् । १७वीं शताब्दी में संघर्ष का फल प्रकट हुआ और १८वीं शताब्दी में वह फल परिपक्व हो गया । इस दिशा में तीन सीमा चिह्न, फल इंगित करते हैं । प्रारम्भ में संसद् अपंगु थी जिस पर सेना का दबाव था । किन्तु फिर भी वह संसद् ही थी जिसने सन् १६४८ में चार्ल्स प्रथम (Charles I) पर अभियोग[1] चलाया और फिर सन् १६४९ में उसे फांसी[2] दे दी । एक बार फिर संसद् ने अधिनियम पास करके राजतन्त्र को ही समाप्त कर दिया[3] और इंगलैण्ड को गणराज्य (Commonwealth) घोषित कर दिया ।[4]

---

[1] Act erecting a High Court of Justice for the Trial of Charles I Adam and Stephens · Select Documents of English Constitutional History, op citd , p 389

[2] Sentence of the High Court of Justice upon Charls I Ibid, pp 391-393

[3] Act abolishing the office of the King. Ibid, pp 397-399

[4] Act declaring England to be Commonwealth Ibid, p 400.

१६६० में पुन ससद् ने चार्ल्स द्वितीय (Charles II) को राज्य-सिहासन पर दुबारा आसीन कर दिया। इस समय यह शर्त रखी गई कि चार्ल्स द्वितीय को ससद् के साथ सहयोग करना होगा।

ससद् के विकास में द्वितीय सीमा चिह्न १६८८ की क्रान्ति है जबकि जेम्स द्वितीय (James II) को, ससद् से सहयोग न करने के कारण राज्य-त्याग करना पडा और फिर ससद् ने ही ऑरेन्ज के विलियम (William of Orange) को आमन्त्रित किया कि वह आकर जेम्स द्वितीय (James II) के विरुद्ध इगलैण्ड के स्वत्वो की रक्षा करे।[1] १६८६ में भी बिल आफ राइट्स (Bill of Rights) द्वारा पार्लियामेंट ने न केवल यह निश्चित किया कि अगला सम्राट् कौन होगा, बल्कि वह किन शर्तों पर राज्य करेगा।[2] सन् १७०१ में ससद् ने एक्ट आफ सेटिलमेंट (Act of Settlement) पास किया। जिसने निश्चित रूप से राज्य-सिहासन का उत्तराधिकार निश्चित कर दिया।[3]

तृतीय सीमा-चिह्न १७८३ है, जबकि छोटा पिट (Younger Pitt) मन्त्री बना और उस समय मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली सदैव के लिए परिनिश्चित हो गई, और यह बात राजा के अधिकार से बाहर की बात हो गई कि वह स्वेच्छानुसार मन्त्री को चुन सके या पदच्युत कर सके। भविष्य में—सचाई यही रही, चाहे ऊपरी तौर पर देखने मे न सही—कि ससद् ही मन्त्री को मन्त्री बना सकती थी अथवा पदच्युत कर सकती थी।

इस प्रकार ससद् की शक्ति सर्वोपरि है और अपरिमेय है। इसके काम सभी प्रकार के हैं जैसे कानून बनाना, कर लगाना, युद्ध की अथवा शान्ति की घोषणा करना। यही सारे शासन-यन्त्र को सुचालित करती है। इसके अतिरिक्त यह सम्राट् को भी सिंहासन से अपदस्थ कर सकती है, यह राजाओ को चुन सकती है तथा यह राजतन्त्र को ही समाप्त कर सकती है। सर एडवर्ड कोक (Sir Edward Coke) का कथन है कि "ससद् की शक्ति एव अधिकार-क्षेत्र इतना महान्, श्रेष्ठ एव अनियन्त्रित है कि उस पर न किसी व्यक्ति का, न कारणो का और न किसी रुकावट का ही बन्धन है।" ब्लकस्टोन (Blackstone) का भी यही मत था और उसने प्राय इसी भाषा में स्व-मत व्यक्त किया है। डी लोमे (De Lolme) ने तो यहाँ तक कहा कि "ससद्

---

[1] यह कन्वेंशन पार्लियामेंट (Convention Parliament) कहलाती थी। यह सब बातों में ससद् से मिलती थी। अन्तर केवल यह था कि यह सम्राट् द्वारा आहूत नहीं हुई थी। तत्कालीन परिस्थिति में जिसमें कि जेम्स द्वितीय (James II) भाग गया था, और विलियम (William) का राज्याभिषेक नहीं हुआ था, यह स्वाभाविक भी था। बाद में कन्फर्मेशन पार्लियामेंट एक्ट (Confirmation Parliament Act) ने, जो २० फरवरी १६८६ को पास हुआ था, इन कार्यवाहियों को वैधानिक रूप दे दिया। वही, उपर्युक्त, पृ० स० ४५४-४५६।

[2] वही, उपर्युक्त, पृ० स० ४६२-४६६।

[3] वही, उपर्युक्त, पृ० स० ४७५-४७६।

सभी कुछ कर सकती है, सिवाय औरत को मर्द और मर्द को औरत नही बना सकती।" किन्तु डी लोमे (De Lolme) का वाक्यांश उसके अन्यत्र व्यक्त विचारो की ही भाँति अस्पष्ट है, यदि संसद् की शक्ति केवल वैधानिक आधार पर जाँची जाय तो यह विचार कि संसद् मनुष्य को स्त्री नही बना सकती गलत है। यदि संसद् कोई ऐसा नियम बना दे जिससे लिंग-विभेद में अव्यवस्था हो जाये तो वैधिक रूप से एक पुरुष स्त्री बन जायगा। संसद् वैधानिक रूप से भी किसी प्रकार मर्यादित नहीं है। डायसी (Dicey) का कथन है कि "वैधिक रूप मे संसद् की प्रभुता हमारी राजनीतिक व्यवस्था का मुख्य गुण है।" संसद् की प्रभुसत्ता से डायसी का निम्न अर्थ है—

(१) संसद् हर नियम बना सकती है,

(२) संसद् हर नियम को भंग कर सकती है, और

(३) ब्रिटिश संविधान में कोई ऐसा सीमा-चिह्न नही है जिससे यह निर्णय किया जा सके कि कौन नियम मौलिक हैं तथा कौन अमौलिक।

इन तीन सिद्धान्तो पर डायसी (Dicey) ने और अधिक प्रकाश डाला है। वह कहता है कि संसद् जिस नियम को चाहे बनावे तथा जिस नियम को चाहे भंग करे और कोई भी व्यक्ति अथवा व्यक्ति-समूह यह क्षमता नहीं रखता कि संसद् द्वारा स्वीकृत विधि को अस्वीकार कर सके। साथ ही संसार की शक्ति एवं अधिकार सम्राट् द्वारा शासित समस्त राज्यो पर भी पूर्ण रूप से लागू होगे।

संक्षेप में संसद् जो कुछ चाहे, जिस किसी भी रूप में विधि-निर्माण कर सकती है तथा संसद् जो कुछ कानून स्वीकृत करे वह देश का कानून है। संसद् जो भी कानून निर्माण करती है, कचहरियो में उन्ही पर आचरण होता है, जब तक कि संसद् ही उनमें हेर-फेर न करे। संसद् विधान सभा भी है साथ ही संविधान परिषद् भी। इंगलैंड में संविधानिक नियमो एवं अन्य नियमो में कोई भेद नही माना जाता और संसद् ही क्षम है कि एक प्रक्रिया के अनुसार किसी भी नियम को बदल दे अथवा भंग कर दे। संसद् द्वारा पारित कोई भी नियम किसी कोर्ट (Court) द्वारा अ-उल्लंघनीय है। न इसको अवैध वा अप्रामाणिक ठहराया जा सकता है क्योंकि इंगलैण्ड में कोई कानून संसद् द्वारा पारित कानून से ऊँचा नहीं है। यद्यपि न्याय-भावना (Equity) तथा सामान्य विधि (Common Law) ब्रिटिश संविधान के प्राचीनतम तथा मौलिकतम स्रोत हैं, फिर भी ये दोनो संसद् द्वारा पारित किसी नियम का उल्लंघन नही कर सकते। यदि संसद् द्वारा ही पारित दो नियम एक दूसरे के विपरीत हैं, तो नया पास किया हुआ नियम उसके पहिले के पास किये हुए नियम का स्थान ले लेगा और इस सम्बन्ध में पूर्व-पारित समस्त वैधानिक नियम अप्रभावी हो जायंगे।

संसद् की प्रभुता की आलोचना (Sovereignty of Parliament criticised)—किन्तु संसद् की प्रभुता वास्तविक सार नही है, वह केवल कानूनी कल्पना है। और कानूनी कल्पना क्या नहीं हो सकती? डायसी (Dicey) तथा उसके मत के बहुत से अन्य लेखकों ने संसद् की प्रभुता के केवल वैधानिक पहलू के बारे मे विचार किया।

उसके नित्य-प्रति के वास्तविक जीवन की सचाइयों के बारे में विचार नही किया। वास्तविक जीवन का सत्य यह है कि प्राय वैधानिक सत्य राजनीतिक असत्य होते हैं। ससद् सभी कुछ नही कर सकती। वह हरेक प्रकार् के कानून का निर्माण या भग नही कर सकती। बहुत सी आचार-विषयक एव राजनीतिक रुकावटें हैं जो ससद् की शक्ति पर बाधा डालती हैं और ससद् को और भी बहुत से कार्यों के करने मे उतनी ही बाधा आयेगी जितनी कि एक पुरुष को स्त्री बनाने मे।

विधि सम्बन्धी सारे प्रस्ताव इस कसौटी पर कसे जाते हैं कि उनका व्यावहारिक महत्त्व क्या है तथा उनका नैतिक महत्त्व क्या है। ब्रिटिश जाति जैसी नियम-पालक जाति के लिए केवल इतना ही पर्याप्त है कि अमुक सम्बन्ध मे ससद् ने नियम पास किया है और निश्चय है कि उस नियम का पूर्ण पालन होगा। किन्तु आज्ञा पालन की भी सीमा है। "यदि विधानमण्डल यह पास कर दे कि सब नीली आँखो वाले बच्चे नष्ट कर दिये जायँ तो उन सारे बच्चो की रक्षा अवैधानिक ठहराई जायगी। किन्तु वह विधानमण्डल निश्चय ही पागलो का समूह होगा जो ऐसा नियम पास करे और ऐसे नियम को मानने वाली प्रजा भी निश्चय ही मूर्ख ठहराई जायगी।" इगलैण्ड जैसे देश में जहाँ प्रबल जनमत है, जिसको भाषण की स्वतन्त्रता है, प्रभु विधानमण्डल को होश में रहना चाहिए। अत जहाँ ससद् की प्रभुता पर वैधिक बन्धन नही हैं, वहाँ राजनीतिक बन्धन अवश्य हैं, और वे ससद् के ऊपर प्रभाव डालते हैं। इसके अतिरिक्त ससद् में भी यह निश्चय करना कि क्या करना है, मन्त्रिमण्डल के हाथ में रहता है और साधारण सदस्य का न तो कोई महत्त्व है और न वह किसी काम में पहल कर सकता है। इससे ससद् में वास्तविक मतदाताओ का प्रतिनिधित्व कम रह जाता है, और यह दलगत अकुश नीचे रहने लगता है और दल ही मन्त्रिमण्डलो की नीति को निर्धारित करते हैं।

प्रत्येक ससदात्मक शासन-प्रणाली में हाल में प्रतिनिधिक अथवा प्रदत्त विधान र्माण (Delegated Legislation) का कार्य बहुत तेजी से तथा भारी मात्रा मे ा है। ससद् के पास इतना काम है कि वह सब काम स्वय नही कर सकती। इसलिए और सस्थाओ को विधि निर्माण का कार्य सौंपकर वह अपना बोझ कुछ हल्का लेती है। कही-कही सम्राट् अपने ऐकान्तिक अधिकार के आधार पर आज्ञाएँ कालता है जिसको आर्डर्स-इन-काउसिल अथवा सपरिषद् आदेश (Orders-in-Council) कहते हैं। दूसरी ओर, और अधिकतर, ससद् ऐसा नियम पास कर देती है जिससे वह मन्त्री को, या विभाग को, या किसी सस्था को अधिकार दे देती है कि वह आज्ञाएँ निकालें अथवा विधि पास कर दें। इस प्रथा में कुछ भयकर दोष हैं क्योकि इस प्रकार निर्मित बहुत सी आज्ञाएँ तथा नियम अधिकारी वर्ग तथा नियम निर्माता वर्ग के अतिरिक्त और लोगो को ज्ञात नही रहती। निश्चय है कि ससद् उन सब पर न तो कोई अकुश रखती है और न रख ही सकती है।

ससद् की वैधानिक प्रभुता का सबसे पुष्ट प्रमाण वे नियम हैं जो स्वयं ससद् के जीवन-काल को निश्चित करते हैं। त्रिवर्षीय अधिनियम (Triennial act) के द्वारा यह

निश्चित हुआ कि ससद् का जीवन-काल तीन वर्ष से अधिक न हो तथा सप्तवर्षीय नियम, १७१६ (Septennial Act, 1716) से निर्णय हुआ कि ससद् सात वर्ष तक चले वशर्ते कि राजा उससे पूर्व ही उसे भग न कर दे। इसके अनन्तर ससद्-नियम १९११ (Parliament Act of 1911) के द्वारा ससद् का जीवन-काल घटा कर पाँच वर्ष कर दिया गया। उसी ससद् ने, जिसने जीवन-काल मे हेर-फेर किये, फिर वरावर अधिनियमो द्वारा अपना जीवन-काल लगभग आठ वर्ष तक रखा। किन्तु यह अवधि युद्ध-काल में वढाई गई थी जिसमें सारे राजनीतिक दलो का समर्थन था और साथ ही राष्ट्र की मौन सम्मति थी। कोई भी ससद् उस समय तक अपना जीवन-काल नही वढा सकती जव तक कि राष्ट्र का मौन समर्थन उसके पास न हो।

डायसी (Dicey) ने सत्य ही कहा है कि कानून कानून है चाहे वह नैतिक हो या न हो और ससद् द्वारा पास किये गए अधिनियम के लिए यह आवश्यक नही है कि उसका कोई नैतिक आधार हो। किन्तु ससद् कोई ऐसा नियम पास नही कर सकती जो प्रकृति के नियमो के विरुद्ध हो अथवा जो सार्वजनिक अथवा असार्वजनिक आचरण-सहिता के विरुद्ध हो। उसी प्रकार ऐसा कोई नियम ससद् नही पास कर सकती जो देश की प्रचलित प्रथाओ के विपरीत हो, जव तक कि जनता उसे न चाहे। ससद् की प्रभुता मौलिक एव अपरिवर्त्तनीय नियम है ऐसा कही नही लिखा है। यह केवल प्रथा-सी वन कर रह गई है, एक लम्वी एव सफल लडाई का फल है जो आम जनता ने राजा की अध्यादेश सम्वन्धी शक्ति से लडकर जीती। लोगो की इच्छा विजयिनी हुई और ससद् प्रभुतासम्पन्न मान ली गई और इस प्रकार समद् की प्रभुता, व्रिटिश सविधान का अभिन्न सिद्धान्त वन गई है। इसी प्रकार और भी वहुत संविधानिक समझौते हैं और उन सवके पीछे लोगो का मौन समर्थन है। ये सविधानिक समझौते भी व्रिटिश सविधान के अभिन्न अग हैं, और इस प्रकार उन पर ससद् के अधिकार की व्यावहारिक सम्भावना नही है।

व्रिटिश सविधान की अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि यह विधि का शासन (Rule of Law) है। विधि के शासन का विचार डा० डायसी (Dicey) ने साठ वर्ष पूर्व दिया था। विधि के शासन का अर्थ यह है कि देश का आम कानून सव पर लागू होता है तथा किसी के पास कोई मनमानी शक्ति नही है, साथ ही नियम कई प्रकार के नही हैं जैसे एक नियम अफसरो के लिए तथा दूसरा नियम नागरिको के लिए, आदि। इसके अतिरिक्त यह नियम भी है कि साधारण विधि से ही साधारण नागरिको के सविधानिक अधिकारो की रक्षा हो जायगी। 'विधि का शासन' (Rule of Law) तथा ससद् की प्रभुता ये दोनो चीजें मिली-जुली हैं। इसको दूसरी तरह भी कह सकते हैं कि ससद् की प्रभुता तभी तक सह्य है जव तक 'विधि का शासन' चलता है।

वास्तव में जव हम ससद् के सम्वन्ध में सोचते हैं तो विचारो के कल्पना-जगत में पहुँच जाते हैं। ससद् किसी संस्था का नाम नही है। ससद् सम्राट्, लार्डसभा

(House of Lords) एव लोकसभा (House of Commons) से मिलकर बनी है। तीनो अवयवी भाग मिलकर ही ससद् का कार्य पूरा करते हैं। राजा के बारे में विशेष विचार करने की आवश्यकता नही है क्योकि विधान निर्माण करने में उसका हाथ औपचारिक मात्र है। लार्ड सभा (House of Lords) एव लोकसभा (House of Commons) दो अलग-अलग व्यवस्थाएँ हैं जिनके अलग-अलग कार्य हैं तथा अलग-अलग गुण हैं। सन् १९११ का अधिनियम पास हो जाने के बाद जिसमें १९४९ में पुन कुछ सुधार हुआ अब लार्ड सभा (House of Lords) की क्षमता पर पर्याप्त बन्धन लग गये हैं। और आज यदि लोकसभा (House of Commons) यह नियम बना दे कि लार्ड सभा तोड दी जाय तो राजा को अपनी अनुमति देनी ही होगी, और फिर लार्ड सभा (House of Lords) को कोई बचा नही सकता। प्रभु सत्ता के अर्थों मे इधर कुछ हेर-फेर हुए हैं। आधुनिक परिस्थितियो मे लोक सभा (House of Commons) ही ससद् है, तथा विस्तृत अर्थों में ससद् का अर्थ है लोकसभा का बहुमत दल, तथा उससे भी अधिक विस्तृत अर्थों में वास्तविक ससद् है मन्त्रिमण्डल। किन्तु फिर भी साधारणतया, सम्राट् लार्ड सभा (House of Lords) तथा लोकसभा (House of Commons) तीनो ही नियमानुकूल अपना-अपना कार्य करते हैं, तभी विधान निर्मित होता है। यह तथ्य ससद् द्वारा पारित किसी विधि के प्रारम्भिक शब्दो से भी स्पष्ट हो जाता है।[1]

ससद् के क्षेत्राधिकार (Jurisdiction) पर अन्तर्राष्ट्रीय कानून का भी बन्धन है। अब यह ब्रिटिश सविधान का मान्य नियम है कि अन्तर्राष्ट्रीय नियम राष्ट्रीय नियमो से मिले-जुले होने चाहिएँ। यह निर्णय वैस्ट रैण्ड गोल माइनिंग क० तथा सम्राट् के मध्य चल रहे विवाद (West Rand Gold Mining Co *vs.* The King) के निर्णयस्वरूप हुआ था कि "जो कुछ सभ्य राष्ट्रो ने निर्णय किया है, वह हमारे देश में भी माना जाना चाहिए।" अत कोई नियम जो अन्तर्राष्ट्रीय विधि के सिद्धान्तो के विरुद्ध पडता है, उसे ससद् कदापि पास नही कर सकती।

यद्यपि ससद् न्यायत उपनिवेशो (Dominions) के लिए विधि निर्माण कर सकती है फिर भी इस सम्बन्ध में इसकी शक्ति पर सविधानिक प्रतिबन्ध लगा दिये गए हैं। इन सविधानिक बन्धनो के फलस्वरूप यह राष्ट्रमण्डल के सब राष्ट्रो की सविधानिक मान-मर्यादा के अनुरूप मान लिया गया है कि परस्पर व्यवहार में जब कोई ऐसा विधि निर्माण हो जिससे राज्य-सिंहासन के उत्तराधिकार सम्बन्धी कोई हेर-फेर हो तो शाही नामकरण एव उपाधि की हेर-फेर मे सभी सम्बन्धित राष्ट्रो की ससदो की अनुमति तथा ब्रिटिश ससद् की तदर्थ अनुमति आवश्यक होगी। इसके अतिरिक्त

---

[1] "Be it enacted with the King's Most Excellent Majesty, by and with the advice of Lords Spiritual and Temporal and Commons in the present Parliament assembled and by the authority of the same"

१९३१ के पश्चात् ब्रिटिश ससद् द्वारा पारित कोई नियम उपनिवेश (Dominions) के ऊपर लागू नही होगा जब तक कि उस नियम में यह स्पष्ट न लिखा हो कि उपनिवेश की प्रार्थना एव सहमति से ही यह पारित हुआ है। विधानत १८६७ के उत्तरी अमरीका एक्ट (North America Act of 1867) में ससद् मनमाना हेर-फेर कर सकती है। किन्तु सविधानिक हेर-फेर के सम्बन्ध में भी कुछ पुरानी प्रथाएँ, कुछ पुरानी मर्यादाएँ हैं जिनके कारण ब्रिटिश ससद् ऐसा तभी करती है जबकि कनाडा की केन्द्रीय सरकार तथा प्रान्तीय सरकारें मिलकर तदर्थ प्रार्थना करे। अपनी ही शक्ति एव अधिकार के बल पर ब्रिटिश ससद् इस प्रकार की कोई पहल नही करेगी। जो बात कनाडा के सम्बन्ध में है, वही अन्य उपनिवेशो (Dominions) के सम्बन्ध में भी है।

स्वय डायसी (Dicey) ने ससद् के प्रभुता सम्बन्धी सिद्धान्त को केवल औपचारिक एव वैधिक मात्र माना है। वह आगे कहता है कि इस औपचारिक विचारधारा पर भी दो अकुश हैं बाह्य एव अन्तर्गत। अन्ततोगत्वा वैधिक सम्राट् को शक्ति एव अधिकार तो राजनीतिक सम्राट् से ही मिलते हैं। विधानत सम्राट् किसी प्रकार का नियम निर्माण या भग कर सकता है किन्तु व्यवहारत उसको उन सभी तत्वो का ध्यान रखना पडेगा जिन पर प्रस्तावित विधि का प्रभाव पडेगा। जनमत सग्रह (Referendum) के सम्बन्ध में ब्रिटिश सविधान में कही उल्लेख नही हैं अत किसी मामले पर लोगो की इच्छा जानने का केवल आम चुनाव (General Election) ही एक मार्ग रह जाता है। इस सम्बन्ध में ससद् अपनी शक्ति का उपयोग जनमत, उपयोगिता, नैतिक आचार-व्यवहार तथा अन्तर्राष्ट्रीय विधि एव अन्तर्राष्ट्रीय समझौतो के आधार पर करती है।

लार्ड सभा

(House of Lords)

प्रस्तावना (Introductory)—सम्राट् के अतिरिक्त आजकल संसद् के दो भाग है, लार्ड सभा अथवा (House of Lords) तथा लोकसभा अथवा (House of Commons)। यह स्थिति सदैव ही ऐसी नही थी और अत्यन्त औपचारिक अवसरो पर आजकल भी ऐसा नही होता। जब सम्राट् ससद् का उद्‌घाटन करता है अथवा सत्रावसान करता है अथवा जब किसी विधि पर सम्राट् की स्वीकृति घोपित की जाती है तो ससद् के सभी सदस्य, लार्ड वर्ग, पादरी वर्ग एव साधारण सदस्य एक ही सदन में एकत्र होते हैं और वहाँ सब मिलकर सम्राट् के मुखारविन्द से स्वयं उसकी आज्ञा सुनते हैं। किन्तु साधारणतया कुलीन वर्ग (Lords) अपना कार्य एक सदन में करते हैं तथा सर्वसाधारण सदस्य (Commons) दूसरे सदन में।

इगलैण्ड मे किसी चीज़ की पूर्व व्यवस्था नही की जाती। प्रत्येक चीज़ स्वत विकसित होती है। लार्ड सभा (House of Lords) भी इसी प्रकार का स्व-

विकसित वालक है। जब १२६५ में एडवर्ड प्रथम (Edward I) ने अपनी आदर्श पार्लियामेंट (Model Parliament) को आहूत किया तो आम जनता के सभी आमन्त्रित व्यक्ति एक ही सदन में एक साथ बैठे। किन्तु बाद में वे तीन वर्गों (Estates) में विभक्त हो गए—कुलीन वर्ग (Noble), धर्माधिकारी वर्ग (Clergy), एव साधारण सदस्य (Commons)। उन्होंने अलग-अलग सम्राट् की धन सम्बन्धी माँग को सुना और अलग-अलग अपनी-अपनी इच्छानुकूल विचार व्यक्त किये। फिर धीरे-धीरे व्यावहारिक हितो के कारण विभिन्न व्यवस्थाएँ हुईं। महाकुलीन वर्ग (Barons) एव महाधर्माधिकारी वर्ग (Greater Clergy)[1] के सामान्य हित थे और ये दोनो वर्ग मिलकर एक बन गए। निम्न वर्ग के धर्माधिकारियो को अब ससद् में उपस्थित होना क्लेशकारक जान पडने लगा। इसके अतिरिक्त निम्न वर्ग के धर्माधिकारी महाधर्माधिकारी वर्ग के विशेषाधिकारो से द्वेष करते थे और वे अपनी सभाओ में ही धन-दान की घोषणा करना चाहते थे। अत उन्होंने शीघ्र ही ससद् में उपस्थित होना ही छोड दिया। इसी प्रकार उपाधिधारी कुलीन वर्ग भी कुछ अनिश्चितता के बाद उन नगर-प्रतिनिधियो के साथ सदैव के लिये मिल गये जिनके सामान्य हितो से उनके हित मेल खाते थे। इसका फल यह हुआ कि ससद् के दो दल हो गये। एक भाग में कुलीन वर्ग (Peers), ऐहिक वर्ग एव धार्मिक वर्ग बैठने लगा—तथा दूसरे भाग मे प्रादेशिक-प्रतिनिधिक-उपाधिधारी वर्ग तथा नगर-प्रतिनिधि वर्ग। प्रथम जो लार्ड सभा (House of Lords) कहलाया पूर्णतया प्रतिनिधिक भवन न था क्योंकि इसमें उपस्थित होने वाले कुलीन जन वैयक्तिक आमन्त्रण पर उपस्थित होते थे। द्वितीय सदन पूर्णतया प्रतिनिधिक भवन था जिसे लोकसभा (House of Commons) पुकारा जाता था क्योंकि इसमें प्रदेशो एव नगरो के प्रतिनिधि बैठते थे।

कोई नही जानता कि इस प्रकार की व्यवस्था कब और किस प्रकार हो गई। यह सब आकस्मिक हुआ और सामाजिक एव आर्थिक आवश्यकताओ के परिणाम-स्वरूप हुआ। [एडवर्ड तृतीय (Edward III) के राज्य-काल की समाप्ति तक यह द्विसदनात्मक ससद-व्यवस्था पूर्ण हो चुकी थी।[2] इसके बाद दोनो सदनो में राज-नीतिक भेद प्रारम्भ हो गये।

आनुवशिक सिद्धान्त का श्रीगणेश भी कुछ इसी प्रकार हुआ। पीयर (Peer) शब्द का अर्थ है बराबर और प्रारम्भ में इस शब्द का अर्थ था राजा के सामन्तशाही जमीदार जो वैधिक रूप में सब बराबर थे। जब १४वी शताब्दी में ससद् दो भागों में विभक्त हो चुकी, पीयर (Peer) शब्द का प्रयोग उन कुलीनो के लिए होता रहा जिन्हें पार्लिमामेंट के लिये व्यक्तिगत बुलावा मिलता रहा था। इस बात का कोई

---

[1] महापादरी अथवा महाधर्माधिकारी केवल धर्माधिकारी ही न थे, वरन् वे बडे जमीदार भी थे।

[2] Adams, G H Constitutional History of England (1951) pp 194 195.

प्रमाण उपलब्ध नही है कि राजाओ की इच्छा आनुवंशिक कुलीन प्रथा (Peerage) स्थापित करने की थी। किन्तु यह एक प्रकार से प्रथा-सी बन गई कि राजा जब कभी संसद् आहूत करता तो उन्ही कुलीन-जनो (Peers) को बुलाता जो उससे पूर्व संसद् में बुलाये गये थे अथवा यदि इस अवधि में उनमें से कोई कुलीन जन मृत हो गया तो उसके वा उनके सबसे बडे बेटो को बुलाया जाता। समय बीत जाने पर यह प्रथा अधिकार में परिणत हो गई और लार्ड सभा का रिक्त स्थान पिता के बडे पुत्र को मिलने लगा। यह ठीक उसी प्रकार होता था जैसे कि विधि की आज्ञानुसार ज्येष्ठत्व के आधार पर पिता की जायदाद पर ज्येष्ठ पुत्र का अधिकार माना जाता है।

लार्ड सभा की रचना (Composition of the House of Lords)—लार्ड सभा (House of Lords) में इस समय लगभग ८४९ सदस्य है। इनमें से कुछ स्थान तो आनुवंशिक हैं तथा कुछ स्थानो के लिये सदस्य नियुक्त किये जाते हैं। अ-आनुवंशिक सदस्यो मे धर्माधिकारी कुलीन जन होते हैं, जैसे केन्टरबरी (Canterbery) तथा यॉर्क (York) का आर्चबिशप (Archbishop), लन्दन (London), डरहम (Durham) तथा विन्चेस्टर (Winchester) के बिशप (Bishops), तथा चर्च आफ इगलैण्ड (Church of England) के इक्कीस अन्य बिशप (Bishops), इस प्रकार पूरी गिनती २६ की होती है। जब कोई बिशप सदस्य (Sitting Bishop) मरता है अथवा त्याग-पत्र देता है तो उससे निचले पद का बिशप उस स्थान के लिये मनोनीत हो जाता है।

इसके अतिरिक्त नौ लॉर्ड आफ अपील इन आर्डिनरी (Lords of Appeal in Ordinary) होते हैं जिन्हें प्राय विधि-कुलीन जन वा लॉ-लार्ड (Law Lords) कहा जाता है। ये विधि-कुलीन-जन सदन में संसद् के नियम के अनुसार आसीन रहते हैं और यह अधिकार उनके जीवन-पर्यन्त चलता है। कुलीन जनो का यह नया विभाग इसलिये बनाया गया था ताकि कुछ योग्य न्याय-विद् लार्ड सभा में हो जो उसकी न्यायिक कार्यवाहियाँ उचित ढग से अपील के अन्तिम न्यायालय के रूप में चलाते रहे। ये विधि-कुलीन जन (Law Lords) सदन की राजनीतिक कार्यवाहियो में सक्रिय भाग नही लेते। वे प्राय कानूनी विवादो पर ही बोलते हैं।

संसद् के सदस्यो का तीसरा वर्ग उस प्रतिनिधिक कुलीन वर्ग का है जो स्काटलैंड (Scotland) तथा आयरलैंड (Ireland) के होते हैं—१६ स्काटलैंड तथा २८ आयरलैंड के। स्काटलैंड तथा आयरलैंड के सामूहिक कुलीन वर्ग मिलाकर इन स्थानो के लिये सदस्य चुनते हैं। स्काटलैण्ड (Scotland) के कुलीन संसद् के एक सत्र के लिये चुने जाते हैं किन्तु आयरलैण्ड के कुलीन जन एक बार चुने जाकर जीवन-पर्यन्त संसद् के सदस्य बने रहते हैं।[1] सन् १९२२ से जब से स्वतन्त्र आयरलैण्ड

---

[1] आयरलैण्ड के कुलीन वर्ग जो उच्च सदन में अपना स्थान ग्रहण नहीं करते, वे निम्न सदन में चुने जा सकते हैं। उदाहरणत लार्ड विन्टरटन (Lord Winterton) जो १९५० में निम्न सदन के जनक माने जाते थे, एक आयरलैंडवासी कुलीन जन थे। किंतु स्काटलैंटवासी

(Ireland) की स्थापना हुई है, आयरलैण्ड के कुलीन जनो का ब्रिटिश ससद् के लिये चुनाव ही नही हुआ है। इस प्रकार आयरलैण्ड के कुलीन जनो की सख्या घटते घटते १९३६ में १५ रह गई तथा १९५२ में पाँच रह गई और वह शीघ्र शून्य हो जायगी।[1]

शाही परिवार के राजकुमारो का दूसरा समुदाय है। इसमें शाही परिवार के केवल वे पुरुष-सदस्य हैं जो वयस्क होते हैं और जो शाही परिवार के निकट के सम्बन्धी होते हैं। इस वर्ग का विशेष व्यावहारिक महत्त्व नही है क्योकि इसमें दो या तीन से अधिक सदस्य नही होते। इसके अतिरिक्त वे प्राय अनुपस्थित रहते हैं और ससद् की कार्यवाही से प्राय विलग ही रहते हैं।

किन्तु इनमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एव बहु-सख्यक आनुवशिक कुलीन-जन हैं। लार्ड सभा के सब सदस्यो में आनुवशिक कुलीन ९० प्रतिशत हैं। वे अपने सौभाग्य *के बल पर सदस्य बने रहते हैं क्योकि वे पीढी-दर-पीढी होने वाले उस प्रथम पुत्र के* प्रथम पुत्र हैं जो प्रथम बार कुलीन जन के रूप मे लार्ड सभा के लिये चुना गया था।

विशेषाधिकार एव निर्योग्यताएँ (Privileges and Disabilities)—लार्ड सभा (House of Lords) के सदस्यों के कुछ विशेषाधिकार हैं एव कुछ उनकी निर्योग्यताएँ हैं। उनको विचार व्यक्त करने की स्वतन्त्रता है और ससद् के अधिवेशन काल में उन्हे गिरफ्तार नही किया जा सकता। कुलीन जन वैयक्तिक रूप से राजा के पास पहुँचकर लोक-हित के सम्बन्ध में बातचीत कर सकते हैं। उनको यह भी अधिकार है कि वे सदन की बहुमत पार्टी द्वारा किये गये निर्णयो के विरुद्ध ससद् की पत्रिकाओ में लिखित विरोध प्रकाशित कर सकें। एक कुलीन जन के ऊपर यदि देशद्रोह अथवा अन्य महाअपराध का जुर्म लगा होता था तो उसको अधिकार था कि वह अन्य कुलीनो द्वारा न्याय की माँग कर सकता था किन्तु सन् १९३६ में महा अपराध के सम्बन्ध मे यह रियायत वापिस ले ली गई। कुलीन जनो को यह भी अधिकार है कि वे सारे देश के अन्तिम अपीलीय न्यायालय के रूप में कार्य करें किन्तु यह अधिकार अब वैधिक कुलीन जनो (Law Lords) के हाथो में पहुँच गया है।

अब कुलीन जनो के अधिकारो पर केवल निम्न बन्धन (Disabilities) हैं —(१) कुलीन जनो को ससद् के लिए होने वाले चुनावो में मताधिकार नही है, और (२) वे लोकसभा के चुनाव के लिये प्रत्याशी के रूप मे खडे नही हो सकते। यह बधन आयरलैण्ड के कुलीन जनो के ऊपर लागू नही होता क्योंकि वे ससद् के कुलीन जन (Lords of the Parliament) नहीं होते।

प्रक्रिया एव सघटन (Procedure and Organisation)—पार्लियामेंट के दोनो सदन एक साथ प्रारम्भ होते हैं और उनका सत्रावसान[2] भी साथ-साथ ही होता

कुलीन जन जो उच्च सदन में उपस्थित न हों, उन्हें निम्न सदन में चुने जाने की अनुमति नहीं है।

[1] Modern Foreign Governments, op citd, p 216.

[2] पार्लियामेंट के अधिवेशन के अन्त में सम्राट् सत्रावसान करता है और किसी निश्चित तिथि

है किन्तु दोनो सदनो का स्थगन[1] अलग-अलग होता है। उच्च सदन का अधिवेशन सप्ताह मे केवल चार दिन होता है—सोमवार से गुरुवार तक—और केवल लगभग दो घटे प्रतिदिन। यह नियम है कि जब तक कोई आवश्यकता न हो, कार्यवाही समय पर समाप्त हो जानी चाहिये ताकि महामहिम कुलीन जन सन्ध्या के आठ बजे के भोजन के लिये वस्त्र बदल सके। उच्च सदन की उपस्थिति अत्यन्त क्षीण होती है। प्राय ७०-८० से अधिक सदस्य उपस्थित नही होते और इतने भी उस समय जब कि विवादग्रस्त विषय महत्त्वपूर्ण हो। कम से कम तीन सदस्यो की उपस्थिति आवश्यक है किन्तु किसी विधि के पारित करते समय कम से कम ३० सदस्यो की उपस्थिति आवश्यक है। लार्ड सभा मे वाद-विवाद धीरे-धीरे होता है जब कि निम्न सदन (House of Commons) में वादविवाद शीघ्र होता है। भाषण की पूर्ण स्वतन्त्रता होती है और सभापति (Lord Chancellor) की शक्ति विवाद के ऊपर बहुत ही कम होती है जब कि लोकसभा के सभापति (Speaker) की शक्तियाँ अधिक व्यापक होती हैं। विवाद का स्तर ऊँचा रहता है और कभी-कभी तो उसका स्तर लोकसभा के स्तर से भी ऊँचा रहता है।

लार्ड सभा का सघटन निम्न सदन के सदृश ही है। लार्ड चासलर (Lord Chancellor) सभापति होता है। समितियो का एक लार्ड सभापति (Lord Chairman of the Committees) होता है जिसके काम वही होते हैं जो निम्न सदन के अर्थोपाय समिति के चेयरमैन (Chairman of the Committee of Ways and Means) के होते हैं और जो सारे सदन की समिति का सभापति होता है। एक लिपिक (Clerk) भी होता है और उसको ससद् का क्लर्क वा लिपिक कहा जाता है। लोकसभा में जो सशस्त्र परिचारक (Sergeant at arms) होता है उसी के अनुरूप उच्च सदन में जेन्टिलमैन अशर आफ दी ब्लैक रोड (Gentleman Usher of the Black Rod) होता है।

लार्ड चासलर (The Lord Chancellor)—लार्ड सभा (House of Lords) का सभापति लार्ड चासलर कहलाता है जो मन्त्रिमण्डल का सदस्य होता है। लार्ड चासलर अपनी विशिष्ट गद्दी (Woolsack) पर बैठ कर लार्ड सभा की कार्यवाहियो का मार्ग निर्देशन करता है। लार्ड चासलर प्राय कुलीन होता है और यदि नही होता तो उसे नियुक्ति के बाद बना दिया जाता है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि साधारण सदस्य लार्ड चासलर बन ही नही सकता। लार्ड चासलर की गद्दी लार्ड सभा के बाहर रखी रहती है ताकि अ-कुलीन जन भी सदन की समितियो का सभापतित्व कर सकें तथा अन्य कार्यवाहियाँ निभा सके।

को पुन बुलाने का आदेश करना है। इनको सत्रावसान कहते हैं। सत्रावसान के साथ अधिवेशन समाप्त होता है और सारी अनिर्णीत कार्यवाही समाप्त समझी जाती है।

[1] स्थगन के अर्थ है कि कार्यवाही स्थगित की जाती है। प्रतिदिन की कार्यवाही के बाद तथा यदि छुट्टी पड़ जाय तो अधिवेशन स्थगित हो जाता है।

लार्ड चासलर के कार्य वहुत हैं और विविध हैं । यहाँ हम उन्ही का विवेचन करने बैठे है जिनका सम्बन्ध इसकी विशिष्ट गद्दी (Woolsack)[1] पर वैठने से है । उसके सभापति पद पर वैठने के सम्वन्ध मे जो शक्तियाँ हैं, यदि उनकी लोकसभा के स्पीकर (Speaker) की शक्तियो से तुलना की जाय तो वे प्राय नगण्य हैं। प्रायः लार्ड चासलर की शक्तियाँ साधारण चेयरमैन की शक्तियो से न्यून हैं । मान लीजिए यदि दो या दो से अधिक सदस्य एक साथ बोलने को खडे हो जायँ तो सदन इस बात का निर्णय करेगा कि कौन पहिले बोले । लार्ड चासलर को यह निश्चित करने का अधिकार नही है । लार्ड सभा की कार्यवाही पूर्ण सुव्यवस्थित होती है किन्तु यदि वाद-विवाद को सयमित करने की आवश्यकता आ पडे तो यह काम भी सदन ही करता है, न कि लार्ड चासलर (Lord Chancellor) । जब सदस्यगण वोलते हैं तो वे सभापति को सम्बोधित नही करते बल्कि सदन को और वे इस प्रकार प्रारम्भ करते हैं, "माई लार्डस" (My Lords) । यदि लार्ड चासलर कुलीन होता है तो वह सदन की कार्यवाही अथवा वादविवाद मे भाग ले सकता है। जिस समय वह ऐसा करता है तो अपनी गद्दी (Woolsack) से अलग हट जाता है। दलगत नीति के आधार पर वह अन्य सदस्यो की भाँति मत भी दे सकता है किन्तु किसी भी हालत में उसका मत निर्णायक मत नही होगा ।

लार्ड सभा के अधिकार तथा कर्त्तव्य

(Powers and Functions of the Lords)

अधिकार—१६११ से पूर्व वित्तीय (Powers before 1911-Financial)—हम देख चुके हैं कि ससद् का विकास प्रारम्भ में एक सलाह देने वाले निकाय के रूप में हुआ । इसके पास कोई वैधानिक शक्तियाँ नही थी । हम यह भी देख चुके हैं कि ससद् ने धीरे-धीरे यह मनवा लिया कि राजा, बिना पार्लियामेट की अनुमति के कर नही लगा सकता । हमने यह भी देख लिया कि ससद् राजा को किसी प्रकार का अनुदान प्रदान करने के पूर्व राजा से प्रजा की शिकायतें दूर कराती थी। लेकिन जबकि राजा तथा ससद् में यह सघर्ष चल रहा था, उसी समय ससद् के अन्दर भी यह सघर्ष चल रहा था कि वित्तीय मामलो में ससद् का प्रवक्ता कौनसा सदन होगा। रिचर्ड द्वितीय (Richard II) के राज्य-काल में लोकसभा (House of Commons) ने अधिकार चाहा कि वित्तीय मामलो मे पूछा जाय और चार्ल्स प्रथम (Charles I) के राज्य-काल में उसका कथन था कि राजा को वित्तीय अनुदान केवल लोकसभा (House of Commons) ही दे सकती है, इसके बाद १६७१ में उसने कहा कि यद्यपि नियमत वित्तीय अनुदान में लार्ड सभा (House of Lords) की अनुमति आवश्यक है किन्तु यह लार्ड सभा की शक्तियो से परे की वात है कि वह लोकसभा द्वारा उपस्थित किए हुए किसी वित्तीय प्रस्ताव पर सशोधन उपस्थित करे ।

---

[1] लार्ड चासलर के अन्य कर्त्तव्यों के लिये अध्याय ८ देखिये ।

सन् १६७८ में निम्न सदन ने एक और प्रस्ताव पास किया जो इससे भी अधिक व्यापक था। उसमें कहा गया था कि "सभी अनुदान एव वित्तीय सहायता जो ससद् द्वारा सम्राट् को दी जाती है उस पर केवल लोकसभा अथवा निम्न सदन का ही अधिकार है और वे सारे विधेयक, जो सम्राट् को दिये जाने वाले अनुदान से सम्बन्धित हो निम्न सदन से ही प्रारम्भ हो सकते हैं तथा यह निम्न सदन का असदिग्ध अधिकार है कि वह इस प्रकार के प्रस्तावो को घुमावे या उन्हें सीमित करे अथवा उन प्रस्तावो की समाप्ति की आज्ञा दे, उद्देश्यो पर प्रकाश डाले, विचार करे, उसकी अवस्था में भेद करे, उस पर प्रतिबन्ध अथवा नियमन लगावे। किन्तु किसी भी हालत में उच्च सदन (House of Lords) उस प्रस्ताव मे कोई सशोधन नहीं कर सकता। उच्च सदन ने निम्न सदन की वित्तीय मामलो पर परमेष्ठता को कभी स्वीकार नही किया यद्यपि धीरे-धीरे व्यवहारत उच्च सदन ने निम्न सदन के इस दावे को प्राय मान ही लिया है। किन्तु १८६० में उच्च सदन ने कागज पर कर लगाने सम्बन्धी एक विधेयक को अस्वीकार करने का दुस्साहस किया। किन्तु निम्न सदन डटा रहा और उसने उसको पास करा ही लिया। उसने कहा कि वित्तीय मामलो पर केवल निम्न सदन का ही अधिकार होगा और यदि उच्च सदन निम्न सदन की वित्तीय शक्तियो पर प्रतिबन्ध लगाना चाहेगा तो इसे निम्न सदन के विशेषाधिकारो पर आघात समझा जायगा।

बीसवी शताब्दी के प्रारम्भ में उच्च सदन ने एक बार पुन अपनी खोई हुई शक्ति को प्राप्त करने का प्रयत्न किया। १८३१, १८२६ तथा १८६३ में उच्च सदन कई वैधिक प्रस्तावो को रद्द कर चुका था जिससे कुलीन जनो की हिम्मत कुछ बढ गई थी। अबकी बार उन्होने लायड जार्ज (Lloyd George) के कुछ प्रस्तावो को रद्द कर दिया जिनके द्वारा जमीदारियो पर कुछ नए कर लगाने का विचार किया गया था। निम्न सदन का कथन था कि इस प्रकार के करो का प्रस्ताव करना उसका राजनीतिक अधिकार है। यह उदारदलीय सरकार (Liberal Government) के लिए सविधानिक महत्त्व का प्रश्न बन गया क्योकि वे १९०६ मे प्रबल जनमत की विजय के फलस्वरूप वे सत्तारूढ हुए थे। फलत १९११ का पार्लियामेंट एक्ट (Parliament Act of 1911) पास हुआ। इस नियम ने निम्न सदन को न केवल वित्तीय मामलो मे परमेष्ठ बना दिया बल्कि साधारण वैधिक मामलो में भी सर्वशक्तिमान बना दिया।

१९११ से पूर्व शक्तियां, विधायक (Powers before 1911 Legislative)—साधारण विधायक कार्यों में उच्च सदन (House of Lords) एव निम्न सदन की शक्तियां प्राय समान थी। वित्तीय प्रस्तावो को छोडकर सभी वैधिक प्रस्ताव उच्च सदन में प्रारम्भ किये जा सकते थे और अब भी किये जा सकते हैं यद्यपि व्यवहारत दस में से नौ प्रस्ताव निम्न सदन से ही प्रारम्भ होते हैं।[1] फिर भी उच्च सदन में

---

[1] उच्च सदन में प्रारम्भ होने वाले सभी प्रस्ताव प्राय प्राइवेट सदस्यों द्वारा प्रस्तावित होते हैं, या अन्य अ-विवादास्पद विधेयक होते हैं जैसे न्याय सम्बन्धी विधेयक आदि।

क्षमता थी और उसने निम्न सदन द्वारा प्रस्तावित वैधिक प्रस्तावो को सशोधित व अस्वीकार भी कर दिया। उच्च सदन एक प्रस्ताव को बारम्बार भी अस्वीकार कर सकता है जिसको निम्न सदन बारम्बार पास करता जाय और ऐसा कई बार हुआ भी। एक बार जब कठिन सघर्ष के बाद ग्लेडस्टन (Gladstone) द्वितीय होम रूम बिल (Second Home Rule Bill) को निम्न सदन में पास करा पाया कि यह बिल उच्च सदन (House of Lords) ने अस्वीकार कर दिया। यह ग्लैडस्टन (Gladstone) को बडा अप्रिय लगा। अपने पद से हटते समय ससद् के अपने अन्तिम व्याख्यान में प्रधान मन्त्री ने दोनो सदनो के मध्य चल रहे सघर्ष के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए आशा व्यक्त की कि इसका अन्तिम निर्णय करना ही होगा। प्रधान मन्त्री की भविष्यवाणी सत्य निकली और १९०९ में यह सघर्ष पुन उठ खडा हुआ जो १९११ के अधिनियम के पास होने के रूप में समाप्त हुआ जिसके द्वारा उच्च सदन की वैधिक शक्ति रूपी पक्षी के एक प्रकार से पर कतर दिये गये।

१९११ के पार्लियामेंट अधिनियम (Parliament Act of 1911) के पूर्व निम्न सदन (House of Commons) किसी प्रकार भी अपनी मनमानी नही कर सकता था। अत प्रधान मन्त्री के पास केवल एक ही विकल्प था कि वह राजा से प्रार्थना करे कि वह इतने कुलीन जन (Lords) बना दे कि उच्च सदन उसके पक्ष में जाय। किन्तु यह सकटपूर्ण पग था और कोई प्रधान मन्त्री ऐसी प्रार्थना तब तक नही कर सकता था जब तक कि उसे मतदाताओ की मतदान सम्बन्धी नीति पर पूर्ण विश्वास न हो। अत इस स्थिति में उसके पास एक ही विकल्प था कि वह ससद् को भग करा दे और आम चुनाव (General Election) में इस समस्या को लेकर जनमत तैयार करे। यदि मत-दाताओ ने इसको मान लिया तो उच्च सदन भी दब जायगा और प्राय यही होता भी था। किन्तु जब १९१० में लोगो के सम्मुख यह प्रश्न आया तो उच्च सदन ने पूर्वगामी निर्णयो पर ध्यान नही दिया।

१९११ का पार्लियामेंट अधिनियम (The Parliament Act of 1911)—१९११ का पार्लियामेट एक्ट विशेष वैधानिक महत्त्व रखता है। इसने निम्न सदन की जीत पर वैधिक मुहर लगा दी। इस अधिनियम के अनुसार निम्न सदन के तीन सिद्धान्त मान लिये गये। इस प्रकार निम्न सदन की वैधानिक परमेष्ठता स्वीकार कर ली गई। पहिला सिद्धान्त यह मान लिया गया कि समस्त वित्तीय प्रस्तावो पर केवल निम्न सदन का ही प्रभुत्व रहेगा। इसके फलस्वरूप हमको द्वितीय सिद्धान्त प्राप्त हुआ कि मन्त्रिमण्डल पर केवल निम्न सदन का अधिकार रहेगा। और अन्तिम सिद्धान्त यह निश्चित हुआ कि निम्न सदन अकेले बिना उच्च सदन की राय पूछे कोई भी विधेयक पास करने में क्षम है जिसको निम्न सदन तीन अधिवेशनो में लगातार स्वीकृत कर दे। अब हम १९११ के पार्लियामेंट अधिनियम (Parliament Act of 1911) की धाराओ पर गम्भीरता से विचार करेंगे।

(१) वित्तीय विधेयको के सम्बन्ध में अधिनियम कहता है, "यदि कोई धन

विधेयक जिसको निम्न सदन ने पास करके उच्च सदन में अधिवेशन समाप्त होने के एक मास पूर्व भेज दिया है और यदि उसको उच्च सदन ने बिना सशोधन निम्न सदन द्वारा भेजे जाने के एक मास पश्चात् भी पास नही किया तो उक्त विधेयक सम्राट् के समक्ष भेज दिया जाय—यदि निम्न सदन इसके विपरीत आज्ञा न दे—और सम्राट् की स्वीकृति मिलने पर वह प्रस्ताव अधिनियम बन जायगा। इस बात की चिन्ता नही की जायगी कि उच्च सदन (House of Lords) ने उक्त प्रस्ताव पर सहमति प्रदान की है अथवा नही।"

सक्षेप मे इसका अर्थ है कि यदि उच्च सदन किसी वित्तीय प्रस्ताव पर अपनी स्वीकृति एक मास से अधिक रोके रखे, तो वह प्रस्ताव सम्राट् के समक्ष उपस्थित कर दिया जायगा और सम्राट् की अनुमति मिलने पर अधिनियम बन जायगा।

(२) धन विधेयक की परिभाषा करते हुए बताया गया था कि इसमें न केवल कर-सम्बन्धी प्रस्ताव होगे बल्कि उपयोजन (Appropriation) एव सप्रेक्षण (Audit) सम्बन्धी प्रस्ताव भी शामिल हैं। निम्न सदन के अध्यक्ष (Speaker) का कर्त्तव्य है कि वह इस सम्बन्ध में स्पष्टीकरण दे कि अमुक प्रस्ताव वित्तीय प्रस्ताव है अथवा अ-वित्तीय।

(३) "यदि कोई साधारण विधेयक (अवित्तीय प्रस्ताव अथवा ऐसा प्रस्ताव जो ससद् के अधिवेशनपर्य्यन्त चले) निम्न सदन तीन लगातार अधिवेशनो में लगातार पास कर दे (चाहे वह तीन अधिवेशन उसी ससद् के हो अथवा अलग-अलग ससदो के) और यदि उसे फिर अधिवेशन समाप्त होने के एक मास पूर्व उच्च सदन मे भेज दिया जाय और यदि उसे उच्च सदन प्रत्येक अधिवेशन मे अस्वीकृत कर दे, तो वह प्रस्ताव तीसरी बार उच्च सदन द्वारा अस्वीकृत हो जाने पर—यदि निम्न सदन इस सम्बन्ध मे कोई विपरीत आज्ञा न दे—सम्राट् के समक्ष उपस्थित किया जायगा और सम्राट् की स्वीकृति मिल जाने पर अधिनियम का रूप धारण कर लेगा, और इस बात की चिन्ता नही की जायगी कि उच्च सदन ने अमुक प्रस्ताव पर अपनी सम्मति एव स्वीकृति प्रदान की है वा नही। इसमें यह शर्त रहेगी कि यह अधिनियम तब तक प्रभावी न होगा जब तक कि निम्न सदन के प्रथम अधिवेशन के द्वितीय वाचन की तिथि तथा उस तिथि मे यह तृतीय अधिवेशन के लिये निम्न सदन (House of Commons) में उपस्थित हो, दो वर्ष न गुज़र जायँ।"

इस धारा का अर्थ है कि यदि कोई प्रस्ताव लगातार अधिवेशनो में तीन बार पास कर दिया जाय और उच्च सदन तीनो बार उसे अस्वीकृत कर दे तो वह राजा की स्वीकृति के लिए भेज दिया जाय बशर्ते कि प्रस्ताव की आरम्भिक कार्यवाही में जो निम्न सदन मे हुई तथा तृतीय अधिवेशन में उसी निम्न सदन में अन्तिम बार पास करने की तिथि में दो वर्ष का समय गुजर गया हो।

१९४९ का सशोधन-अधिनियम (The Amending Act of 1919)—इन वैधिक आज्ञाओ के अतिरिक्त यह भी मान लिया गया कि उच्च सदन किसी ऐसे प्रस्ताव को अस्वीकृत नही करेगा जिसके सम्बन्ध में मतदाताओ ने आम चुनाव के

समय आदेश दिया हो । किन्तु श्रमिक दल उन बन्धनो से प्रसन्न नही था जो पार्लियामेट एक्ट (Parliament Act) ने लगा दिए ,विशेषकर अ-वित्तीय प्रस्तावो के ऊपर जिनके पास होने के लिए दो वर्ष की देर लगाई जा सकती थी। १९४५ के श्रमिक दल के चुनाव-घोषणा-पत्र में कहा गया था—"हम स्पष्ट चेतावनी देते हैं कि हम उच्च सदन द्वारा (House of Lords) आम लोगो की इच्छा पर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार नही करेंगे।" जब श्रमिक दल सत्तारूढ हुआ तो आशा की जाती थी कि कुछ नाटकीय परिवर्त्तन होगे । किन्तु अक्तूबर १९४७ तक कोई घटना नही घटी जब कि सम्राट् ने अपने भाषण में कहा कि सरकार तुरन्त एक प्रस्ताव उपस्थित करना चाहती है जिसके द्वारा पार्लियामेट अधिनियम (Parliament Act) का इस प्रकार सशोधन हो जाय जो तीन अधिवेशनो से घटाकर दो अधिवेशन कर दिए जायें और दो वर्षों की अवधि को घटाकर एक वर्ष की अवधि कर दी जाय अर्थात् अधिक से अधिक लार्ड सभा दो अधिवेशनो के समय के लिये अथवा एक वर्ष के समय के लिये किसी अवित्तीय प्रस्ताव को रोक सकती है ।

इस शीघ्र घोषणा का कारण यह था कि सरकार लोहा एव इस्पात के व्यवसाय का राष्ट्रीयकरण करने के लिये कृत-सकल्प थी। सरकार ने ठीक ही सोचा था कि लार्ड सभा विरोध करेगी अत यह आवश्यक समझा गया कि प्रस्ताव पास करने का मार्ग साफ किया जाय । यह शासन सत्तारूढ होने के चौथे वर्ष में किया गया। सशोधनात्मक प्रस्ताव नवम्बर १९४७ में उपस्थित किया गया और लार्ड सभा की ओर से बार-बार इसका डटकर विरोध हुआ ।[1] किन्तु दो वर्ष बाद लार्ड सभा की स्वीकृति की आवश्यकता पडे बिना ही वह प्रस्ताव पास हो गया, जिसके फलस्वरूप पार्लियामेंट के १९११ के अधिनियम (Parliament Act of 1911) में अवित्तीय वैधिक प्रस्ताव के पास होने सम्बन्धी प्रक्रिया मे हेर-फेर स्वीकृत हो गया।

१९४९ के सशोधन अधिनियम (Amending Act of 1949) के अनुसार कोई विधेयक विधि के रूप में पारित हो जायगा चाहे उसको लार्ड सभा अस्वीकृत करदे—बशर्ते कि लोकसभा उसको दो लगातार अधिवेशनो में पास करदे (१९११ के पार्लियामेंट अधिनियम में तीन अधिवेशनो की शर्त थी) और यदि एक वर्ष (आरम्भ में दो वर्ष) लोकसभा के प्रथम अधिवेशन के द्वितीय वाचन की तिथि तथा उस तिथि में जब द्वितीय बार निम्न सदन ने इसको पास किया, बीत गया हो।

लार्ड सभा के अधिकार तथा कर्त्तव्य (Powers and Functions of the House of Lords)—पार्लियामेंट के १९११ के अधिनियम (Parliament Act of 1911) के अनुसार तथा उसके १९४९ के सशोधन की धाराओ के अनुसार लार्ड सभा

---

[1] *लोकसभा में तृतीय वाचन में मतगणना के पक्ष में ३२३ और विपक्ष में १९५ मत थे। उदारवादियों ने शासन का साथ दिया था। लार्ड सभा में विपक्ष में २०४ और पक्ष में ३४ मत थे। लार्ड सभा में उदारवादियों ने शासन के विरुद्ध मतदान किया। लार्ड सभा के लिए यह मतदान असाधारण महत्त्व का था।*

(House of Lords) के अधिकार तथा कर्त्तव्य इस प्रकार निश्चित किये गए हैं। उनका निम्न तीन वर्गों में वर्णन किया जा सकता है—

(१) अवित्तीय विधेयकों में संशोधन अथवा उन पर पुनः विचार।

(२) शासन तथा लोगों के ऊपर किसी विधेयक के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करके प्रभाव डालने की शक्ति।

(३) कतिपय वैधिक शक्तियाँ।

(१) वित्तीय विधेयकों पर लोकसभा का पूर्ण अधिकार है। यदि लार्ड सभा किसी वित्तीय विधेयक पर एक मास से अधिक तक स्वीकृति न दे [जब कि लोकसभा के सभापति (Speaker) ने घोषित कर दिया हो कि अमुक विधेयक वित्तीय है] तो वह वित्तीय विधेयक सम्राट् के समक्ष उपस्थित किया जायगा तथा सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त होने पर अधिनियम का रूप धारण कर लेगा।

अवित्तीय विधेयक के सम्बन्ध में काफी प्रकाश डाला जा चुका है। यदि कोई विधेयक लोकसभा द्वारा दो लगातार अधिवेशनों में पास कर दिया जाय जिसमें कम से कम उसके प्रथम बार के द्वितीय वाचन में तथा निम्न सदन द्वारा अन्तिम रूप से पास किये जाने के समय में १ वर्ष का समय बीत चुका हो, तो वह सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त होने पर अधिनियम का रूप धारण कर लेगा चाहे उसको लार्ड सभा ने अस्वीकृत भी कर दिया हो।

लार्ड सभा का दूसरा कर्त्तव्य यह है कि शासन तथा लोगों के ऊपर किसी विधेयक के सम्बन्ध में प्रभाव डाले। वे कुलीन जन (Peers) जो वाद-विवाद में भाग लेते हैं तथा मतदान में रुचि रखते हैं प्रायः ससार विश्रुत होते हैं। कोई भी शासन जो आलोचना का स्वागत करता है और जो अपने कार्य-कलापों से सर्वसाधारण को अवगत रखता है इस प्रकार के विशिष्ट प्रतिभाशाली जनों के विचारों की पूर्ण अवहेलना कर ही नहीं सकता। इसके अतिरिक्त वाद-विवाद खुले तथा स्वतन्त्र वातावरण में होते हैं और कभी-कभी तो लार्ड सभा के वाद-विवाद का स्तर लोकसभा के वाद-विवाद से भी उच्च स्तर पर होता है। अतः लार्ड सभा के वाद-विवादों का शासन पर निश्चित प्रभाव पड़ता है और समाचारपत्रों द्वारा प्रजा के मन पर भी प्रभाव पड़ता है। कभी-कभी तो लार्ड सभा निम्न सदन से भी अधिक प्रभाव डालती है।[1]

लार्ड सभा का तीसरा कार्य न्यायिक कार्य है। राज्य में यह सब से बड़ा अपीलीय न्यायालय है। किन्तु अब पूरी लार्ड सभा उच्च अपीलीय न्यायालय के रूप में आहूत नहीं होती यद्यपि लार्ड सभा के सारे आठ सौ के लगभग सदस्यों का उसके निर्णय में हाथ हो सकता है। अब केवल लार्डस् आफ अपील (Lords of appeal) अथवा लार्ड सभा के न्यायिक सदस्य (Law Lords) ही यह कार्य करते हैं। सभापति लार्ड चांसलर (Lord Chancellor) होता है। विधि कुलीन जन (Law Lords) एक प्रकार से उच्च सदन की विशेषज्ञ समिति है, जिसको न्यायिक अपील सुनने का

---

[1] Brown, W. J Everybody's Guide to Parliament (1952), p 52

अधिकार दे दिया गया है।

लार्ड सभा का सुधार
(Reforming the Lords)

लार्ड सभा के विरोध में तर्क (Arguments against)—इगलैण्ड में किसी राजनीतिक सस्था की इतनी आलोचना नही हुई है जितनी कि लार्ड सभा की। श्रमिक दल १९०७ से बराबर यही कह रहा है कि अब लार्ड सभा की आवश्यकता नही है अत इसका अन्त कर देना चाहिये। इसके विपरीत उदार दल का विचार है कि इसका सुधार होना चाहिये। मुख्य तर्क जो लार्ड सभा के सुधार के पक्ष मे अथवा इसके अन्त करने के पक्ष में दिये जाते हैं, वे निम्न हैं—

(१) कहा जाता है कि लार्ड सभा एक प्रजातन्त्रात्मक देश में निरर्थक राजनीतिक सस्था (Political anchronism) है। लार्ड सभा का निर्माण अब भी उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि शताब्दियो पूर्व होता था। कम से कम ९० प्रतिशत से अधिक कुलीन जन (Lords) अपने स्थानो पर इस कारण आसीन हैं क्योकि उनके पितामह सदस्य थे। आनुवशिक प्रतिभा भी मानी जाती है किन्तु यहाँ तो आनुवशिक प्रतिभा की बाढ़-सी आ गई प्रतीत होती है। यदि यह मान भी लिया जाय कि सभी कुलीन जन (Lords) योग्य न्याय-व्यवस्थापक हैं, तो भी उनकी न्यायिक योग्यता को जाँचने का कोई पाप नही है। और यदि सब कुलीन जनो की योग्यता पूरी तरह से सिद्ध भी हो गई तो भी डाक्टर फाइनर (Dr Finer) के शब्दो में "आधुनिक ससार में पूर्ण योग्यता तो शासन में भी नही मानी जाती जब तक कि वह उन लोगो के हितो का प्रतिनिधित्व न करती हो जो नियमो का पूर्णरूपेण पालन करते हो।"[1] कुलीन जन (Lords) किसी के प्रति उत्तरदायी नही होते। वे अपने स्थानो पर अपने विशेषाधिकार की शक्ति पर आसीन होते हैं। वे किसी पार्टी में भी सम्मिलित नही होते, न किसी निर्वाचन-क्षेत्र में उनके लिये मत (Vote) दिये जाते हैं। न किसी निर्वाचन-क्षेत्र में लोग यह जानने का प्रयत्न करते हैं कि वे अपने कर्त्तव्यो का नियम-पूर्वक एव बुद्धिमानी-पूर्वक निर्वहन कर रहे हैं वा नही। दूसरे शब्दो में जैसा कि जैनिग्ज (Jennings) ने कहा है कि "उनको या उनकी नौका को जनमत रूपी आँधी की चिन्ता नही है।"[2] और फिर भी उनको प्रजा का प्रतिनिधि समझा जाता है जिनमें प्रजा की पूर्ण आस्था रहती है। इसी कारण वैब्स (Webbs) ने लिखा है कि "लार्ड सभा के निर्णय इस कारण भ्रष्ट हो जाते हैं कि उसकी निर्माण प्रक्रिया (Composition) दूषित है। यह ससार की सब से बुरी प्रतिनिधिक सस्था है "[3]

---

[1] Finer The Theory and Practice of Modern Government, op. citd p 407

[2] Jennings British Constitution, op citd , p 90

[3] Sidney and Webb A Commonwealth of Great Britain, p 63.

(२) लार्ड सभा में वहुत ही कम सदस्य उपस्थित होते हैं तथा कुलीन जन (Lords) अपने वैधिक कर्त्तव्यो में वहुत ही कम रुचि लेते हैं, यह स्वय इसका तर्क है कि उच्च सदन का या तो सुधार हो या इसे समाप्त कर दिया जाय। प्राय ८० या ९० सदस्य इसके विचार-विमर्श में भाग लेते हैं।[1] वहुत से कुलीन जन इस सुनहले सदन में इतने कम उपस्थित होते हैं कि सदन के कर्मचारी उन्हें पहिचानते भी नही।[2] कम से कम लार्ड सभा के आधे सदस्य कभी सदन में वोलने के लिये खडे नहीं हुए। जिन सदस्यो ने सदन में कई वार वोला है वे सारे सदन के सदस्यो के $\frac{1}{5}$ हैं और जो वोलते हैं वे प्राय मन्त्री या भूतपूर्व मन्त्री ही होते हैं। यह वहुत ही कम मौको पर देखा गया हैं कि वे दलवल सहित उपस्थित हुए हो जव कि विशेष प्रगतिशील विधेयक को हराने की सदस्यो की हार्दिक इच्छा भी रही हो।[3] और लार्ड सभा की गणपूर्ति (Quorum) तीन सदस्यो की सख्या होती है। लार्ड सेम्युएल (Lord Samuel) के शब्दो में इगलैंड की लार्ड सभा ससार का एक अनोखा सदन है जिसके अधिकाश सदस्य अनुपस्थित रहते हैं फिर भी सदन सुचालित रहता है।

(३) इसके अतिरिक्त इन आनुवशिक सदस्यो में से अधिकाश सदस्य अनुदार दल के सदस्य हैं। इस प्रकार अनुदार तत्त्व लार्ड सभा में मजवूती से जमा हुआ है। सारी लार्ड सभा में लगभग ६०० सदस्य अनुदारदलीय हैं, ८० अथवा १०० के लगभग उदारदलीय हैं, और लगभग २० श्रमिक दल के सदस्य है।[4] इसका फल यह होता है कि जनमत का आदेश चाहे कुछ भी हो, और चाहे किसी दल का भी लोकसभा पर अधिकार हो, किन्तु लोकसभा की कमान अनुदार दल और उसके भी प्रतिक्रियावादी सदस्यो के हाथों मे रहती है।

(४) रैम्जे म्योर (Ramsay Muir) के शब्दो में लार्ड सभा धनिक वर्ग अथवा पूंजीपतियो का रक्षक दुर्ग वन गया है। लास्की (Laski) के कथन के अनुसार देश में ऐसा कोई वडा उद्योग नही है जिसके पूंजीपति नेताओ का प्रतिनिधित्व उच्च सदन में न हो।[5] वास्तव में धन एव पूंजी ही लार्ड सभा की आधार-शिला रही

---

[1] “१९३२-१९३३ में २८७ सदस्यों ने कभी भी सदन मे उपस्थिति नहीं दिखाई। १९१९ से १९३१ तक १११ सदस्यों ने कभी भी मत नहीं दिये। आधे से अधिक सदस्य कभी वक्तृता देने खड़े नहीं हुए। ४४० में से केवल १३ वार मतगणना हुई जिसमे २०० ने मतदान दिया। सारे समय में केवल ९८ सदस्य वर्ष में एक वार से अधिक वोले। वोलने वालों में प्राय मन्त्री या भूतपूर्व मन्त्री थे।”

—Greaves The British Constitution, p 53

[2] सन् १८९३ मे जव कि लार्डों (Lords) ने अकथ प्रयत्न किया कि द्वितीय होमरूल विल को परास्त किया जाय। एक लार्ड को दरवान ने रोक लिया और पूछा कि क्या तुम सदस्य हो। लार्ड ने उत्तर दिया, “यदि मै सदस्य न होता तो क्योंकर इस दुखदायक काले घर में आता।”

[3] १९४७ के पार्लियामेंट सशोधन अधिनियम के द्वितीय वाचन के समय लार्ड सभा के सदस्यों ने २०४ मतों के विरुद्ध ३४ मतों से उसे अस्वीकृत कर दिया। लार्ड सभा के इतिहास मे यह मतदान असाधारण था।

[4] Finer · Theory and Practice of Modern Government, p. 407.

[5] Laski · Parliamentary Government in England, p 712

हैं और उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व लार्ड सभा में है । लार्ड सभा के सदस्यो मे से तिहाई से अधिक देश के मुख्य उद्योग-धन्धो के डाइरेक्टर हैं और बहुत से तो कई-कई उद्योगो के डाइरेक्टर है । लार्ड सभा के सदस्यो में से एक-तिहाई बडी-बडी जमीदारियो के मालिक हैं । उनमे से बहुत से विवाह, पैदायश वा जन्म अथवा व्यापारिक सम्बन्धो के कारण लोकसभा के अनुदार सदस्यो से सम्बन्धित हैं ।[1] इस प्रकार कुलीन जन (Lords) मुख्यत एक आर्थिक गुट है । इसमे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि दलो का भेद वास्तव मे वर्ग-भेद है और कुलीन जन (Peers) अधिकतर एक ही वर्ग के हैं । तो फिर यह कैसे सोचा जा सकता है कि पूँजीपति वर्ग जिसके अपने निहित स्वार्थ हैं, पूर्ण सामाजिक एव आर्थिक सुधारो के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करेगा ।

(५) जब सम्पूर्ण लार्ड सभा निश्चिनत एक पार्टी के रूप में सिद्धान्तत काम करती है और उसने जान-बूझ कर सुधार के माग को अवरुद्ध किया है तब लार्ड सभा का अस्तित्व डाक्टर फाइनर (Dr Finer) के शब्दो मे "एक भारी अव्यवस्था है जिसका इस काल में औचित्य सिद्ध नही किया जा सकता ।" अत इगलैंड मे एबेमेई (Abbe Sieye) के निम्न कथन को व्यावहारिक ज्ञान समझा जाता है, 'यदि द्वितीय सदन (Second Chamber) प्रथम सदन के अनुकूल है तो यह निरर्थक है और यदि विरोधी है तो यह अनिष्टकारी है ।"[2] श्रमिक दल की नियमबद्ध नीति यही रही है । यद्यपि इस दिशा में उक्त दल ने कोई ठोस कदम अभी नही उठाया है कि ससद् का एक ही सदन हो । लास्की (Laski) का कथन है कि लार्ड सभा (House of Lords) को समाप्त कर दिया जाये । वह कहता है कि लाड सभा जैसे अप्रजातन्त्रात्मक समाज में रहना कठिन है यदि वह प्रजातन्त्र की बढ़ती हुई माँग के अनुरूप अपना आचरण नही बना सका और प्रजातन्त्र की मांगें है कि जनमत के आगे झुकना सीखो तथा सामाजिक आवश्यकताओ का मान करो । लार्ड सभा (House of Lords) प्रजातन्त्र की माँगो को पूरा नही कर सकती "क्योकि जिन हितो की यह प्राणपण से रक्षा करती है, उन्ही निहित हितो पर प्रजातन्त्र प्रहार करता है ।"[3] स्पष्ट शब्दो में लार्ड सभा (House of Lords) पूँजी एव विशेपाधिकारो का रूप है और वास्तविक सघर्ष है पूँजी में तथा पूँजी-विहीन जनता मे । प्रजातन्त्र जनता का हामी है और प्रजातन्त्र मे ऐसी कोई चीज नही पनप सकती जो जनता के हितो से टकराती हो । अत समय की आवश्यकता है कि लार्ड सभा (House of Lords) को समाप्त किया जाय ।

---

[1] Finer Theory and Practice of Modern Government, p. 407-408

सन् १९३१ में लार्ट सभा में २४६ जमींदार थे । ६७ बैंकों के टाइरेक्टर थे । ४९ इन्जीनियरिंग के कारखानों के टाइरेक्टर थे । ११२ इन्शोरेंस कम्पनियों के डाइरेक्टर थे ।

Greaves The British Constitution, op citd , p 54

[2] Parliamentary Government is England, op citd , p, 123.

[3] Parliamentary Government in England, op citd, p 136.

लार्ड सभा के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of the House of Lords)—श्रमिक दल की शक्तिशाली नीति यह है कि लार्ड सभा (House of Lords) को तोड दिया जाए। उदार दल (Liberal Party) ने इस दिशा मे सुनिश्चित प्रयत्न किया कि आधुनिक लार्ड सभा के स्थान पर ऐसा सदन स्थापित किया जाय जो वशानुगत आधार पर न चुना जाकर लोक-प्रियता के आधार पर चुना हुआ निकाय बने। इसके होते हुए भी लार्ड सभा अब भी वही है जो वह शताब्दियो से चली आई है। यह मुख्यत वशानुगत कुलीनो का सदन है। उदारदलीय जन कोई ऐसा हल नही निकाल सके जिससे यह सदन प्रजातन्त्रात्मक बन सकता। यहाँ तक कि श्रमिक दल ने अपने चार शासनो के जीवन-काल में भी कोई प्रयत्न नही किया कि इसका अन्त हो या इसका यथेष्ट सुधार हो। श्रमिक दल केवल यही कर सका कि १९११ के पार्लियामेंट अधिनियम (Parliament Act of 1911) में कुछ सुधार हो गया। वास्तव मे सारी समस्या के समाधान में इतनी कठिनाइयाँ हैं कि यह प्रश्न यूँ ही पडा रहेगा। यद्यपि भविष्यवाणी नही की जा सकती फिर भी इगलैण्ड में आम धारणा यही है कि उच्च सदन (House of Lords) कुछ सुधरी हुई अवस्था में इसी प्रकार चलेगा ताकि कुछ ऐसा दिखाई पडने लगे कि इसका स्वरूप कुछ-कुछ प्रजातन्त्रात्मक हो गया है।

(१) पहिला जो वास्तव में महत्त्वपूर्ण तर्क इसके पक्ष में है वह यह है कि ब्रिटिश जाति इस ऐतिहासिक सस्था को मिटने न देगी। इगलैण्ड में कोई नई चीज पैदा नही होती। हर चीज धीरे-धीरे पर्याप्त समय मे पनपती है और यही कारण है कि प्रत्येक ब्रिटिश सस्था कुछ ऐतिहासिक महत्त्व लेकर रहती है। यदि ब्रिटिश जन अपने सारे राजनीतिक यन्त्र को पुन सुचालित करने बैठें तो सम्भव है कि आनुवशिक लार्ड सभा (House of Lords) को उडा दिया जाय। यदि वे अपने सविधान को लिखित सविधान के रूप में प्रकाशित करना चाहे तो भी लार्ड सभा सम्भवत समाप्त हो जावे। किन्तु यह उनकी प्रकृति नही है, न उनके आचरण का यह ढग है। वे हर चीज को उसकी आधुनिक अवस्था मे लेते हैं और उसको तब तक सहन करते हैं जब तक उससे काम निकलता जाय। जब इसमें न्यूनताएँ आने लगती हैं तो उसको सुधारने का प्रयत्न करते हैं किन्तु जब उसकी न्यूनताएँ असह्य हो जाती हैं तो उसको आवश्यकतानुसार सुधारा जाता है ताकि उसकी कमियाँ दूर हो जायँ। किन्तु उसको नष्ट नही किया जाता क्योकि ब्रिटिश जन अन्तर्ज्ञान की दृष्टि से जानते हैं कि जीवन कल्पना से बडा है, और जब यह एक बार मान लिया गया कि वशानुगत लार्ड सभा का स्थान प्रजातन्त्र में अमान्य है तो जीवन का व्यावहारिक अनुभव उन्हें यह बताता है कि आमतौर पर (on the whole) यह ठीक काम कर रहा है और किन्ही स्थितियो में बहुत ही ठीक काम कर रहा है।

(२) फिर प्रजातन्त्र में द्वितीय सदन की आवश्यकता है। सयुक्त राज्य अमेरिका ने जान-बूझकर द्वितीय सदन की रचना की—जिसको सीनेट (Senate)

हैं और उसका पूर्ण प्रतिनिधित्व लार्ड सभा में है । लार्ड सभा के सदस्यो में से तिहाई से अधिक देश के मुख्य उद्योग-धन्धो के डाइरेक्टर हैं और बहुत से तो कई-कई उद्योगो के डाइरेक्टर हैं । लार्ड सभा के सदस्यो में से एक-तिहाई बडी-बडी जमीदारियो के मालिक हैं । उनमे से बहुत से विवाह, पैदायश वा जन्म अथवा व्यापारिक सम्बन्धो के कारण लोकसभा के अनुदार सदस्यो से सम्बन्धित हैं ।[1] इस प्रकार कुलीन जन (Lords) मुख्यत एक आर्थिक गुट है । इसमे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि दलो का भेद वास्तव में वर्ग-भेद है और कुलीन जन (Peers) अधिकतर एक ही वर्ग के हैं । तो फिर यह कैसे सोचा जा सकता है कि पूंजीपति वर्ग जिसके अपने निहित स्वार्थ हैं, पूर्ण सामाजिक एव आर्थिक सुधारो के प्रति सहानुभूति प्रदर्शित करेगा ।

(५) जब सम्पूर्ण लार्ड सभा निश्चिनत एक पार्टी के रूप में सिद्धान्तत काम करती है और उसने जान-बूझ कर सुधार के माग को अवरुद्ध किया है तब लार्ड सभा का अस्तित्व डाक्टर फाइनर (Dr Finer) के शब्दो मे "एक भारी अव्यवस्था है जिसका इस काल में औचित्य सिद्ध नही किया जा सकता ।" अत इगलैंड में एबेसेई (Abbe Sieye) के निम्न कथन को व्यावहारिक ज्ञान समझा जाता है, 'यदि द्वितीय सदन (Second Chamber) प्रथम सदन के अनुकूल है तो यह निरर्थक है और यदि विरोधी है तो यह अनिष्टकारी है ।"[2] श्रमिक दल की नियमबद्ध नीति यही रही है । यद्यपि इस दिशा मे उक्त दल ने कोई ठोस कदम अभी नही उठाया है कि ससद् का एक ही सदन हो । लास्की (Laski) का कथन है कि लार्ड सभा (House of Lords) को समाप्त कर दिया जाये । वह कहता है कि लार्ड सभा जैसे अप्रजातन्त्रात्मक समाज में हना कठिन है यदि वह प्रजातन्त्र की बढती हुई माँग के अनुरूप अपना आचरण नही ना सका और प्रजातन्त्र की माँगें हैं कि जनमत के आगे झुकना सीखो तथा सामाजक आवश्यकताओ का मान करो । लार्ड सभा (House of Lords) प्रजातन्त्र की माँगो को पूरा नही कर सकती "क्योंकि जिन हितो की यह प्राणपण से रक्षा करती है, उन्ही निहित हितो पर प्रजातन्त्र प्रहार करता है ।"[3] स्पष्ट शब्दो मे लार्ड सभा (House of Lords) पूंजी एव विशेषाधिकारो का रूप है और वास्तविक सघर्ष है पूंजी में तथा पूंजी-विहीन जनता मे । प्रजातन्त्र जनता का हामी है और प्रजातन्त्र में ऐसी कोई चीज नही पनप सकती जो जनता के हितो से टकराती हो । अत समय की आवश्यकता है कि लार्ड सभा (House of Lords) को समाप्त किया जाय ।

---

[1] Finer Theory and Practice of Modern Government, p. 407-408

सन् १९३१ में लार्ड सभा में २४६ जमींदार थे । ६७ बैंकों के डाइरेक्टर थे । ४९ इन्जीनियरिंग के कारखानों के डाइरेक्टर थे । ११२ इन्शोरेंस कम्पनियों के डाइरेक्टर थे ।

Greaves The British Constitution, op citd , p 54

[2] Parliamentary Government is England, op citd , p, 123.

[3] Parliamentary Government in England, op citd, p 136.

लार्ड सभा के पक्ष में तर्क (Arguments in favour of the House of Lords)—श्रमिक दल की शक्तिशाली नीति यह है कि लार्ड सभा (House of Lords) को तोड दिया जाए। उदार दल (Liberal Party) ने इस दिशा मे सुनिश्चित प्रयत्न किया कि आधुनिक लार्ड सभा के स्थान पर ऐसा सदन स्थापित किया जाय जो वशानुगत आधार पर न चुना जाकर लोक-प्रियता के आधार पर चुना हुआ निकाय बने। इसके होते हुए भी लार्ड सभा अब भी वही है जो वह शताब्दियो से चली आई है। यह मुख्यत वशानुगत कुलीनो का सदन है। उदारदलीय जन कोई ऐसा हल नही निकाल सके जिससे यह सदन प्रजातन्त्रात्मक बन सकता। यहाँ तक कि श्रमिक दल ने अपने चार शासनो के जीवन-काल मे भी कोई प्रयत्न नही किया कि इसका अन्त हो या इसका यथेष्ट सुधार हो। श्रमिक दल केवल यही कर सका कि १९११ के पार्लियामेट अधिनियम (Parliament Act of 1911) मे कुछ सुधार हो गया। वास्तव मे सारी समस्या के समाधान मे इतनी कठिनाइयाँ हैं कि यह प्रश्न यूँ ही पडा रहेगा। यद्यपि भविष्यवाणी नही की जा सकती फिर भी इगलैण्ड में आम धारणा यही है कि उच्च सदन (House of Lords) कुछ सुधरी हुई अवस्था में इसी प्रकार चलेगा ताकि कुछ ऐसा दिखाई पडने लगे कि इसका स्वरूप कुछ-कुछ प्रजातन्त्रात्मक हो गया है।

(१) पहिला जो वास्तव में महत्त्वपूर्ण तर्क इसके पक्ष में है वह यह है कि ब्रिटिश जाति इस ऐतिहासिक सस्था को मिटने न देगी। इगलैण्ड में कोई नई चीज पैदा नही होती। हर चीज धीरे-धीरे पर्याप्त समय में पनपती है और यही कारण है कि प्रत्येक ब्रिटिश सस्था कुछ ऐतिहासिक महत्त्व लेकर रहती है। यदि ब्रिटिश जन अपने सारे राजनीतिक यन्त्र को पुन सुचालित करने बैठें तो सम्भव है कि आनुवशिक लार्ड सभा (House of Lords) को उडा दिया जाय। यदि वे अपने सविधान को लिखित सविधान के रूप में प्रकाशित करना चाहे तो भी लार्ड सभा सम्भवत समाप्त हो जावे। किन्तु यह उनकी प्रकृति नही है, न उनके आचरण का यह ढग है। वे हर चीज को उसकी आधुनिक अवस्था मे लेते हैं और उसको तब तक सहन करते हैं जब तक उससे काम निकलता जाय। जब इसमें न्यूनताएँ आने लगती हैं तो उसको सुधारने का प्रयत्न करते हैं किन्तु जब उसकी न्यूनताएँ असह्य हो जाती हैं तो उसको आवश्यकतानुसार सुधारा जाता है ताकि उसकी कमियाँ दूर हो जायें। किन्तु उसको नष्ट नही किया जाता क्योंकि ब्रिटिश जन अन्तर्ज्ञान की दृष्टि से जानते हैं कि जीवन कल्पना से बडा है, और जब यह एक बार मान लिया गया कि वशानुगत लार्ड सभा का स्थान प्रजातन्त्र में अमान्य है तो जीवन का व्यावहारिक अनुभव उन्हें यह बताता है कि आमतौर पर (on the whole) यह ठीक काम कर रहा है और किन्ही स्थितियो में बहुत ही ठीक काम कर रहा है।

(२) फिर प्रजातन्त्र में द्वितीय सदन की आवश्यकता है। सयुक्त राज्य अमेरिका ने जान-बूझकर द्वितीय सदन की रचना की—जिसको सीनेट (Senate)

कहते हैं और जो लार्ड सभा (House of Lords) से कही अधिक व्यापक शक्तियो का उपभोग करता है। फ्रास के लोग अति तार्किक लोग हैं और उन्होने भी द्वितीय सदन को अपने सविधान में स्थान दिया। उसी प्रकार स्केन्डिनेविया के देशो (Scandinavian Democracies) ने भी किया है। यहाँ तक कि उन देशो ने भी जिन्होने एकल सदनीय ससद् का प्रयोग किया था, अन्त मे अपने देशो में द्विसदनात्मक विधान-सभाएं स्थापित की क्योकि यह प्रजातन्त्र की मांग है। जब तक कि यह निश्चितता पूर्वक स्थिर नही हो जाता कि प्रजातन्त्र में द्वितीय सदन की आवश्यकता नही है, यह अ-प्रजातन्त्रात्मक होगा कि इगलेंड की लार्ड सभा समाप्त कर दी जाय, विशेषकर जब कि पार्लियामेंट एक्ट (Parliament Act) द्वारा लार्ड सभा की वित्तीय विधेयको के सम्बन्ध में शक्ति नष्ट कर दी गई है और अन्य वैधिक प्रस्तावो के सम्बन्ध में भी इसकी शक्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं जिससे यह अधिक से अधिक एक वर्ष के लिये किसी विधेयक को केवल रोक सकती है।

(३) एक तर्क यह दिया जाता है कि लार्ड सभा में सदैव अनुदार दल का बहुमत नही रहना चाहिए किन्तु वास्तव मे यह कोई तर्क नही है कि लार्ड सभा नही रहनी चाहिये। निस्सन्देह लोकसभा की जल्दबाजी को रोकने के लिये अनुदारता की आवश्यकता है। लार्ड सभा का अनुदार दल लोकप्रियता के आधार पर चुनी गई लोकसभा (House of Commons) की आतुरता से किये गए उन निर्णयो पर निस्सन्देह एक परमावश्यक अकुश है जो प्रबल भावावेश के वश शीघ्रता में किये जाते हैं। जब क्रान्तिवाद (Radicalism) में अनुदारवाद (Conservatism) का इजेक्शन (Injection) लगा दिया जाता है तो उसका फल होता है "आवेशहीन विवेक" (Reason without Passion) और कानून भी यही होना चाहिये। अब प्रश्न केवल यह रह जाता है कि क्या लार्ड सभा (House of Lords) वशानुगत रहे या लोकप्रियता के आधार पर चुना हुआ सदन रहे।

(४) बिना चुना हुआ द्वितीय सदन रखने मे भी कुछ लाभ हैं। यदि द्वितीय सदन (Second Chamber) लोकसभा (House of Commons) की तरह ही चुना हुआ रहे तो द्वितीय सदन रखना या न रखना एक समान होगा। द्वितीय सदन का सार ही यह है कि वह उन प्रेरणाओ एव दबावो से सुरक्षित रहे जो लोकसभा पर पडते हैं। लोकसभा का कोई भी सदस्य यह नही कर सकता कि वह अपने चुनने वाले मतदाताओ की इच्छाओ की अवहेलना कर सके। कुछ सदस्य तो वास्तव मे अपने मतदाताओ की इच्छाओ के पूर्ण पिष्टपेषक होते हैं और लोकप्रिय भावनाओ के पीछे-पीछे भागे फिरते हैं। केवल अत्यन्त साहसी और ईमानदार सदस्य ही लोक-भावनाओ को विवेक-बुद्धि की दृष्टि से जाँचेगे। किन्तु लार्ड सभा का सदस्य केवल बोलने के ही लिये प्राय कभी नही बोलता। उसको वाद-विवाद के व्यर्थ जारी रखने में कोई रुचि नही होती। न उसको मतदाताओ को प्रसन्न करने की आवश्यकता है। बडे-बडे तथा महत्त्वपूर्ण विषयो पर पूर्ण एव मुक्त वाद-विवाद होते हैं। अन्त मे

प्राय मतो की गिनती की आवश्यकता नही होती। यदि आवश्यकता हुई भी तो भी उसकी कोई चिन्ता नही होती क्योकि उसका शासन के भाग्य पर कोई प्रभाव नहीं पडता। कुलीन जन (Lords) यह भी जानते हैं कि पार्लियामेंट अधिनियम ऐसा है जिसके कारण वे लोकप्रिय सदन (Popular House) की इच्छाओ की अवहेलना अधिक दिनो तक नही कर सकेंगे।

इसका फल यह होता है कि लार्ड सभा में उन अ-विधायी प्रश्नो पर मुक्त एव पूर्ण वाद-विवाद होते हैं जिनको लोकसभा अति व्यस्तता के कारण नही लेती अथवा दल के नेता जिनको अत्यन्त विवादास्पद समझते हैं। ये वाद-विवाद लाभदायक तो होते हैं किन्तु आवश्यक नही। इस प्रकार लार्ड सभा आम जनता को महत्त्वपूर्ण विषयो की जानकारी कराती है, जनमत तैयार करती है और शासन तक जनता की इन विषयो के प्रति प्रतिक्रिया पहुँचाती है। इस प्रकार लार्ड सभा एक परमावश्यक कार्य करती है जिससे सर्वधारण एव शासन दोनो पर स्वस्थ प्रभाव पडता है।

(६) इसके अतिरिक्त लार्ड सभा विधान निर्मातृ सदन भी है। लोकसभा के बजाय लार्ड सभा में विधेयक उपस्थित किये जा सकते हैं। ब्राइस समिति (Bryce Committee) ने कहा था कि "कम विवादपूर्ण प्रस्ताव लोकसभा में आसानी से पास हो जाते हैं, यदि वे उच्च सदन मे उपस्थित किये जायें और वही यदि उन पर हर पहलू से विचार हो जाय और पूर्व इसके कि वे लार्ड सभा से लोकसभा मे आवें उनका आकार, प्रकार और स्वरूप कट-छँट कर ठीक हो जाय। इसका यह भी अर्थ है कि इससे लोकसभा का समय व्यर्थ नष्ट होने से बच जायगा क्योकि उसके पास बहुत काम होता है।"

(७) लार्ड सभा एक और लाभदायक कार्य यह करती है कि वह उन सभी विधेयको या वैधिक प्रस्तावो की जांच-पडताल करती है जो लोकसभा की सभी प्रतिक्रियाओ को पार कर चुकता है। इसकी इसलिये भी विशेष आवश्यकता होती है क्योकि लोकसभा को प्राय सभी प्रस्तावो पर कुछ विशिष्ट नियमो के अनुसार चलना पडता है जिससे वाद-विवाद अल्प समय ही चल पाते हैं। तथा किसी विषय पर पूर्ण एव मुक्त वाद-विवाद नही हो पाता। किन्तु लार्ड सभा के ऊपर इस प्रकार के कोई बन्धन नही हैं। इसके अतिरिक्त यह भी कहा जाता है कि लार्ड सभा, जिसमें देश भर के सर्वश्रेष्ठ ऐसे जानकार रहते हैं जिनको हर प्रकार का अनुभव होता है, किसी विवादास्पद विषय के सब तथ्यो पर प्रकाश डालने वाला सदन है। इस प्रकार वे व्यावहारिक एव सुदक्ष जानकारीपूर्ण वाद-विवाद करते हैं। इस प्रकार लार्ड सभा प्रस्तावो पर पुनर्विचार करने के लिये लाभदायक सदन है।

(८) लार्ड सभा में प्राइवेट सदस्यो द्वारा प्रस्तावित प्रस्ताव ही उपस्थित किये जाते हैं जिससे लोकसभा का पर्याप्त समय बच जाता है। प्रथमत ये प्रस्ताव लार्ड सभा की समितियो में विचारार्थ जाते हैं। ऐसे प्रस्ताव अर्द्धन्यायिक प्रक्रिया में से गुजरते हैं जिनमे बहुत समय लग सकता है यदि उनका विरोध होने लगे। यह प्रथा

कहते हैं और जो लार्ड सभा (House of Lords) से कही अधिक व्यापक शक्तियो का उपभोग करता है। फ्रास के लोग अति तार्किक लोग हैं और उन्होने भी द्वितीय सदन को अपने सविधान में स्थान दिया। इसी प्रकार स्केन्डिनेविया के देशो (Scandinavian Democracies) ने भी किया है। यहां तक कि उन देशो ने भी जिन्होने एकल सदनीय ससद् का प्रयोग किया था, अन्त में अपने देशो में द्विसदनात्मक विधान-सभाएं स्थापित की क्योंकि यह प्रजातन्त्र की मांग है। जब तक कि यह निश्चितता पूर्वक स्थिर नही हो जाता कि प्रजातन्त्र मे द्वितीय सदन की आवश्यकता नही है, यह अ-प्रजातन्त्रात्मक होगा कि इगलेंड की लार्ड सभा समाप्त कर दी जाय, विशेपकर जब कि पार्लियामेट एक्ट (Parliament Act) द्वारा लार्ड सभा की वित्तीय विधेयको के सम्बन्ध में शक्ति नष्ट कर दी गई है और अन्य वैधिक प्रस्तावो के सम्बन्ध में भी इसकी शक्ति पर प्रतिबन्ध लगा दिये गये हैं जिससे यह अधिक से अधिक एक वर्ष के लिये किसी विधेयक को केवल रोक सकती है।

(३) एक तर्क यह दिया जाता है कि लार्ड सभा में सदैव अनुदार दल का बहुमत नही रहना चाहिए किन्तु वास्तव में यह कोई तर्क नही है कि लार्ड सभा नही रहनी चाहिये। निस्सन्देह लोकसभा की जल्दबाजी को रोकने के लिये अनुदारता की आवश्यकता है। लार्ड सभा का अनुदार दल लोकप्रियता के आधार पर चुनी गई लोकसभा (House of Commons) की आतुरता से किये गए उन निर्णयो पर निस्सन्देह एक परमावश्यक अकुश है जो प्रबल भावावेश के वश शीघ्रता में किये जाते हैं। जब क्रान्तिवाद (Radicalism) में अनुदारवाद (Conservatism) का इजेक्शन 'Injection) लगा दिया जाता है तो उसका फल होता है "आवेशहीन विवेक" Reason without Passion) और कानून भी यही होना चाहिये। अब प्रश्न वल यह रह जाता है कि क्या लार्ड सभा (House of Lords) वंशानुगत रहे या ोकप्रियता के आधार पर चुना हुआ सदन रहे।

(४) बिना चुना हुआ द्वितीय सदन रखने में भी कुछ लाभ हैं। यदि द्वितीय दन (Second Chamber) लोकसभा (House of Commons) की तरह ही चुना आ रहे तो द्वितीय सदन रखना या न रखना एक समान होगा। द्वितीय सदन का ार ही यह है कि वह उन प्रेरणाओ एव दबावो से सुरक्षित रहे जो लोकसभा पर डते हैं। लोकसभा का कोई भी सदस्य यह नही कर सकता कि वह अपने चुनने ाले मतदाताओ की इच्छाओ की अवहेलना कर सके। कुछ सदस्य तो वास्तव मे पने मतदाताओ की इच्छाओ के पूर्ण पिष्टपेपक होते हैं और लोकप्रिय भावनाओ के ोछे-पीछे भागे फिरते हैं। केवल अत्यन्त साहसी और ईमानदार सदस्य ही लोकभावनाओ को विवेक-बुद्धि की दृष्टि से जांचेंगे। किन्तु लार्ड सभा का सदस्य केवल बोलने के ही लिये प्राय कभी नही बोलता। उसको वाद-विवाद के व्यर्थ जारी रखने मे कोई रुचि नही होती। न उसको मतदाताओ को प्रसन्न करने की आवश्यकता है। बडे-बडे तथा महत्त्वपूर्ण विपयो पर पूर्ण एव मुक्त वाद-विवाद होते हैं। अन्त में

स्वरूप १९११ का पार्लियामेंट अधिनियम पास हुआ जिसके सम्बन्ध मे इसी अध्याय में सविस्तार वर्णन किया जा चुका है। यह घोषणा की गई कि भविष्य मे लार्ड सभा का अधिक व्यापक सुधार किया जायगा और उस अधिनियम की प्रस्तावना मे आगे होने वाले सुधारो का कुछ-कुछ आभास मिलता था। उसमें कहा गया था कि "हम चाहते हैं कि वर्तमान लार्ड सभा के स्थान पर एक ऐसा द्वितीय सदन स्थापित किया जाय जिसका आधार वंशानुगत न होकर लोकप्रिय हो।" किन्तु एस्क्विथ मन्त्रिमण्डल (Asquith Ministry) अन्य कार्यों में इतना व्यस्त रहा कि लार्डसभा के सुधार का कार्य अधूरा ही पडा रहा। फिर प्रथम विश्व युद्ध छिड गया इसलिये १९१७ तक इस दिशा में कुछ नही किया गया। १९१७ मे ३० सदस्यो की एक समिति नियुक्त हुई। इसमें दोनो सदनो मे से बराबर-बराबर सदस्य लिये गये तथा उनमें सभी विचारो के लोग थे। इस समिति के अध्यक्ष लार्ड ब्राइस (Viscount Bryce) नियुक्त किये गये।

ब्राइस समिति की रिपोर्ट (Bryce Committee Report)—ब्राइस समिति ने अपनी रिपोर्ट १९१८ के वसन्त में प्रस्तुत की। उसमें कहा गया था, "जहाँ तक सम्भव हो यही ऐतिहासिक लार्ड सभा भविष्य का द्वितीय सदन बने। अर्थात् लार्ड सभा के कतिपय वर्तमान सदस्य नये द्वितीय सदन के भी सदस्य बने रहेंगे।" साथ ही समिति ने सिफारिश की कि लार्ड सभा अथवा प्रस्तावित द्वितीय सदन की सदस्यता सभी के लिये खुली रहनी चाहिये ताकि इसमें सब विचारो और भावनाओ का प्रतिनिधित्व हो। यह इच्छा भी व्यक्त की गई कि किसी एक ही राजनीतिक दल का सारे सदन पर पूर्णाधिकार नही होना चाहिये।

इन विचारो के अनुरूप समिति ने प्रस्ताव किया कि पुनर्गठित लार्ड सभा मे ३२७ सदस्य होने चाहियें। उनमें से तीन-चौथाई अर्थात् २४६ सदस्य चुने हुए हो जो लोकसभा के १३ प्रादेशिक भागो में बँटे हुए सदस्यो द्वारा चुने जायें। प्रत्येक प्रदेश के लोकसभा के सदस्य अपने प्रदेश को मिली हुई सदस्य संख्या चुनेंगे जिसका आधार जनसंख्या होगा। बचे हुए ८१ स्थानो के लिये सदस्य सारे कुलीन जनो में से चुने जायेंगे। इस चुनाव का उत्तरदायित्व उस समिति पर होगा जो सदनो के सदस्यो से मिलाकर छाँटी जायगी। लार्ड सभा के सदस्यो का जीवन-काल १२ वर्ष रखा गया जिनमें से प्रत्येक वर्ग के एक-तिहाई सदस्य स्वतः प्रति चौथे वर्ष हट जायेंगे।

लार्ड सभा के कर्त्तव्यो के सम्बन्ध में समिति ने कहा कि पुनर्गठित लार्ड सभा की शक्तियाँ लोकसभा के समान न होंगी। न लार्ड-सभा को कभी यह विचार करना चाहिये कि वह लोकसभा की प्रतिद्वन्द्वी संस्था बने विशेषकर मन्त्रिमण्डलो के निर्माण अथवा भंग करने के सम्बन्ध में अथवा वित्तीय विधेयको के अस्वीकृत करने में।

लार्ड सभा के सुधार की योजनाएँ १९१८-१९३४ (Reform Plans, 1918-1934)—ब्राइस समिति की रिपोर्ट तथा इसकी योजना एक प्रकार का समझौता मात्र थी। इससे न तो अनुदार दल को सन्तोष हुआ, न प्रगतिशील तत्त्वो को। फिर भी लायड जार्ज (Lloyd George) की सरकार ने १९२२ में पार्लियामेंट में एक प्रस्ताव

सी वन गई है कि जिस प्रस्ताव का एक सदन में विरोध होता है उसका दूसरे सदन में विरोध नही किया जाता। इसका फल यह होता है कि लार्ड सभा (House of Lords) लोकसभा की व्यर्थ की मेहनत को तिहाई कम कर देती है। यदि लार्ड सभा न होती तो वह सारी मेहनत लोकसभा को ही करनी पडती। अ-स्थायी आज्ञा विधेयको (Provisional Order Bills) तथा विशिष्ट आज्ञाओ (Special Orders) मे भी ऐसा ही होता है।

(६) अन्तश कुछ वैधिक प्रस्तावो या विधेयको पर जनमत तैयार करने में बीच मे देर करने की भी आवश्यकता होती है पूर्व इसके कि वे नियम वनें। वास्तव मे इसका वडा लाभ है कि लोकप्रिय सदन के निर्णयो पर पुन विचार हो और वह विचार शान्तिपूर्ण वातावरण में ऐसे सदन में हो जिस पर तुरन्त जनता का दबाव (Popular pressure) न पड सके। ऐसे विधेयको पर पुन विचार की आवश्यकता है जो देश के सविधान के आवश्यक अगो पर प्रभाव डालते हैं अथवा जो विधेयक नए सिद्धातो को जन्म देते हैं अथवा जिन पर लोग बराबर-वरावर सख्या मे भिन्न मत रखते हो।

लार्ड सभा के सुधार के लिये विभिन्न प्रस्ताव (१८६९-१९१७) (Proposals for Reform, 1869-1917)—सन् १९४९ के अधिनियम के पास हो जाने के बाद लार्ड सभा समाप्त की जाय या नही यह समस्या सदैव के लिये सुनिश्चित कर दी गई है। अगला प्रश्न लार्ड सभा के सुधार का है। यह प्रश्न बहुत पुराना है। लार्ड रसेल (Lord Russell) ने १८६९ में एक विधेयक उपस्थित किया जिसके द्वारा यह माँग की गई थी कि जीवनपर्यन्त चलने वाले लार्ड सभा के सदस्य कुलीन धीरे-धीरे छाँट दिये जायें। किन्तु यह विधेयक अस्वीकृत हो गया। उसी वर्ष अर्लग्रे (Earlgrey) का प्रस्ताव भी अस्वीकृत हो गया, फिर १८७४ में लार्ड रोजबरी (Lord Rosebury) का प्रस्ताव गिर गया और लार्ड सेलिसबरी का प्रस्ताव १८८८ में गिर गया। फिर १९०७ तक लार्ड सभा के सुधार सम्बन्धी कोई प्रयत्न नही किया गया। १९०७ में सदन ने एक विशिष्ट समिति स्थापित की जिसको यह कार्य सौंपा गया कि वह उन सुधार प्रस्तावो पर विचार करे जो लार्ड सभा की विधायी-क्षमता को बढाने के सम्बन्ध में समय-समय पर उपस्थित किये गये थे। उस समिति की रिपोर्ट में बताया गया था कि लार्ड सभा का नया सविधान तैयार हो। उस नये सविधान के अनुसार उसमें शाही परिवार के कुलीन हो। लार्डस् आफ अपील आर्डिनरी (Lords of Appeal Ordinary) हो, २०० प्रतिनिधि आनुवशिक कुलीनो द्वारा चुने हुए हो, कुछ वे कुलीन जन हो जिन्हें किसी विपय का विशिष्ट ज्ञान हो, साथ ही पादरी वर्ग के सदस्य हो (Spiritual Lords of Parliament) तथा आजीवन-कुलीन सदस्य (Life Peers) हो।

किन्तु यह प्रस्ताव देर से आया। इसी काल में लार्ड सभा तथा लोकसभा में विवाद प्रारम्भ हो चुका था और वह भी पूरे जोर-शोर के साथ। इस विवाद के फल-

स्वरूप १९११ का पार्लियामेंट अधिनियम पास हुआ जिसके सम्बन्ध में इसी अध्याय में सविस्तार वर्णन किया जा चुका है। यह घोषणा की गई कि भविष्य मे लार्ड सभा का अधिक व्यापक सुधार किया जायगा और उस अधिनियम की प्रस्तावना में आगे होने वाले सुधारो का कुछ-कुछ आभास मिलता था। उसमें कहा गया था कि "हम चाहते हैं कि वर्तमान लार्ड सभा के स्थान पर एक ऐसा द्वितीय सदन स्थापित किया जाय जिसका आधार वशानुगत न होकर लोकप्रिय हो।" किन्तु एस्क्विथ मन्त्रिमण्डल (Asquith Ministry) अन्य कार्यों मे इतना व्यस्त रहा कि लार्डसभा के सुधार का कार्य अधूरा ही पडा रहा। फिर प्रथम विश्व-युद्ध छिड गया इसलिये १९१७ तक इस दिशा में कुछ नही किया गया। १९१७ में ३० सदस्यो की एक समिति नियुक्त हुई। इसमें दोनो सदनो मे से बराबर-बराबर सदस्य लिये गये तथा उनमें सभी विचारो के लोग थे। इस समिति के अध्यक्ष लार्ड ब्राइस (Viscount Bryce) नियुक्त किये गये।

ब्राइस समिति की रिपोर्ट (Bryce Committee Report)—ब्राइस समिति ने अपनी रिपोर्ट १९१८ के वसन्त में प्रस्तुत की। उसमें कहा गया था, "जहाँ तक सम्भव हो यही ऐतिहासिक लार्ड सभा भविष्य का द्वितीय सदन बने। अर्थात् लार्ड सभा के कतिपय वर्तमान सदस्य नये द्वितीय सदन के भी सदस्य बने रहेंगे।" साथ ही समिति ने सिफारिश की कि लार्ड सभा अथवा प्रस्तावित द्वितीय सदन की सदस्यता सभी के लिये खुली रहनी चाहिये ताकि इसमें सब विचारो और भावनाओं का प्रतिनिधित्व हो। यह इच्छा भी व्यक्त की गई कि किसी एक ही राजनीतिक दल का सारे सदन पर पूर्णाधिकार नही होना चाहिये।

इन विचारो के अनुरूप समिति ने प्रस्ताव किया कि पुनर्गठित लार्ड सभा मे ३२७ सदस्य होने चाहियें। उनमें से तीन-चौथाई अर्थात् २४६ सदस्य चुने हुए हो जो लोकसभा के १३ प्रादेशिक भागो में बँटे हुए सदस्यो द्वारा चुने जायें। प्रत्येक प्रदेश के लोकसभा के सदस्य अपने प्रदेश को मिली हुई सदस्य सख्या चुनेंगे जिसका आधार जनसख्या होगा। बचे हुए ८१ स्थानो के लिये सदस्य सारे कुलीन जनो में से चुने जायेंगे। इस चुनाव का उत्तरदायित्व उस समिति पर होगा जो सदनो के सदस्यो से मिलाकर छाँटी जायगी। लार्ड सभा के सदस्यो का जीवन-काल १२ वर्ष रखा गया जिनमें से प्रत्येक वर्ग के एक-तिहाई सदस्य स्वत प्रति चौथे वर्ष हट जायेंगे।

लार्ड सभा के कर्त्तव्यो के सम्बन्ध में समिति ने कहा कि पुनर्गठित लार्ड सभा की शक्तियाँ लोकसभा के समान न होगी। न लार्ड-सभा को कभी यह विचार करना चाहिये कि वह लोकसभा की प्रतिद्वन्द्वी सस्था बने विशेषकर मन्त्रिमण्डलो के निर्माण अथवा भग करने के सम्बन्ध में अथवा वित्तीय विधेयको के अस्वीकृत करने में।

लार्ड सभा के सुधार की योजनाएँ, १९१८-१९३४ (Reform Plans, 1918-1934)—ब्राइस समिति की रिपोर्ट तथा इसकी योजना एक प्रकार का समझौता मात्र थी। इससे न तो अनुदार दल को सन्तोष हुआ, न प्रगतिशील तत्त्वो को। फिर भी लायड जार्ज (Lloyd George) की सरकार ने १९२२ में पार्लियामेंट में एक प्रस्ताव

अध्याय ७

संसद् (क्रमशः)

(Parliament—Continued)

लोकसभा

(The House of Commons)

रचना एवं सगठन (Composition and Organisation)—लोकसभा (House of Commons) सदैव से पूर्णतया प्रतिनिधिक निकाय रही है किन्तु निर्वाचक वर्ग (Electorate) एव निर्वाचन-क्षेत्र दोनो में शताब्दियो से बराबर हेर-फेर होते रहे हैं। आजकल लोकसभा में ६३० सदस्य हैं। उनका चुनाव एकल-सदस्य निर्वाचन क्षेत्रो (Single Member Constituency) से होता है। १९४४ के लोकसभा के निर्वाचन क्षेत्र पुनर्वितरण अधिनियम (House of Commons, Redistribution of Seats Act of 1944) तथा १९४८ के जन-प्रतिनिधित्व अधिनियम (Representation of the Peoples' Act of 1948) पास होने के पूर्व लन्दन (London) में अनेको जिले ऐसे थे जिनमें द्वि-सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र थे। इससे पूर्व व्यापारिक निर्वाचन-क्षेत्र भी था तथा विश्वविद्यालयो के स्नातको के लिये विशेष विश्वविद्यालयीय निर्वाचन-क्षेत्र थे। निवास-स्थान पर उन्हे मिले हुए वोटो के अतिरिक्त उन्हे विशेष निर्वाचन अधिकार मिला था। किन्तु अब प्रत्येक व्यक्ति केवल एक ही वोट दे सकता है।

ब्रिटिश प्रजा के सारे स्त्री और पुरुष चाहे वे साम्राज्य के किसी भी भाग में निवास करते हो, चुनाव के लिये प्रत्याशी बन सकते हैं, केवल शर्त यह है कि वे अल्पवयस्क (Minors) या पागल न हो, दिवालिया या किसी जुर्म अथवा अभियोग में दोष प्रमाणित या सजायाफ्ता न हो (भ्रष्टाचार भी एक जुर्म है), स्काटलैण्ड एवं इगलैण्ड के सस्थापित चर्च के पादरी न हो, रोमन कैथोलिक चर्च के पादरी न हो, इगलैंड तथा स्काटलैण्ड के लार्ड (Peer) न हो तथा सम्राट् की सेवा में कोई पद धारण न करते हो। किन्तु आयरलैण्ड के कुलीन जनो पर जिनका प्रतिनिधि के रूप में चुनाव नही हुआ है, ये प्रतिबन्ध नही है।

लोकसभा का जीवन-काल पाँच वर्ष होता है किन्तु उसे उससे पूर्व भी भग किया जा सकता है। प्रचलित पद्धति के अनुसार लोकसभा का साल मे कम से कम एक अधिवेशन होना चाहिये। यह इसलिये भी कि कुछ आवश्यक विधेयक जिनमें करो एव अन्य वित्तीय मामले भी हो सकते हैं, एक बार में केवल एक वर्ष के लिये ही पास किये जाते हैं और ऐसा प्रतिवर्ष होता है। अधिवेशन प्राय अक्तूबर अथवा नवम्बर

में प्रारम्भ होता है और पूरे वर्ष चलता है, केवल कभी-कभी छुट्टियाँ होती हैं। सत्रावसान होने पर अधिवेशन समाप्त हो जाता है और अधिवेशन के अन्त मे जो कार्य अधूरा रहता है उसे समाप्त कर दिया जाता है।

१९४७ से लोकसभा के सम्मेलन, सप्ताह के प्रथम पाँच दिनो मे होते रहे हैं। सोमवार से लगाकर बृहस्पतिवार तक सम्मेलन दोपहर को २-३० पर प्रारम्भ होता है। शुक्रवार को ११ बजे दोपहर को प्रारम्भ होता है। उसी प्रकार लोकसभा स्थगन प्रस्ताव के आध घण्टे के अन्दर समाप्त हो जाती है यदि स्थगन-प्रस्ताव सोमवार से बृहस्पतिवार तक १० बजे रात्रि को या उसके बाद पास किया जाय या शुक्रवार को शाम के ४ बजे पास किया जाय। प्राय बहुत से अवसर ऐसे भी आते हैं कि अधिवेशन रात भर चलता रहता है। ऐसे सभी अवसरो पर समय नष्ट नही करने दिया जाता। सोमवार से लेकर बृहस्पतिवार तक ढाई तथा पौने तीन बजे के मध्य अवित्तीय मामले लिये जाते हैं। इसके उपरान्त साढे तीन बजे तक प्रश्न पूछे जाते हैं। प्रश्नो के तुरन्त बाद वह समय होता है जब कि कोई सदस्य चाहे तो किसी विशेष आवश्यक विषय पर बात-चीत करने के लिये सम्मेलन स्थगित करने का प्रस्ताव रख सकता है। यदि स्थगन-प्रस्ताव मान लिया गया तो सम्मेलन सन्ध्या के ७ बजे तक स्थगित पडा रहता है। फिर इस प्रकार की प्रारम्भिक कार्यवाहियो के बाद ही कुछ मुख्य बातो की ओर आते हैं जिसको सार्वजनिक कार्य-सचलन (Transaction of Public Business) कहते हैं। यह शाम को ७ बजे तक चलता रहता है तब या तो स्थगन-प्रस्ताव (Adjournment Motion) लिया जाता है या विरोधी प्राइवेट कार्यवाही (Opposite Private Businesl ली जाती है। इसके बाद ही बीच की स्थगित कार्यवाही प्रारम्भ की जाती है जो रात्रि में १० बजे तक चलती है।

वाद-विवाद का समापन (Closure of debate)—क्योंकि निम्न सदन के समय की रक्षा का पर्याप्त ध्यान रखा जाता है ताकि सभी कार्यवाही सुचारु रूप से चलती रहे, वाद-विवाद को समाप्त करने के लिये भी किसी ऐसे नियम की आवश्यकता रहती है जिसका पालन करना आवश्यक हो। आमतौर पर सभापति (Speaker) की कुर्सी के पीछे सत्तारूढ दल एव विरोधी दल के सचेतको (Whips) में वाद-विवाद के लिये समय निर्धारण सम्बन्धी समझौता हो जाता है कि किस विषय पर कितना समय दिया जाय और फिर सभापति (Speaker) का कर्त्तव्य हो जाता है कि उस समझौते का पूर्णरूपेण पालन कराये। यदि यह प्रबन्ध असफल हो जाता है तो वाद-विवाद को समाप्त करने के और भी बहुत से उपाय हैं। इस प्रकार सदन की राय से वाद-विवाद को समाप्त करने के उपाय को समापन (Closure) कहते हैं।

सन १८८१ में सदन की राय से वाद-विवाद को समाप्त करना आवश्यक हो गया जबकि आयरलैंड के राष्ट्रवादियो ने सदन की कार्यवाही में अभिबाधा डालना प्रारम्भ किया। वे घटो तक किसी विषय पर बोलते रहते चाहे वह सगत हो अथवा असगत किन्तु सभापति (Speaker) के पास कोई ऐसा उपाय न था जिससे वह उसको

रोक सकता। अत यह निश्चित किया गया कि वाद-विवाद के नियम बदल दिये जायें ताकि समय व्यर्थ नष्ट न किया जा सके और व्यर्थ की बाधाओ को टाला जा सके। अब वाद-विवादो में दुराग्रहपूर्ण बाधा नही डाली जाती और किसी सीमा तक सदस्यो पर विश्वास किया जा सकता है कि वाद-विवाद में जहाँ तक सम्भव होगा वे सक्षेप में बोलेंगे। किन्तु ऐसा अवसर आ सकता है जब कि वाद-विवाद पर अकुश लगाना आवश्यक हो सकता है। इस प्रकार वाद-विवाद को सदन की राय से समाप्त करने के निम्न उपाय हैं—

(१) **सामान्य समापन** (Simple Closure)—यदि वाद-विवाद किसी विषय पर पर्याप्त समय चल चुका हो तो कोई सदस्य कह सकता है 'पूछ लिया जाय' (The Question be put) अर्थात् जिस विषय पर वाद-विवाद चल रहा है उस पर मत ले लिया जाये। यह सभापति (Speaker) की इच्छा पर निर्भर है कि वह इस प्रस्ताव को स्वीकार करे अथवा अस्वीकार करे। वह उसको अस्वीकृत कर देगा यदि उसका विचार हो कि इस प्रकार के प्रस्ताव से सदन के नियमो का अतिक्रमण हुआ है अथवा अल्पसख्यक दल के अधिकारो का हनन होता है। यदि सभापति (Speaker) इसको स्वीकार कर लेता है और यदि यह प्रस्ताव कम से कम १०० मतो से स्वीकृत हो जाता है, तो वाद-विवाद समाप्त हो जाता है और विवादग्रस्त विषय पर मत-गणना की जाती है।

(२) **मुखबध** (Guillotine) **अथवा भागश· समापन** (Closure by Compartment)—वाद-विवाद को रोकने का एक साधारण नियम होता है जिसको किसी भी प्रस्ताव पर काम में लाया जा सकता है। उसके अतिरिक्त कुछ और भी उपाय हैं जो विधेयको के समय प्रयोग किये जाते हैं। मुखबध (Guillotine) का उपाय इस प्रकार प्रयोग किया जाता है कि विधेयक के कई भाग कर लिये जाते हैं और प्रत्येक भाग के लिये अलग-अलग समय नियत कर दिया जाता है और प्रत्येक भाग पर निश्चित समय पर मत ले लिये जाते हैं। फिर इस बात की चिन्ता नही की जाती कि उक्त विधेयक के किसी भाग अथवा महत्त्वपूर्ण भाग पर वाद-विवाद हुआ कि नही।

(३) **कगरू समापन** (Kangroos Closure) **द्वारा वाद-विवाद को सीमित करना**—निम्न सदन की प्रचलित आज्ञाओ मे वाद-विवादो को सीमित करने का एक और भी उपाय है जिसे कगरू समापन (Kangroo Closure) कहते हैं। इसका सर्वप्रथम १९०९ में प्रयोग हुआ था। इसके द्वारा सभापति (Speaker) को अधिकार होता है कि वह उन धाराओ अथवा सशोधनो को चुन ले जिनको वह वाद विदाद के लिये परमावश्यक समझे। अर्थात् सभापति को अधिकार है कि प्रतिवेदन-स्तर (Report Stage) के समय वह किन सशोधनो पर वाद-विवाद की आज्ञा दे, किन पर नही। कुल सशोधनो को छोड देने की प्रथा को कगरू समापन (Kangroo Closure) कहते हैं, क्योकि सभापति इस प्रकार कुछ सशोधनो को छोड जाता है इसका कारण यह हो सकता है कि वे विवादानुकूल न हो अथवा उन पर पूर्व

विचार हो चुका हो अथवा उन पर वाद-विवाद होने से समय व्यर्थ नष्ट होने का भय हो। कागरू समापन (Kangroo Closure) को मुखवध समापन (Guillotine Closure) के साथ भी प्रयुक्त किया जा सकता है और अलग से भी।

सभापति (Speaker)—जो समय निम्न सदन के सम्मेलन के लिये निश्चित है उस पर सभापति (Speaker) सदन में सुनिश्चित सजधज एव समादर के साथ प्रवेश करता है। आक्सफोर्ड इगलिश डिक्शनरी (Oxford English Dictionary) स्पीकर (Speaker) के अर्थ लिखते समय बताती है कि "वह लोकसभा का सदस्य होता है जिसको सदन अपने प्रतिनिधि के रूप में चुनता है और जो सदन के वाद-विवादो मे सभापतित्व करता है।" यह अर्थ ठीक है और इससे स्पीकर के सम्बन्ध मे तीन मुख्य बातें सामने आती हैं पहली यह कि स्पीकर अन्य सदस्यो की तरह लोकसभा का सदस्य होता है और सब की तरह से चुना जाकर आता है। दूसरा सदन अपना स्पीकर (Speaker) स्वय चुनता है और तीसरी बात यह है कि वह सदन का सर्वमान्य प्रतिनिधि होता है और इसके वाद-विवादो का सभापतित्व करता है। किन्तु उक्त कोश (Dictionary) ने इन तथ्य पर प्रकाश नही डाला कि उसके बिना सदन की कार्यवाही हो ही नहीं सकती। बिना सभापति (Speaker) के सदन का सम्मेलन हो ही नही सकता। मि० फिट्ज़राय (Mr Fitz Roy) सभापति की मृत्यु पर सदन तुरन्त उठ खडा हुआ और लोकसभा की कोई कार्यवाही नहीं हो सकी जब तक कि नये सभापति का चुनाव नही हो गया यद्यपि उस समय देश द्वितीय विश्व-युद्ध में फँसा हुआ था।[2]

स्पीकर (Speaker) के पद का विकास कब और कैसे हुआ, यह अज्ञात है। किन्तु इस पद के गौरव, आदर एव अधिकार महान् हैं। प्रमाण-पत्रो के अनुसार पार्लियामेंट या ससद् का प्रथम स्पीकर १३७७ में सर टॉमस हगरफोर्ड (Sir Thomes Hungerford) था। प्राचीन काल मे स्पीकर जनता अथवा (Common) का उस समय प्रवक्ता होता था जबकि वे सम्राट् के समक्ष अपनी कष्ट-गाथा उपस्थित करते थे और एक प्रकार से स्पीकर वही काम आज भी करता है। आज भी अपने सारे क्रियाकलापो में चाहे वह सदन की कुर्सी पर हो अथवा सदन के बाहर हो वह (स्पीकर) सदन की इच्छा को व्यक्त करता है। वह सदन के सम्बन्ध में अधिकार से बोलता है और सदन को भी सम्बोधित करता है। लगभग ६०० वर्षों में इस पद का विकास हुआ है किन्तु इसमें कोई विशेष परिवर्तन नही हुआ है।

आरम्भ में सम्राट् ही स्पीकर को नियुक्त किया करता था, किन्तु बाद में जब स्पीकर के पद के प्रत्याशी के लिये चुनाव होने लगा, तो, जैसा कि कोक (Coke) ने १६४८ में बताया, ऐसी प्रथा पड गई कि सम्राट् किसी सुयोग्य एव विद्वान व्यक्ति

---

1. फिट्ज़राय (Fitz Roy) की मृत्यु १९४३ में हुई।

2 Briers, P M. and Others Papers on Parliament, A Symposium, p 2

को नियुक्त करने लगा और लोकसभा उसी को प्राय चुन लिया करती थी किन्तु जार्ज तृतीय (George III) के राज्य-काल में स्पीकर के चुनाव के सम्बन्ध में सम्राट् का हाथ बिल्कुल भी नही रहा। अब भी स्पीकर का चुनाव क्राउन के अनुमोदन एव स्वीकृति से ही होता है। किन्तु मुख्य रूप से लोकसभा ही स्पीकर को चुनती है और आजकल की पद्धति यह है कि स्पीकर का चुनाव सर्वसम्मत होता है। प्रथानुसार सत्तारूढ दल अपने दल के किसी व्यक्ति को स्पीकर के पद पर उस समय ले लेता है जब किसी कारणवश वह पद-रिक्त हो जाये। किन्तु ऐसी स्थिति में भी उसका नाम प्रस्तावित होने से पूर्व विरोधी दल से तदर्थ मन्त्रणा कर ली जाती है, और यदि विरोधी दल को उस नाम पर कोई आपत्ति होती है तो उस नाम को वापिस ले लिया जाता है।[1] स्पीकर के लिये यह आवश्यक है कि वह पूर्ण पक्षपातहीन एव तटस्थ हो, इसीलिये ऐसे व्यक्ति को स्पीकर के पद के लिये नामाकित किया जाता है जो कभी उग्र दलावलम्बी (active partison) न रहा हो और जो पर्याप्त समय तक अर्थोपाय या वेज़ एण्ड मीन्स (Ways and Means) की समिति या किसी अन्य समिति के सभापति या उप-सभापति पद पर प्रशिक्षा (apprenticeship) प्राप्त कर चुका हो।

इस प्रकार चुना हुआ स्पीकर ससद् के जीवन पर्यन्त अपने पद पर बना रहता है।[2] किन्तु जहाँ वह एक बार स्पीकर के पद के लिये चुना गया, तो फिर वह जब तक चाहे अपने पद पर बना रह सकता है, चाहे ससद् में उस दल का बहुमत हो या न हो, जिसने उसको स्पीकर पद के लिये प्रस्तावित एव नामाकित किया था।[3] तथ्य तो यह है कि जहाँ एक बार कोई व्यक्ति स्पीकर बना, तो वह अपनी मृत्यु पर्यन्त अथवा ऐच्छिक अवकाश ग्रहण के समय तक उक्त पद पर बना रहता है।

---

[1] स्पीकर पद के लिये सघर्ष भी हो सकता है। १८३९ में प्रथम बार इस पद के लिये सघर्ष आ जिसके फलस्वरूप शॉ लेफेवर (Shaw Lefevre) चुना गया और इसी प्रकार १८९५ में गली Gully) का चुनाव स्पीकर पद पर हुआ। १९५१ में पुन नये स्पीकर का चुनाव करते समय सघर्ष आ जब कि अनुदार दल को लोकसभा में बहुमत प्राप्त हुआ था। विरोधी श्रमिक दल ने स्पीकर पद लिये अनुदारदलीय प्रत्याशी पर आक्षेप नहीं किया किन्तु साथ ही यह इच्छा व्यक्त की कि पुराना प-सभापति अथवा डिप्टी स्पीकर अपने लम्बे अनुभव के कारण अधिक उपयुक्त स्पीकर रहेगा। तदनुसार त गणना हुई, और अनुदारदलीय प्रत्याशी का चुनाव कर लिया गया।

[2] ससद् के भग हो जाने पर भी स्पीकर अपने पद पर उस समय तक के लिये बना रहता है व तक कि अगला स्पीकर न चुना जाये किन्तु ससद्-भग होने के उपरान्त वह आदेश लेख (writs) ादि जारी नहीं करता, जैसा कि वह ससद् के विश्राम काल (recess) में करता रहता है।

[3] उदाहरणस्वरूप अनुदार दल में से १९वीं शताब्दी में केवल तीन स्पीकर चुने गये। नुदार दल १८४१, १८७४, १८८६ और १८९५ में सत्तारूढ हुआ किन्तु हर बार वही स्पीकर चुन नया गया जो पहले से ही उस पद पर आसीन था, यद्यपि वह व्यक्ति ससद् के लिये उदार दल Liberal) की ओर से चुना गया था और स्पीकर के आसन पर भी उदारदलीय शासन-काल में चुन र आसीन हुआ था।

स्पीकर शॉ लेफेवर (Shaw Lefevre) के समय से स्पीकर पद, दृढतापूर्वक अ-राजनीतिक तथा न्यायिक एव निष्पक्ष पद समझा जाने लगा है। चुनाव के वाद स्पीकर दलगत राजनीति से पूर्ण सन्यास ले लेता है और इसके फलस्वरूप स्पीकर को कभी चुनाव नही लडना पडता। इसीलिए वहुत समय तक यह परम्परा रही कि वह निर्विरोध चुना जाता रहा। १८३२ से तो यह सामान्य नियम-सा वन गया है। किन्तु १९३५ में और पुन १९४५ में श्रमिक दल ने फिट्जराय (Fitz Roy) और किलफटन व्राउन (Clifton Brown) नाम के दो अनुदारदलीय स्पीकरो के पुनर्निर्वाचन पर आपत्ति की, यद्यपि सघर्ष मे श्रमिक दल को सफलता नही मिली। १९५० में श्रमिक दल की ओर से किसी अधिकारी प्रत्याशी ने स्पीकर के चुनाव का विरोध नही किया किन्तु एक स्वतन्त्र श्रमिकदलीय सदस्य ने स्पीकर के विरुद्ध चुनाव लडा, और वह वुरी तरह हारा। ऐसा प्रतीत होता है कि निर्वाचक समूह महसूस करते हैं कि स्पीकर का चुनाव निर्विरोध होना ही चाहिए, और वे इस एक शताव्दी से भी पुरानी परम्परा को लगातार चलाये रखना चाहते हैं।

सदन की कार्यवाही को पूर्ण निष्पक्ष न्यायाधीश की तरह सम्पादित करने के सम्वन्ध मे स्पीकर के अनेको कठिन कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व हैं। उसके कर्त्तव्यो मे से कुछ का आवार पुरानी परम्पराएँ और प्रथाएँ हैं, कुछ का आधार परिनियत आज्ञाएँ (Statutory Authorities) हैं, और कुछ का आधार सदन के स्थायी आदेश (Standing Orders) हैं। तदनुसार हम स्पीकर के समस्त कर्त्तव्यो को तीन विभागो में वाँटते हैं।

(१) कभी-कभी स्पीकर लोकसभा के सदस्यो के विशेषाधिकारो और सदन की प्रतिष्ठा का सरक्षण एव अनुसमर्थन करता है, तो वह सदन का अधिवक्ता वन जाता है। सदन के सदस्य स्पीकर के माध्यम से ही सम्राट् के पास प्रतिवेदन भेज सकते हैं अथवा यदि सदन का शिष्टमडल सम्राट् से भेंट करना चाहे तो उनके साथ स्पीकर का नेता के रूप में होना अत्यावश्यक होता है। सदन के सदस्यो की ओर से, स्पीकर ही सम्राट् के पास धन्यवाद प्रस्ताव अथवा निन्दा प्रस्ताव (Censure) भेजता है। वही वित्तीय विधेयको को लार्ड सभा मे प्रस्तुत करता है।

(२) कई प्रकार से स्पीकर सदन के प्रतिनिधि और अधिशासक के रूप में कार्य करता है। वह निस्सन्देह सदन का क्रियाशील एव सविधानिक प्रतिनिधि (Active and Constitutionally Recognised Deputy) है। विभिन्न उद्देश्यो की पूर्ति के लिए वह अनेको आदेश एव समादेश (Warrants) सदन की ओर से निकालता रहता है। उदाहरणस्वरूप जव अधिवेशन काल में लोकसभा का कोई स्थान रिक्त हो जाता है, तो सदन की आज्ञा पर स्पीकर नये चुनाव की आज्ञप्ति या आदेश निकालता है। उसी प्रकार यदि किसी सदस्य द्वारा अपराध हो जाय तो स्पीकर ही उसकी गिरफ्तारी का अथवा गवाहो के लिए आदेश अथवा समादेश दे सकता है।

स्पीकर उस प्रशासनिक विभाग का अध्यक्ष भी होता है जिसे लोकसभा के

स्पीकर का विभाग कहा जाता है। इस विभाग में सदन का क्लर्क, लाइब्रेरियन और कुछ अन्य सेवकगण होते हैं, साथ ही प्राइवेट विधेयको के सम्बन्ध में निरीक्षक कतिपय अधिकारी जिनका सम्बन्ध मतदान कार्यालय (Vote Office) से होता है एव कुछ और व्यक्ति होते हैं।

कभी-कभी स्पीकर को ऐसे सविधानिक सम्मेलनो का सभापतित्व भी करना पडता है जैसे १९१४ का बकिंघम महल सम्मेलन (Buckingham Palace Conference of 1914) अथवा १९२० का स्पीकर सम्मेलन (Speakers' Conference of 1920)।

(३) ग्लैड्स्टन (Gladstone) ने एक बार कहा था कि स्पीकर का मुख्य कर्त्तव्य यह है कि वह सदन की रक्षा सदन से करे। सदन की सदन के विरुद्ध रक्षा वह उस समय करता है जब वह वाद-विवाद के समय सदन का सभापतित्व करता है। स्पीकर के आसन पर उसे तीन कर्त्तव्यो का निर्वाहन करना पडता है। प्रथमत, सदन में व्यवस्था रखना, द्वितीयत, सदस्यो को आज्ञा एव सयम में रखना, तथा तृतीयतः, वाद-विवाद में बोलने के लिए सदस्यो को चुनना।

स्पीकर लोकसभा के अधिवेशनो का सभापत्वि करता है। यदि सदन, 'समस्त सदन की समिति' (Committee of the whole) के रूप में समवेत होता है, ऐसी स्थिति में स्पीकर ही यह निर्णय करता है कि कौन वाद-विवाद में बोलने के लिए आवेगा। सभी वक्ता, स्पीकर या सभापति को ही सम्बोधित करके जो कुछ भी चाहते हैं, कहते हैं। किसी भी राजनीतिक सम्मेलन में प्राय वातावरण गर्म हो ही जाता है। जब वक्ताओ में जोश और आवेश चरम सीमा तक पहुँच जाता है, तो सदन में शान्ति भग अथवा अव्यवस्था की आशंका वढ जाती है। ऐसे समय मे स्पीकर का कर्त्तव्य हो जाता है कि सदन में व्यवस्था बनाये रखे और जहाँ तक सम्भव हो सदन की गौरव-गरिमा नष्ट न होने पावे। तदनुरूप स्पीकर के अधिकार में व्यापक शक्तियाँ हैं जिनके बल पर वह अव्यवस्था, शान्तिभग, अप्रासगिक बातें, अससदीय भाषा पथवा अससदीय व्यवहार पर कठोर नियन्त्रण रख सकता है। यह नियम बन गया है कि यदि स्पीकर खडा होगा तो कोई सदस्य खडा नही रहेगा। जब कभी, स्पीकर, सदन में शान्ति भग अथवा अव्यवस्था के चिह्न देखता है तो वह खडा होगा और कतिपय धमकी के शिष्ट शब्दो द्वारा अथवा प्रार्थना के द्वारा वह उत्तेजित सदस्यो को शान्त करने का प्रयास करेगा, और इस प्रकार शान्ति भग की अवस्था न आने देगा। प्राय इतना ही उचित प्रभाव उत्पन्न कर देता है, किन्तु इतने पर भी कोई सदस्य शान्ति भग पर उतारू हो जाता है, उस स्थिति में स्पीकर उक्त सदस्य को बैठ जाने की आज्ञा दे सकता है। यदि इतने पर भी वह सदस्य गडबडी करता ही चला जाता है, तो स्पीकर ऐसे सदस्य को सदन से बाहर चले जाने की आज्ञा दे सकता है। यदि वह सदन को छोडकर नहीं जाता तो स्पीकर सदस्य को नाम लेकर सदन छोडने की आज्ञा देता है। इसका अर्थ है कि सदस्य तुरन्त सदन से बाहर चला

जाये ।[1] यदि इतने पर भी सदस्य, सदन छोडकर नही जाता तो उसको सदन का सशस्त्र परिचारक (Sergent at-arms) सदन से वाहर निकाल देता है । यदि आवश्यकता होती है तो सशस्त्र परिचारक वल प्रयोग भी कर सकता है ।[2] यदि अव्यवस्था अधिक उग्र हो जाती है तो वह सदन की कार्यवाही स्थगित भी कर सकता है । एक वार आयरलैण्ड (Irish) के कतिपय सदस्यो ने स्पीकर गली (Gully) को वडी सकोचशील एव कठिन परिस्थिति में डाल दिया था, उस समय उसने सदन को स्थगित करने का आदेश दे दिया था । यह आदेश मई १९०५ में प्रथम वार प्रयुक्त हुआ ।[3] तव से यह आदेश सदन के स्थायी आदेशो (Standing Orders) में से एक है । किन्तु यह भी वताना आवश्यक है कि इगलैण्ड के ससदीय जीवन में इस प्रकार के अवसर प्राय बहुत ही कम आते है ।

स्पीकर का द्वितीय कर्त्तव्य यह है कि वह सदस्यो को पथ-भ्रष्ट न होने दे और इसका सम्वन्ध वाद-विवाद की उचित व्यवस्था और क्रम से है । स्पीकर वास्तव में वाद-विवाद का स्वामी (Lord of Debate) है । वह देखता है कि सदस्यगण वाद-विवाद के मुख्य विपय से न हटें और वे अप्रासगिक वातें न करने लग जायें, प्रत्येक सदस्य को अधिकार है कि वह स्पीकर का ध्यान इस ओर आकर्पित कर सकता है कि अमुक सदस्य अप्रासगिक (Out of Order) वकवास कर रहा है । किन्तु समान्यत. स्वय स्पीकर ही ऐसे सदस्य का ध्यान आकर्पित करता है और उसको विवादीय विपय पर ध्यान केन्द्रित करने का आदेश देता है । इसके अतिरिक्त वहुत से सदस्य सीधे स्पीकर को अपील करते हैं कि वह सदन के नियमो का निर्वचन करें । इस दिशा में स्पीकर न्यायाधीश के समान आचरण करता है और ससद् के नियमो का निर्वचन करता है । उसके समादेश अन्तिम होते हैं जिनकी अपील नही की जा सकती । इसी प्रकार वह सदस्यो तथा सदन को वे सीमायें भी वता देता है जिन पर विधि का प्रभाव नही है । वह प्रस्तावो और प्रश्नो को सदन के सम्मुख रखता है, और जव किसी विपय पर मत लिये जाते हैं तो मत-गणना के परिणाम भी घोपणा करता है ।

स्पीकर का तृतीय कर्त्तव्य यह है कि उसके सभापतित्व में जव वाद-विवाद

---

[1] जब सदस्य का प्रथम वार नाम लिया जाता है, तो परिणामस्वरूप सदस्य को सदन में पाच दिन तक आने की आज्ञा नहीं होती । यदि उसका नाम दुवारा लिया जाता है, तो वह २१ दिन सदन से वहिष्कृत रहता है । यदि तीसरी वार, फिर उसका नाम लिया जाता है, तो वह ससद् के उस चालू सत्र में सदन से वहिष्कृत रहता है ।

[2] स्पीकर को यह भी अधिकार है कि भयकर अपराध करने पर वह किसी सदस्य की गिरफ्तारी का आदेश दे सकता है और उसको विग वेन (Big Ben) की टावर (Tower) में कैद कर सकता है । १९३० में एक सदस्य ने क्रोध के आवेश में स्पीकर की चौकी से गदा (Mace) उठाली । इस वात की आशा थी कि स्पीकर महोदय कोई कड़ा कदम उठावेंगे और उस सदस्य को दड देंगे क्योंकि वह वड़ा अपराध था । किन्तु स्पीकर ने केवल उक्त सदस्य को कुछ समय के लिए सदन से वहिष्कृत कर दिया ।

[3] एक घटे तक सदन ने उपनिवेश मन्त्री (Colonial Secretary) की वात को नहीं सुना । उस समय स्पीकर के स्थान पर डिप्टी स्पीकर आसीन थे । उन्होंने सदन को स्थगित कर दिया ।

चल रहा हो, उस समय बोलने के इच्छुक सदस्यो को बोलने और वाद-विवाद में भाग लेने के लिए आमन्त्रित करे। आजकल वाद-विवाद के लिए इतना कम समय रहता है कि कतिपय भाग्यशाली सदस्य ही स्पीकर के द्वारा बोलने के इच्छुको में से पहिचाने जा सकते हैं, और केवल उन्ही को वाद-विवाद में बोलने का अवसर मिलता है। इस सम्बन्ध में स्पीकर के ऊपर कई विचारो का प्रभाव पडता है। वह प्राय प्रत्येक सदस्य को अपने ससदीय जीवन की प्रथम वक्तृता देने का अवसर अवश्य देता है किन्तु प्राय वह उन सदस्यो को बोलने का अवसर देता है जो उसके विचार में अच्छी वक्तृता देकर वाद-विवाद का स्तर उच्च रखेंगे और जहाँ तक उसका उद्देश्य यह रहता है कि सभी प्रकार के विचार रखने वालो को अपने-अपने विचार व्यक्त करने का अवसर मिलना चाहिए, वह सदस्यो को बोलने के लिए बुलाने में बडी सावधानी से काम करता है। सत्य तो यह है कि बहुत से अपने दल के सचेतक द्वारा पहिले से ही स्पीकर से प्रार्थना कर लेते हैं कि उन्हें बोलने की अनुमति दी जाय, इस प्रकार स्पीकर की वरीयता केवल दैवयोग (Haphazard) पर ही आश्रित नही होती और यह भी सत्य है कि सदन का नेता तथा विरोधी दल का नेता दोनो ही यह निश्चय करते हैं कि दोनो पक्षो की ओर से उनके कौन-कौन मुख्य वक्ता होंगे।

स्पीकर का एक अन्य अप्रत्यक्ष-सा कार्य यह भी रहता है कि वह शासन के सीमोल्लघनो (Encroachments) से सदन की मान-मर्यादा की रक्षा करे। जब कभी मन्त्री लोग सदस्यो की स्वतन्त्रता पर आघात करते हैं या जब वे सदस्यो द्वारा पूछे गये प्रश्नो का उत्तर नही देते या जब वे माँगी गई सूचना पर्याप्त मात्रा में नही देते तो साधारण सदस्य उस स्थिति में स्पीकर से अपील करता है कि कार्यपालिका के विरुद्ध सदस्यो की मर्यादा और उनके अधिकारो की रक्षा की व्यवस्था की जाय।

इसमें सन्देह नहीं कि स्पीकर को अनेको और साथ ही कष्टसाध्य कर्त्तव्यो का निर्वहन करना पडता है। लोकसभा के सभी सदस्य `स्पीकर में इस प्रकार का विश्वास रखते हैं जैसे दो टीमों के खिलाडी रेफरी या अम्पायर (Umpire) की न्यायप्रियता एव निष्पक्षता पर विश्वास रखते हैं। वाद-विवाद के बाद उसका कोई मत नही होता। टाई (Tie) पडने की स्थिति में उसे एक निर्णायक मत देने का अधिकार होता है। किन्तु स्पीकर अपना निर्णायक मत प्राय इस प्रकार और ऐसी अवस्था में हो देता है कि उसके निर्णायक मत से अन्तिम निर्णय न हो, और इस प्रकार वह सदन को एक अवसर और देता है जिसमें उस समस्त विवादग्रस्त विषय पर एक बार पुन विचार कर लिया जाय।

इस प्रकार स्पीकर सदन के सभी सदस्यो के अधिकारो (Rights) और सदन की प्रतिष्ठा का पक्षपातहीन सरक्षक होता है। उसकी दृष्टि में सबसे हेच, पिछली बेंच पर बैठने वाला सदस्य भी अन्य सदस्यो से घटिया या हेच नही है, और उसी प्रकार सर्वोच्च प्रभावशाली मन्त्री भी उतना ही है जितना कि कोई अन्य साधारण सदस्य। स्पीकर का यह परम पुनीत कर्त्तव्य है कि वह लोकसभा के सदस्यो के अधिकारो एव परमा-

धिकारो की रक्षा न केवल क्राउन और लार्ड सभा के सीमोल्लघन के विरुद्ध करे अपितु एक सदस्य के अधिकारो की रक्षा दूसरे के अधिकारो के विरुद्ध करे। इसका अभीष्ट फल यह होगा कि ससद् के उस सम्पूर्ण आधार की ही रक्षा हो सकेगी जो संसद् को ऐसा प्लेटफार्म वनाता है जहां लोगो के सच्चे अर्थों में प्रतिनिधि अपने मन की सभी प्रिय अथवा अप्रिय वातो को खुलकर विना हिचक या डर के कह सके।[1]

ब्रिटिश स्पीकर का पद अत्यन्त गौरवपूर्ण है। यह पद न केवल महान् प्रतिष्ठा का ही है अपितु दीर्घ अवधि का भी है। स्पीकर की समाज में वहुत वडी प्रतिष्ठा है और उसका वेतन भी उच्च स्तर का है। उसको ५,००० पौंड वार्षिक वेतन के रूप में मिलता है और वेस्टमिनिस्टर महल में उसको विना किराये के आवास मिलता है। वह प्रतिष्ठा के अनुसार राष्ट्र का सातवां नगरिक होता है और इस हिसाव से वह लार्ड प्रेसीडेण्ट आफ दी काउन्सिल (Lord President of the Council) से निचले दर्जे का नागरिक होता है। इसके अतिरिक्त समस्त राष्ट्र का वही एक नागरिक है जो दरवार करता है और जिसके दरवार में दरवारी पोशाक पहिनना आवश्यक माना गया हो और जिसके दरवार के निमन्त्रण एक प्रकार की आज्ञाएँ हो। जव स्पीकर अपने पद से अवकाश ग्रहण करता है तो उसे ४,००० पौंड वार्षिक की पेंशन मिलती रहती है और उसे पीयर वना दिया जाता है। स्पीकर व्हिटले (Whitley) पहला स्पीकर था जिसने पीयर वनना अस्वीकार कर दिया था। उसके अवकाश ग्रहण करने पर श्रमिक सदस्यो ने इतनी वडी धन-राशि पेंशन के रूप में देने पर आपत्ति उठाई। उनका विचार था कि स्पीकर की पेंशन की धन-राशि अत्यधिक है जवकि उसका वेतन उसी अनुपात मे अत्यल्प है।

लोकसभा के कार्य

(Functions of the House)

१ व्यवस्थापन

(Legislation)

व्यवस्थापन की प्रक्रिया (The Process of Legislation)—कानून निर्माण की प्रक्रिया पूर्ण ब्रिटिश ससद् के नियन्त्रण में रहती है। पूर्ण ब्रिटिश ससद् का अर्थ है सम्राट्, लार्ड सभा और लोकसभा। केवल लोकसभा अकेली कुछ नही कर सकती, यद्यपि सम्राट् और लार्ड सभा की शक्तियां वहुत कुछ मर्यादित एव नियन्त्रित हैं। लोकसभा में किसी भी प्रकार का विधेयक पुर स्थापित किया जा सकता है चाहे वह सामान्य हो अथवा वित्तीय और अधिकतर विवादास्पद एव महत्त्वपूर्ण विधियो का सूत्रपात लोकसभा में ही होता है। इसलिये व्यवस्थापन अथवा कानून-निर्माण के क्षेत्र में लोकसभा की शक्ति महान् है।

---

[1] Brown, W. J.: Guide to Parliament, p 61.

प्रत्येक विधि विधेयक के रूप मे प्रारम्भ होती है जिसके दोनो सदनो में तीन-तीन वाचन होते हैं, और उसके बाद सम्राट् की स्वीकृति प्राप्त हो जाने पर वह अधिनियम (Act) का रूप धारण करती है। यह कहना कठिन है कि प्रत्येक विधेयक के तीन वाचन क्यो आवश्यक माने गये हैं। इस सम्बन्ध में केवल इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि किसी विधेयक पर जब तीन वाचन अर्थात् ससद् तीन बार स्वीकार कर लेती है, तो इस बात की आशका नही रहती कि कोई विधेयक बिना पूरी-पूरी तरह सोचे-विचारे पास हो जाये। किसी विधेयक के तीन वाचनो की प्रथा मध्य युग से चली आ रही है, "जिस समय तीन की सख्या को विशेष पवित्र माना जाता था और १६वी शताब्दी के अन्त तक तीन वाचनो की प्रथा सुस्थिर हो चुकी थी।"[1] यह निस्सन्देह एक समझदारीपूर्ण व्यवहार है किन्तु यह एक प्रथा मात्र है, वैधिक आवश्यकता नही है।

विधेयकों के प्रकार (Kinds of Bills)—इगलैण्ड विधेयको का विभाजन दो भेदो के अनुसार किया जाता है। प्रथमत विधेयको की प्रकृति के अनुरूप उनको दो भागो में बाँटा जाता है। सार्वजनिक विधेयक (Public Bills) और प्राइवेट विधेयक (Private Bills) सार्वजनिक विधेयक सभी के ऊपर लागू होते हैं और उनके विषय सर्वसाधारण अथवा समस्त जनसख्या के कतिपय भाग पर भी लागू हो सकते हैं। इसके विपरीत प्राइवेट विधेयक वह हैं जो किसी स्थान विशेष या जनता के किसी वर्ग विशेष से सम्बन्ध रखता है। प्राइवेट विधेयको का सम्बन्ध इस प्रकार के वैधिक उपबन्धो से है जो किसी व्यक्ति विशेष, निगम (Corporations), समुदाय (Group) मण्डली अथवा लोकसमाज (Community) पर लागू होते हैं। प्राइवेट विधेयको का सम्बन्ध सर्वसाधारण से नही होता और उनके पास करने की विधि सार्वजनिक विधेयको के पास करने की विधि से भिन्न प्रकार की है।

इसके बाद सार्वजनिक विधेयको को पुन औपचारिक विभेद के अनुसार सरकारी विधेयको (Government Bills) और प्राइवेट सदस्य के विधेयकों (Private Members Bills) में विभाजित किया जाता है। सरकारी विधेयक तथा प्राइवेट सदस्य के विधेयक दोनो ही सार्वजनिक विधेयक हैं किन्तु उन दोनो के आरम्भ अथवा उद्‌भव (Origin) में भेद है। सरकारी विधेयक, जैसा कि उसके नाम से ही प्रकट है, एक सार्वजनिक विधेयक होता है जिसको शासन की ओर से कोई मन्त्री पुरस्थापित करता है। किन्तु प्राइवेट सदस्य का विधेयक ऐसा सार्वजनिक विधेयक होता है जिसको ससद् का कोई ऐसा सदस्य पुरस्थापित करता है जिसका सम्बन्ध शासन से नही होता।

सार्वजनिक विधेयक अथवा सरकारी विधेयक (Puplic Bills or Government Bills)—किसी सार्वजनिक विधेयक के विधि बनने से पूर्व उसको लोकसभा में तीन वाचन अथवा पाँच स्तरो को पार करना पडता है। वे पाँच स्तर (Stages)

---

[1] Taylor E The House of Commons at Work, P. 131

निम्नलिखित हैं—(१) पुरःस्थापना और प्रथम वाचन, (२) द्वितीय वाचन, (३) समिति स्तर (The Committee Stage), (४) प्रतिवेदन स्तर (Report Stage), एवं (५) तृतीय वाचन (Third Reading)।

(१) **प्रथम वाचन** (First Reading)—जब किसी विधेयक को मन्त्रिमण्डल अन्तिम रूप से स्वीकार कर लेता है, तो सम्बन्धित मन्त्री उक्त विधेयक को पुरःस्थापित करता है। विधेयक को पुरःस्थापित करने के दो उपाय हैं। कोई विधेयक, प्रस्ताव (Motion) के रूप में भी पुरःस्थापित किया जा सकता है और किसी विधेयक का नोटिस भी दिया जा सकता है। जहाँ तक सरकारी विधेयको का सम्बन्ध है, प्रस्ताव अथवा (Motion) के रूप में उन्हें पुरःस्थापित नही किया जाता। विधेयक के पुरःस्थापन के लिये सामान्यतः लिखित नोटिस ही दिया जाता है। नोटिस के नियत दिन पुनःस्थापक आता है और विधेयक (Dummy Bill) को क्लर्क की मेज पर रख देता है। लोकसभा का क्लर्क (Clerk of Bill House) उक्त विधेयक के शीर्षक को खूब जोर से पढता है। इस विधेयक को डमी विधेयक (Dummy Bill) कहते हैं और उसमें विधेयक के शीर्षक के अतिरिक्त कुछ नही होता। यह एक स्टेशनरी का विशेष फार्म मात्र होता है जो सरकार से मिलता है, और उस पर केवल विधेयक का शीर्षक मात्र लिखा रहता है। इस स्थिति में कोई वाद-विवाद नही होता और इस प्रकार प्रथम वाचन समाप्त हो जाता है। विधेयक ज्योही तैयार हो जाता है, उसे छाप दिया जाता है और छपी हुई विधेयक की प्रतियाँ सदस्यो को पढने के लिए मिल जाती हैं। इस प्रकार प्रथम वाचन समाप्त समझा जाता है और उसके द्वितीय वाचन की तैयारी होती है।

(२) **द्वितीय वाचन** (Second Reading)—द्वितीय वाचन, विधेयक के जीवन का निर्णायिक स्तर होता है और स्वभावतः उसके जीवन का भी द्वितीय स्तर होता है। सदन की आज्ञा से एक दिन पहिले से ही निश्चित कर दिया जाता है। उस दिन उक्त विधेयक का पुरःस्थापक मन्त्री उठता है और प्रस्तावित करता है कि विधेयक को द्वितीय वाचन प्रदान किया जाय। उस समय मन्त्री विधेयक के सिद्धान्तो पर पूर्ण प्रकाश डालता है अर्थात् विधेयक की भाषा समझाता है, उसकी सविस्तार व्याख्या करता है और उसका स्पष्टीकरण करता है। वह यह भी समझाने का प्रयत्न करता है कि उक्त विधेयक की क्योंकर आवश्यकता पडी और यह किस प्रकार उस आवश्यकता की पूर्ति करेगा। इसी प्रकार उक्त विधेयक के अन्य समर्थक भी प्रकाश डालेंगे। इसके विपरीत विरोधी दल के सदस्य उस विधेयक की आलोचना करेंगे और वे प्रायः कठोर सशोधन प्रस्ताव उपस्थित करेंगे जिसमें चाहेंगे कि "इस दिन के ठीक ६ मास बाद यही विधेयक द्वितीय वाचन के लिये पुनः सदन के सम्मुख उपस्थित किया जाय।' वाद-विवाद के अन्त में सशोधन-प्रस्ताव पर सदन में मत लिये जाते हैं। यदि सरकार की हार हो जाती है तो उसको त्याग-पत्र देना पडता है। किन्तु सरकार की हार कभी नही होती, चाहे विरोधी दल द्वितीय वाचन के विरुद्ध मत दे।

इस सम्बन्ध मे यह याद रखना चाहिये कि द्वितीय वाचन मे न तो विस्तार पूर्वक वाद-विवाद होता है, न सशोधन उपस्थित किये जाते हैं, और न विधेयक की एक-एक धारा पर विचार होता है और न धाराओ पर मत ही लिये जाते हैं। द्वितीय वाचन में समस्त विधेयक पर वाद-विवाद होता है और विधेयक पर सशोधन उपस्थित नही किये जाते, बल्कि इस प्रस्ताव पर सशोधन उपस्थित किया जाता है कि "विधेयक का द्वितीय वाचन कर लिया जाय।" इसका उद्देश्य यह होता है कि या तो समस्त विधेयक को स्वीकार कर लिया जाय या उसे अर्थात् समस्त विधेयक को अस्वीकृत कर दिया जाय। इस प्रकार इगलैंड का द्वितीय वाचन यूरोपीय महाद्वीप में प्रचलित साधारण वाद-विवाद (General Discussion) के समान है जो विशिष्ट अनुच्छेदो के पास होने से पूर्व की प्रक्रिया है।

(३) समिति स्तर (Committee stage)—द्वितीय वाचन समाप्त होने के उपरान्त साधारण सार्वजनिक विधेयक[1] यन्त्रवत् स्थायी समितियो के पास चले जाते हैं, हाँ, यदि कोई सदस्य द्वितीय वाचन के तुरन्त बाद उठ खड़ा होकर यह निवेदन करे कि उक्त विधेयक को समस्त सदन की समिति (Committee of the Whole House) के पास या प्रवर समिति (Select Committee) के पास भेज दिया जाय, उस स्थिति में वह विधेयक स्थायी समिति के पास न जाकर अन्यत्र उपयुक्त समिति के पास भेजा जायगा। जिन सार्वजनिक विधेयको को मन्त्रिमण्डल महत्त्वपूर्ण समझता है, उनको प्राय समस्त सदन की समिति के पास विचारार्थ भेजा जाता है।

समिति स्तर में विधेयक के ऊपर विस्तारपूर्वक वाद-विवाद होता है। विधेयक की प्रत्येक धारा पर विचार होता है और उनको स्वीकार करना होता है, या धारा प्रति-धारा पर सशोधन उपस्थित किये जा सकते है या उनको वाद-विवाद के फलस्वरूप भी और बिना वाद-विवाद के भी अस्वीकृत किया जा सकता है। इस स्तर में वाद-विवाद प्राय अत्यन्त नियन्त्रित एव प्रवर्तक (Restrained and Persuasive) होता है। समिति स्तर मे मन्त्री प्राय शान्त रहता है और कम बोलता है, और आलोचको की वक्तृताएँ भी प्राय नीरस (Dry) और व्यावहारिक (Busines-like) होती हैं। यह याद रखना चाहिए कि समिति-स्तर में शासन विधेयक की पूरी रक्षा करता है और प्रभावी नेतृत्व द्वारा उसको समिति-स्तर में से सफलतापूर्वक निकाल ले जाता है। इसके विपरीत फ्रास (France) में यह नेतृत्व वृत्तलेखक (Reporter) के पास चला जाता है तथा सयुक्त राज्य में यह अधिकार प्रभारी सदस्य (Member-in-charge) के पास चला जाता है। इगलैंड में ससद् में मन्त्री ही किसी विधेयक की पुरस्थापना (Sponsors) करता है, और वही विधेयक के सभी स्तरो मे से कुशलतापूर्वक उसे निकाल ले जाता है। प्राय पूर्णतया, किसी सार्वजनिक विधेयक का भाग्य मन्त्री के हाथो में रहता है।

---

[1] इन विधेयकों में वे विधेयक अपवाद हैं जिनका सम्बन्ध करारोपण (Taxes), सचित निधि (Consolidated Fund Bills) और अस्थायी व्यवस्था-विधेयकों से है।

जहाँ कोई विधेयक द्वितीय वाचन में पारित कर दिया गया, तो प्राय. ऐसा माना जाता है कि उसमें निहित सिद्धान्तो को स्वीकार कर लिया गया है और फिर किसी विधेयक के सम्बन्ध में समिति स्तर में ऐसा सशोधन उपस्थित करना अवैध माना जाता है जिसके द्वारा विधेयक मे आमूल परिवर्तन करना अभीष्ट हो। उसी प्रकार ऐसे सशोधन जो विधेयक के विषय से असगत हैं, अथवा ऐसे सशोधन जिनका विधेयक के उद्देश्यो से सामञ्जस्य नही होता, उनको भी नियम विरुद्ध ठहरा दिया जाता है। इसके अतिरिक्त विधेयक के सम्बन्ध में जो बातें समिति स्तर में मान ली गई हैं, उनके विरुद्ध कोई सशोधन स्वीकार नही किया जा सकता, और सशोधन न तो निरर्थक या क्षुद्र होना चाहिए और न अस्पष्ट और हास्यास्पद होना चाहिये।

समितियो के प्रकार

(Kinds of Committees)

(क) सम्पूर्ण सदन की समिति (Committee of the whole House)—इस समिति में लोकसभा के समस्त सदस्य सम्मिलित होते हैं। किन्तु सम्पूर्ण सदन में और सम्पूर्ण सदन की समिति में भेद है। इस समिति मे स्पीकर (Speaker) अपना आसन खाली कर देता है। उसका आसन एक ऐसे सभापति द्वारा ग्रहण किया जाता है जो या तो समिति का चेयरमैन होता है अथवा उसकी अनुपस्थिति में डिप्टी चेयरमैन होता है। गदा (Mace), जो स्पीकर की मर्यादा का द्योतक होती है, चेयरमैन की मेज़ के नीचे तब तक रखी रहती है जब तक कि समिति की कार्यवाही चालू रहे। समिति में कार्यवाही के नियम शिथिल हो जाते हैं। किसी प्रस्ताव के अनुमोदन की आवश्यकता नही होती और सदस्यो को बोलने की छूट होती है कि वे एक ही प्रश्न पर जितनी बार चाहें बोल सकते हैं, और किसी ऐसे प्रस्ताव की आज्ञा नही दी जा सकती जिसके द्वारा वाद-विवाद को सीमित करना अभीष्ट हो।

सम्पूर्ण सदन की समितियाँ चार निश्चित उद्देश्यो को लेकर कार्य करती हैं, जो इस प्रकार हैं—(१) किसी विधेयक के सम्बन्ध में सम्पूर्ण सदन की साधारण समिति; (२) वित्तीय विधेयक के सम्बन्ध में सम्पूर्ण सदन की समिति, (३) सप्लाई के सम्बन्ध में सम्पूर्ण सदन की समिति, और (४) रीतियो और साधनो की समिति। जब किसी समिति का कार्य समाप्त हो जाता है, तो वह उठ जाती है। इसके बाद समिति सदन का या लोकसभा का स्वरूप धारण कर लेती है, स्पीकर पुन अपने आसन पर आ विराजता है, और उसकी गदा पुन मेज़ पर रख दी जाती है। इसके उपरान्त समस्त सदन की समिति का चेयरमैन सदन के स्पीकर की मेज के निकट आता है, और प्रार्थना करता है, "मैं निवेदन करता हूँ कि समिति ने अपने कार्य में प्रगति की है और आप पुनः समिति को अपना कार्य करने की आज्ञा प्रदान करें।" इस पर स्पीकर पूछता है कि अब समिति अपना कार्य कब प्रारम्भ करेगी। उस प्रश्न का **उत्तर** शासन

का सचेतक (Whip) देता है। तब स्पीकर कोई दिन नियत कर देता है और यह सदन के आदेश के रूप में प्रस्थापित होता है। यह याद रखना चाहिये कि कोई समिति स्थायी रूप से सदैव के लिए नियुक्त नही की जाती। समिति एक अस्थायी निकाय होती है, जो आवश्यकतानुसार किसी भी दिन नियुक्त की जा सकती है।

किसी विधेयक के सम्बन्ध में सम्पूर्ण सदन की समिति प्राय कभी नही बैठती। यदि कभी ऐसा समझा जाता है कि किसी विधेयक को सम्पूर्ण सदन की समिति में भेजना आवश्यक है, तो इस आशय का प्रस्ताव विधेयक के द्वितीय वाचन के तुरन्त बाद आना चाहिये। अन्यथा वह विधेयक स्वयमेव किसी स्थायी समिति (Standing Committee) के पास चला जायगा।

(ख) **स्थायी समितियाँ** (Standing Committees)—सम्पूर्ण सदन की समितियाँ, वास्तविक अर्थों में समितियाँ नही हैं। लोकसभा की वास्तविक समितियाँ चार प्रकार की हैं जिनमे से एक स्थायी समिति है। प्रथम बार १८८२ में लोकसभा के समय की बचत करने के लिये स्थायी समितियो की नियुक्ति हुई थी। प्रारम्भ में केवल दो स्थायी समितियाँ थी। १९०७ में चार स्थायी समितियाँ नियुक्त की गईं और १९१९ में इन समितियो की सख्या ६ होगई। आजकल भी छ स्थायी समितियाँ हैं।

स्थायी समितियो की नियुक्ति सत्र के प्रारम्भ में की जाती है और वे ससद् के सत्रावसान तक ज्यो की त्यो बनी रहती हैं। प्रत्येक समिति में बीस से लेकर पचास तक सदस्य होते हैं और एक चयन करने वाली समिति (Committee of Selection) इन समितियो को नामाकित करती है। सभी राजनीतिक दलो के सदस्य इन समितियो में उसी अनुपात में लिये जाते हैं जिस अनुपात में सदन में उनकी सख्या होती है। इसके अतिरिक्त लगभग २० विशेषज्ञ लिये जाते हैं (विशेषज्ञ ३० से अधिक नहीं होने चाहिएँ)। विशेषज्ञ वे सदस्य होते हैं जो विवादीय विषय में विशेष जानकारी अथवा रुचि रखते हैं अथवा जो उस विषय में विचार करने के योग्य समझे जाते हैं।

सदन का स्पीकर, स्थायी समिति के लिये सभापति का चुनाव उन सदस्यो में से करता है जिनका नामाकन चयन करने वाली समिति (Committee of Selection) करती है। स्थायी समिति के चेयरमैन अथवा सभापति की वही शक्तियाँ हैं जो रीतियों और साधनो की समिति (Committee of Ways and Means) के चेयरमैन की होती हैं। साथ ही उसको यह भी अधिकार होता है कि वह वाद-विवाद की समाप्ति का प्रस्ताव स्वीकार करले और काँगरू (Kangroo) उपाय द्वारा वाद-विवाद बन्द कर दे।

साधारण स्थायी समितियो के अतिरिक्त एक अन्य स्थायी समिति होती है जो स्काटलैंड के अधिनियमो (Scotish Bills) के सम्बन्ध में होती है। यह केवल उन्ही विधेयको पर विचार करती है जिनका सम्बन्ध स्काटलैंड (Scotland) से होता

है। यह समिति अन्य समितियो से आकार में तीन गुनी होती है और इसमें कम से कम दस विशेषज्ञ होने चाहिएँ और अधिक से अधिक पन्द्रह।

(ग) **प्रवर समितियाँ** (Select Committees)—ये समितियाँ उन विधेयको के लिये बनाई जाती हैं जिनमे कोई नए सिद्धात अन्तर्भूत होते हैं। अथवा ये समितियाँ ऐसे विषय के विषय में बनाई जाती हैं जो विधेयक के रूप में कभी सदन के समक्ष उपस्थित नही हुए हैं। सदन का कोई भी सदस्य प्रस्ताव रख सकता है कि प्रवर समिति की नियुक्ति होनी चाहिये। लोकसभा के नियमानुकूल किसी प्रवर समिति में बिना विशेष प्रस्ताव के पंद्रह से अधिक सदस्य नही होने चाहिये। इस प्रकार की समिति में सम्बन्धित विषय के विशेषज्ञ ही होते हैं जो विचारार्थ विषय में पूर्ण प्रवीणता रखते हैं। जो विधेयक इन समितियो के सम्मुख विचारार्थ आते हैं उनका ये परीक्षण करती हैं, साक्षी एकत्रित करती हैं, उन सूचनाओ का परीक्षण करती हैं, सगत तथ्य छाँटती हैं, उनके विवेकपूर्ण परिणाम निकालती हैं और फिर उन पर अपनी रिपोर्ट तैयार करके सदन के समक्ष उपस्थित करती हैं। रिपोर्ट देने के बाद प्रवर समिति समाप्त हो जाती है। प्रवर समिति के निर्णय सदन के लिये आवश्यकत मान्य नही हैं। प्रवर समिति तो केवल सदन के समक्ष किसी विषय पर सिफारिश मात्र करती है।

(घ) **अधिवेशन सम्बन्धी प्रवर समितियाँ** (Sessional Select Committees)—एतदर्थ प्रवर समितियो (ad hoc Select Committee) के अतिरिक्त, कतिपय वर्ष भर काम करने वाली प्रवर समितियाँ होती हैं जो लगभग स्थायी समितियाँ होती हैं। इन समितियो के लिये सदस्य सदन के पूर्ण अधिवेशन के लिये नियुक्त किये जाते हैं और इसीलिये इन समितियो को अधिवेशन सम्बन्धी प्रवर समितियाँ कहते है। इनमें से कुछ समितियो के नाम निम्नलिखित हैं—प्रवरण समिति (The Selection Committee), लोक लेखा समिति (The Committee of Public Accounts), स्थायी आदेशक समिति (The Standing Order Committee), विशेषाधिकार सम्बन्धी समिति (The Committee of Privileges), परिनियत विलेख प्रवर समिति (The Select Committee on Statutory Instruments)।

(ङ) **सयुक्त समितियाँ** (Joint Committees)—कभी-कभी लार्ड सभा और और लोकसभा दोनो सदनो की सयुक्त समिति की भी नियुक्ति हो जाती है जो ऐसे विषय पर विचार करती हैं और अनुसन्धान करती हैं जिसके बारे में दोनो सदनो मे उत्तेजना पाई जाती है। किन्तु ब्रिटिश ससदीय जीवन में इसकी प्रथा अत्यन्त कम है। सम्भवत इस सम्बन्ध में सबसे मशहूर सयुक्त समिति वह थी जो १९३३ में भारतीय सविधान सुधारों के सम्बन्ध में बनाई गई थी।

(च) **प्राइवेट विधेयकों की समितियाँ** (Private Bills Committees)—ये समितियाँ केवल प्राइवेट विधेयको का परीक्षण करती है। प्रवरण समिति (Committee of Selection) इन समितियो की नियुक्ति करती है। ये समितियाँ प्राय उसी प्रकार अपना कार्य करती है जिस प्रकार कि प्रवर समितियाँ करती हैं।

इनमें से प्रत्येक के सदस्यो की सख्या चार होती है । चार सदस्यों में चेयरमैन सम्मिलित होता है । प्रवरण समिति (Committee of Selection) के द्वारा इस समिति के चेयरमैन का नामाकन होता है । इसको न केवल एक मत का अधिकार होता है । बल्कि निर्णायक मत (Casting Vote) का भी अधिकार होता है । इस प्रकार का अधिकार साधारण प्रवर समिति के चेयरमैन को प्राप्त नही होता ।

(४) **प्रतिवेदन स्तर** (Report Stage)—इसके बाद रिपोर्ट करने का स्तर अथवा प्रतिवेदन स्तर आता है । यदि किसी विधेयक को समितियो में सशोधित किया गया है तो उसको प्रतिवेदन स्तर (Report Stage) पार करना पडता है यदि किसी विधेयक पर सम्पूर्ण सदन की समिति में विचार हो चुकता है, तो उसका प्रतिवेदन स्तर केवल उपचार मात्र होता है । किन्तु यदि उस विधेयक पर अन्य समितियो (Committee upstairs) में विचार हुआ है, तो प्रतिवेदन स्तर में उक्त विधेयक पर वाद-विवाद हो सकता है । इस स्तर में भी सशोधन उपस्थित किये जा सकते हैं । सरकार भी इस स्तर में सशोधनो का सूत्रपात कर सकती है यदि उसने प्रारम्भिक स्तरो में ऐसा वचन दिया हो किन्तु जिनका प्रारूप तैयार करने का अवसर न मिला हो अथवा जिनको तैयार तो कर लिया हो किन्तु जिनको अभी तक उपस्थित न किया गया हो अथवा ऐसे सशोधन भी प्रतिवेदन स्तर में उपस्थित किये जाते हैं जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण होने के कारण समिति स्तर पर उपस्थित नही किये गये हो । किन्तु अधिकतर तो, सदन, प्रतिवेदन स्तर से सीधे तृतीय वाचन के स्तर पर उसी दिन आ जाता है ।

(५) **तृतीय वाचन** (Third Reading)—सदन में किसी विधेयक का अन्तिम स्तर तृतीय वाचन होता है । तृतीय वाचन के नियम मुख्यत वही हैं जो द्वितीय वाचन के हैं । सिद्धान्तत तृतीय वाचन म भी वाद-विवाद होना चाहिये । तृतीय वाचन के स्तर में वाद-विवाद की व्यवस्था का आशय यह है कि "जहाँ विधेयक द्वितीय वाचन में सिद्धान्तत स्वीकार किया जा चुका है, जहाँ समिति स्तर मे उसके स्वरूप में आवश्यक हेर-फेर हो चुके हैं, वही सदन को तृतीय वाचन में पुन अवसर मिल जाय कि संशोधित विधेयक को एक बार अन्तिम रूप से और देख लिया जाय और उसकी परीक्षा कर ली जाय और तभी उसको अन्तिम स्वीकृति प्रदान की जाय ।" इस स्तर पर केवल कुछ शब्दो के हेर-फेर के अलावा और किसी प्रकार के सशोधनो का प्रस्ताव नही किया जा सकता । जब यह प्रस्ताव कि विधेयक का तृतीय वाचन कर लिया जाय, स्वीकृत हो जाता है, तो विधेयक अन्तिम रूप से स्वीकृत एव पारित मान लिया जाता है, और इस प्रकार विधेयक का लोकसभा का जीवन-वृत समाप्त समझा जाता है ।

विधेयक ससदीय अधिनियम के रूप में (A Bill because on Act of Parliament)—इसके पश्चात् लोकसभा को विधेयक के सम्बन्ध में कुछ भी करना-धरना शेष नही रहता । अब विधेयक लार्ड सभा मे जाता है । वहाँ पर भी वह ऊपर

वर्णित समस्त स्तरो को पार करता है। यदि लार्ड सभा उक्त विधेयक पर बिना कोई सशोधन उपस्थित किये उसे स्वीकार कर लेती है, तो वह पार्लियामेंट या ससद् के अधिनियम (Act) का स्वरूप धारण कर लेता है किन्तु उससे पूर्व राजा की औपचारिक स्वीकृति उसको लेनी आवश्यक होती है जो मिल ही जाती है। यह भी हो सकता है कि लार्ड सभा उक्त विधेयक में कोई सशोधन करदे अथवा उसे बिल्कुल अस्वीकृत करदे। किन्तु लार्ड सभा द्वारा अस्वीकृति देने पर १९११ का ससदीय अधिनिमम (Parliament Act of 1911) जिसको १९४९ मे सशोधित किया गया था, प्रभावी हो जाता है। इस अधिनियम के बारे में पहिले ही बताया जा चुका है। यदि कोई सशोधन उपस्थित किये गये हैं, तो उन सशोधनो का लोकसभा द्वारा स्वीकार किया जाना आवश्यक है। एक दिन, उन सशोधनो के विचारार्थ निश्चित किया जाता है और उस दिन स्पीकर कहता है, "अब लार्ड सभा के सशोधनो पर विचार होना है।" ज्यो-ज्यो क्लर्क (clerk) द्वारा प्रत्येक सशोधन पढा जाता है, विधेयक से सम्बन्धित मन्त्री उठता है और प्रस्ताव करता है, "लार्ड सभा लोकसभा द्वारा सुझाये गये सशोधन को स्वीकार करती है "अथवा" लोकसभा लार्ड सभा द्वारा सुझाये गये सशोधन को स्वीकार नही कर सकती।" यदि लार्ड सभा के किसी सशोधन पर लोकसभा अस्वीकृति देती है तो एक समिति नियुक्त की जाती है जो उक्त सशोधन को अस्वीकार करने के कारण बताती है। इसके उपरान्त दोनो सदनो मे लिखा-पढ़ी द्वारा विचार-विनिमय होता है। यदि किसी प्रकार दोनो सदनो के मत-भेद दूर नही हो पाते और दोनो ही सदन अपनी-अपनी बातो पर दृढ रहते हैं, उस स्थिति में विधेयक अस्वीकृत समझा जाता है, हाँ! यदि लोकसभा १९४९ में सशोधित १९११ के ससदीय अधिनियम (Parliament Act of 1911, as amended in 1949) का सहारा लेकर कार्यवाही करे तभी विधेयक की रक्षा हो सकती है।

जिस आडम्बर और तडक-भड़क के साथ विधेयको को सम्राट् की स्वीकृति प्रदान की जाती है, वह प्राचीन काल की याद दिलाती है। कभी-कभी तो राजा स्वय उपस्थित होकर स्वीकृति प्रदान करता है, किन्तु अधिकतर दरबारी कमिश्नरो (Royal Commissioners) द्वारा यह औपचारिक रस्म अदा की जाती है। वे सम्राट् के सिहासन के सन्मुख बैठते हैं। सदन की बार (Bar) पर लोकसभा का स्पीकर खडा होता है। उसको लोक सदन से इसके लिये बुलाया जाता है। क्राउन (Crown) का क्लर्क (Clerk) प्रत्येक विधेयक के शीर्षक को पढता चलता है और ससद् का क्लर्क प्रत्येक विधेयक पर सम्राट् की स्वीकृति पढ़ता चलता है जिसके लिये ये शब्द बोलता है—'ली राय ली व्यूल्ट' (*Le Roy le Veult*)।

प्राइवेट सदस्यो के विधेयक (Private Members' Bills)—प्राइवेट सदस्यो द्वारा सार्वजनिक विधेयको की पुरःस्थापना की प्रक्रिया कुछ भिन्न है। होता यह है कि अधिवेशन के प्रारम्भ होने के पूर्व ही प्राइवेट सदस्य अपने विधेयको को ससद् मे पुरःस्थापना के हेतु भेज देते हैं। तब उस पर आवश्यक प्रक्रिया सम्बन्धी मन्त्रणा

करली जाती है और मत स्थिर कर लिये जाते हैं। प्राइवेट सदस्यो के विधेयक केवल शुक्रवार को पुर स्थापित किये जा सकते हैं क्योकि सप्ताह के प्रारम्भ के दिन सरकारी विधेयको के लिये निश्चित रहते हैं। जिन सदस्यो को शुक्रवार को अपना विधेयक पुर-स्थापित करने की स्वीकृति मिल जाती है, वे लिखकर अपने विधेयक का नोटिस देते हैं। विधेयक के पुर स्थापित करने का एक और भी नियम है जिसको 'दस मिनट का नियम' (Ten Minutes Rule) कहते हैं। इस प्रकार विधेयक के पुर स्थापक को दस मिनिट का समय मिल जाता है जिसमें वह उक्त विधेयक के सबध में छोटी-सी वक्तृता उसके पक्ष में दे। इसके बाद उसी प्रकार दस मिनिट का समय किसी ऐसे सदस्य को दिया जायगा जो उसके विरोध में छोटी-सी वक्तृता देना चाहे। इसके बाद स्पीकर सदन से प्रश्न करेगा कि उक्त विधेयक को पुर स्थापन करने दिया जाय या नही। यदि प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता है, तो विधेयक पुर स्थापित किया जाता है और उसका प्रथम वाचन होता है।

प्राइवेट सदस्यो के विधेयक को कतिपय कठिनाइयां सहन करनी पडती हैं। प्रथमत, इसको अत्यल्प समय दिया जाता है। समस्त प्राइवेट सदस्यो के सभी विधेयको को समस्त स्तर पूरे अधिवेशन के केवल दस दिन मे पार कर लेने चाहियें, द्वितीयत, मत्रि-मडल के सदस्यो की अपेक्षा प्राइवेट सदस्यो को एक अन्य असुविधा का सामना करना पडता है, जो विधेयक के प्रारूप को तैयार करने से सम्बन्ध रखती है। अन्तश यदि प्राइवेट सदस्य का विधेयक उचित शब्दावली में लिख भी लिया गया, तो भी उसका पास होना कई सयोगो पर निर्भर है। यदि शासन को उक्त विधेयक पर आपत्ति है, तो उसके पास होने की कोई आशा नही की जा सकती। यदि उक्त विधेयक की ओर से शासन उदासीन है, तो प्रक्रिया सम्बन्धी अनेको कठिनाइयाँ सामने आ सकती हैं। यदि शासन निश्चित रूप से उस विधेयक के पक्ष में है, और उस पर अपने विधेयक की तरह सहानुभूतिपूर्ण सहायता देने को तैयार है, तो निश्चितत वह शासन के विधेयक के रूप में पास हो जायगा। "किन्तु इस सम्बन्ध में यह बताना आवश्यक है कि यदि प्राइवेट सदस्य लोकप्रिय है, अथवा कम से कम अ-प्रिय नही है, और यदि उक्त प्राइवेट सदस्य ससदीय प्रक्रिया के सम्बन्ध में पटु है तो उसके विधेयक के विधि रूप में पास हो जाने की पर्याप्त आशा हो सकती है।"

इन कतिपय कठिनाइयो को छोडते हुए प्राइवेट सदस्यो के विधेयक भी उसी प्रकार समस्त स्तर पार करते हैं जिस प्रकार कि वे सार्वजनिक विधेयक जिनको मन्त्रिमण्डल की ओर से पुर स्थापित किया जाता है पार करते हैं।

प्राइवेट विधेयक (Private Bills)—हम पहिले ही विचार कर चुके हैं कि प्राइवेट विधेयक, प्राइवेट सदस्यो के विधेयको से भिन्न होते हैं। प्राइवेट विधेयक एक ऐसा विधेयक होता है जिसके द्वारा कतिपय वर्गों के विशिष्ट हित-साधन की कामना की जाती है किन्तु इसके विपरीत अधिकतर सार्वजनिक विधेयको का उद्देश्य होता है कि सम्पूर्ण देश का, सभी जातियो और प्रजातियो का हित साधन हो। प्राइवेट

विधेयक भी इन अर्थों में सार्वजनिक विधेयको के समान होते हैं कि इनका भी अधिकतर काम इनके ससद् में पहुँचने से पूर्व ही हो जाता है। जिन लोगो पर उक्त प्राइवेट विधेयक का प्रभाव पडने को होता है, उनमें मन्त्रणा, सम्मेलन और वाद-विवाद पहिले ही हो लेता है। इस प्रकार के विधेयको का विरोध शान्त करने का हर सम्भव प्रयत्न किया जाता है, उसके वाद ही विधेयक को उपस्थित किया जाता है, ताकि उन समस्त व्ययो और कठिनाइयो से वचा जा सके जिनसे सभी दलो को आक्रान्त होना पडता है और यदि विवादग्रस्त विधेयक (Contested Bills) पुर स्थापित कर दिये जाते हैं तो अपार धन-हानि और कठिनाइयो का वरण करना पडता है।

जो प्राइवेट सदस्य, प्राइवेट विधेयक को पुर स्थापित करना चाहते हैं वे इसको प्रार्थना-पत्र या आवेदन की शक्ल में लोकसभा के प्राइवेट विधेयक कार्यालय में उपस्थित करते हैं। ये प्राइवेट सदस्य ससद् के सदस्य नही होते, अपितु वाहर के प्राइवेट लोग होते हैं अथवा वाहरी निकायो (Bodies) से सम्वन्धित होते हैं और जो ससदीय एजेन्टो के माध्यम से अपना काम चलाते हैं। इसके उपरान्त वे एजेन्ट, प्राइवेट विधेयको के प्रार्थना-पत्रो के निरीक्षको के सम्मुख उपस्थित होते हैं और उन्हे सिद्ध करना पडता है कि उक्त सम्वन्ध में उन्होने समस्त स्थायी आदेशो का पालन किया है जिनका सम्वन्ध समस्त सर्वसाधारण एव उन लोगो को जानकारी कराना है जिनके हितो पर उक्त विधेयक का प्रभाव पड सकता है। ये निरीक्षक वृन्द उक्त विधेयक के सम्वन्ध में ससद् के दोनो सदनो मे एक साथ रिपोर्ट करते हैं। यदि निरीक्षको की रिपोर्ट उक्त विधेयक के हित में होती है, तो ऐसे विधेयको को किसी भी सदन में उन तारीखो में पुर स्थापित कर दिया जाता है जिनकी स्थायी आदेशो में आज्ञा है और इस प्रकार प्राइवेट विधेयको का प्रथम वाचन होता है।

प्राइवेट विधेयको की पुर स्थापना और प्रथम वाचन केवल उक्त विधेयक का रजिस्टर में दर्ज हो जाना मात्र होता है। ससद् के सदस्यो को प्राइवेट विधेयक के सम्वन्ध में तव तक कुछ नही करना होता जव तक कि उक्त विधेयक द्वितीय वाचन के लिये ससद् के किसी सदन में उपस्थित नही किया जाता। प्राइवेट विधेयक का द्वितीय वाचन भी औपचारिकता मात्र है, हाँ यदि किसी विधेयक में कोई नया महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त निहित है, तो दूसरी वात है। वास्तविक विचार-विनिमय विधेयक के समिति-स्तर पर होता है। जिन प्राइवेट विधेयको पर विरोध प्रकट किया जाता है, उनको साधारण प्राइवेट विधेयक समिति (Ordinary Private Bill Committee) अथवा 'प्राइवेट विल' (Private Bill) नाम की समिति के पास भेज दिया जाता है। इस समिति के पास प्राइवेट विधेयक ही आते हैं। इस समिति में लार्ड सभा में से चुने हुए चार सदस्य होते हैं और इसी प्रकार लोकसभा में से इन समिति के लिये सदस्य प्रवरण समिति (Committee of Selection) के द्वारा चुने जाते हैं। जो सदस्य इस समिति के लिये चुने जाते हैं उनको लिखकर ऐसा देना पडता है कि वे प्रस्तावित विधेयक में व्यक्तिगत रूप मे कोई रुचि नही रखते, न उनके निर्वाचको की ही उक्त विधेयक में कोई रुचि है।

इस विधेयक के समिति-स्तर में अर्ध-न्यायिक प्रक्रिया स्पष्टत दृष्टिगोचर होती है। प्राइवेट विधेयक की समिति को यह देखना पडता है कि विधेयक न्याय-युक्त है अथवा नही, साथ ही यह भी देखना पडता है कि उक्त विधेयक के पुरस्थापकों (Promoters) को उसकी आवश्यकता है और यदि है तो कहाँ तक और यह भी तय करना पडता है कि क्या केवल उक्त विधेयक के द्वारा ही उक्त विधेयक के पुरस्थापको का हित साधन हो सकता है, अथवा कोई अन्य उपाय भी हो सकता है। समिति को यह भी देखना पडता है कि क्या उक्त विधेयक के अधिनियम के रूप में पास होने से सर्वसाधारण का कुछ हित-साधन होगा। और समिति को सबसे अधिक यह भी निश्चित करना पडता है कि उक्त विधेयक के विरोधी गण को जो भय हैं वे कहाँ तक ठीक हैं। जो लोग विधेयक के समर्थक होते हैं, वे समिति के समक्ष उपस्थित होते है और उसका स्पष्ट समर्थन करते है। जो लोग विरोधी होते है, वे समिति के समक्ष विरोध में सब कुछ कहते हैं। दोनो पक्षो की ओर से बडे-बडे वकील काम करते है जिनको बडी रकमे मेहनताने के रूप में देनी पडती है और जो इस प्रकार के कार्य के विशेषज्ञ होते है।

इसके उपरान्त समिति रिपोर्ट तैयार करती है। यह रिपोर्ट ही वास्तव में इस समिति का न्यायिक निर्णय होता है। सदन इस रिपोर्ट को सामान्यत स्वीकार कर लेता है। इसलिये रिपोर्ट अथवा प्रतिवेदन स्तर और तृतोय वाचन कतिपय अपवादो को छोडकर साधारणत औपचारिकता मात्र है। तृतीय वाचन के पश्चात् विधेयक द्वितीय सदन में चला जाता है और यथा समय यदि उक्त विधेयक किसी दुर्घटनावश अस्वीकृत नही हो जाता, तो पास हो जाता है और अधिनियम का रूप धारण कर लेता है।

जो प्राइवेट विधेयक निर्विरोध होते है, उनको निर्विरोध विधेयक समिति (Unopposed Bill Committee) में भेज दिया जाता है। इस समिति में पाँच सदस्य होते है और छठा सदस्य स्पीकर का वकील अथवा कानूनी सलाहकार (Counsel) होता है। इस समिति की प्रक्रियाएँ सक्षिप्त और प्राय औपचारिक मात्र होती हैं। ससदीय एजेन्टो की दुकान का बडा मालिक समिति के सम्मुख उपस्थित होता है, विधेयक के अन्तर्निहित उद्देश्यो पर प्रकाश डालता है, औपचारिक साक्षी उपस्थित करता है, और यदि उक्त विधेयक में कोई पेचीदा धारा होती है तो उसका स्पष्टीकरण करता है। सत्य यह है कि स्पीकर के कानूनी सलाहकार और ससदीय ऐजेण्टो के बीच मन्त्रणा द्वारा ही प्राय सारा काम समाप्त हो जाता है।

२ लोकसभा के वित्तीय कृत्य

(Financial Functions of the House of Commons)

वित्तीय विधेयक (Money Bill)—मैडिसन (Madison) ने फेडेरेलिस्ट नामक पत्रिका मे लिखा था, "जिसके पास वित्तीय शक्ति होती है, उसी के पास

वास्तविक शक्ति है ।" राष्ट्र के समस्त आर्थिक स्रोतो पर अधिकार होने के कारण ही लोकसभा सर्वशक्तिशालिनी बन बैठी है। इसलिये, इसमें तनिक भी आश्चर्य की बात नहीं है कि लोकसभा जितना समय व्यवस्थापन में लगाती है, उसका अधिकाश भाग वित्तीय विधेयको में लग जाता है। वित्तीय विधेयको के अधिनियमित करने की प्रक्रिया अन्य प्रकार के विधेयको को पास करने की प्रक्रिया से भिन्न होती है । वित्तीय विधेयको की पुरस्थापना लोकसभा म ही समस्त सदन की समिति में हो सकती है। लोकसभा न तो कोई वित्तीय अनुदान पास कर सकती है न उस समय तक कोई कर लगा सकती है जब तक कि क्राऊन (Crown) की ओर से तत्सम्बन्धी मांग न की गई हो और जिस के लिये क्राऊन स्वय उत्तरदायी न हो । इस प्रकार वित्तीय अनुदानो के सम्बन्ध में पूर्ण शक्ति एव उत्तरदायित्व शासन के ही हाथो में रहता है और वित्तीय विधेयक की पुरस्थापना शासन की ओर से होना आवश्यक है। उसी प्रकार वित्तीय अनुदानो के सम्बन्ध में लोकसभा की शक्ति अन्तिम और निश्चित है । १९११ का ससद् अधिनियम (Parliament Act of 1911) उपबन्धित करता है कि जिस वित्तीय विधेयक को लोक सदन (House of Commons) पास कर दे और जो अधिवेशन स्थगित होने के एक मास पूर्व लार्ड सभा में विचारार्थ भेज दिया जाय, उसको एक मास पश्चात् सम्राट् की स्वीकृति के लिये भेजा जा सकता है और वह अधिनियम का स्वरूप धारण कर सकता है, चाहे उसको लार्ड सभा पास करे चाहे पास न करे । इस प्रकार वित्तीय विधेयको के सम्बन्ध में लार्ड सभा के क्रियाकलाप केवल औपचारिक हैं ।

आयव्ययक (The Budget) —लोकसभा का मुख्य वित्तीय कर्त्तव्य, जो वह प्रतिवर्ष करती है, आयव्ययक (Budget) की तैयारी, उसके सम्बन्ध मे विचार-विनिमय और उसका प्राधिकरण (Authorisation) है । इसकी सामान्य रूपरेखा के बारे में इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि एक ओर आयव्ययक में समस्त वर्ष के लिये सम्भावित व्यय के आंकडे दिये जाते हैं और साथ ही दूसरी ओर वह आगामी वर्ष के लिये अनुमानित आय का पुनरीक्षण प्रदान करता है। ससद् इस सम्बन्ध में जो औपचारिक कार्यवाही करती है और जिसके द्वारा सार्वजनिक धन के व्यय को वैधिक स्वरूप प्रदान किया जाता है, वही ससद् द्वारा पारित वित्तीय अधिनियम का स्वरूप धारण कर लेती है। इस प्रकार का वित्तीय अधिनियम सचित निधि (Consolidated Fund) में से विभिन्न मदो पर व्यय करने का अधिकार प्रदान करता है । सचित निधि बहुत बडा धन का कोष है जिसमें राज्य की समस्त आय जमा की जाती है और जिसमें से वह समस्त रुपया या धन निकाला जाता है जो देश में विभिन्न कामो पर व्यय होता है। सचित निधि का कोई मूर्त्त स्वरूप नहीं है । यह तो केवल एक लेखा या खाता मात्र (Account) है जो इंगलैंड के राष्ट्रीय बैंक (Bank of England) में चलता रहता है और उस लेखा या खाने में से कोई धन-राशि तभी निकाली जा सकती है जबकि उस सम्बन्ध में संसद् का अधिनियम ऐसी आज्ञा प्रदान

कर दे। इस प्रकार का मुख्य अधिनियम वार्षिक विनियोग अथवा सम्भरण अधिनियम (Annual Appropriation Act) है।

सचित निधि में से जो कुछ व्यय होता रहता है उस कमी की पूर्ति लगातार उस धन-राशि से होती रहती है जो ससद् के अधिनियम की आज्ञाओ के अनुसार उस सचित निधि में आती रहती है और जिसकी आज्ञा से राजस्व अथवा आगम (Revenues) प्राप्त करने का वैधिक अधिकार प्राप्त होता है। इस सम्बन्ध में मुख्य अधिनियम वार्षिक वित्त अधिनियम (Annual Finance Act) है। वार्षिक आय व्ययक (Annual Budget) के द्वारा विनियोग अथवा सम्भरण अधिनियम (Appropriation Act) तथा वित्त अधिनियम (Finance Act) के पारित होने में कुछ सुविधा हो जाती है।

वित्तीय वर्ष प्रथम अप्रैल को प्रारम्भ होता है। आगामी वित्तीय वर्ष के लिए विभिन्न आगणन (Estimates) लोकसभा में फरवरी के द्वितीय अथवा तृतीय सप्ताह में उपस्थित किए जाते हैं। इसके कुछ समय बाद वित्त मत्री (Chancellor of the Exchequer) अपना आय-व्ययक सम्बन्धी भाषण देता है जिसमें पिछले वर्ष की वित्तीय स्थिति का सकेत मात्र रहता है और वित्तीय वर्ष के आर्थिक कार्यक्रम का पूर्ण विवरण रहता है, विशेष रूप से इस भाषण में नवीन करारोपण, अथवा बढे हुए करो का आरोप अथवा पुराने करो में कमी का विषद वर्णन रहता है। इन आगणनो के सम्बन्ध में सदन-सम्भरण समिति (Committee of the Whole on Supply) में वाद-विवाद एव विचार-विनिमय होता है। यह समिति, रीतियो और साधनो की समिति (Committee of Ways and Means) की तरह रीतियो और साधनो की समिति के चेयरमैन अथवा डिप्टी चेयरमैन के सभापतित्व में अपना कार्य करती है, न कि लोकसभा के स्पीकर के सभापतित्व में। इस समिति की कार्य-प्रणाली लोकसभा की बैठक की कार्य-प्रणाली की अपेक्षा अधिक अनौपचारिक (Informal) होती है। प्रस्तावो के अनुमोदन की आवश्यकता नही रहती, न वाद-विवाद को किसी समापन के नियम के अनुसार समाप्त किया जा सकता है, और सदस्य लोग जितनी बार भी चाहें, बोल सकते हैं।

आगणनो को विभागो में उपस्थित किया जाता है और प्रत्येक विभाग पर लेखानुदान अथवा कई-कई मदो को मिलाकर (Votes or groups of items) विचार किया जाता है। वार्षिक आगणनो पर विचार करने के लिए केवल २६ दिन दिये गये हैं और ये २६ दिन पाँच अगस्त तक समाप्त हो जाने चाहियें। सदन-सम्भरण समिति में जो वाद-विवाद आगणनो के सम्बन्ध में होता है, उसमें प्राय कभी भी वित्तीय माँगो पर विचार नही किया जाता। वहाँ प्राय सदैव शासन की नीति के सम्बन्ध में और इस सम्बन्ध में कि शासन ने लोक कल्याण के लिए क्या सेवायें और सुविधाएँ प्रस्तुत की हैं वाद-विवाद होता है। इस वाद-विवाद से मन्त्रिमडल को अवसर मिलता है कि अपनी नीतियो और प्रस्तावों को सदन के समक्ष रख सकें और उनका

समर्थन कर सकें, साथ ही इस वाद-विवाद से विरोधी दल को इस बात का अवसर मिलता है कि वे अपनी शिकायतें शासन के समक्ष रख सके और सरकार की सामान्य नीति की आलोचना कर सकें। सदस्यो को अधिकार है कि वे प्रार्थित धन-राशि को कम या अस्वीकार तो कर सकते हैं किन्तु उसे बढाने का अधिकार उनको नही है। यह समस्त वाद-विवाद निश्चित समय के अन्दर समाप्त हो जाना चाहिये। जब समस्त आगणनो (Estimates) पर विचार हो चुकता है, तो सब प्रस्तावो को सम्भरण विधेयक (Appropriation Bill) मे शामिल कर लिया जाता है। यह विधेयक भी कार्यक्रम के उन सभी स्तरो अथवा सीढियो को पार करता है और तदनन्तर सदन द्वारा पास किया जाता है।

किन्तु विनियोग अथवा सम्भरण अधिनियम (Appropriation Act) जुलाई या अगस्त तक पास नही हो पाता। इसका अर्थ है कि शासन को एक अप्रैल से वार्षिक विनियोग के पास होने तक के समय के लिए धन की व्यवस्था कर देनी चाहिए। इसलिए सिविल सेवाओ के विभाग उस धन-राशि के लिए अस्थायी आगणन (Provisional estimates) तैयार करते हैं, जिसकी उनको उक्त चार महीनो में आवश्यकता पड सकती है। इन आगणनो को ससद् में लेखानुदान (Vote on Account) के रूप में प्रस्तुत किया जाता है और इन मांगो पर शीघ्रातिशीघ्र विचार किया जाता है। जहाँ तक प्रतिरक्षा विभागो—सेना, नौसेना और वायुसेना—का सम्बन्ध है, इन पर लेखानुदान (Vote on Account) की आवश्यकता नही है। प्रतिरक्षा विभाग के अफसरो और जवानो के वेतन-भत्ते इत्यादि के सम्बन्ध में वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ होने से पहिले ही आगणन ससद् में उपस्थित किए जाते हैं। उन पर वाद-विवाद भी होता है किन्तु उनको सदैव ज्यो का त्यो पास कर दिया जाता है। इसके अतिरिक्त प्रतिरक्षा विभाग एक मद (Item) के लिए स्वीकृत धन-राशि दूसरी मद के ऊपर भी व्यय कर सकता है। किन्तु यह सुविधा सिविल विभागो को प्राप्त नही है। किन्तु इस सम्बन्ध मे यह जानना नितान्त आवश्यक है कि सदन की सम्भरण समिति (Committee of Supply) उन समस्त वित्तीय अनुदानो को स्वीकृति प्रदान कर देती है जिनको (१) उसी अधिवेशन में किसी अधिनियम द्वारा अस्वीकार न किया गया हो अथवा (२) सचित निधि (Consolidated Fund) में से सीधे अनुदान न मिलता हो।[1]

रीतियो और साधनो की समिति को मुख्य रूप से दो काम करने पडते हैं। प्रथमत पूर्व इसके कि सचित निधि (Consolidated Fund) में से

---

[1] कतिपय उच्च अधिकारियों को सचित निधि (Consolidated Fund) में से वेतन दिया जाता है जैसे न्यायाधीशों को, स्पीकर को, महानियन्त्रक (Comptroller) और महालेखा परीक्षक (Auditor General) आदि को। इसका अर्थ है कि इन सब का वेतन वार्षिक स्वीकृति का विषय नहीं है। उनका वेतन देश की राजनीति से परे स्वीकार कर लिया गया है। राष्ट्रीय ऋण पर जो सूद (Interest) देना पड़ता है वह भी सीधे सचित निधि में से निकल जाता है। और इस मद (Item) पर जितना धन सचित धनराशि में से व्यय होता है वह सबसे अधिक है।

कोई ऐसा धन निकाला जाय जिसको सम्भरण समिति (Committee of Supply) ने स्वीकृत किया है, इसके सम्बन्ध में रीतियो और साधनो की समिति (Committee of Ways and Means) का एक प्रस्ताव होना चाहिये और उसके द्वारा तदर्थ अधिकार मिलना चाहिये। किन्तु रीतियो और साधनो की समिति का दूसरा और अधिक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य है 'राजस्व एकत्रित करना'। व्यय (Expenditure) की तरह से आगम (Revenue) भी सविधियों (Statutes) की आज्ञा से एकत्रित किये जाते रहते हैं, और रद्द किये जाने तक सविधियां प्रवर्त्तन में रहती हैं, और कुछ हद तक वार्षिक परिनियमों अथवा सविधियो के आधार पर भी आगम अथवा राजस्व एकत्रित किये जाते हैं। अधिकतर राजस्व अथवा आगम पहली प्रणाली अर्थात् सविधियो की आज्ञा से एकत्रित किये जाते हैं। आगम अथवा राजस्व के प्रस्ताव समुदायो अथवा विभागो (Groups or Sections) के अनुसार प्रस्तावित किये जाते हैं और उनको समिति प्रस्तावो के रूप में स्वीकर करती है। प्रचलित नियमो के अनुसार प्राइवेट सदस्यो को यह अधिकार नही है कि वे करो में वृद्धि का प्रस्ताव करें अथवा कोई नया कर लगाने का प्रस्ताव करें। वे तो केवल स्वीकार कर सकते हैं, काट सकते हैं अथवा उन करो में कमी का प्रस्ताव कर सकते है जिनको शासन ने प्रस्तावित किया है। जब रीतियो और साधनो की समिति सब आगम प्रस्तावो को स्वीकार कर चुकती है, इसके समस्त प्रस्ताव उसी प्रकार वार्षिक वित्तीय विधेयक (Annual Finance Bill) में सम्मिलत कर लिये जाते हैं जिस प्रकार कि सम्भरण समिति (Committee of Supply) के सभी प्रस्ताव विनियोग अथवा सम्भरण विधेयक (Appropriation Bill) में सम्मिलित कर लिये जाते हैं। इसके उपरान्त वित्तीय विधेयक (Finance Bill) को पुरस्थापित किया जाता है और वह उन सभी स्तरो को पार करता है जिनको पार करना प्रत्येक सार्वजनिक विधेयक के लिये आवश्यक है। लोकसभा में पारित हो चुकने के बाद वित्तीय विधेयक लार्ड सभा में जाता है जहाँ पर उसके ऊपर १९११ के ससदीय अधिनियम (Parliament Act of 1911) के अनुसार कार्यवाही होती है।[1]

३ कार्यपालिका का नियन्त्रण

(The Controlling of the Executive)

लोकसभा का तृतीय महान् कार्य कार्यपालिका का नियन्त्रण है। ब्रिटेन में मन्त्रिमण्डल लोकसभा के प्रति उत्तरदायी है, यह ब्रिटेन की शासन-व्यवस्था की विशेपता है, इसलिये लोकसभा शासन के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण रखती है। सत्य तो यह है कि नियन्त्रण और उत्तरदायित्व का चोली-दामन का साथ है। शासन के उत्तरदायित्व का यह अर्थ है कि यदि कभी ऐसी अवस्था उत्पन्न हो जाये कि सदन को शासन की नीति बिल्कुल अमान्य है, तो शासन को त्याग-पत्र देना पडेगा, इसलिये "लोकसभा

---

[1] See *Ante*

का यह आवश्यक कर्त्तव्य हो जाता है कि वह मन्त्रिमण्डल के नित्य-प्रति के क्रिया-कलापो पर इस प्रकार नियन्त्रण रखे कि कार्यपालिका और सर्वसाधारण के प्रतिनिधियो के बीच में, यदि कभी मत भेद हो, तो वे स्पष्ट और अप्रच्छन्न हो।" लोकसभा शासन के ऊपर दो प्रकार से नियत्रण स्थापित करती है। प्रथमत, सदन सर्वदा शासन के प्रतिदिन के क्रिया-कलापो के बारे में पूरी जानकारी की निरन्तर मांग करता रहता है। द्वितीयत, सदन शासन के क्रिया-कलापो की निरन्तर आलोचना करता है। ये दोनो विधियाँ एक दूसरे पर बहुत कुछ अन्योन्याश्रित हैं, और ये दोनो क्रियाएँ कई प्रकार से होती हैं।

सबसे अधिक प्रभावी उपाय, जिसके द्वारा सदन् शासन के क्रिया-कलापो की जानकारी मांगता है, मौखिक या लिखित प्रश्नो के द्वारा है। लोकसभा का कोई भी सदस्य निश्चित नियमो के अनुसार मन्त्रियो से सीधे प्रश्न पूछ सकता है और सदन के अधिवेशन के प्रारम्भिक दिनो में प्रति सप्ताह चार दिन मन्त्री लोग प्राय एक घटा प्रतिदिन उन प्रश्नो के उत्तर देने में लगाते हैं जो उनके विभागो के सम्बन्ध में उनसे पूछे जाते हैं। प्रश्न करने की विधि के लाभदायक और महत्त्वपूर्ण फल हैं। प्रथमत, शासन के विभिन्न विभागो का कार्य सर्वसाधारण की कटाक्षपूर्ण परीक्षा की परिधि में आ जाता है। इस तथ्य के कारण विभागीय अधिकारीगण चौकन्ने रहते हैं क्योकि उनकी कार्य-कुशलता और ईमानदारी की लगातार परख हो रही है। द्वितीयतः, इसके द्वारा नौकरशाही की भावना का दमन होता है क्योकि "जिन लोगो को नित्य प्रति के अपने निर्णयो के लिये उत्तरदायित्व का निर्वहन करना है, वे इस प्रकार आचरण करने का प्रयत्न करेंगे कि उनकी कम से कम आलोचना हो सके।" अन्तश प्रश्न-प्रणाली के द्वारा नित्य-प्रति के प्रशासन पर पूर्ण परीक्षण एव नियन्त्रण रहता है। सक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रश्नो के द्वारा कार्यपालिका के क्रिया-कलाप प्रकाश में आते रहते है, और शासन सर्वसाधारण की देख रेख और परीक्षा का विषय बन जाता है।

लोकसभा एक वाद-विवाद करने वाली सभा है। लास्की (Laski) ने लिखा है कि किसी ऐसी सभा या सोसाइटी के लिये, जो विचार एव वाद-विवाद करने की क्षमता रखती हो, लडने की आवश्यकता नही है। "ऐसी सभा या सोसायटी जितना ही वाद-विवाद और विचार-विनिमय को उच्च स्तर का रखेगी जिसमें लोगो की आम रुचि बराबर बनी रहे, उतनी ही वह सभा ऐसे समझौते सम्पन्न करा सकेगी जिनके द्वारा सामाजिक शान्ति बनी रहे।" यदि पार्लियामेंट या ससद् (Parliament) नामक अग्रेजी शब्द के प्रारम्भिक अर्थ बिना सोचे-समझे नहीं लगाये गये थे, तो निस्सन्देह ससद् वह स्थान है जहाँ सर्वसाधारण राष्ट्र के बारे में वाद-विवाद अथवा बातचीत करते हैं। यह बातचीत उस समय होती है जब विधियो का निर्माण होता है और जब शासन की नीति की परीक्षा होती है। सम्राट् के विरोधी दल का यह मुख्य कर्त्तव्य है कि यह प्रशासन के क्रिया-कलापो और नीति सम्बन्धी निर्णयो की आलोचना करे और इस प्रकार कार्य-

पालिका को विवश करे कि वह अपनी नीतियो, कृत्यो और व्यवहारो की सार्वजनिक रूप से रक्षा करे। विरोधी दल को शासन की समस्त नीति की आलोचना करने का श्रेष्ठतम अवसर उस समय मिलता है जब वह सम्राट् की राज्य सिंहासन की वक्तृता की आलोचना करता है। इसके उपरान्त सार्वजनिक वित्तीय विधेयको पर, विशेषकर व्यय की मदो (Items of Expenditure) पर जो वाद-विवाद होता है, इसके द्वारा विरोधी दल को वाद-विवाद और आलोचना का अत्यन्त उपयुक्त अवसर प्राप्त होता है। यदि विरोधी दल को शासन की विदेश नीति से सहमति नही है, तो विदेश नीति सम्बन्धी वाद-विवाद में विदेश विभाग के लिये नियोजित होने वाली धन-राशि के सम्बन्ध में आलोचना की जा सकती है। तथ्य यह है कि लोकसभा, वह सारा समय जो आगणनो (Estimates) की परीक्षा के लिये नियत है, शासन की आलोचना करने मे लगा देती है।

इन नियमित निर्धारित वाद-विवादो के अतिरिक्त लोकसभा का कोई भी सदस्य, सम्यक् नोटिस देने के उपरान्त एक प्रस्ताव के द्वारा मन्त्रिमण्डल में अविश्वास प्रकट कर सकता है। अविश्वास का प्रस्ताव किसी भी शासन के लिए सकट काल उपस्थित करता है क्योकि इसके द्वारा मन्त्रिमण्डल के भाग्य का निर्णय होता है। जब तक शासन की पीठ पर बहुमत का हाथ है, तब तक अविश्वास का प्रस्ताव पास होना कठिन है, फिर भी मन्त्रि परिषद् (Ministry) में इसके कारण कुछ घबराहट का पैदा हो जाना स्वाभाविक है। कार्यपालिका के कृत्यो की आलोचना का उचित अवसर उस समय आता है जब सदन के स्थगन प्रस्ताव पर वाद-विवाद होता है। किसी भी सदस्य को अधिकार है कि सदन की बैठक में उस समय से लेकर जब मन्त्रिमण्डल ने सभी प्रश्नो के जवाब दे दिये हैं, उस समय तक जब सदन की सार्वजनिक कार्यवाही प्रारम्भ होती है, सदन के स्थगन का प्रस्ताव (Adjournment of the House) उपस्थित करके माँग कर सकता है कि कतिपय आवश्यक सार्वजनिक हित की बात पर विचार-विनिमय एव वाद-विवाद कर लिया जाय। यदि स्थगन प्रस्ताव पर चालीस सदस्यो का समर्थन है और यदि स्पीकर स्वीकार कर ले, कि विषय निश्चित एव आवश्यक है तो ससद् की बैठक उस समय उठ जाती है और शाम को पुन, बैठक होती है और उस समय उक्त विषय पर वाद-विवाद होता है।

ससद् का ह्रास

(Decline of Parliament)

ससद् के कृत्यों का मूल्यांकन (Work of Parliament evaluated)—रैम्जे म्योर (Ramsay Muir) का कथन है कि "मन्त्रिमण्डल के अधिनायकत्व की स्थापना के फलस्वरूप ससद् की प्रतिष्ठा और शक्ति का ह्रास हुआ है। यही नही, इस अधिनायकत्व ने ससद् की कार्यवाहियो को प्रभावहीन एव फीका कर दिया है तथा सर्वसाधारण को ऐसा प्रतीत कराने का प्रयत्न किया है कि ससद् का काम या

तो सर्वशक्तिमान एव श्रेष्ठ मन्त्रिमण्डल की रक्षा करना है अथवा उसकी अलाभदायक एव असफल आलोचना करना है और उसने राजनीतिक विचार-विनिमय ससद् से हटाकर ससद् के बाहर प्लेटफार्म पर या सदस्यो में स्थानान्तरित कर दिया है।" ससद् के आलोचक कहते हैं कि ससद् सक्षेप में शासन के हाथ का खिलौना मात्र बन गई है और वह शासन की नीतियो का उस समय तक समर्थन भर ही करती है, जब तक कि ससद् में शासन का बहुमत है। ससद् की न तो अपनी कोई इच्छा है, न वह स्वय किसी कार्य की पहल करती है। ससद् की प्रतिष्ठा और शक्ति के ह्रास के अनेको कारण बताये जाते हैं जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं—

(१) पिछले पचास वर्षों में दलो के सचेतको (Party whips) और दलीय यन्त्रो की शक्ति का प्रभाव ससद् के सदस्यो के ऊपर महान् रूप से पडा है। इसका फल यह हुआ है कि उन साधारण सदस्यो के भाषणो में और मतदान में न तो स्वतन्त्रता है और न उनकी कोई इच्छा है, जो किसी दल विशेष से सम्बद्ध हो। उदाहरणस्वरूप श्रमिक दल को ही ले लीजिये। ससदीय श्रमिक दल कतिपय नियमो के अनुसार कार्य करता है, और सदस्यो को अपना व्यवहार उन्ही नियमो के अनुरूप ढालना पडेगा। श्रमिक दल के प्रत्याशी को लिखकर यह वचन देना पडता है कि वह निश्चित रूप से सदैव दल के नियमो का पालन करेगा और उन नियमो में से एक नियम यह है कि श्रमिक दल का सदस्य दल की नीति एव आज्ञा के विरुद्ध कभी किसी बात पर मत नही देगा। इसमें कोई आपत्ति न होती यदि समस्त दल मिलकर यह निश्चित करे कि मतदान किस प्रकार हो। किन्तु दल की बैठक सप्ताह में केवल एक बार प्राय एक घटे के लिए होती है "और स्पष्ट है कि केवल एक घण्टे में उस समस्त कार्यवाही का छोटा अश भी नही निपटाया जा सकता है, जो ससद् के सम्मुख अगले सप्ताह में विचारार्थ प्रस्तुत होगी।" इसलिए व्यवहार में इसका अर्थ यह है कि ससद् के श्रमिक दलीय सदस्य को दल के नेताओ की इच्छा को शिरोधार्य करना होगा क्योकि दलीय सचेतक (Whips) दल के नेताओ की आज्ञाओ का पालन करते हैं। एक ओर तो सभी सदस्यो का सामान्य ऐच्छिक सहयोग हो जिसके द्वारा सर्वसम्मत राजनीतिक प्रोग्राम को कार्यान्वित किया जाय तथा दूसरी ओर अशोभन यन्त्रवत् अनुशासन हो जिसके द्वारा ससद्-सदस्यो की स्थिति यान्त्रिक मनुष्य (Robots) से अधिक कुछ नही है, इन दोनो अवस्थाओ में आकाश-पाताल का अन्तर है। सत्य यह है कि इस प्रकार राजनीति को यन्त्रीकृत (Robotized) कर दिया गया है।

(२) लगभग १०० वर्षों पूर्व किसी भी निर्वाचन-क्षेत्र में निर्वाचको की सख्या अत्यल्प थी। इसलिए आवश्यकता नही थी कि पूर्ण सुगठित राजनीतिक यन्त्र रचा जाय जिसके द्वारा प्रत्याशियो और निर्वाचको के बीच सम्पर्क स्थापित कराया जाय। उन दिनो प्रत्येक प्रत्याशी अपने सभी निर्वाचकगणो से व्यक्तिगत सम्पर्क रख सकता था और अधिकतर ऐसा ही होता था। किन्तु आजकल कोई-कोई निर्वाचन-क्षेत्र इतने बडे

हैं कि उनमें ६० या ७० हज़ार तक मतदाता होते हैं इसलिये किसी भी प्रत्याशी के लिए यह प्राय असम्भव है कि वह अपने सभी निर्वाचको से व्यक्तिगत सम्पर्क रख सके। इसलिए उसके लिए आवश्यक है कि यदि उसे चुनाव में जीतना है, तो उसे शक्तिशाली स्थानीय और राष्ट्रीय राजनीतिक सगठन (Political machine) की सहायता अवश्य लेनी होगी और वह मशीन अथवा राजनीतिक सगठन अपनी शर्तों के अनुसार ही सहायता देगा। और वे शर्तें केवल यह हैं कि यदि वह प्रत्याशी चुन लिया जाय तो सदस्य रूप में उसे वही करना होगा जो वह यन्त्र अथवा सगठन करने को कहेगा।

(३) दलगत अनुशासन के कतिपय स्पष्ट लाभ भी हैं, किन्तु इसके परिणाम अत्यधिक स्पष्ट हैं। कठोर दलगत अनुशासन ससद् के सदस्यो को डरपोक और आधीन बना देता है क्योकि वे ईमानदारी, साहस और स्वतन्त्रता खो बैठते हैं। यह शासन को भी शिथिल, असावधान और दूषित करता है क्योकि शासन जानता है कि चाहे वह बुद्धिमान हो चाहे मूर्ख, चाहे ठीक काम करे या ग़लत, सदन से वह अपने मन की बात करा ही लेगा अर्थात् सदन उसकी नीतियो का समर्थन अवश्य ही करेगा। इस प्रकार ससद् (Parliament) बहुमत दल के हाथो का खिलौना मात्र है जो उसकी नीति का अनुसमर्थन अवश्यमेव करेगा। और नीति-निर्धारण का कार्य दल के नेता लोग साधारण सदस्यों की अनुपस्थिति में करते हैं। सिद्धान्तत नीति का उद्गम सार्वजनिक आवश्यकता होना चाहिए, उसके ऊपर ससद् में खुलकर स्वतन्त्रतापूर्वक विचार होना चाहिए और तभी शासन को उस नीति के अनुरूप कार्य करना चाहिए।

(४) लोकसभा की कार्य-प्रणाली में जो सुधार हुए हैं उन्होने भी व्यक्तिगत प्राइवेट सदस्य की स्थिति को कमज़ोर कर दिया है और उसी अनुपात में शासन की शक्ति में वृद्धि हुई है। विधेयकों की समय सूची, वाद-विवाद के कम करने की मुखवध (Guilotine) विधि, सशोधनो का चयन और अन्य उपाय जिनके द्वारा वाद-विवाद को नियन्त्रित किया जाता है, नि स्सन्देह कुशल विधायी प्रक्रिया के लिए आवश्यक उपकरण हैं किन्तु इनके द्वारा सदस्यो का प्रभाव क्षीण होता है। विधान निर्माण के सम्बन्ध में पहल अब प्राइवेट सदस्यों के हाथो में से निकल गई है और वह अब विभागो के अधिकार में है जो अन्ततोगत्वा मन्त्रिमण्डल के नियन्त्रण में हैं। "इस प्रकार विभाग (Departments) हमारी विधान निर्मातृ मशीन या सगठन के व्यावहारिक प्रथम सदन या चेम्बर बन गये हैं।"[1] इसका एक कारण यह भी है कि आधुनिक विधान निर्माण बडा ही विशिष्ट और पेचीदा (Technical) है जिसको साधारण ससदीय सदस्य समझ नही सकते। कहा जाता है कि १९२८ के स्थानीय स्वशासन विधेयक को केवल दो सदस्य समझ सके थे जिनमें से एक तो वह मन्त्री था जिसने उक्त विधेयक को पुरःस्थापित किया था और जिसको उन सिविल सेवको (Civil Servants) ने उक्त विधेयक की सभी बारीक बातें समझा दी थी जिन्होने उसकी

---

[1] Greaves, H R G The British Constitution p 31

रूपरेखा तैयार की थी।[1] इसका फल यह होता है कि ससदीय कार्य-प्रणाली शिथिल, निरर्थक एव दैनिक नित्यकर्म के समान प्रतीत होने लगती है। विधान निर्माण के सम्बन्ध में वास्तविक कार्य स्थायी सिविल सेवा के अधिकारी करते हैं और आम लोगो की यही धारणा है कि विधान निर्माण का कार्य केवल वही करते हैं।

(५) आधुनिक विधान की विशिष्टता और पेचीदापन का एक अन्य परिणाम यह है कि ससद् अपनी विधायिनी शक्तियो को स्वतन्त्रतापूर्वक विभागो को दे रही है (delegate) यद्यपि ससद् के दोनो सदनो के सदस्य पूरी तरह से यह नही समझ पा रहे हैं कि ऐसा क्यो हो रहा है। इन प्रदत्त शक्तियो के आधार पर जो आदेश या नियम बनते हैं वे, यह सही है कि, ससद् के परीक्षण में से गुज़रते है, किन्तु "इस प्रकार के आदेश इतनी अधिक सख्या में होते हैं और वे इतने पेचीदा होते हैं कि प्राइवेट सदस्य व्यक्तिगत रूप से उन आदेशो का परीक्षण नहीं कर सकते।"

(६) सार्वजनिक वित्त का नियन्त्रण पूर्णत लोक सभा का विशेषाधिकार है। किन्तु लोकसभा के जितने भी कर्त्तव्य हैं, उनमें से यह कार्य सबसे बुरे ढग से सम्पन्न होता है। "यदि कोई ऐसा विधेयक आता है जिसको ससद् की ओर से पुर स्थापित न किया गया हो, तो उसमें इतना परिवर्त्तन अथवा काट-छाँट कर दी जाती है, कि प्राय वह व्यर्थ की चीज बन कर रह जाती है। किन्तु जब लोकसभा में मन्त्रि-मण्डल की सामान्य नीति पर चर्चा होती है उस समय इसके वाद-विवाद, चाहे उनके द्वारा कोई निश्चित प्रस्ताव या परिणाम न निकले, किन्तु उस वाद-विवाद का महत्त्वपूर्ण प्रभाव अवश्य पडता है। किन्तु जब लोकसभा मे अपने ही विशिष्ट विषय अर्थात् वित्त पर जो अत्यधिक महत्त्वपूर्ण विषय है, वाद-विवाद होता है, तो लोक-सभा पगु एव अशक्त-सी दिखाई देती है।"[2] सम्भरण समिति (Committee of Supply) में जो वाद-विवाद होते हैं, वे वित्तीय दृष्टिकोण से निश्चितत निरर्थक एव बेहूदा होते हैं। आगणन समिति (Estimate Committee) और सार्वजनिक लेखा समिति (Public Accounts Committee) का कार्य निरोचित रहता है। अधिक से अधिक देश को केवल इस बात का विश्वास हो सकता है कि जो धन-राशि किसी विशेष कार्य के लिये स्वीकृत हुई थी, वह उसी पर व्यय हो गई है। किन्तु देश को इस बात का कभी भी पूर्ण विश्वास नही हो सकता कि वह धनराशि उचित रीति से व्यय की गई। एक अन्य दिशा में भी देश की निधि में से जो व्यय होता है, वह भी ससद् के नियन्त्रण में बिलकुल नही है, और उसका सम्बन्ध राष्ट्रीय ऋण (National Debt) से है। राज्य के राजस्वो मे से बहुत बडी धन-राशि राष्ट्रीय ऋण पर जो व्याज देनी

---

[1] एक सज्जन श्री नैविल चेम्बरलेन (Neville Chamberlain) थे जो स्वास्थ्य मन्त्री थे और दूसरे सज्जन श्री सिडनी वेब (Sidney Webb) थे जिन्होंने सहायक अनुदानों (Grants-in-Aid) के सम्बन्ध में विशेष छान-बीन के साथ अध्ययन किया था।
देखिए . W. I Jennings : Parliament Must be Reformed, p 43

[2] Muir, R How Britain is Governed, p. 221,

पडती है, उस में चली जाती है और वह धन-राशि सचित निधि (Consolidated Fund) मे से सीधी स्थायी विधि की आज्ञानुसार दी जाती है। इसके लिये ससद् की वार्षिक स्वीकृति की आवश्यकता नही है।

आलोचना का उत्तर (Criticism met)—लॉर्ड केनेट (Lord Kennet) का कथन है कि जिन वर्षों में व्यवस्थापन की कार्य-प्रणाली का निर्माण हो रहा था, उन दिनो में विधानमण्डल का क्राउन (Crown) के साथ सघर्ष चल रहा था। प्रारम्भ में लोकसभा की यही मुख्य इच्छा थी कि सम्राट् को धन ससद् की आज्ञा से ही मिलना चाहिये और किसी स्रोत मे नही, और फिर बाद के वर्षों में लोकसभा चाहती थी कि क्राउन केवल उन्ही बातो पर धन व्यय करे जिनके लिए ससद् आज्ञा प्रदान कर दे। इसलिये लोकसभा के सदस्यो ने जो ससद् की कार्य-प्रणाली अपनायी, वह क्राउन की शक्तियो पर नियन्त्रण था और अपने हित में धन की बचत। किन्तु अब समय बदला हुआ है। अब संसद् के राज्य की स्थापना हो चुकी है और क्राउन की शक्ति समाप्त है। किन्तु लोकसभा की अब भी यह बहुत बडी आवश्वकता है कि कार्यपालिका का जो धन पर पूर्ण प्रभुत्व है, उस पर कतिपय नियन्त्रण रखा जाय, किन्तु जिस कार्यपालिका के ऊपर अब वित्तीय नियन्त्रण रखने की आवश्यकता है, वह कार्यपालिका क्राउन (Crown) नही है अपितु उसके मन्त्रीगण हैं जो ससद् के प्रति उत्तरदायी भी हैं। अब ऐसी कार्य-प्रणाली की आवश्यकता नही है जिसके द्वारा क्राउन की शक्ति पर नियन्त्रण लगाना अभीष्ट हो।[1] उस उद्देश्य के लिये नियन्त्रण की कतई आवश्यकता नही है। फिर भी यह अत्यन्त वाछनीय है कि संसद् में कोई ऐसी वित्तीय कार्य-प्रणाली अपनायी जा सके जिसके द्वारा राष्ट्रीय वित्त पर पूर्ण नियन्त्रण स्थापित किया जा सके। "इस सम्बन्ध में जो कार्य प्रणाली इस समय प्रचलित है, वह भी अत्यन्त लाभकारी है। इस कार्य-प्रणाली से दृढ सविधानिक आधारो पर हमें यह सिद्धान्त प्राप्त हुआ है कि 'धन की मांग कठिनाइयो के दूर करने पर ही पूरी हो सकती है', और साथ ही ऐसे वाद-विवादो को आधार मिलता है जिनके द्वारा-कार्यपालिका के ऊपर बिना किसी विशेष बन्धन एव नियत्रण के लगाये हुए गम्भीरतापूर्वक सदन के विचार व्यक्त किये जा सकते है।"[2]

प्रोफेसर लास्की (Prof Laski) ने लिखा है कि आधुनिक संसद् के आलोचको में यह फैशन-सा बन गया है कि वे संसद् के प्राइवेट सदस्य की स्थिति के ह्रास पर रोना रोते हैं, किन्तु लास्की के अनुसार यह रुदन व्यर्थ है। इन आलोचको के रुदन में एक भ्रान्ति छिपी हुई है अर्थात् वे लोग नही समझते कि आधुनिक लोकसभा के क्या कर्त्तव्य हैं, न वे यही समझते हैं कि आधुनिक राज्य (State) में दलो के क्या उद्देश्य हैं, यह रुदन तो हमारे इतिहास के उस मृत भूतकाल की भ्रमपूर्ण परम्परा है जबकि राजनीति कतिपय भले आदमियो की आमोद का साधन थी और जबकि

---

[1] Young, E H . The Finance of Government, (1936), p 42

[2] Taylor, E . The House of Commons at Work, p. 225

शासन के क्रिया-कलाप इतने सकीर्ण थे कि एटोमिस्टिक (Atomistic) लोकसभा का अस्तित्व सम्भव था। यदि ससद् के प्राइवेट सदस्य को उसकी वही पुरानी स्थिति प्रदान करनी है जो उसे ८० या ५० वर्ष पूर्व प्राप्त थी तो हम को उसी अवस्था को प्राप्त होना होगा और उसी काल की अवस्थाओ में पहुँचना होगा जिसमे उस प्रकार की स्थिति सम्भव थी। इतिहास हमको शिक्षा देता है कि हम इस प्रकार की सुख कामना न करें।"[1] यथेच्छाकारिता (Laissez faire) के वे पुराने दिन समाप्त हो चुके हैं। प्रत्येक शासन व्यवस्थापन के सम्बन्ध में ऐसे प्रस्ताव उपस्थित करता है जिनको ग्लैड्स्टन (Gladstone) अथवा डिज़रैली (Disraeli) ने समाजवादी विधेयको की सज्ञा दी होती और जिनके कारण कौब्डेन (Cobden) अथवा पील (Peel) को हार्दिक ठेस पहुँचती।[2] आधुनिक शासन को विविध प्रकार के अनेको क्रिया-कलापो में रुचि लेनी पडती है, और आजकल अर्थ-व्यवस्था का केन्द्रीकरण का युग है, जिनके फलस्वरूप यदि सच्चे अर्थों में व्यवस्थापन की व्यवस्था करनी है, तो वह समस्त विधान निर्माण एकीकृत (Coordinated) और सम्पूर्णीकृत (Integrated) होना चाहिए, और इसलिये उसको शासन का व्यवस्थापन (Government legislation) होना चाहिये अर्थात् समस्त व्यवस्थापन शासन की ही ओर से पुर स्थापित होना अधिक श्रेयस्कर है। व्यवस्थापन का कार्य बिखरे हुए प्राइवेट सदस्यो के असमन्वित क्रिया-कलापो के भरोसे नही छोडा जा सकता। यही नही, कुछ और भी। आधुनिक शासन की समस्या समय की समस्या है और लास्की (Laski) के अनुसार यही मुख्य कारण है जो प्राइवेट सदस्य के हाथो में से व्यवस्थापन की पहल (Initiative) निकल गई है।

इसमें सन्देह नही कि प्राइवेट सदस्य के व्यवस्थापन सम्बन्धी कृत्य समाप्त हो गये हैं, फिर भी उसे कई महत्त्वपूर्ण कार्य करने पडते हैं। शासन के विरुद्ध शिकायतें उपस्थित करना, विविध प्रकार की जानकारी प्राप्त करना, प्रशासन की आलोचना, वाद-विवाद का प्रारम्भ, ये कतिपय ऐसे कृत्य हैं जिनको करके प्राइवेट सदस्य प्रभावी सेवा करता है और लोकमत को प्रभावित करता है और उसको दिशा प्रदान करता है। वह खोज-पडताल सम्बन्धी समितियो (Committees of Enquiry) में भी भाग ले सकता है। यदि ससद् में आवश्यक सुधार अभीष्ट है[3] और यदि प्राइवेट सदस्य को उचित मान्यता प्रदान करना है, तो लास्की (Laski) के मतानुसार ये दोनो काम उसी अवस्था में हो सकते हैं जब व्यवस्थापन का सारा कार्य शासन पर ही छोड दिया जाय, अर्थात् यह मान लिया जाय कि व्यवस्थापन का कार्य मुख्यत· शासन का उत्तरदायित्व है और उसमें कुछ परिवर्त्तन न किया जाय। ससद् का केवल एक ही कर्त्तव्य नही है कि वह केवल व्यवस्थापिकामण्डल हो। इसका वास्तविक कर्त्तव्य यह है कि

---

[1] Laski, H J Parliamentary Government in England, pp. 165-166

[2] Jennings, W I Parliament Must Be Reformed, p 40.

[3] Refer to Jennings . Parliament Must Be Reformed.

वह प्रशासन के ऊपर निगाह रखे और नागरिको की स्वतन्त्रताओ की रक्षा करे। "प्रदत्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation) के ऊपर कडी निगाह रख कर तथा विभागीय प्रशासन में परीक्षण एवं विश्लेषण, आलोचना एव सुझावो के द्वारा कुशलता उत्पन्न करके, और खोज-पडताल सम्बन्धी प्रवर समिति (Select Committee of Enquiry) में अपना विस्तृत एव लाभदायक स्थान बनाकर प्राइवेट सदस्य, हमारी शासन-व्यवस्था में अनेको प्रकार से सेवा कर सकता है, किन्तु हम आधुनिक ससद् के सगठन में उन सेवा के अवसरो का पूर्ण लाभ नही ले रहे हैं।"[1]

किन्तु इसके यह अर्थ नही हैं कि प्राइवेट सदस्य के कर्त्तव्यो में इस प्रकार वृद्धि करके हमारा यह अभिप्राय है कि मन्त्रिमण्डल (Cabinet) का ससदीय क्रिया-कलापो पर प्रभाव क्षीण कर दिया जाय। यदि प्राइवेट सदस्यो के अधिकारो में वृद्धि का अर्थ यह लिया जायगा कि केबिनेट का नियन्त्रण ढीला हो जाय तो "इससे नीति की समनुगति (Coherence of Policy) तुरन्त नष्ट हो जायगी और इसके साथ ही किसी के ऊपर निश्चित उत्तरदायित्व का आरोप समाप्त हो जायगा।" प्रो० लास्की के अनुसार "अग्रेजी शासन-व्यवस्था की वास्तविक सफलता इस तथ्य मे निहित है कि इस व्यवस्था ने यह सम्भव बना दिया है कि किसी भी कर्तव्य का उत्तरदायित्व ठीक उसी पर आरोपित किया जा सकता है जो वास्तव में उत्तरदायी है।[2]"

न इसका यह अर्थ है कि मन्त्रिमण्डल का अधिनायकत्व स्थापित हो जाय अथवा स्थायी सिविल सेवा के अधिकारियो का प्रभुत्व स्थापित हो जाय। लोकसभा का मुख्य कर्त्तव्य यही है कि वह शासन का निर्वाह और प्रतिपादन करे। शासन के निर्वाह और प्रतिपादन के लिये समनुगत अथवा सम्बद्ध बहुमत होना चाहिये, जो मन्त्रिमण्डल की सामान्य नीति का समर्थक हो; "जो मन्त्रिमण्डल को महान् प्रश्नो पर विनिश्चय करने का अवसर देने को तैयार हो, जो उसकी ओर नेतृत्व की आशा से निहारता हो और जो विस्तृत अर्थों मे मन्त्रिमण्डल के सभी मन्त्रियो में पूर्ण विश्वास रखता हो।"[3] इस सत्य को अब सभी मानते हैं कि आधुनिक राज्य का केन्द्र प्रशासनिक विभाग है। शासन के इतने विस्तृत क्रिया-कलाप हैं कि ससद् उन सभी पर नियन्त्रण नही रख सकती। इसलिये कोई न कोई ऐसी शक्ति होनी चाहिये जो प्रशासन के सम्बन्ध में निर्णय करे और इस सम्बन्ध में मन्त्री ही निर्णय करता है। इसके साथ यह भी समझना चाहिये कि मन्त्रिमण्डल का शासन सभी की सहमति का शासन है। इसके सारे कार्य व्यापार प्रकाश में होते हैं। इसके प्रत्येक कार्य की ससद् में और ससद् के बाहर भी आलोचना हो सकती है, और कभी-कभी तो बड़ी भयकर आलोचना की जाती है। इसलिये मन्त्रिमण्डल की मुख्य समस्या यह है कि वह अपने समर्थको का विश्वासभाजन बना रहे यद्यपि उन समर्थकों को भी आलोचना की टक्कर

---

[1] Laski Parliamentary Government in England, p. 167

[2] Ibid.

[3] Greaves, H. R G The Birtish Constitution, p 44

का शिकार होने का भय बना ही रहता है। इसका अर्थ यह है कि मन्त्रिमण्डल को प्रयत्नपूर्वक जनमत का अनुसरण करना चाहिये और सदैव अगले आम चुनाव की सम्भावनाओ को ध्यान में रखना चाहिये।

इस प्रकार शासन इस तथ्य को सदैव ध्यान में रखता है कि प्रत्येक नीति के निर्धारण में कतिपय सीमायें हैं जिनको लांघना उसके लिये उचित नही है। "अपनी पीठ पर बहुमत का वरद हस्त बनाए रखना आसान और स्पष्ट एव सरल नही है, न अनुसरण करने वाले साथियो (Followers) का अनुशासन इस प्रकार का होता है, जिस प्रकार कि प्राइवेट सिपाही अपने कमाण्डरो की आज्ञा मानते हैं। उसके समर्थको में अनेको प्रकार के मनोवैज्ञानिक विचारो वाले व्यक्ति होते हैं, और मन्त्रिमण्डल के जीवन के लिये उन विचारो की जांच और परिणाम का भारी महत्त्व है।" १९३४ में बेकारी सम्बन्धी सहायता विनियमो (Unemployment Assistance Regulations) के प्रश्न पर मैकडानेल्ड (Macdonald) को झुकना पडा था। बाल्दविन (Baldwin) की पीठ पर प्रबल बहुमत का हाथ था किन्तु उसको भी १९३५ में एबीसीनिया (Abyssinia) के सकट के समय सर सेम्युएल होर (Sir Samuel Hoare) को त्यागना पडा। इसी प्रकार चेम्बरलेन (Chamberlain) को भी १९३७ में राष्ट्रीय प्रतिरक्षा-अशदान (National Defence Contribution of 1937) के प्रश्न पर झुकना पडा। यदि कोई मन्त्रिमण्डल अप्रिय (Unpopular) नीति का अनुसरण करता है तो उसके दल के अगले आम चुनाव में हारने का पूरा भय रहता है, और सदस्यगण ऐसे शासन के प्रति निष्ठा भाव त्याग देते है जो यह नही समझता कि उसके कृत्य अथवा उसकी नीति पराजय की ओर ले जा रही है। यदि बाल्दविन (Baldwin) ने एबीसीनिया (Abyssinia) के सम्बन्ध में मन्त्रिमण्डल के प्रस्ताव वापिस न ले लिये होते, तो यह स्पष्ट है कि ससद् में उसके अनेको अनुयायियो ने उसके विरुद्ध मतदान किया होता, जिसका स्पष्ट फल यह होता कि या तो वह स्वय त्याग-पत्र दे देता अथवा सम्राट् से ससद् भग करने की प्रार्थना करता। इसलिये लास्की (Laski) के निर्णय का समर्थन करते हुए हमको भी यही मानना चाहिये कि मन्त्रिमण्डल के लिये यह उचित नही है कि लोकसभा को अप्रसन्न किया जाय। अत्यधिक गोपनीयता, अत्यधिक अशिष्ट व्यवहार, बार-बार त्याग-पत्र की धमकी अथवा ससद् के भग कराने की धमकी, ससद् के बाहर असन्तुष्ट जनमत को शान्त कर सकने की अयोग्यता, इन सब के कारण विद्रोह के बीज पैदा होते हैं। कोई मन्त्रिमण्डल अपने दल पर उसी सीमा तक नियन्त्रण रख सकता है जहाँ तक वह उन सीमाओं का अतिक्रमण न करे जिन तक सदन रहना चाहता है अर्थात् जहाँ तक मन्त्रिमण्डल सदन की इच्छाओं का अतिक्रमण नही करता, वहीं तक वह अपने दल को अपने साथ रख सकता है। मन्त्रिमण्डल को इतनी समझ होनी चाहिये कि वह उचित समय पर झुकना सीख जाय और शोभा के साथ झुकना अच्छा है। जो मन्त्रिमण्डल अपनी नीति पर हठ करता है, उसका पतन अवश्यम्भावी है।[1]

---

[1] Parliamentary Government in England, p 172.

Suggested Readings

Champion and Others	Parliament, A Survey (1952), Chapters I, IV, VI, XI, XIII.
Finer, H.	*The Theory and Practice of Modern Government* (1954), Chapters XX, XXI.
Greaves, H R. G	The British Constitution, Chapter II
Jennings, W. I	Parliament (1939), Chapters VI-X, XIII.
Jennings, W I.	Parliament Must Be Reformed
Laski, H J	Parliamentary Government in England, Chapter IV
Mackenzie, K R	The English Parliament, Chapters V, VIII-XI.
Morrison, H	Government and Parliament (1954), Chapters VI, IX-XI.
Muir, R.	How Britain is Governed, Chapters V, VI
Munro, W B and Ayearst, M	Government of Europe (1954), Chapters IX-XIV
Ogg, F A and Zink, H.	Modern Foreign Governments (1953), Chapters XII, XIII Papers on Parliament, A Symposium. The Hansard Society Publication, (1949), pp 1-73, 96-109
Taylor, E.	The House of Commons at Work (1951), Chapters IV-VII.
Wade, E. C S and Phillips, G G	Constitutional Law (1954), pp 71-121, 325-335

अध्याय ८

विधि और न्यायालय

(Law and the Courts)

इससे पूर्व हमने ब्रिटिश शासन-व्यवस्था के प्रजातन्त्रीकरण के क्रम पर और उस प्रजातन्त्रीकरण के फलस्वरूप जिन राजनीतिक सस्थाओ का विकास हुआ है उनकी कार्य-प्रणाली पर प्रकाश डाला था। किन्तु प्रजातन्त्र का सधारण वहुत सीमा तक वैधिक न्यायालयो के न्यायपूर्ण एव कुशल व्यापार पर निर्भर रहता है। इगलैंड की न्यायपालिका ने सदैव वहाँ के नागरिको की स्वतन्त्रताओ की रक्षा की है और ब्रिटिश न्याय-व्यवस्था सदैव ईमानदारीपूर्ण, पक्षपातहीन और सुयोग्य रही है और उसने गरीब और अमीर सब को एकसा न्याय प्रदान किया है; अत अग्रेजो को शताब्दियो से उस पर गर्व है।

विधि के प्रकार

(Kinds of Law)

सामान्य अथवा सार्वजनीन विधि (Common Law)—इगलैंड में तीन प्रकार की विधियाँ प्रचलित हैं · सार्वजनीन अथवा सामान्य विधि, (Common Law) न्याय-भावना अथवा अपक्षपात विधि (Equity) और सविधि अथवा परिनियम (Statute Law)। सार्वजनीन विधि का आधार ८०० वर्ष पुरानी प्रथाओ से मिलता है। नॉरमन राजाओ की विजय के पूर्व इगलैंड में एकरूप न्याय-व्यवस्था नही थी। उन दिनो स्थानीय अथवा क्षेत्रीय निकाय ही न्यायालय थे और विभिन्न स्थानो अथवा क्षेत्रो में विभिन्न प्रकार की न्याय-व्यवस्था थी। नॉरमन और अगेविन (Norman and Angevin) राजाओ ने प्रण किया कि वे समस्त राष्ट्र को एकीकृत करेंगे और राजतन्त्र की सत्ता को प्रभावी वनाने का प्रयत्न करेंगे अथवा वैधिक भाषा में राजा के आदेश-लेखो का सम्पूर्ण देश में पालन करायेंगे (To make the King's writ run throughout the length and breadth of the land)। उन्होने अनुभव किया कि इस दिशा में उनकी न्यायिक शक्ति अत्यन्त प्रभावकारी सिद्ध होगी इसलिये उन्होने अपने न्यायाधीशो को देश के भ्रमण के लिये भेजना प्रारम्भ किया जिनका काम था कि वे यह देखे कि देश का शासन ठीक चल रहा है अथवा नही। प्रारम्भ में उन्होने (भ्रमणशील न्यायाधीशो ने) स्थानीय न्यायालयो के मुकदमो को सुना और उन पर निर्णय करते समय उन प्रथाओ का आश्रय लिया जो उस समय विभिन्न स्थानो पर प्रचलित थी। धीरे-धीरे विभिन्न प्रथाओ के भेद समाप्त होते गये और फिर सभी स्थानो पर समान सिद्धान्तो के

अनुसार न्याय-व्यवस्था स्थापित होती गई और तब स्थानीय प्रथाओं का न्याय-व्यवस्था में विशेष महत्त्व न रहा। इस प्रकार एकरूपता की विधि के द्वारा न्यायाधीशो ने ऐसी न्याय-व्यवस्था को जन्म दिया जो समस्त देश अथवा राज्य के लिये समान अथवा सार्वजनीन (Common) थी। यही सामान्य अथवा सार्वजनीन विधि (Common Law) के जन्म की कहानी है। यही उन न्यायालयो अथवा कचहरियो के जन्म की भी कहानी है जिनको ऐसाइजेज (Assizes) कहा जाता है, अर्थात् वे न्यायालय जिनमें राजा के आयोग (King's Commission) के अनुसार न्यायाधीश उस समय न्याय करते हैं जब वे देश के विभिन्न भागो में भ्रमण करते हैं।

अंग्रेजी वैधिक नियमों में प्रारम्भ में ही जो इस प्रकार एकरूपता आ गई उसका स्थायी महत्त्व है। इसने देश को सुदृढ एव स्थायी विधि प्रदान की और सभवतः इसी के कारण अग्रेज ससार में सबसे अधिक विधि-भक्त अथवा नियम-भक्त जाति बन गई है। इस वैधिक एकरूपता का अथवा जिस प्रकार यह एकरूपता उत्पन्न हुई उसका ही यह भी फल है कि इगलैंड में न्यायाधीश की जो प्रतिष्ठा और प्रभाव है, वह और किसी देश में किसी अन्य प्रकार की शासन-प्रणाली में देखने को नही मिलता। सार्वजनीन विधि (Common Law) प्रारम्भ में न्यायाधीशो द्वारा निर्मित किया हुआ कानून था। जो निर्णय, किसी में न्यायाधीश ने दिया, उसी के अनुसार अन्य न्यायाधीशो ने निर्णय दिये क्योकि यही सबसे आसान तरीका था। इस प्रकार पूर्वभावियो (Precedents) का और पूर्व नियमो के सिद्धान्त का श्रीगणेश हुआ। इस सिद्धान्त में परिनियम या सविधि (Statute Law) भी आते हैं और अग्रेजी न्याय-सहिता का यह अपरिवर्त्तनीय नियम है कि जब कोई न्यायाधीश इस सम्बन्ध में कोई निर्णय दे देता है कि सार्वजनीन विधि क्या है अथवा उस सम्बन्ध में परिनियमो या सविधियो का क्या अर्थ है, तो उक्त निर्णय नियम की तरह से स्वीकार किया जायगा और वह उस प्रकार के सभी मामलो पर तब तक लागू होता रहेगा जब तक कि अधिक ऊँचे न्यायालय के न्यायाधीश द्वारा पिछला निर्णय रद्द न कर दिया जाय अथवा इस सम्बन्ध में ससद् कोई अधिनियम न पास करे जिससे उसके सम्बन्ध में समस्त भ्रान्ति सदैव के लिये शान्त हो जाये।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि सार्वजनीन विधि या सामान्य विधि (Common Law) अनेको नियमो का समूह है जिनको कभी किसी राजा ने निर्दिष्ट नही किया है न किसी विधानमण्डल ने कभी उनको अधिनियमित किया है। यह सार्वजनीन विधि निर्णयो और लेख प्रमाणो (Records) के आधार पर विकसित हुई। अंग्रेजी न्याय-व्यवस्था में इसका मौलिक प्रभाव है। विशेष रूप से सविदा नियम और सामाजिक अपराधो (Principles of the Law of Contract, and the Civil Wrongs) के नियम के सिद्धान्तो पर समस्त अग्रेजी न्याय-व्यवस्था आधारित है। फौजदारी नियम भी प्रारम्भ में सार्वजनीन विधि (Common Law) थी, यद्यपि उसका बहुत बडा अश अब सविधियो की शक्ल मे आ गया है।

न्याय-भावना अथवा अपक्षपात विधि (Equity)—समय के साथ-साथ सार्वजनीन विधि (Common Law) ने अपना लचीला स्वभाव खो दिया और इस कारण अनेको कमियाँ दिखाई देने लगी। न्यायाधीशो ने अंग्रेजी समाज की बदलती हुई आवश्यकताओ के अनुरूप सार्वजनीन विधि मानने से इन्कार कर दिया। ऐसे अनेको मामले सम्मुख आये जिनमें सार्वजनीन विधि लागू नही हो सकी और कभी-कभी पूर्व निर्णयो और पूर्वभावियो पर निर्णय होने के कारण स्पष्ट अन्याय हो जाता था। जागीरदारी (Feudalism) समाप्त हो रही थी जिसके कारण १५वी शताब्दी के आसपास सेवको को सेवा के बदले अब जागीरो के बजाय रुपया मिलने लगा था। वास्तव में उस काल मे देश एक प्रकार की सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक अस्थिरता में से गुजर रहा था। उस समय न्याय-व्यवस्था के लिये ऐसी प्रक्रिया की आवश्यकता थी जो उतनी पारिभाषिक (Technical) और देर लगाने वाली न हो और जिसका प्रमाणीकरण सार्वजनीन विधि की अपेक्षा अधिक पूर्ण हो। अपक्षपात विधि (Equity) जो अंग्रेजी विधि में दूसरा तट है, उसके विकास से सार्वजनीन विधि की कई त्रुटियाँ कम हो गईं और उस समय की स्थिति सुधर गई।

विधि के अनुसार यह माना जाता था कि राजा न्याय का स्रोत है और समस्त न्यायालय राजा के न्यायालय हैं। यदि राजा के न्यायालयो से किसी व्यक्ति को न्याय नही मिलता था तो वह पीडित अथवा दुःखी नागरिक राजा से अपील कर सकता था कि उसको न्यायदान दिया जाय। प्रारम्भ में राजा प्रत्येक न्याय की प्रार्थना पर स्वय विचार करता था और कभी-कभी उस प्रार्थना के सम्बन्ध में अपनी परिषद् से भी सलाह माँगता था। किन्तु शीघ्र ही उसने अनुभव किया कि यदि सभी प्रार्थना-पत्रो पर वह स्वय विचार करेगा तो उसके पास अन्य किसी कार्य के लिए समय ही नही बचेगा। इसलिये राजा ने इस प्रकार की सभी प्रार्थनाओ को अपने चासलर (Chancellor) के पास विचारार्थ भेज दिया। चासलर उस समय न्यायाधीश नही था जैसा कि वह आज कल है। उस समय चासलर, राजा की परिषद् का वैधिक सदस्य था और वह राजा के सद्विचार और सद्विवेक (Conscience) का रखवाला था। इस प्रकार दीवानी के बड़े न्यायालय (Chancery) का उदय हुआ जो प्रारम्भ में न्यायालय न होकर विशेष रूप से राज्य का एक प्रशासनिक विभाग था जिसके आधीन विधि और न्याय-व्यवस्था का समन्वय था। इस कारण, व्यथित और पीडित नागरिक जिसको दीवानी अदालत से उचित न्याय नहीं मिलता था, चासलर अथवा प्रमुख न्यायाधिकारी के पास उस समय की प्रथा के अनुसार अपनी शिकायत की अपील करता था।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि अपक्षपात विधि (Equity) का आधार प्रथा नही था, बल्कि सद्विवेक और सद्विचार था। "इस विधि की मान्यता थी कि देश की विधि जाति के सदाचार के अनुरूप और नीति के अनुसार होनी चाहिये।" अपक्षपात विधि (Equity) उपाय सुझाती थी, किन्तु सार्वजनिक विधि (Common

Law) दण्ड का विधान करती थी, और क्योकि अपक्षपात विधि ऐसी नई समस्याओं की सत्ता को स्वीकार करती थी जिनके लिये विधि सक्षम नही थी, इसलिये दीवानी के बडे न्यायालय (Chancery) में बहुत से मामले आने लगे। इन प्रमुख न्याय-अधिकारियो (Chancellors) ने जो बार-बार पीढी-दर-पीढ़ी अनेको निर्णय दिये, उन सब निर्णयो को मिलाकर नियमो का एक समूह बन गया जिसका नाम न्याय भावना अथवा अपक्षपात नियम (Equity) पड गया, जो उस समय की प्रचलित विधि के विरुद्ध न होकर उसका अशयोग (Addition) बन गया।

किन्तु अठारहवी शताब्दी के प्रारम्भ में अपक्षपात विधि (Equity) सुनिश्चित हो चुकी थी और उसके सिद्धान्तो के विकास का क्रम लगभग प्रत्येक मामले में एक ही सा था। इसका अर्थ यह था कि चासलर वास्तविक अर्थों में न्यायाधीश बन चुका था और उसका न्यायालय अथवा चाँसरी (Chancery) एक साधारण न्यायालय या कचहरी का रूप धारण कर चुकी थी। इसका यह भी अर्थ था कि इगलैड मे दो प्रकार के स्वतन्त्र न्यायालयो का विकास हुआ जिनमें दो विभिन्न विधियो के अनुसार कार्य होता था। यह असाधारण स्थिति १८७३ तक चली। उस वर्ष प्रथम बार न्यायिक अधिनियम (Judicature Act) ने यह स्थिर किया कि एक ही प्रकार के न्यायालय होने चाहियें, और सार्वजनीन विधि (Common Law) और अपक्षपात विधि (Equity) दोनो के नियमों के अनुसार दोनो न्यायालयो अर्थात् राजा की बेंच (King's Bench) और दीवानी के बडे न्यायालय (Chancery) में न्याय-व्यवस्था होनी चाहिये। किन्तु यह समझ लेना चाहिये कि १८७३ के न्यायिक अधिनियम (Judicature Act of 1873) ने सार्वजनीन विधि (Common Law) और अपक्षपात विधि (Equity) को मिलाकर एक नही कर दिया, बल्कि उन दोनो में सामजस्य स्थापित कर दिया, जिसके लिये यह अधिनियमित किया गया कि जहाँ सार्वजनीन विधि और अपक्षपात विधि में सघर्ष या विरोध हो, वहाँ न्याय-भावना अथवा अपक्षपात विधि (Equity) की बात मानी जायगी।

परिनियम विधि अथवा सविधि (Statute Law)—परिनियम विधि में वे अनेको अधिनियम आते हैं जिन्हें ससद् पारित करती है और आधुनिक काल में यह विधि (Law) का सब से बडा स्रोत है। १९वी शताब्दी तक प्राय समस्त दीवानी (Civil) और फौजदारी (Criminal) विधि या तो सामान्य अथवा सार्वजनीन विधि (Common Law) थी, या न्याय-भावना अथवा अपक्षपात विधि (Equity) थी। यहाँ तक कि जिस समय दीवानी और फौजदारी विधि ससद् द्वारा पारित अधिनियमों में सग्रहीत कर ली गई, फिर भी उनका आधार सामान्य या सार्वजनीन विधि ही रहा। किन्तु यह जान लेना आवश्यक होगा कि परिनियम विधि या सविधि (Statute Law) के आगे सामान्य विधि (Common Law) अप्रभावी हो जाती है। यह अपक्षपात अथवा न्याय-भावना विधि (Equity) के समान नही है क्योकि यह सामान्य विधि का निषेध नही करती। यह केवल सामान्य विधि (Common

Law) को कुछ लचीला बना देती है (Mitigates) अथवा उसकी कतिपय कमियो को पूरा कर देती है। यदि परिनियम विधि (Statute Law) और सामान्य विधि (Common Law) में विरोध हो, तो सामान्य विधि की अपेक्षा परिनियम विधि (Statute Law) को मान्यता प्रदान की जायगी। क्योकि परिनियम विधि अन्तिम आज्ञा है, चाहे सामान्य विधि (Common Law) या पिछले परिनियम या सविधियाँ अथवा इन दोनो पर आधारित कुछ भी निर्णय हुए हो अथवा उनमें कुछ भी आज्ञा निहित हो, उन सभी को नये परिनियम अथवा नई सविधि के द्वारा रद्द किया जा सकता है या उनमें परिवर्त्तन किया जा सकता है। सत्य यह है कि परिनियम विधि (Statutory Law) की आवश्यकता उस समय पडी जब ऐसे पूर्व भावियो ने अनियमितता उत्पन्न कर दी जो समाज की बदलती हुई आवश्यकताओ की पूर्ति करने में असमर्थ थे और जो नवीन सामाजिक आदर्शों के विरोध मे थे।

दीवानी और फौजदारी या दण्ड न्याय विधि (Civil and Criminal Law)—विधि के स्रोतो का वर्णन कर चुकने के पश्चात् अब हम दीवानी (Civil Law) और दण्ड न्यायविधि (Criminal Law) में अन्तर समझाने का प्रयास करेंगे। दीवानी न्याय-व्यवस्था (Civil Proceedings), जिसको नालिश (Actions) भी कहते हैं, का उद्देश्य यह है कि किसी प्राइवेट पार्टी को यदि कुछ आर्थिक हानि हुई है तो उसे कुछ न्याय एव हानि-पूर्ति मिले, यदि ऐसा अनुभव किया जाय और सिद्ध हो जाय कि किसी प्राइवेट पार्टी ने उक्त प्राइवेट पार्टी के आर्थिक अधिकारो को आघात अथवा हानि पहुँचाई है। इसके विपरीत दण्ड-न्याय-व्यवस्था (Criminal Proceedings) में जिसको फौजदारी मुकदमा (Proceedings) भी कहते हैं, विधि ऐसा नही मानती कि बलात्कार अथवा नियम भग (Wrong Act) किसी के द्वारा किसी एक व्यक्ति के विरुद्ध किया गया है। इसके विपरीत विधि की ऐसी मान्यता है कि इस प्रकार के नियम भग में सार्वजनिक हितो को खतरा है और विधि का निर्माण ही इस उद्देश्य से होता है कि समाज की इस प्रकार के कुकृत्यो से रक्षा की जाय और इसीलिये अपराधी को दण्ड दिये जाने का विधान है।

न्यायालय

(The Courts)

अर्थ वा दीवानी न्यायालय (The Civil Courts)—विधि ने दो अलग-अलग प्रकार के न्यायालयो की स्थापना की है, जिनमें अलग-अलग नालिशें (Civil Actions) और दण्ड-व्यवस्था (Criminal Proceedings) की जाती हैं। दीवानी मुकदमो के लिये सबसे नीचे काउण्टी अदालतें (County Courts) होती हैं जिनमें २०० पौंड तक की नालिशो के मुकदमे आते हैं। प्रत्येक काउण्टी को पचास से अधिक सर्किटो (Circuits) में बाँट दिया गया है और प्रत्येक सर्किट में एक न्यायाधीश नियुक्त रहता है। लार्ड चासलर उन बड़े वकीलों में से जिनको सात वर्ष का अनुभव

होता है, न्यायाधीशो की नियुक्ति करता है। काउण्टी न्यायालयो के ऊपर एक सुप्रीम कोर्ट आफ जुडीकेचर (Supreme Court of Judicature) होता है जिसके दो भाग हैं, एक कोर्ट आफ अपील (Court of Appeal) होता है, जिसमें मास्टर आफ रॉल्स (Master of Rolls) तथा आठ लार्ड जस्टिस आफ अपील (Lord Justice of Appeal) बैठते है, तथा दूसरा भाग हाई कोर्ट आफ जस्टिस (High Court of Justice) होता है जिसमें न्यायाधीशो के स्थान पर लार्ड चीफ़ जस्टिस (Lord Chief Justice) और लगभग तीस अन्य उच्च न्यायाधीशगण (Justices) बैठते है।

हाई कोर्ट (High Court) तीन डिवीजनो में बैठता है। **चासरी अथवा दीवानी के बडे न्यायालय।** उनमें अधिकतर वे मुकदमे जाते हैं जो प्रारम्भ में न्याय-भावना अथवा अपक्षपात सम्बन्धी न्यायालयो को जाते थे। **किंग्स बेंच अथवा किंग्स डिवीजन** (*King's Bench*)। इसमें सामान्य सार्वजनीन विधि से सम्बन्धित मामले जाते हैं। **और प्रोबेट, डाइवोर्स और एडमिरेलिटी डिवीजन** *Probate, Divorce and Admiralty Division*)। कोर्ट आफ अपील (Court of Appeal) और हाई कोर्ट (High Court) लदन (London) में स्थित हैं किन्तु किंग्स बेंच डिवीजन (King's Bench Division) का न्यायक्षेत्र फौजदारी और दीवानी दोनो तरह के मामलों में होता है। अर्थात् वे दीवानी की नालिशो के सम्बन्ध में देहात में एसाइजेज (Assizes) की अदालतों मे भी निर्णय देते हैं। आजकल डाइवोर्स (Divorce) सम्बन्धी मामले भी एसाइज़ेज (Assizes) में ही सुने जाते हैं। काउण्टी न्यायालयो (County Courts) से जो अपीलें आती हैं वे हाई कोर्ट में सुनी जाती हैं। मौलिक क्षेत्र में हाई कोर्ट में केवल वे नालिशें आती हैं जिनमें दावे की धन-राशि काफी बडी होती है। इसके अतिरिक्त कोर्ट आफ अपील (Court of Appeal) होता है जिसमें काउण्टी न्यायालयो (County Courts) और हाई कोर्ट आफ जस्टिस (High Court of Justice) दोनो से अपीलें आती हैं। कोर्ट आफ अपील की दो या तीन डिवीजनें होती हैं और कभी-कभी तो समस्त लार्ड जस्टिसेज (Lord Justices) बडे मुकदमो की सुनवाई के लिये साथ ही बैठते हैं। इस न्यायालय से भी अपीलो को अन्तश कुछ विशेष शर्तों के अधीन लार्ड सभा (House of Lords) में ले जाया जा सकता है। लार्ड सभा समस्त देश का सबसे ऊँचा अपीलीय न्यायालय है जिसमें दीवानी और फौजदारी सभी प्रकार के अभियोगो की अपीलें सुनी जाती हैं। समस्त लार्ड सभा न्यायालय के रूप में कभी नही बैठती। १८७६ में सात आजीवन कुलीन जन (Peers for Life) बनाये गये, जिनको अपीलो के निर्णय करने का कार्य प्रदान किया गया; और आजकल उनको लार्ड्स आफ अपील इन-आर्डिनरी (Lords of Appeal in-Ordinary) अथवा ला लार्ड (Law Lords) कहा जाता है। अपीलेट जूरिसडिक्शन अधिनियम १९४७ (Appelate Jurisdiction Act of 1947) ने लॉ लार्डों (Law Lords) की सख्या सात से बढा कर नौ कर दी। आजकल सभी अपीलें निम्न दस लॉ

लार्ड (Law Lords) द्वारा सुनी जाती हैं लार्ड चासलर (Lord Chancellor) नौ लार्ड आफ अपील इन-आर्डिनरी (Lords of Appeal in-Ordinary)। लार्ड चासलर अध्यक्ष होता है और मन्त्रिमण्डल (Cabinet) का भी सदस्य होता है। नौ लॉ लार्ड (Law Lords) निश्चित रूप से या तो उच्च ख्यातिप्राप्त न्याय-शास्त्र-विद होते हैं, अथवा उच्च ख्यातिप्राप्त न्यायाधीश होते हैं अथवा ऊँचे वकील होते हैं जिनको आजीवन लार्ड (Life Peers) बना दिया जाता है।

प्रिवी परिषद् की न्यायिक समिति (Judicial Committee of the Privy Council)—प्रिवी परिषद् की न्यायिक समिति एक उच्चवशीय अपीलीय सदन है जो वास्तव मे अगेजी न्याय-व्यवस्था का जात नही हैं। पारिभाषिक रूप मे यह अदालत या न्यायालय नही है जहाँ निर्णय होते हैं बल्कि ऐसा सदन है जो राजा को उन मामलो पर मन्त्रणा देता है जो उसके सम्मुख विचारार्थ उपस्थित किये जाते हैं, यद्यपि इसकी सिफारिशें सदैव स्वीकार कर ली जाती हैं।

जब लोंग पार्लियामेंट (Long Parliament) ने १६४१ में स्टार चेम्बर (Star Chamber) को तोड दिया तो उसने उसी आज्ञा से प्रिवी परिषद् का निम्न न्यायालयो से आयी हुई अपीलो को सुनने का अधिकार भी छीन लिया, किन्तु उसने प्रिवी परिषद् (Privy Council) का उन अपीलो को सुनने का अधिकार नही छीना जो समुद्र पार के साम्राज्य के उपनिवेशो से आती थी। इसलिये आज भी प्रिवी परिषद् उन अपीलो के लिये सबसे बडा न्यायालय है जो समुद्र पार के न्यायालयो से आती हैं, किन्तु इस सम्बन्ध में वे अधिराज्य (Dominions) अपवाद हैं जिनके विधान मण्डलो ने नियमो के द्वारा उस दिशा में कतिपय बन्धन लगा दिये हैं।[1] प्रिवी परिषद् आजकल १८३३ के अधिनियम के अनुसार न्यायिक समिति के द्वारा कार्य कर रही है। न्यायिक समिति के सदस्य प्रिवी परिषद् (Privy Councillors) हैं जिनको अन्य अधिराज्यो के न्यायाधीशगण अपने देश की न्याय-व्यवस्था के अनुसार आवश्यक मन्त्रणा देते हैं। न्यायिक समिति मे लगभग बीस स्मृतिकार अथवा प्रमाण पुरुष (Jurists) होते हैं, किन्तु इस समिति का अधिकतर कार्य वे ही न्यायाधीश करते हैं जो लार्ड सभा में न्याय करते हैं किन्तु जब वे न्यायिक समिति में कार्य करते हैं तो कुलीन जनो (Peers) के रूप में नही, बल्कि प्रिवी परिषदो (Privy Councillors) के रूप में अपना कार्य करते हैं। लॉ लार्ड (Law Lords) वैतनिक कुलीनजन (Salaried Peers) होते हैं और जिस समय इस प्रकार के कुलीन जनो की उत्पत्ति की गई थी, तो यह निश्चित किया गया था कि वे लार्ड सभा में और न्यायिक समिति में अधिकतर काम निपटा लिया करेंगे।

प्रिवी परिषद् की न्यायिक समिति का एक विशेष अधिकार क्षेत्र है जिसका

---

[1] केवल न्यूजीलैंड (Newzealand) को छोड़कर अन्य सभी अधिराज्यों (Dominions) ने प्रिवी परिषद (Privy Council) की न्याय समिति को अपील भेजने पर रोक लगा दी है।

सम्बन्ध अग्रेज़ी न्यायालयो से है। युद्धकाल मे यह समस्त साम्राज्य के उच्चतम न्यायालय का स्वरूप धारण कर लेता है जिसमें समुद्री लूट के माल का बँटवारा होता है।

दण्ड न्यायालय (Criminal Courts)—इगलैंड में जब किसी आदमी पर किसी अपराध का अभियोग लगता है, तो उसे एक या एक से अधिक जस्टिस आफ दी पीस (Justice of the Peace) के सम्मुख उपस्थित किया जाता है, अथवा वडे नगरो में वृत्तिभोगी न्यायालय (Stipendary Magistrate) के सामने लाया जाता है। जस्टिस आफ दी पीस अवैतनिक न्यायाधीश होते हैं किन्तु वृत्तिभोगी मजिस्ट्रेट नियमित रूप से वेतन या स्टाइपेंड (Stipend) अपने-अपने वरो (Boroughs) या जिने (Urban districts) से प्राप्त करते हैं जैसा कि उनके नामो से भी प्रकट है। वृत्तिभोगी न्यायाधीशो की नियुक्ति गृहमन्त्री (Secretary of State for Home Affairs) उन उच्च वकीलो में से करता है जिन्हें अपने कार्य-क्षेत्र का सात वर्ष का अनुभव हो। जस्टिस आफ दी पीस की नियुक्ति काउण्टी (Counties) के लार्ड लेफटीनेण्टो (Lord Lieutenants) की सिफारिश पर लार्ड चासलर (Lord Chancellor) द्वारा की जाती है। मजिस्ट्रेट लोग भी वे ही मामले देखते हैं जिन्हें जस्टिस आफ दी पीस (Justices of the peace) देखते हैं किन्तु मजिस्ट्रेटो को कुछ अतिरिक्त अधिकार होते हैं।

जस्टिसेज़ आफ पीस (Justices of Peace) और मजिस्ट्रेट जब अलग-अलग अपने-अपने क्षेत्रो में कार्य करते हैं तो उनके सम्मुख छोटे मुक़दमे आते हैं जिनमें अधिक से अधिक बीस शिलिंग का जुर्माना या अधिक से अधिक चौदह दिन की सजा हो सकती है। यदि अधिक सगीन किस्म का मुकदमा हो तो उसके निर्णय के लिये दो या दो से अधिक जस्टिस या मजिस्ट्रेट मिलकर बैठते हैं। जब दो जस्टिस (Justices) मिलकर निर्णय करने बैठें, उस न्यायालय को पैटी सैशन न्यायालय (Court of Petty Session) कहते हैं। ऐसे न्यायालय सक्षिप्त न्याय-क्षेत्र-सम्पन्न होते हैं, और वे ५० पौंड से लेकर १०० पौंड या किसी-किसी सगीन मामले में ५०० पौंड तक जुर्माना कर सकते है और वे छ महीने तक का और कतिपय सगीन मामलो में एक वर्ष तक की सजा का हुक्म दे सकते हैं। यदि अपराध ऐसा है जिसमें तीन मास से अधिक की सजा दी जा सकती है, तो अभियुक्त को जूरी (Jury) द्वारा भी निर्णय मिल सकता है।

इसके ऊपर कोर्ट आफ क्वार्टर सेशन्स (Court of Quarter Sessions) होता है जिसमें किसी सम्पूर्ण काउण्टी (County) मे से दो या इससे अधिक जस्टिस लिये जाते हैं। वडे-वडे नगरो में इस प्रकार के न्यायालयों का सभापति वृत्तिभोगी मजिस्ट्रेट (Paid Magistrate) होता है जिसकी उपाधि रेकार्डर (The Recorder) होती है, और उसकी नियुक्ति गृह मन्त्री (Home Secretary) द्वारा की जाती है। कतिपय संगीन अपराधो को छोडकर सभी दोप लगाने योग्य मामले इसी न्यायालय

न्याय-व्यवस्था के विशिष्ट गुण
(Features of the Judicial System)

(१) समस्त देश में एक प्रकार की न्याय-व्यवस्था नही है। पिछले पृष्ठो में जिस प्रकार के न्यायालयो का वर्णन किया गया है, वह इगलैंड तथा वेल्स (England and Wales) में पाये जाते हैं। किन्तु स्काटलैंड की विधि का सिद्धान्त, कार्य-प्रणाली और वहाँ के न्यायालयो का सगठन भिन्न प्रकार का है। उत्तरी आयरलैंड की न्याय-प्रणाली बिल्कुल भिन्न है यद्यपि वह इगलैंड की न्याय-व्यवस्था से फिर भी अधिक मिलती है।

(२) आजकल इगलैंड और वेल्स के न्यायालयो को समन्वित कर दिया गया है। दो पीढ़ी पूर्व समस्त देश में असम्बद्ध, अतिछादी (Overlapping) और व्यर्थ के न्यायालयो की भरमार सी थी। उन दिनो मामले बहुत आते थे और यह निर्णय करना कठिन था कि किस मुकदमे को किस न्यायालय के सुपुर्द किया जाय और प्रत्येक प्रकार के न्यायालय की अपनी-अपनी व्यवहार विधि थी। १८७३ से १८७६ तक न्याय-व्यवस्था के सुधार अधिनियमो के फलस्वरूप अब इगलैंड की न्याय-व्यवस्था में पूर्ण व्यवस्था आ गई है। लगभग सारे ही न्यायालय[1] एक केन्द्रीय व्यवस्था के आधीन सगठित कर दिये गये हैं, और इस प्रकार न्यायाधिकार के सम्बन्ध में जो अव्यवस्था और परस्पर विरोध का बोलबाला था, वह समाप्त हो गया है।

(३) इगलैंड में प्रशासन से सम्बन्धित न्यायालय अलग नही हैं जिस प्रकार कि फ्रास अथवा अन्य यूरोपीय देशो में पाये जाते हैं। फ्रास एव अन्य यूरोपीय देशो में विधि दो विभिन्न प्रकार की है अर्थात् साधारण तथा प्रशासनिक और उसी प्रकार दो भिन्न प्रकार के न्यायालय हैं—साधारण न्यायालय (Ordinary Courts) और शासनिक न्यायालय (Administrative Courts)। शासन के अधिकारियो पर यदि ई अभियोग ऐसी दशा में लाया जाय जिसका सम्बन्ध प्रशासनिक कार्यवाहियो से हो उनके ऊपर प्रशासनिक विधि के अनुसार कार्यवाही होगी और उनको प्रशासनिक ायालयो में उपस्थित होना पडेगा। इसके विपरीत इगलैंड की सामान्य विधि, र्वजनीन विधि (Common Law) है। वहाँ की विधि, शासन के अधिकारियो र सामान्य नागरिको में कोई भेद नही मानती। सभी को उन्हीं सामान्य न्यायालयो उपस्थित होना पडता है और सबके ऊपर वही सामान्य विधि लागू होती है यद्यपि व इगलैंड में भी धीरे-धीरे प्रशासनिक न्याय-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो रहा है।

(४) अग्रेजी न्याय-व्यवस्था का सबसे बडा गुण यह है कि वह स्वतन्त्र है, शीघ्र कार्य करने वाली है और पक्षपातहीन है। इगलैंड के न्यायाधीशो के ऊपर किसी प्रकार के प्रभाव नही पडते, वे तो केवल न्याय-भावना और सत्य-निष्ठा से

---

[1] 'जस्टिसेज आफ दी पीस' (Justices of the Peace) के न्यायालयों को अपवाद स्वरूप समझते हुए।

न्याय-व्यवस्था के विशिष्ट गुण

(Features of the Judicial System)

(१) समस्त देश में एक प्रकार की न्याय-व्यवस्था नही है। पिछले पृष्ठो में जिस प्रकार के न्यायालयो का वर्णन किया गया है, वह इगलैंड तथा वेल्स (England and Wales) में पाये जाते हैं। किन्तु स्काटलैंड की विधि का सिद्धान्त, कार्य-प्रणाली और वहाँ के न्यायालयो का सगठन भिन्न प्रकार का है। उत्तरी आयरलैंड की न्याय-प्रणाली बिल्कुल भिन्न है यद्यपि वह इगलैंड की न्याय-व्यवस्था से फिर भी अधिक मिलती है।

(२) आजकल इगलैंड और वेल्स के न्यायालयो को समन्वित कर दिया गया है। दो पीढी पूर्व समस्त देश में असम्बद्ध, अतिछादी (Overlapping) और व्यर्थ के न्यायालयो की भरमार सी थी। उन दिनों मामले बहुत आते थे और यह निर्णय करना कठिन था कि किस मुकदमे को किस न्यायालय के सुपुर्द किया जाय और प्रत्येक प्रकार के न्यायालय की अपनी-अपनी व्यवहार विधि थी। १८७३ से १८७६ तक न्याय-व्यवस्था के सुधार अधिनियमो के फलस्वरूप अब इगलैंड की न्याय-व्यवस्था में पूर्ण व्यवस्था आ गई है। लगभग सारे ही न्यायालय[1] एक केन्द्रीय व्यवस्था के आधीन सगठित कर दिये गये हैं, और इस प्रकार न्यायाधिकार के सम्बन्ध में जो अव्यवस्था और परस्पर विरोध का बोलबाला था, वह समाप्त हो गया है।

(३) इगलैंड में प्रशासन से सम्बन्धित न्यायालय अलग नही हैं जिस प्रकार कि फ्रास अथवा अन्य यूरोपीय देशो में पाये जाते हैं। फ्रास एव अन्य यूरोपीय देशो में विधि दो विभिन्न प्रकार की है अर्थात् साधारण तथा प्रशासनिक और उसी प्रकार दो विभिन्न प्रकार के न्यायालय हैं—साधारण न्यायालय (Ordinary Courts) और प्रशासनिक न्यायालय (Administrative Courts)। शासन के अधिकारियो पर यदि कोई अभियोग ऐसी दशा में लाया जाय जिसका सम्बन्ध प्रशासनिक कार्यवाहियो से हो तो उनके ऊपर प्रशासनिक विधि के अनुसार कार्यवाही होगी और उनको प्रशासनिक न्यायालयो में उपस्थित होना पडेगा। इसके विपरीत इगलैंड की सामान्य विधि, सार्वजनीन विधि (Common Law) है। वहाँ की विधि, शासन के अधिकारियो और सामान्य नागरिको में कोई भेद नही मानती। सभी को उन्हीं सामान्य न्यायालयो में उपस्थित होना पडता है और सबके ऊपर वही सामान्य विधि लागू होती है यद्यपि अब इगलैंड में भी धीरे-धीरे प्रशासनिक न्याय-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो रहा है।

(४) अग्रेजी न्याय-व्यवस्था का सबसे बडा गुण यह है कि वह स्वतन्त्र है, शीघ्र कार्य करने वाली है और पक्षपातहीन है। इगलैंड के न्यायाधीशों के ऊपर किसी प्रकार के प्रभाव नहीं पडते, वे तो केवल न्याय-भावना और सत्य-निष्ठा से

---

[1] 'जस्टिसेज आफ दी पीस' (Justices of the Peace) के न्यायालयों को अपवाद स्वरूप समझते हुए।

न्याय-व्यवस्था के विशिष्ट गुण

(Features of the Judicial System)

(१) समस्त देश में एक प्रकार की न्याय-व्यवस्था नही है। पिछले पृष्ठों में जिस प्रकार के न्यायालयो का वर्णन किया गया है, वह इगलैंड तथा वेल्स (England and Wales) में पाये जाते हैं। किन्तु स्काटलैंड की विधि का सिद्धान्त, कार्य-प्रणाली और वहाँ के न्यायालयो का सगठन भिन्न प्रकार का है। उत्तरी आयरलैंड की न्याय-प्रणाली बिल्कुल भिन्न है यद्यपि वह इगलैंड की न्याय-व्यवस्था से फिर भी अधिक मिलती है।

(२) आजकल इगलैंड और वेल्स के न्यायालयो को समन्वित कर दिया गया है। दो पीढी पूर्व समस्त देश में असम्बद्ध, अतिछादी (Overlapping) और व्यर्थ के न्यायालयो की भरमार सी थी। उन दिनो मामले बहुत आते थे और यह निर्णय करना कठिन था कि किस मुकदमे को किस न्यायालय के सुपुर्द किया जाय और प्रत्येक प्रकार के न्यायालय की अपनी-अपनी व्यवहार विधि थी। १८७३ से १८७६ तक न्याय-व्यवस्था के सुधार अधिनियमो के फलस्वरूप अब इगलैंड की न्याय-व्यवस्था में पूर्ण व्यवस्था आ गई है। लगभग सारे ही न्यायालय[1] एक केन्द्रीय व्यवस्था के आधीन सगठित कर दिये गये हैं, और इस प्रकार न्यायाधिकार के सम्बन्ध में जो अव्यवस्था और परस्पर विरोध का बोलबाला था, वह समाप्त हो गया है।

(३) इगलैंड में प्रशासन से सम्बन्धित न्यायालय अलग नही हैं जिस प्रकार कि फ्रास अथवा अन्य यूरोपीय देशो में पाये जाते हैं। फ्रास एव अन्य यूरोपीय देशो में विधि दो विभिन्न प्रकार की है अर्थात् साधारण तथा प्रशासनिक और उसी प्रकार दो विभिन्न प्रकार के न्यायालय हैं—साधारण न्यायालय (Ordinary Courts) और प्रशासनिक न्यायालय (Administrative Courts)। शासन के अधिकारियो पर यदि कोई अभियोग ऐसी दशा में लाया जाय जिसका सम्बन्ध प्रशासनिक कार्यवाहियो से हो तो उनके ऊपर प्रशासनिक विधि के अनुसार कार्यवाही होगी और उनको प्रशासनिक न्यायालयो में उपस्थित होना पडेगा। इसके विपरीत इगलैंड की सामान्य विधि, सार्वजनीन विधि (Common Law) है। वहाँ की विधि, शासन के अधिकारियो और सामान्य नागरिको में कोई भेद नही मानती। सभी को उन्ही सामान्य न्यायालयो में उपस्थित होना पडता है और सबके ऊपर वही सामान्य विधि लागू होती है यद्यपि अब इगलैंड में भी धीरे-धीरे प्रशासनिक न्याय-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो रहा है।

(४) अग्रेजी न्याय-व्यवस्था का सबसे बडा गुण यह है कि वह स्वतन्त्र है, शीघ्र कार्य करने वाली है और पक्षपातहीन है। इगलैंड के न्यायाधीशो के ऊपर किसी प्रकार के प्रभाव नही पडते, वे तो केवल न्याय-भावना और सत्य-निष्ठा से

---

[1] 'जस्टिसेज आफ दी पीस' (Justices of the Peace) के न्यायालयों को अपवाद

न्याय-व्यवस्था के विशिष्ट गुण
(Features of the Judicial System)

(१) समस्त देश में एक प्रकार की न्याय-व्यवस्था नही है। पिछले पृष्ठो में जिस प्रकार के न्यायालयो का वर्णन किया गया है, वह इगलैड तथा वेल्स (England and Wales) में पाये जाते हैं। किन्तु स्काटलैड की विधि का सिद्धान्त, कार्य-प्रणाली और वहाँ के न्यायालयो का सगठन भिन्न प्रकार का है। उत्तरी आयरलैड की न्याय-प्रणाली बिल्कुल भिन्न है यद्यपि वह इगलैड की न्याय-व्यवस्था से फिर भी अधिक मिलती है।

(२) आजकल इगलैड और वेल्स के न्यायालयो को समन्वित कर दिया गया है। दो पीढी पूर्व समस्त देश में असम्बद्ध, अतिछादी (Overlapping) और व्यर्थ के न्यायालयो की भरमार सी थी। उन दिनो मामले बहुत आते थे और यह निर्णय करना कठिन था कि किस मुकदमे को किस न्यायालय के सुपुर्द किया जाय और प्रत्येक प्रकार के न्यायालय की अपनी-अपनी व्यवहार विधि थी। १८७३ से १८७६ तक न्याय-व्यवस्था के सुधार अधिनियमों के फलस्वरूप अब इगलैड की न्याय-व्यवस्था में पूर्ण व्यवस्था आ गई है। लगभग सारे ही न्यायालय[1] एक केन्द्रीय व्यवस्था के आधीन सगठित कर दिये गये हैं, और इस प्रकार न्यायाधिकार के सम्बन्ध में जो अव्यवस्था और परस्पर विरोध का बोलवाला था, वह समाप्त हो गया है।

(३) इगलैड में प्रशासन से सम्बन्धित न्यायालय अलग नही हैं जिस प्रकार कि फ्रास अथवा अन्य यूरोपीय देशो में पाये जाते हैं। फ्रास एव अन्य यूरोपीय देशो में विधि दो विभिन्न प्रकार की है अर्थात् साधारण तथा प्रशासनिक और उसी प्रकार दो विभिन्न प्रकार के न्यायालय हैं—साधारण न्यायालय (Ordinary Courts) और प्रशासनिक न्यायालय (Administrative Courts)। शासन के अधिकारियो पर यदि कोई अभियोग ऐसी दशा में लाया जाय जिसका सम्बन्ध प्रशासनिक कार्यवाहियो से हो तो उनके ऊपर प्रशासनिक विधि के अनुसार कार्यवाही होगी और उनको प्रशासनिक न्यायालयो में उपस्थित होना पडेगा। इसके विपरीत इगलैड की सामान्य विधि, सार्वजनीन विधि (Common Law) है। वहाँ की विधि, शासन के अधिकारियो और सामान्य नागरिको में कोई भेद नही मानती। सभी को उन्ही सामान्य न्यायालयो में उपस्थित होना पडता है और सबके ऊपर वही सामान्य विधि लागू होती है यद्यपि अब इगलैड में भी धीरे-धीरे प्रशासनिक न्याय-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो रहा है।

(४) अग्रेजी न्याय-व्यवस्था का सबसे बडा गुण यह है कि वह स्वतन्त्र है, शीघ्र कार्य करने वाली है और पक्षपातहीन है। इगलैड के न्यायाधीशों के ऊपर किसी प्रकार के प्रभाव नहीं पडते, वे तो केवल न्याय-भावना और सत्य-निष्ठा से

---

[1] 'जस्टिसेज आफ़ दी पीस' (Justices of the Peace) के न्यायालयों को अपवाद स्वरूप समझते हुए।

न्याय-व्यवस्था के विशिष्ट गुण
(Features of the Judicial System)

(१) समस्त देश में एक प्रकार की न्याय-व्यवस्था नही है। पिछले पृष्ठों मे जिस प्रकार के न्यायालयो का वर्णन किया गया है, वह इगलैंड तथा वेल्स (England and Wales) में पाये जाते हैं। किन्तु स्काटलैंड की विधि का सिद्धान्त, कार्य-प्रणाली और वहाँ के न्यायालयो का सगठन भिन्न प्रकार का है। उत्तरी आयरलैंड की न्याय-प्रणाली बिल्कुल भिन्न है यद्यपि वह इगलैंड की न्याय-व्यवस्था से फिर भी अधिक मिलती है।

(२) आजकल इगलैंड और वेल्स के न्यायालयो को समन्वित कर दिया गया है। दो पीढ़ी पूर्व समस्त देश में असम्बद्ध, अतिछादी (Overlapping) और व्यर्थ के न्यायालयो की भरमार सी थी। उन दिनो मामले बहुत आते थे और यह निर्णय करना कठिन था कि किस मुकदमे को किस न्यायालय के सुपुर्द किया जाय और प्रत्येक प्रकार के न्यायालय की अपनी-अपनी व्यवहार विधि थी। १८७३ से १८७६ तक न्याय-व्यवस्था के सुधार अधिनियमो के फलस्वरूप अब इगलैंड की न्याय-व्यवस्था में पूर्ण व्यवस्था आ गई है। लगभग सारे ही न्यायालय[1] एक केन्द्रीय व्यवस्था के आधीन सगठित कर दिये गये हैं, और इस प्रकार न्यायाधिकार के सम्बन्ध में जो अव्यवस्था और परस्पर विरोध का बोलबाला था, वह समाप्त हो गया है।

(३) इगलैंड में प्रशासन से सम्बन्धित न्यायालय अलग नही है जिस प्रकार कि फ्रास अथवा अन्य यूरोपीय देशो में पाये जाते हैं। फ्रास एव अन्य यूरोपीय देशो में विधि दो विभिन्न प्रकार की है अर्थात् साधारण तथा प्रशासनिक और उसी प्रकार दो विभिन्न प्रकार के न्यायालय हैं—साधारण न्यायालय (Ordinary Courts) और प्रशासनिक न्यायालय (Administrative Courts)। शासन के अधिकारियो पर यदि कोई अभियोग ऐसी दशा में लाया जाय जिसका सम्बन्ध प्रशासनिक कार्यवाहियो से हो तो उनके ऊपर प्रशासनिक विधि के अनुसार कार्यवाही होगी और उनको प्रशासनिक न्यायालयो में उपस्थित होना पडेगा। इसके विपरीत इगलैंड की सामान्य विधि, सार्वजनीन विधि (Common Law) है। वहाँ की विधि, शासन के अधिकारियो और सामान्य नागरिको में कोई भेद नही मानती। सभी को उन्ही सामान्य न्यायालयो में उपस्थित होना पडता है और सबके ऊपर वही सामान्य विधि लागू होती है यद्यपि अब इगलैंड में भी धीरे-धीरे प्रशासनिक न्याय-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो रहा है।

(४) अग्रेजी न्याय-व्यवस्था का सबसे बडा गुण यह है कि वह स्वतन्त्र है, शीघ्र कार्य करने वाली है और पक्षपातहीन है। इगलैंड के न्यायाधीशो के ऊपर किसी प्रकार के प्रभाव नही पडते, वे तो केवल न्याय-भावना और सत्य-निष्ठा से

---

[1] 'जस्टिसेज आफ़ दी पीस' (Justices of the Peace) के न्यायालयों को अपवाद स्वरूप समझते हुए।

न्याय-व्यवस्था के विशिष्ट गुण

(Features of the Judicial System)

(१) समस्त देश में एक प्रकार की न्याय-व्यवस्था नहीं है। पिछले पृष्ठों में जिस प्रकार के न्यायालयो का वर्णन किया गया है, वह इगलैंड तथा वेल्स (England and Wales) में पाये जाते हैं। किन्तु स्काटलैंड की विधि का सिद्धान्त, कार्य-प्रणाली और वहां के न्यायालयो का सगठन भिन्न प्रकार का है। उत्तरी आयरलैंड की न्याय-प्रणाली बिल्कुल भिन्न है यद्यपि वह इगलैंड की न्याय-व्यवस्था से फिर भी अधिक मिलती है।

(२) आजकल इगलैंड और वेल्स के न्यायालयो को समन्वित कर दिया गया है। दो पीढी पूर्व समस्त देश में असम्बद्ध, अतिछादी (Overlapping) और व्यर्थ के न्यायालयो की भरमार सी थी। उन दिनो मामले बहुत आते थे और यह निर्णय करना कठिन था कि किस मुकदमे को किस न्यायालय के सुपुर्द किया जाय और प्रत्येक प्रकार के न्यायालय की अपनी-अपनी व्यवहार विधि थी। १८७३ से १८७६ तक न्याय-व्यवस्था के सुधार अधिनियमो के फलस्वरूप अब इगलैंड की न्याय-व्यवस्था में पूर्ण व्यवस्था आ गई है। लगभग सारे ही न्यायालय[1] एक केन्द्रीय व्यवस्था के आधीन सगठित कर दिये गये हैं, और इस प्रकार न्यायाधिकार के सम्बन्ध मे जो अव्यवस्था और परस्पर विरोध का बोलबाला था, वह समाप्त हो गया है।

(३) इगलैंड में प्रशासन से सम्बन्धित न्यायालय अलग नहीं हैं जिस प्रकार कि फ्रास अथवा अन्य यूरोपीय देशो में पाये जाते हैं। फ्रास एव अन्य यूरोपीय देशों में विधि दो विभिन्न प्रकार की है अर्थात् साधारण तथा प्रशासनिक और उसी प्रकार दो विभिन्न प्रकार के न्यायालय हैं—साधारण न्यायालय (Ordinary Courts) और प्रशासनिक न्यायालय (Administrative Courts)। शासन के अधिकारियो पर यदि कोई अभियोग ऐसी दशा में लाया जाय जिसका सम्बन्ध प्रशासनिक कार्यवाहियो से हो तो उनके ऊपर प्रशासनिक विधि के अनुसार कार्यवाही होगी और उनको प्रशासनिक न्यायालयो में उपस्थित होना पडेगा। इसके विपरीत इगलैंड की सामान्य विधि, सार्वजनीन विधि (Common Law) है। वहां की विधि, शासन के अधिकारियो और सामान्य नागरिको में कोई भेद नही मानती। सभी को उन्हीं सामान्य न्यायालयो में उपस्थित होना पडता है और सबके ऊपर वही सामान्य विधि लागू होती है यद्यपि अब इगलैंड में भी धीरे-धीरे प्रशासनिक न्याय-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो रहा है।

(४) अग्रेजी न्याय-व्यवस्था का सबसे बडा गुण यह है कि वह स्वतन्त्र है, शीघ्र कार्य करने वाली है और पक्षपातहीन है। इगलैंड के न्यायाधीशो के ऊपर किसी प्रकार के प्रभाव नही पडते, वे तो केवल न्याय-भावना और सत्य-निष्ठा से

---

[1] 'जस्टिसेज आफ दी पीस' (Justices of the Peace) क न्यायालयों को अपवाद स्वरूप समझते हुए।

न्याय-व्यवस्था के विशिष्ट गुण

(Features of the Judicial System)

(१) समस्त देश में एक प्रकार की न्याय-व्यवस्था नही है। पिछले पृष्ठों में जिस प्रकार के न्यायालयो का वर्णन किया गया है, वह इगलैंड तथा वेल्स (England and Wales) में पाये जाते हैं। किन्तु स्काटलैंड की विधि का सिद्धान्त, कार्य-प्रणाली और वहाँ के न्यायालयो का सगठन भिन्न प्रकार का है। उत्तरी आयरलैंड की न्याय-प्रणाली बिल्कुल भिन्न है यद्यपि वह इगलैंड की न्याय-व्यवस्था से फिर भी अधिक मिलती है।

(२) आजकल इगलैंड और वेल्स के न्यायालयो को समन्वित कर दिया गया है। दो पीढी पूर्व समस्त देश में असम्बद्ध, अतिछादी (Overlapping) और व्यर्थ के न्यायालयो की भरमार सी थी। उन दिनों मामले बहुत आते थे और यह निर्णय करना कठिन था कि किस मुकदमे को किस न्यायालय के सुपुर्द किया जाय और प्रत्येक प्रकार के न्यायालय की अपनी-अपनी व्यवहार विधि थी। १८७३ से १८७६ तक न्याय-व्यवस्था के सुधार अधिनियमो के फलस्वरूप अब इगलैंड की न्याय-व्यवस्था में पूर्ण व्यवस्था आ गई है। लगभग सारे ही न्यायालय[1] एक केन्द्रीय व्यवस्था के आधीन सगठित कर दिये गये हैं, और इस प्रकार न्यायाधिकार के सम्बन्ध में जो अव्यवस्था और परस्पर विरोध का बोलबाला था, वह समाप्त हो गया है।

(३) इगलैंड में प्रशासन से सम्बन्धित न्यायालय अलग नही है जिस प्रकार कि फ्रास अथवा अन्य यूरोपीय देशों में पाये जाते हैं। फ्रास एव अन्य यूरोपीय देशो में विधि दो विभिन्न प्रकार की है अर्थात् साधारण तथा प्रशासनिक और उसी प्रकार दो विभिन्न प्रकार के न्यायालय है—साधारण न्यायालय (Ordinary Courts) और प्रशासनिक न्यायालय (Administrative Courts)। शासन के अधिकारियो पर यदि कोई अभियोग ऐसी दशा में लाया जाय जिसका सम्बन्ध प्रशासनिक कार्यवाहियो से हो तो उनके ऊपर प्रशासनिक विधि के अनुसार कार्यवाही होगी और उनको प्रशासनिक न्यायालयो में उपस्थित होना पडेगा। इसके विपरीत इगलैंड की सामान्य विधि, सार्वजनीन विधि (Common Law) है। वहाँ की विधि, शासन के अधिकारियो और सामान्य नागरिको में कोई भेद नही मानती। सभी को उन्ही सामान्य न्यायालयों में उपस्थित होना पडता है और सबके ऊपर वही सामान्य विधि लागू होती है यद्यपि अब इगलैंड में भी धीरे-धीरे प्रशासनिक न्याय-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो रहा है।

(४) अग्रेजी न्याय-व्यवस्था का सबसे बडा गुण यह है कि वह स्वतन्त्र है, शीघ्र कार्य करने वाली है और पक्षपातहीन है। इगलैंड के न्यायाधीशो के ऊपर किसी प्रकार के प्रभाव नहीं पडते, वे तो केवल न्याय-भावना और सत्य-निष्ठा से

---

[1] 'जस्टिसेज आफ दी पीस' (Justices of the Peace) के न्यायालयों को अपवाद स्वरूप समझते हुए।

न्याय-व्यवस्था के विशिष्ट गुण
(Features of the Judicial System)

(१) समस्त देश में एक प्रकार की न्याय-व्यवस्था नही है। पिछले पृष्ठो मे जिस प्रकार के न्यायालयो का वर्णन किया गया है, वह इगलैंड तथा वेल्स (England and Wales) में पाये जाते हैं। किन्तु स्काटलैड की विधि का सिद्धान्त, कार्य-प्रणाली और वहाँ के न्यायालयो का सगठन भिन्न प्रकार का है। उत्तरी आयरलैंड की न्याय-प्रणाली बिल्कुल भिन्न है यद्यपि वह इगलैंड की न्याय-व्यवस्था से फिर भी अधिक मिलती है।

(२) आजकल इगलैंड और वेल्स के न्यायालयो को समन्वित कर दिया गया है। दो पीढी पूर्व समस्त देश में असम्बद्ध, अतिछादी (Overlapping) और व्यर्थ के न्यायालयो की भरमार सी थी। उन दिनो मामले बहुत आते थे और यह निर्णय करना कठिन था कि किस मुकदमे को किस न्यायालय के सुपुर्द किया जाय और प्रत्येक प्रकार के न्यायालय की अपनी-अपनी व्यवहार विधि थी। १८७३ से १८७६ तक न्याय-व्यवस्था के सुधार अधिनियमो के फलस्वरूप अब इगलैंड की न्याय-व्यवस्था में पूर्ण व्यवस्था आ गई है। लगभग सारे ही न्यायालय[1] एक केन्द्रीय व्यवस्था के आधीन सगठित कर दिये गये हैं, और इस प्रकार न्यायाधिकार के सम्बन्ध में जो अव्यवस्था और परस्पर विरोध का बोलबाला था, वह समाप्त हो गया है।

(३) इगलैंड में प्रशासन से सम्बन्धित न्यायालय अलग नही हैं जिस प्रकार कि फ्रास अथवा अन्य यूरोपीय देशो में पाये जाते हैं। फ्रास एव अन्य यूरोपीय देशो में विधि दो विभिन्न प्रकार की है अर्थात् साधारण तथा प्रशासनिक और उसी प्रकार दो विभिन्न प्रकार के न्यायालय हैं—साधारण न्यायालय (Ordinary Courts) और प्रशासनिक न्यायालय (Administrative Courts)। शासन के अधिकारियो पर यदि कोई अभियोग ऐसी दशा में लाया जाय जिसका सम्बन्ध प्रशासनिक कार्यवाहियो से हो तो उनके ऊपर प्रशासनिक विधि के अनुसार कार्यवाही होगी और उनको प्रशासनिक न्यायालयो में उपस्थित होना पडेगा। इसके विपरीत इगलैंड की सामान्य विधि, सार्वजनीन विधि (Common Law) है। वहाँ की विधि, शासन के अधिकारियो और सामान्य नागरिको में कोई भेद नही मानती। सभी को उन्हीं सामान्य न्यायालयो में उपस्थित होना पडता है और सबके ऊपर वही सामान्य विधि लागू होती है यद्यपि अब इगलैंड में भी धीरे-धीरे प्रशासनिक न्याय-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो रहा है।

(४) अग्रेजी न्याय-व्यवस्था का सबसे बडा गुण यह है कि वह स्वतन्त्र है, शीघ्र कार्य करने वाली है और पक्षपातहीन है। इगलैंड के न्यायाधीशों के ऊपर किसी प्रकार के प्रभाव नही पडते, वे तो केवल न्याय-भावना और सत्य-निष्ठा से

---

[1] 'जस्टिसेज आफ दी पीस' (Justices of the Peace) के न्यायालयों को अपवाद स्वरूप समझते हुए।

न्याय-व्यवस्था के विशिष्ट गुण
(Features of the Judicial System)

(१) समस्त देश में एक प्रकार की न्याय-व्यवस्था नही है। पिछले पृष्ठो में जिस प्रकार के न्यायालयो का वर्णन किया गया है, वह इगलैंड तथा वेल्स (England and Wales) में पाये जाते हैं। किन्तु स्काटलैंड की विधि का सिद्धान्त, कार्य-प्रणाली और वहाँ के न्यायालयो का सगठन भिन्न प्रकार का है। उत्तरी आयरलैंड की न्याय-प्रणाली बिल्कुल भिन्न है यद्यपि वह इगलैंड की न्याय-व्यवस्था से फिर भी अधिक मिलती है।

(२) आजकल इगलैंड और वेल्स के न्यायालयो को समन्वित कर दिया गया है। दो पीढी पूर्व समस्त देश में असम्बद्ध, अतिछादी (Overlapping) और व्यर्थ के न्यायालयो की भरमार सी थी। उन दिनो मामले बहुत आते थे और यह निर्णय करना कठिन था कि किस मुकदमे को किस न्यायालय के सुपुर्द किया जाय और प्रत्येक प्रकार के न्यायालय की अपनी-अपनी व्यवहार विधि थी। १८७३ से १८७६ तक न्याय-व्यवस्था के सुधार अधिनियमो के फलस्वरूप अब इगलैंड की न्याय-व्यवस्था में पूर्ण व्यवस्था आ गई है। लगभग सारे ही न्यायालय[1] एक केन्द्रीय व्यवस्था के आधीन सगठित कर दिये गये हैं, और इस प्रकार न्यायाधिकार के सम्बन्ध में जो अव्यवस्था और परस्पर विरोध का बोलबाला था, वह समाप्त हो गया है।

(३) इगलैंड में प्रशासन से सम्बन्धित न्यायालय अलग नही है जिस प्रकार कि फ्रास अथवा अन्य यूरोपीय देशो में पाये जाते हैं। फ्रास एव अन्य यूरोपीय देशो में विधि दो विभिन्न प्रकार की है अर्थात् साधारण तथा प्रशासनिक और उसी प्रकार दो विभिन्न प्रकार के न्यायालय हैं—साधारण न्यायालय (Ordinary Courts) और प्रशासनिक न्यायालय (Administrative Courts)। शासन के अधिकारियो पर यदि कोई अभियोग ऐसी दशा में लाया जाय जिसका सम्बन्ध प्रशासनिक कार्यवाहियो से हो तो उनके ऊपर प्रशासनिक विधि के अनुसार कार्यवाही होगी और उनको प्रशासनिक न्यायालयो में उपस्थित होना पडेगा। इसके विपरीत इगलैंड की सामान्य विधि, सार्वजनीन विधि (Common Law) है। वहाँ की विधि, शासन के अधिकारियो और सामान्य नागरिको मे कोई भेद नही मानती। सभी को उन्ही सामान्य न्यायालयो में उपस्थित होना पडता है और सबके ऊपर वही सामान्य विधि लागू होती है यद्यपि अब इगलैंड में भी धीरे-धीरे प्रशासनिक न्याय-व्यवस्था का प्रादुर्भाव हो रहा है।

(४) अग्रेजी न्याय-व्यवस्था का सबसे बडा गुण यह है कि वह स्वतन्त्र है, शीघ्र कार्य करने वाली है और पक्षपातहीन है। इगलैंड के न्यायाधीशो के ऊपर किसी प्रकार के प्रभाव नही पडते, वे तो केवल न्याय-भावना और सत्य-निष्ठा से

---

[1] 'जस्टिसेज आफ दी पीस' (Justices of the Peace) के न्यायलयों को अपवाद स्वरूप समझते हुए।

करना चाहें तो वे न्याय के विरुद्ध भी जा सकते हैं। और यदि कही देश की विधि प्रचलित जनमत से मेल नही खाती, तो वहाँ वे अभियुक्त को दण्ड देना अस्वीकार कर सकते हैं। कठिन मामलो में विधि के अनुकूल निर्णय करना, जो किसी भी मानवीय एव पक्षपात विमुक्त न्याय-प्रणाली के लिये अत्यन्त आवश्यक है, उन लोगो के अधिकार में नही दिया गया है जो शासन के नियन्त्रण में अधिकारियों के रूप में नियुक्त किये जाते हैं, अपितु बिना किसी क्रम के छाँटे हुए नागरिको के हाथो में दे दिया जाता है जो हर मुकदमे के निर्णय के लिये सारी जनता में से यूँ ही छाँट लिये जाते हैं और अपना कर्त्तव्य समाप्त करने के बाद जो तुरन्त उसी अज्ञात अवस्था मे पहुँच जाते हैं जहाँ से वे आये थे। कई अवसरो पर जहाँ किसी नागरिक की स्वतन्त्रता की रक्षा का प्रश्न था इन अभिनिर्णायिक वृन्द (Juries) ने देश की प्रचलित किन्तु सकुचित (Illiberal) विधि पर कठोर प्रहार भी कर दिया है।

(८) अभिनिर्णायिको (Juries) की स्वतन्त्रता पहिले ही मान ली गई थी यद्यपि न्यायाधीशो की स्वतन्त्रता उसके पश्चात् मानी गई। न्यायाधीशगण अपने पदो पर वैधिक आज्ञानुसार सुरक्षित हैं, इसके अतिरिक्त जिस प्रकार उनकी नियुक्ति होती है, उससे भी उनकी स्वतन्त्रता को बल मिलता है। अधिकतर अन्य देशो में न्यायाधीश अपने न्यायाधीश-जीवन को निचले दर्जे से प्रारम्भ करते हैं और धीरे-धीरे उन्नति करके ऊपर पहुँचते हैं। स्वभावत वे शासन के मुखापेक्षी बने रहते हैं या फिर सम्भवत आम चुनावो पर आशायें लगाये रहते हैं, और इस प्रकार कोई कमजोर चरित्र वाला व्यक्ति ऐसी अवस्था में अपनी स्वतन्त्रता बेच सकता है ताकि वे ऐसे लोगो को प्रसन्न कर सके जो उसकी भविष्य की आशाओ को पूरी कर सकें। इसके विपरीत, इगलैंड में न्यायाधीश शिखर से जीवन प्रारम्भ करता है न कि सोपान के निचले डण्डे से। प्राय न्यायाधीश अपने पद पर नियुक्त होते समय प्रौढ आयु के होते हैं और वे ऊँचे दर्जे के वकीलो में से चुने जाते हैं। जहाँ एक बार किसी की नियुक्ति हुई, फिर न तो उसे शासन से कोई कृपाकांक्षा रहती है न वह किसी अन्य व्यक्ति की ओर निहारता है। किसी काउण्टी के न्यायाधीश को हाई कोर्ट (High Court) के न्यायाधीश बनने की सम्भावना नही रहती। यदि कोई न्यायाधीश पदोन्नत होकर हाई कोर्ट से कोर्ट आफ अपील (Court of Appeal) या लार्ड सभा में भी पहुँच जाय, तो भी इससे कोई विशेष अन्तर नही पडता, यद्यपि किसी अश तक सम्बन्धित न्यायाधीश की प्रतिष्ठा एव आय में वृद्धि अवश्य हो जाती है। इसका फल यह है कि न्यायाधीश आमतौर पर शासन के गुलाम नही होते, बल्कि उसके आलोचक होते हैं और वे अपने आपको साधारण नागरिक की स्वतन्त्रताओ का रक्षक मानते हैं और जहाँ कही नौकरशाही की निरकुशता देखते हैं, उसकी भर्त्सना करते हैं।

(९) अन्तत इगलैंड में न्यायिक कार्यवाही शीघ्र होती है और मुक़दमो के निर्णय शीघ्र होते हैं। इसके दो कारण हैं। प्रथमत., इगलैंड के न्यायाधीशो को वैधिक परिभाषाओ (Legal technicalities) के निर्वचन में पर्याप्त स्वतन्त्रता मिली

करना चाहें तो वे न्याय के विरुद्ध भी जा सकते हैं। और यदि कही देश की विधि प्रचलित जनमत से मेल नही खाती, तो वहाँ वे अभियुक्त को दण्ड देना अस्वीकार कर सकते हैं। कठिन मामलो में विधि के अनुकूल निर्णय करना, जो किसी भी मानवीय एव पक्षपात विमुक्त न्याय-प्रणाली के लिये अत्यन्त आवश्यक है, उन लोगो के अधिकार में नही दिया गया है जो शासन के नियन्त्रण में अधिकारियो के रूप में नियुक्त किये जाते हैं, अपितु बिना किसी क्रम के छाँटे हुए नागरिको के हाथो में दे दिया जाता है जो हर मुकदमे के निर्णय के लिये सारी जनता में से यूँ ही छाँट लिये जाते हैं और अपना कर्त्तव्य समाप्त करने के बाद जो तुरन्त उसी अज्ञात अवस्था में पहुँच जाते हैं जहाँ से वे आये थे। कई अवसरों पर जहाँ किसी नागरिक की स्वतन्त्रता की रक्षा का प्रश्न था इन अभिनिर्णायिक वृन्द (Juries) ने देश की प्रचलित किन्तु सकुचित (Illiberal) विधि पर कठोर प्रहार भी कर दिया है।

(८) अभिनिर्णायिको (Juries) की स्वतन्त्रता पहिले ही मान ली गई थी यद्यपि न्यायाधीशो की स्वतन्त्रता उसके पश्चात् मानी गई। न्यायाधीशगण अपने पदो पर वैधिक आज्ञानुसार सुरक्षित हैं, इसके अतिरिक्त जिस प्रकार उनकी नियुक्ति होती है, उससे भी उनकी स्वतन्त्रता को बल मिलता है। अधिकतर अन्य देशो में न्यायाधीश अपने न्यायाधीश-जीवन को निचले दर्जे से प्रारम्भ करते हैं और धीरे-धीरे उन्नति करके ऊपर पहुँचते हैं। स्वभावत वे शासन के मुखापेक्षी बने रहते हैं या फिर सम्भवत आम चुनावो पर आशायें लगाये रहते हैं, और इस प्रकार कोई कमजोर चरित्र वाला व्यक्ति ऐसी अवस्था में अपनी स्वतन्त्रता बेच सकता है ताकि वे ऐसे लोगो को प्रसन्न कर सके जो उसकी भविष्य की आशाओ को पूरी कर सकें। इसके वपरीत, इगलैंड में न्यायाधीश शिखर से जीवन प्रारम्भ करता है न कि सोपान के नेचले डण्डे से। प्राय न्यायाधीश अपने पद पर नियुक्त होते समय प्रौढ आयु के होते ैं और वे ऊँचे दर्जे के वकीलो में से चुने जाते हैं। जहाँ एक बार किसी की नियुक्ति ुई, फिर न तो उसे शासन से कोई कृपाकांक्षा रहती है न वह किसी अन्य व्यक्ति की ोर निहारता है। किसी काउण्टी के न्यायाधीश को हाई कोर्ट (High Court) के यायाधीश बनने की सम्भावना नही रहती। यदि कोई न्यायाधीश पदोन्नत होकर ाई कोर्ट से कोर्ट आफ अपील (Court of Appeal) या लार्ड सभा में भी पहुँच ाय, तो भी इससे कोई विशेष अन्तर नही पडता, यद्यपि किसी अश तक सम्बन्धित यायाधीश की प्रतिष्ठा एव आय में वृद्धि अवश्य हो जाती है। इसका फल यह है कि यायाधीश आमतौर पर शासन के गुलाम नही होते, बल्कि उसके आलोचक होते हैं ोर वे अपने आपको साधारण नागरिक की स्वतन्त्रताओ का रक्षक मानते हैं और हाँ कही नौकरशाही की निरकुशता देखते हैं, उसकी भर्त्सना करते हैं।

(९) अन्तश इगलैंड में न्यायिक कार्यवाही शीघ्र होती है और मुक़दमो के निर्णय शीघ्र होते हैं। इसके दो कारण हैं। प्रथमत, इगलैंड के न्यायाधीशो को

करना चाहें तो वे न्याय के विरुद्ध भी जा सकते हैं। और यदि कही देश की विधि प्रचलित जनमत से मेल नही खाती, तो वहाँ वे अभियुक्त को दण्ड देना अस्वीकार कर सकते हैं। कठिन मामलो में विधि के अनुकूल निर्णय करना, जो किसी भी मानवीय एव पक्षपात विमुक्त न्याय-प्रणाली के लिये अत्यन्त आवश्यक है, उन लोगो के अधिकार मे नही दिया गया है जो शासन के नियन्त्रण में अधिकारियों के रूप में नियुक्त किये जाते हैं, अपितु बिना किसी क्रम के छाँटे हुए नागरिकों के हाथों में दे दिया जाता है जो हर मुकदमे के निर्णय के लिये सारी जनता में से यूँ ही छाँट लिये जाते हैं और अपना कर्त्तव्य समाप्त करने के बाद जो तुरन्त उसी अज्ञात अवस्था में पहुँच जाते हैं जहाँ से वे आये थे। कई अवसरो पर जहाँ किसी नागरिक की स्वतन्त्रता की रक्षा का प्रश्न था इन अभिनिर्णायिक वृन्द (Juries) ने देश की प्रचलित किन्तु सकुचित (Illiberal) विधि पर कठोर प्रहार भी कर दिया है।

(८) अभिनिर्णायिको (Juries) की स्वतन्त्रता पहिले ही मान ली गई थी यद्यपि न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता उसके पश्चात् मानी गई। न्यायाधीशगण अपने पदो पर वैधिक आज्ञानुसार सुरक्षित हैं, इसके अतिरिक्त जिस प्रकार उनकी नियुक्ति होती है, उससे भी उनकी स्वतन्त्रता को बल मिलता है। अधिकतर अन्य देशो में न्यायाधीश अपने न्यायाधीश-जीवन को निचले दर्जे से प्रारम्भ करते हैं और धीरे-धीरे उन्नति करके ऊपर पहुँचते हैं। स्वभावत वे शासन के मुखापेक्षी बने रहते हैं या फिर सम्भवत आम चुनावो पर आशायें लगाये रहते हैं, और इस प्रकार कोई कमजोर चरित्र वाला व्यक्ति ऐसी अवस्था में अपनी स्वतन्त्रता बेच सकता है ताकि वे ऐसे लोगो को प्रसन्न कर सके जो उसकी भविष्य की आशाओ को पूरी कर सकें। इसके विपरीत, इगलैंड में न्यायाधीश शिखर से जीवन प्रारम्भ करता है न कि सोपान के निचले डण्डे से। प्राय. न्यायाधीश अपने पद पर नियुक्त होते समय प्रौढ आयु के होते हैं और वे ऊँचे दर्जे के वकीलो में से चुने जाते हैं। जहाँ एक बार किसी की नियुक्ति हुई, फिर न तो उसे शासन से कोई कृपाकांक्षा रहती है न वह किसी अन्य व्यक्ति की ओर निहारता है। किसी काउण्टी के न्यायाधीश को हाई कोर्ट (High Court) के न्यायाधीश बनने की सम्भावना नही रहती। यदि कोई न्यायाधीश पदोन्नत होकर हाई कोर्ट से कोर्ट आफ अपील (Court of Appeal) या लार्ड सभा में भी पहुँच जाय, तो भी इससे कोई विशेष अन्तर नही पडता, यद्यपि किसी अश तक सम्बन्धित न्यायाधीश की प्रतिष्ठा एव आय में वृद्धि अवश्य हो जाती है। इसका फल यह है कि न्यायाधीश आमतौर पर शासन के गुलाम नही होते, बल्कि उसके आलोचक होते हैं और वे अपने आपको साधारण नागरिक की स्वतन्त्रताओ का रक्षक मानते हैं और जहाँ कही नौकरशाही की निरकुशता देखते हैं, उसकी भर्त्सना करते हैं।

(९) अन्तत इगलैंड में न्यायिक कार्यवाही शीघ्र होती है और मुकदमों के निर्णय शीघ्र होते हैं। इसके दो कारण हैं। प्रथमत, इगलैंड के न्यायाधीशो को वैधिक परिभाषाओ (Legal technicalities) के निर्वचन में पर्याप्त स्वतन्त्रता मिली

करना चाहें तो वे न्याय के विरुद्ध भी जा सकते है। और यदि कही देश की विधि प्रचलित जनमत से मेल नही खाती, तो वहाँ वे अभियुक्त को दण्ड देना अस्वीकार कर सकते हैं। कठिन मामलो में विधि के अनुकूल निर्णय करना, जो किसी भी मानवीय एव पक्षपात विमुक्त न्याय-प्रणाली के लिये अत्यन्त आवश्यक है, उन लोगों के अधिकार मे नही दिया गया है जो शासन के नियन्त्रण में अधिकारियो के रूप में नियुक्त किये जाते हैं, अपितु बिना किसी क्रम के छाँटे हुए नागरिको के हाथों में दे दिया जाता है जो हर मुकदमे के निर्णय के लिये सारी जनता में से यूँ ही छाँट लिये जाते हैं और अपना कर्त्तव्य समाप्त करने के बाद जो तुरन्त उसी अज्ञात अवस्था में पहुँच जाते हैं जहाँ से वे आये थे। कई अवसरो पर जहाँ किसी नागरिक की स्वतन्त्रता की रक्षा का प्रश्न था इन अभिनिर्णायिक वृन्द (Juries) ने देश की प्रचलित किन्तु सकुचित (Illiberal) विधि पर कठोर प्रहार भी कर दिया है।

(८) अभिनिर्णायिको (Juries) की स्वतन्त्रता पहिले ही मान ली गई थी यद्यपि न्यायाधीशो की स्वतन्त्रता उसके पश्चात् मानी गई। न्यायाधीशगण अपने पदो पर वैधिक आज्ञानुसार सुरक्षित हैं, इसके अतिरिक्त जिस प्रकार उनकी नियुक्ति होती है, उससे भी उनकी स्वतन्त्रता को बल मिलता है। अधिकतर अन्य देशो में न्यायाधीश अपने न्यायाधीश-जीवन को निचले दर्जे से प्रारम्भ करते हैं और धीरे-धीरे उन्नति करके ऊपर पहुँचते हैं। स्वभावत' वे शासन के मुखापेक्षी बने रहते हैं या फिर सम्भवत आम चुनावो पर आशायें लगाये रहते हैं, और इस प्रकार कोई कमजोर चरित्र वाला व्यक्ति ऐसी अवस्था में अपनी स्वतन्त्रता बेच सकता है ताकि वे ऐसे लोगो को प्रसन्न कर सके जो उसकी भविष्य की आशाओ को पूरी कर सकें। इसके विपरीत, इगलैंड में न्यायाधीश शिखर से जीवन प्रारम्भ करता है न कि सोपान के निचले डण्डे से। प्राय न्यायाधीश अपने पद पर नियुक्त होते समय प्रौढ आयु के होते हैं और वे ऊँचे दर्जे के वकीलो में से चुने जाते हैं। जहाँ एक बार किसी की नियुक्ति हुई, फिर न तो उसे शासन से कोई कृपाकांक्षा रहती है न वह किसी अन्य व्यक्ति की ओर निहारता है। किसी काउण्टी के न्यायाधीश को हाई कोर्ट (High Court) के न्यायाधीश बनने की सम्भावना नही रहती। यदि कोई न्यायाधीश पदोन्नत होकर हाई कोर्ट से कोर्ट आफ अपील (Court of Appeal) या लार्ड सभा में भी पहुँच जाय, तो भी इससे कोई विशेष अन्तर नही पडता, यद्यपि किसी अश तक सम्बन्धित न्यायाधीश की प्रतिष्ठा एव आय में वृद्धि अवश्य हो जाती है। इसका फल यह है कि न्यायाधीश आमतौर पर शासन के गुलाम नही होते, वल्कि उसके आलोचक होते हैं और वे अपने आपको साधारण नागरिक की स्वतन्त्रताओ का रक्षक मानते हैं और जहाँ कही नौकरशाही की निरकुशता देखते हैं, उसकी भर्त्सना करते है।

(९) अन्तश इगलैंड में न्यायिक कार्यवाही शीघ्र होती है और मुक़दमों के निर्णय शीघ्र होते हैं। इसके दो कारण है। प्रथमत, इगलैंड के न्यायाधीशो को वैधिक परिभापाओ (Legal technicalities) के निर्वचन में पर्याप्त स्वतन्त्रता मिली

करना चाहें तो वे न्याय के विरुद्ध भी जा सकते हैं। और यदि कही देश की विधि प्रचलित जनमत से मेल नही खाती, तो वहाँ वे अभियुक्त को दण्ड देना अस्वीकार कर सकते हैं। कठिन मामलो में विधि के अनुकूल निर्णय करना, जो किसी भी मानवीय एव पक्षपात विमुक्त न्याय-प्रणाली के लिये अत्यन्त आवश्यक है, उन लोगो के अधिकार में नही दिया गया है जो शासन के नियन्त्रण में अधिकारियो के रूप में नियुक्त किये जाते हैं, अपितु बिना किसी क्रम के छाँटे हुए नागरिकों के हाथों में दे दिया जाता है जो हर मुकदमे के निर्णय के लिये सारी जनता में से यूं ही छाँट लिये जाते हैं और अपना कर्त्तव्य समाप्त करने के बाद जो तुरन्त उसी अज्ञात अवस्था में पहुँच जाते हैं जहाँ से वे आये थे। कई अवसरो पर जहाँ किसी नागरिक की स्वतन्त्रता की रक्षा का प्रश्न था इन अभिनिर्णायिक वृन्द (Juries) ने देश की प्रचलित किन्तु सकुचित (Illiberal) विधि पर कठोर प्रहार भी कर दिया है।

(८) अभिनिर्णायिको (Juries) की स्वतन्त्रता पहिले ही मान ली गई थी यद्यपि न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता उसके पश्चात् मानी गई। न्यायाधीशगण अपने पदो पर वैधिक आज्ञानुसार सुरक्षित हैं, इसके अतिरिक्त जिस प्रकार उनकी नियुक्ति होती है, उससे भी उनकी स्वतन्त्रता को बल मिलता है। अधिकतर अन्य देशो में न्यायाधीश अपने न्यायाधीश-जीवन को निचले दर्जे से प्रारम्भ करते हैं और धीरे-धीरे उन्नति करके ऊपर पहुँचते हैं। स्वभावत वे शासन के मुखापेक्षी बने रहते हैं या फिर सम्भवत आम चुनावो पर आशायें लगाये रहते हैं, और इस प्रकार कोई कमजोर चरित्र वाला व्यक्ति ऐसी अवस्था में अपनी स्वतन्त्रता बेच सकता है ताकि वे ऐसे लोगो को प्रसन्न कर सके जो उसकी भविष्य की आशाओं को पूरी कर सकें। इसके विपरीत, इगलैंड मे न्यायाधीश शिखर से जीवन प्रारम्भ करता है न कि सोपान के निचले डण्डे से। प्राय न्यायाधीश अपने पद पर नियुक्त होते समय प्रौढ़ आयु के होते हैं और वे ऊँचे दर्जे के वकीलो में से चुने जाते हैं। जहाँ एक बार किसी की नियुक्ति हुई, फिर न तो उसे शासन से कोई कृपाकांक्षा रहती है न वह किसी अन्य व्यक्ति की ओर निहारता है। किसी काउण्टी के न्यायाधीश को हाई कोर्ट (High Court) के न्यायाधीश बनने की सम्भावना नही रहती। यदि कोई न्यायाधीश पदोन्नत होकर हाई कोर्ट से कोर्ट आफ अपील (Court of Appeal) या लार्ड सभा में भी पहुँच जाय, तो भी इससे कोई विशेष अन्तर नही पडता, यद्यपि किसी अश तक सम्बन्धित न्यायाधीश की प्रतिष्ठा एव आय में वृद्धि अवश्य हो जाती है। इसका फल यह है कि न्यायाधीश आमतौर पर शासन के गुलाम नही होते, बल्कि उसके आलोचक होते हैं और वे अपने आपको साधारण नागरिक की स्वतन्त्रताओं का रक्षक मानते हैं और जहाँ कही नौकरशाही की निरकुशता देखते हैं, उसकी भर्त्सना करते हैं।

(९) अन्तत इगलैंड में न्यायिक कार्यवाही शीघ्र होती है और मुक़दमो के निर्णय शीघ्र होते है। इसके दो कारण है। प्रथमत, इगलैंड के न्यायाधीशो को वैधिक परिभाषाओ (Legal technicalities) के निर्वचन में पर्याप्त स्वतन्त्रता मिली

करना चाहें तो वे न्याय के विरुद्ध भी जा सकते हैं। और यदि कहीं देश की विधि प्रचलित जनमत से मेल नही खाती, तो वहाँ वे अभियुक्त को दण्ड देना अस्वीकार कर सकते हैं। कठिन मामलो में विधि के अनुकूल निर्णय करना, जो किसी भी मानवीय एव पक्षपात विमुक्त न्याय-प्रणाली के लिये अत्यन्त आवश्यक है, उन लोगो के अधिकार मे नही दिया गया है जो शासन के नियन्त्रण में अधिकारियों के रूप में नियुक्त किये जाते हैं, अपितु बिना किसी क्रम के छाँटे हुए नागरिको के हाथो में दे दिया जाता है जो हर मुकदमे के निर्णय के लिये सारी जनता में से यूँ ही छाँट लिये जाते हैं और अपना कर्त्तव्य समाप्त करने के बाद जो तुरन्त उसी अज्ञात अवस्था में पहुँच जाते हैं जहाँ से वे आये थे। कई अवसरो पर जहाँ किसी नागरिक की स्वतन्त्रता की रक्षा का प्रश्न था इन अभिनिर्णायिक वृन्द (Juries) ने देश की प्रचलित किन्तु सकुचित (Illiberal) विधि पर कठोर प्रहार भी कर दिया है।

(८) अभिनिर्णायको (Juries) की स्वतन्त्रताँ पहिले ही मान ली गई थी यद्यपि न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता उसके पश्चात् मानी गई। न्यायाधीशगण अपने पदो पर वैधिक आज्ञानुसार सुरक्षित हैं, इसके अतिरिक्त जिस प्रकार उनकी नियुक्ति होती है, उससे भी उनकी स्वतन्त्रता को बल मिलता है। अधिकतर अन्य देशो में न्यायाधीश अपने न्यायाधीश-जीवन को निचले दर्जे से प्रारम्भ करते हैं और धीरे-धीरे उन्नति करके ऊपर पहुँचते हैं। स्वभावत वे शासन के मुखापेक्षी बने रहते हैं या फिर सम्भवत आम चुनावो पर आशायें लगाये रहते हैं, और इस प्रकार कोई कमजोर चरित्र वाला व्यक्ति ऐसी अवस्था में अपनी स्वतन्त्रता बेच सकता है ताकि वे ऐसे लोगो को प्रसन्न कर सके जो उसकी भविष्य की आशाओ को पूरी कर सकें। इसके विपरीत, इगलैंड मे न्यायाधीश शिखर से जीवन प्रारम्भ करता है न कि सोपान के निचले डण्डे से। प्राय न्यायाधीश अपने पद पर नियुक्त होते समय प्रौढ आयु के होते हैं और वे ऊँचे दर्जे के वकीलो में से चुने जाते हैं। जहाँ एक बार किसी की नियुक्ति हुई, फिर न तो उसे शासन से कोई कृपाकांक्षा रहती है न वह किसी अन्य व्यक्ति की ओर निहारता है। किसी काउण्टी के न्यायाधीश को हाई कोर्ट (High Court) के न्यायाधीश बनने की सम्भावना नही रहती। यदि कोई न्यायाधीश पदोन्नत होकर हाई कोर्ट से कोर्ट आफ अपील (Court of Appeal) या लार्ड सभा में भी पहुँच जाय, तो भी इससे कोई विशेष अन्तर नही पडता, यद्यपि किसी अश तक सम्बन्धित न्यायाधीश की प्रतिष्ठा एव आय में वृद्धि अवश्य हो जाती है। इसका फल यह है कि न्यायाधीश आमतौर पर शासन के गुलाम नही होते, बल्कि उसके आलोचक होते हैं और वे अपने आपको साधारण नागरिक की स्वतन्त्रताओ का रक्षक मानते हैं और जहाँ कही नौकरशाही की निरकुशता देखते हैं, उसकी भर्त्सना करते हैं।

(९) अन्तत इगलैंड में न्यायिक कार्यवाही शीघ्र होती है और मुक़दमो के निर्णय शीघ्र होते हैं। इसके दो कारण हैं। प्रथमत, इगलैंड के न्यायाधीशो को वैधिक परिभाषाओ (Legal technicalities) के निर्वचन में पर्याप्त स्वतन्त्रता मिली

करना चाहें तो वे न्याय के विरुद्ध भी जा सकते हैं। और यदि कही देश की विधि प्रचलित जनमत से मेल नही खाती, तो वहाँ वे अभियुक्त को दण्ड देना अस्वीकार कर सकते हैं। कठिन मामलो में विधि के अनुकूल निर्णय करना, जो किसी भी मानवीय एव पक्षपात विमुक्त न्याय-प्रणाली के लिये अत्यन्त आवश्यक है, उन लोगो के अधिकार में नही दिया गया है जो शासन के नियन्त्रण में अधिकारियो के रूप में नियुक्त किये जाते हैं, अपितु बिना किसी क्रम के छाँटे हुए नागरिकों के हाथो में दे दिया जाता है जो हर मुकदमे के निर्णय के लिये सारी जनता में से यूं ही छाँट लिये जाते हैं और अपना कर्त्तव्य समाप्त करने के बाद जो तुरन्त उसी अज्ञात अवस्था में पहुँच जाते हैं जहाँ से वे आये थे। कई अवसरों पर जहाँ किसी नागरिक की स्वतन्त्रता की रक्षा का प्रश्न था इन अभिनिर्णायिक वृन्द (Juries) ने देश की प्रचलित किन्तु संकुचित (Illiberal) विधि पर कठोर प्रहार भी कर दिया है।

(८) अभिनिर्णायिको (Juries) की स्वतन्त्रता पहिले ही मान ली गई थी यद्यपि न्यायाधीशो की स्वतन्त्रता उसके पश्चात् मानी गई। न्यायाधीशगण अपने पदो पर वैधिक आज्ञानुसार सुरक्षित हैं, इसके अतिरिक्त जिस प्रकार उनकी नियुक्ति होती है, उससे भी उनकी स्वतन्त्रता को बल मिलता है। अधिकतर अन्य देशो में न्यायाधीश अपने न्यायाधीश-जीवन को निचले दर्जे से प्रारम्भ करते हैं और धीरे-धीरे उन्नति करके ऊपर पहुँचते हैं। स्वभावत वे शासन के मुखापेक्षी बने रहते हैं या फिर सम्भवत आम चुनावो पर आशायें लगाये रहते हैं, और इस प्रकार कोई कमजोर चरित्र वाला व्यक्ति ऐसी अवस्था में अपनी स्वतन्त्रता बेच सकता है ताकि वे ऐसे लोगो को प्रसन्न कर सके जो उसकी भविष्य की आशाओ को पूरी कर सकें। इसके विपरीत, इगलैड में न्यायाधीश शिखर से जीवन प्रारम्भ करता है न कि सोपान के निचले डण्डे से। प्राय न्यायाधीश अपने पद पर नियुक्त होते समय प्रौढ आयु के होते हैं और वे ऊँचे दर्जे के वकीलो में से चुने जाते हैं। जहाँ एक बार किसी की नियुक्ति हुई, फिर न तो उसे शासन से कोई कृपाकांक्षा रहती है न वह किसी अन्य व्यक्ति की ओर निहारता है। किसी काउण्टी के न्यायाधीश को हाई कोर्ट (High Court) के न्यायाधीश बनने की सम्भावना नही रहती। यदि कोई न्यायाधीश पदोन्नत होकर हाई कोर्ट से कोर्ट आफ अपील (Court of Appeal) या लार्ड सभा में भी पहुँच जाय, तो भी इससे कोई विशेष अन्तर नही पडता, यद्यपि किसी अश तक सम्बन्धित न्यायाधीश की प्रतिष्ठा एव आय में वृद्धि अवश्य हो जाती है। इसका फल यह है कि न्यायाधीश आमतौर पर शासन के गुलाम नही होते, बल्कि उसके आलोचक होते हैं और वे अपने आपको साधारण नागरिक की स्वतन्त्रताओ का रक्षक मानते हैं और जहाँ कही नौकरशाही की निरकुशता देखते हैं, उसकी भर्त्सना करते हैं।

(९) अन्तत इगलैड में न्यायिक कार्यवाही शीघ्र होती है और मुकदमो के निर्णय शीघ्र होते है। इसके दो कारण है। प्रथमत, इगलैड के न्यायाधीशो को वैधिक परिभाषाओ (Legal technicalities) के निर्वचन में पर्याप्त स्वतन्त्रता मिली

हुई है। द्वितीयत, न्यायिक कार्य-प्रणाली के नियम एक विशिष्ट 'न्यायिक नियम समिति' (Rule Committee) के द्वारा तैयार किये जाते हैं जिनमें लार्ड चासलर (Lord Chancellor) और दस अन्य वैधिक ज्ञान-युक्त व्यक्ति होते हैं। वे वैधिक परिभाषाओ अथवा न्यायिक कठिनाइयो को समझते हे अतः इस प्रकार के नियम बनाते हैं जिससे शीघ्र न्याय मिल सके। ऐसा उस समय सम्भव नही हो सकता जबकि न्यायिक कार्य-प्रणाली के नियम विधानमण्डल द्वारा निर्मित हो, जैसा कि सयुक्तराज्य अमेरिका में होता है, जहाँ विधानमण्डल में न्याय-व्यवस्था की दृष्टि से अविशेषज्ञ लोग होते हैं। "इसलिये इगलैंड के न्यायालय वकीलो को कानूनी छल (Pettifogging), दीर्घसूत्रता (Dilatory), और बाल की खाल खेंचने की आज्ञा नही देते, जैसा कि अमेरिका के न्यायालयो में प्राय देखा जाता है। न्यायाधीश अपने न्यायालय पर शासन करता है, काम को जल्दी-जल्दी समाप्त करता है और जहाँ तक कोई विशेष कारण न हो, वह अपनी आज्ञाओ के विरुद्ध अपील नहीं करने देता"।[1] इसके अतिरिक्त छोटे न्यायालयो से जो अपीलें हाई कोर्ट (High Courts) को जाती हे, उनमें निम्न न्यायालयो के निर्णयो को साधारण पारिभाषिक गलतियो पर उलट नही दिया जाता।

विधि का शासन

(Rule of Law)

विधि के शासन से आप क्या समझते हैं (What does it mean)—अंग्रेजी सविधान की एक विशिष्ट देन है 'विधि का शासन'। यह देश की सामान्य विधि (Common Law) पर आधारित है और सर्वसाधारण की अपने स्वाभाविक अधिकारो और विशेषाधिकारो की रक्षार्थ सैकडो वर्ष तक किये गये सघर्ष का फल है। इसके तीन अर्थ हे। प्रथमत, ब्रिटेन में विधि ही सर्वोच्च है। स्वेच्छाचारी अधिकार नाम की कोई चीज इगलैंड में नही है, और देश का शासन, प्रशासन के लिये जो भी नियम बनावे, वह विधि के अनुसार होना चाहिए,—या तो ससद् द्वारा पारित सविधि (Statute) के अनुसार होना चाहिये अथवा सामान्य विधि अथवा सार्वजनीन विधि (Common Law) के उन प्राचीन सिद्धान्तो के अनुसार होना चाहिये जिनको सैकडो वर्षों मे देश में मान्यता प्राप्त है। द्वितीयत, हर एक व्यक्ति विधि के आधीन है और कोई यह कह कर अपने आप को नही बचा सकता कि मैंने ऐसा काम किसी अन्य व्यक्ति की आज्ञा से किया। हर एक व्यक्ति का कर्त्तव्य विधि का पालन करना है। तृतीयत, विधि के शासन की इच्छा है कि शासन ससद् का दास होगा, और ससद् के माध्यम द्वारा शासन सर्वसाधारण का दास होगा। दूसरे शब्दो में इसी को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि किसी हद तक ससद् को प्रभुता इसीलिये मान्य है क्योंकि विधि का शासन (Rule of Law) मान्य है।

---

[1] Munroe and Ayearst The Governments of Europe, p 266.

करना चाहें तो वे न्याय के विरुद्ध भी जा सकते हैं। और यदि कहीं देश की विधि प्रचलित जनमत से मेल नही खाती, तो वहाँ वे अभियुक्त को दण्ड देना अस्वीकार कर सकते हैं। कठिन मामलो में विधि के अनुकूल निर्णय करना, जो किसी भी मानवीय एव पक्षपात विमुक्त न्याय-प्रणाली के लिये अत्यन्त आवश्यक है, उन लोगो के अधिकार में नही दिया गया है जो शासन के नियन्त्रण में अधिकारियो के रूप में नियुक्त किये जाते हैं, अपितु बिना किसी क्रम के छाँटे हुए नागरिको के हाथो में दे दिया जाता है जो हर मुकदमे के निर्णय के लिये सारी जनता में से यूं ही छाँट लिये जाते हैं और अपना कर्त्तव्य समाप्त करने के बाद जो तुरन्त उसी अज्ञात अवस्था में पहुँच जाते हैं जहाँ से वे आये थे। कई अवसरो पर जहाँ किसी नागरिक की स्वतन्त्रता की रक्षा का प्रश्न था इन अभिनिर्णायिक वृन्द (Juries) ने देश की प्रचलित किन्तु सकुचित (Illiberal) विधि पर कठोर प्रहार भी कर दिया है।

(८) अभिनिर्णायिको (Juries) की स्वतन्त्रता पहिले ही मान ली गई थी यद्यपि न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता उसके पश्चात् मानी गई। न्यायाधीशगण अपने पदो पर वैधिक आज्ञानुसार सुरक्षित हैं, इसके अतिरिक्त जिस प्रकार उनकी नियुक्ति होती है, उससे भी उनकी स्वतन्त्रता को बल मिलता है। अधिकतर अन्य देशो में न्यायाधीश अपने न्यायाधीश-जीवन को निचले दर्जे से प्रारम्भ करते हैं और धीरे-धीरे उन्नति करके ऊपर पहुँचते हैं। स्वभावत वे शासन के मुखापेक्षी बने रहते हैं या फिर सम्भवत आम चुनावो पर आशायें लगाये रहते हैं, और इस प्रकार कोई कमजोर चरित्र वाला व्यक्ति ऐसी अवस्था में अपनी स्वतन्त्रता बेच सकता है ताकि वे ऐसे लोगो को प्रसन्न कर सके जो उसकी भविष्य की आशाओ को पूरी कर सकें। इसके विपरीत, इगलैंड मे न्यायाधीश शिखर से जीवन प्रारम्भ करता है न कि सोपान के निचले डण्डे से। प्राय न्यायाधीश अपने पद पर नियुक्त होते समय प्रौढ आयु के होते हैं और वे ऊँचे दर्जे के वकीलो में से चुने जाते हैं। जहाँ एक बार किसी की नियुक्ति हुई, फिर न तो उसे शासन से कोई कृपाकांक्षा रहती है न वह किसी अन्य व्यक्ति की ओर निहारता है। किसी काउण्टी के न्यायाधीश को हाई कोर्ट (High Court) के न्यायाधीश बनने की सम्भावना नही रहती। यदि कोई न्यायाधीश पदोन्नत होकर हाई कोर्ट से कोर्ट आफ अपील (Court of Appeal) या लार्ड सभा में भी पहुँच जाय, तो भी इससे कोई विशेष अन्तर नही पडता, यद्यपि किसी अश तक सम्बन्धित न्यायाधीश की प्रतिष्ठा एव आय में वृद्धि अवश्य हो जाती है। इसका फल यह है कि न्यायाधीश आमतौर पर शासन के गुलाम नही होते, बल्कि उसके आलोचक होते हैं और वे अपने आपको साधारण नागरिक की स्वतन्त्रताओ का रक्षक मानते हैं और जहाँ कही नौकरशाही की निरकुशता देखते हैं, उसकी भर्त्सना करते हैं।

(९) अन्तश इगलैंड में न्यायिक कार्यवाही शीघ्र होती है और मुक़दमों के निर्णय शीघ्र होते है। इसके दो कारण है। प्रथमत, इगलैंड के न्यायाधीशो को वैधिक परिभाषाओ (Legal technicalities) के निर्वचन में पर्याप्त स्वतन्त्रता मिली

हुई है। द्वितीयत, न्यायिक कार्य-प्रणाली के नियम एक विशिष्ट 'न्यायिक नियम समिति' (Rule Committee) के द्वारा तैयार किये जाते हैं जिनमें लार्ड चासलर (Lord Chancellor) और दस अन्य वैधिक ज्ञान-युक्त व्यक्ति होते हैं। वे वैधिक परिभाषाओ अथवा न्यायिक कठिनाइयो को समझते हैं अतः इस प्रकार के नियम बनाते हैं जिससे शीघ्र न्याय मिल सके। ऐसा उस समय सम्भव नही हो सकता जबकि न्यायिक कार्य-प्रणाली के नियम विधानमण्डल द्वारा निर्मित हो, जैसा कि सयुक्तराज्य अमेरिका में होता है, जहाँ विधानमण्डल में न्याय-व्यवस्था की दृष्टि से अविशेषज्ञ लोग होते हैं। "इसलिये इगलैंड के न्यायालय वकीलो को कानूनी छल (Pettifogging), दीर्घसूत्रता (Dilatory), और बाल की खाल खेंचने की आज्ञा नही देते, जैसा कि अमेरिका के न्यायालयो में प्राय देखा जाता है। न्यायाधीश अपने न्यायालय पर शासन करता है, काम को जल्दी-जल्दी समाप्त करता है और जहाँ तक कोई विशेष कारण न हो, वह अपनी आज्ञाओ के विरुद्ध अपील नही करने देता"।[1] इसके अतिरिक्त छोटे न्यायालयो से जो अपीलें हाई कोर्ट (High Courts) को जाती है, उनमें निम्न न्यायालयो के निर्णयो को साधारण पारिभाषिक गलतियो पर उलट नही दिया जाता।

विधि का शासन
(Rule of Law)

विधि के शासन से आप क्या समझते हैं (What does it mean)—अंग्रेजी सविधान की एक विशिष्ट देन है 'विधि का शासन'। यह देश की सामान्य विधि (Common Law) पर आधारित है और सर्वसाधारण की अपने स्वाभाविक अधिकारो और विशेषाधिकारो की रक्षार्थ सैकडो वर्ष तक किये गये संघर्ष का फल है। इसके तीन अर्थ हैं। प्रथमत, ब्रिटेन में विधि ही सर्वोच्च है। स्वेच्छाचारी अधिकार नाम की कोई चीज इगलैंड में नहीं है, और देश का शासन, प्रशासन के लिये जो भी नियम बनावे, वह विधि के अनुसार होना चाहिए,—या तो ससद् द्वारा पारित सविधि (Statute) के अनुसार होना चाहिये अथवा सामान्य विधि अथवा सार्वजनीन विधि (Common Law) के उन प्राचीन सिद्धान्तो के अनुसार होना चाहिये जिनको सैकडो वर्षो मे देश में मान्यता प्राप्त है। द्वितीयत, हर एक व्यक्ति विधि के आधीन है और कोई यह कह कर अपने आप को नही बचा सकता कि मैंने ऐसा काम किसी अन्य व्यक्ति की आज्ञा से किया। हर एक व्यक्ति का कर्त्तव्य विधि का पालन करना है। तृतीयत, विधि के शासन की इच्छा है कि शासन ससद् का दास होगा, और ससद् के माध्यम द्वारा शासन सर्वसाधारण का दास होगा। दूसरे शब्दो में इसी को इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है कि किसी हद तक ससद् की प्रभुता इसीलिये मान्य है क्योंकि विधि का शासन (Rule of Law) मान्य है।

---

[1] Munroe and Ayearst The Governments of Europe, p 266.

विधि के शासन के सम्बन्ध में डायसी की व्याख्या (Dicey's exposition of the Rule of Law)—डा० ए० वी० डायसी (Dr. A. V. Dicey) ने विधि के शासन के सिद्धान्त की सूत्र रूप में व्याख्या की है। डायसी ने विधि के शासन के तीन अर्थ निकाले।[1] प्रथमत इसका अर्थ है कि "न तो किसी को दण्ड दिया जा सकता है न किसी को शारीरिक कष्ट अथवा आर्थिक हानि पहुँचाई जा सकती है जब तक कि कोई व्यक्ति स्पष्टत. विधि के विरुद्ध आचरण न करे और वह विधि विरुद्ध आचरण देश के सामान्य न्यायालय में सिद्ध न हो जाये। इस अर्थ में विधि के शासन की अन्य किसी भी ऐसे प्रकार के शासन से तुलना की गई है जिसमें ऐसे व्यक्तियो के हाथो में अधिकार हो जो असीम स्वेच्छाचारी एव मदपूर्ण स्वविवेकी अधिकारो से सज्जित हों और जिनके द्वारा सर्वसाधारण की स्वतन्त्रताओ में अभिबाधा (Constraint) डाली जाती हो।" इस सिद्धान्त का यह अर्थ भी ध्वनित होता है कि मनमाने ढग से किसी व्यक्ति की न तो जान ली जा सकती है, न उसकी सम्पत्ति अथवा स्वतन्त्रता का अपहरण किया जा सकता है, न किसी को गिरफ्तार या सजा की जा सकती है जब तक कि उसके विरुद्ध विधि विरुद्ध आचरण का अभियोग किसी ऐसे न्यायालय में सिद्ध न हो जाय जिसकी स्थापना देश की विधि के अनुसार की गई हो। किसी भी अभियोग की सुनवाई बन्द कमरे में नही हो सकती बल्कि खुले हुए न्यायालय में होनी चाहिये जिसमें सभी जा सकते हैं। अभियुक्त को अधिकार है कि वह अपनी रक्षा के लिए वकील कर सकता है और सभी गम्भीर फौजदारी के मामलो में अभिनिर्णायकगण (Jury) निर्णय देते हैं। निर्णय खुली कचहरी में दिया जाता है और अभियुक्त को छूट रहती है कि यदि वह चाहे तो ऊँचे न्यायालयो में अपील कर सकता है। इस सबके फलस्वरूप अधिशासी स्वेच्छाचारिता और निर्दयता अथवा कठोरता के लिये कम से कम अवसर रह जाता है।

द्वितीयत , विधि के शासन का अर्थ यह है "हमारे देश में कोई भी व्यक्ति विधि के ऊपर ही नही है बल्कि इस देश में प्रत्येक व्यक्ति, चाहे वह कितना भी बडा या महान् हो, इस देश की सामान्य विधि को मानने के लिये बाध्य है और देश का प्रत्येक नागरिक किसी भी सामान्य न्यायालय के अधिकार क्षेत्र की परिधि में आ जाता है। प्रथमत इस सिद्धान्त का अर्थ यह है कि देश का प्रत्येक नागरिक विधि के सम्मुख समान है चाहे उसका अधिकारी पद अथवा उसकी सामाजिक स्थिति कैसी भी हो। द्वितीयत इसका यह भी अर्थ है कि इगलैंड में सब के लिये एक ही प्रकार की विधि है जो सभी अग्रेजो के लिये मान्य है। सभी ऊँचे अथवा नीचे अधिकारी अपने प्रत्येक कृत्य के लिये विधि के सम्मुख समान रूप से उत्तरदायी हैं। यदि शासन के अधिकारी किसी व्यक्ति के साथ अन्याय करते हैं अथवा यदि वे अपनी

---

[1] Law of the Constitution, 8th edition, (1930), pp 179 Also refer to Jennings The Law and the Constitution, 3rd edition, Chapter II

उन शक्तियों अथवा अधिकारो का अतिक्रमण करते है जो विधि ने उन्हें दी है तो ऐसे अधिकारियो के विरुद्ध सामान्य न्यायालयो में साधारण तरह से साधारण वैधिक नियमों के अनुसार दावा किया जा सकता है। विधि के सम्मुख सभी की समानता के कारण कार्यपालिका के द्वारा अन्याय, अत्याचार और अनुत्तरदायित्व की सम्भावना कम होती जाती है। विधि के सम्मुख सभी समान हैं, इस सिद्धान्त की और विस्तृत व्याख्या करते हुए डायसी (Dicey) कहता है, "हमारी सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था में प्रत्येक अधिकारी—प्रधान मन्त्री से लेकर कान्सटेबिल (Constable) या टैक्स कलेक्टर (Collector of Taxes) तक प्रत्येक अवैध कृत्य के लिए समान उत्तरदायित्व वहन करता है और इस सम्बन्ध में सभी अधिकारी और सभी नागरिक समान हैं।"

अन्तश विधि के शासन का यह भी अर्थ है कि अग्रेजो में "सविधान के सामान्य सिद्धान्त उन न्यायिक निर्णयो के फल है जो न्यायालयो के समक्ष समय-समय पर लाये हुए मुकदमो में दिये गये और जिनके द्वारा सामान्य नागरिको के अधिकारों की मर्यादा की रक्षा हुई।" इगलैण्ड में सविधान, नागरिको के अधिकारो की गारटी नही करता, वल्कि नागरिको की स्वतन्त्रता का आधार न्यायिक निर्णय है जिस प्रकार कि प्रसिद्ध विल्क्स विवाद (Wilkes Case) के निर्णय के द्वारा एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त की स्थापना हुई।

डायसी की व्याख्या का परीक्षण (How far Dicey's exposition is true ?)—प्रोफेसर डायसी विधि के शासन का प्रवल समर्थक था। उसकी मान्यता थी कि इगलैंड में विधि के शासन के होने के कारण ही स्वतन्त्रता थी। किन्तु वास्तव में डायसी ने विधि के शासन के सम्बन्ध में जो व्याख्या प्रस्तुत की है वह पूर्णतया सही नही है। डायसी ने स्वय इन असगतियो को स्वीकार किया यद्यपि उसकी स्वीकारोक्ति का उस सर्वत्र फैली हुई भ्रान्ति पर प्राय कोई प्रभाव नही पडा जो उसके भ्रान्त विचारो के कारण पूरी तरह प्रभावी हो चुकी थी।"[1]

विधि के शासन के सम्बन्ध में डायसी ने जो पहिली व्याख्या की है, उस दिशा में स्वेच्छाचारी शक्ति (Arbitrary power) और स्वविवेकी अधिकार (Discretionary authority) में जो भेद है, उसे समझना होगा। इगलैण्ड के सविधानिक शासन का अब भी यह मान्य एव आवश्यक सिद्धान्त है कि स्वेच्छाचारी शक्तियो का प्रयोग नही होना चाहिये। जहाँ डायसी (Dicey) ने सामान्य विधि (Ordinary Law) का प्रयोग किया है, वहाँ उसका अर्थ है इगलैंड की सामान्य अथवा सार्वजनीन विधि (Common Law) से अथवा सविधि (Statute Law) से। आज की दण्ड विधि (Criminal Law) में अनेको ऐसे अपराध सम्मिलित है जिनका जन्म परि-

---

१. Champion and others British Government since 1918.
Robson, W. A Administrative Law in England, p. 86.

नियम अथवा सविधि विनियमो (Statutory regulations)[1] से हुआ है। इस प्रकार शासन के विभाग अथवा अनुवर्त्ती निकाय विनियमो (Regulations) द्वारा नये-नये अपराधो का सृजन करते है। इस प्रकार के विनियमो सम्बन्धी अधिकार का प्रयोग आधुनिक राज्यो के लिये प्राय अपरिहार्य हो गया है। प्रदत्त अथवा प्रत्यायुक्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation) की वृद्धि विधि के शासन के सिद्धान्त से मेल नही खाती।

जहाँ कही प्रदत्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation) का व्यवहार है, वहाँ स्वविवेकी अधिकार का होना आवश्यक है। यदि स्वविवेकी अधिकार (Discretionary Authority) का प्रयोग विधि के शासन (Rule of Law) के विरुद्ध है, ऐसी स्थिति मे विधि के शासन के लिये किसी भी आधुनिक शासन-व्यवस्था में कोई स्थान नही है। जब डा० डायसी (Dicey) ने १८८५ में अपनी प्रसिद्ध पुस्तक लॉ आफ दी कॉन्सटीट्यूशन (Law of the Constitution) का प्रथम सस्करण निकाला, उस समय किसी भी राज्य के कर्त्तव्य केवल मात्र शान्ति की व्यवस्था, प्रतिरक्षा और विदेश सम्बन्धो का निर्वहन थे। आजकल किसी भी राज्य के कत्तव्य अधिक निश्चित हैं और वे राष्ट्रीय जीवन पर विभिन्न प्रकार से प्रभाव डालते हैं। इस प्रकार शासन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वविवेकी शक्तियो का प्रयोग अपरिहार्य है। कहने का सार यह है कि स्वविवेकी शक्तियो (Discretionary Powers) का अर्थ स्वेच्छाचारी शक्ति (Arbitrary Power) नही हैं। स्वेच्छाचारी शक्ति का अर्थ उस शक्ति वा अधिकार से है जिस का प्रयोग ऐसे लोग करें जो न तो किसी के प्रति उत्तरदायी हो और न जिनके ऊपर किसी का नियत्रण हो।

डायसी ने जिस द्वितीय अर्थ में विधि के शासन को लिया है, वह भी सदिग्ध है। प्रथमत, क्राउन प्रोसीडिंग्ज अधिनियम १९४७ (Crown Proceedings Act, 1947) के प्रवर्त्तन के बाद भी शासन के अधिकारियो के पास कतिपय विशेषाधिकार एव विमुक्तियाँ हैं जिनसे सार्वजनिक अधिकारी और उनके अफसर लाभ उठा सकते हैं। १८९३ का पब्लिक ऑथॉरिटीज अधिनियम जिसको १९३९ के लिमिटेशन एक्ट की धारा २१ ने सशोधित किया (The Public Authorities Protection Act, 1893, as amended by Section 21 of the Limitation Act of 1939) के द्वारा यह आवश्यक कर दिया गया है कि किसी भी राज्य के अधिकारी द्वारा अपने अधिकारो का अतिक्रमण, उपेक्षा अथवा त्रुटि प्रदर्शित करने पर जो उसके विरुद्ध कार्यवाही की जायगी वह उस अपराध (Act) के छ मास के अन्दर प्रारम्भ हो जानी चाहिये। यदि ऐसा नही होगा तो वह सारी अनुशासनात्मक कार्यवाही ठप हो जायगी। यदि इस प्रकार किसी नागरिक का सार्वजनिक अधिकारी के विरुद्ध दावा खारिज हो जाता है तो उसे उस मुकदमे के खर्चे के रूप में भारी रकम जुर्माना स्वरूप देनी पडती है। अपने न्यायिक निर्णयो में न्यायाधीश जो भी कहें या करें, चाहे वे अपने अधिकार

---

[1] See *Ante* Chapter VIII

क्षेत्र[1] का अतिक्रमण भी कर जाय, उसके लिये वे किसी के प्रति उत्तरदायी नही हैं।

द्वितीयत, सभी सभ्य राज्यो के समान इगलैड भी अन्य राज्यो के नागरिको और उनकी सम्पत्ति को, उनके शासको एव कूटनीतिक अधिकारियो को न्यायालयो की कार्य-प्रणाली, मुकदमा आदि के सम्बन्ध में कतिपय विमुक्तियाँ प्रदान करता है, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि उनके ऊपर देश की विधि लागू ही नही है।[2] अन्तर्राष्ट्रीय नियमो के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय आयोगो के सदस्यो एव अधिकारियो को इस प्रकार की विमुक्तियाँ प्राप्त हैं और विशेष रूप से १९४४ के बाद इस दिशा में इन विमुक्तियों का पूर्ण पालन हुआ है। तृतीयत, एक या दो ऐसे भी उदाहरण हैं जिनमें आन्तरिक राजनीतिक आवश्यकताओ के कारण विशेष विमुक्तियाँ देनी पडी थी। १९०६ का ट्रेड डिस्प्यूट्स एक्ट (Trade Disputes Act of 1906) आज्ञा देता है कि ट्रेड यूनियन (Trade Union) के द्वारा यदि किसी व्यक्ति के शरीर या सम्पत्ति को कोई हानि (Tort) पहुँच जाय तो भी ट्रेड यूनियन के विरुद्ध किसी प्रकार की अदालती कार्यवाही नही की जा सकती। उसी प्रकार किसी अ-समामेलित (Un-incorporated) निकाय जैसे सामाजिक सभाओ (Social Clubs) अथवा दानशील सस्थाओ (Charitable Institutions) के विरुद्ध किसी प्रकार की कानूनी कार्यवाही नही हो सकती, यद्यपि ऐसी सस्थाओ के व्यक्तिगत सदस्य अथवा अधिकारी अपने किसी व्यक्तिगत दोष के कारण कानूनी पकड मे आ सकते हैं।

यह सत्य है कि राज्य के अधिकारी या कर्मचारी साधारण न्यायालयो के अधिकार क्षेत्र में आते हैं और इगलैड की विधि के सम्मुख ऐसे कोई विशेष अपराध नही होते जिनके लिये विशेष प्रकार के न्यायालयो की आवश्यकता पडती हो। किन्तु, पिछले चालीस वर्षों में शासन के विभागो को, जो डायसी के अर्थो में न्यायालय नही हैं ऐसे अनेको सम्बन्धो में अन्तिम निर्णय देने वाले न्यायालय बना दिये गये हैं, जो उन विभागो के अधिकार क्षेत्र में आते हैं। उदाहरणस्वरूप गृहमन्त्री (Home Secretary) को अधिकार है कि वह विदेशियों (Aliens) को स्वदेश के नागरिक का अधिकार प्रदान कर सकता है। उसको इस बात का भी पूर्ण अधिकार है कि वह किसी विदेशी नागरिक को देश छोडने का आदेश दे दे और उसके इन कृत्यो को किसी न्यायालय में चुनौती नही दी जा सकती। केवल क्राउन (Crown) को ही वैधिक रीति से पासपोर्ट (Passport) निकालने का अधिकार है, फिर भी, इस प्रकार के अधिकार के प्रयोग के विरुद्ध किसी न्यायालय में कोई वैधिक कायवाही नही की जा सकती।

उसी प्रकार स्वास्थ्य मन्त्री (The Minister of Health), राष्ट्रीय स्वास्थ्य

---

[1] न्यायाधीश को शासन सम्बन्धी निर्णयों में पूर्ण विमुक्ति प्राप्त नहीं है किन्तु न्यायिक कर्तव्य में उन्हें पूर्ण विमुक्ति प्राप्त है। इस प्रकार यदि न्यायाधीश हठपूर्वक किसी मामले की सुनवाई न करे तो उसके विरुद्ध कार्यवाही की जा सकती है किन्तु यदि वह गलत निर्णय भी दे डाले, तो भी उसके विरुद्ध कोई कार्यवाही नही की जा सकती —Report to Wade and Phillips op citd, Pp 236.

[2] Dickinson V. Delosar, (1930), I. K B 376

बीमा आयुक्त (National Health Insurance Commissioner), शिक्षा बोर्ड (The Board of Education), व्यापार बोर्ड (The Board of Trade), यातायात मन्त्री (The Minister of Transport), दी रेलवे रेट्स ट्रिब्यूनल (The Railway Rates Tribunal) एव अन्य अधिकारी वर्ग, जो देश के सामान्य न्यायालय नही है, न जिनको न्यायालयो के रूप में रचा गया था, अन्तिम रूप से ऐसे-ऐसे प्रश्नो का निबटारा कर डालते है जिनका सम्बन्ध व्यक्तियो और नागरिकों की सम्पत्ति से होता है। इस प्रकार शासन की प्रशासनिक शक्ति का काफी हद तक बँटवारा हो जाता है, और इसलिए डायसी के विधि के शासन (Rule of Law) सम्बन्धी सिद्धान्त पर व्यवहारत· पर्याप्त मर्यादाएँ लग चुकी हैं।

अन्तिम रूप से डायसी ने विधि के शासन के सम्बन्ध में जो तीसरा अर्थ लिया है, उस ओर डायसी केवल मौलिक राजनीतिक अधिकारो को ही स्वीकार करता है, और उसका कथन है कि यदि किसी नागरिक के मौलिक अधिकारो का अतिक्रमण होता है, तो वह न्यायालयों की शरण ले सकता है और उस सम्बन्ध में सविधान उसे गारन्टी नही देगा, अपितु देश की प्रचलित विधि ही उसके मौलिक अधिकारो की रक्षा करने मे समर्थ होगी। किन्तु डायसी का ध्यान उन अनेको अधिकारों की ओर नही गया जो सविधियो (Statutes) से प्राप्त हुए है जैसे पेंशन, इन्श्योरेंस एव मुफ्त शिक्षा इत्यादि। यहाँ तक कि सामान्य विधि (Common Law) द्वारा दिये गये इस प्रकार के अधिकारो जैसे वैयक्तिक स्वतन्त्रता का अधिकार, स्वरक्षा का अधिकार, अनधिकारपूर्ण गिरफ्तारी या आक्रमण या सजा के विरुद्ध न्यायालय की शरण लेने का अधिकार, विचार व्यक्त करने का अधिकार आदि का जन्म भी वास्तव में विभिन्न परिनियमो अथवा सविधियों मे ही हुआ है। बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) की व्यवस्था सामान्य विधि में भी थी किन्तु १६७९ और १८१६ के बन्दी प्रत्यक्षीकरण अधिनियमों (Habeas Corpus Acts of 1679 and 1816) के द्वारा बदी प्रत्यक्षीकरण की व्यवस्था को प्रभावी बनाया गया। किसी को गिरफ्तार करने का अधिकार कुछ तो सामान्य विधि (Common Law) से मिला है और कुछ ऐसी सविधियों (Statutes) से मिला है जैसे १९२५ का क्रिमिनल जस्टिस अधिनियम (Criminal Justice Act of 1925)। अपमानजनक लेख की विधि (Law of Libel) मुख्यत सामान्य विधि (Common Law) का अश है किन्तु अनेको इस प्रकार की सविधियां जैसे अपमानजनक लेख की विधि का सशोधन अधिनियम, १८८८ (The Law of Libel [Amendment] Act, 1888), समाचारपत्रो (Press) को कतिपय विशेषाधिकार प्रदान करती है। १९३६ का पब्लिक आर्डर एक्ट (Public Order Act of 1936), सार्वजनिक मीटिंग सम्बन्धी विधि (Law of Public Meeting) का महत्त्वपूर्ण भाग है।

निष्कर्ष (Conclusion)—आवश्यकता इस बात की है कि डायसी ने जिस रूप में विधि के शासन की व्याख्या की है उसमें आधुनिक अवस्थाओ एव आवश्यकताओं

के अनुरूप कतिपय सशोधन हो । विधि का शासन (Rule of Law) अब भी ब्रिटिश सविधान का सिद्धान्त है किन्तु "इसके साथ अनुत्तरदायी एव स्वेच्छाचारी अधिकार का पूर्ण निषेध तथा प्रदत्त व्यवस्थापन (Delegated Legislation) के ऊपर पर्याप्त नियन्त्रण एव उसके सम्बन्ध में विज्ञापन, विशेष रूप से जब प्रदत्त व्यवस्थापन के द्वारा दण्ड देने की व्यवस्था हो, सम्मिलित है और होने चाहियें । साथ ही जब किसी को स्वविवेकी अधिकार (Discretionary Powers) दिये जायँ तो यह भी जहाँ तक सम्भव हो स्पष्ट कर दिया जाय कि वे स्वविवेकी शक्तियाँ किस प्रकार प्रयुक्त की जायेंगी । साथ ही, इसके अतिरिक्त प्रत्येक नागरिक को, चाहे वह सामान्य नागरिक हो अथवा शासन का अधिकारी, एक ही प्रकार की विधि के प्रति उत्तरदायी होना चाहिए । यदि किसी व्यक्ति विशेष को कतिपय प्राइवेट अधिकार देना अभीष्ट है तो ऐसे अधिकार केवल किसी स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायालय के द्वारा ही दिये जा सकते हैं और साथ ही यह भी होना चाहिए कि मौलिक व्यक्तिगत अथवा प्राइवेट अधिकारों (Fundamental Private Rights) की देश की सामान्य विधि से ही रक्षा होनी चाहिए ।"[1] जहाँ तक विधि के शासन के सिद्धान्त का सम्बन्ध ससद् की प्रभुता से है, अन्ततोगत्वा इस सिद्धान्त के अनुसार ससद् के उस राजनीतिक दल को अपना आचरण ठीक करना चाहिए जिसका ससद् में बहुमत है, और जो व्यवस्थापन के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण रखता है ।

Suggested Readings

Champion and Others	British Parliament Since 1918 (1951) Chapter IV
Champion and Others	Parliament A Survey (1952) Chapter X
Carter G. M and Others	The Government of Great Britain, (1954) Chapter VIII
Dicey, A V	Law of the Constitution, Chapter IV and VIII. Introduction pp xvii to xxiv, Appendix, section 1
Finer, H.	Theory and Practice of Modern Government (1954) Chapter XXXVI
Jennings, W J	Law of the Constitution 3rd. Ed. Chapter II
Laski, H J.	Parliamentary Goverment in England, Chapter II
Munro, W. B and Ayearst	The Governments of Europe, (1954) Chapter XVII
Wade, R. C S and Phillips, G G	Constitutional Law, 4th Ed (1951) pp-48–58, 251–237, 267–279

---

[1] Wade and Phillips Constitutional Law, op. citd , p 58.

अध्याय ९

राजनीतिक दल

(Political Parties)

दलगत शासन व्यवस्था की आवश्यकता (The Reasons for a Party System)—लोकतन्त्रात्मक शासन की सफलता के लिये राजनीतिक दलों का होना अनिवार्य है। प्रजातन्त्र में दो कारणो से दलो की आवश्यकता होती है। प्रथमत', राजनीतिक दल ही ऐसा माध्यम उत्पन्न करते हैं जिसके द्वारा देश के नागरिको को अपने शासक चुनने का अवसर मिलता है। द्वितीयत, राजनीतिक दल ही देश के नागरिको को वैकल्पिक नीतियो की अच्छाइयाँ अथवा उनमें निहित खतरो को समझाते हैं और इस प्रकार उनको राजनीतिक शिक्षा देते हैं। मैक् आइवर (Mc Iver) ने राजनीतिक दल की निम्न परिभाषा की है, "यह एक ऐसा सगठन है जो किसी सिद्धात अथवा नीति के समर्थन में सगठित किया जाता है और वह दल अथवा सगठन सविधानिक उपायो के द्वारा उसी सिद्धान्त अथवा नीति वाली सरकार बनाना चाहता है।"[1] इस अर्थ में दल एक ऐच्छिक सगठन है जो इस प्रकार की ससदीय शासन-प्रणाली में जैसी कि इगलैंड में वर्त्तमान है, कार्यक्रम की व्यवस्था करता है, फिर निर्वाचको के सम्मुख उन प्रत्याशियो को उपस्थित करता है जो उस कार्यक्रम में विश्वास रखते हैं और फिर उसके वाद ससद् में अधिकतर ऐसे सदस्य भेजने का प्रयत्न करता है जो उस कार्यक्रम को उन नेताओ के माध्यम द्वारा जो मन्त्रिमण्डल का निर्माण करेंगे, क्रियान्वित करने का प्रयत्न करेंगे। इस प्रकार समाज और राज्य के बीच राजनीतिक दल पुल या कडी का काम करता है और दल का प्रभाव निर्वाचको पर, ससद् पर और केविनेट या मन्त्रिमण्डल सभी पर पडता है।

फिर भी इगलैंड में राजनीतिक दल न तो राज्य के उपकरण अथवा साधन हैं और न शासन की कोई ऐसी सस्था ही हैं जो शासन की विधि अथवा नियमों के अनुसार चलता हो जैसा कि कुछ देशो में पाया जाता है। इगलैंड की विधि में राजनीतिक दलो का कोई अस्तित्व नही है। राजनीतिक दलो की अधिकृत रूप से मान्यता केवल उन नियमो मे है जिनका सम्बन्ध लोकसभा की समितियो के निर्माण से है।[2] किन्तु राजनीतिक दलो के अभाव में अंग्रेजी शासन-व्यवस्था का समस्त स्वरूप ही बदल जायगा और इसकी अनेको परम्परायें और अभिसमय नष्ट हो जायेंगे। सम्राट् का शासन (His Majesty's Government) दल का शासन है और प्रधान मन्त्री लोक-

---

[1] The Modern State, p 396

[2] Stewart, M The British Approach to Politics (1951), 2nd Edition, p. 158.

सभा के बहुमत दल का नेता होता है। विरोधी दल भी सम्राट् का विरोधी दल है और विरोधी दल को अंग्रेज़ी संविधान की सफल क्रियान्विति में अत्यन्त आवश्यक एवं महत्त्वपूर्ण तत्त्व माना जाता है। विरोधी दल के कर्त्तव्य ये हैं कि वह शासन की आलोचना करे और उसकी नीति के विरुद्ध मत व्यक्त करे। शासन-सत्ता धारी दल की आलोचना और उसके विरुद्ध मतदान इसलिये किया जाय कि शासन को उखाड़ दिया जाय और विरोधी दल स्वयं उसका स्थान ग्रहण करे। इसलिये जैनिंग्ज़ (Jennings) ने ठीक ही कहा है कि "यदि ब्रिटिश संविधान का यथार्थ निरूपण अथवा परीक्षण किया जाय तो यही कहना पड़ेगा कि वह दलों से प्रारम्भ होता है और दलों में ही समाप्त हो जाता है और प्रारम्भ और समाप्ति के बीच में भी राजनीतिक दलों का ही विवेचन कीजिये।"[1]

द्विदल पद्धति (The Two Party System)—सन् १८८२ में गिलबर्ट (W S. Gilbert) ने लिखा था, "यह विधि का कैसा विधान है कि इस देश में जो भी छोटा लड़का अथवा छोटी लड़की पैदा होती है और जीवित रहती है, वह या तो छोटा उदारदलीय बालक (Liberal), अथवा छोटा-सा अनुदारदलीय बालक (Conservatvie) होता है।" किन्तु गिलबर्ट (Gilbert) उस समय की आयरिश नेशनलिस्ट पार्टी एवं कई अन्य छोटे-मोटे दलों और समुदायों को भूल गया। पिछले एक सौ वर्षों में केवल २८ वर्षों तक ऐसे शासनों का काल रहा जिनके दल का संसद् में बहुमत नहीं था और केवल २९ वर्ष तक मिली-जुली सरकारों (Coalition Governments) का शासन रहा।[2] फिर भी सारतः गिलबर्ट ने ठीक ही कहा था और इंगलैंड में प्राकृतिक प्रवृत्ति द्विदल पद्धति की ओर है। १९५० के आम चुनाव का उदाहरण लीजिए, उसमें १८६८ प्रत्याशी थे जिनका चुनाव-संघर्ष ६२५ स्थानों के लिये हुआ, और सभी प्रत्याशी तीस विभिन्न दलों अथवा टिकिटों (Labels) के आधार पर चुनाव मैदान में उतरे।[3] यह मानना पड़ेगा कि प्रत्येक टिकिट का यह अर्थ नहीं था कि सभी टिकिट वाले दल अलग-अलग संगठित दल हों, किन्तु फिर भी उन दलों को एक साथ मानते हुए जो एक दूसरे के प्रत्याशियों को मदद कर रहे थे, और उनको अलग छोड़ते हुए जिनके संगठन मौलिक थे, उस चुनाव में ११ संगठित दल अथवा दलों के समूह थे। आइवर टॉमस (Ivor Thomas) कहता है "कि ग्यारह दलों की सूची क्रिकेट (Cricket) की टीम के खेल की याद दिलाती है मानो आरम्भिक दो खिलाड़ियों ने खूब रन बनाये हों, उसके अथवा ओपनिंग पेयर (Opening pair) के बाद जो प्रथम विकिट (Wicket) गिरा उसने थोड़े से रन बनाये, उसके उपरान्त एक खिलाड़ी चोट लगने के कारण खेल में उतरा ही नहीं, और अन्त के खिलाड़ी व्यर्थ

---

[1] The British Constitution, p 31

[2] Ibid, p 54

[3] Thomas, I The Organization of Different Parties Parliament—A Survey, op citd, p 169

आये और शून्य रन बना सके" ।[1] १९५० के आम चुनाव के सम्बन्ध में दो मुख्य बात
सम्मुख आईं। प्रथमत , सभी स्वतन्त्र सदस्य और छोटे-मोटे दलो के सभी सदस्य हा
गये। यहाँ तक कि उदारवादी दल (Liberals) को ९ स्थानो से अधिक स्थान नहीं
मिल सके यद्यपि उन्होने अपने दल के ४७५ प्रत्याशी खडे किये थे और उन नौ सफल
प्रत्याशियो में भी दो को अनुदार दल का समर्थन मिला था। साम्यवादियो (Comm
unists) ने सौ प्रत्याशी खडे किये थे किन्तु कोई भी निर्वाचित नही हो सका। श्रमि
दल को ३१५ स्थान प्राप्त हुए और अनुदार दल (Conservatives) को २९८ स्था
प्राप्त हुए। १९५१ के आम चुनाव में जो अत्यन्त कठिन सघर्ष वाला आम चुना
था, अनुदार दल (Conservatives) ने ३२२ स्थान प्राप्त किये, श्रमिक द
(Labour) ने २९४ स्थान जीते, और उदारवादियो एव अन्य सभी दलो
केवल ९ स्थान प्राप्त किये। डॉ० मनरो (Dr Munro) का कथन है कि
"स्पष्टत पूर्वकालिक उदारवादी (Liberals) अब या तो अनुदार दल (Conserva
tives) को मत दे रहे थे अथवा श्रमिक दल के प्रत्याशियो को मत दे रहे थे। और
निश्चितत उदारदलीय मतो का बहुत अधिक भाग कन्जरवेटिव (Conservatives) क
मिला होगा।" निम्न तालिका से १९५५ के आम चुनाव के फलस्वरूप लोकसभा क
दलीय स्थिति का सिंहावलोकन किया जा सकता है। कोष्ठो में सम्बन्धित दलो की व
सदस्या सख्या दी गई है जो १९५५ के चुनाव के पूर्व लोकसभा में थी—

	(१९५५ मे)	(१९५५ के पूर्व)
अनुदार दल (Conservatives)	३४५	३२२ स्पीकर सहित
श्रमिक दल (Labour)	२७७	२९४
उदारवादी (Liberals)	६	६
आयरिश लेबर (Irish Labour)	०	१
सिन फीन (Sinn Fein)	२	०
आयरिश नेशनलिस्ट (Irish Nationalist)	०	२
	६३०	६२५[2]

१९५०, फिर अक्तूबर १९५१ और फिर मई १९५५ के आम चुनाव वास्त
में दो भारी दलीय यन्त्रो की भयानक लडाइयाँ थी, और द्विदल पद्धति आज भ
अंग्रेजी शासन-व्यवस्था का सार है।

इगलैंड में जो लगातार द्विदल पद्धति प्रचलित है, उसका मुख्य कारण ब्रिटि
जाति के आर्थिक जीवन की सजातीयता अथवा सवर्गता (Homogeneity of th
British Economic Life) है। १८४६ से लगातार दोनो मुख्य दलो ने दो विभि

---

[1] Thomas, I The Organization of Different Parties Parli
ment—A Survey op citd, p 169

[2] नयी लोकसभा में ६३० सदस्य है, जबकि पिछली लोकसभा में ६२५ सदस्य थे।

वर्ग-हितो का प्रतिनिधित्व किया है और इन दोनो वर्गों में पुन विभेद इतने उग्र कभी नही हुए कि ये दोनों वर्ग भी उपवर्गों में विभाजित हो जाते। ज्योंही भूमि का महत्त्व कम हुआ, देहात के लोगों को अन्य प्रकार की पूंजी का सहारा मिल गया, ज्योंही श्रमिको को निर्वाचन अधिकार मिला, स्वामी और वेतनभोगी सेवक सब जमीनो के मालिको अथवा पट्टेदारो (Rentiers) के साथ मिल गये। इगलैंड में किसानो का राजनीतिक दल (Peasants' Party) इस कारण नही है क्योकि वहां किसान नहीं हैं। वहां भूमिदारो का दल (Agrarian Party) भी नहीं है क्योकि ज़मीनो के मालिक लोग साथ ही अशधारी (Shareholders) और कम्पनियो के सचालक (Company Directors) भी हैं। इगलैंड में कृषको का भी राजनीतिक दल नही है क्योंकि मुख्यत जमीन जोतने वालो (Land Owners) और कृषकों (Farmers) के समान हित हैं, और इन दोनो वर्गों मे तो विभेद करना भी कठिन होगा।

पुन यह भी मान लिया गया है कि इगलैंड में मन्त्रिमण्डल (Ministries) एक ही दल के होने चाहियें। इगलैंड में मिली-जुली सरकारें पसन्द नही की जाती, यद्यपि आपात कालो में इगलैंड ने सदैव मिली-जुली राष्ट्रीय सरकारो का सहारा लिया और उनके नेतृत्व में राष्ट्रीय आपात काल पार किया। वास्तव में दल के नेताओ ने, जब कभी मिली-जुली राष्ट्रीय सरकार में फूट के लक्षण देखे, तो तुरन्त यह प्रयत्न किया कि पुन द्विदल शासन-पद्धति को अपना लिया जाय। डिज़रायली (Disraeli) ने इस तथ्य को सबसे अधिक मान्यता दी कि उसे अपनी पार्टी की रक्षा सजातीय वर्ग के रूप में करनी चाहिये। लॉर्ड सेलिसबरी (Lord Salisbury) ने तो यहाँ तक किया कि रेण्डल्फ चर्चिल (Randolf Churchill) के साथ समझौता कर लिया किन्तु अन्त में उसने अनुभव किया कि यदि वह अपने दल को तोडकर चर्चिल के दल में मिलेगा, तो उसे अकेले ही जाना पडेगा। "कैम्पवैल वैनरमैन (Campbell Bannerman) ने अथक परिश्रम करके वोअर युद्ध (Boer War) काल में उदार दल (Liberal Party) के दोनो पक्षों को सम्मिलित रखा, और वाल्फर (Balfour) ने तो अनोखी राजनीति और अर्थशास्त्र का पाठ दिया जब कि उसने चेम्बरलेन (Chamberlain) को दल में फूट डालने से रोक दिया था।" स्वय सविधान का विकास भी द्विदल पद्धति में ही हुआ है और सविधान भी यही चाहता है कि द्विदल पद्धति ही बनी रहे। चुनाव की एकल सदस्य प्रणाली का यही आशय है कि दो दलो से अधिक नही होने चाहियें। निर्वाचकगण भी द्विदल पद्धति के इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि चुनाव वास्तव में सीधे-सादे शासन अथवा सरकार का चुनाव करता है। सर्वसाधारण का वहुत बडा वहुमत राजनीतिक सिद्धान्तो में कोई रुचि नही रखता। वे तो केवल यह देखना चाहते हैं कि किस दल को वहुमत प्राप्त होता है।

लोकसभा में समस्त व्यवस्था इस विश्वास पर आधारित है कि उसमें केवल दो दल ही आवेंगे। लोकसभा में अधिकतर वैठने के स्थान दो पक्तियो में वँटे हुए हैं जो आमने-सामने अवस्थित हैं। सामने के स्थानो पर जिनको सरकारी स्थान

(Government or Treasury Bench) भी कहते हैं, मन्त्री लोग बैठते हैं और दूसरी दिशा में सामने की ओर विरोधी दल का नेता एव अन्य सदस्य बैठते हैं। लोकसभा की कार्य-प्रणाली ने ऐसी सुविधा प्रदान की है कि विरोधी दल महत्त्वपूर्ण कार्य करता है, और यह भी आशा की जाती है कि समस्त विरोधी दल साम्मिलित होकर काम करेगा। "इस प्रकार यदि कोई तृतीय दल होता भी है तो वह मान्यताप्राप्त विरोधी दल न होकर प्राइवेट विरोधी दल की शक्ल अख्तियार कर लेता है।" तृतीय दल या तो शासन का समर्थन करता है, या विरोधी दल के साथ मत देता है अथवा तटस्थ रहता है और वोट ही नही देता। यदि तृतीय दल सदैव एक ही दल का समर्थन करता रहे और दूसरे दल का सदैव विरोध करता रहे तो फिर उस दल का अस्तित्व ही समाप्त समझा जाता है। यदि तृतीय दल कभी किसी दल का समर्थन करे, और कभी किसी दल का, तो निर्वाचिक ऐसे तृतीय दल को असगत अथवा सतत परिवर्तनशील समझने लगते हैं और ऐसा समझा जाता है कि उक्त दल के पास कोई निश्चित प्रोग्राम नही है और न किसी नीति में उसकी आस्था ही है। उदार दल की अवनति का मुख्य कारण यही रहा कि उसने १९२४ में श्रमिक दल का समर्थन किया। १९५० के आम चुनाव में उदार दल ने ४७५ स्थानो पर अपने प्रत्याशी खडे किये किन्तु केवल ९ स्थान प्राप्त किये और इस प्रकार उदार दल को समस्त निर्वाचिक मतो में ९·११% मत मिले। उदार दल अब मृतप्राय है। १९५५ के आम चुनाव में उदार दल को केवल ६ स्थान प्राप्त हुए। इस प्रकार केवल ३१८,९४५ मत प्राप्त हुए जो समस्त निर्वाचक मतो के केवल २ ०८% मत है।

ये कतिपय कारण है जिनसे इगलैड में द्विदल पद्धति के विकास में सहायता मिली है। निस्सन्देह द्विदल पद्धति में कतिपय वास्तविक दोष है। किन्तु इन दोषों के कारण द्विदल पद्धति को समाप्त नही किया जा सकता। जैनिग्ज (Jennings) ने ठीक ही कहा है कि "ब्रिटिश सविधान एक अत्यन्त सधा हुआ उपकरण अथवा साधन है अत यदि उसमें कही भी कोई परिवर्तन किया जायगा, तो उस परिवर्तन के फलस्वरूप सारी शासन-व्यवस्था को ही बदलना पडेगा।" ब्रिटिश शासन-व्यवस्था का सबसे बडा गुण यह है कि उसमें द्विदल शासन-पद्धति के द्वारा स्थायी एव दृढ शासन की स्थापना होती है। समस्त मन्त्रिमण्डल की राजनीतिक एकमतता के द्वारा सुव्यवस्थित एव उत्तरदायी मन्त्रियो की एक टीम (Team) बन जाती है जो राजनीति के खेल को एकचित्त और एकमत होकर अपने मान्य नेता की कप्तानी (Captainship) में खेलती है। वे सब मन्त्री या खिलाडी या तो साथ-साथ जीतते हैं या साथ-साथ हारते है और वे सब व्यक्तिश और सामुदायिक रूप में भी मन्त्रिमण्डल (Cabinet) द्वारा निर्धारित की हुई नीति के लिये उत्तरदायी होते हैं। जिन शासनो के पीछे केवल अल्प मत का विश्वास है, वह कमजोर होते हैं क्योंकि वे शासन नही कर सकते। मिली-जुली सरकार (Coalition Government) की स्थिति सदैव अनिश्चित रहती है क्योंकि उसकी स्थिति समझौते के ऊपर आधारित है। मिली-जुली सरकार में

विभिन्न दल तव तक मिलकर काम करते रहते हैं जव तक किसी वाहरी दवाव के कारण वे एकमत रह सकें। "अन्त में," जॅनिंग्ज (Jennings) कहता है कि "ऐसी दुनिया में जहाँ सुदृढ और तीव्र शासन की आवश्यकता है, केवल द्विदल पद्धति ही सफलता के साथ चल सकती है।"

विभिन्न राजनीतिक दल

(The Parties)

दलों का अभ्युदय (Origin of Parties)—प्रारम्भ में जव ससद् सम्राट् की मत्रणा-परिषद् (Advisory Body) के रूप में कार्य करती थी, तो दलो का अस्तित्व ही नहीं था। ससद् (Parliament) से मत्रणा मांगी जाती थी, और वह मन्त्रणा देती थी। सम्राट् के लिए यह आवश्यक नही था कि वह ससद् की मन्त्रणा को अवश्य स्वीकार करे। ससद् में दल-पद्धति के विकास में दो वातों की आवश्यकता थी। इस सम्बन्ध में प्रथम वात यह थी कि ससद् पूर्णरूपेण एक व्यवस्थापिका निकाय वन जाय और इसके अधिकार पूरी तरह मान लिये जायें। यह स्थिति १७वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक उत्पन्न नही हुई थी, और दूसरी वात यह थी कि कोई गहन सैद्धान्तिक एव राजनीतिक आधार हो जिस पर वहुत से व्यक्ति एकमत होते हुए दलो का निर्माण करें। ऐसी स्थिति भी १७वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ही उत्पन्न हुई थी। इस प्रकार राजनीतिक दलो के उद्भव का यदि कोई निश्चित समय निर्धारित करना सम्भव है, तो वह जैसा कि वताया जा चुका है १६७६ का वर्ष था।

प्रथम वार दलगत विरोध व्हिग्ज (Whigs) और टोरीज़ (Tories) में देखने को मिला। टोरी दल देहात के हितो का समर्थक था। देहातो में जागीरदारी समाप्त हो चुकी थी, और जागीरदारी समाप्त होने के वाद जो कुछ जागीरदारो का आधिपत्य वचा खुचा था, उनको नगरों के व्यावसायिक हितो से खतरा था। इसके विपरीत व्हिग्ज (Whigs) दल समाज के उन नूतन हितो का समर्थक था जिनके द्वारा इगलैंड का नया आर्थिक एंव सामाजिक ढाँचा निर्मित हुआ। अपने हितो के अनुरूप ही, टोरी लोग (Tories) इगलैंड के चर्च (Church of England) को मानते थे किन्तु व्हिग्ज़ (Whigs) डिसेन्टर्स (Dissenters) के साथ थे। टोरी या अनुदार दल (Tories) व्रिटिश समाज के एरिसटोक्रेटिक (Aristocratic) तत्त्वो का प्रतिनिधित्व करता था, किन्तु इस तत्त्व के विरोधी व्हिग्ज (Whigs) के पक्ष में थे। १६वी शताब्दी तक टोरीज (Tories) और व्हिग्ज (Whigs) क्रमश अनुदार दल (Conservatives) और उदार दल (Liberals) वन चुके थे और वावजूद अनेको परिवर्त्तनो और विरोधाभासो के उन दोनो दलो के पुराने मतभेद ज्यो के त्यो वने रहे। दोनो दलो मे १६वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में और वीसवी शताब्दी तक शक्ति के लिए प्रतिस्पर्धा थी; और अन्त में श्रमिक दल (Labour Party) ने राजनीतिक क्षेत्र में उदार दल (Liberal Party) का स्थान ले लिया।

बार्कर (Barker) ने एक पुरानी कहानी सुनाई है जो किसी समय इगलैण्ड में सत्य मानी जाती थी। वह कहानी इस प्रकार है कि जब स्वतन्त्रता (Liberty), समानता (Equality), और भ्रातृत्व (Fraternity) फ्रास (France), इगलैंड (England), और सयुक्तराज्य में बाँटे जाने को थे, तो सबसे पहले अग्रेज आये और उन्होने स्वतन्त्रता को चुना। उसके बाद फ्रासवासी आये और उन्होने समानता (Equality) को लिया और अमेरिकावासी सबसे अन्त में आने के कारण बचे हुए भाग भ्रातृत्व (Fraternity) को पा सके।[1] यदि इन तीनो उपहारो को इगलैंड के तीनो दलो मे बाँटा जाता, तो, बार्कर (Barker) के अनुसार माना जायगा कि उदारवादियो (Liberals) ने स्वतन्त्रता (Liberty) को चुना, अनुदार दल (Conservatives) ने भ्रातृत्व (Fraternity) नाम के उपहार को लिया और श्रमिक दल (Labour Party) ने प्रसन्नतापूर्वक बचे-खुचे उपहार समानता (Equality) को लिया।[1] उदारवादी (Liberals) उन्नति, सुधार, तरक्की और स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे। अनुदार दल (Conservatives) शासन अधिकार, परम्परा, सकीर्णता और भ्रातृत्व के पृष्ठपेषक थे। उनके विपरीत श्रमिक दल सभी मनुष्यो को समान मानता है और वह उन विभेदों को मिटाना चाहता है जो मनुष्यो में भेद पैदा करते हैं, और उन समस्त विभेदो की जड स्वरूप वह दल 'सम्पत्ति के असमान वितरण' को मानता है।

अनुदार दल (The Conservative Party)—जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, अनुदार दल (The Conservative Party) ने कई बार नाम बदला है। अनुदार (Conservative), जो इस दल का लगभग सौ वर्षों से नाम चल रहा है, उस दल की वास्तविक प्रकृति को प्रकट नही करता। हर्बर्ट मौरीसन (Herbert Morrison) के अनुसार अनुदार दल के इस नाम से प्राचीन परम्पराओ और पूर्वभावियों (Traditions and Precedents) का अर्थ बोध होता है।[3] डॉ० फाइनर (Dr Finer) कहता है कि "अनुदार दल की स्थिति-पालकता (Conservatism) का सार उन सामाजिक सस्थाओ में देखने को मिलेगा जिनको यह दल मान्यता प्रदान करता है तथा उन्नति और सुधारो के प्रति जो इस दल का दृष्टिकोण है, उसमें भी इस दल की नाम-सार्थकता दिखने को मिलेगी। अनुदार दल चाहता है कि इगलेंड में क्राउन (Crown) की सत्ता अक्षुण्ण बनी रहे, राष्ट्रीय एकता रहे, चर्च का आधिपत्य रहे और व्यक्तिगत सम्पति पर राज्य का अधिकार न रहे"।[4] इन्ही कारणो से अनुदार दल के सदस्य मजबूती के साथ पुरानी परम्पराओ और तडक-भडक एव दिखावे के उत्सवो में अधिक रुचि लेते हैं। वे राजतन्त्र आदि पुरानी व्यवस्थाओ की आलोचना पसन्द नही करते और वे इस बात पर बल देते हैं कि सभी राजा के

---

1 Barker, E. Britain and the Birtish People, p 43

2 Barker, E Britain and the British People, p 43

3 Herbert Morrison Government and Parliament, p 131

4 Finer Theory and Practice of Modern Government, p 312.

प्रति निष्ठा रख, साथ ही राज्य के प्रति भी निष्ठा रखें, क्योकि राज्य राजा का ही प्रतीक है। अनुदार दल अपने अर्थों में पूर्ण राष्ट्रीयता का समर्थक है और इस दल के सदस्यो को "प्राय यह कहते सुना जाता है कि अमुक देश अथवा अमुक सम्प्रदाय (Sect) अविश्वसनीय है" ।[1] इस दल का विश्वास है कि ब्रिटिश जाति ससार की सभी जातियो से श्रेष्ठ है। इसका यह भी विश्वास है कि ब्रिटिश अथवा गोरी जाति को ईश्वर की ओर से आदेश है कि वह सभी को सभ्य वनावे, यहाँ तक कि अन्य जातियो की इच्छा के विरुद्ध भी, और हिंसा के प्रयोग द्वारा भी और निर्दयता के साथ भी ससार की अन्य जातियो को सुसभ्य वनावे। इस दल का दृष्टिकोण जैसा कि सौ वर्षों के इतिहास से प्रकट है, न तो अनुदार अथवा स्थितिपालक था, और न होशियारीपूर्ण। वास्तव में तो इस दल का दृष्टिकोण यह रहा है कि यह हठपूर्वक भ्रातृत्व अथवा एकता की भावना से चिपके हुए है। साम्राज्यवाद के तो ये (Conservatives) पूर्ण समर्थक हैं और चर्चिल (Churchill) का वह मशहूर वाक्य जिसमें उसने कहा था कि वह (चर्चिल) सम्राट् का प्रधान मन्त्री इसलिये नही वना था कि अपने शासन-काल में ब्रिटिश साम्राज्य का विघटन स्वय करे, यूँ ही विना सोचे-समझे नही कहा गया था। अनुदार दल १९२२ तक यूनाइटेड किंगडम (United Kingdom) की एकता पर अड़ा रहा यद्यपि इसके विरोध में तूफान खडा हो रहा था। और अन्त में वह तूफान आयरिश होम रूल (Irish Home Rule) के प्रश्न पर क्रान्ति का रूप धारण कर वैठा। एक वार पुन अनुदार दल डिजरायली (Disraeli) और फिर जोजेफ चेम्वरलेन (Joseph Chamberlain) के नेतृत्व में यह प्रयत्न करने लगा कि आर्थिक सम्वन्धो के आधार पर ब्रिटिश साम्राज्य की एकता अक्षुण्ण वनी रहे। आजकल भी यह दल सामाजिक एकता, वर्गगत एव एकता समस्त राष्ट्र की एकरूपता पर वल देता है और सघर्ष का विरोधी है ।[2]

अनुदार दल की सवसे वडी इच्छा यह है कि किसी भी प्रकार पूँजीवादी व्यवस्था ज्यो की त्यो वनी रहे, इसलिये यह दल व्यक्तिगत सम्पत्ति और प्राइवेट उद्योग-धन्धो एव व्यापार का समर्थक है। स्वभावत ही यह दल उद्योगों के समाजीकरण का विरोध करता है। इसलिये वडे-वडे उद्योगपति अनुदार दल की पुरानी कुलीनतन्त्र व्यवस्था (Aristocracy) में मिल गये हैं। १९वी शताब्दी के उत्तर-पूर्वार्द्ध में पील (Peel) द्वारा उत्साहित इस प्रकार के सगठन ने वास्तव में उस अनुदार दल (Conservative Party) की स्थापना कर दी जो प्रारम्भिक जागीरदारी वर्ग के टोरी (Tory) दल से पूर्णतया भिन्न है। अनुदार दल में टोरी लोग अव भी हैं और उन्होंने दल के दक्षिण पक्ष का निर्माण किया है। इन दक्षिण पक्षी अनुदारदलीय व्यक्तियो में से कुछ झगडालू (Diehards) कहे जाते हैं, जो पूर्ण अपरिवर्तनवादी हैं अथवा पूर्ण स्थिति-पालक हैं। किन्तु अनुदार दल के अधिकतर सदस्यों की मान्यता यह है कि पूँजीवादी व्यवस्था अपने आपको इस रूप में वदले कि उसको न केवल वनिक वर्ग का

---

[1] Theory and Practice of Modern Government, p 313

समर्थन ही प्राप्त हो, बल्कि वह सभी वर्गों को मान्य हो जाय। वे यह भी चाहते हैं कि प्रजातन्त्र की रक्षा हो और राज्य सामाजिक सेवाओ की विकास-वृद्धि की ओर अग्रसर होता रहे। उनका यह भी विचार है कि पूंजीवादी व्यवस्था के समर्थन का यह अर्थ नही है कि समस्त उद्योगो पर प्राइवेट अधिकार स्थापित हो जाय, वे तो चाहते हैं कि शासन सहानुभूति के साथ उद्योगो के विकास को देखे और जहाँ आवश्यकता हो, वही प्राइवेट उद्योग को प्रशुल्को (Tariffs), अर्थ साहाय्य (Subsidies) और बाजार सघटन (Market Organisation) द्वारा सहायता प्रदान करे। राष्ट्रीय भावनाओ और उद्योगपतियो के हितो, इन दोनो ने मिलकर अनुदार दल के ऊपर यह प्रभाव डाला है कि वह बेकारी की समस्या के विरुद्ध रक्षा करने के लिये गृह-उद्योगों के सरक्षण को प्रोत्साहित करता है। बीसवी शताब्दी मे गृह-उद्योगो को साम्राज्य पूर्वाधिकार (Imperial Preference) दिया गया और इसके फलस्वरूप अन्त साम्राज्य व्यापार (Inter-Imperial Trade) बढाने का प्रयत्न किया गया है।

अनुदार दल के युवक सदस्य चाहते हैं कि दल का प्रोग्राम उतना ही उन्नतिशील और ओजस्वी (Progressive and Vigorous) बने जितना कि श्रमिक दल का। यह दृष्टिकोण हाल ही में देखने में आया है। इस दल ने १९४७ में इन्डस्ट्रियल आज्ञापत्र (Industrial Charter) नाम का लेख छपवाया जिसमें केन्द्रीय नियोजन (Central Planning) की आवश्यकता को स्वीकार किया गया और इस चार्टर अथवा आज्ञापत्र को १९४७ के अनुदारदलीय सम्मेलन (Conservative Conference of 1947) ने स्वीकार कर लिया। इसका अर्थ है कि न केवल अनुदार दल के इस उन्नतिशील वर्ग की विजय हुई, बल्कि अनुदारदलीय सदस्यो के दृष्टिकोण में व्यापक परिवर्तन हुआ है। १९४९ में अनुदार दल ने अपनी नीति का निर्देश करते हुए एक पत्रिका निकाली जिसका नाम था 'ब्रिटेन के लिये सही मार्ग' (The Right Road for Britain)। इस नीति निर्देशक पत्रिका के द्वारा अनुदार दल ने प्रतिज्ञा की कि देश में सभी को रोजगार मिलेगा, और साथ ही शासन पूरी तरह से लोक-कल्याणकारी सेवाओ की ओर अग्रसर होगा। १९५१ में अनुदार दल ने जो चुनाव-घोषणापत्र (Manifesto) जारी किया, उसमें न केवल सभी को उपयुक्त निवास-स्थान मिलने की दिशा में आश्वासन दिया गया बल्कि यह भी बलपूर्वक आश्वासन दिया गया कि निवास-स्थान सम्बन्धी समस्या को राष्ट्रीय रक्षा के बाद द्वितीय प्राथमिकता (Priority) दी जायगी। १९५५ के आम चुनाव मे अनुदार दल ने प्रतिज्ञा की कि देश में स्वतन्त्र उद्योग एव स्वतन्त्र व्यापार (Free Enterprise) के द्वारा समृद्धि लाने का प्रयत्न किया जायगा।

अनुदार दल के समर्थक धनिक लोग हैं और सामान्य अथवा मध्यवर्ग के वे लोग भी हैं जो समझते हैं कि समाजवाद उनकी सुरक्षा के लिये चुनौती है। अनुदार दल विशेष रूप से भूमि समस्या में रुचि रखता है और कृषि की उन्नति का समर्थक । इस प्रकार अनुदार दल को देहाती दल (Rural Party) भी कहा जा सकता है।

किन्तु यह मानना पड़ेगा कि इस दल को मध्य वर्ग और श्रमिक वर्ग से भी समर्थन मिलता है।

अनुदार दल में दल का नेता ही सब कुछ है। दल का नेता केवल संसद् के सत्र के लिये अथवा कुछ समय के लिये ही नियुक्त नहीं किया जाता। जहाँ एक बार कोई व्यक्ति दल का नेता चुन लिया गया, वह फिर मृत्युपर्यन्त अथवा त्याग-पत्र देने तक दल का नेता बना ही रहता है जैसा कि चर्चिल के सम्बन्ध में हुआ है। जब नेता अवकाश ग्रहण करता है, तो वह अपने उत्तराधिकारी को भी नामांकित करता है। और यदि नेता, बिना अपने उत्तराधिकारी को नामांकित किये मर जाय, तो भी उसका उत्तराधिकारी स्पष्टत प्रकाश में होता है। अनुदार दल का प्रधान मन्त्री सदैव दल का नेता ही होता है, चाहे दल के महत्त्वपूर्ण एव तेजस्वी सदस्य उसको न भी चाहते हो। जब नेविल चेम्बरलेन (Naville Chamberlain) के उत्तराधिकारी स्वरूप चर्चिल प्रधान मन्त्री बना, उस समय उसका नेतृत्व सदिग्ध था क्योंकि वह दल के झगडालू सदस्यों (Diehards) में अप्रिय था, किन्तु फिर भी सामान्य क्रम के अनुसार वही प्रधान मन्त्री बना।

अनुदार दल के नेता को जो अधिकार एव शक्तियाँ प्राप्त हैं, वे श्रमिक दल के नेता को प्राप्त नही हैं। वही केन्द्रीय कार्यालय के लिये दल के सगठन का सभापति (Chairman) नियुक्त करता है और वही दल की नीति निर्धारण सम्बन्धी वक्तव्यो को तैयार करता है और उनकी व्याख्या करता है। जब अनुदार दल विरोधी दल के रूप में कार्य करता है, तो वही लोकसभा और लार्ड सभा में से कतिपय सदस्य चुनता है जो उसके साथ आभास मन्त्रिमण्डल (Shadow Cabinet) का निर्माण करते हैं। दल के नेता के अधिकारो के सम्बन्ध में दल के चेयरमैन ने १९४७ में स्पष्टत कहा था, "उसके अधिकार का आधार स्वतन्त्र चुनाव और उसके अनुगामियो अथवा समर्थकों का उसमें पूर्ण विश्वास है। दल का राष्ट्रीय सगठन जो भी प्रस्ताव पास करता है, वे नेता के पास उसकी जानकारी और उसके मार्ग-दर्शन के हेतु भेजे जाते हैं किन्तु कोई भी प्रस्ताव, चाहे वह कितना ही अवधारणापूर्ण हो, नेता को नीति-निर्धारण के प्रश्न पर विवश नही कर सकता। यह प्रणाली हमारे अनुकूल है, और सदैव उन अनेको महान् पुरुषो की रुचि के भी अनुकूल रही है जिनके आदरपूर्ण नेतृत्व में हमने कार्य किया है और इस प्रकार गौरव अर्जित किया है।" इस प्रकार १९४५ के चुनाव-घोषणा-पत्र का शीर्षक था "चर्चिल की निर्वाचक-मण्डल के नाम नीति सम्बन्धी घोषणा" (Mr Charchill's Declaration of Policy to the Electors)।" १९५० के चुनाव-घोषणा-पत्र के साथ एक वक्तव्य अथवा प्रस्तावना थी जिसको चर्चिल (Churchill) की ओर से छापा गया था और पुन १९५१ के चुनाव-घोषणा-पत्र को स्वय चर्चिल (Churchill) के हस्ताक्षरो से निकाला गया और उसको चर्चिल ने 'मैं' अथवा (I) शब्द से प्रारम्भ किया।

उदार दल (The Liberal Party)—उदार दल आजकल मुख्य राजनीतिक

दलो में से एक नही है, यद्यपि कई पीढियो से यह दल मुख्य दो दलो में से एक रहा है। और आजकल भी उदार दल के सदस्य अपनी योग्यता अथवा अपने नेतृत्व के गुणो के कारण घटिया पार्टी नहीं है। वास्तव में उदार दल सैनिक अफसरो की एक फौज है, जिसमें पर्याप्त सैनिको का अभाव है। जब तक उदार दल का सिद्धान्त जीवित है, तब तक दल भी जीवित रहेगा। १९४५ में इस दल को लगभग सवा दो मिलियन अथवा २२½ लाख मत मिले थे और उन ३०६ प्रत्याशियो में से जिनको इस दल ने खडा किया था, केवल १२ प्रत्याशी विजयी हुए। और इन बारह विजयी प्रत्याशियो में से सात प्रत्याशी केवल वेल्स (Wales) के जिलो से चुने गये थे। १९५० के आम चुनाव में उदार दल के पक्ष में ढाई मिलियन अथवा २५ लाख मत आये, किन्तु केवल ९ प्रत्याशी विजयी हुए, और इस दल के ३१९ प्रत्याशियों को अपनी जमानत की रकमो (Deposits) से हाथ धोना पडा। १९५१ के आम चुनाव में इस दल को बहुत ही कम मत प्राप्त हुए और केवल ६ सदस्य उदार दल की ओर से ससद् मे पहुँच सके। १९५५ के चुनाव में भी इस दल के केवल ६ सदस्य ही निर्वाचित हुए।

इस दल ने सदैव हर क्षेत्र में स्वतन्त्रता का समर्थन किया है। इसने धार्मिक क्षेत्र में भी विशेषकर नॉन-कनफर्मिस्टो (Non-Conformists) को स्वतन्त्रतापूर्वक धार्मिक पूजा करने के सम्बन्ध में तथा उनको कतिपय उन धार्मिक एव सामाजिक निर्योग्यताओ से मुक्ति दिलाने का सदैव प्रयास किया है जिनके कारण नॉन-कनफर्मिस्टो को असुविधा थी, इस प्रकार इस दल ने धार्मिक स्वतन्त्रता का सदैव पक्ष लिया है। साथ ही इस दल ने राजनीतिक स्वतन्त्रता का भी सदैव समर्थन किया है। इसकी सदैव इच्छा रही है कि सभी को समान मताधिकार मिले, तथा लोकप्रिय आधार पर चुनी गई लोकसभा को पूर्ण अधिकार हो और उसके पास अन्तिम प्रभुसत्ता हो। १९११ का ससद् अधिनियम (Parliament Act of 1911) उदार दल की जीत थी और उसके स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की अन्तिम पुष्टि थी।

उदार दल ने सदैव शासन की ओर से प्रतिबन्ध लगाने का विरोध किया है और यथेच्छाकारिता नीति (*Laissez faire*) का समर्थन किया है। १९वी शताब्दी के मध्य में उदार दल व्यापारी वर्ग और निर्माणकारी वर्ग (Manufacturing Classes) का प्रतिनिधित्व करता था किन्तु उनके हित जागीरदारो (Landed Class) के विरुद्ध थे। उदारवाद का लोकप्रिय समुदाय सदैव यही चाहता था कि सामाजिक सुधारो का समर्थन किया जाय, किन्तु सामाजिक सुधार १९वी शताब्दी के व्यक्तिवादी सिद्धान्त से मेल नही खाते थे। आजकल उदारवादी मानते हैं कि एक आवश्यक स्वतन्त्रता श्रमिको की स्वतन्त्रता भी है जिसकी व्यवस्था होनी ही चाहिये। उदारवादियो के लिये पूंजीवाद अथवा समाजवाद की समस्या का उतना महत्त्व नही है जितना कि समझा जाता है। अनुदार दल कुलीनतन्त्र के राज्य (Aristocracy) एवं प्रशुल्को का पक्षपाती है, श्रमिक दल उद्योगो का समाजीकरण चाहता है, किन्तु

दार दल के समर्थक (Liberals) इन दोनो वातो को व्यक्ति की स्वतन्त्रता के लिये तक समझते हैं। जहाँ, उदारवादी समाजवाद (Socialism) का विरोध करते हैं, ही, वे पूँजीवाद में पर्याप्त सुधार करने के पक्षपाती हैं। वे कतिपय उद्योगो के माजीकरण के लिये भी तैयार हैं किन्तु तभी यदि ऐसा सिद्ध हो जाय कि समाजी- रण के द्वारा कार्यकुशलता में वृद्धि हो सकती है, किन्तु वे यह नही मानते कि ष्ट्रीयकरण के द्वारा ही सामाजिक व्यवस्था ठीक की जा सकती है। उदारवादी ी इससे भी आगे वढ गये हैं और वे सम्पत्ति के विस्तार (Diffusion) के पक्षपाती , अर्थात् वे चाहते हैं कि किसी भी उद्योग में जितने भी श्रमिक हैं, शनै शनै लाभ ं हिस्सेदार हो। उसके वाद वह लाभ पूंजी के रूप में जमा होता जाय जिससे उस द्योग में सभी श्रमिको को अन्ततोगत्वा हिस्सेदार मान लिया जाय। वे यह भी ाहते हैं कि उद्योगो का प्रजातन्त्रीकरण हो और प्रत्येक उद्योग का प्रवन्ध क औद्योगिक काउन्सिल (Industrial Council) के हाथो में दे दिया जाय जिसमें मिको एव मालिकों के प्रतिनिधि हो। उसी प्रकार वे चाहते हैं कि प्रत्येक शिल्पगृह Factory) में एक वर्क्स काउन्सिल (Works Council) हो जिसमें श्रमिक एव मिल-मालिक दोनो के प्रतिनिधि हो।

यद्यपि उदारवादी, समाजवादी (Socialists) नही हैं किन्तु वे दो मार्गों से समाजवाद की स्थापना करने का प्रयत्न करते हैं। प्रथमत, वे उन सभी उद्योगो का समाजीकरण करने के पक्ष में हैं जिनका प्रवन्ध राज्य अपने हाथो में आसानी से ले सकता है। और द्वितीयत, वे सामाजिक सहयोग के सिद्धान्त को उस रूप में स्थापित करना चाहते हैं जिसका अभी वर्णन किया गया है। "वे न तो प्राइवेट उद्योग-धन्धो के राज्य में विश्वास करते हैं, न पूर्णतः समाजवादी अथवा समाजीकृत राज्य में, अपितु वे तो एक मिली-जुली व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं जिसमें प्राइवेट उद्योगो और समाजीकरण दोनो की अच्छाइयाँ सम्मिलित हों और जो राष्ट्र की उचित आवश्यकताओ की पूर्ति करती हो और जो शनै शनै राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुसार प्राइवेट उद्योग अथवा समाजीकरण का परिमाण उसी अनुपात में घटाती-वढाती चले।" इस प्रकार उदारवादियो का कथन है कि वे किसी एक वर्ग का प्रतिनिधित्व नही करते अपितु वे समस्त राष्ट्र के प्रतिनिधि हैं और वे किसी एक सिद्धान्त से बँधे हुए नही हैं। वे तो प्रत्येक प्रस्ताव पर खुले दिल से विचार करते हैं। वे अनुदार दल (Conservatives) की प्रशुल्क नीति का विरोध करते हैं। और साम्राज्य सम्वन्धी तथा विदेशी मामलों से सम्वन्धित तात्कालिक समस्याओ पर वे प्राय वही विचार रखते हैं जो श्रमिक दल के हैं।

उदार दल का समर्थन साधारण आमदनी वाले मतदाता अधिक सख्या में करते हैं, किन्तु उसे धनिक वर्ग अथवा गरीव वर्ग से वहुत कम समर्थन मिलता है। कतिपय जिलो अथवा क्षेत्रो में उदार दल वालो को सुदृढ समर्थन मिलता है विशेपकर उन जिलो में जहाँ नॉन-कन्फार्मिस्ट (Non-Conformist) अधिक सख्या में हैं। किन्तु

बहुत से उदार दल के सदस्य ऐसा अनुभव करते हैं कि यदि वे अनुदार दल या श्रमिक दल का समर्थन करने लगें तो सम्भवत वे अधिक प्रभावशाली हो सकेंगे और इस प्रकार उक्त दोनों दलों की नीतियो पर उदारवादी दृष्टिकोण का प्रभाव डाल सकेंगे। सत्य यह है कि ऐसे देश में जिसमें द्विदल शासन-पद्धति है—अर्थात् शासन का दल एव विरोधी दल—उसमें दोनो दलो की सख्या से कम सख्या वाले तृतीय दल की अवस्था निस्सन्देह शोचनीय-स बनी रहती है। इसके अतिरिक्त सभी मतदाताओं की यह स्वाभाविक इच्छा रहती है कि उनके मत का कुछ मूल्य हो अर्थात् वे ऐसे दल का समर्थन करें जिसके जीतने की कुछ न कुछ सम्भावना हो, और जीतने वाला दल या तो अनुदार दल (Conservatives) है या श्रमिक दल (Labour) है। इसका फल यह हुआ है कि उदार दल का निरन्तर ह्रास हुआ है। यह जान लेना उपादेय होगा कि "जहाँ १९५० में उदारवादियो (Liberals) ने अनुदारवादियो की प्रार्थना या निवेदन को ठुकरा दिया था, वही १९५१ के चुनाव में ७ उदारवादी प्रत्याशियो को अनुदार दल ने सहायता दी थी।"[1] फिर भी बहुत से उदारवादी ऐसा सोचते हैं कि जब देश में आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional Representation) व्यवस्था होगी, तब उन्हें कुछ प्रतिनिधित्व अवश्य मिलेगा और उदारवादी आवाज उस समय प्रभावी होगी। किन्तु इगलैंड में इस दिशा में सुधार होने के लक्षण दिखाई नही देते, और इसमें कोई आश्चर्य नही होगा यदि निकट भविष्य मे इगलैंड के राजनीतिक क्षेत्र से उदार दल पूर्ण रूप से वहिष्कृत हो जाय।

श्रमिक दल (The Labour Party)—श्रमिक दल जो श्रमिक वर्ग के आन्दोलन का राजनीतिक मूर्त्त स्वरूप है, इसी शताब्दी का जात है यद्यपि इस आन्दोलन का जन्म औद्योगिक क्रान्ति (Industrial Revolution) से हुआ था जिसके फलस्वरूप अनेको ऐसे शहरी श्रमिक पैदा हो गये जिनका भूमि से एव पैदावार के साधनो से सम्बन्ध विच्छेद हो गया। यह आन्दोलन कई रूप से उभरा अर्थात् ट्रेड यूनियनो (Trade Unions) के रूप में, सहकारी समितियो के रूप (Cooperative Societies) में, और चार्टिस्ट आन्दोलन (Chartist Agitation) के रूप में। इस आन्दोलन के द्वारा सार्वजनिक पुरुष मताधिकार (Universal Male Suffrage) की माँग की गई। किन्तु प्रभावी राजनीतिक दल के रूप में श्रमिक दल १९वी शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उत्पन्न हुआ, जब व्यापक मताधिकार प्रदान किया गया। श्रमिक दल की स्थापना १९०० में हुई और तब से इस दल की प्रतिष्ठा में निरन्तर वृद्धि हो रही है और १९२२ के आम चुनाव के बाद से तो यह दल देश का द्वितीय सबसे बडा दल माना जाने लगा है।

यदि हम श्रमिक दल के कार्यक्रम को समझने का प्रयत्न करें, जैसा कि इसके राष्ट्रीय सम्मेलनों द्वारा बताया गया है, तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि यह

---

[1] Carter, G. M and Others The Government of Great Britain, p 81

एक समाजवादी दल है जिसका ध्येय है कि "उत्पादन के समस्त साधनो पर सर्वसाधारण का आधिपत्य होना चाहिये तथा प्रत्येक उद्योग एव सेवा का नियन्त्रण एव लोकप्रिय शासन अच्छी प्रणाली के द्वारा होना चाहिये ।" श्रमिक दल की वास्तविक इच्छा सामाजिक समानता (Social Equality) स्थापित करने की है, किन्तु समाजवाद की ओर उसकी प्रवृत्ति उतनी नही है । इसलिये श्रमिक दल की इच्छा है कि सर्वसाधारण को राजनीतिक, सामाजिक एव आर्थिक सुविधा प्राप्त हो, विशेषकर उन लोगो को जो श्रमिक वर्ग के हैं और जो हाथ की या दिमाग की मेहनत से आजीविका कमाते हैं और जिनका अन्य कोई आजीविका का साधन नही है । इस प्रकार श्रमिक दल की इच्छा है कि शासन की प्रजातन्त्रात्मक प्रणाली के द्वारा ब्रिटेन के सख्त पूंजीवादी ढाँचे को वदल दिया जाय । श्रमिक दल वास्तव में ऐसे देश में, जहाँ सामाजिक समता की आवश्यकता है, समाज में समता और एकता पैदा करने वाला दल है । 'यह दल चाहता है कि सभी के लिए एक समान शिक्षा का स्तर रहे, साथ ही यह भी चाहता है कि सभी को शिक्षा की समान सुविधा प्राप्त हो । दल यह भी चाहता है कि सब का समान सम्पत्ति पर अधिकार हो और साथ ही सम्पत्ति के वँटवारे की प्रथा में समानता वरती जाय ।" कृषि के क्षेत्र में, श्रमिक दल चाहता है कि आयात और पैदावार के वितरण पर इस प्रकार अकुश रखा जाय ताकि कृपक आश्वस्त रहे कि उसे अपनी पैदावार की निश्चित कीमत मिलेगी, और उसके वदले में किसान को अच्छी तरह से प्रवन्ध करना चाहिये और मजदूरो की स्थिति सतोपजनक रखनी चाहिये ।

श्रमिक दल (Labour Party) जब सत्तारूढ होता है तो इन साधनो के द्वारा यह प्रयत्न करता है कि राष्ट्र की अर्थ-व्यवस्था पर पूर्ण प्रभाव डाले और फिर इस प्रभाव के द्वारा उस अधिकार पर प्रहार करे जो उद्योगो के ऊपर नियन्त्रित प्राइवेट एकाधिकार के रूप मे छाया हुआ है तथा उस प्रभाव के द्वारा देश के प्राकृतिक साधनो और वैज्ञानिक शक्यता तथा सामर्थ्य (Technical potentialities) से पूरा-पूरा लाभ उठाया जाय । इसके अतिरिक्त शासन को व्यवसाय मे धन लगाने (Investment) का अधिकार है, एव किस स्थान पर उद्योग विकसित किये जायें इनका भी अधिकार है । इस अधिकारो के द्वारा शासन वेकारी की ऐसी अवस्था उत्पन्न नही होने दे सकता, और न बेकारी के कारण दुखी क्षेत्र (Distressed Areas) पैदा होने देगा और इस प्रकार ऐसी स्थिति नहीं आने पावेगी जैसी कि १९३० के आस-पास उत्पन्न हो गई थी । सक्षेप मे श्रमिक दल चाहता है कि "ब्रिटेन समानता (Equality) के नये युग मे पदार्पण करे और इस प्रकार पदार्पण करे कि न शोरगुल हो, न इस वात का प्रदर्शन हो कि समानता के नये युग मे पदार्पण समाजवादी या अन्य किसी व्यवस्था के अनुरूप हो रहा है अपितु केवल इस स्वेच्छा से कार्य हो कि वास्तविक सामाजिक परिवर्त्तन हो जाय और वास्तव मे ही समानता आ जाय ।"[1]

---

[1] Barker, E.. Britain and the British People, p 48

साम्राज्य के सम्बन्ध मे श्रमिक दल की यह इच्छा है कि उन सभी प्रदेशो को जिनमे स्वशासन नही है, जल्दी से जल्दी स्वशासन दे दिया जाय। उस दिशा मे इच्छित उद्देश्यो की प्राप्ति के लिये वे चाहते हैं कि उपनिवेशो के प्राकृतिक साधनो को विकसित एव उन्नत किया जाय, उनमे सामाजिक सेवाओ की वृद्धि की जाय; और देशीय ट्रेड यूनियन और सहकारी आन्दोलन (Cooperative activity) को उत्साहित किया जाय। अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो मे जहाँ इस दल का अन्तिम उद्देश्य यह है कि संसार मे सामाजवादी विश्व सरकार (Socialist Commonwealth) स्थापित की जाय, वहाँ इस दल का तात्कालिक उद्देश्य यह है कि सयुक्त राष्ट्रसघ में सुदृढ एकता स्थापित की जाय और इसके द्वारा सामूहिक सुरक्षा का प्रबन्ध किया जाय, यद्यपि लीग आफ नेशन्स (League of Nations) इस दिशा मे पूर्ण असफल रही थी। किन्तु जिन लोगो ने विभिन्न दलो के कार्यक्रम का अध्ययन किया है वे जानते हैं कि उनके स्पष्ट भेद अधिकतर उत्पादन के साधनो पर स्वामित्व और नियन्त्रण के सम्बन्ध में हैं और "सामाजिक, साम्राज्यीय और अन्तर्राष्ट्रीय मामलो मे सभी की घोषित नीतियाँ प्राय समान हैं और निर्वाचको को यह निश्चय करना पडता है कि क्या इच्छित फल प्राप्ति पूंजीवादी व्यवस्था से होगी या समाजवादी व्यवस्था से होगी, और सम्भवत यह भी तय करना होगा कि कौनसा दल अपने स्वभाव और अपने नेताओ और अपने पिछले कार्यों के द्वारा उन्नति के मार्ग पर ले जा सकता है।"[1]

श्रमिक दल के समर्थक नगरो में श्रमिक वर्ग हैं, किन्तु गाँवो में इस दल को उतना समर्थन प्राप्त नही है। कुछ थोडे से मध्यवर्ग के लोग भी जो पूंजीवादी समाज व्यवस्था के विरोधी हैं और जो पूंजीवाद को भविष्य के लिये हानिकर समझते हैं, श्रमिक दल का समर्थन करते हैं। वास्तव में तथ्य यह है कि उन सभी वर्गों और स्थितियो के व्यक्ति, जिन्होने समाजवादी दृष्टिकोण अपना लिया है, श्रमिक दल का समर्थन करते हैं।

दल के सगठन के सम्बन्ध मे श्रमिक दल एक प्रकार का सघ (Federation) है जिसके अवयवी एकक ट्रेड यूनियनें (Trade Unions), समाजवादी सभाएँ (Socialist Societies) जैसे फेबियन सभा (Fabian Society) और व्यक्तिगत सदस्य हैं। अन्य दलो की अपेक्षा इसकी रचना अधिक विस्तृत है और इस दल के वार्षिक सम्मेलनो में जो प्रस्ताव स्वीकृत होते हैं, उन्ही के द्वारा इस दल की नीति निर्धारित की जाती है। इस दल का कोई भी व्यक्ति उसी अर्थ में नेता नही होता जिस अर्थ मे अनुदार दल का नेता होता है। ससदीय श्रमिक दल के द्वारा ही नेता का चुनाव किया जाता है, जिसमें वे सभी सदस्य भाग लेते है जो लोकसभा के श्रमिक दल के सदस्य होते हैं। जब तक श्रमिक दल विरोधी दल के रूप मे कार्य करता रहता है, इसकी दिन-प्रतिदिन की नीति प्रसमिलन (Caucus) मे निश्चित की जाती है,

---

[1] Stewart, M The British Approach to Politics, p 164

किन्तु जब यह दल शासन का निर्माण करता है, उस समय दल की नीति का सचालन उन नेताओं के हाथ में रहता है जो कैबिनेट अथवा मन्त्रिमण्डल (Cabinet) का निर्माण करते हैं। और उस समय भी नेताओ और साधारण सदस्यो के बीच सम्बन्ध बना रहता है और उनमें समय-समय पर बातचीत और सम्मेलन होते रहते हैं, और उन सम्मेलनो में शासन की नीति पर विचार-विनिमय होता रहता है। कभी-कभी जब उग्र मतभेदो की स्थिति उत्पन्न हो जाती है, उस समय उक्त सम्मेलनो का वातावरण प्रचण्ड क्रोधयुक्त हो जाता है, किन्तु अन्त में अनुशासन स्थापित हो ही जाता है, और दल के नेता की ही बात मानी जाती है। ऐसा प्रचण्ड क्रोधयुक्त वातावरण उस समय उत्पन्न हो जाता है जब कि दल का वाम पक्ष अप्रसन्न हो जाता है। इस सम्बन्ध में हाल ही की घटना का उदाहरण दिया जा सकता है जबकि एन्यूरिन बेविन (Aneurin Bevin) को ससदीय श्रमिक दल ने निकाल दिया और सिफारिश की कि सचेतक (Whip) को हटा लिया जाय, यद्यपि अन्त में दल के अधिशासी नेताओ ने बेविन (Bevin) को एक अवसर अपनी स्थिति पर पुनर्विचार करने का और दिया।

दल का प्राथमिक आधार पार्टी कान्फ्रेंस (Party Conference) है। इस कान्फ्रेंस में सभी अवयवी सगठनो के प्रतिनिधि होते हैं। सम्मिलित अथवा आधीन (Affiliated) सगठनो के प्रति १००० व्यक्तियो अथवा सदस्यो के लिये एक मत दिया जाता है। देश भर के ट्रेड यूनियन (Trade Unions) का, जिनकी सदस्य सख्या लगभग ४५ लाख (4_2 millions) है, समस्त दल में बहुमत है। यह पार्टी कान्फ्रेंस (Party Conference), नेशनल एक्ज़ीक्यूटिव कमिटी (National Executive Committee) का चुनाव करती है। नेशनल एक्ज़ीक्यूटिव कमिटी ही दल के सभी मामलो का प्रबन्ध करती है और दल के केन्द्रीय कार्यालय (Central office) का सचालन करती है। सिद्धान्तत, एक्ज़ीक्यूटिव कमिटी (Executive Committee), पार्टी कान्फ्रेंस के आधीन है, किन्तु व्यवहार में वही अग्रगण्य है। ससदीय श्रमिक दल का नेता, नेशनल एक्ज़ीक्यूटिव कमिटी (National Executive Committee) का पदेन सदस्य (ex-officio member) होता है। एक्ज़ीक्यूटिव कमिटी (Executive Committee) ही प्राय दल के समस्त प्रोग्राम को तैयार करती है और केन्द्रीय कार्यालय के द्वारा दल के समस्त क्रिया-कलापो का सचालन करती है। एक्ज़ीक्यूटिव कमिटी (Executive Committee) की शक्ति का मुख्य आधार यह नियम है कि कोई भी बिना एक्ज़ीक्यूटिव कमिटी की आज्ञा के चुनाव मे श्रमिक दल के नाम से खडा नही हो सकता। इसके अतिरिक्त इसको यह भी अधिकार है कि यह किसी व्यक्तिगत सदस्य को दल से बहिष्कृत कर सकती है, अथवा किसी सगठन को दल के सगठन से अलग (Disaffiliate) कर सकती है, यद्यपि इस प्रकार की कार्यवाही पर पार्टी कान्फ्रेंस (Party Conference) मे पुनरीक्षण (Review) करना आवश्यक माना गया है।

Suggested Readings

Barker, E	Britain and the British People (1943), Chapter II
Briers, P M and others	Papers on Parliament, A Symposium (1949), "The Party System and National Interests"
Champion and others	Parliament, A Survey, Chapter VIII
Finer, H	The Theory and Practice of Modern Government (1954), Chapter 16
Gooch, R. K.	The Government of England (1947), Chapter V
Greaves, H R G.	The British Constitution, Chapter VI
Jennings, W. I.	The British Constitution, Chapter II
Laski, H. J	Parliamentary Government in England, Chapter II.
Lowell, A L.	The Government of England, Vol I, Chapters, XXIV—XXX, Vol II, Chapters XXXI—XXXVII.
Morrison, H.	Government and Parliament, (1954), pp 77-82, 114-115 and Chapter VII
Neumann, R G	European and Comparative Governments (1951), Chapter VIII
Stewart, M.	The British Approach to Politics (1951), Chapter XIII.

अध्याय १०

स्थानीय शासन

(Local Government)

स्थानीय शासन का महत्व (Importance of Local Government)—डी० टॉकियाविले (De Tocqueville) ने एक शताब्दी से भी अधिक काल पहिले लिखा था, "नागरिको की स्थानीय नगरपालिकाओ मे ही स्वतन्त्र राष्ट्रो की शक्ति निहित है। स्वतन्त्रता के क्षेत्र मे नगरपालिकाओ का वही महत्त्व है जो विज्ञान के क्षेत्र मे प्राइमरी विद्यालयो का। नगरपालिकाओ के द्वारा लोग स्वतन्त्रता के निकट से दर्शन करते हैं, और नगरपालिकाओ के द्वारा नागरिको को शिक्षा मिलती है कि स्वतन्त्रता का प्रयोग और उपभोग किस प्रकार किया जाय। किसी राष्ट्र मे स्वतन्त्र शासन-व्यवस्था स्थापित हो सकती है किन्तु जब तक उक्त देश मे स्वतन्त्र नगरपालिकाओ की व्यवस्था नही होगी तब तक स्वतन्त्रता की भावना नहीं आ सकती।" प्रतिनिधिक शासन का शैक्षणिक महत्त्व बहुत कुछ स्थानीय शासन सस्थाओं के विकास पर निर्भर है। स्थानीय शासन ही प्रजातन्त्र की प्रारम्भिक पाठशाला है। इसके द्वारा नागरिकों मे नागरिक कर्त्तव्यो की भावना का उदय होता है और उनको सामान्य हितो के सार्वजनिक प्रशासन की सामाजिक भावना का ज्ञान होता है। प्रशासन की सभी समस्याएँ केन्द्रीय समस्याएँ नही होती। इसलिये ऐसी स्थानीय समस्याओ का जिनका सम्बन्ध स्थान विशेप अथवा क्षेत्र विशेष से होता है, उन स्थानो के नागरिकों को ही हल ढूंढना चाहिये और यह उन्ही का उत्तरदायित्व है। "पास-पड़ोस के हित हमको सभी की सामान्य आवश्यकताओ का ज्ञान करा देते हैं।" और सभी की सामान्य समस्याओ के हल की दिशा मे जो सम्मिलित राय अथवा मन्त्रणा की जाती है और जो सम्मिलित कार्यवाही की जाती है उससे सभी को आन्तरिक सन्तोष होता है। किन्तु यदि उस समस्या का समाधान कोई अन्य सत्ता करती तो सम्भवतः वह आन्तरिक सन्तोष प्राप्त न होता।

इगलैण्ड के स्थानीय स्वशासन के कुछ मौलिक रूप (Some Fundamental Aspects of the English System)—इगलैण्ड के स्थानीय स्वशासन का इतिहास क्रमिक विकास का इतिहास है। ब्लैकस्टोन (Blackstone) ने ठीक ही कहा है कि "इगलैंड की स्वतन्त्रताओ का श्रय उस देश की स्थानीय सस्थाओ को विशेप रूप से है। सैक्सन (Saxon) काल से ही इगलैंड के लोगो को अपने ही घरो मे कर्त्तव्यो और उत्तरदायित्वो की शिक्षा मिली है।" स्वराज्य एव स्वशासन की दिशा मे अग्रेजो की अलौकिक प्रतिभा का जो प्रस्फुटन हुआ है, उसका मुख्यतया श्रेय स्थानीय स्वशासन को मिलना चाहिये। इगलैण्ड मे ससद् सर्वशक्तिमान बनी और अन्ततोगत्वा

ससदीय शासन-प्रणाली की स्थापना हुई, इसका मुख्य कारण यह था कि काउण्टियाँ (Counties) और बोरो (Boroughs) जिनमे से ससद् के सदस्य चुनकर आये थे, पूर्णतया स्वशासन की भावनाओ और स्वदेशीय अभिमान से ओत-प्रोत थे। इसमे सन्देह नही कि पिछले लगभग १०० वर्षों मे स्थानीय स्वशासन की प्रणाली, व्यवस्थापन के द्वारा बदल गई है, किन्तु जैसा कि बार्कर (Barker) कहता है, "उस समस्त परिवर्त्तन के फलस्वरूप उस देश की पुरानी एव प्रचण्ड राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की व्यवस्था और भी दृढ हो गई है। इगलैण्ड की स्वतन्त्रता की व्यवस्था इतनी प्राचीन है कि वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता व्यवस्था से भी पहले की है, और वह इतनी प्रचण्ड (Vigorous) है कि उसने इंगलैण्ड की स्वतन्त्रता को स्वय शक्ति एव प्रोत्साहन (Sap and stimulus) प्रदान किया है।" इगलैण्डवासियो मे प्रारम्भिक गुण (Initiative) का श्रीगणेश नगरपालिकाओ (Locally Elective bodies) से ही होता है। ये निर्वाचित निकाय (elected bodies) स्थानीय नीतियो को निर्धारित करते हैं और इस प्रकार वे स्थानीय शासन के प्रवक्ता हैं। शासन के साधन के रूप मे वे ही अपने लिये स्थानीय नियम अथवा उपविधियाँ (by-Laws) बना लेते हैं, स्थानीय कर वसूल कर लेते हैं और उस धनराशि को स्वय खर्च कर लेते हैं, और स्वय अपने प्रशासनिक कर्मचारियो को नियुक्त कर लेते हैं तथा उनकी देखभाल करते हैं और इस प्रकार समस्त स्थानीय सेवाओं की व्यवस्था करते हैं। किन्तु जहाँ वे क्षेत्रो मे शासन के उपकरण (Organs) हैं, वही वे समस्त देश की सामान्य शासन-व्यवस्था के भी उपकरण अथवा साधन हैं, और इस कारण उन पर केन्द्रीय शासन और ससद् का नियन्त्रण है। ससद् को अधिकार है कि वह स्थानीय प्रशासनिक सस्थाओ की शक्तियो और क्रियाकलापों का नियन्त्रण कर सकती है और उस दिशा मे मनमाना परिवर्त्तन कर सकती है। केन्द्रीय सरकार के प्रशासनिक सेवक स्थानीय सस्थाओ के हिसाब-किताब का लेखा परीक्षण (Audit) और उनकी गतिविधियो और क्रियाकलापो का निरीक्षण-परीक्षण एव पर्यवेक्षण करते हैं, और इस प्रकार का सचालन एव पर्यवेक्षण इसलिये और भी आवश्यक हो जाता है कि ससद् स्थानीय करो को कुछ आर्थिक सहायता, आर्थिक अनुदान (grants-in-aid) के रूप मे केन्द्रीय करो (Central taxes) की राशि मे से देती है। इस नियन्त्रण के बावजूद, इगलैण्ड का स्थानीय शासन यूरोप के अन्य देशो मे प्रचलित स्थानीय स्वशासन की अपेक्षा कही अधिक स्वतन्त्र और आत्म विश्वस्त है। इगलैण्ड मे फ्रास के समान अधिनायक गृह-मन्त्री (All powerful Minister of the Interior) नही होता जो स्थानीय शासन के सम्बन्ध मे सर्व-सर्वा होता है। "ऐसी अवस्थाओ मे स्वतन्त्र लोग अपनी परिषदो (Councils) मे एकत्र हो सकते हैं उसी प्रकार जैसे प्राचीन काल मे एकत्रित होते थे, और वे अपनी प्रशासनिक योग्यता से और अपने व्यक्तित्व से अपने आस-पास के लोगो को प्रभावित और प्रसन्न कर सकते हैं।" प्राचीन काल मे भी और आजकल भी देश के अनेको प्रमुख राजनीतिज्ञों ने अपना राजनीतिक जीवन स्थानीय नगरपालिकाओ (Councils of Local Government) से प्रारम्भ किया। उदाहरणस्वरूप जोज़ेफ चेम्बरलेन (Joseph Chamberlain) और नेविल चेम्बरलेन (Naville Chamberlain) दोनो बर्मिघम (Birmingham) के लार्ड मेयर (Lords Mayors) थे, और श्री हर्बर्ट मॉरीसन (Herbert Morrison) को लन्दन काउण्टी काउन्सिल (London County Council) के सभापति होने के कारण सबसे पहिले ख्याति प्राप्त हुई।

विकास (Development)—इगलैण्ड के स्थानीय शासन का इतिहास क्रमिक विकास का इतिहास है। अब से कुछ वर्ष पूर्व तक स्थानीय शासन की व्यवस्था का विकास, किसी सुनिश्चित योजना के अनुसार नही हुआ था, बल्कि आवश्यकताओ के अनुसार दैवयोग आधार पर हुआ। क्योकि स्थानीय शासन के विकास मे समन्वय नही था, अत अव्यवस्था थी, और कार्यकुशलता का पूर्ण अभाव था।

वर्त्तमान काउण्टियाँ (Counties) और पैरिश (Parishes) प्रारम्भ मे पूर्व नॉर्मन काल (Pre-Norman) मे शायर और हण्ड्रैड्स, विल्स अथवा टाउनशिप्स (Shires and hundreds, vills or townships) थी। इगलैण्ड की केन्द्रीय सरकार का स्थानीय शासन-सस्थाओ पर पूर्ण प्रभुत्व रहता था। मध्य काल मे प्रत्येक काउण्टी (County) अथवा शायर (Shire) मे एक कोर्ट (Court) अथवा सरकारी सभा (Governmental Assembly) रहती थी, जिसका सभापति शेरिफ (Sheriff) होता था, जो राजा का प्रतिनिधि होता था और उस सभा के सदस्यगण काउण्टी के स्वतन्त्र लोग (Freeman of the County) होते थे। काउण्टी कोर्ट अथवा न्यायालय को सामान्य शासन सम्बन्धी एव न्यायिक कार्य करने पडते थे। एक काउण्टी मे हण्ड्रैड कोर्ट (Hundred Courts) थे जिनकी रचना उसी प्रकार की होती थी और जो शेरिफ (Sheriff) की छत्रछाया मे कार्य करते थे। फ्यूडल व्यवस्था (Feudal System) के जो मेनोरियल न्यायालय (Menorial Courts) होते थे, वे छोटी इकाइयो अर्थात् विल (Vill) अथवा टाउनशिप (Township) मे स्थापित थे। जिन बोरो (Boroughs) को क्राउन से आज्ञापत्र (Charters) प्राप्त थे, उनमे पर्याप्त मात्रा मे स्वायत्तता थी। हेनरी द्वितीय (Henry II) के राज्य काल से सम्राट् की न्याय-व्यवस्था, भ्रमणशील न्यायालयो (Circuits of Justices) के द्वारा सारे देश मे फैल गई। स्थानीय मैनोरियल न्यायालय (Local and Manorial Courts) समाप्त कर दिए गये और उनके समाप्त होते ही शेरिफ (Sheriff) के पद का बहुत कुछ महत्त्व समाप्त हो गया। १४वी शताब्दी मे नवसृजित जस्टिस आफ दी पीस (Justices of the Peace) ने समस्त न्यायिक, प्रशासनिक और पुलिस की शक्तियाँ हथिया ली। पैरिश, जो अब तक गिरजाघर की शासन सम्बन्धी इकाई थी, अब स्थानीय स्वशासन की इकाई बन गई। अब पैरिश (Parish) के नियन्त्रण मे ही सडकों की मरम्मत आदि का कार्य दे दिया गया; और बाद मे रानी ऐलिजाबैथ (Elizabeth) के निर्धन विधि (Poor Law) सम्बन्धी प्रशासन का कार्य भी पैरिशो (Parishes) के ही अधिकार मे आ गया।

१६८९ के क्रान्ति समझौते (Revolution Settlement of 1689) के बाद स्थानीय शासन पर केन्द्रीय नियन्त्रण लगाने का कोई प्रयत्न नही किया गया। बौरो अथवा बौरोज (Boroughs) को छोड कर जो अधिकतर स्वायत्तशासी थी, और जो चार्टर (Charters) की शक्ति के अन्तर्गत कार्य कर रही थी, सामान्य स्थानीय प्रशासन काउण्टी जस्टिसो (Couty Justices) के नियन्त्रण मे था, जो अपना कार्य क्वार्टर सैशन्स (Quarter Sessions) नाम के न्यायालयो में करते थे। किन्तु १८३५ से लेकर १९३५ तक इस दिशा में जो सुधार हुए, उनसे सारी पुरानी व्यवस्था बदल गई। इस उलट-फेर के तीन फल हुए। प्रथमत, स्थानीय शासन-सस्थाओ मे सुधार हुआ और उनका स्वरूप प्रजातन्त्रात्मक हो गया। द्वितीयत, सुधार के साथ-साथ स्थानीय शासन की शक्तियो और कर्त्तव्यो के सम्बन्ध मे स्पष्टीकरण हो गया। तृतीयत, सुधार के साथ-साथ स्थानीय शासन और केन्द्रीय सरकार के बीच सम्बन्धो की स्पष्ट व्याख्या (Elucidation) हो गई। स्थानीय शासनिक सस्थाओ का सुधार काफी लम्बी और पेचीदा समस्या थी क्योकि १८३५ से १८८८ तक इगलैण्ड ने अजीव सी नीति अपनायी जिसके अनुसार एक नई तदर्थ (*ad hoc*) सत्ता स्रजित की गई जिसके द्वारा उस प्रत्येक स्थानीय आवश्यकता का निराकरण कराना था जो कभी भी उत्पन्न हो सकती थी। केवल यही नही, बल्कि प्रत्येक नई सत्ता (Authority) अथवा सस्थान को कार्य करने का अलग क्षेत्र दिया गया जो पुरानी सत्ता या सस्था के क्षेत्र से भिन्न था। १८८८ के स्थानीय स्वशासन अधिनियम (Local Government Act of 1888) ने यह सारी अनियमितता बदल डाली। इस अधिनियम ने पुरानी जस्टिसेज आफ दी पीस (Justices of the Peace) प्रणाली को, साथ ही तदर्थ सत्ताओ अथवा निकायो (Bodies) को भी हटा दिया जो हाल ही में बढाये गये थे, और उनके स्थान पर काउण्टी पारिषदो की स्थापना की जो प्रजातन्त्रात्मक थी और साथ ही सामान्यतया सक्षम भी थी। वह व्यवस्था शनै शनै वृद्धि को प्राप्त हुई है। स्थानीय स्वशासन की आधुनिक व्यवस्था, मुख्यत छ विशिष्ट एव विभिन्न प्रकार की सत्ताओ मे निहित करदी गई है। वे छ निम्न हैं—प्रशासनिक काउण्टी (The Administrative County), काउण्टी वौरो (The County Borough), काउण्टी रहित वौरो (The Non-County Borough), अरवन डिस्ट्रिक्ट (The Urban District), रूरल डिस्ट्रिक्ट (The Rural District), और पैरिश (The Parish)। इन छ सत्ताओ के प्रशासन का प्रवन्ध भी विभिन्न प्रकार प्रारम्भ हुआ —प्रथम और द्वितीय का प्रशासन १८८८ से प्रारम्भ हुआ, तृतीय का प्रशासन १८३५ से प्रारम्भ हुआ किन्तु जिसका सुधार १८८२ में हुआ, चौथी, पंचवी और छठी सत्ताओ का प्रशासन १८९४ से प्रारम्भ हुआ। लन्दन की काउण्टी काउन्सिल (The London County Council) की स्थापना १८८९ में हुई, जो अप्रत्यक्षत निर्वाचित मेट्रोपोलिटन वोर्ड आफ वर्क्स (Metropolitan Board of Works) की उत्तराधिकारिणी थी।

स्थानीय स्वशासन के अधिकारो और कर्त्तव्यो के सम्बन्ध मे और उसके उन्नतिशील सुधार तथा १८३५ से लेकर अब तक के तत्सम्बन्धी स्पष्टीकरण के सम्बन्ध मे इतना जान लेना आवश्यक होगा कि अब इगलैण्ड में पूर्ण स्थानीय स्वशासन (Integral Local Government) की स्थापना हो चुकी है और उसके नियन्त्रण में प्रत्येक बडी स्थानीय सस्था अपने-अपने क्षेत्र मे पूर्ण स्थानीय शासन की देख-भाल करती है। पूर्ण स्थानीय स्वशासन की प्रणाली के द्वारा स्थानीय सस्था को इस प्रकार के मामलो में—जैसे सडकें, परिवहन (Transport), पुलिस, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सार्वजनिक शिक्षा, सार्वजनिक साहाय्य, एव इस प्रकार की सार्वजनिक सेवायें जैसे निवास स्थानो की व्यवस्था गैस, पेय जल और विजली व्यवस्था आदि मे उचित कार्यवाही अथवा आरम्भिक या पहल (Initiative) करने का अवसर मिल गया है। स्थानीय स्वशासन के द्वारा स्थानीय नीति के निर्धारण और क्रियान्विति के पर्याप्त अवसर प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि यदि कोई उन्नतिशील स्थानीय सस्था चाहे तो अपने क्षेत्र के लोगो के स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे, बुद्धि के विकास के सम्बन्ध मे और सार्वजनिक कल्याण की दिशा मे पर्याप्त सेवा कर सकती है।

स्थानीय शासन का केन्द्रीय सरकार के साथ सम्बन्ध (Connection between local and Central Government)—स्थानीय सस्था का केन्द्रीय सरकार के साथ सम्बन्ध अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यह जान लेना आवश्यक है कि इस सम्बन्ध का विकास किस प्रकार हुआ और आजकल यह सम्बन्ध किस प्रकार का है। स्पष्टत केन्द्रीय सरकार का कर्त्तव्य है कि जहाँ स्थानीय शासन शिथिल हो वहाँ उसको उचित कार्य करने के लिये प्रोत्साहित करे और जहाँ वह अपने अधिकारों का दुरुपयोग करता है अथवा अपनी सामर्थ्य से वाहर की चीजें करता है वहाँ उस पर नियन्त्रण लगावे। इसके फलस्वरूप यह आवश्यक हो जाता है कि एक ओर स्थानीय निर्वाचित सस्थाओ और उनके स्थानीय प्रशासनिक अधिकारियो, तथा दूसरी ओर केन्द्रीय शासन के विभागो और उनके प्रशासनिक अधिकारियो के बीच सम्पर्क (Contact), सहयोग (Cooperation), और परस्पर सम्बन्ध (Inter action) का मार्ग प्रशस्त रहे। केन्द्रीय सहायक अनुदान स्थानीय शासन के एकको को धन सहायता के रूप मे दिये जाते हैं, इसके कारण यह आवश्यक हो जाता है कि उनके ऊपर और उनके क्रियाकलापो के ऊपर केन्द्रीय नियन्त्रण और पर्यवेक्षण रहे। सत्य यह है कि केन्द्रीय शासन, स्थानीय स्वशासन की सस्थाओ को सहायक अनुदान (Grants-in-aid) इसी शर्त पर देता है कि उसको और उसके अधिकारियो को इस वात के परीक्षण और पर्यवेक्षण का अवसर मिले कि प्रदत्त सहायक अनुदान की धन-राशि किन कार्यों पर और किस प्रकार व्यय की जा रही है। केन्द्रीय शासन के धन की सहायता ने स्थानीय स्वशासन के ऊपर नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है और इस नियन्त्रण और पर्यवेक्षण के अधिकार स्वरूप स्थानीय स्वशासन की स्वायत्तता वहुत वडी सीमा तक विक चुकी है। केन्द्रीय शासन द्वारा स्थानीय स्वशासन को सहायता देने का एक अन्य उपाय है जिसको सवर्गीय अनुदान (Block grant) कहा जा सकता है।

सभी अन्य सस्थाओ की तरह से स्थानीय स्वशासन सस्थाओ पर भी ससद् का और ससद् द्वारा निर्मित विधियो का पूर्ण अधिकार एव नियन्त्रण है। इसके अतिरिक्त, केद्रीय शासन के विभिन्न विभाग स्थानीय स्वशासन के विभिन्न क्रिया-कलापो का पर्यवेक्षण करते हैं और यह भी देखते हैं कि सविधि की शर्तों के अनुसार कार्य हो रहा है अथवा नही। गृह मन्त्रालय (The Home Office) पुलिस दल के ऊपर पर्यवेक्षण और निरीक्षण करता है किन्तु लन्दन (London) के मेट्रोपोलिटन डिस्ट्रिक्ट (Mertropolitan District of London) में पुलिस का प्रबन्ध सीधे गृह मन्त्रालय द्वारा किया जाता है। इसके अतिरिक्त लन्दन का मेट्रोपोलिटन डिस्ट्रिक्ट स्थानीय सिविल डिफेन्स (Local Civil Defence) के लिये भी उत्तरदायी है, विशेष-कर वह होम गार्ड अथवा रक्षक दलो (Home guards) के दस्तो का प्रबन्ध करता है। विधि मन्त्रालय (The Treasury) को स्थानीय शासन सस्थाओ को कर्ज लेने की अनुमति प्रदान करनी पडती है। सामान्यत कहा जा सकता है कि सम्बन्धित केन्द्रीय शासन के विभाग स्थानीय स्वशासन के सस्थाओं के कार्य की देखभाल करते हैं, उनको ठीक मार्ग पर रखते हैं और उनकी कार्य-प्रणाली, सगठन, उनके सेवको की योग्यताएँ देखते हैं तथा उनके लिये आवश्यक सामग्री एव उपकरण जुटाते हैं और उनके सामान्य उद्देश्यो का मार्ग प्रदर्शन करते हैं और उनको इन सम्बन्वो मे आवश्यक मन्त्रणा प्रदान करते हैं।

जहाँ तक स्थानीय शासन-सस्थाओ के अधिकारो और कर्त्तव्यो का निरूपण ससद् के अधिनियमो ने किया है और जहाँ तक न्यायालयो ने उन अधिनियमो के पालन की दिशा मे इन सस्थाओ को बाध्य किया है, केन्द्रीय सरकार इन सस्थाओ द्वारा किसी वैधिक भूल अथवा कर्त्तव्य सम्बन्धी भूल के विरुद्ध उच्च न्यायालय (High Court) से आज्ञा या आदेश (Writ) जारी करा सकती है और स्थानीय सस्था को बाध्य किया जा सकता है कि वह अपनी भूल सुधारे। यदि किसी प्राइवेट व्यक्ति को स्थानीय सस्था की असावधानी के कारण हानि हो जाय तो वह हानि पूरण के लिए स्थानीय सस्था के विरुद्ध नालिश (Civil action) कर सकता है। उसी प्रकार यदि स्थानीय स्वशासन सस्था कोई ऐसा कार्य कर वैठे जो असविधानिक (ultra vires) हो, उसे न्यायालय निषिद्ध कर सकते हैं। केन्द्रीय सरकार, स्थानीय स्वशासन सस्था की ऐसी स्थानीय आज्ञाओ को निष्फल कर सकती है जो उन सस्थाओ के प्रदत्त अधिकारो का अतिक्रमण करती हो। स्वास्थ्य, मकान निर्माण अथवा अन्य सेवाओ के सिलसिले मे यदि कोई असावधानी हो जाये तो उसके भयकर परिणाम हो सकते हैं, और इस प्रकार के अवसरों पर जस्टिस आफ दी पीस (Justice of the Peace) या उस क्षेत्र में केवल चार करदाता (Rate-payers) स्वास्थ्य मत्रालय को आवेदन-पत्र भेज सकते हैं और प्रार्थना कर सकते हैं कि स्थानीय सस्था की अयोग्यता (in efficiency) की परीक्षा की जाय और सम्भवत ऐसे अवसर पर स्थानीय सस्था के सारे कर्त्तव्य स्वय स्वास्थ्य मत्रालय अपने हाथ मे ले सकता है।

सामाजिक अवस्थाओ मे परिवर्त्तन और शासन के कर्त्तव्यो के सम्बन्ध मे उदारवादी विचार एव समाजवादी मान्यता के फलस्वरूप स्थानीय, स्वशासन सस्थाओ के ऊपर केन्द्रीय शासन के नियन्त्रण की सभावनाएँ पर्याप्त मात्रा मे बढ गई हैं, और इस वृद्धि का अन्त दिखाई नहीं देता। सार्वजनिक निगम (Public Corporation) के समान नई केन्द्रीय सस्थाएँ नये-नये काम करने के लिए अथवा पुरानी स्थानीय स्वशासन-सस्थाओ के स्थान पर स्थापित की जा रही हैं। छोटी स्थानीय सस्थाओ के बहुत से कर्त्तव्य अब बडी क्षेत्रीय सस्थाओ को सौंपे जा रहे हैं और इस प्रकार आधुनिक स्थानीय शासन के प्रसार मे 'स्थानीय' (Local) शब्द के अर्थ भी बदल गये हैं।[1] आधुनिक काल मे एकीकरण (Co-ordination) और प्रामाणिकता (Standardization) की नीति स्थानीय स्वशासन के क्षेत्र मे दूर तक प्रवेश कर गई है। स्थानीय सस्थाओ मे सम्मेलन, समितियाँ, लेखा परीक्षण (Audit) आदि की व्यवस्था देश के परिनियमो (Statutory provisions) के अनुसार की गई है, जिसके फलस्वरूप सभी सस्थाओ मे एक प्रकार की कार्यवाही होगी चाहे उस कार्यवाही का आकार बडा हो या छोटा। उसी के साथ-साथ केन्द्रीय सरकार अपने निरीक्षको के द्वारा इन स्थानीय स्वशासन-सस्थाओ के ऊपर प्रभाव डालती रहती है। उन निरीक्षको द्वारा स्थानीय सस्थाओं के सम्बन्ध मे सतोपजनक प्रतिवेदन पर ही सहायक अनुदान दिये जा सकते हैं और इस प्रकार सभी निरीक्षको की रिपोर्टो से केन्द्रीय सरकार को पता चलता रहता है कि स्थानीय शासन-विधि मे क्या परिवर्त्तन आवश्यक है ? केन्द्रीय सरकार से स्थानीय शासन सस्थाओ के पास जो विज्ञापन समय-समय पर जाते रहते हैं, उनके द्वारा स्थानीय शासन सस्थाओं को पता रहता है कि केन्द्रीय सरकार उनको किस नीति पर चलाना चाहती है, और यदि केन्द्रीय सरकार ऐसा अनुभव करती है कि उसके पास आवश्यक कार्यवाही के लिये वैधिक शक्ति पर्याप्त नही है तो वह नये विधेयको का प्रस्ताव कर सकती है और उनको पास कराके अधिनियम का रूप दे सकती है। कभी-कभी यदि स्थानीय शासन सस्था अपनी शक्तियो का इस प्रकार प्रयोग करे कि वह केन्द्रीय सरकार की इच्छाओ के विरुद्ध हो, तो एक विशेष अधिनियम पास किया जाता है जिसके द्वारा स्थानीय सस्था की शक्तियाँ उन आयुक्तो (Commissioners) को दे दी जाती हैं जिनकी नियुक्ति स्वास्थ्य मन्त्री करता है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्थानीय स्वशासन सस्थाओ के ऊपर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण कई प्रकार से है। यद्यपि अब भी इगलैण्ड में स्थानीय शासन लोकप्रिय है, फिर भी केन्द्रीय शासन की अपेक्षा इसको स्थानीय क्रियाकलापो का एक अस्पष्ट-सा निकाय समझा जाता है। कतिपय सेवायें जो कभी किसी समय स्थानीय मात्र समझी जाती थी, अब उनको राष्ट्रीय महत्त्व की सेवायें समझा जाता है। "छोटे विद्यालय अब राष्ट्रीय शिक्षा योजना के भाग हैं उसी प्रकार सार्वजनिक साहाय्य (Public assistance) अब स्थानीय महत्त्व (Community task) का न होकर

---

[1] Champion and Others British Government since 1918, p 198.

राष्ट्रीय उत्तरदायित्व का विषय बन गया है। यहाँ तक कि गैस और बिजली शक्ति का जो किसी समय नागरिक सेवायें (Municipal Services) समझी जाती थी, अब उनका राष्ट्रीयकरण हो गया है।" हाल के वर्षों में कतिपय विषयो को स्थानीय और अन्य को केन्द्रीय विषय बनाने के सम्बन्ध में प्रशासनिक सुविधा को भी अत्यधिक महत्त्व दिया गया है। श्री जे० एच० वारेन (Mr J H Warren) ने इगलैण्ड के स्थानीय स्वशासन के विषय, उद्देश्य और कार्य-प्रणाली में जो परिवर्तन हुए हैं उनका विवेचन करते हुए लिखा है, "कि कौन विषय अथवा कौनसी सेवाएँ स्थानीय स्वशासन के अधिकार क्षेत्र में दी जायँ, यह निर्णय पूरी तरह न तो राजनीतिक स्वतन्त्रता और उत्तरदायित्व के आधार पर, न पास-पडौस और जातीय सद्भावना की सम्मिलित कार्यवाही की सुविधा के आधार पर, न इस आधार पर कि 'स्थानीय स्वशासन एक शैक्षिक प्रणाली है और इस कारण प्रजातन्त्र के लिये अति आवश्यक है' निर्भर करता है। अपितु स्थानीय स्वशासन के कर्त्तव्य निश्चित करते समय प्रशासनिक सुविधा भी देखनी ही पडेगी।"[1] विशेषकर प्रथम विश्व-युद्ध के बाद जो शासन के क्रियाकलाप स्थानीय शासन को सौंपे गये हैं उनमें प्रशासनिक सुविधा का ध्यान अवश्य रखा गया है।

तथापि स्थानीय प्रशासन और किसी सीमा तक नीति निर्धारण अब भी स्थानीय सत्ताओ के हाथों में है। केन्द्रीय सरकार तो स्थानीय सत्ताओ का सहयोग प्राप्त करती है और दोनो सत्ताओ का परस्पर सम्बन्ध मैत्रीपूर्ण सहकारिता का रहता है। स्थानीय शासन, व्हाइट हाल (White hall) में अवस्थित विभागो के कार्यालय नही हैं यद्यपि केन्द्रीय सरकार के नाम में स्थानीय शासन कतिपय सेवाएं करते हैं। स्थानीय नगरपालिकाओं के सदस्य उन्ही जिलो (districts) में से चुने जाते हैं जिन में उनका सेवा विस्तार होता है। उनकी सेवाओ का पर्यवेक्षण और नियन्त्रण उन्ही के अधिकारीगण करते हैं। अब तक काउन्सिलो (Councils) और समितियो (Committees) ने जो कुछ भी किया है, उसका शानदार महत्त्व है। किसी भी प्रकार की राजनीतिक शासन-प्रणाली में केन्द्रीय सरकार को स्थानीय शासन पर नियन्त्रण अवश्य रखना होगा, चाहे स्थानीय सस्थाएँ कितनी भी स्वायत्तता का उपभोग करती हो। किन्तु एक ओर इगलैण्ड में तथा दूसरी ओर फ्रास और अन्य देशों में जो केन्द्रीय सरकार का स्थानीय शासन पर नियन्त्रण रहता है उनमें एक महत्त्वपूर्ण अन्तर है। फ्रास में केन्द्रीय सरकार का स्थानीय शासन पर जो नियन्त्रण है, वह कठोर अधिशासी नियन्त्रण है, यहाँ तक कि स्थानीय शासन की स्वायत्तता नष्ट कर दी गई है और क्षेत्रीय नीति को भी नियन्त्रित करके उन स्थानीय प्रशासनिक अधिकारियो के अधिकार में दे दिया गया है जो पूर्णतया केन्द्रीय सरकार की ओर से नियुक्त होते हैं। इगलैण्ड की स्थानीय स्वशासन सम्बन्धी व्यवस्था

---

[1] Champion and Others British Government Since 1918, p 195

मिली-जुली-सी है जिसमें आधा नियन्त्रण व्यवस्थापिका का है और आधा अधिशासी। वार्कर (Barker) के अनुसार इस प्रणाली का महत्त्व यह है कि "यह पूर्ण अधिशासी नियन्त्रण की अपेक्षा स्थानीय स्वशासन के साथ दयालुता का व्यवहार करती है, साथ ही पूर्णतया व्यवस्थापिका के नियन्त्रण की अपेक्षा यह प्रणाली अधिक लचीली है और विभिन्न स्थानीय शासन सस्थाओ के बीच जो विभेद होते हैं उनके प्रति अपने लचीले स्वभाव के कारण अधिक समझौतावादी होती है। ससद् स्थानीय शासन सत्ताओ को जो सहायक अनुदान देती है, वह एक प्रकार से एक सत्ता अपने वरावर वाली अन्य सत्ताओ को अनुदान देती है। कार्यपालिका अथवा अधिशासी शक्ति का काम तो केवल यह देखना है कि अनुदानो का धन ठीक प्रकार व्यय किया जा रहा है या नही और वह प्रत्येक स्थानीय शासन में अपने लचीले स्वविवेक (Elastic Discretion) के कारण छोटे-मोटे विभेदो का प्रमाणीकरण (Standardization) करती है किन्तु ऐसा करते समय भी वह केवल सुस्त वा पिछडे हुए स्थानीय स्वशासन को प्रोत्साहित करती है और जो शासन जल्दवाज अथवा अविवेकी एव प्रचण्ड (Impatient) होते हैं उनको कस देती है, और ऐसा वह प्रत्येक शासन की मांगो और आवश्यकताओ के अनुसार करती है।" स्थानीय कौंसिलो (Councils) और स्थानीय समितियो (Committees) में प्रशासनिक मामलो में पूर्व सजगता के फलस्वरूप प्रत्येक स्तर पर पूर्ण प्रजातन्त्रीय कार्य-प्रणाली का निर्वहन सरल हो जाता है।

स्थानीय स्वशासन के एकक

(The Units of Local Government)

स्थानीय स्वशासन के एकक वे भौगोलिक क्षेत्र हैं जिनमें स्थानीय सेवाओ को सगठित किया जाता है और जिनके लिये उन्ही क्षेत्रो की निर्वाचित परिषदें (Councils) उत्तरदायी हैं। स्थानीय शासन के क्षेत्रो में जिस आधार पर भेद किया जाता है वह जनसख्या है। इगलैण्ड और वेल्स (Wales) में स्थानीय स्वशासन के एकको के निम्न नाम हैं :—

पैरिश (The Parish)—यद्यपि चर्च (Church) के सम्बन्ध मे इगलैण्ड पैरिशो (Parishes) में विभक्त है, किन्तु स्थानीय सस्था के रूप में पैरिश देहात में होते हैं। जिस गाँव की आबादी ३०० से कम होती है, उसमे प्राय परिषद् (Council) नही होती और इस पैरिश के मामले सभा में तय हो जाते हैं और उस सभा में प्रत्येक करदाता भाग ले सकता है। वडी पैरिशो में पाँच से लेकर दस सदस्यो तक की परिषद् (Council), उसी पैरिश की सभा में निर्वाचित कर ली जाती है और वह तीन वर्ष तक अपना कार्य करती है। पैरिश की कौसिल या सभा के कर्त्तव्य सामान्य से होते हैं। यह परिषद् (Council) छोटी-सी शिक्षा-समिति (Minor Educational Authority) के रूप में भी कार्य करती है, और यह सार्वजनिक

निर्माण एव खेल-कूद के मैदान का प्रबन्ध करती है और मार्ग के स्थानीय अधिकारो की रक्षा करती है। यदि कभी इस सम्बन्ध में अधिनियम पास हो जाय तो गांव में प्रकाश की भी व्यवस्था कर सकती है और यदि ऊँचे अधिकारीगण चाहें तो उस परिषद् के हाथ में जल-व्यवस्था और पगडण्डी की मरम्मत व्यवस्था भी दी जा सकती है। किसी पैरिश में एक वेतनभोगी लिपिक (Clerk) रह सकता है, किन्तु लिपिक के अतिरिक्त और कोई वेतनभोगी अधिकारी नही होता।

डिस्ट्रिक्ट (The District)—बहुत सी पैरिशे मिलकर सरल डिस्ट्रिक्ट का निर्माण करती हैं और यदि कोई पैरिश उद्योगो के विकास के फलस्वरूप छोटे से नगर में परिवर्तित हो जाये, तो ऐसी पैरिश, काउण्टी परिषद् (County Council) से प्रार्थना कर सकती है कि उसको अरबन डिस्ट्रिक्ट (Urban District) का स्वरूप प्रदान किया जाय। अरबन डिस्ट्रिक्टो (Urban Districts) और रूरल डिस्ट्रिक्टो (Rural Districts) के लिये परिषदें (Councils) तीन-तीन वर्ष के लिये निर्वाचित की जाती हैं किन्तु प्रतिवर्ष एक-तिहाई सदस्य अवकाश ग्रहण कर लेते हैं। चेयरमैन (Chairman) या तो कोई कौंसिलर (Councillor) ही हो सकता है। या बाहर से भी निर्वाचित किया जा सकता है, किन्तु दोनों स्थितियो में डिस्ट्रिक्ट के चेयरमैन को अपने कार्यकाल में जस्टिस आफ दी पीस (Justice of the Peace) के अधिकार होते हैं।

डिस्ट्रिक्ट की शक्ति और प्रतिष्ठा पैरिश की अपेक्षा अधिक होती है। केन्द्रीय सरकार डिस्ट्रिक्ट स्वशासन को निवास स्थान सम्बन्धी सत्ता दे देती है, और इस प्रकार डिस्ट्रिक्टो को भूमि प्राप्त करने और मकान निर्माण करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है, साथ ही मैले स्थानो और भीड-भाड (Slums and over-crowding) अथवा अधिक जनसख्या या अधिक मकानो के सम्बन्ध में ठीक व्यवस्था करने के भी अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। सफाई एव आरोग्य विषयक अधिकारो के प्रयोग के सम्बन्ध में डिस्ट्रिक्ट परिषद् जल-व्यवस्था और अन्य आरोग्य विषयक क्रियाकलाप अपने हाथो में ले सकते हैं। राष्ट्रीय सडको (Trunk roads) का प्रबन्ध तो परिवहन मन्त्रालय के हाथो में रहता है और अन्य बडी-बडी सडको का प्रबन्ध काउण्टी (Counties) के हाथो में रहता है। किन्तु अ-वर्गीकृत (Non-classified) सडकें, जिनके लिये मन्त्रालय कोई अनुदान नही देता, अरबन डिस्ट्रिक्ट परिषदो (Urban District Councils) के ही अधिकार क्षेत्र में हैं, और इनकी मरम्मत आदि उन्ही को करानी पडती है। देहातो में, यद्यपि काउण्टी ही उत्तरदायी सत्ता होती है, किन्तु कभी-कभी काउण्टी (County) बहुत से अधिकार रूरल डिस्ट्रिक्टो (Rural Districts) को दे देती हैं।

डिस्ट्रिक्ट परिषदो (District Councils) का प्राय लोकोपयोगी अथवा सार्वजनिक सेवाओ (Public Utilities) में भी हाथ रहा है। किन्तु गैस और विद्युत् शक्ति के राष्ट्रीयकरण के साथ डिस्ट्रिक्टो के इस दिशा में कार्यकलाप प्राय.

समाप्त हो गये हैं। डिस्ट्रिक्ट परिषदो (District Councils) में प्रायः कई वेतनभोगी अधिकारी होते हैं जैसे क्लर्क (Clerk), खजान्ची (Treasurer), स्वास्थ्य अधिकारी (Medical Officer of Health), सफाई निरीक्षक (Sanitary Inspector), और ओवरसीयर (Surveyor of Highways)। अरबन डिस्ट्रिक्ट परिषद् (Urban District Council) के पास कतिपय अधिक शक्तियाँ होती हैं जैसे भूमि का आवटन (allotment), पुस्तकालय (libraries), और सार्वजनिक स्नानागारो (Public baths) का प्रवन्ध। जिन अरवन डिस्ट्रिक्टो में जनसख्या २५,००० से अधिक होती है, उनमें वेतनभोगी मजिस्ट्रेट (Stipendary Magistrate) की नियुक्ति की जा सकती है। सत्य तो यह है कि किसी बडे अरवन डिस्ट्रिक्ट (Urban Disrict) में और छोटे बौरो (Boroughs) में नाम मात्र का ही भेद होता है।

काउण्टी (The County)—इगलैण्ड में आज भी सैकडो वर्ष पुरानी काउण्टी व्यवस्था चल रही है। वर्त्तमान ५२ काउण्टियाँ पुरानी व्यवस्था के आधार पर चल रही हैं। इनके कोई महत्वपूर्ण कर्त्तव्य नही हैं। इन काउण्टियो में निर्वाचित परिषदें (Elected Councils) नही होती और केवल तीन मुख्य अधिकारी होते हैं। वे हैं लार्ड लेफ्टीनेंट (Lord Lieutenant), शेरिफ (The Sheriff), और जस्टिस आफ दी पीस (Justice of the Peace)। लार्ड लेफ्टीनेंट का पद अत्यन्त गौरवपूर्ण होता है और उस पर प्राय देहात के किसी धनिक व्यक्ति को नियुक्त किया जाता है। काउण्टी के अभिलेख (Records) उसी के उत्तरदायित्व में होते हैं और वही जस्टिस आफ दी पीस (Justice of the Peace) पद के लिए योग्य व्यक्तियो के नाम की सिफारिश करता है। शेरिफ (The Sheriff) एसाइजेज (Assizes) नाम के न्यायालयो की स्थापना की समस्त तैयारी एव कार्यवाही करता है।

आजकल कुल ६२ प्रशासनिक काउण्टियाँ हैं जो पुरानी ५२ ऐतिहासिक काउण्टियो के ऊपर स्थापित कर दी गई हैं। प्रत्येक प्रशासनिक काउण्टी को निर्वाचन विभागो (Electoral Division) में विभाजित कर दिया गया है और प्रत्येक विभाग (Division) से चुनावो मे एक पारिषद् (Councillar) निर्वाचित किया जाता है। ये चुनाव प्रति तीसरे वर्ष होते हैं। निर्वाचित पारिषद् अपनी सदस्य सख्या के बराबर एल्डरमैन (Aldermen) चुनते हैं। प्राय स्वय पारिषद् ही एल्डरमैन भी होते हैं, उस अवस्था में नये पारिषद् के चुनाव के लिए उपनिर्वाचन (By-election) किया जाता है। एल्डरमैन शब्द अति प्राचीन है और सैक्सन (Saxon) काल में उन प्रौढ वयस्क निर्वाचित सदस्यो के लिये प्रयुक्त होता था जो अपने अनुभव से शासन को सहायता देते थे। आजकल एल्डरमैन के लिए आयु के सम्वन्ध में कोई वन्धन नही है। एल्डरमैनो का चुनाव छ वर्षो के लिए होता है किन्तु प्रत्येक पारिषद् के चुनाव (Council election) के समय आधे सदस्य अवकाश ग्रहण कर लेते हैं। इसमें सन्देह नही कि अपनी लम्बी पदावधि के कारण एल्डरमैन परिषद् के कार्य के अनुरूप पर्याप्त अनुभव अर्जित कर लेते हैं। इसके द्वारा वे योग्य व्यक्ति जो चुनाव के झझट से बचना चाहते हैं, इस

प्रकार निर्वाचित हो जाते हैं। काउण्टी परिषद् (County Council) के चेयरमैन का चुनाव भी उसी प्रकार होता है जिस प्रकार कि डिस्ट्रिक्ट परिषद् (District Council) के चेयरमैन का, और उसको भी जस्टिस आफ दी पीस (Justice of the Peace) के वही अधिकार होते हैं। परिषद् (Council) अपने चेयरमैन को वेतन भी दे सकती है और सदस्यो को आने-जाने का भत्ता भी उस समय दे सकती है जिस समय वे परिषद् के कार्य से यात्रा करें।

काउण्टी परिषदें, काउण्टी के प्रशासन और उसकी नीति के लिये उत्तरदायी होती हैं और वे अपने अधीनस्थ संस्थाओ के कार्य का निरीक्षण और पर्यवेक्षण करती हैं। काउण्टी परिषदें, केन्द्रीय शासन की ओर से भी कार्य करती है और उसके साथ मिल कर सार्वजनिक साहाय्य (Public Assistance) और पेंशनो (Pensions) से सम्बन्धित प्रशासन में हाथ बटाती हैं। काउण्टी परिषदें ही साधारण स्थानीय सेवाओ, इमारतो और शरणालयो अथवा अनाथालयो (Asylums) का प्रबन्ध करती हैं। लाइसेंस के नियमो (Licensing Laws) के सम्बन्ध में भी ये परिषदें (County Councils) ही कार्य करती हैं जिनमें शराब सम्बन्धी नियम अपवाद हैं, तथा ये ही काउण्टी के लिये आवश्यक एव नियमित प्रशासन के सेवको की नियुक्तियाँ करती हैं।

दो महत्त्वपूर्ण सविधियो, १९४४ का शिक्षा अधिनियम (The Education Act of 1944) और नगर एव काउण्टी योजना अधिनियम १९४४ एव १९४७ (Town County Planning Acts of 1944 and 1947) के पास हो जाने से नई और पर्याप्त महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ एव कर्त्तव्य काउण्टी परिषदो के उत्तरदायित्व में आ गये हैं। १९४४ के शिक्षा अधिनियम ने समस्त शिक्षा का पूरा उत्तरदायित्व काउण्टियो के ऊपर डाल दिया है। शिक्षा का उत्तरदायित्व पहिले काउण्टियों (Counties), बौरोज़ (Boroughs) और अरबन डिस्ट्रिक्टो (Urban Districts) में बँटा हुआ था। १९३९-१९४५ के युद्ध के बाद पास किये हुए अधिनियमो ने काउण्टी को स्वास्थ्य सेवाओं के लिए भी उत्तरदायी सत्ता माना है और टाउन एव काउण्टी के नियोजन के लिये भी उत्तरदायी माना है। पिछला अर्थात् टाउन एव काउण्टी नियोजन का उत्तरदायित्व इस कारण आवश्यक हो गया क्योकि समस्त देश की योजना के अनुरूप ही युद्ध जर्जरित क्षेत्रों का पुनर्निर्माण करना आवश्यक था। सामान्य कर्त्तव्यो के अतिरिक्त काउण्टी परिषद् को अपने क्षेत्र की कृषि व्यवस्था भी देखनी पडती है और कृषि के सम्बन्ध में काउण्टी परिषद् के कर्त्तव्य एव उत्तरदायित्व पर्याप्त मात्रा में बढ गये है।

ऐसी स्थायी सयुक्त समिति (Standing Joint Committee) के द्वारा जिस के आधे सदस्य जस्टिस (Justices) होते हैं और आधे सदस्य काउण्टी पारिषद् होते हैं, काउण्टी शासन (County Government) के पुराने और नये दोनो स्वरूपो को मिला दिया गया है। यही समिति काउण्टी के चीफ कान्स्टेबिल (Chief Constable) की नियुक्ति करती है और काउण्टी में विधि (Law) और गृह मत्रालय के विनियमो (Regulations) के अनुसार पुलिस दल (Police Force) की स्थापना एव नियुक्ति

करती है। यह पुलिस दल, गृह मन्त्रालय (Home Office) के नियन्त्रण में रहता है और वर्ष में एक बार उसका निरीक्षण होता है, और यदि गृह मन्त्रालय पुलिस दल के कार्य को सन्तोषजनक समझता है तो उस दल के ऊपर जो व्यय होता है उसका आधा केन्द्रीय सरकार दे देती है। इस नियन्त्रण के अनुसार, काउण्टी की पुलिस अपने क्षेत्र में समस्त पुलिस कर्त्तव्यो के लिये उत्तरदायी होती है।

पौर अथवा बौरो (The Borough)—स्थानीय शासन का एक विशेष प्रकार का एकक बौरो (Borough) होता है जो केवल एक विशेष आज्ञा या चार्टर वाला नगर है। कोई अरबन या रूरल डिस्ट्रिक्ट (Urban or Rural District) जो बौरो बनाना चाहे, सपरिषद् सम्राट् (His Majesty in Council) को चार्टर (Charter) के लिए प्रार्थना-पत्र भेजता है। अगर स्थानीय करदाताओं में से ५% लोग भी आपत्ति करें, तो उस दिशा में ससद् के अधिनियम की आवश्यकता होगी।

पौर अथवा बौरो का शासन बौरो की परिषद् (Borough Council) करती है जिसकी रचना लगभग उसी प्रकार होती है जिस प्रकार कि काउण्टी परिषद् अथवा डिस्ट्रिक्ट परिषद् की। चुनाव के उद्देश्य से बौरो को वार्डों (Wards) में विभाजित किया जाता है और प्रत्येक वार्ड (Ward) से तीन या तीन के अपवर्त्य की सख्या में पारिषद् चुने जाते हैं। उन पारिषदो (Councillors) में से एक-तिहाई प्रति वर्ष हट जाते हैं। पारिषद् ही अपनी सख्या की तिहाई सख्या के लिये एल्डरमैन (Aldermen) निर्वाचित करते हैं। यह ठीक उसी प्रकार होता है जिस प्रकार काउण्टी परिषदो के लिए बताया गया था। बौरो की परिषद् (The Borough Council) अपना मेयर (Mayor) या तो अपने पारिषदो (Councillors) में से या बाहर से चुनती है। मेयर एक वर्ष के लिए चुना जाता है किन्तु वह पुनर्निर्वाचित भी हो सकता है। मेयर न केवल बौरो परिषद् का चेयरमैन होता है, अपितु स्थानीय जस्टिस आफ दी पीस (Justice of the Peace) में भी सभापति का आसन अपनी अवधि में ग्रहण करता है और उस वर्ष के अगले वर्ष भी जस्टिस आफ दी पीस बना रहता है। प्राय उसके कर्त्तव्य दिखावे मात्र के अथवा केवल औपचारिक (Ceremonial) होते हैं।

यदि किसी नगर को बौरो या पौर (Borough) की स्थिति (Status) प्राप्त हो जाय तो उसके फलस्वरूप उस पौर (Borough) की सम्मानयुक्त स्थिति हो जाती है। पौर अथवा बौरो की स्थिति का यह भी परिणाम होता है कि उक्त नगर को दिखावे और औपचारिक रस्मो पर अधिक धन-राशि व्यय करनी पडती है। सभी पौरो अथवा बौरो (Boroughs) के आधीन कम से कम वे शक्तियाँ अवश्य होती है जो बडी-बडी अरबन डिस्ट्रिक्ट परिषदो (Urban District Councils) के आधीन होती हैं और इनके अतिरिक्त वे अधिकार भी होते हैं जो चार्टर (Charter) के द्वारा प्राप्त होते हैं। किसी पौर अथवा बौरो (Borough) को प्राचीन प्रथा अथवा शाही आज्ञा के अनुसार नगर (City) का नाम दिया जा सकता है, किन्तु यह केवल एक औपचारिक नामकरण है इससे वैधिक शक्तियो में कोई अन्तर नही पडता। कुछ अत्यन्त

प्रसिद्ध नगरो (Cities) के मेयरो को लार्ड मेयर (Lord Mayors) कहा जाता है। काउण्टी परिषद् (County Conucil) की तरह से पौर परिषद् (Borough Council) भी अपना काम-काज समितियो के द्वारा चलाती है। पौर परिषद् ही अपनी भू-संपदा (Corporate Estate) का और पौर-सचित-निधि (Borough Fund) का प्रबध करती है। बौरो अथवा पौर परिषद् ही बौरो के करो की व्यवस्था करती है। पौर अथवा बौरो (Borough) का अपना आय-व्ययक (Budget) होता है और यही धन को उचित रूप में व्यय करती है अथवा नियोजित करती है। यही पौर परिषद् उन नागरिक सेवाओ की व्यवस्था करती है जो कभी-कभी वहुत विस्तृत और लम्बी-चौडी होती हैं।

लन्दन का नगर प्रशासन (The Government of London)—लन्दन ससार में सबसे बडी राजधानी है और न्यूयार्क (New York) को छोडकर लन्दन (London) का ससार मे सव राजधानियो से बडा क्षेत्रफल है। आज भी पुराना लन्दन नगर है जिसकी सीमायें, सडको के नाम और स्थानीय प्रशासन-विधि वही हैं जो सैकडो वर्ष पूर्व थी। इस शहर के चारो ओर लाखो गरीबों और अमीरो के घर और इमारते खडी हो गई हैं। इस बडे डिस्ट्रिक्ट के व्यवस्थापूर्ण प्रशासन को प्रारम्भ हुए केवल लगभग १०० वर्ष हुए हैं।

वास्तविक लन्दन नगर का क्षेत्रफल लगभग एक वर्ग मील है जो लन्दन के बीच में स्थित है और जो मुख्यत व्यापारिक और आर्थिक केन्द्र है और जिसमे, दिन में तो दस लाख से भी अधिक व्यक्ति कामकाज करते रहते हैं किन्तु जहाँ रात्रि में पूर्ण निस्तब्धता रहती है। इस शहर को २६ वार्डों में बाँट दिया गया है और प्रत्येक वार्ड (Ward) अपने आकार के अनुरूप कतिपय पारिषद् (Councillors) कोर्ट आफ कॉमन कौंसिल (Court of Common Council) के लिये निर्वाचित करतो है। निर्वाचन में वे ही व्यक्ति भाग ले सकते हैं जो या तो इस क्षेत्र में निवास करते हो अथवा जो इस क्षेत्र में व्यवसाय करते हो। उन २०६ पारिपदो (Councillors) के अतिरिक्त जो प्रतिवर्ष निर्वाचित होते हैं, कोर्ट आफ कामन कौंसिल (Court of Common Council) में २६ एल्डरमैन (Aldermen) होते हैं, जो नागरिकों द्वारा निर्वाचित होते हैं और जो आजीवन अपने स्थानो पर बने रहते हैं। इन एल्डरमैनो और लार्ड मेयर (Lord Mayor) को मिलाकर एक अलग कोर्ट आफ एल्डरमैन (Court of Aldermen) का निर्माण होता है। एक अन्य तीसरा निकाय भी होता है जिसे कोर्ट आफ कॉमन हाल (Court of Common Hall) कहते हैं जिसमें कोर्ट आफ एल्डरमैन (Court of Aldermen) के सभी सदस्य तथा नगर कम्पनियो (City Companies) के कुल वेपधारी (Liverymen) होते हैं। ये कम्पनियाँ अथवा मण्डल (Companies) पुराने सघो (Guilds) की वशज हैं। आजकल इनके कोई अपने कर्त्तव्य नही हैं और वास्तव में वे धनिक लोगो की प्राइवेट सभाएँ हैं। कोर्ट आफ कामन हाल (Court of Common Hall) प्रति वर्ष दो एल्डरमनो (Aldermen) का

चुनाव करता है, जिनमें से एक को कोर्ट आफ एल्डरमैन (Court of Aldermen) के द्वारा लार्ड मेयर (Lord Mayor) चुना जाता है।

कोर्ट आफ कामन कौंसिल (Court of Common Council) ही लन्दन नगर की वास्तविक प्रशासनिक सत्ता है। नागरिक सेवाओ के लिये यह कौंसिल या काउण्टी (County) पर निर्भर रहती है यद्यपि स्वय इस परिषद् के पास भी अपना पुलिस दल और अपने न्यायालय हैं। यह परिषद् नगर की सीमाओ के वाहर भी कुछ क्षेत्रो पर नियन्त्रण रखती है। लन्दन नगर में अनेको शानदार उत्सव होते हैं, विशेषकर वार्षिक लार्ड मेयर डे (Lord Mayor's Day) का उत्सव होता है जो सभा भवन (Guild Hall) में मनाया जाता है।

लन्दन काउण्टी परिषद् (The London County Council)—१८८८ के अधिनियम ने लन्दन (London) के लिये काउण्टी परिषद् की स्थापना की। काउण्टी परिषद् और मेट्रोपोलिटन पौर या वौरो (Metropolitan Boroughs) को मिला कर १९३९ के लन्दन गवर्नमैण्ट अधिनियम (London Government Act of 1938) के अनुसार एक कर दिया गया है। लन्दन काउण्टी कौंसिल (London County Council) अन्य काउण्टी परिषदो (County Councils) से नाम मात्र में मिलती-जुलती है, वास्तव में उन दोनो में तीन मुख्य अन्तर हैं। प्रथमत., लन्दन काउण्टी कौंसिल (L C C) की रचना दूसरे प्रकार से की गई है क्योकि इसके निर्वाचक-मण्डल वही हैं जो ससद् (Parliament) के लिये भी राजधानी की ओर से सदस्य चुनते हैं, केवल अन्तर इतना है कि काउण्टी पारिषद् (County Councillors) ससद् सदस्यो से दुगुनी सख्या में निर्वाचित किये जाते हैं। निर्वाचित एल्डरमैनो (Aldermen) का अनुपात १ ६ का है किन्तु अपेक्षाकृत पारिषदो (Councillors) का अनुपात १ ३ का है और लन्दन काउण्टी परिषद् (L C. C) का चेयरमैन (Chairman) अत्यन्त महिमान्वित व्यक्ति होता है, यद्यपि नीति पर उसका कोई नियन्त्रण नही होता। द्वितीयत, सामान्य काउण्टी परिषद् (County Council) समस्त पुराने काउण्टी क्षेत्र पर—काउण्टी पौरो अथवा वौरोज़ (Boroughs) को छोडते हुए—सदैव के लिये तुरन्त पूर्ण नियन्त्रण स्थापित कर लेती है। किन्तु लन्दन काउण्टी कौंसिल (L. C C) को केवल लन्दन (London) की काउण्टी कौंसिल पर ही प्रशासन का अधिकार मिला है। तृतीय अन्तर यह है कि लन्दन काउण्टी कौंसिल (L C C) को पुराने वोर्ड आफ वर्क्स (Board of Works) और साथ ही काउण्टी कौंसिल (County Council) दोनो के कर्त्तव्यो पर नियन्त्रण मिल गया है।

लन्दन काउण्टी परिषद् (L. C C) के १२९ पारिषद् (Councillors), २६ एल्डरमैन (Aldermen) निर्वाचित करते हैं जो छ वर्षों तक अपने स्थानो पर वने रहते हैं, यद्यपि आधे सदस्य तीसरे वर्ष स्वय हट जाते हैं। कौंसिल (L C C) का चेयरमैन वाहर से भी लिया जा सकता है जिस प्रकार कि लार्ड स्नैल (Lord Snell)

को १९३४ में बाहर से लिया गया। लन्दन काउण्टी कौंसिल (L C C) के अधिकार और शक्तियाँ अत्यन्त विस्तृत हैं। यही (L C C), नालियो (Sewers), मल अपवहन (Sewage disposal), आग के विरुद्ध सुरक्षा, सुरगो (Tunnels), घाटो एव पुलो (Ferries and Bridges) के सुप्रबन्ध के सम्बन्ध में पूर्णतया उत्तरदायी सत्ता है। यही परिषद् (L C. C) उन सडको के सुधार के सम्बन्ध में उत्तरदायी है जो राजधानी की सडकें हैं। इसको ट्रामवेज (Tramways) के निर्माण और चलाने के सम्बन्ध में पूरी शक्तियाँ प्राप्त हैं और इसने कई बार मकानो के पुनर्निर्माण सम्बन्धी योजनाओ को अपने हाथों में लिया है, जिसमें मैली-कुचैली गलियो के मकानो को गिराना और श्रमिको के लिये नये निवास-स्थान तैयार कराना भी था। यही परिषद् (L. C C.) लन्दन के बडे-बडे पार्कों की सुरक्षा और सर्वसाधारण की तफरीह (Public recreation) के साधनो को जुटाने के लिए उत्तरदायी है। साथ ही यह परिषद् प्राथमिक, उच्चतर-माध्यमिक (Secondary) और औद्योगिक शिक्षा एव प्रशिक्षण के लिये पूर्णरूपेण प्रबन्धकारिणी सत्ता है।

राजधानी सम्बन्धी पौरें अथवा बौरोज (The Metropolitan Boroughs)—लन्दन नगर को छोडते हुए, लन्दन काउण्टी (London County) का क्षेत्र २८ राजधानी सम्बन्धी पौरो (Metropolitan Boroughs) में विभाजित कर दिया गया है। इन पौरो (Boroughs) के लिये पारिषद् (Councillors) तीन वर्ष की अवधि के लिये चुने जाते हैं, और पुन वे पारिषद् (Councillors) अपनी सदस्य सख्या के तिहाई एल्डरमैन (Aldermen) छ॰ वर्षों के लिये चुनते हैं, किन्तु उन एल्डरमैनो में से आधे सदस्य प्रति तीसरे वर्ष हट जाते हैं। मेयर (Mayor) का चुनाव उसी प्रकार होता है जिस प्रकार किसी नगर बौरो (Municipal Borough) में और उसके वही अधिकार और वही शक्तियाँ होती हैं, अन्तर केवल यह है कि वह केवल अपनी पदावधि के वर्ष के लिये ही पदेन जस्टिस आफ-पीस (Ex officio Justice of the Peace) होता है, न कि अगले वर्ष के लिये भी। अपने कर्त्तव्यो के सम्बन्ध में, राजधानी के बौरो (Metropolitan Boroughs) उन छोटे नगर बौरो (Smaller Municipal Boroughs) से मिलते-जुलते हैं जिनके नियन्त्रण मे न तो पुलिस दल रहता है और न जो सार्वजनिक शिक्षा के सम्बन्ध में कोई अधिकार रखते हैं। स्वास्थ्य सेवाओ (Health Services) के सम्बन्ध में लन्दन काउण्टी कौंसिल (L C C.) और मेट्रोपोलिटन बौरोज (Metropolitan Boroughs) मिल-जुल कर काम करती हैं। कतिपय पौरो अथवा बौरोज़ (Boroughs) की अपनी निवास-स्थानो सम्बन्धी योजनाएँ हैं।

Suggested Readings

Champion and Others · Britsh Government Since 1918 (1951), Chapter VI.

Clarke, J J.	Outlines of Local Government (1949), 6th Edition.
Cole, G. H.	Local and Regional Government (1947)
Finer, H.	English Local Government (1950), 4th Edition
Jennings, W I.	Principles of Local Government Law (1947), 3rd Edition
Robson, W A	The Development of Local Government (1954), 3rd Edition
Maud, J P R.	Local Government in Modern England

संयुक्त राज्य अमेरिका का शासन

(The Government of United States of America)

अध्याय १

एक राष्ट्र का जन्म

(The Birth of a Nation)

अमेरिका की ओर (Towards America)—सत्रहवी एव प्रारम्भिक अठारहवी शताब्दियो मे यूरोप से बहुत से लोग स्वदेश छोडकर अमेरिका में बसने के लिये आये। जिस मुख्य कारणवश यूरोपीय लोग अपना घर छोडकर अमेरिका जाने पर विवश हुए वह आर्थिक सम्पन्नता की आकाक्षा थी और इस दिशा में इगलैण्ड सर्वप्रथम प्रवृत्त हुआ। १६२० से लेकर १६३५ तक इगलैण्ड के ऊपर अपार आर्थिक सकटकाल उपस्थित रहा जिसके कारण लाखों व्यक्ति बेकार हो गये। यहाँ तक कि सुदक्ष शिल्पियो को भी पेट भरना मात्र कठिन हो गया। उन्हीं दिनों अनाज की फसलें भी खराब होती रहीं, जिसके कारण इगलैण्ड के लोगो की कठिनाइयाँ और भी बढ गईं। इसके अतिरिक्त इगलैण्ड का ऊन-व्यापार एव ऊन-उद्योग निरन्तर बढ रहा था जिसके कारण अधिकतम कच्चे ऊन की आवश्यकता थी जिससे कि करघे चालू रहे और इसी लिये भेड पालने वालों ने अधिकतम लाभ उठाने की इच्छा से उन जमीनो को भी भेड चराने के बाडो में परिणत कर लिया जिन पर अब तक खेती होती थी।

इसी के साथ धार्मिक विप्लवो ने भी लोगो को स्वदेश छोडने पर मजबूर किया। प्यूरिटन (Puritan) नाम का एक कट्टरपन्थी ईसाई वर्ग था। उसमें एक उन्मूलनवादी सम्प्रदाय था जिसे पृथकतावादी सम्प्रदाय (Separatists) कहा जाता था, जिसके अनेको अनुयायी जेम्स प्रथम (James I) के राज्य-काल में हॉलैण्ड (Holland) में जाकर बस गये थे जहाँ वे मनचाहे ढग से अपना-अपना धर्म-पालन करते थे। कुछ वर्षों के बाद इसी सम्प्रदाय के कुछ लोगो ने निश्चित किया कि वे नई दुनिया में जाकर बसें और इस प्रकार १६२० में उन लोगो ने अमेरिका में न्यूप्लीमथ (New Plymouth) में यात्रियो की एक नई बस्ती (Pilgrim) बसाई। इगलैण्ड में भी चार्ल्स प्रथम (Charles I) के राज्यारोहण के शीघ्र बाद वे प्यूरिटन (Puritan) वर्ग के ईसाई लोग, जिन पर धार्मिक अत्याचार हो रहे थे, हॉलैण्ड से अभियान करने वाले यात्रियो के पीछे-पीछे अमेरिका की ओर चले और उन्होने वहाँ पहुँचकर मैसैचुसेट्स बे कालोनी (Massachusetts Bay Colony) नाम की नई बस्ती को आबाद किया। किन्तु जो लोग धार्मिक कारणो से स्वदेश छोडकर अमेरिका जाकर बसे थे, उनमें केवल प्यूरिटन (Puritan) वर्ग के लोग ही न थे। क्वेकर (Quaker) वर्ग के साथ

अच्छा व्यवहार न होने के कारण विलियम पेन (William Penn) ने पेनसिलवानिया (Pennsylvania) नाम के उपनिवेश को बसाया। इगलैण्ड के कैथोलिक सम्प्रदाय के लोगो ने भी सेसिल कालवर्ट (Cacil Calvert) के धार्मिक नेतृत्व में मेरीलैण्ड (Maryland) नाम की नई बस्ती बसाई। चार्ल्स प्रथम (Charles I) के स्वेच्छाचारी एव अनियन्त्रित शासन-काल में बहुत अधिक सख्या में लोग इगलैण्ड छोडकर अमेरिका जा बसे। क्रोमवेल (Cromwell) की विजय के बाद राजा के अनेको अश्वारोही पदाधिकारियो ने भी आतकग्रस्त होकर इगलैण्ड छोडकर वर्जीनिया (Virginia) बसाया।

जर्मनी में बहुत से छोटे-छोटे राजा थे जो लोगो के साथ निरन्तर अत्याचार करते थे। इस कारण जर्मनी से भी बहुत से लोग अमेरिका जा बसे। फिर भी सत्रहवी शताब्दी के प्रथम ७५ वर्षों में जितने लोग अमेरिका आकर बसे, उनमें अत्यधिक सख्या अग्रेजो की ही थी। मध्य अमेरिका मे कही-कही डच (Dutch), स्वीडन (Sweden) के लोग, अथवा जर्मनीवासी भी थोडी सख्या में बसे थे, कारलोनियाँ (Carlonia) के दक्षिण में एव अन्यत्र कही-कही फ्रास के ह्यूगनौट (Huguenots) बसे थे, और थोडी सख्या में कही-कही स्पेनवासी अथवा इटलीवासी अथवा पुर्तगाल निवासी भी बस गये थे। किन्तु अग्रेजो के अतिरिक्त अन्य लोग कठिनाई से सारी आबादी के दस प्रतिशत भी न होगे। १६८० के बाद इगलैण्ड से अधिक सख्या में लोग अमेरिका की ओर नही गये। इस काल में अधिकतर लोग जर्मनी, आयरलैण्ड (Ireland), स्काटलैण्ड (Scotland), स्विटजरलैण्ड (Switzerland) एव फ्रास (France) से आये। इन सब जातियो के लोगो के स्वदेश छोडने के भिन्न-भिन्न कारण थे। काफी समय तक लोग आकर बसते ही रहे और अमेरिका की आबादी जो १६९० में २½ लाख थी, वह बढ कर १७७५ में ५ लाख तक पहुँच गई।

स्वतन्त्रता की ओर (Towards Independence)—जो लोग इगलैण्ड से आये थे, वे अपने साथ न केवल अग्रेजी भाषा लाये, बल्कि स्वतन्त्रता एव स्व-शासन की आँग्ल-सैक्सन (Anglo-Saxon) परम्परायें भी अपने साथ लाये थे क्योकि अग्रेजो को मैग्ना कार्टा (Magna Carta), बिल आफ राइट्स (Bill of Rights) एवं हेबियस कार्पस एक्ट (Habeas Corpus Act) का ज्ञान था। अग्रेजो ने इन सभी परम्पराओ का अमेरिका में भी बीजारोपण कर दिया। वास्तव में उन्होने अपनी नई बस्तियो में सामान्य विधि (Common Law) की सृष्टि की। प्राय अग्रेजो के अतिरिक्त अन्य यूरोपीय नवागन्तुको ने अपने आपको पहिले से बसे हुए लोगो अर्थात् अग्रेजो के साथ घुलाना-मिलाना प्रारम्भ कर दिया क्योकि उन्होने अग्रेजी भाषा, अग्रेजी सामान्य विधि, अग्रेजी रीति-रिवाज और अग्रेजी आदतें तक स्वीकार कर ली। इस सास्कृतिक मिश्रण का फल यह हुआ कि विभिन्न सस्कृतियो का सम्मिश्रण होकर एक नई सस्कृति का उदय हुआ जिसमें अग्रेजो की सस्कृति एव यूरोप के अन्य देशो की सस्कृति थी जिसके साथ-साथ उस नई सस्कृति पर नई दुनिया का प्रभाव भी अवश्य पडा।

अमेरिका में नई बस्तियाँ बसाने के पूर्व यह आवश्यक था कि इस हेतु आवश्यक वैधिक अधिकार प्राप्त किये जायें। इगलैण्ड के राजा ने इस प्रकार की आज्ञा, शासन पत्रो में कुछ व्यापारी कम्पनियो को प्रदान की, फिर कुछ व्यक्तियो को भी आज्ञायें मिली और फिर अन्य उपनिवेशियो को भी दी गईं। इस प्रकार प्रत्येक नई बस्ती में शासन का आधार ब्रिटिश क्राउन की सर्वोच्चता थी। यद्यपि इगलैण्ड की सरकार इतनी दूर से पर्याप्त एव प्रभावी शासन चलाने में अशक्य थी। नई बस्तियाँ अपने आरम्भिक काल में प्राय अपना विकास मनमाने ढग से कर सकती थी। इन उपनिवेशियो को स्वशासन की अधिक मात्रा में छूट मिली। उससे वे लोग कुछ-कुछ ब्रिटेन के प्रभाव से दूर हो गये, और यह उस समय स्पष्ट हो गया जबकि कुछ वर्षों के बाद इगलैण्ड की सरकार ने कतिपय मामलो में उपनिवेशियों पर प्रतिबन्ध लगाने चाहे और इगलैण्ड की सरकार को विरोध देखना पडा। वास्तव में समय के साथ-साथ अमेरिका में नये बसने वाले लोग अब अग्रेज न रह गये थे बल्कि अमेरिकन होते जा रहे थे और इस प्रवृत्ति को अन्य राष्ट्रीय गुटो और अन्य सस्कृतियो के सम्मिश्रण से और भी बल मिला। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, यह सस्कृतियो का सम्मिश्रण बराबर जारी था। यह सब किस प्रकार हुआ, और एक नये राष्ट्र का जन्म किन परिस्थितियो में हुआ, इसका वर्णन सेंट जान क्रेवेक्योर (St John Crevecouer) ने १७८२ मे सुन्दर ढग से निम्न शब्दो में वर्णन किया है "तो फिर यह नया जीव, एक अमेरिका निवासी है क्या ? वह या तो यूरोप का निवासी है, अथवा किसी यूरोपीय का वशज है इसलिये इस देश में रक्त का एक अजीव सम्मिश्रण आप पाते हैं जो अन्य किसी देश में आपको देखने को न मिलेगा। मैं आपको एक ऐसा परिवार दिखा सकता हूँ जिसका पुरखा अग्रेज था, जिसकी स्त्री डच (Dutch) थी, जिसके बेटे ने फ्रास की स्त्री से विवाह किया और जिसके मौजूदा चार पुत्रो ने चार विभिन्न जातियो की स्त्रियों से विवाह किया है। अमेरिका का नागरिक वह व्यक्ति है जो अपने प्राचीन पक्षपातो को भुलाकर अपने नये जीवन से अपनी नई सरकार से एव अपनी नई अवस्था से नूतन विचार एव पक्षपातहीनता ग्रहण करता है।"

सप्तवर्षीय युद्ध के अन्त में सन् १७६३ में अमेरिका महाद्वीप से फ्रास का अधिकार समाप्त हो गया। कुछ नये प्रदेश ब्रिटेन के अधिकार में आये और उनके सुप्रबन्ध के लिये रुपये की आवश्यकता पडी। सप्तवर्षीय युद्ध में फ्रास के साथ लडते समय अग्रेजो के ऊपर बहुत ऋण हो गया था, अत यह निश्चित किया गया कि अमेरिका की नई बस्तियाँ (Colonies) स्वय शासन-प्रबन्ध में होने वाले व्यय का तथा बस्तियो की रक्षा के ऊपर होने वाले व्यय का कुछ भार वहन करें। साथ ही प्रयत्न किया गया कि व्यापार सम्बन्धी नियमो का कठोरता से पालन कराया जाय और नई बस्तियो के ऊपर कठोर नियन्त्रण रखा जाय। इसके कारण समस्त उपनिवेशियों में तीव्र रोष व्याप्त हो गया। "उनमें से जो व्यापारी अपने उद्योगो को बढाना चाहते थे, वे सौदागर लोग अथवा जहाजो की कम्पनियो के मालिक जो इगलैण्ड के अतिरिक्त

अन्य देशो के साथ व्यापार-सम्पर्क बढाना चाहते थे, वे खेतो और बगीचो के मालिक जिन्हें आशा थी कि डचो अथवा फ्रासीसियो के हाथो अपनी उपज बेचने से उन्हे अग्रजो की अपेक्षा अधिक मूल्य मिलेगा, वे परिकल्पक अथवा सट्टेबाज जो पश्चिमी अमेरिका की जमीनें खरीदना चाहते थे, ये सभी वर्ग अधिक कर लगाये जाने से और कठोर नियन्त्रण से क्रुद्ध थे।"[1]

किन्तु जो भी लोग अप्रसन्न थे अथवा विरोधी थे, उन्होने कभी स्वतन्त्रता प्राप्त करने की बात नही सोची थी। वे केवल यही चाहते थे कि कष्टसाध्य नियम तोड दिये जायें और उपनिवेशियो के ऊपर कम से कम प्रतिबन्ध लगाये जायें। किन्तु उन उपनिवेशियो के विरोध प्रदर्शन के फलस्वरूप आम लोगों मे भी जागृति हुई और मैसेचुसेट्स (Massachusetts) का जॉन एडम्स (John Adams) एव वर्जीनिया (Virginia) के पैट्रिक हैनरी (Patrick Henry) तथा टॉमस जेफरसन (Thomas Jefferson) आदि उन्मूलनवादी (Radicals) नेताओ ने इस परिस्थिति से लाभ उठाया और उन्होंने उपनिवेशियो की भावनाओ को उभारा। उन्होंने—'मनुष्य मात्र की प्राकृतिक स्वतन्त्रता', तथा 'शासन को शासितो की इच्छाओ का दर्पण होना चाहिये'—इन उच्च सिद्धान्तो की दुहाई दी। उन्होने वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा मनुष्यो के मूल अधिकारो के सम्बन्ध में लॉक (Locke) की उक्तियो के उदाहरण उपस्थित किये।

इसका फल यह हुआ कि तिरस्कार-योग्य प्रचलित नियमो एव आज्ञाओ की निरन्तर अवहेलना होती गई। उपनिवेशो के विधानमण्डल प्राय सिपाहियो अथवा अधिकारियो के वेतन उस समय तक रोके रखते थे जब तक कि उनकी माँगें पूर्ण न होती अथवा उनकी शिकायतें दूर न की जाती। १७६० में जब जार्ज तृतीय (George III) ब्रिटेन के राज्य सिंहासन पर बैठा, तो ब्रिटिश सरकार ने निश्चित किया कि अमेरिकी उपनिवेशो की अविनीत एव हठी प्रजा के ऊपर कठोर कदम उठाया जाय। इससे उपनिवेशियो में रोष की ऐसी तीव्र लहर उठी कि उनका सामान्य विरोध क्रान्तिकारी रूप धारण कर बैठा। अनुरञ्जन एव सान्त्वना की दिशा मे सारे प्रयत्न विफल हुए और १७७६ में समस्त उपनिवेशियो के सामने केवल दो ही विकल्प थे – या तो वे अग्रेजी सरकार से क्षमा मांगें और उनकी वश्यता स्वीकार करें अथवा अग्रेजो के विरुद्ध क्रान्ति हो, और जैसा कि सर्व विदित है, उन्होने क्रान्ति का मार्ग चुना।

स्वतन्त्रता की घोषणा (The Declaration of Independence)—४ जुलाई, १७७६ को जो स्वतन्त्रता की घोषणा की गई, उसमें एक नये राष्ट्र का जन्म हुआ। उस घोषणा में उपनिवेशो को राज्यो की संज्ञा दी गई, जो न केवल अग्रेजी क्राउन के अधिकार मे स्वतन्त्र मान ली गई, बल्कि वे सब राजनीतिक रूप मे पूर्ण स्वतन्त्र घोषित की गई। साथ ही इस घोषणा ने मनुष्य मात्र के प्राकृतिक अधिकारो के

---

[1] Burns and Peltason Govt by the People, 2nd. Ed , p 92.

सम्बन्ध में ऐसी प्रजातन्त्रात्मक विचारधारा को जन्म दिया जिससे लोगों में यह विचार घर कर गये कि शासितों की इच्छा के विना शासन नहीं चल सकता, शासन के अधिकार सीमित होने चाहियें; तथा अत्याचारी शासन के विरुद्ध प्रजा को विद्रोह करने का अधिकार है।

क्रान्तिकारी युद्ध प्रत्येक उपनिवेश में लगभग छ वर्षों तक चलता रहा। जब १६ अक्तूबर १७८१ को कार्नवालिस (Cornwallis) ने आत्मसमर्पण कर दिया तो क्रान्ति को रोकने के लिये सैनिक वल प्रयोग समाप्त हो गया। जब इगलैण्ड मे अमेरिका की जीत का समाचार पहुँचा तो वहाँ की लोक सभा (House of Commons) ने युद्ध वन्द करने के पक्ष मे सम्मति दी। तुरन्त ही लार्ड नार्थ (Lord North) की सरकार ने त्यागपत्र दे दिया और नई सरकार ने निश्चित किया कि 'स्वतन्त्रता की घोषणा' के आधार पर शान्ति-सन्धि करली जाय। १७८३ मे सन्धि पर हस्ताक्षर हो गये। इस सन्धि मे यह वात मान ली गई कि समस्त तेरह उपनिवेश पूर्णतया स्वतन्त्र तथा प्रभुतासम्पन्न राज्य होंगे।

प्रसंधान में प्रयोग (Experiment in Confederation)—महाद्वीपीय कांग्रेस ने, जो क्रान्ति के प्रारम्भिक काल में अमेरिकी उपनिवेशों का साधारण प्रवन्ध करती थी, अब काम करना प्रारम्भ कर दिया, यद्यपि न तो उसका कोई सविधान था, न कोई बुनियादी नियम। इसको केवल सकट काल के लिए रचा गया था, अत इसको केवल अल्पकालिक साधन मात्र माना गया था। किन्तु जब युद्ध सन्निकट दिखाई पड़ने लगा और सघ (Union) के लाभ स्पष्ट रूप से दिखाई देने लगे, तो यह निश्चय किया गया कि समस्त राज्यों की मिली-जुली सरकार (Common Government) को दृढ आधार पर स्थापित किया जाय जिसके पास अधिक शक्तियाँ हों और निश्चित प्रभुत्व शक्ति हो। १२ जून १७७६ को, जिसके केवल एक दिन पूर्व स्वतन्त्रता की घोषणा करने वाली समिति की नियुक्ति हुई थी, कांग्रेस ने एक और समिति नियुक्त की जिसमें प्रत्येक उपनिवेश से एक-एक सदस्य लिया गया और उस समिति को यह काम सौंपा गया कि वह एक प्रसंधान (Confederation) की रूपरेखा तैयार करे जो इन उपनिवेशों के ऊपर लागू होगा।" नवम्बर १७७७ में एक विलेख (Instrument), जिसको प्रसधान का अनुच्छेद (Articles of Confederation) भी कहा गया, कांग्रेस ने अन्तिम रूप से तैयार किया, जिसका समस्त राज्यों द्वारा स्वीकृत हो जाने पर प्रभावी होना निश्चित हुआ। १७७८ एव १७७६ के वीच केवल मेरीलैंड (Maryland) को छोडकर सभी राज्यों ने प्रसधान के अनुच्छेद (Articles of Confederation) को स्वीकार कर लिया। पहिली मार्च १७८१ को मेरीलैण्ड (Maryland) ने भी स्वीकृति दे दी और उसी दिन से प्रसधान के अनुच्छेद प्रभावी घोषित हो गए। ये अनुच्छेद (Articles of Confederation) ही सयुक्त राज्य अमेरिका के प्रथम सविधान थे।

इस प्रकार निर्मित किये गये प्रसधान को सयुक्त राज्यों की सुदृढ सघीय

मित्रता कहकर पुकारा गया और इस प्रसधान का उद्देश्य यह घोषित किया गया कि यह सभी राज्यो की सुरक्षा करेगा, इसके द्वारा समस्त नागरिको की स्वतन्त्रताओं की रक्षा होगी और यह सभी राज्यो का सामान्य हित-साधन करेगा। सब सयुक्त-राज्यों के सामान्य हितो की सुरक्षा और सुप्रबन्ध के हेतु सभी राज्यो द्वारा चुने गये प्रतिनिधियों की एक वार्षिक सभा (Annual Congress of Delegates) निर्मित हुई। यह आवश्यक रखा गया कि प्रत्येक राज्य कम से कम दो और अधिक से अधिक सात प्रतिनिधि भेजे और प्रत्येक राज्य को केवल एक वोट प्रदान किया गया, इस निर्णय में न तो इस बात को कोई महत्त्व दिया गया कि कोई राज्य छोटा होगा अथवा कोई बडा, न किसी अन्य विचार को इस ओर आवश्यक समझा गया। महाद्वीपीय कांग्रेस की अपेक्षा, प्रसधान की कांग्रेस के पास निश्चित शक्तियाँ थी जिनके आधार पर वह सभी राज्यो का सामान्य हित साधन कर सकती थी। जैसे युद्ध अथवा शान्ति की घोषणा करना, दूसरे देशो के लिये राजदूत नियुक्त करना, अथवा दूसरे राज्यों के राजदूतो का स्वागत, सधियाँ करना, सिक्के का प्रचलन, रेड इण्डियनो (Indians) के साथ व्यापार प्रचलन, रुपया उधार लेना, जहाजी बेडा तैयार करना, डाक व्यवस्था की स्थापना, सयुक्त राज्य अमेरिका की सशस्त्र सेना के सचालन के लिए उच्च अफसरो की नियुक्ति, और इसी प्रकार की अन्य शक्तियाँ प्रसधान की कांग्रेस के पास थी। यह भी आवश्यक समझा गया कि किसी निर्णय के करने के पूर्व १३ राज्यो में से कम से कम ९ राज्यों की तदर्थ अनुमति आवश्यक होगी।

किन्तु प्रसधान के अनुच्छेदो (Articles of Confederation) में दो कमियाँ रह गई; अर्थात् इन अनुच्छेदों ने कांग्रेस को न तो करारोपण (Taxation) का अधिकार दिया और न वाणिज्य (Commerce) की व्यवस्था का अधिकार। कांग्रेस केवल राज्यो से धन की माँग कर सकती थी। इस प्रकार केन्द्रीय शासन का अस्तित्व राज्यों की सरकारो से प्राप्त हुए दान के ऊपर निर्भर था। प्रसधान के अनुच्छेदो ने न तो देश के लिये कार्यपालिका की व्यवस्था की, न न्याय-व्यवस्था का ही कोई प्रबन्ध किया, हाँ, न्याय-व्यवस्था के सम्बन्ध में एक पुनर्विचारक कोर्ट (Court of Appeal) की स्थापना अवश्य की जिसमें वे मामले जाते थे जिनका सम्बन्ध युद्ध-काल में समुद्रो में पकडे गये शत्रुओं से होता था।

क्रान्ति-काल में कोई कठिनाई सामने नही आई किन्तु युद्ध के बाद अनेको पेचीदा समस्याएँ उठ खडी हुई। युद्ध ने मुद्रा स्फीति उत्पन्न कर दी थी, और मुद्राओ का वास्तविक मूल्य अंकित मूल्य का एक हजारवाँ अंश ही रह गया था। प्रत्येक वस्तु की कीमतें इतनी बढ गई थी कि समस्त राज्यो का अर्थतन्त्र छिन्न-भिन्न हो गया था और सभी का रहन-सहन ऊँची कीमतो के कारण अस्त-व्यस्त हो गया था। विनिमय की दरें अनिश्चित होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार ठप्प हो गया था। केन्द्रीय कोष खाली था और राज्यो की सरकारें ठीक समय पर धन नही भेजती थी। ऐसी स्थिति में साहूकार लोग धन उधार देने को तैयार नहीं थे, और लोक प्रतिभूतियाँ

(Public Securities) कम कीमतो पर बिक रही थी। कॉंग्रेस के पास इस अव्यवस्था को ठीक करने का कोई उपाय नहीं था। जहाँ राज्यो का आपसी एक-दूसरे के साथ सम्पर्क था अथवा जहाँ राज्यो का केन्द्रीय शासन मे सम्बन्ध था, वहाँ स्थिति और भी अधिक भयावह थी। केन्द्रीय शासन के अधिकार में, प्रसघान के अनुच्छेदो के अनुसार अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो का अधिकार था किन्तु बहुत से राज्य विदेशी शक्तियो के साथ सीधे परक्रामण (Negotiation) करने लगे थे। नौ राज्यो के पास अपनी-अपनी स्वतन्त्र सेनायें थी और कई राज्यो के पास अपने-अपने छोटे-छोटे जहाजी बेड़े भी थे। लगभग एक दर्जन विदेशी राज्यो के विभिन्न प्रकार के सिक्के देश में चल रहे थे और तरह-तरह के केन्द्रीय सरकार तथा राज्यो की सरकारो के कागजी विपत्र (Paper Bills) चल रहे थे। हर एक राज्य अपना-अपना स्वतत्र वाणिज्य चलाता था और कुछ राज्यो ने तो अपने पड़ोसी राज्यो के विरुद्ध वाणिज्यीय विभेद स्थापित कर रखे थे। इसका फल होता था कि राज्यो में आपस में लगातार ईर्ष्या, झगड़े, परस्पर बदला लेने की भावना का बोलबाला रहता था। विदेशो के साथ वाणिज्य अथवा एक राज्य का दूसरे राज्य के साथ वाणिज्य-व्यापार सम्बन्ध रखने में, प्रत्येक राज्य अपने आपको सम्पूर्ण राष्ट्र समझ बैठा था और इस अर्थ में प्रसघान (Confederation) का अस्तित्व ही कुछ-कुछ व्यर्थ हो गया था।

संशोधन के लिए आन्दोलन (Movement for Revision)—सन् १७८६ में राज्यो का विभेद पराकाष्ठा को पहुँच गया जबकि प्रसघान के अनुच्छेदो में हेर फेर करने के सारे प्रयत्न विफल हो गये और सारे राज्य गृह-युद्ध की ओर अग्रसर हो रहे थे। जार्ज वाशिंगटन (Washington), हैमिल्टन (Hamilton) और अन्य राजनीतिक नेतागण, जो निरन्तर सारे राज्यो को एक सघबद्ध करना चाहते थे, अब यह सोचने लगे थे कि या तो प्रसघान के अनुच्छेदों में सशोधन होना चाहिए अथवा इस शासन के स्थान पर नई शासन-व्यवस्था आनी चाहिये। प्रसघान की कॉंग्रेस वास्तव मे लोकप्रिय सरकार न होकर राज्यों की सरकार मात्र थी। यह इस कारण कमजोर थी कि इसमें उन चार शक्तियो का अभाव था जो प्रत्येक शक्तिशाली राष्ट्रीय सरकार के लिये आवश्यक होती हैं, अर्थात् करारोपण की शक्ति कर्ज लेने की शक्ति, वाणिज्य चलाने की शक्ति एव एक सुदृढ सैनिक सगठन जो समस्त राज्यो की सुरक्षा करने की क्षमता रखता हो। और यदि केन्द्र में ऐसी सुदृढ सरकार की स्थापना अभीष्ट है जिसके पास ये चारो शक्तियाँ हो तो आवश्यकत ऐसी केन्द्रीय सरकार जनता-जनार्दन की सरकार होनी चाहिये जिसका सम्बन्ध एक राष्ट्र से होना चाहिये। वाशिंगटन ने कहा था, "मैं नही समझता कि हम लोग एक राष्ट्र के रूप मे अधिक दिनो तक टिक सकेंगे यदि हम शक्ति का केन्द्रीकरण इस प्रकार न करें जो समस्त सघ के ऊपर उतनी ही प्रभावी न हो जितनी कि अपने-अपने क्षेत्रो में प्रत्येक राज्य की सरकार का प्रभाव रहता है।"

मेरीलैण्ड और वर्जीनिया (Maryland and Virginia) नाम के दो राज्यो में

पोटोमैक (Potomac) नदी मे व्यापारी जहाज चलाने के सम्बन्ध में झगडा चल रहा था। इस झगड़े के निपटारे के हेतु एनापोलिस (Annapolis) में पाँच राज्यो के प्रतिनिधियो का एक सम्मेलन सितम्बर १७८६ में हुआ। इन प्रतिनिधियो में एक एलेक्जेंडर हैमिल्टन (Alexander Hamilton) भी था। उसने इस सम्मेलन में अपने साथियो को समझाया कि वाणिज्य के नियमो का अन्य आवश्यक समस्याओ से गहरा सम्बन्ध है और इसलिए यह आवश्यक है कि सभी राज्यो से अपने-अपने प्रतिनिधि भेजने को कहा जाय। इसके वाद उसने वताया कि ये समस्त प्रतिनिधि सघ-शासन की आवश्यकताओ के अनुरूप ऐसे उपवन्ध सुझावें जिससे हमारा सविधान सकट काल में समस्त सघ की सेवा के लिए सामर्थ्यवान वन जावे।" महाद्वीपीय कॉंग्रेस (Continental Congress) प्रारम्भ में ऐसा साहसपूर्ण पग उठाने में हिचकिचायी किन्तु अन्त में कॉंग्रेस ने स्वीकृति दे दी कि प्रसभा (Convention) बुलाई जाय। र्‌होड द्वीप (Rhode Island) राज्य को छोडकर अन्य सभी राज्यो ने होने वाली प्रसभा के लिये अपने-अपने प्रतिनिधि नियुक्त कर दिये। यह प्रसभा-फिलैडेलफिया (Philadelphia) में सोमवार, २ मई सन् १७८७ को होनी निश्चित हुई। इसका उद्देश्य था कि प्रसधान के अनुच्छेदो (Articles of Confederation) में आवश्यक हेर-फेर किया जाय।

फिलैडेलफिया की प्रसभा (The Philadelphia Convention)—वारह राज्यो ने ७३ प्रतिनिधि चुने, (र्‌होड द्वीप ने भाग नही लिया) यद्यपि ७३ में से केवल ५५ प्रतिनिधियो ने भाग लिया। जैफरसन (Jefferson) ने कहा था कि यह प्रसभा देवताओ की सभा है। एक फ्रासीसी निसृष्टार्थ (Charge) ने अपनी सरकार को लिखा, "यदि फिलैडेलफिया प्रसभा के नामजद सभी प्रतिनिधियो पर नजर डाली जाय तो मैं कहूँगा कि ऐसी सभा पहिले कभी नहीं हुई, यूरोप में भी नही हुई, क्योकि ये प्रतिनिधि योग्यता के आधार पर, गुणो के आधार पर, निस्वार्थता एव निष्पक्षता के आधार पर एव देश-प्रेम के आधार पर सभी से अधिक पूजनीय हैं।" जिन महानुभावो ने मुख्य रूप से इस प्रसभा में राष्ट्र के प्रारब्ध को ही वदल डाला, वे थे जार्ज वाशिंगटन (George Washington), जेम्स मैडीसन (James Madison), एलेक्जेंडर हैमिल्टन (Alexander Hamilton), वेंजामिन फ्रैंकलिन (Benjemin Franklin), एडमण्ड रैण्डल्फ (Admund Randolph), गवर्नर मोरिस (Gouverneur Morris), जेम्स विलसन (James Wilson) तथा और भी अनेको प्रतिष्ठित भद्र पुरुष।

यह प्रसभा १४ मई १७८७ को स्वतन्त्रता भवन (Independence Hall) में हुई और इसके लिए जार्ज वाशिंगटन को सभापति चुना गया। साढे तीन मास तक वात-चीत चलती रही, और यह भी निश्चय हुआ कि सम्मेलन में आम लोग न आवें। इस प्रसभा को अधिकार दिया गया कि वह प्रसधान के अनुच्छेदों के लिये सुधार सुझावे किन्तु मैडिसन (Madison) ने लिखा है कि प्रतिनिधियो ने अपने देश के ऊपर साहसपूर्ण विश्वास किया तथा प्रसधान के अनुच्छेदो (Articles) को एक ओर फेंक

दिया और अब वे शासन-तन्त्र के एक नूतन सविधान पर विचार करने लग गये। प्रतिनिधिगण समझते थे कि समय की सबसे बडी आवश्यकता यह थी कि किसी प्रकार दो विभिन्न शक्तियो अर्थात् स्वायत्तशासी राज्यो की शक्ति और केन्द्रीय शासन की शक्ति को समाहित किया जाय। "उन्होने यह सिद्धान्त स्वीकार कर लिया कि राष्ट्रीय अथवा केन्द्रीय शासन के क्रिया-कलाप एव शक्तियाँ नई, अस्पष्ट एव समाविष्ट हैं इसलिये उन्हे स्पष्ट रूप से बता दिया जाना चाहिये, और फिर उन क्रिया-कलापो एव शक्तियो के अतिरिक्त सारी शक्तियाँ एव सारे क्रिया-कलाप राज्यो को छोड दिये जायँ।" किन्तु वे इस आवश्यकता को भी समझते थे कि केन्द्रीय शासन को वास्तविक शक्ति से सज्जित किया जाय और इसीलिये उन्होने स्वीकार कर लिया कि केन्द्रीय शासन को अन्य शक्तियो के साथ-साथ मुद्रा-टंकन, वाणिज्य-सचालन, युद्ध घोषणा का एव शाति-सन्धि का अधिकार अवश्य मिलना चाहिये।

सोलह सप्ताह के विचार-विनिमय के बाद और अनेकों उग्र समस्याओ के सुलझाने के पश्चात् १७ सितम्बर १७८७ को "प्रसभा में भाग लेने वाले समस्त राज्यो की सर्वसम्मति से" एक प्रलेख (Document) पर हस्ताक्षर हुए जिसमें सयुक्त राज्य अमेरिका के लिये एक नूतन शासन विधान स्वीकार किया गया। किन्तु इस सघर्ष का एक तीव्र एव निर्णायक निर्णय और शेष था जिससे कि अमेरिकी राज्यो का सघ अधिक निर्दोष एव अधिक पूर्ण हो जाय। प्रसभा (Convention) ने निर्णय किया था कि नया सविधान उस समय प्रभावी होगा जब कि तेरह राज्यो में से नौ राज्यो की प्रसभायें इसको स्वीकार कर लेंगी। किन्तु १७८७ के अन्त तक केवल तीन राज्यो की स्वीकृति प्राप्ति हुई थी। सर्वत्र वाद-विवाद हो रहा था। बहुत सों को भय था कि केन्द्रीय शासन को सविधान में बहुत व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। इस वाद-विवाद के फलस्वरूप दो दल मैदान में आ गये। पहिला दल था सघात्मक शासन के समर्थको (Federalists) का और दूसरा दल था उन लोगो का जो सघात्मक शासन के विरोधी थे (Anti-Federalists)। अर्थात् सघात्मक शासन के समर्थक केन्द्रीय सरकार को शक्ति-सज्जित करना चाहते थे। किन्तु सघात्मक शासन के विरोधी केन्द्रीय शासन को स्वतन्त्र राज्यो का एक ढीला एव मुक्त परिषद् मात्र बनाना चाहते थे। यह वाद-विवाद समाचारपत्रो में भी चला, विधानमडलो एव राज्यो का प्रसभाओ (State Conventions) में भी चला। दोनो ओर से तीव्र एव उत्तेजित तर्क-वितर्क उपस्थित किये गये। पैट्रिक हैनरी (Patric Henry), रिचर्ड हैनरी ली (Richard Henry Lee) एव अन्य देश-भक्तो ने प्रस्तावित सविधान का इसलिये विरोध किया कि इसमें अधिकार-पत्र (Bill of Rights) सम्मिलित नही है और इसलिये, उनके विचार से प्रस्तावित सविधान व्यक्तियों की स्वतन्त्रताओ के लिये हानिकर सिद्ध हो सकता है। सघात्मक शासन के समर्थको ने नये शासन की स्थापना होते ही अधिकार-पत्र (Bill of Rights) की माँग मान ली। यह प्रतिज्ञा नई शासन-व्यवस्था के स्थापित होते ही प्रथम दस सशोधनो को स्वीकार करने से क्रियान्वित कर दी गई जिसका फल यह

हुआ कि उन राज्यों ने भी संविधान को स्वीकार कर लिया जो अब तक अनिर्णीत थे। नया संविधान अन्तिमरूपेण २१ जून १७८८[1] को स्वीकार कर लिया गया। "प्रसंघान की कांग्रेस ने विधि द्वारा आज्ञा दी कि नई शासन-व्यवस्था ४ मार्च, १७८९ से देश का शासन-भार संभाल लेगी।" इन्हीं दिनों सीनेट के सभासदों एवं नई कांग्रेस के लिये प्रतिनिधिगण चुन लिये गये और जार्ज वाशिंगटन को राष्ट्रपति चुना गया। "इस प्रकार पुराने प्रसंघान (Confederation) का अन्त हुआ और नये गणराज्य का उदय हुआ।"

Suggested Readings

1		An Outline of the American History Distributed by the United States Information Service (1952).
2	Burns, J M and Peltason, G W.	Government by the People, 2nd. Edition, Chapters III, IV
3	Ferguson J H and Mc. Henry, D E	The American System of Government Chapters II, III
4	Garner, J W	Government of United States (1930), Chapter IX
5	Munro, W B	Government of the United States (1947) Chapters II, III.
6	Swisher, C B	American Constitutional Development (1943)

---

[1] उत्तरी कारलोनिया ने संविधान को नवम्बर १७८९ में स्वीकार किया, और रोड द्वीप ने मई १७९० में उस समय स्वीकार किया जबकि कांग्रेस ने धमकी दी कि रोड द्वीप को संयुक्त राज्य के देशों के साथ व्यापार नहीं करने दिया जायगा और जबकि रोड द्वीप के अनेकों जिलों (Counties) ने, जिनमें संघात्मक शासन के समर्थकों का प्राबल्य था, राज्य से विलग हो जाने की धमकी दी।

अध्याय २

संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान की मुख्य विशेषतायें

(Essentials of the American Constitutional System)

संविधान—एक प्रलेख (The Constitution as a Document)—फिलैडेल्फिया की प्रसभा (Philadelphia Convention) ने जो संविधान तैयार किया, वह प्रारूपकर्म (Draftsmanship), भाषा-प्रवीणता (Linguistic Elegance), संक्षेपता (Brevity) एवं प्रत्यक्ष स्पष्टता (Apparent Clarity) की दृष्टि से आदर्श संविधान था। इसके क्रान्तिकारी प्रलेख होने की आशा भी नहीं कि जा सकती थी। यह उपस्थित संकटकाल की आवश्यकता के अनुरूप तैयार किया गया था, और उस समय प्रबल केन्द्रीय शासन की आवश्यकता थी। अतः संविधान के द्वारा नये राष्ट्र में विभिन्नता एवं असमानता के स्थान पर एकता एवं समानता उत्पन्न करने का प्रयत्न किया गया था। और इसीलिये यह संविधान मध्य मार्ग एवं समझौते का प्रतिफल है, अथवा राष्ट्रीय प्रेम का प्रतीक है। इस संविधान की पूर्व कल्पना स्वाधीनता की घोषणा में निहित अनेकों आधारभूत प्रनियमों (Fundamental Principles) के अनुसार की गई थी और इन्हीं मूल प्रनियमों पर अमेरिकी शासन-व्यवस्था अब तक चल रही है। ये आधारभूत प्रनियम इतने चिर-स्थायी एवं स्फूर्ति-वर्द्धक हैं कि अमेरिका का संविधान संसार के लिखित संविधानों में सब से प्राचीन है। क्योंकि यह संविधान इतने दिनों से जीवित है और इसने समय के पर्याप्त उतार-चढाव देखे हैं, यद्यपि सारे संसार में बड़े बड़े राजनीतिक उलटफेर (Political Ravages) हो गये, तो इसका सारा श्रेय इस संविधान के रचयिताओं की सूक्ष्म बुद्धि, संयम एवं उनके भविष्य के ज्ञान को मिलना चाहिये। यह एक जीवित संविधान है जिसमें वहाँ के लोगों को इतना स्थायी विश्वास है कि १९५२ तक इसको स्वतन्त्रता की घोषणा (Declaration of Independence) के सहित कॉंग्रेस की लाइब्रेरी में एक सज्जित पवित्र स्थान पर स्थापित किया गया था। ये दोनों प्रलेख (Documents) अब कॉंग्रेस की लाइब्रेरी से हटाकर "राष्ट्रीय अभिलेखागार (National Archives) की इमारत में सुरक्षित रूप से एक मजबूत कमरे में स्थापित कर दिये गये हैं, जहाँ आशा की जाती है कि ये दोनों प्रलेख दीमकों से, मण्डूर से, चोरों से और अणु बम से सुरक्षित रहेंगे।"[1]

किन्तु यह संविधान प्रारम्भ से ही स्ट्रेट जैकिट (Strait Jacket) के रूप तैयार नहीं किया गया था। संविधान के निर्माताओं ने इसको ऐसे पूर्ण संविधान के रूप में नहीं रचा था जो सब कालों में और सब अवस्थाओं में शासन की अन्तिम रूप-

---

[1] Brogam, D. W, An Introduction to American Politics (1954), p 2, f n.

रेखा प्रकट करता हो । वे तो केवल एक प्रस्थान-विन्दु (Starting Point) ढूँढना चाहते थे और इसलिये उन्होंने ढाँचा अथवा साराश उपस्थित किया । उनका विचार था कि इस ढाँचे को भविष्य में देश की सन्तानें व्यवहार की आवश्यकताओ, सकट-कालीन आवश्यकताओ, आर्थिक विकास की आवश्यकताओ, अथवा राष्ट्र की समृद्धि से सम्बन्ध रखने वाली अन्य आवश्यकताओ के अनुरूप विकसित करेगी । इस सविधान के विकास का क्रम अभी चालू है और यह विकास तव तक जारी रहेगा जब तक यह राष्ट्र जीवित है । पूर्व इसके कि उस क्रम की सूक्ष्म परीक्षा की जाय जिसके अनुसार इस सविधान का विकास हुआ है, इसके मुख्य मौलिक लक्षण एव विशेपतायें जान लेना आवश्यक हो जाता है ।

सविधान के मुख्य लक्षण एव विशेपताएँ
(Features of the Constitution)

१ **लोकप्रिय प्रभुता** (Popular Sovereignty)—अमेरिकी सविधान की सबसे पहिली विशेपता यह है कि इसने जनता को प्रभुसत्ता माना है। स्वतन्त्रता की घोपरणा में यह स्वीकार किया गया था कि जिस प्रकार प्रजा चाहे अपने देश की शासन-व्यवस्था को नियुक्त करे, अथवा उसको हटा दे या उसमे मनमाने परिवर्त्तन करे। लोकप्रिय प्रभुता की पविश्रता को सविधान ने स्वीकार किया है । सविधान की प्रस्तावना (Preamble) इस प्रकार आरम्भ होती है : "हम सयुक्त राज्य अमेरिका के लोग इस सविवान की नियुक्ति एव स्थापना करते हैं ।" जिस प्रकार सविधान में हेर-फेर अथवा परिवर्त्तन हो सकें, उसका वर्णन सविधान के पाँचवें अनुच्छेद में किया गया है । इसका अर्थ है कि इस शासन की व्यवस्था को लोगों ने ही जन्म दिया है और यह लोगो के प्रसाद पर्यन्त ही रह सकती है । लोकप्रिय प्रभुता का सिद्धान्त जनता को अन्तिम प्रभुता (Ultimate Sovereignty) प्रदान करता है और उसका आशय है कि जहाँ कही किसी प्रकार का निरकुश अथवा अत्याचारी शासन हो, तो उसके स्थान पर सविधानिक शासन की स्थापना होनी चाहिए। इसके अतिरिक्त लोकप्रिय प्रभुता मनुष्य मात्र के अधिकारो की गारटी करता है और सगत अवस्था उत्पन्न होने पर वल-प्रयोग एव स्वच्छदता को भी मानती है। जेम्स मेडिसन (James Madison) ने कहा कि "अमेरिकी शासन व्यवस्था उस श्रेष्ठ हढ इच्छा पर आधारित है जो स्वतन्त्रता के प्रत्येक पुजारी को उत्तेजित करती है कि वे सब हमारे राजनीतिक प्रयोगो के मनुष्य मात्र की स्वशासन की योग्यता पर आधारित करें ।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि लोगो की सम्मति सभी राजनीतिक निर्णयो में सर्वोच्च है और यह दृढ सकल्प सारे सविधान में पाया जाता है । ब्राइस (Bryce) कहता है कि लोकप्रिय प्रभुता (Popular Sovereignty) का सिद्धान्त जब से अमेरिकी सविवान में ले लिया गया है तब से यह सिद्धान्त प्रजातन्त्र का आधार एवं प्रत्यय शब्द बन गया है ।

२ नियन्त्रित शासन (A Limited Government)—लोकप्रिय प्रभुता के सिद्धान्त का प्राकृतिक उप-सिद्धान्त निकलता है नियन्त्रित शासन (Limited Government)। सविधान के निर्माता वास्तव मे राज्य की असीमित शक्ति से भय खाते थे। सविधान ने केन्द्रीय शासन को स्पष्ट शक्तियाँ प्रदान की और राज्यो को बची हुई शक्तियो का अपार कार्य-क्षेत्र प्रदान किया। इस प्रकार सविधान देश के लोक-प्रशासन के सभी बडे और छोटे अधिकारियो के ऊपर, उनके क्रिया-कलापों के ऊपर अथवा उन तरीको के ऊपर जिनके द्वारा वे अपना अधिकार प्रयोग करेंगे, निश्चित अकुश एव नियन्त्रण स्थापित करता है। ये नियन्त्रण इसलिए लगाये गये हैं कि शासन के अधिकारी व्यक्तियो के अधिकारो अथवा उनकी सम्पत्ति और उनकी स्वतन्त्रताओ का मनमाने ढग से अपहरण न कर सके। कुछ बातो में केन्द्रीय शासन के द्वारा सीमोल्लघन के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा की गई है, कुछ अन्य बातों में राज्यों अथवा स्वशासन की सस्थाओ के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा की गई है, और कुछ अन्य बातो में व्यक्ति के अधिकारो की रक्षा सभी शासनो—केन्द्रीय, राज्यीय अथवा स्थानीय—द्वारा स्वेच्छाचारी सीमोल्लघन के विरुद्ध की गई है। पाँचवाँ और चौदहवाँ सशोधन दोनो मिलकर काँग्रेस तथा राज्यीय विधान-मण्डलों, दोनो, को स्पष्ट चेतावनी देते हैं कि वे बिना कानूनी प्रक्रिया के किसी व्यक्ति की जान नही ले सकते; किसी की स्वतन्त्रता का अपहरण नही कर सकते, न किसी की सम्पत्ति छीन सकते हैं। यथार्थ सविधान की प्रत्येक पक्ति यह प्रमाणित करती है कि जनता के हाथो में ही प्रभुसत्ता के पूर्णाधिकार हैं और शासन के ऊपर नियन्त्रण है।

३. सघीय शासन-प्रणाली (A Federal System of Government)—फिलैडेलफिया प्रसभा में प्रतिनिधियो की इच्छा यही थी कि प्रभावी एव सबल राष्ट्रीय सरकार की स्थापना होनी चाहिए। साथ ही प्रत्येक प्रतिनिधि जानता था कि अमेरिका के अधिकतर निवासी अपने-अपने राज्यो की सरकारो से प्रेम करते हैं और वे किसी भी हालत में अपने-अपने राज्यीय शासन को केन्द्रीय शासन की पूर्ण अधीनता में रखना पसन्द नही करेंगे। अत सविधान के निर्माताओ ने शासन की एक नई प्रणाली को जन्म दिया जिसको आजकल सघ (Federation) कहा जाता है। सघीय शासन-प्रणाली का लक्ष्य होता है कि अब तक जो प्रभुसत्तासम्पन्न अलग-अलग राज्य हैं वे सब राष्ट्रीय एकता को ध्यान में रखते हुए एक संघ में परिणत हो जायें। किन्तु ऐसे सघ में सम्मिलित होने वाले प्रभुत्व शक्तिसम्पन्न राज्यो की स्वतन्त्र सत्ता भी स्वीकार की जाती है। सघ उन राज्यों को प्राय सभी मामलो में स्वायत्त शासन (Autonomy) प्रदान करता है और केवल ऐसे कतिपय विषयो पर उन्हे अधिकार नही दिये जाते जिनका सम्बन्ध समान राष्ट्रीय हितो से होता है।

अमेरिका का सविधान कुछ शक्तियाँ राष्ट्रीय अथवा केन्द्रीय सरकार को सौंपता है और अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यो के लिए सुरक्षित रखी गई हैं। दसवाँ सशोधन स्पष्ट कहता है कि, "जो शक्तियाँ सविधान ने सयुक्त राज्य अमेरिका को प्रदान

नही की हैं, न जिनके बारे मे संविधान ने राज्यों को देना अस्वीकृत किया है, वे सब शक्तियाँ राज्यो के लिए अथवा प्रजा के लिए रक्षित हैं।" अत संघीय सरकार को कुछ विनिर्दिष्ट शक्तियाँ ही प्रदान की गई हैं जबकि अवशिष्ट शक्तियाँ (Residuary Powers) राज्यो के लिए सुरक्षित रखी गई हैं। इस प्रकार सघीय शासन में राज्य पूर्ण एकक होते हैं साथ ही सारे राष्ट्र की पूर्ण प्रजा को वह एक शक्तिशाली सघटन के रूप मे जोड देता है जो समस्त राष्ट्रीय महत्त्व के मामलो को देखता है।

४ सघीय प्रधानता (Federal Supremacy)—यद्यपि सघीय सरकार को विनिर्दिष्ट शक्तियाँ (Enumerated Powers) प्रदान की गई हैं, फिर भी सघीय सरकार के नियम अथवा विधि (Law) को अपने क्षेत्र में राज्यो की विधि के ऊपर प्रधानता प्रदान की जायगी। सविधान के छठे अनुच्छेद के द्वितीय खण्ड में कहा गया है 'यह सविधान और इसके निर्देशन मे सयुक्त राज्य अमेरिका में जो भी विधियाँ (Laws) पारित की जायेंगी, और जितनी भी सधियाँ अब तक की गई हैं अथवा जो सधियाँ भविष्य में सयुक्त राज्य अमेरिका के अधिकार से की जायेंगी, वे सब समस्त देश के लिए प्रधान रूप से मान्य होंगी, और सभी राज्यो के न्यायालयो को वे मान्य होंगी चाहे किसी राज्य के सविधान अथवा प्रचलित नियम से वह मेल न खाती हों।" इसका अर्थ हुआ कि सघीय सविधान हर प्रकार के नियम के ऊपर चाहे वह नियम राष्ट्र का हो अथवा किसी राज्य का प्रधान माना जायगा। सघीय सरकार द्वारा पारित कोई विधि, यदि वह नियमत सविधान की आज्ञा के अनुसार पारित की गई है, तो उसका दर्जा राज्य द्वारा पारित विधि से प्रधानतर माना जायगा। यदि राज्यो के नियम केन्द्रीय सरकार के नियमो के विरुद्ध पडते हो अथवा केन्द्रीय सरकार द्वारा की गई किसी सन्धि के उपबन्धो के विरुद्ध पड़ते हो तो उनको असंवैधानिक घोषित किया जा सकता है, और वाशिंगटन में अवस्थित सर्वोच्च न्यायालय में अन्तिम नि 'य के लिए वे झगडे जाते हैं जिनमें अन्तर्ग्रस्त ऐसी विधियाँ हो जिन पर केन्द्रीय सघीय सरकार एव राज्य की सरकार दोनो मे विवाद हो। अत इस उपबन्ध से स्थिर हो जाता है कि सघीय सविधान एव राष्ट्रीय विधि अपने क्षेत्र में सर्वोच्च एव प्रधान हैं और इसी उपबन्ध से सविधान के सघीय स्वरूप का पूर्ण रूप से बोध होता है।

५ शक्तियो का पृथक्करण (The Separation of Powers)—अमेरिकन सविधान की पांचवी विशेपता यह है कि इसने शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त (Principle of the Separation of Powers) को स्वीकार किया है। यह सिद्धान्त, सविधान की किसी धारा (Section) में स्पष्टत वर्णित नहीं किया गया है जैसा कि बहुत से राज्यो के सविधानो में स्पष्टत वर्णित रहता है, बल्कि सविधान के उन तीन अनुच्छेदो के प्रारम्भिक वाक्यो मे सम्मिलित है जिनका सम्बन्ध शासन के व्यवस्थापिका (Legislative), कार्यपालिका (Executive), एव न्यायपालिका (Judicial) तीनो विभागो से है। प्रथम अनुच्छेद इस प्रकार प्रारम्भ होता है, "समस्त प्रतिश्रुत

(Granted) विधायिनी शक्तियाँ (Legislative Powers) सयुक्त राज्य अमेरिका क कांग्रेस में अधिष्ठित होगी।" द्वितीय अनुच्छेद इस प्रकार प्रारम्भ होता है, "काय पालिका शक्ति (Executive Power) सयुक्त राज्य के राष्ट्रपति में अधिष्ठि होगी।" तृतीय अनुच्छेद में वर्णित किया गया है कि, "न्यायिक शक्ति (Judicia Power) एक सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) में और उन निम्न न्यायालय में जिनका कांग्रेस समय-समय पर आदेश दे सकती है, अधिष्ठित होगी।"

सविधान के निर्माता लॉक (Locke) एव मॉटेस्क्यू (Montesquieu) सिद्धान्तो से परिचित थे। वे लोग उपनिवेशो में इस सिद्धान्त का १०० वर्षों से भ अधिक से परीक्षण कर रहे थे। वास्तव में नियन्त्रित शासन (Limited Govern ment) के सिद्धान्त से उनका अटल विश्वास हो गया था कि शासन के तीनों विभा पृथक् रखना आवश्यक है क्योंकि इस प्रकार निरकुशता एव स्वेच्छाचारिता प नियन्त्रण बना रहेगा।

६ **परीक्षणों और सन्तुलनों का सिद्धान्त** (Checks and Balances)—किन सविधान के निर्माता, शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त का पूर्णतया पालन नह कर सके क्योकि इसमे कतिपय व्यावहारिक कठिनाइयाँ थी। मैडिसन (Madison आदि कुछ लोग अच्छी तरह समझते थे कि शक्तियों का पूर्ण पृथक्करण केवर कल्पना जगत में ही सम्भव है। इस विषय पर टिप्पणी करते हुए मैडिस (Madsion) ने फैडरेलिस्ट (Federalist) नामक पत्र में लिखा था कि "शक्तिय के पृथक्करण के सिद्धान्त के लिए यह आवश्यक नही है कि व्यवस्थापिका, कार्य पालिका और न्यायपालिका ये तीनो विभाग एक दूसरे से सर्वथा असम्बद्ध रहे।" आग चलकर उसने सिद्ध किया कि, "यदि ये तीनो विभाग उस हद तक मिलकर सयुक्त रूप से कार्य न करेंगे कि प्रत्येक विभाग प्रति दूसरे विभाग को सविधानिक नियन्त्रण प्रदान करे, तो उसी हद तक शक्तियो का पृथक्करण जिसको सिद्धान्त स्वतन्त्र शासन के लिए परमावश्यक मानता है, व्यवहार में पूर्ण अव्यावहारिक एव असफल सिद्ध होगा।" आगे चलकर कहा गया है कि अनियन्त्रित शक्ति में सदैव भय निहित होते हैं और अनियन्त्रित शक्ति तथा अनियन्त्रित शासन दोनो एक ही चीज है जब तक कि एक शक्ति दूसरी शक्ति पर सयम न रखे। यह भी सभव है कि विभिन्न अधिकारी विभिन्न शक्तियो के बल पर मिल जायें और वे सम्मिलित अधिकार का प्रयोग अन्याय के रूप में करने लगें। अत सविधान के निर्माताओ ने परीक्षणों और सन्तुलनों का अनुक्रम (System of Checks and Balances) स्वीकार किया जिसके द्वारा शासन की शक्ति परिमित (Limited), नियन्त्रित (Controlled) एवं विकीर्ण (Diffused) बनी रहे।

वास्तविक संविधानिक व्यवस्था यह है कि शासन के प्रत्येक विभाग को अप वर्जी शक्तियाँ (Exclusive Powers) प्रदान की जाती हैं जो उस विभाग के लिए उपयुक्त हो, किन्तु साथ ही इन शक्तियो पर अन्य विभागो का भी अधिकार रहता है

ताकि कही अप्रतिवन्धित शक्ति पाकर वे विभाग भ्रष्टाचारपूर्ण न हो जायें। कांग्रेस द्वारा पास किये विधेयको पर राष्ट्रपति अपने निषेधाधिकार (Veto) का प्रयोग करता है। इसके विपरीत राष्ट्रपति जब धन की मांग करता है, नियुक्तियां करता है अथवा सधियां करता है तो सीनेट का अनुमोदन आवश्यक है। यही तक नही। राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग भी लाया जा सकता है। सर्वोच्च न्यायालय कई बातो में व्यवस्थापिका के प्रति ऋणी है जैसे नियोजन (Appropriations) और पुनरावेदन का अधिकार क्षेत्र या पुर्नविचाराधिकार (Appelate Jurisdiction)। राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह सर्वोच्च न्यायालय के जजो की नियुक्ति करे अथवा क्षमा दान करे, प्रविलम्बन प्रदान करे (Reprieves), सर्वोच्च न्यायालय द्वारा दी गई किसी की सजा को कम कर दे (Commutations) अथवा पूर्ण क्षमा (Amnesties) कर दे। और सर्वोच्च न्यायालय ने, ज्यो ही नया सविधान प्रवर्ती (Operative) हुआ, कांग्रेस द्वारा पारित तथा राष्ट्रपति द्वारा स्वीकृत अधिनियमो (Acts) की विध्यनुकूलता (Validity) पर आक्षेप करना आरम्भ कर दिया। लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने अत्यन्त सुन्दर शब्दो मे 'परीक्षणो और सन्तुलनो के अनुक्रम' की विवेचना की है। वह लिखता है, "लोकप्रिय प्रभुता (Popular Sovereignty) ही शक्ति का अन्तिम स्रोत है। वह पूर्ण वेग के साथ बहता रहता है क्योकि उस स्रोत में अगाध जल है। किन्तु बाद में वही शक्ति-स्रोत ऐसी बहुत सी नालियो मे परिणत किया जाता है जिनके किनारे इतनी होशियारी से बनाये जाते हैं कि वे सब नाले न अपने किनारो से ऊपर बहने लगें, न एक नाला दूसरे नाले का मार्ग अवरुद्ध करे। इसी अर्थ में न्यायपालिका (Judiciary) रूपी चौकीदार तैयार रहता है। वह उस नाले के किनारो की तुरन्त उसी स्थान पर मरम्मत कर दे जहां से वह नाला मार्ग-भ्रष्ट होने जा रहा है।"

किन्तु 'परीक्षणो और सतुलनो का उपाय' (Device of Checks and Balances) वास्तव में शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त से बिल्कुल उलटा है। मांटेस्क्यू (Montesquieu) यह नहीं चाहता था कि शासन की तीन शक्तियां तीन विलग भागो मे बँट जायें। पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त होने के बाद अन्यायी शासन समाप्त हो सकता है किन्तु पूर्ण स्वतन्त्रता सघर्ष एव विभेदों को भी जन्म देती है। मेडिसन (Madison) ने शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त (Doctrine of Separation of Powers) की व्याख्या करते हुए ठीक ही कहा था, "एक विभाग की शक्तियो के ऊपर दूसरे विभागो में से किसी का अधिकार नही होना चाहिए। किन्तु यह भी स्पष्ट है कि किसी भी विभाग के पास प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में ऐसे पूर्ण-सत्ता-युक्त अधिकार नही होने चाहिएँ जिसमे किसी विभाग को अपने न्यायोचित अधिकारो के प्रयोग में बाधा उपस्थित हो।" सविधान के निर्माता शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त की श्रेष्ठता को मानते थे, इसलिए उन्होंने शासन को तीन विभिन्न एव सुस्पष्ट भागो में विभाजित कर दिया और इस प्रकार राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली (Presidential Form of Government) को जन्म दिया। इस प्रणाली का अर्थ है व्यवस्थापिका

एव कार्यपालिका विभागो में विच्छेद । कभी-कभी तो यह विच्छेद सघर्ष एव विभाजित उत्तरदायित्व का रूप धारण कर लेता था । इसीलिए सयुक्त राज्य अमेरिका में प्रभावी एव योग्य नेतृत्व का अभाव रहता है, हा, सम्भवत सकटकालीन स्थिति में योग्य नेतृत्व उपलब्ध हो जाय । 'परीक्षणो और सन्तुलनो के उपाय' (Device of Checks and Balances) ने तो और भी अधिक विभागीय सघर्ष, अतिछाद (Overlapping) एव अदक्षता उत्पन्न कर दी है । व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका विभागो मे शक्तियो के पूर्ण पृथक्करण एव समन्वय (Coordination) के उपायो के पूर्ण अभाव में कभी-कभी अत्यन्त आवश्यक निर्णयो के करने मे भी अत्यन्त देर होती है । ऐसा भी होता है कि शासन की एक शाखा एक नीति पर चल रही हो किन्तु शासन के अन्य विभाग बिल्कुल विपरीति नीति पर चल रहे हो, विशेष रूप से ऐसा उस समय सम्भव हो सकता है जब कि कार्यपालिका का किसी दल विशेष से सम्बन्ध हो, किन्तु कांग्रेस मे दूसरे दल का बहुमत हो । इसमे सन्देह नही कि कुछ राष्ट्रपति कार्यपालिका एव व्यवस्थापिका के बीच की खाई को पाटने में सफल हुए । "किन्तु यह मानना ही होगा कि आपात-काल में चाहे अल्प काल के लिए समन्वय उपस्थित हो जाय, और इसमें राष्ट्रपति द्वारा सरक्षण एवं अनुग्रह का भी हाथ रहता है फिर भी राष्ट्रीय शासन भागो में बँट जाता है और इसके लिए 'शक्तियो का पृथक्करण ही उत्तरदायी है जिसका उपबन्ध संविधान में किया गया है ।"[1] जब १९४० में सयुक्त राज्य अमेरिका द्वितीय विश्व-युद्ध में अधिकाधिक फँसता गया, तो कांग्रेस ने राष्ट्रपति को अपार शक्ति से सज्जित कर दिया जिसका उदाहरण है मार्च १९४१ का उधार पट्टा अधिनियम, और उस समय राष्ट्रपति ने देश का सर्वोच्च सेनापति होने के नाते भी हर दिशा में अपनी शक्ति का उपयोग किया । कांग्रेस में और कांग्रेस के बाहर भी विरोध प्रकट किया गया कि राष्ट्रपति, विधायिनी शक्तियाँ भी अपने हाथो में ले रहा है और इस प्रकार उस सिद्धान्त की अवहेलना कर रहा है जिसके द्वारा सविधान ने शासन की शक्तियों का पृथक्करण किया है । कुछ अशो तक इस आलोचना के फलस्वरूप ही नई कांग्रेस ने जो जनवरी १९४३ में चुन कर आई राष्ट्रपति रूजवेल्ट के नेतृत्व के विरुद्ध विद्रोह उपस्थित किया और राष्ट्रपति द्वारा अनुमोदित कई प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिये । उस समय कांग्रेस ने कई ऐसे विधेयक पास कर दिये जिन पर राष्ट्रपति ने आपत्ति की थी । इनमे दो मूल अधिनियम भी थे जिनको राष्ट्रपति वीटो शक्ति द्वारा रद्द कर चुका था । इस प्रकार शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त को पुन दृढ किया गया । बीयर्ड (Beard) कहता है कि, "चाहे शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त में कुछ भी कमियाँ हो, फिर भी यह सिद्धान्त अमेरिकी शासन-व्यवस्था की प्रधान विशेषता है और यह तथ्य अमेरिकी शासन और राजनीति

---

[1] Zink, H A *Survey of American Government* (1950), p 12

के व्यवहार मे बारम्बार स्पष्ट और प्रकट हो चुका है।"[1]

७ **कठोर सविधान (A Rigid Constitution)**—अमेरिकी सविधान कठोर है। संविधान के सशोधन के लिये एक जटिल एव कठिन प्रक्रिया की आवश्यकता है। सविधान में उसके सशोधन के लिये दो निश्चित सोपान सुझाये गये हैं। इन सोपानों पर हम इस अध्याय के अन्त मे विचार करेंगे। सशोधन के ये दोनो सोपान अत्यन्त जटिल एव विस्तृत हैं। इसी कठिनाई के कारण पिछले १६० वर्षों में उसमें अब तक केवल २२ सशोधन ही हो सके हैं।

८. **न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review)**—नियन्त्रित शासन एव शक्तियो का पृथक्करण इन दो सिद्धान्तो के स्वीकार कर लिये जाने के पश्चात् यह उपसिद्धान्त के रूप में आवश्यक हो जाता है कि न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review) का सिद्धान्त लागू हो जिसके अनुसार न्यायालयो को अधिकार है कि वे व्यवस्थापिका अथवा कार्यपालिका द्वारा पारित किसी कानून को असवैधानिक घोपित करदे यदि उनके निर्णय मे वह कानून सविधान का उल्लघन करता हो। अमेरिका मे सघीय न्यायापालिका सविधान के अभिभावक के रूप में कार्य करती है। वह सविधान का निर्वचन करती है। इसके अतिरिक्त वह कांग्रेस अथवा राज्यीय विधान मण्डल की क्षमता निर्णय करती है। यदि न्यायपालिका के अनुसार कोई कानून जिसको कांग्रेस अथवा राज्यीय विधान मण्डल ने पारित किया है किन्तु जो इन दोनो व्यवस्थापिकाओ की शक्ति एव अधिकार से परे है अथवा यदि वह कानून किसी राज्य के प्रचलित कानून के विरुद्ध है, अथवा यदि किसी कानून द्वारा लोगो की स्वतन्त्रताओ को आघात पहुँचता है, तो ऐसी स्थिति में वह कानून 'अल्ट्रावायर्स' अथवा असवैधानिक घोपित कर देती है और ऐसी स्थिति में वह कानून विधि का रूप धारण नही कर सकता। उसी प्रकार कार्यपालिका का कोई नियम, यदि वह उसके सविधानिक अधिकारो का अतिक्रमण करता है, तो उसको भी असवैधानिक घोपित किया जा सकता है।

न्यायिक पुनरीक्षण के सिद्धान्त की हाल में कटु आलोचना हुई है। इस सिद्धान्त के समर्थक कहते हैं कि यह स्वतन्त्र एव नियन्त्रित शासन का रक्षक है। वे यह भी कहते है कि व्यवस्थापिका की प्रवलता (Precipitancy) के विरुद्ध न्यायिक पुनरीक्षण न केवल रक्षा करता है वल्कि स्थायी शासन के स्थायित्व में सहायक होता है। इसके विपरीत इस सिद्धान्त के विरोधी कहते है कि न्यायालय व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका दोनो के अधिकारो का अतिक्रमण करते है और उत्तरदायित्व पूर्ण प्रतिनिधिक शासन के कामो में वाधा डालते हैं। यह भी कहा जाता है कि न्यायिक पुनरीक्षण आवश्यक सामाजिक अथवा आर्थिक सुधारो की दिशा में भी देर लगाता है, जिनका वदलती हुई स्थिति में अत्यधिक महत्व है। अन्यत्र, जहाँ इस विपय अर्थात् न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review) पर पुन आलोचना की जायगी, हम इसके वारे मे विस्तार से विचार करेंगे।

---

[1] Beard, C A : American Government and Politics (1947), p 16

सविधान की वृद्धि
(Growth of the Constitution)

सयुक्त राज्य अमेरिका का सविधान, जिसको फिलैडेलफिया प्रसभा (Phila delphia Convention) ने पास किया था, एक छोटा सा प्रलेख (Document) थ जिसमें प्रस्तावना (Preamble) थी, अनुच्छेदन थे और जो केवल ८९ वाक्यो से बना था। तब से बराबर वह सविधान दृढता के साथ बदल रहा है, विकसित हो रह है, बढ रहा है और वह अपने आपको नई अवस्थाओं के अनुकूल बनाता जा रहा है। इस सविधान के रचयिता जानते थे कि यदि इस सविधान को चिरजीवी बनना है तो इसे एक जीवित सविधान होना चाहिये जिसमे लचीलापन (Flexibility) एव सयोजनियता (Adaptability) होनी चाहिये और जो समय की आवश्यकता के अनुरूप रूप धारण करले। इसलिये उन लोगो ने सभी बातो को विस्तार नही दिया, बल्कि यह आशा व्यक्त की कि समय के अनुरूप यह स्वय बढेगा और विकसित होगा। और इस प्रकार, ब्राइस (Bryce) के शब्दो में, "अमेरिकी सविधान आवश्यकत उतना ही बदला है जितना कि राष्ट्र बदला है। और जहाँ तक लोगो के विचार इस संविधान के बारे में बदले हैं वहीं तक इस सविधान की आत्मा एव अर्थ में परिवर्त्तन हुआ है।" लिखित सविधान (Written Constitution) का अर्थ अब यह नहीं है कि यह स्पष्ट-घोषित कुछ नियमो का समुदाय है जो अपरिवर्त्तनीय है और जो राजनीतिक प्राधिकारियो के लोक-कर्त्तव्यो पर नियन्त्रण रखता है। चार्ल्स बीयर्ड (Charles Beard) के अनुसार लिखित सविधान की निम्न परिभाषा होनी चाहिये। लिखित सविधान एक छपा हुआ प्रलेख है जो न्यायिक निर्णयो, पूर्व निर्णयों एव लोक व्यवहारो के अनुरूप है और जिसके ऊपर सभी को विश्वास है और जो सभी की आशा रूपी दीपक से प्रकाशित है। सक्षेप में वास्तविक सविधान व्यापक विनिधानो (Prescriptions) का एक प्राणयुक्त समुदाय है जिस पर जीवित मनुष्य विश्वास करते हैं और जिसको वे सफल अथवा असफल बनाते हैं।"[1]

अमेरिकी सविधान के विकास में जिन स्रोतो ने सहायता दी है वे निम्न लिखित हैं —

१. **विधि द्वारा विकास (Development by Law)**—जैसा कि पहिले भी वर्णन किया जा चुका है, सविधान के रचयिताओ ने बहुत सी बातें छोड दी थीं। उनका विचार था कि कांग्रेस अथवा राज्यो के विधान मण्डल समय-समय पर अधिनियमो द्वारा इन न्यूनताओ की पूर्ति कर लेंगे और इस प्रकार शासन का ढाँचा पूर्ण हो जायगा। सविधान ने न्यायपालिका के सम्बन्ध में केवल एक सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था की है और सर्वोच्च न्यायालय की रचना का भार कांग्रेस के ऊपर छोड

---

[1] Beard, C A American Government and Politics (1932), p. 15

दिया है। अन्य सघीय न्यायालयो की व्यवस्था का भार तो पूर्णरूपेण कॉंग्रेस के विवेक पर छोड दिया गया है। इस प्रकार १७८९ के न्यायापालिका अधिनियम (Judiciary Act of 1789) ने अमेरिकी न्याय व्यवस्था की नीव डाली। उसी प्रकार कार्यपालिका के बहुत से विभागो का सगठन भी कॉंग्रेस द्वारा पारित पीठ-नियमो (Statutes) के आधार पर ही हुआ है। १९४६ का राष्ट्रपति-उत्तराधिकार-अधिनियम (Presidential Succession Act of 1946) ने राष्ट्रपति के उत्तराधिकारी का ऐसी परिस्थिति के लिये निर्णय किया है जब कि दुर्भाग्यवश राष्ट्रपति तथा उप-राष्ट्रपति दोनो की मृत्यु हो जाय। स्वय कॉंग्रेस की प्रक्रिया आन्तरिक संगठन एव दैनिक व्यवहार के नियम भी परिनियमो (Statutes) द्वारा ही निश्चित हुए हैं।

कॉंग्रेस की विभिन्न शक्तियाँ बताने के बाद सविधान, अन्त में व्यापक अनुदान के रूप मे कॉंग्रेस को अधिकार देता है कि वह सभी आवश्यक विधियाँ पास करे जो अपने अधिकार-क्षत्र में उसे आवश्यक एव उचित जान पडें। इस धारा को प्रायः 'लचीली धारा' (The Elastic Clause) कहा गया है और बहुत-सी ऐसी बातें भी इस उपबन्ध की आज्ञानुसार कॉंग्रेस ने अपने अधिकार क्षेत्र मे लेली हैं जिनको सभवतः अपने अधिकार क्षेत्र में लेना कॉंग्रेस न चाहती। उसी प्रकार सविधान का स्वतन्त्र एव विस्तृत निर्वचन करके कॉंग्रेस ने बहुत विस्तृत रक्षा-व्यवस्था का सस्थापन किया है; बहुत बडी सख्या में प्रशासी बोर्ड (Administrative Boards) एव कार्यालय अथवा विभाग (Bureaus) खोल दिये हैं, "दूर-दूर बिखरे हुए विस्तृत साम्राज्य को मिला लिया है, साथ ही अपने ऊपर शिक्षा, अधिकोषण व्यापार (Banking), बीमा व्यापार, निर्माण एव रचना (Construction), परिवहन (Transporting), विद्युत्-शक्ति का उत्पादन (Generating Electric Power) आदि ले लिया है, यही नही, कॉंग्रेस ने यह भी अधिकार प्राप्त कर लिया है कि सयुक्त राज्य अमेरिका जैसे उद्योग-विकसित (Industrialized) और सजटिल एव गहन (Complicated) राष्ट्र के आर्थिक एव सामाजिक जीवन को भी व्यवस्थित करे।

२ कार्यपालिका द्वारा विकास (Development by Executive)—उसी प्रकार सयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति की राजाज्ञाओ, आज्ञाओ एव कार्यवाहियो के कारण सविधान का विकास हुआ है। जैक्सन (Jackson) लिंकन (Lincoln) एव दोनो रूजवेल्ट (Roosevelts), इन राष्ट्रपतियो की सविधान के ऊपर उतनी ही स्पष्ट छाप (Impact) है जितनी कि सविधान के रचयिताओ में से किसी की हो। अपनी कार्यपालिका शक्तियो को ओजस्वी एव प्रबल ढग से प्रयोग करके, इन राष्ट्रपतियो ने अपने पद में व्यवस्थापिका एव कार्यपालिका दोनो प्रकार की शक्तियो का नेतृत्व स्थापित कर लिया। सविधान में कही भी मन्त्रिमण्डल का अस्तित्व नही है न राष्ट्रपति के लिये मन्त्रिमण्डल से परामर्श करना आवश्यक है। किन्तु वाशिंगटन (Washington) ने मन्त्रिमण्डल की रचना की और वह उससे परामर्श लेने लगा, और तभी से मन्त्रिमण्डल शासन का एक आवश्यक अग बन गया है।

सविधान ने युद्ध की घोषणा करने की शक्ति कांग्रेस को दी है, फिर भी राष्ट्रपतियो ने कई बार सेनाओ को युद्ध के मैदान में लडने, अथवा युद्ध करने की तैयारी दिखाने के अभिप्राय से भेज दिया है यद्यपि इस सम्बन्ध में कांग्रेस से अधिकार प्राप्त नही किया गया।

पुनश्च सविधान के उपबन्धो के अनुसार परिनियम (Statutes) पास किये जाते हैं और परिनियमो के अधीन विनियम (Regulations) बनाये जाते हैं जिनके अनुसार वाणिज्य (Commerce) के सम्बन्ध में निर्णय किये जाते हैं, देशीयकरण (Naturalization) की विधि (Process) निश्चित की जाती है, जनगणना करने की प्रक्रिया निश्चित की जाती है तथा एकस्व (Patents) एव प्रतिलिपि अधिकार (Copy Rights) निर्णय किये जाते है। इसके अतिरिक्त कांग्रेस ने अनेको अधिशासी प्राधिकारियो एव प्रशासी बोर्डों (Administrative Boards) को अधिकार दे दिया है कि वे परिनियमो (Statutes) की न्यूनताओ को विनियमो (Regulations) एव आज्ञाओ से पूर्ण कर लें। ये विनियम, विधियाँ (Laws) नही हैं किन्तु विनियम भी विधि के समान प्रभावी हैं। "कहा जा सकता है कि सविधान मुख्य पेड का तना (Main Trunk) है जिसकी शाखें (Branches) परिनियम (Statutes) हैं और विनियम (Regulations) ही जिस सविधान रूपी तने की टहनी (Twigs) हैं।"[1]

३. **निर्वचन द्वारा विकास** (Development by Interpretation)—चीफ जस्टिज ह्यूज (Chief Juctice Hughes) के प्रसिद्ध वाक्य में यह सत्य निहित है कि अमेरिका की शासन-व्यवस्था का विकास न्यायिक निर्वचन (Judicial Interpretation) द्वारा हुआ है। उसने कहा था, "हम सविधान के उपबन्धो के अनुसार कार्य करते हैं किन्तु सविधान क्या कहता है, इस तथ्य को न्यायाधीश लोग ही बतला सकते हैं।" जज लोग ही सविधान का निर्वचन करते हैं, और सयुक्त राज्य अमेरिका के जैसे सविधान के भी जो सक्षिप्त एव व्यापक शब्दो अथवा वाक्याशो में लिखा हुआ है, विभिन्न निर्वचन हो सकते हैं। और यदि किसी वाक्याश का नया निर्वचन किया जाय तो इसका अर्थ होगा उसको नये अर्थों में लेना और यदि उसको नये अर्थों में स्वीकार किया जाता है तो उसका अर्थ होगा उसको बदल देना। न्यायालयो के समक्ष सविधान की प्राय प्रत्येक धारा पर विचार हुआ है और न्यायाधीशो के निर्वचनो (Interpretations) ने निस्सन्देह सविधान के कई भागों को बदल डाला है। उपलक्षित शक्तियो का सिद्धान्त (Implied Powers), सहज अथवा अन्तवर्ती शक्तियो का सिद्धान्त (Inherent Powers), प्रसविदा की पवित्रता का सिद्धान्त (Sanctity of Contracts) एव अन्यान्य सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयो ने निस्सन्देह शासन का मार्ग ही बदल डाला है। उदाहरण के रूप में सर्वोच्च न्यायालय ने वियुक्ति (Dismissal) का अधिकार राष्ट्रपति को दे दिया, और इस

---

[1] Munro, W B The Government of the United States, p 69

सम्बन्ध मे सीनेट को कोई अधिकार न रहा । संविधान ने संघीय सरकार को संचारण के साधन (Means of Communication) एव परिवहन (Transport) का प्रबन्ध सौंपा है । सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय ने निर्वचन किया कि संचार के साधनो में तार, टेलीफोन एव रेडियो भी सम्मिलित हैं । परिवहन के साधनो मे रेल, सडके तथा हवाई मार्ग भी सम्मिलित कर लिये गये । इसी प्रकार उदारता से सशस्त्र सेनाओ का निर्वचन किया गया और इस प्रकार संघीय सरकार का अधिकार क्षेत्र बहुत विस्तृत हो गया । संविधान कहता है कि कांग्रेस के पास वाणिज्य-व्यवस्था करने की शक्ति होगी । अब बताइये कि वाणिज्य (Commerce) शब्द का क्या अर्थ है और वाणिज्य में कौन-कौन सी बाते सम्मिलित हैं । सर्वोच्च न्यायालय ने इसका निर्वचन नई स्थितियो के अनुसार और नई समस्याओ के समाधान हेतु विभिन्न प्रकार से विभिन्न अर्थों में किया है ।

४ **प्रथा एवं रीति द्वारा विकास** (Development by Usage)—अमेरिकी संविधान की वृद्धि एव विकास एव संपरिवर्त्तन में प्रथाओ, रीतियो तथा आचारो एव रूढियो का भी हाथ है । एक व्यक्ति की जो आदत होती है, वही राष्ट्र की प्रथा अथवा रीति (Usage) बन जाती है । राष्ट्र भी व्यक्तियो की ही तरह किसी विशेष काम को किसी विशेष प्रकार से करने के आदी हो जाते हैं । वही आदत (Habit) निरन्तर अभ्यास के अनन्तर प्रथा अथवा रीति में परिवर्तित हो जाती है और उसको बदलना कठिन हो जाता है । ये राजनीतिक रूढियाँ (Customs) एव प्रथायें (Usages), जिनका आधार न तो विधियाँ (Laws) हैं, न न्यायिक निर्णय (Judicial Decisions) हैं, शासन के मौलिक नियमो के आधारभूत ढांचे के अत्यन्त आवश्यक अवयव हैं । वास्तव में प्रथाये एव रीतियाँ एक प्रकार से अलिखित नियम हैं, जिनके विकास के द्वारा संविधान बहुत कुछ नवीन एव आधुनिक (Modernised) संशोधित (Amended) एव प्रजातन्त्रात्मक (Democratized) हो गया है । प्रथाये एव रीतियाँ, कठोर (Rigid) संविधान को भी कोमल एव लचीला (Flexible) बना देती हैं ।

इस सम्बन्ध में सब से मुख्य उदाहरण है राजनीतिक दलो का विकास, जो संविधान में निहित नही है । राजनीतिक दलो (Political Organisations) के अभाव में हम संघीय अथवा राज्यीय शासन की कल्पना भी नही कर सकते हैं । फिर भी संविधान में राजनीतिक दलो का कोई उपबन्ध नही है । राजनीतिक दल ही व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में समन्वय स्थापित करते हैं, तथा इन्ही राजनीतिक दलो के द्वारा ही राष्ट्रपति का पद लोगो के प्रति अधिक उत्तरदायी बना है ।

इस सम्बन्ध में दूसरा उदाहरण, मन्त्रिमण्डल का है जो राष्ट्रपति को शासन में सहायता देता है । इस प्रथा का संविधान मे कोई आधार नही है । कांग्रेस द्वारा पास किये हुए परिनियमो (Statutes) ने केवल विभागो की रचना की है । इन्ही विभागो में से मन्त्रिमण्डल के सदस्य चुने जाते हैं । राष्ट्रपति वाशिंगटन (Washington) ने

कुछ मन्त्री परामर्श के लिये लेना आवश्यक समझा, और वाद में अन्य राष्ट्रपतियों ने इस प्रथा को जारी रखा है, और आजकल मन्त्रिमण्डल का पूर्ण परित्याग करके शासन चलाना प्राय असम्भव होगा। सीनेटोरियल कर्टसी (Senatorial Courtesy), राष्ट्रपतीय नामनिर्देशक दल-सम्मेलन (Presidential Nominating Conventions) एव अन्य दल-गत क्रियाकलाप, तथा प्रतिनिधि भवन के प्रतिनिधियो के निवास-स्थान सम्बन्धी आवश्यकताओ का उपबन्ध भी सविधानिक प्रथाओ तक रीतियो के उदाहरण हैं। सविधान में व्यवस्थापिका-समितियो (Legislative Committees) की आज्ञा नही है किन्तु प्रथा, रीति एव आचार ने उनको ऐसा स्थायी बना दिया है मानो वे सविधान के अग हो।

राष्ट्रपति जार्ज वाशिंगटन (George Washington) ने एक पूर्व भावी (Precedent) स्थापित किया कि किसी व्यक्ति को दो बार से अधिक राष्ट्रपति नही होना चाहिये। यह एक प्रथा-सी बन गई और इसका पालन १९४० तक बराबर होता रहा किन्तु फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट (Franklin D. Roosevelt) तृतीय बार राष्ट्रपति पद के लिये उम्मीदवार के रूप में खडा हुआ और वह चुन लिया गया। वह चौथी बार भी चुना गया। राष्ट्रीय आपात् काल की घडी मे रूजवेल्ट के गतिशील एव शक्तिशाली व्यक्तित्व के प्रभाव के कारण राष्ट्र ने वशीभूत होकर पुरानी प्रथा (Custom) का उल्लघन स्वीकार कर लिया। किन्तु सयुक्त राज्य अमेरिका में बहुमत इसी पक्ष मे था कि कोई व्यक्ति दो बार से अधिक राष्ट्रपति पद ग्रहण न करे, अत १९५१ मे सविधान में सशोधन किया गया जिसके अनुसार कोई एक ही व्यक्ति दो बार से अधिक राष्ट्रपति नही होगा।

५. सशोधन द्वारा वृद्धि (Growth by Amendment)—सविधान के निर्माता भली प्रकार समझते थे कि भविष्य मे नये अनुभव एव नई अवस्थाओ के अनुसार सविधान में सुधार करने की आवश्यकता पडेगी, अत उन्होने औपचारिक सशोधन की विधा (Process) प्रस्तुत की। सविधान किसी सशोधन के प्रस्ताव के लिए दो सोपान निर्धारित करता है तथा दो सोपान उनके अभिपोषण तथा अनुसमर्थन (Ratify) के लिए निर्धारित करता है। (१) कांग्रेस के दोनो सदनो के दो-तिहाई बहुमत द्वारा कोई सशोधन-प्रस्ताव उपस्थित किया जा सकता है, तथा उसका अनुसमर्थन किया जा सकता है, किन्तु इस प्रस्ताव के लिए यह आवश्यक है कि—

(i) वह तीन चौथाई राज्यो की व्यवस्थापिकाओ द्वारा, अथवा (ii) वह तीन-चौथाई राज्यो में इस उद्देश्य के लिए बुलाये गये सम्मेलनों द्वारा अभिपोषित हो।

(२) अथवा राष्ट्रीय सविधानिक सम्मेलन (National Constitutional Convention) जिसको दो-तिहाई राज्यो की व्यवस्थापिकाओं की प्रार्थना पर कांग्रेस आहूत करे, सशोधन के लिए प्रस्ताव करे, और फिर वह

(i) तीन-चौथाई राज्यो की व्यवस्थापिकाओ द्वारा अथवा

(ii) तीन-चौथाई राज्यों के सम्मेलनो द्वारा अभिपोषित (Ratified) हो।

यद्यपि संविधान के संशोधन की दो विधियां हैं किन्तु व्यवहार में केवल एक ही विधि अर्थात् कांग्रेस के दोनो सदनो के दो-तिहाई बहुमत द्वारा संशोधन-प्रस्ताव तथा तीन-चौथाई राज्यो की व्यवस्थापिकाओ द्वारा अभिपोषण (Ratification) रही है। किन्तु इसका केवल इक्कीसवां संशोधन अपवाद है। इक्कीसवें संशोधन में कांग्रेस ने एक विशेष प्रस्ताव पास किया जिसमें यह स्वीकार किया गया कि "यह अनुच्छेद (Article) उस समय तक प्रभावी नहीं होगा जब तक कि संविधान में वर्णित प्रक्रिया के अनुसार अनेको राज्यों के सम्मेलनो (Conventions) द्वारा संविधान के संशोधन के रूप में अभिपोषित नही किया जायगा और यह अभिपोषण कांग्रेस द्वारा राज्य को भेजे गये संशोधन प्रस्ताव की तिथि से सात वर्ष के अन्दर प्राप्त हो जाना आवश्यक होगा।"

संशोधन विधि की आलोचना (Criticism of the Amending Process)—अमेरिकी संविधान में संशोधन की विधि अत्यन्त कष्टसाध्य एवं उलझाने वाली (Circuitous) है, और इसी कारण १७८९ मे, जब से कि यह संविधान प्रभावी हुआ है, अब तक केवल २२ संशोधन ही स्वीकृत हुए हैं। प्रथम दस संशोधनो के लिये 'अभिपोषणो की कीमत' चुकानी पडी थी और उनका संविधान में समावेश १७९१ में हुआ। इसके बाद जो बारह संशोधन हुए हैं उनसे संविधान में विविध परिवर्त्तन हुए हैं जिनसे बहुत से उपबन्ध हटा दिये गये हैं, और समय की आवश्यकतानुसार बहुत से नये उपबन्ध (Provisions) जोड दिये गये हैं। यद्यपि उग्र परिवर्त्तन नही किये गये हैं फिर भी कई प्रकार से संविधान का स्पष्ट परिष्करण हुआ है। जिन आधारो पर संशोधन विधि की आलोचना की जाती है, वे निम्नलिखित हैं—

१ बहुमत शासन की स्थापना के लिए दो विभिन्न मांगें (Requirements), कांग्रेस के दोनो सदनो के दो-तिहाई मत और फिर तीन-चौथाई राज्यो की व्यवस्थापिकाओ द्वारा अभिपोषण, यह असंगत एवं परस्पर विरोधी (Inconsistent) हैं और यह असंगति सरलता से समझ में नही आती। कांग्रेस के दोनो सदनो में ही दो-तिहाई मत प्राप्त कर लेना सरल नही है। अब तक कांग्रेस में जो हजारो प्रस्ताव उपस्थित किये गये हैं, उनमें से केवल २७ प्रस्तावो को दोनो सदनो में आवश्यक दो-तिहाई मत प्राप्त हुए हैं। इनमें से केवल २२ प्रस्तावो पर राज्यो की आवश्यक संख्या द्वारा अभिपोषण प्राप्त हो सका और वे ही प्रभावी हो सके हैं। सुझाव दिया गया है कि कांग्रेस के दोनो सदनो का बहुमत, और दो-तिहाई राज्यो द्वारा अभिपोषण, यही संविधानिक संशोधनो को पास करने के लिए आवश्यक होने चाहिएं। किन्तु इस सुझाव की ओर किसी ने विशेष उत्साह नही प्रकट किया है।

२. अभिपोषण के लिए राज्यो की संख्या निर्धारित की गई है और उसके लिए समस्त राष्ट्र की जनसंख्या का कोई विचार नहीं रखा गया। इस विचार को

दृढता के साथ प्रकट किया गया है कि यह व्यवस्था अत्यन्त प्रगतिविरोधी (Conservative) है, क्योकि यदि १३ छोटे राज्य आपस मे मिल जायें, तो इस प्रकार वे समस्त देश की अपार बहुमत जनसख्या की आशाओ एव आकाक्षाओ (Aspirations) की हत्या कर सकते हैं। यह एक प्रकार से पूर्ण निरकुश निषेधाधिकार (Veto) के तुल्य है। "दूसरे शब्दो में सारे राष्ट्र की समस्त जनसख्या का दसवाँ भाग, जो तेरह भौगोलिक देश-विभागों में बिखरी हुई है, जनसख्या के ९/१० भाग को अपनी शासन-व्यवस्था में नवीन प्रवर्तन (Innovations) करने से बलपूर्वक रोक सकती है।"

३. सशोधनो को अभिपोषण के लिये अभिपोषक सम्मेलनो (Ratifying Conventions) में न भेजकर विधान मण्डलो में भेजना भी आलोचना का विषय रहा है और इस प्रथा को प्रजातन्त्र-विरोधी कहा गया है। इसका अर्थ है कि अभिपोषण कुछ थोडे से गिने-चुने लोगो को करना है जो विधान मण्डल के सदस्य हो, और जिनका चुनाव सविधान में प्रस्तुत सशोधन के प्रश्न को लेकर नही हुआ था बल्कि किन्ही अन्य उद्देश्यो को लेकर हुआ था। इस आक्षेप का निराकरण हो सकता है, यदि अभिपोषण, राज्यो के अभिपोषक सम्मेलनों (State Conventions) द्वारा हो। जिस समय इक्कीसवाँ सशोधन अभिपोषण के लिए राज्यो के अभिपोषक-सम्मेलनो के पास भेजा गया था, उस समय यह आशा व्यक्त की गई थी कि एक पूर्व भावी (Precedent) स्थापित हो गया है और अब भविष्य में भी यही प्रजातन्त्रात्मक विधि अपनाई जाती रहेगी। किन्तु जब कांग्रेस ने १९४७ में बाईसवाँ सशोधन उपस्थित किया जिसमें राष्ट्रपति की पदावधि (Tenure) पर अकुश लगाना अभीष्ट था, तो फिर पुरानी प्रथा अपना ली गई और उस सशोधन को अभिपोषण के लिए राज्यो के विधान मण्डलो के पास भेज दिया गया।

४. सविधान के सशोधन की जटिल प्रक्रिया के सम्बन्ध में अन्तिम आक्षेप यह किया जाता है कि अभिपोषण के लिए समय निर्धारण नही किया गया। इस सम्बन्ध में कांग्रेस चाहे तो विशेष प्रस्ताव द्वारा समय निर्धारित कर सकती है, जैसा कि अठारहवें, बीसवें और इक्कीसवें सशोधनो के समय हुआ। अभिपोषण-अवधि के अभाव में राज्य सशोधन-प्रस्ताव से खिलवाड कर सकते हैं और इसको अनिश्चित काल तक रोके रख उसकी हत्या कर सकते हैं। उदाहरणस्वरूप शिशु-श्रम-संशोधन (Child Labour Amendment) को कांग्रेस ने १९२४ में उपस्थित किया, किन्तु अभिपोषण के सम्बन्ध में समय निर्धारित नही किया। अब तक केवल २८ राज्यो ने उस सशोधन को अभिपोषित किया है, अन्तिम राज्य कैन्सस (Kansas) द्वारा १९३७ में अभिपोषण हुआ।[1] एक अन्य अवसर पर ओहियो राज्य (Ohio) ने सशोधन-प्रस्ताव प्राप्त होने के ८० वर्षों बाद उस पर अभिपोषण व्यक्त किया।[2] कनेक्टीकट (Connecticut),

---

[1] Government by the people, op citd p 108

[2] Ferguson, J H and Mchenry, D. E · The American System of Government (1950), p 70.

ज्योजिया (Georgia) और मैसेचुसेट्स (Massachusetts) नामो के तीन राज्यो ने जब यह देखा कि उन्होने कभी भी किसी संशोधन-प्रस्ताव पर अभिपोषण ही नही किया, तो "वे कुछ सकुचाये, और उन्होने अत्यन्त पुराने प्रथम दस सशोधन-प्रस्तावो का अभिपोषण १९३९ में किया।"[1] फिर भी सब मिला कर अभिपोषण में कम ही समय लगा है, "१६वे सशोधन में ३ वर्ष और ७ मास लगे और १२वे सशोधन-प्रस्ताव में केवल ७ मास। २१ सशोधन-प्रस्तावो का औसत (Average) २१ मास है।[2]

सघीय केन्द्रीकरण

(Federal Centralisation)

राज्य की बढती हुई आवश्यकताएँ (Growing needs of the State)—आजकल राष्ट्रीय सरकार की प्रवृत्ति सघीय केन्द्रीकरण की ओर है जिसके द्वारा वह उन कार्यों को भी अधिकार में ले लेना चाहती है जो पहिले एककों अथवा राज्यो के अधिकार-क्षेत्र में समझे जाते थे। उन स्थितियो में जिनमे कि सयुक्त राज्य अमेरिका ने सघीय स्वरूप धारण किया, यह आवश्यक भी था। मैक-कुलोच विरुद्ध मेरीलैंड (McCulloch *V.* Maryland) के मामले में प्रमुख न्यायाधीश मारशल (Marshall) ने प्रतिपादित किया कि सयुक्त राज्य आम जनता का सघ है और केन्द्रीय शासन सिद्धान्त एव व्यवहार दोनो प्रकार से राष्ट्रीय सरकार है क्योंकि उसका आधार जनता ही है। सविधान ने तो शासन का ढाँचा मात्र रचा था जिसको लेकर ही राष्ट्रीय सरकार विकसित होगी। इसी तथ्य पर पुन. जस्टिस होम्स (Justice Holmes) ने मिसौरी विरुद्ध होलैण्ड (Missouri *V* Holland) वाले मामले में अवधारण सहित प्रकाश डाला। उसने कहा, "सविधान के शब्दो ने एक ऐसे प्राणी को जन्म दिया जिसका विकास किस प्रकार और किस दिशा में होगा, इसके बारे में कोई पहले से नही जान सकता था। उनके लिये यही समझ लेना अथवा आशा करना पर्याप्त था कि उन्होने एक प्राण युक्त प्राणी की रचना की है। वह प्राणी सौ वर्षों से जीवित है और हम लोगो ने काफी परिश्रम किया है एव खून और पसीना बहाकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि उन्होने (सविधान के शब्दो ने) एक राष्ट्र को जन्म दिया था।" वह प्राणयुक्त प्राणी ही राष्ट्र था जो अब विकसित हुआ है और उसके विकास के अनुरूप ही उसकी आवश्यकताएँ भी बढी हैं। १७८७ से, जबकि सयुक्त राज्य अमेरिका गरीब, कम आबादी वाला एक खेतिहर देश था, अब वह धनी, घनी आबादी वाला, पूर्ण एव उद्योग-प्रधान देश बन गया है। कुछ ही काल पूर्व तक सयुक्त राज्य की कोई विशिष्ट विदेश नीति नही थी। उसकी पृथक् भौगोलिक स्थिति, यूरोप में मैत्रीपूर्ण एव हितकारी शक्ति-सतुलन (Balance of Power), और एशिया में किसी प्रकार की व्याकुलता का अभाव, इन सब के कारण सयुक्त-

---

[1] Ibid

[2] Ibid.

राज्य अमेरिका सबसे अलग-थलग रहा और पूर्ण सुरक्षित रहा। आज परिस्थिति बिल्कुल बदल गई है और सयुक्त-राज्य अमेरिका सारे ससार में शान्ति स्थापित करने का ठेका ले रहा है। फलत इन सब परिवर्त्तनो के कारण शासन पर पर्याप्त दबाव एवं समाघात आ पडता है। बदली हुई सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एव अन्तर्राष्ट्रीय परिस्थितियो के कारण उत्तरदायित्वों का पुन' बँटवारा करना होगा, इसीलिये चारो ओर यही प्रवृत्ति दृष्टिगोचर होती है कि एकक राज्यो से शक्तियाँ लेकर केन्द्रीय राष्ट्रीय सरकार को शक्तिशाली बनाया जाय। इन सब परिवर्त्तनो के साथ-साथ, आम लोगों का दृष्टिकोण भी केन्द्रीय सरकार की ओर बदल रहा है, चाहे सत्तारूढ़ दल कोई भी क्यो न हो। प्रारम्भ से ही घटनाओ के न्याय (Logic of Events) ने राष्ट्रीय सरकार के प्रभाव क्षेत्र को बढने एव विकसित होने में सहायता दी है। "क्योकि दोनो मुख्य राजनीतिक दलो की घोषणाओ में वर्गहित प्रतिविम्बित होते हैं, और दोनों ही दल शासन के उन क्रियाकलापो में वृद्धि चाहते हैं जिनके द्वारा केन्द्रीय शासन की वृद्धि होना आवश्यक है। यह आसानी से भविष्यवाणी की जा सकती है कि केन्द्रीय शासन की शक्तियो एव अधिकार क्षेत्र में निरन्तर वृद्धि होती रहेगी।" फिर भी यह मानना ही होगा कि राष्ट्रीय केन्द्रीय शासन की सविधानिक शक्तियाँ आज भी वही हैं जो प्रारम्भ में १७८९ में थीं।

निम्न स्रोतो ने सघीय केन्द्रीकरण के विकास की दिशा मे सहायता पहुँचाई है—

१. सघीय सहायक-अनुदान (Federal Grants-in-aid)—संघीय सहायक अनुदान, सघीय केन्द्रीकरण की दिशा में महत्त्वपूर्ण स्रोत (Source) हैं। राज्य सरकारो की विचार-सभा की एक समिति ने सघीय सहायक अनुदान की इस प्रकार परिभाषा की थी। "राष्ट्रीय सरकार द्वारा राज्य-सरकारो अथवा स्वायत्त शासनो को धन की सहायता जिसमें उन क्रियाकलापो की क्रियान्विति में सहायता एव सहयोग की शर्त रहती हैं जिनका राज्यो की सरकारें और उनके अन्य आश्रित राजनीतिक निकाय प्रबन्ध करते हैं।" इसका अर्थ है कि सघीय सहायक-अनुदान पूर्णरूप से स-शर्त (Conditional) होते हैं और जो निश्चित उद्देश्यों की पूर्ति के लिए उन शर्तों के आधीन दिये जाते हैं जिनको कांग्रेस अथवा अन्य देख-भाल करने वाली समिति (Agency) उचित समझे। साधारण व्यवहार में हम प्रतिदिन देखते हैं कि जो धन व्यय करता है उसी की इच्छानुसार राग बजाया जाता है। ऐसी परिस्थितियो में सहायक-अनुदान केन्द्रीय सरकार के पास (१) राज्यो तथा स्थानीय स्वायत्त स्वशासन की सस्थाओं का सपूर्ण प्रबन्ध अपने हाथो में ले या (२) वे सब पूर्ण रूप से राज्य अथवा स्थानीय स्वायत्त स्वशासन की सस्थाओ द्वारा चलाये जाते रहें, जिसका फल हो मनमाने ढग से अपूर्ण एव विभिन्न प्रमापो (Diverse Standards) तथा नियमों द्वारा विकास "इन दोनो दूरतम अवस्थाओ के बीच एक समझौता (Middle Ground) उपस्थित करता है। सहायक अनुदानो से राष्ट्रीय न्यूनतम प्रमापो की उपलब्धि (Achievement of

National Minimum standards) सम्भव होती है किन्तु साथ ही प्रशासन का लोगो के निकट सम्पर्क में रहने का लाभ भी मिलता है।"

२ अन्तर्राज्यीय एवं विदेश वाणिज्य-विनियमन करने की शक्ति (The Power to regulate inter-state and Foreign Commerce)—सघीय केन्द्रीकरण के विकास की दिशा मे एक अत्यन्त महत्वपूर्ण आधार एव सविधानिक स्तम्भ के रूप में राष्ट्रीय सरकार की अन्तर्राज्यीय एव विदेश-वाणिज्य विनियम करने की शक्ति है। वाणिज्य शब्द (Commerce) के अन्तर्गत वाणिज्य के सभी क्रियाकलाप आ जाते हैं जैसे उत्पादन (Production), मोल लेना, बेचना, तथा वस्तुओ का परिवहन। विनियमन की शक्ति (Power to regulate) के अनुसार, वे नियम बनाये जा सकते हैं जिनके अनुसार वाणिज्य की व्यवस्था होगी, और यही वह अधिकार है जिसके द्वारा वह सारा वाणिज्य पोषित किया जायगा, व्यवसाय बढाया जायगा एवं उस समस्त वाणिज्य की रक्षा की जायगी जिसका सम्बन्ध अनेको राज्यो की समृद्धि से है। आजकल सयुक्त राज्य अमेरिका की अर्थ-व्यवस्था का शायद ही कोई ऐसा पहलू होगा जिसका प्रभाव अनेको राज्यो (States) के वाणिज्य पर न पडे। इस प्रकार केन्द्रीय सघीय सरकार अत्यन्त कुशलतापूर्वक लोगो को और धन को लोकहित में विनियमन (Regulate) करने में सफल हुई है। "१९३० से १९४० के बीच के दशक में कांग्रेस ने श्रमिक सम्बन्धों का विनियमन किया है, रेडियो प्रसारण (Broadcasting) का नियन्त्रण किया है, रेलरोड में काम करने वाले लोगो के निवृत्ति नियम (Retirement System) तैयार किये हैं, न्यूनतम मज़दूरी एव अत्यधिक काम के घटे निश्चित किये हैं, अन्तर्राज्यीय बस सर्विस एव ट्रक सर्विस की व्यवस्था की है, छोटी-छोटी नदियो पर भी, जिनमें जहाज़ चलाये जाना सदिग्ध है नियन्त्रण किया है, स्कन्ध विनियमो (Stock exchanges) का विनियमन किया है, हडताल करने वालो को बलाद् आदान करने वालो (Extorters) को एवं बलापहर्ताओ (Kidnappers) एव मोटर चोरो (Vehicle thieves) को सजा देने की व्यवस्था की है।"[1]

वित्तीय सहायक अनुदान के बल पर सघीय सरकार ने ऐसे विभिन्न क्षेत्रों में कार्य करना प्रारम्भ कर दिया है जैसे प्रत्यय सघटनो (Credit Unions) का समामेलन (Incorporating), सचय-अधिकोष निक्षेप (Saving Bank Deposits), संचय-ऋण-पार्षदो को अधिकार देना एव विनियमन करना (Chartering and Regulating Savings and Loans Associations), और अन्तर्राष्ट्रीय स्थायीकरण निधि (International Stabilization Funds) में साझी होना।

३ सैनिक शक्ति (The War Power)—केन्द्रीय सरकार को सविधान ने विदेशी आक्रमण से स्वदेश की रक्षा का तथा आवश्यकता आ पडने पर युद्ध करने

---

1. Ferguson, J H and Mc. Henry D. E. . The American System of Government, pp 122.

का उत्तरदायित्व सौंपा है। आजकल सम्मिलित रक्षा (Common Defence) की समस्या १७८७ की अवस्था से बिल्कुल भिन्न है। आजकल कोई भी देश यह नही कर सकता कि युद्ध घोषित होने तक रक्षा-व्यवस्था न करे। देश को सदैव तैयार रहना चाहिए कि या तो युद्ध की सभावनाएँ ही न रहें या यदि युद्ध करना ही पड़े तो वह विजय लाभ करे। इसका अर्थ है कि देश के औद्योगिक साधनो को तथा राष्ट्र के वैज्ञानिक ज्ञान को रक्षा-साधनो की व्यवस्था में लगाना पड़ेगा। "स्कूलो में भौतिक विज्ञान के पाठ्य-क्रम में जो कुछ शिक्षा दी जाती है वहाँ से लेकर प्राकृतिक ससाधनो के संरक्षण (Conservation of Natural Resources) तथा देश की सुदृढ़ अर्थ-व्यवस्था तक सभी का युद्ध करने की शक्ति एव युद्ध-साधनो (War making potential) पर प्रभाव पड़ता है।" जब देश युद्ध में फँसा हो तो, आवश्यक है कि समस्त राष्ट्र का पूर्ण उत्साह (Entire life) युद्ध जीतने की ओर लगा हो। इन अर्थों में लोगो की अनिवार्य भरती, उत्पादन (Production) परिवहन (Transportation), वितरण (Distribution), आदि के सभी साधनो एव मार्गों पर पूर्ण नियन्त्रण करना होगा, और वास्तव में देश में सभी की आर्थिक एव सामाजिक जीवन-चर्या पर नियन्त्रण अनिवार्य होगा।

और जब युद्ध समाप्त हो जाय, तो शासन को सैन्य वियोजन (Demobilisation) एव युद्धोत्तर पुनर्निर्माण (Post-war Reconstruction) की समस्याओ को सुलझाना होता है। युद्धकालीन अवस्थाओ से शान्तिकालीन अवस्थाओं की ओर आने में सहज व्यवस्था रहनी चाहिए, जिसके लिये उचित नियोजन (Proper Planning) तथा समन्वय (Coordination) की आवश्यकता है। शासन को वृद्ध सैनिकों को आर्थिक सहायता देनी चाहिये तथा युद्ध के कारण देश की अर्थ-व्यवस्था में जो दुर्व्यवस्था उत्पन्न हो जाये उसको दूर करने का प्रयत्न करना चाहिये। "सक्षेप में राष्ट्रीय सरकार को युद्ध करने का ही अधिकार नही है अपितु उसे इस बात का भी अधिकार है कि वह युद्ध को इस प्रकार चलावे कि उसमें विजय लाभ हो। यदि युद्ध, राष्ट्र के जीवन-मरण का निर्णायक युद्ध (Total War) है, तो सरकार को पूर्ण शक्ति से सज्जित करना ही होगा। जब तक हम ऐसे ससार में रह रहे हैं जिसमें युद्ध का खतरा सदैव बना हुआ है, उस समय तक सरकार को अनेको और विभिन्न प्रकार से देश की रक्षा की व्यवस्था करनी पड़ेगी और उन रक्षा-व्यवस्था की तैयारियो की हमारे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से टक्कर होगी।"[1]

४ **केन्द्रीय शासन में विश्वास (Confidence in the National Government)**—देश के लोगो ने, देश के विकास की हर अवस्था में अपनी कठिनाइयो के निराकरण के लिए केन्द्रीय शासन की ओर देखा। उनकी इच्छा थी कि देश महान् एव समृद्ध बने जिसके फलस्वरूप महान् व्यापार, बड़े पैमाने पर कृषि-उद्योग एव बहुत मजदूरो की आवश्यकता हुई और यही सब मिलकर महान् शासन को जन्म देते

---

[1] Government By the People, pp 142

हैं। इस शताब्दी में सन् १९३० के आस-पास के संसारव्यापी आर्थिक अवसाद (World Economic Depression) ने केन्द्रीय सरकार की प्रतिष्ठा को काफी बढ़ाया। समस्त देश में कुल श्रमिकों की संख्या ५ करोड़ (Fifty Million) थी जिसमें से १ करोड़ २० लाख (Twelve Million) श्रमिक बेकार थे और इसके अतिरिक्त लाखों व्यक्ति पूर्ण आश्रयहीन थे। राज्यों के पास इतने स्रोतों का अभाव था कि वे इतने बड़े पैमाने पर आर्थिक सहायता देते और साथ ही साथ ऐसे उपाय सोचते कि देश को वित्तीय एवं आर्थिक संकट से बचा लेते। केन्द्रीय सरकार ने देश एवं प्रजा की रक्षा की और राष्ट्रपति रूजवेल्ट की साहसपूर्ण नीति के फलस्वरूप देश आर्थिक संकट पार कर गया।

साथ ही साथ जहाँ लोगों का केन्द्रीय शासन में विश्वास बढ़ रहा है वहीं राज्यों में उनकी पुरानी निष्ठा कुछ कम होती जा रही है। इसका एक कारण तो यह है कि संचारण (Communications) तथा परिवहन (Transport) के साधनों में विकास हुआ है, जिसके फलस्वरूप देश की जनसंख्या की चलिष्णुता (Mobility) बढ़ गई है। द्वितीयत, बहुत से राज्य ऐसे हैं, जिनका संघ (Union) का सदस्य राज्य बनने से पूर्व कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं था। इसलिए ऐसे राज्यों की सीमाओं में रहने वालों के हृदयों में स्थानीय श्रद्धा (Local Pride) के भाव कभी विकसित नहीं हुए, और वहाँ के सबसे पहले आये हुए उपनिवेशी सदैव यह कामना हृदयों में रखते थे कि केन्द्रीय शासन की स्थापना होने के बाद ही उनकी उन्नति होगी। स्वयं राज्य भी एक प्रकार से इसके लिए उत्तरदायी हैं। बहुत से राज्यों ने अपने अधिकार-क्षेत्र में और आर्थिक स्रोतों के होते हुए भी पूरी तरह से अपना कर्त्तव्य नहीं निबाहा जिसके फलस्वरूप उन राज्यों में बसने वालों के हृदयों में स्थानीय श्रद्धा का अभाव है। "वाशिंगटन (Washington) नगर प्राय पूर्णता का आदर्श है, यदि उसका मिलान कुछ राज्यों के प्रधान नगरों (Capitals) से किया जाय, जहाँ रिश्वतखोरी एवं अयोग्यता का बोलबाला है और जो उन सेवाओं की व्यवस्था भी नहीं कर सके हैं जिनकी वहाँ के निवासी आशा करते हैं।"

Suggested Readings

Beard, C A	American Government and Politics (1932), Chapters II, III
Benson, George C S.	The New Centralization (1941)
Brogan, D W	The American Political System (1948), Chap I, II.
" "	An introduction to American Politics (1954), Chapter I
Burns and Peltason	Government by the People (1954), Chapters IV, V.

Carr, R. K. The Supreme Court and Judicial Review (1942).

Clark L P. · The Rise of a New Federalism (1938)

Ferguson, J. H. and Mc Henry, D. E } The American System of Government (1950) Chapters IV and VI

Finer, H : The Theory and Practice of Modern Government (1954)

Munro, W. B : The Government of the United States (1947), Chapters IV, V.

Zink, H . A Survey of American Government (1950), Chapters III, V.

अध्याय ३

अध्यक्ष-पद

(The Presidency)

सगठन, निर्वाचन की प्रक्रिया तथा शक्तियाँ

(Organisation, Mode of Election and Powers)

एकल कार्यपालिका की आवश्यकता (The need of a Single Executive)—प्रसधान के अनुच्छेदों (Articles of Confederation) के अनुसार जिस शासन-व्यवस्था का सगठन किया गया था, उसमें, जैसा कि हम वर्णन कर चुके है, एक भारी कमी, एक ऐसी कार्यपालिका शक्ति (Executive Authority) का अभाव था जो कांग्रेस के विनिश्चयो और सयुक्त राज्य अमेरिका की सन्धियो को क्रियान्वित करे। इसलिए सविधान के निर्माताओं के समक्ष फिलैडेलफिया प्रसभा में मुख्य आवश्यकता यह थी कि एक ऐसी कार्यपालिका का निर्माण किया जाय जिसमें व्यवस्थापिका का भी समन्वय न हो सके। इसीलिए यह घोषणा की गई कि कार्यपालिका की शक्तियाँ सयुक्त राज्य के राष्ट्रपति के अधिकार में अधिष्ठित होगी।

जिस समय अध्यक्ष-पद पर विचार हो रहा था तो दो मुख्य बातें सविधान के निर्माताओं के सम्मुख थीं। पहिली बात तो यह थी कि उस समय एक ऐसी शक्तिशाली (Energetic) एवं गौरवान्वित (Dignified) कार्यपालिका की आवश्यकता थी जो देश के कानूनो की दृढतापूर्वक क्रियान्विति करा सके, और जो नये शासन में स्थायित्व (Stability) स्थापित कर सके। दूसरी बात यह थी कि कहीं कार्यपालिका इतनी शक्तिशाली तथा अधिकारपूर्ण न हो जाय कि लोग उसमें दोष देखने लगें। अनेकों विकल्प छाँटे गये और उन पर विचार किया गया। जेम्स विल्सन (James Wilson) जैसे लोग ऐसी अधिकारपूर्ण कार्यपालिका के पक्ष में थे जो व्यवस्थापिका के अधिकार-क्षेत्र से भी स्वतन्त्र हो। इस पर बहस हुई और लॉक तथा माटेस्क्यू की उक्तियाँ अपने पक्ष में प्रस्तुत की गई और कहा गया कि यदि शक्तियो का पृथक्करण (Separation of Powers) वाछनीय है, तो यह भी तर्क-युक्त है कि शासन के तीन विभाग स्थापित किये जायें जिनमें आपस में समन्वय हो, किन्तु कोई एक विभाग दूसरे विभाग के ऊपर प्रभुत्व स्थापित न कर सके। कुछ ऐसे भी लोग थे जो कार्यपालिका-मैजिस्ट्रेसी (Executive Magistracy) की स्थापना चाहते थे जिसको कांग्रेस नियुक्त करे और जो कांग्रेस की आज्ञानुसार कार्य करे। कुछ प्रतिनिधि एकल-कार्यपालिका (One Man Executive) चाहते थे, किन्तु अन्य लोग बहुल कार्यपालिका (Plural Executive) के समर्थक थे, जो चाहते थे कि दो या तीन समान शक्ति एव अधिकार वाले व्यक्ति मिलकर कार्यपालिका का निर्माण करें।

राष्ट्रपति के सम्बन्ध में जो अन्तिम निर्णय हुआ, वह एक समझौता था। निश्चित किया गया है कि राष्ट्रपति एकल होगा, और वह व्यवस्थापिका के प्रभाव से स्वतन्त्र होगा। एकल-कार्यपालिका निश्चित हो चुकने के बाद भी कई प्रतिनिधियो ने चाहा कि राष्ट्रपति के साथ-साथ एक कार्यपालिका कौंसिल (Executive Council) रहे और जो राष्ट्रपति के साथ-साथ कुछ मुख्य मामलो में कार्यपालिका शक्ति का उपभोग करे। इस प्रस्थापना (Proposition) को अस्वीकृत कर दिया गया और इसके स्थान पर सीनेट (Senate) को राष्ट्रपति की कार्यपालिका-कौंसिल के रूप में रखा गया, जो राष्ट्रपति को सन्धियो के परक्रामण (Negotiating of Treaties), तथा नियुक्तियाँ करने में सहायता दे। सक्षेप में प्रसभा (Convention) ने अन्तिम रूप से राष्ट्रपति में पर्याप्त कार्यपालिका शक्ति अधिष्ठित कर दी किन्तु परीक्षणो और सन्तुलनो के अनुक्रम (System of Checks and Balances) ने उसकी शक्तियो पर कुछ नियन्त्रण लगा दिये। इस प्रकार सविधान के निर्माताओ की दोनो इच्छायें पूरी हो गईं। राष्ट्रपति को व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र रखकर और उसको पुनर्निर्वाचन योग्य बनाकर शासन में स्थायित्व एव अविच्छिन्नता स्थापित हो गई। राष्ट्रपति की शक्तियों के ऊपर पर्याप्त नियन्त्रण लग जाने से उस समय के उन लोगो के भय का निराकरण हो गया जो अनियन्त्रित शक्ति को अवाछनीय समझते थे।

अर्हताएँ तथा वेतन (Qualifications and Compensation)—सविधान के अनुसार राष्ट्रपति पद के लिए प्रत्याशी अमेरिका का जन्मत· नागरिक हो, ३५ वर्ष की आयु का हो चुका हो तथा अमेरिका में कम-से-कम १४ वर्ष तक रह चुका हो। राष्ट्रपति का वेतन एव अन्य परिलाभ (Emoluments) कांग्रेस द्वारा निश्चित किये जाते हैं। किन्तु राष्ट्रपति के वेतन एव परिलाभ उसकी पदावधि में न तो बढाये जा सकते हैं न घटाये जा सकते हैं। १६०६ से १६४० तक राष्ट्रपति का वेतन ७५,००० डालर प्रति वर्ष था। १६४६ में इसको बढाकर १ लाख डालर वार्षिक कर दिया गया, तथा साथ ही ५०,००० डालर वार्षिक कर-मुक्त (Tax free) भत्ता (Allowance) स्वीकार किया गया। उसकी यात्रा, शासनिक मनोरजन एव सत्कार तथा व्हाइट हाउस (White House), जो राष्ट्रपति का सरकारी निवास-स्थान है, इन सबके लिए अलग से आयव्ययक उपबन्ध (Budgetary Provisions) किये जाते हैं। किसी भी अपराध पर राष्ट्रपति को गिरफ्तार नही किया जा सकता और उस पर किसी न्यायालय में किसी प्रकार का अभियोग नही लगाया जा सकता। उसके विरुद्ध किसी प्रकार का आदेशक (Process) नहीं निकाला जा सकता, न उसको किसी कार्य के करने के लिए मजबूर ही किया जा सकता है। उसको केवल महाभियोग (Impeachment) के द्वारा ही अपने पद से अपदस्थ किया जा सकता है किन्तु अपदस्थ होने के बाद उसको विधि अनुसार गिरफ्तार भी किया जा सकता है और उसको सजा भी दी जा सकती है।

उत्तराधिकार (Succession)—अनुच्छेद २ (Article II) की धारा १ (Section I) का खण्ड ५ (Clause 5) निर्धारित करता है कि यदि राष्ट्रपति का पद रिक्त हो जाये, तो उपराष्ट्रपति (Vice-President) उत्तराधिकारी होगा, और यदि राष्ट्रपति एव उपराष्ट्रपति इन दोनो के पद रिक्त हो जायें तो कांग्रेस विधि के अनुसार निर्णय करेगी कि कौन अधिकारी राष्ट्रपति के पद पर कार्य करेगा। कांग्रेस द्वारा पारित १८८६ के अधिनियम मे कार्यपालिका विभागो के अध्यक्षो का निम्न क्रम दिया गया है जिसके अनुसार उत्तराधिकार निश्चित होना चाहिये। परराष्ट्र-मन्त्री (Secretary of State), अर्थ-मन्त्री (Secretary of Treasury), युद्ध-मत्री (Secretary of War), न्यायाधिपति (Justice), डाक मन्त्री (Postmaster General), नौ-सेना मन्त्री (Secretary of Navy), और गृहमन्त्री (Secretary of Interior)। इस सम्बन्ध में १२वां सशोधन जो १९३३ में स्वीकार किया गया था, प्रावधान (Provides) करता है कि यदि अगली पदावधि के प्रारम्भ होने से पूर्व ही राष्ट्रपति का चुनाव नही होता, अथवा यदि चुना हुआ राष्ट्रपति पूर्ण अर्हताओ से युक्त नही है, तो चुना हुआ उप-राष्ट्रपति राष्ट्रपति का आसन, उस समय तक ग्रहण करेगा जब तक कि चुना हुआ राष्ट्रपति पूर्ण अर्ह न हो जाये। यदि सयोगवश चुना हुआ राष्ट्रपति तथा चुना हुआ उप-राष्ट्रपति दोनो पूर्ण रूप से अर्ह (Qualified) नही हैं तो कांग्रेस इस सम्बन्ध में विधि के अनुसार आज्ञा देगी कि कौन व्यक्ति राष्ट्रपति के पद पर कार्य करेगा; और वह व्यक्ति राष्ट्रपति पद पर उस समय तक कार्य करेगा जब तक कि राष्ट्रपति अथवा उपराष्ट्रपति अपने पद के लिए अर्हता अर्जित न कर लें।

१९४७ में कांग्रेस ने नया अधिनियम पास किया जिसमें प्रावधान किया गया कि यदि राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति दोनो राष्ट्रपति-पद के कर्त्तव्यो एव अधिकारो के अयोग्य हो जायें, तो उत्तराधिकार का क्रम यह होगा : प्रतिनिधि-सदन (House of Representatives) का स्पीकर, सीनेट का तत्कालीन सभापति, और उसके बाद १८८६ के अधिनियम मे वर्णित कार्यपालिका विभागो के अध्यक्ष, जिसमें केवल यह परिवर्तन किया गया कि अन्त में कृषिमन्त्री (Secretary of Agriculture), वाणिज्य मन्त्री (Secretary of Commerce) और श्रम मन्त्री (Secretary of Labour) के पद और बढा दिये गये।

राष्ट्रपति की पदावधि (The Presidential Term)—फिलैडेलफिया असभा (Philadelphia Convention) में राष्ट्रपति की पदावधि के सम्बन्ध में काफी वाद-विवाद हुआ। प्रारम्भ में यह निश्चित किया गया कि राष्ट्रपति की पदावधि सात वर्ष होनी चाहिये किन्तु उसके पुनर्निर्वाचन की आज्ञा नहीं होनी चाहिये। किन्तु पुनर्विचार करने पर पदावधि चार वर्ष कर दी गई किन्तु पुनर्निर्वाचन के सम्बन्ध मे मौन धारण कर लिया गया। जबकि सविधान स्पष्ट कहता है कि "राष्ट्रपति चार वर्ष की पदावधि का उपभोग करेगा," तो सविधान के निर्माताओं ने

निश्चित रूप से राष्ट्रपति के पुनर्निर्वाचन की आज्ञा दी थी। प्रथम राष्ट्रपति, वाशिंगटन (Washington) ने इस प्रथा का सूत्रपात किया कि एक राष्ट्रपति दो पदावधियो से अधिक का उपभोग न करे। इस प्रथा का १५० वर्षों तक पालन किया गया, यद्यपि इस काल में भी ग्राट (Grant) तथा थियोडोर रूज़वेल्ट ने तृतीय पदावधि की कोशिश की, यद्यपि वे असफल रहे। ग्राट (Grant) को दल का नामाकन (Party Nomination) प्राप्त नही हुआ और थियोडोर रूज़वेल्ट (Theodore Roosevelt) चुनाव-दगल में हार गया।

राष्ट्रपति की दो पदावधियो की परम्परा लगभग स्थापित हो गई थी किन्तु १९४० में राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डी० रूज़वेल्ट (Franklin D Roosevelt) ने तृतीय पदावधि के लिए डेमोक्रेटिक (Democratic) दल द्वारा नामाकन (Nomination) स्वीकृत कर लिया, और चुनाव में उसके जीत जाने से वह परम्परा खडित हो गई। १९४४ में वह पुन चौथी बार राष्ट्रपति पद के लिये विजयी हुआ। यद्यपि प्रतिष्ठापन (Inauguration) के शीघ्र बाद अप्रैल १९४५ मे उसकी मृत्यु हो गई किन्तु फ्रेंकलिन डी० रूज़वेल्ट द्वारा द्वि-पदावधि की परम्परा का खण्डन, बारम्बार पुनर्निर्वाचन के पक्ष में पूर्वभावी (Precedent) नही हो सकता था। बाईसवाँ सशोधन, जो १९५१ में स्वीकृत कर लिया गया, स्पष्ट रूप से निषेध करता है कि कोई व्यक्ति दो बार से अधिक राष्ट्रपति के पद के लिये निर्वाचित नही होगा।[1]

निर्वाचन की प्रक्रिया (Mode of Election)—सभवत फिलैडेलफिया प्रसभा का इतना समय और किसी प्रश्न के समाधान करने में नही लगा जितना कि राष्ट्रपति के निर्वाचन की प्रक्रिया निर्धारित करने मे लगा। विविध योजनाएँ प्रस्तुत की गईं। कुछ लोग चाहते थे कि राष्ट्रपति का चुनाव सीधे जनता द्वारा हो, किन्तु अन्य लोग चाहते थे कि कांग्रेस द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव हो। राष्ट्रपति का सीधे जनता द्वारा चुना जाना कई एक कारणो से अस्वीकृत कर दिया गया। सविधान के निर्माता एक ऐसा उपाय खोज निकालना चाहते थे, जो हेमिल्टन (Hamilton) के शब्दो में, "अव्यवस्था तथा हुल्लड को कम-से-कम अवसर प्रदान करे" तथा देश में भयकर विप्लव की स्थिति उत्पन्न न होने दे। कांग्रेस द्वारा राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया के विरुद्ध यह कहा गया कि यह शक्तियो के पृथक्करण के सर्वमान्य एव सर्वसम्मत सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत है और यह अनुभव किया गया कि इस प्रकार की प्रणाली राष्ट्रपति को कांग्रेस के हाथो में खिलौना बना देगी।

अन्तिम रूप से जो प्रक्रिया स्वीकार की गई वह परोक्ष रीति से निर्वाचन का उपकरण था। सविधान के अनुसार राष्ट्रपति के निर्वाचन की नीति यह अपनायी गई कि वह प्रत्येक राज्य में से चुने हुए निर्वाचको के एक छोटे से सघात के द्वारा निर्वाचित

---

[1] १९५१ का सशोधन हैरी ट्रूमैन (Harry Truman) के ऊपर लागू नहीं था, क्योंकि जिस समय सशोधन प्रस्ताव उपस्थित किया गया था, वह राष्ट्रपति था। किन्तु ट्रूमैन तीसरी बार राष्ट्रपति-पद के लिये प्रत्याशी के रूप में खड़ा नहीं हुआ।

होगा। प्रत्येक राज्य के तदर्थ निर्वाचको की सख्या इतनी ही होनी थी जितनी कि उस राज्य के सीनेट तथा प्रतिनिधि भवन के लिये चुने जाने वाले प्रतिनिधियो की। इस प्रकार जो प्रक्रिया स्वीकार की गई उसके अनुसार निर्वाचकगण शनै शनै अपने-अपने राज्यो में सम्मिलित होते थे और अपनी राय लिखित रूप मे दो व्यक्तियो के लिये देते थे जिन दो में से कम-से-कम एक व्यक्ति उसी राज्य का नागरिक न हो जिसके कि निर्वाचकगण हैं। इन मत-पत्रो (Ballots) को मुहरवन्द किया जाता था और सीनेट के सभापति के पास भेज दिया जाता था। सभापति उन मत-पत्रो की गणना दोनो सदनो की उपस्थिति में करता था और निर्णय की घोषणा कर देता था। जिस व्यक्ति को अधिकतम मत प्राप्त होते थे वह राष्ट्रपति होता था, और जिसको उससे कम मत मिलते थे, वह उपराष्ट्रपति घोषित होता था, किन्तु इसमें शर्त यह थी कि दोनो को समस्त निर्वाचकगणो के मतो में से पूर्ण बहुमत प्राप्त होना चाहिये। यदि किसी को भी समस्त निर्वाचकगणो में पूर्ण बहुमत प्राप्त न हो तो उस अवस्था में प्रतिनिधि भवन (House of Representatives) को राज्यो के मतो मे से राष्ट्रपति का चुनाव करने की आज्ञा थी। यह चुनाव राज्यो के द्वारा इस प्रकार होता था कि प्रत्येक राज्य को एक वोट माना जाता था और तब सबसे अधिक मत पाने वाले पाँच मे एक राष्ट्रपति चुन लिया जाता था। यदि इस प्रकार पडी हुई वोटो के आधार पर भी चुनाव-फल निर्णीत न हो तो निश्चित हुआ कि पुन चुनाव-फल इसी आधार पर निर्णीत किया जाय।

सविधान के निर्माताओ को आशा थी कि विभिन्न राज्यो के निर्वाचकगण बुद्धिमान् एव मुख्य नागरिक होंगे जो सम्भवत राष्ट्रपति-पद के प्रत्याशियो की अर्हताओं एव गुणो से परिचित होंगे। उन्हें यह भी आशा की थी कि निर्वाचकगण अपने-अपने राज्यो के मुख्य नगरो में एकत्र होगे, आपस मे प्रत्येक प्रत्याशी की योग्यताओ का मिलान करेंगे और तब अपने विवेक एव निर्णय के अनुसार योग्यतम प्रत्याशी को अपना मत प्रदान करेंगे। प्रथम दो चुनावो मे अत्यन्त शान्तिपूर्ण एव महिमा मडित ढग से चुनाव सम्पन्न हुआ, जिस प्रकार कि सविधान के निर्माताओ को आशा थी। किन्तु तीसरे चुनाव में, १७९६, में नई अवस्था उत्पन्न हो गई, और निर्वाचको के सम्मेलन के बहुत पहले ही यह सब जान गये कि राष्ट्रपति को चुनने वाले अधिकतर निर्वाचकगण या तो जॉन एडम्स (John Adams) को चुनेंगे या टॉमस जेफरसन को चुनेंगे, यद्यपि इन दोनो प्रत्याशियो में से किसी के पक्ष में कोई प्रतिज्ञाएँ नही कराई गई थी।[1]

इस समय दो राष्ट्रव्यापी राजनीतिक दल मैदान में आ गये थे जिनके नाम थे रिपब्लिकन और फेडेरेलिस्ट। जिस समय १८०० का राष्ट्रपति-पद के लिए चुनाव हुआ तो देखने में आया कि निर्वाचकगण अपने-अपने दलों मे सम्बद्ध कार्यकर्त्ता थे जो

---

[1] Munro, W B The Government of the United States, p 150.

अपने-अपने दलो के प्रत्याशियो को ही वोट देने के लिए कृतसकल्प थे ।[1] रिपब्लिक दल ने अधिकतर निर्वाचकों को चुना था और उनकी ओर से जेफरसन राष्ट्रपति-प के लिए तथा बर्न (Burn) उपराष्ट्रपति पद के लिये प्रत्याशी थे । उस चुनाव जेफरसन तथा बर्न (Burn) दोनो को ७३-७३ वोट प्राप्त हुए । सविधान के अनुसा यह चुनाव प्रतिनिधि भवन को सौंप दिया गया, जिसमें फेडरेलिस्ट दल क प्रभुत्व था । बडी कठिनाई से जेफरसन चुना गया क्योकि कुछ फेडेरेलिस्ट बर्न को राष्ट् पति बनाना चाहते थे । किन्तु इस घटना से स्पष्ट हो गया कि चुनाव-प्रक्रिय दोषयुक्त है और उसमें सुधार होना आवश्यक है । इसके तुरन्त बाद सन् १८० में १२वाँ सशोधन स्वीकार किया गया था ताकि इस प्रकार की घटना की पुनरावृत्ति न हो सके । अब प्रत्येक निर्वाचक अलग-अलग राष्ट्रपति एव उपराष्ट्रपति क मत देता है और वही निर्वाचित हो जाता है जिसको अधिक मत प्राप्त होते हैं । यदि राष्ट्रपति-पद के लिए प्रत्याशियों में से कोई भी निर्वाचको के मतों मे से पूर्ण बहुमत नहीं प्राप्त करता, तो प्रतिनिधि सदन (House of Representatives) तीन सबसे अधिक मत प्राप्त करने वाले प्रत्याशियो में से किसी एक को राष्ट्रपति चुन लेता है और यदि कोई भी उपराष्ट्रपति पद के लिए प्रत्याशी निर्वाचको के मतो का पूर्ण बहुमत प्राप्त करने में असमर्थ रहता है तो सीनेट (Senate) उन दो प्रत्याशियो में से, जिनको सबसे अधिक मत प्राप्त होते हैं, एक को उपराष्ट्रपति चुन लेता है । १८८७ की एक विधि में स्पष्ट कहा गया है कि प्रत्येक राज्य अपने-अपने निर्वाचको के चुनाव की प्रामाणिकता (Authenticity) स्वय देखें ।

इस प्रकार, राष्ट्रपति के चुनाव की सविधानिक परोक्ष प्रक्रिया, राजनीतिक दलो के विकास, एवं उनकी राजनीतिक हलचलो के द्वारा पूर्णत छिन्न-भिन्न हो गई है । यद्यपि राष्ट्रपति के चुनाव के सम्बन्ध की सविधान की भाषा अब भी वही है, किन्तु राष्ट्रपति-पद के लिए प्रत्याशियो का नामाकन (Nomination), चुनाव-आन्दोलनो का गठन और अन्त में मत-पत्र डालने की प्रक्रिया यह सब प्रथम कोटि की राष्ट्रीय महत्त्व की चीजें बन गई हैं । चार्ल्स बीयर्ड (Charles Beard) सुस्पष्ट भाषा में कहता है, "यह कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इसमें व्यक्तियो की लालसायें, वर्गों के हित और समस्त राष्ट्र का सौभाग्य जोखिम में रहता है । इस आन्दोलन में अमेरिका का हर एक व्यक्ति भाग लेता है । स्वय राष्ट्रपति व्हाइट हाउस (White House) में या तो अपने पुनर्निर्वाचन में सलग्न होता है, अथवा अपने उत्तराधिकारी के चुनाव में सहायता देता है, यहाँ तक कि जूतो पर पालिश करने वाले अथवा गराजो में काम करने वाले श्रमिक (Garage-boys) भी प्रत्याशियो के गुणो और दोषो पर उसी प्रकार विश्वास के साथ बातचीत करते हैं जिस प्रकार कि किसी इनाम की कुश्ती के परिणाम पर वे बातचीत कर रहे हो । इस चुनाव दगल में अनन्त वाद-विवाद सार्वजनिक रूप से तथा निजी रूप में भी होते हैं, बडी-बडी वक्तृतायें, दगे, झगडे,

---

[1] Burns and Peltason Government by the People, p 114

इश्तिहारबाजी, बडे राष्ट्रीय सम्मेलनों के लिये हजारो प्रतिनिधियो का चुनाव, कुछ उत्साही नेताओं पर अपने समस्त ध्यान का केन्द्रीकरण, देशव्यापी प्रचार, क्योंकि विभिन्न प्रत्याशियो के समर्थक अपने-अपने प्रिय व्यक्ति की योग्यताओं का यशोगान बडे-बडे जन-समुदायो के समक्ष करते हैं, और पुस्तकों, इश्तिहारो सभाओ का आयोजन, प्रतिनिधियो को इकट्ठा करना और यह भी प्रबन्ध देखना कि जो सामान जहाँ से, आया था उसे यथास्थान पहुँचा दिया जाय, इस सब में करोडो डालरो का खर्चा होता है ।

आजकल यह होता है कि ऊपर वर्णित किये हुए सविधान की आज्ञानुसार प्रत्येक राज्य में समान प्रक्रिया का विकास हुआ है, जिसके अनुसार निर्वाचकगण सामान्य टिकिट के आधार पर (General Ticket Basis) चुने जाते हैं । प्रत्येक राज्य में दलीय सगठन निर्वाचको की लिस्टें या सूचियाँ तैयार करते हैं । यह काम कुछ प्रमुख नागरिक अथवा वे समर्थक लोग अपने ऊपर ले लेते हैं जो चुनाव आन्दोलन मे अपनी जेब से व्यय करने की क्षमता रखते हैं । चुनाव के दिन, मतधारक राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति को सीधे वोट नही देते बल्कि राष्ट्रपति के उन सब निर्वाचकों को वोट देते हैं जिनको उनके दल ने राज्य में तदर्थ नामाकित किया है । आमतौर पर वह दल जो किसी राज्य मे अधिक सख्या में वोट प्राप्त करता है समस्त निर्वाचको (Electors) को निर्वाचकमण्डल में भेज देता हैं, अर्थात् उसको उस राज्य के उन सभी निर्वाचक मतो (Electoral Ballots) पर अधिकार हो जाता है जो राष्ट्रपति एव उपराष्ट्रपति के हित में जायँगी । निर्वाचक लोग अपने आप बिना किसी हिचकिचाहट के अपने दल के नियुक्त पुरुषो (Nominees) को अपना मत देते हैं । वास्तव में कोई निर्वाचक (Elector) साहस नही कर सकता कि वह उस दल के साथ विश्वासघात करे जिसने उसे नामाकित किया था, और दूसरे दल के प्रत्याशी का समर्थन करने लगे । सविधान में निर्धारित राष्ट्रपति की निर्वाचन-प्रणाली की अवशिष्ट सीढियाँ औपचारिकताएँ मात्र ही है । इस प्रकार राष्ट्रपति-निर्वाचकों का निर्वाचन ही राष्ट्रपति का निर्वाचन निश्चित कर देता है और "सविधान के निर्माताओं ने जो विचारशील (Deliberative), न्यायानुरूप (Judicial) तथा पक्षपातहीन (Non-partisan) प्रक्रिया, राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए निर्धारित की, उसको राजनीतिक दलो के विकास ने नष्ट कर दिया ।[1]

उपराष्ट्रपति पद

(The Vice-Presidency)

उपराष्ट्रपति पद (The Vice Presidency)—उपराष्ट्रपति मे राष्ट्रपति की समस्त अर्हताएँ होनी चाहियें, क्योंकि राष्ट्रपति की मृत्यु होने पर, त्यागपत्र दे देने पर अथवा उसके पदच्युत किये जाने पर वह राष्ट्रपति पद पर पहुँच सकता है । वह

---

[1] American Government and Politics, p. 166

भी उसी प्रकार चुना जाता है जिस प्रकार कि राष्ट्रपति, और सविधान के आरम्भिक उपबन्धो के अनुसार वही व्यक्ति सयुक्त राज्य अमेरिका के उपराष्ट्रपति पद के लिए निर्वाचित होता था जिसको राष्ट्रपति के बाद सबसे अधिक वोट प्राप्त होते थे। बारहवें सशोधन ने, जैसा कि बताया जा चुका है, अब चुनाव की प्रक्रिया को बदल दिया है। आजकल निर्वाचकगण राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति के लिए अलग अलग मत देते हैं। इस पद के लिए प्रत्याशी को चुनते समय दो विचार मुख्य रूप से प्रभाव डालते हैं। प्रथम यह कि उपराष्ट्रपति उसी राज्य का निवासी न हो जिसका राष्ट्रपति हो। उदाहरणस्वरूप यदि राष्ट्रपति मिडिल वैस्ट (Middle West) राज्य से है, तो उपराष्ट्रपति पूर्व से होगा। विल्सन (Wilson) न्यू जरसी (New Jersey) का था, मार्शल (Marshall) इण्डियाना (Indiana) का था, हार्डिञ्ज (Hardinge) ओहियो (Ohio) राज्य से आया था, कूलिज (Coolidge) मैसेचुसेट्स (Massachusetts) से आया था, फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट (Franklin D Roosevelt) न्यूयार्क (New York) से आया था, गार्नर (Garner) टैक्सास (Texas) राज्य से। द्वितीय विचार, जिसका सख्ती से पालन नही किया जाता है, यह है कि राष्ट्रपति तथा उपराष्ट्रपति पदो के प्रत्याशी एक दल के दो विभिन्न पक्षो का प्रतिनिधित्व करते हो। १९४० में आयोवा (Iowa) का हैनरी वैलेस फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट के साथ रहा, और चार्ल्स मैकनैरी (Charles McNary) न्यूयार्क तथा इण्डियाना के वेन्डेल विल्की (Wendell Wilkie) के साथ रहा।[1]

उपराष्ट्रपति के कर्त्तव्य (Duties)—सविधान के निर्माताओ ने यह उचित समझा कि उपराष्ट्रपति को सिवाय इसके कि वह प्रतीक्षा करता रहे कि राष्ट्रपति की कब मृत्यु, त्यागपत्र अथवा पद-वियुक्ति हो कुछ काम भी सौंपा जाय। इसलिए सविधान आज्ञा देता है कि वह सीनेट का सभापति होगा। सीनेट का सभापति होने के अतिरिक्त, उसके पद के उत्तरदायित्व अधिक नही हैं। सीनेट, रूढियो आचारो तथा परम्पराओ का निकाय (Body) है और सभापति को उन रूढियो तथा परम्पराओ एव आचारो का पालन करना अवश्यम्भावी होगा। वह अपना निर्णायक मत उसी अवस्था में देता है जब कि मत बराबर-बराबर हो। शेष, अन्य मामलो में, वह तटस्थ रहता है। सीनेट ने उपराष्ट्रपति डौस (Dawes) की बात नही मानी, यहाँ तक कि उसको धैर्यपूर्वक सुना भी नही जिस समय वह इस सदन में कुछ नवीन सुधार करना चाहता था। इसका फल यह होता है कि उत्साही उपराष्ट्रपति ऐसी स्थिति में धैर्य खो बैठता है, उसका नैराश्य प्रकट होने लगता है और इस प्रकार इस पद की मर्यादा कम होने लगती है।

किन्तु हाल के वर्षो मे यह प्रकट हुआ है कि इस पद में भी बहुत बडी-बडी सम्भावनाएँ हैं। राष्ट्रपति हार्डिञ्ज ने उपराष्ट्रपति कूलिज को मन्त्रिमण्डल का कुछ

---

[1] Beard, C A : American Government and Politics (1947), p 153.

भार सौंप दिया था। फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट ने हैनरी वैलेस को अनेकों उत्तरदायित्व के काम सौंपे थे यद्यपि रूजवेल्ट तथा ट्रूमैन के दृष्टिकोणो मे अन्तर था, फिर भी उपराष्ट्रपति ट्रूमैन (Truman) ने राष्ट्रपति को कांग्रेस सम्बन्धी समस्याओ के सुलझाने में पर्याप्त सहायता पहुँचाई। राष्ट्रपति आइजनहोवर (Eisenhower) ने उपराष्ट्रपति निक्सन (Nixon) को मध्यपूर्व के देशो एव भारत तथा पाकिस्तान के दौरे पर भेजा और सयुक्त राज्य अमेरिका ने पाकिस्तान को जो कुछ भी आर्थिक एव सैनिक सहायता दी, वह सब निक्सन की रिपोर्ट के आधार पर ही दी गई। देश के प्रशासन मे उपराष्ट्रपति का सहयोग लेने का मुख्य उद्देश्य यह प्रतीत होता है कि इस प्रकार उसको राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय नीतियो का ज्ञान प्राप्त होगा ताकि यदि उसको राष्ट्रपति का पद सम्हालना पड जाय, तो वह इस योग्य हो जाय कि उस पद का उत्तरदायित्व निभा ले जाय।

राष्ट्रपति की शक्तियां और उसके कर्त्तव्य

(The Powers and Duties of the President)

राष्ट्रपति की शक्ति के स्रोत (The Sources of the President's Authority)—राष्ट्रपति की शक्तियों तथा उसके कर्तव्यो का निर्धारण कुछ तो सविधान ने किया है, कुछ कांग्रेस के अधिनियमो ने किया है, कुछ सधियों, प्रथाओ, पूव भावियो और कुछ न्यायिक निर्वचनो ने किया है। सविधान का द्वितीय अनुच्छेद वह है, जिसका सम्बन्ध राष्ट्रपति के पद मे है। उसमें केवल चुनाव की प्रक्रिया, उसकी पदावधि, अर्हताएँ, वेतन-भत्ता आदि तथा पद की शपथ (Oath of Office) का वर्णन है। जिन धाराओ (Clauses) का सम्बन्ध राष्ट्रपति की शक्तियों एव कर्त्तव्यो से है, वे थोडी हैं और सक्षेप में हैं, और इसलिए उनके विभिन्न निर्वचन हो सकते हैं। किन्तु कांग्रेस ने समय-समय पर जो विधियाँ पास की हैं, उनके कारण राष्ट्रपति के ऊपर महान् उत्तरदायित्व आ पडा है। कांग्रेस के परिनियम (Statutes), राष्ट्रपति को उन नीतियो के निर्धारण की आज्ञा प्रदान करते हैं जिनके सुदूर-व्यापी परिणाम हो सकते हैं जैसे वह महत्त्वपूर्ण पदो पर नियुक्तियां कर सकता है, तथा ऐसी आज्ञाएँ निकाल सकता है जिनका व्यवहार में विधि के समान ही महत्त्व है। कांग्रेस, राष्ट्रपति के हाथो में, अपने द्वारा पारित विधियो के सम्बन्ध में महान् स्वविवेक शक्ति प्रदान कर सकती है। उदाहरणस्वरूप, १९३३ में कांग्रेस ने राष्ट्रपति को आज्ञा दे दी कि वह स्वविवेक शक्ति के अनुसार डालर (Dollar) में सोने की मात्रा कुछ कम कर सकता है, और अतिरिक्त पत्र मुद्रा (Paper Money) निर्गमित (Issue) कर सकता है, तथा आंशिक चलार्थ (Partial Currency) के रूप में चांदी खरीद सकता है। १९४१ में उधार-पट्टा अधिनियम (Lend-Lease Act) ने राष्ट्रपति को महान् स्वविवेक शक्ति (Discretionary Powers) प्रदान कर दी जिसके बल पर धुरी राष्ट्रो (Axis Powers) के विरुद्ध लड़ने वाले राष्ट्रो को जहाज, गोला-

बारूद (Munitions) और अन्य सामान दिया गया। उसी प्रकार ससार के विभिन्न भागो में अमेरिका द्वारा आर्थिक एव सैनिक सहायता देने का जो कार्यक्रम है उसके अन्तर्गत राष्ट्रपति धन-राशि के नियत करने में तथा सहायता के सचालन में महान् स्व-विवेक शक्ति का उपभोग करता है।

सर्वोच्च न्यायालय ने भी राष्ट्रपति की शक्तियाँ निर्धारित की हैं, उदाहरणार्थ, यह मान लिया गया है कि राष्ट्रपति किसी व्यक्ति को अपने पद से वियुक्त (Remove) कर सकता है, और इसके लिये सीनेट की आज्ञा लेना आवश्यक नहीं है। जहाँ सविधान मूक है, उन विषयो पर न्यायपालिका से स्पष्टीकरण माँगा गया है। सविधान, राष्ट्रपति को आज्ञा देता है कि वह दोषियो को क्षमा दान कर सकता है किन्तु सविधान ने यह स्पष्ट नही किया कि वह उसको दोष-प्रमाणन (Conviction) के पूर्व क्षमा कर सकता है या नही। सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि राष्ट्रपति को ऐसी शक्ति है और वह चाहे तो किसी दोषी व्यक्ति को दोष-प्रमाणन के पूर्व भी क्षमा-दान कर सकता है। कई बार सर्वोच्च न्यायालय ने सम्बन्धित मामले को अपने क्षेत्राधिकार में लेना अस्वीकार कर दिया, और इस अस्वीकृति का कारण यह दिया कि अमुक मामला राजनीतिक प्रश्न है जो राष्ट्रपति के क्षेत्राधिकार में आता है, अथवा काँग्रेस के क्षेत्राधिकार में आता है। इसका उदाहरण ल्यूथर विरुद्ध बॉरडन (Luther V Borden) का मामला था।

इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि राष्ट्रपति को कुछ शक्तियाँ और कुछ कर्त्तव्य, रुढियों, आचारो एव व्यवहार के द्वारा भी प्राप्त हुई हैं। उदाहरणस्वरूप राष्ट्रपति को दल का नेता स्वीकार किया जाता है और इसलिये दल के हितों से सम्बन्धित सभी मामलो में, चाहे वे काँग्रेस के अन्दर हों या बाहर, उसकी राय पूछी जाती है। सीनेटोरियल कर्ट्सी (Senatorial Courtesy) का आचार भी अब पूर्ण-अस्वीकृत (Well-recognised) नीति के रूप में विकसित हो गया है जिसके द्वारा राजनीतिक सरक्षण का मार्ग प्रशस्त होता है।

राष्ट्रपति की शक्तियो का विस्तार (Extent of President's Powers)—किन्तु राष्ट्रपति की शक्तियों का वास्तविक विस्तार उसके व्यक्तित्व पर, उसके अपने प्रभाव के ऊपर तथा उस स्थिति के ऊपर, जिसमें उस पद का प्रशासन होता है, निर्भर करता है। राष्ट्रीय आपात् काल की घडियो में राष्ट्रपति की शक्तियाँ इतनी बढ जाती हैं कि उन पर नाम मात्र का ही नियन्त्रण रह जाता है। गृह-युद्ध के काल में राष्ट्रपति लिंकन (Lincoln) को इतनी अपार शक्तियाँ प्राप्त थी कि उसको उन दिनों अधिनायक (Dictator) का नाम दिया गया था। राष्ट्रपति विल्सन तथा राष्ट्रपति रूजवेल्ट (Franklin Roosevelt) ने भी अति विशाल एव अभूतपूर्व शक्तियों का उपभोग किया।

क्योंकि सविधान मे राष्ट्रपति की शक्तियो के सम्बन्ध में अनेको उपबन्ध सामान्य भाषा में दिये हुए हैं, यह राष्ट्रपति के ऊपर निर्भर करता है कि वह कार्य-

पालिका का प्रधान होने के नाते अपने उत्तरदायित्वों और कर्त्तव्यों का किस प्रकार निर्वहन करता है। वह अपनी वैधानिक स्थिति का संकुचित अर्थ ले सकता है और इस प्रकार संविधान, विधि एवं नैतिक प्रशासन-व्यवहार के अनुसार अपने कर्त्तव्यों के निर्वहन मात्र में संतुष्ट रह सकता है। यदि इसी बात को स्पष्टतया कहा जाय तो कोई राष्ट्रपति कूलिज (Coolidge) की तरह से औसत दर्जे का राष्ट्रपति बना रह सकता है। इसके विपरीत कोई राष्ट्रपति अपनी शक्तियों एवं उत्तरदायित्वों को विस्तृत अर्थों में ले सकते हैं जिस प्रकार कि थियोडोर रूजवेल्ट (Theodore Roosevelt) ने किया। उसने आग्रहपूर्वक कहा था कि "यह राष्ट्रपति का अधिकार है कि वह राष्ट्र की आवश्यकतानुरूप सभी कुछ कर सकता है, जहाँ तक कि संविधान अथवा देश की प्रचलित विधियाँ उस कार्य का निषेध नहीं करते।" १८२३ में प्रसिद्ध मनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine) ने संयुक्त राज्य अमेरिका की विदेश नीति के निर्देशक तत्त्व (Essentials) उपस्थित किये और वही सिद्धान्त अब भी प्रभावी है। प्रथम विश्व-युद्ध के प्रारम्भिक काल में राष्ट्रपति वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) ने अमेरिका के वाणिज्य एवं यातायात के अधिकारों को इस प्रकार उपस्थित किया कि फलस्वरूप देश को युद्ध में फँसना पड़ा। १९३३ में अपने राष्ट्रपति-पद पर प्रतिष्ठापन के शीघ्र बाद राष्ट्रपति फ्रेंकलिन रूजवेल्ट ने राष्ट्र का नेतृत्व इस प्रकार किया कि देश को अपनी न्यू डील (New Deal) की नीति द्वारा आर्थिक संकट से बचा लिया। इसके बाद द्वितीय विश्व-महायुद्ध में उसने धुरी राष्ट्रों (Axis Powers) के प्रति इस प्रकार की विदेश नीति अपनायी कि संयुक्त राज्य अमेरिका को सचमुच युद्ध में फँसना पड़ा। इस कारण राष्ट्रपति की स्थिति बहुत कुछ उसके व्यक्तित्व और उसके युग पर निर्भर करती है।

राष्ट्रपति की शक्तियों का वर्गीकरण (Classification of Presidential Powers)—राष्ट्रपति की शक्तियों को निम्न शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है—(१) कार्यपालिका शक्तियाँ, (२) विधायिनी शक्तियाँ, और (३) राष्ट्रीय विषयों में नेतृत्व। राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियाँ पुनः निम्न शीर्षकों में विभाजित की जा सकती हैं—(i) संघीय शासन के प्रशासनिक विभागों का पर्यवेक्षण (Supervision), (ii) देश के कानूनों की क्रियान्विति, (iii) नियुक्तियाँ करना (Appointments) और वियुक्तियाँ (Removals), (iv) क्षमा दान, (v) राजदूतों और कूटनीतिक प्रतिनिधियों की नियुक्ति एवं उनका स्वागत, सन्धियाँ एवं देश के वैदेशिक सम्बन्धों का संचालन, तथा (vi) संयुक्त राज्य अमेरिका की सशस्त्र सेनाओं के प्रधान सेनापति के रूप में कार्य।

कार्यपालिका शक्तियाँ
(Executive Powers)

राष्ट्रपति—राष्ट्र का मुख्य प्रशासक (The President as chief administrator)—राष्ट्रपति में राष्ट्र के प्रमुख प्रशासनिक मुखिया के पूर्ण उत्तरदायित्व निहित

हैं। कार्यपालिका क्षेत्र में सर्वोच्च होने के नाते, राष्ट्रपति का कर्त्तव्य है कि देश के सविधान, विधियाँ, सन्धियाँ एव न्यायपालिका के निर्णयो की समस्त देश में समुचित क्रियान्विति हो। तदनुसार वह विभागो के अध्यक्षो और उनके आधीनस्थ कर्मचारियो को आज्ञा दे सकता है कि वे कांग्रेस द्वारा पारित अधिनियमो की आज्ञाओ के अन्तर्गत ठीक-ठीक काम करें। यह ठीक है कि कांग्रेस ने वह शक्ति अपने हाथो में ले ली है जिसके द्वारा वह प्रशासनिक विभागो के अधिकारो की रचना एव विस्तार का स्वय निर्णय करेगी, किन्तु इससे राष्ट्रपति का प्रशासन के ऊपर जो नियन्त्रण है उसमें कोई अन्तर नही पडता। कुछ ऐसे विभाग हैं जो वैधिक रूप से सीधे उसके नियन्त्रण में हैं। इसके अतिरिक्त, सविधान की आज्ञा है कि राष्ट्रपति देश की विधियो का प्रवर्त्तक होगा। सविधान उसको यह भी आज्ञा देता है कि राष्ट्रपति प्रत्येक कार्यपालिका विभाग के अधिकारी से किसी भी विषय पर उसके सम्बन्धित कार्यालयो के कर्त्तव्यो की लिखित रिपोर्ट या उसकी सम्मति माँग सकता है। उस उपबन्ध के सम्बन्ध में सर्वोच्च न्यायालय का निर्णय भी यही हुआ है कि राष्ट्रपति का कर्त्तव्य है कि उसके निर्देशन में सब अधिकारी निष्ठापूर्वक उन कर्त्तव्यो का पालन करें जो देश की विधि ने उनको सौंपे हैं और इससे राष्ट्रपति की वैधानिक स्थिति सर्वोच्च हो जाती है। इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि राष्ट्रपति के पास उस विभाग के अध्यक्ष को वियुक्त (Remove) करने की भी शक्ति है जो उसकी आज्ञाओ का उल्लघन करने का साहस करता है। इसलिये यह स्पष्ट है कि राष्ट्रपति के पास अधिकार है कि वह विधि के उपबन्धो के अनुरूप किसी अधिकारी से अपनी इच्छानुसार कार्य कराने का आदेश दे सकता है। चार्लस बीयर्ड (Charles Beard) लिखता है कि "राष्ट्रपति छोटी बातो पर अपने मन्त्रिमण्डल के अधिकारी से झगडा मोल नही लेगा किन्तु यदि किन्हीं महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय नीतियो पर गहरा मतभेद है और यदि राष्ट्रपति प्रभावशाली एव दृढ विचारो का व्यक्ति है तो उसी की बात मानी जायगी और मन्त्रिमडण्ल के अधिकारी को या तो झुकना पडेगा, या त्याग-पत्र देना पडेगा अन्यथा उसे वियुक्त (Dismissed) कर दिया जायगा। १९२४ में राष्ट्रपति कूलिज (Coolidge) के कार्यकाल में इसी प्रकार का विवाद राष्ट्रपति और उसके महान्यायवादी (Attorney General) हैरी एम० डोगर्टी (Harry M Daugherty) में चल पडा और महान्यायवादी (Attorney General) को सविरोध त्याग-पत्र देने पर बाध्य किया गया।[1]

विधि के प्रवर्त्तन का अधिकार (Power of Law Enforcement)—सविधान राष्ट्रपति को आज्ञा देता है कि यह उसका कर्त्तव्य है कि उसकी देखरेख में देश की प्रचलित विधियाँ निष्ठापूर्वक क्रियान्वित होती रहे।[1] सविधान अनुच्छेद २ धारा २ खण्ड १ में यह भी आदेश देता है कि राष्ट्रपति को अपने पद के प्रतिष्ठापन (Inaguration) के समय यह शपथ लेनी होगी कि "वह सयुक्त राज्य अमेरिका के सविधान की रक्षा (Protect) करेगा और उसका पालन करेगा।" सयुक्त राज्य अमेरिका

---

[1] American Government and Politics (1947), p. 170.

की विधियो में सधियाँ भी सम्मिलित हैं क्योकि सन्धि भी विधि के समान ही है। यदि विधियो या सन्धियो के प्रवर्त्तन में हिंसायुक्त प्रतिरोध (Violent resistance) सम्मुख आता है, तो राष्ट्रपति, देश की सशस्त्र सेनाओ के प्रयोग द्वारा देश की प्रचलित विधियो एव सन्धियो के निष्ठापूर्वक पालन कराने के लिये उचित कार्यवाही कर सकता है। यदि उसको यह भान भी हो जाये कि सम्भवत देश की विधियो का निरादर हो सकता है, अथवा उनके प्रवर्त्तन की दिशा में विरोध किया जा सकता है, तो राष्ट्रपति देश की सशस्त्र सेना को आवश्यक आदेश दे सकता है। १८९४ में राष्ट्रपति क्लीवलैंड (Cleveland) ने इलिनोइस (Illinois) के गवर्नर के विरोध प्रदर्शन के बावजूद शिकागो नगर (Chicago) को सशस्त्र सैनिक भेज दिये, जहाँ पर एक बहुत बडी रेलवे हडताल चल रही थी जिसके कारण वाणिज्य तथा डाक-व्यवस्था ठप हो रही थी। राष्ट्रपति विलसन (Wilson) ने, जिस समय गारी (Gary) इण्डियाना (Indiana) में इस्पात कर्मचारियो में श्रमिक विवाद चल रहा था, यही कार्यवाही की थी। राष्ट्रपति हार्डिंग (Harding) ने भी १९२२ में सशस्त्र सेनाओ को तैयार रहने का आदेश दे दिया था जबकि एक भीषण हडताल का भय था जिसमे रेल-यातायात ठप हो सकता था। इसी प्रकार १९४१ में नार्थ अमेरिकन एयरप्लेन कारपोरेशन (North American Airplane Corporation) की शिल्प यन्त्र सामग्री (Plant) पर अधिकार करने के लिये सेनायें भेज दी गई थी जिस समय हडतालियों ने राष्ट्रपति की बारम्बार की हुई प्रार्थना पर कोई ध्यान नहीं दिया।

नियुक्तियो की शक्ति (The Power of Appointment)—राष्ट्रपति की शक्तियो में नियुक्ति सम्बन्धी शक्ति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एव कार्यसाधक स्थान है। इससे राष्ट्रपति के पास एक ऐसा साधन आ जाता है जिसके द्वारा अनेको सघीय अधिकारियो की निष्ठा उसको प्राप्त हो जाती है, साथ ही, इसके द्वारा उसको अपने कार्यक्रम की क्रियान्विति में कांग्रेस के सदस्यों की सक्रिय सहायता मिल जाती है। सविधान राष्ट्रपति को नामाकन (Nominate) करने का अधिकार देता है और सीनेट की अनुमति से वह राजदूतो, मन्त्रियों, वाणिज्य-दूतों (Consuls), सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो और सयुक्त राज्य के अन्य ऐसे अधिकारियों, जिनकी नियुक्ति की कोई अन्य व्यवस्था सविधान मे प्रस्तावित नहीं की गई है और जिनकी नियुक्ति की कोई व्यवस्था प्रस्तावित विधि के अनुकूल की जायगी, वह नियुक्ति करता है, किन्तु कांग्रेस को अधिकार होगा कि वह विधि द्वारा ऐसे छोटे अधिकारियो की नियुक्ति का भी अधिकार केवल राष्ट्रपति को दे सकती है, अथवा न्यायालयों को सौंप सकती है अथवा विभागो के अध्यक्षो को भी दे सकती है। इस प्रकार सघीय सेवाओ के लिये जो नियुक्तियाँ की जाती हैं, वे दो विभागों में बाँटी जा सकती हैं। वे अधिकारी जिनकी नियुक्ति का अधिकार सविधान द्वारा अथवा कांग्रेस के अधिनियम द्वारा राष्ट्रपति को दिया गया है और सीनेट को दिया गया है; और वे अन्य छोटे अधिकारी वर्ग जिनकी नियुक्ति का अधिकार कांग्रेस ने केवल राष्ट्रपति को,

या न्यायालयो को अथवा विभागीय अध्यक्षो को दिया है।[1]

कभी भी उत्कृष्ट प्राधिकारियो (Superiors) तथा अवकृष्ट अधिकारियो (Inferior Officers) में कोई तर्कयुक्त विभाजन नही हो सका है। किन्तु, उत्कृष्ट प्राधिकारियो में विभागीय अध्यक्ष, न्यायाधीश, वैतनिक कूटनीतिज्ञ (Diplomats), ज़िलो के बड़े अफसर (Regulatory Commissioners), सेनापति (Marshals), और सीमा शुल्क अधिकारीगण (Collector of Customs) इनकी गणना की जाती है। अवकृष्ट अधिकारियो में कुछ थोडे से विभागीय अध्यक्ष और प्राय सभी अधीन कर्मचारी वर्ग (Subordinate Employees) आते हैं।

सब मिलाकर उत्कृष्ट अधिकारियो की इस समय कुल सख्या लगभग १,६०० है। इन पदो पर नियुक्तियाँ करने में राष्ट्रपति एव सीनेट पर कोई बन्धन नही हैं, हाँ, यदि किन्ही विशेष पदो के लिये जब कांग्रेस विधि अनुसार कुछ विशिष्ट अर्हताएँ आवश्यक कर दे जैसे नागरिकता, व्यावसायिक योग्यताएँ अथवा प्रावैधिक शिल्प-प्रशिक्षण (Technical Training) इत्यादि तो बन्धन हो सकते हैं। १८२० के पदावधि अधिनियम (The Tenure Office Act of 1820) ने अधिकतर अधिकारियो की पदावधि चार वर्ष नियत की, और जहाँ कही परिनियम (Statute) के द्वारा पदावधि निश्चित नही की गई है वहाँ भी परम्परा यही है कि अधिकतर अधिकारी वर्ग चार वर्ष की पदावधि के बाद प्रतिस्थापित (Replaced) कर दिये जाते हैं। इस प्रकार, व्यवहारत चार वर्ष की पदावधि सघीय न्यायाधीशो को छोडते हुए सर्वव्यापी (Universal) है, और प्रत्येक राष्ट्रपति अपनी पदावधि में सीनेट के अनुमोदन सहित अनेको लोगो पर सरक्षण (Patronage) का वरद् हस्त रख सकता है। कुछ नियुक्तियाँ ऐसी भी हैं जो केवल राष्ट्रपति की स्वेच्छा पर निर्भर हैं और सीनेट तदर्थ अपना अनुमोदन बिना किसी प्रकार की आपत्ति के तुरन्त दे देता है, चाहे सीनेट में वहुमत उस दल का हो जो राष्ट्रपति के विरुद्ध है।

बहुत से सघीय पदो (Federal Offices) विशेषकर स्थानीय पदो पर, एक विशेप पद्धति द्वारा नियुक्तियाँ की जाती हैं जिसे सीनेटोरियल कर्ट्सी (Senatorial Courtesy) कहा जाता है। यह एक अलिखित नियम है जिसके अनुसार राष्ट्रपति अपने दल के उन सीनेट सदस्यो से नियुक्ति के सम्बन्ध में मन्त्रणा करता है जो उस राज्य की ओर से सीनेट-सदस्य हैं जिसमें नियुक्ति करनी है। यदि राष्ट्रपति ऐसा नही करता, और वह अपनी निजी इच्छा से ही नियुक्ति करता है, तो अन्य सीनेट सदस्य सीनेटोरियल कर्ट्सी नामक नियम के अनुसार सम्भवत राष्ट्रपति द्वारा की हुई नियुक्ति को अस्वीकार कर देंगे। सीनेटोरियल कर्ट्सी नाम के नियम के प्रवर्त्तन के सम्बन्ध मे सबसे अच्छा उदाहरण १८३८-३९ का फ्लाइड एच० रावर्ट (Floyd

---

[1] न्यायालय केवल लिपिक वर्ग, रिपोर्टर वर्ग तथा अन्य मन्त्रा पद के अधिकारियों की नियुक्तियां करते हैं, किन्तु विभिन्न विभागो में छोटे अधिकारियो की नियुक्तियां विभागीय अध्यक्ष करते हैं।

Robert) का मामला है। राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने रावर्ट को पश्चिमी वर्जीनिया (Western Virginia) के सघीय जिला न्यायालय का जज नियुक्त कर दिया। इस नियुक्ति पर वर्जीनिया (Virginia) राज्य के दोनो सीनेट-सदस्यो ने आपत्ति की। राष्ट्रपति ने उन दोनो सीनेट-सदस्यो की आपत्ति पर कोई ध्यान नही दिया और रावर्ट (Robert) का नाम सीनेट के पास पुष्टिकरण (Confirmation) के लिये भेज दिया। सीनेट ने अस्वीकृत कर दिया। यदि वे सघीय पद जिन पर नियुक्तियाँ करनी हैं, किसी ऐसे राज्य में हैं जिसमें राष्ट्रपति के दल के सीनेट-सदस्य नही हैं, तो राष्ट्रपति किसी सीमा तक स्वविवेक से काम ले सकता है, किन्तु ऐसी स्थिति में भी राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि वह सम्बन्वित प्रदेश के दल-नायको (Party Leaders) से उस सम्बन्ध में मन्त्रणा करे।

इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि विविध प्रकार के छोटे सघीय पदो पर भी नियुक्तियाँ की जाती हैं जिनके लिए सीनेट के अनुमोदन की आवश्यकता नही है। कांग्रेस के अधिनियमो द्वारा दी हुई, ऐसी नियुक्तियो की शक्ति केवल राष्ट्रपति मे निहित है अथवा विभिन्न विभागो के अध्यक्षो में निहित है और सघीय नियुक्तियो में से लगभग ९५ प्रतिशत पद इस प्रकार के हैं। उनमें से अधिकतर अब क्रम-बद्ध सेवाये (Classified Services) समझी जाती हैं, और उन पर नियुक्तियाँ सिविल सर्विस के नियमो के अनुसार होती हैं।

वियुक्त करने का अधिकार (The Power to Remove)—जहाँ तक नियुक्तियो का प्रश्न है, सविधान स्पष्टत आदेश देता है कि राष्ट्रपति सीनेट की मन्त्रणा पर अधिकारियो की नियुक्ति कर सकता है, किन्तु वियुक्तियो (Removals) के सम्बन्ध मे सविधान मौन है। वियुक्ति के सम्बन्ध में सविधान में केवल एक उपबन्ध है कि सार्वजनिक दोषारोपण (Impeachment) के द्वारा ऐसा सम्भव है। किन्तु वियुक्ति की यह विधा (Process), भद्दी, दुखदायी तथा भारी है। इसलिए वियुक्ति की समस्या ने गम्भीर स्वरूप धारण कर लिया, और कांग्रेस के प्रथम सम्मेलन (Session) में इस पर वाद-विवाद हुआ। किन्तु इस सम्बन्ध में मतभेद था कि वियुक्ति का अधिकार केवल राष्ट्रपति के हाथ में रहे, अथवा वह वियुक्ति केवल सीनेट की मन्त्रणा पर कर सकता है, अथवा यह अधिकार कांग्रेस का है कि वह आदेश दे कि किस प्रकार वियुक्तियाँ होगी। अन्तिम रूप मे यही निर्णय हुआ कि केवल राष्ट्रपति को ही पूर्ण अधिकार होगा कि वह किसी को भी वियुक्त कर सकता है और उसके लिए तदर्थ सीनेट की आज्ञा लेने की आवश्यकता नहीं है।

किन्तु तीन प्रकार के अधिकारियो को राष्ट्रपति वियुक्त नहीं कर सकता। प्रथम सघीय न्यायालयो के जज लोग हैं जो केवल सार्वजनिक दोषारोपण (Impeachment) के द्वारा ही वियुक्त किये जा सकते हैं। दूसरे प्रकार के विभिन्न बोर्डो (Boards) और आयोगो (Commissions) के सदस्य गण हैं जिनको कुछ विधायिनी (Legislative) शक्तियाँ तथा कुछ न्यायिक (Judicial) शक्तियाँ प्राप्त हैं, और परिनियम (Statutes) उनकी वियुक्ति पर नियन्त्रण लगाते हैं। तृतीय प्रकार के वे सब अधिकारी और कर्मचारी वर्ग हैं जिनकी नियुक्तियाँ सिविल सर्विस (Civil Service) के नियमों के अनुसार हुई हैं। उनको नही हटाया जा सकता। "हाँ, केवल उन कारणो पर उनको नियुक्त किया जा सकता है जिनके द्वारा सिविल सिर्विस की कार्यकुशलता (Efficiency) में वृद्धि होगी।"

क्षमादान का अधिकार (The Power to Pardon)—राष्ट्रपति को क्षमादान तथा प्राणदण्ड-प्रविलम्बन का जो अधिकार है वह उसकी न्यायिक शक्तियो में से एक है, और यह अधिकार अपवर्जी (Exclusive) है। सविधान, राष्ट्रपति को अधिकार देता है कि "वह प्राणदण्ड-प्रविलम्बन (Reprieves) तथा क्षमादान, सयुक्त राज्य अमेरिका के विरुद्ध अपराधो के मामलो मे कर सकता है, किन्तु सार्वजनिक दोषारोपण (Impeachment) वाले मामलो में क्षमादान नही कर सकता।" निश्चित रूप से, राष्ट्रपति उन लोगो को क्षमादान नही कर सकता जो राज्यो के नियम-भग करने के अपराधी हैं। सार्वजनिक दोषारोपण (Impeachment) के दोषियो को भी वह क्षमा नही कर सकता। अन्यथा उसकी क्षमादान की शक्तियाँ बडी विस्तृत हैं, और यदि वह चाहे, तो दोष-सिद्धि (Conviction) से पहले भी और दोष-सिद्धि के बाद भी क्षमादान कर सकता है।

राष्ट्रपति की सैनिक शक्तियाँ (The Military Powers of the President)—सविधान में कहा गया है कि राष्ट्रपति सेना और नौ सेना का प्रधान सेनापति होगा और जिस समय जान्यपद-सैन्य (State Militia) को सयुक्त राज्य अमेरिका की सेवा के लिए आहूत किया जायगा उस समय वह जान्यपद सैन्य का भी प्रधान सेनापति होगा। विधि के उपबन्धो के अनुसार राष्ट्रपति को सैनिक तथा नौ-सैनिक अधिकारयो को सीनेट की मन्त्रणा पर नियुक्त करने का अधिकार है, और युद्ध-काल मे वह अपनी इच्छा से किसी भी सैनिक अथवा नौ-सैनिक अफसर को वियुक्त (Dismiss) कर सकता है। यद्यपि युद्ध घोषित करने का अधिकार केवल कॉंग्रेस को है किन्तु राष्ट्रपति विदेश-नीति के सचालन द्वारा ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकता है कि युद्ध की घोषणा नितान्त आवश्यकता के रूप में सम्मुख आ सकती है। राष्ट्रपति मैकिनले (McKinley) ने युद्ध-पोत (Battleship) हवाना (Havana) को भेज दिया जहाँ वह नष्ट कर दिया गया, और इसके कारण स्पेन (Spain) से युद्ध छिड गया। १९१८ में राष्ट्रपति विल्सन (Wilson) ने अमेरिकी सेनाएं, साइबेरिया (Siberia) को मित्रराष्ट्रीय सेनाओ की सहायतार्थ भेज दी थीं, यद्यपि उस समय सयुक्त राज्य अमेरिका तथा रूस (Russia) में युद्ध की स्थिति नही थी। हार्डिग तथा कूलिज (Harding and Coolidge) के समयो में केरीबियन देशो (Cariban Countries) में उपद्रवो को दबाने के लिए सशस्त्र सेनायें भेजी गई थी। सयुक्त राज्य अमेरिका ने जर्मनी (Germany) के विरुद्ध १९४१ में युद्ध की घोषणा की थी किन्तु अमेरिका की नेवी (Navy) ने उन जर्मन पनडुब्बियो (Submarines) पर पहले से

ही आक्रमण करना प्रारम्भ कर दिया था जो ब्रिटेन को जाने वाले जहाज़ो पर आक्रमण करती थीं। वास्तव मे तो युद्ध १९४० में ही प्रारम्भ हो चुका था। १९५० में राष्ट्रपति ट्रूमैन (Truman) ने कांग्रेस से अनुमति लिए बिना ही अमेरिकी सशस्त्र सेनाएँ कोरिया (Korea) मे आक्रमण के विरुद्ध भेज दी थीं।

जब युद्ध प्रारम्भ हो जाता है तब तो राष्ट्रपति की शक्तियो में अपार वृद्धि हो जाती है। यह शक्ति कार्यपालिका का प्रधान होने के नाते तथा सर्वोच्च सेनापति होने के नाते बढती है। सर्वोच्च सेनापति होने के नाते वह निश्चय करता है कि सेनाएँ कहाँ एकत्रित की जायेँ और कहाँ जहाज़ी बेडा स्थापित किया जाय। उसी की आज्ञाओ पर, सैनिको को युद्ध-हेतु बुलाया जाता है, जहाज़ी बेडे को एकत्रित किया जाता है, और राज्यो की जानपद-सैन्य (Militia) को तैयार होने का आदेश दिया जाता है। वह चाहे तो स्वय किसी युद्ध का सचालन कर सकता है, और यदि चाहे तो लडाई के मैदान में स्वय जाकर सैनिक हलचलो की कमान अपने हाथो में ले सकता है, यद्यपि व्यवहार में वह ऐसा कभी करता नही। कांग्रेस भी यदि चाहे तो ऐसी अवस्था मे रिक्त अथवा निरक व्यवस्थापन (Blanket Legislation) पास करके राष्ट्रपति की शक्तियो से अपार वृद्धि कर सकती है जिसके द्वारा घरेलू एव विदेशी मामलो में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्वविवेकी अधिकार (Discretionary Authority) उसको मिल जाते हैं। प्रथम विश्व-युद्ध मे राष्ट्रपति विल्सन (Wilson) को अधिकार दिया गया था कि वह युद्ध में काम आने वाली अनेको वस्तुओ तथा सेनाओ के भोजन योग्य खाद्य-पदार्थों के उत्पादन, खरीदारी और बिक्री पर नियन्त्रण रखे। उसके पास यह भी अधिकार था कि वह कारखानो, खानो अथवा पाइप लाइनो (Pipe Lines) को ले ले। वास्तव में उसके पास शक्ति का अपार स्रोत था जिसके बल पर वह व्यूह-रचना-नियोजन करता था, देश की सामरिक एव औद्योगिक शक्ति को बढाता था और देश की अर्थ-व्यवस्था को युद्ध के अनुकूल बना रहा था। द्वितीय विश्व-युद्ध में कांग्रेस ने पुनः महान् अधिकार राष्ट्रपति को दे डाले और रूज़वेल्ट (Roosevelt) एक प्रकार का सविधानिक अधिनायक बन गया।

घरेलू मामलो में राष्ट्रपति सेनाओं के बल पर सघीय विधियो की क्रियान्विति करवा सकता है, यदि देश की विधि के विरुद्ध ऐसा विरोध है जो सामान्य व्यवहार-विधि (Civil Process) मे नही दबाया जा सकता। राष्ट्रपति का यह भी सविधानिक कर्त्तव्य है कि सघ के प्रत्येक एकक राज्य को गणतन्त्री शासन-व्यवस्था का आश्वासन दे, आक्रमण से उसकी रक्षा करे और यदि किसी भाग में गृह-युद्ध की अवस्था उत्पन्न हो जाये तो सशस्त्र सेनाओ को बुलाकर सम्बन्धित राज्य के कार्यपालिका-प्रधान अथवा विधानमण्डल की तदर्थ प्रार्थना आने पर उस गृह-युद्ध की स्थिति का दमन कर दे जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भिक भाग में वर्णन किया जा चुका है।

राष्ट्रपति और वैदेशिक सम्बन्ध (The President and Foreign Affairs)—सविधान में स्पष्ट रूप से कही भी यह नहीं कहा गया है कि राष्ट्रपति ही

मुख्य रूप से वैदेशिक नीति का स्रष्टा है अथवा स्वीकार किया हुआ देश का वैदेशिक सम्बन्धो पर अधिकारी प्रतिनिधि (Spokesman) है। किन्तु सविधानिक निर्वचनो एव व्यवहारो ने उसे इसी रूप मे स्वीकार किया है और यह सब कर्त्तव्य उसी को सौपे हैं। १९३६ के करटिस-राइट (Curtiss-wright) मुक़दमे में सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि "राष्ट्रपति ही पूर्ण रूप से सघीय शासन का वैदेशिक सम्बन्धो के निर्वहन मे अधिकृत प्रवक्ता तथा साधन है। इस अधिकार के उपभोग के लिये राष्ट्रपति को कांग्रेस के अधिनियम की आवश्यकता नही है। इसको शासन के अन्य अधिकारो की भांति प्रयोग किया जा सकता है, केवल शर्त यह है कि सविधान के उपबन्धो के अनुसार यह अधिकार प्रयुक्त होते रहें।" सविधान के उपबन्धो के अनुसार राष्ट्रपति राजदूतो, आयुक्तो एव अन्य राजनीतिक अधिकारियो की नियुक्तियाँ करता है, जिनमें सीनेट का अनुमोदन आवश्यक होता है, और वह विदेशी राज्यो के साथ सन्धियाँ करता है जिसमें यह आवश्यक है कि सीनेट के दो-तिहाई बहुमत से वह सन्धि प्रमाणित हो जानी चाहिये। वह विदेशी राजदूतो, आयुक्तो और अन्य विदेशी अधिकारियो का स्वागत करता है।

राष्ट्रपति द्वारा अपने देश के राजदूतो की नियुक्ति एव विदेशी राजदूतो के स्वागत करने की शक्ति महत्त्वपूर्ण है क्योकि इसमे किसी विदेशी सरकार को मान्यता देने की शक्ति निहित है। यह बात पूर्ण रूप से राष्ट्रपति के विवेक (Discretion) पर निर्भर है कि वह किसी नये राज्य अथवा नई सरकारो को मान्यता प्रदान करे अथवा न करे। १९०२ में राष्ट्रपति थियोडोर रूज़वेल्ट (Theodore Roosevelt) ने पनामा (Panama) के नये राज्य को ऐसी स्थिति मे मान्यता प्रदान कर दी थी जब कि केवल कुछ ही घटे पूर्व सयुक्त राज्य की सशस्त्र सेनाओ की सहायता से उस राज्य मे विप्लव हुआ था। राष्ट्रपति विल्सन ने मैक्सिकन राज्यो की मान्यता स्वीकृत नही की क्योकि वह वहाँ की स्थिति से सतुष्ट नही था। राष्ट्रपति हूवर (Hoover) चाहता था कि जापान अपनी आक्रामक नीति त्याग दे, और इसलिये उसने उसके कठपुतली (Puppet) राज्य मन्चूकुओ (Manchukuo) को मान्यता प्रदान करना अस्वीकृत कर दिया। रूज़वेल्ट (Roosevelt) ने सोवियट रूस (Soviet Russia) की सरकार को १९३३ में मान्यता प्रदान की। राजदूतो को वापिस बुला लेना अथवा उनके निर्देशो (Assignments) में या आज्ञाओ में परिवर्त्तन का अर्थ होता है कि सम्बन्धित देश की नीति के प्रति असन्तोष व्यक्त किया जा रहा है। उदाहरणस्वरूप, १९३६ में जब इटली ने ईथियोपिया (Ethiopia) को विजय कर लिया तो आदिस अबाबा (Addis Ababa) में अमेरिकी दूतावास (Legation) को घटाकर वाणिज्य दूतावास (Consulate) मे परिवर्त्तित कर दिया गया। यदि किसी देश के प्रति और अधिक असन्तोष व्यक्त करना हो तो अपने वाणिज्य दूतावासो (Consulates) को सम्बन्धित देश में बन्द किया जा सकता है, जैसा कि १९४० में जर्मनी के साथ किया गया।

राष्ट्रपति को जो सन्धियाँ करने का अधिकार है उस सम्बन्ध में सीनेट का

अनुमोदन आवश्यक है। परन्तु और कई प्रकार हैं जिनके द्वारा राष्ट्रपति सीनेट की उपेक्षा कर सकता है। इस प्रकार का पहला उदाहरण है कार्यपालिका-इकरारनामा (Executive Agreement)। कार्यपालिका इकरारनामे एक प्रकार की प्रतिज्ञाएँ हैं जो किसी विशेष काम के लिये दो देशो के कार्यपालिका-प्रधान आपस में करते हैं। इस सम्बन्ध में श्रेष्ठ उदाहरण है दो भले आदमियो के बीच इकरारनामा (Gentleman's Agreement) जो राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट और जापान के सम्राट् के बीच हुआ था। इसके अनुसार राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने प्रतिज्ञा की कि वह कांग्रेस पर प्रभाव डालेगा और कांग्रेस को मनाएगा कि अपवर्जी अथवा निषेधात्मक कानून बनाना बन्द कर दिया जाय और जापान के सम्राट् ने प्रतिज्ञा की कि वह कुलियो का परदेश गमन (Emigration) निषिद्ध करेगा। कुछ कार्यपालिका इकरारनामे प्रसिद्ध हुए हैं जैसे १९०१ की बॉक्सर नयाचार (Boxer Protocol), एटलांटिक चार्टर (Atlantic Charter), और 'डेस्ट्रोयर बेसेज' इकरारनामा (Destroyer Bases Agreement)।

कार्यपालिका इकरारनामो के अतिरिक्त, कांग्रेस, राष्ट्रपति को अधिकार दे सकती है कि वह अन्य राष्ट्रो के साथ इकरारनामे (Agreements) कर सकता है। कांग्रेस द्वारा इस प्रकार की आज्ञा देने का सबसे अच्छा उदाहरण १९३४ का परस्पर सम्बन्धसूचक व्यापार अधिनियम (Reciprocal Trade Act of 1934) है, जिसके द्वारा राष्ट्रपति को तीन वर्ष के लिये अधिकार दिया गया कि वह विदेशो के साथ व्यापारिक इकरारनामे कर सकता है और प्रशुल्क-दरो में ५० प्रतिशत तक की कमी की घोषणा कर सकता है। कांग्रेस ने यह भी अधिकार दिया कि इसके लिये सीनेट का अनुमोदन आवश्यक नहीं होगा। इस अधिनियम की अवधि १९३७ में बढाई गई और पुन: १९४० में तीन वर्ष के लिये बढाई गई। १९४३ में इस अधिनियम की अवधि केवल २ वर्ष के लिये बढाई गई थी।

राष्ट्रपति को यह भी अधिकार है कि वह गुप्त कूटनीति (Secret Diplomacy) का आश्रय ले, और तदनुसार विदेशी शक्तियो के साथ गुप्त इकरारनामे कर ले, तथा एक विशिष्ट नीति की क्रियान्विति के लिये वचन-बद्ध हो जाय। राष्ट्रपति थियोडोर रूजवेल्ट ने १९०५ में जापान को एक उच्च दूत (High Emissary) भेजा और सुदूर पूर्व में जापान के साथ कुछ महत्त्वपूर्ण मामलो पर समझौता किया। जापान ने प्रतिज्ञा की कि फिलिपाइन द्वीपसमूह में अमेरिका के राज्य को माना जायगा। रूजवेल्ट ने प्रतिज्ञा की कि अमेरिका, कोरिया (Korea) में जापान का प्रभुत्व (Sovereignty) स्वीकार करेगा। उसने जापान के प्रधान मन्त्री को यह भी बताया कि अमेरिका के लोग किसी भी स्थिति में सुदूर पूर्व में शान्ति रखने का प्रयत्न करेंगे, और "कैसी भी स्थिति उत्पन्न हो जाये, जापान विश्वास कर सकता है कि अमेरिका उस स्थिति के अनुरूप उसी प्रकार कार्यवाही करेगा मानो दोनो देश सन्धि बन्धन (Treaty Obligation) में आबद्ध हो।" यह समस्त बातचीत इतनी गुप्त रीति से हुई कि रूजवेल्ट की मृत्यु के पूर्व अमेरिका में कुछ भी प्रकट नहीं हुआ। द्वितीय विश्व-

युद्ध में अमेरिका के भाग लेने के पूर्व तथा अनन्तर भी फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट ने ब्रिटिश प्रधान मन्त्री एव अन्य मित्र राष्ट्रो के साथ कई बार गुप्त मन्त्रणाएँ कीं। इन सम्मेलनो (Conferences) में जो इकरारनामे हुए, उनमें से कुछ को तो प्रकाशित कर दिया गया, किन्तु कुछ को गुप्त रखा गया।

विधायिनी शक्तियाँ
(Legislative Powers)

राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली में, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनो अलग-अलग विभिन्न रूप से शासन के मुख्य अग बने रहते हैं। शासन के इन दोनो भागो को मिलाने का कोई उपाय नही है। किन्तु जहाँ राष्ट्रपति विधि की क्रियान्विति के लिये उत्तरदायी है, वही उसको व्यवस्थापन के निर्माण में भी कुछ अधिकार प्राप्त है। यह अधिकार, निश्चित (Positive) भी है और निषेधात्मक (Negative) भी।

१ **राष्ट्रपति के सदेश** (Presidential Messages)—सविधान अनुच्छेद २, धारा ३ में आज्ञा देता है कि "राष्टपति समय-समय पर कांग्रेस को सघ की स्थिति के बारे में सूचना देता रहेगा और कांग्रेस के विचारार्थ ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत करेगा जो उसकी दृष्टि में आवश्यक एव उपयोगी होगी। असाधारण स्थिति के उत्पन्न हो जाने पर वह दोनो सदनों को बुला सकता है या दोनो में से केवल एक और यदि दोनो सदनो में स्थगन (Adjournment) के समय के सम्बन्ध में मतभेद हो जाये तो उस स्थिति मे राष्ट्रपति दोनो सदनो को इतने काल के लिये स्थगित कर सकता है जितना वह उचित समझे।" इस स्पष्ट उपबन्ध के होने पर संविधान निश्चय ही व्यवस्थापिका के सम्बन्ध में राष्ट्रपति के नेतृत्व को स्वीकार करता है और चार्ल्स बीयर्ड (Charles Beard) के शब्दो में "निस्सन्देह यह कहना अत्युक्ति न होगा कि अनेको राष्ट्रपतियो की प्रतिष्ठा का आधार यह रहा कि वे कहाँ तक विधायिनी शक्तियो का उपभोग कर सके न कि केवल उनके सफल प्रशासक होने के कारण।"[1]

सविधान में उपवन्धित सूचना, वार्षिक सदेश के रूप में कांग्रेस को प्रत्येक सत्र (Session) के प्रारम्भ में भेजी जाती है और सत्र के दौरान में विशेष सदेशो द्वारा यही सूचना समय-समय पर भेजी जाती है। राष्ट्रपति का सन्देश मौखिक रूप से दोनो सदनो की उपस्थिति में पढा जा सकता है अथवा प्रलेख के रूप में दोनो सदनो को प्रेपित किया जा सकता है। वार्पिक सदेश का महत्त्व बहुत अधिक है और उसको इगलैण्ड के राज्य-सिहासन से दी गई वक्तृता (Speech from the Throne) के समान समझना चाहिए। राष्ट्रपति वाशिगटन तथा एडम्स (Adams) स्वय कांग्रेस में उपस्थित होते थे और सन्देश देते थे तथा अपने सुझाव प्रकट करते थे। जेफरसन (Jefferson) ने यह प्रथा चलाई कि जो कुछ सदेश उसको देना होता था, उसको

---

[1] American Government and Politics, p 185

वह लिखित रूप में भेज देता था। १०० वर्षों से अधिक तक यही नियम चलता रहा, किन्तु १९१३ में राष्ट्रपति विल्सन (Wilson) ने पुन वाशिंगटन की प्रथा को अंगीकार किया और वह स्वय कांग्रेस में उपस्थित होकर सदेश सुनाने लगा। कुछ समय तक उसके उत्तराधिकारियो ने भी इसी प्रकार आचरण किया। राष्ट्रपति हूवर (Hoover) ने अपने प्रथम सन्देश को रेडियो (Radio) पर सर्वसाधारण एव कांग्रेस को पढ कर सुनाया किन्तु बाद मे उसने भी प्रलेख (Document) के रूप में अपना सदेश भेजना प्रारम्भ कर दिया। फ्रैंकलिन डी० रूज़वेल्ट ने अपना सन्देश स्वय पढकर सुनाना प्रारम्भ कर दिया, जिसके द्वारा वह समस्त राष्ट्र का ध्यान निर्धारित कार्यक्रम की ओर खीच सके—रेडियो और केमरा (Radio and Camera) से इस दिशा मे उसे पर्याप्त सहायता मिल जाती थी।

वार्षिक सन्देश में पूर्व वर्ष के शासन के क्रिया-कलापो का वर्णन रहता है, दल की नीतियो के सम्बन्ध में घोषणा रहती है, तथा ऐसे व्यवस्थापन (Legislation) की सिफारिश रहती है जिनकी राष्ट्रपति की सम्मति में देश को आवश्यकता रहती है। कभी-कभी इस सन्देश में ऐसी महत्त्वपूर्ण घोषणा निहित रहती है जिसके द्वारा किसी अन्य देश को किसी कार्यवाही के विरुद्ध चेतावनी दी जाती है। इसमे किसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का विवेचन भी हो सकता है जिस प्रकार कि दिसम्बर १८२३ के राष्ट्रपति मनरो के सन्देश में मनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine) निहित था, अथवा राष्ट्रपति रूजवेल्ट का चार स्वतन्त्रताओ (Four Freedoms) का सिद्धान्त था, जिसके द्वारा १९४१ मे अमेरिका की विदेश नीति के लक्षण बनाये गये थे।

इसी प्रकार, व्हाइट हाउस (White House) से कांग्रेस को भेजे हुए अनेको लिखित सन्देश, जिनमें अनेकों सार्वजनिक समस्याओ पर विवेचन रहता है, उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, यद्यपि प्रत्यक्ष में उतने महत्त्वपूर्ण दिखाई नही देते। इन सन्देशो को प्राय क्लर्क (Clerk) अस्पष्ट उच्चारण में पढता है, और फिर वे कांग्रेस-रेकार्ड (Congressional Record) में छप जाते हैं। इन सन्देशो में शासन की आवश्यकताओ एव उचित व्यवस्थापक सभा की आवश्यकता पर बल दिया जाता है, और इस प्रकार राष्ट्रपति के सहयोगी, विधानमण्डल के सदस्यो से एक प्रकार की अपील की जाती है कि वे इच्छित अधिनियम पास करने की उचित कार्यवाही करें। प्राय इन सन्देशो के साथ प्रस्तावित विधान के लिये विस्तृत प्रारूप (Draft) सलग्न होता है, और मैत्रीपूर्ण विधानमण्डल के सदस्य उन विधान प्रारूपो को उसी प्रकार स्वीकार करने की दिशा में उचित कार्यवाही करने लग जाते हैं।

कांग्रेस के दोनो सदनो पर राष्ट्रपति का कितना प्रभाव है अथवा नही है, इसी पर यह अवलम्बित से कि कांग्रेस राष्ट्रपति के सदेशो पर कितना ध्यान देती है। यदि राष्ट्रपति का सम्बन्ध किसी अन्य दल से है, किन्तु कांग्रेस में बहुमत किसी अन्य दल का है, अथवा किन्ही अन्य कारणो से कांग्रेस राष्ट्रपति

युद्ध में अमेरिका के भाग लेने के पूर्व तथा अनन्तर भी फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट ने ब्रिटिश प्रधान मन्त्री एव अन्य मित्र राष्ट्रों के साथ कई बार गुप्त मन्त्रणाएँ की। इन सम्मेलनो (Conferences) में जो इकरारनामे हुए, उनमें से कुछ को तो प्रकाशित कर दिया गया, किन्तु कुछ को गुप्त रखा गया।

विधायिनी शक्तियाँ
(Legislative Powers)

राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली में, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनो अलग-अलग विभिन्न रूप से शासन के मुख्य अग बने रहते हैं। शासन के इन दोनो भागो को मिलाने का कोई उपाय नही है। किन्तु जहाँ राष्ट्रपति विधि की क्रियान्विति के लिये उत्तरदायी है, वही उसको व्यवस्थापन के निर्माण में भी कुछ अधिकार प्राप्त है। यह अधिकार, निश्चित (Positive) भी है और निषेधात्मक (Negative) भी।

१ **राष्ट्रपति के सदेश** (Presidential Messages)—सविधान अनुच्छेद २, धारा ३ में आज्ञा देता है कि "राष्टपति समय-समय पर कांग्रेस को सघ की स्थिति के बारे में सूचना देता रहेगा और कांग्रेस के विचारार्थ ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत करेगा जो उसकी दृष्टि में आवश्यक एव उपयोगी होगी। असाधारण स्थिति के उत्पन्न हो जाने पर वह दोनो सदनों को बुला सकता है या दोनो में से केवल एक और यदि दोनो सदनो में स्थगन (Adjournment) के समय के सम्बन्ध में मतभेद हो जाये तो उस स्थिति मे राष्ट्रपति दोनो सदनो को इतने काल के लिये स्थगित कर सकता है जितना वह उचित समझे।" इस स्पष्ट उपबन्ध के होने पर सविधान निश्चय ही व्यवस्थापिका के सम्बन्ध में राष्ट्रपति के नेतृत्व को स्वीकार करता है और चार्ल्स बीयर्ड (Charles Beard) के शब्दो में "निस्सन्देह यह कहना अत्युक्ति न होगा कि अनेको राष्ट्रपतियो की प्रतिष्ठा का आधार यह रहा कि वे कहाँ तक विधायिनी शक्तियो का उपभोग कर सके न कि केवल उनके सफल प्रशासक होने के कारण।"[1]

सविधान मे उपबन्धित सूचना, वार्षिक सदेश के रूप में कांग्रेस को प्रत्येक सत्र (Session) के प्रारम्भ में भेजी जाती है और सत्र के दौरान में विशेष सदेशो द्वारा यही सूचना समय-समय पर भेजी जाती है। राष्ट्रपति का सन्देश मौखिक रूप से दोनो सदनो की उपस्थिति में पढा जा सकता है अथवा प्रलेख के रूप में दोनो सदनो को प्रेषित किया जा सकता है। वार्षिक सदेश का महत्त्व बहुत अधिक है और उसको इगलैण्ड के राज्य-सिंहासन से दी गई वक्तृता (Speech from the Throne) के समान समझना चाहिए। राष्ट्रपति वाशिंगटन तथा एडम्स (Adams) स्वय कांग्रेस में उपस्थित होते थे और सन्देश देते थे तथा अपने सुझाव प्रकट करते थे। जेफरसन (Jefferson) ने यह प्रथा चलाई कि जो कुछ सदेश उसको देना होता था, उसको

---

[1] American Government and Politics, p 185

वह लिखित रूप में भेज देता था। १०० वर्षों से अधिक तक यही नियम चलता रहा, किन्तु १९१३ में राष्ट्रपति विल्सन (Wilson) ने पुन वाशिगटन की प्रथा को अगीकार किया और वह स्वय कांग्रेस में उपस्थित होकर सदेश सुनाने लगा। कुछ समय तक उसके उत्तराधिकारियो ने भी इसी प्रकार आचरण किया। राष्ट्रपति हूवर (Hoover) ने अपने प्रथम सन्देश को रेडियो (Radio) पर सर्वसाधारण एव कांग्रेस को पढ़ कर सुनाया किन्तु बाद मे उसने भी प्रलेख (Document) के रूप में अपना सदेश भेजना प्रारम्भ कर दिया। फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट ने अपना सन्देश स्वय पढकर सुनाना प्रारम्भ कर दिया, जिसके द्वारा वह समस्त राष्ट्र का ध्यान निर्धारित कार्यक्रम की ओर खीच सके—रेडियो और केमरा (Radio and Camera) से इस दिशा मे उसे पर्याप्त सहायता मिल जाती थी।

वार्षिक सन्देश में पूर्व वर्ष के शासन के क्रिया-कलापो का वर्णन रहता है, दल की नीतियो के सम्बन्ध में घोषणा रहती है, तथा ऐसे व्यवस्थापन (Legislation) की सिफारिश रहती है जिनकी राष्ट्रपति की सम्मति में देश को आवश्यकता रहती है। कभी-कभी इस सन्देश में ऐसी महत्त्वपूर्ण घोषणा निहित रहती है जिसके द्वारा किसी अन्य देश को किसी कार्यवाही के विरुद्ध चेतावनी दी जाती है। इसमे किसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का विवेचन भी हो सकता है जिस प्रकार कि दिसम्बर १८२३ के राष्ट्रपति मनरो के सन्देश में मनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine) निहित था, अथवा राष्ट्रपति रूजवेल्ट का चार स्वतन्त्रताओ (Four Freedoms) का सिद्धान्त था, जिसके द्वारा १९४१ में अमेरिका की विदेश नीति के लक्षण बनाये गये थे।

इसी प्रकार, व्हाइट हाउस (White House) से कांग्रेस को भेजे हुए अनेको लिखित सन्देश, जिनमें अनेकों सार्वजनिक समस्याओ पर विवेचन रहता है, उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, यद्यपि प्रत्यक्ष में उतने महत्त्वपूर्ण दिखाई नही देते। इन सन्देशो को प्राय क्लर्क (Clerk) अस्पष्ट उच्चारण में पढता है, और फिर वे कांग्रेस-रेकार्ड (Congressional Record) में छप जाते हैं। इन सन्देशो में शासन की आवश्यकताओ एव उचित व्यवस्थापक सभा की आवश्यकता पर बल दिया जाता है, और उस प्रकार राष्ट्रपति के सहयोगी, विधानमण्डल के सदस्यो से एक प्रकार की अपील की जाती है कि वे इच्छित अधिनियम पास करने की उचित कार्यवाही करें। प्राय इन सन्देशो के साथ प्रस्तावित विधान के लिये विस्तृत प्रारूप (Draft) सलग्न होता है, और मैत्रीपूर्ण विधानमण्डल के सदस्य उन विधान प्रारूपो को उसी प्रकार स्वीकार करने की दिशा में उचित कार्यवाही करने लग जाते हैं।

कांग्रेस के दोनो सदनो पर राष्ट्रपति का कितना प्रभाव है अथवा नही है, इसी पर यह अवलम्बित से कि कांग्रेस राष्ट्रपति के सदेशो पर कितना ध्यान देती है। यदि राष्ट्रपति का सम्बन्ध किसी अन्य दल से है, किन्तु कांग्रेस में बहुमत किसी अन्य दल का है, अथवा किन्ही अन्य कारणो से कांग्रेस राष्ट्रपति

युद्ध में अमेरिका के भाग लेने के पूर्व तथा अनन्तर भी फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट ने ब्रिटिश प्रधान मन्त्री एव अन्य मित्र राष्ट्रो के साथ कई बार गुप्त मन्त्रणाएँ की। इन सम्मेलनो (Conferences) में जो इकरारनामे हुए, उनमें से कुछ को तो प्रकाशित कर दिया गया, किन्तु कुछ को गुप्त रखा गया।

विधायिनी शक्तियाँ

(Legislative Powers)

राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली में, जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है, कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों अलग-अलग विभिन्न रूप से शासन के मुख्य अग बने रहते हैं। शासन के इन दोनो भागो को मिलाने का कोई उपाय नही है। किन्तु जहाँ राष्ट्रपति विधि की क्रियान्विति के लिये उत्तरदायी है, वही उसको व्यवस्थापन के निर्माण में भी कुछ अधिकार प्राप्त है। यह अधिकार, निश्चित (Positive) भी है और निषेधात्मक (Negative) भी।

१ **राष्ट्रपति के सदेश** (Presidential Messages)—सविधान अनुच्छेद २, धारा ३ में आज्ञा देता है कि "राष्टपति समय-समय पर कांग्रेस को सघ की स्थिति के बारे में सूचना देता रहेगा और कांग्रेस के विचारार्थ ऐसी व्यवस्था प्रस्तुत करेगा जो उसकी दृष्टि में आवश्यक एव उपयोगी होगी। असाधारण स्थिति के उत्पन्न हो जाने पर वह दोनों सदनों को बुला सकता है या दोनो में से केवल एक और यदि दोनो सदनो में स्थगन (Adjournment) के समय के सम्बन्ध मे मनभेद हो जाये तो उस स्थिति मे राष्ट्रपति दोनो सदनो को इतने काल के लिये स्थगित कर सकता है जितना वह उचित समझे।" इस स्पष्ट उपबन्ध के होने पर सविधान निश्चय ही व्यवस्थापिका के सम्बन्ध में राष्ट्रपति के नेतृत्व को स्वीकार करता है और चार्ल्स बीयर्ड (Charles Beard) के शब्दो में "निस्सन्देह यह कहना अत्युक्ति न होगा कि अनेको राष्ट्रपतियो की प्रतिष्ठा का आधार यह रहा कि वे कहाँ तक विधायिनी शक्तियो का उपभोग कर सके न कि केवल उनके सफल प्रशासक होने के कारण।"[1]

सविधान में उपबन्धित सूचना, वार्षिक सदेश के रूप में कांग्रेस को प्रत्येक सत्र (Session) के प्रारम्भ में भेजी जाती है और सत्र के दौरान में विशेष सदेशो द्वारा यही सूचना समय-समय पर भेजी जाती है। राष्ट्रपति का सन्देश मौखिक रूप से दोनो सदनो की उपस्थिति में पढा जा सकता है अथवा प्रलेख के रूप में दोनो सदनो को प्रेषित किया जा सकता है। वार्षिक सदेश का महत्त्व बहुत अधिक है और उसको इगलैण्ड के राज्य-सिंहासन से दी गई वक्तृता (Speech from the Throne) के समान समझना चाहिए। राष्ट्रपति वाशिंगटन तथा एडम्स (Adams) स्वय कांग्रेस में उपस्थित होते थे और सन्देश देते थे तथा अपने सुझाव प्रकट करते थे। जेफरसन (Jefferson) ने यह प्रथा चलाई कि जो कुछ सदेश उसको देना होता था, उसको

---

[1] American Government and Politics, p 185

वह लिखित रूप में भेज देता था। १०० वर्षों से अधिक तक यही नियम चलता रहा, किन्तु १९१३ में राष्ट्रपति विल्सन (Wilson) ने पुन वाशिंगटन की प्रथा को अंगीकार किया और वह स्वय कांग्रेस में उपस्थित होकर सदेश सुनाने लगा। कुछ समय तक उसके उत्तराधिकारियो ने भी इसी प्रकार आचरण किया। राष्ट्रपति हूवर (Hoover) ने अपने प्रथम सन्देश को रेडियो (Radio) पर सर्वसाधारण एव कांग्रेस को पढ कर सुनाया किन्तु बाद मे उसने भी प्रलेख (Document) के रूप में अपना सदेश भेजना प्रारम्भ कर दिया। फ्रैंकलिन डी० रूजवेल्ट ने अपना सन्देश स्वय पढकर सुनाना प्रारम्भ कर दिया, जिसके द्वारा वह समस्त राष्ट्र का ध्यान निर्धारित कार्यक्रम की ओर खींच सके—रेडियो और केमरा (Radio and Camera) से इस दिशा मे उसे पर्याप्त सहायता मिल जाती थी।

वार्षिक सन्देश में पूर्व वर्ष के शासन के क्रिया-कलापो का वर्णन रहता है, दल की नीतियो के सम्बन्ध में घोषणा रहती है, तथा ऐसे व्यवस्थापन (Legislation) की सिफारिश रहती है जिनकी राष्ट्रपति की सम्मति में देश को आवश्यकता रहती है। कभी-कभी इस सन्देश में ऐसी महत्त्वपूर्ण घोषणा निहित रहती है जिसके द्वारा किसी अन्य देश को किसी कार्यवाही के विरुद्ध चेतावनी दी जाती है। इसमे किसी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त का विवेचन भी हो सकता है जिस प्रकार कि दिसम्बर १८२३ के राष्ट्रपति मनरो के सन्देश में मनरो सिद्धान्त (Monroe Doctrine) निहित था, अथवा राष्ट्रपति रूजवेल्ट का चार स्वतन्त्रताओ (Four Freedoms) का सिद्धान्त था, जिसके द्वारा १९४१ मे अमेरिका की विदेश नीति के लक्षण बनाये गये थे।

इसी प्रकार, व्हाइट हाउस (White House) से कांग्रेस को भेजे हुए अनेकों लिखित सन्देश, जिनमें अनेकों सार्वजनिक समस्याओ पर विवेचन रहता है, उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, यद्यपि प्रत्यक्ष में उतने महत्त्वपूर्ण दिखाई नही देते। इन सन्देशो को प्राय क्लर्क (Clerk) अस्पष्ट उच्चारण में पढता है, और फिर वे कांग्रेस-रेकार्ड (Congressional Record) में छप जाते हैं। इन सन्देशो में शासन की आवश्यकताओ एव उचित व्यवस्थापक सभा की आवश्यकता पर बल दिया जाता है, और इस प्रकार राष्ट्रपति के सहयोगी, विधानमण्डल के सदस्यो मे एक प्रकार की अपील की जाती है कि वे इच्छित अधिनियम पास करने की उचित कार्यवाही करें। प्राय इन सन्देशो के साथ प्रस्तावित विधान के लिये विस्तृत प्रारूप (Draft) सलग्न होता है, और मैत्रीपूर्ण विधानमण्डल के सदस्य उन विधान प्रारूपो को उसी प्रकार स्वीकार करने की दिशा में उचित कार्यवाही करने लग जाते हैं।

कांग्रेस के दोनो सदनो पर राष्ट्रपति का कितना प्रभाव है अथवा नहीं है, इसी पर यह अवलम्बित से कि कांग्रेस राष्ट्रपति के सदेशो पर कितना ध्यान देती है। यदि राष्ट्रपति का सम्बन्ध किसी अन्य दल से है, किन्तु कांग्रेस में बहुमत किसी अन्य दल का है, अथवा किन्हीं अन्य कारणो से कांग्रेस राष्ट्रपति

की नीतियो से असन्तुष्ट है, तो उसकी सिफारिशों पर बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। फ्रैंकलिन डी० रूज़वेल्ट ने व्यवस्थापन की दिशा में अपूर्व नेतृत्व ग्रहण किया और १९३३ से १९४० तक कांग्रेस ने जितना भी महत्त्वपूर्ण विधान निर्माण किया, उसका उद्गम या तो कार्यपालिका विभाग की ओर से हुआ अथवा उसको राष्ट्रपति की ओर से प्रस्तावित किया गया था। किन्तु १९४२ के कांग्रेस के चुनाव ने कांग्रेस के दृष्टिकोण में पर्याप्त परिवर्तन कर दिया था, क्योंकि कांग्रेस मे डेमोक्रेटिक दल (Democratic Party) का बहुमत क्षीण हो गया था और राष्ट्रपति की गृह-नीति (Domestic Policy) से सभी असन्तुष्ट थे, इसलिए नई कांग्रेस, राष्ट्रपति रूज़वेल्ट द्वारा प्रस्तावित अथवा इच्छित विधान प्रस्तावो को एक-एक करके अस्वीकृत करती रही।

२ **कांग्रेस के असाधारण सत्रों को बुलाने का अधिकार** (Power to call Extraordinary Sessions)—राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह महत्त्वपूर्ण एव अत्यावश्यक स्थिति के उत्पन्न हो जाने पर कांग्रेस के असाधारण सत्रो को आहूत कर सकता है। प्रारम्भिक दिनो में जबकि प्रत्येक कांग्रेस का द्वितीय साधारण सत्र चार मार्च को समाप्त होता था और जबकि अगला साधारण सत्र अगले दिसम्बर के समाप्त होने के पूर्व प्रारम्भ नही होता था, असाधारण सत्र प्राय हुआ ही करते थे, जो असाधारण स्थितियो के अनुरूप उचित कार्यवाही करते थे, विशेषकर ऐसे असाधारण वर्षों में जैसे १९०९, १९१३, १९२१, १९२९ और १९३३। बीसवें सशोधन ने जो सत्रो को नये प्रकार से क्रम-बद्ध किया है, तबसे असाधारण सत्रो की आवश्यकता बहुत ही कम रह गई है क्योंकि आजकल साधारण सत्रो के बीच का अन्तर कम है और नया राष्ट्रपति अपने प्रतिष्ठापन के उपरान्त देखता है कि नई कांग्रेस पहले ही से अपना कार्य प्रारम्भ कर चुकी है।[1] १९३९ में जब युद्ध छिड गया, तो उस वर्ष असाधारण सत्र आहूत करना आवश्यक हो गया था। किन्तु १९३९ के बाद केवल एक अवसर आया है जबकि राष्ट्रपति ट्रूमैन (Truman) ने कांग्रेस को वाशिंगटन में बुला लिया, यद्यपि कांग्रेस सत्र समाप्ति के बाद उठ गई थी, और प्रतिनिधियो को वापिस आने की कोई आशा नही थी।

३. **अध्यादेश निकालने का अधिकार** (Power to Issue Ordinances)—राष्ट्रपति के व्यवस्थापन सम्बन्धी कर्त्तव्यो में उसकी अध्यादेश निकालने सम्बन्धी शक्ति को भी समझना चाहिए, अर्थात् वह शक्ति जिसके द्वारा वह ऐसी आज्ञाएँ निकाल सके जो विधि के समान मानी जायें। अध्यादेशो का निकालना, अर्थात्

---

[1] ६ फरवरी १९३३ को यह संशोधन स्वीकृत हुआ। धारा १ कहता है —"राष्ट्रपति एव उपराष्ट्रपति की पदावधियां २० जनवरी की दुपहर को समाप्त हो जायँगी, तथा सीनेट-सदस्यों एव प्रतिनिधियों की पदावधियां ३ जनवरी की दुपहर को समाप्त हो जायँगी।" धारा २ कहती है, "कांग्रेस वर्ष में कम-से-कम एक बार अवश्य सत्र में एकत्रित होगी, और ऐसा सम्मेलन ३ जनवरी को दुपहर में प्रारम्भ होगा जब तक कि इस आज्ञा के विरुद्ध इस कार्य के लिए विधि द्वारा कोई अन्य दिन निश्चित न कर दिया जाय।"

अधिशासी आज्ञाएँ (Executive Orders) राष्ट्रपति की विधायिनी शक्तिये (Legislative Powers) में इतना महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं कि १९३५ में कांग्रेस ने फ़ेडेरल रजिस्टर एक्ट (Federal Register Act) पास किया जिसमें चाहा गया कि समस्त अधिशासी आज्ञाएँ, आज्ञप्तियाँ (Decrees) तथा घोषणाएँ जो सब पर लागू होंगी और जिनका कानून के समान महत्त्व है नित्य प्रकाशित होने वाले फेडेरल रजिस्टर (Federal Register) मे प्रकाशित होनी चाहियें।

इन अध्यादेशो में से कुछ राष्ट्रपति की आज्ञा तथा कुछ अन्य प्रशासको की आज्ञा से निकाले जाते हैं जिनके लिए कांग्रेस अधिनियमो द्वारा आज्ञा प्रदान कर चुकती है, कुछ अध्यादेश इस आवश्यकता के कारण निकाले जाते हैं कि कांग्रेस द्वारा पारित विधियो की क्रियान्विति उन्ही के द्वारा होगी, तथा कुछ और अन्य अध्यादेश राष्ट्रपति के सविधानिक अधिकारो के फलस्वरूप निकाले जाते हैं; इन अध्यादेशो को वह देश का प्रधान सेनापति होने के नाते निकालता है। कांग्रेस के लिये अब यह सामान्य-सा व्यवहार बन गया है कि वह विधियों को व्यापक अर्थों में पास करती है तथा राष्ट्रपति अथवा कार्यपालिका विभागो को स्वविवेकी अधिकार होता है कि वह आवश्यकतानुरूप उनकी त्रुटियो (Gaps) को ठीक कर लें (Fill in the gaps)। वास्तव मे यह भी व्यवस्थापन ही है। १९३३ के नेशनल रिकवरी एक्ट (The National Recovery Act of 1933) ने राष्ट्रपति को अधिकार दिया कि "वह सयुक्त राज्य के उद्योग-धन्धो की उचित व्यवस्था करे, नई-नई एजेन्सियाँ स्थापित करे और उनके लिए नियम बनावे, अपने अधीन विभागीय अध्यक्षो को कुछ कर्त्तव्यो का प्रत्यायोजन (Delegate) करे और अन्य आवश्यक कार्यवाही करे जिससे कि देश में आर्थिक समृद्धि आवे।" १९३४ के व्यापारिक इकरारनामे (The Trade Agreement of 1934) ने राष्ट्रपति को अधिकार दिया कि वह विदेशी राष्ट्रो के व्यापारिक इकरारनामे (Trade Agreements) कर सकता है और तात्कालिक प्रशुल्क दरो (Tariff Rates) को ५० प्रतिशत तक कम कर सकता है। इससे भी अधिक परिवर्तनकारी प्रत्यायोजन (Delegation), १९३९ के नवीन क्रम अधिनियम (Reorganisation Act of 1939) में दिया गया। इस सम्बन्ध में फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट ने सभी को मात कर दिया। अपने प्रतिष्ठापन (Inauguration) के शीघ्र बाद उसने कांग्रेस से प्रार्थना की कि उसको अधिक व्यापक शक्तियाँ प्रत्यायोजित की जायें, और इस प्रकार उसने अधिशासी आज्ञप्तियो (Executive Orders) के काल का श्रीगणेश किया। सीनेट सदस्य हरनिक शिपस्टैड (Hernik Shipstead) ने आंकडे तैयार करके वर्णन किया कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट १९४४ से पूर्व ३,७०३ अधिशासी आज्ञप्तियाँ (Executive Orders) निकाल चुका था। उसी काल में कांग्रेस ने ४,५५३ विधियाँ पारित की।

४. निषेधाधिकार (The Veto Power)—निषेधाधिकार के द्वारा राष्ट्रपति के पास व्यवस्थापन (Legislation) के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण शक्ति है। सविधान के

अनुसार समस्त विधेयको (Bills), प्रस्तावो (Resolutions) (केवल प्रस्तावित सविधानिक सशोधनो को छोडते हुए) के ऊपर राष्ट्रपति के हस्ताक्षर होने अत्यन्त आवश्यक हैं, तभी वह कानून का रूप धारण कर सकता है। यदि वह स्वीकृति प्रदान कर देता है तो उस पर अपने हस्ताक्षर कर देता है और वह विधि के रूप में प्रख्यापित हो जाता है। यदि वह स्वीकृति प्रदान नही करता, तो उस विधेयक को उसी सदन में अपनी आपत्तियो सहित दस दिन के भीतर वापिस भेज देता है जहाँ पर वह आरम्भ हुआ था। उस स्थिति में कांग्रेस दो-तिहाई मतो के द्वारा दोनो सदनो में उसे पुन पास कराकर राष्ट्रपति के निषेधाधिकार के प्रयोगो के बावजूद कानून का स्वरूप दे देती है। यदि राष्ट्रपति दस दिन के भीतर रविवारों को छोडकर विधेयक पर न तो हस्ताक्षर करे, न उस पर निषेधाधिकार का प्रयोग करे, तो वह विधेयक बिना राष्ट्रपति के हस्ताक्षर के भी कानून का स्वरूप धारण कर लेता है। यदि राष्ट्रपति द्वारा हस्ताक्षरार्थ विधेयक प्राप्त होने के दस दिन के अन्दर कांग्रेस का सत्र स्थगित हो जाये, और यदि राष्ट्रपति उस पर कोई कार्यवाही नही करता, तो विधेयक स्वय गिर जाता है। इसको पोकिट वीटो (Pocket Veto) कहा जाता है, और यह पूर्ण एव निर्विकल्प (Absolute) है। सत्र के अन्तिम दिनो में अनेको विधि प्रस्ताव एव प्रस्ताव कांग्रेस द्वारा पास किये जाते हैं ताकि समस्त सचित काम का निपटारा कर दिया जाय। इस प्रकार के अनेको अन्तिम क्षण वाले विधेयक, जिनको राष्ट्रपति अस्वीकृत करना चाहे, अथवा जिनका उत्तरदायित्व वह अपने ऊपर न लेना चाहे, राष्ट्रपति के निर्व्यापार (Inaction) के फलस्वरूप, कानून का स्वरूप धारण नही कर पाते। राष्ट्रपतियो ने पोकिट वीटो (Pocket Veto) का प्रयोग प्राय खुल कर किया है।

राष्ट्रपति—राष्ट्र का नेता

(The President as a National Leader)

राष्ट्रपति व्यक्तिगत रूप से दो अधिकारों से सज्जित है, अर्थात् वह समस्त देश का राजा भी है और प्रधान मन्त्री भी। एक ओर वह एक दल का नेता है, निर्वाचित बहुमत का प्रतिनिधि है, और वह बहुमत प्राय उस दल का है जिसका वह नेता है। प्रारम्भ में कार्यपालिका का प्रधान किसी दल विशेष से सम्बद्ध नही होता था, और वाशिंगटन अपने आपको किसी दल से सम्बद्ध नही मानता था। किन्तु जब राजनीतिक दलो की निश्चित रूप से स्थापना हो गई, तो जेफरसन (Jefferson) के समय से राष्ट्रपति का चुनाव एक दल विशेष के नेता के रूप में होने लगा, और तभी से राष्ट्रपति का एक कर्त्तव्य 'दल का नेतृत्व' भी उसी रूप में समझा जाने लगा जिस प्रकार कि ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री का यह कर्त्तव्य समझा जाता है। आजकल एक दल का राजनीतिक नेता होने के कारण राष्ट्रपति को उतनी ही शक्ति एव अधिकार प्राप्त है जितना अधिकार कि उसको सविधान के द्वारा दी हुई शक्ति ने प्रदान किया है। राष्ट्रपति का चुनाव दलगत निष्ठा के आधार पर उस शासन के मुख्य पद के

लिये होता है जो दलगत राजनीति पर आधारित है, इसलिये उसको चारो ओर से उसी दल के लोग सलाहकारो के रूप में घेरे रहते है, और वह कांग्रेस में भी अपने दल के लोगो से ही मन्त्रणा करके नियुक्तियां करता है, नीति निर्धारण में भी वह अपने दल के नेताओ से ही सलाह लेता है, और अपने दल के कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के लिये ही वह अपनी सर्वोच्च विधायिनी शक्ति का उपभोग करता है।

किन्तु यह तस्वीर का केवल एक पहलू है। जहां तक वह सर्वोच्च प्रशासक है, उसका कर्त्तव्य है कि वह देश की प्रचलित विधियो की क्रियान्विति निष्ठापूर्वक करे, चाहे उन विधियो को कांग्रेस के डेमोक्रेटिक (Democratic) अथवा रिपब्लिकन (Republican) बहुमत ने पास किया हो। सर्वोच्च सेनापति के रूप मे वह समस्त राष्ट्र का नायक है। वह युद्ध का सचालन किसी एक दल अथवा किसी एक वर्ग के हित-साधन के लिये नही करता। वह वास्तव में सभी के हित में कार्य करता है। सर्वसाधारण लोग राष्ट्रपति को समस्त सघ का नेता मानते हैं, यही तक नही, बल्कि उसको अमेरिकन जीवन-व्यवस्था का प्रतीक मानते हैं। व्हाइट हाउस (White House) राष्ट्र की पवित्र इमारतो में से एक है। राष्ट्रपति, राष्ट्र का ही रूप है और साथ ही राष्ट्र का नेतृत्व भी करता है। सर्वसाधारण स्वभावत सभी मामलो में उसके मार्ग-प्रदर्शन के आकाक्षी हैं। वही सर्वदा इस बात का प्रयत्न करता है कि सयुक्त राज्य अमेरिका की समृद्धि बढे। प्रजातन्त्र में भी लोगो को एक नेता की आवश्यकता होती है। "उनको एक ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता होती है जो अव्यक्त शासन एव अधिकार कि प्रतिमूर्ति हो, जो राजनीति को सरल बना दे, जो राज्य के सरक्षक एव लोकरजक रूप को स्वय सामने रखे, और जो सभी से सम्बन्ध रखता हो।" वास्तव में समस्त राष्ट्र की आंखें राष्ट्रनायक (First Citizen) की ओर लगी रहती हैं। वाशिगटन मे कुशल पत्रकारो की एक पल्टन (Corps) राष्ट्रपति के साथ-साथ लगी रहती है। ये सदैव चौकन्ने होकर प्रतीक्षा करते हैं कि प्रेस सम्मेलनों में, निजी बातचीत (Fireside Chats) मे, अथवा बिना किसी प्रसग के यूही राष्ट्रपति के मुख से क्या बात निकले और उसको तुरन्त समस्त देश में ब्राडकास्ट के द्वारा पहुँचा देते हैं। राष्ट्रपति जो सदेश कांग्रेस को भेजता है, वह समस्त राष्ट्र में हलचल मचा देता है और यही वह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण सार्वजनिक प्रलेख होता है जिसको सबसे अधिक लोग पढते हैं और जिस पर मनन किया जाता है। वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) ने अपने राष्ट्रपति पद पर प्रतिष्ठापन के कुछ ही पूर्व कहा था, "राष्ट्र आशा करता है कि राष्ट्रपति न केवल अपने दल का नेता होगा, बल्कि समस्त शासन का सर्वोच्च प्रशासक होगा, और देश उसको किसी गलती पर क्षमा नही करेगा। उसको अपना कर्त्तव्य करना होगा, और कर्त्तव्य पालन से सफल होना होगा, अन्यथा वह राष्ट्र का विश्वास खो बैठेगा। उनको देश के प्रधान मन्त्री के रूप में आवश्यक व्यवस्थापन की व्यवस्था उसी प्रकार करनी होगी जिस प्रकार कि यह देखना कि देश की विधियों की क्रियान्विति न्याय तथा औचित्य के अनुसार हो रही है। साथ ही वह समस्त राष्ट्र का

अध्याय ४

मन्त्रि मण्डल और प्रशासनिक विभाग

(The Cabinet and the Executive Departments)

मन्त्रिमण्डल का विकास और प्रकृति (Origin and Nature of Cabinet)—दस प्रशासनिक विभागों के अध्यक्ष सब मिलाकर राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते हैं, वे विभाग हैं—परराष्ट्र विभाग (State), अर्थ विभाग (Treasury), रक्षा विभाग (Defence), गृह विभाग (Interior), कृषि विभाग (Agricuture), न्याय विभाग (Justice), डाक विभाग (Post Office), वाणिज्य विभाग (Commerce), श्रम विभाग (Labour), स्वास्थ्य, शिक्षा एव लोक-कल्याण विभाग (Health, Education and Welfare)। सविधान मे राष्ट्रपति के मन्त्रिमण्डल के सम्बन्ध में कोई व्यवस्था नही है। उसमें तो यह केवल यह कहा गया है कि "राष्ट्रपति अपने प्रशासनिक विभागो के अध्यक्षो से अपने-अपने विभागो के क्रिया-कलापो के सम्बन्ध में किसी विषय पर लिखित जानकारी प्राप्त कर सकता है।"[1] किन्तु सविधान के निर्माताओ के दिमाग में यह बात घर कर गई थी कि नीति निर्धारण में मन्त्रणा की आवश्यकता होती है यद्यपि "इस सम्बन्ध में उन्होने सविधान में कोई उपबन्ध रखना प्रत्यक्षत आवश्यक नही समझा क्योकि यह मान लिया गया था कि राष्ट्रपति को इतनी बुद्धि होगी कि वह महत्त्वपूर्ण मामलो मे अवश्य मन्त्रणा लेना चाहेगा।"[2] किन्तु उन्होने सीनेट को अवश्य ही नियुक्तियो एव सन्धि करने के सम्बन्ध में इस प्रकार का अधिकार प्रदान किया।

प्रारम्भ में वाशिंगटन का विचार था कि सीनेट वही काम करेगा जो तत्कालीन उपनिवेशिक विधानमण्डलो के उच्च सदन करते थे, अर्थात् वह मन्त्रणा-परिषद् (Advisory Council) का कार्य करेगा, और उसको कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका सम्बन्धी दोनो प्रकार के उत्तरदायित्वो का निर्वहन करना होगा। सविधान ने सीनेट को मन्त्रणा-परिषद् प्राय मान ही लिया था, जबकि उपबन्धित किया गया कि राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि वह सीनेट की मन्त्रणा पर उसकी सहमति से सन्धियाँ एव नियुक्तियाँ करे। वाशिंगटन ने इडीज (Indian Affairs) के मामलो में सीनेट से मन्त्रणा माँगी किन्तु सीनेट ने उसका तिरस्कार किया। इसके बाद इगलैंड और उपनिवेशो के न्यायालयो को प्रमाण मानते हुए राष्ट्रपति ने सर्वोच्च न्यायालय से मन्त्रणा स्वरूप कुछ सहायता चाही किन्तु इस बार भी उसके साथ रुक्षता का व्यवहार किया

---

[1] अनुच्छेदन II, खण्ड २, धारा १।

[2] Zink, H A Survey of American Government, p 254

गया। इसलिए वाशिंगटन ने शासन के प्रमुख अधिकारियो से महत्त्वपूर्ण प्रश्नो पर मन्त्रणा करना प्रारम्भ कर दिया और १७९१ के बाद तो उसने प्राय नियमित सम्मेलन प्रारम्भ कर दिये जिनमें मुख्य विभागीय अध्यक्षो के साथ न केवल उनके सम्बन्धित विभागो के बारे मे उनसे मन्त्रणा ली जाती थी, अपितु सामान्य नीति निर्धारण के प्रश्नो पर भी उनसे राय माँगी जाती थी। इस प्रकार कार्यपालिका कार्यक्रम के निवहन में मन्त्रिमण्डल विशिष्ट भाग लेने लगा और वह एक स्थायी व्यवस्था (Institution) के रूप में स्थापित हो गया।

मन्त्रिमण्डल की विशेषताएं (Features of the Cabinet)—यद्यपि विधि[1] में मन्त्रिमण्डल (Cabinet) का कोई स्थान नही है, फिर भी सयुक्त राज्य अमेरिका की वैधानिक शासन-व्यवस्था में यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भाग रखता है। अमेरिका मे मन्त्रिमण्डल उस प्रकार का नही है जैसा कि ससदीय शासन प्रणाली (System of Parliamentary Government) में होता है। अमेरिकन मन्त्रिमण्डल के सदस्य कांग्रेस के सदस्य नही होते, न वे कांग्रेस के वाद-विवादो में भाग लेते है, न वे कांग्रेस में उपस्थित रहकर व्यवस्थापन सम्बन्धी किसी कार्य में हाथ बँटाते हैं, न शासन की नीति का समर्थन ही करते हैं। उन्हे इस बात की भी आवश्यकता नहीं होती कि कांग्रेस उनमें अपना विश्वास प्रगट करे। वे मुख्य रूप से राष्ट्रपति के परामर्शदाता (Advisers) हैं। राष्ट्रपति को अधिकार है और वह प्राय अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा अस्वीकृत कर देता है। वह चाहे तो मन्त्रियो से मन्त्रणा ले अथवा न ले। यदि वह मन्त्रणा लेता है, तो वह चाहे तो मन्त्रियो से अलग-अलग विषयो पर अलग-अलग मन्त्रणा कर सकता है अथवा समूचे मन्त्रिमण्डल से एक साथ भी मन्त्रणा कर सकता है।

सामान्य रूप मे मन्त्रिमण्डल की बैठक सप्ताह मे एक बार होती है और इसकी बैठको में किन विषयो पर विचार हो, यह निर्णय राष्ट्रपति करता है।[2] समस्त कार्यवाही निश्चित रूप से अरीतिक (Informal) होती है और वाद-विवाद के कोई निश्चित नियम नही हैं।[3] मन्त्रिमण्डल में मत-गणना प्राय कभी नही होती और इसकी कार्यवाही के वृत्त (Minutes) अथवा राजकीय अभिलेख (Official Records) सुरक्षित नही रखे जाते। सक्षेप में, मन्त्रिमण्डल के सदस्य के कोई ऐसे ससृष्ट (Corporate) अधिकार नही हैं जिनको प्रथा के अनुसार सभी जगह माना जाता हो । यह वात दो कहानियो से स्पष्ट हो जायगी, जिनमें से एक अमेरिका के सम्बन्ध में है और दूसरी इगलैंड के सम्बन्ध में । एक बार अब्राहम लिंकन ने अपना एक प्रस्ताव अपने सात मन्त्रियो के सामने रखा और उन सब ने उसका विरोध किया । उसके बाद लिंकन ने कहा, "सात मत विरोध में, एक मत पक्ष में, अत पक्ष वालो की जीत हुई ।" इस अवस्था के मुकाबिले में लार्ड मेलबोर्न (Lord Melbourne) की बात रखी जाती है। उसने अनाज नियमो (Corn Laws) के सम्बन्ध मे किसी प्रश्न पर मन्त्रिमण्डल के मत मांगे और कहा, "इस बात को मैं कोई महत्त्व नही देता कि हम क्या कहते है । किन्तु हम सभी मन्त्रियो को एक ही बात कहनी चाहिए ।" अमेरिका के मन्त्रिमण्डल के सदस्य, प्रशासन की सामान्य नीति के समर्थन में वक्तृताएँ दे सकते हैं । वे किसी विशिष्ट नीति के आरम्भक भी हो सकते हैं, और यदि राष्ट्रपति उसको स्वीकार कर ले, तो वे उस नीति के स्रष्टा भी अपने आपको कह सकते हैं। वैलेस (Wallace) की कृषि नीति अथवा राष्ट्रपति रूजवेल्ट के प्रशासन काल मे हल (Hull) के अन्योन्य-निम्न-प्रशुल्क-इकरारनामे (Reciprocal Law Tariff Agreements) इसके उदाहरण हैं । "किन्तु सामान्यत अमेरिका के मन्त्रिमण्डल का सदस्य, राष्ट्रपति की कृपाकोर पर पूर्णत. अवलम्बित है चाहे कोई मन्त्री कितना ही योग्य एव प्रसिद्ध हो, किन्तु वह निश्चय ही राष्ट्रपति के सम्मुख सदैव प्रच्छन्न (Eclipsed) रहेगा" ।[1]

---

[1] केबिनेट शब्द का इस रूप में १८०३ के मारबरी विरुद्ध मैडीसन (Marbury V Madison) वाले मुकद्दमे में चीफ जस्टिस मार्शल (Marshall) ने प्रयोग किया था।

[2] राष्ट्रपति टाफ्ट ने कहा था, "प्रथा यह है कि राष्ट्रपति अपने मन्त्रिमण्डल के सदस्यों के सम्मुख वे प्रश्न रखता है जिन पर वह मन्त्रियों की मन्त्रणा लेना चाहता है, और मन्त्रिगण अपने-अपने विभागों की उन बातों को उपस्थित करते हैं जिन पर वे मन्त्रिमण्डल में विचार एवं मन्त्रणा करना चाहें।"

[3] कहा जाता है कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट मन्त्रिमण्डल के सम्मेलनों में कभी-कभी कहानी या चुटकुले सुनाया करता था। लिंकन को भी कहानी सुनाने का शौक था।

सयुक्त राज्य अमेरिका में मन्त्रिमण्डल एक प्रकार से राष्ट्रपति का परिवार है । ब्रिटिश प्रधान मन्त्री को अपने विश्वस्त साथियो के चुनने में कुछ छूट हो सकती है फिर उसका दल कुछ विशेष व्यक्तियो का मन्त्रिमण्डल में लिया जाना पसन्द करता है । और देश भी यही चाहता है। किन्तु ब्रिटिश प्रधान मन्त्री के विपरीत, अमेरिका का राष्ट्रपति समान विचारो वाले मन्त्रियो की टीम (Team) का निर्माण नही करता । अमेरिका का राष्ट्रपति जिन विचारो के अनुसार अपने मन्त्रियो को चुनता है, वे उन

---

[1] लास्कीकृत "The American Presideney" पृष्ठ ७९-८० से उद्धृत । राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने जो सदेश काग्रेस को १९३७ में भेजा था उसमें सर्वोच्च न्यायालय में कुछ सुधार करने की आवश्यकता पर वल दिया गया था, किन्तु यह वात मन्त्रिमण्डल के समक्ष मन्त्रणा हेतु उपस्थित नहीं की गई । इस घटना का वर्णन स्वर्गीय हेरल्ड इक्स (Herald Iekes) ने किया है और इससे पता चलता है कि इस प्रकार राष्ट्रपति प्रशासन के ऊपर जल्दवाजी में इतना उत्तरदायित्व ले सकता है जबकि मन्त्रिमण्डल के सदस्यों से मन्त्रणा भी नहीं ली गई । हेरल्ड इक्स कहता है, "मैंने सदैव इस वात को नापसन्द किया है कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट अपनी केबिनेट से परामर्श नहीं करता था और वह क्या करने जा रहा है, इस तथ्य का सिवाय राष्ट्रपति और महान्यायवादी (Attorney General) के और किसी को कुछ पता नहीं होता था । एक दिन प्रातःकाल जल्दी-जल्दी में केबिनेट को बुलाया गया । संदेश (Message), काग्रेस को भेजे जाने के लिए तैयार था । यदि हम से परामर्श मांगा गया होता तो भी हमारा परामर्श प्रभावहीन हो सकता था । हमारे सामने केवल दो विकल्प थे, या तो राष्ट्रपति का समर्थन करें, या केबिनेट से त्याग-पत्र दे दें और उस सदेश का विरोध करें ।" ब्रोगन (Brogan)-कृत "An Introduction to American Politics" पृष्ठ २७६-२७७ मे उद्धृत ।

विचारो से सर्वथा भिन्न हैं जिनके अनुसार ससदीय शासन-प्रणाली का प्रधान मन्त्री अपने मन्त्रियो का चुनाव करता है। यह हो सकता है कि राष्ट्रपति जिन मन्त्रियो को चुनता है उनमें से कुछ मन्त्रियो को वह स्वय जानता भी न हो। राष्ट्रपति विल्सन की अपने गृह मन्त्री लिण्डले गैरीसन (Lindley Garrison) से कभी भेंट नही हुई थी। वह ऐसे मन्त्रियो की भी नियुक्ति कर सकता है जो उसके दल से सम्बन्धित न हो, यद्यपि १७९५ से दलगत समैक्य (Party Solidarity) के सिद्धान्त का प्राय कठोरता से पालन किया गया है।[1] क्लीवलैंड (Cleveland) ने वाल्टर जी० ग्रेशम (Walter G. Gresham) को परराष्ट्र मन्त्री (Secretary of State) नियुक्त किया, यद्यपि ऐसा समझा जाता था कि वह राष्ट्रपति पद के लिये रिपब्लिकन दल की ओर से प्रत्याशी के रूप में खडा होगा। थियोडोर रूजवेल्ट (Theodore Roosevelt) एव टाफ्ट (Taft) दोनो ने युद्ध मन्त्रियो के पदो पर डेमोक्रेटिक दल के व्यक्तियो को नियुक्त किया, और राष्ट्रपति हूवर (Hoover) ने डेमोक्रेटिक दल के महान्यायवादी (Attorney General) को नियुक्त किया। इस सम्बन्ध में दो अन्य प्रसिद्ध उदाहरण उपस्थित किये जा सकते हैं राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने हैनरी एल० स्टिमसन (Henry L. Stimson) को युद्ध मन्त्री चुना और फ्रेंक नाक्स (Frank Knox) को १९४० में नौ-सेना मन्त्री (Secretary of Navy) बनाया यद्यपि दोनो ही प्रमुख रूप से रिपब्लिकन दल के सदस्य थे, और फ्रेंक नाक्स तो चार वर्ष पूर्व उपराष्ट्रपति के पद के लिए अपने दल की ओर से प्रत्याशी के रूप मे खडा किया गया था।

जहाँ राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल का निर्माण करता है, वह उसको अपनी इच्छा से हटा भी सकता है। यह ठीक है कि राष्ट्रपति की पसन्द पूर्ण स्वच्छन्द नही है जैसा बहुत से लोग अक्सर सोचते हैं। दल की आवश्यकताओ का अकुश उसके ऊपर लगा रहता है। भौगोलिक प्रतिनिधित्व, अनुभव एव इसी प्रकार के अनेको विचारो एव प्रभावो को इस सम्बन्ध में सामने रखना पडता है। विल्सन (Wilson) को बाध्य होकर ब्रायन (Bryan) को उन्ही कारणो से परराष्ट्र मन्त्री बनाना पडा, जिनसे बाध्य होकर ग्लैड्स्टन (Gladstone) ने १८८० में चेम्बरलेन (Chamberlain) को अपने मन्त्रिमण्डल में लिया था, और लार्ड पामर्सटन (Palmerston) को बाध्य होकर अपनी केबिनेट में कोबडन (Cobdon) को लेना पडा था। किन्तु जहाँ विल्सन के एक बार पैर जमे कि उसने बिना किसी परेशानी उठाये ब्रायन (Bryan) को अपदस्थ कर दिया। ऐसा सयुक्त राज्य अमेरिका में ही सम्भव है क्योकि अमेरिका में इगलैंड की तरह मन्त्रिमण्डलीय-सकट (Cabinet Crisis) की कोई सम्भावना नही होती। लिंकन और विल्सन जैसे शक्तिशाली राष्ट्रपतियो की बात तो दूर रही, कम प्रभुत्व वाले

---

[1] वाशिंगटन ने जेफरसन (Jefferson) को परराष्ट्रमन्त्री बनाया और हैमिल्टन (Hamilton) को अर्थमन्त्री बनाया। किन्तु शीघ्र ही अनबन प्रारम्भ हो गई और यह सोचा जाने लगा कि विभागों के अध्यक्ष पद ऐसे लोगों को सौंपे जायें, जो समान राजनीतिक विचारधारा के समर्थक हों।

राष्ट्रपति भी अपनी केबिनेट के किसी सदस्य को अपदस्थ कर सकते हैं जिस प्रकार कि राष्ट्रपति आर्थर ने ब्लेन (Blaine) को अपदस्थ कर दिया, यद्यपि ब्लेन रिपब्लिकन दल का सर्वाधिक लोकप्रिय एव सशक्त नेता था। इससे हम इसी स्पष्ट निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सयुक्त राज्य अमेरिका में केबिनेट, राष्ट्रपति के हाथो मे खिलौना मात्र है। केबिनेट राष्ट्रपति के हाथो में एक उपकरण मात्र है और उसके सदस्यो अर्थात् मन्त्रियो के सम्बन्ध में तो इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि राष्ट्रपति किसी मन्त्री को उतनी ही सरलता से किसी भी क्षण अपदस्थ कर सकता है जिस प्रकार कि वह उसे मत्री नियुक्त कर सकता है।

केबिनेट की उपयोगिता (Utility of the Cabinet)—फिर भी केबिनेट का प्रभाव और महत्त्व है। आज भी अनेको राजनीतिज्ञ मन्त्रिमण्डल के सदस्य होने की उत्कट अभिलापा रखते हैं।[1] यद्यपि हर एक प्रशासन में मन्त्रिमण्डल का अलग-अलग गौरव और प्रभाव रहता है फिर भी मन्त्रिमण्डल की बैठक कम से कम सप्ताह में एक वार अवश्य होनी चाहिये, और यह दो प्रकार के कार्य सम्पन्न करता है। प्रथमत शासन की विस्तृत नीतियो पर विचार होता है। राष्ट्रपति चाहे, तो प्राय, अपने मन्त्रिमण्डल से शीर्ष नीति (Top Policy) पर मन्त्रणा कर सकता है। राष्ट्रपति अपने मन्त्रियो की सलाह मानने पर वाध्य नही है, फिर भी वाद-विवाद से लाभदायक जानकारी और राय का पता चल जाता है, विचार स्पष्ट होते हैं और इससे प्रशासन की नैतिक अवस्था (Morale) में सुधार होता है। मन्त्रिमण्डल के विचार-विनिमय के फलस्वरूप राष्ट्रपति को उत्साह तथा वल मिलता है, और इस प्रकार वह जन सावारण के प्रति अधिक उत्तरदायी हो जाता है। किन्तु अमेरिका के मन्त्रिमण्डल का मूल्याकन करते समय यह नही भूलना चाहिए कि यह राष्ट्रपति के परामर्शदाताओ का एक निकाय है। यह सहयोगी मन्त्रियो की मन्त्रणा परिषद् (Council of Colleagues) नही है, जिसके साथ राष्ट्रपति को काम करना आवश्यक हो अथवा जिनकी सहमति पर वह किसी प्रकार आश्रित हो। प्रोफेसर लास्की के मतानुसार "अमेरिका की केबिनेट में जो वाद-विवाद होते हैं उनमें राष्ट्रपति मन्त्रियो के विचार तथा मत एकत्रित करता है और उनसे अपने विचारो को स्पष्टता देता है किन्तु इस विचार-विनिमय के फलस्वरूप सामूहिक निर्णय (Collective Decision) का प्रयत्न नही किया जाता।[2]

---

[1] इस सम्बन्ध में प्रोफेसर ब्रोगन (Brogan) ने एक वात वतलाई जो उनकी आँखों के सामने हुई। वह लिखता है, "१९४८ के अन्त में मैं एक वाद-विवाद में मौजूद था। जिसमें मि० ट्रूमैन (Truman) अपनी नई केबिनेट की घोपणा करने वाले थे। प्रस्ताव किया गया कि मि० डीन अचेसन (Dean Acheson) परराष्ट्रमन्त्री होंगे और उसी समय आपत्ति उठाई गई कि अचेसन ने परराष्ट्र उपमन्त्री (Under Secretary of State) का पद इस कारण छोडा था कि वह उस पद पर काम करने में असमर्थ हैं। अचेसन के एक मित्र ने कहा, "वह परराष्ट्र उपमन्त्री के पद पर काम करने में असमर्थ था किन्तु परराष्ट्र मन्त्री के पद पर सभी काम करने में समर्थ हो सकते हैं।"

[2] The American Presidency, p 92

दूसरे प्रकार के काम जो मन्त्रिमण्डल करता है वे साधारण और नैत्यक (Routine) हैं। राष्ट्रपति विभिन्न विभागो के क्रिया-कलापो में समन्वय उत्पन्न करता है, अन्त.विभागीय विवादो का निर्णय करता है जो इतने विशाल और उलझे हुए प्रशासन मे होने अनिवार्य हैं। इन विवादो के सम्बन्ध में राष्ट्रपति यह करता है कि वह अलग-अलग विभागीय अध्यक्षो एव एजेन्सी अध्यक्षो (Agency Chiefs) से मिलता है , उनकी शिकायतो एव कठिनाइयो को सुनता है और फिर मन्त्रिमण्डल को आदेश देता है कि सम्यक् समन्वय (Co-ordination) स्थापित किया जाय। इसलिये मन्त्रिमण्डलो के सम्मेलन एव वाद-विवादो के फलस्वरूप विभागीय मतभेद और भ्रम दूर हो जाते हैं।

प्रशासनिक सघटन

(Administrative Organisation)

सविधानिक एव परिनियत उपबन्ध (Constitutional and Statutory Provisions)—अमेरिका का सविधान, प्रशासन की रचना के सम्बन्ध मे पूर्ण मौन है। सविधान में केवल यह लिखा है—"राष्ट्रपति प्रत्येक कार्यपालिका विभाग के मुख्य पदाधिकारी का, उसके पद के कर्त्तव्य से सम्बद्ध विषय के ऊपर लिखित रूप में मत प्राप्त कर सकता है।" सविधान मे यह भी लिखा है कि "विधि द्वारा कांग्रेस छोटे अधिकारियो की नियुक्ति का अधिकार केवल राष्ट्रपति को दे सकती है, अथवा न्यायालयो को दे सकती है अथवा विभागीय अध्यक्षो को सौंप सकती है।" इसी अस्पष्ट एव अपुष्ट (Slender) आधार पर कांग्रेस ने विभागो, आयोगो (Commissions) एव अन्य सघीय सत्ताओ (Authorities) की रचना की है। इसलिये केन्द्रीय शासन की विस्तृत प्रशासनिक व्यवस्था अधिकतर कांग्रेस द्वारा पारित विधियो पर आधारित है। किन्तु विभागो के सघटन में एकरूपता का अभाव है। इसका कारण यह है कि कांग्रेस के पास काम अत्यधिक है, अतएव वह उन्ही कार्यो को करती है जो तात्कालिक आवश्यकता के होते हैं। अमरीका की प्रशासनिक शासन-व्यवस्था बिखरी हुई है, न कि जुडी हुई और पूर्ण।

कांग्रेस ने अपने प्रथम अधिवेशन में जो १७८९ मे हुआ था, परराष्ट्र विभाग (Foreign Affairs, subsequently changed to State), युद्ध विभाग (War), और अर्थ विभाग (Treasury) की रचना की। प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष एक मन्त्री (Secretary) बनाया गया, जिसकी नियुक्ति राष्ट्रपति करता था। प्रथम कांग्रेस ने पोस्टमास्टर जनरल (Postmaster General) का पद तथा महान्यायवादी (Attorney General) का पद स्थापित किया, किन्तु इन विभागो को कार्यपालिका विभागो का दर्जा (Status) नहीं दिया गया। कुछ वर्षों के बाद नौसेना विभाग (Navy Department) की रचना की गई और गृह विभाग (Interior Department) की रचना सयुक्त राज्य सघ की स्थापना के ६० वर्ष बाद हुई। कृषि विभाग (Agriculture Department)

फिर ४० वर्ष बाद स्थापित हुआ और १८८९ में आठ विभाग थे और दो आयोग (Commissions) थे। उसके बाद अगले ५० वर्षों में दो विभाग और बढे, तीन एजेन्सियाँ (Agencies) और बढी जो प्राय विभागों के समकक्ष ही हैं, और इनके अतिरिक्त ५० से अधिक स्वतत्र सस्थापन (Independent Establishments) स्थापित हुए। आजकल शासन के कार्यपालिका विभाग में दस विभाग हैं, २० सरकारी सघ अथवा निगम (Government Corporations) हैं, और ५० अथवा इससे भी अधिक स्वतन्त्र एजेन्सियाँ (Agencies) हैं, "जिनमें सब मिलाकर २,००० से अधिक ब्यूरो (Bureaus), डिवीजनें (Divisions), प्रशासनिक शाखायें (Branches), कार्यालय (Offices), सर्विसें (Services) और अन्य उप एकक (Sub-units) हैं।"

विभागीय अध्यक्ष (Departmental Heads)—प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष एक सेक्रेटरी अथवा मन्त्री (Secretary) है किन्तु पोस्ट आफिस विभाग का अध्यक्ष पोस्टमास्टर जनरल कहलाता है और न्याय विभाग का अध्यक्ष महान्यायवादी (Attorny General) कहलाता है। यह मन्त्रीगण मन्त्रिमण्डल (Cabinet) के भी सदस्य होते हैं और इस प्रकार वे सीधे राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी हैं। ये मन्त्री मुख्य रूप मे राजनीतिक अधिकारी हैं जो व्हाइट हाऊस (White House) में अधिकारारूढ पक्ष (Party in Power) की नीति अभिव्यक्त करते हैं। यदि राष्ट्रपति विरोधी दल में से भी कोई मन्त्री चुन लेता है, तो वह ऐसा ही व्यक्ति होता है जो राष्ट्रपति का मित्र हो और उसकी नीति के प्रति मित्र भाव रखता हो। विभाग का अध्यक्ष प्रशासक भी है और न्याय व्यवस्थापक भी। कांग्रेस के अधिनियमो द्वारा उसके कर्त्तव्यो की स्पष्ट व्याख्या की गई है। विधि की निष्ठापूर्वक क्रियान्विति के लिये वह राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी है। किन्तु राष्ट्रपति को यह अधिकार नही है कि वह अपने मन्त्री के परिनियत दायित्वो (Statutory Obligations) में हेर फेर कर दे अथवा कमी करदे अथवा कांग्रेस को मना करदे कि वह उन दायित्वो का इस प्रकार सूत्रीकरण न करे कि व्यर्थ काल-क्षेप हो।

मन्त्रियो के अधिकार और कर्त्तव्य (Their Powers and Duties)—विभागीय अध्यक्ष की शक्तियो एव कर्त्तव्यो की व्याख्या करते हुए भूतपूर्व अर्थमन्त्री जॉन शेरमन (John Sherman) ने कहा था, "सविधान और विधियो ने राष्ट्रपति को महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्रदान की है किन्तु इसी प्रकार विधि ने विभागीय अध्यक्षो को भी वे ही शक्तियाँ एव अधिकार प्रदान किये हैं। जो शक्तियाँ विधि ने विभागीय अध्यक्षो को सौंपी हैं उन पर राष्ट्रपति उसी प्रकार नियन्त्रण नही रख सकता जिस प्रकार विभागीय अध्यक्ष राष्ट्रपति के ऊपर उसके कर्त्तव्यो के निर्वहन के सम्बन्ध में कोई नियन्त्रण नही लगा सकते। यदि कोई विभाग अध्यक्ष अपने कार्यों मे जी चुराता है तो उसको या तो राष्ट्रपति वियुक्त (Remove) कर सकता है अथवा उसको सार्वजनिक दोषारोपण के द्वारा भी हटाया जा सकता है। किन्तु विधि ने जो स्वविवेक अधिकार (Discretion) शासन के विभागीय अध्यक्ष अथवा अधीन कर्मचारी वर्ग

को दिया है उस पर राष्ट्रपति किसी प्रकार का नियन्त्रण नही लगा सकता।"[1] किन्तु वास्तविक स्थिति यह नही है। जैसा कि वर्णन किया जा चुका है, राष्ट्रपति समस्त प्रशासन का सचालक है। उसको वियुक्त (Removal) करने का अधिकार है, और विधियो ने भी उसको महान् स्वविवेकी शक्तियाँ प्रदान की हैं जिनके बल पर उसके पास अनेको तरीके हैं और वह अपने मन की बात करा सकता है। सिद्धान्त रूप में चाहे कुछ भी कहा जाय किन्तु राष्ट्रपति की शक्तियो का रहस्य व्यवहार में निहित है।

जैसा कि पहले भी बताया गया था, विभाग का अध्यक्ष न्याय-व्यवस्थापक (Legislator) भी है, क्योकि किसी हद तक वह अपने अधीनस्थ विभाग के सम्बन्ध में आज्ञाये जारी करने की स्वतन्त्रता का उपभोग करता है। कांग्रेस द्वारा सामान्य अधिनियम पास किये जाने पर "वह ऐसे विनियम (Regulations) भी पास कर सकता है जो विधि के प्रतिकूल न पडते हो और जिनका प्रयोग वह अपने विभागीय शासन में, विभाग के अधिकारियो और लिपिक वर्ग (Clerks) के निर्वाह एव मार्ग-प्रदर्शन के लिए, विभाग के समस्त कार्य-व्यापार को ठीक-ठीक बाँटने के लिए, और विभाग के अभिलेख (records), पत्रो, और सम्पत्ति की सुरक्षा, उपयोग एवं आपत्ति से रक्षा करने के लिए कर सके।" इतने विस्तृत उपबन्धो के होते हुए भी कभी कभी उसको विधान (Legislation) द्वारा किसी-किसी विशिष्ट सम्बन्ध में अध्यादेश (Ordinances) जारी करने की भी शक्ति मिल जाती है।

किसी विभाग का मन्त्री (Secretary) विधान निर्माण के ऊपर भी अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डाल सकता है। वह प्रतिवर्ष कांग्रेस के पास अपने विभाग के क्रिया-कलापो के सम्बन्ध में स्पष्ट एव निरूपित रिपोर्ट भेजता है। उसको प्राय कांग्रेस की विविध समितियो के सम्मुख भी उपस्थित होना पडता है जहाँ वह कांग्रेस के समक्ष विचारार्थ उपस्थित विधान के सम्बन्ध में स्पष्ट अर्थ बता सके, माँगी हुई समस्त सूचनाएँ दे सके तथा उस सम्बन्ध में प्रश्नो का उत्तर दे सके। कभी-कभी मन्त्री लोग उन सीनेट सदस्यो अथवा प्रतिनिधियो को पत्र भी लिख देते हैं जिनके साथ उनका राजनीतिक सादृश्य (Political affinities) हो, उन पत्रो मे वे विचारार्थ विषयो के विरोध अथवा समर्थन पर बल देते हैं। और वे कभी-कभी तो अपने ही विचारार्थ-प्रस्ताव पर (Motion) कांग्रेस के समक्ष विस्तृत विधेयक का प्रारूप उपस्थित करते हैं, जिसको वे विधि के रूप में पास कराना चाहते हैं।"[2]

इस सम्बन्ध मे अन्तिम बात यह है कि बहुत से विभागीय अध्यक्ष ऐसी शक्तियो का भी उपभोग करते हैं जो न्यायिक हैं। शासन के क्रिया-कलापो में अपार वृद्धि हो जाने के कारण और अधीनस्थ विधान निर्माण तथा नियमो एव विनियमो की रचना सम्बन्धी शक्तियो के कारण यह आवश्यक समझा गया है कि कतिपय विभागीय

---

[1] Beard, Charles : American Government and Politics, p 233

[2] Beard C. A American Government and Politics, p 234

अध्यक्षो को अधिकार दे दिया जाय कि वे अधीनस्थ निम्न प्रशासनिक विभागो से आये हुए मामलो की अपील सुनें और उन पर अपना निर्णय दें।

विभाग की सघटित सरचना (Organisational Structure of a Department)—यद्यपि आकार के हिसाब से सब विभाग विभिन्न हैं किन्तु आभ्यन्तरिक सघटन में सभी विभागो में कुछ समानता पाई जाती है। केवल दो विभागो को छोड, अन्य प्रत्येक विभाग में एक उप-सचिव (Under Secretary) रहता है जो प्रशासनिक उत्तरदायित्व का भारी भाग मन्त्री के कन्धे से अपने ऊपर ले लेता है, और कभी-कभी वह मन्त्री के स्थान पर भी कार्य करता है। प्राय सभी विभागो मे एक से लेकर चार तक सहायक सचिव (Assistant Secretaries) रहते हैं, जो विभाग के प्रशासनिक कार्य का पर्यवेक्षण करते हैं। इसके अतिरिक्त प्रशासक अथवा प्रवन्धक (administrators), सचालक (Directors) एव आयुक्तगण (Commissioners) होते हैं जो विभिन्न प्रशासनिक कार्यालयो (agencies) को सचालित करते हैं, तथा जो प्राय राजनीतिक-पद-भोक्तागण ("Political appointees") हैं और जो पदावधि समाप्त होने वाले राष्ट्रपति के साथ अपने-अपने पदो से वियुक्त हो जाते हैं, अथवा ज्यो ही विधि के अनुसार उनके पद की पदावधि समाप्त हो, वे हट जाते हैं।[1]

विभागो का पुन विभागीकरण इस प्रकार होता है ब्यूरो (Bureaus), सर्विसेज़ (Services), आफिसेज (Offices), और डिवीज़न (Divisions)। इस विभागीकरण के आधार में अन्तर हो सकता है किन्तु मुख्य आधार "कर्त्तव्य" (Functions) हैं और वास्तव में उन विभिन्न उप-विभागो में इतना अन्तर नही है, जितना कि उनके विभिन्न नामो से जान पडता है। दूसरे शब्दो मे एक विभाग का ब्यूरो (Bureau) कामो और आकृति में दूसरे विभाग के डिवीज़न (Division) के समान हो सकता है। यह भी हो सकता है कि किसी विभाग का आफिस (Office) एव किसी अन्य विभाग का सर्विस (Service) केवल नाम मात्र को ही विभिन्न हो सकती हैं। सभी विभाग पुन सेक्शनो (Sections) में विभाजित किये गये हैं, जो अपने-अपने विनिर्दिष्ट कर्त्तव्य करते रहते हैं।

शासन की समस्त सेवाओ मे सघीय सेवको के वर्ग

(Classes of Federal Employees in the Executive Service)

दो प्रकार की नियुक्तियाँ (Two types of Appointments)—जिन सेवको को प्रशासनिक कर्त्तव्य करने पडते हैं, उनको दो भागो में बाँटा जा सकता है। राजनीतिक पद-भोक्तागण (Political Appointees) और वे लोग जो कार्यपालिका सिविल-सर्विस से सम्बन्धित हैं। सेक्रेटरी (Secretaries), उप-सचिव (Under Secretaries), सहायक सचिव (Assistant Secretaries), ब्यूरो के प्रधान

---

[1] आयुक्तगण (Heads of Commissions) प्राय चार या छ वर्ष की पदावधि के लिए नियुक्त किये जाते हैं और प्राय वे नियुक्त पदावधि तक काम करते रहते हैं।

(Bureau Chiefs), डिवीजनो के प्रधान (Division Heads), तथा बोर्डों के एव आयोगो के सदस्यगण (Members of the Boards and Commissions), इनकी गिनती उन २½ मिलियन अथवा २५ लाख स्त्री और पुरुषो में थोडी ही है जो राष्ट्रीय शासन में विभिन्न सिविल (Civil) पदो पर कार्य करते हैं। सघीय शासन ने प्रारम्भ में केवल ३०० सिविल सेवक (Civil Servants) रखे थे और एक सौ वर्षों के बाद उन्ही सेवको की सख्या १५ लाख हो गई। युद्धकाल मे यह सख्या ३० लाख तक पहुँच गई थी। १९५० में यह सख्या घटकर २० लाख के लगभग (१,९६६, ४४४) हो गई, किन्तु अब फिर यह सख्या २० लाख से ऊपर है।

स्पॉइल सिस्टम (The Spoil System)—एक पीढी से भी अधिक काल तक प्रशासनिक अधिकारियो एव सेवकों का चुनाव एव उनकी नियुक्तियां योग्यता के आधार पर उसी परम्परा के अनुसार होती रही जो राष्ट्रपति वाशिंगटन ने स्थापित की थी। किन्तु राजनीतिक दलो के विकास के साथ जब कोई स्थान रिक्त होता था अथवा जब कोई नये पदो का सृजन होता था तो उनके लिए नियुक्ति करते समय राजनीतिक विचारो को विशेष महत्त्व दिया जाता था, योग्यता को कम। किन्तु इन विचारो का प्रभाव केवल उन्ही २५ प्रतिशत सेवको की नियुक्तियो पर पडता था जो सीधे राष्ट्रपति के नियन्त्रण में थी। दलगत निष्ठा के कारण बहुत अधिक लोगो को वियुक्त भी नही किया गया। हाँ, राष्ट्रपति जेफरसन (Jefferson) के राष्ट्रपति शासनकाल के प्रथम दो वर्षों में थोडे से व्यक्ति अलग किये गये थे। किन्तु १७८९ से १८२९ तक का काल 'सुयोग्य प्रशासन का काल (Period of Relative Administrative Efficiency) कहा जाता है।

किन्तु ज्योही एन्ड्रू जैक्सन राष्ट्रपति हुआ, नियुक्तियो के सम्बन्ध में समस्त सिद्धान्त एव समस्त व्यवहार बदल गये। जब नये राष्ट्रपति ने ४ मार्च १८२९ को अपना पद सँभाला तो उसने पाया कि अनेको राष्ट्रीय महत्त्व के पदो पर राजनीतिक विरोधी दल के सदस्य अधिकार किये बैठे है। उसी वर्ष के दिसम्बर में कांग्रेस को भेजे गए अपने प्रथम सन्देश में एन्ड्र जैक्सन ने सिफारिश की कि नियुक्तियां चार वर्ष की अवधि से अधिक के लिये न की जायँ। प्रो० ऑग (Prof Ogg) के अनुसार "१८२० के पदावधि अधिनियम (The Tenure of Office Act of 1820) ने स्पाइल सिस्टम (Spoils System) के लिए मार्ग साफ कर दिया क्योकि इसके द्वारा जिला न्यायवादी अधिकारियों तथा सीमा शुल्क अधिकारियो (District Attorneys, and Collectors of Customs) के लिए एव अन्य प्रकार के अधिकारियो के लिए चार वर्ष की पदावधि निश्चित हो गई, जिसके द्वारा प्रत्येक नये राष्ट्रपति को बहुत से नये पदो पर नियुक्तियाँ करने का अवसर मिल गया और अब यह कारण ज्ञात करने की आवश्यकता नहीं रह गई थी कि उन्ही पदो पर से योग्य पदाधिकारियो को क्यो हटाया जा रहा है।"[1]

अपने प्रथम वार्षिक सन्देश में राष्ट्रपति एन्ड्रू जैक्सन ने कांग्रेस के सम्मुख चार कर्त्तव्य निर्देश किये प्रथमत कोई भी साधारण योग्यता एव परिश्रमशीलता का व्यक्ति किसी भी सार्वजनिक पद के कर्त्तव्य-निर्वहन के योग्य हो सकता है, द्वितीयत यदि उन्ही पदो पर वही व्यक्ति बने रहेंगे तो इससे उनके अनुभव से लाभ कम है किन्तु हानि अधिक, और तृतीयत पिछले दिनो में समुद्र तटीय राज्यो के व्यक्तियो को अधिकतर पद मिलते रहे हैं। "नए राष्ट्रपति ने विरोधी अधिकारियो को एक दम ही नही अलग कर दिया। फिर भी समस्त नई नियुक्तियो पर अपने दल के ही व्यक्ति लिये गये और इसके अतिरिक्त अपनी पदावधि के प्रथम वर्ष में ही उसने ७०० के लगभग अधिकारी वियुक्त कर दिये। इससे पूर्व कभी इतनी सख्या में अधिकारी एक ही वर्ष में नही निकाले गये थे।"

राष्ट्रपति जैक्सन के लिए प्राय यह चुटकुला (Epigram) कहा जाता है जीतने वाले की लूट-खसोट माफ (To the Victors belong the Spoils)। यह चुटकुला सीनेट सदस्य विलियम एल० मरसी (Willian L Mercy) ने १८३२ मे प्रयुक्त किया था, किन्तु ज्योंही यह चुटकुला मरसी (Mercy) के मुँह से निकला कि सभी की जुबानो पर यही चुटकुला रहने लगा। इस चुटकुले ने जैक्सन के समर्थको के दृष्टिकोण को सब की निगाहो में नीचा कर दिया। और अब निश्चित रूप से "नई नियुक्तियाँ तथा वियुक्तियाँ (Removals) राष्ट्र में, राज्य में एव नगर में दलगत निष्ठा के आधार पर होने लगी थी और यह व्यवस्था लगभग मान्य-सी हो चली थी।" १८२९ से लेकर गृह-युद्ध की समाप्ति तक स्पॉइल सिस्टिम (Spoils System) खूब फला-फूला। पदो के भ्रष्टाचार (Jobspoils) के साथ-साथ अन्य भ्रष्टाचार भी फैले जैसे ठेके (Contracts), रिश्वत खोरी (Grafts) आदि आदि। गृहयुद्ध के काल में लोकमत, स्पाइल सिस्टिम (Spoils System) से सम्बन्धित कुछ उग्रतम भ्रष्टाचारो के विरुद्ध हो गया और जब एक निराश पदसाधक (Office Seeker) के हाथो राष्ट्रपति गारफील्ड की हत्या हो गई, तो इससे लोकमत इतना उभरा जितना कि स्पॉइल सिस्टम की बुराइयो के कारण पहले कभी नही उभरा था। यद्यपि स्पॉइल सिस्टम (Spolis System) पूरी तरह से अब भी नष्ट नही हुआ है,[1] फिर भी इस दिशा में गृह-युद्ध के बाद बीस वर्षो में महत्त्वपूर्ण सुधारो का प्रस्ताव हुआ और वे स्वीकृत हो गये।

सिविल सर्विस में सुधार (Civil Service Reform)—गृह-युद्ध के पूर्व भी कुछ सुधारवादी विभागो ने प्रयत्न किया था कि नौकरी के इच्छुक व्यक्तियो को पदो पर नियुक्त करने के लिए परीक्षा का सहारा लिया जाय। १८५३ तथा १८५५ के तत्सम्बन्धी अधिनियमो ने निश्चित किया कि लिपिक वर्ग (Clerks) की चार श्रेणियाँ होगी और उन सब के लिए वेतन-क्रम निर्धारित कर दिये। किन्तु इस सुधार

---

[1] आज भी कुछ पद योग्यता के आधार पर भरे जाते हैं फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि उनको समान योग्यता वाले [illegible] नहीं मिल रहे हैं। कुछ लोगों को विधि द्वारा प्रतियोगी परीक्षा से मुक्त कर दिया गया है।

से भी इस दिशा में पर्याप्त लाभ नही हुआ। राष्ट्रपति ग्राट के प्रशासन काल मे १८७१ में कांग्रेस के एक अधिनियम के द्वारा राष्ट्रीय सिविल सर्विस आयोग (National Civil Service Commission) की स्थापना हुई जिसने प्रत्याशियो की इच्छित पद के योग्य योग्यता जाँचने के लिए एक प्रतियोगी परीक्षा की विस्तृत व्यवस्था की। १८७२ में प्रथम प्रतियोगी परीक्षा (Competitive Examination) हुई किन्तु नियुक्तियो के अभाव में अथवा उपयुक्त प्रत्याशियो के अभाव में (Lack of Appropriations) राष्ट्रपति को बाध्य होकर १८७५ में यह व्यवस्था त्यागनी पडी।

जुलाई १८८१ में राष्ट्रपति गारफील्ड की हत्या करदी गई। इसके कारण १८८३ में पॅण्डिलटन अधिनियम (Pendleton Act of 1883) पास किया गया। यही अधिनियम अब भी वह मौलिक विधि है जिसके आधार पर समस्त अधिशासी सिविल सर्विस (Executive Civil Service) के लिए नियुक्तियाँ की जाती हैं। इस अधिनियम ने उपबन्धित किया है कि तीन सदस्यो का एक सिविल सर्विस आय्योग (Civil Service Commission) होगा जिसमें एक दल के दो सदस्यो से अधिक न होगे और जिसकी नियुक्ति सीनेट के अनुमोदनसहित राष्ट्रपति करेगा। यह कमीशन प्रतियोगी परीक्षा द्वारा नियुक्तियाँ करेगा। राजनीतिक निष्ठा के कारण किसी के साथ भेद-भाव नही वरता जायगा। यद्यपि नियुक्तियाँ अब भी राष्ट्रपति या विभागीय अध्यक्ष ही करते हैं किन्तु नियुक्ति केवल उन्ही प्रत्याशियो में से किसी की हो सकती है जो कमीशन की सफल प्रत्याशियो की सूची में प्रथम चार स्थान प्राप्त करते हैं। इस अधिनियम ने राष्ट्रपति तथा कांग्रेस के हाथो में वर्गीकृत सेवाओ का फैलाव (Extension) छोड दिया। ये वे सेवक हैं जो नियमानुकूल-योग्यता के आधार से सुरक्षित रखे जाते हैं। दूसरे शब्दो में इस अधिनियम ने कुछ पदो की नियुक्तियाँ तो योग्यता के आधार पर उपबन्धित की और कुछ अन्य राष्ट्रपति एव कांग्रेस की इच्छा पर छोड़ दी गई। इन सेवाओ में इस प्रकार के फैलाव समय-समय पर या तो अधिनियम द्वारा या कार्यपालिका की किसी आज्ञा के द्वारा होते रहे है। उदाहरणस्वरूप १९३८ के अधिनियम द्वारा प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के पोस्टमास्टर वर्गीकृत सेवा में माने जाते हैं और उसी वर्ष की दो अन्य कार्यपालिका आज्ञाओ ने जिनको राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने निकाला था, सेवाओ का और अधिक फैलाव सम्भव कर दिया है। इन आज्ञाओ मे कहा गया कि शासन-विभाग में वे समस्त पद जो वर्गीकृत सेवाओ में नही माने जाते, उनको फर्वरी[1] १९३९ से वर्गीकृत सेवाओ में मान लिया जाय। इस आज्ञा में वे नियुक्तियाँ सम्मिलित नही होगी जिनको विधि ने सिविल सर्विस कमीशन के अधिकार से ले लिया है और जिनके लिए सीनेट का अनुमोदन आवश्यक माना गया है।

योग्यता के आधार से विमुक्त नियुक्तियाँ (Appointments exempt from Merit System)—प्रारम्भ में यह सुधार सुदूरगामी नही था और इसका प्रभाव १४,००० पदो से अधिक पर नही पडा। किन्तु शताब्दी के अन्त तक प्रभावित पद-

---

[1] Zink, H.. Government and Politics, p 522.

सेवियों की संख्या में पर्याप्त वृद्धि हो गई और १९३७ तक तो समस्त पदों में से ६० प्रतिशत से अधिक पद सिविल सर्विस कमीशन के क्षेत्राधिकार में आ गये। रैम्सपैक एक्ट (Ramspeck Act) के अनुसार, जो पहली जनवरी १९४२ से प्रभावी हुआ, बहुत से न्यू डील (New Deal) के पद भी जो अब तक योग्यता के आधार (Merit System) से अलग थे, अब सिविल सर्विस कमीशन के अधिकार क्षेत्र में आ गये। इसका प्रभाव लगभग १,००,००० पदों से अधिक पर पड़ा।[1] उस समय सिविल सर्विस कमीशन के सभापति ने घोषणा की कि राष्ट्रीय सरकार ने सेवकों में से ८० प्रतिशत से अधिक सेवकों के पद प्रतियोगिता के आधार पर भरे हैं।

सिविल सर्विस सुधारवादी संघ (Civil Service Reform League) ने १३९७ में स्पष्ट कहा था कि इस दिशा में सुधार करने के प्रयत्नों में कांग्रेस अड़गा लगाती है। उस संघ ने आगे कहा कि जब कभी कांग्रेस ने अतिरिक्त पदों के सृजन करने की वैधिक आज्ञा प्रदान की है, तो कभी उन पदों को वर्गीकृत पद घोषित नहीं किया है। ऐसे उदाहरण उस समय अति स्पष्ट प्रतीत होते थे जब कोई दल बहुत दिनों अधिकार-शून्य रहने के बाद अकस्मात् कांग्रेस में अधिकार-युक्त हो जाता था। उदाहरणस्वरूप जब १८८५, १९१३ और १९३३ में डेमोक्रेटिक दल सत्तारूढ़ हुआ, अथवा जब १८९७ और १९०१ में रिपब्लिकन दल सत्तारूढ़ हुआ था।[2] १९३३ में रूजवेल्ट राष्ट्रपति बना और उसके बाद उसकी न्यू डील (New Deal) नीति ने योग्यता प्रतियोगिता (Merit System) को गहरा आघात पहुँचाया। १२ वर्ष की अधिकार-शून्य अवधि के बाद डेमोक्रेटिक दल सत्तारूढ़ हुआ था, "और उस दल के सभी आम व खास व्यक्ति (Rank and File) पदों के भूखे थे।" आर्थिक पुनरुद्धार से सम्बन्धित बहुत सी नई एजेन्सियों के कार्यालय (Agencies) खुले। इसके फलस्वरूप अनेकानेक नये पद सृजित हुए। उन नये पदों में से अधिकतर पदों को कांग्रेस ने नये प्रत्याशियों के लिए योग्यता-प्रतियोगिता की शर्त से मुक्त कर दिया, और इस प्रकार स्पॉइल्स प्रथा (Spoils system) के लिए मार्ग साफ कर दिया। राष्ट्रपति ने अपनी प्रथम आज्ञा में, जैसा कि अभिलेख से ज्ञात होता है, वर्गीकृत सेवाओं में से ऐसी सेवाओं को निकाल लिया जैसे विदेशी एवं गृह वाणिज्य के ब्यूरो कार्यालयों से सम्बन्धित सेवाएं (Bureau of Foreign and Domestic Commerce) जिनको रूजवेल्ट के पूर्ववर्ती राष्ट्रपतियों ने वर्गीकृत सेवाओं में स्वीकार कर लिया था। इस प्रकार बहुत से पदों को परिनियमों (Statutes) द्वारा योग्यता-प्रतियोगिता से छूट मिल गई और बहुत से पुराने पदों पर स्पॉइल्स प्रथा (Spoils system) के आक्रमण हुए जिनके कारण समस्त सेवाओं की कार्यक्षमता पर बुरा प्रभाव पड़ा। १९३६ के

---

[1] Ogg, F A and Ray, P O Essentials of American Government, p 325

[2] Ibid, p 325

मध्य में समस्त सेवाओ में योग्यता-प्रतियोगिता के आधार पर पूर्त्त होने वाली सेवाओ का अनुपात केवल ६० प्रतिशत रह गया था ।

किन्तु फिर सुधारो के लिए आन्दोलन प्रारम्भ हुआ । १९३७ में राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत प्रशासनिक प्रवन्ध पर सिफारिश करने वाली समिति ने सिफारिश की कि योग्यता-प्रतियोगी सेवाये न केवल उच्च पदो पर वहि पदो (Out-Ward) के लिये आवश्यक कर दी जायें वल्कि छोटे पदो के लिये भी योग्यता-प्रतियोगिता (Merit system) आवश्यक हो जाय ताकि दक्षता प्राप्त (Skilled) कार्यकर्त्ता एवं श्रमिक वर्ग भी वर्गीकृत सेवाओ मे मान लिये जायें । राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी कांग्रेस को वलपूर्वक कहा कि सिवाय कुछ थोडे से नीति-निर्णायक पदो के अन्य सभी पदो पर योग्यता-प्रतियोगिता के आधार पर नियुक्तियाँ हो । १९३८ में राष्ट्रपति ने न्यू डील (New Deal) सम्वन्धी उन सभी पदो को जो नीति-निर्धारण से सम्वन्ध नही रखते थे, वर्गीकृत सेवाओ (Classified Service) में मान लिया । वाकी सव कमी रैम्सपैक अधिनियम (Ramspeck Act) ने पूरी कर दी । इस अधिनियम ने राष्ट्रपति को अधिकार प्रदान किया कि वह अपने विवेकानुसार सभी पदो को वर्गीकृत सेवाओ में सम्मिलित कर सकता है, केवल उन पदो को छोडते हुए जिन पर राष्ट्रपति को सीनेट के अनुमोदन सहित सीधे नियुक्ति करने का अधिकार है तथा कुछ अन्य ऐसे पदो को छोडते हुए जिनमें किसी विशिष्ट योग्यता व कला की आवश्यकता रहती है । १९५१ में, जिस वर्ष के प्रामाणिक आंकडे भी प्राप्त हैं, ऐसी सेवायें जो योग्यता-प्रतियोगिता के आधार पर चुनी जाती थी समस्त सेवाओ के अनुपात में ९२ प्रतिशत थी । इन समस्त विचारो पर निष्कर्ष निकालते हुए ऑग (Ogg) कहता है, "जव हम इस तथ्य पर विचार करते हैं कि १५ वर्ष पूर्व क्या स्थिति थी और अव क्या है, तो हमको मानना पडेगा कि इस देश में प्रशासन की दशा सुधारने के सम्वन्ध में अत्यन्त सफल प्रयत्न किया गया है ।"[1]

Suggusted Readings

Beard, C A	American Government and Politics (1947), Chapter X.
Brogan, D W.	The American Political System (1948), Chapter II.
Corwin, E S.	The President Office and Powers (1948), Chapters III and IV.
Ferguson, J H and M C. Henry, D E.	The American System of Government (1950), Chapters XXI and XXII.

---

[1] Ogg, F A and Ray, P O Essentials of American Government, p 328

जब तक कि व्यवस्थापिका के एक भाग में उनका पुराना स्तर स्वीकृत न हो जाता, और जिसमें कि वे सघटक राजनीतिक एकक (Constituent Political Units) के प्रतिनिधि के रूप मे स्वीकार न किये जाते। इसके विपरीत, बडे-बडे राज्य जिन्होंने सघ मे सघटित होने का प्रयत्न प्रारम्भ किया था, किसी व्यवस्था को उस समय तक स्वीकार न करते जब तक कि उनको उनकी अधिक जनसख्या के आधार पर उचित आनुपातिक प्रतिनिधित्व न प्राप्त होता। कुछ आर्थिक कारण भी थे। देश का उत्तरी भाग, जो अधिक घना बसा हुआ भाग है मुख्यत उद्योगो और वाणिज्यो का प्रदेश है किन्तु दक्षिणी भाग, जिसमें आबादी कम है, मुख्यत कृषिप्रधान भाग है। व्यवस्थापिका को प्रतिनिधित्व के दो विभिन्न सिद्धान्तो के अनुसार दो सदनो में बाँटना किसी सीमा तक इन विचारो के अनुरूप भी हुआ ताकि दो विभिन्न आर्थिक स्वार्थों को राष्ट्रीय शासन में उचित एकमतता तथा सन्तुलन प्रदान किया जा सके। साथ ही सविधान के निर्माताओ के सम्मुख बहुमत-राज्य का भी डर था और उन्होने सीनेट का इस प्रकार निर्माण किया कि वह प्रजातन्त्र की आँधी (Turbulance of Democracy) से रक्षा करने के लिये सनातन रुकावट करने का माध्यम बनी रहे। यदि लोकप्रिय प्रतिनिधि सदन की पूर्ण परिवर्तनकारी नीति के विरुद्ध आवश्यक रुकावट पैदा करना अभीष्ट था तो फिर उसको प्रतिनिधि सदन से भिन्न होना चाहिए, अर्थात् उसकी रचना में भी एव उसकी शक्तियो में भी विभिन्नता होनी चाहिये। अत कांग्रेस का निर्माण करने मे दो विचार सम्मुख रखे गये—एक तो सभी राज्यो को राजनीतिक एकक मान लिया गया, और दूसरे जनसख्या के आधार पर भी कांग्रेस की सरचना हुई। इस प्रकार सीनेट की रचना राज्यो को एकक मानकर की गई, तथा प्रतिनिधि सदन की रचना जनसख्या के आधार पर की गई। सीनेट का आकार छोटा रखा गया, इसके सदस्यो की पदावधि लम्बे समय तक के लिये रखी गई और इसका चुनाव दूसरी विधि से रखा गया, जिसमें अधिक आयु तथा अधिक लम्बे सवास की योग्यताएँ एव अर्हताएँ रखी गई। सीनेट को कुछ निश्चित अधिकार प्रदान किये गये जिस प्रकार नियुक्तियो में कुछ अधिकार, सन्धियाँ करने में अधिकार एव न्यायिक शक्तियो के उपभोग में अधिकार किन्तु वे अधिकार प्रतिनिधि सदन को प्रदान नही किये गये।

प्रतिनिधि सदन

(The House of Representatives)

सरचना एवं सघटन (Composition and Organization)—सविधान ने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा गया है कि प्रतिनिधियों की सख्या कितनी होनी चाहिये, यह तो अनुच्छेद १, खण्ड २ में केवल इतना ही आदेश देता है कि प्रत्येक तीस हज़ार व्यक्तियो के लिये एक प्रतिनिधि से अधिक नही होगा,[1] और यह भी कहा है कि

---

[1] अनुच्छेद १, खण्ड २.

प्रत्येक राज्य का कम-से-कम एक प्रतिनिधि अवश्य होगा चाहे उसकी जनसंख्या कितनी ही कम क्यो न हो।[1] संविधान ने यह भी उपबन्धित किया है कि चुनाव, लोगो द्वारा प्रति दूसरे वर्ष हुआ करेगा।[2] सविधान में यह भी कहा गया है कि किस समय वा समयो पर, किन स्थानो पर एव किस प्रकार चुनाव हुआ करेगा इसको प्रत्येक राज्य के विधानमण्डल स्वय निश्चित करेंगे किन्तु कांग्रेस किसी भी समय विधि द्वारा इस सम्बन्ध में आवश्यक नियम बना सकती है अथवा पुराने नियमो में परिवर्त्तन कर सकती है।[3]

प्रथम प्रतिनिधि सदन में ६५ सदस्य थे और आजकल इसकी प्रतिनिधि-सख्या सदैव के लिये ४३५ निश्चित कर दी गई है। हाँ, यदि कांग्रेस चाहे तो विधि द्वारा प्रतिनिधियो की समस्त सख्या में परिवर्त्तन हो सकता है। प्रतिनिधि सदन के प्रतिनिधि के लिये निम्नलिखित आवश्यक अर्हताएँ होनी चाहियें : उसकी अवस्था २५ वर्ष से कम की नही होनी चाहिये, वह कम-से-कम सात वर्षों से अमेरिका का नागरिक रहा हो, यह भी आवश्यक है कि वह जिस निर्वाचन-क्षेत्र का प्रतिनिधित्व करता हो, उसका निवासी हो। प्रथा ने प्रतिनिधि के निवास-स्थान के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण अर्हता प्रतिपादित करदी है। सविधान तो केवल वैधिक न्यायानुसार उस राज्य में निवास चाहता है, किन्तु अब प्रथा के अनुसार उसका अर्थ यह लिया जाता है कि वह प्रतिनिधि उसी निर्वाचन-क्षेत्र (Congressional District) का आवश्यक रूप से निवासी हो। निवास-स्थान सम्बन्धी नियम का प्रथा के अनुसार पूरा पालन किया जाता है और इस सम्बन्ध में कोई रियायत नही की जाती।

निर्योग्यताएँ (Disqualifications)—सविधान ने कुछ निर्योग्यताएँ भी उपबन्धित की हैं। सविधान आज्ञा देता है कि कोई व्यक्ति सयुक्त राज्य की सेवा में रहते हुए कांग्रेस के किसी भी सदन का सदस्य उस समय तक नही हो सकता जब तक कि वह उस पद पर बना हुआ है। इस उपबन्ध को स्वीकृत करने में यह उद्देश्य था कि जहाँ तक सम्भव हो सके, कार्यपालिका विभाग को व्यवस्थापिका विभाग से अलग रखा जाय।[4] द्वितीयत, यह भी चाहा गया था कि कोई भी सीनेट अथवा प्रतिनिधि सदन का सदस्य अपने सदस्यता काल में किसी ऐसे सार्वजनिक पद (Civil Office) पर नियुक्त न किया जाय जो उसी काल में सृजा जाय अथवा जिस पद का वेतन उसी सदस्यता काल में वह सदस्य अपने व्यवस्थापिका सदस्यता-प्रभाव के कारण बढवा ले।[5] इस उपबन्ध का उद्देश्य यही है कि कांग्रेस नये पदो का सृजन न करे अथवा वर्त्तमान पदो का वेतन उन सदस्यो के स्वार्थ लाभ के लिये न बढावे जो उन पदो पर

---

[1] अनुच्छेद १, खण्ड २।

[2] अनुच्छेद १, खण्ड २।

[3] अनुच्छेद १, खण्ड ४।

[4] अनुच्छेद १, खण्ड ६, धारा २।

[5] अनुच्छेद १, खण्ड ६, धारा २।

के विद्रोह के पूर्व, जो सदन के सभापति के विरुद्ध हुआ था, सभापति ही सब स्थायी समितियों (Standing Committees) एव प्रवर समितियों (Select Committees) को नियुक्त करता था, और इन समितियों में वे ही सदस्य नियुक्त किए जाते थे, जो सभापति की इच्छा के इशारे पर चलने वाले समझे जाते थे। चूंकि विधान निर्माण वास्तव में समितियों का ही काम है, इस प्रकार विधान तैयार करने मे सभापति को वास्तविक शक्तियाँ प्राप्त थीं। नियम-समिति (Rules Committee) का भी सभापति होने के नाते वह उन्ही विधायी नियमों (Measures) को विचारार्थ सूची में सम्मिलित करता था जिनको वह पास कराना चाहता था। इसके अतिरिक्त १९१० तक उसको स्वीकृति (Recognition) का अधिकार था जिसके अनुसार वह किसी विषय पर वाद-विवाद की अनुमति दे भी सकता था, और नही भी दे सकता था। इन अधिकार के फलस्वरूप सभापति प्राय उन विधायी नियमो पर वाद-विवाद की आज्ञा नही देता था जिन पर उसका विरोध होता था अथवा जिन विषयो पर अल्पमत-दल के सदस्य वाद-विवाद चाहते थे, उस वाद-विवाद को सीमित कर देता था।

जब बार-बार सभापति ने सदस्यो के वाद-विवाद सम्बन्धी अधिकार पर निषेधाधिकार का प्रयोग किया, और उसी के साथ पहले से ही अपने कमरे में जाना और वहाँ सलाह-मशाविरा करके वाद-विवाद की स्वीकृति प्रदान करना जारी रखा, तब इन सबके फलस्वरूप १९१० में सभापति कैनन के व्यवहार (Cannonism)[1] के विरुद्ध विद्रोह हुआ, जिसका नेतृत्व रिपब्लिकन दल के एक पक्ष ने किया जिनको विद्रोहियो (Insurgents) की सज्ञा प्रदान की गई। डेमोक्रेटिक दल वालो ने उनका समर्थन किया। डेमोक्रेटिक दल के अल्पमत नेताओ और प्रगामी रिपब्लिकन विद्रोहियो (Progressive Republican Insurgents) के सहयोग के फलस्वरूप वाद-विवाद के नियमों में कई सशोधन स्वीकृत हुए। नियम-समिति में से सभापति को हटा दिया गया और समस्त स्थायी समितियो के चुनाव का अधिकार प्रतिनिधि सदन को ही दे दिया गया। सभापति से उसका स्वीकृति का अधिकार (Power of Recognition) भी छीन लिया गया जिसके विरुद्ध लोगो को विशेष शिकायत थी। सक्षेप में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि सभापति की शक्तियों को इतना गहरा आघात पहुँचा कि अब उस पद का उतना रोब-दाब नहीं रह गया है।

प्रतिनिधि सदन के सभापति के आधुनिक कर्त्तव्य (Present Functions of the Speaker)—फिर भी, सभापति अब भी सदन में गौरवयुक्त स्थिति का उपभोग करता है, तथा इस पद के अधीन अनेको महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य हैं। वह सदन की बैठकों (Sittings) का सभापतित्व करता है, सदन की कार्यवाही को नियमित एव व्यवस्थित रखता है और साथ ही सदन की सुव्यवस्था और गौरव-गरिमा बनाए रखता है। यदि सदन में कोलाहल अथवा विघ्न (Disturbance) अथवा नियम भग

---

[1] Joseph G Cannon was speaker in 1903-1910.

(Disorderly Conduct) की अवस्था उत्पन्न हो जाए, तो उसको अधिकार है कि वह या तो सदन की कार्यवाही को स्थगित करदे अथवा सदन के सशस्त्र परिचारक (Sergeant-at-arms) को आज्ञा दे कि सदन की अशान्ति को शान्त कर दे। किन्तु सभापति किसी सदस्य की निन्दा नही कर सकता न उसको किसी प्रकार की सजा दे सकता है। यह कार्यवाही केवल सदन ही कर सकता है। इसके अतिरिक्त वही उन सदस्यो को अस्वीकृत करता है जो मच पर बोलने के लिये आना चाहते हैं। यद्यपि मंच पर बोलने के लिए आने के सम्बन्ध में सदन के नियमो ने कुछ अनुबन्ध अथवा अभिसविदा (Stipulations) लगाये हैं, फिर भी सभापति काफी हद तक इस सम्बन्ध में स्वविवेक के अनुसार निर्णय करने मे स्वतन्त्र रहता है।

सभापति को ही अधिकार है कि वह सदन के नियमो का निर्वचन करे। यद्यपि उसको सुस्थापित पूर्वभावियो (Established Precedents) के अनुसार आचरण करना पडता है, किन्तु यह उसके अधिकार में है कि वह उनको न भी माने और नये पूर्वभावी की रचना करे, वशर्ते कि सदन उसके नये पूर्वभावी को स्वीकार कर ले। प्रतिनिधि सदन का बहुमत यदि चाहे तो सदन के सभापति के किसी नियम सम्बन्धी निर्वचन (Interpretation) को अस्वीकृत कर सकते हैं, किन्तु प्राय. प्रतिनिधि सदन अपने इस परमाधिकार (Prerogative) का प्रयोग नही करता। इस लिए प्रतिनिधि सदन के सभापति का निर्णय (Ruling) उसी अर्थ में अन्तिम (Final) नही है जिस अर्थ में इगलैड की लोकसभा (House of Commons) के स्पीकर (Speaker) का निर्णय अन्तिम माना जाता है। वह प्रश्नो पर मत माँगता है एव उन समस्त अधिनियमो पर, निवेदनो (Addresses) पर, सयुक्त प्रस्तावो पर, आदेश लेखो (Writs) पर, तथा अधिपत्रों (Warrants) पर, एव समनो (Subpoenas) पर हस्ताक्षर करता है जिनका आदेश सदन करे। सभापति ही प्रवर समितियो (Select Committees) तथा सम्मेलन समितियो (Conference Committees) की नियुक्ति करता है और उसी को अधिकार है कि विधेयको (Bills) को समितियो के पास भेजे यद्यपि आजकल विधेयक सदन के लिपिक (Clerk) द्वारा बिल के विषय के अनुसार विभिन्न समितियो के पास सीधे भेज दिये जाते है। यदि कभी ऐसा अवसर आ जाए जब यह बात स्पष्ट रूप मे निर्णय न की जा सके कि अमुक विधेयक के लिये अमुक समिति के पास भेजना उचित है अथवा नही, तो ऐसी स्थिति में सभापति निर्णय करता है।

प्रतिनिधि सदन का सदस्य होने के नाते सभापति को सदन के अन्य सदस्यो की ही भाँति भाषण देने अथवा मत व्यक्त करने का अधिकार है, यद्यपि वह वोट (Vote) उस समय तक नही देता जब तक कि या तो मत-पत्रक (Ballot) द्वारा सदन में मत लिये जा रहे हो अथवा जब किसी प्रश्न पर बराबर-बराबर मत पड़े हो। किन्तु यह स्मर्तव्य है कि ब्रिटिश कामन सभा अथवा लोकसभा का स्पीकर कभी भी

वाद-विवाद में भाग नही लेता और वह अपना वोट उसी स्थिति में देता है जबकि सदन में बराबर-बराबर मत पडे हो और ऐसा भी वह सदन की प्रचलित रीतियो के अनुसार ही करता है।

ब्रिटिश लोकसभा का स्पीकर उस पद पर अपने निर्वाचन के तुरन्त बाद अपनी दल-गत निष्ठा त्याग देता है। किन्तु इसके विपरीत अमेरिकी प्रतिनिधि सदन का सभापति सदन में खुल्लम-खुल्ला अपने दल के क्रिया-कलापो से सक्रिय रूप में सम्बन्धित रहता है। सदन में बहुमत वाले दल का नेता होने के नाते सभापति को प्राय व्हाइट हाउस (White House) में बुलाया जाता है जहाँ पर वह राष्ट्रपति के साथ समस्त विधायी मामलो पर (Legislative Matters) पर मन्त्रणा करता है।

सीनेट

(The Senate)

सरचना (Composition)—सीनेट एक छोटा निकाय है। इसके सदस्यो की सख्या ९६ है जो छ वर्ष के लिये चुने जाते हैं और इनमें से एक-तिहाई सदस्य प्रति दो वर्षों बाद हट जाते हैं। फलत सीनेट का जीवन अविच्छिन्न ही बना रहता है, क्योंकि किसी भी कांग्रेस के लिये केवल एक तिहाई सदस्य ही चुनाव लडते हैं। अपनी लम्बी पदावधि और पुन निर्वाचित होने की पर्याप्त सभावनाओं के कारण, सीनेट सदस्य की स्थिति प्रतिनिधि भवन के सदस्य के मुकाबले में अच्छी है। प्रतिनिधि सदन का जीवन-काल केवल दो वर्ष है किन्तु उसके मुकाबले में सीनेट सदस्य को एक पदावधि में भी पर्याप्त अनुभव हो जाता है, वह विधान निर्माण प्रक्रिया पर अधिकार कर लेता है, और किसी हद तक उसमें नेतृत्व के गुण आ जाते हैं। सीनेट सदस्य के लिये यह बिल्कुल असाधारण बात नही है और वह १८ से २४ वर्ष तक सीनेट की सेवा करता रहता है। सीनेट प्राय अविच्छिन्न ही बना रहता है; यह भी पर्याप्त लाभदायक चीज है। प्रतिनिधि भवन प्रति दो वर्ष बाद जिस स्थिति में आ जाता है, वैसी स्थिति सीनेट की कभी नही होती। प्रतिनिधि-सदन प्रति दो वर्ष के बाद पूर्णरूपेण नया निकाय बनता है जिसके अधिकतर सदस्य नये होते हैं और प्रतिनिधि सदन की व्यवस्था प्रति दो वर्ष बाद नये सिरे से करनी पडती है। किन्तु इसके विपरीत सीनेट सदैव अविच्छिन्न और सुव्यवस्थित एव सुगठित बना रहता है। इसके दो-तिहाई सदस्य तो सदैव ही पुराने सदस्य बने रहते हैं। इस प्रकार सीनेट के पूर्व-भावी एव उसकी परम्पराएँ, नदी की धारा के अबाध्य प्रवाह के समान सदैव चलती रहती हैं।

समान प्रतिनिधित्व (Equality of Representation)—जैसा कि पहले भी वर्णन किया जा चुका है, सीनेट में सभी राज्यों को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया गया है और सविधान ने इस राजनीतिक सिद्धान्त को पूर्ण मान्यता प्रदान क

है। सविधान का कथन है कि "किसी भी राज्य को विना उस राज्य की स्वेच्छा के सीनेट में उसके समान प्रतिनिधित्व से वचित नही किया जायगा।"[1] समान प्रतिनिधित्व का सिद्धान्त वास्तव में एक महान् समझौता था, जिसके फलस्वरूप सयुक्त राज्य अमेरिका के सघ का निर्माण हुआ और जो उत्तरी और दक्षिणी अमेरिका के वीच सतुलन स्थापित करने में सहायक सिद्ध हुआ।

अर्हताएँ (Qualifications)—सीनेट की सदस्यता के लिये जो अर्हताएँ निश्चित की गई हैं, वे सिद्धान्तत वही हैं जो प्रतिनिधि भवन के सदस्यो के लिये हैं यद्यपि मात्रा में थोडा सा भेद है। सीनेट सदस्य के लिये आवश्यक है कि वह ३० वर्ष से कम आयु का न हो, जिस राज्य की ओर से चुना जाय उस राज्य का निवासी हो; और सयुक्त राज्य का नागरिक कम-से-कम नौ वर्ष तक रह चुका हो। सविधान के निर्माताओ ने सोचा था कि लम्बी पदावधि और ऊँची अर्हताएँ सीनेट को अधिक शक्ति और गौरव-गरिमा प्रदान करेगी, किन्तु यह शक्ति एवं गौरव प्रतिनिधि सदन को प्राप्त नही हो सकेगा। साथ ही सीनेट में अधिक ऊँची योग्यता पायी जायगी।

इस सम्बन्ध में सविधान मौन है कि सीनेट सदस्य राज्य के अमुक भाग का निवासी होना चाहिये। किन्तु कतिपय राज्यो में ऐसी प्रथा स्थापित हो गई कि दोनो सीनेट-सदस्य राज्य के विभिन्न भागो में से लिये जाएँगे। कभी-कभी जव किसी राज्य में वडा नगर होता है तो यह प्रथा पड गई कि एक सीनेट सदस्य उस वडे नगर का हो और दूसरा देहात का। वहुत काल तक मेरीलैण्ड राज्य (Maryland) में वैधानिक उपवन्ध था कि उस राज्य के दोनो सीनेट सदस्यो में से एक सदस्य पूर्वी समुद्री किनारे का निवासी हो, तथा दूसरा पश्चिमी किनारे का निवासी हो।

निर्वाचन-विधि (Mode of Election)—सीनेट सदस्यो की निर्वाचन विधि के सम्वन्ध में प्रसभा (Convention) के सदस्यो मे तीव्र मतभेद था। अन्त मे जो विधि अपनायी गई उसके अनुसार प्रत्येक राज्य के विधानमण्डलों द्वारा सीनेट सदस्यो का चुना जाना निश्चित हुआ। इस विधि को अपनाने के दो मुख्य कारण थे। प्रथमतः सविधान के निर्माताओ ने सोचा कि विधानमण्डलो द्वारा चुनाव के फलस्वरूप राज्यो की सरकारो एव राष्ट्रीय सरकार के वीच यह चुनाव विधि जोडने वाली कडी का काम देगी और इस प्रकार राज्यो का सघ सुदृढतर होगा। उस समय राज्यो की सरकारें केन्द्रीय शासन के प्रति इतनी द्वेषपूर्ण थीं कि सविधान के निर्माताओ ने हर सम्भव उपाय द्वारा यह प्रयत्न किया कि किसी प्रकार नई-नई स्थापित सरकार का स्वरूप ऐसा वने जिससे राज्यो का केन्द्र के साथ सम्वन्ध अक्षुण्ण रहे। द्वितीयत, ऐसा विश्वास किया गया था कि विधानमण्डलो द्वारा चुने जाने पर अधिक योग्य सीनेट सदस्य चुने जाएँगे क्योकि विधानमण्डलो के सदस्य प्रत्याशियो की योग्यताओ से अधिक परिचित होंगे जवकि सर्वसाधारण को इतना ज्ञान नही हो सकता।

---

[1] अनुच्छेद ५।

किन्तु सविधान के निर्माताओ को जो इस प्रकार के व्यवहृत अथवा परोक्ष निर्वाचन से लाभ की आशा थी वह पूर्ण नही हुई। इस प्रकार के निर्वाचन के फलस्वरूप लम्बी और हठपूर्ण तनातनी बनी रही जिसका प्राय फल होता था गत्यवरोध (Deadlocks)। कभी-कभी ऐसा भी होता था कि कुछ विधानमण्डल किसी सीनेट सदस्य का चुनाव ही न कर सके और वह राज्य सीनेट मे प्रतिनिधित्व-विहीन रह गया तथा उसकी सीट खाली पडी रही। १८६० से लेकर १६१२ तक किसी-न-किसी समय कम-से-कम ११ राज्यो की ओर से सीनेट में केवल एक ही सदस्य प्रतिनिधि रूप में पहुँच पाये। १६०१ में डेलवेयर (Delware) राज्य का वाशिंगटन (Washington) में कोई सीनेट सदस्य नही था जो राज्य का प्रतिनिधित्व करता। फिर इस गत्यवरोध को सुलझाने के लिये घूस (Bribery) तथा अन्य भ्रष्ट उपाय अपनाये जाते थे। निस्सन्देह घूस और भ्रष्टाचार के दोषारोपण प्राय किये जाते थे। अतश सीनेट के लिये लम्बे समय तक चलने वाली कलह के कारण राज्यो के विधानमण्डलो के नियमित कार्य में बहुत भारी बाधा पडने लगी। इसका प्रत्यक्ष फल यह हुआ कि लोगो ने सविधान में सशोधन करने के लिये जो तोड आन्दोलन (Spirited Movement) किया, और कठिन परिश्रम के पश्चात् १६१३ में १७वाँ सशोधन स्वीकृत हुआ। इस सशोधन द्वारा निर्णय किया गया कि प्रत्येक राज्य में से जो दो सीनेट सदस्य लिये जायेंगे "वे उसी राज्य के सर्वसाधारण लोगों द्वारा छ वर्षों की अवधि के लिये चुने जायेंगे।" वे ऐसे ही लोगो की वोट से चुने जाते हैं जो कि राज्यीय विधानमण्डल के निम्न सदन के सदस्यो को चुन सकते हैं। इस सशोधन ने यह भी अनुबन्धित किया कि यदि किसी कारणवश सीनेट का स्थान रिक्त रहा तो जिस राज्य की सीट रिक्त है, उस राज्य का राज्यपाल (Governor) अस्थायी नियुक्ति के द्वारा उस रिक्त स्थान की पूर्ति उस समय तक के लिये कर सकता है जब तक उस राज्य के लोग स्वय एक सीनेट सदस्य न चुन लें। प्रोफेसर गार्नर कहता है कि "व्यवहार में रिक्त स्थानो की पूर्ति के लिये विशेष चुनाव प्राय कभी नही होते। अधिकतर राज्यो मे जहाँ राज्यपाल सीनेट के स्थान के लिये अस्थायी नियुक्ति कर देता है तो प्राय देखा गया है कि नियुक्त किया हुआ व्यक्ति अगले आम चुनाव तक अपने पद पर बना ही रहता है और तब उस राज्य के सर्वसाधारण उसके उत्तराधिकारी का चुनाव करते हैं।"[1]

अध्यक्ष (The Presiding Officer)—सीनेट का अध्यक्ष-पद सयुक्त राज्य का उप-राष्ट्रपति ग्रहण करता है, और यद्यपि उसका पद अति गौरवान्वित है, किन्तु वह स्वय सामान्य सभापति अथवा मध्यस्थ (Moderator) के सिवा कुछ नही है। वह सीनेट का सदस्य नहीं होता और वह स्वभावत किसी ऐसे दल से सम्बन्धित हो सकता है जिसका सीनेट में बहुमत न हो। वह सीनेट की समितियो की नियुक्तियाँ

---

[1] Garner, J W Government of the United States, p 184

नहीं करता इसलिये वह व्यवस्थापन पर बिलकुल प्रभाव नही डाल सकता, और वह अपनी राय (Vote) उसी स्थिति में देता है जब दोनो पक्षो के मत बराबर हो। इसके अतिरिक्त वह किसी सदस्य को बोलने की स्वीकृति (Power of Recognition) देने के अधिकार से वंचित है और इसलिए वह वाद-विवाद को नियन्त्रित नही कर सकता। सीनेट के अध्यक्ष को सभी सदस्यो को बोलने की अनुमति उसी क्रम के अनुसार देनी होगी जिसके अनुसार वे उठे हो। परम्परा यह है कि अध्यक्ष दोनो दलो के सभी सदस्यो के साथ समान व्यवहार करेगा और निष्पक्षता के साथ उन्हें वाद-विवाद में भाग लेने देगा।

सीनेट अपने सदस्यो में से ही एक अस्थायी अध्यक्ष (President Pro-tempore) चुनता है जो उप-राष्ट्रपति (Vice-President) की अनुपस्थिति में अध्यक्ष पद पर काम कर जाता है। अस्थायी अध्यक्ष, यद्यपि सामान्यत. सीनेट द्वारा ही चुना जाता है किन्तु वास्तव में उसका चुनाव आन्तरिक गुटबन्दी एव बहुमत का निर्णय है, और वह प्रतिनिधि सदन के सभापति के समान ही बहुमत दल का चोटी का सदस्य होता है। सीनेट का सदस्य होने के नाते वह सभी मामलो पर राय दे सकता है। यदि उप-राष्ट्रपति राष्ट्रपति बन जाय तो वह स्थायी तौर पर सीनेट का अध्यक्ष आसन ग्रहण कर लेता है।

अपरिमित वाद-विवाद (Unlimited Debate)—सीनेट में वाद-विवाद प्राय अपरिमित है। १९१७ तक सीनेट सदस्य के बोलने के अधिकार पर कोई बन्धन नहीं था, और वह जब तक चाहता, बोल सकता था। सीनेट सदस्य अपने इस अधिकार का लाभ सत्र (Session) के अन्त में प्राय· उठाते थे और इसके द्वारा वे किसी ऐसे विधायी नियम के निर्माण में अभिबाधक नीति या अडगा (Filibustering) लगाते थे जिसका वे विरोध करना चाहते थे। इसका अर्थ यह था कि सीनेट की कार्यवाही में देर की जाए ताकि उस विधायी नियम (Measure) पर मत न लिये जा सके। अनेको महत्त्वपूर्ण विधायी नियम (Measures) त्याग दिये गये जबकि इस प्रकार से अभिबाधा या अडगे (Filibustering की धमकी दी गई। कांग्रेस के एक अधिवेशन के अन्तिम दिनो में एक सीनेट सदस्य जिसका सम्बन्ध विसकोन्सिन (Wisconsin) राज्य से था, लगातार सोलह घंटो तक बोलता रहा, ताकि एक मुद्रा अधिनियम पर कार्यवाही को रोका जाय। "६४वी कांग्रेस के अन्त में (मार्च १९१७) कतिपय सीनेट सदस्यो ने मिलकर अभिबाधा डाली अथवा अडगा लगाया ताकि सीनेट उस विधेयक पर मत-गणना न कर सके, जिसके द्वारा राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया जाना अभीष्ट था कि अमेरिका के सौदागरी जहाजो को रक्षा साधनो मे सज्जित किया जाय। उन अभिबाधको अथवा अडगा लगाने वालो ने इस बात का विचार नही किया कि लगभग सभी सीनेट सदस्य चाहते थे कि वह विधेयक पास होना चाहिए।"

इसका फल यह हुआ कि शीघ्र ही कुछ दिनो बाद सीनेट ने एक नया नियम स्वीकार किया जिसके अनुसार दो-तिहाई मतो से किसी विधायी नियम के ऊपर चल

रिक्त हो और तुरन्त वे उस पद के लिए अपना नामाकन राष्ट्रपति की सेवा में प्रस्तुत करते हैं। राष्ट्रपति भी उनकी बात प्राय मान ही लेता है, हाँ, यदि उसको कोई गम्भीर आपत्ति हो तो दूसरी बात है।

२ **राष्ट्रपति के सधि करने सम्बन्धी अधिकार में सीनेट का भाग (Share in the treaty-making power)**—राष्ट्रपति को जो सधियाँ करने का अधिकार है उसमें सीनेट का भी अधिकार है। जितनी भी सधियाँ या तो राष्ट्रपति स्वय करे अथवा उसके नाम में की जाएँ, वे सब, सीनेट के सम्मुख अनुमोदन के लिये प्रस्तुत की जाती हैं, और तदर्थ सीनेट के सदस्यो के दो-तिहाई मत मिलने पर ही सधि स्वीकृत हो सकती हैं। सविधान के निर्माताओ ने सभवत चाहा होगा कि राष्ट्रपति और सीनेट-सदस्य साथ-साथ बैठकर और मिल-जुल कर सन्धि का निर्णय करेंगे। यह बात सविधान में प्रयुक्त शब्दों—सीनेट की 'मन्त्रणा एव सहमति' (Advise and Consent)—से स्पष्ट हो जाती है। एक बार वाशिगटन (Washington) स्वय सीनेट में गया जहाँ वह एक ऐसी सन्धि के बारे में सीनेट के सदस्यो की मन्त्रणा एवं सहमति चाहता था। जिसे वह दक्षिणी इण्डियनो के साथ करना चाहता था। जब सीनेट ने वाशिगटन को झिडक दिया तो "उसे क्रोध आ गया और उसने कहा कि सीनेट मे मेरा आना व्यर्थ रहा।"[1] और तब से किसी भी राष्ट्रपति ने सीनेट के साथ सीधे मन्त्रणा नही की है। फिर भी सधियाँ करने में अथवा सधियो का अनुमोदन करने में सीनेट का महत्वपूर्ण भाग रहता है। यदि राष्ट्रपति द्वारा की हुई किसी सधि के सीनेट द्वारा अस्वीकृत होने का भय हो तो राष्ट्रपति परराष्ट्र-विभाग-सम्बन्ध-समिति (Foreign Relations Committee) के सदस्यो से पहले ही मन्त्रणा कर लेता है, और उनके विचार जान लेता है। सत्य तो यह है कि परराष्ट्र मन्त्री (Secretary of State) प्राय सीनेट की परराष्ट्र विभाग-सम्बन्ध-समिति के साथ मिल-जुल कर काम करता है।

३ **सीनेट सार्वजनिक अभियोग न्यायालय के रूप में (The Senate as a Court of Impeachment)**—सीनेट का दूसरा विशेष कर्त्तव्य यह है कि वह सार्वजनिक अभियोगो के सम्बन्ध में न्यायालय का कार्य करता है। सविधान में उपबन्ध है कि राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति और सिविल सर्विस के सभी अधिकारी अपने पदो मे हटाये जा सकते हैं यदि उन पर देशद्रोह (Treason), घूस (Bribery), अथवा अन्य दोष तथा किसी दुर्व्यवहार के कारण सार्वजनिक अभियोग (Impeachment) लगाया जाय और उसके कारण उन्हे दोषी प्रमाणित कर दिया जाय। प्रतिनिधि सदन अभियोग लगाता है, और सीनेट न्यायालय के रूप में अभियोग की सुनवाई करता है। ऐसे अवसर पर सीनेट न्यायालय का स्वरूप धारण कर लेता है और आज्ञापत्र जारी करता है, गवाहो को बुलाता है और शपथ रखवाता है। जब राष्ट्रपति पर अभियोग लगाया जाता है तो सर्वोच्च न्यायालय का चीफ जस्टिस उस न्यायालय का सभापतित्व ग्रहण करता है। प्रतिनिधि सदन द्वारा

---

[1] As quoted in Government by the People, p 422

नियुक्त प्रतिनिधियो की एक समिति सीनेट के समक्ष वकील के रूप में उपस्थित होती है और वह अभियुक्त (Impeached) अधिकारी पर अभियोग लगाती है।

दोष सिद्धि के लिये सीनेट के दो-तिहाई सदस्यो के मत आवश्यक हैं और सीनेट या तो सज़ा के रूप में सम्बन्धित अधिकारी को पद से वियुक्त (Removal) कर सकता है, अथवा भविष्य के लिये किसी सार्वजनिक पद के लिये अयोग्य घोषित कर सकता है। यह इस प्रकार की सज़ाएँ नही दे सकता जैसे कारावास (Imprisonment) अथवा जुर्माना (Fine)। किन्तु जिस व्यक्ति के विरुद्ध सीनेट में दोषारोपण सिद्ध हो चुका है, और जो अपने पद से पृथक् कर दिया गया है, उसके विरुद्ध साधारण न्यायालय भी कार्यवाही कर सकते हैं और दोष लगा सकते हैं। उस स्थिति में साधारण न्यायालय विधि के अनुकूल उसी प्रकार की कार्यवाही करेंगे जैसा अन्य दोषियों के सम्बन्ध में होता है।

४ **सीनेट के व्यवस्थापिका सम्बन्धी कार्य (Legislative functions)**—सविधान के निर्माताओ ने जो तीन मुख्य कर्त्तव्य सीनेट को करने को दिये, उनके अतिरिक्त यह भी उपवन्धित किया गया कि सीनेट एक व्यवस्थापिका सभा (Legislative body) भी है। किन्तु यह समान अधिकारपूर्ण समन्वयकारी निकाय (Co-ordinate body) है न कि कांग्रेस का अधीन निकाय। इस प्रकार यह देश के लिये विधान निर्माण करने में प्रतिनिधि सदन के समकक्ष शक्तियों का उपभोग करता है। सयुक्त राज्य अमेरिका में ऐसा कोई नियम नही है जैसा कि इगलैड[1] में है, जो निम्न सदन (House of Representatives) को ऐसा अधिकार प्रदान करदे कि वह उच्च सदन (Senate) के ऊपर निषेधाधिकार का प्रयोग कर सके। अमेरिका मे प्रतिनिधि सदन सीनेट के ऊपर एक बात में उच्च स्थिति का उपभोग करता है, वह है वित्तीय विधेयको के सम्बन्ध में; और इस सम्बन्ध में सविधान केवल यही कहता है कि वित्तीय विधेयकों का सूत्रपात प्रतिनिधि सदन में ही होना चाहिये। किन्तु सविधान यह भी कहता है कि सीनेट वित्तीय विधेयको में अन्य विधेयको की भाँति सशोधन कर सकता है। इसका अर्थ है कि सीनेट वित्तीय विधेयको को स्वीकार कर सकता है, उनमें सशोधन कर सकता है, उनका रूपान्तर कर सकता है अथवा उनको अस्वीकृत कर सकता है और कभी-कभी तो सीनेट किसी वित्तीय विधेयक मे इतनी काट-छाँट कर देता है और इतना सशोधन कर देता है कि प्रतिनिधि सदन द्वारा प्रारम्भ किये गये विधेयक का नाम तो वही बना रहता है, बाकी और सब कुछ बदल जाता है। ऐसा सीनेट ने कुछ वर्ष पूर्व एक प्रशुल्क विधेयक (Tariff Bill) के साथ किया था। इन प्रकार सीनेट, सशोधन के रूप में बिल्कुल नये वित्तीय विधेयक का सूत्रपात भी कर सकता है। जिस प्रशुल्क विधेयक (Tariff Bill) के बारे में ऊपर वर्णन किया गया है, वह इतना अधिक एव पूर्णतया सशोधित हुआ कि उन विधेयक में से सभी कुछ काट-छाँट

---

[1] १६११ का संसद् अधिनियम (Parliament Act of 1911) जो १६४६ में सशोधित हुआ, उसको पढ़िये।

आदेश दिये जा सकते हैं। यह स्वाभाविक है कि सीनेट सदस्य ही, जो परिपक्व राजनीतिज्ञ होते हैं, और जिनको अधिक ससदीय अनुभव होता है, अन्त में सफल होते हैं और लाभ की स्थिति में रहते हैं। और सीनेट सदस्य जिस हद तक एकमतता एव दृढता प्रदर्शित करते हैं, उसके कारण सम्मेलन सदस्यो को प्राय सीनेट की भी सहायता प्राप्त होती है। सत्य तो यह है कि सीनेट अपने सम्मेलन समिति के प्रतिनिधियो को निर्णय करने की एव विचार-विनिमय करने की पूरी छूट देता है जब कि प्रतिनिधि सदन प्राय अपने प्रतिनिधियो को आदेशो से जकडे रखता है।

७ सीनेट सदस्यों का देश की राजनीति में स्थान (Political role of the Senators)—गवर्नमेंट आफ दी पीपिल (Government of the People) नामक पुस्तक के लेखक युगल लिखते हैं कि "साधारण प्रतिनिधि सदन के प्रतिनिधियो से, सीनेट के सदस्य "विभिन्न जाति के राजनीतिक जीव" (Different breed of political Animal) होते हैं।"[1] प्रतिनिधि सदन के सदस्यो के मुकाबले में सीनेट सदस्य अधिक लोगो का एव अधिक प्रदेश का प्रतिनिधित्व करते हैं, और इस प्रकार जल्दी ही उनके ऊपर बदलते हुए जनमत का शीघ्र प्रभाव नही पडता, न किसी विशेष स्थान के निर्वाचकमण्डल के व्यक्तिगत जाति स्वभाव अथवा देह स्वभाव का शीघ्र प्रभाव उनके ऊपर पडता है। इसके विपरीत प्रतिनिधि सदन के सदस्य को अपने सकुचित निर्वाचन-क्षेत्र की आवश्यकताओं को ध्यान में रखना पडता है और उसके ऊपर कतिपय स्थानीय हितो (Local Interest Groups) तथा दल के थोडे से स्थानीय नेताओ का प्रभाव होता है। अधिकतर सीनेट सदस्य अपनी राजनीतिक सूक्ष्म बुद्धि के लिये सारे देश मे विख्यात होते हैं। उनके मतो (Opinions) का कुछ मूल्य होता है, और कभी-कभी राष्ट्रपति भी अनुभवी (Veteran) सीनेट सदस्यो की बात मानने पर मजबूर हो जाता है। इसके अतिरिक्त अपने अपने राज्य की राजनीतिक पार्टियो मे वे महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं। कभी-कभी तो वे अपने-अपने राज्यो मे राजनीतिक दलो के पूर्ण अधिनायक होते हैं।[2] और अपने दल मे उनका महत्त्वपूर्ण स्थान इस कारण होता है कि केन्द्रीय शासन का सरक्षण एव अनुग्रह (Patronage) उन्हें प्राय सदैव प्राप्त रहता है। सीनेट को राष्ट्रपति द्वारा की हुई नियुक्तियो पर अनुमोदन का जो अधिकार प्राप्त है, उसका सविधानिक महत्त्व भी है और राजनीतिक महत्त्व भी। सविधानिक महत्त्व इस कारण है कि इस प्रकार परीक्षणो और सन्तुलनो (Principles of the checks and Balances) के सिद्धान्त

---

[1] Government of the People, P 420

[2] उदाहरणस्वरूप लूइसियाना (Louisiana) का ह्यूलाग (Huey Long), पेन्सिलवानिया का जोसेफ गफी (Joseph Guffey of Pennsylvania), रहोड द्वीप का नेल्सन एल्ड्रिच (Nelson Aldrich of Rhode Island), और हाल ही मे ओहियो राज्य का राबर्ट टाफ्ट (Robert A. Taft of Ohio), और वर्जीनिया राज्य का हैरी बिर्ड (Harry Byrd of Virginia)।

की क्रियान्विति होती है, और राजनीतिक महत्त्व इस कारण है कि प्रत्येक सीनेटर के पास अपने-अपने राज्य मे की गई बडी नियुक्तियों के ऊपर प्रायः पूर्ण निषेधाधिकार (Veto power) है।

८. सीनेट का समन्वय (Senate Solidarity) – इसी के साथ यह भी समझने की आवश्यकता है कि सीनेट मे पूर्ण समन्वय रहता है। "एक प्रकार से, सीनेट पारस्परिक सुरक्षा समाज है।" प्रत्येक सीनेट सदस्य हर सम्भव उपाय से सीनट सदस्यो के अधिकारो एव विशेषाधिकारो की रक्षा करता है चाहे दलगत विचार विभिन्नता क्यो न हो और जब कभी, किसी ओर से सीनेट के समन्वय (Solidarity) को आघात पहुँचा—जैसे कि राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने १९३८ मे सीनेटोरियल कर्टसी नामक पुरानी प्रथा को तोडा और सीनेट की प्रतिष्ठा को हानि पहुँचाई—तुरन्त समस्त सीनेटर सदैव मिल जाते हैं। वाशिंगटन के पत्रकारो ने वार-वार लिखा है कि दो सीनेट सदस्य सीनेट हाल (Senate Hall) में एक-दूसरे के ऊपर कडी भाषा में प्रहार कर सकते हैं किन्तु थोडी ही देर बाद आप देखेंगे कि वे एक-दूसरे की बाँह पकडे घूम रहे हैं।" वे 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त मे विश्वास करते है। ऐसी समन्वय की भावना के कारण ही उन्होंने सदैव सफलतापूर्वक अपने अधिकारो की रक्षा की है। इसीलिये 'जियो और जीने दो' के सिद्धान्त पर चलकर ही आज अमेरिका का सीनेट ससार की समस्त विधान-सभाओ से अधिक शक्तिशाली सदन बन गया है।

९ सीनेट की स्वतन्त्र प्रवृत्ति और राजनीतिक अनुभव (Independent Spirit and Political Experience of the Senate)—जिन कारणों से सीनेट के सदस्यों की स्थिति अधिकारपूर्ण एव प्रवृत्ति स्वतन्त्र बनी हुई है, उनमे से एक महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि उनकी पदावधि छः वर्ष है। जो सदस्य सीनेट का चुनाव तीन बार जीत लेते हैं, और इस समय भी ऐसे कई सीनेट सदस्य हैं जिन्होने अपने सीनेट-काल मे छ राष्ट्रपतियो का आना और जाना देखा है, इन अभ्यास वृद्ध (Veteran) सीनेट-सदस्यो को अपने दीर्घ सीनेट-अनुभव पर गर्व है। वे अपने आपको देश के ज्येष्ठ विधि-निर्माता समझते हैं और व्यवस्थापिका एव कार्यपालिका विभागो के बीच शक्तियो का सन्तुलन ठीक प्रकार से रखने वाला समझते हैं।

सीनेट को स्वतन्त्र प्रवृत्ति प्रदान करने की दिशा मे अन्य महत्त्वपूर्ण कारण यह है कि उसको अनियन्त्रित वाद-विवाद का अधिकार है। इसके द्वारा सीनेट सदस्यों को हर विषय पर पूर्ण विस्तार के साथ विचार-विनिमय करने का अवसर प्राप्त हो जाता है। यह अधिकार प्रतिनिधि सदन के प्रतिनिधियो को प्राप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त अभिबाधक नीति या अडंगाबाजी (Filibustering) भी सीनेट की महान् शक्ति का एक कारण है।

सविधान के निर्माताओ ने सोचा था कि सीनेट एक प्रतिगामी (Conservative) सस्था बनेगी, और कुछ समय तक ऐसा ही हुआ। किन्तु हाल मे प्रतिनिधि सदन ने सीनेट से अधिक प्रतिगामिता प्रदर्शित की है। चार्ल्स बीयर्ड (Charles Beard)

अध्याय ६

काँग्रेस (क्रमशः)

काँग्रेस के कर्त्तव्य और अधिकार
(Functions and Powers of Congress)

काँग्रेस की शक्तियाँ (Powers of Congress)—सीनेट तथा प्रतिनिधि सदन दोनो से मिलकर सयुक्त राज्य अमेरिका की काँग्रेस अथवा राष्ट्रीय विधान-मण्डल का निर्माण हुआ है। सविधान का प्रथम अनुच्छेद समस्त विधायिनी शक्तियाँ काँग्रेस को सौंपता है और फिर यथाक्रम उन कर्त्तव्यो को गिनाता है जो काँग्रेस को करने है और उन शक्तियो का भी निरूपण करता है जो इसके अधिकार में रहेंगी। यदि सविधान के निर्मातागण प्रारम्भ से ही शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त (Doctrine of Separation of Powers) को अपना लेते, तो काँग्रेस केवल एक विधान निर्मातृ निकाय बनकर रह गया होता। किन्तु 'परीक्षणो और सन्तुलनो' के सिद्धान्त ने काँग्रेस को विधान निर्माण के अतिरिक्त भी कुछ कार्य सौप दिये हैं, और ये कर्त्तव्य किसी भी प्रकार काग्रेस के विधायी कर्त्तव्यो से कम महत्त्वपूर्ण नही हैं। "व्यापक अर्थों मे कहा जा सकता है कि काँग्रेस ही वह साधन है जिसके द्वारा सर्वसाधारण, राष्ट्र की नीतियो का निर्माण करते हैं, घोषणा करते हैं और उनकी क्रियान्विति की जाँच-पडताल व देख-भाल करते हैं।" काँग्रेस के अ-विधायी कर्त्तव्यो में निम्न कर्त्तव्य सम्मिलित हैं—(१) सविधायी कर्त्तव्य (Constituent), (२) निर्वाचकीय कर्त्तव्य (Electoral), (३) कार्यपालिका कर्त्तव्य (Executive)। (४) न्यायिक कर्त्तव्य (Judicial), (५) आदेशक एव पर्यवेक्षी कर्त्तव्य (Directive and supervisory), (६) खोज-पडताल सम्बन्धी कर्त्तव्य (Investigative)। विधायी कर्त्तव्यो के सम्बन्ध में यह स्मरण रखना चाहिये कि काँग्रेस अकेली ही विधान निर्मातृ निकाय नही है, यद्यपि सविधान के प्रथम अनुच्छेद मे ऐसा ही लिखा है।[1]

अ-विधायी कर्त्तव्य
(Non-Legislative Functions)

सविधायी कर्त्तव्य (Constituent functions)—सविधान के सशोधन की प्रक्रिया का वर्णन करते समय हमने लिखा था कि सशोधन प्रस्ताव काँग्रेस के दो-तिहाई बहुमत अथवा दो-तिहाई राज्यो की प्रार्थना पर काँग्रेस द्वारा बुलाये गए एक सम्मेलन के द्वारा उपस्थित किया जा सकता है। चाहे कोई भी विधि अपनायी जाय, और अब तक तो काँग्रेस के द्वारा ही सविधान में सशोधन हुए हैं, किन्तु यह

---

[1] इस पुस्तक के पूर्व के अध्याय देखिये।

निर्विवाद सत्य है कि सविधान का एक शब्द भी विना कांग्रेस के कोई अन्य सत्ता नहीं वदल सकती। इसके अतिरिक्त कांग्रेस का यह भी मुख्य कर्त्तव्य है कि वह प्रारम्भिक सविधान का प्रसार करे और उसका निर्वचन करे, और जैसा कि हम पूर्व विवेचन कर चुके हैं, इसी के कारण सविधान गतिशील रहा है।

निर्वाचकीय कर्त्तव्य (Electoral functions)—कांग्रेस के निर्वाचकीय कर्त्तव्य भी हैं। नियमित रूप से हर चार वर्ष वाद कांग्रेस का सम्मिलित सत्र होता है जिसमें राष्ट्रपति एवं उपराष्ट्रपति के पक्ष मे डाली गई वोटें गिनी जाती हैं। यदि किसी भी प्रत्याशी को समस्त राष्ट्रपतीय निर्वाचक मतो का बहुमत प्राप्त नहीं होता तो प्रतिनिधि सदन प्रत्येक मत देने वाले राज्य को एकक मानकर राष्ट्रपति का चुनाव उन तीन प्रत्याशियो में से करता है जिनको सबसे अधिक मत प्राप्त हुए हों। यदि किसी भी प्रत्याशी को उपराष्ट्रपति के समस्त निर्वाचक मतो का बहुमत प्राप्त नहीं होता, उस स्थिति में सीनेट सबसे अधिक मत पाने वाले दो प्रत्याशियो में से उपराष्ट्रपति का चुनाव करता है। इस प्रकार के चुनाव द्वारा केवल एक उपराष्ट्रपति का अब तक चुनाव हुआ है, वह भी १८३७ में जब तक कि दल-प्रथा पूर्णरूपेण विकसित नही हुई थी। ऐसी घटना की पुनरावृत्ति अब नही हो सकती। कांग्रेस, विधि अनुसार निर्णय करती है कि राष्ट्रपति अथवा उपराष्ट्रपति की मृत्यु हो जाने पर या किसी कारण अयोग्य हो जाने पर कौन राष्ट्रपति होगा अथवा कौन उपराष्ट्रपति होगा। कांग्रेस को यह भी अधिकार है कि वह इस सम्बन्ध मे विधि द्वारा निर्णय करे कि किस समय अथवा किन स्थानो पर अथवा किस प्रकार सीनेट और प्रतिनिधि सदन के सदस्यो का चुनाव होगा।[1] और कांग्रेस ही अपने सदस्यों की अर्हताओ (Qualifications) की जांच-पडताल करती है, यहाँ तक कि उनके चुनावो की विध्यनुकूलता की भी स्वयं परीक्षा करती है।[2] यदि कांग्रेस के सदस्यो के बहुमत द्वारा किसी सदस्य अथवा सदस्यो का चुनाव न्यायसगत नही हुआ है तो कांग्रेस ऐसे सदस्यों को सदस्यता से वचित कर सकती है।[3] उदाहरणस्वरूप १९२९ में सीनेट ने विलियम एस० वेयर (William S Vare) को सीनेट सदस्यता से वचित कर दिया क्योंकि उसने चुनाव आन्दोलन में अत्यधिक धन व्यय किया था।

कार्यपालिका कर्त्तव्य (Executive Functions)—कार्यपालिका कर्त्तव्यो में नियुक्तियाँ और सधियां आती हैं। कार्यपालिका कर्त्तव्यो को हम आदेशक एव पर्यवेक्षी (Directive and Supervisory) शीर्षक के अन्तर्गत लेते हैं। कार्यपालिका कर्त्तव्यो को दो शाखो में बांटने से स्पष्टतया समझने में सुविधा होगी। राष्ट्रपति द्वारा जो लगभग १५ हजार अधिकारी नियुक्त किये जाते हैं और जिनके लिए सीनेट

---

[1] अनुच्छेद १, खण्ड ४।

[2] अनुच्छेद १, खण्ड ५।

[3] इस प्रथा की वैधानिकता पर आक्षेप किये गये हैं, यद्यपि इसके समर्थन में अनेकों पूर्व भावी हैं।

अनुमोदन प्रदान करता है, उनके सम्बन्ध में, जैसा कि हमने सीनेट के विशेष कर्त्तव्य (Special functions of the Senate) नामक शीर्षक के अन्तर्गत अध्ययन किया था, कांग्रेस भी महत्त्वपूर्ण योग देती है। वैसे तो सीनेट सदस्य एव प्रतिनिधिगण दोनो ही, किन्तु सीनेट सदस्य, विशेष रूप से इन नियुक्तियो में से अधिकतर नियुक्तियों पर प्रभाव डालते हैं। जो सीनेट सदस्य राष्ट्रपति के दल के होते हैं, वे इस बात की प्रतीक्षा नही करते कि राष्ट्रपति उनसे पूछे कि वे किस प्रत्याशी को अमुक पद पर नियुक्त करना चाहते हैं। ज्यो ही कोई स्थान रिक्त होता है, वे अपनी ओर से पहल करते हैं और स्वय अपनी इच्छा के प्रत्याशी का नाम प्रस्तुत करते है, और प्राय अधिकतर वे अपने मन की करा लेते हैं। यदि किसी राज्य से कोई भी सीनेट सदस्य, राष्ट्रपति के दल का न हो, तो उस स्थिति में प्रतिनिधि सदन के प्रतिनिधि ऐसे प्रत्याशी के लिए अपनी ओर से सुझाव करते हैं, और इसको वे अपना अधिकार मानते हैं। कभी-कभी जब उसी दल के सीनेट सदस्य उपस्थित हो तो भी ऐसा समझौता हो जाता है जिसके अनुसार सीनेट सदस्य एव प्रतिनिधिगण दोनो मिल-जुलकर राष्ट्रपति के सरक्षण में भाग बाँट लेते हैं।

सीनेट का एक मुख्य कार्य है राष्ट्रपति के द्वारा की हुई सन्धियो को अनुमोदित करना।[1] सधियो की शर्ते निश्चित करने में राष्ट्रपति ही सर्वोच्च शक्ति है, किन्तु चतुर एव दूरदर्शी राष्ट्रपति पहले से ही प्रमुख सीनेट सदस्यो से मन्त्रणा कर लेते हैं और उनकी राय जान लेते हैं ताकि सीनेट द्वारा सम्बन्धित सन्धि के लिए अनुमोदन आसानी से प्राप्त हो सके।

कांग्रेस के दोनो सदन ही सयुक्त राज्य के अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो में विशेष रुचि रखते हैं। अपने सदेश में राष्ट्रपति अन्तर्राष्ट्रीय घटनाओ पर प्रकाश डालता है और कांग्रेस, अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो पर व्यय होने वाले धन की स्वीकृति प्रदान करती है। युद्ध की घोषणा केवल कांग्रेस ही कर सकती है। आजकल सयुक्त राज्य के शासन की प्रवृत्ति यह हो रही है कि अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वो (International Obligations) की पूर्ति, व्यवस्थापन के माध्यम से हो, न कि सधियो के द्वारा, और इससे स्पष्टतया यह ध्वनि निकलती है कि सीनेट और प्रतिनिधि सदन दोनो मिलकर शासन के सचालन में भाग लें।

न्यायिक कर्त्तव्य (Judicial Functions)—राष्ट्रपति, उपराष्ट्रपति एव अन्य राष्ट्रीय अधिकारियो के विरुद्ध सार्वजनिक दोषारोपण (Impeachment) की कार्यवाही प्रतिनिधि सदन ही प्रारम्भ कर सकता है और उस स्थिति में सीनेट न्यायालय का स्वरूप धारण करता है।

प्रत्येक सदन अपने-अपने सदस्यो के विरुद्ध तो अनुशासनात्मक कार्यवाही करने में स्वतन्त्र है ही, साथ ही किसी हद तक स्वतन्त्र व्यक्तियो के विरुद्ध भी ऐसी कार्य-

---

[1] इस पुस्तक में पिछले पाठ में 'सीनेट के विशेष कर्त्तव्य' नामक शीर्षक के अन्तर्गत अध्ययन कीजिए।

वाही की जा सकती है। कांग्रेस के सदस्यो के विरुद्ध सार्वजनिक अभियोग (Impeachment) नहीं लाया जा सकता क्योकि वे सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय के अनुसार सयुक्त राज्य के सिविल अधिकारी नही होते। इसलिये दोनो सदन मिलकर सोचते हैं और निर्णय करते हैं कि कांग्रेस के सदस्यो में अनुशासन कैसे रखा जाय, और किसी कांग्रेस के सदस्य को अपने सदन के दो-तिहाई बहुमत-निर्णय मे कांग्रेस से निकाला जा सकता है, यद्यपि ऐसा प्रायः कभी नहीं होता।

कांग्रेस के प्रत्येक सदन को नैसर्गिक अधिकार है कि वह किसी ऐसे व्यक्ति को सजा दे सकता है जिसके व्यवहार से कांग्रेस की कार्यवाही मे प्रत्यक्ष हस्तक्षेप अथवा व्यवधान पडता हो। उदाहरणार्थ यदि कोई गवाह, कांग्रेस की किसी समिति के समक्ष किसी प्रश्न का उत्तर देने से इनकार कर दे, तो वह सदन जिसकी समिति की उपेक्षा की गई है, न्यायालय के रूप में कार्य कर सकता है और उस गवाह के ऊपर सदन के तिरस्कार (Contempt) का अभियोग लगाया जा सकता है। सम्वन्धित सदन सशस्त्र परिचारक (Sergeant-at-Arms) को आज्ञा देकर उस व्यक्ति को गिरफ्तार करा सकता है। किन्तु उस व्यक्ति को केवल उतने समय के लिये ही हिरासत में रखा जा सकता है जव तक कि कांग्रेस का सत्र चलता रहे। फिर भी प्राय कांग्रेस अपने इस अधिकार का प्रयोग नहीं करती। इस प्रकार के मामले सयुक्त राज्य के महान्यायवादी (Attorney) के पास भेज दिये जाते हैं और वह विधि अनुसार सदन के तिरस्कार (Contempt) के अभियोग में उचित सजा की व्यवस्था कर देता है।

आदेशक एव पर्यवेक्षी कर्त्तव्य (Directive and Supervisory Functions)—कांग्रेस का अन्य कर्त्तव्य यह है कि वह प्रशासन के कार्यों में जांच-पडताल अथवा आदेश एव पर्यवेक्षण कर सकती है। इसमें सन्देह नही कि राष्ट्रपति और उसके मन्त्रिमण्डलीय सदस्य ही वास्तव में प्रशासन को आदेश देते है और उनके कार्यों का पर्यवेक्षण करते हैं किन्तु कांग्रेस ही तो समस्त प्रशासनिक निकायो अथवा सघातो की सृष्टि करती है। सविधान इन प्रशासनिक सघातो की रचना एव सघटन के वारे में विल्कुल मौन है। सविधान इन प्रशासनिक सघातो की शक्तियां अथवा कर्त्तव्यो की भी स्पष्ट व्याख्या नही करता। कांग्रेस के अधिनियम ही व्याख्या करते हैं कि प्रशासनिक विभागो की आकृति एव रचना किस प्रकार से होगी अथवा उनका सघटन किस प्रकार होगा, अथवा उनको क्या शक्तियां प्राप्त होगी। और इसके अतिरिक्त कांग्रेस ही तो इन विभागो को धन देती है जिसके द्वारा वे अपने-अपने क्षेत्रो में कार्य चलाते हैं। इन सबके फलस्वरूप कांग्रेस को अधिकार मिल जाता है कि वह विभागो के कार्य के ऊपर पर्यवेक्षण रखे; विभागो मे नाना प्रकार की प्रशासन-सम्बन्धी सूचनाएं प्राप्त करती रहे, विभागो को विविध कार्य और कर्त्तव्य करने को देती रहे; यही तक नही, विभागो के कतिपय क्रिया-कलापो मे कमी करने का आदेश दे दे, और धन-राशि स्वीकृत न करके चाहे तो विभागो को विल्कुल समाप्त करदे। हो सकता है कि इस प्रकार स्वय प्रशासनिक सघात अथवा

निकाय (Administrative Agency) ही समाप्त हो जाय। १९४६ के विधान पुनर्गठन अधिनियम (Legislative Reorganisation Act of 1946) ने इस बात पर बल दिया है कि दोनो सदनों की स्थायी समितियाँ प्रशासनिक विभागों के ऊपर कड़ी निगाह रखें। इसके अतिरिक्त कांग्रेस कभी-कभी चाहे तो ऐसी विधि पारित कर सकती है, जिनके द्वारा प्रशासनिक विभागो को आदेश दे कि वे प्रशासन की सभी सूचनाएँ कांग्रेस को पहुँचाते रहें। इस प्रकार महानियन्त्रक (Comptroller General) को कांग्रेस के आधीन अथवा कांग्रेस के प्रति उत्तरदायी बनाया गया है न कि राष्ट्रपति के प्रति। कांग्रेस किसी समय ऐसा प्रस्ताव भी पास कर सकती है जिसके अनुसार प्रशासन को आदेश दे कि इस प्रकार की परिस्थिति में इस प्रकार कार्यवाही करो।

खोज पडताल सम्बन्धी कर्त्तव्य (Investigative)—हमने सीनेट की खोज-पडताल करने वाली समितियो के बारे में विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला था,[1] और हमने यह भी बतलाया था कि ये समितियाँ किस प्रकार प्रशासन को अपनी सीमाएँ उल्लघन नही करने देती किन्तु इस प्रकार की समितियो की नियुक्ति केवल सीनेट ही नही करता। तथ्य यह है कि कांग्रेस की खोज-पडताल करने वाली समितियाँ तभी से अपना कार्य कर रही हैं जब से कांग्रेस का जन्म हुआ है। कांग्रेस को अधिकार है कि वह जब कभी आवश्यकता अनुभव करे किसी भी ऐसे विषय में खोज-पड़ताल कर सकती है जिसका सम्बन्ध, कांग्रेस के विधान-निर्माण, सशोधन, निर्वाचकीय, आदेशक एव पर्यवेक्षी (Directive and Supervisory) अथवा अन्य कर्त्तव्यो से है। एलेक्जेंडर हैमिल्टन (Alexander Hamilton) तथा अर्थ विभाग (Treasury Department) की जाँच-पडताल द्वितीय कांग्रेस ने कराई थी। और तभी से प्राय राष्ट्रपति, और मन्त्रिमण्डल के पदो और कार्यालयो की भी बार-बार जाँच-पडताल हुई है।

कांग्रेस द्वारा जाँच-पडताल करते रहने से प्रशासन उत्तरदायी बना रहता है। किसी देश के प्रजातन्त्रात्मक विधानमण्डल का यह उचित कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उस देश के शासन के विभिन्न क्रिया-कलापो पर दृष्टि और नियन्त्रण रखे जिसका वह समर्थन करता है, और वह शासन की नीतियाँ तथा कार्यकलाप सर्वसाधारण को बताता रहे। संसदीय शासन-प्रणाली में ऐसे बहुत से उपाय हैं जिनके द्वारा शासन के ऊपर नियन्त्रण रखा जा सकता है और उसको विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी बनने पर बाध्य किया जा सकता है। किन्तु राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली में ऐसे उपाय सम्भव नही हैं, और किसी बात का विशिष्ट उत्तरदायित्व किसी एक पर नही लाया जा सकता है। इसलिये विधानमण्डल द्वारा खोज-पडताल एव पर्यवेक्षण अत्यन्त आवश्यक उपाय हैं, चाहे वे किसी हद तक भद्दे मालूम पड़ते हैं और इनके द्वारा कार्यपालिका एव प्रशासनिक विभाग सकोचपूर्ण परिस्थिति में पड जाते हैं और उनको कठिन जवाबदेही का शिकार बनना पडता है। फिर भी प्रशासन के क्रिया-कलापों पर विज्ञापन (Publicity) के द्वारा पर्याप्त प्रकाश डालते रहना आधुनिककाल की

---

[1] इस पुस्तक में अध्याय ५ देखिये।

नितान्त आवश्यकता बन गई है। जहाँ कांग्रेस ने आवश्यकतावश शासन के कार्य-क्षेत्र को विस्तृत किया है, वहीं इसको मजबूरन अपनी नियामक शक्तियाँ (Regulatory Powers) प्रत्यायोजित (Delegate) करनी पडी हैं; अनेको प्रशासनिक कार्यालय (Administrative Bureau) बढाने पडे हैं; "और विधि के अनुसार तथा बहुत बडी धन-राशि व्यय करके एक बहुमुखी एव अत्यन्त जटिल (Complex) शासन यन्त्र चलाने पर बाध्य होना पडा है जिस पर प्रतिवर्ष ४२ अरब डालर से अधिक व्यय होता है और जिसके सचालन में २० लाख स्त्री-पुरुष शासनिक भृत्यो के रूप में कार्य करते हैं।"[1]

बहुत से प्रसिद्ध अमेरिकन विद्वानो ने कांग्रेस की खोज-पडताल सम्बन्धी (Investigatory) शक्तियो को अमेरिका के लिये लज्जास्पद बताया है, और उन्होंने कहा है कि इनको त्याग देना श्रेयस्कर है। सत्य यह है कि सविधान ने इस प्रकार की खोज-पडताल की आज्ञा नही दी है, फिर भी अमेरिका की विधायी प्रक्रिया (Legislative Procedure) में यह खोज-पडतालें घर कर गई हैं।[2] इसमें सन्देह नही कि इन समितियो के उग्र दलगत राजनीतिक सदस्यो (Politically inspired members of these Committees) ने अपनी जांच-पडताल की शक्तियो (Investigatory Powers) का व्यापक दुरुपयोग किया है। "किन्तु भ्रष्टाचार तथा रिश्वतखोरी के मामलो का पता केवल इन्ही कांग्रेस की जांच-पडताल वाली समितियो के कार्य के द्वारा चला है। जांच-पडताल के द्वारा ही यह निश्चित किया जा सका है कि कौन पुरानी विधियाँ समयानुकूल एव पर्याप्त हैं तथा किन नई विधियो अथवा नये नियमो की आवश्यकता है। कांग्रेस की जांच-पडतालो (Investigations) के द्वारा ही नही बल्कि उनकी सम्भावना के कारण भी पदो की शक्तियो का दुरुपयोग, अयोग्यता (Inefficiency), शक्तियो का ग़लत अर्थों में प्रयोग आदि पर अकुश लगा रहा है।"[3]

विधायिनी कर्त्तव्य
(Legislative Functions)

कांग्रेस मुख्यत एक व्यवस्थापक सघात है (Congress is Primarily a Legislative Body)—यद्यपि कांग्रेस को अनेको अ-विधायिनी कर्त्तव्य (Non-legislative Functions) करने पडते हैं जिनका महत्त्व भी है, किन्तु वास्तव में कांग्रेस मुख्यत एक विधानमण्डल ही है; और सविधान कांग्रेस को ही समस्त

---

[1] Tourellot, A B The Anatomy of American Politics (1950), Pp. 98.

[2] अमेरिका के उपनिवेशीय विधानमण्डलों को अधिकार था कि वे किसी विशिष्ट मामले पर छानबीन कर सकते थे। प्रारम्भिक १३ राज्यों में से कुछ राज्यों के सविधानों में इस प्रकार की सामान्य आज्ञा का आभास मिलता था।

[3] Tourellot, A B The Anatomy of American Politics; Pp 99

नही देती। काग्रेस को जो अठारह स्पष्ट शक्तियाँ (Express powers) प्राप्त हैं उनमें से दो शक्तियो का सम्बन्ध करारोपण (Levying of taxes), राज्य-धन के व्यय (Spending public money) एव सघीय शासन की ओर से कर्ज लेने से है। तीसरी शक्ति का सम्बन्ध पर-राष्ट्रो के साथ अथवा अन्तर्राज्यीय वाणिज्य से है। इन तीन पदो अथवा मदो (Items) का ही इतना आश्चर्यकारी फैलाव हुआ है कि जहाँ सविधान की किसी छपी हुई प्रति में यह पद छ पक्तियो में छप जायेंगे, वही उक्त तीन पद सैकडो और हजारो ऐसे सुदूरगामी परिनियमो (Statutes) के आधार वन गये हैं जिनको कांग्रेस ने समय-समय पर शासन व्यवस्था के लिये अविनियमित किया है। सविधान में वाणिज्य के सम्बन्ध में जो धारा है, उसका सहारा लेकर पिछले दो दशको (decades) में अनेको अधिनियम बने हैं जिनसे व्यापारिक प्रथाओ का विनियमन, सगठित श्रमिक सस्थाओ के हितो की रक्षा, कोयला-खान-उद्योगो का वर्गीकरण, तथा स्कन्ध (Stock) एव अनाज वाजारो में स्थायित्व हुआ है। कांग्रेस की शक्तियो में वर्द्धन सार्वजनिक लोक-कल्याण सम्बन्धी धारा के कारण भी हुआ है और अन्तिम रूपेण राष्ट्रीय रक्षा का आधार लेकर तो कांग्रेस की शक्तियाँ अपरिमित हो गई हैं। जव देश में आर्थिक सकट काल अथवा मदी (Economic depression) का भय छा गया, उस समय कुछ लोग सोचते थे कि कांग्रेस के पास देशव्यापी मदी से छुटकारा दिलाने के लिये पर्याप्त शक्तियो का अभाव है। आजकल ऐसे डर की कोई सभावना नही है। "सच तो यह है कि आज वहुत से लोगो को यह भय है कि कांगेस के ऊपर अत्यधिक उत्तरदायित्व लाद दिया गया है, विशेषकर उन क्षेत्रो मे जो पहले या तो सर्वसाधारण के नियन्त्रण में थे अथवा राज्यो के अधिकार में थे।"

विधि निर्माण की प्रक्रिया
(The making of Laws)

विभिन्न प्रकार के विधेयक (Kinds of bills)—विधेयक को पास करने की प्रक्रिया पर विचार करने के पूर्व यह आवश्यक है कि विधेयको (bills) और सयुक्त प्रस्तावो (Joint resolutions) के वीच का भेद समझ लिया जाय और इसके वाद विधेयको के वीच में जो भेद है, उस पर विचार किया जाय। सीनेट तथा प्रतिनिधि सदन दोनो का अधिकतर कार्य विधेयको अथवा सयुक्त प्रस्तावो के द्वारा होता है। इन दोनो में प्राय कोई अन्तर नही है, सिवाय इसके कि सयुक्त प्रस्तावो का विषय अथवा उद्देश्य सकुचित होता है और वे थोडे ही समय तक प्रभावी रहते हैं। अन्यथा सयुक्त प्रस्ताव, विधेयको के ही समान होते हैं, उनकी भी वही प्रक्रिया होती है। और एक-सी ही हालत में दोनो प्रभावी होते हैं। किन्तु सयुक्त प्रस्ताव (Joint resolutions), सवर्ती प्रस्तावो (Concurrent resolutions) और प्रतिनिधि सदन के साधारण प्रस्तावो अथवा साधारण सीनेट प्रस्ताव (Simple house or senate resolutions) से भिन्न होते हैं। सवर्ती प्रस्तावों के द्वारा दोनो सदन अपना स्वरूप (Attitude)

अभिप्राय, (Opinion) तथा लक्ष्य अथवा प्रयोजन (Objective) प्रकट करते हैं। किन्तु उनका वैधिक महत्त्व नही के बराबर है और उनको राष्ट्रपति के समक्ष अनुमति के लिये नही रखा जाता। प्रतिनिधि सदन का साधारण प्रस्ताव, अथवा साधारण सीनेट प्रस्ताव सम्बन्धित सदन के अभिप्राय (Opinion), उद्देश्य (Purpose) अथवा इच्छा (Intention) को प्रकट करते हैं, और उनके लिये यह आवश्यक नही है कि उनको दूसरा सदन अनुमोदित करे। उनका भी कोई वैधिक महत्त्व नही है और इस कारण उनको भी राष्ट्रपति के पास उसकी स्वीकृति के लिये नही भेजा जाता।

स्वय विधेयक भी कई प्रकार के होते हैं, और उनमें भेद होता है। कुछ विधेयक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते हैं और उनमें शासन की नीति का वृहत् आयोजन निहित होता है। इनमें नीति का विस्तारपूर्वक दिग्दर्शन रहता है, और इस प्रकार का विधेयक कभी-कभी ७५ छपे हुए पृष्ठो से भी अधिक में छापा जाता है। उपर्युक्त विधेयको को सार्वजनिक विधेयक (Public bills) कहा जा सकता है। किन्तु अन्य विधेयको में प्राइवेट मामले निहित होते हैं, और इनको प्राइवेट विधेयक समझना चाहिये। किन्तु अमेरिका में इगलैंड की तरह मन्त्रिमण्डल का नेतृत्व विधेयकों के सम्बन्ध में नही है, जहाँ सार्वजनिक विधेयको को शासन ही पुरःस्थापित (Introduce) करता है, शासन ही उसका मार्ग-दर्शन करता है और शासन ही उस विधेयक में निहित बुराई भलाई का प्रतिभू बनता है। किन्तु अमेरिका की कांग्रेस में वहाँ की सरकार का कोई दखल नही है और सभी विधेयक कांग्रेस के सदस्यो द्वारा ही पुरःस्थापित किये जाते हैं। किन्तु इस सम्बन्ध में विधेयकों तथा सयुक्त प्रस्तावो के भेद की तरह इसमें भी भेद व्यवहार के रूप में प्राय नही बरता जाता।

विधेयको की पुरःस्थापना (Introduction of Bills)— प्रायः ऐसा समझा जाता है कि विधेयको की पुरःस्थापना या तो सीनेट सदस्य अथवा प्रतिनिधि लोग ही करते हैं। यह पूर्ण सत्य नही है, यद्यपि कुछ वैधिक प्रस्ताव निश्चय ही दोनो में से किसी एक सदन में पुरःस्थापित किये जाते हैं। वास्तव में अधिकतर विधेयक कार्यपालिका द्वारा पुरःस्थापित किये जाते हैं, अर्थात या तो राष्ट्रपति की ओर से अथवा किसी कार्यपालिका विभाग की ओर से अथवा किसी स्वतत्र एजेन्सी-कार्यालय की ओर से। कुछ विधेयक, प्रभावपूर्ण वर्गों अथवा ऐसे लोगो की प्रेरणा पर पुरःस्थापित किये जाते हैं जिनका शासन से कोई सम्पर्क नहीं होता। फिर भी, चाहे किसी विधेयक के सम्बन्ध में प्रेरणा किसी ओर से भी हुई हो; किन्तु इसकी वास्तविक पुरःस्थापना किसी कांग्रेसी सदस्य के नाम से ही होना आवश्यक है। इस प्रकार सीनेट अथवा प्रतिनिधि सदन के सदस्य एक प्रकार से मध्यस्थ के रूप में कार्य करते हैं, न कि विधेयको के वास्तविक पुरःस्थापक के रूप में।

सदस्य लोगो को विधेयकों के प्रस्ताव, विभिन्न शासकीय कार्यालयो (Agencies) से अथवा प्राइवेट संघातों (Groups) से प्राप्त होते हैं। जो सदस्य उक्त विधेयक का पुरःस्थापक बनना स्वीकार करता है, विधेयक की प्रति अपने नाम से या तो सदन

(४) समिति उक्त विधेयक को अस्वीकृत कर सकती है और विरोधी सिफारिश के साथ उसे लौटा सकती है ;

(५) समिति विधेयक को फाइल सुपुर्द करके उसकी हत्या कर सकती है, अर्थात् उस पर कोई कार्यवाही करना उचित नही समझ सकती अथवा उसके सम्बन्ध में रिपोर्ट करने में इतनी देर लगा सकती है कि उस सत्र (Session) में उक्त विधेयक पर विचार करने का समय ही न रह जायगा।

प्राय समिति का सभापति ही, अथवा उसके द्वारा नामांकित कोई व्यक्ति सदन को विधेयक के सम्बन्ध में रिपोर्ट भेजता है। महत्त्वपूर्ण विवादो पर समिति की रिपोर्ट लम्बी-चौडी (Extensive) और पूर्ण (Exhaustive) हो सकती है किन्तु साधारण मामलो में समिति केवल हाँ या ना में रिपोर्ट दे सकती है। बडी समितियो के महत्त्वपूर्ण विधेयको के सम्बन्ध में कार्यवाहियो (Hearings) को प्रकाशित कराया जाता है, जिनमें से कुछ कांग्रेस की प्रलेख माला (Documents series of Congress) में प्रकाशित होते हैं। ऐसे निर्णयो में कभी-कभी समिति की अल्पमत की रिपोर्ट (Minority reports) भी साथ-साथ फाइल में रखी जाती हैं।

सदन में विधेयक को पास करने की प्रक्रिया (Procedure on the floor)—जिस विधेयक को समिति, रिपोर्ट सहित सदन में भेज देती है, उसको मुख्य तीन सूचियो (Calendars) में से किसी एक समुपयुक्त सूची में रख दिया जाता है। विधान-सभा की सूची अथवा केलेण्डर (Calendar) वह अभियोग सूची (Docket) है, अथवा उन विधेयको की वह सूची है जिन्हें समितियाँ सदन के विचारार्थ प्रतिवेदन (report) सहित वापिस भेज देती है। प्रतिनिधि सदन इस प्रकार की तीन अभियोग सूचियाँ (Dockets) रखता है जिनमें विभिन्न प्रकार के विधेयक रखे जाते हैं—(१) एक समस्त सदन की समिति की अभियोग सूची (Calendar) होती है जिसका विषय 'संघ की स्थिति' (State of the Union) है, इस अभियोग सूची में वे समस्त सार्वजनिक विधेयक रखे जाते है जिनका सम्बन्ध राजस्व से होता है अथवा किसी ऐसे दोषारोपण या अभियोग (Charge against) से होता है जो शासन के विरुद्ध लगाया जाय। इस सूची को संघ-सूची (Union Calendar) भी कहते है। (२) दूसरी सदन की सूची (House Calender) होती है जिसमें वे समस्त अवित्तीय सार्वजनिक विधेयक रखे जाते हैं, जिनका सम्बन्ध न तो राजस्व से हो, न सम्पत्ति अथवा रुपये पैसे से हो। (३) तीसरी समस्त सदन की समिति की सूची (Calendar) होती है जिसमें सभी प्राइवेट विधेयक (Private bills) रखे जाते हैं। इसको प्राइवेट अभियोग सूची (Private Calendar) भी कहते हैं। इन अभियोग सूचियो में विधेयको को उसी क्रम के अनुसार नत्थी किया जाता है जिस क्रम में वे समितियो से प्राप्त होते हैं, और वे समस्त विधेयक कांग्रेस के स्थगन (Adjournment) तक उसी सूची में उसी प्रकार रखे रहते हैं, हां, उनको विचारार्थ ही उससे (कांग्रेस के स्थगन से) पूर्व हटाया जा सकता है।

प्रतिवेदन स्तर (Committee reporting)—जब प्रतिनिधि सदन में विधेयक के विचारार्थ उपस्थित करने का समय हो जाता है, उस समय सदन सामान्यतया समस्त सदन की समिति (Committee of the Whole) के रूप में सम्मिलित होता है। १९३० के पूर्व, सीनेट समस्त सदन की समिति (Committee of the Whole) का प्रयोग प्रतिनिधि सदन की अपेक्षा अधिक बार किया करता था, किन्तु आजकल सीनेट ने सामान्य विधेयको पर विचार करने के सम्बन्ध में इस व्यवहार को समाप्त कर दिया है, केवल जिस समय सन्धियो पर वाद-विवाद होता है, तभी समस्त सदन की समिति का प्रयोग होता है। समस्त सदन की समितियाँ दो प्रकार की होती हैं प्रथम, समस्त सदन की वह समिति होती है जिसमें अ-सार्वजनिक (Private) विधेयको पर विचार किया जाता है; और द्वितीयत, समस्त सदन की समिति 'सघ की स्थिति' (State of the Union) के सम्बन्ध में होती है जिसमें केवल सार्वजनिक विधेयको (Public bill) पर विचार किया जाता है। जब प्रतिनिधि सदन समस्त सदन की समिति (Committee of the Whole) के रूप में परिवर्त्तित हो जाता है, तो सदन का सभापति (The Speaker) अपना आसन छोड देता है और किसी अन्य सदस्य से प्रार्थना करता है कि वह सभापति का आसन ग्रहण करे। कम-से-कम १०० सदस्यो की उपस्थिति से इयत्ता (Quorum) पूर्ण हो जाती है। समस्त सदन की समिति में वाद-विवाद खुलकर और अनौपचारिक रूप से होता है। केवल मौखिक ढग से मत गणना (Divisions) की जाती है जिसमें सदस्य या तो केवल खडे होकर अथवा मौखिक कहकर (By tellers) अपना-अपना मत देते हैं। इस बात का कोई लिखित प्रमाण नही रखा जाता कि किस सदस्य ने किस पक्ष में मत दिया। विवादग्रस्त विषय को किसी अन्य व्यक्ति या समिति के पास मत जानने के लिये भेजने (To refer) की आज्ञा नही दी जाती, न समस्त सदन की समिति विवादग्रस्त विषय को आगे के लिये टाल सकती है। जब वाद-विवाद समाप्त हो जाता है, और समस्त सदन की समिति, मतो द्वारा स्वय भग होने की आज्ञा देती है, तब सदन का स्पीकर पुन अपनी ही कुर्सी पर आ विराजता है और पुन सभापति की गदा (Mace) चौकी (Pedastal) पर सभापति के आसन के दाहिनी ओर रख दी जाती है।

समस्त सदन की समिति आहूत करने का तरीका वास्तव में महत्त्वपूर्ण है क्योकि इसके द्वारा समस्त वित्तीय विधेयको और अन्य महत्त्वपूर्ण विधेयको पर इस प्रकार विचार हो सकता है, कि प्रत्येक सदस्य को, जो बोलना चाहे, अथवा उस सम्बन्ध में सशोधन उपस्थित करना चाहे, अवसर मिल जाता है। सत्य यह है कि प्रत्येक सदस्य को तदर्थ अवसर प्रदान किया जाता है। इसके द्वारा अनेको सशोधन उपस्थित करने का, व्याख्या करने का एव उनके निपटारा करने का अवसर मिल जाता है। "इसके द्वारा सदन में उत्साह आ जाता है, और वाद-विवाद का स्तर ऊँचा हो जाता है, और फलस्वरूप सदन की कार्यवाही प्रतिष्ठा सम्पन्न दिखाई देने लगती है। चूंकि सदस्यो द्वारा मतदान का लिखित प्रमाण नहीं रखा जाता,

national representative body)—कांग्रेस की हीनतर प्रतिष्ठा का मुख्य कारण यह है कि कांग्रेस सच्चे अर्थों में राष्ट्र का प्रतिनिधि निकाय नही है। वास्तव में कांग्रेस राज्यो के शिष्टमण्डलो का एक समूह है। "राष्ट्रपति पद के विकास के विपरीत, कांग्रेस का विकास प्राय प्रादेशिक उद्देश्यो को लेकर हुआ है। कांग्रेस का प्राय यही मुख्य कार्य रहा है कि समझौते के द्वारा विरोधी प्रादेशिक हितो मे सामजस्य स्थापित कराया जा सके। राष्ट्रीय विधान निर्माण करते समय कांग्रेस का ध्येय यह देखना रहा है कि किसी विधान का प्रभाव किसी क्षेत्र विशेष पर क्या होगा अथवा उसकी प्रतिक्रिया उस प्रदेश में क्या होगी जहाँ से प्रतिनिधि या सीनेट सदस्य आये हैं और जहाँ उनको वापिस जाना है, न कि यह देखना कि किसी विधान का समस्त राष्ट्र पर क्या प्रभाव पडेगा अथवा राष्ट्र का हित मगल उसके द्वारा कहाँ तक हो सकेगा।"[1] प्रो० लास्की का कथन है कि कांग्रेस महाद्वीप (Continent) का विधानमण्डल है और कांग्रेस का सदस्य अपने क्षेत्र अथवा महाद्वीप खण्ड के हितों के बारे मे ही सोचता है। किसी विधेयक के विषय में सोचते समय वह यही सोचेगा कि उसका प्रभाव उस क्षेत्र विशेप पर क्या पडेगा जिसका वह प्रतिनिधि है, किन्तु वह यह नही सोच सकता कि उसका प्रभाव समस्त देश पर क्या पडेगा। कांग्रेस के इस क्षेत्रीय एव स्थानीय रवैया (Attitude) के कारण यह अशक्त एव पिछडी हुई सस्था के रूप में विकसित हुई है, और निस्सन्देह इस कमजोरी से राष्ट्रपति की स्थिति को लाभ पहुँचा है, और राष्ट्रपति-पद राष्ट्रीय एकता का प्रतीक समझा जाने लगा है।

२. **स्थानीय एव क्षेत्रीय हितों का शासन (Locality Rule)**—कांग्रेस और उसके सदस्यो के सम्मुख स्थानीय एव क्षेत्रीय हितो की बात ही मुख्य रूप से रहती है। सविधान में भी यही लिखा है कि सीनेट सदस्य और प्रतिनिधिगण उसी राज्य के निवासी होंगे जिसका वे प्रतिनिधित्व करते हैं, और प्रथा इससे भी आगे है, जिसके अनुसार प्रतिनिधि उस राज्य के निवासी तो होंगे ही, साथ ही उनको उसी निर्वाचक जिले का निवासी भी होना चाहिए जिसका प्रतिनिधित्व वे करना चाहते हैं। प्रतिनिधि सदन का सदस्य सदैव याद रखता है कि प्रति दो वर्षो बाद उसके निर्वाचकगण उसको परखेंगे। इस चेतना के फलस्वरूप वह सदैव यह ही सोचता है कि किस बात मे उसके निर्वाचकगण प्रसन्न होंगे। इसका स्पष्ट फल यह है कि प्रत्येक कांग्रेस सदस्य सचेत रहकर राष्ट्रीय हितो को तिलाञ्जलि दे देता है किन्तु स्थानीय अथवा क्षेत्रीय हितो की रक्षा करता है।

इगलैण्ड की ससद् का सदस्य दल के सचेतक (Whip) की अवहेलना करने का साहस नही कर सकता, और वह दल के अनुशासन अथवा आज्ञा के विरुद्ध नही जा सकता, चाहे दल का निर्णय किसी विषय पर उनके निर्वाचकगण की इच्छाओ और उनके हितो के विरुद्ध ही क्यो न हो। अमेरिका में न तो सीनेट सदस्य और न प्रतिनिधि अपने राज्य अथवा अपने निर्वाचन-क्षेत्र के लोगो की इच्छा के विरुद्ध जाने

---

[1] An Anatomy of American Politics p 79

का साहस करेगा और उनकी यह हिम्मत नही है कि वे स्थानीय अथवा क्षेत्रीय हितों को तिलाञ्जलि देते हुए अपने दल की आज्ञा एव अनुशासन स्वीकार करें। अमेरिका में कांग्रेस का सदस्य जानता है कि यदि वह चुनाव में हार गया तो उसकी कांग्रेसी सदस्यता की जीवन-वृत्ति (Congressional career) समाप्त हो जायगी। राष्ट्रपति अथवा उसका दल उसकी सहायता नही कर सकते। "वे उसको उसके राज्य अथवा निर्वाचन-क्षेत्र से बाहर कही से भी कांग्रेस के लिए सीट नही दिला सकते। अधिक-से-अधिक वे उसको कोई नौकरी दे सकते हैं—और ऐसा भी वे सदैव नही कर सकते।" इसका फल यह होता है कि स्थानीय दल के नेता की इच्छाएँ, यदि उसकी इच्छाओ पर उसका सौभाग्य निर्भर है, अथवा उसके आस-पास के महत्त्वपूर्ण लोगो की इच्छाएँ ही उसके लिए सब कुछ है, और उनकी इच्छाओं अथवा उनके हितो के विरुद्ध वह अपने दल के राष्ट्रीय नेताओ की उतनी चिन्ता नही करेगा।

३. **कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में विच्छेद** (Divorce between the Executive and Legislature)—राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली मे शासन के स्पष्ट विभाग होते हैं। इगलैण्ड में ससद् केवल एक औपचारिक व्यवस्थापक निकाय है। वहाँ ससद् का वास्तविक कर्त्तव्य यह है कि वह मन्त्रिमण्डल के निर्णयो का अनुमोदन करे, और उनको शक्ति प्रदान करे। यह हो सकता है कि किसी विधेयक में ससद् मामूली हेर-फेर अथवा सशोधन कर दे, किन्तु मुख्य रूप से विधान निर्माण व्हाइट हाल (White Hall) में ही होता है, न कि वेस्टमिनिस्टर (Westminister) में जहाँ पार्लियामेंट स्थित है। किन्तु कांग्रेस की स्थिति इसके बिलकुल विपरीत है। सयुक्त राज्य अमेरिका में कांग्रेस के दोनो सदनों का मुख्य कार्य विधान निर्माण करना है। सीनेट अथवा प्रतिनिधि सदन दोनो अपने क्षेत्रो में राष्ट्रपति से प्रेरणा नही लेते। इसमें सन्देह नही कि दोनो सदन राष्ट्रपति के साथ सहयोग करते हैं, विशेषकर राष्ट्रीय आपात् कालो (National Emergencies) में, किन्तु सामान्यत कांग्रेस शासन की एक समन्वयकारी शाखा है जो कार्यपालिका के साथ मिलकर कार्य करती है। और अधिक स्पष्टीकरण करते हुए कहा जा सकता है कि अमेरिका में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका शासन-यन्त्र के दो बराबर भागीदार (Co-equal partners) हैं; और यदि इन दोनो बराबर के हिस्सेदारो में कभी मत विभिन्नता हो जाय तो उस स्थिति में राष्ट्रपति की नही चलेगी, बल्कि कांग्रेस की बात ही मानी जायगी। लास्की (Laski) के अनुसार राष्ट्रपति के पास निषेधाधिकार (Veto) अवश्य है किन्तु वह अन्तिम उपचार के रूप में आरक्षित अस्त्र (Reserve weapon) है, न कि प्रति समय काम आने वाला उपाय। इसीलिए अमेरिका में शासन में उसी प्रकार की ससक्ति (Cohesiveness) नही पायी जाती और जिस दलगत निष्ठा के कारण कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में समन्वय पाया जाता है उसका आधार पतला एवं क्षण भगुर है, इसलिए अमेरिकी शासन में नीति सम्बन्धी एकता का पूर्ण अभाव है किन्तु जो इगलैण्ड और अन्य ससदीय शासन-प्रणाली वाले देशो में प्रचुर मात्रा में पाया जाता है।

४. कांग्रेस की स्वतन्त्रता (Independence of Congress)—निश्चित रूप से कांग्रेस और राष्ट्रपति के हित एक दूसरे से टकराते हैं। इसमे सन्देह नही कि दलगत निष्ठा के कारण वे मिले भी रहते हैं किन्तु लास्की के कथनानुसार "यह समझ लेना अत्यन्त आवश्यक है कि दलगत निष्ठा भी राष्ट्रपति और कांग्रेस में पूर्ण समन्वय नही पैदा कर सकती।" सघीय शासन की स्थापना के प्रारम्भ से ही कांग्रेस ने सदैव अपनी स्वतन्त्र सत्ता और स्वतन्त्र निश्चयो के लिये प्रयत्न किया है। केवल युद्ध-काल में अथवा आपात् काल में जैसा कि मार्च १९३३ के समय था और जबकि राष्ट्रपति और कांग्रेस में उद्देश्य और इच्छा एव निश्चयो की समानता थी, राष्ट्रपति और कांग्रेस दोनो में पूर्ण एकात्मकता थी। इसके दो कारण हैं—प्रथमत यह निश्चित तथ्य है कि तो भी यदि कांग्रेस अपने ही मन की करनी चाहे, प्रशासन की भाग्य विधाता कांग्रेस नही है, और द्वितीयत· प्रत्येक कांग्रेस का सदस्य प्रयत्नपूर्वक दावा करता है कि कांग्रेस को राष्ट्रपति मन्दाभ नही कर सकता। यदि राष्ट्रपति द्वारा पुर स्थापित किये गये किसी विधेयक मे कांग्रेस का सदस्य कोई हेर-फेर अथवा सशोधन कर दे, तो इसका केवल यही अर्थ है कि "वह सदस्य अपनी ऊँची स्थिति की ओर सबका ध्यान आकर्षित करना चाहता है और साथ ही यह भी बताना चाहता है कि राष्ट्रपति ही समस्त राष्ट्र का भाग्य-विधाता अथवा अधिनायक (Unqualified master) नही है।

५ कांग्रेस की अदूरदर्शी नीति (Short-sighted policy of Congress)—इसका स्पष्ट फल यह है कि चारो ओर असङ्गतता (Incoherency) और अनुत्तरदायित्व (Irresponsibility) का बोलबाला है। वेइन्तिहा विधान-निर्माण चल रहा है जिसके कारण अदूरदर्शी काम सम्पन्न होते हैं। कांग्रेस ने सम्भवत कभी भी दूरदर्शी एव स्थायी नीति का परिचय नही दिया है, इसमें केवल वे अवसर अपवाद हैं जबकि किसी सशक्त राष्ट्रपति के दबाव के कारण कांग्रेस ने दूरदर्शिता का परिचय दिया हो। जब कभी शासन पर कांग्रेस छायी रही, उतने काल में वर्गो एव क्षेत्रो के हित सर्वप्रधान रहे जैसी कि गृह-युद्ध के पूर्व स्थिति रही, अथवा जिस प्रकार कि गृह-युद्ध के बाद भ्रष्टाचारियो (Spoilsmen) की चढ बनी थी। "यदि विधि की उचित मान-मर्यादा रखी जाय अर्थात् विधि को समस्त जाति अथवा राष्ट्र के नैतिक जीवन की कसौटी एव नैतिक जीवन से सम्बन्धित कानून समझा जाय, तो कांग्रेस ने निश्चित रूप से मूढता एव मन्दता का परिचय दिया है और उसने विधि को उस रूप में न देखा, न समझा।" यही कारण रहा है जो कांग्रेस, प्रगति में सर्वसाधारण से पीछे रह गई है और जिसके कारण यह सभी लोगो के मजाक की चीज बन गई, सुसस्कृत एव व्युत्पन्न (Enlightened) लोगो मे निराशा का कारण बन गई और क्रूर एव निर्दय (Ruthless) लोगो के लिये आशा की किरण स्वरूप बन गई।"[2]

६ कांग्रेस का अयोग्य सचालन (Inefficient working of Congress)—

---

1. The Anatomy of American Politics, p 83
2 Ibid

यदि कोई व्यक्ति स्थूल दृष्टि से भी कांग्रेस के क्रिया-कलापों पर नजर डाले तो उसे यह देखकर क्षोभ होगा कि व्यवस्थापिका का अपार समय छोटी-मोटी व्यर्थ की बातो पर नष्ट किया जाता है और प्रतिनिधि सदन में विशेष रूप से वडे-वडे महत्त्वपूर्ण विषयो पर वडी ही अनुचित जल्दबाज़ी की जाती है। इसके अतिरिक्त अभिवाधक नीति अथवा अडंगेबाज़ी (Filibuster) और सन्धियो के अनुमोदन के लिये दो-तिहाई बहुमत की आवश्यकता भी कांग्रेस और उसके बहुमत के मार्ग में बहुत भीषण रुकावटें हैं जिनके कारण निश्चित उद्देश्य की पूर्ति में वाधा पडती है। दोनो सदनो की कार्य करने की रीति भी कुछ ऐसी दूषित है कि उससे अल्प मत वालों को वढावा मिलता है और वे सदनो के कार्य में वाद विवाद के नियमों की उचितता की ओर वार-वार ध्यान दिलाकर (Frequent points of order), व्यर्थ समय नष्ट करने वाले प्रस्तावों को रखकर (Time consuming motions); वाद-विवाद में असङ्गत प्रसग प्रस्तुत करके और वारवार इयत्ता अथवा गणपूरक (Quoram) की याद दिलाकर वाधा उपस्थित करते हैं।

कांग्रेसी सदस्य न केवल व्यवस्थापक (Legislator) है, वल्कि उससे आशा की जाती है कि वह अपने निर्वाचकमण्डल की ऐसे-ऐसे विभिन्न क्षेत्रों में सेवा करे जिनका व्यवस्थापिका से विल्कुल सम्बन्ध नही है। "एक वार एक प्रतिनिधि ने हिसाब लगाया था कि किसी सदस्य का तीन-चौथाई समय तो कार्यपालिका विभाग के कार्यालयो में मिलने-जुलने में, कोलम्बिया जिले (District of Columbia) के मामले निपटाने में, शासन के विरुद्ध दावो की पैरवी करने में, अपने निर्वाचको के लिये नौकरियाँ दिलाने में और इसी प्रकार के अन्य छोटे-मोटे कामों में नष्ट हो जाता है।"[1] इसका फल यह होता है कि वहुत ही थोडे सदस्य व्यवस्थापन-कार्य में सम्यक् समय लगा पाते हैं।

७. न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review)—न्यायिक पुनरीक्षण से भी व्यवस्थापकों की हिम्मत पस्त रहती है। सविधान ने विधान-निर्माण के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति सर्वोच्च न्यायालय को सौंप दी है और कांग्रेस सदस्य जब किसी विधेयक का सूत्रपात करते हैं तो उनको न केवल यह सोचना पडता है कि उनके निर्वाचकगण क्या चाहते हैं अथवा वे क्या सहन कर सकते हैं, वल्कि उनको यह भी सोचना पडता है कि कांग्रेस जो भी विधेयक जिस रूप में पास करेगी, उसको सर्वोच्च न्यायालय कहाँ तक स्वीकार करेगा यदि उस विधेयक की विध्यनुकूलता पर न्यायालय में आक्षेप किया जाय। कोई भी पहले से यह नहीं सोच सकता कि सर्वोच्च न्यायालय का क्या रुख होगा किन्तु शका तो वनी ही रहती है। प्रोफेसर ब्रॉगन (Prof. Brogan) कहता है कि "जब सभी विधेयकों को इस प्रकार की चुनौती (Gauntlet) की आशका रहती है, तो इस शंका के फलस्वरूप सभी व्यवस्थापिका सदस्यो और उनके समर्थकों

---

[1] Ferguson and Mc. Henry. The American System of Government, pp. 281-282.

का हतोत्साह हो जाना स्वाभाविक है और फिर स्वभावत कांग्रेस सदस्य तथा उनके समर्थक विधाननिर्माण की ओर से कुछ तटस्थ से होकर अन्य अधिक व्यावहारिक एव स्पष्ट लाभकारी कार्यों की ओर अपना ध्यान लगाते हैं, जैसे नौकरियाँ दिलाना अथवा अन्य प्रकार से लोगो के हित-साधन करना ।"[1]

८. **आर्थिक एव सामाजिक हितो का एकीकरण** (Unification of economic and social interests)—देश की आधुनिक स्थिति को देखते हुए यह प्रकट है कि अमेरिका में आर्थिक एव सामाजिक हितो का एकीकरण बडी तेजी से हो रहा है। अब वर्गीय अथवा क्षेत्रीय आर्थिक प्रश्नो की ओर लोगो का ध्यान कम है और सभी विचारो एव वर्गों के लोग सार्वजनिक हित कल्याण के लिये मिलकर काम करने के इच्छुक हैं। पिछले चार राष्ट्रपतीय चुनावो ने स्पष्टत दिखाया है कि केवल दक्षिणी राज्यो के लोगो की अन्ध भावुक अवस्था (Blind emotional attitude of the South) को अपवादस्वरूप छोडते हुए अब देश की राष्ट्रीय राजनीति में वर्ग-हित और क्षेत्र-हित प्राय बिल्कुल नही हैं और अब आर्थिक प्रश्नो पर देश को क्षेत्रीय अथवा भौगोलिक आधार पर विभाजित करना कठिन होगा ।

इसका स्पष्ट फल यह हुआ है कि सर्वसाधारण में नई राष्ट्रीय चेतना का आविर्भाव हुआ है, और उन्हे कांग्रेस की ओर से विशेष आशाएँ नही हैं। वे अमेरिकी विधानमण्डल पर अत्यधिक विश्वास करने में झिझकते हैं, क्योकि कांग्रेस जहाँ अब भी स्थानीय हितो की सरक्षिका है, वही अपनी टालमटोल अथवा दीर्घसूत्रता (Procrastination), अनिश्चय अथवा अवसरवादी समझौते के द्वारा राष्ट्रीय हितो को खतरे में डालती है। वे राष्ट्रपति को राष्ट्रीय एकता एव राष्ट्रीय समैक्य अथवा अविभाज्यता (National unity and national solidarity) का प्रतीक समझकर उसी की ओर आशावान् दृष्टि से निहारते हैं।

कांग्रेस को शक्तिशाली बनाने के उपाय
(Strengthening the Congress)

कांग्रेस के कार्यपालिका के साथ सम्बन्ध (Relations with the Executive) —राष्ट्रपति समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधि है एव समस्त प्रशासन का प्रधान है और साथ ही सर्वसाधारण की आम पसन्द का नेता है । सर्वसाधारण तथा कांग्रेस दोनो ही राष्ट्रपति के नेतृत्व में विश्वास करते हैं, यद्यपि राष्ट्रपति और कांग्रेस में विवाद भी रहता है। किन्तु राष्ट्रपति का नेतृत्व उसी स्थिति में स्थापित हो सकता है जबकि कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका में उचित सम्बन्ध पैदा हो। यह समन्वय तभी प्राप्त हो सकता है जब कांग्रेस शक्तिशाली बने । इसका अर्थ है कि कांग्रेस अपनी उस स्वाभाविक एव अन्तर्वर्ती प्रवृत्ति को दूर करे जो उसे राष्ट्रपति-विरोधी बनाती है।

---

[1] The American Political System, p 138

इस समन्वय को प्राप्त करने के दो उपाय हैं। यदि कभी अमेरिका का संविधान पुनः निर्मित हुआ तो निश्चित रूप से अमेरिका में संसदीय शासन-प्रणाली का सूत्रपात होगा जिसमें कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका मे आवश्यक समन्वय रहता है। किन्तु ऐसा होना कठिन है। इसलिये ऐसे उपाय करने चाहिये जिनसे राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली में आवश्यक सुधार हो जाय। इस दिशा मे पहला कदम यह होना चाहिये कि कांग्रेस राष्ट्रपति का नेतृत्व स्वीकार करे। किन्तु इस सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिये कि राष्ट्रपति के नेतृत्व का यह अर्थ नही होगा कि कांग्रेस, राष्ट्रपति अथवा कार्यपालिका द्वारा पुरःस्थापित सभी प्रस्तावो को दासी रूप मे स्वीकार करे। कांग्रेस को कार्यपालिका की प्रत्येक सिफारिश पर अपना स्वतन्त्र विचार एव विवेकपूर्ण निर्णय करना चाहिये। इसके द्वारा यह स्थिर हो जाता है कि राष्ट्रपति राष्ट्र की सर्वोच्च विधायिनी शक्तियो का उपभोग करेगा। कार्यपालिका एव व्यवस्थापिका के पारस्परिक सम्बन्ध और भी सुधर सकते हैं तथा व्यवस्थित हो सकते हैं यदि दोनो सदन अपने नियमो में संशोधन कर ले और मन्त्रिमण्डल के सदस्यो को सीनेट तथा प्रतिनिधि सदन में बैठने दें और वहाँ उनको व्यक्तिगत रूप में प्रश्नो के उत्तर देने दें।

व्यवस्थापिका एव कार्यपालिका में समन्वय लाने की दिशा मे तीन योजनाएँ प्रस्तुत की गई हैं। एक योजना स्वर्गीय सीनेट सदस्य एम० ला० फॉलेट जूनियर (M La Follette, Jr) ने प्रस्तुत की थी। इस योजना के अनुसार कांग्रेस के नेताओ और मन्त्रिमण्डल के मुख्य मन्त्रियो का एक निकाय बनना चाहिये जो साथ बैठकर राष्ट्रीय नीति की मोटी रूप-रेखा तैयार करे। यदि इन दोनो प्रकार के सदस्यो (कांग्रेस के तथा मन्त्रिमण्डल के) में बार-बार मन्त्रणाएं एव विचार-विनिमय होगा तो इससे वे एक दूसरे को समझ सकेंगे, और इस प्रकार व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में मिलकर टीम की तरह कार्य करने की आदत पडेगी। इन सम्मेलनो का सभापतित्व राष्ट्रपति करेगा। इस योजना का स्वागत किया गया था, और इसका चारो ओर से समर्थन हुआ। १९४६ में कांग्रेस के पुनर्गठन के सम्बन्ध में जो संयुक्त समिति बनी थी, उसने यही सिफारिश की थी, किन्तु कांग्रेस ने इस सुझाव को अस्वीकृत कर दिया।

इस सम्बन्ध में द्वितीय योजना लगभग १०० वर्ष पुरानी है और इस योजना का सुझाव है कि मन्त्रिमण्डल के सदस्यो को कांग्रेस में स्थान दिये जायें। मन्त्रिमण्डल के सदस्यो की नियुक्ति राष्ट्रपति ही करता रहेगा किन्तु उन्हे वाद-विवाद में भाग लेने की आज्ञा होगी और वे दोनो सदनो में प्रश्नो के उत्तर देने के लिये बाध्य होंगे, किन्तु उन्हें वोट देने का अधिकार नहीं होगा। यह बताया गया था कि इस प्रकार की व्यवस्था मे संविधान में कोई परिवर्तन करने की आवश्यकता नहीं होगी। इस योजना को कुछ बदलते हुए, सीनेट सदस्य ई० केफौर (Senator E Kefauver) ने प्रस्ताव किया कि दोनों सदनो की कार्यवाही में प्रश्न-समय (Question time) की व्यवस्था कर देनी चाहिये। इस प्रश्न-समय में मन्त्रिमण्डल के सदस्य एव अन्य चोटी के प्रशासनिक अधिकारीगण सदन में उपस्थित रहें और किसी सदस्य द्वारा पूछे जाने पर उत्तर

दें। ऐसा विचार किया गया था कि इस सुधार के फलस्वरूप प्रशासको (Administrators) और कांग्रेस सदस्यो (Congress men) में सहयोग का विस्तार होगा।

एक योजना और भी है। इस योजना के अनुसार राष्ट्रपति को अपने मन्त्री लोग, कांग्रेस के चोटी के नेताओ में से छाँटने चाहियें और उनसे भी मन्त्रणा प्राप्त करनी चाहिये, साथ ही अपने मन्त्रिमण्डल के महत्त्वपूर्ण सदस्यो से भी मन्त्रणा करनी चाहिये। इस विधि के अनुसार चलने पर सविधान में कोई परिवर्तन करना आवश्यक नही होगा, शर्त केवल यह है कि उक्त कांग्रेस के सदस्यो को प्रशासनिक विभागो का अध्यक्ष न बनाया जाय। इस योजना के समर्थकों का कथन है कि इस प्रकार के सलाहकारो अथवा मन्त्रियो का निकाय अधिक सशक्त, साथ ही अधिक सविधानिक (Institutionalised) होगा। प्रोफेसर कॉरविन (Prof Corwin) जो इस योजना का समर्थक है, कहता है, "कि ऐसे मन्त्रियो के निकाय (Body of advisers) में वे लोग होंगे जो राजनीतिक क्षेत्र में राष्ट्रपति से दबकर नही रहेंगे, जिनकी राजनीतिक सफलता का आधार राष्ट्रपति की राजनीतिक सफलता के आधार से भिन्न होगा और जो राष्ट्रपति की विचार-चपलता (Presidential whim) पर स्वतन्त्र अंकुश रख सकेंगे, जिसका आजकल पूर्ण अभाव है।"[1]

Suggested Readings

Brogan, D. W	The American Political System (1948), Part Five, Chaps I—IV
Burns, J M and Peltason, J W	Government by the People (1954), Chapters XV, XVII
Corwin, E S	The President, Office and Powers (1948), Chapter VII
Laski, H J	The American Presidency (1952), Chapter III
Ogg, F A and Ray P O	Essentials of American Government (1952), Chapters VI, VII, VIII
Tourtellot, A B	The Anatomy of American Politics (1950), Chapter III
Wilson, W	Congressional Government, Chapter V
Young, R	This is Congress (1943), Chapters II, V-VI, VIII
Zink, H	A Survey of American Government (1950), Chapters XV, XVII, XIX.

---

[1] Corwin, E S The President, Office and Powers, pp 362.

अध्याय ७

संघीय न्यायपालिका

(Federal Judiciary)

संघीय न्यायपालिका की आवश्यकता (Need for the federal judiciary)—प्रसंघान के अनुच्छेदों (Articles of Confederation) ने, जैसा कि हम वर्णन कर चुके हैं, राष्ट्रीय न्यायपालिका की कोई व्यवस्था नहीं की थी। हैमिल्टन ने कहा था कि यह पुराने शासन की भारी कमज़ोरी थी क्योंकि, उसके अनुसार, विधियाँ व्यर्थ की चीज़ हैं जब तक कि न्यायालय न हो जो उन विधियों के अर्थ बतावें और उनकी क्रियान्विति की व्याख्या करे। प्रसंघान अथवा परिसंघ (Confederation) के काल में, समस्त न्यायिक विवाद, राज्यों के न्यायालय ही निपटाते थे, और चूंकि प्रत्येक राज्य में अलग-अलग न्याय-व्यवस्था थी, इसलिए प्रायः परस्पर-विरोधी निर्णय हुआ करते थे और इस कारण अनिश्चितता एवं अस्थिरता की स्थिति उत्पन्न हो गई थी और अनेकों उलझनें सामने आने लगी थीं। इसलिए संविधान के निर्माताओं ने अपने सम्मुख मुख्य उद्देश्य यह रखा कि एक ऐसी न्याय-व्यवस्था को जन्म दिया जाय जो स्थापित होने वाले नये शासन की स्थिरता को बनाये रखे; साथ ही जो उस समय अस्त-व्यस्तता (Chaotic Conditions) फैली हुई थी उनका अन्त किया जाय। वे यह भी समझते थे कि भविष्य में राज्यों में आपसी विवाद अधिक होंगे, अतः एक ऐसे सर्वमान्य मध्यस्थ (Outside Umpire) की आवश्यकता होगी जो समस्त राज्यों के हितों से ऊपर हो और जो उन सभी राज्यों के विवादों को निपटाये। इसी प्रकार ऐसे प्रश्न भी सम्मुख आयेंगे जिनका सम्बन्ध संयुक्त राज्य के परराष्ट्र सम्बन्धों से होगा अथवा जिनका सम्बन्ध विदेशों से की गई सन्धियों से होगा, और इस प्रकार की सभी बातों को राज्यों के न्यायालयों के सुपुर्द नहीं किया जा सकता, चाहे राजनीतिक रूप से वही उचित जान पड़े। यदि राज्यों के आपसी विवाद अथवा परराष्ट्रों के साथ की गई सन्धियों से उत्पन्न विवाद राज्यों के न्यायालयों को सौंपे जायेंगे तो इसका अर्थ होगा कि समस्त देश की शान्ति और समृद्धि को तेरह परस्पर विरोधी राज्यों की सत्ताओं के विवेक एवं निर्णय पर छोड़ा जा रहा है। पुनः यह भी सोचा गया कि संविधान के विभिन्न उपबन्धों का निर्वचन भी भविष्य में विवाद का कारण बन सकता है और कांग्रेस द्वारा पारित विधियों के निर्वचन पर भी विभेद हो सकता है। यदि इस प्रकार के विवादों को विभिन्न राज्यों के न्यायालयों पर छोड़ दिया जायगा तो इसका अर्थ होगा अव्यवस्था एवं गतिरोध को आमन्त्रण देना, क्योंकि प्रत्येक राज्य-न्यायालय भिन्न और परस्पर विरोधी निर्णय देगा।

अन्त में संविधान के रचयिताओं ने न्याय-व्यवस्था के लिये अधिक निर्दोष

संघ की स्थापना का निश्चय किया। यदि नया संविधान और उसके तत्त्वावधान में बने हुए नियम, विधि अथवा संधियाँ सफल रूप से क्रियान्वित होने हैं, तो उसके लिए, उन्होंने सोचा, कि देश मे पूर्ण एवं पृथक् रूप से (Distinctively) ऐसे संघीय न्यायालय की स्थापना आवश्यक होगी जो न्याय-क्षेत्र में सर्वोच्च सत्ता का उपभोग करेगा और जो राज्यो के प्रभाव से स्वतन्त्र एवं मुक्त होगा।

संविधान द्वारा सर्वोच्च न्यायालय का उपबन्ध (Constitution provides for a Supreme Court)—इन विचारो एवं तर्कों के आश्रित, संविधान के रचयिताओं ने संविधान के अनुच्छेद ३ मे संघीय न्यायपालिका का उपबन्ध किया और ऐसा करते समय उन्होंने न्यायपालिका को कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बराबर दर्जा दिया। संविधान में इसका संक्षिप्त वर्णन है, और न्यायपालिका के संघटन अथवा उसकी रचना के विषय में विस्तृत विवेचन नही है। तृतीय अनुच्छेद केवल यही उपबन्धित करता है कि समस्त न्यायपालिका शक्ति एक न्यायालय में विहित होगी अथवा अन्य छोटे न्यायालयो में विहित होगी जिनको कांग्रेस समय-समय पर अपनी आज्ञानुसार स्थापित करे। इस प्रकार कांग्रेस को अधिकार दिया गया है कि वह सर्वोच्च न्यायालय के लिये आवश्यक न्यायाधीशो की संख्या निर्धारित करे, साथ ही अतिरिक्त न्यायालयों की ज्यो-ज्यो और जिस प्रकार आवश्यकता पड़े, स्थापना करे। और इन सभी न्यायालयो के न्यायाधीशो की स्वतन्त्रता एवं स्थिरता बनाए रखने के लिए संविधान ने निश्चित किया है कि वे सदाचार पर्यन्त अपने पदों पर स्थायी रूप से बने रहेंगे, और उनको जो वेतन आदि निश्चित किया जायगा, उसे उनकी पदावधि में किसी प्रकार भी कम नही किया जा सकता।

संघीय न्यायपालिका के ऊपर कांग्रेस का नियन्त्रण (Power of Congress to control federal judiciary)—ऊपर वर्णन किए हुए संविधानिक उपबन्धो के बावजूद कांग्रेस के पास अब भी कुछ ऐसे साधन हैं जिनके द्वारा वह संघीय न्यायपालिका के ऊपर नियन्त्रण रख सकती है। यह माना कि कांग्रेस न तो सर्वोच्च न्यायालय को भंग ही कर सकती है न न्यायाधीशो के वेतन को कम कर सकती है, न किसी न्यायाधीश को अपने पद से वियुक्त ही कर सकती है जब तक कि उस के विरुद्ध सार्वजनिक अभियोग (impeachment) सिद्ध न हो जाय। फिर भी कांग्रेस कई प्रकार से प्रभाव डाल सकती है और परिवर्तन कर सकती है। कांग्रेस विधि पास करके और यह उपबन्ध करके कि, किसी न्यायाधीश की मृत्यु हो जाने पर अथवा उसके त्यागपत्र आ जाने पर रिक्त पद मन्सूख कर दिया जायगा, न्यायाधीशो की निश्चित संख्या में कमी कर सकती है। अथवा कांग्रेस किसी ऐसी योजना को स्वीकार कर सकती है जैसी कि राष्ट्रपति फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट ने रखी थी जिसका आशय था कि सर्वोच्च न्यायालय के लिये छः तक नये न्यायाधीशो की नियुक्ति कर ली जाय यदि किसी समय ७० वर्ष की आयु पूर्ण करने वाले न्यायाधीश ६ मास के अन्दर अपने पदो से त्याग-पत्र न दें। इस प्रकार राष्ट्रपति ने चाहा कि न्यायाधीशो

की सख्या मे वृद्धि हो जाय और न्यायाधीशों के पदो पर योग्य एव उचित व्यक्तियो की नियुक्तियाँ हो सकें। अधीन न्यायालयो के सम्बन्ध में तो कांग्रेस का उन पर वास्तविक एव पूर्ण-प्राय नियन्त्रण है। राष्ट्रपति जैफरसन (Jefferson) के कार्यकाल में सन् १८०२ में कांग्रेस ने पूर्व वर्ष में पारित एक विधि को भग कर दिया जिसके द्वारा सोलह सर्किट न्यायाधीशों (Circuit Judges) के पदो को सृजित किया गया था और जिन पदो पर अपनी पदावधि की समाप्ति पर राष्ट्रपति एडम्स (Adams) ने ऐसे व्यक्तियो की नियुक्तियाँ की थी जो सघवाद (Federalist Conviction) के समर्थक थे। कांग्रेस, आवश्यक विधि पास करके और अपीलीय प्रथा को वन्द करके आज्ञा कर सकती है कि कुछ प्रकार के मामले सर्वोच्च न्यायालय के सामने न जायें। किन्तु इस प्रश्न के सभी पक्षो पर विचार करने के उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि "आपात् कालों को छोडकर शेष कालो में, सघीय न्यायपालिका काफी हद तक राष्ट्रीय व्यवस्थापिका के प्रभाव से स्वतन्त्र रहती है।"

न्यायाधीशों की नियुक्ति एव पदावधि (Appointment and tenure of Judges)—सविधान तो केवल यही निर्दिष्ट करता है कि राष्ट्रपति एवं सीनेट सर्वोच्च न्यायालय के लिये न्यायाधीश नियुक्त करें और कांग्रेस को अधिकार देता है कि वह छोटे अधिकारियो की नियुक्ति का अधिकार या तो केवल राष्ट्रपति को दे सकती है, या न्यायालयो को दे सकती है अथवा विभागीय अध्यक्षो को दे सकती है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय के सभी न्यायाधीशो का नामाकन (Nomination) राष्ट्रपति करता है और उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति सीनेट की सलाह और अनुमोदन पर करता है। छोटे न्यायालयो के न्यायाधीशों के सम्बन्ध में व्यवहार यह रहा है कि समस्त छोटे सघीय न्यायालयो के न्यायाधीशो की गणना छोटे अधिकारियों में नहीं की जाती, अत उनकी नियुक्ति भी राष्ट्रपति और सीनेट ही कर सकते हैं।

सविधान इस सम्बन्ध में मौन है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की क्या योग्यताएं और अर्हताएँ होनी चाहिये, अर्थात् उनकी आयु[1], नागरिकता, वैधिक योग्यता, राजनीतिक विचार एव उनकी पिछली पृष्ठभूमि किस प्रकार की होनी चाहिए। प्राय. ऐसा हुआ है कि डिमोक्रेटिक दल के राष्ट्रपतियो ने रिपब्लिकन न्यायाधीशो को धर्मासन (bench) के लिये अथवा रिपब्लिकन राष्ट्रपतियों ने डेमोक्रेटिक न्यायाधीशो को बेंच के लिये नियुक्त किया है। न्यायाधीशगण सदाचार पर्यन्त अपने पदों पर बने रहते हैं और उनको सार्वजनिक दोषारोपण (Impeachment) के द्वारा ही हटाया जा सकता है। केवल सेम्युएल चेज (Samuel Chase) नाम का एक ही न्यायाधीश ऐसा हुआ है

---

[1] जोज़ेफ स्टोरी (Joseph story) ३२ वर्ष की आयु में सर्वोच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त हुआ, और उसने १८११-१८४५ तक कार्य किया। जस्टिसेज (Justices) सर्वश्री जेम्स इरेडिल (James Iredell), बुशरोड (Bushrod), वाशिंगटन (Washington), और विलियम जॉन्सटन चालीस वर्ष की आयु पूरी करने से पूर्व ही अपने जस्टिस पद पर नियुक्त हुए थे।

जिस पर कभी सार्वजनिक दोषारोपण लगाया गया था, यद्यपि वह भी निर्दोष पाया गया।[1]

सघीय न्यायालयो का अधिकार क्षेत्र

(Federal Jurisdiction)

सघीय न्यायालयों का अधिकार (The sphere of federal Courts)—केन्द्रीय सरकार की समस्त शक्तियाँ प्रत्यायुक्त (Delegated) होने के कारण मर्यादित हैं। इसलिये सघीय न्यायालयो का अधिकार-क्षेत्र केवल कुछ ऐसे ही विषयो तक सीमित है जिनको सविधान ने स्पष्टत या तो गिनाया है अथवा जो विषय सविधान मे उपलक्षित (Implied) हैं। शेष समस्त विषयो पर राज्यो के न्यायालयो का अधिकार है। सघीय न्यायालयो के अधिकार क्षेत्र की पूरी जानकारी सविधान के अनुच्छेद ३ में दी हुई है।

१ सविधान, विधियो और सधियो से सम्बन्धित मुकदमे (Cases arising under the Constitution, Laws and treaties)—'सयुक्त राज्य अमेरिका की न्यायिक व्यवस्था उन सभी विवादो पर पूर्ण रूप से लागू होगी जिनका सम्बन्ध सविधान मे सम्बन्धित सयुक्त राज्य की विधि एव न्याय से होगा अथवा जिनका सम्बन्ध पिछली सन्धियो से होगा अथवा उन सन्धियो से होगा जो उन शर्तों के अनुसार भविष्य में की जायेंगी।" इसका अर्थ है कि केवल न्याय योग्य मुकदमे (Cases of a justiciable character) ही सघीय न्यायालयो में आ सकते हैं। किन्तु सघीय न्यायालय कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका से सम्बन्धित विवादो पर निर्णय नही दे सकते। ऐसा तभी हो हो सकता है जबकि इस प्रकार के किसी विवाद में सघीय सविधान का, अथवा किसी सघीय विधि का अथवा किसी ऐसी सन्धि का निर्वचन (Interpretation) निहित हो जिसमें सयुक्त राज्य एक पक्ष हो। यदि कोई यह दावा करे कि किसी कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका के अधिनियम के द्वारा उस व्यक्ति के उन मौलिक अधिकारो का हनन हुआ है जिनकी सविधान ने गारटी की है, अथवा जिसकी, विधियो ने या सयुक्त राज्य की सधियो ने गारटी की है तो वह व्यक्ति अपने अधिकारो की रक्षा के हेतु सगत अधिकारी अथवा सत्ता के विरुद्ध दावा दायर कर सकता है।

२ राजदूतो, राजनीतिक अधिकारियो (Public ministers) **और वाणिज्य दूतो** (Consuls) **से सम्बन्धित मुकदमे** (Cases affecting ambassadors, other public ministers and consuls)—द्वितीयत, सघीय न्यायालयो के अधिकार क्षेत्र मे वे मुकदमे भी आते हैं जिनका सम्बन्ध उन राजदूतो (Diplomats) से होता है जो विदेशी राज्यो की ओर से सयुक्त राज्य में कार्य करते हैं। किन्तु अन्तर्राष्ट्रीय

---

[1] १८०४ मे चेज (Chase) पर पक्षपात का आरोप लगाकर सार्वजनिक दोषारोपण किया गया था। सीनेट ने आरोपों का समर्थन नही किया, और इसलिये उसे दोषारोपण से मुक्त कर दिया गया। वह इसके पश्चात न्यायासन के पद (Bench) पर मृत्युपर्यन्त रहा।

विधि के सुप्रख्यापित सिद्धान्त के अनुसार विदेशी राज्यो के राजदूतों अथवा राजनीतिक अधिकारियों के ऊपर किसी ऐसे देश के न्यायालयो में मुकदमा नहीं चलाया जा सकता जहाँ वे अपने देश की ओर से भेजे हुए कार्य कर रहे हो। सविधान में इस उपबन्ध का स्पष्ट तात्पर्य यह है कि राज्यो के न्यायालयो के ऊपर अकुश रहे कि वे अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रतिकूल आचरण न करें। यदि कोई कूटनीतिक अधिकारी किसी अपराध का दोषी हो तो सम्बन्धित देश की सरकार से प्रार्थना की जा सकती है कि उसे वापिस बुला लिया जाय अथवा उसको देश से निकल जाने का भी आदेश दिया जा सकता है, किन्तु जब तक वह अपने देश का नियुक्त राजनीतिक दूत है, तब तक उसके विरुद्ध कोई कानूनी कार्यवाही नही हो सकती।

३ नाविक मुकदमे (Admiralty cases)—नाविक एव सामुद्रिक मुकदमो का सम्बन्ध उन अमेरिकी जहाजो से है जो दूर-दूर समुद्रो में यात्रा करते हैं अथवा संयुक्त-राज्य के अन्तर्गत नौगम्य नदियो अथवा नहरो (Navigable waters of the United States) में यात्रा करते हैं, और इनसे सम्बन्धित विवाद माल ढोने के किराये, नाविको का वेतन, दो जहाजो की टक्कर से हानि एव समुद्री बीमे के बारे में हो सकते हैं। युद्ध-काल में नाविक मुकदमे, उन नावो और जहाजो से सम्बन्धित भी हो सकते हैं जो समुद्रो में पकड लिए जायँ। सघीय न्यायालयो को नौवैधिक क्षेत्र (Admiralty jurisdiction) प्रदान करने के दो प्रधान कारण थे। प्रथमत, नौविधि (Admiralty), न्यायशास्त्र (Jurisprudence) की एक सुस्पष्ट शाखा है और यह सामान्य विधि एव अपक्षपात विधि या न्याय (Common law and equity) से विषय, तत्व एव क्रियान्विति में भिन्न है। द्वितीयत विदेशो के साथ वाणिज्य, केंद्रीय विषय है और इसी कारण सविधान के रचयिताओ ने यही ठीक समझा कि नाविक एव सामुद्रिक विवाद सघीय न्यायालयो को सौंपे जायँ।

४. ऐसे मुकदमे जिनमें सयुक्त राज्य अथवा कोई एकक राज्य एक पक्ष के रूप में विवादग्रस्त हो (Cases in which the United States or a State is a party)—सघीय न्यायालयो के अधिकार क्षेत्र में वे सब विवाद भी आते हैं जिनमें सयुक्त राज्य अमेरिका एक पक्ष से विवाद-ग्रस्त हो, अथवा जिनमे सयुक्त राज्य के दो एकक राज्यो में विवाद हो अथवा जब विवाद किसी एकक राज्य और किसी अन्य एकक राज्य के नागरिक के बीच हो। प्रारम्भ में सविधान मे यही व्यवस्था की गई थी कि कोई नागरिक किसी दूसरे एकक राज्य के विरुद्ध सघीय न्यायालय में दावा ला सकता था अथवा विदेशी नागरिक किसी एकक राज्य के विरुद्ध नालिश सघीय न्यायालय में कर सकता था। किन्तु १७९८ में स्वीकार किये गये ११वें सशोधन ने स्पष्टत आज्ञा दी है कि सघीय न्यायालय किसी दूसरे एकक राज्य के नागरिक द्वारा दूसरे एकक राज्य के विरुद्ध दावे को स्वीकार न करें, और न ऐसे दावे स्वीकार करें जो किसी विदेशी नागरिक द्वारा किसी राज्य के विरुद्ध लाये जायँ। इस प्रकार के दावे अब केवल सम्बन्धित एकक राज्यो के न्यायालयो में ही विधि अनुसार उपस्थित किये जा

सकते हैं। यदि वैधिक आज्ञा या उपवन्ध नही है तो न्यायालय ऐसे दावे स्वीकार नहीं कर सकते। किन्तु सघीय न्यायालयो में एकक राज्यो के विरुद्ध ऐसे दावे दायर किये जा सकते हैं, जिन मुकदमो में सयुक्त राज्य या कोई अन्य एकक राज्य अथवा कोई विदेशी राज्य एक पक्ष में हो।

५ विभिन्न एककों के नागरिकों के बीच विवाद (Controversies between citizens of different States)—"विभिन्न एकक राज्यो के नागरिको के बीच के विवाद भी सघीय न्यायालयो के क्षेत्राधिकार में आते हैं। अर्थात् यदि एक ही राज्य के नागरिक विभिन्न राज्यो द्वारा अनुदानित भूमि के लिये दावे कर रहे हैं, अथवा एक राज्य अथवा उसके नागरिको का विदेशी राज्यो या विदेशी राज्यो के नागरिको या प्रजाओ के विरुद्ध दावा हो तब भी ये सब सघीय न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में आ जाते है।" इसका तात्पर्य है कि यदि कोई विवाद विदेशियो अथवा विदेशी नागरिको का विभिन्न एकक राज्यो के नागरिको के विरुद्ध है तो उस पर भी सघीय न्यायालय विचार कर सकते हैं। इस अनुच्छेद के अर्थों में निगम (Corporation) अथवा कम्पनी (Company) को भी उसी एकक राज्य का नागरिक माना गया है जिसमें वे समामेलित (Incorporated) हो।

अपवर्जी एव सवर्त्ती अधिकार-क्षेत्र (Exclusive and concurrent jurisdiction)—जिस प्रकार के विवादो का ऊपर वर्णन किया गया है वे सघीय न्यायालयो के विचार क्षेत्र में आ सकते हैं, किन्तु सविधान यह नही कहता कि इस प्रकार के सभी विवादो में सघीय न्यायालयो का अपवर्जी अधिकार क्षेत्र है। सत्य तो यह है कि सविधान ने सघीय न्यायालयो को कोई अपवर्जी अधिकार क्षेत्र दिया ही नही है। कांग्रेस को इस सम्बन्ध में पूर्ण स्वतन्त्रता है कि वह न्यायिक अधिकार क्षेत्र जिस तरह भी चाहे न्यायालयो को सौंप दे, और यदि कांग्रेस चाहे तो सघीय न्यायालयो से कुछ बातो में समस्त न्यायिक अधिकार क्षेत्र छीन भी सकती है। जैसी स्थिति कि इस समय है, सघीय न्यायालयो को निम्न प्रकार के विवादो में पूर्ण अपवर्जी अधिकार प्राप्त हैं—

(१) वे समस्त विवाद जिनका सम्बन्ध सयुक्त राज्य की विधियो के विरुद्ध अपराधो से हो, (२) दण्ड योग्य वे सभी मुकदमे जो सयुक्त राज्य की विधि के अधीन प्रस्तुत किये जायें, तथा वे सभी विवाद जिनका सम्बन्ध नाविक अथवा सामुद्रिक अधिकार क्षेत्र (Admiralty and maritime jurisdiction) से हो, अथवा जिनका सम्बन्ध एकस्व (Patent) एव प्रतिलिपि स्वाम्य (Copyright laws) से हो, (३) समस्त नष्टनिधित्व अथवा दिवालो से सम्बन्ध रखने वाले विवाद (All bankruptcy proceedings), (४) वे समस्त दीवानी के मुकदमे (Civil actions) जिनमें सयुक्त-राज्य अथवा उनका कोई एकक राज्य एक पक्ष हो किन्तु इस प्रकार के विवादो में वे अपवाद हैं जो किसी एकक राज्य और उसी के नागरिक के बीच हो, और (५) वे सभी मुकदमे जो विदेशी राजदूतो, वाणिज्य दूतो और उन अन्य राजनीतिक

अधिकारियो के विरुद्ध लाये जायें जिन्हें कूटनीतिक मुक्ति प्राप्त हैं ।

किन्तु प्राय सभी प्रकार के अन्य मुकदमो पर, जिन पर सघीय न्यायालयो का अधिकार क्षेत्र है, सघीय एव राज्यीय न्यायालयो का समान रूप से अधिकार है। कहने का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार के सभी विवादो में जो आवश्यकत दीवानी के मामले ही होते हैं, और जो कम-से-कम ३००० डालर या इससे अधिक के लिये होते हैं, वादी (Plaintiff) को अधिकार रहता है कि वह चाहे तो इस प्रकार की नालिश सघीय न्यायालय में करे अथवा जिस राज्य में वह निवास करता है उस राज्य के न्यायालयो में से किसी न्यायालय में करे अथवा उस राज्य के किसी न्यायालय में करे जिसमें प्रतिवादी (Defendant) निवास करता हो । किन्तु इस सम्बन्ध में प्रतिवादी को छूट रहती है कि वह यदि चाहे तो ऐसे किसी मुकदमे को सघीय न्यायालय में भेजने के लिये प्रतिवेदन कर सकता है यदि वह नालिश किसी राज्य के न्यायालय में की गई है, किन्तु शर्त यह है कि इस प्रकार की प्रार्थना आने के पूर्व ही राज्य के न्यायालय ने उस नालिश के सम्बन्ध में अपना निर्णय न कर लिया हो ।

सघीय न्यायालयो को ऐसे मुकदमे लेने का अधिकार नही है जिनमें दोनो पक्ष विभिन्न जाति अथवा नागरिकता से सम्बन्ध रखते हो अथवा जिनमें मुद्दो की रकम ३००० डालर से कम हो । ऐसे मुकदमो का निर्णय एकक राज्यो के न्यायालयो मे ही होगा ।

सघीय न्यायालयो के प्रकार

(Types of Federal Courts)

सविधानिक न्यायालय (Constitutional Courts)—सविधानिक न्यायालय वे न्यायालय हैं जिनको सविधान के अनुच्छेद ३ की आज्ञा के अनुसार स्थापित किया गया है और जिनमें सयुक्त राज्य की समस्त न्यायिक शक्ति निहित है। सविधानिक न्यायालयो में सर्वोच्च न्यायालय, अपीलीय सर्किट न्यायालय (Circuit Courts of Appeal), एव जिला न्यायालय (District Courts) हैं। सविधान में केवल सर्वोच्च न्यायालय की व्यवस्था है और उसमें कांग्रेस को आज्ञा दी गई है कि वह निम्न न्यायालयो की आज्ञा और स्थापना कर सकती है । इसलिये छोटे न्यायालयो की स्थापना सविधानत आवश्यक नही है। इनकी रचना एवं स्थापना हुई है और कांग्रेस द्वारा पारित परिनियमो (Statutes) ने इन न्यायालयो के अधिकार क्षेत्र की व्याख्या भी की है। इन परिनियमो का श्रीगणेश १७८९ के न्यायिक अधिनियम (Judiciary Act of 1789) से हुआ था। इस प्रकार हम देखते हैं कि कांग्रेस निम्न न्यायालयो का उत्पादन अथवा अन्त कर सकती है, किन्तु सर्वोच्च न्यायालय का उत्पादन नही किया जा सकता ।

सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court)—शीर्ष स्थान पर सर्वोच्च न्यायालय है और उसकी स्थापना सविधान के उपबन्ध के अनुसार हुई है। प्रथम बार १७८९

न्यायालय के पास केवल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मुकदमे रह जाते हैं और उन्हे सर्वोच्च न्यायालय शीघ्रता के साथ निर्णय कर देता है। सर्किट न्यायालय उन मामलो का भी पुनरीक्षण (Review) करते हैं जो व्यवस्थापक न्यायालयो, आभास न्यायिक अथवा अर्ध न्यायिक (Quasi Judicial) बोर्डों और अधिकार पूर्ण निकायो (Commissions) से आते हैं, साथ ही सर्किट न्यायालय इनकी आज्ञाओ का दृढीकरण करते हैं।

जिला न्यायालय (District Courts)—सघीय न्यायालयो में सबसे निचले दर्जे का न्यायालय जिला न्यायालय होता है। समस्त देश ८४ जिलो में विभाजित किया गया है और प्रत्येक जिले में एक जिला न्यायालय है। कुछ राज्य ऐसे हैं जो छोटे होने के कारण जिले मान लिये गये हैं। कुछ राज्य दो या तीन जिलो में विभाजित कर दिये गये हैं, और जिलो को पुन डिवीजनो में बाँट दिया गया है। प्रत्येक जिले में कम-से-कम एक जिला जज होगा यद्यपि कुछ जिले ऐसे भी हैं जिनमें प्रति जिले में सात जज या न्यायाधीश तक हैं, और प्रत्येक जज का न्यायालय अलग है।

केवल थोडे से अभियोगो को छोडकर जो सर्वोच्च न्यायालय में ही प्रारम्भ होते हैं, और वे भी विशेष रूप से ऐसे होते हैं जिनका प्रारभ अथवा सूत्रपात व्यवस्थापक न्यायालयो में हुआ था, शेष सभी दीवानी अथवा फौजदारी अभियोग सयुक्त राज्य की विधियो के अनुसार इन्ही जिला न्यायालयो में प्रारम्भ होते हैं। जिला न्यायालयो का अधिकार क्षेत्र मौलिक (Original) है और पुनरावेदन अथवा अपील के अभियोग जिला न्यायालयो में नहीं आते। हाँ, कभी-कभी ऐसा अवश्य होता है कि कुछ अभियोग जिनका प्रारम्भ किसी एकक राज्य के न्यायालय में हुआ हो, जिला न्यायालयो में तबदील (Transferred) कर दिये जाते हैं। प्राय जिला न्यायालयो में केवल एक न्यायाधीश ही अभियोगो का निर्णय करता है। किन्तु १९३७ से अधिकतर ऐसे अभियोगो की सुनवाई के लिये जिनमें सघीय परिनियमो (Statutes) की सविधानिकता को चुनौती दी जाती है कम-से-कम तीन न्यायाधीशों का एक साथ बैठना आवश्यक है। ऐसे निर्णयो के विरुद्ध पुनरावेदन (Appeal) सीधे सर्वोच्च न्यायालय में जायगा और राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने सघीय न्यायालयो के पुनर्गठन के सम्बन्ध मे जो प्रस्ताव रखा था उसका सम्बन्ध इसी प्रकार के सघीय न्यायालयो से था। अन्यथा, साधारणत अपील अथवा पुनरावेदन पहले सगत अपीलीय न्यायालय में जाता है।

न्यायिक पुनरीक्षण
(Judicial Review)

न्यायिक पुनरीक्षण का अधिकार (The power of Judicial Review)—अमेरिका का सर्वोच्च न्यायालय ससार में सबसे शक्तिशाली न्यायिक उपकरण या साधन (Agency) है। एलेक्सिस डी० टॉकेविले (Alexis de Tocqueville) १८४८ में लिखा था, "यदि कोई मुझ से पूछे कि अमेरिका में कुलीनतत्र Aristocracy) कहाँ है तो मैं बिना सकोच के उत्तर दूंगा कि यह न्यायालयों मे

विद्यमान् है और अधिकृत वर्ग (Bar) में है। · · अमेरिका में शायद ही कोई ऐसा राजनीतिक प्रश्न उठता हो जो कभी-न-कभी न्यायिक विवाद के रूप में परिवर्तित न हो जाता हो।" इसके एक शताब्दी बाद प्रोफेसर लास्की ने लगभग उसी आशय में यह लिखा, "इसमें सन्देह नही कि सयुक्त राज्य अमेरिका के सघीय न्यायालय और उससे भी अधिक सर्वोच्च न्यायालय को आदर की दृष्टि से देखा जाता है, किन्तु इन न्यायालयो का अमेरिकावासियो के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर बहुत ही अधिक प्रभाव पडता है।"[1] सर्वोच्च न्यायालय की प्रतिष्ठा और उसके अमेरिकन जीवन पर गहरे प्रभाव का एक-मात्र कारण सर्वोच्च न्यायालय की सविधान के निर्वचन की शक्ति को समझना चाहिए। मि० फ्रेंकफर्टर (Mr Frankfurter) न्यायाधीश ने और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में कहा कि "सर्वोच्च न्यायालय ही सविधान है।" जब न्यायाधीश, सविधान का निर्वचन करते हैं, तो वे नीति निर्धारित करते हैं और इस प्रकार न्यायालय ही उन सामाजिक एव आर्थिक प्रश्नों का निपटारा करते हैं जिनको देश की समस्याओ के रूप में हल करना अभीष्ट है। सर्वोच्च न्यायालय ही कांग्रेस द्वारा पारित अथवा एकक राज्यीय व्यवस्थापिका द्वारा पारित किसी नियम को अथवा कार्यपालिका के किसी आदेश को या तो स्वीकार कर लेते हैं अथवा उसको असंवैधानिक घोषित कर सकते हैं यदि वह अधिनियम अथवा आदेश सविधान के विरुद्ध हो। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय सयुक्त राज्य की सवैधानिक शासन-प्रणाली का सरक्षक है।

सविधान के किसी भी अनुच्छेद में स्पष्टत यह नही लिखा है कि सर्वोच्च न्यायालय को राज्य अथवा सघ के अधिनियमो को स्वीकार करने अथवा असवैधानिक घोषित करने का प्रत्यक्ष अधिकार है। परन्तु कतिपय लेखको का विचार है कि सविधान के रचयिता ऐसी शक्तियाँ सर्वोच्च न्यायालय को देना नही चाहते थे, कम-से-कम सघीय अधिनियमो एव सयुक्त राज्य के न्यायालयो के ऊपर शासन करने का अधिकार वे सर्वोच्च न्यायालय को बिल्कुल नहीं देना चाहते थे, और इस दिशा में अधिकारों का प्रयोग एक प्रकार से शक्ति और अधिकार का अपहरण है। राष्ट्रपति जैफरसन (Jefferson) ने स्पष्टत कहा था कि सविधान के निर्माताओ की इच्छा थी कि शासन के परस्पर स्वतन्त्र तीन विभाग निर्मित किये जायें और सर्वोच्च न्यायालय के कांग्रेस अथवा राष्ट्रपति की आज्ञाओ को पुनरीक्षण (Review) करने के अधिकार का अर्थ यह है कि शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त के विरुद्ध और मर्यादित एव नियन्त्रित शासन की भावना के ही विरुद्ध आचरण नही किया जा रहा है बल्कि सविधान के रचयिताओ की इच्छाओ के विरुद्ध भी आचरण हो रहा है।

कुछ अन्य विद्वान भी हैं जिनका विचार है कि न्यायिक पुनरीक्षण, जिसका सयुक्त राज्य में प्रचलन है, लिखित सविधान में आवश्यकत. निहित होता है। दो मुख्य उपबन्ध हमको सविधान में दृष्टिगोचर होते हैं जिनसे सविधान के रचयिताओं की

---

[1] The American Democracy, pp. 110.

इच्छा का आभास मिलता है। प्रथम उपबन्ध अनुच्छेद ६ में इस प्रकार है, "यह सविधा और सयुक्त राज्य की अन्य विधियां जिनको इस सविधान की धाराओ के अनुरूप पारि किया जायगा, साथ ही समस्त पिछली सधियां अथवा वे सधियां जो सयुक्त राज्य व आज्ञा से भविष्य में की जायेंगी, वे सब सधियां, विधियां एव सविधान समस्त देश व सर्वोच्च विधि होगी।" इस सम्बन्ध में द्वितीय उपबन्ध सविधान के अनुच्छेद ३ व धारा २ में पाया जाता है, जो इस प्रकार है, "विधि और निष्पक्षता के अनुसा देश की न्यायिक शक्ति का अधिकार उन सभी विवादो पर लागू होगा जिनका सम्बन इस सविधान से, अथवा संयुक्त राज्य की विधियो से अथवा देश की पिछली सधिय से अथवा उन सधियो से होगा जो सयुक्त राज्य के अधिकार से भविष्य में व जायेंगी।" इन दोनो उपबन्धो से वह कमी पूरी हो जाती है जिनकी सविधान कमी रह गई है। सविधान के रचयिताओ की इच्छा का पता उस लेख से भी चलत है जो इस सम्बन्ध में हैमिल्टन (Hamilton) ने फेडेरेलिस्ट (Federalist) नामव पत्रिका में लिखा था "विधि का निर्वचन न्यायालयो का मुख्य और विशेष कर्त्तव है। न्यायाधीशो के लिये यह परम आवश्यक है कि वे सविधान को देश की प्रधा एव मौलिक विधि समझें। इसलिये न्यायाधीशो को सदैव सविधान का बारीकी अध्ययन करना चाहिये और उसी के अनुरूप व्यवस्थापिका द्वारा पास किये गए किस अधिनियम विशेष को भी समझने और पुनरीक्षण करने का प्रयत्न करना चाहिये यदि सयोगवश किसी परिनियम और सविधान के उपबन्वो मे तीव्र विरोध हो तो उस को मान्यता प्रदान करनी होगी जो दोनो में अधिक मान्य एव न्याययुक्त होगा, दूस शब्दो में परिनियम या स्टेच्यूट (Statute) की अपेक्षा सविधान ही अधिक मान्य क्योंकि सविधान एक प्रकार से सर्वसाधारण की इच्छा का प्रतीक है किन्तु परिनिय सर्वसाधारण के गुमाश्तो की इच्छा का प्रतीक है।" प्रोफेसर बीयर्ड के अनुसा यह मानने के लिये पर्याप्त आधार है कि फिलैडेलफिया प्रसभा के अधिकतर सदस्य न्यायिक पुनरीक्षण के हित में थे। सत्य तो यह है कि न्यायिक पुनरीक्षण अमेरिक के राज्यो में उसी समय से प्रचलित था जब से अर्थात् १७७६ से उनका इगलैण्ड से सम्बन्ध विच्छेद हुआ। न्यायिक पुनरीक्षण का सविधान में स्पष्ट उल्लेख क्यो नहीं किया गया, इसका कारण यह था कि सविधान के रचयिताओ ने ऊपर निर्देशित अनुच्छेद ३ में स्पष्टतया इसका उपबन्ध कर दिया था जो उसकी भाषा में स्पष्टत उपलक्षित है।

सविधान के रचयिताओ की जो भी इच्छा रही हो, किन्तु इस समस्या को प्रमु न्यायाधीश मार्शल (Chief Justice Marshall) ने १८०३ में प्रसिद्ध मारबरी विरु मैडीसन (Marbury V Madison) अभियोग के निर्णय मे सदैव के लिये निश्चित कर दिया। प्रमुख न्यायाधीश मार्शल (Marshall) की सक्षेप में यह उक्ति (Argument) थी कि सविधान समस्त देश की सर्वोच्च विधि है और न्यायाधीशो का यह प्रमुख कर्त्तव्य हो जाता है कि वे उसी के अनुरूप निर्णय दे। इसलिये जब न्यायालय

को कांग्रेस द्वारा पारित किसी अधिनियम या परिनियम के सम्बन्ध में निर्णय करन हो, और यदि वह परिनियम या सविधि देश की सर्वोच्च विधि अर्थात् सविधान उपबन्धो के विरुद्ध पडता हो, तो न्यायालय का यह स्पष्ट कर्त्तव्य हो जाता है कि व सविधान को प्रथम स्थान देगा, अन्यथा इस घोषणा का कोई महत्त्व न रह जायग कि "सविधान ही देश मे सर्वोच्च विधि है।"

प्रमुख न्यायाधीश मार्शल का निर्णय १८०३ में हुआ था तब से कई वा सर्वोच्च न्यायालय के इस अधिकार का कि वह कांग्रेस द्वारा पारित किसी भी अधि नियम को असवैधानिक घोषित कर सकता है, विरोध किया गया है, उसकी उपेक्ष करने का भी प्रयत्न किया गया है किन्तु उसके इस अधिकार का वहिष्कार नही ह सका है। न्यायिक पुनरीक्षण का सिद्धान्त (The Principle of Judicial Review अब अमेरिकन शासन-व्यवस्था का एक अग है और मारबरी अभियोग (Marbur Case) ने सर्वोच्च न्यायालय के इस अधिकार को आधार प्रदान किया।

न्यायिक पुनरीक्षण के अधिकार की आलोचना (Criticism of the powe of Judicial Review)—जिन लोगो ने न्यायिक पुनरीक्षण के सम्बन्ध में गहर अध्ययन एव सूक्ष्म विचार किया है, उनका कहना है कि सर्वोच्च न्यायालय ने अपन अधिकार क्षेत्र इतना बढा लिया है कि यह एक प्रकार से अनियन्त्रित एव अनिर्वाचि सर्वोच्च व्यवस्थापिका (Non-elective Super Legislature) ही बन बैठा है न्यायाधीश जब निर्णय देने बैठते हैं, चाहे उन निर्णयो की भाषा न्यायिक ही क्यो प्रतीत हो, किन्तु सारत उनके निर्णय राजनीतिक निर्णय ही होते हैं। वे अप आपको ऐसी वैधिक सीमाओ में सीमित नही रखते जैसी की सघीय या राज्यीय अधि कार क्षेत्र में आवश्यक मानी गई हैं, अथवा उन वैधिक विनियमो की क्रियान्विति त अपने आपको सीमित नही रखते जो विधि की विधा (Process) के लिये आवश्य होते हैं; बल्कि वे अपने निर्णयो में कानून व्यवस्था की आवश्यकता (Advisabilit of Legislation), कानून व्यवस्था की धर्म नीति (Justice) और कानून व्यवस्थ का विवेक-बुद्धि अथवा तर्क मे मिलान (Conformity to the law of reason का बखान कर बैठते हैं। विवेक-बुद्धि और सत्य धर्म नीति (Law of reason an essential Justice) वही होगी जो कुछ कि न्यायाधीशों के स्वभाव अथवा प्रकृ (Temperaments), विशिष्ट स्थिति (Characteristic Attitudes) और उन व्यक्तिगत विचार होगे। न्यायाधीशो के भी अपने राजनीतिक, आर्थिक ए सामाजिक विचार एव पक्षपात (Predilections) होते हैं और कभी-कभी त उनकी न्यायाधीश पद पर नियुक्ति भी इन विचारो और पक्षपातो के ही कार होती है। और जब वे इस प्रकार के वाक्यांशो की व्याख्या अथवा निर्वच करने बैठते हैं जैसे विनियमन "(Regulate)", वाणिज्य "(Commerce)", न्याय क उचित परिपाटी "(Due process of Law)" आदि, तो उनके निर्णयो के ऊपर चाहे चेतनापूर्वक अथवा अनजाने में, उनके सामाजिक एव सैद्धान्तिक विचारो औ

सामान्य दृष्टिकोण का प्रभाव अवश्य ही पड़ेगा।[1] १८८८ और १९३७ के बीच में सर्वोच्च न्यायालय ने उन सभी अधिनियमों को असवैधानिक घोषित कर दिया जो उन न्यायाधीशो की विवेक बुद्धि के अनुसार व्यक्तिगत सपदा (Private Property) के अधिकार का अन्याय्य रूप से विरोध करते थे। सर्वोच्च न्यायालय ने अन्तर्राज्यीय (Inter State) वाणिज्य की व्याख्या करते समय सकुचित अर्थ ग्रहण किया, और इस प्रकार कई तरह से कांग्रेस की शक्तियो और अधिकारो पर प्रतिवन्ध लगा दिये। सर्वोच्च न्यायालय इतने निम्न स्तर पर उतर आया कि वह कांग्रेस के शिशु-श्रम पर रोक-थाम लगाने के सम्बन्ध में प्रयत्नो पर भी विशेषाधिकार प्रयुक्त करने में नही चूका।

१८९५ में सर्वोच्च न्यायालय ने एक पुराने, पूर्व स्वीकृत और प्रभावी पूर्वभावी (Precedent) को अस्वीकृत करके केन्द्रीय सरकार को आयकर (Income tax) वसूल नही करने दिया। इस निर्णय को चार के विरुद्ध पांच न्यायाधीशो ने किया था और न्यायाधीश फील्ड (Field) ने वहुमत न्यायाधीशो के विचार को इस प्रकार के प्रयोगो के सम्बन्ध में स्पष्टत व्यक्त किया। उसके विचार में आयकर (Income tax) पूंजी के विरुद्ध आक्रमण था और उसने निष्कर्ष निकाला कि आयकर के वाद और भी घातक आक्रमण पूंजी के विरुद्ध हो सकते हैं। और अन्त में यह परिणाम होगा कि हमारी राजनीतिक दलवन्दी गरीवो और अमीरो में वँट जायगी और यह राजनीतिक लडाई अधिक उग्र होती जायगी और गरीवो और अमीरो के सम्वन्धों को कटु वना देगी।[2] जव सर्वोच्च न्यायालय ने इस प्रकार लोकमत के विरुद्ध अपने विचार थोपने चाहे और अपने मन की सामाजिक एव आर्थिक व्यवस्था देश के ऊपर लादनी चाही तो उसने सर्वोच्च व्यवस्थापिका का अधिकार स्वय सँभाल लिया यद्यपि उसका स्वरूप प्रतिनिधिक व्यवस्थापिका का नही था। शीघ्र ही जनमत ने सर्वोच्च न्यायालय से राजनीतिक बदला ले लिया और सविधान के १६वें सशोधन को स्वीकार करके सर्वोच्च न्यायालय के उक्त निर्णय को वदल डाला। एडकिन्स (Adkins) वाले अभियोग में न्यायाधीश मि० सदरलैंड (Sutherland) ने वल देकर कहा कि किसी अधिकार की मर्यादायें होती हैं और जव किसी के द्वारा इन मर्यादाओ का उल्लघन होता है तो न्यायालयो का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे इस प्रकार के सीमोल्लघन को स्पष्टतया इगित कर दें। सर्वोच्च न्यायालय के इस प्रकार के निर्णय निस्सन्देह राजनीतिक पुट लिये हुए हैं जिस कारण उनका न तो उतना मान है और न उनका उतना प्रभाव होना है जितना कि सामान्यत न्यायालय के निर्णयो का प्रभाव होना चाहिये।

यह भी जान लेना आवश्यक है कि ये सव निर्णय चार के विरुद्ध पांच के वहुमत से किये गये थे, और यदि न्यायाधीश मि० सदरलैंड की उस उक्ति को मान लिया जाय कि न्यायालयों का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि अपने न्याय्य कर्त्तव्यो के

---

[1] Essentials of American Government, p 353

[2] Pollock V Farmers, Loan and Trust Co

निर्वहन में जहाँ कही भी वे किसी अधिकारी द्वारा सविधान की सीमाओ का उल्लघन पावे तो उसको असवैधानिक घोषित कर दें ; तो उक्त उक्ति के अनुसार यह मानना होगा कि चार विरुद्ध मतदाता न्यायाधीशो को अपने कर्त्तव्यो का ज्ञान नही था और यह भी नही भूलना चाहिये कि एडकिन्स (Adkins) अभियोग के निर्णय करने वालो में विरोधी मतदाता न्यायाधीशो में अत्यन्त सयमी एव विचारशील (very conservative) प्रमुख न्यायाधीश मि० टाफ्ट (Taft) भी थे ।

इस समस्या का एक और भी पक्ष है । जब सविधान का निर्वचन किया जाता है और उसकी भाषा एव शुद्ध अर्थो पर विचार किया जाता है, तो न्यायाधीशगण उस सम्बन्ध में शासन की वर्तमान नीति पर भी विचार करते हैं । जब कांग्रेस द्वारा पारित कोई अधिनियम सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख विचारार्थ आता है तो उस समय न्यायाधीशो के सम्मुख दो विकल्प होते हैं कि या तो उक्त अधिनियम में निहित सामान्य नीति को स्वीकार किया जाय अथवा उसको तिरस्कृत किया जाय । यदि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो ने एक बार किसी नीति को अस्वीकृत कर दिया, तो फिर उसका स्वीकार किया जाना प्राय असम्भव होगा जब तक कि पुनर्गठित सर्वोच्च न्यायालय किसी अन्य समय पर उस सम्बन्ध मे विभिन्न मत न अपनावे । सर्वोच्च न्यायालय जनमत के प्रति बिल्कुल जागरूक नही है । "यदि सविधान इस कारण सर्वोच्च है कि वह जनता की इच्छाओ का दर्पण है तो वे प्रतिनिधिगण ही जो जनता के विचारो के प्रत्यक्ष दर्पण हैं, सविधान के निर्वचन के सबसे अधिक एव उचित अधिकारी ।" इसलिये इस सम्बन्ध में उचित रूप से ही यह शका की जाती है कि केवल उन पांच न्यायाधीशो को ही, जो सर्वोच्च न्यायालय में बहुमत निर्माण करते हैं, क्योंकर ऐसी सत्ता प्रदान कर दी गई है जो वे कांग्रेस एव राष्ट्रपति को आदेश देते हैं कि वे क्या करें अथवा क्या न करें ; जबकि कांग्रेस एव राष्ट्रपति दोनो सर्वसाधारण के प्रतिनिधि हैं और जबकि न्यायाधीशो की नियुक्ति कतिपय उग्र पक्षपातपूर्ण राजनीतिक, सामाजिक एव आर्थिक विचारो के कारण समस्त जीवन के लिये होती है । सर्वोच्च न्यायालय के अनुचित पक्षपात और वैधिक सूत्रों एव नियमो की अत्यधिक अधीनता एव आश्रय के कारण ही सयुक्त राज्य अमेरिका की सामाजिक प्रगति में भारी बाधा पडी है ।

प्रमुख न्यायाधीश ह्यूज (Hughes) का यह कथन कि "हम सविधान के अनुसार कार्य करते हैं, किन्तु सविधान वास्तव में वह है जो न्यायाधीश उसको बताते हैं," अथवा जैसा कि न्यायाधीश फ्रेंकफर्टर (Frankfurter) ने अधिक भद्दे शब्दो मे कहा कि "सर्वोच्च न्यायालय ही सविधान है", इन दोनो मान्यताओ को तब तक स्वीकार नही किया जा सकता जब तक कि कतिपय न्यायाधीश मंजे हुए राजनीतिज्ञ हैं और "जो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश बनने के बाद भी राष्ट्रपति बनने की इच्छा रखते हैं ।"[1] इस कथन में तनिक भी अतिशयोक्ति नही है कि किसी-किसी अवसर

---

[1] Laski, H J. The American Presidency, p 68.

पर एक न्यायाधीश नियुक्त कर ले जिसने १० वर्ष न्यायालय की सेवा कर ली है और जो ७० वर्ष की आयु पार करने पर भी न्यायालय के न्यायाधीश पद पर बना हुआ है। इसमें शर्त यह भी जोड दी गई कि किसी भी हालत में समस्त न्यायाधीशो की सख्या १५ से अधिक नही होने दी जायगी। रूजवेल्ट के प्रस्ताव का उद्देश्य यह था कि सर्वोच्च न्यायालय का कायाकल्प किया जाय और इसको अधिक कार्य-कुशल बनाया जाय ताकि यह अपना समस्त कार्य कुशलतापूर्वक पूरा करता चले।

यह प्रस्ताव पूर्ण रूप से पराजित हो गया। इसके फलस्वरूप केवल एक लाभदायक परिणाम निकला कि कांग्रेस ने आज्ञा दे दी कि जिन सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो ने १० वर्ष अपने पदो पर कार्य कर लिया है और ७० वर्ष की आयु पूर्ण कर चुके हैं, वे अवकाश ग्रहण कर सकते हैं, और तब भी उनको पूरा वेतन मिलता रहेगा। यद्यपि यह रूजवेल्ट की राजनीतिक पराजय थी फिर भी ऐसा माना गया है कि उसने युद्ध जीत लिया। १९३८ में न्यायाधीश राबर्ट्‌स (Roberts) ने एक अन्य बहुमत विचार पर टिप्पणी लिखते हुए कहा कि १९३८ का एग्रीकल्चरल एडजस्टमेंट एक्ट (Agricultural Adjustment Act of 1938) जिसका उद्देश्य कृषि-व्यापार को नियमित करना था, पूर्ण सविधानिक था और उसी समय न्यायाधीश मि० बटलर (Butler) ने विरोध एव भिन्न मत प्रकट करते हुए जस्टिस राबर्ट्‌स (Justice Roberts) के १९३६ के तदर्थ विचारो को लेते हुए सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि वह अधिनियम असवैधानिक ही था। यह सत्य है कि १९३७ के अन्त तक सर्वोच्च न्यायालय में उदारवादी न्यायाधीशो का बहुमत हो गया था और १९४२ के सितम्बर में तो पुराने न्यायाधीशो में से केवल दो न्यायाधीश जस्टिस राबर्ट्‌स (Justice Roberts) और जस्टिस स्टोन (Justice Stone) रह गये थे। किन्तु पूर्व इसके कि न्यायाधीशो में हेर-फेर हो, सर्वोच्च न्यायालय ने अपने दृष्टिकोण में स्पष्ट परिवर्तन प्रदर्शित किया, और स्त्रियो के न्यूनतम वेतन के सम्बन्ध में अपने पुराने दृष्टिकोण अथवा रवैये (Attitude) में परिवर्तन दिखलाया और वाणिज्य के सम्बन्ध में धारा को पुन सशोधित किया जिसके अनुसार उत्पादन में सोशल सिक्यूरिटी एक्ट अथवा सामाजिक सुरक्षा अधिनियम (Social Security Act) और लेबर रेलवे एक्ट अथवा श्रमिक रेल यातायात अधिनियम (Labour Railway Act) सम्मिलित कर लिये गये। प्राय कहा गया है कि सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश आम चुनावों के राजनीतिक फलो के अनुसार आचरण करते हैं। इस कथन में पर्याप्त सत्य है और इस अवसर पर हम को सीनेट सदस्य विलियम बी० गेल्स (William B Gales) का कथन स्मरण हो आता है जो उसने १८०८ में कहा था। उसने अत्यधिक शिष्टतापूर्वक कहा था, "मुझे ज्ञात हुआ है कि न्यायाधीशो के विचार इसी प्रकार परिवर्तनशील हैं जिस प्रकार कि नकली सिल्क के रग परिवर्तनशील होते हैं और वे राजनीतिक धूप के कारण शीघ्र बदल जाते हैं।"

Suggested Readings

Beard, C A — American Government and Politics (1947), Pp 46-58, chapter VIII

Brogan, D. W. — The American Political System (1948), Part one, chapter II.

Carr, R K — The Supreme Court and the Judicial Review (1942).

Corwin, E S. — Court over Constitution . A Study of the Judicial Review as an Instrument of Popular Government, (1948).

Cushman, R E — Ten Years of Supreme Court, (1937-1947), "American Political Science Review" Vol XLII (Feb 1948), Pp 32-67.

Ferguson, J H and Mc Henry, D E — The American System of Government (1950), Pp 63-66, Chapter XVI

Harris, R J — The Judicial Power of the United States (1940).

Laski, H J — The American Democracy, (1953), Pp. 73-78, 110-116, 671-73

Ogg, F A. and Ray, P O — Essentials of American Government, (1952), Pp 42-46, chapter XXIII

Swisher, C B — The Constitutional Power in the United States (1947), Chapter IX

अध्याय ८

राजनीतिक दल

(Political Parties)

अमेरिकन सविधान के निर्माताओं की राजनीतिक दलो के प्रति स्पष्ट घृणा (Opposition of the Fathers to the Party System)—सभी अमेरिकन सविधान के निर्माता इस बात पर सहमत थे कि राजनीतिक दलबन्दी के फलस्वरूप राष्ट्रीय समन्वय को भारी आघात पहुँचता है क्योकि उनके द्वारा कलह, विग्रह, छल-कपट और चालाकी को प्रोत्साहन मिलता है। सविधान के निर्माता समस्त सयुक्त राज्य के लिये एक शासन-व्यवस्था निर्मित कर रहे थे अत वे ऐसा शासन यन्त्र स्थापित करना चाहते थे, जिसमें दलबदी वर्जित हो। उनको डर था कि यदि उनके देश की नव-स्थापित शासन-प्रणाली में परस्पर विरोधी दलीय भावना जाग्रत हो गई, तो कही उनका शिशु प्रजातन्त्र भी उन्ही कठिनाइयो में न घिर जाय जिनमे कि पुरानी दुनिया के प्रजातन्त्र एव मध्ययुगीन इटली के प्रजातन्त्र घिर गये थे। इसलिये फिलैडेलफिया प्रसभा (Philadelphia Convention) ने शासन को दलीय शासन-प्रणाली से श्रेष्ठतर बनाने की दिशा में यह उपबन्ध कर दिया कि शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त (Device of division of Powers) एव परीक्षणो और सन्तुलनो के सिद्धान्त (System of Checks and Balances) का शासन में सूत्रपात हो, जिनका एक प्रधान उद्देश्य यह था कि किसी दल का अत्यधिक प्रभाव शासन पर न रहे चाहे वह प्रभाव श्रेष्ठ उद्देश्यो को लेकर भी क्यो न हो।

किन्तु सविधान के निर्माताओ की इच्छा के विरुद्ध सघ की स्थापना के कुछ ही वर्षो के भीतर दलगत विभिन्नता एव दलीय भावना स्पष्टत दिखाई देने लगी। सत्य तो यह है कि सघ के प्रथम राष्ट्रपति वाशिगटन ने अपने पद की शपथ ही ली थी कि उसने भय के साथ देखा कि दलबन्दी और फूट के लक्षण प्रकट हो रहे हैं। अनुभवहीन एव शिशु शासन को समन्वय की भावना देने के उद्देश्य से तथा शासन को दलीय विरोधी भावना से ऊपर रखने के लिये वाशिगटन ने अपनी केबिनेट (Cabinet) में प्रमुख सघ समर्थक (Leading Federalist) ऐलेक्जेण्डर हैमिल्टन (Alexander Hamilton) और प्रमुख सघ-विरोधी टॉमस जैफरसन (Thomas Jefferson) को रखा। किन्तु वाशिगटन की द्वितीय राष्ट्रपतीय पदावधि में जैफरसन ने परराष्ट्र विभाग का मन्त्री-पद त्याग दिया ताकि वह वृहद् दल का सघटन करने के लिये पूरा समय दे सके। वाशिगटन को भविष्य मे आने वाली घटनाओ के प्रति घृणा थी और अपने अन्तिम विदाई सन्देश में उसने देशवासियो को चेतावनी देते हुए बताया कि "दलगत विद्वेष में सभी के लिये बुराई और हानि छिपी हुई है अत प्रत्येक बुद्धिमान्

आधार बडे और छोटे राज्यो को लेकर था और उनमें भी मुख्य रूप से गुलामी की प्रथा को लेकर था, जो विभाजन की पृष्ठभूमि का निर्माण करती थी। अमेरिकी गणराज्य के प्रारम्भिक काल में आर्थिक एव क्षेत्रीय हितो तथा उन हितो की प्रतिक्रिया के रूप में दलो का उदय हुआ। सघात्मक दल (Federalist party), न्यू इगलैंड (New England) और मध्यवर्ती राज्यो के व्यापारिक, आर्थिक और औद्योगिक हितो का सरक्षक था, और रिपब्लिकन दल (The Republican Party) कृषकों, बगीचो के मालिको और उत्तरी देहातो तथा दक्षिणी किसानो के हितो को देखता था।

हैमिल्टन और जैफरसन दोनो की ही हार्दिक इच्छा थी कि सशक्त, एव स्वतन्त्र राष्ट्र का निर्माण हो और दोनो ने ही अपनी पूरी शक्ति इस शुभ इच्छा की पूर्ति में लगा दी, किन्तु शक्ति और स्वतन्त्रता प्राप्त करने के दोनो के अलग-अलग मार्ग थे। हैमिल्टन शक्तिशाली केन्द्रीय शासन का समर्थक था और उसी के लिये वह बराबर प्रयत्न करता रहा। वाशिंगटन का अर्थमन्त्री (Secretary of the Treasury) रह चुकने के कारण वह केन्द्रीय शासन को वास्तविक और सुदृढ आर्थिक आधार पर स्थापित करना चाहता था, और इस कारण वह अपने प्रतिद्वन्द्वी से अधिक लाभ की स्थिति मे था। उसने राष्ट्रीय बैंक की स्थापना कराई थी, उत्पाद करों (Excise taxes) की व्यवस्था की थी और सामान्यत: केन्द्रीय अथवा सघीय शासन का अधिकार क्षेत्र संविधान के उपबन्धो के अनुरूप इस प्रकार बढाया था कि समस्त सयुक्त राज्य के निवासी ऐसा महसूस करने लगे कि वे एक राष्ट्र के निर्माता हैं और राष्ट्रीय सरकार समस्त राष्ट्र की सरकार है और यह कि सयुक्त राज्य एक ढीला-ढाला राज्यो का परिसघ (Confederation) न होकर वास्तविक सुदृढ सघ है।

इसके विपरीत टॉमस जैफरसन (Thomas Jefferson) को हैमिल्टन के विचारो से तीव्र विरोध था। इस कारण मन्त्रिमण्डल में फूट थी। जैफरसन ने त्याग-पत्र दे दिया और अपनी सारी शक्ति एक ऐसे दल के सगठन में लगा दी जो हैमिल्टन का और उसके साथियो का प्रभावपूर्ण विरोध कर सके। जैफ़रसन का विरोध इस कारण था कि शासन का समस्त ध्यान वाणिज्यप्रधान एव व्यवसायियो के हित-साधन की ओर था और देहात व किसानो के हितो को उपेक्षित किया जा रहा था। वह अमेरिका मे किसानो का प्रजातन्त्र स्थापित करना चाहता था और उसका विचार था कि सघ के समर्थको का सारा प्रोग्राम एक अल्पजन शासन (Oligarchy) को जन्म देगा जिसमें कतिपय धनी लोगों का राज्य होगा और उस राज्य में केवल धनी लोगो का हित साधन होगा। इस बुराई को दूर करने का उसे कोई अन्य उपाय नही सूझा और उसने माँग की कि राज्यो के अधिकारो में वृद्धि की जाय और केन्द्रीय शासन को कतिपय थोड़ी-सी शक्तियाँ दी जायें।

यह अजीब सी बात मालूम होगी कि जैक्सन (Jackson) पोक (Polk), क्लीवलैंड (Cleveland), विल्सन (Wilson), और फ्रैंकलिन रूजवेल्ट (Franklin Roosevelt) अपने दल के सस्थापक जेफ़रसन से भिन्न मत रखते थे और वे केन्द्रीय

शासन की शक्तियो में वृद्धि चाहते थे और सविधान की धाराओ का विस्तृत अर्थों में निर्वचन करते थे। किन्तु जैफरसन की विचारधारा को समझने के लिये उस काल की राजनीतिक एवं उस काल की अ-राजनीतिक स्थिति को भी समझना होगा। यातायात के साधनो का अभाव, प्रान्तीय अथवा क्षेत्रीय प्रेम; राष्ट्रीय भावना का पूर्ण अभाव; साथ ही कुछ अन्य प्रान्तो का नये राष्ट्र के साथ पूर्ण तादात्म्य अथवा एकचित्तता (Identity) इन सबने एक साथ मिलकर राष्ट्रीय भावनाओ के विकास में बाधा पहुँचाई और इस कारण लोगों ने केन्द्रीय शासन को समस्त राष्ट्र के हितो का सरक्षक न समझ पाया। इसीलिये जैफरसन ने बल दिया कि अधिकतर शक्तियाँ राज्यो के लिये सुरक्षित रखी जायँ और तभी सर्वसाधारण के हितो की रक्षा हो सकेगी। "इस पृष्ठभूमि को समझते हुए इसमें कोई विशेष विरोधाभास नहीं है कि उसने डैमोक्रेटिक दल की नींव डाली थी, साथ ही उसने राज्यो के हितो में और अधिकारो में वृद्धि चाही थी और केन्द्रीय अधिकारो और शक्तियो में वृद्धि का विरोध किया था।"[1]

अमेरिका के दोनो ही बडे दल हितो के समुदाय थे और अब भी हैं और उनकी शक्ति का आधार स्थानीय हित हैं। सामान्यत सयुक्तराज्य को इस समय चार भागो में बाँटा जा सकता है। उद्योग प्रधान उत्तर-पूर्वी भाग मुख्यत रिपब्लिकन दल का गढ है। कृषिप्रधान दक्षिण प्रदेश पूर्णत डेमोक्रेटिक दल का शक्ति स्थल है। मध्यवर्ती बडे-बडे फार्मों का क्षेत्र ऐसा है जिसपर दोनो दलो की समान आशाएँ बनी रहती हैं। आधुनिक शताब्दी का अन्य विकास यह भी है कि पश्चिमी अमेरिकीभूभाग का राजनीतिक प्रभाव बढ रहा है। यह भूभाग अब तक मुख्यत कृषिप्रधान और चरागाहो का स्थान था किन्तु वही अब तेजी से उद्योगप्रधान बनता जा रहा है। दोनो ही दल यह प्रयत्न करते हैं कि इन दोनों अनिश्चित क्षेत्रों को अपने पक्ष में कर लें। यही दोनो क्षेत्र वास्तव मे राष्ट्रपति अथवा कांग्रेस के चुनाव में बहुमत देते हैं और जहाँ तक दोनो दल इन अनिश्चित क्षेत्रो में अपना प्रभाव क्षेत्र और राजनीतिक संघटन सुदृढ और अपने हित में कर सकते हैं वहीं तक उनकी सफलता निश्चित हो सकती है। किन्तु जब तक उत्तरी भूभाग मुख्यत रिपब्लिकन है और दक्षिणी भूभाग मुख्यत डेमोक्रेटिक है तब तक देश में दलो की राजनीति का आधार क्षेत्र विशेष अथवा भूभाग ही बना रहेगा।

द्विदल पद्धति (The two-party system)—अपने सारे जीवन-काल में सयुक्तराज्य अमेरिका में केवल नगण्य छोटे-मोटे दलो को छोडते हुए मुख्यत दो राजनीतिक दल ही रहे हैं। द्विदल पद्धति के इस प्रकार विकसित होने के कई कारण बताये गये हैं। प्रथमत बताया गया है कि अंग्रेजी भाषा-भाषी देशों के लोग अव्यावहारिक काल्पनिक (Doctrainire) नहीं होते हैं और वे समझौतावादी अधिक हैं। द्वितीयत वंश, जाति, राष्ट्रीयता और धर्म की समस्यायें अमेरिका में उतनी प्रबल नहीं हैं जितनी कि यूरोप में, जिसके कारण वहाँ इन आधारो पर गुटबन्दी

---

[1] Tourtellot, A. B An Anatomy of American Politics, p 168.

अधिक उग्र रूप से दृष्टिगोचर होती है किन्तु अमेरिका में उसका उतना उग्र रूप नही है। तृतीयत द्विदल पद्धति उपनिवेशिक राज्यो की परम्परा है जो लगातार अविच्छिन्न रूप से चल रही है। चतुर्थत अमेरिका की द्विदल पद्धति उस देश की निर्वाचन-प्रणाली है विशेषकर निर्वाचकगणो एव एकल-सदस्य-जिला-चुनाव पद्धति (Single member district plan) का परिणाम है जिसके अनुसार व्यवस्थापिका के सदस्य चुने जाते हैं। निस्सन्देह यह सत्य है कि निर्वाचकगणो द्वारा राष्ट्रपति का चुनाव अत्यधिक कठिन और अप्रजातान्त्रिक हो जायगा यदि कोई सुदृढ और सुव्यवस्थित तृतीय दल भी मैदान में आ जाय। यदि निर्वाचकगण (Electoral college) में बहुमत प्राप्त नही होता, उस स्थिति में प्रतिनिधि सदन कार्यपालिका प्रधान का निर्वाचन सबसे अधिक तीन मत पाने वालो में से किसी प्रत्याशी का कर लेता है इस प्रकार प्रत्येक राज्य एक वोट देता है। एकल-सदस्य-जिला-चुनाव पद्धति (Single member district scheme) के द्वारा छोटी-छोटी पार्टियाँ चुनाव मैदान में आने का साहस नही करती।

डेमोक्रेटिक दल (The Democratic Party)—डेमोक्रेटिक दल की स्थापना १५० वर्ष पूर्व टॉमस जेफरसन ने वाशिगटन के प्रशासन काल में की थी। इस दल के विभिन्न नाम रहे हैं जैसे सघ-विरोधी दल (Antifederalists), रिपब्लिकन्स (Republicans), डेमोक्रेटिक रिपब्लिकन्स (Democratic Republicans) और डेमोक्रेट्स (Democrats), और अत्यन्त कठिन परिस्थितियो में से यह दल अब तक जीवित रहा है। अपने प्रारम्भिक जीवन-काल में इस दल ने रक्षित प्रशुल्को (Protected tariffs), जहाजो के अधोगमन अथवा प्रशमन (Ship subsides), साम्राज्यवाद (Imperialism), और केन्द्रीय सरकार की शक्ति वर्द्धन आदि विषयो के विरुद्ध आवाज उठाई थी और इस विरोध के लिये सविधान के उपबन्धो का सहारा लिया था। प्रारम्भ में इसका ऐतिहासिक एव अत्यधिक प्रभाव, देश के कृषको में था यद्यपि बाद मे बहुत से आयात करने वाले व्यवसायी और शहरी शिल्पकार भी इस दल में सम्मिलित हो गये। जब १८१६ के आस-पास संघात्मक दल (Federalist Party) छिन्न-भिन्न हो गया तो डेमोक्रेटिक दल ने काफी समय तक देश में एक छत्र राजनीतिक सत्ता का उपभोग किया। जैक्सन (Jackson) के काल में दल में फूट पड गई और डेमोक्रेटिक दल के विरोध में सशक्त व्हिग दल (Whig) आ गया। गृह-युद्ध के बाद यह दल विरोधी दल के रूप में जमा रहा और कई दशको तक अल्प मत दल के रूप में पडा रहा लेकिन कभी-कभी जोर के साथ कांग्रेस में उभर भी आता था और दो बार राष्ट्रपति क्लीवलैंड (Cleveland) के नेतृत्व में, दो बार राष्ट्रपति वुडरो विलसन (Woodrow Wilson) के नेतृत्व में और चार बार फ्रैंकलिन डी० रूज़वेल्ट के नेतृत्व में इस दल ने राष्ट्रपति के शासन पर अधिकार जमाया।

रिपब्लिकन दल (The Republican Party)—आज की जो रिपब्लिकन पार्टी है, वह वास्तव में प्रारम्भिक काल की बडी पार्टियो की उत्तराधिकारिणी है।

प्रारम्भ में हैमिल्टन के नेतृत्व में सघात्मक दल था जिसने सशक्त केन्द्रीय सरकार का समर्थन किया था और सविधान के उदार निर्वचन पर आग्रह किया था , किन्तु इस दल ने १८१२ के युद्ध में कई अक्षम्य असावधानियाँ कीं अत इसका अन्त हो गया । उसके बाद यह दल राष्ट्रीय रिपब्लिकन (National Republican) दल के नाम से उभरा और उसके बाद जैक्सन काल में यह दल व्हिग दल के नाम से सामने आया । रिपब्लिकन दल की स्थापना १८५४ में हुई और इस दल ने १८५६ के राष्ट्रपति चुनाव में जॉन सी फ्रीमॉण्ट (John C Fremont) को राष्ट्रपति पद के लिये नामांकित किया और गुलाम प्रथा के विरुद्ध कडा रुख अपनाया । किन्तु फ्रीमॉण्ट डेमोक्रेटिक कोलीशन (Democratic coalition) के मुकाबिले में हार गया क्योंकि डेमोक्रेटिक दल की दशा सुदृढ थी । चार वर्षो के बाद रिपब्लिकन दल की ओर से लिंकन (Lincoln) राष्ट्रपति पद पर आ विराजा । इस बार रिपब्लिकनो ने चुनाव घोषणा पत्र में 'गुलाम प्रथा के अन्त', और आन्तरिक सुधारो का आश्वासन दिया था । इन आन्तरिक सुधारो मे किसानो के लिये इमारत सहित बगीचो और फार्मों का एव श्रमिको तथा शिल्पियों के लिये ऊँचे वेतन का आश्वासन निहित था । १८६० से १९१३ तक इस पार्टी के हाथो में लगातार शासन की बागडोर रही । इस बीच केवल आठ वर्ष के लिये यह दल सत्ताहीन रहा जबकि १८८५-१८८९ तक और १८९३-१८९७ तक डेमोक्रेटिक दल का क्लीवलैंड राष्ट्रपति रहा । किन्तु अपने इस लम्बे शासन-काल में भी दल सुखपूर्वक समय यापन नही कर सका क्योंकि ग्राट (Grant) के प्रशासन-काल में इस दल के ऊपर भ्रष्टाचार के कई आरोप लगे । इस दल को आन्तरिक मतभेदों ने भी झकझोर डाला जैसे पूर्वी और पश्चिमी अमेरिका के विभेद ; अथवा पूर्ण अपरिवर्तनवादी (Conservative) व्यापारियो एव कुछ कम अपरिवर्तनवादी किसानों और श्रमिको में विभेद ; अथवा सुधारवादी उदार रिपब्लिकनो (Reform minded Liberal Republicans) एव स्टेण्ड पैटरो (Stand-patters) में विभेद , अथवा दल के नियमित सदस्यो (Party regulars or stalwarts) एव दल के स्वतन्त्र सदस्यो अथवा दोगलो (Party independents or half breeds) में विभेद अथवा इनके सबके विभिन्न समूहो में परस्पर विभेद । किन्तु इतनी विभिन्नताओं, फूट और विभाजन के बावजूद भी यह दल स्थिरता के साथ न केवल खडा रहा बल्कि जीता क्योंकि संयोगवश अथवा उद्योगपूर्वक इस दल के नेतागण इस दल के विभिन्न मतो को एक साथ रख सके और उनके विभाजन को काबू में रख सके । पिछली शताब्दी के अन्त में जब महत्त्वपूर्ण श्रमिक एव देहाती वर्ग दल को त्यागने वाले थे, उस समय विलियम मैकिन्ले (William McKinley) के प्रयत्नों के फलस्वरूप दल विघटित होने से बचा । जब अगले वर्षों में सुधारवादियों ने दल की नीति की अनुदारता (Conservatism) के विरुद्ध आवाज उठाई तो थियोडोर रूज़वेल्ट (Theodore Roosevelt) ने, जो स्वय प्रगतिशील अथवा प्रगामी रिपब्लिकन था, दल के कार्यक्रम को प्रगतिशील दिशा प्रदान की ।

रिपब्लिकन दल संविधान को उदार अर्थों में ग्रहण करता है विशेषकर उन अनुच्छेदो को जिनका सम्बन्ध केन्द्रीय सरकार की शक्तियो से है। इस दल ने राज्यों को शक्तियाँ प्रदान करने के सम्बन्ध मे डेमोक्रेटिक दल की अपेक्षा कम उदारता प्रदर्शित की है। साथ ही इस दल ने रक्षित प्रशुल्को (Protective tariffs), संघीय शासन के नेतृत्व में आन्तरिक सुधारो, उपनिवेशो की वृद्धि, अभ्यास वृद्धो (Veterans) के लिये उदार पेंशनें, व्यापारिक जहाज़ी बेडे के लिये उदार सरकारी सहायता, काले हब्शियो के लिये वोट देने का अधिकार और सोने की प्रमाप मुद्रा (Gold monetary standard) के सम्बन्ध में अत्यधिक उदार दृष्टिकोण अपनाया है।

दलों का मतभेद, आधारभूत सिद्धान्तो पर नहीं (Party divisions no longer clear cut)—आजकल दलो का मतभेद किसी आधारभूत सिद्धान्त पर नही है और उनके कार्यक्रमो के बीच कोई स्पष्ट विभाजन रेखा नही खीची जा सकती। अमेरिकावासियो का अब कृषि, प्रधान उद्यम नही है और देश की राष्ट्रीय आय में जमीन की पैदावार का स्थान अत्यन्त क्षीण है। मध्य पश्चिम और दक्षिण के विशाल भूभाग, जो किसी समय खेतिहर प्रजातन्त्र (Agrarian democracy) के समर्थक थे, अब उद्योगप्रधान प्रदेश बन गये हैं और तदनुसार उनके राजनीतिक विचारो में भी परिवर्तन आ गया है। उनकी आवश्यकताएँ भी बदल गई हैं, इसलिये वे ऐसे शासन के इच्छुक हैं जिसके दृष्टिकोण में परिवर्त्तन हो। इसके अतिरिक्त उद्योग, व्यापार और कृषि एक दूसरे के अन्योन्याश्रित एवं अतिछादी (Overlapping) हैं। इन तीनो में पूर्ण विच्छेद असम्भव है। केवल उद्योगो मे ही तीव्र भेद हैं और उन औद्योगिक विभेदो और कमज़ोरियो को दूर करने के अनेको उपाय सुझाये गये हैं। उदाहरणस्वरूप मोटरगाडी उद्योग तथा मिले-जुले उद्योग रक्षित प्रशुल्क (Protective tariffs) नही चाहते किन्तु विदेशो में पूंजी लगाने वाले लोग रक्षित प्रशुल्क के हामी हैं।

अमेरिका के आर्थिक जीवन की जटिलताओ के कारण ही डेमोक्रेटिक दल वालों ने अपनी स्थिति में परिवर्त्तन कर लिया है। उन्होंने अपनी पुरानी ज़िद छोड दी है जिसके अनुसार वे राजस्व पर ही प्रशुल्क चाहते थे और अब वे परस्पर लाभकारी व्यापारिक इकरारनामो (Reciprocal trade agreements) के कुछ परिवर्त्तित रूप द्वारा प्रशुल्को के रक्षण के समर्थक हैं। इस कार्यक्रम का रिपब्लिकन दल (Republican Party) भी समर्थक है। प्रोफेसर बीयर्ड के अनुसार "इसका फल यह है कि किसी एक ही दल के विभिन्न पक्षो में और उनके दृष्टिकोणो में कही अधिक मतभेद हैं। किन्तु अपेक्षाकृत दोनो दलो के कार्यक्रम मे उतना मतभेद नही है। इस मतभेद की अपेक्षाकृत मात्रा सीनेट के पर्यवेक्षण से विशेष समझ में आ जायगी क्योंकि उसमें कृषि-प्रधान राज्यो को अत्यधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त है।"[1]

---

[1] American Government and Politics, Pp 67.

लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने अमेरिकी दल पद्धति का मनन करने के बाद निष्कर्ष निकाला कि "दोनो बडे दलो को दो बोतलें समझो। दोनों बोतलों पर दो विभिन्न लेबिल (Label) लगे हुए समझो जिसका अर्थ होगा कि उन लेबिलो के अनुसार दोनो बोतलो में विभिन्न प्रकार की शराब है किन्तु वास्तव में वे दोनो बोतलें खाली समझनी चाहियें।" बीयर्ड (Beard) कहता है कि "यह सच नही है कि दोनो दलों में नामो के अतिरिक्त और कोई भेद नही है"।[1] इस सम्बन्ध में दो बातों पर विशेष रूप से ध्यान देना चाहिये। प्रथम यह है कि दोनो ही दल परम्परा के भक्त हैं जिसके कारण दोनो दलो के समर्थक अन्धे होकर अपनी-अपनी पार्टी का समर्थन करते ही जाते हैं। द्वितीयत पुराने विचारो के अनुसार ही विभिन्न वर्ग अपने-अपने विचार और हित निश्चित करते हैं और इस प्रकार मतदाताओ में स्पष्ट विभेद पैदा करते हैं। इस बात को इस प्रकार समझाया जा सकता है कि दिसम्बर १९४० में अमेरिकन इन्सटीट्यूट आफ पब्लिक ओपीनियन (American Institute of Public Opinion) ने नमूने की मत-गणना की (Sample poll)। इसका प्रोफेसर बीयर्ड ने जिक्र किया है—"इस नमूने की मतगणना के अनुसार डेमोक्रेटिक दल के नामाकित प्रत्याशी राष्ट्रपति रूजवेल्ट को अधिक आय वाले लोगो में २८ प्रतिशत वोट मिले, बीच की आय वाले लोगो में से ५३ प्रतिशत वोट मिले और थोडी आय वाले मतदाताओ में से ६९ प्रतिशत मत मिले। जबकि रिपब्लिकन दल के प्रत्याशी वेन्डेल विल्की (Wendell Wilkie) को ऊँची आय वाले लोगो में से ७२ प्रतिशत वोट मिले, मध्यवर्ती आय वालो में से ४७ प्रतिशत वोट मिले और कम आय वाले लोगो में से केवल ३१ प्रतिशत वोट प्राप्त हुए।" इसी प्रकार १९४३ में पुन मत-गणना हुई और प्राय. वही फल प्राप्त हुए, केवल कुछ प्रतिशतो का हेर-फेर था।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि अमेरिका के दोनो राजनीतिक दल पूँजीवाद के समर्थक हैं। दोनो में केवल यह अन्तर है कि जहाँ रिपब्लिकन यह सोचते हैं कि शासन पूँजीवाद को छेडे नही तो पूँजीवाद फलेगा-फूलेगा; वहीं डेमोक्रेट दल का कहना है कि यदि पूँजीवाद को जीवित रहना है तो उसको अपने आपको सामाजिक, कला विज्ञान सम्बन्धी एव आर्थिक परिवर्तनो के अनुरूप ढालते रहना चाहिये और यदि पूँजीवाद अपना लचीलापन (Flexibility) खो देगा तो यह स्वयं नष्ट हो जायगा। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में डेमोक्रेटिक दल वालो का अजीब दृष्टिकोण है और वे राष्ट्रवादी अथवा राष्ट्रीयता का स्वांग भरते हैं, सशक्त सेना और नौसेना का समर्थन करते हैं, साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में हस्तक्षेप और युद्ध का समर्थन करते हैं किन्तु रिपब्लिकन लोग एक प्रकार से कम दिखावा करते हैं और वे धैर्य, होशियारी और सावधानी की सलाह देते हैं, यहाँ तक कि अन्तर्राष्ट्रीय विवादो मे अपने देश को पृथक् रखना चाहते हैं।

---

[1] Beard American Government and Politics, p 68.

Suggested Readings

Beard, C A	American Government and Politics, (1947), Chapter III
Bone, H A	American Politics and Party System, (1949), Chapters I-X
Brogan, D. W.	An Introduction to American Politics, (1954), Chapters II-V
Brogan, D W.	The American Political System, (1948), Part Two, Chapters I-IV
Stannard, H	The Two Constitutions, (1950), Chapter VI.
Tourtellot, A B	An Anatomy of American Politics, (1950), Chapters V-VIII
Zink, H.	A Survey of American Government, (1950), Chapters VIII-IX

स्विट्जरलैंड का शासन

(The Government of Switzerland)

अध्याय १

देश और जनता

(The Country and its People)

स्विस लोकतन्त्र की विलक्षणता (Special interest in Swiss democracy)—स्विट्जरलैण्ड (Switzerland) यूरोप का भौगोलिक केन्द्र भी है और जातीय (Ethnological) केन्द्र भी। यह देश चारों ओर से अन्य देशों से घिरा हुआ है और पश्चिमी यूरोप के बीचों-बीच स्थित है। इसका क्षेत्रफल लगभग १५,९७६ वर्ग मील है और जनसंख्या लगभग ४½ मिलियन अथवा ४५ लाख (4½ Million) है। इस देश की सीमा लगभग १,००० मील से भी अधिक लम्बी है जो तीन बड़े पड़ोसी देशों इटली, जर्मनी और फ्रांस (Italy, Germany and France) से मिलती है, साथ ही, आस्ट्रिया (Austria) और लाइटेंस्टीन (Liechtenstein) के छोटे भागों से भी मिलती है। कोई ऐसी प्राकृतिक सीमा नहीं है जो इस देश को उत्तर और पूर्व में जर्मनी से, पश्चिम में फ्रांस से और दक्षिण में इटली से अलग करती हो। आल्प्स (Alps) पर्वत इस देश के मध्य में होने के कारण, यह अनेकों महत्त्वपूर्ण अन्तर्राष्ट्रीय नदियों का उद्गम स्थान है। र्‌हाइन (Rhine) नदी इसी देश में से निकलकर उत्तर की ओर बहती हुई उत्तरी सागर (North Sea) में गिरती है, डैन्यूब (The Danube) और पो (The Po) नदियाँ निकलकर दक्षिण-पूर्व की ओर बहती हुई काले सागर (Black Sea) और एड्रियाटिक सागर (The Adriatic) में गिरती हैं, और र्‌होन (Rhone) नदी, दक्षिण-पश्चिम की ओर बहती हुई भूमध्यसागर (Mediterranean Sea) में गिरती है। ये सभी नदियाँ या तो स्विट्जरलैण्ड के आल्पस (Alps) पर्वत से निकली हैं अथवा इन नदियों में उन धाराओं का पानी प्रवाहित होता है जिनका जन्म स्विट्जरलैण्ड स्थित आल्प्स (Alps) पर्वत से होता है, और ये नदियाँ या तो इन देशों में होकर बहती हैं अथवा इन विदेशों की भूमि को छूती हुई बहती हैं।

समस्त स्विस जनता एक ही जाति के लोगों से मिलकर नहीं बनी है। स्विस जाति कई प्रजातियों, कई भाषाओं और कई धर्मों से मिलकर बनी है, यहाँ तक कि उनकी सभ्यता भी एक नहीं है। फिर भी इस विभिन्नता में ही स्विस राष्ट्र की एकता है, और इस प्रजातीय, धार्मिक और भाषा-सम्बन्धी विविधता के बावजूद

भी स्विट्जरलैण्ड, ससार के समक्ष न केवल विलक्षण एकता का उदाहरण उपस्थित करता है वल्कि ऐसा अपूर्व उदाहरण उपस्थित करता है जिससे इस देश के निवासी यूरोप के सभी देशो के निवासियो से अधिक सयुक्त और सबसे अधिक देशभक्त हैं। द्वितीयत अपनी भौगोलिक स्थिति और छोटे आकार के फलस्वरूप, स्विट्ज़रलैण्ड सदैव यूरोप के युद्धो से अलग रहा है और तटस्थता सम्वन्धी अन्तर्राष्ट्रीय गारटी के फलस्वरूप यह देश सदैव ससार की हलचलो का केन्द्र रहा है। १८१५ की वियेना सभा (Congress of Vienna) ने स्विट्ज़रलैण्ड की तटस्थता मान ली थी और १६२० मे राष्ट्रसघ (League of Nations) ने पुन उसको स्वीकार कर लिया था, अत स्विट्जरलैण्ड की विदेश नीति दोनो विश्व-युद्धो में तटस्थता की आड लिये रही।

स्विट्जरलैण्ड ससार का प्रथम देश था जिसमें सबसे पहले लोकतन्त्र की स्थापना हुई, और आज भी योरप में वही एक ऐसा राष्ट्र है जो सदैव गणतन्त्र रहा है। जिस समय सयुक्त राज्य अमेरिका (United States of America) स्वतन्त्र राष्ट्र के रूप मे प्रकट हुआ, उस समय स्विट्जरलैण्ड को अपनी पाँच सौ वर्ष पुरानी गणतन्त्रीय परम्परा पर गर्व था। स्विट्जरलैण्ड की गणतन्त्रीय सस्थाओ का सयुक्त राज्य अमेरिका तथा अन्य ऐसे देशो पर पर्याप्त प्रभाव पडा है जिन्होने प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणाली अपनायी है। इसके अतिरिक्त यही एक ऐसा शासन है जिसमें प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र (Direct democracy) के सिद्धान्तो के अनुसार शासन के क्रियाकलाप चलते हैं। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र के सिद्धान्त प्रथम वार सयुक्तराज्य में १८६८ में दक्षिणी डैकोटा (South Dakota) राज्य में प्रारम्भ किये गये, और तव से लोकप्रिय प्रभुसत्ता निर्दोष प्रमाणित हुई है। इस प्रकार स्विट्ज़रलैण्ड ने ऐसी सुन्दर शासन-प्रणाली को जन्म दिया है जो किन्ही सीमाओ तक अमेरिकन अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के समान स्थायी है और ससदीय शासन-प्रणाली के समान उत्तरदायी है।

प्राकृतिक विलक्षणताएँ (Physical characteristics)—स्विटजरलैण्ड अनेकानेक घाटियो का देश है और उस देश के लोग ऊँचे पहाडो के दोनो ओर निवास करते हैं और उनके वीच में ऊँची-नीची विषम पहाडो की चोटियाँ और लम्वे-चौडे वरफ के मैदान हैं। विस्तृत पहाडी क्षेत्र होने के कारण, उस देश की लगभग एक-चौथाई भूमि किसी प्रकार की पैदावार के अयोग्य है। वचे-खुचे भू-भाग का अधिकतर भाग चरागाहो या जगलो के लिये उपयुक्त है और समस्त भूमि का प्राय ३५ प्रतिशत भाग ही खेती के योग्य रह जाता है। सव मिलाकर सारी जनसख्या का २२ २ प्रतिशत भाग ही देश की कृषि पैदावार पर जीवित रह सकता है।

प्रकृति ने खनिज-पदार्थों के सम्वन्ध में भी देश के ऊपर कृपा नहीं की है। देश में न तो तेल के स्रोत हैं, और न कोयले की खानें हैं, और कच्चे माल का भी प्राय पूर्ण अभाव है। देश की ऊँची-नीची सतह होने के कारण परिवहन और यातायात कठिन है। प्रकृति ने केवल एक कृपा की है और जल-विद्युत् शक्ति के महत्त्वपूर्ण साधन दिये हैं।

किन्तु प्रकृति की कठोरता को मनुष्य ने जीत लिया है और अपने परिश्रम और कार्यों से प्रकृति को अनुकूल बना लिया है। प्रकृति ने तो केवल इतने साधन दिये थे कि स्विट्जरलैण्ड केवल जीताभर रह सके, किन्तु मनुष्य ने अपने परिश्रम से देश को पर्याप्त उन्नतिशील बना लिया है और इसकी अर्थ-व्यवस्था अथवा आर्थिक स्थिति स्थायी हो गई है। कृषि का उत्पादन स्तर, अत्यधिक उच्च है और द्वितीय विश्व-युद्ध के काल में वाहलेन योजना (Wahlen Plan) के अनुसार कार्य करके देश ने सुदृढ खाद्य-नीति अपनायी, जिसके फलस्वरूप खाद्य-पदार्थों का आयात कम हो गया। इस दिशा में देश पूर्णतया सफल हुआ है और इस समय स्विट्जरलैंड में देश की आवश्यकता का ८० प्रतिशत अनाज पैदा होता है और केवल २० प्रतिशत अनाज आयात करना पडता है।

यद्यपि यह असत्याभास प्रतीत होगा किन्तु सत्य यही है कि स्विट्जरलैण्ड मुख्यत औद्योगिक देश है और उसकी ४१ २ प्रतिशत जनसख्या शिल्प उद्योग पर निर्भर है। अपनी घाटे की अर्थ-व्यवस्था (Deficit Economy) की पूर्ति वह अधिक तैयार माल के निर्यात से करता है; और सामान्य काल में स्विट्जरलैण्ड ससार के उन देशों में से एक देश है, जिनका विदेश व्यापार जनसख्या के प्रति व्यक्ति के औसत से सबसे अधिक रहता है। जल शक्ति और श्रेष्ठ कर्म-कौशल के कारण, इस देश ने अत्यन्त श्रेष्ठ एव विशेषोपयुक्त उत्पादन (Specialized manufactures) प्रारम्भ किया है जिसमें इस प्रकार की चीजों का उत्पादन होता है जैसे मशीनरी, बिजली का सामान तथा यन्त्र घडियाँ तथा कपडा इत्यादि। देश की प्राकृतिक शोभा इतनी अनोखी है कि सैकडों-हजारों विदेशी यात्री जाडों और गर्मियों में इस देश में खिचे आते हैं और स्विट्जरलैण्ड का होटल व्यापार ससार में सबसे श्रेष्ठ तथा सचालित और सुव्यवस्थित व्यापार है। यात्री व्यापार से स्विट्जरलैण्ड को जो आय होती है वह शोधनाधिक्य (Balance of Payments) की दिशा में वास्तव में समाकलन खाते की (Credit) मुख्य मद है। कहने का सार यह है कि स्विस जाति के लोग समृद्ध एव उन्नतिशील हैं और उनकी समृद्धि के सम्बन्ध में एक मुख्य यह बात है, कि जाति के सभी लोग प्राय समान स्तर के हैं। स्विट्जरलैण्ड में न तो नीच लोग हैं, न दरिद्रता है और न टूटे-फूटे मकान हैं। जीवन यापन की चिन्ताएँ यहाँ नहीं हैं, और सभी स्थानों पर सभी व्यक्ति प्रसन्न एव समृद्ध हैं। सभी लोगों के रहन-सहन का स्तर पास-पडोस के अनेकों देशों के लोगों के रहन-सहन से अपेक्षाकृत अच्छा है। स्विट्जरलैण्ड के लोगों की यह आश्चर्यजनक सफलता का रहस्य उनके अपने अथक परिश्रम में निहित है, और परिश्रम के अतिरिक्त उनकी अलौकिक प्रतिभा और व्यावहारिक बुद्धि और विवेक ने भी उनकी सफलता में योग दिया है।

बहु-भाषा सम्बन्धी विभिन्नताएँ (Linguistic Differences)—देश के लोगों की विभिन्न भाषाओं के सम्बन्ध में स्विट्जरलैण्ड में विजातीयता पाई जाती है और इस दिशा में स्विस राष्ट्र में कई ऐसे तत्वों का अभाव है जिनसे कि राष्ट्रीय

दृढता और सास्कृतिक एकता को प्रश्रय मिलता है। स्विट्जरलैण्ड की लगभग तीन-चौथाई जनसख्या जर्मन भाषा-भाषी है, लगभग पाँचवाँ भाग फ्रेंच भाषा-भाषी है और शेष लोग इटालियन भाषा बोलते हैं; और कुछ थोडे-से लोग रोमाश (Romanche) भाषा बोलते हैं, जो प्राचीन लैटिन भाषा से सम्बन्धित है। किन्तु इस सम्बन्ध में यह भी याद रखना होगा कि देश में भौगोलिक स्थिति के कारण तीनो भाषा-भाषी क्षेत्र और तीनो भाषाओ के बोलने वाले लोग पूर्णतया विभिन्न उपमण्डलो अथवा प्रान्तो में विभाजित हैं। इस प्रकार टिसिनो (Ticino) प्रान्त (Canton), प्राय: पूर्णतया इटालियन भाषा-भाषी कैण्टन है जिसमें ९० प्रतिशत लोग इटालियन बोलते हैं। जैनेवा (Geneva) में ८० प्रतिशत से अधिक लोग, वौड (Vand) में ८६ प्रतिशत से अधिक लोग, और न्यूचैटिल (Neuchatel) मे ८६ ९ प्रतिशत लोग पूर्णतया फ्रेंच भाषा-भाषी हैं और शेष प्रान्तो मे केवल वर्न (Berne) और फ्रिवर्ग (Friburg) को अपवाद मानते हुए, पूरी तरह जर्मन भाषा-भाषी लोग बसते हैं। वर्न (Berne) प्रान्त में भी जर्मन भाषा-भाषी लोग फ्रेंच भाषा-भाषी लोगो की अपेक्षा ५ १ के अनुपात मे अधिक हैं और इसके विपरीत फ्रिवर्ग (Friburg) प्रान्त में फ्रेंच भाषा-भाषी जर्मन भाषा-भाषी लोगो की अपेक्षा २ १ के अनुपात में अधिक हैं। ग्रिसन्ज् (Grisons) प्रान्त मे रोमाश (Romanche) भाषा-भाषियो का पूर्ण बहुमत है।

१८४८ के सविधान को स्वीकार कर लने के बाद से देश की तीनो मुख्य भाषाओ को परिसघ (Confederation) की अधिकृत भाषाओ के रूप में स्वीकार कर लिया गया है। विभिन्न प्रान्त अथवा मण्डल (Cantons) अपनी इच्छानुसार किसी भी भाषा या भाषाओ को अधिकृत भाषा स्वीकार कर सकते हैं। आधुनिक स्विस जीवन की एक मुख्य विशेषता यह है कि प्रान्तो में भाषा सम्बन्धी एकता बढती जा रही है और एक भाषा के लोग दूसरी भाषा के लोगो मे पैठते जा रहे हैं। स्विट्जरलैंड के प्राय सभी शिक्षित लोग दो या तीनो भाषाएँ जानते और बोलते हैं। फिर भी यह मानना ही पडेगा कि स्विट्जरलैंड त्रिभाषा-भाषी देश है और उस देश के लोगो में भाषा सम्बन्धी विभिन्नता को दूर करने का सरकारी तौर पर अथवा प्राइवेट रूप में कोई सगठित प्रयत्न नही किया जा रहा है। न उस देश में भाषा के आधार पर किसी प्रकार का प्रचार होता है। सक्षेप में कहा जा सकता है कि स्विस लोगो के समृद्ध देश में भाषा सम्बन्धी शान्ति का राज्य है और उस देश में भाषा सम्बन्धी विभिन्नता को राष्ट्रीय एकता के स्थिरीकरण के लिये आवश्यक समझते हैं।

धार्मिक विभिन्नताएँ (Religious differences)—स्विट्जरलैण्ड की धार्मिक विभिन्नता ने भूतकाल मे गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न कर दी थी, और इसके कारण गृह-युद्ध हुआ और विदेशी हस्तक्षेप हुआ। किन्तु सौभाग्य से देश की राष्ट्रीय एकता के कारण धार्मिक और भाषा सम्बन्धी क्षेत्र अलग-अलग होते हुए भी एक दूसरे में प्रेम भाव रखते हैं। १२ कैण्टनो (Cantons) में प्रोटेस्टेण्टो (Protestants) की सख्या कैथोलिको (Catholics) से कही अधिक है, और उन १२ कैण्टनों में नौ कैण्टन जर्मन

भाषा-भाषी हैं और तीन कैण्टन फ्रेंच भाषा-भाषी । इसके विपरीत दस कैण्टनो में कैथोलिको(Catholices) की जनसख्या प्रोटेस्टेण्ट मतावलवियो से कही अधिक है जिनमें सात कैण्टन जर्मन भाषा-भाषी हैं, दो फ्रेंच भाषा-भाषी हैं और एक इटालियन भाषा-भाषी है । इसके अतिरिक्त अधिकतर प्रोटेस्टेण्ट-बहुमत-कैण्टनो में सुदृढ कैथोलिक (Catholic) अल्पसख्यक वर्ग हैं और इसके विपरीत दस कैथोलिक बहुमत-कैण्टनो में से आठ कैण्टनो में, कैथोलिक लोग (Catholics) समस्त जनसख्या के ८० प्रतिशत ही हैं । रैपर्ड (Rappard) कहता है कि "इस प्रकार दोनो धार्मिक सम्प्रदायो का भौगोलिक और साख्यिकीय (Statistical) वितरण, स्पष्टत परस्पर धार्मिक सहिष्णुता का मार्ग प्रशस्त करता है, चाहे यह मान भी लिया जाय कि उस देश मे इस सहिष्णुता के बावजूद धार्मिक अत्याचार हुए हैं "।[1] सब मिलाकर समस्त देश की जनसख्या में ५७ प्रतिशत प्रोटेस्टेण्ट मतावलम्बी (Protestants) हैं और ४१ प्रतिशत कैथोलिक लोग (Catholics) हैं ।

अपनी धार्मिक विभिन्नताओं के सम्बन्ध में भी स्विस लोगो का वही दृष्टिकोण है जो भाषागत विभिन्नताओ के सम्बन्ध में है । धार्मिक अल्पसख्यक वर्ग का आदर किया जाता है और जैसा कि पहले भी वर्णन किया जा चुका है, धार्मिक अल्पसख्यक वही नही हैं जो भाषा सम्बन्धी अल्पसख्यक हैं । १८४८ में स्विस लोगो के लिये जो सघीय सविधान स्वीकार किया गया और १८७४ में जिसका सशोधन किया गया, उसके उद्देश्यो में एक मुख्य उद्देश्य यह भी था कि कैथोलिको (Catholics) और प्रोटेस्टेण्टो (Protestants) के बीच में जो धार्मिक विभेदो की दीवारे थी, उनको तोड़ दिया जाय और देश के सभी सम्प्रदायो मे सच्ची स्विस नागरिकता की भावना भर दी जाय , और समस्त स्विस जाति के सभी लोगो को कतिपय मौलिक अधिकारो की गारटी दी जाय और इस सम्बन्ध में न तो इस बात का विचार किया जाय कि कोई नागरिक किस धर्म में विश्वास रखता है और न इस बात का विचार किया जाय कि वह देश के किस क्षेत्र में निवास करता है । जिस समय सविधान ने समस्त जाति की आर्थिक समृद्धि के लिये सभी पर पूर्ण विश्वास किया, और सब लोगो मे राष्ट्रीय चेतना का सचार किया, तो इसके फलस्वरूप सभी लोगो में और सभी वर्गो में राष्ट्रीय भक्ति और प्रेम का भी सचार हुआ । आज स्विट्जरलैंड में पूर्ण धार्मिक सहिष्णुता है और प्रत्येक स्विस नागरिक मानता है कि सभी को अपने मन का धर्म मानने और पालन करने का अधिकार है । धार्मिक अल्पसख्यको को सताना स्विस लोग जानते ही नही, और स्विट्जरलैंड में ऐसा कोई व्यक्ति नहीं है जो यह सोचता हो कि किसी विशेष धर्म में विश्वास रखने से ही राष्ट्रीय एकता को समुन्नत किया जा सकता है । एण्ड्रे सीजफायड (Andre Siegfried) कहता है कि "इसके विपरीत स्विट्जरलैंड में

---

[1] Rappard, W E.: The Government of Switzerland, (1936), p 11

विभिन्नता ही सघीय एकता की शर्त है क्योकि स्विस जाति का देश-प्रेम सभी जातियो के देश-प्रेम से अनोखा है।"

स्विस जाति, एक सयुक्त राष्ट्र है (The Swiss, A United Nation)—इस प्रकार स्विट्जरलैंड एक विरोधाभासो का देश है। इस देश ने ऐसी सघीय राज्य-व्यवस्था को जन्म दिया है जिसमें राज्यो के परस्पर विरोधी हितो को कोई स्थान नही है, फिर भी राज्यो की समानता अथवा ऐकात्म्य पर कोई बुरा प्रभाव नही पडा है। इस देश की शासन व्यवस्था उस राजनीतिक आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को चुनौती है, जो राष्ट्रो को सस्कृति और भाषा के आधार पर आत्म-निर्णय का अधिकार प्रदान करता है और यह देश इस सम्बन्ध में अत्यन्त उज्ज्वल उदाहरण प्रस्तुत करता है कि राष्ट्रवाद, और राष्ट्रीय प्रेम के आगे आत्मनिर्णय का सिद्धान्त उपेक्षा योग्य है। श्री वुडरो विलसन (Woodrow Wilson) ने १८९६ में लिखा था स्विट्जरलैंड के सारे कैण्टनों ने मिलकर सारे ससार को यह दिखा दिया कि किस प्रकार जर्मनीवासी (Germans), फ्रासवासी (Frenchmen) और इटलीवासी (Italians), केवल यदि वे एक दूसरे की स्वतन्त्रता की उसी प्रकार रक्षा करे जिस प्रकार कि वे अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा करते, तो एक दूसरे की पारस्परिक सहायता द्वारा और परस्पर सहिष्णुता द्वारा ऐसा सघ निर्माण कर सकते हैं जो पूर्णतया सुदृढ, स्थायी और स्वतन्त्र है।"[1] और यह नही भूलना चाहिये कि विल्सन (Wilson) स्वय आत्मनिर्णय के सिद्धान्त (Principle of self-determination) का प्रवर्त्तक था।

स्विट्जरलैंड में केवल भाषा और धर्म सम्बन्धी विभिन्नताएं ही नही हैं। उस देश के निवासियो के व्यवसाय भी भिन्न हैं, उनके जीवन की दशायें भी भिन्न हैं, उनकी कल्पनाएं, भावनाएं, आदतें और विचार सभी कुछ भिन्न हैं। इसके अतिरिक्त उनमें क्षेत्रीय और स्थानीय अभिमान भी है जिसके कारण वे अपनी पुरानी प्रथाओ और आदतो को छोडने में असमर्थ हैं, और उनके क्षेत्रीय अभिमान, उन प्रभावो पर अभिबाधा डालते हैं जो एकता और सगठन की दिशा में सहायक हो सकते हैं। किन्तु इन स्विस विभिन्नताओ के बावजूद, स्विस जाति की सवैधानिक एकता और नैतिक एकता बराबर वर्द्धमान है। स्विस लोग, आदर्श रूप से सयुक्त एव अत्यन्त राष्ट्र-प्रेमी राष्ट्र का निर्माण करते हैं। यूरोप ही नही, सारे ससार में कोई भी ऐसी जाति न मिलेगी, जिसके हृदय में राष्ट्रीय एकता और देश-प्रेम का इतना स्थान हो जितना कि स्विस लोगो में। लार्ड ब्राइस ने स्विस जाति के प्रत्यक्ष गुणो का बखान करते हुए लिखा है—"स्विस लोगो में इतनी अगाध देश-भक्ति है कि उसने उनमें राष्ट्रीय एकता के भाव और सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक विभिन्नताएं होते हुए भी स्थानीय शासन-सस्थाओ के प्रति अगाध प्रेम उत्पन्न कर दिया है। प्रारम्भिक कैण्टनो (Cantons) को अपनी स्थानीय सस्थाओ से अगाध प्रेम था, इसलिये वही

---

[1] The State, p 301

प्रेम-भाव पश्चात्वर्ती वंशजो में भी पूर्ण रूप से वर्तमान हुआ और सभी अपनी प्राचीन परम्पराओ के भक्त बन गए और फिर उन सभी ने मिलकर बर्न (Berne) जैसे नगरो में से उच्चजनतन्त्र (Oligarchy) को उखाड फेंका जहाँ वह दृढता से जमा हुआ था।" इस प्रकार तीन प्रजातियो के चार भाषा-भाषी और दो विभिन्न धर्मावलम्बी सदस्य एक राष्ट्र मे परिणत हो गये।

एकता के लिये प्रयत्न

(The Struggle for Unity)

प्रारम्भिक इतिहास (Early History)—एण्ड्रे सीजफ्रायड का कथन है कि स्विट्जरलैंड एकीकरण (Unification) के द्वारा नहीं बना बल्कि वृद्धिकरण (Aggregation) के द्वारा उसका विकास हुआ। प्रारम्भ में स्विट्जरलैंड में कतिपय स्वतन्त्र राज्य थे जिनमें किसी नियामक केन्द्रीय शक्ति का अभाव था। इन स्वतन्त्र राज्यो में आल्प्स (Alps) पर्वत के आस-पास विभिन्न जातियो के लोग रहते थे। इन पहाडी घाटियो के निवासी न तो एक ही जाति के थे, न उनका एक ही इतिहास था, न वे एक ही भाषा बोलते थे, यद्यपि वे सब एक ही प्रकार का जीवन निर्वाह करते थे।

किन्तु १३वी शताब्दी के अन्त में तीन छोटी-छोटी ट्यूटानिक जातियो (Teutonic communities) ने एक संधि की जिसमें निश्चित किया गया कि तत्कालीन जागीरदारो (Feudal lords) के अमानुषिक अत्याचारो से बचने के लिये सभी मिल कर परस्पर एक दूसरे की सहायता और रक्षा करेंगे। उन जागीरदारो में सबसे कठोर आस्ट्रिया (Austria) देश के हैप्सबर्ग शासक (Hapsburg rulers) थे, जो स्वय स्विस वंशज थे और जो उस काल मे पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) के सम्राट् भी थे। हैप्सबर्ग शासकों ने अपने जागीरदारी अधिकारों को पुनः स्थापित करने का प्रयत्न किया किन्तु मॉर्गरटन (Morgarten) के १३१५ के युद्ध में तीन संघटित (Confederated) कैण्टनो (Cantons) ने हैप्सबर्गो का सफल विरोध किया। अगले चालीस वर्षो मे पाँच अन्य कैण्टन (Canton) प्रारम्भिक तीन कैण्टनों के परिसंघ मे सम्मिलित हो गये। इस परिसंघ (Confederation) ने १३८६ में आस्ट्रिया को पुन. हराया और इस प्रकार वस्तुत अपनी स्वतन्त्रता प्रमाणित कर दी। इसके बाद लगभग २५० वर्षो तक परिसंघ दृढता के साथ जमा रहा, यद्यपि कभी-कभी कैण्टनो के आपसी मतभेद विग्रह की सम्भावना उत्पन्न कर देते थे, जिससे परिसंघ की स्थिति खतरे में पड जाती थी। धार्मिक सुधार (The Reformation) के काल में जो धार्मिक मतभेद उग्र रूप धारण कर गये, उनसे भी पृथक्तावादी तत्त्वो को प्रोत्साहन मिला। आधे कैण्टनो (Cantons) के लोगो ने प्रोटेस्टेण्ट मत स्वीकार कर लिया किन्तु शेष आधे कैण्टनों के लोग कैथोलिक ही बने रहे। किन्तु इस धार्मिक उथल पुथल के बावजूद परिसंघ बचा रहा क्योंकि सामूहिक [illegible] रक्षा के लिये ने सभी एकक सदस्य कैण्टनो को सम्मिलित ही रखा। १६४८ में वेस्टफेलिया की संधि

(Treaty of Westphalia) के फलस्वरूप, परिसघ, पवित्र रोमन साम्राज्य (Holy Roman Empire) की आधीनता से मुक्त हो गया और इसकी स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार करली गई। इस समय, परिसघ (Confederation) के एकक कैण्टनो की सख्या १३ हो चुकी थी।

प्राचीन परिसघ का स्वरूप (Nature of the ancient confederation)—इस प्रकार धीरे-धीरे आधुनिक स्विस भूभाग के अधिकाश भाग पर परिसघ का नियन्त्रण स्थापित हो गया। यद्यपि अवयवी कैण्टन विदेशी सत्ता के नियन्त्रण के विरुद्ध तो सफलतापूर्वक लडते रहे और अपनी एकता को कायम रख सके, किन्तु शीघ्र ही उनमें आपस में कलह प्रारम्भ हो गई। सभी कैण्टन अपने-अपने आन्तरिक प्रबन्ध में अपने आपको स्वतन्त्र सत्ता समझते थे। प्रत्येक कैण्टन में विभिन्न शासन-व्यवस्था थी। कतिपय देहाती कैण्टनो (Rural cantons) में पूर्ण प्रजातन्त्र था। वहाँ का शासन प्रजा की सभाओ द्वारा होता था, किन्तु कुछ बर्न (Berne) जैसे कैण्टनें उच्च जनतन्त्र (Oligarchies) थे जिनमें कुलीन जनो का आधिपत्य था, और कुछ अन्य कैण्टनें ऐसे थे जिनमें उच्च जनतन्त्र (Oligarchy) तो था किन्तु उस पर किसी हद तक प्रजातन्त्र की छाप थी।

इस समस्त काल में स्विट्जरलैंड ऐसा परिसघ रहा जिसके सभी अवयवी कैण्टन केवल युद्ध अथवा युद्ध से रक्षा के हेतु ही परिसघ को मानते थे, अत परिसघ का नियन्त्रण केवल विदेश सम्बन्धी मामलो, युद्ध और शान्ति सम्बन्धी मामलो और अन्त कैण्टन विवाद से सम्बन्धित मामलो तक सीमित था। इन सभी मामलो पर राज्य-परिषद् (Diet) निर्णय करती थी जो कभी किसी कैण्टन में अनियमित समयो पर समवेत होती थी। जो प्रतिनिधि राज्य-परिषद् (Diet) के सदस्य थे, वे कैण्टनो के प्रतिनिधि होते थे और वे अपने-अपने कैण्टनो के आदेशानुसार कार्य करते थे। राज्य-परिषद् (Diet) में बडे कैण्टनो जैसे बर्न अथवा ज्यूरिच (Zurich) को औपचारिक प्राथमिकता दी जाती थी, किन्तु यह बात अन्य कैण्टनो को अप्रिय लगती थी और वे बराबरी के अधिकार के लिये आग्रह करते थे और "वे राज्य-परिषद् (Diet) में इस प्रकार सम्मिलित होते थे मानो वे किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में स्वतन्त्र एव प्रभु सत्ता के प्रतिनिधि के रूप मे सम्मिलित हुए हो।" इस परिषद (Diet) के निर्णयो को उस समय तक सभी के ऊपर वैधिक रूप से लागू नहीं माना जाता था, जब तक कि उक्त निर्णय सर्वसम्मत न हो। सत्य यह है कि कैण्टन (Cantons) राज्य-परिषद् (Diet) को सन्देह की दृष्टि से देखते थे और इस सन्देह के फलस्वरूप सुदृढ स्थानीय आस्थाएँ और क्षेत्रीय हित सभी लोगो में घर कर गये।

इस सम्बन्ध में यह भी जान लेना उचित होगा कि कतिपय कैण्टनो ने विजय करके नये भूभाग जीत लिये थे और वे उन विजित प्रदेशो को अपना आधीन राज्य (Subject areas) समझने लगे थे, और उन विजित प्रदेशो की प्रजा को वे सभी अधिकार देने को तैयार नहीं थे जिन अधिकारो को उक्त विजयी कैण्टन अपने

नागरिको के लिये आवश्यक समझते थे ।

फ्रेंच राज्य-क्रान्ति और पूर्वावस्था की प्राप्ति (French Revolution and Restoration)—इसके बाद फ्रेंच राज्य-क्रान्ति आई और उसने सभी स्थानीय संस्थाओ को समाप्त कर दिया । फ्रेंच राज्य-क्रान्ति की सेनाओ ने छलपूर्वक १७९८ में कमजोर और वैर-भावयुक्त परिसंघ के ऊपर हैल्वेटिक गणराज्य (Helvetic Republic) की स्थापना कर दी , किन्तु स्विस लोगो ने फ्रास द्वारा थोपे हुए संविधान के विरुद्ध ऐसा सम्मिलित विरोध प्रदर्शित किया कि १८०३ के एक्ट आफ मीडिएशन (Act of Mediation of 1803) के द्वारा नैपोलियन (Nepoleon) को कैण्टनो का संविधान वापिस करना पडा और इस प्रकार कैण्टनो को अपनी पूर्वावस्था प्राप्त हो गई । इस अधिनियम के अनुसार छ नए कैण्टनों की स्थापना हुई, जो एक समान प्रजा वाले विजित प्रदेशो को लेकर बनाये गये थे और जो फ्रेंच और इटालियन भाषा-भाषी क्षेत्र थे । नैपोलियन के पतन के पश्चात् वियेना की महासभा (Congress of Vienna) ने स्विट्जरलैण्ड को पुराना परिसंघ तथा १८वी शताब्दी के समस्त कैण्टन (Cantonal institutions) दे दिये और इस समस्त भूभाग में तीन अन्य कैण्टन और मिला दिये । इस प्रकार स्विस परिसंघ (Swiss Confederacy) में समस्त कैण्टनों की संख्या २२ हो गई ।

यद्यपि नये संविधान ने केन्द्रीय शासन की कोई व्यवस्था नही की, फिर भी राज्य-परिषद् (Diet) की स्थापना हो गई जिसमें प्रत्येक कैण्टन का एक प्रतिनिधि सम्मिलित होता था , और जो अपने कैण्टन के आदेशानुसार निर्णयो पर मत दे सकता था । परिषद् (Diet) को अधिकार था कि वह युद्ध की घोषणा कर सकती थी, शान्ति कर सकती थी, विदेशो के लिये राजदूतो की नियुक्ति कर सकती थी, और युद्ध के लिये कैण्टनो की सैनिक सेवाओं में से सैनिक एकत्र कर सकती थी । परिषद् (Diet) को यह भी अधिकार था कि यदि स्विट्जरलैंड के किसी भाग में अशान्ति की स्थिति उत्पन्न हो जाये तो वहां सशस्त्र सेना भेज सकती थी । किन्तु सभी कैण्टन पूर्ण आन्तरिक स्वायत्तता का उपभोग करते थे, और कतिपय कैण्टन आन्तरिक स्वायत्तता का लाभ उठाकर अब अपने-अपने क्षेत्र में कुलीनतन्त्र (aristocracy) स्थापित करने का स्वप्न देख रहे थे । कुछ कैण्टनों को यह भी अधिकार मिल गया था कि वे ऐसी सन्धियां कर सकते थे जो परिसंघ (Confederation) के हितों के विरुद्ध न हो अथवा अन्य कैण्टनो के हितो को आघात न पहुँचाती हो ।

आधुनिक स्विट्जरलैंड का जन्म (Birth of Modern Switzerland)—स्विट्जरलैण्ड के ऊपर फ्रांस का शासन वरदान सिद्ध हुआ क्योंकि १७९८ से लेकर १८१५ तक के काल में ही आधुनिक स्विट्जरलैण्ड का आधार स्थापित हुआ । एक्ट आफ मीडिएशन (Act of Mediation) के फलस्वरूप स्विट्जरलैंड का तेरह कैण्टनो में छ कैण्टन और मिल गये । पुन. १८१५ में तीन अन्य **पूर्ण फ्रेंच**

तैयार किया और जनमत सग्रह द्वारा उसको आवश्यक अनुमोदन प्राप्त हो गया। अप्रैल १८७४ में नया स्विस सविधान स्वीकृत हुआ, जिसमें ३ ४०,००० मत और १४½ कैण्टन पक्ष में थे किन्तु केवल १,९८,००० मत और ७½ कैण्टन विपक्ष में थे।

जो नया सविधान २९ मई १८७४ को प्रभावी हुआ, वही इस समय स्विट्ज़रलैण्ड का संविधान है। इस सविधान ने सघीय सरकार का समस्त सेना के ऊपर पूर्ण आधिपत्य स्थापित कर दिया और साथ ही वाणिज्य विधि (Commercial Law) के सम्बन्ध में आवश्यक परिवर्तन करने के लिए अधिकार प्रदान कर दिया। १८७४ से लेकर अब तक सविधान में कई बार सशोधन हुए हैं। इन सशोधनो के फलस्वरूप सघीय सरकार की शक्तियो का और अधिक केन्द्रीयकरण हुआ है और इन सशोधनो ने आर्थिक क्षेत्र में और सामाजिक क्षेत्र में नये शासन को पर्याप्त उत्तरदायित्व सौंप दिये हैं, और साथ ही विधान के निर्माण में जनमत सग्रह (Referendum) प्रारम्भ करके लोगो को और अधिक प्रत्यक्ष भाग प्रदान किया है। १९३५ में एक आन्दोलन हुआ जिसके द्वारा चाहा गया कि सविधान का पुन सशोधन हो। इस आन्दोलन के समर्थक चाहते थे कि कैण्टनो की शक्तियो में वृद्धि की जाय और विधानमण्डलों में औद्योगिक प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त (Principle of Occupational Representation) के अनुसार सदस्य चुने जायें और अन्ततोगत्वा स्विट्ज़रलैंड में निगमात्मक राज्य (Corporative State) की स्थापना हो जाय। किन्तु यह माँग अस्वीकृत कर दी गई।

अध्याय २

स्विस परिसंघ की मौलिक विशेषताएँ

(Basic features of the Swiss Confederation)

स्विस परिसंघ (The Swiss Confederation)—स्विट्ज़रलैण्ड का लोकतन्त्र, जिसको स्विस परिसंघ (Swiss Confederation) भी कहते हैं, निम्नलिखित २२ प्रभुसत्ताधारी कैण्टनो से मिलकर बना है ज्यूरिच (Zurich), बर्न (Berne), लुसीन (Lucrene), उरी (Uri), स्वीज (Schwyz), अन्टरवाल्डेन (Unterwalden), ग्लेरिस (Glaris), जुग (Zug), फिबर्ग (Freiburg), सोलोथर्न (Solothurn), बेसिल (Basel), स्काफ़ेन (Schaffhausen), एपेन्ज़ेल (Appenzell), सेंट गॉल (St Gall), ग्रिसन्स (Grisons), औरगौ (Aargau), थरगौ (Thurgow), टिसिनो (Ticino), वौड (Vaud), वैले (Valais), न्यूचैटिल (Neuchatel) और जैनेवा (Geneva)। निम्न तीन कैण्टन अन्टरवाल्डेन (Unterwalden), बेसिल (Basel) और एपेन्ज़ेल (Appenzell) पुन अर्द्ध कैण्टनो मे विभाजित कर दिए गये हैं और प्रत्येक अर्द्ध कैण्टन भी पूर्ण स्वतन्त्र है, और वह किसी अन्य पूर्ण कैण्टन से केवल दो बातो मे भिन्न है। प्रथमत, अर्द्ध कैण्टन सघ के उच्च सदन राज्य-परिषद् (Council of States) को केवल एक प्रतिनिधि भेजता है जबकि प्रत्येक कैण्टन को दो प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है। द्वितीयत, प्रत्येक अर्द्ध कैण्टन को उन सभी प्रश्नो पर जिनका सम्बन्ध सविधान मे सशोधन करने से है, केवल आधे मत का अधिकार है।[1] उक्त तीन कैण्टनो का उप-विभाजन कतिपय धार्मिक, ऐतिहासिक एव अन्य कारणो से आवश्यक हो गया था। इसलिए यह कहना अधिक उपयुक्त होगा कि स्विस परिसंघ (Swiss Confederation) मे २५ कैण्टन हैं, और प्रत्येक कैण्टन का अपना निजी सविधान है, अपने अलग नागरिकता के नियम हैं और अपनी निजी विधियाँ, प्रथाएँ, परम्पराएँ, इतिहास और अपने निजी विचार हैं।

स्विट्ज़रलैण्ड सच्चे अर्थों मे सघ है (Switzerland is really a federation)—यद्यपि स्विस सविधान के अनुच्छेद १ मे इसको स्विस परिसंघ (Swiss confederation) की सज्ञा दी गई है, किन्तु वास्तव मे स्विट्ज़रलैण्ड सच्चे अर्थों मे सघ है। इसको परिसंघ कहना गलत होगा, चाहे सविधान मे इसको परिसंघ ही कहा गया है। परिसंघ (Confederation) का अर्थ है राज्यो का एक ढामलताक संघ

---

[1] अर्द्ध कैण्टन की संवैधानिक स्थिति, संविधान के अनुच्छेद १[illegible] से स्पष्ट हो जाती है, जिसमें कहा गया है—"मतों के अनुपात को गिनने के लिये प्रत्येक अर्द्ध कैण्टन के मत को आधा मत माना जाएगा।"

(Loose league of States) जिसमे सशक्त केन्द्रीय सत्ता का अभाव होता है और जिसके विघटन की पूर्ण सभावना रहती है। किन्तु, जैसा कि सविधान की प्रस्तावना मे कहा गया है, "स्विस परिसघ (Swiss Confederation) की स्थापना का उद्देश्य यह था कि अवयवी कैण्टनो (Confederates) के सघ को सुदृढ बनाया जाय और उसके द्वारा स्विस राष्ट्र की एकता, शक्ति और सम्मान की रक्षा और वृद्धि की जाय।" उसी प्रस्तावना मे आगे कहा गया है कि स्विस राष्ट्र मे पूर्ण समैक्य प्राप्त करने के लिए ही देश मे सघीय सविधान की स्थापना की जा रही है। यदि यह भी मान लिया जाय कि प्रस्तावना कानूनी अर्थो की व्याख्या नही करती, फिर भी यह सविधान की इच्छा अवश्य व्यक्त करती है और साथ ही प्रस्तावना से उन लोगो की और उन सभी कैण्टनो की सम्मिलित इच्छा का बोध होता है जिन्होने जनमत सग्रह के द्वारा इस सविधान को स्वीकार किया था। सत्य यह है कि सयुक्त राज्य अमेरिका के तेरह राज्यो की तरह स्विट्जरलैण्ड के कैण्टन भी अपनी पुरानी प्रभु सत्ता को किसी सीमा तक इस शर्त पर त्यागने को तैयार थे यदि उसके फलस्वरूप परिसघ की केन्द्रीय सरकार को इतनी शक्ति मिल जाय जो वह राष्ट्रीय महत्त्व के समस्त कर्त्तव्यो का सुविधापूर्वक निर्वहन करने मे समर्थ हो सके। परिसघ के उद्देश्यो मे केन्द्रीय शासन की शक्तियाँ सक्षेप मे दी गई हैं। सविधान के अनुच्छेद २ मे कहा गया है—"परिसघ की स्थापना का उद्देश्य यह है कि विदेशी आक्रमण के विरुद्ध पितृ-भूमि की स्वतन्त्रता की रक्षा की जाय, देश के अन्दर शान्ति और व्यवस्था बनी रहे, अवयवी एकको (Confederates) की स्वतन्त्रता और उनके अधिकारो की रक्षा की जाय, और सभी कैण्टनो मे सामान्य लोक-कल्याण का पोषण किया जाय।" इस प्रकार केन्द्रीय सरकार के अधिकार क्षेत्र मे वे सभी मामले आते हैं जिनका सम्बन्ध विदेशो के साथ कूटनीतिक सम्बन्धो से, शान्ति और युद्ध मे, सधियो और समैत्री से होता है। इसके अतिरिक्त आर्थिक क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार ही चलार्थ (Currency), यातायात के साधन (Communications), वाणिज्य, तोल के बाटो और मापो, देशीयकरण (Nationalisation) और देश-निकाला अथवा निर्वासन (Expatriation), उच्च शिक्षा, प्राकृतिक सनाधनो (Natural resources) की सुरक्षा एव अन्य आर्थिक मामलो की देख-भाल करती है।

यहाँ पर सयुक्त राज्य अमेरिका और स्विट्जरलैण्ड के सविधानो मे सादृश्य अथवा समान्तरता (Parallelism) दृष्टिगोचर होती है। स्विस सविधान स्पष्टतया कहता है कि "कैण्टन उस सीमा तक प्रभुसत्ताधारी एकक हैं जहां तक कि सघीय सविधान उनकी प्रभुता को मर्यादित एव नियन्त्रित नही करता और इस प्रकार सभी एकक कैण्टन उन समस्त अधिकारो का उपभोग करते हैं जो केन्द्रीय सरकार को नहीं सौंपे गये हैं।"[1] सयुक्त राज्य अमेरिका का सविधान भी आज्ञा करता है कि "सविधान

---

[1] Article 3

ने जिन शक्तियों और अधिकारों को संयुक्त राज्य को नहीं सौंपा है और जिन शक्तियों का संविधान ने राज्यों को दिया जाना भी निषेध नहीं किया है, वे समस्त अधिकार सभी राज्यों को अथवा उन राज्यों में निवास करने वाली प्रजा के लिए सुरक्षित रखे गये हैं।"[1]

केन्द्रीकरण की ओर (Growth towards centralisation)—ज्यों-ज्यों समय बीतता गया, केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में वृद्धि होती रही। ज्यों-ज्यों राष्ट्रीय एकता की आवश्यकता बढ़ती गई, और ज्यों-ज्यों ऐसी समस्याएँ सम्मुख आने लगीं जिनमें शासन के विनियमों अथवा साहाय्य की आवश्यकता पड़ने लगी, त्यों-त्यों वे समस्याएँ अब कैण्टनों की न रहकर राष्ट्रीय महत्त्व धारण करने लगीं। इस प्रकार की समस्याओं में कतिपय समस्याएँ निम्न थीं—"सैनिक शिक्षा, बैंक व्यवस्था, एकस्व (Patent), परिवहन (Transportation), हथियारों का यातायात, शराब की भट्टियाँ, खाद्य-पदार्थों का उत्पादन और बाजार संगठन, रेल-मार्ग और रेडियो जिन दोनों का राष्ट्रीयकरण हो चुका था। कृषि, निर्माण और यात्री-व्यापार (Tourist traffic) को केन्द्रीय सरकार आर्थिक सहायता प्रदान करती थी, उद्योगों को संरक्षण मिलता था, आयात का अंश पूर्व निश्चित रहता था साथ ही बेरोजगारी के विरुद्ध सहायता दी जाती थी और अनिवार्य बीमा सेवा का सूत्रपात किया गया था। जब केन्द्रीय सरकार ने प्रत्यक्ष कर और देश में बने माल पर कर लगाना प्रारम्भ कर दिया तो इस नई आय में से उसने कैण्टनों को भी कतिपय भाग दिया, यद्यपि इस प्रकार की आय पर अब तक पूरी तरह से कैण्टनों का ही अधिकार था।

निम्न चार मुख्य बातों ने केन्द्रीकरण की दिशा में मुख्य रूप से प्रभाव डाला है—युद्ध, आर्थिक अवसाद, सामाजिक सेवाओं के लिए निरन्तर बढ़ती हुई माँग और यातायात के साधनों तथा उद्योगों में यन्त्रीकरण और प्रौद्योगिकीय क्रान्ति। ये चारों बातें अकेले स्विट्ज़रलैण्ड देश के ऊपर ही प्रभाव नहीं डालतीं। ये सब बातें स्विट्ज़रलैण्ड के अतिरिक्त अन्य संघों में भी पाई जाती हैं। किन्तु इस कारणवश कि स्विट्ज़रलैण्ड तीन बलवान पड़ोसी राष्ट्रों से घिरा हुआ है, अर्थात् फ्रांस, इटली और जर्मनी, इस कारण केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बल मिला। १९१४ में और विशेषकर १९३९ में केन्द्रीय संसद् ने केन्द्रीय शासन को अपरिमित और स्वेच्छाचारी शक्तियाँ दे डालीं जिनके आधार पर देश की स्वतन्त्रता, एकता और तटस्थता की रक्षा की जा सकी और देश की आर्थिक स्थिति, उसके आर्थिक हित और भोजन-व्यवस्था सुचारु रूप से व्यवस्थित रही। इन सर्वग्राही शक्तियों के कारण स्विस लोगों की स्वतन्त्रताओं और अधिकारों को गहरा आघात पहुँचा किन्तु सभी ने इस स्थिति को इस लिये सहन कर लिया कि इसी के द्वारा सभी की स्वतन्त्रता और अक्षुणता की रक्षा हो सकती थी। नाज़ी समर्थक और साम्यवाद समर्थक, दोनों प्रकार के संगठनों को

---

[1] Tenth Amendment.

दवा दिया गया । अगस्त १९३५ मे वर्न विश्वविद्यालय के प्रोफेसर पोर्ज़िग (Porzig) को अपने पद से वियुक्त कर दिया गया क्योंकि उसने स्विस नेशनल सोशलिस्ट पार्टी (Swiss National Socialist Party) का नेता होने के नाते हिटलर (Hitler) के प्रति भक्ति प्रदर्शित की थी । अक्तूबर १९३६ मे सघीय परिषद् (Federal Council) ने टिसिनो (Ticino) नाम के इटालियन भाषा-भाषी कैण्टन मे विधि द्वारा इरेडेन्टिस्टिक (Irredentistic) आन्दोलन को दवा दिया । उसी प्रकार देश भर मे साम्यवादी हलचलो पर पाबन्दी लगादी गई और १९३५ मे विधि द्वारा सारे देश मे साम्यवादी प्रचार पर रोक लगा दी गई । स्विस जाति की उत्कट राष्ट्रीय भावना का इस तथ्य से पता चल जायगा कि अप्रैल १९३७ मे न्यूचैटिल (Neuchatel) नाम के कैण्टन ने जनमत-सग्रह के द्वारा यह निश्चित किया—और ऐसा निर्णय देश के इतिहास मे प्रथम वार किया गया—कि साम्यवादी सस्थाओ का दमन होना चाहिये क्योकि साम्यवादी लोग अत्यधिक राष्ट्र-विरोधी कार्यों मे सलगन थे ।[1] स्विस समाचारपत्रो ने शासन की नीति का पूर्ण समर्थन किया और अपने ऊपर कठोर नियन्त्रण (Censorship) स्वय लगाये रखा और इस प्रकार देश की प्राचीन तटस्थता की नीति के पालन मे सहायता पहुँचाई । इसलिये समाचारपत्रों की स्वतन्त्रता पर अकुश लगाने की आवश्यकता नही पडी ।

कैण्टनों का सघ मे स्थान (Federal Status of the Cantons)—सघीय सरकार की शक्तियो मे निरन्तर वृद्धि को अनेको लेखको ने भय की दृष्टि से देखा है । जव युद्धजन्य आपातकाल समाप्त हो गया अथवा जव देश आर्थिक अवसाद (Economic depression) से मुक्ति पा गया, उस समय ऐसी आशा की जाती थी कि सघीय शक्तियो और अधिकारो मे कुछ कमी की जायगी । किन्तु यह आशा पूर्ण नही हुई । अव भी स्विस जाति का आर्थिक जीवन कई प्रकार से नियन्त्रित है और इसके साथ ही सघीय नौकरशाही का प्रभाव वर्द्धमान है और फलस्वरूप लोगो मे इस प्रवृत्ति के विरुद्ध आम शिकायत है । एन्ड्रे (Andre) कहता है कि "इस वर्द्धमान केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति मे यह भय निहित है कि ज्यो-ज्यो केन्द्रीय शक्ति अपना अधिकार क्षेत्र वढायेगी, त्यो-त्यो कैण्टनो की प्रभुता नष्ट होती जायगी और अन्त मे वे साधारण जिले प्रशासन मात्र रह जायेंगे और केन्द्रीय शासन की प्रत्येक आज्ञा को मानना भर ही उनका काम रह जायगा ।" किन्तु कुछ लोगो का विचार है कि एन्ड्रे (Andre)

---

[1] As quoted in Ramesh Chandra Ghosh's "The Governme of the Swiss Republic", 1953, p 42

१३ जून १९३७ को जेनेवा (Geneva) की सरकार ने साम्यवादी दल पर पाबन्दी लगाई ३० जनवरी १९३८ को वौद (Vaud) की सरकार ने भी जनमत-सग्रह के आधार पर ऐसा ही किया जनमत-सग्रह में ३८,६०० मत साम्यवादी दलों पर पाबन्दी लगाने के पक्ष में थे किन्तु १२,७०० म विरुद्ध थे ।

Ibid, f n

के कथन मे अतिशयोक्ति की पुट है। स्विस परिसघ (Swiss Confederation) की नीति प्रारम्भ से ही और विशेषकर १८४८ से, जब मे कि स्विट्जरलैण्ड एक वास्तविक सघीय राज्य बना, सदैव यही रही है कि कैण्टनो की स्वायत्तता की पूर्ण रक्षा की जाय और प्रत्येक कैण्टन का पृथक् अस्तित्व ज्यो का त्यो बना रहे।

कैण्टन सघीय राज्य के ऐसे अवयवी एकक हैं जो सघ की स्थापना के पूर्व भी स्वतन्त्र थे। सत्य तो यह है कि सघीय राज्य की स्थापना ही इसके अवयवी एकको को सयुक्त करने और उनकी रक्षा करने के उद्देश्य से की गई थी। कैण्टनो की शक्तियाँ मौलिक है, और वे उन सभी शक्तियो और अधिकारो का प्रयोग करते हैं जो केन्द्रीय शासन को हस्तान्तरित नही की गई हैं।

यद्यपि कैण्टनो की प्रभुता (Sovereignty) का ह्रास हुआ है और परिसघ के प्रभाव क्षेत्र मे वृद्धि हुई है, फिर भी परिसघ को सारे अधिकार और सारे सम्मान और परम्पराएँ कैण्टनो मे ही प्राप्त हुई हैं। कैण्टन ही सघीय शासन-व्यवस्था के मौलिक अवयव हैं और उन्हें अब भी कतिपय विशेषाधिकार प्राप्त हैं। आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा कैण्टनो ही के अधिकार क्षेत्र मे आती है। आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा, सार्वजनिक शिक्षा-व्यवस्था, सार्वजनिक निर्माण, राष्ट्रीय सडको की व्यवस्था, सामाजिक साहाय्य की व्यवस्था, आम चुनावो का नियन्त्रण और स्थानीय स्वशासन, ये सभी चीज़ें कैण्टनो के अधिकार क्षेत्र मे हैं। स्विट्जरलैंड की नागरिकता तब तक प्राप्त नही की जा सकती जब तक कि किसी कैण्टन की नागरिकता प्राप्त न की जाय। नागरिकों के अनेको नागरिकता सम्बन्धी अधिकार कैण्टनो की विधियो के आधार पर ही निर्णीत होते हैं। केन्द्रीय सरकार के अनेको मामले कैण्टनो की सरकारो द्वारा निर्णीत किये जाते हैं। दीवानी और फौजदारी की विधियो के मुकदमे, जो वास्तव मे सघीय विषय हैं, उन न्यायालयो द्वारा निर्णीत किये जाते हैं जिन पर पूर्णतया कैण्टनो का नियन्त्रण है। सघीय सरकार तो केवल कतिपय सैनिक विनियम तैयार करती है और कुछ उच्च सैनिक अफसरो की नियुक्ति करती है, किन्तु उन विनियमो की क्रियान्विति, अथवा राष्ट्रीय सेना के लिये सेनादल एकत्र करना अथवा प्रत्येक सैनिक के लिये फौजी अस्त्रशस्त्रो और अन्य सामान की व्यवस्था, ये सभी चीज़ें कैण्टनो के अधिकार क्षेत्र मे आती हैं। सघीय न्यायालय का अपना कोई न्यायिक अधिकारी नही है। अत सघीय न्यायालय को अपने निर्णयो अथवा आदेशो की क्रियान्विति के लिये कैण्टनो के शासनो पर आश्रित रहना पडता है।

सक्षेप मे कहा जा सकता है कि स्विस सविधान सघीय कृत्यो के निर्वहन मे कैण्टनो के अधिकार क्षेत्र को मान्यता देता है। राज्य-परिषद् (Council of States) मे सभी कैण्टनो को समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व मिला हुआ है और इस सम्बन्ध मे यह अमेरिका की सीनेट के तुल्य है। राष्ट्रीय परिषद् (National Council) मे लोगो को प्रतिनिधित्व उसी अनुपात मे मिला है, जितने कि प्रत्येक कैण्टन मे निवासी हैं, किन्तु शर्त यह है कि प्रत्येक कैण्टन को चाहे वह कितना भी छोटा हो, कम-से-

कम एक डिप्टी या सदस्य (Deputy) भेजने का अधिकार होगा। कैण्टनो को सघीय सविधान के सशोधन के सम्बन्ध मे भी मान्यता प्रदान की गई है। सविधान के उपबन्धो मे किसी प्रकार के सशोधन पर उस समय तक कोई विचार नही किया जा सकता जब तक कि सशोधन प्रस्ताव समस्त देश के नागरिको के बहुमत द्वारा और साथ ही कैन्टनो के बहुमत द्वारा भी स्वीकार न किया गया हो।

स्विस सविधान, एक लम्बा प्रलेख (A Comparatively longer document)—स्विस सविधान अमेरिका के सविधान के आधार पर निर्मित किया गया था, किन्तु यह अमेरिका के सविधान से भी काफी लम्बा प्रलेख है। इसमे प्राय सभी बातें पर्याप्त विस्तार के साथ दी गई हैं यहाँ तक कि ऐसी-ऐसी बातो को भी स्थान दिया गया है जैसे मछली पकडना अथवा शिकार खेलना, मानसिक उद्यमो के करने वाले लोगो की योग्यताएँ, दरिद्र लोगो की बीमारी और अन्त्येष्टि, पशुओ की बीमारियाँ, जुआघर और लाटरी, आदि आदि। वास्तव मे ये सभी विषय सामान्य विधेयको अथवा विनियमो के अधिकार क्षेत्र मे आने चाहिये थे न कि सवैधानिक विधि मे। इस अत्यधिक विस्तृत विवेचन का सम्भवत यही तात्पर्य था कि सविधान के निर्माता कैण्टनो और सघीय सरकार के बीच शक्तियो का स्पष्ट वितरण चाहते थे।

प्रजातन्त्री राज्य की भावना (Spirit of Republicanism)—सारे स्विस सविधान मे प्रजातन्त्रीय राज्य की उत्कट भावना स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है। वास्तव मे स्विस जीवन चर्या ही प्रजातन्त्रात्मक है। स्विस सविधान का छठा अनुच्छेद आदेश करता है कि सभी कैण्टनो को सविधानो की गारटी मिले, किन्तु "उसके लिये यह शर्त रखी गई कि सभी कैण्टनो के लिए यह आवश्यक होगा कि वे अपने-अपने क्षेत्रो मे अपने राजनीतिक अधिकारो का लोकतन्त्रीय अथवा प्रतिनिधिक अथवा प्रजातन्त्रीय (Republican, or representative or democratic) व्यवस्था के अनुसार प्रयोग करेंगे।" इस उपबन्ध के अर्थ उस समय और भी स्पष्ट हो जाते हैं जब इसके साथ अनुच्छेद ४ भी पढा जाय, जो आदेश देता है—"विधि के सम्मुख सभी स्विस लोग समान हैं। स्विट्ज़रलैंड मे न तो कोई किसी के आधीन है, न किसी को किसी प्रकार के विशेषाधिकार प्राप्त हैं।" इस उपबन्ध के सम्बन्ध मे क्रिस्टोफर ह्यूज़ (Christopher Hughes) कहता है कि "यह उपबन्ध निश्चित रूप से स्विट्ज़रलैंड मे विधि का शासन स्थापित करता है और यह समस्त सविधान मे अत्यधिक प्रभावी विधि का नियम है।"[1] आधुनिक स्विट्ज़रलैंड के निर्माताओ की यह हार्दिक इच्छा थी कि व्यक्ति को कुलीनतन्त्रीय और व्यावसायिक (Mercantalistic) और चर्च सम्बन्धी उन बन्धनो और मर्यादाओ से मुक्ति दिलाई जाय जिन्होंने शताब्दियो से[2] व्यक्ति की स्वतन्त्रता को मर्यादित कर रखा है। इसलिये

---

[1] The Federal Constitution of Switzerland, (1954), Pp 6 7.

[2] Rappard, W E The Government of Switzerland, op citd, Pp 108-109

उन्होंने समस्त कुलीनतन्त्रीय (Aristocratic) और विशिष्ट जनतन्त्रीय विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया और सभी स्विस लोगों को विधि के समक्ष समानता की गारंटी की। प्रत्येक स्विस नागरिक को, जो बीस वर्ष की आयु पूर्ण कर चुका है और जिसको किसी निर्योग्यतावश नागरिकता के अधिकारों से वंचित नहीं किया गया है, अपने देश के शासन के निर्माण करने का अधिकार है, साथ ही सभी लोगों के बहुमत से ही संविधान स्वीकृत हुआ और बहुमत की लोकप्रिय मांग पर संविधान में संशोधन किया जा सकता है।

इस प्रकार स्विट्जरलैंड में न तो कोई प्रजा है, न किसी के पास स्थिति, जन्म, व्यक्तित्व अथवा कुटुम्ब के आधार पर कोई विशेषाधिकार हैं और देश की समस्त राजनीतिक संस्थाएं—चाहे वे संघीय हों, या कैण्टनों की हों या सामाजिक हों—चुनावों के ऊपर आधारित हैं और यदि संविधान में कोई परिवर्तन अभीष्ट हो, अथवा शासन में भी लोगों का प्रत्यक्ष भाग—ये सब राष्ट्र के राजनीतिक व्यवहार के मौलिक सिद्धान्त हैं। प्रजातन्त्र का सिद्धान्त अथवा राष्ट्र के हाथों में प्रभुसत्ता प्रत्यक्ष ही स्विस प्रजातन्त्र का मुख्य सिद्धान्त है, और सर्वसाधारण ने इस सिद्धान्त को धार्मिक सिद्धान्त के रूप में स्वीकार किया है

स्विस संविधान में अधिकार-पत्र का अभाव (Does not Contain a Bill of Rights)—स्विस संविधान में औपचारिक अधिकार-पत्र (Bill of Rights) नहीं है। फिर भी बीसियों अनुच्छेद सारे प्रलेख में बिखरे पड़े हैं जो व्यक्तियों को ईमान, सद्विवेक और धर्म, प्रचार की स्वतन्त्रता, संगठन निर्माण करने की स्वतन्त्रता, आवेदन करने की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति धारण की स्वतन्त्रता और विधि के समक्ष सभी की समानता आदि की गारंटी करते हैं। संविधान के निर्माताओं की संभवत यह इच्छा थी कि नागरिकों के संविधानिक अधिकारों[1] का संकुचित अर्थ लिया जाय और वे उन अधिकारों में केवल स्वतन्त्रता के अधिकारों, अर्थात् समानता, व्यापार की स्वतन्त्रता, धर्म और संगठन की स्वतन्त्रता को लेना चाहते थे। किन्तु जैसा कि ह्यूज (Hughes) कहता है, "सभी संविधानिक अधिकारों में विधि के समक्ष समानता वाला अधिकार एक मजाक है"।[2] संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) ने अनुच्छेद ४ का निर्वचन इस प्रकार किया है कि संविधानिक अधिकारों में राजनीतिक अधिकार और स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकार, सभी सम्मिलित हैं।[3] अनुच्छेद ४ उन राजनीतिक और स्वतन्त्रता सम्बन्धी अधिकारों को भी स्वीकार करता है जिनको कैण्टनों के संविधान में भी या तो स्पष्टत या उपलक्षण के द्वारा

---

[1] Article 113, Clause 3. "संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) उन कानूनों को लागू करता है जिनको संघीय व्यवस्थापिका [illegible] हो।"

[2] The Federal Constitution of Switzerland, op cit, p 7.

[3] Ibid, p 123

स्वीकार किया गया है ।[1]

धर्म के सम्बन्ध मे उपवन्ध (Provisions relating to Religion)—स्विट्जरलैंड मे धर्म के नाम पर जो प्राचीन काल से झगडे चले आ रहे थे, उनकी सम्भावनाओ को सदैव के लिए समाप्त करने के लिए सविधान ने कतिपय उपबन्ध प्रस्तुत किये हैं। मनमाने धार्मिक विश्वास और पूजा की स्वतन्त्रता को प्रत्येक कैण्टन की सीमाओ मे सभी नागरिको के लिये गारटी किया गया है किन्तु धार्मिक विश्वास और पूजा, सदाचार और सार्वजनिक शान्ति की मर्यादाओ का अतिक्रमण न करते हो। किसी भी नागरिक को किसी धर्म विशेष के अपनाने के लिए बाध्य नही किया जा सकता, न उसको किसी विशेष प्रकार की धार्मिक पूजा के लिये बाध्य किया जा सकता है, न उसको किसी धार्मिक शिक्षा पर चलने के लिए बाध्य किया जा सकता है। किसी व्यक्ति के नागरिक अथवा राजनीतिक अधिकारो को किसी धार्मिक पादरी अथवा धार्मिक आज्ञा के आधार पर कम नही किया जा सकता। उसी के साथ कोई भी व्यक्ति अपने धार्मिक विश्वास के आधार पर किसी ऐसे उत्तरदायित्व के निर्वहन के लिए मना नही कर सकता, जिसकी, स्विट्जरलैंड की नागरिकता के आधार पर उक्त व्यक्ति से आशा की जाती हो। इसके अतिरिक्त किसी ऐसे कर देने के लिए किसी व्यक्ति को बाध्य नही किया जा सकता, जो किसी ऐसी धार्मिक सस्था को चलाने के लिये प्रयुक्त होता हो जिसका वह व्यक्ति अनुयायी न हो। स्विस प्रदेश मे बिना सघीय सरकार की आज्ञा के विशप का कोई नया पद (Bishopric) सृजित नही किया जा सकता। धार्मिक सस्थाओ के अधिकार क्षेत्र समाप्त कर दिये गये हैं। कब्रिस्तानो (Burial places) पर नगर सभाओ का अधिकार है। विवाह सम्बन्धी अधिकार पर न तो कोई धार्मिक प्रतिवन्ध हो सकते हैं, और न आर्थिक प्रतिवन्ध। जैस्विट धर्माधिकारियो और जैस्विट धर्म से सम्बन्धित सभाओ को देश मे कोई स्थान नही है। सघीय सरकार को अधिकार होगा कि इस प्रकार की निषेधात्मक आज्ञा अन्य ऐसी धार्मिक सस्थाओ के ऊपर भी लगा सकती है जिनकी हलचलो के फलस्वरूप राज्य की स्थिति को खतरा हो अथवा देश के विभिन्न मतानुयायियो मे कलह हो जाने का भय हो। नये धार्मिक भवनो का निर्माण अथवा नये धार्मिक पथो का प्रारम्भ, अथवा उन धार्मिक पथो को पुनर्जीवित करना जिनका पहले ही निषेध किया जा चुका है, सदैव के लिये निषिद्ध कर दिया गया है।

प्रजातन्त्र और स्विट्जरलैंड प्राय पर्यायवाची शब्द (Democracy and Switzerland are almost synonymous)—जेम्स ब्राइस (James Bryce) अपनी पुस्तक गवर्नमेन्ट आफ स्विट्जरलैंड (Government of Switzerland) के प्रारम्भिक अध्याय मे लिखता है—"आधुनिक प्रजातन्त्रो मे कौन देश सच्चा प्रजातन्त्र

---

[1] सघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) का विचार है कि कैण्टन के सविधान द्वारा वर्णित अधिकार अवश्य ही उपलक्षण द्वारा स्वीकार किये गये हैं, चाहे स्पष्टत उन अधिकारों का उल्लेख न हो।

है, यदि इनका उत्तर देना हो तो यही कहना होगा कि स्विट्जरलैंड ही सच्चा प्रजातन्त्र है और उसी का अध्ययन करना चाहिए। प्रथमत स्विट्जरलैंड सबसे प्राचीन प्रजातन्त्र है क्योंकि इसमे ऐसी जातियाँ निवास करती हैं जिनमे लोकप्रिय शासन का प्रादुर्भाव उस काल मे था जिसमे कि संसार के अन्य किसी देश मे लोकतन्त्र का अभाव था। और इस देश ने प्रजातन्त्रात्मक सिद्धान्तो का जितना विकास किया है और उन पर लगातार जितना सफल प्रयोग इस देश मे किया गया है, उतना किसी अन्य यूरोपीय राज्य मे नही किया गया"।[1] वास्ताव मे स्विस प्रजातन्त्र का सिद्धान्त "पहले जाति के छोटे वर्गों मे प्रारम्भ होता है तब कैण्टनो के ऊपर प्रभावी होता है और उसी अर्थ मे पहले कैण्टनो मे प्रारम्भ होता है तब संघ पर प्रभावी होता है।" राजनीतिक सत्ता का आधार स्थानीय स्वशासनिक संस्थाएँ हैं, और लोकप्रिय जनमत प्रारम्भिक इकाई से प्रारम्भ होकर समस्त देश पर छा जाता है। स्विट्जरलैंड छोटे-छोटे देहाती और शहरी समुदायो अथवा प्रजातियो (Communities) का देश है, और प्रारम्भ मे ही नगर संस्था (Commune) ऐसा साधन उपस्थित करती थी जो लोगो को स्वशासन की दिशा मे आवश्यक शिक्षा प्रदान करती थी। आज भी कम्यून या नगर संस्था (Commune) राष्ट्र की राजनीतिक इकाई है और उसके सार्वजनिक जीवन का केन्द्र-बिन्दु है। कम्यून (Commune) के द्वारा देश मे सर्वसाधारण को नागरिक प्रशासन की प्राथमिक शिक्षा प्रदान की जाती है और इसी के द्वारा लोगो मे नागरिक कर्तव्यो का ज्ञान कराया जाता है। कम्यून (Commune) और कैण्टन (Canton) दोनो ही प्रत्येक नागरिक को ऐसे प्रतीत होते हैं, मानो, उन सभी बातो मे जिनका सम्बन्ध उनकी तात्कालिक प्रशासनिक समस्याओ से है, वे प्राचीन प्रत्यक्ष अथवा अर्द्धप्रत्यक्ष रोमन मजिस्ट्रेसी (direct or quassi direct consultion) की जीवित वास्तविकताएँ हो।

संघीय संविधान का प्रत्येक प्रारम्भ से लेकर अन्त तक ऐसी ही प्रजातन्त्रात्मक भावनाओ से भरा पड़ा है। और यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि स्विट्जरलैंड और प्रजातन्त्र, ये दोनो शब्द अब पूर्णतया पर्यायवाची शब्द हैं। सत्ताओ के केन्द्रीकरण के बावजूद १८९१ मे जो संविधानिक आरम्भक (Constitutional Initiative) की प्रथा का श्रीगणेश हुआ अथवा १९१९ मे राष्ट्रीय परिषद् (National Council) के चुनाव के लिये आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional representation) की व्यवस्था की गई और १९२१ मे अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो के सम्बन्ध मे जो ऐच्छिक जनमत संग्रह की व्यवस्था की गई, ये सब सिद्ध करते हैं कि सर्वसाधारण के वे प्रजातन्त्रात्मक उद्देश्य, जिन्होंने आधुनिक स्विस लोकतन्त्र की १८४८ मे स्थापना की थी, अब भी ज्यों-के-त्यो मौजूद हैं। ११ सितम्बर १९४९ का सैंतालीसवाँ संशोधन प्रजातन्त्र को फिर वापिस लाने का संकेत था, और अब संघीय सरकार के लिये यह सम्भव नही है कि

---

[1] Modern Democracies, Vol I, p 367.

रक्षा का दृष्टिकोण (Liberal Attitude) अपनाया और इन निर्णयो मे यह प्रदर्शित किया कि वे किसी भी स्थिति मे अपनी स्वतन्त्रताओ की रक्षा करेंगे।

सघीय कार्यपालिका (Federal Executive)—स्विस सविधान कार्यपालिका शक्तियाँ स्विस सघीय परिषद् (Federal Council) मे विहित करता है। इस परिषद् मे सात सदस्य होते हैं जो चार वर्षों की अवधि के लिये सघीय ससद् अथवा विधान सभा (Federal Assembly) द्वारा चुने जाते हैं। स्विस सघीय कार्यपालिका मे सभी सदस्य समान शक्तियो का उपभोग करते हैं और उनमे से किसी की भी स्थिति शीर्ष स्थानीय नही होती। समस्त कार्यपालिका-शक्ति, समूची परिषद् को सौंपी जाती है, न कि किसी एक व्यक्ति को। जिस अधिकारी को परिसघ का प्रधान कहा जाता है, वह स्विस सघीय परिषद् (Federal Council) के सात सदस्यो मे से कोई भी एक हो सकता है, और उसको सघीय ससद् या विधान सभा (Federal Assembly) केवल एक वर्ष के लिये चुनती है। परिसघ के प्रधान अथवा राष्ट्रपति का पद सघीय परिषद् (Federal Council) के सदस्यो को बारी-बारी से प्राप्त होता है, इसलिये राष्ट्रपति और अन्य परिषद् के सदस्यो मे कोई अन्तर नही होता। किसी भी हालत मे स्विस राष्ट्रपति राष्ट्र का प्रधान नही है, न परिषद् मे उसे परिषद् के अन्य सदस्यो की अपेक्षा किसी प्रकार की वरीयता प्राप्त होती है, और वह किसी भी प्रकार परिषद् के अन्य सदस्यो की अपेक्षा राष्ट्र के शासन सचालन के लिये अधिक उत्तरदायी नही होता। वह तो केवल राष्ट्र की सर्वोच्च अधिशासी समिति (Executive Committee) का चेयरमैन मात्र होता है, और इस स्थिति मे वह कतिपय औपचारिक प्रधान के रूप मे आनुष्ठानिक क्रियाकलाप (Ceremonial duties) अवश्य करता है। इस प्रकार स्विट्ज़रलैंड की कार्यपालिका एक बहुल प्रकृति की कार्यपालिका (Collegium) है जो एक साथ देश का सर्वोच्च शासन भी है और राष्ट्र की प्रधान कार्यपालिका भी।

सघीय विधानमण्डल (Federal Legislature)—केन्द्रीय विधानमण्डल द्विसदनात्मक है। स्विस परिसघ के विधानमण्डल का उच्च सदन अथवा राज्य सभा (The Council of States) कैण्टनो का प्रतिनिधित्व करती है और अमेरिका की सीनेट (Senate) के समान है। राष्ट्रीय परिषद् (National Council) सर्वसाधारण का प्रतिनिधिक सदन है, राष्ट्रीय परिषद् (National Council) की चुनाव विधि और सदस्यो की पदावधि प्रत्येक कैण्टन मे अलग-अलग हैं। स्विस विधानमण्डल के दोनो सदनो की शक्तियाँ समान हैं, इस आधार पर डा० स्ट्रांग (Dr Strong) कहता है कि "स्विस विधानमण्डल भी स्विस कार्यपालिका के समान ही अनोखा है।" ससार मे स्विस विधानमण्डल ही ऐसा विधानमण्डल है जिसके उच्च सदन के कर्त्तव्य निम्न सदन के कर्त्तव्यो के पूर्ण समान ही हैं।

किन्तु स्विस विधानमण्डल की दो विशेषताओ को समझ लेना चाहिए। प्रथमत सविधान के निर्माताओ ने शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त (Doctrine of the Separation of Powers) को कोई महत्व नही दिया और इसीलिये सघीय

संसद् (Federal Assembly) को सभी प्रकार की अर्थात् व्यवस्थापिका (Legislative), कार्यपालिका (Executive) और न्यायिक (Judicial) शक्तियाँ दे डाली। द्वितीयत ,स्विट्ज़रलैण्ड मे विधानमण्डल द्वारा पास किये गए किसी भी अधिनियम पर, पूर्व इसके कि वह विधि का रूप धारण करे, जनता का मत जनमत-संग्रह के साधन (Instrument of the referendum) के द्वारा लिया जाता है।

संघीय न्यायमण्डल (Federal Judiciary)—संविधान ने संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) की रचना का आदेश किया है, और यद्यपि बहुत से लोग इसी को स्विट्जरलैण्ड का सर्वोच्च न्यायालय कहते हैं किन्तु, वास्तव मे संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) के पास उन शक्तियो का पूर्ण अभाव है जो सर्वोच्च न्यायालय के पास होनी चाहिये। संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय की तरह, स्विट्ज़रलैण्ड का संघीय न्यायाधिकरण संविधान का संरक्षक नहीं है क्योंकि यह संघीय विधान सभा द्वारा पारित किसी भी विधि को असंविधानिक घोषित नहीं कर सकता। संविधान ने संघीय संसद् अथवा संघीय विधान सभा (Federal Assembly) को ही यह अधिकार दिया कि वह संविधान का स्वयं निर्वचन करे। किन्तु संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) को यह अधिकार अवश्य दिया गया है कि वह ऐसी किसी भी विधि को रद्द कर सकता है जो कैण्टनो द्वारा पारित की गई हो। द्वितीयत, संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) केवल एक न्यायालय मात्र है, न कि राष्ट्रीय न्याय-व्यवस्था के ऊपर सर्वोच्च न्यायालय। इसलिये फेडेरल ट्रिब्यूनल अथवा संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) को वह उच्च पदवी नहीं दी जा सकती जो संघीय सर्वोच्च न्यायालय अथवा फेडेरल कोर्ट (Federal Court) को मिलनी चाहिये।

कठोर संविधान (A Rigid Constitution)—स्विस संविधान कठोर है और उसके संशोधन की प्रक्रिया जटिल है। किन्तु इस संविधान के संशोधन की प्रक्रिया व्यवहारत उतनी कठिन नहीं है जितनी कि अमेरिकी संविधान को संशोधित करने की है। १८७४ के संविधान का जो ५ जुलाई १८९१ को संशोधन हुआ, उसके तृतीय अध्याय में संविधान को संशोधित करने की रीति पर सम्यक् प्रकाश डाला गया है। संविधान के संशोधन का अर्थ अशेष संशोधन (Total revision) भी हो सकता है और आंशिक संशोधन (Partial revision) भी हो सकता है। पूर्ण संशोधन का अर्थ होगा कि पुराने संविधान के स्थान पर पूरी तरह नया संविधान स्वीकार करना किन्तु आंशिक संशोधन (Partial revision) संविधान की किसी भाग अथवा किसी उपबन्ध या कतिपय उपबन्धो के संशोधन को कहते हैं।

संविधान के संशोधन के लिये स्विस संविधान ने दो साधनो अथवा उपायों का उपबन्ध किया है जिनको संविधानिक जनमत-संग्रह (Constitutional Referendum) और संविधानिक आरम्भक (Constitutional initiative) कहते हैं। संविधानिक जनमत-संग्रह के द्वारा सभी संविधानिक संशोधन-प्रस्ताव सर्वसाधारण के समक्ष

उनकी अन्तिम स्वीकृति अथवा अस्वीकृति (Final approval or disapproval) के लिये प्रस्तुत किये जाते हैं। जनमत-सग्रह दो प्रकार से किया जाता है। प्रथम यह है कि सभी सविधानिक सशोधन जनता के बहुमत तथा कैण्टनो के बहुमत द्वारा ही किये जा सकते हैं। यदि इन दोनो स्तरो पर आवश्यक बहुमत प्राप्त न हो सके, तो उस दशा मे सशोधन क्रियाकारी नही हो सकता। सविधानिक आरम्भक (The Constitutional initiative) सर्वसाधारण को सीधे अधिकार देता है कि वे सविधान के अशेष सशोधन (Total revision) अथवा आशिक सशोधन के लिये स्वय प्रस्ताव कर।

सविधान का सशोधन

(Amending the Constitution)

सविधान के सशोधन के लिए जो प्रक्रिया निर्धारित की गई है, वह इस प्रकार है —

(१) यदि सघीय विधानमण्डल (Federal Legislature) के दोनो सदन अर्थात् राज्य सभा (Council of States) और राष्ट्रीय परिषद् (National Council) मिलकर निर्णय करें और प्रस्ताव पास करके सविधान मे पूर्ण सशोधन अथवा आशिक सशोधन करने के लिए निश्चय करें, तो यदि पूर्ण सशोधन (Total revision) करना है तो वे दोनो सदन प्रस्तावित नये सविधान का प्रारूप तैयार कर सकते हैं और यदि आशिक सशोधन करना है तो उसी सशोधन का प्रस्ताव तैयार कर सकते हैं, और फिर उस सशोधन को सर्वसाधारण और कैण्टनो के जनमत-सग्रह (Referendum) के लिए प्रस्तुत करते हैं। यदि जनमत-सग्रह मे सर्वसाधारण का बहुमत उस सशोधन को स्वीकार कर लेता है, और यदि कैण्टनो का बहुमत भी उसे स्वीकार कर लेता है तो प्रस्तावित सशोधन स्वीकृत समझा जाता है। कैण्टनो की इच्छा जानने के लिए मत गिनते समय प्रत्येक कैण्टन को एक मत (Vote) माना जाता है। और प्रत्येक अर्द्ध कैण्टन को आधा मत माना जाता है।

(२) किन्तु यदि सघीय विधानमण्डल का केवल एक सदन प्रस्तावित सशोधन के लिए सहमत है, और दूसरा सदन उक्त सशोधन के लिए सहमत नही है, उस स्थिति मे—

(i) पहले यह निर्णय करना आवश्यक हो जाता है कि प्रस्तावित सशोधन की वास्तव मे आवश्यकता भी है अथवा नही। यह निर्णय, सर्वसाधारण जनमत-सग्रह (Referendum) के द्वारा करते हैं।

(ii) यदि सर्वसाधारण बहुमत द्वारा प्रस्तावित सशोधन को स्वीकार कर लेते हैं, तो सघीय ससद् या विधानमण्डल के लिए नए चुनाव किये जाते हैं। इस प्रसग मे यह याद रखना चाहिए कि कैण्टनो की स्वीकृति आवश्यक नही है।

(iii) नये चुनाव हो चुकने के बाद, नव-निर्वाचित राज्य सभा (Council of States) और राष्ट्रीय परिषद् (National Council) प्रस्तावित संशोधन पर विचार करते हैं,

(iv) यदि संघीय विधानमण्डल के दोनों सदन उक्त संशोधन को स्वीकार कर लेते हैं, जो प्राय निश्चित-सा ही होता है, तो प्रस्तावित संशोधन सर्वसाधारण और कैण्टनों (Cantons) के जनमत-संग्रह के लिए प्रस्तुत किया जाता है, और

(v) यदि वह सर्वसाधारण के बहुमत और कैण्टनों के बहुमत द्वारा स्वीकृत हो जाता है, तो उक्त संशोधन क्रियाकारी हो जाता है।

संविधानिक आरम्भक (Constitutional Initiative)—संविधान का पूर्ण संशोधन (Complete revision) अथवा आंशिक संशोधन (Partial revision) सर्वसाधारण के आरम्भक के द्वारा भी हो सकता है। आरम्भक से अभिप्राय है कि किसी संशोधन के लिए कम-से-कम ५०,००० स्विस नागरिक आवेदन-पत्र दें। यदि पूर्ण संशोधन (Total revision) अभीष्ट है तो बाकी प्रक्रिया वही होगी जो उस स्थिति में होती है, जबकि संघीय विधानमण्डल का एक सदन संशोधन के लिए सहमति दे दे किन्तु द्वितीय सदन उसके विरोध में जाय। अर्थात्

(i) पहले यह निर्णय आवश्यक हो जाता है कि प्रस्तावित संशोधन की वास्तव में आवश्यकता भी है अथवा नहीं। यह निर्णय सर्वसाधारण जनमत-संग्रह के द्वारा करते हैं,

(ii) यदि वह सर्वसाधारण जनमत-संग्रह में बहुमत द्वारा प्रस्तावित संशोधन को स्वीकार कर लेते हैं, तो संघीय विधानमण्डल के लिए नये चुनाव होते हैं,

(iii) नव-निर्वाचित संघीय संसद् अथवा विधानमण्डल प्रस्तावित संविधान का प्रारूप तैयार करते हैं और यदि वे इसको (प्रस्तावित संशोधित संविधान को) स्वीकार कर लेते हैं,

(iv) तो वह (प्रस्तावित संशोधित संविधान) सर्वसाधारण और कैण्टनों के जनमत-संग्रह के लिए प्रस्तुत किया जाता है,

(v) यदि वह सर्वसाधारण के बहुमत और कैण्टनों के बहुमत द्वारा स्वीकृत हो जाता है, तो उक्त संशोधित संविधान क्रियाकारी हो जाता है।

किन्तु जब आवेदन-पत्र में आंशिक संशोधन (Partial revision) की प्रार्थना की गई है, उस स्थिति में उसके बाद की प्रक्रिया इस बात पर निर्भर करती है कि संशोधन को आवेदन-पत्र में विधेयक रूप में प्रस्तुत किया गया है अथवा साधारण शब्दों में। यदि साधारण शब्दों में संशोधन की मांग की गई है तो उसका यह अर्थ है कि कम-से-कम ५०,००० नागरिक किसी संशोधन की मांग कर रहे हैं। किन्तु इसके विपरीत यदि कोई विशिष्ट मांग की जाती है, तो वह विधेयक के रूप में की जाती है, जिसमें सभी व्याख्यापूर्ण विस्तार के साथ की जाती है।

जब किसी संशोधन की मांग साधारण शब्दों में की जाती है, तो संघीय संसद् अथवा विधानमण्डल, यदि वह उक्त संशोधन के अनुकूल हो, तुरन्त उन दोनों को

इच्छा के अनुसार जिन्होने उक्त सशोधन का प्रस्ताव किया है, उस सशोधन को विधेयक के रूप मे तैयार करता है। तदनन्तर उस विधेयक पर जनता का मत एकत्रित किया जाता है, और कैण्टनो का मत जाना जाता है। किन्तु यदि सघीय विधानमण्डल उक्त सशोधन के अनुकूल नही है, उस स्थिति मे सघीय परिषद् (The Federal Council) उस सशोधन के प्रश्न को सर्वसाधारण के निर्णय के लिए प्रस्तुत करती है और पूछती है कि क्या आशिक सशोधन (Partial revision) होना चाहिए अथवा नही। यदि जनमत-सग्रह द्वारा नागरिको का बहुमत सशोधन के पक्ष मे है तो सघीय ससद् आरम्भक (Initiative) के अनुरूप प्रस्तावित सशोधन को एक विधेयक के प्रारूप की शक्ल मे तैयार करती है और उसके बाद सर्वसाधारण और कैण्टनो के जनमत-सग्रह के लिए उक्त विधेयक भेज दिया जाता है।

जब आशिक सशोधन के लिए कोई प्रस्ताव विस्तृत विधेयक (Complete bill) के रूप मे प्रस्तुत किया जाता है, तो सघीय ससद् (Federal Assembly) उक्त विधेयक को अपना अनुमोदन देने के पश्चात् सर्वसाधारण और कैण्टनो के जनमत-सग्रह के लिए प्रस्तुत करती है। यदि सघीय ससद् उक्त विधेयक के प्रति अनुकूल है तो ससद् सिफारिश कर सकती है कि सर्वसाधारण के जनमत-सग्रह मे उक्त विधेयक को अस्वीकृत किया जाय अथवा सघीय ससद् (Federal Assembly) उक्त सशोधन के स्थान पर अपना प्रस्ताव प्रस्तुत कर सकती है और फिर प्रारम्भिक सशोधन-प्रस्ताव के साथ अपने तत्सम्बन्धी प्रस्ताव को भी जनमत-सग्रह के हेतु भेज सकती है। किन्तु दोनो ही स्थितियो मे सभी नागरिको का बहुमत और कैण्टनो का बहुमत आवश्यक होगा।

और अधिक स्पष्टीकरण करने के लिए, वह समस्त प्रक्रिया जो सर्वसाधारण के आरम्भक (Initiative) पर आशिक सशोधन के लिए की जाती है, इस प्रकार है—

(१) यदि आशिक सशोधन की मांग सूत्र रूप मे न होकर साधारण शब्दो मे की गई है, तो सघीय ससद्, (Federal Assembly) यदि वह उक्त सशोधन को स्वीकार करती है, तो उक्त सशोधन के सम्बन्ध मे विधेयक तैयार करती है और उस विधेयक को सर्वसाधारण और कैण्टनो की स्वीकृति (ratification) के लिए भेज देती है।

(२) यदि सघीय ससद् (Federal Assembly) उक्त सशोधन को स्वीकार नही करती, तो उस स्थिति मे --

(i) आशिक सशोधन सम्बन्धी प्रश्न, सर्वसाधारण के निर्णय के लिये भेज दिया जाता है। इस समय कैण्टनो के मत जानने की आवश्यकता नही होती।

(ii) यदि अधिकतर मतदाता-नागरिक, सशोधन के पक्ष मे हैं, तो वही सघीय ससद् (Federal Assembly) जिसने पहले प्रस्तावित सशोधन के विरुद्ध मत दिया था, अब लोकप्रिय जनता द्वारा आरम्भित (initiated) प्रस्ताव को विधेयक

के रूप मे तैयार करती है और इसके बाद इस विधेयक को सर्वसाधारण और कैण्टनो के जनमत-सग्रह के लिये प्रस्तुत करती है।

(३) यदि प्रस्तावित संशोधन का प्रस्ताव सूत्र रूप मे प्रस्तुत किया गया है अर्थात् विधेयक के रूप मे उपस्थित किया गया है, उस स्थिति मे पहले सघीय ससद् को उक्त विधेयक पर स्वीकृति प्रदान करनी होती है, और उसके बाद विधेयक को सर्वसाधारण और कैण्टनो के जनमत-सग्रह के लिये भेज दिया जाता है। किन्तु यदि सघीय ससद् प्रस्तावित सशोधन के पक्ष मे नही है, तो यह जनमत-सग्रह के लिये निम्न सिफारिशें कर सकती है—

(i) कि प्रस्तावित सशोधन अस्वीकृत किया जाय, अथवा ;

(ii) सघीय ससद् (Federal Assembly) उक्त सशोधन के स्थान पर अपना निजी प्रस्ताव तैयार करके उस प्रारम्भिक सशोधन प्रस्ताव के साथ, जिसको आरम्भक द्वारा प्रस्तावित किया गया था सर्वसाधारण और कैण्टनो के निर्णय के लिये भेज सकती है।

सशोधन प्रणाली का मूल्याकन (*Estimate of the method of amendment*)—१८७४ से अब तक पूर्ण सशोधन (Total revision) के लिए केवल दो बार प्रस्ताव किया गया—एक बार तो १८८० मे जब कि ५०,००० नागरिको की प्रार्थना पर आशिक सशोधन की प्रार्थना की मान्यता नही थी और पुन. १९३५ मे जब कि स्विट्जरलैंड के नाजियो (Nazis), दक्षिणपक्षी कैथोलिको और अन्य लोगो ने सविधान मे पूर्ण सशोधन का प्रस्ताव किया था। ये दोनो ही सशोधन प्रस्ताव अस्वीकृत हो गये। यदि इन दोनो अवसरो मे से किसी भी अवसर पर सशोधन की मांग स्वीकृत हो गई होती तो अत्यन्त भयावह स्थिति उत्पन्न हो सकती थी। यह समझ मे आना कठिन है कि आधुनिक परिस्थितियो मे स्विस ससद् किस प्रकार इतने लम्बे समय के लिये अपना सारा नैतिक कार्य स्थगित कर देती और नया सविधान तैयार करती। इसीलिये प्रस्ताव किया गया है कि यदि कभी सविधान का पूर्ण सशोधन (Total revision) करना पड़े तो उसके लिये दूसरी सविधान निर्मातृ सभा का चुनाव होना चाहिए।

सविधान के आशिक सशोधन (Partial revision) तो कई बार हो चुके हैं। किन्तु ऐसे सशोधन बहुत ही कम हुए हैं जिन्होने सविधान के आवश्यक भागो को बदला हो, विशेष रूप से प्राय सभी सशोधनो के द्वारा केन्द्रीय शासन के अधिकारो मे वृद्धि की गई है, मुख्यत व्यापारो और उद्योगो के सम्बन्ध मे केन्द्रीय सरकार को विशेष अधिकार प्रदान किये गये हैं। अन्य कतिपय संशोधनों के द्वारा नागरिको के नैतिक और चारित्रिक गठन पर बल दिया गया है, विशेषकर शराब पीने और जुआ खेलने आदि के विषय मे। जिन सशोधनो के द्वारा सविधान के आवश्यक भागो पर प्रभाव पड़ा है उनमे कुछ निम्न हैं—कॉन्सटीट्यूशनल इनीशिएटिव १८९१, (Constitutional Initiative 1891), एडमिनिस्ट्रेटिव जूरिस्डिक्शन १९१४, (Administrative Jurisdiction, 1914), डेलीगेशन टू डिपार्टमेण्ट्स, १९१४ (Delegation to Departments 1914), प्रोपोर्शनल रिप्रिज़ेन्टेशन, १९१८ (Proportional Representation, 1918), ट्रीटी रेफरेण्डम, १९२१ (Treaty Referendum, 1921,) आल्टरिंग दी नम्बर आफ इनहैबिटेण्ट्स पर नेशनल काउन्सलर, १९३१ और १९५० (Altering the number of inhabitants per National Councillor 1931 and 1950), नेशनल काउन्सलर अथवा राष्ट्रीय परिषद् का कार्य-काल और तदनुरूप सघीय परिषद् और चासलर का कार्य-काल चार वर्ष करने वाला सशोधन, १९३१ (Raising the term of office of National Councillor, and hence of Federal Councillor and Chancellor to four years, 1931), रूल्स फार डिक्लेयरिंग एरेट्स अर्जेण्ट एमेन्डिग आर्टिकल ८९ इन १९३९ एण्ड १९४० (Rules for declaring arretes 'urgent' amending Article 89 in 1939 and 1940)। जिन सशोधनो के द्वारा सघीय शक्तियो मे वृद्धि हुई है, उनमे विशेष रूप से निम्न सशोधन उल्लेख्य हैं—फेडेरल सिविल एण्ड पीनल कोड आर्टिकल्स आफ १८९८ (Federal Civil and Penal Code Articles of 1898) और दी इकानामिक आर्टिकल्स आफ १९४७ (The Economic Articles of 1947)।

स्विस सविधान की एक उल्लेख्य विशेषता यह है कि इसका विकास केवल औपचारिक सविधानिक सशोधनो के द्वारा हुआ है। स्विट्ज़रलैंड मे न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial review) की प्रथा के अभाव मे, इस देश मे न्यायिक निर्णयो और पूर्व-भावियो (Precedents) के आधार पर सविधान का विकास बिल्कुल भी नही हुआ है। सघीय ससद् (Federal Assembly) द्वारा पारित किसी भी विधि को सघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) असविधानिक घोषित नही कर सकता। स्विस लोगो की मान्यता है कि अन्तिम प्रभुसत्ता या तो सर्वसाधारण के हाथो मे रहनी चाहिए अथवा विधानमण्डल मे सर्वसाधारण के प्रतिनिधियो के हाथो मे रहनी चाहिए। १९३९ मे आरम्भक प्रस्ताव (an initiative proposal) इस आशय से प्रस्तुत किया गया था कि सघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) को अधिनियमों के पुनरीक्षण का अधिकार प्रदान किया जाय, किन्तु जनमत-सग्रह (referendum) मे वह प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। इसीलिए हैन्स ह्यूबर (Hans Huber), जो स्वय सघीय न्यायाधिकरण का न्यायाधीश था, कहता है कि "स्विस जाति ने सविधानिक विधियो का न्यायिक पुनरीक्षण, प्रजातन्त्रीय सिद्धान्तो के विरुद्ध माना था।"[1]

इस सम्बन्ध मे यह तथ्य भी ध्यान मे रखना चाहिए कि स्विस लोग अपनी मौलिक विधि अर्थात् सविधान मे सशोधन करना आसान समझते हैं किन्तु विरोधी ससद् द्वारा पारित किसी सविधि (Statute) को बदलवाना उतना सहज नही है।[2] इसका

---

[1] How Switzerland is Governed, p 10

[2] Rappard, W E The Government of Switzerland, op citd , p 69.

कारण यह है कि स्विस लोगों को सामान्य विधेयकों के सम्बन्ध में आरम्भक (initiative) का अधिकार नहीं है। वे किसी भी संघीय विधि या आज्ञा के विरुद्ध ३०,००० नागरिकों के आवेदन-पत्र को देकर उन पर जनमत-संग्रह की माँग कर सकते हैं किन्तु वे संघीय सत्ता के विरुद्ध कभी भी यह माँग नहीं कर सकते कि अमुक विधि को स्वीकार कर लिया जाय, या रद्द कर दिया जाय अथवा संशोधित किया जाय। इसीलिए स्विट्जरलैंड में संविधान के संशोधन के लिए सर्वसाधारण की ओर से भी उतनी ही बहुलता के साथ प्रस्ताव आये हैं, जितनी कि संघीय परिषद् (Federal Council) और संघीय संसद (Federal Assembly) की ओर से।

अध्याय ३

कैण्टनों का शासन और स्थानीय स्वशासन

(The Cantonal and Local Government)

नगर संस्थाएँ और कैण्टन (The Communes and the Cantons)—स्विस प्रजातन्त्र का सिद्धान्त, जैसा कि बताया जा चुका है यह है कि "वे लोग कैण्टनो से अधिक कम्यूनो (Communes) से प्रेम करते हैं और सघ से अधिक कैण्टनो को प्रेम करते हैं।" स्विट्ज़रलैंड अत्यन्त विकसित और स्वात्तयशासी प्रजातियो का सघ है और उन सबको मिलाकर सघीय राज्य की स्थापना की गई है। स्विस नागरिको के राजनीतिक जीवन मे कैण्टन सघीय राज्य की अपेक्षा अधिक महत्त्व रखते हैं। स्विस प्रजातन्त्र मे नगर सस्था (Commune) पहली सीढी है और स्विस प्रशासनिक भवन की प्रथम आधारशिला है, और यह वह स्थान है जो नागरिको को सार्वजनिक समस्याओ का ज्ञान कराता है और उनमे नागरिक कर्तव्यो की भावना का भान कराता है। इसके बाद स्विस प्रशासनिक भवन की दूसरी मजिल कैण्टनें हैं जो परिसघ (Confederation) के अवयवी एकक (Constituents) हैं।

एण्ड्रे सीजफ्रायड (Andre Siegfried) लिखता है कि "सामान्य नागरिक की निगाहो मे कैण्टन, परिसघ की अपेक्षा कही अधिक वास्तविक एव जीवित सत्ता है क्योंकि परिसघ उसके लिए मृत प्रशासनिक यन्त्र से अधिक कुछ नही है। इसमे सन्देह नही कि प्रत्येक नागरिक को स्विस नागरिकता पर गर्व है किन्तु स्विस नागरिक होने से पहले वह ज्यूरिच (Zurich) आदि किसी कैण्टन का निवासी है।" यद्यपि आजकल राजनीतिक शक्ति और राजनीतिक भक्ति का केन्द्रीकरण हो रहा है, और इसके कारण लोगो के ऐतिहासिक व्यक्तित्व मे ह्रास हुआ है, और कैण्टनो के प्रति मोह धीरे-धीरे कम हो रहा है, फिर भी सविधान, अब भी कैण्टनो की प्रभुसत्ता को उस सीमा तक स्वीकार करता है "जहाँ तक कि सघीय सविधान कैण्टनो की प्रभुसत्ता को मर्यादित नही करता और इस प्रकार कैण्टन उन सभी शक्तियो का उपभोग करते है जिनको सघ को हस्तान्तरित नही किया गया है।"[1] कैण्टन अब भी वास्तव मे राष्ट्रीय राजनीतिक जीवन के केन्द्र है। रैपर्ड (Rappard) लिखता है "स्विस नागरिक अपने प्रत्यक्ष कर, या तो अपने कैण्टन को, या नगर को या गाँव को अदा करता है। स्विस नागरिक या तो कैण्टन के समक्ष किसी विवाद के सम्बन्ध मे या कम्यून अथवा नगर सस्था (Commune) के समक्ष किसी विवाद के सम्बन्ध मे पक्ष या विपक्ष मे मत देता है अथवा जब वह चुनाव मे भाग लेता है तो या तो कैण्टन के चुनावो मे

---

[1] Article 3.

अथवा नगर सस्था (Commune) के चुनावों मे किसी प्रत्याशी के पक्ष मे अथवा विपक्ष मे मत देता है। एक पीढी पहले तो निश्चय ही ऐसा होता था और निकट भूतकाल मे भी मुख्यत कैण्टनो मे सम्बन्धित विषयो के पक्ष या विपक्ष मे ही राजनीतिक दल बनते थे और अब भी बनते है और कैण्टनो मे ही अनेकों राजनीतिक युद्ध जीते गये हैं अथवा हारे गए हैं। अधिकतर सविधानिक सशोधन कैण्टनो मे ही आरम्भ किये गये और उसके बाद ही सघीय ससद् मे उन पर विचार-विनिमय और निर्णय हुए।"[1] इसीलिये स्विस लोग सघीय राजनीतिक सस्थाओ को उतना महत्त्व नही देते जितना कि कैण्टनो और नगर सस्थाओ की राजनीतिक सस्थाओं को देते हैं। सत्य तो यह है कि उस समय तक स्विस राजनीति समझी नही जा सकती जब तक कि स्विट्जरलैंड की स्थानीय सस्थाओ को न समझ लिया जाय।

कैण्टनो की सविधानिक स्थिति (Constitutional position of the Cantons)—बाईस कैण्टनें अथवा यूं कहिये कि पच्चीस कैण्टनें—क्योंकि तीन कैण्टनो को अर्द्ध कैण्टनो मे विभाजित कर दिया गया था और उन सभी अर्द्ध कैण्टनो की अपनी-अपनी सरकारें हैं—जनसख्या और क्षेत्रफल के अनुसार पूर्णतया असमान हैं। कैण्टनो के अधिकार और उनकी शक्तियाँ प्राय. अमेरिका के राज्यो के समान हैं और आस्ट्रेलिया के सघीय राष्ट्रमण्डल के भी समान हैं। स्विस सविधान का अनुच्छेद ३ स्पष्टत आदेश देता है कि समस्त अवशिष्ट शक्तियाँ कैण्टनो को समर्पित की जाती हैं, और यह भी कहा गया है कि कैण्टन अपने-अपने अधिकार क्षेत्र मे प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य हैं। प्रत्येक कैण्टन का अपना अलग सविधान है और अपना अलग शासन तन्त्र है और अपनी-अपनी अलग-अलग कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्याय-व्यवस्था है और अपनी-अपनी राज्य-कोष व्यवस्था है और सिविल सेवा निकाय है। स्विट्जरलैंड मे कैण्टनें ही स्थानीय स्वशासन सस्थाओ का नियन्त्रण करती है।

पच्चीस कैण्टनो और अर्द्ध कैण्टनो के सविधान आवश्यकतः सघीय सविधान के उपबन्धो के अनुकूल ही हैं। परिसघ (Confederation) ने कैण्टनो के सविधानो की गारटी की है किन्तु शर्त यह है कि—

(क) कैण्टन के सविधान का कोई उपबन्ध सघीय सविधान के किसी उपबन्ध के विरुद्ध न पड़ता हो,

(ख) कैण्टनो के सविधान को प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणाली के अनुरूप सभी को राजनीतिक अधिकार प्रदान करने होंगे; और

(ग) कैण्टनो के सविधान वहाँ की जनता को स्वीकार्य हो और यदि कभी उस प्रदेश की जनता का बहुमत उक्त सविधान मे कोई सशोधन करना चाहे तो उसके सशोधन के लिए आवश्यक कदम उठाना होगा। इन तीन मर्यादाओ के अन्तर्गत कैण्टन अपने-अपने सविधान बना सकते हैं और जब चाहें उनमे सशोधन किया जा सकता है।

---

[1] The Government of Switzerland, op. citd, p 31.

प्रारम्भ मे कैण्टनो के सविधानो के वार-बार सशोधन हुए, और कई सविधानो का तो पूर्ण सशोधन करना पड़ा था। इन सशोधनो का फल यह हुआ है कि अब प्राय प्रत्येक कैण्टन मे समान राजनीतिक सस्थाएँ हैं और समान राजनीतिक अधिकार हैं, हाँ, चार अर्द्ध कैण्टनो मे और एक कैण्टन मे, इस प्रकार पाँच एकको मे प्रजातन्त्र का स्वच्छ स्वरूप (Pure Democracy) है।

दो प्रकार के कैण्टन (Two types of Cantons)—कैण्टन दो प्रकार के हैं। निम्न पाँच कैण्टन, प्रजातन्त्र के स्वच्छ स्वरूप हैं—ओबवाल्डेन (Obwalden), निडवाल्डेन (Nidwalden), आन्तरिक एपेन्ज़िल (Appanzell Interior), एपेन्ज़िल वाह्य (Appanzell Exterior), और ग्लैरस (Glarus)। प्रथम दोनो अर्द्ध कैण्टनें हैं और वे दोनो मिलकर अन्टरवाल्डेन (Unterwalden), कैण्टन का निर्माण करती है। तृतीय और चतुर्थ भी अर्द्ध कैण्टनें हैं और वे दोनो मिलकर एपेन्ज़िल (Appanzell) नाम की कैण्टन का निर्माण करती हैं। ग्लैरस (Glarus) पूर्ण कैण्टन है। अर्द्ध कैण्टन नाम के राज्य की स्थापना और विकास का कारण यह था कि इन कैण्टनो मे आन्तरिक झगडे इस सीमा तक पहुँच चुके थे कि वे सिवाय प्रादेशिक बँटवारे के अन्य किसी भी प्रकार निर्णीत नही हो सके। औबवाल्डेन (Obwalden) और निडवाल्डेन (Nidwalden) दोनो ने अपनी सम्मिलित ससद् अथवा वार्षिक सभा लैण्ड्सजैमीन्ड (Landsgemeinde) को १४३२ मे भग कर दिया। १५९२ मे रिफार्मेशन अथवा धार्मिक आन्दोलन (Reformation) के फलस्वरूप एपेन्ज़िल के भी दो प्रादेशिक टुकडे हो गये और एक अर्द्ध कैण्टन कैथोलिको (Catholics) का रहा और दूसरा प्रोटेस्टेण्टो (Protestants) का। शेष १९ कैण्टनो मे प्रतिनिधिक प्रजातन्त्रीय शासन-प्रणाली का प्रचलन है।

लैण्ड्सजैमीन्ड (Landsgemeinde)—ग्लैरस (Glarus) नाम के कैण्टन और चार अर्द्ध कैण्टनो ने जो एपेन्ज़िल (Appanzell) और अण्टरवाल्डेन (Unterwalden) नाम के कैण्टनो के विभाजन के फलस्वरूप स्थापित हुए हैं, अब भी अपनी सारी राजनीतिक शक्ति अपनी पाँचसौ वर्ष पुरानी नागरिको की उन्मुक्त सभा लैण्ड्सजैमीण्ड (Landsgemeinde) मे स्थापित कर रखी है, जो विधि निर्माण करती है, और अधिशासी एव प्रशासनिक अधिकारियो का चयन करती है। दूसरे शब्दो मे सर्वसाधारण ही अपनी राजनीतिक प्रभुसत्ता का प्रत्यक्ष प्रयोग उन्मुक्त खुली सभा मे स्वय ही, बजाय अपने निर्वाचित प्रतिनिधियो के माध्यम द्वारा, करते हैं।

उन्मुक्त खुली हवा मे होने वाली सभा जिसको लैण्ड्सजैमीण्ड (Landsgemeinde) भी कहते हैं, प्रतिवर्ष रविवार के प्रात काल मे अप्रैल या मई के महीने मे या तो राजधानी के सार्वजनिक मैदान मे या पास के किसी चरागाह मे होती है। सिद्धान्तत सभी वयस्क पुरुष नागरिको की उपस्थिति अनिवार्य होती है किन्तु व्यवहार मे ऐसा नहीं होता। इस सभा का सभापतित्व कैण्टन के शासन का प्रधान करता है और इस सभा का वातावरण एकदम गम्भीर होता है जिसमे प्रार्थनाएँ और

ईश्वर-भक्ति के गीत गाये जाते हैं और कभी-कभी सामूहिक सौगन्धे (Collective Oaths) ली जाती हैं। इस सभा मे न तो विरोध, न उत्तेजना, न किसी प्रकार के भावावेश का प्रदर्शन किया जाता है। सभा की समस्त कार्यवाही सुव्यवस्थित और गौरवपूर्ण होती है, और इस सभा को देखने के लिए प्राय स्विट्जरलैंड के अन्य भागो मे भी अनेको बच्चे आते हैं।

यह सभा (Landsgemeinde) सभासदो के उठे हुए हाथो को गिनकर और उन्ही को मत मानकर कैण्टन के शासन के प्रधान को तथा कार्यपालिका परिषद् के सदस्यो को तथा सघीय राज्य सभा अथवा उच्च सदन (Council of States) के लिए कैण्टन के प्रतिनिधियो को, न्यायाधीशो को तथा अन्य अधिकारियो को चुनती है। परम्परा यह है कि वर्तमान पदाधिकारी जब तक चाहें अपने-अपने पदो के लिये दुबारा चुन लिये जाते हैं। यही सभा, लेखा अथवा खाता को एव आयव्ययक (Budget) को स्वीकृति प्रदान करती है, साथ ही उन विधेयको पर भी विचार करती है जो इसके सामने उपस्थित किये गये हो। इस सभा को कैण्टन के सविधान मे भी परिवर्तन करने का अधिकार है।

कैण्टन के सविधानिक ढाँचे मे एक ससद् जिसको लैण्ड्रैट (Landrat) अथवा कैण्टन की परिषद् भी कह सकते हैं, होती है और एक कार्यपालिका, रीगेरुग्राट (Regierungsrat) अथवा कार्यकारिणी परिषद् (Council of State) भी होती है। ससद् अथवा लैण्ड्रैट (Landrat) चार वर्ष के लिए उन्मुक्त वार्षिक सभा (Landsgemeinde) के द्वारा नही चुनी जाती, अपितु अन्य निर्वाचकमण्डलो द्वारा चुनी जाती है। यह कैण्टन की परिषद् (Landrat) वास्तव मे सहायक विधान सभा है और इसके सामने वे सब मामले आते हैं जो उन्मुक्त सभा (Landsgemeinde) के सामने नही लाये जा सकते। साथ ही इसी के द्वारा अध्यादेश (Ordinances) पास किये जाते हैं, छोटे विनियोग स्वीकृत किये जाते हैं, यही सभा लेखा-परीक्षण करती है। अन्यान्य छोटे-मोटे अधिकारी भी यही चुनती है। यही कैण्टन की परिषद् (Landrat) विधान निर्माण के सम्बन्ध मे पूरी तैयारी करती है और उसको उन्मुक्त सभा (Landsgemeinde) के सम्मुख उपस्थित करती है। यह कार्य-प्रणाली इसलिए अपनायी जाती है कि कही उन्मुक्त सभा जल्दी-जल्दी मे गलत निर्णय न कर जाय। एक बार तो कैण्टन की परिषद् (Landrat) ने यह प्रयत्न किया था कि व्यवस्थापन सम्बन्धी सारे विधान-कार्य और अधिकार अपने हाथो मे ले ले और उन्मुक्त सभा (Landsgemeinde) के समक्ष कोई भी विधान सम्बन्धी प्रश्न उसकी आज्ञा के बिना न जाने पाये। किन्तु पर्याप्त सघर्ष के बाद ही सर्वसाधारण अपने व्यक्तिगत आरम्भक (Initiative) अधिकार की रक्षा कर सके थे। अब यह निश्चित सा बन गया है कि एक या दो नागरिक भी कोई विधेयक उपस्थित कर सकते हैं बशर्ते कि कैण्टन के अधिकारियों को इस सम्बन्ध मे पूर्व सूचना दी जा चुकी हो।

रीगेरुग्राट (*The Regierungsrat*) अथवा कार्यकारिणी परिषद् (*Admi-*

istrative Council or Council of State) मे सात सदस्य होते है जिनको उन्मुक्त हासभा (Landsgemeinde) चुनकर भेजती है। यही कैण्टन की कार्यकारिणी रिषद् (Executive Council) है, और इस परिषद् का प्रधान लैण्डामान Landamman) अथवा शासन का अध्यक्ष (Head of the Government) होता । इस परिषद् का प्रधान, लैण्डामान (Landamman) ही उन्मुक्त महासभा Landsgemeinde) का भी सभापतित्व करता है।

प्रतिनिधि कैण्टन
(Representative Cantons)

अन्य सभी कैण्टनो मे गणतन्त्रीय प्रतिनिधि शासन-प्रणाली का शासन चलित है।

वृहत् परिषद् (The Great Council)—समस्त व्यवस्थापन सम्बन्धी एव शासन के निरीक्षण सम्वन्धी अधिकार कैण्टन की एकल सदनात्मक (Unicameral) तिनिधिक वृहत् परिषद् को सौंपे गये हैं जिसको कैण्टन की वृहत् परिषद् (Great Council) अथवा कैण्टन की परिषद् (Cantonal Council) भी कहते हैं। सभी कैण्टनो के विधानमण्डल परम्परानुसार एकल सदनात्मक ही हैं। क्योकि आरम्भक (Initiative) और जनमत-सग्रह (Referendum) ये दो ऐसे साधन अथवा उपकरण हैं जिनके द्वारा सर्वसाधारण का व्यवस्थापन के ऊपर प्रत्यक्ष प्रभाव पडता है, इसलिये व्यवस्थापन के ऊपर द्वितीय सदन द्वारा परीक्षण (Check) और निरीक्षण की आवश्यकता नही समझी गई।

कैण्टनो के विधानमण्डलो की सदस्य-सख्या कैण्टनो की जनसख्या की अपेक्षा अत्यधिक है। कुछ कैण्टनो मे विधानमण्डलो के सदस्यो की सख्या सविधान ने निश्चित कर दी है। उदाहरणत ज्यूरिच (Zurich) का सविधान अपने विधानमण्डल मे १८० सदस्यो का उपबन्ध करता है। साधारणत किसी कैण्टन की जनसख्या और उसके विधानमण्डल मे निर्वाचित सदस्यो की सख्या के अनुपात मे पर्याप्त अन्तर है, कही तो २५० निवासियो पर एक सदस्य चुना जाता है और कही ४,००० निवासियो पर एक सदस्य चुना जाता है। विधान सभाओ के सदस्यो की पदावधि मे भी भेद है। अधिकतर कैण्टनो मे यह पदावधि चार वर्ष है किन्तु कुछ कैण्टनो मे यह अवधि एक वर्ष से लगाकर छ वर्षों तक है। किन्तु कैण्टनो मे व्यवस्थापिका का जीवन-काल प्राय लम्बा रखने की ओर लोगो का अधिक झुकाव है क्योकि स्विस लोग जल्दी-जल्दी चुनाव करना उचित नही समझते। स्विस कैण्टन के विधानमण्डल मे आवश्यकत एक वार्षिक अधिवेशन अवश्य होना चाहिए जिसमे आयव्ययक (Budget) पास किया जा सके। कुछ कैण्टनो मे ऐसी भी प्रथा है कि सार्वजनिक बहुमत पर कैण्टनो के विधानमण्डल को भग किया जा सकता है। किन्तु अब जब से सभी कैण्टनो मे जनमत-सग्रह (Referendum) की प्रथा चालू हो गई है, अब अन्य किसी प्रकार से विधानमण्डल को भग करने की आवश्यकता नहीं रह गई है। कैण्टनो मे व्यवस्थापको (Legislators) को निश्चित

वेतन नही मिलता किन्तु नाममात्र को थोडासा भत्ता प्रतिदिन के हिसाब से मिलता है।

कैण्टनो की शक्तियो और अधिकारो मे निम्न विषय आते है—कैण्टन के प्रशासन का नियन्त्रण और पर्यवेक्षण, वार्षिक आयव्ययक (annual budget) कर्ज और करारोपण के ऊपर नियन्त्रण, आपात् काल की घोषणा करने का अधिकार, और आवश्यकता आ पडने पर कैण्टन की सेनाओ का आह्वान, क्षमादान, अन्त कैण्टन सन्धियो (Inter-Cantonal treaties) का अनुसमर्थन, देशीयकरण, अधिकतर कैण्टनो मे प्रमुख न्यायाधीशो की नियुक्ति और ऐसे अन्य अधिकारियो की नियुक्ति जिनको शिक्षा, चर्च सम्बन्धी कर्तव्यो और बैंक व्यवस्था का प्रभार सौंपा गया हो।

जनमत-सग्रह और आरम्भक (Referendum and Initiative)—प्रत्येक प्रतिनिधिक कैण्टन ने सविधानिक आरम्भक और अनिवार्य सविधानिक जनमत-सग्रह की व्यवस्था की है। इसका यह अर्थ है कि सघीय सविधान की आज्ञा से प्रत्येक कैण्टन के लिये यह आवश्यक है कि यदि सविधान मे कोई सशोधन या परिवर्तन अभीष्ट है तो उस सशोधन के लिये सर्वसाधारण की अनुमति अनिवार्य होगी।[1] सविधान मे उस स्थिति मे भी सशोधन हो सकता है, यदि कभी नागरिको का पूर्ण बहुमत तदर्थ मांग करे।[2] किन्तु सभी कैण्टन सविधान के उपबन्धो से भी आगे बढ जाते हैं और वे व्यवस्थापन सम्बन्धी जनमत-सग्रह भी करते हैं और कुछ अन्य प्रयोग भी करते हैं जो प्रत्येक कैण्टन मे भिन्न प्रकार के हैं जैसे आयव्ययक सम्बन्धी जनमत-सग्रह (Budget referendum), अथवा ऐसी विधियो के लिए अनिवार्य जनमत-सग्रह जिनके द्वारा कुछ निश्चित राशि से अधिक का व्यय हो सकता है। सामान्य विधेयको के सम्बन्ध मे आरम्भक (Initiative) की भी प्रथा है। इन लोकप्रिय उपकरणो के प्रयोग का फल यह है कि नागरिको को एक वर्ष मे चार बार, कभी आठ बार और कभी इससे भी अधिक बार मतदान करना पडता है और हर बार नागरिको को कई-कई विषयो पर मतदान करना पडता है।

कैण्टन की कार्यपालिका शक्ति (Cantonal Executive power)—प्रत्येक कैण्टन का शासन एक सामूहिक कार्यपालिका (Collegial executive body) द्वारा होता है जिसको स्विट्जरलैण्ड के जर्मन भाषा-भाषी क्षेत्र मे गवर्नमेंट कौंसिल (Government Council) कहते हैं और फ्रेंच भाषा-भाषी क्षेत्र मे कौंसिल आफ स्टेट (Council of State) कहते है। कार्यपालिका की सामूहिक पद्धति स्विस परम्पराओ के अनुकूल है और समस्त स्विट्जरलैण्ड मे, कैण्टनो मे और सघ मे भी यही प्रचलन है। इन गवर्नमेंट कौंसिल अथवा कौंसिल आफ स्टेट मे ५ से लेकर ११ तक सदस्य होते हैं और इनमे कैण्टन के सभी दलो के प्रतिनिधि प्राय सम्मिलित होते है। कभी-कभी स्वतन्त्रतापूर्वक सभी दलो को आनुपातिक प्रतिनिधित्व दिया जाता है। मोटे तौर

---

[1] Article 6

[2] Ibid Article 6

पर कहा जा सकता है कि कैण्टन की कार्यपालिका एक प्रकार की कामचलाऊ सभा (Business board) है जो राजनीतिक उद्देश्यो से प्रेरित नही होती । इस कार्यपालिका के सदस्य एक वर्ष से लेकर पाँच वर्ष तक के लिए चुने जाते हैं , किन्तु अधिकतर कैण्टनो मे इसका कार्य-काल चार वर्ष है ।

कार्यकारिणी परिषद् का चेयरमैन अथवा लैण्डामान (Landamman) प्राय कभी भी एक वर्ष से अधिक के लिए नही चुना जाता, और उसकी एक वर्ष की पदावधि समाप्त हो जाने पर वह तुरन्त ही पुन नही चुना जा सकता । कुछ कैण्टनो मे चेयरमैनो का चुनाव कैण्टनो के विधानमण्डलो द्वारा किया जाता है, किन्तु कुछ कैण्टनो मे चेयरमैन को कार्यकारिणी परिषद् (The Regierungsrat) के सदस्य भी चुनते हैं और शेष कैण्टनो मे सर्वसाधारण ही चुनते हैं। किन्तु चेयरमैन को कोई विशेष अधिकार प्राप्त नही हैं। सत्य यह है कि चेयरमैन भी कार्यकारिणी के अन्य सदस्यो की ही भाँति एक सदस्य होता है।

कार्यकारिणी परिषद् के पारिषद् (Councillors) प्राय दुबारा चुन लिये जाते हैं और स्विस परम्परा यह है कि अच्छे अधिकारियो को उस समय तक अपने पदो से नही हटने देना चाहिए जब तक कि उनका स्वास्थ्य ठीक रहे और उनमे काम करने का जोश रहे। इसीलिए यद्यपि पारिषदो की पदावधि अल्पकालिक होती है, फिर भी इस पद को आजीवन पद समझा जाता है। कैण्टनो के पारिषदो का काम भी लगभग उसी प्रकार का है जिस प्रकार का कि सघीय पारिषदो (Federal Councillors) का। सभी पारिषदो मे विभिन्न विभाग वितरित कर दिये जाते हैं, और प्राय प्रत्येक पारिषद् एक विभाग का अध्यक्ष होता है। इन पारिषदो को कैण्टन के विधानमण्डलो मे उपस्थित होना पडता है, और कैण्टन के प्रशासन के सम्बन्ध मे प्रतिवेदन करना पडता है, वाद-विवाद मे भी भाग लेना पडता है, आवश्यक विधेयको का प्रस्ताव करना पडता है और जब विधानमण्डल इस दिशा मे आज्ञा दे तो विधेयक का प्रारूप भी इन्ही को तैयार करना पडता है। वे भी सघीय पारिषदो की तरह उस स्थिति मे त्याग-पत्र नही देते यदि उनके किसी प्रस्ताव को विधानमण्डल अस्वीकृत कर देता है।

इसमे सन्देह नही कि कैण्टन की कार्यकारिणी परिषद् कैण्टन के विधानमण्डल के अधीन है, फिर भी यह मानना पडेगा कि पारिषदो को अपनी स्थिति और योग्यता के कारण कैण्टन की बृहत् परिषद् (Great or Cantonal Council) मे आदर की दृष्टि मे देखा जाता है। कार्यकारिणी परिषद् को अपने लम्बे अनुभव और पद के स्थायित्व के कारण ऐसी शक्ति और अधिकार प्राप्त हो जाता है, जिसके कारण कार्यकारिणी परिषद्, कैण्टन के विधानमण्डल को आवश्यक दिशा प्रदान करती है।

नगर और ज़िले
(Communes and Districts)

नगर (The Communes)—आजकल स्विट्ज़रलैण्ड मे ३,११८ नगर अथवा कम्यून है जो क्षेत्रफल और जनसंख्या के हिसाब मे एक-दूसरे से भिन्न है। इन कम्यूनो

को, उन मर्यादाओ के अन्दर जो कैण्टनो के सविधानो ने लगाई हो, अथवा कैण्टनो की सविधियो (Statutory Laws) ने लगाई हो, स्वशासन का अधिकार है। उन शक्तियो और अधिकारो के प्रयोग मे, जो इन कम्यूनो को सौपे गये है—जैसे शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, निर्धनो को साहाय्य (Poor relief), जल-व्यवस्था, पुलिस आदि। कम्यूनो (Communes) को इतनी ही स्वायतता प्राप्त है और उनके प्रशासन का ढाँचा भी उसी प्रकार का है जिस प्रकार का कि कैण्टनो का है। किसी कम्यून की समस्त वयस्क पुरुष नागरिको की नगरपालिका (Assembly) मे समस्त स्थानीय मामलो की देख-भाल और सभी मामलो मे सम्बन्धित निर्णय और कम्यून के मुख्य अधिकारियो की नियुक्ति आदि से सम्बन्धित अधिकार निहित रहते है। नैत्यिक प्रशासनिक कार्यवाही के लिए और कम्यून के नियमो को क्रियाकारी करने के लिए सभी कम्यून-निवासी एक नगर परिषद (Council) का चुनाव करते है। स्विट्जरलैण्ड के फ्रेंच भाषा-भाषी क्षेत्र मे और विशेषकर बडे-बडे कम्यूनो मे सभी नागरिको की सभा अपना कार्य सीधे स्वय नही करती। इसके विपरीत समस्त नागरिको की सभा कम्यून- या नगर परिषद् चुन लेती है और ये नगर-परिषदें ही नगर के नागरिको की बडी सभा की ओर से सारे काम-काज चलाती है। इसलिए फ्रास के कम्यूनो या नगरो मे दो परिषदें होती है जिनमे एक बडी होती है जो सामान्य नीति निर्धारित करती है और सभी महत्वपूर्ण मामलो का निपटारा करती है। द्वितीय परिषद् जो कुछ छोटी कार्यकारिणी परिषद् या समिति होती है और जिसका अध्यक्ष मेयर (Mayor) होता है उसको कम्यून के नियमो और विधियो की क्रियान्विति के सम्बन्ध मे उत्तरदायित्वो का निर्वहन करना पडता है। कम्यून की बडी परिषद् को हम नगर ससद् (Municipal Parliament) भी कह सकते है और इसके निर्णय प्राय. जनमत-सग्रह के द्वारा भी किये जाते है।

जिले (The Districts)—कैण्टन और कम्यून के अन्तर्वर्ती एक राजनीतिक सस्था और है जिसे जिला (District) कहते है। किन्तु कुछ स्थानो को छोडकर जिलो मे प्राय राजनीतिक सस्थाएँ इस रूप मे विकसित नही हुई है जिस प्रकार कि कम्यूनो मे है। जिला तो केवल एक प्रशासनिक इकाई मात्र है। जिले के मुख्य अधिकारी का चुनाव सर्वसाधारण के द्वारा किया जाता है और कुछ स्थानो मे जिले के मुख्य अधिकारी की सहायता के लिए एक जिला परिषद् होती है जिसका काम मन्त्रणा देना है। जिले का मुख्य अधिकारी, जिले मे, कैण्टन के शासन का प्रतिनिधि है और वह अपने अधीनस्थ कर्मचारियो की सहायता से कैण्टन के शासन की आज्ञाओ की क्रियान्विति कराता है और विधियो का पालन कराता है और यही एक प्रकार से कैण्टन और कम्यून के बीच की कडी है जो कैण्टन और कम्यून को जोडता है।

स्विट्जरलैण्ड के स्थानीय स्वशासन मे कतिपय ऐसी विशेषताएँ है जो अन्यत्र देखने को नही मिलती। प्रत्येक स्विस नागरिक के लिए यह आवश्यक है कि वह पहले किसी कम्यून की नागरिकता प्राप्त करे तभी वह कैण्टन की नागरिकता प्राप्त कर

सकता है और उसके बाद स्विट्ज़रलैण्ड की नागरिकता प्राप्त कर सकता है । किसी भी विदेशी का स्विट्ज़रलैण्ड मे देशीयकरण उस समय तक नही हो सकता जब तक कि कोई कम्यून उसको अपना नागरिक बनाना स्वीकार न कर ले । द्वितीयत प्रत्येक नागरिक की जन्म-कम्यून (Home Commune) ही उसके लिए और उसके परिवार के लिए उत्तरदायी है । "सघीय सविधान मान लेता है कि यदि कोई परिवार पूर्ण रूप से दरिद्र और निर्धन हो जाय तो उस परिवार का जन्म-कम्यून (Home Commune) उस परिवार का पोषण करेगा, चाहे वह परिवार कही भी रहता हो, यद्यपि उसका जन्म-कम्यून (Home Commune) उस परिवार को आदेश दे सकता है कि वह अपने राजनीतिक घर को लौट आवे ।"[1] इसके अतिरिक्त प्रत्येक कम्यून की अपनी अलग जागीर (Estate) होती है जो उस जागीर अथवा सपत्ति से भिन्न होती है जिसको सभी नागरिक कर देते हैं । इस जागीर (Estate) का प्रबन्ध कम्यून के सदस्य करते है न कि कम्यून के निवासी । विधि के अनुसार एक तो स्थानीय कम्यून होती है जिसमे प्रत्येक नागरिक को वोट के समान अधिकार होते हैं और उस स्थानीय कम्यून मे बसने के तीन मास पश्चात् उसको कर देना आवश्यक हो जाता है, और दूसरी उस नागरिक की जन्म-कम्यून (Commune of origin, or Home Commune) होती है ।[2] इसके अतिरिक्त अनेको मुख्य नगरपालिकाएँ (More important municipalities) बहुत से आर्थिक कार्य-क्रम अपने हाथों मे ले लेती हैं जिसको समाजवादी प्रवृत्ति कहा जा सकता है । स्विट्ज़रलैण्ड मे इस प्रकार के नागरिक समाजवाद का विकास, अब स्विट्ज़रलैण्ड के राजनीतिक जीवन का एक आवश्यक अग बन गया है, यद्यपि देश मे कोई भी ऐसी समाजवादी सस्था या समाजवादी दल (Socialist party) नही है जिसने अपना विशिष्ट स्थान देश की राजनीति में बनाया हो ।

स्विटजरलैण्ड के स्थानीय स्वशासन की महत्ता और उसके स्वरूप की समीक्षा करते हुए लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने कहा था, "कम्यून (Commune), स्विट्ज़रलैण्ड के प्रशासनिक भवन का न केवल आधार है, बल्कि सर्वसाधारण ने कम्यूनो के प्रशासनिक व्यवहार मे जो शिक्षा प्राप्त की है, वही स्विस लोगो की उस सारी सफलता का कारण है जो उन लोगो ने अपनी लोकतन्त्रीय सस्थाओ को चलाने मे प्राप्त की है । यूरोप के किसी भी देश मे प्रशासन का समस्त उत्तरदायित्व इस सीमा तक सर्वसाधारण के हाथो मे नही छोड दिया गया है । स्वय स्विस लोग इस पर बल देते हैं, क्योकि वे समझते है कि इस प्रशासन के द्वारा नागरिको को सार्वजनिक कर्त्तव्यो का ज्ञान होगा, उनमे नागरिक कर्त्तव्यो की भावना का उदय होगा और

---

[1] Rappard, W E The Government of Switzerland, op, citd, p 53

[2] Ibid.

स्थानीय स्वशासन के द्वारा शासन जो कुछ भी करेगा उससे समस्त जाति का लाभ होगा और इससे न तो स्थानीय हितों को कोई हानि हो सकती है, न केन्द्रीय शासन को इस प्रकार का अवसर मिलेगा कि वह केन्द्रीय अधिकारों का बहुत सख्ती से प्रयोग करे अथवा केन्द्रीय सत्ता एककों के ऊपर अनुचित रूप से छा जाय।"[1]

---

[1] *Modern Democracies*, Vol I, p. 375.

अध्याय ४

स्विस संघीय शासन का स्वरूप

(The Frame of National Government)

सघीय कार्यपालिका

(The Federal Executive)

कार्यपालिका का सगठन (Organisation of the Executive)—स्विट्जरलैंड के परिसघ की सर्वोच्च कार्यपालिका शक्ति और समस्त देश के शासन-सचालन का प्रभार एक सात सदस्यो के निकाय (Commission) मे निहित है जिसको सघीय परिपद् (Bundesrat, or Federal Council) कहते हैं और जो बर्न (Berne) मे अवस्थित है। इस सात सदस्यो वाली सघीय परिपद् को सघीय ससद् (Federal Assembly) चुनती है। सघीय ससद् दो सदनो की ससद् है जिसके दोनो सदन राष्ट्रीय परिपद् (National Council) और राज्य-सभा (Council of States) हैं। सघीय परिपद् (Federal Council) का कोई भी एक सदस्य राष्ट्रीय परिषद् द्वारा चुना जाता है जो सघीय परिपद् का चेयरमैन होता है और वही सघ अथवा परिसघ का प्रधान होता है और दूसरा सघीय पारिपद् उपप्रधान चुन लिया जाता है।

सघीय परिपद् का कार्य-काल उतना ही होता है जितना कि राष्ट्रीय परिपद् (National Council) का, क्योकि सघीय परिपद् प्रत्येक नई राष्ट्रीय परिपद् के प्रारम्भ मे चुनी जाती है, और प्रत्येक आम चुनाव के बाद फिर नये सिरे से चुनी जाती है। सामान्यत चार वर्ष की पदावधि मे यदि सघीय परिपद् मे कोई स्थान रिक्त हो जावे, तो राष्ट्रीय परिपद् की अगली बैठक मे वह रिक्त स्थान पदावधि के शेप समय के लिये भर लिया जाता है। यद्यपि सविवान की ऐसी आज्ञा नही है, फिर भी सघीय पारिपद् (Federal Councillors) प्राय सदैव सघीय ससद् (Federal Assembly) के सदस्य होते हैं। जब सघीय ससद् के कोई सदस्य सघीय परिपद् मे चुनकर चले जाते हैं, उस समय उनको ससद् की सदस्यता त्यागनी पडती है। सविधान का उपबन्ध है कि "सघीय परिपद् मे एक कैण्टन से एक से अधिक सदस्य[1] नहीं होने चाहियें।" इसके विपरीत परम्परा यह है कि बर्न (Berne), ज्यूरिच (Zurich), और वौड (Vaud) नाम के तीनो कैण्टनो मे एक-एक पारिपद् अवश्य लिया जाय। किन्तु यह परम्परा १८७५ से १८८१ के काल मे और पुन १९४८ से १९४७ तक के काल मे टूट गई। अब ऐसी सामान्य व्यवस्था हो गई है कि सघीय परिपद् मे चार जर्मन भाषा-भाषी

---

[1] Article 96

पारिषद् हो, दो पारिषद् फ्रेंच भाषा-भाषी हों, और एक पारिषद्, टिसिनो नाम के इटालियन भाषा-भाषी कैण्टन से लिया जाय। इस प्रकार की पारिषद् वितरण व्यवस्था को लम्बे अनुभव ने उचित ठहराया है क्योंकि इस प्रकार सभी भाषाओं को और दोनों धर्मों को संघीय परिषद् में उचित और न्याय्य प्रतिनिधित्व मिल जाता है।

संघीय परिषद् में दलगत निष्ठा का अभाव (Federal Council, not a Partisan body)—लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) कहता है "संघीय परिषद् दलों से परे है, इसका चुनाव किसी पार्टी के द्वारा पार्टी अथवा दल के कार्यक्रम को पूरा करने के लिये नहीं किया जाता, न परिषद् किसी दल की नीति का निर्धारण करती है, फिर भी वह दलगत निष्ठा से पूरी तरह रहित नहीं है।"[1] संघीय पारिषद् न तो संसद् के बहुमत दल में से चुने जाते हैं जिस प्रकार कि इंगलैंड में और न वे विभिन्न दलों अथवा समुदायों के नेता हैं जिस प्रकार कि फ्रांस में विभिन्न दलों के नेता मिलकर मिली-जुली सरकार का निर्माण करते हैं। स्विट्जरलैंड में संघीय परिषद्, राजनीतिज्ञों का एक बेमेल अथवा विजातीय (Heterogeneous) समुदाय है जिसके सदस्य चार विभिन्न दलों में से सफल प्रशासनिक गुणों के आधार पर चुने जाते हैं। स्विट्जरलैंड की कार्यपालिका में न तो श्रेष्ठ वक्ताओं की आवश्यकता है और न श्रेष्ठ युद्ध विद्या विशारदों और युक्तिकुशल व्यक्तियों की। यहाँ तो प्रशासनिक योग्यता, श्रेष्ठ मानसिक शक्ति, बुद्धिचैतन्य, व्यवहारकुशलता, शान्त स्वभाव आदि गुणों की आवश्यकता है जिनके बल पर कोई व्यक्ति स्विस संघीय परिषद् का पारिषद् बनाया जा सकता है। प्रोफेसर डायसी (Prof Dicey) के अनुसार स्विस शासन संस्थाओं के सम्बन्ध में दो मुख्य बातें समझना आवश्यक है। प्रथम यह है कि राष्ट्र के सभी नागरिकों को प्रभुसत्ताधारी माना जाता है और दूसरी बात यह है कि स्विस लोग राजनीति को भी व्यक्तिगत व्यापार के समान ही समझते हैं अतः इस द्वितीय आधार पर स्विस लोग अपने प्रशासक छाँटते हैं और अपने शासन में योग्य प्रशासक ही रखते हैं।[2]

इसके अतिरिक्त संघीय परिषद् शासन की स्वतन्त्र अथवा समान शक्ति वाली संस्था नहीं है। यह तो मुख्य रूप से एक कार्यकारी निकाय (Business body) है, और संघीय संसद् के अधीन है। संघीय परिषद् न तो शासन की नीति निर्धारित करती है और न नियन्त्रित करती है। इसका कर्तव्य तो प्रशासन को नियन्त्रित और संचालित करना है और यह कतिपय विधायक कार्य भी करती है और व्यवस्थापन सम्बन्धी मन्त्रणा प्रदान करती है। नीति निर्धारित करना संघीय संसद् का काम है और संघीय पारिषद् (Federal Councillors) तो संसद् के आज्ञाकारी [illegible] मात्र हैं। सच तो यह है कि संघीय परिषद् नीति निर्माण और नीति [illegible] संसद् के अनुसार है और इसीलिये यह सम्भव नहीं है कि पारिषद् किसी एक दल से अथवा किसी दल

---

1. Modern Democracies, Vol I, page 394.
2. Dicey, Law of the Constitution (9th Edition), p [illegible]-9.

सिद्धान्त के दृढानुग्रही हो। यदि सघीय परिषद् के सदस्यो मे आपस मे कोई मतभेद होते है, तो वे आपसी समझौता भावना के अनुसार तय हो जाते हैं क्योकि स्विट्ज़रलैंड का सामान्य जनमत यह आशा करता है कि प्रत्येक व्यक्ति को सार्वजनीन भलाई के लिये अपने व्यक्तित्व को भूल जाना चाहिये। लावेल (Lowell) ने ठीक ही कहा था कि "सघीय परिषद् का प्रभाव अधिकतर इस कारण है कि सभी को इसकी निष्पक्षता पर पूर्ण विश्वास है और इसीलिये उस हर एक बात से इसकी शक्ति और इसके प्रभाव को बल मिलता है जो सघीय परिषद् के निर्दलीय स्वरूप को स्थायी और दृढ आधार प्रदान करे"।[1]

सघीय पारिषदो का लम्बा कार्य-काल (Lengthy tenure of Federal Councillors)—ऊपर जो कुछ कहा गया है, उसका फल यह है कि स्विस सघीय परिषद् अपने स्थायित्व की दृष्टि से अपूर्व निकाय है। यह तो वास्तव मे एक स्थायी-सा निकाय है यद्यपि प्रति चार वर्ष बाद इसका नया चुनाव होता है। इसके पुराने सदस्य चाहे तो वे प्राय सदैव पुनर्निर्वाचित हो जाते हैं। यदि किसी कारणवश राष्ट्रीय परिषद् (National Council) अपने सामान्य चार वर्ष के कार्यकाल के पहले ही भग कर दी जाती है तो नयी ससद् (Federal Assembly) के निर्वाचित हो जाने के पश्चात् उसका प्रथम कार्य यह होता है कि वह नयी सघीय परिषद् का चुनाव करे और व्यवहार यह है कि वही पुराने पारिषद् ही पुन चुन लिये जाते हैं चाहे राष्ट्रीय परिषद् के गठन मे परिवर्तन भी हो गया हो। सघीय परिषद् का अराजनीतिक स्वरूप और यह तथ्य भी कि सघीय पारिषदो को हटाया नही जा सकता, सघीय पारिषदो की लम्बी पदावधि की दिशा मे सहायक कारण हैं। सामान्यत सघीय पारिषदो का औसत कार्यकाल दस वर्ष से अधिक है किन्तु सिन्योर गिसेप मोटा (Signor Guiseppe Motta) जैसे कई पारिषद् हो चुके हैं जिन्होने पर्याप्त लम्बे काल तक सघीय परिषद् की सदस्यता भोगी। स्वय मोटा (Motta) महोदय टिसिनो नाम के कैण्टन से चुने गये थे और १९११-१९४० तक सघीय परिषद् के सदस्य बने रहे। आधुनिक पारिषदो मे से डा० फिलिप एटर (Dr Phillipe Etter) तेईस वर्ष, डा० कार्ल कोबलेट (Dr Karl Koblet) चौदह वर्ष, डा० मैक्स पेटिट पीयर (Dr Max Petit Pirre) १० वर्ष और डा० रोडोल्फ रुबाटल (Dr Rodolphe Rubattal) आठ वर्ष से सघीय परिषद् मे कार्य कर रहे हैं।[2]

---

[1] Government and Parties in Continental Europe, op citd, Vol II, p 202-3

[2] डा० जोसेफ़ एस्चर (Dr Joseph Escher), डा० एनारिको सीलियो (Dr Enrico Celio) के स्थान पर १९५० मे रोम मे स्विस आयुक्त के अपने पद पर आया। हर वॉन स्टीगर (Herr Von Steiger) और हर नॉब्स (Herr Nobs) अपनी वृद्धावस्था के कारण अपने पदों मे हट थे और उनके स्थानों पर डा० एम० फ़ील्डमान (Dr M Fieldmann) और प्रोफेसर एम० वबर (Prof. M Weber) १३ दिसम्बर १९५१ को नियुक्त किये गए।

इन लम्बी पदावधि के दो मुख्य कारण हैं। एक तो यह है कि स्विस लोग इस बात को अत्यधिक अनुचित समझते हैं कि मतभेद के कारण किसी योग्य और सफल प्रशासक की सेवाओं से वंचित रहा जाय। डा० डायसी (Dr. Dicey) स्विट्जरलैंड की संघीय परिषद् की संयुक्त-स्कन्ध-प्रमण्डल के संचालकगण (Board of Directors of a Joint Stock Company) से तुलना करता है और कहता है कि संघीय परिषद् के सदस्यों में परिवर्तन करने की उस समय तक आवश्यकता नहीं है जब तक कि वे लोग कुशलतापूर्वक कार्य कर रहे हैं जिस प्रकार कि उक्त प्रमण्डल के संचालकगणों में उस समय तक कोई परिवर्तन अवाञ्छनीय है जब तक कि व्यापार नफे के साथ और उचित रीति से चलता रहता है। द्वितीयत, जब कोई पारिषद् या तो मर जाता है या त्यागपत्र दे देता है, तो उसके स्थान की पूर्ति करने वाले लोगों की संख्या भी अधिक नहीं होती क्योंकि व्यवहारत प्राय बिना किसी अपवाद के पारिषदों का चुनाव संघीय संसद् के सदस्यों में से ही होता है और यह संसद् कोई बहुत बड़ा निकाय नहीं है। इसके अतिरिक्त संविधान की आज्ञा है कि किसी एक ही कैण्टन[1] के दो पारिषद् संघीय परिषद् में, नहीं हो सकते, और प्रथा यह है कि बर्न (Berne), ज्यूरिच (Zurich) और वोड (Vaud) नाम के तीनों कैण्टनों में से एक-एक पारिषद् अवश्य होना चाहिए।

संघीय प्रशासन का संगठन (Organisation of Federal Administration)— समस्त संघीय प्रशासन का कार्य सात विभागों में बँटा हुआ है। ये सात विभाग सात संघीय पारिषदों की संख्या के अनुरूप ही हैं। सात पारिषदों (Councillors) में सातों विभागों का वितरण आपसी समझौते द्वारा हो जाता है। इस प्रकार प्रत्येक पारिषद् एक अलग विभाग का अध्यक्ष होता है और क्योंकि पारिषद् की पदावधि पर्याप्त लम्बी होती है, वह सुविधा और बचत के हिसाब से लगातार एक ही विभाग का अध्यक्ष बना रहता है। हाँ, नाम मात्र को प्रति वर्ष उसका उसी विभाग के लिये नामांकन अवश्य कर दिया जाता है। एक बार शिकायत की गई थी कि विभागों के सम्बन्ध में जल्दी-जल्दी परिवर्तन होता है किन्तु अब इस प्रकार की शिकायत के लिये कोई अवसर नहीं है, अपितु अब यह शिकायत की जाती है कि विभागीय परिवर्तन जल्दी-जल्दी क्यों नहीं किये जाते।

यद्यपि संघीय परिषद् का सारा कार्यभार विभिन्न विभागों में बाँट दिया गया है और इस परिषद् का ही सदस्य प्रति विभाग का अध्यक्ष होता है, फिर भी संविधान की आज्ञा है कि "सभी कार्यपालिका-निर्णय संघीय परिषद् के नाम से और उसी की आज्ञा से किये जायेंगे।"[2] इस उपबन्ध के द्वारा संघीय परिषद् का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। इसके अनुसार परिषद् सम्मिलित रूप से उत्तरदायी निकाय बन जाती है। पुन संविधान आदेश देता है कि 'संघीय परिषद्

---

[1] Article 95

[2] Article 103

उसी समय कोई निर्णय या अन्य कार्यवाही करेगी जब कि उसके कम से कम चार पारिषद् (Councillors) उपस्थित हो ।"[1] सघीय प्रशासन के सम्बन्ध मे १९१४ की विधि मे आदेश दिया गया है कि सघीय परिषद् (Federal Council) के विचार-विनिमय एकान्त मे अथवा असार्वजनिक होंगे, और निर्णय हाथ उठाकर और हाथ गिनकर बहुमत के आधार पर होंगे और निर्णय के पक्ष मे कम-से-कम तीन मत होने चाहिये और उपस्थित पारिषदो का बहुमत, बहुमत वाले पक्ष की ओर होना चाहिये और यह भी उपबन्धित किया गया कि सघीय परिषद् के प्रधान का मत निर्णायक होगा ।[2]

सघीय परिषद् के सम्मिलित उत्तरदायित्व के सम्बन्ध मे आलोचना की गई है और कहा गया है सात सघीय पारिषद् तो हैं किन्तु सच्चे अर्थों मे सघीय परिषद् का अभाव है । यह ठीक है कि चार विभिन्न दलो के सदस्य कठिनता से सम्मिलित नीति निर्धारित कर सकते है । इसके अतिरिक्त पारिषदो के लिये आवश्यक नही है कि वे एक दूसरे का समर्थन करें । उनके लिये यह भी आवश्यक नही है कि वे एक से विचार रखते हैं , और प्राय ऐसे अवसर आए हैं जबकि परिषद् के सदस्यो ने ससद् मे एक दूसरे का उस समय विरोध किया है जब किसी नीति के विषय मे तीक्ष्ण मतभेद हो । इसके अतिरिक्त सभी निर्णय बहुमत के द्वारा होते हैं । फिर भी परिषद् के सदस्य अपने-अपने दलो के सिद्धान्तो पर अधिक हठ नही करते । इसलिये यह सब, कुछ तो स्विस जाति की समझौतावादी आदत के कारण और कुछ बहुमत के प्रति आदर-भाव के कारण निभ जाता है । इसके अतिरिक्ति राष्ट्र के सर्वोच्च पद पर उनका अकेला स्वाम्य और उनके उत्तरदायित्व की महत्ता भी पारिषदो मे ससृष्टि की भावना पैदा करती है । यह ससृष्टि की भावना वास्तविक समझौतो के लिये अत्यन्त आवश्यक है । और फिर सम्मिलित निर्णय की दिशा मे दूसरी आवश्यक शर्त—वाद-विवाद की गोपनीयता—तो सघीय परिषद् के निर्णयो मे रहती ही है ।[3] और सभी परिषद्-सदस्य यह भी तो भली भाँति जानते हैं कि चाहे सो निर्णय करे, किन्तु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नो का अन्तिम निर्णय तो सघीय ससद् (Federal Assembly) ही करेगी ।

राष्ट्रपति या अध्यक्ष (The President)—यह अधिकारी जिसका सविधानिक पद 'परिसघ का राष्ट्रपति अथवा अध्यक्ष' (President of the Confederation) है, सात सघीय पारिषदो मे से एक पारिषद् ही होता है और सघीय ससद् (Federal Assembly) उसको एव उपाध्यक्ष (Vice President) को एक वर्ष के लिये चुन कर नामाकित करती है । स्विस प्रजातन्त्र की यह मान्यता है कि स्विस सघीय परिषद् के सदस्य लोग बारी-बारी मे अध्यक्ष पद के लिये नामाकित किये जायें और इस सम्बन्ध मे सविधान स्पष्टतया उपबन्धित करता है कि अवकाश ग्रहण करने वाला

---

[1] Article 100.

[2] Articles 4, 6 and 7 of the Law of 1914

[3] Hughes, C The Federal Constitution of Switzerland, op citd , p 116-117

वर्ष मे मेहमानो के सम्मान आदि का व्यय कर सके। क्योकि राष्ट्रपति का पद एक नाम मात्र का गौरव प्रदान करता है, इसलिये अक्सर स्विस नागरिक नही जानते कि किसी समय वर्त्तमान राष्ट्रपति कौन है यद्यपि वे सघीय परिषद् के सदस्यो मे से अधिकाश के नाम जान सकते हैं।

यदि स्विट्ज़रलैंड के परिसघ के राष्ट्रपति अथवा प्रधान की ऐसी ही शक्तियाँ हैं, तो फिर अक्सर पूछा जाता है कि राष्ट्रपति के पद की आवश्यकता ही क्या है। इसका उत्तर सहज है। कुछ ऐसे औपचारिक कर्त्तव्य हैं जैसे महाराजाओ अथवा अन्य देशो के आयुक्तो का आदर-सत्कार जिनको सघीय परिषद् के सातो आदमी एक साथ नही कर सकते। इसके अतिरिक्त कुछ औपचारिक राष्ट्रीय कर्त्तव्य हैं जिनको भी करने के लिये किसी एक व्यक्ति की आवश्यकता है। १९१४ के सघीय प्रशासन के सगठन के सम्बन्ध मे जो विधि (Law on the Organization of Federal Administration of 1914) स्वीकृत हुई उसमे राष्ट्रपति के कर्त्तव्यो का उल्लेख है। इस विधि ने राष्ट्रपति को अत्यन्त मर्यादित आपात्कालिक शक्तियाँ प्रदान की है, सामान्य से निरीक्षक अधिकार प्रदान किये हैं और वही समस्त सघीय चासलरी (Federal Chancellery) के लिये उत्तरदायी है। उसी विधि मे यह भी दिया गया है कि राष्ट्रपति ही देश मे और विदेशो मे परिसघ का प्रतिनिधि और अधिवक्ता है। प्रारम्भ मे उस प्रथा के अनुसार जिसको राष्ट्रपतीय विभाग कहते है, परिसघ का राष्ट्रपति ही विदेश विभाग का भी अध्यक्ष होता था। किन्तु राष्ट्रपति के प्रतिवर्ष बदल जाने से विदेश विभाग भी सघीय परिषद् के सदस्यो मे बारी-बारी से घूमता रहता था। इसका फल यह होता था कि प्रशासन सम्बन्धी एक विभाग के सचालन और निर्देशन मे निरन्तरता अथवा अविच्छिन्नता नही थी यद्यपि इसी विभाग अर्थात् परराष्ट्र विभाग मे ही सबसे अधिक निरन्तरता और अविच्छिन्नता की आवश्यकता है। सघीय परिषद्-सदस्य न्यूमर ड्रोज़ (Numar Droz) के प्रभाव से, विदेश विभाग को राष्ट्रपतीय विभाग मे अलग रखने का प्रयत्न किया गया और इसका परीक्षण १८८७ से १८९४ के काल मे किया गया। १९१५-१९१७ तक पुन यह प्रयोग किया गया और १९२० से तो लगातार यह स्वीकार किया गया है। आजकल कोई सघीय पारिषद् (Federal Councillor) उसी विभाग मे अवसर प्राप्त करने के समय तक बना रह सकता है जिसमे सबसे पहले उसकी नियुक्ति हुई थी।

(१) सघीय परिषद् की शक्तियाँ (Powers of the Federal Council)—सविधान के अनुच्छेद १०२ मे सघीय परिषद् की शक्तियो की एक लम्बी सूची दी हुई है जो निम्न है—

सघीय परिषद् (Federal Council) स्विस परिसघ की सर्वोच्च कार्यकारी सत्ता है और वह सघीय विधियो और आज्ञाओ के अनुसार समस्त परिसघ के प्रशासन को निर्देशित करती है।

(२) सघीय परिषद् का यह उत्तरदायित्व है कि परिसघ के सविधान की

आज्ञाओ, विधियो और राजाज्ञाओ और संघीय सन्धियो का यथावत् पालन हो। अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो की क्रियान्विति के लिये संघीय शासन अपने अधिकारियो की नियुक्ति नही करता। ऐसे अधिकारियो की नियुक्ति और ऐसी सन्धियो की क्रियान्विति नियमत कैण्टनो की सरकारे करती है। संघीय परिषद् को अधिकार है कि, यदि उसके पास ऐसा विश्वास करने का कारण है कि कैण्टन की सरकार संघीय विधियो, राजाज्ञाओ और अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो की न्याय्य क्रियान्विति मे सहयोग नही देती तो वह हस्तक्षेप करे और उचित कार्यवाही करे। इस सम्बन्ध मे उचित कार्यवाही करने के लिये संघीय परिषद् अपनी ओर से भी पहल कर सकती है अथवा यदि किसी को कोई शिकायत हुई हो और उसकी ओर से अपील आई हो, उस पर भी कार्यवाही की जा सकती है, किन्तु शर्त यह है कि अपील इस प्रकार की न हो कि वह संविधान के अनुच्छेद ११३ के अन्तर्गत संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) के अधिकार-क्षेत्र मे जाती हो। उन विवादो की श्रेणियो के सम्बन्ध मे जो संघीय न्यायाधिकरण के अधिकार क्षेत्र मे ही आते हैं, संघीय परिषद् (Federal Council) अपनी ओर से आरम्भ करके ऐसी कार्यवाही कर सकती है जिससे संविधान की आज्ञाओ का पालन आवश्यक हो जाय और जिससे गैरकानूनी कार्यवाही बन्द हो जाय और यदि सम्भवत उस कार्यवाही से हानि हो गई हो उस हानि की भी पूर्ति हो जाय, किन्तु उस कार्यवाही का उस अपील पर कोई प्रभाव नही पडेगा जो अन्ततोगत्वा संघीय न्यायाधिकरण मे लायी जा सकती है।[1]

संघीय परिषद् ने अपने इस अधिकार का प्रयोग बडी ही युक्ति और विवेक के साथ किया है और इस सम्बन्ध मे संविधान के निर्वचन मे उदारता से काम लिया गया है। जब कभी ऐसे भी अवसर आए हैं कि कैण्टन की ओर से पर्याप्त अवज्ञा प्रदर्शित की गई है, तब भी संघीय परिषद् ने जिस प्रकार सम्बन्धित कैण्टन को बाध्य किया और जिस प्रकार के अंकुश कैण्टन के विरुद्ध प्रयोग किये गये, वे गांधीवादी कार्यवाही (Gandhian Technique) की श्रेणी मे आते है। कैण्टन को जो आर्थिक सहायता संघीय शासन से मिलती है उसको बन्द कर दिया जाता है और सशस्त्र सेनाएँ भेज दी जाती है 'जो अपना काम बिना खून बहाये पूरा करती है क्योंकि ये सेनाएँ न तो जनता को लूटती है, न आग लगाती है न किसी को मारती है बल्कि शान्तिपूर्वक कैण्टन मे बसा दी जाती है और इन सेनाओ का व्यय कैण्टन को देना पडता है और शनै-शनै ये सेनाएँ और उनका व्यय-भार कैण्टन के ऊपर आ पडता है और कैण्टन के दिमाग खुद-ब-खुद दुरुस्त हो जाते है। निश्चय ही यह लोगो को विधि के आज्ञाकारी बनाने की दिशा मे नया प्रयोग है किन्तु स्विट्जरलैण्ड के लिये यह अत्यन्त प्रभावी प्रयोग सिद्ध हुआ है।"[2]

---

[1] Hughes, C. The Federal Government of Switzerland, op citd, p 112

[2] Lowell, A. L. Govcroment and Parties in Continental Europe, op citd. Vol II, p. 197.

(३) सविधान के उपबध के अनुसार कैण्टनो के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने सविधानो और तत्सम्बन्धी सशोधनो को सघीय ससद् (Federal Assembly, के समक्ष रखें और स्वीकृत करावें। इसका यह अर्थ है कि सघीय ससद् को आदेश देना होगा और उक्त सविधान अथवा तत्सम्बन्धी सशोधन को या तो स्वीकृत करना होगा अथवा अस्वीकृत करना होगा। सघीय परिषद् का यह कर्तव्य है कि वह कैण्टनो के सविधानो से सम्बन्धित सघीय ससद् की स्वीकृति का पर्यवेक्षण करे।[1] यह स्वीकृति (guarantee) दे दी जाती है किन्तु शर्त यह है कि (१) कैण्टन का सविधान किसी प्रकार सघीय सविधान के उपबन्धो के विरुद्ध न हो, और (२) कैण्टन की सस्थाएँ प्रतिनिधिक हो और प्रजातन्त्रात्मक हो, और (३) कैण्टनो की राजनीतिक सस्थाएँ सर्वसाधारण की इच्छा की प्रतीक हो।

(४) सघीय परिषद् विधेयको और अन्य विधि प्रस्तावो को सघीय ससद् (Federal Assembly) के समक्ष उपस्थित करती है और उन प्रारम्भिक विधेयको अथवा प्रस्तावो पर अपना मत व्यक्त करती है जो राष्ट्रीय परिषद् अथवा राज्य सभा (National Council or 'Council of States) अथवा कैण्टनो ने इसके सम्मुख विचारार्थ भेजे हो। सामान्य प्रक्रिया यह है कि सघीय परिषद् एक सदेश अथवा प्रतिवेदन भेजती है और उसी के साथ प्रारूप भेजती है और सघीय ससद् से उसी प्रारूप के अनुसार कार्यवाही करने की आशा व्यक्त की जाती है। यही प्रारूप वह आधार प्रस्तुत करता है जिस पर ससद् के दोनो सदनो मे विचार और वाद-विवाद होगा। इस प्रकार सघीय परिषद् विधेयक का सूत्रपात करती है और सघीय ससद् इस विधेयक के स्वरूप मे सशोधन करती है। विधेयक आरम्भक के द्वारा सर्वसाधारण के द्वारा भी पुरस्थापित किये जा सकते हैं और ससद् के बहुमत दल के द्वारा भी। सघीय ससद् के किसी भी सदस्य की इच्छा पर ससद् ऐसा प्रस्ताव पास कर सकती है और सघीय परिषद् से प्रार्थना कर सकती है कि वह प्रस्तावित विषय की ओर ध्यान दे और तदनुसार एक विधेयक प्रस्तुत करे। सघीय परिषद् प्राय ससद् के किसी भी सदन को अथवा कैण्टन को किसी विधेयक के प्रारूप अथवा तत्सम्बन्धी कोई जानकारी माँगी जाने पर आवश्यक मन्त्रणा प्रदान करती है।

(५) सघीय परिषद् (Federal Council), सघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) के निर्णयो की क्रियान्विति और कैण्टनो के बीच चल रहे विवादो के सम्बन्ध मे समझौते और पचाटो (Arbitration awards) की भी क्रियान्विति का परीक्षण करती है। न्यायालयो के निर्णयो की क्रियान्विति और सविधान के अनेको उपबन्धो और सघीय अधिनियमो की भी क्रियान्विति का परीक्षण कैण्टनो के अधिकार क्षेत्र मे दे दिया गया है। यदि कैण्टन इस दिशा मे अपने उत्तरदायित्व का निर्वहन नहीं करते तो अन्त मे इस सम्बन्ध मे सघीय परिषद् को तदर्थ अपील की जाती है।

(६) केवल उन कतिपय नियुक्तियों को छोड़ते हुए जिन पर सघीय
अथवा सघीय न्यायाधिकरण अथवा किसी अन्य सत्ता का अधिकार हो, शेष
सघीय नियुक्तियाँ, सघीय परिषद् ही करती है। व्यवहार मे सघीय परिषद्
नियुक्ति सम्बन्धी अधिकारों को प्रशासन के विभिन्न विभागों को प्रत्यायोजित कर
है और विभिन्न निगमों और अन्य स्वतन्त्र सत्ताओं अथवा निकायों को
देती है।

(७) सघीय परिषद् ही उन अनेकों सन्धियों का परीक्षण करती है जो
तो कैण्टन आपस मे करते हैं अथवा कैण्टन विदेशों के साथ करते हैं और
सधियाँ उचित ठहरती हैं तो उन पर स्वीकृति प्रदान कर दी जाती है, अन्यथा
परिषद् अवाछित सधि अथवा सधियों के विरुद्ध सघीय ससद् (Federal Assemb
मे अपील करती है और उनके रद्द करने की सिफारिश करती है।[1]

(८) सघीय परिषद् ही स्विट्जरलैण्ड के परराष्ट्र सम्बन्धों का निर्वहन
है और परिसंघ के विदेशी हितों की रक्षा करती है। देश की सीमाओं की
आक्रमण के विरुद्ध रक्षा करती है साथ ही स्वदेश की स्वतन्त्रता और तटस्थता
प्राण-पण से रक्षा करती है।

(९) सघीय परिषद्, परिसंघ की आन्तरिक सुरक्षा, शान्ति और
की भी देख-भाल करती है। वैसे तो यथार्थ मे आन्तरिक शान्ति और सुरक्षा
व्यवस्था कैण्टनों का उत्तरदायित्व है। यदि आन्तरिक गड़बड़ी प्रारम्भ हो जाय
सघीय हस्तक्षेप अनिवार्य हो जाता है। सघीय ससद् (Federal Assembly)
करती है कि क्या कार्यवाही की जाय और सघीय परिषद्, सघीय ससद् की
की क्रियान्विति करती है।[2] सविधान की इस सम्बन्ध मे ऐसी इच्छा मालूम होती
कि सघीय परिषद्, सघीय ससद् से आन्तरिक अव्यवस्था की दशा मे आदेश की
करे और ससद् तदर्थ आवश्यक आदेश दे, और उस आदेश की क्रियान्विति
परिषद् करे।

अध्यादेशो का परीक्षण करती है। कैण्टनो के लिए अपनी सभी विधियो और अध्यादेशो का सघीय परिषद् से स्वीकृत कराना आवश्यक है। साथ ही सघीय परिषद् कैण्टनो के प्रशासन की उन शाखाओ पर भी नियन्त्रण रखती है जहाँ का नियन्त्रण परिषद् के अधिकार क्षेत्र मे है।

(१३) सघीय परिषद् सघीय वित्त साधनो का प्रबन्ध करती है और आगणन (Estimates), आयव्ययक (Budget) और सघीय आय और व्यय का लेखा तैयार करती है।

(१४) सघीय परिषद् ही सघीय प्रशासन के समस्त अधिकारियो और सेवको के शासनिक आचरण पर नियत्रण रखती है।

(१५) सघीय परिषद् अपने समस्त कार्यो और क्रिया-कलापो की रिपोर्ट सघीय ससद् (Federal Assembly) के समक्ष प्रत्येक साधारण सत्र (Session) मे प्रस्तुत करती है, देश की आन्तरिक स्थिति के सम्बन्ध मे भी प्रतिवेदन करती है और परिसघ (Confederation) के विदेशो के साथ सम्बन्धो के ऊपर भी प्रकाश डालती है और सघीय ससद् के विचारार्थ ऐसे प्रस्ताव अथवा विधेयक प्रस्तुत करती है जिनको वह सर्वसाधारण के कल्याणार्थ लाभदायक और आवश्यक समझती है। यदि कभी सघीय ससद् अथवा ससद् का कोई सदन विशेष जानकारी प्राप्त करना चाहे तो सघीय परिषद् आवश्यक रिपोर्ट भेजती है।

(१६) सघीय परिषद् की शक्तियो और अधिकारो के सम्बन्ध मे अन्तिम बात यह है कि इसके पास कुछ न्यायिक शक्तियो भी है। यह सर्वसाधारण अथवा प्राइवेट व्यक्तियो की उन अपीलो पर भी विचार करती है जो वे लोग विभिन्न प्रशासनिक विभागो के निर्णयो के विरुद्ध अथवा सघीय रेल विभाग के प्रशासन के निर्णयो के विरुद्ध करते हैं। इसका उन अपीलो पर भी अधिकार है जो कैण्टनो की सरकारो के उन निर्णयो के विरुद्ध आती है जो प्रारम्भिक पाठशालाओ मे विभेदो, "अथवा उन विषयो पर विवादो मे सम्बन्धित हैं जो व्यापार, एकस्व, सैनिक, करारोपण, आदि, अथवा जो लोगो के रोजगार और बसने से, प्रतिदिन काम आने वाली चीजो पर कर से निराक्राम्य शुल्कों (Customs), कैण्टनो के चुनावो और सैनिको के सुख-सुविधा सम्बन्धी सामान से सम्बन्धित हो।"[1]

स्विस कार्यपालिका, स्विस विधानमण्डल की अनुचर (Executive subordination to the Legislature)—इसमे सदेह नही कि सघीय परिषद् की शक्तियाँ विशाल है। किन्तु वैधिक रूप से परिषद् ससद् की अनुचर है। यह मुख्यत स्विस सविधान के उन सिद्धान्त के अनुसार है कि कार्यपालिका शासन की स्वतत्र अथवा नियामक शाखा (Coordinate branch) नही है। सघीय ससद् (Fedral Assembly) ही सघीय परिषदो का चयन करती है और उनका कार्यकाल वही है जो राष्ट्रीय परिषद्

---

[1] Ghosh R C, The Government of the Swiss Republic, p 88

National Council) का है। जब कभी राष्ट्रीय परिषद् संविधान के अनुच्छेद १ अनुसार संविधान के अशेष संशोधन (Total revision) के लिए भंग कर ती है, उस स्थिति में संघीय परिषद् का भी विधानमण्डल के जीवन-काल प समय के लिए पुन निर्वाचित होना आवश्यक है। परिषद के प्रधान अथ ष्ट्रपति और उपप्रधान अथवा उपराष्ट्रपति भी संघीय संसद् (Assembly) द नामांकित किये जाते हैं।

संघीय परिषद् के काम मुख्यत प्रबन्ध सम्बन्धी हैं। नीति का आरम्भ और नी निर्णय संघीय संसद् ही करती है। संविधान के अनुच्छेद ७१ का आदेश है घीय संसद् ही परिसंघ में सर्वोच्च सत्ता है।" और सत्य भी यही है। सं षद् कोई कार्य स्वेच्छा से आरम्भ नहीं कर सकती। जब यह विदेशी माम अथवा समस्त दलों अथवा सेनाओं के सम्बन्ध में अथवा सामान्य सार्वजनि

आचरण करती है।" इसी सम्बन्ध मे डायसी आगे कहता है, "परिषद् उसी प्रकार ससद् के आदेशो पर चलती है जिस प्रकार कि किसी दूकान के गुमाश्ते से यह आशा की जाती है कि वह अपने मालिक की आज्ञाओ का पालन अवश्य करेगा।"[1] इसी बात को लॉवेल (Lowell) ने अधिक बलपूर्वक इस प्रकार कहा है, "स्विट्ज़रलैंड की सघीय परिषद् का सदस्य एक वकील अथवा शिल्पी की तरह है, उसका परामर्श लिया जाता है, और प्राय उस पर ध्यान भी दिया जाता है, लेकिन यदि उसका नियोजक उसके परामर्श के विरुद्ध ही कार्य करने का हठ करे, तो उस वकील अथवा शिल्पी से अपनी वृत्ति छोड देने की आशा नही की जा सकती।" यदि कभी किसी पारिषद् (Councillor) की अपनी नीति भी ससद् अथवा सर्वसाधारण अस्वीकृत करदें, तो भी उससे त्याग-पत्र देने की आशा नही की जा सकती। हर वेल्टी (Herr Welti) ने १८९१ मे उस समय त्यागपत्र दे दिया था जबकि ससद् ने तो उसकी रेलवे के राष्ट्रीयकरण सम्बन्धी नीति को स्वीकृत कर लिया था किन्तु बाद मे सर्वसाधारण ने जनमत-सग्रह मे उसको अस्वीकृत कर दिया था। "किन्तु स्विट्ज़रलैंड मे इस प्रकार से त्याग-पत्र देने को असविधानिक (Unconstitutional) बताया गया।'[2]

स्विस शासन-प्रणाली, ससदीय शासन-प्रणाली नही है (Not a Parliamentary type of Government)—इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि स्विटज़रलैंड की सघीय परिषद् ससदीय मन्त्रिमण्डल (Cabinet) नही है। सत्य यह है कि परिषद् को मन्त्रिमण्डल कहना अत्यन्त भ्रान्तिपूर्ण है। मन्त्रिमण्डल मे दलगत समैक्य का भाव प्रबल रहता है किन्तु स्विस परिषद् मे उसका पूर्ण अभाव है। दलगत समैक्य के लिये आवश्यक है कि समस्त मन्त्रिमण्डल के सदस्यो के समान राजनीतिक विचार हो और एक टीम (Team) की तरह सब का एक उद्देश्य हो और एक लक्ष्य हो। जो मन्त्री लोग मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते हैं, वास्तव मे अधिकारी होते है, वे ससद् के बहुमत दल से सम्बन्धित होते हैं और उनको दल के कार्यक्रम को पूर्ण करने के उद्देश्य से चुनकर वहाँ भेजा जाता है। सभी मन्त्री व्यक्तिगत रूप से और समस्त मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से अपने सभी अधिकारी कृत्यो के लिये विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी हैं और वे सब उसी समय तक अपने पदो पर रह सकते हैं जब तक कि ससद् का उन पर विश्वास है और ससद् का विश्वास ही देश के सर्वसाधारण का विश्वास है जिन्होंने उनके दल को बहुमत दल के रूप मे चुनकर ससद् मे प्रतिष्ठित किया। इसके विपरीत स्विस सघीय परिषद् के सदस्यो के लिये सविधानत यह आवश्यक नही है कि वे सघीय ससद् के सदस्य हो और यदि वे सघीय परिषद् के लिये नामांकित होने के पूर्व

---

[1] The Law of the Constitution, op citd, p 611 Also refer to Bryce's Modern Democracies, Vol I, p 446

[2] Encyclopaedia Britannica, 11th ed, p 211 प्रथम विश्व-युद्ध के बाद इस प्रकार के त्याग-पत्रों की [illegible] है। Ghosh, R C The Government of the Swiss Republic, op citd, p 92

ससद् के सदस्य हो भी—और वास्तव मे वे पारिषद् बनाये जाने के पूर्व ससद् सदस्य होते भी है—तो उनको पारिषद् बनाये जाने पर तुरन्त त्याग-पत्र देना चाहिये। उनको सघीय परिषद् मे इसलिये नही लिया जाता कि वे ससद् के बहुमत दल के सदस्य हो, न इस आधार पर लिया जाता है कि वे राजनीतिक दलो के नेता है, अपितु उनको कुशल प्रशासक होने के कारण लिया जाता है और स्विस लोगो की इस प्रजातन्त्रीय भावना के अनुरूप लिया जाता है कि सभी पारिषद् देश के सभी हितो का, सभी लोगो का और सभी प्रदेशो का प्रतिनिधित्व करते है। यह ठीक है कि वे ससद् के दोनो सदनो मे उपस्थित होते है, वाद-विवादो मे रुचिपूर्वक भाग लेते हैं, और ससद् सदस्यो द्वारा पूछे गये प्रश्नो का उत्तर भी देते हैं,[1] किन्तु वह किसी नीति को निर्धारित नही करते। न वे मतदान मे कोई भाग लेते है। इसमे सन्देह नही कि विधि की यही आज्ञा है कि सघीय परिषद् नियमित रूप से सभाये करे, उसकी मन्त्रणाये असार्वजनिक रूप से हो और इसके निर्णय पारिषदो के बहुमत के आधार पर हो।[2] और सविधान यह भी आदेश देता है कि सभी निर्णय सघीय परिषद् के ही नाम से और उसी की आज्ञा से प्रभावी होगे।"[3] फिर भी सघीय परिषद् समान जाति का अथवा समान विचार वालो का निकाय नही है और विभिन्न पारिषदो के बीच मत-विभिन्नता को मान्यता प्रदान की जाती है और कभी-कभी तो उनके विभिन्न मत प्रकाश मे लाये जाते है। विधानमण्डल मे वे प्रायः एक-दूसरे के विरोध मे बोलते हैं, यद्यपि यह स्विस प्रजातन्त्र के गौरव की चीज है कि इस प्रकार की विभिन्नताएँ कभी भी किसी प्रकार का सकट उत्पन्न नही करती। किन्तु मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली की यह रीति नही है।

सविधान, सघीय परिषद् को यह भी आज्ञा देता है कि सर्वसाधारण की हित साधना मे यदि वह चाहे तो ससद् के विचारार्थ ऐसे विधेयक उपस्थित कर सकती है जिनको वह उचित समझे।[1] ससद् प्रायः प्रस्ताव पास करके सघीय परिषद् से प्रार्थना भी करती है कि वह किसी विषय पर विधेयक तैयार करे, और सत्य तो यह है, कि वे सभी विधेयक जो परिषद् के द्वारा पुरःस्थापित नही किये जाते, नियमतः परिषद् मे ही प्रस्तुत भेजे जाते हैं पूर्व इसके कि उन विधेयको को समिति मे भेजा जाय अथवा उन पर वाद-विवाद किया जाय। इस प्रकार वास्तविक विधान निर्माण मे परिषद् बहुत अधिक प्रभाव डालती है। इतने पर भी यह नही माना जा सकता कि सघीय परिषद् वैधिक रूप से विधान निर्माण मे नेतृत्व करती है। इसका मुख्य कारण स्पष्ट है और यही मन्त्रिमण्डल और सघीय परिषद् मे मुख्य भेद है।

ससदीय मन्त्रिमण्डल मे और स्विस सघीय परिषद् मे वास्तविक अन्तर विधान-

---

[1] Article 101

[2] Organization of Federal Administrative Law, 1914, Articles 4, 6 and 7

[3] Article 103

[4] Article 102, Section 4.

मण्डल के साथ के सम्बन्धो मे है। मन्त्रिमण्डल तो विधानमण्डल का जात है और वह तभी तक जीवित रह सकता है जब तक कि विधानमण्डल का विश्वासभाजन बना रहे। स्विट्ज़रलैंड मे सघीय परिषद् और विधानमण्डल के बीच सम्बन्ध और ही सिद्धान्त पर आधारित है। यद्यपि किसी सीमा तक सघीय परिषद् और सघीय ससद् के बीच घनिष्टता रहती है, और कुछ बातो मे तो दोनो के सम्बन्ध उसी प्रकार के हैं जैसे कि ससदीय शासन-प्रणाली मे मन्त्रिमण्डल और विधानमण्डल के बीच रहते हैं किन्तु मुख्य अन्तर यह है कि सघीय परिषद् का न तो ससद् पर नियन्त्रण है और न वह ससद् की नेता है। स्विटज़रलैंड मे ससद् (Assembly) ही प्रभु है और परिसघ मे "ससद् के ही पास सर्वोच्च सत्ता है"।[1] ससद् की अपेक्षा परिषद् ससद् की अनुचर और उसके अधीन सत्ता है। स्विस सविधान स्विस कार्य-पालिका को न तो स्वतन्त्र सत्ता बनाता है न नियामक सत्ता स्वीकार करता है। सघीय परिपद् सघीय ससद् के प्रति उन्ही अर्थों मे उत्तरदायी नही है जिन अर्थों मे कि मन्त्रिमण्डल विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है। इसके अतिरिक्त यदि कोई पारिपद् त्याग-पत्र दे दे तो भी इससे कोई सकट आने की सभावना नही है। यदि परिषद् द्वारा निर्धारित नीति ससद् अस्वीकार कर दे अथवा परिपद् द्वारा प्रस्तुत किये गये विधेयको को ससद् न माने तो इसके फलस्वरूप सघीय परिपद् के सदस्यो या सदस्य को त्याग-पत्र देने की आवश्यकता नही है। वे अपने पदो पर बने ही रहते हैं चाहे ससद् परिपद् के विधेयको को अथवा आज्ञाओ को स्वीकार करे या न करे। ऐसा इसलिये भी है क्योकि सघीय पारिपद् न तो नीति को निर्धारित करते हैं और न नीति के ऊपर उनका कोई नियन्त्रण ही है। और न सघीय परिपद् सामुदायिक रूप से किसी नीति के लिये उत्तरदायी ही है। यही सघीय परिपद् की स्थिति का सही-सही मूल्याकन है।

स्विस शासन-प्रणाली राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली भी नहीं है (Not even a Presidential System of Government)—जहाँ स्विस सघीय परिपद् ससदीय मन्त्रिमण्डल से भिन्न है वही वह राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली की कार्यपालिका भी नही है। सत्य तो यह है कि दोनो मे कोई साम्य ही नही है। स्विस सघीय परिपद् अमेरिका की कार्यपालिका के समान शासन का स्वतन्त्र और पृथक् भाग नही है। अमेरिका का राष्ट्रपति पद एकल कार्यपालिका है और सविधान राष्ट्रपति को स्वतन्त्र और अपवर्जी शक्तियाँ प्रदान करता है और नीति के उपर भी केवल राष्ट्रपति को ही अधिकार है। इस प्रकार अमेरिका का राष्ट्रपति कार्यपालिका प्रधान तो है ही, स्वय केवल अनन्य कार्यपालिका का निर्माण भी करता है। कांग्रेस, अमेरिकी राष्ट्रपति के सविधानिक अधिकारो को किसी भी प्रकार मर्यादित नहो कर सकती, न उसके किसी कृत्य को नियन्त्रित कर सकती है। अमेरिका मे कार्यपालिका और व्यवस्थापिका बिलकुल पृथक् हैं, उनमे केवल राष्ट्रपतीय सदेशो के द्वारा ही ससर्ग होता है, अन्यथा न तो स्वय राष्ट्रपति न उसके मन्त्रिमण्डल के सदस्य ही कभी कांग्रेस के किसी सदन मे उपस्थित

---

[1] Article 71.

होते हैं। राष्ट्रपति के मंत्री लोग (Secretaries), जो शासन के विभिन्न विभागों के प्रशासनिक मुखिया होते हैं और जो राष्ट्रपति के तथाकथित मन्त्रिमण्डल (Cabinet) का निर्माण करते हैं, राष्ट्रपति के द्वारा ही नियुक्त किये जाते हैं और वे लोग अपने पदों पर राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त बने रहते हैं। यह राष्ट्रपति की इच्छा पर निर्भर करता है कि वह उन मन्त्रियों की सलाह कब ले, कहाँ ले और किस प्रकार ले। यह भी राष्ट्रपति की ही इच्छा पर निर्भर है कि वह अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा माने अथवा न माने। मन्त्रीगण राष्ट्रपति के मतदाता (Advisers) होते हैं और वे मिलकर राष्ट्रपति के परिवार का सृजन करते हैं। राष्ट्रपति का पद कांग्रेस की कृपाकोर पर निर्भर नहीं है। वह अपनी लोकप्रियता के आधार पर चार वर्षों के लिये चुना जाता है और उसका पद चार वर्षों के बाद ही समाप्त हो सकता है। उसके पुनर्निर्वाचन पर अब संविधान ने कतिपय बंधन लगा दिये हैं।

इसके विपरीत, संघीय परिषद् न तो शासन का स्वतन्त्र अथवा पृथक् अंग है न उसकी अपनी कोई स्वतन्त्र नीति है। संघीय परिषद् के पास विधि के ऊपर कोई अंकुश अथवा निषेध शक्ति नहीं है जिसके द्वारा वह अपने अधिकारों की रक्षा करने में समर्थ हो सकती। और परिषद् पूरी तरह से विधानमण्डल के प्रभाव से स्वतन्त्र भी नहीं है। संघीय परिषद् और संघीय संसद् के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। सच तो यह है कि संघीय परिषद् को बहुत से लोग स्विस संसद् की अधिशासी समिति समझते हैं। चाहे कुछ भी कहा जाय यह निर्विवाद सत्य है कि संघीय परिषद् किसी भी रूप में स्वतन्त्र सत्ता नहीं है क्योंकि इसके प्रशासनिक कृत्यों पर संघीय संसद् का पर्यवेक्षण और निरीक्षण रहता है और संसद् परिषद् के निर्णयों को रद्द कर सकती है।

तो फिर संघीय परिषद् क्या है? (What is it then?)—निष्कर्ष यह निकलता है कि स्विस संघीय परिषद् अथवा कार्यपालिका न तो संसदीय कार्यपालिका है और न राष्ट्रपतीय कार्यपालिका है। यह अपने ही में एक वर्ग है और संसार में अपने ढंग की अकेली ही कार्यपालिका है, क्योंकि यह सामूहिक (Collegial) निकाय है जिसमें सात सदस्य होते हैं, जो देश की सर्वोच्च कार्यपालिका का निर्माण करते हैं। स्विस संविधान के निर्माताओं ने अमेरिका के नमूने पर समस्त कार्यपालिका शक्ति एक ही निर्वाचित व्यक्ति के हाथों में दे देना उचित नहीं समझा। [illegible] नहीं [illegible] कि वे निर्वाचित राष्ट्रपति के हाथों में समस्त कार्यपालिका सत्ता देने के [illegible] से अपरिचित न थे, जिसके द्वारा शासन में एकता, अविच्छिन्नता और [illegible] का समावेश होता है। किन्तु जैसा कि संविधान के निर्माताओं ने [illegible] संविधान निर्माण समिति [illegible] के [illegible] का [illegible] कर ही [illegible] थी जो स्विस [illegible] के सिद्धान्त और आदर्शों तथा प्रथाओं के सर्वथा प्रतिकूल होता, क्योंकि राष्ट्रपति पद से इस देश के लोग [illegible] [illegible] [illegible] रखते। [illegible] के लोग परिषदों के [illegible] हैं। [illegible] [illegible] [illegible] किसी एक व्यक्ति के हाथों और [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] ।[1]

---

[1] As quoted in Brooks' The Government of Switzerland, Cild p 76

स्विट्ज़रलैंड के शासन मे वहुल कार्यपालिका अथवा व्यक्ति समूह की कार्यपालिका (Collegial executive) का निर्माण करके ससदीय और राष्ट्रपतीय शासन-प्रणालियो के विशिष्ट गुणो को लेने का प्रयत्न किया गया है। स्विस कार्यपालिका निस्सन्देह दोनो प्रकार की प्रणालियो का मिश्रण है और स्विस सविधान के निर्माताओ ने अपने देश को मौलिक शासन-व्यवस्था दी जिसमे ससदीय शासन-प्रणाली के सभी गुण विद्यमान हैं और साथ ही जिससे राष्ट्रपतीय-शासन प्रणाली के दोष दूर कर दिये गए हैं। लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) ने ठीक ही कहा था कि "स्विस सघीय परिषद् ब्रिटेन अथवा ब्रिटेन के आदर्श पर स्थापित अन्य मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली वाले देशो के मन्त्रिमण्डलो के समान एक मन्त्रिमण्डल नही हैं क्योकि न तो यह विधानमण्डल का नेतृत्व करती है और न विधानमण्डल इसको हटा सकता है। सघीय परिषद् अमेरिका की कार्यपालिका के समान अथवा उन अन्य लोकतन्त्रीय देशो की कार्यपालिकाओ के समान जिन्होने अमेरिका के आदर्श पर तथाकथित राष्ट्रपतीय शासन-प्रणाली को अपनाया है विधानमण्डल से पूर्ण स्वतन्त्र भी नही है, और यद्यपि स्विस कार्यपालिका मे दोनो प्रणालियो के कतिपय गुण विद्यमान हैं, फिर भी वह दोनो से इस बातो मे भिन्न है कि स्विट्ज़रलैंड के शासन मे दलीय भावना का पूर्ण अभाव है।"

स्विस सविधान का यह निश्चित रूप से विशिष्ट गुण है। किसी भी आधुनिक गणराज्य मे कार्यपालिका शक्ति एक व्यक्ति के हाथो मे न देकर परिषद् के हाथो मे नही सौंपी गई है, और किसी भी अन्य स्वतन्त्र देश मे कार्यकारी कार्यपालिका का दलगत-राजनीति से इतना कम सम्बन्ध नही है। ब्राइस (Bryce) कहता है कि "स्विस सघीय परिषद् दलगत भावना से परे है, उसको दल का कार्यक्रम पूरा करने के उद्देश्य से निर्वाचित नही किया जाता, वह दल की नीति निर्धारित नही करती और फिर भी वह पूरी तरह निर्दल भी नही है।"

स्विट्ज़रलैंड की वहुल अथवा सामूहिक कार्यपालिका के लाभ (Advantages of the Swiss Collegial Executive System)—वहुल अथवा सामूहिक कार्यपालिका की सविधानिक स्थिति और कार्य वास्तव मे प्रशसनीय हैं क्योकि इसमे ससदीय शासन-प्रणाली के मुख्य गुण वर्तमान हैं और उसके सभी दुर्गुण दूर हो गये हैं। स्विट्ज़रलैंड मे कार्यपालिका और व्यवस्थापिका मे वही परस्पर विश्वास और सहयोग रहता है जो ससदीय शासन-प्रणाली मे रहता है। किन्तु मन्त्रिमण्डल के लिए यह लाभकारी होता है कि वह विधानमण्डल के एक वहुमत दल से अथवा ऐसे दो या तीन राजनीतिक दलो के सयोग से सम्बन्धित हो जो एक सामान्य एव सम्मिलित राजनीतिक कार्यक्रम को पूरा करने के लिए कृतसकल्प हो। किन्तु इसके विपरीत स्विस सघीय परिषद् देश के सभी विचारो, सभी प्रदेशो की प्रतिनिधि होती है और यह किसी विशिष्ट राजनीतिक कार्यक्रम को पूर्ण करने के लिए कृतसकल्प नही है। इस प्रकार की सर्वसम्मत कार्यपालिका के होते हुए विरोधी दल की आवश्यकता

ही नहीं रह जाती । जब देश के प्रशासन में सभी वर्गों, सभी हितों और सभी का प्रभाव रहता है, तभी वास्तविक प्रजातन्त्र का जन्म होता है । परिषद् सुविख्यात निर्दलीय संस्था है और इसलिए उसका मुख्य कार्य संघीय परामर्श देना और उस पर प्रभाव डालना है, "किन्तु यदि आवश्यकता यह विवादग्रस्त दलों में मध्यस्थता भी करती है, उनकी कठिनाइयों को दूर है, और बीच-बचाव की भावना से उनमें समझौता कराती है।"[1] स्विट्जर यह कठिन नहीं है क्योंकि वहाँ का जन-मत आशा करता है कि प्रत्येक स्विस सार्वजनिक हितों के सामने अपने निजी विचारों का दमन करेगा और स्विट्जरलैंड में व्यक्तिगत लालसाएँ लोगों पर उतना प्रभाव नहीं डालतीं जित अन्य स्वतन्त्र देशों में। इसीलिये लावेल (Lowell) कहता है कि संघीय परि घड़ी की बड़ी कमानी (Main spring) समझना चाहिए और वह निश्चय ही शासन रूपी घड़ी को गति देने वाला मुख्य पहिया है।[2]

स्विट्जरलैंड की बहुल अथवा सामूहिक कार्यपालिका का एक अन्य है कि इसमें अविच्छिन्नता और स्थिरता है। स्विस संघीय परिषद् का जीवन मण्डल की कृपाकोर पर अवलम्बित नहीं है इसलिए स्विट्जरलैंड में कार्यप स्थायी और लगभग अविच्छिन्न है और वह सदैव सम्बद्ध और सतत नी अनुसरण करती रहती है। इसके अतिरिक्त स्विस शासन-प्रणाली में योग्य ही राष्ट्र की सेवा करते हैं। चाहे उनके राजनीति में अथवा किसी विशिष्ट पर व्यक्तिगत विचार कुछ भी हों। ऐसी विभिन्नता में एकता, स्थिरता और च्छिन्नता संसदीय शासन-प्रणाली में सम्भव नहीं है।

इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि स्विस शासन-प्रणाली के नीति सम्बन्धी अविच्छिन्नता प्राप्त होती है और परम्पराएँ स्थापित होती हैं। कार्यपालिका के सदस्य एक-एक करके और पर्याप्त समय के अन्तर से नियुक्त जाते हैं तो इससे संघीय परिषद् उन आकस्मिक आतुरताओं से ऊपर उठ जाती लोगों में हलचल उत्पन्न करती है। स्विट्जरलैंड में न तो संसदीय कोलाहल और न वहाँ भावनाओं अथवा मनोवेगों को उभारा जाता है। किसी प्रजा राष्ट्र में इन दोनों अमूल्य परम्पराओं का रहना अति [illegible] है और ऐसी ही पर नीति सम्बन्धी अविच्छिन्नता से प्राप्त होती है। कभी-कभी यह भी कहा है कि अविच्छिन्नता और परम्पराएँ प्रशासन का ढाँचा (groove) बना किन्तु स्विट्जरलैंड में जहाँ प्रत्येक नागरिक में [illegible] रहता है और जहाँ सदस्यों पर सदैव [illegible] है और जहाँ परिषद् लगातार जनता के [illegible] है इस प्रकार का कोई भय नहीं है।

संघीय परिषद् की शक्तियों में वृद्धि (Growth in the Power of

---

[1] Bryce Modern Democracies, vol I, p [illegible]

[2] Government and Parties in Continental Europe, Vol II p

Federal Council)—देखने मे संघीय परिषद् सघीय संसद् की अनुचर प्रतीत होती है, किन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। लार्ड ब्राइस कहता है कि "व्यवहार मे स्विस सघीय परिषद् का उतना ही प्रभाव एव अधिकार है जितना कि अंग्रेजी मन्त्रिमडल का और कुछ फ्रासीसी मन्त्रिमडलो की अपेक्षा तो निश्चय ही अधिक है, इसलिए कहा जा सकता है कि यह नेता भी है और अनुचर भी।"[1] पारिपदो के लम्बे कार्यकाल के कारण उनकी प्रशासनिक योग्यता, राजनीतिक निर्णय-क्षमता और उनके समादर मे वृद्धि होती है। केवल इस कारण कि सघीय ससद् (Federal Assembly) ने परिषद् को अधिकतर व्यवस्थापक आरम्भन (Legislative Initiative) सौंप दिया है और क्योंकि ससद् विधेयको के सम्बन्ध मे परिषद् की मत्रणा लेती है, इससे पारिपदो को ऐसे अनेको प्राय सभी अवसर प्राप्त होते हैं जिनसे वे सार्वजनिक नीति पर प्रभाव डालते हैं और उसको नियन्त्रित करते हैं।[2] आधुनिक विधान निर्माण के लिये पर्याप्त रूप से विशेष योग्यता की आवश्यकता पडती है, इस कारण भी व्यवस्थापक आरम्भन (Legislative initiative) सघीय परिषद् जैसी विशेषज्ञो की समिति के अधिकार मे चला गया है।

स्विस सविधानिक इतिहास यही बताता है कि सघीय परिषद् की शक्तियो मे निरन्तर वृद्धि हुई है। जब से आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था हुई है, तब से सघीय ससद् पर एक या दो दलो का ही प्रभुत्व नष्ट हो गया है। अब ससद् अनेको राजनीतिक दलो का अखाडा बन गयी है। इसका फल यह हुआ है कि अब ससद् की न तो पुरानी शक्ति रह गई है और न उतना आदर। और जो कुछ ससद् की हानि है, वही परिषद् का लाभ है। इसके अतिरिक्त, स्विट्ज़रलैंड मे केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति जोर पकड रही है इसलिये सभी केन्द्रीय सस्थाओ की शक्तियो और अधिकारो मे वृद्धि हुई है किन्तु यदि सघीय ससद् मे तुलना की जाय तो उसकी अपेक्षा सघीय परिषद् की शक्तियो मे अधिक वृद्धि हुई है और वह अधिक स्वतन्त्र हुई है।

आजकल सारे ससार मे यही प्रवृत्ति देखी जाती है कि कार्यपालिका शक्ति को बढाया जाय, और इस ससारव्यापी प्रवृत्ति ने भी स्विट्ज़रलैंड के शक्ति सतुलन मे बाधा पहुँचाई है। एण्ड्रे (Andre) कहता है कि "सघीय परिषद् को हटाना अत्यन्त कठिन है और जहां तक उसके क्रिया-कलाप अत्यन्त जटिल हैं, उसके ऊपर किसी प्रकार का नियन्त्रण रखना भी अत्यन्त कठिन है, इसलिये यह अर्द्ध अधिनायकत्व की शक्तियों का उपभोग कर रही है।" दोनो विश्व-युद्धो और १९३० के आर्थिक अवसाद (Economic Depression) ने मुख्य रूप से सघीय परिषद् की शक्तियो मे अपार वृद्धि की है। सघीय ससद् चाहती थी कि दोनो विश्व-युद्धो मे स्विट्ज़रलैंड की परम्परागत

---

[1] Modern Democracies, Vol I, p 397

[2] Refer to Rappard's The Government of Switzerland, op citd, Pp 82-85

तटस्थता अक्षुण्ण बनी रहे और देश की आर्थिक स्थिति युद्धों के समय में और बाद में भी संतुलित रहे, इसलिए उसने संघीय परिषद को उन विषयों पर भी समस्त अधिकार दे डाले जो अब तक संविधियों द्वारा नियमित होते थे। इन शक्तियों के प्रयोग में संघीय परिषद् ने ऐसे अध्यादेश जारी किये हैं जिनसे सर्वसाधारण की व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओं और उनकी सम्पत्तियों पर भी प्रभाव पड़ा है। परिषद् ने सार्वजनिक सुरक्षा और सार्वजनिक आवश्यकता के नाम से ऐसी ऐसी आज्ञाएं (Decrees) जारी की हैं जिनका प्रभाव व्यक्तिगत विधियों (Private Law) पर भी पड़ा है।

संघीय प्रशासन

(The Federal Administration)

समस्त संघीय प्रशासन को सात विभागों में बांट दिया गया है और प्रत्येक विभाग का अध्यक्ष संघीय पार्षद (Federal Councillor) होता है। १९१४ के संघीय प्रशासन के संगठन सम्बन्धी विधि के अनुसार निम्नलिखित विभाग हैं—(१) राजनीतिक विभाग (The Political Department), (२) गृह विभाग (Department of the Interior), (३) न्याय और पुलिस विभाग (Department of Justice and Police), (४) सैनिक विभाग (Military Department), (५) वित्त और प्रशुल्क विभाग (Department of Finance and Customs), (६) सार्वजनिक अर्थ विभाग (Public Economy), और (७) डाक-तारघर और रेल विभाग (Posts and Railways)।

विभागीय कार्य-क्षेत्र में निरन्तर परिवर्तन हो रहे हैं और १९१४ की विधि प्रत्येक विभाग के अधिकार क्षेत्र को सही-सही नहीं बताती। इसके अतिरिक्त उक्त विधि का अनुच्छेद २३ संघीय परिषद् को अधिकार देता है कि वह स्वयं निर्णय करे कि विभागों को क्या-क्या मामले दिये जायें और यह भी आदेश देता है कि यदि विभागीय निर्णयों के विरुद्ध सम्बद्ध व्यक्तियों में कोई आपत्ति हो तो उसकी अपील संघीय परिषद् के पास जायगी।[1]

राजनीतिक विभाग के अधिकार क्षेत्र में कुछ छोटे-मोटे राजनीतिक मामले आते हैं किन्तु मुख्यतः यह परराष्ट्र विभाग (Foreign Office) है और यह परिषद् के विदेश के साथ सम्बन्धों का निर्देशन करता है। १९१४ से पूर्व इस विभाग को राष्ट्रपतीय विभाग (Presidential Department) कहा जाता था और इस विभाग का अध्यक्ष सदैव वही व्यक्ति होता था जो परिषद् का प्रधान अथवा राष्ट्रपति होता था। इस व्यवस्था के अनुसार जब प्रति वर्ष राष्ट्रपति बदलता था तो इस विभाग का अध्यक्ष भी बदल जाता था और इससे विभाग का सन्तुलन [illegible] नहीं रहता था किन्तु परराष्ट्र विभाग के संचालन में अविच्छिन्नता सबसे अधिक आवश्यक होती है।

---

[1] Hughes, C. The Federal Constitution of Switzerland, op cit., p 117.

अब राजनीतिक विभाग भी किसी एक पारिषद् (Federal Councillor) के ही अधिकार मे रहता है और उसके अधिकार मे तब तक चलता रहता है जब तक कि वह सघीय परिषद् का सदस्य बना रहे। इस राजनीतिक विभाग के सचालन मे इस से कोई अन्तर नही पडता चाहे इस विभाग का अध्यक्ष राष्ट्रपति हो अथवा एक साधारण पारिषद् मात्र। एम० अर्नेस्ट नोल्स (M Ernest Noles) जो १९४९ मे स्विस राष्ट्रपति था, वित्त और प्रशुल्क (Finance and Customs) का अध्यक्ष था, और डा० मैक्स पैटिटपीयर (Dr Max Petitpiere) राजनीतिक विभाग का अध्यक्ष १९४५-१९५१ तक रहा और अब भी वही उक्त विभाग का अध्यक्ष है क्योंकि पुन निर्वाचित होने से वह चार वर्ष के लिये सघीय परिषद् का सदस्य बन गया है। स्विट्ज़रलैंड की आन्तरिक शान्ति बहुत कुछ उसकी तटस्थता पर निर्भर रहती है, इसलिए राजनीतिक विभाग का कार्यभार वास्तव मे कठिन होता है। और स्विस लोगो ने उक्त विभाग के उत्तरदायित्व के लिये वास्तव मे अत्यन्त उपयुक्त व्यक्तियो को ही चुना है जिनमे एडर (Ador) को १९१७ मे, मोटा (Mota) को १९२०-१९४० तक यह विभाग सौंपा गया और आजकल पैटिटपीयर (Petitpiere) इस विभाग के अध्यक्ष हैं।

एण्ड्रे (Andre) लिखता है, "स्विट्ज़रलैंड की तटस्थता के कोई अर्थ नही हैं जब तक कि अपनी स्वतन्त्रता की रक्षा के सशस्त्र साधन उपलब्ध न हो।" इसलिये तटस्थता के माने यही हैं कि स्विट्ज़रलैंड अपनी राजनीतिक स्वतन्त्रता की रक्षा करने मे समर्थ बने और इसके लिये यदि बल प्रयोग भी करना पडे तो भी कोई हानि नही है। इसलिये स्विस लोग अत्यन्त तत्परता के साथ अपने पडौसी राष्ट्रो के सम्भावित आक्रमण के विरुद्ध तैयार रहते है। इसलिये स्विस शासन मे राजनीतिक विभाग के बाद द्वितीय महत्त्वपूर्ण विभाग सैनिक विभाग है। सविधान ने परिसघ को यह आज्ञा नही दी है कि वह स्थायी सैनिक बलो को रख सके।[1] स्थायी सेना को इस देश मे भाडे की सेना (Mercenary Army) कहा जाता है।[2] स्विस सेना मे कुछ रगरूट रहते हैं, कुछ थोडे से नियमित सैनिक अधिकारी होते हैं और कुछ रक्षक दल (Maintenance Troops) होते हैं। स्विट्ज़रलैंड मे सभी, एक विशेष शरीर गठन के हिसाब से, सैनिक सेवा करने के लिये बाध्य हैं, इसमे कुछ कार्यकारी अधिकारी और कुछ विशिष्ट धार्मिक वर्गों के धर्माधिकारी अपवाद हैं। कैण्टनो को भी आज्ञा है कि वे कुछ सैनिक दस्ते रख सकते हैं। सघीय सरकार का नियन्त्रण सघीय सशस्त्र बलो, युद्ध के सामान, सैनिक सगठन और सैनिक शिक्षा के ऊपर रहता है।

गृह विभाग (Interior Department) के कर्त्तव्य विविध प्रकार के हैं और प्राय सयुक्त राज्य अमेरिका के गृह विभाग के समान हैं। शेष विभागो मे डाक-व्यवस्था और रेलवे विभाग (Post and Railways) और सार्वजनिक अर्थ विभाग (Department of Public Economy) के ऊपर कुछ विचार करने की आवश्यकता है। परिसंघ (Confederation) का डाक व्यवस्था, टेलीफोन व्यवस्था, टेलीग्राफिक व्यवस्था, वायरलैस (Wireless) व्यवस्था और रेल व्यवस्था पर स्वाम्य है और परिसंघ ही इन समस्त व्यवस्थाओं का सचालन करता है। रेलवे प्रशासन पृथक् रखा है यद्यपि वह डाक व्यवस्था और रेलवे विभाग के नियन्त्रण मे कार्य करती है। रेलवे प्रशासन किसी सीमा तक स्वायत्तता का उपभोग करता है और उसका पृथक् आय-व्ययक (Budget) होता है। सार्वजनिक अर्थ विभाग (Department of Public Economy) के नियन्त्रण मे उद्योग, कृषि और सामाजिक बीमा सेवा (Social Insurance) है। यही विभाग प्राकृतिक ससाधनो (Natural Resources) से देश को लाभान्वित करने का प्रयत्न करता है और ऐसे उपाय निकालता है जिनसे देश का उत्पादन बढ़े।

---

[1] Article 13

[2] Hughes, C The Federal Constitution of Switzerland, op citd, p 147

सिविल सर्विस (The Civil Service) —यद्यपि केन्द्रीय शासन के क्रियाकलापों मे वृद्धि के फलस्वरूप और केन्द्रीकरण की आम प्रवृत्ति के फलस्वरूप स्विस सिविल सर्विस के अधिकारियों की सख्या मे कुछ वृद्धि हुई है, फिर भी उन अधिकारियो की इतनी सख्या नही है जितनी कि अन्य देशो मे है। इसका मुख्य कारण यह है कि कैण्टनो मे सघीय शासन के अधिकारी नही रखे जाते। कैण्टनो के स्थानीय अधिकारी ही सघीय आज्ञाओ की क्रियान्विति करते है। कुछ थोडे से डाक व्यवस्था के कर्मचारियों, रेलो और कुछ प्रशासन सम्बन्धी अन्य शाखाओ के कर्मचारियो को छोड कर सघीय अधिकारी वर्ग अधिक नही है।

किन्तु दोनो विश्व-युद्धो के फलस्वरूप सिविल सेवको की सख्या मे पर्याप्त वृद्धि हुई है। इस वृद्धि का महत्त्व निम्न आँकड़ो से स्पष्ट हो जायगा। १९३९ मे स्विट्जरलैंड मे सिविल सेवकों की कुल सख्या १०,८४२ थी और १९४८ मे यह सख्या २६,९३० हो गई। युद्ध के बाद इस सख्या मे कुछ कमी हुई और अगले वर्ष यह सख्या गिरकर २६,१३१ हो गई। अगले वर्षों मे लगभग ८,००० सेवक कम कर दिए गए। स्विट्जरलैंड मे केन्द्रीय शासन की शक्तियो मे वृद्धि को कैंटनो की स्वायत्तता के लिये खतरा समझा जाता है। कहा जाता है, "नौकरशाही की भावना मे वृद्धि और प्रशासन के क्षेत्र मे नौकरशाही के प्रवेश का दीर्घकालीन फल यह होगा कि हमारे देश मे लोक-प्रशासन की भावना ही नष्ट हो जायगी, जिसका आधार कैंटनो की स्वायत्तता है और जिसको लोकप्रियता के आधार पर [illegible] व्यक्तियों के विश्वास पर टिका हुआ है न कि ऐसे [illegible] [illegible] का काम भी नही है।"

[illegible] सघीय सिविल [illegible] सघीय परिषद् द्वारा ही नियुक्त किए [illegible] है और [illegible] दोनो पर परिषद् की [illegible] में विभाजन [illegible] है। किन्तु इन श्रेणियों में [illegible] [illegible] है। [illegible] के लिये [illegible]

उन पदो पर पुन नियुक्ति की जा सकती है, यद्यपि पुनर्नियुक्ति केवल औपचारिकता मात्र होती है। इसलिये इन नियुक्तियो को स्थायी समझा जा सकता है। स्विट्ज़रलैंड मे नियुक्तियो के सम्बन्ध मे अमेरिका की भाँति भ्रष्टाचार प्रथा (Spoils System) नही है। राजनीतिक मतभेदो के कारण प्राय कभी किसी सेवक को नही हटाया जाता। नियुक्तियो के सम्बन्ध मे भी राजनीतिक कारणो को कोई महत्त्व नही दिया जाता। इसके अतिरिक्त स्विट्ज़रलैंड मे सिविल सेवको का वेतन सामान्य है इसलिये उस ओर अधिक लोग आकर्षित नही होते। यदि राजनीतिक कारणो के आधार पर अयोग्य व्यक्तियो की नियुक्तियाँ की जायँगी तो इससे जनमत अप्रसन्न हो जायगा और आलोचना करेगा।

शेप सभी नियुक्तियाँ प्रतियोगी परीक्षाओ के आधार पर की जाती हैं। रेलवे के अधिकारी और अन्य सेवक रेलवे सघीय प्रशासन द्वारा नियुक्त किये जाते है। सिविल सेवको की नियुक्ति, वियुक्ति और उनकी तरक्की की शर्तें और उनके विशेपाधिकार सघीय विधियो और सघीय परिपद् के अध्यादेशो के द्वारा नियन्त्रित की जाती है।

सघीय सचिवालय अथवा चासलरी (The Federal Chancellory)—स्विट्जरलैंड मे सघीय चासलरी (Federal Chancellory) नाम का भी एक विभाग है जिसका अध्यक्ष परिसघ का चासलर (Chancellor of the Confederation) होता है। यह विभाग (Federal Chancellory), सघीय ससद् (Federal Assembly, और सघीय परिपद् (Federal Council) के सचिवालयो से सम्बन्धित समस्त कार्य-व्यापार के लिये उत्तरदायी है।[1] यह सचिवालय (Chancellory) परिसघ के राष्ट्रपति के अधीक्षण मे कार्य करता है और इसके ऊपर अन्तिम नियन्त्रण सघीय ससद् (Federal Assembly) का रहता है। चासलर का निर्वाचन सघीय ससद् के दोनो सदन चार वर्ष के लिए मिलकर करते है,[2] किन्तु व्यवहारत वह कार्य-भार से अवसर प्राप्त करने की अवस्था तक अपने पद पर बना रहता है। इस पद के चुनाव के लिये राजनीतिक विचारो का भी स्थान है और प्रत्याशी की भापा और उसके धर्म पर भी विचार किया जाता है और इस पद के चुनाव मे ससद् के गठन मे जो भापा और धर्म सम्बन्धी[3] परिवर्तन होते हैं उनका प्रभाव पडता है। वाइस चासलरो का चुनाव और उनकी नियुक्ति सघीय परिपद करती है, और वाइस चासलर का स्थान एक प्रकार से रिक्त होने पर, चासलर के पद के लिये नैतिक अधिकार अवश्य हो जाता है।"

चासलर के व्यक्तित्व का कोई विशेप महत्त्व नही है क्योकि उसके कर्त्तव्य मात्र औपचारिक और यन्त्रवत् हैं। फिर भी उसके पद का महत्त्व है क्योकि चासलर एक प्रकार से सघीय सिविल सेवा निकाय का अवैतनिक अध्यक्ष होता है। ब्रिटेन मे

---

[1] Article 105

[2] Articles 92 and 85, Section 4

[3] Hughes, C The Federal Constitution of Switzerland, op citd, p 119

अध्याय ५

स्विस संघीय शासन का स्वरूप (क्रमशः)

(The Frame of National Government) (Contd)

सघीय विधानमण्डल

(The Federal Legislature)

सघीय ससद् (The Federal Assembly)—सघीय विधानमण्डल द्विसदनात्मक है और उसको सघीय ससद् कहते हैं। इसके दो सदन हैं—राज्य सभा (The Council of States) और राष्ट्रीय परिषद् (The National Council)। सघीय ससद् (Federal Assembly) परिसघ (Confederation) की सर्वोच्च सत्ता का, जहाँ तक कि सर्वसाधारण और कैण्टनो के अधिकारो का अतिक्रमण नही होता, उपभोग करती है।[1] इसका यह अर्थ है कि शासन के अन्य उपकरण, सविधान के उपबन्धो के अनुरूप सघीय ससद् के आधीन हैं। सघीय ससद् न केवल व्यवस्थापक और सविधानिक विपयो पर विधान निर्माण करती है, अपितु सर्वोच्च कार्यपालिका और न्यायपालिका के सदस्यो का भी चयन करती है और इसके निर्णयो को न तो कार्यपालिका प्रतिनिषिद्ध (Veto) कर सकती है और न न्यायपालिका को उन पर न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review) का अधिकार है।

राज्य सभा

(The Council of States)

रचना और सगठन (Composition and Organization)—राज्य सभा परिसघ के अवयवी एकको का समानता के आधार पर प्रतिनिधित्व करती है और वह अमेरिका की सीनेट के समान है। प्रत्येक कैण्टन (Canton) को, चाहे उसका आकार और जनसंख्या कुछ भी हो, राज्य सभा में दो प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है और प्रत्येक अर्द्ध कैण्टन को एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है।[2] इस प्रकार राज्यसभा (Council of States) की कुल सदस्य सख्या ४४ है।

प्रत्येक कैण्टन अपनी प्रचलित विधियो और नियमो के अनुसार ही अपने ससद् सदस्यो (Deputies) के निर्वाचन की विधि, उनकी सदस्यता की पदावधि, और उनको मिलने वाले भत्ते आदि की धनराशि निश्चित करता है। सविधान निश्चित रूप से आदेश देता है कि "राज्य सभा के सदस्यो (Deputies) का भत्ता, वेतन आदि कैण्टनो से प्राप्त होगा।" इसीलिये न तो सदस्यो (Deputies) के निर्वाचन की सभी

---

[1] Article 71

[2] Article 80

कैण्टनो में समान विधि है, न समान सदस्यता की पदावधि है, न सबको समान वेतन भत्ता आदि मिलता है। कुछ कैण्टनो में सदस्यो (Deputies) को कैण्टनो के विधानमण्डल अथवा कैण्टनो की परिषदें चुनकर भेजती हैं, किन्तु अधिकतर कैण्टनो में सदस्यो अथवा डिप्टी लोगो (Deputies) का चुनाव सर्वसाधारण के द्वारा होता है। संसद् सदस्यो (Deputies) की सदस्यतावधि किसी कैण्टन में एक वर्ष है, किसी में दो वर्ष, किसी में चार वर्ष तक है और सामान्यत सदस्यो (Deputies) की पदावधि तीन वर्ष है। दो कैण्टन अपने सदस्यों (Deputies) को संघीय विधानमण्डल से उनकी पदावधि समाप्त होने के पूर्व भी वापस बुला सकते हैं।

राज्य सभा (Council of States) के लिये यह आवश्यक है कि वह एक वर्ष में कम-से-कम एक बार स्थायी आदेशो के अनुसार किसी पूर्व निश्चित दिन साधारण सत्र के रूप में सम्मिलित हो। संविधान का आदेश है कि या तो संघीय परिषद् (Federal Council) के आदेश पर अथवा एक-चौथाई राज्यसभा (Council of States) के सदस्यों (Deputies) की प्रार्थना पर अथवा पाँच कैण्टनों[1] की प्रार्थना पर संघीय संसद् के एक सदन या दोनो का विशेष अथवा असाधारण सत्र (Session) आहूत किया जा सकता है। राज्य सभा (Council of States) प्रत्येक साधारण अथवा असाधारण सत्र के लिये अपना अलग चेयरमैन अथवा उपचेयरमैन निर्वाचित करती है। किन्तु संविधान चाहता है कि चेयरमैन और वाइस चेयरमैन दोनों उस ही कैण्टन के निवासी न हों जिसका डिप्टी अथवा सदस्य (Deputy) उस सत्र से पूर्व के साधारण सत्र (Ordinary Session) का चेयरमैन रह चुका हो।[2] इस संवैधानिक उपबन्ध का प्रभाव यह है कि चेयरमैन का पद विभिन्न कैण्टनों के सदस्यों (Deputies) को हर बार मिलता रहता है।[3] चेयरमैन (Chairman), राज्यसभा की बैठकों का सभापतित्व करता है और वही प्रतिदिन की कार्यवाही का क्रम निश्चित करता है। यदि किसी प्रश्न पर बराबर-बराबर मत आवें तो चेयरमैन का निर्णायक मत होता है, किन्तु चुनावों में वह उसी प्रकार मतदान करता है जिस प्रकार कि अन्य सदस्य।

राज्य सभा में निर्णय की गई कोई बात [illegible] तभी समझी जायगी जब कि राज्य सभा के ४४ सदस्यों में से कम-से-कम २३ सदस्यों (Deputies) ने उसके पक्ष में मतदान किया हो,[4] और सभी प्रश्न मतदान करने वाले सदस्यों के पूर्ण बहुमत द्वारा निर्णय किये जाने पर ही निर्णीत किये जाते हैं।[5] राज्य सभा के

---

[1] Article 86

[2] Article 82

[3] [illegible]

[4] Article 87 [illegible]

[5] Article 88 [illegible]

स्विस सर्वसाधारण के प्रतिनिधियो का सदन है। राष्ट्रीय परिपद् की रचना और सगठन सघीय सविधान के उपबन्धो के अनुसार किया गया है यद्यपि राज्य सभा के साथ ऐसा नही है। परिषद् में १९६ सदस्य हैं। ये सदस्य (Deputies) प्रत्यक्ष किन्तु गूढ मतदान द्वारा (By secret Ballot) चुने जाते हैं और १९१० से इस सदन के लिए समानुपातिक प्रतिनिधित्व के आधार पर चुनाव होता है।[1] प्रत्येक स्विस पुरुष नागरिक को, जिसने बीस वर्षों की आयु पूर्ण कर ली हो और जिसको किसी कारण-वश उस कैण्टन की व्यवस्थापिका ने नागरिकता से वचित न कर दिया हो जिसमें उसका निवास स्थान हो, राष्ट्रीय परिपद् के लिए वोट देने का अधिकार है।[2] प्रत्येक कैण्टन अथवा अर्द्ध कैण्टन, निर्वाचन-क्षेत्र (Electoral Constituency) होते हैं और प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र को पूर्ण जनसख्या के २४,००० व्यक्तियो पर एक स्थान दिया जाता है, २४,००० का भाग किन्तु १२,००० से अधिक व्यक्तियो वाला क्षेत्र भी २४,०००[3] के जनसख्या के समान ही माना जायगा। किन्तु प्रत्येक कैण्टन अथवा अर्द्ध कैण्टन को कम-से-कम एक सदस्य (Deputy) भेजने का अवश्य अधिकार होगा चाहे उसकी जनसख्या कितनी भी कम हो।[4]

राष्ट्रीय परिपद् का चुनाव चार वर्ष के लिए किया जाता है। इसको भग नही किया जा सकता, हाँ यदि सविधान का अशेप सशोधन करना है और जब इस सम्बन्ध मे एक सदन दूसरे सदन से भिन्न मत रखता हो तो भग किया जा सकता है।[5] इस सदन की सदस्यता के लिए वही अर्हताएँ रखी गई है जो मतदाताओ की अर्हताएँ हैं।[6] किन्तु सभी धर्माधिकारी (Clergy) परिसघ के सभी अधिशासी और मुख्य प्रशासनिक सेवकगण, राज्यसभा (Council ef States) के सदस्यो और सघीय परिपद् (Federal Council) के सदस्यो आदि को वर्जित कर दिया गया है और वे राष्ट्रीय परिपद् (National Council) की सदस्यता के लिए प्रत्याशी के रूप में खडे नही हो सकते।

राष्ट्रीय परिपद् प्रत्येक साधारण अथवा असाधारण सत्र के लिए अपना चेयरमैन और उपचेयरमैन चुनता है। किन्तु उन दोनो मे से कोई भी व्यक्ति अगले साधारण सत्र का चेयरमैन अथवा उपचेयरमैन पुन निर्वाचित नही हो

---

[1] Article 73 १९१९ मे पूर्व चुनाव एकल सदस्य निवाचन-क्षेत्रों के आधार पर होते थे। और यदि प्रथम चुनाव मे पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता था तो दुबारा चुनाव होता था।

[2] Article 74 स्विट्ज़रलैंड में पूर्ण-पुरुष-व्यस्क-मताधिकार (Manhood Suffrage) १८४८ मे ही दे दिया गया था। स्त्रियों को मताधिकार नहीं है यद्यपि संविधान ने कहीं भी स्त्रियों को नागरिकता से वंचित नहीं किया है।

[3] Article 72. इस अनुच्छेद मे जनसंख्या सम्बन्धी जो आँकड़े दिये गए हैं उनको लगातार बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण दो बार बदलना पड़ा (१९३१ और १९५१ में)।

[4] Ibid

[5] Article 120

[6] Article 74

ा। सत्र (Session) का अर्थ वही लगाया गया है जो इस शब्द का अर्थ ेद ८६ में लगाया गया है। इस प्रकार राष्ट्रीय परिषद् का चेयरमैन एक वर्ष ये चुना जाता है। इस पद का आवश्यक रूप से एक के बाद दूसरे के पास स्विस परम्परा के अनुरूप है, और ऐसा इसलिये किया जाता है कि एक ही ी में सारी शक्ति केन्द्रित न हो जाय। इस परम्परा में यह इच्छा भी निहित है ह पद सदैव एक ही दल अथवा एक ही कैण्टन अथवा एक ही भाषा-भाषी ाय के अधिकार में न पड़ा रहे। चेयरमैन की शक्तियाँ सामान्य-सी हैं। उसको ायक मत प्राप्त है, किन्तु उस मत को वह बराबर-बराबर मतों की स्थिति में ही न करता है, और यही सदन की सुस्थापित परम्परा है। किन्तु जब सदन किसी व के उद्देश्य से सम्मिलित होता है, उस स्थिति में स्पीकर भी अन्य सदस्यों के न ही मतदान करता है।

सत्र और वादविवाद (Sessions and Debates)—राष्ट्रीय परिषद् का साधा- सत्र (Session) दिसम्बर के प्रारम्भ में लगता है और उसके प्राय ६ सम्मेलन होते उसके सत्र प्राय छोटे होते हैं जो प्राय एक बार में तीन सप्ताह तक चलते हैं। य परिषद् आपात्काल की अवस्था में असाधारण सत्र भी आहूत कर सकती है।[2] ीय परिषद् की बैठक गर्मियों में प्रातःकाल आठ बजे प्रारम्भ होती है और जाड़ों में जे। परिषद् की उपस्थिति सभी सदस्यों के लिये अनिवार्य है और बिना अत्यावश्यक णों के किसी सदस्य का सदन से अनुपस्थित रहना, [illegible] से भी जुर्माना ा जाता है। सदन तुरन्त कार्यवाही में जुट जाता है और सामान्य स्विस सदस् य उन्हीं अच्छे गुणों का प्रदर्शन करता है जो स्विस चरित्र के मुख्य लक्षण माने हैं। स्विस डिप्टी (Swiss Deputy) ठोस (Solid), गम्भीर और समझदार ा है और आवेगरहित होता है, अथवा आवेग प्रदर्शित नहीं करता। वह प्रत्येक पर व्यावहारिक बुद्धि से सोचता है और प्राय मध्यमार्ग अपनाता है। इसलिये स संघीय संसद् संसार में सबसे अधिक नियमपूर्वक व्यावहारिक कार्य करने

---

[1] [illegible] (Assembly) [illegible] (Sittings) [illegible] (Council of States) [illegible] (National Council) [illegible] (Ordinary Sittings) [illegible]

[2] [illegible] (Federal Council) [illegible] (National Council) [illegible] (Article 56)

वाली ससद है और अपना समस्त कार्य खामोशी के साथ करती रहती है। वाद-विवाद सयमित रहते हैं और थोडी-सी नपे-तुले शब्दो में वक्तृताएँ होती हैं। आलकारिक भाषा में तडकीली-भडकीली वक्तृताएँ बिल्कुल नही होती और प्रचलित तालियो की गडगडाहट या प्रशसासूचक नारे अथवा निन्दापरक आवाज़ें कभी भी नही सुनाई देतीं। वाद-विवाद में अभिबाधा नही डाली जाती और विभाजन (Division) प्रायः बहुत ही कम होता है। राष्ट्रीय परिषद् के सदस्य (Deputies) चारो राष्ट्रीय भाषाओ में से किसी में भी बोल सकते हैं और प्रत्येक सार्वजनिक महत्त्व का प्रलेख जर्मन, फ्रेंच और इटालियन भाषाओ में छापा जाता है। सरकारी आशुलिपिको (Stenographers) की व्यवस्था नही की जाती और प्रसिद्ध समाचारपत्रो में भी वाद-विवाद सक्षेप में छपते हैं। कभी-कभी यदि राष्ट्रीय परिषद् चाहे तो जबानी कुछ सूचना पत्रो को दे देती है और कुछ महत्त्वपूर्ण वाद-विवादो को छपवा देती है।

मान्य विरोधी दल का अभाव (No official Opposition)—स्विस विधानमण्डल में राजनीतिक दलो को वह महत्त्व प्राप्त नही है जो इगलैंड और अन्य ससदीय शासन-प्रणाली वाले देशो में है। इसके दो कारण हैं। प्रथम यह है कि राष्ट्रीय परिषद् के पास यह अधिकार नही है कि वह सघीय पारिषदो (Federal Councillors) को अपदस्थ कर सके। द्वितीय यह है कि व्यवस्थापक क्षेत्र मे भी ससद् की सर्वोच्चता पर सर्वसाधारण की प्रभु शक्ति का अकुश रहता है और वे किसी जनमत सग्रह में ससद् (Assembly) द्वारा किये गये निर्णयो को रद्द कर सकते हैं। स्विस राष्ट्रीय परिषद् में ब्रिटिश लोकसभा की भाँति न तो शासक-दल के लिये नियत स्थान (Treasury Bench) हैं और न विरोधी दल के लिये कोई नियत स्थान हैं क्योंकि स्विट्ज़रलैंड की ससद् में न तो कोई शासक दल है और न विरोधी दल। सघीय पारिषद् (Federal Councillors) विधानमण्डल के सदस्य नही होते, यद्यपि वे ससद् के किसी भी सदन मे उपस्थित हो सकते हैं। किन्तु उनको वोट देने का अधिकार नही है। जब ससद के किसी सदन मे किसी विभाग के बारे में कार्यवाही होती है तो सम्बन्धित विभाग का अध्यक्ष पारिषद् सदन में जाता है, प्रश्नो के उत्तर देता है, स्पष्टीकरण देता है, और वाद-विवाद में भाग लेता है। किन्तु इस सबके कारण भी सघीय पारिषद् की वह स्थिति नही होती न उतना प्रभाव होता है जितना कि ससदीय शासन मे किसी मन्त्री का होता है। सघीय पारिषदो को सदन के चेयरमैन (Chairman) के वाम और दक्षिण पार्श्वों में बैठने को स्थान दिये जाते हैं। और चूँकि वे किसी सदन के सदस्य नही होते इसलिये वे ससदीय बहुमत दल के नेता भी नही हो सकते, चाहे उनका सदन में व्यक्तिगत प्रभाव कितना भी हो। जब शासक दल अथवा मन्त्रिमण्डलीय दल ही नहीं है तो विरोधी दल भी नहीं हो सकता। स्विस जनसाधारण राजनीतिक विरोध का प्रदर्शन नहीं करते न वे राजनीतिक विरोधियो के विरुद्ध सगठित वाकयुद्ध अथवा प्रचार युद्ध ठानते है। वे व्यवस्थापन के कार्य को व्यावहारिक लाभ की दृष्टि से देखते हैं और वे इसकी परवाह नहीं करते कि

(अनुच्छेद ५-७) जिससे दोनो सदनो के मतभेद (Divergences) दूर किये जा सकें। किन्तु ऐसी कोई प्रक्रिया नही है जिससे हठपूर्ण गतिरोध दूर किया जा सके। यदि गतिरोध दूर करने सम्बन्धी प्रक्रिया के अनुसार प्रयत्न करने के बाद भी दोनो सदनो में से कोई भी सदन हठ न छोडे तो उस समस्त परियोजना (Project) को ही त्याग देना चाहिये। यदि कुछ समय पश्चात् उसको पुन पुर स्थापित किया जाता है तो उसको फिर प्रारम्भिक स्तर से प्रारम्भ करना होगा। जहाँ निर्णय करना आवश्यक है, उसके लिये सविधान चाहता है कि दोनो सदन सम्मिलित उपवेशन में एकत्र हो और दोनो सदनो के समस्त डिप्टी या सदस्य (Deputies) एक सदन के सदस्यो के रूप में मत दें। क्योकि राष्ट्रीय परिषद् में राज्य सभा को अपेक्षा लगभग चौगुने सदस्य होते हैं इसलिये उसी की चलती है। किन्तु इस प्रकार के गतिरोध की स्विट्ज़रलैंड में सम्भावनाएँ बहुत ही कम हैं।

व्यवस्थापक प्रक्रिया (Legislative Procedure)—स्विस विधानमण्डल के दोनो सदनो के समक्ष जितने भी प्रस्ताव आते हैं वे दो प्रकार के होते हैं, प्रशासन सम्बन्धी विधेयक और अन्य अभिप्राय के विधेयक। प्रशासनिक विधेयक वे होते हैं जिनकी, अपने कर्त्तव्यो के निर्वहन मे कार्यपालिका आवश्यकता समझती है। ऐसे प्रस्तावो का प्रारूप सघीय परिषद् तैयार करती है और वही ससद् में पुर स्थापित करती है और परिषद् के एक या एक से अधिक पारिषद् ससद् में उपस्थित होते हैं और प्रस्तावित विधेयक की व्याख्या करते हैं और ससद् से सिफारिश करते हैं कि उक्त विधेयक पर विचार किया जाय और उसे स्वीकार किया जाय। विस्तृत अभिप्राय के विधेयको की माँग सर्वसाधारण की ओर से भी आ सकती है और उनको ससद् (Federal Assembly) के किसी सदस्य के द्वारा भी पुर स्थापित किया जा सकता है। यदि किसी विधायी परियोजना (Project) का सूत्रपात विधानमण्डल के किसी सदस्य द्वारा हुआ है, तो प्रथा यह है कि ससद् के दोनो सदन उक्त परियोजना के व्यावहारिक लाभो और उसमें निहित राजनीतिक बुद्धिमत्ता का परीक्षण करते हैं। यदि इस स्तर में उक्त प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता है तो सघीय परिषद् को आज्ञा दी जाती है कि वह विधेयक का प्रारूप तैयार करे और सघीय परिषद् (Federal Council) सत्यनिष्ठा से सघीय ससद की इच्छाओ के अनुसार कार्य करती है। वित्तीय विधेयको पर सघीय परिषद् का पूर्ण नियन्त्रण रहता है और वित्तीय प्रस्तावो को ससद् के सदस्य पुर स्थापित नही कर सकते। वित्तीय विधेयको की माँग सर्वसाधारण की ओर से भी नही आ सकती। अधिकतर विधेयको को समितियो के सुपुर्द कर दिया जाता है। समितियो का गठन, ससद् में प्रतिनिधित्व-प्राप्त विभिन्न दलों की शक्ति के अनुपात मे किया जाता है। प्रत्येक समिति का एक रिपोर्टर (Reporter) होता है और उसी के द्वारा ससद् के दोनो सदनो को बहुमत और अल्प मत की रिपोर्ट दी जाती है।

संघीय संसद् की शक्तियाँ

(Powers of the Federal Assembly)

जैसा कि पहले भी बताया गया था, संघीय संसद् की शक्तियों पर अपने ही अधिकार क्षेत्र में प्रायः कोई संविधानिक बंधन नहीं है। अनुच्छेद ८४ स्पष्टतः वर्णन करता है कि राष्ट्रीय परिषद् (National Council) और राज्य सभा (Council of States) उस समस्त कार्यवाही के करने में पूर्ण स्वतन्त्र होगी जो आधुनिक संविधान ने परिसंघ (Confederation) के अधिकार क्षेत्र में सौंपी है और जिसको किसी अन्य संघीय सत्ता को विशिष्ट रूप से नहीं सौंपा गया है। संविधान के निर्माताओं ने यह आवश्यक नहीं समझा कि संघीय संसद् की शक्तियों पर कोई विशिष्ट अंकुश लगाए जायें, क्योंकि आवश्यकता पड़ने पर सर्वसाधारण की इच्छा के अनुसार जनमतसंग्रह के द्वारा संसद् के प्रभाव को मन्दाभ किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त स्विट्जरलैंड जैसे छोटे से देश में जहाँ कि विधानमण्डल के सदस्यों की संख्या अत्यन्त कम है और जहाँ राजनीतिज्ञों की जाँच परम्परागत ईमानदारी के प्रमापों के द्वारा होती है, संसद् के ऊपर किसी प्रकार के अंकुश की आवश्यकता नहीं है क्योंकि "जहाँ संसद् के सदन अपनी शक्तियों को, संविधानिक सीमाओं का अतिक्रमण करके, बढ़ाने का प्रयत्न करेंगे, तुरन्त जनमत ऐसी प्रवृत्ति को रोक देगा।"

स्विस विधानमण्डल की अन्य विशेषता यह है कि उसके दोनों सदन शक्तियों और कर्तव्यों के सम्बन्ध में एक-दूसरे के बराबर हैं। विधेयकों को किसी भी सदन में उपस्थित किया जा सकता है और कोई भी सदन दूसरे सदन की शक्तियों का प्रतिनिषेध (veto) नहीं कर सकता। संघीय परिषद् के पार्षदों (Federal Councillors) को दोनों सदनों में उपस्थित होना पड़ता है और प्रश्नों के उत्तर देने पड़ते हैं यद्यपि वे दोनों में से किसी भी सदन के सदस्य नहीं होते। कुछ उद्देश्यों जैसे संघीय पार्षदों का चुनाव, अथवा संघीय सत्ताओं में अधिकार क्षेत्र सम्बन्धी विवादों के निर्णयार्थ अथवा क्षमादान (granting of pardons) के लिए दोनों सदन एक ही स्थान में एकत्र होते हैं और सम्मिलित होकर एक सदन के रूप में काम करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ शर्तों के अनुसार संविधान में तभी संशोधन हो सकता है जब कि राष्ट्रीय परिषद् (National Council) और राज्यसभा (Council of States) दोनों तदर्थ सहमत हों।

स्विस विधानमण्डल की विशेषताओं के सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि संविधान के निर्माताओं ने शक्तियों के पृथक्करण के पुराने सिद्धान्त पर कोई ध्यान नहीं दिया। उन्होंने संघीय संसद् को समस्त शक्तियाँ—व्यवस्थापन, कार्यकारी और न्यायिक—दे डालीं और यह उन्होंने [illegible] ही नहीं किया।

विधायिनी शक्तियाँ (Legislative Powers)—संघीय संसद् उन सभी विधियों और आज्ञाओं को पारित कर सकती है जिनका सम्बन्ध उन विषयों से है जिनको संविधान ने संघीय सत्ताओं को सौंपा है और [illegible] संघीय सत्ताओं के लि-

चुनाव व्यवस्था सम्बन्धी विधियाँ भी पारित कर सकती है। सघीय सविधान की क्रियान्विति करने के लिए भी जो आवश्यक अधिनियम होगे और कैण्टनो के सविधानो की क्रियान्विति की गारटी के लिए और अन्य सघीय उत्तरदायित्वो के निर्वहन के लिए जिस प्रकार की भी विधियों की आवश्यकता होगी उनको सघीय ससद् पास कर सकती है। ससद् ऐसे अधिनियम भी पारित कर सकती है जिनसे देश की वाह्य आक्रमणो के विरुद्ध रक्षा, अथवा अपनी स्वतन्त्रता और तटस्थता की रक्षा के लिए आवश्यक व्यवस्था की जा सके। ससद् ऐसे अधिनियम भी पारित कर सकती है जिनसे कैण्टनो की प्रादेशिक स्वच्छन्दता और उनके सविधानो की क्रियान्विति, देश की आन्तरिक सुरक्षा और समस्त देश में शान्ति बनी रहे। ससद् ही परिसघ की वार्षिक आयव्ययक (budget) सम्बन्धी विधि तैयार करती है और उसको पारित करती है, राज्यो अथवा कैण्टनो के लेखो (Accounts) को स्वीकृति प्रदान करती है और उनको ऋण लेने की अनुमति देती है। अन्तश ससद्, परिसघ के प्रशासन से सभी आवश्यक जानकारी जिसको वह आवश्यक समझे माँग सकती है और ससद्, सघीय परिषदो से भी आवश्यक जानकारी प्राप्त कर सकती है। सघीय परिषद् (Federal Council) सघीय ससद् को परिसघ (Confederation) की आन्तरिक स्थिति और उसके विदेशो के साथ सम्बन्धो के विषय में वार्षिक प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है। यदि सघीय ससद् अथवा उसका कोई सदन चाहे तो सघीय परिषद् को परिसघ के विषय में विशेष रिपोर्टें (Special reports) भी देनी होगी।

स्विस सविधान का आदेश है कि ससद् द्वारा पारित समस्त विधियाँ और ससद् द्वारा स्वीकृत सभी प्रस्ताव जनमतसग्रह के लिए प्रस्तुत किये जायँ बशर्ते कि उक्त विधि अथवा प्रस्ताव को ससद् ने विशेष आवश्यक (urgent) घोषित न कर दिया हो, किन्तु इस सम्बन्ध में उक्त विधि अथवा प्रस्ताव स्वीकृति होने के ९० दिनों में या तो ३०,००० नागरिको द्वारा अथवा आठ कैन्टनो द्वारा तदर्थ प्रार्थना आनी आवश्यक है। यदि जनमतसग्रह के फलस्वरूप, सर्वसाधारण का बहुमत उक्त विधि के विरुद्ध मत देगा तो उसे रद्द समझा जायगा। १९३९ के पूर्व जो सघीय आज्ञाएँ सामान्य प्रकार की नही होती थी और जिनको विशेष आवश्यक घोषित कर दिया जाता था, उनको जनमतसग्रह के लिए प्रस्तुत नही किया जाता था। २२ जनवरी १९३९ के सशोधन ने किसी आज्ञा को विशेष आवश्यक (urgent) घोषित करने के सम्बन्ध में यह उपबन्धित किया कि केवल वही आज्ञायें विशेष आवश्यक (urgent) घोषित की जा सकेंगी जिनको अलग-अलग दोनो सदनो के बहुमतो ने पारित किया हो और जिनके प्रभावीकरण की अवधि निश्चित हो अर्थात् जो आज्ञायें निश्चित काल के लिए ही निकाली गई है।[1] अनुच्छेद ८९ को १९४९ में पुन सशोधित किया गया और आधुनिक स्थिति यह है कि किसी भी सघीय आज्ञा के सम्बन्ध मे ३०,००० नागरिक अथवा आठ कैन्टन जनमतसग्रह की माँग कर सकते हैं, और इसका कोई

---

[1] Article 89, Section 3

विचार नहीं है कि उक्त आज्ञा को विशेष आवश्यक (urgent) घोषित किया गया था अथवा नहीं। इस प्रकार की संसदीय आज्ञा को यदि सर्वसाधारण एक वर्ष के अन्दर स्वीकार नहीं कर लेते तो वह स्वीकृति के एक वर्ष बाद स्वतः प्रभावहीन हो जायगी। इस प्रकार की आज्ञा एक बार से अधिक संसद् द्वारा अधिनियमित नहीं की जायगी।

इस सम्बन्ध में संघीय संसद् ही निर्णय कर सकती है कि कौन विधि और कौनसा प्रस्ताव विशेष आवश्यक (urgent) माना जाय। डा० जैलवीगर (Dr. Zellweger) संघीय संसद् को दोषी ठहराते हुए कहता है कि संसद् ने इस सम्बन्ध में अपना स्वविवेक निष्पक्षता के साथ प्रयुक्त नहीं किया है और इसलिए संसद् द्वारा पारित अथवा स्वीकृत प्रस्तावों पर जनमत संग्रह नहीं होने दिया गया। इस बारे में दो बातें ध्यान में रखनी चाहिएँ। प्रथमतः परिषद में सामान्य विधियों पर जनमत-संग्रह (referendum) ऐच्छिक (optional) है और अस्थिर (fluctuative) है। द्वितीयतः स्विस परिषद में व्यवस्थापक प्रस्तावों पर लोकप्रिय आरम्भक (Popular initiative) नहीं हो सकता।

कार्यपालिका शक्तियाँ (Executive powers)—राज्य सभा (Council of States) और राष्ट्रीय परिषद् (National Council) दोनों अपने सम्मिलित उपवेशन में संघीय परिषद् (Federal Council) के सातों सदस्यों का, और उसके अध्यक्ष का निर्वाचन करती है, और संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) के न्यायाधीशों, संघीय बीमा विभाग के सदस्यों और सर्वोच्च सेनापति की भी नियुक्तियाँ करती है। अन्य अधिकारियों के चुनाव का अथवा उनके चुनाव की स्वीकृति का अधिकार संघीय संसद् को संघीय विधि की आज्ञानुसार दिया जा सकता है। संघीय संसद् ही समस्त सिविल सेवकों के क्रियाकलापों का अधीक्षण करती है और यदि संघीय अधिकारियों में कभी अधिकार क्षेत्र सम्बन्धी कोई विवाद खड़ा हो जाय तो संसद् ही प्रशासनिक झगड़ों को निपटाती है। संसद् ही संघीय विभागों और संघीय सचिवालय (Chancellory) के अधिकारियों का वेतन और भत्ता आदि निश्चित करती है, तथा स्थायी संघीय कार्यालयों के कर्मचारियों का वेतन भी संसद् ही निश्चित करती है।

संघीय सरकार बजट पर भी संसद् का ही नियन्त्रण है। संसद् ही युद्ध की घोषणा करती है और शान्ति सन्धि करती है और सभी सन्धियों ([illegible]) और समझौतों (alliances) का अनुसमर्थन करती है। यदि कैन्टनों ने आपस में सन्धियाँ की हैं अथवा, यदि कैन्टनों ने विदेशों के साथ सन्धियाँ की हैं तो उनका संघीय संसद् द्वारा अनुसमर्थन आवश्यक है। किन्तु इसमें शर्त यह है कि इस प्रकार की कैन्टनों द्वारा की हुई सन्धियाँ संसद् के समक्ष केवल उन दशाओं में लाई जाती हैं जिनमें उन पर संघीय परिषद् ने या किसी अन्य कैन्टन ने आपत्ति किया हो। यदि कोई कैन्टन संघीय विधियों की निर्धारित [illegible] अथवा संघीय उत्तरदायित्वों के निर्वहन में [illegible]

है तो सघीय ससद् ही निश्चित करती है कि दोषी कैण्टन के विरुद्ध क्या कार्यवाही की जाय और उक्त कैण्टन के प्रबन्ध में किस प्रकार हस्तक्षेप किया जाय।

३० जनवरी १६३१ का सविधानिक सशोधन आज्ञा देता है कि जो अन्तर्राष्ट्रीय सधियाँ अनिश्चित काल के लिए की जायँ अथवा १५ वर्ष से अधिक की अवधि के लिए की जायँ उनको भी सर्वसाधारण की स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के लिये ३०,००० मतदान अर्हता रखने वाले स्विस नागरिको की प्रार्थना पर अथवा आठ कैण्टनो की प्रार्थना पर जनमतमग्रह के लिए रखा जायँ। इसीलिये १६ मई १६२० को जनमतसग्रह के द्वारा ही स्विट्जरलैंड का राष्ट्रसघ मे प्रवेश निश्चित और स्वीकृत किया गया था।

न्यायिक कर्तव्य (Judicial functions)—सघीय ससद् क्षमादान (pardon) तो दोनो सदनो के सम्मिलित सत्र में करती है किन्तु राजद्रोहि-क्षमादान (amnesty) दोनो सदन अलग-अलग उपवेशनो में करते हैं। यदि सघीय परिषद् (Federal Council) ने प्रशासनिक विवादो पर कोई निर्णय दिये हैं तो उनके विरुद्ध अपील भी सघीय ससद् के समक्ष आती हैं।

सविधानिक सशोधन के सम्बन्ध में अधिकार (Constitution amending power)—सविधान के सशोधन की विधि और प्रक्रिया के सम्बन्ध में वर्णन किया जा चुका है।[1] जब दोनो सदन सविधान में सशोधन करने के लिएराजी हो जाते हैं—चाहे पूर्ण सशोधन के लिए या आशिक सशोधन के लिये—तो प्रस्तावित सशोधन जनमतसग्रह के लिए भेज दिया जाता है जिसे सर्वसाधारण या तो स्वीकार करें या अस्वीकृत करें। यदि दोनो सदनो में से एक सदन संशोधन के पक्ष में नही है, तो उक्त सशोधन सर्वसाधारण के निर्णय के लिए प्रस्तुत किया जाता है और उनसे पूछा जाता है कि वे सशोधन के पक्ष में हैं अथवा नही। यदि सर्वसाधारण का बहुमत सशोधन के पक्ष मे हो तो सघीय ससद् के लिये नया आम चुनाव होता है ताकि सशोधन की कार्यवाही पूरी हो जाय। फिर ससद् में तत्सम्बन्धी आवश्यक कार्यवाही के बाद उसको सर्वसाधारण और कैण्टनो के जनमतसग्रह के लिए भेज दिया जाता है।

स्विस सविधान ने सविधानिक आरम्भक (Constitutional initiative) की भी व्यवस्था की है और इस दिशा में भी ससद् अपना पार्ट अदा करती है यद्यपि अन्तिम निर्णय सर्वसाधारण के द्वारा ही होता है।

---

[1] अध्याय २

अध्याय ६

स्विस संघीय शासन का स्वरूप (क्रमश.)

(The Frame of National Government) (Cond)

संघीय न्यायपालिका

(The Federal Judiciary)

संघीय न्यायाधिकरण (The Federal Tribunal)—स्विट्ज़रलैण्ड के संघीय न्यायाधिकरण की सृष्टि १८७४ में एक नई संस्था का प्रवर्तन था। इसमें सन्देह नहीं कि १८४८ के संविधान ने संघीय अधिकार क्षेत्र में न्याय-व्यवस्था के लिए एक न्यायालय की व्यवस्था की थी किन्तु इस न्यायालय को यह अधिकार नहीं था कि यदि परिसंघ (Confederation) और कैण्टनों की विधियों में विभिन्नता हो अथवा यदि कैण्टनों के बीच विविध विधियों के सम्बन्ध में विवाद हो तो वह निर्णय दे सके। इस प्रकार के विवाद जो अब संघीय न्यायाधिकरण द्वारा सुलझाये जाते हैं, पहले संघीय संसद् (Federal Assembly) और संघीय परिषद् (Federal Council) के सम्मुख जाते थे। यहाँ तक कि नागरिकों के अधिकारों सम्बन्धी मामले भी उस समय तक संघीय न्यायालय के सम्मुख नहीं जा सकते थे जब तक कि संघीय परिषद् या संघीय संसद् ही उस मामले को संघीय न्यायालय में स्वयं न भेजे। १८७४ के संविधान ने संघीय न्यायालय की शक्तियों अथवा अधिकार क्षेत्र के सम्बन्ध में कोई प्रभावी परिवर्तन नहीं किये, किन्तु व्यवहारतः उस न्यायालय के अधिकार में पर्याप्त वृद्धि हुई है। अनुच्छेद १०६ केवल यही आदेश देता है कि "एक संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) की स्थापना की जाय जो संघीय अधिकार क्षेत्र के सम्बन्ध में न्याय की व्यवस्था करेगा।" वर्तमान संघीय न्यायाधिकरण ने १८७५ में अपना कार्य प्रारम्भ किया और "तब से कई बार इसके अधिकार क्षेत्र में वृद्धि हुई है और इसके अधिकार क्षेत्र में वृद्धि के साथ-साथ संघीय परिषद् के अधिकार क्षेत्र में किसी सीमा तक संशोधन हुआ है।"[1]

संघीय न्यायाधिकरण की रचना और संगठन (Composition and Organization of the Federal Tribunal)—संविधान आदेश देता है कि, "विधि ही संघीय न्यायाधिकरण और इसके उपविभागों के संगठन की विधि, इसके सदस्यों और उप सदस्यों की संख्या और उनकी पदावधि, और वेतन आदि के सम्बन्ध में निर्णय करेगी।"[2] न्यायाधीशों और उपन्यायाधीशों का चुनाव संघीय संसद् के दोनों सदनों

---

[1] Hughes, C The Federal Constitution of Switzerland p 119.

[2] Article 107, Section 2

के सम्मिलित सत्र में होता है।[1] सविधान न्यायाधीशो की योग्यताओ और अर्हताओ के सम्वन्ध में मौन है। उसमें तो केवल यही कहा गया है कि कोई भी स्विस नागरिक जो राष्ट्रीय परिषद् (National Council) की सदस्यता की अर्हता रखता हो, सघीय न्यायाधिकरण में नियुक्त किया जा सकता है।[2] किन्तु सघीय ससद,[3] एव सघीय परिषद् के सदस्य तथा वे अन्य अधिकारी जो इन सस्थाओ के लिये चुने गए हो, एक ही समय में अपने पदो के साथ-साथ सघीय न्यायाधिकरण के भी सदस्य नही रह सकते। सघीय न्यायाधिकरण के लिये न्यायाधीशो की नियुक्ति के सम्वन्ध में सविधान ने केवल एक शर्त रखी है कि सघीय ससद् (Federal Assembly) जिस समय सघीय न्यायाधिकरण के न्यायाधीशो और उप-न्यायाधीशो की नियुक्ति करे तो यह ध्यान रखे कि परिसघ की तीनो राष्ट्रीय भाषाओ को उचित और न्याय्य प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाय।[4] किन्तु अब अत्यन्त योग्य और वैधिक योग्यता के व्यक्ति को ही छाँटा जाता है और "कभी-कभी राजनीतिक कारणो से भी चुनाव पर प्रभाव पड सकता है, फिर भी कभी यह नही कहा गया है कि स्विट्ज़रलैण्ड में न्यायाधीशो की योग्यता इगलैण्ड अथवा अमेरिका के न्यायाधीशो की अपेक्षा घटिया होती है या स्विट्ज़रलैण्ड मे न्यायाधीशो की नियुक्तियो पर इगलैण्ड या सयुक्त राज्य में न्यायाधीशो की नियुक्तियो पर पडने वाले प्रभाव की अपेक्षा अधिक प्रभाव पडता है।"

१९४३ की न्याय-व्यवस्था सम्वन्धी विधि ही सघीय न्यायाधिकरण के सगठन पर प्रकाश डालती है। इस विधि ने न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) के न्यायाधीशो की सख्या २६ से लेकर २८ तक निर्धारित की है और उसमें २६ न्यायाधीश कार्य करते हैं। साथ ही लगभग ११ से लेकर १३ तक उप-न्यायाधीश (Alternates or Deputy Judges) होते हैं। सघीय न्यायाधिकरण के न्यायाधीश सघीय ससद् द्वारा छ वर्षो के कार्यकाल के लिये निर्वाचित होते हैं। किन्तु सघीय पारिषदो (Federal Councillors) के समान न्यायाधीशो को भी पुनर्निर्वाचित कर लिया जाता है और वे जब तक अपने पदो पर रहना चाहें रह सकते हैं। इससे न्यायाधीशो का कार्यकाल स्थायी-सा हो जाता है। इसके कारण न्यायपालिका की अधीनता का भय नही रहता किन्तु यदि न्यायाधीशो का कार्यकाल अस्थायी होता तो उनके ऊपर वहि प्रभाव पडने का भय रहता। सघीय ससद् न्यायाधिकरण के अध्यक्ष एव उपाध्यक्ष का भी निर्वाचन करती है। इनमें से प्रत्येक का कार्यकाल दो वर्ष होता है। किन्तु इनका तुरन्त पुनर्निर्वाचन नही होता।

---

[1] Article 92

[2] Article 108

[3] १८७४ से पूर्व सघीय न्यायाधिकरण की सदस्यता के साथ-साथ राष्ट्रीय ससद् की सदस्यता भी चलती थी तथा वे कोई अन्य आजीविका का साधन अपना सकते थे। सत्य तो यह है कि सघीय न्यायाधिकरण की सदस्यता के साथ-साथ कोई और सदस्यता भी चलती थी।

[4] Article 107, Section ।

न्यायाधीशों को ३०,००० फ्रांक प्रति वर्ष का वेतन[1] मिलता है और साथ में पेंशन लाभ। अध्यक्ष को २,००० फ्रांक अतिरिक्त मिलता है। उपन्यायाधीशों को दैनिक क्रम से, जितने दिन वे कार्य करते हैं उनके पैसे मिल जाते हैं। न्यायाधीशों को ६० वर्ष की आयु पूर्ण कर लेने पर पेंशन मिलती है, किन्तु शर्त यह है कि उन्होंने संघीय न्यायाधिकरण में कम-से-कम १० वर्ष सेवा की हो। सेवा काल के हिसाब से पेंशन की धन-राशि में ८० प्रतिशत से लेकर ६० प्रतिशत तक का अन्तर पड़ सकता है।

केवल संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) ही एक संघीय न्यायालय है। संघ के छोटे न्यायालय नहीं हैं। फौजदारी विधि के अनुसार कार्य करने वाले एसाइजेज (Assizes) न्यायालय हैं। इतने कम संघीय न्यायालय रखने का कारण यह है कि अधिकतर न्यायिक कार्य कैण्टनों के न्यायालयों में होता है। संयुक्त राज्य अमेरिका के समान, स्विस संघीय न्यायाधिकरण का बड़ा कर्मचारी वर्ग भी नहीं होता जो सारे देश में न्यायाधिकरण के निर्णयों की क्रियान्विति के लिये उत्तरदायी होता। स्विट्जरलैण्ड में न्यायाधिकरण के निर्णयों की क्रियान्विति के लिये संघीय परिषद् (Federal Council) उत्तरदायी है। संघीय परिषद् कैण्टनों के अधिकारियों के द्वारा निर्णयों की क्रियान्विति की देख-भाल करती है। स्विट्जरलैण्ड के संघीय न्यायाधिकरण का ऐसा अपूर्व संगठन है जिसके कारण संघीय न्याय-व्यवस्थाओं अथवा न्यायशास्त्रियों में इसको आदर के साथ देखा जाता है।

संघीय न्यायाधिकरण का अधिकार क्षेत्र (Its Jurisdiction)—संघीय न्यायाधिकरण का अधिकार क्षेत्र समस्त दीवानी, फ़ौजदारी और सार्वजनिक विधि के ऊपर है। जैसा कि अन्यत्र भी बताया गया था, संघीय न्यायाधिकरण संविधान का संरक्षक अथवा निर्वचक नहीं है, न वह किसी संघीय विधि को असांविधानिक घोषित कर सकता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि संघीय संसद् द्वारा पारित किसी विधि को संघीय न्यायाधिकरण चुनौती नहीं दे सकता।

(१) दीवानी अधिकार क्षेत्र (Civil Jurisdiction)—संविधान के आदेशों के अनुसार संघीय न्यायाधिकरण का दीवानी अधिकार क्षेत्र परिसंघ तथा कैण्टनों के बीच तथा कैण्टनों के आपस की सभी नालिशों और विवादों को आवृत करता है। यदि कोई व्यक्ति या निगम, परिसंघ (Confederation) के विरुद्ध नालिश करे बशर्ते कि व्यक्ति अथवा निगम दुःखी हो, और नालिश की धन-राशि ८,००० फ्रांक से कम न हो, तो ऐसे विवाद भी संघीय न्यायाधिकरण के अधिकार क्षेत्र में आवेंगे। संघीय न्यायाधिकरण ऐसे विवादों को भी सुनता है जिनमें राष्ट्रीयता के अधिकारों के अतिक्रमण की शिकायत हो अथवा जिनमें नागरिकता के अधिकारों, के हनन की शिकायत हो और जो विभिन्न कैण्टनों की कम्यूनों (Communes) से सम्बन्ध रखते हों।

---

[1] Article 110

संविधान ने जो दीवानी अधिकार क्षेत्र संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) को सौंपा है, उसमे अनुच्छेद ११४ के उपबन्धो ने और अधिक वृद्धि की है, जिसके द्वारा परिसंघ (Confederation) को अधिकार मिला है कि वह न्यायाधिकरण (Court) के सम्मुख अन्य विषयो के मामले (Other matters) भी रख सकता है। यही अनुच्छेद न्यायाधिकरण को और भी अधिकार प्रदान करते हुए आदेश देता है कि वाणिज्य (Commerce) और चलनशील सम्पत्ति के सौदो पर [इसका सम्बन्ध ऋण विधि (Law of Obligation) से है जिसमे वाणिज्य विधि (Commercial Law) और विनिमय विधि (Law of Exchange) भी सम्मिलित है], कर्जे और दिवालो, प्रतिलिपि अधिकार की रक्षा और औद्योगिक आविष्कार आदि सम्बन्धी मामलो में समान विधि की क्रियान्विति करनी चाहिए। संसद् (Assembly) ने संघीय न्यायाधिकरण को प्राय सामान्य अपीलीय न्यायालय भी बना दिया है जिसमें संघीय विधियों[1] के अन्तर्गत समस्त कैण्टनो के न्यायालयो से ऐसी अपीलें आती हैं जिनकी विवादग्रस्त धनराशि ४,००० फ्राक से अधिक हो।

(२) **फौजदारी अधिकार क्षेत्र** (Criminal Jurisdiction)—फौजदारी विधि के मामलो में संघीय न्यायाधिकरण के अधिकार क्षेत्र मे निम्न प्रकार के विवाद आते हैं—

(क) ऐसे अभियोग जिनमें परिसंघ के विरुद्ध राजद्रोह और संघीय कर्मचारियो के विरुद्ध हिंसा-प्रयोग तथा संघीय संस्थाओ के विरुद्ध विद्रोह हो,

(ख) ऐसे अभियोग जिनमें अन्तर्राष्ट्रीय विधियो के विरुद्ध अत्याचार तथा अपराध किये गये हों, और

(ग) ऐसे अभियोग जिनमें राजनीतिक कारणो से अत्याचार और अपराध किये गये हो और जो आन्तरिक विद्रोह और अराजकता के या तो कारण हो अथवा फल और जिनमे संघीय सशस्त्र हस्तक्षेप की आवश्यकता आ पडी हो, और

(घ) ऐसे अभियोग जिनमें संघीय सत्ता द्वारा नियुक्त अधिकारियो ने अन्याय किया हो और जिनको संघीय सत्ता ने उक्त अधिकारियो के विरुद्ध संघीय न्यायाधिकरण के समक्ष प्रस्तुत किया हो।

अनुच्छेद ६४ (1) परिसंघ को अधिकार देता है कि वह फौजदारी विधि के अनुसार आवश्यक अधिनियम पास करे। जैसा कि पहिले बताया जा चुका है, फ़ौजदारी के मामलो के सम्बन्ध में संघीय न्यायाधिकरण समय समय पर उन तीन विभिन्न केन्द्रो पर एसाइज़ेज (Assizes) नाम के न्यायालयो की व्यवस्था करता रहता है जिनमें फौजदारी मामलो के लिये समस्त देश को बाँट दिया गया है। इन न्यायालयों (Assizes) में न्यायाधिकरण का एक भाग न्याय-व्यवस्था का कार्य करता है और उनकी सहायता के लिये पास-पडोस के गाँवो से छाँटे हुए जूरी (Juries) लोग

---

[1] Article 111

है। किसी अभियुक्त के ऊपर दोष तभी प्रमाणित हो सकता है जब ६ में से ूरी सहमत हो।

संघीय न्यायाधिकरण फौजदारी अधिकार क्षेत्र के निर्वहन के सम्बन्ध में चार में विभक्त हो जाता है, दी फेडरल क्रिमिनल कोर्ट (The Federal Criminal), दी कोर्ट आफ एक्यूजेशन (The Court of accusation) [यह न्यायालय क्रिमिनल कोर्ट के विचारार्थ आवश्यक मामले प्रस्तुत करता है और यही दृष्टि में निश्चय करता है कि मामला किस न्यायालय के अधिकार क्षेत्र में जाना]। तृतीय भाग कोर्ट आफ कैसेशन (Court of Cassation) है और अन्तिम आर्डिनरी कोर्ट आफ कैसेशन आफ सेविन जजेस (Extra-ordinary Court ssation of seven judges) है।

(३) संविधानिक अधिकार क्षेत्र (Constitutional Jurisdiction)—संघीय धिकरण को मर्यादित संविधानिक अधिकार क्षेत्र भी प्राप्त है। इस अधिकार में निम्न विवाद आते हैं—

(क) यदि एक ओर संघीय सत्ताएं हों तथा दूसरी ओर कैण्टने हों और इन के बीच अधिकार क्षेत्र अथवा न्यायिक क्षमता में विवाद हो तो ऐसे विवाद,

(ख) कैण्टनो के बीच सार्वजनिक विधि के सम्बन्ध में विवाद, और

(ग) नागरिकों के संविधानिक अधिकारों के अतिक्रमण सम्बन्धी अपीलें और ट व्यक्तियों की अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों और सन्धियों के अतिक्रमण विषयक ँ।

संविधान में नागरिकों के संविधानिक अधिकारों के सम्बन्ध में जो उपबन्ध गया है उसमें संविधि के आधार पर वे अधिकार भी सम्मिलित कर लिये गये हैं ो कैण्टनों के संविधानों ने तथा संघीय संविधान ने मान्यता प्रदान की है। यदि कार की कानूनी क्षमता के अधिकार क्षेत्र को चुनौती दी गई है तो संघीय धिकरण (Federal Tribunal) का कर्तव्य हो जाता है कि वह संघीय ान को कैण्टनों के संविधानों की अपेक्षा मान्यता प्रदान करेगा और इसी कैण्टनों की आज्ञाओं और सामान्य विधियों की अपेक्षा कैण्टनों के संविधान को ता देगा।

(४) प्रशासनिक अधिकार क्षेत्र (Administrative Jurisdiction)—ः संघीय न्यायाधिकरण को कुछ मर्यादित प्रशासनिक अधिकार क्षेत्र भी प्राप्त ह प्रशासनिक अभियोगों का भी विचार करता है और दो सरकारी पदाधिकारियों ानूनी क्षमता (Legal Competence) को निश्चित करने [illegible] ा भी अधिकार मिल गया है। [illegible] रेल प्रशासन [illegible] विवादों पर र्णय देता है और करारोपण (Taxation) सम्बन्धी प्रशासनिक मामलों में भी य देता है।

किन्तु संघीय न्यायाधिकरण की संयुक्त राज्य अमेरिका की संघीय सर्वोच्च

न्यायपालिका के साथ तुलना (Compared with the Federal Judiciary of United States)—इस पुस्तक के स्विस संविधान सम्बन्धी अध्याय २ में हमने यह बताया था कि स्विस संघीय न्यायपालिका, संयुक्त राज्य अमेरिका की संघीय न्यायपालिका से पर्याप्त अंशो मे भिन्न है। स्विस संघीय न्यायाधिकरण (The Swiss Federal Tribunal) यद्यपि राष्ट्रीय न्यायालय है किन्तु उसके अधीन कोई न्यायालय नही हैं। वह अकेला है। अमेरिकन सर्वोच्च न्यायालय के अधीन सर्किट कोर्ट आफ अपील व डिस्ट्रिक्ट कोर्ट आदि कई न्यायालय होते हैं जो सारे देश में व्यवस्थित हैं। संघीय न्यायाधिकरण अथवा न्यायपालिका के अधीन कोई ऐसे अधिकारी वर्ग नही हैं जो इसके निर्णयो की क्रियान्विति का निरीक्षण और अधीक्षण करें। संघीय न्यायाधिकरण अपने निर्णयो की क्रियान्विति के लिये संघीय परिषद् (Federal Council) का ऋणी है और संघीय परिषद उक्त क्रियान्विति कैण्टनो की सरकारो द्वारा कराती है। किन्तु दोनो देशो की न्यायपालिकाओ की शक्तियो में वास्तविक अन्तर है। संविधान की स्पष्ट आज्ञा के अनुसार संघीय न्यायाधिकरण उस प्रत्येक विधि को मानने पर बाध्य है जो संघीय संसद् (Federal Assembly) द्वारा पारित की गई हो, और उस प्रत्येक सन्धि को भी मानने पर बाध्य है जिसको संसद् ने स्वीकृत कर लिया हो। अनुच्छेद ११३ आज्ञा देता है, "ऊपर वर्णित किये गए सभी मामलों में संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) संघीय संसद् द्वारा पारित सभी विधियों को, और सभी सर्वमान्य आज्ञाओ को तथा संसद् द्वारा अनुसमर्थित सभी सन्धियो को मान्यता देने पर बाध्य होगा।" इस प्रकार संघीय न्यायाधिकरण संघीय संविधियो (Federal Statutes) अथवा ऐसी सन्धियो की संविधानिकता की जांच-पडताल करने के लिये सक्षम नही है, जो सामान्यतया सभी के ऊपर लागू होती हैं। संविधान ने यह अधिकार संघीय संसद् (Federal Assembly) को दिया है कि वही संविधान का संविधान की आज्ञानुसार पारित विधियो का भी निर्वचन कर सकती है। इसलिये संसद् (Assembly) को अधिकार है कि वह स्व-पारित विधि का मनमाने अर्थों में निर्वचन कर सकती है और इस सम्बन्ध में किसी न्यायिक शक्ति को यह अधिकार नही होगा कि उन अर्थों मे संशोधन कर सके। अमेरिका के विधि विशेषज्ञ इस बात मे चिढते हैं और उनकी मान्यता है कि विधानमण्डल उन शक्तियो का अतिक्रमण नही कर सकता जो उसको संविधान ने प्रदान की हैं। अमेरिका का मत इस सम्बन्ध में आगे यह भी कहता है कि संविधान की आज्ञाओ का पालन सही-सही होना कठिन होगा यदि संविधान का निर्वचन (Interpretation) विधानमण्डल के ऊपर छोड दिया जायगा, क्योंकि ऐसा भी हो सकता है कि स्वयं विधानमण्डल ही संविधान के उपबन्धो का अतिक्रमण और उल्लंघन कर रहा हो। संसद् द्वारा संविधान का निर्वचन तो ऐसा है कि मानो अपराधी को ही अपने मामले में निर्णय देने के लिये न्यायाधीश बना दिया गया हो।

इसके विपरीत यूरोपीय देशो में इस सिद्धान्त का पालन होता है कि न्याय-

पालिका को कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों के आधीन रहना चाहिये । इसमें सन्देह नहीं कि कतिपय स्विस विधि विशेषज्ञ (Swiss Jurists) अमेरिका की न्याय-व्यवस्था को अधिक बुद्धिमत्तापूर्ण मानते हैं, फिर भी स्विट्जरलैंड में बराबर यूरोपीय न्याय-व्यवस्था के अनुसार काम चल रहा है और इस दिशा में परिवर्तन की कोई आशा नहीं है । यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि स्विस संघीय न्यायाधिकरण के पास न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial review) का अधिकार है किन्तु यह भी प्रभावी साधन नहीं है क्योंकि स्विट्जरलैंड में सर्वसाधारण, जो प्रभुसत्ताधारी हैं, अपनी इच्छा को सीधे-सीधे जनमतसंग्रह और आरम्भक के द्वारा व्यक्त कर सकते हैं । इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि स्विस संघीय न्यायाधिकरण का सरकारी अफ़सरों के ऊपर उतना नियन्त्रण नहीं है जितना कि संयुक्त राज्य में सर्वोच्च न्यायालय का उस देश के सार्वजनिक अधिकारियों के ऊपर रहता है । बहुत सी महत्वपूर्ण बातें संघीय न्यायाधिकरण के अधिकार क्षेत्र से बाहर हैं । इस सम्बन्ध में यह भी जान लेना आवश्यक है कि यद्यपि संघीय सत्ताओं और कैण्टनों के बीच अधिकार क्षेत्र सम्बन्धी विवाद संघीय न्यायाधिकरण द्वारा निर्णीत होते हैं, परन्तु यदि संघीय परिषद् (Federal Council) और संघीय न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) के बीच अधिकार क्षेत्र सम्बन्धी विवाद हो तो उसका निर्णय संघीय संसद् (Federal Assembly) करेगी । इसलिये अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय के समान स्विट्जरलैंड के संघीय न्यायाधिकरण के पास ऐसी शक्तियों का अभाव है जिनसे वह अपनी कानूनी और वैधानिक क्षमता को स्थापित कर सके । स्विस संघीय न्यायाधिकरण ने १८७५ में लॉसेन (Lausanne) में स्थापित होने के बाद से कभी भी उस स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा का उपभोग नहीं किया जो अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय को प्राप्त है । "इसलिये यदि संघीय न्यायाधिकरण से यह आशा की जाय कि वह संघीय संविधियों को चुनौती दे सके, उचित नहीं होगा क्योंकि यह अति दुर्बल न्यायालय है और जबकि अमेरिका की न्यायपालिका, जो कहीं अधिक सशक्त है, [illegible] [illegible] रही है ।"[1]

संघीय प्रशासनिक न्यायालय

(The Federal Administrative Court)

१९१४ में संविधान[2] में संशोधन करके संघीय प्रशासनिक न्यायालय की स्थापना की गई थी । इस संविधानिक धारा ने प्रशासनिक न्यायालय को संघीय प्रशासन और कैण्टनों के प्रशासन से सम्बन्धित प्रशासनिक विवादों और अनुशासनात्मक

---

[1] Rappard, W. E. The Government of Switzerland, op cit., p 91

[2] Article 114

कार्यवाहियो के ऊपर अधिकार क्षेत्र प्रदान किया, किन्तु इस न्यायालय के सम्मुख कैण्टनो के प्रशासनिक मामले उसी स्थिति में आ सकते हैं जबकि कैण्टनो ने सघीय प्रशासनिक न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को स्वीकार कर लिया हो। १६२५ में सघीय ससद् (Federal Assembly) ने प्रस्ताव द्वारा यह स्वीकार किया कि उक्त सघीय प्रशासनिक न्यायालय के कर्त्तव्यो को न्यायाधिकरण (Federal Tribunal) ही करेगा।

इसलिये स्विस प्रशासनिक न्यायालय उन्ही अर्थों में स्वतन्त्र न्यायालय नही हैं जिस प्रकार कि स्विस बीमा न्यायाधिकरण (Swiss Insurance Tribunal) है अथवा फास तथा अन्य यूरोपीय देशो के स्वतन्त्र प्रशासनिक न्यायालय हैं। यह सघीय न्यायाधिकरण का एक उपभाग है और इस प्रकार सामान्य न्यायालयो का ही एक भाग है, अन्तर केवल यह है कि प्रशासनिक न्यायालय की कार्य-प्रणाली अन्य न्यायालयो की कार्य-प्रणाली से भिन्न है।

अध्याय ७

जनमतसंग्रह और आरम्भक

(The Referendum and the Initiative)

प्रत्यक्ष विधान (Direct legislation)—प्रत्यक्ष विधान की व्यवस्था स्विस प्रजातन्त्र की अनोखी विशेषता है। लोकप्रिय विधान निर्माण की विधि से तात्पर्य है स्वयं नागरिकों द्वारा विधि-निर्माण का कार्य न कि सर्वसाधारण के प्रतिनिधियों द्वारा सर्वमान्य विधियाँ पारित करना, और यह प्रथा उतनी ही प्राचीन है जितना कि स्विस इतिहास है, और उन्मुक्त नगर-सभा (Landsgemeinde) और नागरिकों की बृहत् सभाएँ प्रत्यक्ष विधान निर्माण के जीवित उदाहरण हैं। उन्मुक्त नगर सभा अथवा नागरिकों की बृहत् सभा अब भी प्राचीन परम्पराओं और प्रथाओं की स्मृति स्वरूपा एपेन्जिल (Appenzell), अन्टरवाल्डेन (Unterwalden) और गेरियस (*Garius*) में प्रचलित हैं और इस प्रकार विधान निर्माण के सम्बन्ध में प्रत्यक्ष कार्यवाही का विचार लोगों की स्मृति में सदैव ताजा बना रहता है।

शेष कैण्टनों में आरम्भक (Initiative) और जनमतसग्रह (Referendum) की व्यवस्था प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के साधन हैं। स्विस सर्वसाधारण ने इन व्यवस्थाओं को इस सीमा तक विकसित किया है कि अब वे पूर्णतया स्विस व्यवस्थाएं ही बन गई हैं। ब्राइस लिखता है, "प्रजातन्त्र का अध्ययन करने वाले विद्यार्थी के लिए स्विस व्यवस्थाओं में इतनी शिक्षाप्रद कोई व्यवस्था नहीं है जितनी कि जनमतसग्रह और आरम्भक व्यवस्थाएँ हैं क्योंकि इनके द्वारा हम प्रत्यक्ष रूप से सर्वसाधारण के हृदयों के भीतर से दर्शन करते हैं। सर्वसाधारण के विचार और उनकी भावनाएँ इनमें स्पष्टतः दिखाई देती हैं, न कि निर्वाचित संस्थाओं के माध्यम से।"[1] सत्य यह है कि स्विट्ज़रलैंड एक मिश्रित प्रजातन्त्र है।[2] "इसमें लोगों की विधायिनी इच्छायें विधानमण्डलों द्वारा भी व्यक्त होती हैं और प्रत्यक्ष मतदान द्वारा भी जनमतसग्रह और आरम्भक के रूप में व्यक्त होती हैं।"[3]

जनमतसग्रह (The Referendum)—रेफेरेण्डम (Referendum) शब्द का अर्थ है 'अवश्य सम्मति माँगी जाय'। राजनीति विज्ञान के सिद्धान्त के रूप में इस शब्द का अर्थ उस व्यवस्था से है जिसके द्वारा विधानमण्डल द्वारा पास किये गये अधिनियम अथवा प्रस्तावित विधि—चाहे वह मौलिक विधि हो अथवा सामान्य विधि हो—पर जनता का मत लिया जाता है। यदि जनमतसग्रह में मतदान करने वाले

---

[1] Modern Democracies, Vol I, p 415.

[2] Marx, M , Foreign Governments, (2nd. Ed), p 390

[3] Ibid

मतदाताओ के बहुमत से उक्त विधि पारित अथवा स्वीकृत हो जाती है तो उसे पारित समझा जाता है। यदि उसे अस्वीकृत कर दिया जाता है, तो उसे त्याग दिया जाता है।

जनमतसग्रह दो प्रकार का हो सकता है। वैकल्पिक या ऐच्छिक (Optional or facultative) और अनिवार्य अथवा आवश्यक (Compulsory or Obligatory)। जब कोई अधिनियम विधानमण्डल द्वारा पास किये जाने के उपरान्त, पूर्व इसके कि वह कानून का रूप धारण करे, नागरिको की निर्दिष्ट सख्या की प्रार्थना पर लोगो के सम्मुख स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के लिये प्रस्तुत किया जाता है, तो ऐसे जनमतसग्रह को वैकल्पिक अथवा ऐच्छिक जनमतसग्रह (Optional or facultative referendum) कहते हैं। किन्तु अनिवार्य अथवा आवश्यक जनमतसग्रह के लिये विशिष्ट प्रकार के अधिनियमो को आवश्यक रूप से, पूर्व इसके कि वह कानून का रूप धारण करे, सर्वसाधारण के सामने उनकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति के लिये भेजा जाता है। जनमतसग्रह का अनिवार्य या आवश्यक स्वरूप प्रजातन्त्रीय विधि है क्योंकि इसके द्वारा प्रत्येक विधि के सम्बन्ध मे सर्वसाधारण का मत व्यक्त होता है। स्विस लोग भी जनमतसग्रह के अनिवार्य स्वरूप को अधिक व्यावहारिक और श्रेष्ठ मानते हैं क्योकि इस प्रकार जनमतसग्रह की प्रार्थना पर सामूहिक हस्ताक्षर कराने से सम्बन्धित आन्दोलन का भय नही रहता। और इस प्रकार के जनमतसग्रह द्वारा जो विधियाँ पारित की जाती हैं उनका अत्यन्त स्थायी प्रभाव होता है।

जनमतसग्रह के स्वरूप (Forms of Referendum)—सघीय सविधान और कैंटनो के सविधानो के सशोधनो की जनमतसग्रह द्वारा स्वीकृति अनिवार्य है और इसके बिना कोई सविधानिक सशोधन प्रभावी नही हो सकता। १८४८ में सघीय सविधान में किसी भी प्रकार के सशोधन के लिये अनिवार्य जनमतसग्रह की व्यवस्था की गई और यह उपबन्ध (Provision) १८७४ के सविधान मे भी ज्यो का त्यो बना रहा। आधुनिक सविधान में यह भी व्यवस्था है कि कैण्टनो के सविधानो को सघीय शासन द्वारा तभी मान्यता दी जायगी जब वे इसी प्रकार जनमतसग्रह के द्वारा स्वीकार करा लिये जायेंगे।[1]

परिसघ (Confederation) में सविधानिक जनमतसग्रह के लिये जो कार्य-प्रणाली अपनायी जाती है, उसका वर्णन किया जा चुका है।[2] राष्ट्रीय व्यवस्थापक जनमतसग्रह (National legislative referendum) सघीय विधियो के ऊपर प्रभावी होता है, जिसमें आयव्ययक (Budget) और आज्ञाएँ अपवाद हैं, और १९२१ से यह (Referendum) उन अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो पर भी आवश्यक है जो या तो अनिश्चित काल के लिये की गई हो अथवा पन्द्रह वर्षों मे अधिक के लिये की गई हो। प्रत्येक सघीय विधि सघीय ससद् द्वारा पारित होने के पश्चात् सघीय सरकारी

---

[1] Article 6

[2] अध्याय ७।

जर्नल (Official Journal) में प्रकाशित की जाती है और तब कैण्टनो को इस आशय से भेज दी जाती है कि उसे कम्यूनो में सूचनार्थ घुमाया जावे। इस प्रकार सूचनार्थ घुमाये जाने के ९० दिन पश्चात् या तो आठ कैण्टनें या ३०,००० नागरिक प्रार्थना कर सकते है कि उक्त विधि को जनमतसग्रह के लिए प्रस्तुत किया जाय।

कैण्टनो की ओर से कभी भी जनमतसग्रह की माँग नही आई। प्राय नागरिक ही इसकी माँग करते हैं। प्रस्तावित विधि के विरोधी उक्त सम्बन्ध मे आन्दोलन करके सर्वसाधारण की रुचि इस ओर आकर्षित करते हैं और इसके सम्बन्ध में आवश्यक हस्ताक्षर कराते हैं। आजकल हस्ताक्षर प्राप्त करने की विधि यह है कि मतदाताओ के पास डाक द्वारा जवाबी कार्ड भेजते हैं और मतदाता उक्त कार्ड पर हस्ताक्षर करके उसे लैटर बॉक्स (Letter box) में छोड देते हैं।[1] जब इस प्रकार भेजे हुए हस्ताक्षरो की सख्या को सघीय परिषद् पर्याप्त मान लेती है, तब परिषद् उक्त विधि को प्रकाशित कराती है और देश के सभी लोगो के पास सूचनार्थ भेजती है और प्रकाशित कराने तथा विधि को सबको सूचनार्थ भेजने के चार सप्ताह बाद की कोई तिथि मतदान के लिये निश्चित करती है। सभायें होती हैं जिनमें ससद् के सदस्य और अन्य लोग या तो उक्त विधि के पक्ष में अथवा विपक्ष में भाषण देते हैं। विवादग्रस्त विधि के उपबन्धो के सम्बन्ध में पत्रो में लेख निकलते हैं। मतदान का प्रबन्ध कैण्टनो की सरकारें करती हैं किन्तु मतपत्रको (Ballot papers) की व्यवस्था सघीय सरकार करती है। मतदान रविवार को होता है और समस्त देश में एक ही दिन होता है। मतदान (Polling) प्राय शान्त होता है और किसी प्रकार की हुल्लडबाजी नही होती। न आज तक कभी मतदान के सम्बन्ध में रिश्वत या भेष बदलकर दूसरे के लिये मतदान आदि शिकायतें सुनने में आई हैं।

केवल उन कैण्टनो को छोडकर जिनमें उन्मुक्त नगरसभाओ (Landsgemeinde) द्वारा जनमत सग्रह अथवा विधान निर्माण होता है, बाकी सभी कैण्टनो में विधान निर्माण सम्बन्धी जनमतसग्रह होते हैं। कुछ कैण्टनो में अनिवार्य जनमतसग्रह होते हैं और कुछ में ऐच्छिक, जिन कैण्टनो में जनमतसग्रह ऐच्छिक होता है, उनमें कतिपय नागरिको की प्रार्थना आने पर जनमतसग्रह अवलम्बित है, और नागरिको की तदर्थ सख्या हर एक कैण्टन मे अलग-अलग है। कुछ कैण्टनें ऐसी भी हैं जिनक जनमतसग्रह महत्वपूर्ण वित्तीय विधियो के लिए अनिवार्य है और अन्य प्रकार क विधियो के लिए वैकल्पिक (Optional) है।

आरम्भक के रूप (Forms of Initiative)—जनमतसग्रह का स्वरूप केव निषेधात्मक है क्योंकि इनके द्वारा सर्वसाधारण, अपने ससद् के प्रतिनिधियो द्वार पारित विधियो का निषेध कर सकते हैं। प्रत्यक्ष विधि निर्माण के समर्थक, विरोधक

---

[1] Hughes, C. The Federal Constitution of Switzerland, o citd , p. 101

स्विस लोग कहते हैं कि केवल विधानमण्डल के ऊपर ही विधि निर्माण करने का सारा उत्तरदायित्व नही छोड देना चाहिये। उनका कहना है कि नागरिको को भी अधिकार होना चाहिये कि वे विधान के सम्बन्ध मे प्रस्ताव रख सकें और यदि उनके द्वारा प्रस्तावित विधि सर्वसाधारण द्वारा स्वीकृत हो जाती है, तो उसको विधि के रूप में पारित समझा जाना चाहिए; चाहे विधानमण्डल उसका विरोध भी करे। लोकप्रिय व्यवस्थापन की इस रीति को आरम्भक (Initiative) कहते हैं। आरम्भक के द्वारा मतदाता ऐसे मामलो में प्रभाव डाल सकता है जहाँ विधानमण्डल, सविधानिक सशोधन या विधि के सम्बन्ध में कोई कार्यवाही करना न चाहता हो।

आरम्भक दो प्रकार के होते हैं—विधेयक के रूप में (Formulative) और साधारण शब्दो में (In general terms)। यदि प्रस्ताव को साधारण शब्दो में ही व्यक्त किया गया है, तो विधानमण्डल का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि उक्त वैधिक प्रस्ताव का प्रारूप तैयार करे, उस पर विचार करे और उन विधियो को नागरिको की निश्चित सख्या के आदेशानुसार पारित करे, जिसमें सर्वसाधारण द्वारा अनुसमर्थन की शर्त होगी। अर्थात् वह सर्वसाधारण के अनुसमर्थन के बाद ही पारित विधि का स्वरूप धारण करेगी। यदि प्रस्ताव विधेयक के रूप में उपस्थित किया गया है, और सब प्रकार पूर्ण है तो विधानमण्डल का कर्त्तव्य हो जाता है कि उस पर विचार करे।

सविधानिक आरम्भक का अधिकार परिसघ (Confederation) में भी है और कैण्टनो में भी। आरम्भक (Initiative) की शर्तों के अनुसार कम से कम ५०,००० मतदाताओ को सघीय सविधान में सशोधन के लिये प्रार्थना करनी चाहिए। वह प्रार्थना सामान्य शब्दो में भी की जा सकती है अथवा पूरी तरह तैयार किए हुए विधेयक के रूप में भी की जा सकती है। यदि ससद् सामान्य शब्दो में किये गए प्रस्ताव को ही स्वीकार कर लेती है, तो यह तुरन्त सशोधन का प्रारूप तैयार करती है और उस पर कैण्टनो का और जनता का मत एकत्र किया जाता है। किन्तु यदि सघीय ससद् उक्त सशोधन के विरुद्ध है तो ऐसी अवस्था में उक्त सशोधन लोकमत जानने के लिए भेज दिया जाता है और सभी से यह मालूम किया जाता है कि सशोधन-प्रस्ताव के सम्बन्ध में आगे कार्यवाही की जाय अथवा नही। यदि प्रस्ताव को लोकमत का पक्ष मिल जाता है, तो यद्यपि ससद् ने इसी प्रस्ताव को एक बार अस्वीकृत कर दिया था फिर भी यह ससद् का कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उक्त सशोधन को विधेयक के रूप में तैयार करे और उसको सर्वसाधारण और कैण्टनो का मत जानने के लिए प्रस्तुत करे। यदि सर्वसाधारण का मत उक्त सशोधन प्रस्ताव के विरुद्ध होता है तो विधेयक गिर जाता है।

यदि आरम्भक को विधेयक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है और यदि ससद् उसको स्वीकार कर लेती है तो उक्त प्रस्ताव तुरन्त सर्वसाधारण के जनमत और कैण्टनो की तदर्थ स्वीकृति के लिए भेज दिया जाता है। किन्तु यदि ससद् विधेयक के रूप में प्रस्तुत किए गए प्रस्ताव से सहमत नही है, तो-ससद् मतदाताओ से कह

सकती है कि उक्त प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिया जाय अथवा उक्त प्रस्ताव के स्थान पर अपना प्रस्ताव तैयार कर सकती है और प्रारम्भिक प्रस्ताव के साथ-साथ अपना प्रस्ताव भेज सकती है।

यदि आरम्भक (Initiative) में सविधान के अशेष सशोधन (Complete revision) की माँग की गई है, तो उस सम्बन्ध में वही कार्य-प्रणाली अपनायी जाती है जिसका वर्णन इसी पुस्तक के अध्याय २ में किया गया था, जबकि सघीय ससद् का एक सदन सशोधन का प्रस्ताव करे किन्तु द्वितीय सदन उसका विरोध करे।

जनमतसग्रह और आरम्भक की क्रियान्विति (Working of the Referendum and the Initiative)—स्विस सर्वसाधारण प्राय सदैव या तो जनमतसग्रह के द्वारा या आरम्भक के द्वारा किसी न किसी विषय पर मत देते ही रहते हैं। १८४८ से १९५० तक कम-से-कम १०० बार तो सघीय सविधान के सशोधन के सम्बन्ध में मतदान हो चुके हैं। दो बार सविधान के पूर्ण सशोधन (Total revision) का प्रस्ताव किया गया—१८८० और १९३५ में—और दोनो प्रस्ताव अस्वीकृत हो गए। आशिक सशोधन अनेको बार हुए हैं किन्तु इन सशोधनो द्वारा सविधान के स्वरूप मे प्राय कोई विशेष अन्तर नही पडा है। विशाल बहुमत ने केन्द्रीय शासन की शक्तियों में वृद्धि की है। १८७४ और १९५० के बीच ६२० अधिनियमों (Legislative acts) पर जनमतसग्रह हुआ। "इन ६२० अधिनियमो में वे सविधानिक सशोधन भी सम्मिलित हैं जिन पर जनमतसग्रह अनिवार्य होता है और वे अधिनियम और सधियाँ भी सम्मिलित हैं जिन पर वैकल्पिक जनमतसग्रह हो सकता है और इन दोनो में वे सभी मामले सम्मिलित है जो स्वीकृत हुए अथवा रद्द कर दिये गए।"[1]

लोकप्रिय आरम्भक का प्रारम्भ १८९१ से हुआ था, तब से १९४७ तक ३७ प्रस्ताव, सर्वसाधारण की ओर से आये। इन ३७ में भी १२ तो केवल १९३५ से लेकर १९४७ तक के १२ वर्षो में प्रस्तुत किये गए।[2] इन समस्त ३७ सर्वसाधारण द्वारा प्रस्तुत किये गये प्रस्तावो में १८ प्रस्ताव अन्तिम रूप से स्वीकृत कर लिये गए।

कैण्टनो के क्षेत्र में जनमतसग्रह का प्रचलन अधिक है। किन्तु जर्मन भाषा-भाषी कैण्टनो में यह प्रचलन और भी अधिक है। जर्मन भाषा-भाषी कैण्टनो में शासन के प्रति आम अविश्वास और सन्देह है और सर्वसाधारण के निर्णयो पर विशेष विश्वास किया जाता है। इसलिये जनमतसंग्रह (Referendum) और आरम्भक (Initiative) विशेष रूप से जर्मन व्यवस्थाएँ हैं। इसके विपरीत, स्विस अर्थो में, फ्रेंच भाषा-भाषी लोगों को कम प्रजातन्त्रवादी समझना चाहिये। वे स्वभावत शासन का नेतृत्व मान लेते हैं और यद्यपि जनमतसंग्रहो का प्रचलन फ्रेंच भाषा-भाषी कैण्टनो

---

[1] Hughes, C · The Federal Constitution of Switzerland, p 101

[2] Ghosh, R C . The Govt of the Swiss Republic, p. 112.

में भी है, किन्तु प्राय पूर्ण रूप से यह ऐच्छिक हैं और उन लोगो ने बहुत ही कम वार जनमतसग्रह का आश्रय ग्रहण किया है।

जनमतसग्रह के पक्ष मे तर्क
(Arguments in favour of the Referendum)

(१) कहा जाता है कि लोकप्रिय प्रभुसत्ता का सिद्धान्त प्रत्यक्ष व्यवस्थापन में मूर्त्त-स्वरूप धारण करता है न कि प्रतिनिधिक अथवा ससदीय प्रणाली में। ससदीय प्रणाली मे वास्तविक जनमत प्राप्त करना प्राय कठिन है क्योंकि ससदीय जनमत के ऊपर दलो के, समाचारपत्रो के, वक्तृताओ के और प्रचार के प्रभाव पडते रहते हैं। जनमतसग्रह, लोकप्रिय प्रभुसत्ता को स्वीकार करता है और इसके द्वारा सर्वसाधारण की वास्तविक इच्छा का पता चल जाता है। इसलिये जनमतसग्रह (Referendum) जनमत जान लेने का सब से श्रेष्ठ बैरोमीटर है। इसके अतिरिक्त स्वय नागरिक अपने प्रतिनिधियों की अपेक्षा अपने हितो को अच्छी तरह से समझता है। जिस विधि की मांग सीधे सर्वसाधारण द्वारा की जाती है, उसके पीछे सर्वसाधारण की नैतिक इच्छा भी रहती है और इस प्रकार पारित की हुई विधि का ससदीय प्रतिनिधियो द्वारा पारित की हुई विधि की अपेक्षा अधिक सर्वसम्मत और निश्चित पालन होता है।

(२) जनमतसग्रह (Referendum) के समर्थक यह भी कहते हैं कि इसके द्वारा राजनीतिक दलो की आवश्यकता और महत्त्व कम हो जाता है और इससे दलीय भावनाओ (Partisan spirit) की प्रवृत्ति भग होती है। इसके अतिरिक्त यह विधानमण्डलों की चपलता और राजनीतिक यन्त्रो के असयम के विरुद्ध अकुश का काम देता है। कई वार ही नही अपितु अनेको वार विधानमण्डल द्वारा पारित विधियो और आज्ञाओ को सर्वसाधारण ने अस्वीकृत कर दिया है, और इससे पता चलता है कि विधानमण्डल, सदैव ही न तो सर्वसाधारण की इच्छा को जानते हैं और न उनकी इच्छाओ का प्रतिनिधित्व करते हैं। जनमतसग्रहो से यह भी पता चल जाता है कि जिन विधियो के प्रति जनमत की स्वीकृति नही है, उनका पास होना अत्यधिक कठिन ही नही, असम्भव है। सत्य तो यह है कि जनमतसग्रह ने सर्वसाधारण के हाथो में पूर्ण निषेधात्मक शक्ति (Veto) दे दी है।

(३) जनमतसग्रह के द्वारा बहुमत दल की राजनीतिक उच्छृङ्खलता किसी सीमा तक दबी रहती है। ससदीय अथवा प्रतिनिधिक प्रणाली मे विधि का वही स्वरूप रहता है जो ससद् का बहुमत दल चाहता है। उक्त विधि में अल्पमत वालों की इच्छा का ध्यान नही रखा जाता। किन्तु यदि विधि के अधिनियम बनने से पूर्व उक्त विधि को जनमतसग्रह के हेतु प्रस्तुत कर दिया जाता है तो अल्पमतो को भी उक्त सम्बन्ध मे अपने विचार व्यक्त करने का पर्याप्त अवसर मिल जाता है, और उनको यह भी अवसर मिल जाता है कि उक्त विधि को सगठित विरोध द्वारा अस्वीकृत कर सकें। यही सच्चा प्रजातन्त्र है। इसके अतिरिक्त जनमतसग्रह के द्वारा विधि

पारित करने मे कम समय लगता है। लार्ड ब्राइस (Lord Bryce) कहता है, "प्रत्यक्ष व्यवस्थापन (Direct legislation) के द्वारा विधानमण्डल, सर्वसाधारण के सम्पर्क में आम चुनाव के समय के अतिरिक्त अन्य अवसरो पर भी आता है। कतिपय सीमाओ मे जनमतसग्रह द्वारा सम्पर्क आम चुनाव के सम्पर्क की अपेक्षा अच्छा भी है क्योंकि इस सम्पर्क के द्वारा मतदाताओ को गम्भीर विषयो पर अपने विचार व्यक्त करने का अवसर प्राप्त होता है और इस सम्पर्क में दलगत भावना का विनाशकारी प्रभाव नही रहता।"

(४) जब सर्वसाधारण यह अनुभव करने लगते हैं कि वे ही स्वय देश के व्यवस्थापक (legislators) हैं तो उनमें देश-प्रेम और उत्तरदायित्व की भावनाओ का उदय होता है। इस तथ्य की अनुभूति ही नागरिको की सच्ची राजनीतिक शिक्षा है। प्रजातन्त्र का यही वास्तविक गुण है। इसके अतिरिक्त प्रत्यक्ष व्यवस्थापन की रीति अपरिवर्त्तनवादी है। सर्वसाधारण प्राय· कभी भी अपनी व्यवस्था में आमूल परिवर्त्तन नही करेंगे जब कि वे जानते हैं कि वे स्वय ही व्यवस्थापन के पञ्च भी हैं। वे यह भी जानते हैं कि आवश्यकता पडने पर वे स्वय अपनी विधियो में अपनी आवश्यकताओ के अनुरूप परिवर्त्तन कर सकेंगे। इसीलिए प्रत्यक्ष व्यवस्थापन में दूरगामी परिवर्त्तन नही किये जाते।

(५) यदि कभी सघीय ससद् के दोनो सदनो मे गतिरोध उत्पन्न हो जाय तो जनमतसग्रह के द्वारा ही ऐसे गतिरोधो को दूर किया जा सकता है। यह विधानमण्डल की शक्तियो पर अकुश है। स्विटजरलैंड मे कार्यपालिका, विधानमण्डल के निर्णयो का निषेध (Veto) नही कर सकती। न एक सदन दूसरे सदन की उपेक्षा कर सकता है। दोनो सदनो की शक्तियाँ समान हैं। ऐसी स्थिति मे विधानमण्डल के ऊपर कुछ-न-कुछ अकुश चाहिए और जनमतसग्रह (Popular vote) ही वह अकुश है।

(६) इस सम्बन्ध में अन्तिम बात, जैसा कि ब्राइस (Bryce) कहता है, यह है, "प्रत्येक शासन मे किसी न किसी स्तर पर एक ऐसी सत्ता अथवा शक्ति होनी चाहिये जिसका निर्णय अन्तिम हो, और जिसके निर्णय के विरुद्ध आगे कोई अपील न की जा सके। प्रजातत्र में ऐसी अन्तिम सत्ता केवल लोकमत ही हो सकती है, जो सभी प्रकार के विवादो पर अन्तिम निर्णय दे सकता है।"

जनमतसग्रह के विरुद्ध तर्क

(Argument against the Referendum)

(१) जनमतसग्रह के विरुद्ध मुख्य तर्क यह दिया जाता है कि इसने विधानमण्डलो की प्रतिष्ठा को कम किया है और इसके कारण अब विधानमण्डलो मे घटिया दर्जे के सदस्य आते हैं। जब प्रतिनिधिगण जानते हैं कि उनके निर्णयो को रद्द किया जा सकता है तो स्वभावत वे अपने विधायी कर्तव्यो (Legislative duties) मे बहुत ही कम रुचि लेंगे। इसके अतिरिक्त जनमतसग्रह में अन्तिम उत्तर-

दायित्व ऐसे लोकमत के ऊपर छोड दिया जाता है जो गुमनाम है, अस्थायी है और अमूर्त्त है, इस कारण वास्तविक उत्तरदायित्व का लोप हो जाता है। यदि कोई प्रस्ताव जनमतसग्रह के द्वारा स्वीकृत हो जाता है, उसका श्रेय विधानमण्डल को न मिलकर सर्वसाधारण को ही मिलता है। यदि प्रस्ताव अस्वीकृत हो जाता है तो उसका दोष विधानमण्डल को दिया जाता है। इस प्रकार दोनो ही स्थितियो मे विधानमण्डल की प्रतिष्ठा घटती है और इसका फल यह होता है कि लोकमत की निगाहों में विधानमण्डल का आदर कम रह जाता है। ब्राइस (Bryce) का कथन है कि "जनमतसग्रह के कारण विधानमण्डल में उत्तरदायित्व की भावना घट जाती है और वह ऐसे प्रस्तावो को भी पास कर सकता है जो इसको ठीक न लगते हों क्योकि वह समझता है कि अन्त में जनमत द्वारा अस्वीकृत होगा ही। यह भी हो सकता है कि विधानमण्डल ऐसी विधियाँ पारित करने से भय खाने लगे जिनको वह देश के लिए आवश्यक समझता हो, क्योकि उसे जनमतसग्रह द्वारा उक्त सम्बन्ध में तिरस्कृत होने का भय बना ही रहता है।"

(२) एक सामान्य नागरिक का मस्तिष्क न तो इतना विकसित होता है और न वह इतना शिक्षित होता है कि विधान के सम्बन्ध में अनेको विषयो पर अपनी सही राय बना सके अथवा मत व्यक्त कर सके और विशेषकर ऐसी स्थिति में जबकि इन दिनो विधान निर्माण का कार्य अत्यन्त जटिल और कठिन हो गया है, जनमतसग्रह उचित नही ठहरता। और केवल हाँ या ना कह देने से ही लोगो की वास्तविक इच्छा का पता लगाना कठिन होगा। किसी विधि के पास करने के लिए अथवा किसी पारित की हुई विधि के लोकप्रिय अनुसमर्थन के लिए सर्वसाधारण का नैतिक स्तर अत्यन्त उच्च होना चाहिए इसलिए जनमतसग्रह का मुख्य औचित्य तभी सिद्ध किया जा सकता है जबकि सर्वसाधारण का नैतिक स्तर उच्च हो।

(३) यदि किसी वैधिक प्रस्ताव के समर्थक या विरोधी लोग उक्त प्रस्ताव के सम्बन्ध मे पत्रिकाओ और भाषणो के ही द्वारा सर्वसाधारण को पूरी जानकारी करा देने का प्रयत्न करते हैं, तो यह असफल प्रयास होगा। प्रत्यक्ष व्यवस्थापन के विरोधियो का कहना है कि सर्वसाधारण के हित वास्तव में उन चुने हुए प्रतिनिधियो के हाथो में ही अधिक सुरक्षित रहते हैं जिनको योग्यता और प्रौढ विचार-शक्ति के आधार पर चुनकर भेजा गया था, न कि लोकप्रिय सर्वसाधारण के हाथो में जिनको सन्देहयुक्त मत जानने के लिए कोई प्रस्ताव जनमतसग्रह मे भेजा जाता है।

(४) जनमतसग्रह का एक अन्य दोष यह है कि इसमें कोई विधेयक या तो स्वीकार किया जाता है और या रद्द किया जाता है, किन्तु सशोधनो के लिए कोई स्थान नही है। मत पूर्ण विधेयक के लिए ही दिया जाता है। सत्य यह है कि जब स्वतन्त्र सर्वसाधारण ही विधानमण्डल का निर्माण करेंगे तो सशोधनो के लिए कोई स्थान नही है।

(५) जनमतसग्रह के विरुद्ध एक और तर्क है और उसमे पर्याप्त सार भी है, और वह यह है कि जनमतसग्रह में बहुत ही कम लोग मतदान करते हैं। कहा जाता है

कि जनमतसग्रह के मतदान के फल से वास्तविक जनमत नही पाया जा सकता, क्योंकि अधिकतर जनमतसग्रहो में किसी विधेयक के विरोधीगण अधिक सख्या में मतदान करते हैं, किन्तु समर्थकगण उतनी सख्या मे नही जाते और जनमतसग्रहो में बहुत बडी संख्या में लोग मतदान ही नही करते, इससे या तो यह निष्कर्ष निकलता है कि मतदाता लोगो को नागरिक कर्त्तव्यो का भान नही है अथवा यह निष्कर्ष निकलता है कि वे उक्त विषय पर मतदान करने की और मत व्यक्त करने की योग्यता ही नही रखते। इसके अतिरिक्त जब बारम्बार लोगो मे मत व्यक्त करने को कहा जाता है तो वे इस ओर रुचि खो बैठते हैं। इस सब का निर्णायक निष्कर्ष यही निकलता है कि जनमतसग्रह का फल भी अन्ततोगत्वा अल्पमत नागरिको अथवा थोडे से नागरिको का ही निर्णय है। और ऐसी स्थिति में यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि किसी प्रश्न पर कोई निश्चित वास्तविक जनमत है भी या नही।

(६) अन्य तर्क जनमतसग्रह के विरुद्ध यह है कि इसके द्वारा कभी-कभी अत्यन्त आवश्यक विधियो में अत्यन्त हानिकर देर हो जाती है। इस दोष के कारण जनमतसग्रह के जिन शैक्षणिक लाभो पर बल दिया गया था, उनका कोई महत्त्व नही रहता। जब नागरिक स्वय सार्वजनिक कृत्यो में रुचि नही लेते तो प्रत्यक्ष विधान-निर्माण एक तमाशा और दिखावामात्र बनकर रह जाता है।

(७) यदि जनमतसग्रह के द्वारा कोई विधि केवल थोडे से बहुमत के आधार पर स्वीकृत होती है जैसा कि १९३८ के फेडरल पीनल कोड (Federal Penal Code) और १९४७ के फेडरल इकॉनॉमिक आर्टिकल्स (Federal Economic Articles) के सम्बन्ध में हुआ जबकि दोनो ५३ प्रतिशत के बहुमत से स्वीकृत हुए तो ऐसी विधियो का नैतिक समर्थन अधिक क्षीण हो जाता है किन्तु अपेक्षाकृत यदि विधानमण्डल में बराबर-बराबर मत होने पर भी इन विधियों को पारित कर दिया जाता है तो भी इनका नैतिक समर्थन इतना क्षीण न होता। जिन देशो में प्रत्यक्ष व्यवस्थापन का प्रचलन नही है, उनमें विधानमण्डल द्वारा पारित की गयी किसी विधि को स्वीकार कर लिया जाता है और कोई यह जानने का प्रयत्न नही करता कि उक्त विधि को किस प्रतिशत बहुमत से पास किया गया था। विधानमण्डल सर्वसाधारण का ही निर्वाचित निकाय है। वही से सामान्य रीति से कोई विधि जन्म लेती है और वही सामान्य रीति से वह सर्वसाधारण के ही द्वारा पास होती है। किन्तु जब सामान्य रीति के विरुद्ध कोई विधि सर्वसाधारण की स्वीकृति के लिये जनमतसग्रह में भेजी जाती है तो हर एक आदमी यह जानना चाहता है कि कितने बहुमत से उक्त विधि को पास किया गया। जनमतसग्रह मे जिन लोगो ने विरोध किया था वे बराबर खुले रूप में विरोध करते ही चले जाते हैं क्योंकि उनको क्षोभ होता है कि सामान्य से बहुमत ने उनकी इच्छाओं को कुचल दिया।

(८) यह भी नहीं माना जा सकता कि प्रत्यक्ष व्यवस्थापन से दल-प्रणाली के दोष कम हो जाते हैं। तथ्य यह है कि जल्दी-जल्दी मतदान के कारण राजनीतिक दल अधिक क्रियाशील हो जाते हैं। जनमतसग्रह के कारण राजनीतिक प्रतियोगिता

अधिक तीव्र हो जाती है और दलगत भावना का दबाव बढ जाता है। यद्यपि ऐसी प्रवृत्ति स्विट्जरलैंड मे प्रबल नही हुई क्योकि स्विस लोगो की आदतें और ही प्रकार की हैं। ३०,००० नागरिको के हस्ताक्षर प्राप्त करने में जो प्रति हस्ताक्षर व्यय करना पडता है उसके कारण किसी विधि को चुनौती देना सहज नही है और ऐसा केवल ससृष्ट सस्थाएँ (Corporate bodies) ही कर सकती हैं जैसे राजनीतिक दल, ट्रेड यूनियन (Trade Unions), और अन्य प्रभावी समुदाय। किन्तु इसके फलस्वरूप उक्त ससृष्ट सस्थाओं का नीतियो पर और अधिक प्रभाव पडता है। क्रिस्टोफर ह्यूजेज् (Christopher Hughes) कहता है, "स्विट्जरलैंड में गैरसरकारी समुदायो (Non-public-Law Bodies) का पर्याप्त प्रभाव है और वे सशक्त हैं और सगठित हैं, और विदेशियों को, स्विस प्रजातन्त्र के लिये ये वरदानस्वरूप दिखती हैं किन्तु स्वय स्विस लोग इन समुदायो को सर्वसम्मति से हानिकर समझते हैं। सम्भवत· इसका कारण यह है कि स्विट्जरलैंड के लोगों ने अपने देश में ऐसे सशक्त राजनीतिक दलो का सगठन नहीं किया है जो सार्वजनिक नीति पर विभिन्नता रखते हो और जो उक्त गैरसरकारी समुदायो के विरुद्ध रक्षा कर सकते।"[1]

(९) जनमतसग्रह का एक स्पष्ट परिणाम यह है कि विधानमण्डल का प्रभाव घटा है किन्तु उसी अनुपात में कार्यपालिका का प्रभाव बढा है। प्रथमत ससद् अपनी विधायिनी शक्तियो को सघीय परिषद् को सौंप देना अच्छा समझती है बजाय स्वय विधि तैयार करने के, "क्योकि इससे सघीय ससद् (Federal Assembly) बहुत सीमा तक आलोचना से बची रहती है। इसलिये विधियो को इस प्रकार तैयार किया जाता है कि जहाँ तक सम्भव हो सके, जनमतसग्रह की नौबत ही न आवे। द्वितीयत., सघीय परिषद् (Federal Council) की आज्ञाओ (Arretes) को चुनौती नही दी जा सकती जबकि ससद् की विधियो और आज्ञाओ को चुनौती दी जा सकती है, इसलिये आपात् काल में विधि-निर्माण सम्बन्धी सारा काम सघीय परिषद् (Federal Council) को ही करना पडता है।"[2]

(१०) ब्राइस (Bryce) कहता है कि "जनमतसग्रह के विरुद्ध सबमे सुगम किन्तु सबसे सदिग्ध तर्क यह है कि इसके द्वारा राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक उन्नति को व्याघात पहुँचता है।" सर हैनरी मेन (Sir Henry Maine) ने इसी तथ्य को अपनी पुस्तक दी पापुलर गवर्नमेंट (The Popular Government) में १८८५ में समझाकर लिखा और इसका प्रभाव विशेष रूप में अग्रेजों पर पडा क्योंकि अग्रेज लोग स्वभावत अपरिवर्त्तनवादी होते हैं। किन्तु यह तर्क स्विट्जरलैंड के परीक्षण में सही नही उतरा है। यह सत्य है कि पक्षपात अथवा अनावश्यक सावधानी के कारण सघीय ससद् द्वारा प्रस्तावित आर्थिक और सामाजिक सुधारो की दिशा में कम प्रगति हो सकी किन्तु फिर भी उक्त अपरिवर्त्तनवादिता अथवा प्राचीनता (Conservatism) से स्विट्जरलैंड (Switzerland) को कोई विशेष हानि नही हुई है।

---

[1] The Federal Constitution of Switzerland, op citd, p 102.

[2] Ibid, p 101.

आरम्भक के समर्थन मे तर्क
(Arguments in favour of the Initiative)

जो तर्क जनमतसग्रह के पक्ष में दिये गये थे, वे ही तर्क आरम्भक के भी पक्ष में हैं। किन्तु जहाँ तक आरम्भक की क्रियान्विति का प्रश्न है, वह जनमतसग्रह की क्रियान्विति से भिन्न है इसलिये आरम्भक (Initiative) पर अलग से विचार किया जायगा।

कहा जाता है कि आरम्भक (Initiative) लोकप्रिय प्रभुसत्ता (Popular Sovereignty) का ही प्राकृतिक और आवश्यक विकास है। यह भी कहा जाता है कि यदि सर्वसाधारण अपनी सत्ताओ का उपभोग अपने प्रतिनिधियो के द्वारा करेंगे तो सर्वसाधारण प्रभुसत्ताधारी न रह जायेंगे। नागरिक की इच्छा तो केवल अपनी आवाज और अपनी वोट (Vote) के द्वारा ही व्यक्त होती है, अन्य किसी माध्यम से नहीं।

चाहे किसी प्रतिनिधि का राजनीतिक नैतिक स्तर कितना भी ऊँचा हो और चाहे उसकी भावनाएँ कितनी ही ईमानदारीपूर्ण क्यो न हो, किन्तु यह सम्भावना सदैव बनी रहती है कि वह सर्वसाधारण का और उनके विचारो का सही-सही प्रतिनिधित्व न करता हो। जनमतसग्रह तो सर्वसाधारण को केवल निषेध अधिकार (Negative right) देता है किन्तु आरम्भक (Initiative) लोगो को वास्तविक प्रत्यक्ष अधिकार प्रदान करता है जिसके द्वारा वे ऐसी विधियाँ स्वय तैयार करे जिनकी उन्हें आवश्यकता हो। "यदि जनमतसग्रह (Referendum) सर्वसाधारण को विधानमण्डल द्वारा पारित गलत विधियो अथवा विधानमण्डल के दुष्कर्मों के विरुद्ध रक्षा करता है तो उन्ही अर्थों में आरम्भक विधानमण्डलो की भूलो की दवा है।"

यह भी कहा जाता है कि विधानमण्डल प्रायः सर्वसाधारण की आवश्यकताओ की उपेक्षा करते हैं और वे जनमत के उन्नतिशील विचारों के बहुत पीछे रह जाते हैं। इसके अतिरिक्त वे तो केवल दलीय कार्यक्रम को पूरा करने की धुन में रहते हैं। "यदि ऐसा है, तो फिर, ससद्, जो स्वय सर्वसाधारण के द्वारा निर्वाचित निकाय है क्यो सर्वसाधारण के ही लिये मार्ग बन्द करती है और क्यो नहीं उनको अपनी इच्छानुरूप विधियाँ पारित कराने का अवसर दिया जाता।" जिस विधि का आरम्भ सर्वसाधारण की ओर से होगा उसके पीछे जनमत होगा और इसलिये उसका विशेष समादर होगा और इसीलिये ऐसी विधि का शीघ्र पालन भी होगा। आरम्भकों से राजनीतिक विप्लवों की सम्भावना पर्याप्त कम हो जाती है क्योंकि इस प्रकार उन विधियों के पास करने में कम-से-कम देर लगती है जिनको सर्वसाधारण अपने कल्याण के लिये अत्यावश्यक समझते हैं।

आरम्भक के विरुद्ध तर्क (Arguments against the Initiative)—जनमतसंग्रह की ही तरह आरम्भक भी विधानमण्डल की सत्ता और उसके उत्तर-

दायित्व को कम करता है। विधियो का निर्माण करना, विशेष रूप से विधेयको का प्रारूप तैयार करना एक कठिन और जटिल कार्य है। इस कार्य के लिये विशेष योग्यता की आवश्यकता है जो केवल इस कार्य के करने वाले विशेषज्ञो और विधानमण्डलो के सदस्यो को लम्बे अनुभव के बाद प्राप्त होती है। एक साधारण नागरिक से यह आशा नही की जा सकती कि वह विधेयक के प्रारूप तैयार करने में जिस कौशल की आवश्यकता होती है उसे जानता हो और फल यह होता है कि सार्वजनिक आरम्भक द्वारा लाये गये प्रस्ताव प्राय अधूरे, भद्दे और असस्कृत होते हैं जिनमें बहुत सीधाराएँ अस्पष्ट रह जाती हैं और बहुत सी बातें दी ही नही जाती। जो विधेयक सर्वसाधारण द्वारा आरम्भ किये जाते हैं उनकी भाषा प्राय अत्यन्त दूषित होती है और उन विधेयको के कई-कई अर्थ निकल सकते हैं। कैण्टनो में जहाँ वैधिक आरम्भक बार-बार प्रारम्भ किये जाते हैं, कभी यह देखने मे नही आया कि आरम्भक के द्वारा कभी कोई ऐसा सुधार हुआ हो जो विधानमण्डल में पास किये गये अधिनियम से न हो सकता हो। इसके विपरीत, सर्वसाधारण ने अपनी इच्छा से जिन कुछ विधियो को पास करके सविधि पुस्तक में दर्ज किया है उनमें से कुछ निश्चित रूप से अबुद्धिमत्तापूर्ण हैं। ब्राइस (Bryce) कहता है, "कभी-कभी कैण्टनो की विधानसभाओ ने बुद्धिमत्तापूर्वक सर्वसाधारण को चेतावनी दी और कई बार उनको प्रस्तावित विधि की गलतियाँ सुझाई और उनके स्थान पर बेहतर विधेयक का सुझाव दिया जिसके फलस्वरूप दुर्भाग्यपूर्ण निर्णयो से बचाव हुआ और एक बार अविचारपूर्ण अधिकोपण विधि (Banking Law) को सघीय सत्ताओ ने इस आधार पर रद्द कर दिया था कि वह सविधान के उपबन्धो के विरुद्ध थी। कई बार स्वय जनता ने इस प्रकार की उद्दड योजनाओ को रद्द करके अपनी सूझ-बूझ का परिचय दिया है।"

निष्कर्ष (Concousion)—स्विट्जरलेंड में, प्रत्यक्ष विधान निर्माण के सम्बन्ध में विद्वानो में और राजनीतिज्ञो में भी तीव्र मतभेद है। कुछ लोग कहते हैं कि यह सिद्धान्त और व्यवहार दोनो की सुविधा के अनुसार अत्यन्त पूर्ण विकसित व्यवस्था है। किन्तु अन्य लोग यह कहते हैं कि इसमें सर्वसाधारण की राय ऐसे मामलो में माँगी जाती है जिनको वे समझते नही और वे इसकी इस कारण भी आलोचना करते हैं कि इसकी कार्य-प्रणाली व्यवहारत बुरी सिद्ध हुई है। इसके अतिरिक्त जनमतसग्रह में जो अनावश्यक देर लगती है और अभिबाधाएँ डाली जाती हैं, उनको कुछ सुधारक लोग बुरा समझते हैं, और बहुत से मतदाता लोग कहते हैं कि व्यर्थ ही उनका सारा अवकाश का समय इन झझटो में समाप्त हो जाता है। फिर भी स्विट्ज़रलेंड में कोई भी इन प्रत्यक्ष व्यवस्थापन की प्रणालियो को त्यागना पसन्द नही करेगा। रैपर्ड (Rappard) लिखता है, "यदि कोई आदमी स्विट्ज़रलैंड के सामान्य नागरिक से यह पूछे कि क्या वह और उसका देश प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के प्रयोगो मे और उन प्रयोगो के फल से पूर्णतया सतुष्ट है तो वह निश्चय ही 'हाँ' में उत्तर देगा और सम्भव है कि वह नागरिक इस प्रसग में 'प्रयोग' (Experiments)

शब्द से अप्रसन्न हो जाय। प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के प्रयोग का समय समाप्त हो चुका है और उसी के साथ आरम्भक और जनमतसग्रह के शत्रुओं के पुराने विचार भी उसी प्रकार समाप्त हो गए हैं जिस प्रकार कि प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र के कट्टर समर्थकों का अन्ध समर्थन भी समाप्त हो चुका है।"[1]

किन्तु प्राय सभी सर्वसाधारण प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र सम्बन्धी अपने विशेपाधिकारो से प्रेम करते हैं। जिस राजनीतिक दल अथवा पार्टी का विधानमण्डल मे बहुमत होता है, वह चाहे जनमतसंग्रह के परिणाम से कितनी भी चिढी हुई हो, किन्तु यह साहस नही करेगी कि सर्वसाधारण के इस अधिकार को वापिस ले ले। रैडीकल दल के लोग (The Radicals) प्रत्यक्ष प्रजातन्त्र को लोकतन्त्र की आवश्यक शर्त समझते हैं। कन्जर्वेटिव दल (The Conservatives) और क्लैरीकल दल (The Clericals) इसको इस कारण आवश्यक समझते हैं कि इसके कारण विधानमण्डल की आतुरता पर एक अकुश रहता है। इस प्रकार यह व्यवस्था स्थायी-सी हो गई है, "जिसका एक कारण तो यह है कि सर्वसाधारण इस प्रकार मिले हुए अपने विशेपाधिकारो को त्यागने के लिए तैयार नही हैं और दूसरा कारण यह है कि वह व्यवस्था पूरी तरह उनके विचारो के अनुरूप है और व्यवहार मे भी यह व्यवस्था उतनी ही सफल सिद्ध हुई है जितनी कि पूर्ण रूप से प्रतिनिधिक व्यवस्था पिछले काल में सफल हुई होती अथवा भविष्य में सफल हो सकती है। जनमतसग्रह और आरम्भक की व्यवस्थाएँ उस आधार का निर्माण करती हैं जिस पर समस्त स्विस शासन-व्यवस्था ठहरी हुई है। यदि इन व्यवस्थाओ को समाप्त किया जाता है तो "निश्चित रूप से कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका के बीच के जो पारस्परिक आधुनिक सम्बन्ध हैं, उनमें अवश्यमेव परिवर्त्तन करना होगा और उक्त परिवर्त्तन के फलस्वरूप या तो अमेरिका की अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली का सूत्रपात स्विट्जरलैंड में होगा या ब्रिटेन की ससदीय शासन-प्रणाली अपनायी जायगी।"

---

[1] The Government of Switzerland, op citd, p 74-75

अध्याय ८

राजनीतिक दल

(Political Parties)

राजनीतिक दलों की प्रकृति (Nature of political parties)—स्विस सविधान में भी सयुक्त राज्य अमेरिका के सविधान की तरह दलो को कोई स्थान नही दिया गया है। स्विट्ज़रलैंड में राजनीतिक दलो का विकास सविधान के आधार पर नही हुआ है। किन्तु स्विस सविधान में राजनीतिक दलो के सम्बन्ध में अप्रत्यक्ष रूप से प्रसग अवश्य आया है क्योकि राष्ट्रीय परिषद (National Council) के चुनाव के लिये आनुपातिक प्रतिनिधित्व की व्यवस्था की गई है। १३ अक्तूबर १९१८ को अनुच्छेद ७३ का जो सशोधित स्वरूप स्वीकृत हुआ उसके अनुसार "अब राष्ट्रीय परिषद् (National Council) के लिये चुनाव प्रत्यक्ष होते हैं। वे लोग समानता के सिद्धान्त पर चलते हैं और प्रत्येक कैण्टन अथवा अर्द्ध कैण्टन को एक निर्वाचन क्षेत्र (electoral district) मान लेते हैं।" 'समानता के सिद्धान्त' (Principle of Proportionality) के कोई अर्थ ही न रह जायेंगे यदि इसका अर्थ दलो से न हो, क्योकि उन्ही अर्थात् दलो के निर्वाचित प्रतिनिधियो के बीच में ही तो अनुपात अथवा समानता उस रूप में स्थापित करना अभीष्ट है जिस रूप में कि मतदाताओ में समानता अथवा अनुपात स्थापित है।

स्विट्ज़रलैंड मे भी अन्य यूरोपीय प्रजातन्त्रात्मक राज्यो की तरह विविध राजनीतिक दल ही राष्ट्रीय जनमत तैयार करते हैं और उसका विकास करते हैं। तथ्य यह है कि यूरोप के अन्य किसी देश मे राजनीतिक दलो की उपस्थिति की उतनी सम्भावना नही है जितनी कि स्विट्ज़रलैंड में है। इसके कारण स्पष्ट हैं। उस देश में व्यापक मताधिकार है और सर्वसाधारण को जल्दी-जल्दी विविध सार्वजनिक विषयो पर मतदान करना पडता है। इसके अतिरिक्त स्विट्ज़रलैंड में विविध विभिन्नताएँ पाई जाती हैं, जैसे जातिगत चरित्र, धर्म, भाषा, विविध उद्यम और एक-दूसरे के विरुद्ध आर्थिक हितो आदि से सम्बन्धित विविधताएँ, ये सब विविध दलो को जन्म देती हैं और इन्ही अनेको विविधताओ के कारण अनेको राजनीतिक दलो में गठन-सम्बन्धी परिवर्तन भी बार-बार होने चाहियें। किन्तु स्विट्ज़रलैंड के सौभाग्य से उस देश में दलो की स्थापना न तो जाति के आधार पर होती है और न भाषा के आधार पर, "और किसी देश में भी राज्यो के स्थायित्व के ऊपर दलो के प्रदोल (Oscillation) का इतना कम प्रभाव नही पडता जितना कम कि स्विट्ज़रलैंड में पडता है।" प्राचीन धर्मोपदेशक अथवा पादरी लोग समाप्त हो चुके हैं और अब धर्म का राजनीति से सम्बन्ध पूर्णतया टूट चुका है।

राजनीतिक दलों का इतिहास (History of Political Parties)—स्विस परिसंघ (Confederation) का राजनीतिक इतिहास सात कैथोलिक कैण्टनो के सोंदरबंद (Sonderbund) नाम के संघ (League) के विघटन से, जिसका वर्णन पहले ही किया जा चुका है;[1] और १८४८ के संविधान की स्वीकृति से प्रारम्भ होता है। इस संविधान ने समस्त कैण्टनो के पुनः सम्मिलन को पुष्ट कर दिया और उनमें घनिष्टता और परस्पर प्रेम का मार्ग प्रशस्त कर दिया। उस समय संघीय प्रबन्ध-संचालन में राजनीतिज्ञों के दो समुदाय थे जिनको मुख्य रूप से प्रोटेस्टेंट मतावलम्बी जर्मन कैण्टनो से और प्रोटेस्टेंट मतावलम्बी फ्रेंच कैण्टनो से समर्थन प्राप्त होता था। राजनीतिज्ञों के ये दोनो समुदाय अथवा दल बाद में क्रमानुसार लिबरल (Liberals) और रैडीकल (Radicals) कहलाए। लिबरल दल में वयोवृद्ध जन थे जो उदार राजनीतिक दर्शनशास्त्र के सिद्धान्तों का समर्थन करते थे और परम्परागत यथेच्छाकारिता पर बल देते थे तथा सभी के लिये नैतिक और सांस्कृतिक स्वतन्त्रता चाहते थे और देश में गणराज्यीय राजनीतिक व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे। परन्तु रैडीकल समुदाय (Radicals) नौजवानों का दल था और वे उन्नतिशील विचार रखते थे। वे लोग उच्च उदारवाद के पक्षपाती थे। वे राजनीतिक प्रजातन्त्रीय भावनाओं का प्रसार आरम्भक (Initiative) और जनमतसंग्रह (Referendum) जैसी व्यवस्थाओं के द्वारा कराना चाहते थे और उन्होंने सभी के लिये आर्थिक स्वतन्त्रता का नारा बुलन्द किया। किन्तु उनकी आर्थिक स्वतन्त्रता पर किसी सीमा तक राज्य का नियन्त्रण अवश्य होने को था। अपने मतभेदों के बावजूद, लिबरल (Liberals) और रैडीकल (Radicals) लोगों ने मिलकर १८७४ का संघीय संविधान तैयार किया और इस ऐतिहासिक प्रलेख (Constitution) में इन दोनों दलों के विभिन्न दार्शनिक विचारों का संगम है और इसीलिए स्विटज़रलैंड का संविधान केन्द्रवादी, (Centralistic), उदारवादी, धर्म निरपेक्ष (Secular) और प्रजातन्त्रीय भावनाओं का पृष्ठपेषक है।

इन दोनो दलों के विरोध में कैथोलिक कन्जर्वेटिव पीपिल्स पार्टी (Catholic Conservative peoples' party) थी। इस दल में वे लोग थे जिन्होंने १८४६ में सोंदरबंद (Sonderbund) नाम के कैथोलिक कैण्टनो के संघ की स्थापना की थी और जो १८४८ के विच्छेद युद्ध (War of Secession) के लिये उत्तरदायी थे। क्लैरीकल दल (The Clericals) अपने विचारों में पूर्ण पोपवादी अथवा पोप के प्रभाव को बढ़ाने वाले (Ultra-montane) थे और वे कैण्टनो की स्वतन्त्रता के पक्षपाती थे। जर्चर (Zurcher) का कथन है कि "क्लैरीकल्स (The clericals) दल ने १८४८ के संविधानिक समझौते को अनिच्छा से ही माना था क्योंकि वास्तव में उन दल को उक्त समझौते को मानने पर बाध्य कर दिया गया था।" इस दल का समर्थन मुख्यतः उन कैण्टनो से प्राप्त होता है जिनमें कैथोलिक मतावलम्बी अत्यधिक संख्या

---

[1] See Ante Chapter. I.

में हैं। क्लैरीकल दल स्विट्ज़रलैंड की समस्त राजनीतिक पार्टियो में सब से अधिक उत्साहयुक्त, सबमे अधिक दृढ़ और सबसे अधिक सुसगठित दल है। यह दल अब भी सघीय सविधान के उन कतिपय उपबन्धो का विरोध करता है जिनको वह कैथोलिक भावना-विरोधी और पोप-विरोधी समझता है। यह दल पूर्ण सत्तायुक्त राज्य का विरोधी है और परिवार, स्कूल और धर्म के सम्बन्ध में व्यक्ति को पूर्ण अधिकार देने का पक्षपाती है। सक्षेप में यह दल केन्द्रीकरण का विरोधी है।

इस प्रकार, १८७४ के प्रारम्भ में स्विटज़रलैंड में मुख्य रूप से तीन राजनीतिक दल थे। लिबरलो (Liberals) और रैंडीकलो (Radicals) ने १८४८ से लेकर १८६० तक देश का शासन चलाया और इस काल मे कैथोलिक कन्ज़र्वेटिव (Catholic Conservatives) दल विरोधी दल के रूप मे बना रहा। लिबरल और रेडीकल दलो का सघीय ससद् में पूर्ण बहुमत बना रहा और सघीय परिषद् के सातो स्थान इन्ही दलो के हाथो में आगये। किन्तु इस काल की एक महत्त्वपूर्ण घटना यह है कि लिबरल दल की शक्ति क्षीण हो गई और उसी अनुपात में रैंडीकलो का प्रभाव बहुत बढ गया। कुछ समय पश्चात् रैंडीकल दल का ससद् के दोनो सदनो में पूर्ण बहुमत हो गया, किन्तु सघीय परिषद् में उनका बहुमत नही हो पाया, क्योकि स्विस प्रथा यही रही कि सघीय पारिषदो को जब तक वे चाहे, पुन निर्वाचित कर लिया जाय। किन्तु जब सभी लिबरल-दलीय पारिषदो ने सघीय परिषद् को छोड दिया तो उनके रिक्त स्थानो पर स्वभावत रैंडीकल पारिषद् आये और १८६० तक सघीय परिषद् (Federal Council) में केवल एक लिबरल (Liberal) पारिषद् बच रहा।

रैंडीकल और कन्ज़र्वेटिव दलों का मेल (Radical Conservative Coalition)—जब १८६१ मे लिबरल दल का वह अकेला बचा-खुचा पारिषद् भी सघीय परिषद् (Federal Council) से हट गया, तो ससद् ने, जिसमें रैंडीकलो (Radicals) का बहुमत था, लिबरल पारिषद् के स्थान पर कैथोलिक कन्ज़र्वेटिव दल (Catholic Conservative Party) के एक सदस्य को सघीय परिषद् के लिये चुना। लिबरल दल विरोधी दल बन गया। रैंडीकलो और कन्ज़र्वेटिवो का मेल १८६१ में प्रारम्भ हुआ था, और वह अब भी ज्यो-का-त्यो चल रहा है, यद्यपि आजकल कुछ अन्य दलो को भी प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ है। आजकल सघीय परिषद् का सगठन इस प्रकार है तीन सदस्य पारिषद् रैंडीकल हैं, दो कैथोलिक कन्ज़र्वेटिव है, एक सोशलिस्ट (Socialist) है और एक पीज़ेण्ट और मिडिल क्लास दल (Peasant and Middle Class) में से लिया गया है। इस प्रकार लिबरल दल शासन में से पूरी तरह बहिष्कृत है और उसको आजकल स्विट्ज़रलैंड का छोटा-सा दल समझा जाता है।

स्विट्ज़रलैंड की राष्ट्रीय परिषद् (National Council) में विभिन्न दलो की स्थिति इस तालिका से प्रकट होगी।

राष्ट्रीय परिषद् में विभिन्न दलों की स्थिति १९१९–१९५१

दलों के नाम	१९१९	१९३१	१९३९	१९४३	१९४७	१९५१
रैडीकल लिवरल दल (Radical Liberals)	५९	५२	५०	४७	५२	५१
एग्रेरियन्स, फार्मर्स, वर्कर्स एण्ड मिडिल क्लास (Agrarians, Farmers, Workers and Middle Class)	३१	३०	२२	२२	२१	२३
इण्डिपैण्डैण्ट्स पार्टी (Independents' Party)			९	६	८	१०
लिवरल कन्जर्वेटिव्ज (Liberal Conservatives)	९	६	६	८	७	५
कैथोलिक कन्जर्वेटिव दल	४१	४४	४३	४३	४४	४८
सोशल डेमोक्रैटिक दल (Social Democratic Party)	४१	४९	४५	५६	४८	४९
कम्यूनिस्ट्स (Communists)		२			७	५
डेमोक्रेटिक (Democratic)	४	२	६	६	५	४
अन्य दल (Others)	४	२	८	७	७	१

ऊपर की तालिका से निम्न फल ज्ञात हुए—रैडीकल लिवरल दल (Radical Liberal Party) को सबसे अधिक स्थान प्राप्त हैं—५१ स्थान। सोशल डेमोक्रेटिक दल (Social Democratic Party) को द्वितीय स्थान प्राप्त है, और उसको कुल ४९ स्थान प्राप्त है। कैथोलिक कन्जर्वेटिवो (Catholic Conservatives) को ४८ स्थान प्राप्त हैं और ऐग्रेरियन्स (Agrarians) को २३ स्थान प्राप्त हैं। कम्यूनिस्टो अथवा साम्यवादियो (Communists) को पाँच स्थान प्राप्त हैं। ऐसे सदस्य बहुत ही कम हैं जिनका सम्बन्ध किसी भी दल से न हो। शेष स्थान बाकी छोटे-मोटे दलो में बँटे हुए हैं। "द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद जो प्रथम आम चुनाव हुआ उसमें दलो की सदस्य सख्या में समस्त सदन की सदस्य सख्या का ३/५ प्रदोल (Shifts) हुआ। इनसे भी स्विट्जरलैंड की राजनीतिक स्थिरता का ज्ञान होता है।"[1]

सोशलिस्ट पार्टी (Socialist Party)—१८८० के बाद स्विट्जरलैण्ड में स्विस सोशल डेमोक्रैटिक पार्टी (Swiss Social Democratic Party) का उदय हुआ। समाजवादी लोग (The Socialists) जैसा कि नाम से ही प्रकट है, कार्ल मार्क्स (Karl Marx) के अनुगामी थे। उद्योगीकरण के विकास के साथ ऐसे औद्योगिक केन्द्रो का भी विकास हुआ जैसे ज्यूरिच (Zurich), विन्टर्थर (Winterthur), बेसिल (Basel) आदि, और साथ ही बहुत बडी सख्या में जर्मन शिल्पी जर्मनी छोडकर स्विट्ज़रलैण्ड में आ बसे, इन सब कारणो से समाजवादी सिद्धान्तो के प्रचार का अच्छा अवसर मिला और सोशल डेमोक्रेटिक दल की बड़ी उन्नति हुई। प्रथम विश्व-युद्ध के बाद इस दल को ४१ स्थान प्राप्त हुए और १९३५ के आम चुनाव मे इस दल को राष्ट्रीय परिषद् में ५० स्थान प्राप्त हुए और इस प्रकार अगले चार वर्षों मे यह दल राष्ट्रीय परिषद् में सबसे शक्तिशाली दल बन गया, क्योकि रैडीकल लिबरलो (Radical Liberals) को ४८ स्थान प्राप्त थे और कैथोलिक कन्जर्वेटिवो (Catholic Conservatives) को ४२ स्थान प्राप्त थे। १९३९ मे सोशलिस्ट दल को केवल ४५ स्थान मिल सके, इसका कारण यह था कि वामपक्षी रैडीकलो (Left Wing Radicals) का एक समुदाय दल से विलग हो गया। १९४३ मे पुन यह दल जोर पकड गया और इसकी राष्ट्रीय परिषद् में सदस्य सख्या ५६ हो गई, किन्तु १९४७ मे वह फिर गिरकर ४८ रह गई, और १९५१ के चुनाव मे इस दल की शक्ति ४९ रही।

---

[1] Marx, M. . Foreign Governments, op. itd., p. 340.

स्विट्ज़रलैण्ड में दल-प्रणाली की एक विशेषता यह है कि दलो के विकास में अपरिवर्त्तनवादिता अथवा स्थितिपालकता (Conservatism) का बडा हाथ रहा है और कोई भी दल क्रान्तिकारी अथवा आमूल परिवर्त्तनवादी (Extremist) नही है। स्विस सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी (Swiss Social Democratic Party) का समाजवाद पूर्णत व्यावहारिक है, और क्रान्तिकारी समाजवाद नही है यद्यपि अपने प्रारम्भिक काल में यह दल उत्पादन के समस्त साधनो पर सामूहिक स्वामित्व का पक्षपाती था और वर्ग सघर्ष को अनिवार्य समझता था और इसीलिये यह दल हिंसक और असविधानिक उपायो का आश्रय लेने में भी कोई दोष न देखता था। लेकिन चूंकि स्विट्ज़रलैण्ड एक पहाडी देश है जिसमे किसानो के पास छोटे-छोटे खेत हैं और उस देश के किसान खेती के काम में ही लगे रहते हैं और उनके विचार देशभक्तिपूर्ण हैं इसलिये समाजवाद के क्रान्तिकारी कार्यक्रम को किसी ने भी पसन्द नही किया। इसके अतिरिक्त कम्यूनो (Communes) और कैण्टनों में स्वतन्त्र उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहन मिलता है, रेलो, सडको, जगलो, पानी और शक्ति का राष्ट्रीयकरण हो गया है, इससे अब समाजवादी प्रोग्राम में किसी की रुचि नही रह गई है। इसीलिये स्विट्ज़रलैण्ड के समाजवादी दल को अपना कार्यक्रम और देशो के समाजवादी कार्यक्रम की अपेक्षा कम क्रान्तिकारी बनाना पडा, और स्विस सोशलिस्ट डेमोक्रेटिक पार्टी (Swiss Socialist Democratic Party) अब केवल प्रजातन्त्रीय और सविधानिक सिद्धान्तो मे विश्वास करती है। उक्त दल ने अब खुल्लमखुल्ला समाजवाद के क्रमिक विकासवाद मे अपना विश्वास प्रकट किया है।

स्विट्ज़रलैण्ड में सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी (Social Democratic Party) ही सबसे श्रेष्ठ और सुसगठित राजनीतिक दल है और इसकी शाखायें सभी कैण्टनो में हैं। यह दल सभी उद्योगो का राष्ट्रीयकरण और सभी व्यक्तिगत एकाधिकारो पर सामूहिक अधिकार चाहता है, साथ ही मजदूरो के लिये अधिक वेतन, सामाजिक

सुरक्षा, किसानो के ऋणों की अविलम्ब बेबाकी, बेकारी में सहायता, सबके लिये काम मिलने का आश्वासन और स्त्रियो को मताधिकार देने का पक्षपाती है।

अन्य दल (Other Parties)—१९१८ के राष्ट्रीय आम चुनाव में आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सूत्रपात के कारण और भी राजनीतिक दल मैदान में आ गए हैं। दी फार्मर्स, वर्कर्स एण्ड मिडिल क्लास पार्टी (The Farmers, Workers and Middle Class Party) का सगठन १९१८ मे उस समय में हुआ जबकि रैडीकलो (Radicals) में फूट पड़ गई और रैडीकल दल की कृषि-नीति से असन्तोष प्रकट किया गया। १९२९ में रेडीकलो और कन्जर्वेटिवो के सगठन (Coalition) को और विस्तृत किया गया और उसमें फार्मर पार्टी (Farmers' Party) का एक सदस्य ले लिया गया। इस दल के राष्ट्रीय परिषद् (National Council) में ३१ सदस्य थे। १९३५ में इस दल के अधिकार में केवल २१ स्थान रह गये और वही सदस्य सख्या अभी तक चल रही है, कभी कोई एक सीट कम हो जाती है कभी बढ़ जाती है। इस दल की सदस्य सख्या में कमी होने का कारण यह था कि एक और किसान दल मैदान में आ गया जिसका नाम यग फार्मर्स (Young Farmers) था और जिनको राष्ट्रीय परिषद् (National Council) मे १९३५ में चार स्थान प्राप्त हुए, १९४३ में छ स्थान प्राप्त हुए, १९४७ में पाँच स्थान प्राप्त हुए और १९५१ में चार स्थान प्राप्त हुए। फार्मर्स पार्टी (Farmers Party) अत्यधिक देशभक्तो का दल है और यह दल देश के रक्षा-साधनो को अत्यन्त सुदृढ बनाना चाहता है। इसका कार्यक्रम विशेष रूप से किसानो के हितो की रक्षा करता है और यह कृषि की उन्नति चाहता है और यह भी चाहता है कि किसानो को परिसघ से आर्थिक सहायता मिले जिससे कृषि की उन्नति हो।

आजकल राष्ट्रीय परिषद् (National Council) मे जिन अन्य छोटे राजनीतिक दलो को प्रतिनिधित्व प्राप्त है उनमें निम्न प्रमुख हैं: इण्डिपेण्डेण्ट पार्टी (Independent Party) जिसकी स्थापना १९३५ में हुई, इण्डिपेण्डेण्ट सोशल डेमोक्रेट्स (Independent Social Democrats), निकोले ग्रुप (The Nicole Group) जो १९३९ में समाजवादियो से अलग होने पर बना; और साम्यवादी दल (The Communists)। साम्यवादियो को १९३१ और १९३५ में राष्ट्रीय परिषद् में दो स्थान प्राप्त हुए, फिर १९३९ और १९४३ में उन्हे कोई स्थान नही मिला। १९४७ में साम्यवादियो को पुन सात स्थान प्राप्त हुए और आजकल उन्हे पांच स्थान प्राप्त हैं।

स्विसदलीय व्यवस्था के लक्षण (Features of the Swiss Party System)—स्विट्जरलैण्ड की दलीय व्यवस्था आजकल फ्रास की दलीय व्यवस्था से अधिक मिलती-जुलती है किन्तु वह इगलैण्ड अथवा फ्रास की दल-व्यवस्था के समान नहीं है। हम पहले ही स्विट्जरलैण्ड में अनेको राजनीतिक दल होने के कारणो पर प्रकाश डाल चुके हैं। स्विट्जरलैण्ड में राष्ट्रीय आधार पर दलों की व्यवस्था नहीं है

और इसका स्पष्टत यह कारण है कि अन्य प्रजातन्त्रीय शासनो की तरह स्विट्जरलैण्ड में दलीय शासन नही है। इस देश में किसी राष्ट्रीय महत्त्व के पदाधिकारी के लिये राष्ट्रव्यापी चुनाव नही होते जिस प्रकार कि कुछ प्रजातन्त्रो में राष्ट्रपति पद के लिये होते हैं। सघीय ससद् के लिए जो चुनाव होते हैं वे वहुत कुछ स्थानीय और क्षेत्रीय आधार पर होते हैं। आजकल कई दलो का राष्ट्रव्यापी सगठन है किन्तु वास्तव में वे दल समान राष्ट्रीय उद्देश्यो की प्राप्ति के उद्देश्य से सम्मिलित हो जाते हैं और अर्द्ध स्वतन्त्र कैण्टोनल पार्टियो के साथ मिलकर चुनाव लडते हैं, केवल अपवादस्वरूप सोशल डिमोक्रटिक दल (Social Democratic Party) है जो स्वतन्त्र रूप से सारे राष्ट्र की पार्टी के रूप में काम करता है।

स्विट्जरलैण्ड का उदाहरण इस मत का भी खण्डन करता है कि प्रजातन्त्रीय शासन उस समय तक नही चल सकता जव तक कि निश्चित वहुमत वाला दल न हो अथवा जव तक कि वहुमत योग्य कई राजनीतिक दलो का सयोग (Coalition) न हो। सघीय परिषद् में भी और प्राय सभी कैण्टनो की कार्यपालिकाओ में भी अल्पमत दलो को प्रतिनिधित्व प्राप्त है। इस प्रतिनिधित्व के कारण अल्पमत दलो को शासन-सचालन के ऊपर प्रभाव डालने का अवसर मिल जाता है। स्विट्ज़रलैण्ड में पूर्ण दलीय शासन की स्थापना नही हो सकती। ससद् में सदस्यो के ऊपर कोई दलीय नियन्त्रण नही है। सत्य तो यह है कि कोई भी प्रश्न, सिवाय उन मामलो के जिनका प्रभाव दलो के हितो पर पडता है अथवा जिनका सम्वन्ध धर्म से हो, दलीय आधार पर निर्णय नही किया जाता। इसका यह फल होता है कि स्विट्जरलैण्ड में दलीय पद्धतियो का अभाव है और इसीलिये न तो कैण्टनो की समितियाँ हैं, न दलो के प्रसम्मिलन हैं और न दलो के वडे सम्मेलन या प्रसभाएँ (Conventions) ही होते हैं। रैडीकल दल (The Radicals), क्लैरीकल दल (The Clericals), और समाजवादी दल (The Socialists) अवश्य कभी-कभी अपनी-अपनी दलीय सभाएँ करते रहते हैं किन्तु उन सभाओ की किसी भी हालत में इगलैण्ड अथवा भारत और अन्य देशो की तदर्थ सभाओ से तुलना नही की जा सकती।

स्विट्जरलैण्ड की दलीय पद्धति की एक अन्य विशेपता यह है कि दलो के नेता नही होते। दलो के नेताओ का अभाव कुछ तो इस कारण है कि केन्द्र में और अवयवी एकको में जो कार्यपालिकायें हैं वे दलगत आधार पर नही वनी, और द्वितीयत इस कारण है कि विभिन्न दलो में जो भेद हैं उनका आधार क्षेत्रीय हित है, न कि राष्ट्रीय महत्त्व के प्रश्न। लॉवैल (Lowell) ठीक ही कहता है, "यह कहना अधिक नही होगा कि सघीय प्रतिनिधियो को कैण्टनो के दलो के द्वारा चुना जाता है।" इसलिए दलो के नेताओ का प्रभाव कैण्टनो तक ही सीमित रहता है और उनकी शक्ति क्षेत्रीय है न कि राष्ट्रीय। दलीय नेताओ के न रहने का एक अन्य कारण यह भी है कि स्विट्ज़रलैण्ड में किसी के लिए भी यह अवसर नही है कि वह किसी के ऊपर किसी प्रकार का अनुग्रह कर सके अथवा कोई पद आदि दे सके।

और स्विट्ज़रलैण्ड में न तो किसी का राजनीति, व्यवसाय ही है न किसी दल के पास धन राशियाँ ही हैं। उक्त देश में प्रशासन में व्यवहार-कुशलता के दर्शन होते हैं। स्विस लोग प्रजा के दुर्जन नेताओ को पसन्द नही करते। इसके अतिरिक्त स्विस सघीय ससद्, वर्ष में दस या वारह सप्ताहो से अधिक सत्र में नही रहती इसलिए वहाँ पर वातूनी और लडाकू सदस्यो को व्यर्थ बकवास करने का अवसर नही दिया जाता। सघीय ससद् का सत्र काम नियमपूर्वक चलता है, यह ससार की सबसे अधिक नियमपूर्वक चलनेवाली और खामोशी के साथ काम करनेवाली संसद् है। सघीय ससद् की कार्यवाही में कभी कोई अभिबाधा नही डालता और प्राय मत-विभाजन भी कभी नही होता।

स्विट्ज़रलैण्ड में राजनीति पर जितना कम व्यय होता है उतना शायद कही भी न होता होगा। दलो को धन की उसी समय आवश्यकता पडती है जब उनको वैज्ञानिक ढग पर सगठित करना हो, निर्वाचन-क्षेत्रो में प्रचार करने के लिए सभाये करनी हो अथवा किसी विशेष विषय पर साहित्य का वितरण और प्रचार करना हो। समाजवादियो सहित सभी राजनीतिक दल तीन मुख्य विषयो पर सहमत हैं—स्विस स्वतन्त्रता, स्विस तटस्थता और स्विस व्यापार-विस्तार। स्विट्ज़रलैण्ड के राजनीतिक दलो में इन तीनो मौलिक विषयो की वारीकियो और उनको प्राप्त करने के साधनो के सम्बन्ध मे तो मतभेद हो सकते हैं। किन्तु इन तीनो मौलिक लक्ष्यो के महत्त्व पर कोई मतभेद नही है। दलो में शासन हथियाने के सम्बन्ध में कोई स्पर्द्धा नही है। किसी अन्य दल के नेता की चुनावो में हार की न तो कोई इच्छा करता है और न इसके लिए प्रयत्न ही किया जाता है। वास्तव में इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न ही न हो, इसका भरसक प्रयत्न किया जाता है। इसलिए स्विट्ज़रलैण्ड में राजनीति का खेल गन्दा नही है और उसको अभ्यास वृद्ध और योग्य लोग ही खेलते हैं, और वे वास्तव में श्रेष्ठ और चरित्रवान खिलाडियो की भावना से खेलते हैं। स्विस राजनीति मे स्वलाभ की भावना का पूर्ण अभाव रहता है। ब्राइस (Bryco) कहता है, "दल के ऊपर कोई भी धन व्यय नही करना चाहता, जब तक कि उस धन के व्यय से किसी सार्वजनिक हित का साधन न होता हो। स्विट्ज़रलैण्ड में किसी दल की विजय से किसी को कोई व्यक्तिगत लाभ होने की आशा नहीं रहती क्योकि वहाँ सभी पदो के वेतन अत्यल्प हैं। चुनावो के बाद भी सघीय पदो में कोई परिवर्त्तन नही होते तथा कैण्टनो के पदो का इतना महत्व नही है कि उनके लिए चुनावो में धन व्यय किया जाय। यदि इतने छोटे निर्वाचकमण्डलो अथवा समुदायो (Communities) में अधिक धन व्यय किया जायगा, तो यह तथ्य छिपा नहीं रह सकता।"

स्विस दल-प्रणाली के श्रेष्ठ परिणाम (Good Effects of such a Party System)—जिस प्रकार की राजनीतिक दल-व्यवस्था स्विट्ज़रलैण्ड में है, उसका प्रभाव अवश्य ही शान्तिदायक दृढताकारी, और प्रतिष्ठावर्द्धक होता है। दलो

का सगठन किसी प्रलोभन के वश नही किया जाता। और दलो में आन्तरिक विषाद की सम्भावनाएँ प्राय बिलकुल नही रहती। स्विस राजनीतिक जीवन की सबसे बडी विशेषता यह है कि स्विट्जरलैण्ड मे दलो का स्थायित्व पूर्ण है। बडे दल (majority parties) इस बात का कोई प्रयत्न नही करते कि उनका बहुमत ज्यो का त्यो बना ही रहे। अल्पमत दल इसलिए शान्त हो जाते हैं कि वे जानते हैं कि उनके दल के लिए यह कठिन होगा कि शासन पर नियन्त्रण प्राप्त कर सके। इसके अतिरिक्त स्विट्जरलैण्ड में राजनीति का सचालन प्राय पूरी तरह दलीय भावनारहित होता है। जब कभी किसी एक दल की पीठ पर विशाल जनमत का हाथ भी होता है और जिस समय उस दल का बहुमत प्राय निश्चित-सा हो जाता है, तो भी यह आवश्यक नही है कि उक्त बहुमत दल के सभी सदस्य सभी विषयो पर कन्धे से कन्धा मिलाकर साथ-साथ कार्य कर सकें। सभी सदस्यो को अधिकार है कि वे आपस में मत विभिन्नता रख सकते हैं और अपने व्यक्तिगत विश्वासो के अनुसार आचरण कर सकते हैं। संसद् के सभी समुदाय प्राय सम्मेलन करते रहते हैं और यह निर्णय करते हैं कि किस प्रश्न पर उक्त दल के सभी सदस्य एक साथ मत देंगे अथवा वे स्वतन्त्र रूप से अपनी-अपनी इच्छानुसार मत व्यक्त करेंगे। स्विस सघीय ससद् मे दलगत आधार पर सदस्यो का विभाजन नही होता, इस तथ्य का सबसे श्रेष्ठ उदाहरण यह है कि यहाँ एक ही दल के सदस्य एक साथ उसी प्रकार नहीं बैठते जिस प्रकार कि अन्य ससदो में बैठते हैं। सामान्यत सदस्य लोग कैण्टनो के हिसाब से साथ-साथ बैठते हैं, चाहे उनकी दलगत निष्ठा कुछ भी हो। चुनावो के लिए दलीय टिकिट का वितरण अथवा दल की ओर से निर्वाचन के लिए नामाकन केवल अपने दल के सदस्यो को ही प्राप्त नही होता। प्राय ऐसा हुआ है कि "जो व्यक्ति आदर का पात्र होता है अथवा जिसने विशेष सेवा की है उसको सभी दलो की ओर से चुनाव टिकिट प्राप्त हो जाता है, और छोटे निर्वाचन-क्षेत्रों में तो ऐसे लोगो को चुनाव के लिए प्राय नामाकित कर दिया जाता है जो अन्य दलो से सम्बन्धित होते हैं।"

स्विट्जरलैण्ड मे चुनावो के समय भारी उत्तेजना नही पाई जाती। न वहाँ लम्बे-चौडे जलूस होते हैं, न नारे लगाए जाते हैं, न चुनाव चिन्ह पहने जाते हैं और न भडकाने वाली वक्तृताएँ ही होती हैं। चुनाव अत्यन्त शान्त वातावरण में होते हैं यह बात अन्य किसी देश में नहीं मिलेगी। हम लोगो को जो दलीय शासन के अभ्यस्त हैं, इस प्रकार का शान्त राजनीतिक वातावरण शायद अजीब-सा लगे, किन्तु जैसा कि लॉवेल (Lowell) कहता है, "ऐसी श्रेष्ठ जाति में, जिसमें ईमानदारी और बुद्धिमत्ता कूट-कूट कर भरी है और जो अपने सार्वजनिक पदो पर काम करने वाले अधिकारियों को भ्रष्टाचार से दूर रखना चाहती है और जो उन्नति के लिए दलीय विद्वेष को आवश्यक नही समझती, यह बडे ही सौभाग्य का विषय है कि उस जाति ने उत्तेजनाओं, दलबन्दी और कुटिलतापूर्वक विचार-अभिव्यक्ति जैसे दोषो से सदैव के लिए मुक्ति प्राप्त कर ली है क्योंकि ये सभी दुर्गुण दलीय शासन के अभिन्न साथी हैं।

Suggested Readings

Bonjour, F	Real Democracy in Operation—The Example of Switzerland (1920).
Bonjour, Offler and Potter	A Short History of Switzerland (1952)
Brooks R. C	Government and Politics of Switzerland (1918)
Bryce, J.	Modern Democracies (1929), Vol. I, Chapters xxvii—xxxii.
Buell, R. L.	Democratic Governments in Europe (1995), p 557-584
Ghosh, R C	The Government of the Swiss Republic (1953)
Hughes, C	The Federal Constitution of Switzerland, (1954).
Lowell, A L	Governments and Parties in Continental Europe (1918), Vol II, Chapters XI, XII.
Munro, W B and Ayearst, M	The Governments of Europe, (1954), p 735-750.
Rappard, W E	The Government of Switzerland (1936).
Shotwell, J. T	Governments of Continental Europe (1952), p. 331-385

सोवियट रूस की शासन-प्रणाली

(The Government of the U S S R)

अध्याय १

स्टालिन संविधान

(The Stalin Constitution)

प्रारम्भिक सविधान (Early Constitutions)—स्टालिन सविधान से पूर्व १९१८ और १९२४ के दो अन्य सविधान सोवियट रूस में निर्मित हो चुके थे। १९१८ के सविधान को लेनिन (Lenin) और स्टालिन (Stalin) की देख-रेख में साम्यवादी दल (Communist Party) की केन्द्रीय समिति (Central Executive Committee) द्वारा नियुक्त एक आयोग (Commission) ने तैयार किया था, और १० जुलाई १९१८ को साम्यवादी दल की ५वी अखिल सघीय सोवियट (All Russian Congress of Soviets) ने इसका अनुमोदन किया था। इस सविधान ने जिस नये राज्य की स्थापना की उसका नाम रूसी सोवियट सघीय समाजवादी गण-राज्य (Russian Socialist Federated Soviet Republic) रखा गया, और इस राज्य में पुराने जारशाही साम्राज्य का लगभग तीन-चौथाई भाग था।

सविधान नव-स्थापित सामान्य जनो अथवा कर्मकारो (Proletariat) के अधिनायकवाद की लडाकू भावनाओ से ओत-प्रोत है और इसमे मुख्यत वे सभी घोषणाएँ, नियम (Rules) और आज्ञाएँ सम्मिलित हैं, जो अक्तूबर १९१७ की क्राति और १९१८ के ग्रीष्म काल के बीच में निकाली गई थी। सविधान का मुख्य उद्देश्य पूँजीवाद का पूर्ण दमन और समाज के पूँजीवादी ढांचे का समूल नाश था। भूमि, प्राकृतिक ससाधन और उद्योग-धन्धे, ये सब सर्वसाधारण के अधिकार में इस प्रकार आगये, मानो वे सभी की सम्मिलित सम्पत्ति हो, और राज्य की शक्ति साम्यवादी सस्थाओ (Soviets) में निहित कर दी गई, और रूस श्रमिको, सिपाहियो और किसानो के प्रतिनिधियो और उनकी सस्थाओ का गणराज्य घोषित कर दिया गया।

सविधान का स्वरूप सघीय रखा गया। किन्तु यह एक नये प्रकार का सघवाद था। सविधान के निर्माताओ ने मार्क्सवाद के सिद्धान्तो के अनुसार यह आशा की थी कि निकट भविष्य में समस्त ससार की एक सघ सरकार का निर्माण होगा जिसमें ससार की विभिन्न राष्ट्रीयताओ का सघ होगा और दूर-दूर की प्रादेशिक भूमि उस राज्य में सम्मिलित होगी। सम्भावित ससारव्यापी क्रान्ति के बाद प्रभुसत्ताधारी राज्यो को अपनी व्यवस्था की ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से सविधान के निर्माताओं

ने प्रस्तावित सघ में अवयवी एकको का सयोग मुक्त और ऐच्छिक रखा और उनको इस बात की छूट दे दी कि यदि वे चाहे तो संघ से विलग भी हो सकते हैं।

१९१८ का सोवियट रूस का सविधान केवल उसी प्रदेश पर प्रभावी था जो रूस का यूरोप में भूभाग था। किन्तु १९२३ में सघ का नाम सोवियट समाजवादी गणराज्यो का सघ (Union of Soviet Socialist Republics) अथवा यू० एस० एस० आर० (U. S S R.) पडा, जिसमें निम्न चार अवयवी एकक गणराज्य सम्मिलित थे रूसी सोवियट सघीय समाजवादी गणराज्य (The Russian Socialist Federated Soviet Rapublics), यूक्रेन (The Ukraine), श्वेत रूस (White Russia), और ट्रास कोकेशिया (Trans Caucasia), उज्बेक (Uzbek), और तुर्कमेन (Turkmen) नाम के अवयवी गणराज्यो की रचना १९२४ में हुई और तदजिक (Tadzhik) गणराज्य की स्थापना १९२९ में हुई, इस प्रकार सोवियट रूस के सघ में सात गणराज्यीय एकक राज्य सम्मिलित थे।

१९२४ का सविधान सब बातो में १९१८ के सविधान के समान है, अन्तर केवल यह है कि इसमें तीन नये निकायो की रचना की गई है: सघीय सोवियट (All Union Congress of Soviets), सघीय सोवियट केन्द्रीय समिति (All Union Central Committee) और प्रेसीडियम (All Union Presidium)। सघीय शासन (Federal Government) और अवयवी एककों के बीच शक्तियो का वितरण प्राय उसी प्रकार हुआ है जिस प्रकार कि सयुक्त राज्य अमेरिका मे सघीय शासन और एकक राज्यो के बीच हुआ है। विनिर्दिष्ट शक्तियाँ (Specified Powers) केन्द्रीय शासन को सौंपी गई हैं और अवशिष्ट शक्तियाँ अवयवी गणराज्यों को सौंप दी गई, किन्तु सघीय शासन को जो शक्तियाँ दी गई, उनका अधिकार क्षेत्र इतना विस्तृत था कि उन शक्तियो के अन्तर्गत समस्त सोवियट रूस (U. S. S R.) का समस्त आर्थिक कार्यक्रम आ जाता है। सोवियट शासन-प्रणाली का मुख्य सिद्धान्त यह था कि देश के आर्थिक और राजनीतिक ढाँचे में पूर्ण समन्वय हो, इस प्रकार सघीय शासन के अधिकारों ने अवयवी एकक गणराज्यों के अधिकारो को पराभूत कर दिया। संघीय शासन को यह भी अधिकार दिया गया कि यदि सघीय शासन कभी ऐसा अनुभव करे कि किसी अवयवी एकक गणराज्य द्वारा पारित कोई विधि अथवा राज्याज्ञा सविधान के विरुद्ध है तो वह ऐसी किसी विधि अथवा आज्ञा (Law or decree) का प्रतिनिषेध (Veto) कर सकता है। अन्तत. यह भी निश्चित किया गया कि सघीय सोवियट (Union Congress) द्वारा निर्देशित कतिपय सिद्धान्तो के अनुसार ही अवयवी एकक गणराज्यों (Constituent Republics) को दीवानी और फौजदारी विधि (Civil and Criminal law), न्यायिक प्रक्रिया (Judicial Procedure), श्रम-व्यवस्थापन (Labour legislation) और सार्वजनिक शिक्षा (Schools) के सम्बन्ध में चलना होगा, और उसी प्रकार आचरण करना होगा।

सोवियट रूस का प्रशासनिक ढाँचा सोवियट पद्धति पर आधारित है और रूस में

सोवियटें ही शासन की मूलभूत उपकरण हैं। सबसे नीचे प्रारम्भिक अथवा ग्राम सोवियटें (Village Soviets) हैं और सबसे ऊपर सघीय सोवियट (Union Congress of Soviets) है जो समस्त सोवियट सघ की सर्वोच्च राजनीतिक सत्ता है। प्रारम्भिक ग्राम सोवियटें, और सर्वोच्च सघीय सोवियट के बीच में नगर सोवियटें (City Soviets) फिर प्रादेशिक सोवियटें (Soviets of the territories), फिर प्रान्तीय सोवियटें (Soviets of the provinces), और अवयवी एकक गणराज्यो की सोवियटें हैं। १९१९ के प्रारम्भ मे लेनिन (Lenin) ने कहा था, "सोवियट रूस में सोवियटें ही राज्य की समस्त शक्ति का स्थायी और एकमात्र आधार प्रदान करती हैं। आज भी सोवियटें सच्चे अर्थों में लोकप्रिय शासन का निर्माण करती हैं और वे सर्वसाधारण के मास और हड्डियो से ही बनी हैं।"

१९३६ का सविधान (The Constitution of 1936)—१९३६ में रूस में नया सविधान स्वीकार किया गया जो सोवियट रूस का तृतीय सविधान था। इस सविधान को पहले तो सर्वसाधारण ही स्टालिन सविधान कहकर पुकारते थे और अब तो सरकारी तौर पर भी इसको प्राय स्टालिन सविधान (Stalin Constitution) ही कहा जाता है। इसका कारण यह है कि इस सविधान के निर्माताओ में स्टालिन ने मुख्य रूप से कार्य किया था और इसी को, इसलिए, इस सविधान का मुख्य निर्माता कहा जाता है। १९१८ और १९२४ के सविधानो में समाजवादी व्यवस्था का मूर्त्तस्वरूप प्रस्तुत नही किया गया था। पाँचवी सघीय सोवियट (Fifth All Russian Congress of Soviets) के समक्ष प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए लेनिन (Lenin) ने कहा था, "हमारे सम्मुख समाजवाद का वह स्वरूप नही है जिसको सविधि में लेखबद्ध किया जा सके।" १९१८ से लेकर १९२८ तक का काल, रूस के इतिहास में सघर्ष और कष्टो का काल था। किन्तु एन० ई० पी० (N E P) के काल के अन्त मे स्थिति बहुत सीमा तक सुधर गई थी। इसके बाद प्रथम पचवर्षीय योजना (Five-Year Plan) आई। इस योजना का उद्देश्य था कि समाजवादी आदर्श पर समाज का पुनर्निर्माण किया जाय और सोवियट रूस के आर्थिक और राजनीतिक स्वरूप को इस प्रकार व्यवस्थित किया जाय कि पूंजीवादी तत्त्वो को बिल्कुल उखाड फेका जाय। १९३२ तक सोवियट रूस ने उद्योगीकरण की दिशा में शीघ्र उन्नति की जिसमें बहुत बडे पैमाने पर निर्माण हुआ और प्राकृतिक साधनो से पर्याप्त लाभ उठाया गया। कृषि के क्षेत्र में सामूहिक खेती की विधि ने लाभदायक फल दिखाये। योजना मे कृषि समूहन (Collectivization of farms) की प्रगति के जो आँकडे तैयार किये गये थे उनको देखते हुए कृषि में तीन गुनी प्रगति प्राप्त कर ली गई थी इसलिये इसको क्रान्तिकारी विकास समझा गया क्योकि इसके द्वारा देश मे पूंजीवाद की जडें ही उखड गईं।

वैयक्तिक व्यापार (Private Trade) के स्थान पर सहकारी वाणिज्य बटन (Co-operative distribution) का प्रचलन हो गया। साहित्य और विज्ञान के क्षेत्रो

में भी स्वतन्त्र विचारों का दमन किया गया और सभी लोग एक विशेष प्रकार से ही सोच सकते थे। देश के समाजवादी कार्यक्रम को अपनाना सभी के लिये अनिवार्य कर दिया गया, यहाँ तक कि इस ओर किसी की तटस्थता को भी सहन नहीं किया जा सकता था। पञ्चवर्षीय योजना की सफलता की दिशा में किसी को विरोध करने की आज्ञा नहीं थी, अर्थात् देश में लौह-अनुशासन-युक्त दल ही पनप सकता था। समाचार-पत्रों और रेडियो पर राज्य का अधिकार हो गया और इस प्रकार प्रचार के समस्त साधन भी समाजवादी प्रचार की सहायता में लगा दिये गये।

द्वितीय पञ्चवर्षीय योजना ने जो १९३३-३८ तक चली उस काल में समस्त पूँजीवादी तत्त्वों को देश के आर्थिक ढांचे में से निकाल फेंका और साथ ही सर्वसाधारण के विचारों पर भी इस प्रकार नियन्त्रण रखा कि विचार भी पूँजीवाद-विरोधी हो गए। १९३६ के प्रारम्भ में स्टालिन (Stalin) ने गर्व के साथ कहा, "यह देखकर और जानकर हम सभी को हार्दिक प्रसन्नता है कि हमारे वीरों ने जो बलिदान किये थे और खून बहाया था, वह व्यर्थ ही नहीं हुआ; और उस खून ने लाभदायक फल दिये हैं।" एक नयी समाजवादी औद्योगिक व्यवस्था का जन्म हुआ। सामूहिक कृषि-व्यवस्था अत्यन्त सफल सिद्ध हुई। समाज की वर्ग व्यवस्था में आमूल परिवर्तन हो गया। मोलोटोव (Molotov) कहता है, "सोवियट रूस (U S S R) की समाजवादी जाति में केवल दो वर्ग हैं, श्रमिक वर्ग और किसान वर्ग, और वे दोनों वर्ग एक-दूसरे के प्रति मैत्री भाव रखते हैं, और इन दोनों वर्गों और बौद्धिक वर्ग (Intellectuals) के बीच में जो विभाजन रेखा थी उसको मिटाया जा रहा है और वह धीरे-धीरे लुप्त हो रही है।"

वास्तव में प्रथम और द्वितीय पञ्चवर्षीय योजनाओं ने रूस में आर्थिक और सामाजिक क्षेत्रों में क्रान्ति उत्पन्न कर दी है और 'स्टालिन संविधान' ने न केवल समाजवाद स्थापित किया है, अपितु इस दिशा में प्राप्त की हुई सफलताओं को संविधि में लेखबद्ध किया है। संविधान के महत्त्व पर बोलते हुए स्टालिन ने गर्व के साथ कहा, "संघर्ष, अभावों और कष्ट सहन के बाद हमको इस संविधान पर प्रसन्नता है और गर्व है क्योंकि अब हम अपनी विजयों के फलस्वरूप सुखों का अनुभव कर रहे हैं।"

संविधान का प्रारूपण (Drafting of the Constitution)—१९३५ के प्रारम्भ में संघीय सोवियट केन्द्रीय कार्यपालिका समिति (The all Union Central Executive Committee) ने ३१ सदस्यों के एक आयोग (Commission) की नियुक्ति की और स्टालिन (Stalin) को उक्त आयोग का चेयरमैन (Chairman) नियुक्त किया गया। इस आयोग को आज्ञा दी गई कि एक संविधान तैयार किया जाय जिसमें वे सभी तथ्य एकीकृत किये जायें जिनके सम्बन्ध में अब तक सफलता प्राप्त की जा चुकी है। एक वर्ष से अधिक कठिन परिश्रम के उपरान्त आयोग ने संविधान का प्रारूप उपस्थित किया, जून १९३६ में उसको प्रकाशित किया गया और

सर्वसाधारण के समक्ष सुझावो और सशोधनो के लिये प्रस्तुत किया गया। सविधान के प्रारूप ने सर्वसाधारण में भारी खलबली मचादी और सभी ने इसमें रुचि प्रदर्शित की और प्राय सभी रूसी नागरिको ने सविधान के खण्डन-मण्डन में भाग लिया। कहा जाता है कि इस सविधान के सम्बन्ध में पाँच लाख सभायें हुईं और उन सभाओ मे ३६० लाख व्यक्तियो ने भाग लिया। १,५४,००० सशोधन उपस्थित किये गये। संघीय सोवियट (Congress of Soviets of the U. S S R) का असाधारण सत्र आहूत किया गया जिसने सविधान के प्रारूप को केवल ४३ मामूली सशोधनो सहित ५ दिसम्बर १९३६ को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया। इन ४३ सशोधनों में से केवल सात सशोधन तो कुछ परिवर्त्तनकारी थे अन्यथा सभी में शाब्दिक हेर-फेर थे। इस प्रकार स्टालिन सविधान १९३७ से प्रभावी हो गया।

आगामी सविधानिक सशोधन (Subsequent Constitutional Amendments)—आजकल जिस सविधान के अनुसार सोवियट रूस का शासन चल रहा है वह १९३६ का सविधान ही है। आगामी राजनीतिक आवश्यकताओ ने यह आवश्यक कर दिया कि सविधान में कतिपय परिवर्त्तन किये जायँ, किन्तु सविधान के मुख्य उपबन्ध अब भी वही हैं और स्टालिन सविधान में कोई क्रान्तिकारी परिवर्त्तन नही हुआ है। १९४४ में सविधान में परिवर्त्तन करके प्रेसीडियम (Presidium) की रचना और सगठन सम्बन्धी कुछ सशोधन किया गया और लोक प्रबन्ध परिषद् अथवा कौंसिल आफ पीपल्स कमीसार्स (Council of Commissars) में भी कुछ परिवर्तन किया गया। १९४६ में प्रेसीडियम के अतिरिक्त सदस्यो की सख्या घटाकर पन्द्रह कर दी गई, इस प्रकार इसकी पूर्ण सदस्य सख्या ३३ हो गई। कौंसिल आफ पीपल्स कमीसार्स अथवा लोक प्रबन्धक परिषद् (The Council of Peoples' Commissars) का नाम पश्चिमी देशो की कायपालिकाओ के अनुरूप मन्त्रि परिषद् (Council of ministers) रख दिया गया। श्रमिको के काम के घण्टे सात के स्थान पर आठ कर दिये गये। कुछ सशोधन नि शुल्क शिक्षा के विषय में भी किये गए। जो प्रत्याशी सर्वोच्च सोवियट या सर्वोच्च परिषद् (Supreme Soviet) के लिये चुनाव में खडा होना चाहे उनकी आयु १८ वर्षो के बजाय तेईस वर्ष कर दी गई। अवयवी गणराज्यो को आज्ञा दे दी गई कि वे अपने-अपने स्वतन्त्र सैनिक दस्ते रख सकेंगे, विदेशी सत्ताओ के साथ सीधे सम्बन्ध रख सकेंगे, विदेशो के साथ समझौते और इकरारनामे कर सकेंगे और उनके साथ दौत्य सम्बन्ध भी स्थापित कर सकेंगे। द्वितीय विश्व-युद्ध की समाप्ति के बाद बदली हुई स्थितियो में इस प्रकार के सविधानिक सशोधन आवश्यक हो गये थे।

सविधान में सशोधन करने की प्रक्रिया (Procedure for amending the Constitution)—सोवियट रूस के सविधान में सशोधन की प्रणाली अपेक्षाकृत सरल है। सविधान का अनुच्छेद १४६ सही-सही प्रक्रिया, सशोधन के सम्बन्ध में वर्णित करता है। यदि सर्वोच्च सोवियट या सर्वोच्च परिषद् (Supreme Soviet)

के दोनों सदन कम-से-कम दो-तिहाई मतों के बहुमत से संशोधन स्वीकार करलें तो संविधान में संशोधन हो सकता है। कहने का सार यह है कि संविधान के संशोधन की मांग संघीय परिषद् (Council of the Union) और राष्ट्रीयताओं की परिषद् (Council of the Nationalities) नामक सर्वोच्च सोवियट के दोनों सदनों के द्वारा अलग-अलग दो-तिहाई के बहुमत से पास होनी चाहिये।

संविधान का क्षेत्र (Scope of the Constitution)—सोवियट रूस एक संघीय राज्य है जिसमें १६ अवयवी एकक गणराज्य हैं :

(१) रूस का सोवियट संघात्मक समाजवादी गणराज्य,
(२) यूक्रेनियन सोवियट समाजवादी गणराज्य;
(३) बाइलोरशियन सोवियट समाजवादी गणराज्य,
(४) उजबैक सोवियट समाजवादी गणराज्य,
(५) कजख सोवियट समाजवादी गणराज्य,
(६) जार्जियन सोवियट समाजवादी गणराज्य,
(७) अजरबिजान सोवियट समाजवादी गणराज्य,
(८) लिथूनियन सोवियट समाजवादी गणराज्य,
(९) मॉल्डेवियन सोवियट समाजवादी गणराज्य,
(१०) लैट्वियन सोवियट समाजवादी गणराज्य,
(११) किरघीज सोवियट समाजवादी गणराज्य,
(१२) तजिक सोवियट समाजवादी गणराज्य,
(१३) आर्मीनियन सोवियट समाजवादी गणराज्य,
(१४) तुर्कमान सोवियट समाजवादी गणराज्य;
(१५) एसटोनियन सोवियट समाजवादी गणराज्य, और
(१६) कारेलियन फिनिश सोवियट समाजवादी गणराज्य।

इन १६ गणराज्यों में से पाँच द्वितीय विश्व-युद्ध में विजित प्रदेश हैं जिनके निम्न नाम हैं कारेलियन फिनिश सोवियट समाजवादी गणराज्य को फिनलैंड (Finland) से जीता गया था, तथा मॉल्डेवियन गणराज्य; लिथूनियन गणराज्य, लैट्वियन गणराज्य, और एस्टोनियन गणराज्य को हिट्लर (Hitler) की सहमति से पुनः अधिकार में ले लिया था।

संविधान की विशेषताएँ

(Features of the Constitution)

मजदूरों और किसानों का समाजवादी राज्य (A Socialist State of Workers and Peasants)—संविधान का अनुच्छेद १ कहता है : "समाजवादी सोवियट गणराज्यों का संघ मजदूरों और किसानों का एक समाजवादी राज्य है।" इसलिये

स्टालिन सविधान ने राज्य की नई समाजवादी व्यवस्था के सिद्धान्तो का निरूपण किया है और राज्य के सोवियट आधार पर बल दिया है। १६१८ और १६२४ के सविधानो ने समाजवादी व्यवस्था की स्थापना के बारे में मौन रखा है। उस समय समाजवाद का आधार तैयार हो रहा था। १६३६ में समाजवाद की पूर्णरूपेण स्थापना और व्यवस्था हो चुकी थी। स्टालिन के ही शब्दो में व्यावहारिक समाजवाद के अर्थ सुनिये "हमारे कारखाने और पुतलीघर बिना पूँजीपतियो के ही चल रहे हैं। 'सर्वसाधारण ही सारे औद्योगिक कार्यों का सचालन कर रहे हैं। इसी को हम व्यावहारिक समाजवाद कहते हैं। हमारे खेतो मे कृषिकार लोग बिना जमीदारो के काम करते हैं। कृषिकर्म का सचालन भी सामान्य लोग ही करते हैं। इसी को हम व्यावहारिक नैतियक समाजवाद कहते हैं और इसी को हम स्वतन्त्र सामाजिक जीवन कहते है।" समस्त भूमि पर, समस्त खनिज-पदार्थों पर और उत्पादन के सभी साधनो पर राज्य का पूर्ण अधिकार है और राज्य की ओर से सर्वसाधारण इन ससाधनो से लाभ उठाते हैं। कोई व्यक्ति किसी का न शोषण कर सकता है न किसी को सता सकता है। इसलिये समाजवादी समाज में जो आपस में सम्बन्ध हैं वही समाजवाद है। समाजवादी शोषण-मुक्त व्यवस्था में पारस्परिक सम्बन्ध व्यक्तिगत हितो पर नही होते बल्कि परस्पर सहयोग और साहाय्य के आधार पर आधारित होते हैं। सभी लोग काम करते हैं और हर एक, व्यक्तिगत लाभ के लिये और काम करने वालों के समाज के लाभ के लिये काम करता है।

समाजवादी सम्पत्ति के रूप (Forms of Socialist Property)—गणराज्य का सविधान दो प्रकार की समाजवादी सम्पत्ति मानता है, वे है राज्य की सम्पत्ति (State Property) और सहकारी तथा सामूहिक फार्म की सम्पत्ति (Co-operative and Collective-farm Property)। राज्य की सम्पत्ति में प्रथमत पुराने औद्योगिक और बडे-बडे मशीन, कारखाने आदि हैं जिनको भूतपूर्व पूँजीपतियो और जमीदारो से छीन लिया गया था और जो सोवियट राज्य के अधिकार में ले ली गई थी। द्वितीयत वे समस्त उद्यम और उपक्रम जो पचवर्षीय योजनाओ के काल में राज्य ने उद्योगों और कृषि के क्षेत्रो में स्थापित किये हैं। राज्य के उद्यम का सचालन एक ऐसा सचालक (Director) करता है जिसकी नियुक्ति सोवियट अधिकारियो द्वारा की जाती है। मजदूरों और अन्य सेवकों (Employees) को वेतन राज्य की ओर से हरएक की कार्यक्षमता के अनुसार दिया जाता है।

सामूहिक फार्म (Collective farm)—कुछ सदस्यो का ऐच्छिक यूनियन या सघ है। उन लोगों को राज्य की ओर से कुछ भूमि सदैव के लिये कुछ लिखित शर्तों के अनुसार दे दी जाती है। शर्त यह होती है कि उस भूमि पर सभी लोग सम्मिलित रूप में मेहनत करेंगे। और राज्य की ओर से उस भूमि पर कार्य करने के लिये बडे-बडे यन्त्र और मशीनें आदि दी जाती हैं तथा धन भी उधार दिया जाता है। इस प्रकार किसान लोग सामूहिक फ़ार्म या प्रक्षेत्र के मालिक होते हैं और इस फ़ार्म

(Farm) का प्रबन्ध एक प्रबन्धक समिति करती है जिसको उक्त फार्म के सदस्य-किसान लोग चुनते हैं। यही समिति समस्त फार्म अथवा प्रक्षेत्र (Farm) का प्रबन्ध करती है, विविध सदस्यों में काम बाँटती है, आमदनी का भी बँटवारा धन के रूप में अथवा कृषि उपज के रूप में करती है और वही अतिरिक्त अथवा फालतू माल (Surpluses) को बेचती है। किसान सदस्यों को अपना-अपना भाग उसी अनुपात में मिलता है जितने दिन उन लोगों ने काम किया हो, अथवा जिस कुशलता के साथ उन्होंने कार्य किया हो। सोवियट रूस (U S S R.) में वेतन निश्चित करने का सिद्धान्त यह है, "हर एक अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करे और हर एक को उसके कार्य के अनुसार वेतन मिलना चाहिए।" कार्य-कुशलता अथवा विशेष योग्यता के अनुसार मजदूरों में जो विविधता होती है उसको इस प्रकार पूरा किया जाता है कि कुछ स्थान अथवा पद योग्यता या क्षमता के हिसाब से ऊँचे पदों के समान मान लिये जाते हैं और उनको तदनुसार ऊँचा वेतन दिया जाता है।

सामूहिक फ़ार्मों के ऊपर भी राज्य के कुछ दायित्व हैं। फार्म को राज्य के कोष में कुछ कर (Taxes) जमा करने पड़ते हैं और एक निश्चित मूल्य पर राज्य को अपनी उपज का कुछ भाग उस परिमाण में देना पड़ता है जो विधि ने निश्चित किया हो। फार्म को धन और उपज दोनों ही उस सेवा के उपलक्ष्य में जो राज्य की मशीनें और ट्रैक्टर आदि करते हैं, मशीन और ट्रैक्टर स्टेशन को भेजने पड़ते हैं।

व्यक्तिगत सम्पत्ति का अस्तित्व और रोज़गारी व्यक्ति (Existence of Private Property and Wage-earners)—सोवियट रूस की सामाजिक सम्पत्ति के स्वरूप से दो महत्त्वपूर्ण फल निकलते हैं। प्रथम यह है कि अब भी किसी न किसी रूप में व्यक्तिगत सम्पत्ति और प्राइवेट स्वाम्य उस देश में वर्तमान है। द्वितीय यह है कि उस देश में एक वर्ग, भृति कमाने वाला अथवा निजी रोजगार करने वाला है। संविधान का अनुच्छेद ९ व्यक्तिगत कृषकों और व्यक्तिगत दस्तकारों को आज्ञा देता है कि वे अपने-अपने प्राइवेट व्यावसायिक संस्थापन रख सकते हैं, किन्तु शर्त यह है कि उनके संस्थापन में वे स्वयं मेहनत करते हैं और वे अन्य लोगों की मजदूरी पर नहीं चलाये जाते। इस प्रकार संविधान ने स्पष्टतः छोटे पैमाने पर व्यक्तिगत उद्योगों और उपक्रमों को मान्यता दी है। उसी प्रकार अनुच्छेद १० नागरिकों के व्यक्तिगत सम्पत्ति के रखने के अधिकार को मानता है। "इस सम्पत्ति में नागरिकों के काम की आमदनी और बचत हो सकती है, उनके रहने के मकान और घर का सामान हो सकता है, घर का फर्नीचर बर्तन और अपने व्यक्तिगत आराम और काम की चीजें हो सकती हैं।' साथ ही नागरिकों का व्यक्तिगत सम्पत्ति के ऊपर पैतृक दाय भी स्वीकार कर लिया गया है, जो विधि-संगत है। सोवियट रूस में कितनी बड़ी धन-राशियाँ लोगों के पास व्यक्तिगत सम्पत्ति के रूप में हैं, इसका अनुमान इसी बात से लगाया जा सकता है कि १९४७ में राज्य की ओर से एक ऋण इकट्ठा किया गया था, उस समय एक प्रसिद्ध वैज्ञानिक की बड़ी प्रशंसा की गई थी कि उसने इन ऋण

के लिये १,४०,००० रूबल (Rubbles) अर्पित किये, और दो अन्य लेखको ने अलग-अलग ५७,००० और ४०,००० रूबल ऋणार्थ अर्पित किये।

सोवियट रूस मे व्यक्तिगत रोजगार प्रथा का प्रचलन ही नही है, बल्कि उसका महत्त्व पर्याप्त बढ गया है और उसको समाजवादी राज्य में व्यक्तिगत आमदनी का श्रेष्ठ साधन माना जाता है। इस सम्बन्ध में पूंजीवादी राज्यो और साम्यवादी सोवियट रूस में यह अन्तर है कि रूस में तो राज्य ने बहुत अधिक सख्या मे रोजी कमाने वालो को काम दे रखा है किन्तु अन्य राज्यो में ऐसा नही है। इसके अतिरिक्त घरेलू नौकरो को भी घरो पर निजी काम करने के लिये रखा जा सकता है।

सोवियट रूस में भृत्ति व्यवस्था निम्न समाजवादी सिद्धान्त पर आधारित है, "हरएक अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करे और हरएक को उसके कार्य के अनुसार वेतन मिलना चाहिये।" वेतन देने की इस रीति की कार्य-भृत्ति (Piece-wages) से तुलना की जा सकती है, यद्यपि इस रीति की पूंजीवादी देशो में ट्रेड यूनियनें (Trade Unions) आदि निन्दा करती हैं।

सोवियट रूस मे व्यक्तिगत सम्पत्ति की मान्यता, चाहे वह नगण्य ही सही, व्यक्तिगत सम्पत्ति के ऊपर सविधानिक सरक्षण, चाहे उसका कितना भी कम विस्तार हो और चाहे उसका कुछ भी स्वरूप हो, और भृत्ति व्यवस्था की सन्ततता ये ऐसी चीजे हैं जो समाजवाद के मार्क्सवादी सिद्धान्तो से मेल नही खाती।

आय-सम्बन्धी असमानता (Inequality of Incomes)—भृत्ति के सम्बन्ध मे निम्न सिद्धान्त, "हरएक अपनी क्षमता के अनुसार कार्य करे और हरएक को अपने कार्य के अनुसार वेतन मिले", यह मान लेता है कि रूस मे आय-सम्बन्धी असमानता वर्त्तमान है। इसमे सन्देह नही कि सोवियट रूस (U S S R) में आयसम्बन्धी असमानता उतनी उग्र नही है जितनी कि पूंजीवादी देशो में है। किन्तु उसी के साथ सोवियट रूस में जो आय सम्बन्धी असमानता है उसकी सर्वथा उपेक्षा भी नही की जा सकती। १९५० में किसी कुशल शिल्पी का मासिक वेतन लगभग ६०० रूबल था जब कि सचालको और मैनेजरो का मासिक वेतन ६,००० रूबल से लेकर १६,००० रूबल तक था। आयसम्बन्धी इतनी असमानता के होते हुए भी उच्च वेतनभोगी अधिकारियों को अन्य विशेष सुविधाएँ भी दी जाती हैं जैसे, रहने के अच्छे निवास-स्थान, मोटरकार और अनेको सुख-सुविधाएँ आदि, आदि। उत्तरदायित्वपूर्ण पदो पर काम करने वाले अधिकारियो के इस प्रकार के विशेषाधिकारो को अत्यावश्यक माना जाता है। अधिकारियो की इस श्रेणी में अधिकतर वे लोग आते हैं जो या तो शासन के उच्च अधिकारी हैं अथवा फैक्टरियो के मैनेजर आदि।

यह सब क्रान्ति के प्रारम्भिक सिद्धान्तो के सर्वथा विरुद्ध है। बॉल्शेविको (The Bolsheviks) का सगठन इसी सिद्धान्त पर पुष्ट हुआ था कि सभी को समान वेतन मिलना चाहिए चाहे कोई अच्छा काम करे या बुरा और चाहे कोई अधिक काम करे या कम। अक्तूबर क्रान्ति (October Revolution) से पूर्व लेनिन (Lenin) ने

स्पष्ट शब्दों में कहा था कि शासन के प्रशासक को अथवा किसी फैक्टरी के मैनेजर को कुशल शिल्पी की अपेक्षा अधिक वेतन नहीं मिलना चाहिए। युद्ध-रत अथवा यौद्धिक साम्यवाद (War Communism) के काल में भी इसी सिद्धान्त को माना जाता था। एन० ई० पी० (N E P) के काल में वेतन सम्बन्धी असमानता और अधिक बढ़ गई। जब प्रथम पञ्चवर्षीय योजना प्रारम्भ की गई, उस समय 'समान वेतन' के सिद्धान्त के विरुद्ध कार्यवाही की गई और स्टालिन ने समान वेतन के सिद्धान्त की *निन्दा की और उसको समाजवादी सिद्धान्तों का बेहूदा स्वरूप कहा। यह भी स्टालिन* की व्यक्तिगत जीत थी।

रूस में वर्गविहीन समाज नहीं है (Not a Classless Society)—सोवियट रूस में यद्यपि पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था का नाश किया जा चुका है, किन्तु इसके यह अर्थ नहीं हैं कि वहां वर्गविहीन समाज की स्थापना हो गई है। सोवियट रूस का समाज श्रमिकों, कृषकों और बौद्धिक वर्गों से मिलकर बना है। समाज में वर्ग संगठन करने से स्टालिन यह चाहता था कि समाज में एक वर्ग का दूसरे वर्ग के द्वारा शोषण बन्द हो जाय अर्थात् वर्गों के परस्पर विरोध समाप्त हो जायें। १९३६ में संविधान के प्रारूप पर प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए स्टालिन ने कहा था, " हमारे समाज का वर्ग-संगठन भी बदल गया है इस प्रकार शोषण करने वाले वर्ग को समाप्त कर दिया गया है। अब मजदूर वर्ग, किसान वर्ग और बौद्धिक वर्ग हैं।" ये सभी मेहनत करके आजीविका कमाते हैं इसलिए इन वर्गों में कोई विरोध नहीं है। यद्यपि ये तीनों विभिन्न वर्ग हैं किन्तु एक-दूसरे के प्रति मैत्री-भाव रखते हैं, और सरकारी तौर पर यह मान लिया गया है कि सोवियट रूस में श्रमिक वर्ग ही प्रमुख वर्ग है।

सोवियट रूस में औद्योगिक मैनेजरों का महत्त्व बढ़ गया है, इससे यह प्रश्न सम्मुख आ गया है कि क्या मैनेजर वर्ग को नया और स्थायी सारूप वर्ग मान लिया जाय। १९४० में शिक्षा-सम्बन्धी कतिपय विनियम प्रसारित किये गये थे, उनमें उक्त मैनेजर वर्ग को नया वर्ग मान लिया गया था। इन विनियमों के अनुसार कुशल शिल्पियों और बौद्धिक वर्गों के बच्चों को ऐसी शिक्षा-सम्बन्धी सुविधाएं प्रदान की गई थीं जो ऊंचे पदों के लिए आवश्यक होती हैं।

सोवियट संघवाद (Soviet Federalism)—सोवियट रूस के शासन का संगठन इस प्रकार किया गया है कि यह १६ अवयवी एकक गणराज्यों का संघ है। सोवियट संघ समस्त अवयवी समाजवादी गणराज्यों को समान अधिकार प्रदान करता है और सभी एककों की संघीय सदस्यता पूर्णरूपेण ऐच्छिक है। संघ और अवयवी गणराज्यों के बीच शक्तियों का स्पष्ट वितरण है। संघीय शासन की शक्तियों को संविधान के अनुच्छेद १४ में प्रगणित किया गया है। शेष शक्तियां अवयवी गणराज्यों को सौंप दी गई हैं और प्रत्येक अवयवी गणराज्य अपने अधिकारों के प्रयोग में केन्द्रीय शासन से मुक्त हैं। "सोवियट रूस (U S S. R) अवयवी गणराज्यों के प्रभु अधिकारों का संरक्षक है।"

सोवियट सघवाद की कुछ विशेषताएं (Some features of Soviet Federalism)—ऊपर उन कतिपय समानताओ का जिक्र किया गया है जो रूस के स्टालिन सविधान और सयुक्त राज्य अमेरिका के सघीय सविधान तथा अन्य देशो के सघीय सविधानो में पाई जाती हैं। किन्तु सोवियट रूस का सघीय सविधान अन्य सघीय सविधानो से निम्न बातो मे भिन्न है—

(१) सोवियट रूस (U S S R) विविध राष्ट्रीयताओ का राज्य है जिसमें १५० से अधिक जातियाँ निवास करती हैं। ये सभी राष्ट्रीयताएँ (nationalities) एक-दूसरे से भाषा, रीति-रिवाज, इतिहास और सस्कृति एव सभ्यता में विभिन्न हैं। बॉल्शेविक दल आत्मनिर्णय (Self determination) के सिद्धान्त का प्रबल समर्थक था किन्तु लेनिन (Lenin) और स्टालिन (Stalin) दोनो ने देश को सुदृढ सघ बनाना चाहा, इसलिए उन्होने इन विविध राष्ट्रीयताओ को सघ से पृथक् होने की छूट दे दी और समस्त सोवियट प्रजा को अपनी-अपनी सस्कृति को अपने आदर्शों के अनुसार विकसित करने की छूट दे दी और सभी को अपना राजनीतिक भविष्य अपने आप निर्णय करने की भी छूट दे दी।

इस प्रकार स्टालिन सविधान इस दिशा में एक अनोखा उदाहरण उपस्थित करता है कि उसने अवयवी एकको को सघ से अलग हो जाने की छूट दे दी है। किन्तु सघवाद के सिद्धान्त के साथ-साथ आत्मनिर्णय का अधिकार दे देना, एक युक्तिपूर्ण रियायत थी। लेनिन (Lenin) ने स्वय कहा था कि "हमारे सघवाद से विभिन्न राष्ट्रीयताओ का एकीकरण होगा और वे एक सुदृढ प्रजातन्त्रीय सघात्मक सोवियट राज्य का निर्माण करेंगी।" आत्मनिर्णय के अधिकार पर टिप्पणी करते हुए स्टालिन (Stalin) ने कहा था, "ऐसे भी अवसर आ सकते हैं जबकि आत्मनिर्णय के अधिकार का एक उच्चतर अधिकार मे सघर्ष हो सकता है—वह उच्चतर अधिकार है श्रमिक वर्ग का अपनी शक्ति की रक्षा का अधिकार।" इसलिए एकको के सघ से विलग होने के सभी प्रयत्नो को निर्दयतापूर्वक दबा दिया गया, आज तो इस अधिकार का केवल आदर्शवादी महत्त्व ही रह गया है। अनेको लोगो को १६३७-१६३८ में देशद्रोह और क्रान्ति-विरोधी हलचलो के अभियोगो पर देश मे निकाल दिया गया और उन पर मुख्य आरोप यह था कि वे सोवियट सघ (Soviet union) को छिन्न-भिन्न करना चाहते थे।

क्रान्ति के शीघ्र बाद शासन का सघीय स्वरूप स्थापित कर दिया गया था और सोवियट सघ का लगातार प्रत्यक्ष रूप से वही स्वरूप बना रहा है। किन्तु साम्यवादी आदर्श अब भी पूर्ण एकता है और सघवाद उस एकता को प्राप्त करने का एक साधन है, अप्रत्यक्ष साधनो के द्वारा और अ-रूसी क्षेत्रो और प्रदेशो को मिला कर, तथा शासन के सघात्मक स्वरूप को स्थायी बनाकर और नव-विजित प्रदेशो को भी उनकी अपनी सस्कृति बनाए रखने का आश्वासन देकर एकता का आदर्श प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए सोवियट रूस में जो सघात्मक शासन है उसका

अन्तिम उद्देश्य एकात्मक शासन-व्यवस्था स्थापित करना है, अर्थात् रूस संघ के छद्म वेश में केन्द्रित राज्य स्थापित करना चाहता है।

(२) संघीय संविधान ने प्रत्येक अवयवी एकक गणराज्य को विदेशी राज्यों के साथ सीधे सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार दे दिया है और यह भी अधिकार दिया है कि वे सीधे विदेशी राज्यों के साथ समझौते कर सकते हैं। उनके साथ दौत्य सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं और वाणिज्य दूतों को विदेशों में भेज सकते हैं तथा विदेशों में अपने वाणिज्य दूतावास खोल सकते हैं। इसलिए प्रत्येक अवयवी गणराज्य स्वयं निर्णय करता है कि वह किन देशों के साथ सीधे दौत्य सम्बन्ध रखे। संघीय सरकार तो केवल यह देखती है कि किसी अवयवी गणराज्य के किसी विदेशी सरकार के साथ जो सम्बन्ध हैं उनकी प्रक्रिया कैसी है। संविधान के इस उपबन्ध के अनुसार ही यूक्रेन (Ukraine) और श्वेत रूस (White Russia) को संयुक्त राष्ट्र संघ (U. N O) में स्वतन्त्र राज्यों के रूप में सदस्यता दे दी गई।

संविधान ने एकक गणराज्यों को यह भी आज्ञा प्रदान की है कि वे अपनी सेनाएँ, अपने शस्त्र और अपने-अपने झण्डे रख सकते हैं।

(३) सोवियट संघ का स्वरूप अत्यधिक जटिल है। संघ के अवयवी एकक गणराज्यों को पुन इस प्रकार बाँटा गया है प्रदेश (territories) ६, जनपद (Regions) १२४, स्वायत्त गणराज्य (Autonomous Republics) १५, स्वायत्त जनपद (Autonomous Regions) ६, राष्ट्रीय क्षेत्र (National Areas) १०, इन सब राष्ट्रीयताओं को राष्ट्रीयताओं की सर्वोच्च परिषद् (Soviet of Nationalities) में प्रतिनिधित्व प्राप्त है। प्रतिनिधित्व का क्रम इस प्रकार है। प्रत्येक अवयवी यूनियन गणराज्य २५ प्रतिनिधि (deputies) भेज सकता है, प्रत्येक स्वायत्तशासी गणराज्य (Autonomous Republic) ११ प्रतिनिधि (deputies) भेज सकता है, प्रत्येक स्वायत्त जनपद (Autonomous Region) ५ प्रतिनिधि भेज सकता है और प्रत्येक स्वायत्त राष्ट्रीय क्षेत्र (National Area) एक प्रतिनिधि (deputy) भेज सकता है।

(४) सिद्धान्तत. सभी अवयवी एकक गणराज्य बराबर हैं किन्तु व्यवहारत इस प्रकार की समानता न तो वास्तविक है और न सम्भव हो सकती है। रूस का संघात्मक सोवियट समाजवादी गणराज्य (The Russian Soviet Federated Socialist Republic) सोवियट रूस (U S S R) का सबसे बड़ा एकक गणराज्य है जिसमें सारे संघ का $\frac{3}{4}$ भू-प्रदेश है, सारे संघ की आधे से अधिक जनसंख्या है और बाल्टिक सागर (Baltik Sea) से प्रशान्त महासागर (Pacific Ocean) तक विस्तृत है। सरकारी भाषा और सरकारी प्रचार से भी इसी गणराज्य की महत्ता व्यक्त होती है और नया राष्ट्रीय गीत भी यही कहता है कि रूस नाम के गणराज्य ने सदैव सोवियट रूस के समस्त स्वतन्त्र अवयवी गणराज्यों को अटूट बंधन में बाँधे रखा है। रूस के सोवियट संघात्मक समाजवादी गणराज्य (R. S F. S. R) को

सोवियट रूस के अन्य एकक गणराज्यो में जो प्रधानता प्राप्त है उसको इस तथ्य से समझा जा सकता है कि जब द्वितीय विश्व-युद्ध के बाद पूर्वी प्रशा का उत्तरी भू-भाग सोवियट रूस को प्राप्त हुआ तो उस भूभाग को रूस के सोवियट सघात्मक समाजवादी गणराज्य (U S. F S R) में मिलाया गया न कि उन अन्य एकक गणराज्यो में जो उक्त भू-भाग से छूते थे।

केन्द्रित वा एकीकृत प्रशासन (Centralized Administration)—किन्तु सोवियट रूसी सघ के एकक गणराज्यो को जो प्रभु सत्ताधारी अधिकार प्रदान किये गये हैं और जिन अधिकारो की गारटी सविधान ने की है, उन पर वास्तविक मर्यादायें थोप दी गई हैं और अन्ततोगत्वा सोवियट रूसी सघ का प्रशासन किसी भी समय पूर्ण केन्द्रीकृत और एकीकृत हो सकता है जिसमें केन्द्राभिग (Centripetal) शक्तियाँ चरम सीमा को पहुँच जाती हैं। सविधान ने सघीय शासन (Union Government) को इतनी व्यापक शक्तियाँ प्रदान कर रखी हैं कि जिनके बल पर वह समस्त देश की आर्थिक व्यवस्था को न केवल नियन्त्रित और विनियमित करता है अपितु, प्रत्यक्ष रूप से उसका प्रबन्ध भी करता है। सविधान का अनुच्छेद II स्पष्ट रूप से कहता है कि समस्त सोवियट रूस के आर्थिक ढाँचे का स्वरूप केन्द्रीय आर्थिक योजना (State National Economic Plan) के अनुसार इस उद्देश्य से निर्मित होगा कि सार्वजनिक समृद्धि बढे, श्रमिक वर्ग के भौतिक और सास्कृतिक जीवन के स्तर में उन्नति हो, सोवियट रूसी सघ की स्वतन्त्रता की रक्षा पक्की हो जाय और देश के रक्षा-साधनो को मजबूत किया जाय, और उसी योजना के अनुसार उक्त आर्थिक व्यवस्था का सचालन होगा। सोवियट रूस (U S S R) में जो आर्थिक योजनाएँ निर्मित होती हैं, वे समस्त देश के समस्त जीवन को आवृत्त कर लेती हैं, इस कारण सघीय अधिकारियो को ऐसे अनेको अवसर प्राप्त होते हैं जिनसे वे अवयवी एकक गणराज्यो के नैत्यिक प्रशासन में भी विघ्नकारी प्रभाव डाल सकते हैं। इसके अतिरिक्त सघीय शासन का वित्तीय शक्तियो पर एकाधिकार है। सविधान का अनुच्छेद १४ सघीय शासन को अधिकार प्रदान करता है कि "वह समस्त सोवियट रूस (U S S R.) का एक राज्य के रूप में आयव्ययक (Budget) तैयार करें, साथ ही उन करो (Taxes) और राजस्वो (Revenues) की भी व्यवस्था करे जो केन्द्रीय सघ के भाग के हो अथवा एकक गणराज्यो के भाग के हो अथवा स्थानीय सस्थाओ के भाग के हो।" सक्षेप में कहा जा सकता है कि एकक गणराज्यो के वित्तीय साधनो पर भी केन्द्रीय शासन का पूर्ण नियन्त्रण है। "और यह एक सामान्य सिद्धान्त है कि जिसका अधिकार किसी के वित्त पर होगा उसी का अधिकार उसकी इच्छाओ पर भी होगा," इसीलिए व्यवहारत अवयवी एककों की स्वायत्तता अत्यन्त सीमित और मर्यादित है।

सविधान के अनुच्छेद १४ में सघीय शासन के अधिकार-क्षेत्र को स्पष्ट कर दिया गया है। उन सीमाओं को छोडते हुए प्रत्येक अवयवी एकक गणराज्य अपने अधिकारो का प्रयोग करने में स्वतन्त्र है। किन्तु सविधान का अनुच्छेद २०, अवयवी

एकक गणराज्यो की स्वतन्त्र सत्ता को किसी सीमा तक मर्यादित करता है। वह आदेश करता है, "यदि कभी किसी अवयवी एकक गणराज्य की विधि सोवियट रूसी संघ की विधि के विरुद्ध पड़ती हो तो सोवियट रूसी संघ की विधि को मान्यता प्रदान की जायगी।" सोवियट रूसी संघ के शासन को यह भी अधिकार है कि वह किसी अवयवी एकक गणराज्य की कार्यपालिका द्वारा पारित अथवा उसकी संसद् (Soviet) द्वारा पारित किसी अधिनियम को रद्द कर सकता है।

इसके अतिरिक्त संविधान में संशोधन करने की शक्ति केवल सर्वोच्च संसद् (Supreme Soviet) को ही प्राप्त है। सर्वोच्च सोवियट, अथवा सर्वोच्च संसद् (Supreme Soviet) के ही नियन्त्रण में यह देखना है कि समस्त संघ में सर्वोच्च संविधान की क्रियान्विति ठीक प्रकार से हो रही है अथवा नहीं और वही यह देखती है कि अवयवी एकक गणराज्यो की विधियाँ सोवियट रूस (U S S R) की विधियो के अनुरूप ही हैं अथवा नहीं। इन तथ्यो से यही निष्कर्ष निकलता है कि सोवियट रूसी संघ (U S S R) में पूर्ण एकीकृत और केन्द्रीय शासन है। स्टालिन का कथन था कि *हमारा समाजवाद एक देश का समाजवाद* (Socialism in a Single Country) है और इसके अतिरिक्त सोवियट रूस में लोक प्रबन्धक परिषद् अथवा मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के नियन्त्रण में यूनियन गणराज्यो और अखिल सोवियट यूनियन की सर्वोच्च कार्यकारी और प्रशासनिक शक्ति निहित है; इसलिए भी 'सोवियट एकक गणराज्यो के प्रभुसत्ताधारी अधिकार' एक दिखावामात्र हैं।

इस सम्बन्ध में सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सोवियट रूस में साम्यवादी दल की स्थिति सर्वोच्च और सर्वव्यापक है और यह संघ की केन्द्राभिग प्रवृत्ति को ही इंगित करती है जहाँ तक समस्त नीति साम्यवादी दल की ओर से ही प्रेरित होती है, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता है कि शासन का स्वरूप संघीय है अथवा नहीं। अखिल रूसी संघ के साम्यवादी दल का राजनीतिक ब्यूरो (Polit Bureau) ही समस्त सोवियट यूनियन (U S S R) की नीति का निर्माण करता है और इसी नीति पर समस्त सत्ताएँ—अखिल संघीय और एकक गणराज्यीय सत्ताएँ—चलती हैं और शासनसूत्र चलाती हैं। "इस प्रकार सोवियट रूस में शासन का स्वरूप संघीय अवश्य है किन्तु उसका संचालन और निर्देशन एकात्मक और कठोर दल के द्वारा होता है, इसलिये जो आज्ञाएँ यह दल देता है उन्हीं का पालनमात्र सभी एकक गणराज्य करते हैं।"

संविधानिक शासन पद्धति के सम्बन्ध में सोवियट मान्यता (The Soviet Concept of Constitutionalism)—संसार के अन्य सभी देशों में संविधानिक विधि द्वारा मौलिक विधि को विशेष मान्यता प्रदान की जाती है, और अन्य सब प्रकार की विधियाँ मौलिक विधि के आधीन होती हैं। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि संविधान ही किसी देश की सर्वोच्च विधि होती है। किन्तु सोवियट रूस (U S S R)

में ऐसा नहीं है। विशिस्की (Vyshinsky) कहता है, "सोवियत रूस में सर्वहारावर्ग (Proletariat) का अधिनायकत्व स्थापित हो चुका है और इस सर्वहारा-वर्ग अथवा श्रमिकों के सर्वाधिकारवादी राज्य पर संविधियाँ (Statutes) भी कोई मर्यादाएँ नहीं लगा सकतीं।"[1] इसका यह अर्थ हुआ कि सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकवाद का नियन्त्रण संविधान के उपबन्धों के अनुसार न होकर उक्त अधिनायकवाद ही यह निर्णय करेगी कि उसकी नैतिक और वैधिक व्यवस्था किस प्रकार की हो और उक्त व्यवस्था में संविधान को शीर्ष स्थानीय महत्ता प्रदान की जाय अथवा नहीं। इस प्रकार सोवियट संविधान सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकत्व (Dictatorship of the proletariat) के हाथों का खिलौनामात्र बनकर रह जाता है। संविधान का उक्त अधिनायकवाद के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं है, अपितु, स्वयं संविधान के ऊपर सर्वहारावर्ग के अधिनायकवाद का नियन्त्रण स्थापित कर दिया गया है। स्टालिन (Stalin) ने वास्तव में एक तथ्य ही वर्णित किया जब कि १९३६ में उसने कहा था "हमारा संविधान हमारी अब तक की सफलताओं का दर्पण है।" इसका यह अर्थ है कि हमारी भविष्य में होने वाली सफलताओं को भी संविधान में स्थान दिया जायगा और संविधान के पास ऐसी शक्तियों का अभाव है जिनसे होने वाले परिवर्त्तनों को रोका जा सके। दूसरे शब्दों में इस प्रकार कहा जा सकता है कि सोवियट रूस में न संविधानिक शासन-पद्धति है, न असंविधानिक। शासन के किसी कृत्य को अथवा किसी अधिनियम को किसी वैधिक न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती और शासन जो कुछ विधि पास करदे अथवा समय की स्थिति जैसी किसी समय बदल जाय, उसी के अनुसार संविधान भी बदल जाता है। स्टालिन (Stalin) ने भी कहा था, "हमारे राज्य का स्वरूप उसी प्रकार फिर बदल सकता है जिस प्रकार की परिवर्त्तित स्थिति देश में और बाहर पाई जायगी।" किन्तु इसी बात को मोलोटोव (Molotov) ने और भी अधिक स्पष्टवादिता के साथ इस प्रकार कहा था, "साम्यवादी दल का सदैव यही प्रयत्न रहता है कि समाजवाद की भौतिक आवश्यकताओं और सर्वहारा-वर्ग के अधिनायकत्व को दृढ़ करने के उद्देश्य से राज्य का स्वरूप तदनुसार बदलता रहे।"[2]

यहाँ तक कि संविधान में संशोधन कर लेना सामान्य-सी बात है। संशोधन प्रक्रिया साधारण है और उसमें कोई व्यवस्था सम्बन्धी अड़चन नहीं है। सर्वोच्च संसद् (Supreme Soviet) के दोनों सदनों में दो-तिहाई के बहुमत से कभी भी संविधान में संशोधन हो सकता है। किन्तु सर्वोच्च संसद् में अनुशासन और राष्ट्रीय एकता के नाम पर सभी सदस्य सभी प्रश्नों पर एकमत होते हैं इसलिये इस बात में कोई सन्देह नहीं होता कि जिस संशोधन का प्रस्ताव सर्वहारावर्ग के अधिनायकत्व की ओर से किया जायगा, वह सहज ही स्वीकृत होगा।

---

[1] Andrei, Vyshinsky The Law of the Soviet State (Trans. by H. W. Babb), 1948, p. 48

[2] The New Soviet Constitution (1937), p. 21.

मौलिक अधिकार और कर्त्तव्य (Fundamental Rights and Duties)—स्टालिन संविधान के अनुच्छेद ११८ से लेकर अनुच्छेद १३३ तक में जिन मौलिक अधिकारों और मौलिक कर्त्तव्यों का निरूपण किया गया है, वे इतिहास में एक असाधारण अधिकार-घोषणा-पत्र का निर्माण करते हैं। इस अधिकार-पत्र में पाँच अधिकार ऐसे हैं जिनके कारण यह सारे संसार के अधिकार-पत्रों से निराला है

(१) सोवियट नागरिक अधिकारों के साथ एक आवश्यक शर्त जुड़ी हुई है कि वे "अधिकार सर्वहारावर्ग के हितों से टकराते न हों और उन अधिकारों से देश की समाजवादी व्यवस्था को आवश्यकतः बल मिलता हो।" संविधान का अनुच्छेद १२५ भाषण, समाचारपत्रों और संगठन सम्बन्धी नागरिक स्वतन्त्रताओं का अधिकार प्रदान करता है किन्तु यह शर्त है कि उक्त अधिकारों का प्रयोग समाजवादी जीवन-चर्या और समाजवादी मान्यताओं के अनुरूप ही होना चाहिए। विशिंस्की (Vyshinsky) ने उक्त अनुच्छेद पर प्रकाश डालते हुए कहा, "स्वभावतः हमारे राज्य में समाजवाद के शत्रुओं को भाषण स्वतन्त्रता अथवा समाचारपत्रों के सम्बन्ध में स्वतन्त्रता आदि नहीं दी जा सकती।" इसलिये ऐसे मान्य और मौलिक नागरिक अधिकारों की भी संविधान गारंटी नहीं कर सकता जो सर्वहारावर्ग के हितों अथवा रूस की सामाजिक व्यवस्था के विरुद्ध हों।

(२) अनुच्छेद १२६ में लोगों के सार्वजनिक संगठन सम्बन्धी उपबन्ध में भी इसी प्रकार की शर्त लगा दी गई है। किन्तु उसी के साथ उक्त संविधानिक अनुच्छेद ने साम्यवादी दल को विशेष स्थिति प्रदान की है और "उसको राज्य का और सर्वसाधारण का तथा सर्वहारावर्ग का मुख्य संगठन कहकर पुकारा गया है।" यह ठीक है कि संविधान की आज्ञाओं के अनुसार शासन ने "श्रमिकों और उनके संगठनों को मुद्रणालय, कागज के ढेर, सरकारी इमारतें, सड़कें, पत्र-व्यवहार और यातायात की सुविधायें तथा इन अधिकारों के प्रयोग के लिये अन्य आवश्यकताओं को जुटाया है" किन्तु उक्त संविधानिक अनुच्छेद का तर्कपूर्ण निर्वचन यही करना होगा कि यदि शासन नागरिकों को उक्त सुविधा देने से मना करदे तो उक्त नागरिक अधिकारों का प्रयोग नहीं हो सकेगा। जिस समय स्टालिन संविधान स्वीकार किया गया था, स्टालिन ने कहा था, "साम्यवादी दल के अतिरिक्त किसी अन्य प्रतिद्वन्द्वी राजनीतिक दल को देश में नहीं पनपने दिया जायगा।" इसका स्पष्ट अर्थ है कि सोवियट संघ में केवल साम्यवादी दल के लिये ही स्थान है।

सोवियट रूस में सामाजिक और आर्थिक अधिकारों को प्रथम स्थान दिया जाता है और नागरिक अधिकारों को गौण स्थान दिया जाता है। सोवियट नेताओं ने सदैव यही कहा है कि बोर्जुआ राज्यों (Bourgeois States) में प्रजातन्त्र धोखा-मात्र है। बिना आर्थिक स्वतन्त्रता के नागरिक स्वतन्त्रता बेकार है। वे कहते हैं, "किसी व्यक्ति की वैयक्तिक स्वतन्त्रता का मूल्य ही क्या है यदि वह व्यक्ति बेरोजगार है अथवा भूखा घूमता है अथवा उसको अपनी योग्यता के अनुसार काम का अभाव है।

सच्ची स्वतन्त्रता वहीं निवास करती है जहाँ शोषण का अन्त कर दिया गया है, जहाँ एक व्यक्ति को दूसरा सता नहीं सकता, जहाँ बेरोजगारी नहीं है, जहाँ कोई भीख नहीं माँगता और जहाँ इस बात का भय नहीं रहता कि कोई व्यक्ति कल को बेरोजगार हो सकता है, या अपने स्थान से हटाया जा सकता है या उसकी रोटी छीनी जा सकती है।" इसलिये संविधान का वह अध्याय, जिसमें नागरिकों के मौलिक अधिकारों और कर्त्तव्यों का विवेचन किया गया है प्रारम्भ में ही कहता है कि सभी को काम मिलने का अधिकार (Right to work) है, और उसके बाद सभी को काम के अतिरिक्त आराम और छुट्टी का भी अधिकार (Right to rest and leisure) प्रदान करता है, साथ ही बुढ़ापे में, बीमारी में और शारीरिक अशक्यता की स्थिति में भी संधारण और भरण-पोषण की गारंटी देता है।

(२) वैयक्तिक स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में साम्यवादी मान्यता यह है कि (क) वास्तविक स्वतन्त्रता तभी सम्भव है जबकि कोई व्यक्ति आर्थिक रूप से स्वतन्त्र है और उसके पास आर्थिक बाहुल्य है और (ख) केवल साम्यवादी राज्य में ही आर्थिक स्वतन्त्रता और आर्थिक समृद्धि सम्भव है। इसके विपरीत पश्चिमी प्रजातन्त्रों में राजनीतिक और नागरिक स्वतन्त्रताओं को ही वास्तविक स्वतन्त्रताएँ समझा जाता है यद्यपि अब उन देशों में भी इस ओर ध्यान दिया जा रहा है कि सर्वसाधारण वर्ग को आवश्यकताओं से मुक्ति प्राप्त हो और सब प्रकार के भय से मुक्ति प्राप्त हो।"[1]

११८ मे विस्तार के साथ दिया गया है। "सोवियट रूस के नागरिकों को काम का अधिकार है अर्थात् सभी नागरिकों को रोजगार अवश्य मिलेगा और जितना और जैसा वे लोग कार्य करेंगे उसके हिसाब से उन्हें काम की मजदूरी अवश्य मिलेगी।"

(ii) **आराम और छुट्टी का अधिकार** (Right to Rest and Leisure)—प्रत्येक नागरिक को आराम का अधिकार है। आराम के अवसर इस प्रकार प्राप्त होते हैं कि फैक्टरियों और दफ्तरों में काम करने वालों को दिन में आठ घण्टे काम करना पड़ता है, कठोर शारीरिक परिश्रम करने वालों को दिन में छः घण्टे काम करना पड़ता है और ऐसी दूकानों पर दिन में चार घण्टे काम करना पड़ता है जहाँ काम अत्यधिक सख्त है। छुट्टी के अधिकार के सम्बन्ध में वेतन सहित वार्षिक छुट्टियाँ मिलती हैं और मनबहलाव के अनेकों साधन उपलब्ध कर दिये गये हैं जैसे क्लबघर, विश्राम-गृह और स्वास्थ्य निवास आदि।

(iii) **भौतिक सुरक्षा का अधिकार** (Right to Material Security)—इस अधिकार के अन्तर्गत बुढ़ापे की पेंशन मिलती हैं और बीमारी और शारीरिक अशक्यता के लिये सहायता दी जाती है। मुफ्त डाक्टरी सेवा की भी व्यवस्था है और सारे देश में अनेकों स्वास्थ्य निवासों का जाल-सा बिछा हुआ है।

(iv) **शिक्षा सम्बन्धी अधिकार** (Right to Education)—इस अधिकार की पूर्ति सार्वजनिक अनिवार्य शिक्षा के द्वारा की गई है। प्रारम्भ में संविधान ने उच्च शिक्षा सहित मुफ्त शिक्षा की व्यवस्था का आश्वासन दिया था। किन्तु १९४७ में उक्त उपबन्ध में संशोधन किया गया और तब से केवल सातवीं कक्षा तक ही मुफ्त शिक्षा का प्रबन्ध राज्य की ओर से है।

(v) **अधिकारों के सम्बन्ध में स्त्रियाँ और पुरुष बराबर** (Equality of men and women)—संविधान ने स्त्रियों को भी पुरुषों के ही समान आर्थिक क्षेत्र में, शासन के क्षेत्र में, सांस्कृतिक राजनीतिक और अन्य सार्वजनिक क्षेत्रों में पूर्ण अधिकार प्रदान किए हैं। राज्य ने माता और शिशुओं के हितों का विशेष ध्यान रखा है, बड़े परिवार वाली माताओं को विशेष राजकीय सहायता प्राप्त होती है, अविवाहित माताओं को भी राज्य की ओर से सहायता दी जाती है, प्रसूतिका काल में माताओं को सवेतन छुट्टी प्राप्त होती है, और समस्त देश में प्रसूति-गृहों, बच्चों के लालन-पालन के स्थानों और शिशु शिक्षालयों का जाल-सा बिछा दिया गया है।

(vi) **सभी नागरिकों को समानता का अधिकार** (Equality of Citizens)—समस्त नागरिक संविधानिक विधि के समक्ष बराबर हैं, चाहे वे किसी भी राष्ट्रीयता के हों, किसी भी जाति से सम्बन्धित हों और चाहे वे किसी लिंग के हों। यदि कोई नागरिक जातिगत अथवा राष्ट्रीयतागत पृथकता का प्रचार करता है अथवा उक्त आधारों पर परस्पर घृणा और ऊँच-नीच की भावना फैलाता है तो उसे एक जघन्य राजनीतिक अपराध के लिये कठोर दण्ड दिया जा सकता है।

(vii) **धर्म सम्बन्धी स्वतन्त्रता** (Freedom of Conscience)—संविधान

का अनुच्छेद १२४ आदेश करता है कि राज्य का धर्म से कोई सम्बन्ध नही होगा। चर्च का राज्य से सम्बन्ध विच्छेद हो चुका है और सभी को छूट है कि वे चाहे तो धर्म का प्रचार करे चाहे धर्म विरोधी प्रचार करे।

(viii) **राजनीतिक और नागरिक स्वतन्त्रताएँ** (Political and Civil Liberties)—सविधान ने समस्त नागरिको को भाषण, समाचारपत्र और सगठन और सभाओ सम्बन्धी पूर्ण स्वतन्त्रता का आश्वासन दिया है। इनके अतिरिक्त श्रमिक सघो (Trade Unions), सहकारी पार्षदो (Co-operative Associations), युवक सगठनो और अन्य सभाओ की स्थापना की भी छूट दे दी गई है। सभी व्यक्ति उनके निवास-स्थान और उनका पत्र-व्यवहार सब प्रकार की मर्यादाओ से परे हैं, यहाँ तक कि किसी व्यक्ति को उस समय तक गिरफ्तार नही किया जा सकता जब तक कि कोई उच्च न्यायिक अधिकारी (Procurator) तदर्थ आज्ञा न दे अथवा कोई न्यायालय इस प्रकार का निर्णय न दे।

(ix) **शरणाधिकार** (Right of Asylum)—सविधान आज्ञा देता है कि यदि कोई ऐसे विदेशी नागरिक सोवियट रूस मे शरण चाहे जिन पर स्वदेश में श्रमिक वर्ग के हितो की रक्षा के विरुद्ध मुकदमा चल रहा हो अथवा किसी वैज्ञानिक खोज के कारण अथवा राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के लिये प्रयत्नशील होने के कारण उन पर स्वदेश में मुकदमा चल रहा हो तो उनको सोवियट रूस में अभयदान और शरण दी जाय।

(x) **व्यक्तिगत सम्पत्ति का अधिकार** (Right to Private Property)—सविधान में मौलिक अधिकारोवाले अध्याय में सपत्ति विषयक अधिकार का स्पष्ट उल्लेख नही है। फिर भी सपत्ति धारण के प्रश्न को इतना महत्त्वपूर्ण समझा गया है कि सविधान के प्रथम अध्याय में पूरी तरह से यही विषय प्रतिपादित किया गया है।

मौलिक कर्त्तव्य (Fundamental Duties)—

(i) **सोवियट सविधान और सोवियट विधियो का पालन**—यह प्रत्येक सोवियट नागरिक का प्रथम कर्त्तव्य है। यह भी बताया गया है कि सविधान और विधियो के पूर्ण पालन से ही सोवियट रूस की उन्नति और समृद्धि होगी और सोवियट रूस (U S S R) की उन्नति और समृद्धि से सोवियट नागरिको की उन्नति होगी।

(ii) **श्रमिक वर्ग मे अनुशासन की आवश्यकता** (To Maintain Labour Discipline)—सविधान प्रत्येक नागरिक से आशा करता है कि श्रमिक वर्ग मे पूर्ण अनुशासन बना रहेगा। श्रमिको को चाहिये कि अपने कर्त्तव्यो के निर्वहन मे कर्त्तव्य भावना का प्रदर्शन करे और सभी के लाभ को दृष्टि में रखते हुए मेहनत और होशियारी के साथ काम करे।

(iii) **सार्वजनिक सेवाओ में ईमानदारी की आवश्यकता** (Honestly to Perform Public Duties)—प्रत्येक नागरिक को प्राणपण से राज्य के प्रति और

समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन ईमानदारी के साथ करना चाहिए।

(iv) समाजवादी व्यवस्था के नियमों के प्रति आदर (Respect for Rules of Socialist Intercourse)—इस कर्त्तव्य मे आदेश है कि काम करना सभी का परम कर्त्तव्य है। किन्तु कोई व्यक्ति दूसरे का शोषण नही कर सकता और सार्वजनिक समाजवादी सम्पत्ति को कोई नागरिक हानि न पहुँचावे।

(v) समाजवादी सार्वजनिक सम्पत्ति की पूर्ण सुरक्षा (Safeguarding public, socialist property)—सविधान का आदेश है कि जो व्यक्ति सार्वजनिक समाजवादी सम्पत्ति को हानि पहुँचाते देखे जावेंगे, उनको समाज का शत्रु समझा जायगा।

(vi) अनिवार्य सार्वजनिक सैनिक सेवा (Universal Military Service)—सविधान अनिवार्य सार्वजनिक सैनिक सेवा को रूसी नागरिको का आदरपूर्ण और गौरवान्वित कर्त्तव्य मानता है। समस्त सोवियट पुरुष नागरिको को सोवियट सघ के सशस्त्र बलो में आवश्यकत एव अनिवार्यत सेवा करनी पडती है।

(vii) देश की रक्षा (Defence of the Country)—सभी नागरिको का यह परम पुनीत कर्त्तव्य है कि वे प्राणपण से स्वदेश की स्वतन्त्रता की रक्षा करें। देश द्रोह को अत्यन्त भयानक अपराध समझा जाता है और विधि ने इसके लिये कठोरतम दण्ड की आज्ञा दी है। देश-द्रोह अपराध में राज्यानुपत्ति-विरुद्धता, सैनिक सेवा-सपरित्याग, देश की सैनिक शक्ति को हानि पहुँचाना अथवा देश के गुप्त भेद शत्रु को भेजना इत्यादि सम्मिलित हैं।

शक्तियों का पृथक्करण (Separation of Powers)—सोवियत लेखक शक्तियो के स्पष्ट पृथक्करण को उस सीमा तक पसन्द नही करते हैं जिस सीमा तक कि सयुक्त राज्य अमेरिका में परीक्षणो और सतुलनो के सिद्धान्त (Principle of Checks and Balances) के अनुसार किया गया है। उनका कथन है कि मॉन्टेस्क्यू (Montesquieu) ने शक्तियो के पृथक्करण को इस कारण आवश्यक माना था कि फ्रांस के नृशस शासको की अमर्यादित शक्ति पर अकुश लगाया जाय। किन्तु सोवियट रूस में वर्ग सघर्ष का अभाव है इसलिये शासन के एक विभाग (Branch of Government) पर दूसरे विभाग द्वारा बधन लगाना उचित नही है। सोवियट रूस मे तो शासन के प्रत्येक अवयव को एक ही दिशा मे एक ही हित-साधन की कामना में कार्य करना पडता है। १९१८ और १९२४ के सविधानो में शक्तियो का स्पष्ट पृथक्करण नहीं किया गया था; और शासन के समस्त क्रिया-कलाप सघ की सर्वोच्च परिषद् (All Union Congress of the Soviets) को और उसके द्वारा नियुक्त निकायो को सौंप दिये गए हैं। स्टालिन का सविधान (Stalin Constitution), इसके विपरीत, इस सिद्धान्त पर आधारित है कि शासन के विभिन्न क्रिया-कलापों की शासन के विभिन्न निकायो द्वारा क्रियान्विति होनी चाहिए। १९३६ में स्वय स्टालिन ने कहा था, "समय आ गया है कि विधि-निर्माण का कार्य सर्वोच्च परिषद् ही करेगी, न कि

शासन के विभिन्न निकाय जो अब तक विधि का निर्माण करते रहे हैं।" इसलिये सविधान का अनुच्छेद ३२ समस्त व्यवस्थापिका शक्ति सर्वोच्च परिषद् (Supreme Soviet) और प्रेजीडियम (Presidium) मे व्यवस्थित करता है और मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) को केवल कार्यपालिका अधिकार प्रदान करता है। न्यायिक सत्ता सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court) में विहित की गई है।

सामूहिक कार्यपालिका (Plural Executive) कभी भी किसी सोवियट सविधान ने एक ही व्यक्ति को राष्ट्र का प्रधान या राष्ट्रपति नही चुना। औपचारिक प्रधान के कतिपय कर्त्तव्य जैसे विदेशी राजदूतो का स्वागत आदि, प्रेजीडियम के प्रधान (Chairman of the Presidium) को करने पडते हैं किन्तु ये कर्त्तव्य केवल औपचारिक मात्र हैं। वास्तव में सोवियट रूस (U S S. R) मे राष्ट्रपति का पद नही है।

एकदलीय शासन (The One Party System)—सोवियट शासन-प्रणाली मे केवल एक ही दल को मान्यता प्राप्त है। विधि ने कभी भी केवल साम्यवादी दल को ही राजनीतिक मान्यता नही दी है। यह तो १९३६ के सविधान के साथ प्रारम्भ हुआ और वास्तव में साम्यवादी दल की अपवर्जी मान्यता १९३६ के सविधान की देन है। अब तो साम्यवादी दल की पीठ पर सविधान की आज्ञा का हाथ है। यही दल समस्त सोवियट सघ में प्रधान और नियन्त्रक शक्ति है और सविधान कहता है कि "यही दल सर्वहारावर्ग की लडाई का सेनामुख है और यही दल देश में समाजवादी व्यवस्था की स्थापना करेगा और विकास करेगा।" सविधान यह भी आदेश करता है कि "साम्यवादी दल ही समस्त सर्वहारावर्ग के सगठनों का एकमात्र सगठन होगा जिसको सर्वसाधारण की ओर से भी और राज्य की ओर से भी मान्यता प्रदान की जायगी। इस दल में राज्य के सभी राजनीतिक चेतना-युक्त प्राणी, सभी श्रमिक और कर्मकार सगठित होंगे।" सविधान ने जान-बूझकर किसी अन्य राजनीतिक दल की स्थापना का जिक्र ही नही किया है, इसलिये इस मौन का भी यही अर्थ लगाया गया है कि सोवियट रूस में साम्यवादी दल का ही एकाधिकार है।

जनता और व्यवस्थापन अधिकार (The Masses and the Legislation) सविधान ने सार्वजनिक राष्ट्रीय जनमतसग्रह (Poll or Referendum) की व्यवस्था की है। जनमतसग्रह के लिये यह आवश्यक है कि या तो प्रेजीडियम की ओर से उपक्रम (Initiative) होना चाहिए, या सोवियट सघ के किसी एक एकक गणराज्य की ओर से तदर्थ माँग आनी चाहिए। इस प्रकार सोवियट रूस के नागरिकों को कतिपय मर्यादाओं के अन्तर्गत महत्त्वपूर्ण विषयों पर विधि पारित करने अथवा अस्वीकृत करने का अधिकार दिया गया है। किन्तु जिस दिन से स्टालिन का सविधान प्रभावी हुआ है, आज तक कभी भी जनमतसग्रह द्वारा किसी प्रश्न का निर्णय नहीं हुआ है।

सोवियट न्यायपालिका (Soviet Judiciary)—सोवियट न्यायिक पद्धति अन्य

देशों की पद्धतियों से बहुत सी महत्त्वपूर्ण बातों में भिन्न है। इस सम्बन्ध में हम आगे चलकर विचार करेंगे। यहाँ केवल इतना इंगित कर देना पर्याप्त होगा कि सोवियट न्यायालय अन्य प्रशासकीय विभागों के समान राज्य के नियमित प्रशासनिक ढाँचे के भाग हैं। सोवियट न्यायालयों के निम्न कर्त्तव्य हैं.

"(क) सोवियट शासन के विरोधियों और शत्रुओं से लोहा लेना, (ख) नई सोवियट समाजवादी शासन-व्यवस्था को दृढ करना और शासन की सामान्य नीति की क्रियान्विति मे सहायता प्रदान करना और समाजवादी अनुशासन को सर्वहारा-वर्ग में स्थायी रूप से स्थापित करना।" सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) ने अगस्त १९३८ मे जो विधि पारित की थी, उसमें सोवियट न्यायालयों के कर्त्तव्यों का निर्देश मिलता है।

केवल राजनीतिक अपराधों के लिए ही मृत्यु-दण्ड (Capital Punishment only for Political Offences)—सोवियट रूसी संघ मे शांति काल में मई १९४७ मे प्रेजीडियम (Presidium) ने आज्ञा करके मृत्यु-दण्ड निषेध कर दिया था। किन्तु १३ जनवरी १९५० को उक्त आज्ञा (decree) का संशोधन हुआ और तब से देश द्रोहियों (Traitors), भेदियों (Spies), विध्वंसकों और विनाशकारी तत्त्व (Wreckers) को मृत्यु-दण्ड दिया जा सकता है।

अध्याय २

केन्द्रीय शासन-व्यवस्था

(Government at the Centre)

सर्वोच्च सोवियट अथवा परिषद्

(The Supreme Soviet)

सर्वोच्च सोवियट अथवा परिषद् (The Supreme Soviet)—सोवियट संघ में सर्वोच्च सोवियट राज्य सत्ता का सर्वोच्च अंग है।[1] संघ शासन को संविधान के १४वें अनुच्छेद द्वारा प्रदान की गई समूची सत्ता को प्रयोग करने का अधिकार सर्वोच्च सोवियट को ही प्राप्त है परन्तु यह वहीं तक जहाँ तक कि वे शक्तियाँ संघ-शासन[2] के किसी दूसरे अंग के क्षेत्राधिकार में न आती हो। सोवियट संघ की 'विधायी शक्ति का उपयोग एकमात्र सर्वोच्च सोवियट अथवा सर्वोच्च परिषद्[3] ही करती है।

द्विसदनात्मक विधानमण्डल (Bicameral Legislature)—सर्वोच्च सोवियत अथवा सर्वोच्च परिषद् (The Supreme Soviet) में दो सदन होते हैं। इसके सदन क्रमात् संघीय परिषद् (Soviet of the Union) और जातीय परिषद् (Soviet of Nationalities) के नामों से पुकारे जाते हैं। संघीय परिषद् सोवियट संघ (U. S. S. R.) के समस्त नागरिकों का प्रतिनिधित्व करती है। समस्त सोवियत् संघ को निर्वाचन-क्षेत्रों में बाँट दिया गया है और प्रत्येक निर्वाचन-क्षेत्र की ३,००,००० जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि (Deputy) निर्वाचित किया जाता है। जातीय परिषद् (Soviet of Nationalities) के लिये भी प्रतिनिधि जनता द्वारा सीधे निर्वाचित होते हैं लेकिन उनकी सीटें विभिन्न एककों में निम्न माप के अनुसार बँटी हुई हैं। क्षेत्रफल और जनसंख्या चाहे कुछ भी हो, संघ का प्रत्येक गणराज्य जातीय परिषद् में २५ सदस्य भेजता है। प्रत्येक स्वशासी गणराज्य (Autonomous Republic) ११ प्रतिनिधि भेजता है, प्रत्येक स्वशासी जनपद (Autonomous Region) ५ प्रतिनिधि भेजता है और प्रत्येक जातीय क्षेत्र (National Area) १ प्रतिनिधि भेजता है। १९५० में सर्वोच्च सोवियट अथवा सर्वोच्च परिषद् (Supreme Soviet) के लिये जो चुनाव सम्पन्न हुए थे, उनमें संघीय परिषद् (Soviet of the Union) के लिये ६७८ प्रतिनिधि (deputies) लिये गये थे और ६३८ प्रतिनिधि जातीय परिषद्

---

[1] Article 30

[2] Article 31

[3] Article 33

(Soviet of Nationalities) के लिये निर्वाचित किये गए थे। सर्वोच्च सोवियट के दोनों सदन चार वर्षों के लिए निर्वाचित होते हैं यद्यपि द्वितीय विश्व-युद्ध के कारण १९३७ के निर्वाचन के बाद १९४६ तक निर्वाचन नहीं हो सके थे।

सोवियट रूसी संघ के संघीय विधानमण्डल में दो सदन रखने के दो मुख्य कारण थे। संघीय परिषद् (Soviet of the Union) में समस्त संघ के सभी नागरिकों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है और यह समस्त राष्ट्र का प्रतिनिधि सदन है। संघीय परिषद् के प्रतिनिधि न तो जातीयता के आधार पर निर्वाचित होते हैं और न किसी विशिष्ट वर्ग अथवा हितों का ही प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु सोवियट रूसी संघ (U S S R) में अनेकों जातियाँ निवास करती हैं और इन अनेकों जातियों के अपने-अपने विशिष्ट हित हैं जिनको सर्वोच्च सोवियट अथवा सर्वोच्च परिषद् में प्रतिनिधित्व मिलना ही चाहिए। जातीय परिषद् का उद्देश्य संघ में सम्मिलित गणराज्यों को तथा उन गणराज्यों में बसने वाली अनेकों जातियों और प्रजातियों को और उनके हितों को प्रतिनिधित्व प्रदान करना है। स्टालिन (Stalin) ने कहा था, "सोवियट रूसी संघ (U S S R) की सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) का इस प्रकार गठन आवश्यक है क्योंकि इसके द्वारा सोवियट संघ की सर्वोच्च सोवियट अथवा सर्वोच्च शक्तिशाली परिषद् में देश के सभी लोगों को, सभी के हितों को पूर्ण और न्याय्य प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। उसने यह भी कहा कि सर्वोच्च सोवियट के इस प्रकार के गठन के फलस्वरूप सोवियट रूसी संघ के सभी नागरिकों में, सभी प्रजातियों में प्रेम और भ्रातृत्व का मार्ग प्रशस्त होगा और सभी लोगों में प्रेम और मैत्री-भाव सुदृढ़ होगा।"

इसमें सन्देह नहीं कि संघीय शासन-प्रणाली के लिए द्विसदनात्मक विधानमण्डल आवश्यक शर्त है। किन्तु किसी संघ में जिन उद्देश्यों को लेकर द्विसदनात्मक विधानमण्डल की रचना की जाती है, उन उद्देश्यों में और सोवियत् रूसी संघ में द्विसदनात्मक विधानमण्डल रखने के उद्देश्यों में साम्य नहीं है। सोवियत् रूसी संघ (U S S. R) के विधानमण्डल में जातीय परिषद् (Soviet of Nationalities) की रचना अत्यन्त आवश्यक थी क्योंकि इसमें सोवियट रूस में बसने वाली उन अनेकों जातीयताओं और प्रजातियों को प्रतिनिधित्व दिया गया है जिन्होंने अपने-अपने स्वशासनीय राष्ट्रीय प्रदेशों और क्षेत्रों की स्थापना की है। "स्टालिन के मतानुसार सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) में दो सदन इसलिए रखे गए थे कि सोवियट रूसी संघ (U S S R) अनेकों राष्ट्रीयताओं का राज्य है और इस प्रकार के राज्य में शासन उस समय तक ठीक-ठीक नहीं चल सकता जब तक कि देश की मॉस्को (Moscow) स्थित सर्वोच्च संसद् (Supreme Soviet) में देश की सभी जातीयताओं (Nationalities) के प्रतिनिधि उपस्थित न हों।" सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) में देश की सभी जातीयताएँ अपने-अपने हितों की बात सीधे व्यक्त कर सकती हैं और इस प्रकार सभी जातीयताएँ (Nationalities) अपने-

अपने क्षेत्रो मे आर्थिक, राजनीतिक और सास्कृतिक उन्नति कर सकती हैं।

दोनों सदनों के समान कर्त्तव्य (Equal in Functions)—सविधान ने सर्वोच्च सोवियट के दोनो सदनो में कोई भेद नही बरता है। दोनो सदनो के समान अधिकार हैं। दोनो सदनो की शक्तियाँ और कृत्य समान हैं और दोनो ही सदन चार वर्ष की अवधि के लिए निर्वाचित किये जाते हैं। यहाँ तक कि दोनो सदन एक ही समय मे सत्र में सम्मिलित होते हैं और एक ही समय में आहूत किये जाते हैं। सर्वोच्च सोवियट के दोनो सदनो (Soviets) के लिए जितने भी प्रतिनिधि निर्वाचित होते हैं सब ही सार्वजनिक, समान और प्रत्यक्ष मताधिकार के आधार पर गुप्त मत पत्रक (Secret ballot) द्वारा निर्वाचित होते हैं। इसके अतिरिक्त सविधान ने वित्तीय विधेयक और अवित्तीय अथवा साधारण विधेयक (legislative measure) में कोई भेद नही किया है, और कोई भी विधेयक यदि दोनो सदनो में साधारण बहुमत द्वारा पारित हो जाता है, तो विधि का रूप धारण कर लेता है। सोवियट रूसी सघ में दोनो सदनो को उच्च सदन अथवा निम्न सदन कहकर नही पुकारा जाता। सत्य तो यह है कि सघीय परिषद् (Soviet of the Union) और जातीय परिषद् (Soviet of Nationalities) को इस सीमा तक समान दर्जा दिया गया है कि दोनो सदनो को ही लगभग समान सदस्य-सख्या प्रदान की गई है।

रचना और सगठन (Composition and Organization)—सर्वोच्च सोवियट अथवा सर्वोच्च परिषद् (Supreme Soviet) के दोनो सदनो (Soviets) का निर्वाचन चार वर्ष के लिए सार्वजनिक, समान और प्रत्यक्ष मताधिकार के आधार पर गुप्त मत-पत्रक द्वारा होता है। सोवियट रूसी सघ (U S S R) के वे सभी नागरिक जिन्होने अठारह वर्ष की आयु प्राप्त करली हो, और जो पागल अथवा किसी न्यायालय द्वारा दण्डित न हो अथवा अन्य किसी कारणवश मताधिकार से वचित न हो, प्रतिनिधियो (Deputies) के निर्वाचन में भाग ले सकते हैं। कोई भी सोवियट रूस का नागरिक जिसने तेईस वर्ष की आयु पूर्ण करली हो, सर्वोच्च सोवियट के किसी भी सदन (Soviets) के लिए प्रत्याशी के रूप में खडा हो सकता है और सदस्य अथवा प्रतिनिधि निर्वाचित हो सकता है। सघीय परिषद् (Soviet of the Union) और जातीय परिषद् (Soviet of Nationalities) प्राय दोनो ही की सदस्य सख्या बराबर है। १९५० के चुनावो में सघीय परिषद् (Soviet of the Union) में ६७८ प्रतिनिधि (deputies) थे। और जातीय परिषद् (Soviet of Nationalities) में ६३८ प्रतिनिधि थे। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है, सघीय सोवियट (Soviet of the Union) समस्त देश का प्रतिनिधि सदन है और उक्त सदन का प्रत्येक प्रतिनिधि ३,००,००० नागरिको पर चुना जाता है। इसके विपरीत जातीय परिषद् (Soviet of Nationalities) विभिन्न राष्ट्रीय हितो और समुदायो का प्रतिनिधित्व करती है और उक्त सदन का प्रतिनिधित्व इस प्रकार तय होता है कि प्रत्येक सघ गणराज्य से २५ प्रतिनिधि जातीय परिषद् में

लिये जाते हैं। उसी प्रकार प्रत्येक स्वशासी गणराज्य (Autonomous Republic) ग्यारह प्रतिनिधि उक्त सदनों में भेजता है, प्रत्येक स्वशासी जनपद (Autonomous Region) पाँच प्रतिनिधि भेजता है और प्रत्येक जातीय क्षेत्र (National Area) एक प्रतिनिधि भेजता है।

सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) की रचना के बारे मे कहा जाता है कि यह ससार की सबसे अधिक प्रजातन्त्रात्मक ससद् है क्योंकि उसमे सभी वर्गों के लोगों को प्रतिनिधित्व प्राप्त है, अर्थात् इसमें श्रमिक, किसान, विद्वत् समाज, बौद्धिक वर्ग, सैनिक, अविशासी वर्ग, सभी आयु के स्त्री और पुरुष और विभिन्न जातीयताओ के जनो को स्थान दिया गया है। इस आधार पर कहा जाता है कि सर्वोच्च सोवियट जनमत रूपी वायु के मापने का यन्त्र (barometer) है। सर्वोच्च सोवियट की प्रतिनिधि सख्या और उसकी रचना को गौर से देखने पर पता चलता है कि उसके समस्त प्रतिनिधियो में ३८ प्रतिशत कर्मकार हैं, २६ प्रतिशत किसान हैं, और ३६ प्रतिशत बौद्धिक स्तर के प्रतिनिधिगण हैं। सर्वोच्च सोवियट एकल दलीय विधानमण्डल है और $\frac{4}{5}$ प्रतिनिधि (Deputies) साम्यवादी दल द्वारा नामाकित प्रतिनिधि हैं। शेष प्रतिनिधि किसी भी दल से सम्बन्धित नही हैं। किन्तु उनको भी निर्दल प्रतिनिधि कहना गलत होगा। "सविधान ने केवल साम्यवादी दल को ही मान्यता प्रदान की है और वह इस दल को श्रमिको और कर्मकारो की लडाई का सेनामुख (vanguard) कहता है और यह भी कहा गया है कि सर्वहारावर्ग ने इसी दल के माध्यम द्वारा समाजवादी व्यवस्था का विकास किया है और उसको सुदृढ बनाया है।" यह भी कहा गया है कि साम्यवादी दल ही सार्वजनिक क्षेत्र मे और राज्यीय क्षेत्र में समस्त सगठनो और समाजो का आकर्षण-केन्द्र है और सविधान के अनुच्छेद १४१ मे साम्यवादी दल को ही सोवियत रूस मे चुनावो में भाग लेने का अधिकार प्रदान किया गया है। जिन अन्य सगठनो को उक्त सवैधानिक अनुच्छेद में चुनाव-सघर्ष में भाग लेने की आज्ञा प्रदान की गई है वे श्रमिको के समाज (Societies of the working people) हैं। जो प्रतिनिधि साम्यवादी दल के नामाकित प्रतिनिधि नही होते, उनको श्रमिको के समाज के द्वारा प्रतिनिधि के रूप में नामाकित किया जाता है। किन्तु सभी प्रतिनिधियों के लिए, चाहे वे साम्यवादी दल की ओर से हों अथवा श्रमिक सघ (Trade unions) की ओर से हों, या सहकारी सघ (Co operatives) की ओर से हों, या युवक सगठनो से सम्बन्धित हों या किसी सांस्कृतिक सगठन की ओर से हों, किन्तु सिद्धान्तत उनका साम्यवादी होना अत्यन्त आवश्यक है क्योंकि सोवियट रूसी सघ में साम्यवाद के अतिरिक्त किसी वाद में विश्वास करना या किसी अन्य राजनीतिक विचारधारा से सहानुभूति रखना देश-द्रोह है।

सर्वोच्च सोवियट के सत्र (Sessions of the Supreme Soviet)—जब नये आम चुनाव समाप्त हो चुकते हैं, सर्वोच्च सोवियट के दोनों सदन एकत्र होते हैं

और तुरन्त प्रमाणकारी समितियो (Credential Committees) का निर्वाचन करते हैं। ये प्रमाणकारी समितियाँ अपने अपने क्षेत्रो में प्रतिनिधियो के परिचय-पत्रो अथवा प्रमाण-पत्रो की जाँच-पडताल करती है। प्रमाणकारी समितियों (Credential Committees) द्वारा प्रमाणित हो जाने पर सर्वोच्च सोवियटें (Supreme Soviets) प्रतिनिधियो के चुनाव को या तो विधिवत् मानते हुए उन्हें प्रतिनिधि (deputy) स्वीकार कर लेती है अथवा उनके चुनाव को अवैध घोषित कर देती हैं। उसके बाद प्रत्येक सर्वोच्च सोवियट अपना-अपना चेयरमैन और दो उप-चेयरमैन (Vice Chairmen) चुनती है। चेयरमैन ही प्रत्येक सर्वोच्च सोवियट का सभापतित्व करते हैं और सभा-भवनो मे समस्त कार्यवाही को सुचारु रूप से सचालित करना उन्ही का उत्तरदायित्व है। जब कभी दोनो सदन (both Supreme Soviets) एक सदन के रूप मे एकत्र होते हैं उस समय बारी-बारी से सघीय सोवियट (Soviet of the Union) और राष्ट्रीय परिषद् (Soviet of Nationalities) के चेयरमैन सम्मिलित सोवियट का कार्य-सचालन और सभापतित्व करते हैं।

सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) की प्रेजीडियम (Presidium) वर्ष में दो बार दोनो सर्वोच्च सोवियटो को एक ही समय मे सत्र में आहूत करती है। प्रेजीडियम को यह भी अधिकार है कि वह अपनी इच्छा पर अथवा किसी एक अवयवी एकक गणराज्य की प्रार्थना पर सर्वोच्च सोवियट का सत्र आहूत कर सकती है। सविधान इस सम्बन्ध मे मौन है कि सर्वोच्च सोवियत का सत्र कब आहूत किया जाय अथवा कितने दिनो के लिए आहूत किया जाय। किन्तु प्राय सर्वोच्च सोवियट का सत्र सात दिन से लेकर दस दिन तक चलता है और इस प्रकार वर्ष में दो बार प्रेजीडियम किन्ही तारीखो मे सर्वोच्च सोवियट के सत्रो को आयव्ययक (budget) पर विचार करने के लिए आहूत करती है।

सर्वोच्च सोवियट का विलयन (Dissolution)—प्रेजीडियम (Presidium) को अधिकार है कि वह सर्वोच्च सोवियट के दोनो सदनो में मतभेद हो जाने पर अथवा उसके चार वर्ष के सामान्य कार्य-काल की समाप्ति पर सर्वोच्च परिषद् (Supreme Soviet) को भग कर सकती है। चाहे किसी भी कारणवश सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) का विलयन हुआ तो किन्तु विलयन (dissolution) के बाद दो मास के भीतर-भीतर सर्वोच्च सोवियत के लिए नये चुनावो की व्यवस्था हो जानी चाहिए। नये सर्वोच्च सोवियट के सदनो का सत्र पुरानी प्रेजीडियम (Presidium) ही नये चुनावो के बाद तीन मास के भीतर आहूत करती है।

यदि कभी सघीय परिषद् (Council of the Union) और जातीय परिषद् (Council of the Nationalities) में मतभेद हो जाये तो सविधान ने समझौता समिति (Conciliation Commission) की व्यवस्था की है जिसमे सर्वोच्च सोवियट के दोनो सदनो में से बराबर-बराबर प्रतिनिधि लिये जाते हैं। यदि समझौता

समिति भी पूर्ण सहमत न हो तो दोनो सदन अथवा दोनो सर्वोच्च सोवियटे पुन उक्त प्रश्न पर विचार करती हैं, और यदि तब भी वह मतभेद बना ही रहता है तो प्रेज़ीडियम दोनो सदनो को भग कर सकती है और उनके लिए नये चुनावो का आदेश दे सकती है। किन्तु व्यवहार में, इस सीमा तक मतभेद के बने रहने की सम्भावना नही है। शासन सम्बन्धी नीति का निर्धारण तो साम्यवादी दल (Communist party) करता है न कि सर्वोच्च सोवियट और साम्यवादी दल का सर्वोच्च सोवियट के प्रतिनिधियो पर ऐसा पूर्ण नियन्त्रण रहता है कि मतभेद प्राय पैदा ही नही होते।

सर्वोच्च सोवियट की शक्तियाँ

(Powers of the Supreme Soviet)

विधि निर्माण सम्बन्धी शक्तियाँ (The Legislative powers)—सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet), साम्यवादी सोवियट रूस में राज्य-शक्ति का सर्वोच्च अग है, अत उसको सघीय शासन के प्रत्येक क्षेत्र में विधि निर्माण का अधिकार है। सर्वोच्च सोवियट के अधिकार क्षेत्र का विस्तृत वर्णन सविधान के अनुच्छेद १४ में दिया गया है। सत्य यह है कि सविधान समस्त विधायी कर्त्तव्य केवल सर्वोच्च सोवियट को ही सौंपना चाहता है। यदि सर्वोच्च सोवियट का दोनो सोवियटो अथवा सदनो द्वारा सामान्य बहुमत से कोई पस्ताव पास कर दिया जाता है तो वह विधि का रूप धारण कर लेता है। सर्वोच्च सोवियट द्वारा पारित विधियो को सोवियट रूसी सघ (U. S S R) की सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) की प्रेज़ीडियम (Presidium) के अध्यक्ष (President) और सेक्रेटरी के हस्ताक्षरो सहित उन सभी भाषाओ में प्रकाशित कराया जाता है जो रूसी सघ के विभिन्न अवयवी एकक गणराज्यो में बोली जाती हैं।

सोवियट रूसी सघ (U S S R) में ऐसी कोई सत्ता नही है जो सर्वोच्च सोवियट द्वारा पारित विधियो को निषेध (Veto) कर सके। इसके दो कारण हैं। प्रथमत सोवियट रूसी सघ में सर्वोच्च सोवियट में ही राज्य की समस्त सर्वोच्च सत्ता निहित है, इसलिये यदि कोई अन्य ऐसी सत्ता सृजित की जाती जो सर्वोच्च सोवियट के कृत्यो पर मर्यादाएँ लगाती, तो उसकी सर्वोच्चता नष्ट हो जाती; द्वितीयत, सर्वोच्च सोवियट जो कुछ भी निर्णय करती है वह निर्णय वास्तव में साम्यवादी दल का ही निर्णय होता है; और साम्यवादी दल ही समस्त शासन-यन्त्र का सचालन और नियन्त्रण करता है। किन्तु सविधान ने प्रेज़ीडियम को अधिकार दिया है कि वह या तो अपने उपक्रम (Initiative) पर अथवा रूसी सघ (U S. S. R.) के किसी अवयवी एकक गणराज्य की माँग पर किसी स्व-प्रस्तावित विधेयक के सम्बन्ध मे जनमतसग्रह (Referendum) करा सकती है। किन्तु आज तक किसी भी स्व-प्रस्तावित विधेयक के सम्बन्ध में कभी कोई जनमतसग्रह नही हुआ है।

सर्वोच्च सोवियट द्वारा पारित कोई विधि समस्त अवयवी एकक गणराज्यो के ऊपर पूर्ण प्रभावी होगी और यदि कभी सोवियत सघ की विधि और किसी एकक गणराज्य की विधि में विरोध हो, तो सघ (U. S S R) की विधि को ही मान्यता प्राप्त होगी।

सविधान सविधायी शक्ति (Constitution amending power)—सोवियट रूसी सघ में सर्वोच्च सोवियट ही सविधान सविधायी शक्तियो का भी उपभोग करती है। सविधान में सशोधन करने की विधि सरल है। सर्वोच्च सोवियत के दोनो सदनो के दो-तिहाई बहुमत के द्वारा सविधान में सशोधन किया जा सकता है। सर्वोच्च सोवियट को यह भी अधिकार है कि वह सविधान का नियमित पालन करावे और और यह भी देखे कि सोवियत सघ की विधियाँ तथा अवयवी एकको की विधियो में विरोध तो नही है।

वित्तीय कर्तव्य (Budgetary functions)—सर्वोच्च सोवियट समस्त रूसी सघ (U S S R) के लिये एक सचित आयव्ययक (Consolidated Budget) तैयार करती है और आयव्ययक-विधि की क्रियान्विति सर्वोच्च सोवियट का उत्तरदायित्व है। सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) ही यह निर्णय करती है कि कौन कौन राजस्व और कर (revenues and taxes) सघ में जायेगे तथा वही सभी एकक गणराज्यो के आयव्ययको और स्थानीय सस्थाओ के आयव्ययको की व्यवस्था करती है। सर्वोच्च सोवियट ही धन उधार ले सकती है और वही ऋण दे सकती है और राष्ट्रीय अर्थ योजनाओ का निर्णय केवल सर्वोच्च सोवियट ही कर सकती है। यह उसका सविधानिक विशेषाधिकार है।

नये गणराज्यो, नये क्षेत्रों और प्रदेशो को सोवियत सघ में मिलाने का अधिकार (Power to admit new republics and to create new areas)—सर्वोच्च सोवियट को अधिकार है कि वह नए गणराज्यो को सोवियत रूसी सघ में मिला ले अथवा नये स्वशासी गणराज्यों, नये स्वशासी जनपदो वा प्रदेशो और नये स्वशासी क्षेत्रो की स्थापना कर दे। अवयवी एकक गणराज्यो की सीमाओ में यदि कोई परिवर्तन हो जाय, तो उसके लिये सर्वोच्च सोवियट का अन्तिम अनुसमर्थन आवश्यक है।

अन्तर्राष्ट्रीय मामलो और देश के रक्षा-साधनो के सम्बन्ध में अधिकार (Power over International matters and defence of the Country)—सर्वोच्च सोवियट ही निर्णय करती है कि अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धो में सोवियट रूसी सघ किस सीमा तक भाग ले और रूसी सघ की जो सन्धियाँ विदेशो के साथ होती है, वे सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) के अनुसमर्थन की विषय है। सर्वोच्च सोवियट ही उस सामान्य प्रणाली का नियन्त्रण करती है जिसके अनुसार यूनियन गणराज्य (Union republic) विदेशी राज्यो के साथ अपने सम्बन्धो का निर्वहन करते है। [illegible] अधिकार [illegible] है, इसलिए सर्वोच्च सोवियट

ही सोवियट रूसी सघ (U S S R) के रक्षा साधनो की व्यवस्था करती है और वही सोवियट सघ के सशस्त्र बलो का नियन्त्रण और सचालन करती है। सविधान ने प्रत्येक एकक गणराज्य को अधिकार दिया है कि वे अपनी-अपनी सेनाएँ रख सकते हैं। किन्तु सर्वोच्च सोवियट ही एकक गणराज्यो की सैनिक शक्ति पर नियन्त्रण रखती है, और सर्वोच्च सोवियट ही युद्ध और शान्ति के प्रश्नो पर अन्तिम निर्णय दे सकती है।

सर्वोच्च सोवियट के चुनाव सम्बन्धी कार्य (Electoral College)—सर्वोच्च सोवियट के चुनाव सम्बन्धी कार्य अत्यन्त प्रभावशाली दिखाई पडते है। सभवत: ससार के किसी अन्य बडे देश के विधानमण्डल को इतने बडे और महत्त्वपूर्ण चुनाव नही करने पडते। सर्वोच्च सोवियट के दोनो सदन सम्मिलित सत्र में एकत्र होते हैं और तब सोवियट सघ (U S S R) की प्रेजीडियम (Presidium), कार्यपालिका अथवा मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers), सर्वोच्च न्यायालय के तथा अन्य न्यायालयो के न्यायाधीशो और प्रोक्यूरेटर जनरल (Procurator General) का निर्वाचन करते हैं। प्रेजीडियम (Presidium) और मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) सर्वोच्च सोवियट के प्रति उत्तरदायी हैं। किन्तु सोवियट रूसी सघ (U. S S R) मे मन्त्रिमण्डलीय उत्तरदायित्व केवल आदर्श भर है क्योकि सविधान ने राजनीतिक विचारो के सघर्ष को एव विरोधी राजनीतिक दलो को मान्यता ही नही दी है। सर्वोच्च सोवियटें एव अन्य सोवियटे प्रसन्न हैं और उन्हें इस बात का अभिमान है कि वे अ-ससदीय (Non-Parliamentary) और एकल दलीय निकाय हैं। तथ्य यह है कि सोवियट रूसी सघ (U. S S. R.) के मन्त्रि-परिषद् को साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति की राजनीतिक व्यूरो (Polit Bureau) ही बनाती है या अपदस्थ करती है।

प्रशासन के ऊपर निरीक्षण और पर्यवेक्षण तथा उसकी आलोचना (Criticism and Supervision of Administration) सविधान ने सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) को अधिकार दिया है कि वह प्रशासन के कार्यो का पर्यवेक्षण और निरीक्षण करने के लिये पर्यवेक्षक एव लेखा-परीक्षक आयोगो की नियुक्ति करे। समस्त देश की सभी सस्थाओ को आदेश है और सभी अधिकारियो का यह कर्त्तव्य है कि वे उन आयोगो की आज्ञाओ का पालन करें और उनके सम्मुख निरीक्षणार्थ और पर्यवेक्षणार्थ सभी सामग्री और सब प्रलेख (documents) उपस्थित करें।

यह भी कहा जाता है कि सर्वोच्च सोवियट देश की समस्याओ पर वाद-विवाद और प्रशासन की आलोचना का अवसर प्रदान करती है। किन्तु वास्तव में शासन की आलोचना करना सम्भव नही हैं। सोवियट रूसी सघ (U S S R) में ऐसा शासन नही है जो आलोचना का विषय हो। समाजवादी व्यवस्था या समाजवादी विचारधारा की आलोचना करना एक प्रकार से राष्ट्रीय समैक्य और समाजवादी मान्यता को चुनौती है। फिर आलोचना वहीं सम्भव हो सकती है जहाँ विरोधी दल

हो। सोवियट रूसी संघ (U S S R) में विरोधी दल के लिये कोई स्थान ही नही है। इसमें सन्देह नही है कि रूस की सर्वोच्च सोवियट मे कुछ लोग ऐसे हैं जिनका किसी दल से सम्बन्ध नही है, और ऐसे व्यक्तियो की सख्या पर्याप्त है। १९३९ में संघीय सोवियट (Soviet of the Union) में १०६ निर्दल प्रतिनिधि (Non-partymen) थे और १३८ निर्दल प्रतिनिधि राष्ट्रीय परिषद् (Soviet of the Nationalities) में थे। निर्दल व्यक्तियो का सम्बन्ध साम्यवादी दल से नही होता, किन्तु विश्वासत वे साम्यवादी (Communist) तो अवश्य ही होते हैं। इसके अतिरिक्त इन लोगो को समुदाय बनाने की आज्ञा नही है और न वे किसी मामले पर सम्मिलित होकर मत व्यक्त कर सकते हैं। सविधान ने केवल एक साम्यवादी दल को मान्यता प्रदान की है। इसलिये आलोचना यदि कोई करे तो केवल साम्यवादी दल ही कर सकता है। और क्योकि साम्यवादी दल के नेता ही शासन की नीति निर्धारित करते हैं, और वे ही शासन का नियन्त्रण और सचालन सभी कुछ करते है, यहाँ तक कि दल के नेता ही सर्वोच्च ससद् अथवा सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) के प्रतिनिधियो के ऊपर भी नियन्त्रण रखते हैं, तो फिर यह कैसे हो सकता है कि सर्वोच्च सोवियट शासन की आलोचना करे। इसलिये इसमें कोई सन्देह नहीं है कि सर्वोच्च सोवियट शासन की आलोचना नही करती।

किन्तु यह माना जा सकता है कि सर्वोच्च सोवियट नैत्यिक प्रशासन की आलोचना कर सकती है, किन्तु शासन की नीति की आलोचना नही की जा सकती। उन लोगो अथवा शासन के अधिकारियो की आलोचना की जा सकती है जो निर्धारित नीति की क्रियान्विति करते हैं किन्तु उन नेताओ की आलोचना नही की जा सकती जो नीति निर्धारित करते हैं। सर्वोच्च सोवियट के प्रतिनिधिगण किसी विषय में निहित सिद्धान्तो पर वाद-विवाद नही करते, वे तो केवल उन सिद्धान्तो की व्यावहारिक क्रियान्विति के सम्बन्ध में विचार कर सकते हैं जो पहिले ही निश्चित किये जा चुके हैं। इसलिए उस मन्त्रि-परिषद् के नैत्यिक प्रशासनिक क्रियाकलाप ही आलोचना के विषय हो सकते हैं जो निर्धारित नीति की क्रियान्विति के लिये उत्तरदायी हैं। इस प्रकार की आलोचना प्राय आयव्ययक और लेखापरीक्षक आयोग (Budget Commission) ही करता है, और ऐसे प्रमाण हैं जब कि उक्त आयोग की गम्भीर आलोचना के फलस्वरूप मन्त्रियो को अपने पदो से हटना पड़ा।

सर्वोच्च सोवियट का शैक्षणिक महत्त्व (Supreme Soviet as the source of Education and Inspiration)—यदि सर्वोच्च सोवियट का प्रशासन के ऊपर कोई नियन्त्रण नही है, या यदि सर्वोच्च सोवियट शासन की नीति की आलोचना नही कर सकती, तो भी इसका शैक्षणिक महत्त्व अवश्य है। यह ऐसा स्थान और अवसर प्रदान करती है जहां इतने बड़े देश के कोने कोने से लगभग डेढ़ हजार प्रतिनिधि सम्मिलित होते है, और जो विभिन्न वेश-भूषा, विभिन्न राष्ट्रीयताओ, विभिन्न व्यवसायो और विभिन्न हितो का प्रतिनिधित्व करते हैं। उन प्रतिनिधियो को मास्को

(Moscow) में एकत्र होना और वहाँ उच्चतमदलीय नेताओं की बातों को सुनना अत्यन्त स्फुरणकारी लगता होगा। साम्यवादी दल भी इस अवसर से लाभ उठाता है और प्रत्येक सम्भव प्रचार-साधन के द्वारा सारे देश को शासन की नीतियों और सफलताओं से अवगत कराता है। समाचारपत्र और रेडियो सभी वक्तृताओं की रिपोर्ट सविस्तार और निष्ठापूर्वक ज्यों-की-त्यों देते हैं, साथ ही समस्त वाद-विवाद शासन की सभी प्रस्तावित योजनाएँ और शासन की सफलताओं को खूब बढ़ा-चढ़ा कर बताया जाता है। सभी प्रतिनिधि समाजवाद के सन्देश को अपने-अपने दूरस्थ गणराज्य को ले जाते हैं, फिर वहाँ जाकर अपने संगी-साथियों को बताते हैं कि देश ने आर्थिक क्षेत्र में कितनी विशाल उन्नति की है और इस प्रकार वे अपने-अपने क्षेत्रों और प्रदेशों में समाजवाद की सफलताओं का सन्देश सुनाते हैं। सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद (Dictatorship of the Proletariat) केवल आर्थिक समृद्धि ही तो चाहता है, चाहे इस उद्देश्य की प्राप्ति में मानव-आत्मा और मानवीय सम्भावनाओं (Human Potentialities) का खून ही क्यों न होता हो।

विधायी प्रक्रिया (Legislative Procedure)—कोई विधेयक, सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) के किसी भी सदन में पुरःस्थापित किया जा सकत है। सामान्यतः किसी विधेयक की पुरःस्थापना मन्त्रि परिषद् के उस सदस्य के द्वार होती है जिसके विभाग से उक्त विधेयक का सम्बन्ध हो, यद्यपि सर्वोच्च सोवियट के सभी प्रतिनिधियों को विधेयक पुरःस्थापित करने का अधिकार है। १९३७ से सर्वोच्च सोवियट के दोनों सदनों ने तीन स्थायी समितियों अथवा स्थायी आयोगों (Standin Committees or Standing Commissions) का निर्वाचन किया है। (सोवियट रूसी संघ में इन समितियों को स्थायी कमीशन ही कहते हैं)। वे तीन स्थायी आयोग या स्थायी कमीशन निम्न हैं: विधेयक आयोग (Legislative Bills Commission) आयव्ययक सम्बन्धी आयोग (Budget Commission), और विदेश सम्बन्धी आयोग (Foreign Affairs Commission)। ज्यों ही किसी विधेयक को पुरःस्थापित किय जाता है, वह सम्बन्धित सदन (Soviet) के विधेयक आयोग (Legislative Bill Commission) में भेज दिया जाता है। उक्त विधेयक के सम्बन्ध में सारी कार्यवाही विधेयक आयोग (Bills Commission) में होती है, न कि सोवियटों के पूर्ण सत्र में। और इसका मुख्य कारण यह है कि सर्वोच्च सोवियट तो वर्ष में केवल दो सप्ताह के लिए समवेत होती है। सर्वोच्च सोवियट के आयोगों (Commission) के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वे सर्वोच्च सोवियट के सत्रों के काल में ही सम्मिलित हों। आयोग (Commissions) प्रायः एकत्र होते हैं और वे विधेयक के ऊपर तफसील के साथ विचार करते हैं। वे उक्त सम्बन्ध में तथ्य और आँकड़े एकत्र करते हैं, फिर उस विधेयक की प्रत्येक धारा पर विचार करते हैं और उनमें संशोधन भी सुझाये जाते हैं। कभी-कभी तो आयोग सम्पूर्ण विधेयक को ही बदल डालते हैं। अन्त में उक्त विधेयकों को सम्बन्धित सदन अथवा सोवियट में प्रस्तुत किया जाता है। स्व

कमीशन या आयोग भी अपनी ओर से विधेयक प्रस्तावित कर सकते हैं। यदि कोई विधेयक आयोग (Commission) की ओर से प्रस्तुत किया जाता है, तो प्राय सोवियट उसको मान ही लेती है।

सर्वोच्च सोवियट के किसी भी सदन में विधेयक के ऊपर वाद-विवाद केवल औपचारिक-सा होता है। प्रतिनिधिगण (Deputies) विधेयक से सम्बन्धित सिद्धान्त पर वाद-विवाद नहीं करते बल्कि केवल पूर्व-निश्चित सिद्धान्तों की उक्त विधेयक द्वारा क्रियान्विति के सम्बन्ध में वे लोग विचार करते हैं। सोवियट रूसी सघ (U. S. S R.) में सभी विधियाँ साम्यवादी दल की सामान्य नीति के अनुरूप ही निर्मित होती हैं क्योंकि विधि निर्माण सम्बन्धी सभी निर्णय केवल साम्यवादी दल ही करता है। इसलिये सर्वोच्च सोवियट के व्यवस्थापकमण्डल के सम्मुख विधि के शब्दो का उतना महत्त्व नहीं है जितना कि उस विधि की व्यावहारिक क्रियान्विति का होता है। प्रस्तावित विधि के शब्दो के सम्बन्ध में वाद-विवाद का समय नष्ट नही किया जाता, अपितु उक्त विधि को सम्बन्धित मन्त्री किस प्रकार क्रियान्वित करेगा, इस पर विचार किया जाता है।

सर्वोच्च सोवियट के कर्त्तव्य और उसका मूल्यांकन (Role of the Supreme Soviet)—सविधान मे कहा गया है कि सोवियट रूसी सघ (U S S R) मे सर्वोच्च सोवियट ही राज्य की शक्ति का सर्वोच्च उपकरण है। यह सघीय शासन के उन सभी क्षेत्रो के लिए विधि निर्माण कर सकती है जिन पर सघीय शासन का अधिकार है। इसके अतिरिक्त सविधान की यह भी आज्ञा है कि सर्वोच्च सोवियट में रूसी सघ (U S S R) की सम्पूर्ण अपवर्जी विधायिनी शक्ति निहित है। किन्तु सिद्धान्त यह है, व्यवहार कुछ और। कोई भी इस बात को स्वीकार नही करेगा कि सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) सोवियट रूसी सघ (U. S S. R) की राज्यीय शक्ति का एकमात्र सर्वोच्च उपकरण है और न कोई यह स्वीकार करेगा कि सर्वोच्च सोवियट ही केवल एकमात्र सर्वोच्च विधान निर्मातृ निकाय है जबकि तथ्य यह है कि सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) वर्ष मे केवल दो बार समवेत होती है और वह भी प्रति बार आठ या दस दिन के सत्रो मे। सर्वोच्च सोवियट के लिये यह सम्भव नही है कि वह इतने छोटे अधिवेशनो मे उन समस्याओ को समझे और उन पर विचार करे जो इतने विशाल देश के सम्मुख आती हैं और जिन पर सर्वोच्च सोवियट के अनुमोदन की आवश्यकता है। विधान निर्माण का कार्य अत्यन्त विशेषज्ञ योग्यता चाहता है और यह बहुत भारी उत्तरदायित्वपूर्ण कार्य है, किन्तु सर्वोच्च सोवियट के प्रतिनिधिगण न तो योग्य और अनुभवी ससदीय सदस्य ही होते हैं, और न उनको विधान निर्माण के सम्बन्ध में विशेषज्ञता प्राप्त होती है इसलिये वे किसी विधि-सम्बन्धी वाद-विवाद को निर्णायक अवस्था तक ले चलने मे पूर्णतया असमर्थ होते हैं। किन्तु जैसा कि बताया जा चुका है, सर्वोच्च सोवियट का काम वाद-विवाद करना नही है। इसका तो कर्त्तव्य यह है कि जो कुछ साम्यवादी दल ने

निर्णय किया है उसको स्वीकार करे और उस पर अनुसमर्थन व्यक्त करे। सामान्य व्यवहार यह है कि मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के सदस्यगण या तो प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हैं या अपनी ओर से विधेयक प्रस्तुत करते हैं और समस्त राष्ट्र और शासन के समन्वय और दृढता की मांग यह है कि सभी विधायी प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित हो। "आजकल तो प्रत्येक विधेयक के सम्बन्ध मे यह सूत्र (formula) प्रयोग किया जाता है कि शासन ने अमुक प्रतिवेदन अथवा प्रस्ताव इतनी स्पष्टता और विशदता के साथ प्रस्तुत किया कि उस पर वाद-विवाद की आवश्यकता ही नही पडी।" ऐसे बहुत ही कम अवसर आते हैं किन्तु फिर भी जब कभी किसी प्रस्ताव पर वाद-विवाद करना आवश्यक हो जाता है तो सभी लोग प्रस्ताव के पक्ष में ही बोलते हैं। जैसा कि पहिले भी बताया जा चुका है, प्रस्तावित विधेयक मे ग्रस्त सिद्धान्तो पर कभी भी वाद-विवाद नही होता, न कभी उक्त विधेयक की भाषा पर ही विवाद होता है। समस्त विधान निर्माण साम्यवादी दल की सामान्य नीति के अनुरूप ही होता है और इसकी कोई सम्भावना नही है कि सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) कभी किसी साम्यवादी दल द्वारा स्वीकृत विधि प्रस्ताव को चुनौती देगी अथवा उसमे सशोधन करेगी। सर्वोच्च सोवियट के प्रतिनिधिगण केवल यह करते है कि वे उक्त विधेयक की न्यूनताओ की ओर ध्यान दिलावे अथवा उक्त नीति की क्रियान्विति में जो भद्दापन प्रदर्शित होगा उसकी ओर सदन का ध्यान आकर्षित करें और तब उसमे कुछ सुधार प्रस्तुत करें। जब यह सब कुछ हो चुकता है तो सभी प्रतिनिधि आवश्यकत विधेयक या प्रतिवेदन के पक्ष में ही मत देते हैं। ऐसा आज तक कभी भी नहीं हुआ जबकि सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) के किसी प्रतिनिधि ने किसी ऐसे वैधिक प्रस्ताव को स्वीकृत न किया हो जिसको शासन की ओर से या तो पुर. स्थापित किया गया हो या जिसका शासन ने अनुसमर्थन किया हो। इसलिये सर्वोच्च सोवियट तो आज्ञाकारी अनुचर की तरह उन सभी प्रस्तावो को स्वीकार कर लेती है जिनको स्वीकार करने की सिफारिश की गई है। इसलिये कहा जा सकता है कि सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) के हाथो मे किंचित्‌मात्र भी सत्ता नही है और उसको राज्यीय शक्ति का सर्वोच्च सदन कहना हास्यास्पद है क्योंकि वह न तो राज्य की नीति निर्धारित करती है और न उसके अधिकार में नीति-सम्बन्धी निर्णय दिये गए हैं।

यह भी कहना गलत है कि सर्वोच्च सोवियट ही समस्त सोवियट सघ की एकमात्र विधान निर्मात्री निकाय है। सोवियट रूसी सघ (U S S R) में अधिकतर विधियाँ प्रेजीडियम (Presidium) द्वारा पारित आज्ञाएँ और आज्ञप्तियाँ (Decrees) होती हैं। कुछ विधियाँ उन आज्ञाओ और निर्णयो के रूप में होती हैं जिनको साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति (Central Committee of the Communist Party) और मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) मिलकर सम्मिलित विचार-विनिमय के फलस्वरूप पारित करते हैं। विधि-निर्माण के सम्बन्ध में यह

विकास अजीब-सा लगता है क्योंकि इसके कारण सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) विधान निर्माण के सम्बन्ध में एकमात्र अपवर्जी विधायिनी सत्ता नही रह जाती। इससे भी अधिक अजीब यह है कि यह विकास स्वय स्टालिन (Stalin) के जीवन-काल में ही परिपक्व अवस्था को प्राप्त हो चुका था। १९३६ में जिस समय सविधान स्वीकार किया जा रहा था, यह प्रस्ताव रखा गया था कि प्रेजीडियम (Presidium) को अस्थायी विधान निर्माण करने का अधिकार दे दिया जाय; किन्तु स्टालिन ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया था। उसने उस समय कहा था, "हम को ऐसी स्थिति सदैव के लिये समाप्त करनी है जिसमे एक से अधिक निकायो (Bodies) के पास विधान निर्मातृ शक्ति हो। ऐसी स्थिति इस सिद्धान्त के विरुद्ध है कि विधियाँ स्थायी होनी चाहिये। निश्चय ही विधायिनी शक्ति सोवियट रूसी सघ (U S S R) मे एक ही निकाय के अधिकार में रहेंगी और वह निकाय सोवियट रूसी सघ की सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet of the U. S. S R) ही होगी।"

सोवियट विद्वानो का कथन है कि सर्वोच्च सोवियट द्वारा पारित विधियों को सोवियत संघ में अधिक मान्यता और समादर प्राप्त होता है, किन्तु प्रेजीडियम (Presidium) अथवा मन्त्रि परिषद् (Council of Ministers) द्वारा पारित आज्ञप्तियों (Decrees), निर्णयो और आदेशों का सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) द्वारा अनुसमर्थन आवश्यक है। सिद्धान्तत यह कथन कुछ-कुछ ठीक है, किन्तु व्यवहारत प्रेजीडियम (Presidium) ने न केवल आज्ञप्तियाँ जारी की हैं, अपितु कई बार स्वय सविधान मे परिवर्त्तन कर डाले हैं। आज्ञप्तियो (decrees), निर्णयो (decisions) और आदेशो (orders) को तब तक कभी रद्द नही किया गया जब तक कि स्वय शासन ने इस ओर पहल न की हो। और क्योंकि उक्त आज्ञप्तियाँ, निर्णय या आदेश तुरन्त प्रभावकारी हो जाते हैं और उनके प्रभावकारी होने के लिये सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) के अनुसमर्थन की आवश्यकता नही है, इसलिये इसमें कोई अन्तर नही पड़ता, चाहे उनको विधि कहिये, चाहे आज्ञप्ति कहिए, चाहे निर्णय कहिये और चाहे आदेश कहिये। यदि हम इनमे अन्तर करने का भी प्रयास करें तो भी कोई अन्तर करना बेमानी है क्योकि हम भली भाँति जानते हैं कि सोवियट रूसी सघ (U S S R) में साम्यवादी दल ही सर्वेसर्वा शक्ति है और सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet), अथवा प्रेजीडियम (Presidium) यहाँ तक कि स्वयं सविधान भी साम्यवादी दल के अधीन हैं।

अध्याय ३

केन्द्रीय शासन-व्यवस्था (क्रमशः)

(Government at the Centre [*Contd*])

प्रेजीडियम

(The Presidium)

सामूहिक राष्ट्रपति (A Plural Presidency)—सोवियत रूसी सघ (U. S S R) की सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) की प्रेजीडियम (Presidium) कई दृष्टियो से एक अजीब-सी और अद्वितीय सस्था है। सविधानिक रूप में यह एक प्रकार का विरोधाभास है। सोवियट व्यवस्था मे यह सामान्य-सी नैतिक सस्था है किन्तु ससार में अन्यत्र कही भी इसके मुकाबले की कोई सस्था न मिलेगी। प्रेजीडियम को जो शक्तियां प्राप्त हैं उनके आधार पर यह राज्यीय शक्ति का स्थायी एव सर्वोच्च उपकरण है जिसको सोवियट रूसी सघ (U S S R) की सर्वोच्च सोवियट चुनती है और जो सर्वोच्च सोवियट के प्रति उत्तरदायी है। स्टालिन (Stalin) ने इसको सामूहिक राष्ट्रपति (Collegiate President) कहा था। सोवियट रूस में प्रेजीडियम (Presidium) वह सारे कार्यपालिका सम्बन्धी कार्य करती है जो अन्य राज्यो में राजा या राष्ट्रपति को करने पडते हैं। यह सोवियट सघ के उच्च अधिकारियो की नियुक्ति करती है, विदेशो में सघ के राजदूतो अथवा राज्य प्रतिनिधियों की नियुक्ति करती है, सोवियट सघ के पारितोषिक, सम्मान पद एव पदक प्रदान करती है; सोवियट सघ की विधियों पर अन्तिम स्वीकृति प्रदान करती है; सर्वोच्च सोवियट अथवा सर्वोच्च परिषद् के सत्रों को समवेत करती है अथवा उनके सत्रो का विलयन (Dissolution) करती है, इस प्रकार प्रेजीडियम (Presidium) सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U. S. S R) की सर्वोच्च कार्यपालिका सत्ता है, और जहाँ तक यह कार्यपालिका ३३ व्यक्तियो से मिलकर बनती है, इसको सामूहिक कार्यपालिका (Plural or Collective Executive) कहा जा सकता है।

प्रेजीडियम एक सविधानिक विरोधाभास है और इसके कृत्य विषम प्रकृति के हैं क्योंकि सोवियट शासन में शक्तियो के पृथक्करण के सिद्धान्त को महत्त्व नही दिया गया है। प्रेजीडियम को सौंपे गए कृत्य मिश्रित प्रकार के हैं, उनमें से कुछ कार्यपालिका कृत्य हैं, कुछ विधायी कृत्य हैं और कुछ कृत्य न्यायिक प्रकृति के भी हैं। चूंकि प्रेजीडियम सदैव अधिकारारूढ रहती है और सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) केवल अल्प काल के लिये सत्र में रहती है अर्थात् वर्ष में केवल दो बार और वह भी एक-एक सप्ताह के लिये, अत प्रेजीडियम को अनेकों

ऐसे विधायी कृत्य (Legislative business) करने पडते हैं जिनको सर्वोच्च सोवियट के सत्रो तक के लिये नही छोडा जा सकता। यही कारण है कि प्रेज़ीडियम को व्यवस्थापिका निकाय (Legislative body) कहा जा सकता है। प्रेज़ीडियम द्वारा प्रचारित आज्ञप्तियो (decrees) का वही महत्त्व है जो विधि का और सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U. S S R) में विधियाँ इसी प्रकार निर्मित होती हैं। प्रेजीडियम मनमाने ढग से आज्ञप्तियाँ निकाल सकती है, इस सम्बन्ध में उसके ऊपर कोई बन्धन नही है, यह बात १९३६ के आम चुनाव के पूर्व देखी गई थी। प्रेज़ीडियम ने आज्ञप्ति निकालकर सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) के प्रतिनिधियो की आयु को १८ से बढाकर २३ वर्ष कर दिया और एक अन्य आज्ञप्ति द्वारा उन सोवियट रूसी सैनिको को भी सर्वोच्च सोवियट का प्रतिनिधित्व अधिकार प्रदान कर दिया जो विदेश में कार्य-रत हो। इन दोनो आज्ञप्तियो ने सविधान में परिवर्त्तन किया और इनको अन्त मे उसी सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) ने स्वीकार कर लिया जो इन सविधानिक सशोधनो के अनुरूप निर्वाचित की गई थी। आजकल कभी भी प्रेजीडियम द्वारा पारित किसी आज्ञप्ति को सिवाय शासन की इच्छा के अन्य किसी सत्ता ने रद्द नही किया है; इसलिये कहा जा सकता है कि प्रेजीडियम के हाथो में वास्तविक विधायिनी शक्ति है। टाउस्टर (Towster) ने प्रेजीडियम की सविधानिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए ठीक ही कहा था कि "सर्वोच्च सोवियट की प्रेज़ीडियम सविधानिक रूप में राज्य की असीम शक्ति का भण्डार है और वह अपनी पूर्वगामी जी० ई० सी० (G E C) की प्रेजीडियम की तरह ही अविच्छिन्न रूप से कार्य करती रहती है और वह देश की समस्त सोवियटो की सर्वोच्च मन्जिल (Summit of the Soviet Pyramid) है और वह विविध प्रकार के अनेको महत्त्वपूर्ण कृत्य सम्पादित करती है। यद्यपि आधुनिक प्रेज़ीडियम को जो शक्तियाँ और क्षमताएँ प्रदान की गई हैं, वे उन शक्तियो और क्षमताओ से भिन्न हैं जो जी० ई० सी० (G E C) की प्रेजीडियम को प्रदान की गई थी, विशेष रूप से सर्वोच्च सोवियट की प्रेजीडियम (Presidium) की विधायिनी शक्तियो के सम्बन्ध में फिर भी सर्वोच्च सोवियट की प्रेजीडियम न केवल सामूहिक राष्ट्रपति (Collective President) है अपितु समस्त सोवियट समाजवादी ढाँचे की सर्वोच्च विधायिनी सत्ता है।"[1] इस प्रकार प्रेजीडियम कार्यपालिका सत्ता भी है और विधायिनी सत्ता भी है और यह वे सभी कृत्य करती है जो अन्य देशो में राज्य का कार्यपालिका-प्रधान अथवा राष्ट्रपति करता है और साथ ही वह समस्त कृत्य भी करती है "जो अन्य देशो के विधान-मण्डलो के उच्च सदन अथवा मन्त्रि-परिषद् (Executive Council) करते हैं।"[2]

प्रेजीडियम की निर्वाचन-विधि (How the Presidium is Elected)—प्रेजीडियम के सदस्यो का निर्वाचन सर्वोच्च सोवियट के दोनो सदनो अर्थात् सघीय

[1] Political Power in the U S S R 1917—1947, p 272

[2] Ogg and Zink Modern Foreign Governments (1953), p 861

परिषद् (Soviet of the Union) और जातीय परिषद् (Soviet of the Nationalities) के एक संयुक्त अधिवेशन में किया जाता है। प्रेजीडियम अपना कार्य सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) के अधिवेशन-कालों के बीच में करती रहती है। प्रारम्भ में १९३६ के संविधान के अनुसार प्रेज़ीडियम (Presidium) का एक चेयरमैन (Chairman) होता था, १६ वाइस चेयरमैन अथवा उपाध्यक्ष (Vice-chairmen) अर्थात् प्रत्येक एकक अवयवी गणराज्य में से एक उपाध्यक्ष, और २४ अतिरिक्त सदस्य होते थे। १९४९ में अतिरिक्त सदस्यों की संख्या को घटाकर १५ कर दिया गया। आजकल प्रेजीडियम की सदस्य संख्या इस प्रकार है एक अध्यक्ष, १६ उपाध्यक्ष (एक उपाध्यक्ष प्रत्येक अवयवी एकक गणराज्य के लिये), एक सेक्रेटरी और १५ अन्य सदस्य, इस प्रकार सब मिलाकर ३३ सदस्य। प्रेजीडियम का प्रथम चेयरमैन के० आई० कैलिनिन (K I. Kalinin) था। १९४६ में उसकी मृत्यु हो गई। उसके उपरान्त एन० एम० शेवरनिक (N M Shevernik) को सोवियट समाजवादी गणराज्य संघ (U S S R.) की प्रेजीडियम का चेयरमैन चुना गया।

साधारणत प्रेजीडियम का कार्य-काल चार वर्ष है लेकिन यदि सर्वोच्च सोवियट अपने कार्य-काल की समाप्ति के पूर्व ही भंग हो जाती है, तो प्रेजीडियम की कार्यावधि भी समाप्त हो जाती है और वह भंग समझी जाती है। किन्तु प्रेजीडियम सर्वोच्च सोवियट की अवधि समाप्त होने के पश्चात् भी उस समय तक पदासीन रहती है जब तक कि नई सर्वोच्च सोवियट आकर नई प्रेज़ीडियम का निर्वाचन करे। सर्वोच्च सोवियट का सामान्य कार्य-काल चार वर्ष होता है, उसकी समाप्ति पर अथवा सामान्य कार्य-काल के पूर्व ही विलयन (dissolution) की अवस्था में विदा होने वाली प्रेजीडियम दो मास के अन्दर ही देश में आम चुनावों की आज्ञा देती है और इस प्रकार निर्वाचित की गई सर्वोच्च सोवियट का सत्र चुनावों के तीन मास के भीतर ही आहूत करती है। प्रेजीडियम (Presidium) सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) के प्रति उत्तरदायी है।

प्रेज़ीडियम की शक्तियाँ (Powers of the Presidium)—प्रेजीडियम पुराने सोवियट संविधानों की उत्तरदान (legacy) है और स्टालिन-संविधान (Stalin Constitution) में भी प्रेजीडियम प्राय सभी पुराने कृत्यों को करती है, केवल कुछ विधायी कृत्य इसके अधिकार क्षेत्र से निकाल लिए गए है। प्रेजीडियम (Presidium) के जो अधिकार और शक्तियां हैं उनका वर्णन संविधान के अनुच्छेद ४९ में किया गया है।

प्रेजीडियम प्रतिवर्ष दो बार सर्वोच्च सोवियट अथवा सर्वोच्च परिषद् के सत्रों को समवेत करती है, यदि सर्वोच्च सोवियट के दोनों सदनों अर्थात् संघीय परिषद् (Council of the Union) और जातीय परिषद् (Council of the Nationalities) में अवगत मतभेद उत्पन्न हो जाये तो वह सर्वोच्च सोवियट का विलयन करती है, विलयन (dissolution) के दो मास के भीतर अथवा सामान्य

कार्य-काल के समाप्त होने के दो मास के भीतर नये चुनावो का आदेश देती है और नव-निर्वाचित सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) के प्रथम अधिवेशन को समवेत करती है।

प्रेजीडियम आज्ञप्तियाँ निकालती है और सोवियत सघ की वर्तमान विधियो का निर्वचन करती है। प्रेजीडियम द्वारा पारित आज्ञप्तियो का वही मूल्य है जो विधियो का और वे समस्त सोवियत सघ के ऊपर समान रूप से लागू हैं। किन्तु यह शर्त है कि प्रेजीडियम द्वारा पारित आज्ञप्तियो का आधार सघ की विधियाँ ही होना चाहिए। जब प्रेजीडियम प्रचलित विधियो का निर्वचन करती है, उस समय वह इन विधियो का उद्देश्य भी समझाती है। उन विधियो के सम्बन्ध में सर्वसाधारण के कर्त्तव्यो का भी विवेचन करती है और यह भी स्पष्ट करती है कि उक्त विधि के नियमो का पालन किस प्रकार होना चाहिए। सर्वोच्च सोवियट जो कुछ विधान पारित करती है उसको प्रेजीडियम के चेयरमैन अथवा सेक्रेटरी के हस्ताक्षरो सहित सोवियट सघ के एकक गणराज्यो की अधिकृत भाषाओ में प्रकाशित कराती है। प्रेजीडियम की यह शक्ति अन्य देशों की शासन-व्यवस्थाओ में सम्राट् अथवा राष्ट्रपति की विधेयक के ऊपर अन्तिम स्वीकृति के समान है।

सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ का सविधान विधेयक और विधि में कोई अन्तर नही देखता। सविधान का अनुच्छेद ३९ आदेश देता है कि "यदि सोवियट रूसी सघ (U S S R) की सर्वोच्च सोवियट के दोनो सदन सामान्य बहुमत से किसी विधि को पारित करदे तो वह विधि पारित मानी जायगी।" इसका अर्थ है कि प्रेजीडियम के अधिकार में किसी विधेयक को निषेध करने की इस प्रकार शक्ति नही है जिस प्रकार अन्य देशो में कार्यपालिका प्रधानो को अधिकार प्राप्त है। किन्तु प्रेजीडियम यदि चाहे तो किसी प्रस्तावित विधान को जनमतसग्रह के लिए भेज सकती है। किन्तु आज तक कोई भी जनमतसग्रह नही हुआ है।

सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) ही मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) की नियुक्ति करती है और मन्त्रि-परिषद, सर्वोच्च सोवियट के प्रति ही उत्तरदायी है किन्तु सोवियट सघ की सर्वोच्च सोवियट अथवा सर्वोच्च परिषद् के सत्रो के अवकाश काल में मन्त्रि परिषद् की सिफारिश पर सर्वोच्च सोवियट के पश्चात्वर्ती अनुसमर्थन (Confirmation) के अधीन प्रेजीडियम मन्त्रियो को नियुक्त अथवा अपदस्थ कर सकती है, नये मन्त्रियो की नियुक्ति कर सकती है और नये शासनीय विभाग खोल सकती है, तथा नये क्षेत्रो अथवा प्रदेशो का निर्माण कर सकती है। सविधान ने प्रेजीडियम को अधिकार प्रदान किया है कि वह सोवियट रूसी सघ की मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के आदेशो (orders) और निर्णयो (decisions) को रद्द कर सकती है, साथ ही सोवियट रूसी सघ (U S S R) के एकक अवयवी गणराज्यो की मन्त्रि-परिषदो द्वारा पारित आदेशो और आज्ञाओ को भी रद्द कर सकती है, यदि वे सघ की विधियो के विरुद्ध

पडती हो । किन्तु इस सम्बन्ध में यह जान लेना चाहिए कि स्टालिन के संविधान में कही भी मन्त्रियो को बर्खास्त अथवा अपदस्थ करना (Dismissal of Ministers) नही लिखा गया है । वह तो केवल मन्त्रियो को या तो पदो से अवसर ग्रहण कराता है अथवा उनकी नियुक्ति करता है ।

यदि सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) का सत्र स्थगित है, तो ऐसे अवसर पर यदि देश के ऊपर कोई शत्रु देश आक्रमण करदे अथवा यदि अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि के दायित्वो के अनुसार पारस्परिक सुरक्षा के हितो की रक्षार्थ युद्ध करना पडे तो युद्ध की घोषणा प्रेजीडियम (Presidium) ही करती है । प्रेजीडियम ही सोवियट रूसी संघ के सशस्त्र बलो (armed forces) की सर्वोच्च कमान (High Command) को नियुक्त तथा आवश्यकता पडने पर वियुक्त करती है, और आपात काल में देश में आंशिक अथवा पूर्ण संगठन (Mobilization) की आज्ञा देती है और या तो सारे सोवियट रूसी संघ (U S S R.) में या अलग-अलग क्षेत्रो की देश की सुरक्षा की आवश्यकताओ के अनुरूप फौजी कानून (Martial law) की घोषणा करती है । इस अधिकार की आड में प्रेजीडियम ने ज्योही जर्मनी (Germany) ने रूस पर आक्रमण किया था चार आज्ञप्तियाँ (decrees) जारी कर दी थी । ये चारो आज्ञप्तियाँ निम्न विषयो से सम्बन्ध रखती थी , (१) सैनिक सेवा योग्य कतिपय क्षेत्रो के लोगो को अनिवार्य सैनिक सेवा के लिए बुलाना । (२) फौजी कानून का प्रवर्तन , (३) कुछ गणराज्यो (Republics) में, कुछ जनपदो में (regions)) और कुछ नगरो मे फौजी कानून की घोषणा , तथा (४) कुछ प्रदेशो (regions) में और कुछ स्थानो (Localities) में जहाँ युद्ध चल रहा था, फौजी कानून के अन्तर्गत फौजी न्यायाधिकरणो (Military tribunals) की स्थापना करना ।

सोवियट रूसी संघ (U S S R) की सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) की प्रेजीडियम (Presidium) ही सोवियट संघ के विदेशी सम्बन्धो का निर्वहन करती है । विदेशो के साथ की गई अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो का अनुसमर्थन अथवा अस्वीकरण प्रेजीडियम ही करती है । विदेशो में सोवियट संघ के राजदूतो अथवा राज्य प्रतिनिधियो की नियुक्ति अथवा उनका आवर्त्तन (Recale) भी प्रेजीडियम करती है । प्रेजीडियम यही विदेशी दूतो का स्वागत करेगी अथवा उनके अधिकार-पत्रो व आवर्त्तन पत्रो को प्राप्त करेगी ।

प्रेजीडियम ही सोवियट संघ के पारितोषिक, सम्मान पद एव पदक, सैनिक पद, दौत्य पद और अन्य विशेष सम्मानसूचक पद प्रदान करेगी । प्रेजीडियम ही उन समस्त लोगों के अपराधो को क्षमा दे सकती है जिनको सोवियट संघ (U S S R.) के न्यायालयो से दण्ड मिला हो ।

प्रेजीडियम के अधिकारों के सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि संविधान ने सर्वोच्च सोवियट के प्रतिनिधियो को गिरफ्तारी के विरुद्ध सुरक्षा का आश्वासन दिया है । इसलिये किसी भी प्रतिनिधि को न तो गिरफ्तार किया जा सकता है और न उस

पर उस समय तक मुकदमा चलाया जा सकता है जब तक कि सर्वोच्च सोवियट तदर्थ आज्ञा प्रदान न करदे और यदि सर्वोच्च सोवियट अधिवेशन में समवेत न हो तो प्रेजीडियम की आज्ञा के विना किसी प्रतिनिधि को न तो गिरफ्तार किया जा सकता है और न उस पर मुकदमा चलाया जा सकता है।

प्रेजीडियम के चेयरमैन का पद (The Chairmanship of the Presidium)—प्रेजीडियम जो कतिपय कार्यपालिका प्रधान के कृत्य करती है वह सब प्रेजीडियम के चेयरमैन द्वारा सम्पादित होते हैं, यद्यपि न तो सविधान ने और न विधि ने ही प्रेजीडियम के चेयरमैन को कोई विशेष अधिकार प्रदान किया है। फिर भी सर्वोच्च सोवियट जो विधियाँ पारित करती है उनका प्रवर्त्तन प्रेजीडियम के चेयरमैन के हस्ताक्षरो पर ही होता है और वही प्रेजीडियम की आज्ञप्तियो पर हस्ताक्षर करता है। वही विदेशी राजदूतो और आयुक्तो का स्वागत करता है और वही अन्य राष्ट्रो के प्रधानो से पत्र-व्यवहार करता है। उसका वही दर्जा है जो किसी राष्ट्र के प्रधान का दर्जा होता है। किन्तु प्रेजीडियम का चेयरमैन जो कुछ भी करता है वह प्रेजीडियम की ओर से ही करता है। इसलिये देखने में प्रेजीडियम का चेयरमैन किसी अन्य देश के औपचारिक कार्यपालिका प्रधान के सदृश दिखाई देता है, किन्तु प्रेजीडियम के चेयरमैन की स्थिति औपचारिक उच्चता की ही है, वास्तव मे उसको कोई राजनीतिक उच्चता प्राप्त नही है। "जैसा कि अन्य बहुत से देशो के प्रधान करते हैं, उसका भी एक महत्त्वपूर्ण कर्त्तव्य यह है कि वह देश के सर्वसाधारण से हिले-मिले और इस प्रकार सर्वसाधारण को प्रभावित करे कि वह सभी का हित चाहने वाली सरकार का एक जीवित प्राणयुक्त प्रतीक है।"[1]

प्रेजीडियम की वास्तविक शक्ति (Real Authority of the Presidium)—डा० फाइनर (Dr Finer) का कथन है कि "प्रेजीडियम, सोवियट रूसी सघ (U S S R) की सतत् प्रवर्त्ती सरकार है जो वैधिक रूप से भी और वास्तविक रूप में भी सदैव प्रवर्त्तन में रहती है।" किसी सीमा तक तो यह व्यवस्थापिका निकाय है और किसी सीमा तक यह कार्यकारिणी परिषद् (Executive Council) है, तथा इस रूप में यह मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के नित्य-प्रति के प्रशासन पर पर्याप्त प्रभाव डालती है। जहाँ तक प्रेजीडियम को आज्ञप्तियाँ जारी करने का अधिकार है, उसकी स्थिति अत्यन्त उच्च हो गई है। जैसा कि बताया जा चुका है, प्रेजीडियम सदैव ऐसी आज्ञप्तियाँ जारी करती रहती है जिनका विधि के समान महत्त्व है। ये आज्ञप्तियाँ कुछ तो प्रेजीडियम अपने उस अधिकार के प्रयोग में जारी करती है जो उसको सविधान के अनुच्छेद ४९ में दिया गया है, किन्तु प्राय ये आज्ञप्तियाँ अपनी सीमाओ का अतिक्रमण कर जाती है और इस प्रकार सर्वोच्च सोवियट के अधिकार-क्षेत्र में कार्य करने लगती है और उन विषयो पर आज्ञप्तियाँ

---

[1] Carter, G M and Others The Government of the Soviet Union (1954), World Press, P 119.

जारी कर दी जाती हैं जो विषय सविधान ने सर्वोच्च सोवियट के अधिकार-क्षेत्र में दिये हैं। प्रेज़ीडियम (Presidium) को अधिकार है कि सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) के अधिवेशनो के विरामकाल में वह मन्त्रियो को अपदस्थ कर सकती है और उनके स्थान पर नये मन्त्रियो की नियुक्ति कर सकती है। यदि सर्वोच्च सोवियट के दोनों सदनो में गतिरोध उत्पन्न हो जाये तो प्रेजीडियम नये चुनावो की आज्ञा दे सकती है। किन्तु प्रेजीडियम के हाथो में वास्तविक शक्ति उस समय तक रहती है जब तक कि सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) के दोनों सदनो का चुनाव नही हो चुकता।

ऐसा अवसर कभी नहीं आया जब कि प्रेजीडियम (Presidium) ने सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) का विलयन (Dissolution) किया हो। न कभी प्रेजीडियम ने किसी प्रश्न पर जनमतसग्रह कराया है। किन्तु इसने अपने अन्य विशेषाधिकारो का खुलकर प्रयोग किया है। राज्य की शक्ति के सर्वोच्च उपकरण के रूप में सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) को प्रेजीडियम (Presidium) ने मन्दाभ कर रखा है यद्यपि राज्य-सचालन की वास्तविक बागडोर केन्द्रीय साम्यवादी दल की उच्च समिति के हाथो में रहती है। और जो लोग साम्यवादी दल का नियन्त्रण करते हैं और उसको राजनीतिक दिशा प्रदान करते हैं, उनका ही प्रेजीडियम में बाहुल्य है।

अध्याय ४

केन्द्रीय शासन-व्यवस्था (क्रमशः)

(The Government at the Centre [*Contd*])

मन्त्रि-परिषद्

(The Council of Ministers)

मन्त्रि-परिषद् की प्रकृति (Nature of the Council of Ministers)—वियट समाजवादी गणराज्य सघ में शासन की मुख्य प्रवर्त्तक शक्ति मन्त्रि-रिषद् (Council of Ministers) में निहित है। इसी मन्त्रि-परिषद् (Council of inisters) को १९४६ मे पूर्व लोक-प्रबन्धक परिषद् (Council of the Peoples' ommissons) कहा जाता था। यही सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S R)[1] की सरकार है और यही राज्य की सर्वोच्च कार्यपालिका और प्रशासनिक ता है।[2] देखने में सोवियट रूस की मन्त्रि-परिषद् ससदीय शासन-प्रणाली वाले सी देश के मन्त्रिमण्डल जैसी प्रतीत होती है। इसका नाम भी लगभग वही है जैसा क अन्य देशों में उसको पुकारा जाता है। यह भी उसी प्रकार विधानमण्डल का त है और यह भी पूर्णतया सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) के प्रति प्रत्यत उस समय उत्तरदायी है जब कि सर्वोच्च सोवियट सत्र में समवेत हो और प्रत्यक्षत प्रेजीडियम (Presidium) के माध्यम से सर्वोच्च सोवियट के प्रति उस मय उत्तरदायी होती है जबकि सर्वोच्च सोवियट सत्र में समवेत नही होती। किन्तु द्धान्त और व्यवहार में भेद होता है और एक बार कहना पड़ता है कि सोवियट सघ U S S R) में वैधिक सत्य को राजनीतिक असत्य कहते हैं। एकलदलीय ासन-पद्धति मे मन्त्रि-परिषद् (Ministry) की स्थापना में कोई सन्देह नही रहता। सके अतिरिक्त सोवियट सत्र में ससदीय दल अपने नेता का चुनाव नही करता, न ता को शासन निर्माण करने के लिये बुलाया जाता है न नेता अपने सहयोगी मन्त्रियो नाम पेश करता है। सोवियत रूसी सघ (U S S R) की मन्त्रि-परिषद् को ाम्यवादी दल की राजनीतिक ब्यूरो (Political Bureau) नियुक्त करती है और सोवियत मन्त्रि-परिषद् साम्यवादी दल के प्रति उत्तरदायी है न कि सर्वोच्च सोवियट प्रति। मन्त्रि-परिषद् का चेयरमैन (Chairman of the Council of Ministers) र्वोच्च सोवियट के ससदीय दल की इच्छा का व्यक्ति नही होता इसलिये उसकी ुलना ससदीय शासन-प्रणाली वाले किसी देश के प्रधान मन्त्री से नही की जा

---

[1] Article 56

[2] Article 79

सकती। सत्य तो यह है कि सोवियट मन्त्रि-परिषद् किसी भी हालत में मन्त्रिमण्डल के समकक्ष नही है। मार्च १९४६ मे जिस प्रकार मन्त्रि-परिषद् की स्थापना हुई, उससे उसकी प्रकृति स्पष्ट हो जायगी। "कामरेड जे० वी० स्टालिन (Comrade J. V. Stalin) ने जो १९४६ से पूर्व भी प्रधान मन्त्री था, सर्वोच्च सोवियट के दोनो सदनों के सम्मिलित सत्र के चेयरमैन को एक लिखित वक्तव्य प्रस्तुत किया और प्रार्थना की कि शासन अपनी शक्तियाँ और अपने अधिकार सर्वोच्च सोवियट को वापिस करना चाहता है। सर्वोच्च सोवियट ने शासन का त्याग-पत्र स्वीकार कर लिया, और सर्व-सम्मति से कामरेड स्टालिन को ही पुन नए शासन की स्थापना के लिये आज्ञा दी गई। सर्वोच्च सोवियट के दोनो सदनो के अगले सम्मिलित सत्र में उसके चेयरमैन ने कामरेड स्टालिन द्वारा प्रस्तुत किये मन्त्रियो के नामो की घोषणा की। इसके बाद कुछ प्रतिनिधियो के वक्तव्य हुए और फिर चेयरमैन ने घोषणा की कि किसी भी प्रस्तावित मन्त्री के विषय में कोई आपत्ति उपस्थित नही की गई है और तब भी किसी प्रतिनिधि ने उक्त सम्बन्ध में मत गिनने के लिये आग्रह नही किया। इसके बाद सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U. S S R) की स्टालिन (Stalin) द्वारा प्रस्तावित मन्त्रि-परिषद् की समूची सूची पर एक साथ मत माँगे गये और वह सर्व-सम्मिति से स्वीकृत करली गई और स्टालिन का जयजयकार किया गया और उसको सोवियत समाजवादी गणराज्य सघ की मन्त्रि-परिषद् का चेयरमैन निर्वाचित किया गया और सघ के सशस्त्र बलो का मन्त्री नियुक्त किया गया। कामरेड स्टालिन (Comrade Stalin) के निकटतम सहयोगी कामरेड वी० एम० मोलोटोव (Comrade V. M Molotov) को विदेश मन्त्री स्वीकार किया गया।" सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ में जिस प्रकार की शासन-प्रणाली प्रचलित है, उसमें हरेक निर्णय सर्वसम्मति से ही कराया जाता है। किन्तु इसके विपरीत ससदीय शासन-प्रणाली में, जो ससार के बहुत से देशों में प्रचलित है, विरोधी दल को आदर की दृष्टि से देखा जाता है। इगलैंड में सम्राट् के विरोधी दल को आजकल सविधानिक मान्यता प्राप्त है। किन्तु सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) में सविधान ने विरोधी दल की आज्ञा नही दी है।

मन्त्रि-परिषद् की निर्माण-विधि (How the Council of Ministers is formed)—सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) की मन्त्रि-परिषद् सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) के दोनो सदनो द्वारा एक सयुक्त अधिवेशन में निर्वाचित की जाती है। किन्तु यह निर्वाचन केवल औपचारिक होता है। साम्यवादी दल की राजनीतिक ब्यूरो ही, जिसको पॉलिट् ब्यूरो भी कहते हैं, मन्त्रि-परिषद् और उसके चेयरमैन का नामाकन करती है। सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) तो राजनीतिक ब्यूरो के निर्णय का अनुसमर्थन करती है। जिस समय सर्वोच्च सोवियट सत्र में नही होती, यदि उस समय मन्त्रि-परिषद् में कुछ स्थान रिक्त हो जायें, तो उनकी पूर्ति मन्त्रि-परिषद् के चेयरमैन या अध्यक्ष की सिफारिश पर

प्रेजीडियम करती है और प्रेजीडियम ही किसी मन्त्री को सर्वोच्च सोवियट के सत्र में न होने की अवस्था में पद से अलग भी कर सकती है किन्तु शर्त यह है कि इस प्रकार की किसी भी कार्यवाही के लिये प्रेजीडियम को सर्वोच्च सोवियट का अनुसमर्थन प्राप्त करना आवश्यक होगा।

१९१७ से लेकर १९२४ तक सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ की मन्त्रि-परिषद् का अध्यक्ष लेनिन (Lenin) रहा और १९२४ से लेकर १९३० तक रिकोव (Rykov) रहा। इसके बाद मोलोटोव (Molotov) मन्त्रि-परिषद् का चेयरमैन रहा। कॉमरेड स्टालिन (Comrade Stalin) ने यह पद १९४१ में प्राप्त किया और अपनी मृत्युपर्यन्त ५ मार्च १९५३ तक मन्त्रि-परिषद् का अध्यक्ष बना रहा। ६ मार्च १९५३ को जार्जी एम० मैलेन्कोव (Geargi M Malenkov) को मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) का अध्यक्ष नियुक्त किया गया। १९५५ के प्रारम्भ में मैलेन्कोव (Malenkov) ने त्याग-पत्र दे दिया और उसका स्थान मार्शल बुलगानिन (Marshal Bulganin) ने लिया और वही उक्त पद पर अभी तक आसीन हैं।

मन्त्रि-परिषद् की रचना (Composition of the Council of Ministers)— सविधान के अनुच्छेद ७० में मन्त्रि-परिषद् की रचना के बारे में विवरण दिया गया है। मन्त्रि-परिषद् में निम्न व्यक्ति सम्मिलित होते हैं—

(१) सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) की मन्त्रि-परिषद् का अध्यक्ष।

(२) सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) की मन्त्रि-परिषद् का उपाध्यक्ष।

(३) सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) की मन्त्रि-परिषद् के राज्य योजना आयोग (State Planning Commission) के अध्यक्ष।

(४) सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) की मन्त्रि-परिषद् के सोवियट नियन्त्रण आयोग, कला सम्भरण समिति एव राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था समिति के अध्यक्ष।

(५) सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) की मन्त्रि-परिषद् की उच्च अर्थ-व्यवस्था नियन्त्रण आयोग के अध्यक्ष।

(६) सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) की मन्त्रि-परिषद् के सर्वोच्च निर्माण-सम्बन्धी अध्यक्ष।

(७) सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) के अन्य मन्त्री।

(८) सांस्कृतिक एव कलाविषयक राष्ट्रीय समिति के अध्यक्ष।

मन्त्रि-परिषद् वास्तव में एक दीर्घ निकाय है जो सदैव वर्द्धनशील है। सक्षेप में इतना जान लेना पर्याप्त होगा कि आजकल मन्त्रि-परिषद् में ६० मन्त्रालय (Ministries) हैं, इस प्रकार १९२४ की अपेक्षा इस समय छः गुना अधिक विस्तार है। मन्त्रालयों (Ministries) में इस प्रकार वृद्धि के फलस्वरूप मन्त्रि-परिषद्

(Council of Ministers) में उपाध्यक्ष भी बढ गये हैं ताकि प्रत्येक उपाध्यक्ष (Vice Chairman) आवश्यकता आ पडने पर समान कृत्यो वाले मन्त्रालयो के समूह पर नियन्त्रण स्थापित कर सके। इस समय मन्त्रि-परिषद् में १३ उपाध्यक्ष हैं। मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) का अध्यक्ष (Chairman) और उपाध्यक्षगण (Vice Chairmen) मिलाकर आन्तरिक मन्त्रिमण्डल (Inner Cabinet) का निर्माण करते हैं। यह आन्तरिक मन्त्रिमण्डल (Inner Cabinet) ही समस्त मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के विभिन्न कृत्यो का उचित समन्वय और पर्यवेक्षण व निरीक्षण करता है। आन्तरिक अथवा अन्तरग मन्त्रिमण्डल के सदस्य राजनीतिक व्यूरो (Polit Bureau) के भी सदस्य होते हैं और क्योकि राजनीतिक व्यूरो, नीति निर्धारित करने वाला निकाय है इसलिये अन्तरग मन्त्रिमण्डल, साम्यवादी दल और शासन के बीच समन्वयकारी एव सचालनकारी कडी का काम करता है। इस सम्बन्ध में अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के मन्त्री लोग अपने-अपने विषयो और क्षेत्रो के विशेषज्ञ होते हैं और उनको मन्त्रि-परिषद् मे अपने विषय की विशेष योग्यता के आधार पर ही लिया जाता है न कि राजनीतिज्ञ होने के नाते। वे साम्यवादी दल के नेता नही होते यद्यपि वे सभी आवश्यकत साम्यवादी दल के सदस्य अवश्य होते हैं। सोवियट समाजवादी गण-राज्य सघ (U S S R) में विभिन्न मन्त्रालयो के कामो में एकरूपता और समन्वय उत्पन्न करने की अन्य देशो की अपेक्षा अत्यधिक आवश्यकता रहती है।

मन्त्रि-परिषद् की शक्तियाँ (Powers of the Council of Ministers)—सविधान के अनुच्छेद ६८ ने मन्त्रि-परिषद् को जो अधिकार प्रदान किये हैं, वे अत्यन्त विस्तृत हैं। उनमे निम्नलिखित प्रमुख हैं

(१) अखिल यूनियन के और यूनियन गणराज्यो के मन्त्रालयो तथा अन्य आर्थिक व सास्कृतिक सस्थाओ के कार्यों का निर्देशन व सयोजन (Direction and Co-ordination)।

(२) राष्ट्र की आर्थिक योजनाओ व राष्ट्रीय आय-व्ययक (Budget) का कार्यवहन (execution) तथा देश की-मुद्रा व्यवस्था व मुद्रा-साख-पद्धति को शक्तिशाली बनाना।

(३) सार्वजनिक व्यवस्था तथा राजकीय हितो की रक्षा व नागरिको के अधिकारो का अभिरक्षण, एव देश की शत्रुओ से सुरक्षा।

(४) सघीय सैन्य बल के सामान्य सैन्य दल की देखभाल व सगठन एवं नागरिको की सैन्य सेवा का वार्षिक परिमाण निश्चित करना।

(५) विदेशी राज्यो के साथ राज्य के वैदेशिक सम्बन्धो का सामान्य निर्धारण एव मार्ग दर्शन।

(६) आवश्यकता पडने पर आर्थिक, सास्कृतिक व सैनिक विषयो के कुशल प्रशासन के लिये आयोगो तथा अन्य शासकीय अगो का निर्माण।

मन्त्रि-परिषद् की कुछ अन्य शक्तियां ये हैं—

(७) अखिल सघीय विधियो के आधार पर मन्त्रि-परिषद् आदेश और निर्णय दे सकती है और अखिल सघीय विधियो की उचित क्रियान्विति की जांच-पडताल करा सकती है। मन्त्रि-परिषद् के आदेश और निर्णय (Decisions and Orders) समस्त सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) मे पूर्ण रूप से प्रभावी होगे।

(८) मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) को अधिकार होगा कि वह अवयवी एकक गणराज्यो की ऐसी किसी भी अधिशासी आज्ञा को निलम्बित कर दे जो सघीय विधियो अथवा आज्ञप्तियो के प्रतिकूल हो।

(९) सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) के मन्त्रीगण केवल ऐसे आदेश और आज्ञप्तियां जारी करते हैं जो उनके मत्रालयो के क्षेत्र में आते हैं। उन आदेशो और आज्ञप्तियो का आधार अखिल सघीय विधियां और अखिल सघीय मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) द्वारा पारित आदेश और निर्णय ही होने चाहिएँ। सत्य तो यह है कि मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) इस बात का अत्यधिक ध्यान रखती है कि प्रत्येक मन्त्री के सभी आदेश और उसके सभी निर्णय सम्पूर्ण मन्त्रि परिषद् के समक्ष प्रस्तुत किये जाये ताकि मन्त्रि-परिषद् को विस्तृत जानकारी रहे। ऐसा कई बार हुआ है कि कई व्यक्तिगत मन्त्रियो के निर्णयो को मन्त्रि-परिषद् ने रद्द कर दिया है। इस सम्बन्ध में यह भी जान लेना चाहिये कि प्रेजीडियम (Presidium) कई बार मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के निर्णयो को रद्द कर देती है, और उसी प्रकार मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) कई बार व्यक्तिगत मन्त्रियो के निर्णयो को रद्द कर देती है।

(१०) अखिल सघीय मन्त्रि-परिषद् को अधिकार है कि वह अवयवी एकक गणराज्यो की मन्त्रि-परिषदो के ऐसे निर्णयो और आदेशो को निलम्बित कर दे जो अखिल सघीय प्रशासन अथवा अखिल सघीय अर्थ-व्यवस्था के हितो से टकराते हो, और जैसा कि अभी बताया जा चुका है अखिल सघीय मन्त्रि-परिषद् (All Union Council of Ministers), सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) के व्यक्तिगत मन्त्रियो के निर्णयो और आदेशो को निलम्बित कर सकती है।

मन्त्रि-परिषद का उत्तरदायित्व (Responsibility of the Council of Ministers)—१९३६ के संविधान ने स्पष्टतया व्यवस्था की है कि सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet), मन्त्रि परिषद् (Council of Ministers) की नियुक्ति करेगी और मन्त्रि-परिषद् सामान्यतया सर्वोच्च सोवियट के प्रति उत्तरदायी होगी और जब सर्वोच्च सोवियट सत्र में समवेत नहीं होगी, उस समय मन्त्रि-परिषद् सर्वोच्च सोवियट की प्रेजीडियम (Presidium) के प्रति उत्तरदायी होगी। संविधान का अनुच्छेद ७१ आदेश देता है कि सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) की

सरकार या उसके किसी मन्त्री को, जिससे सर्वोच्च सोवियट का कोई प्रतिनिधि कोई प्रश्न करे लिखित या जबानी उत्तर तीन दिन के अन्दर उसी सदन में देना होगा जिस सदन के प्रतिनिधि ने प्रश्न किया हो। इसका यह अर्थ है कि सविधान ने न केवल मन्त्रीय उत्तरदायित्व को मान्यता दी है अपितु इसने सर्वोच्च सोवियट के प्रतिनिधियो को यह अधिकार भी दिया है कि वे मन्त्रि-परिषद् से या किसी मन्त्री से उसके अधिकार-क्षेत्र से सम्बन्धित मनचाही जानकारी प्राप्त कर सकते हैं, और जब कभी इस प्रकार कोई जानकारी मांगी जायगी तो शासन के सम्बन्धित अग का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह पूछे गये प्रश्न का उत्तर लिखित या जबानी रूप में उसी सदन में जिसके प्रतिनिधि ने प्रश्न पूछा था, तीन दिन के अन्दर दे दे।

प्रश्न पूछना और उसके द्वारा शासन के सम्बन्ध में विविध जानकारी प्राप्त करना ससदीय विधि है। इस विधि को सविधानिक मान्यता प्रदान कर देना, आधुनिक राजनीति का आश्चर्यजनक चमत्कार है। किन्तु सोवियट सघ (Soviet Union) में मन्त्रीय उत्तरदायित्व एक सविधानिक चाल अथवा औपचारिकता है। सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) या इसकी प्रेजीडियम (Presidium) का मन्त्रि-परिषद् की रचना अथवा उसके सगठन मे कोई हाथ नही होता न मन्त्रियो के अपने पदो पर बने रहने में और न ही मन्त्रियो की नीति पर ही सर्वोच्च सोवियट या प्रेजीडियम का कोई नियन्त्रण होता है। सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) तो केवल साम्यवादी दल की राजनीतिक ब्यूरो अथवा पॉलिट ब्यूरो के निर्णयो को सही कर देती है। और इससे भी अधिक आश्चर्य की बात यह है कि स्टालिन के सत्तारूढ होने के समय से लेकर उसकी मृत्यु तक राजनीतिक ब्यूरो जो कुछ भी निर्णय करती थी वह स्टालिन (Stalin) का ही निर्णय माना जाता था। ज्हेडेनोव (Zhdanov) ने कहा था कि "स्टालिन (Stalin) बॉल्शेविक दल (Bolshevik party) का एव सभी सोवियत सर्वसाधारण का तथा सभी सुधारवादी विचारो के लोगो का तथा समस्त उन्नतिशील मनुष्य जाति में अपूर्व बुद्धि का, पुरुष था, उसका मस्तिष्क था और हृदय था।" किन्तु इसके विपरीत सोवियट शासन प्रणाली के एक आलोचक ने कहा था कि "क्रेमलिन का छोटा पिता प्रारम्भ में जार का रूप धारण करके अवतरित हुआ था और वही अब क्रेमलिन का जनरल सेक्रेटरी (Stalin) बनकर अवतरित हुआ है।"

इसलिए सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U. S S R.) के मन्त्री लोग नियुक्त भी होते हैं और वियुक्त भी होते हैं किन्तु वे न तो विधानमण्डल के विश्वासभाजन होने के कारण नियुक्त होते हैं और न विश्वास खो देने के कारण वियुक्त होते हैं, बल्कि वे इस कारण नियुक्त और वियुक्त होते हैं कि वे एक दल विशेष के प्रत्याशी होते हैं और उन लोगो के व्यक्ति होते हैं जो उस दल के ऊपर नियन्त्रण रखते हैं। किसी मन्त्री का अपने पद पर बना रहना अथवा उससे हट जाना इस तथ्य पर निर्भर करता है कि उस मन्त्री के उक्त दल के नेताओ से सम्बन्ध कैसे

है। सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) और मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) में लगातार और स्वयमेव अनुसमर्थन का ताँता चलता ही रहता है। "इस प्रकार जब मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) को कोई प्रतिवेदन भेजती है तो यह ऐसा मालूम होता है मानो उसी दल के शासनस्थ सदस्य (Party members in the administration), उसी दल के सर्वोच्च सोवियट स्थित सहायक एव शुभचिन्तक सदस्यो को प्रतिवेदन भेज रहे हैं, और प्रतिवेदन का विषय भी वही होता है जिस पर स्वय साम्यवादी दल लगातार अधिकारपूर्ण नियन्त्रण और पर्यवेक्षण करता रहा है।" ऐसा अवसर एक बार भी नही आया है जब कि सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) ने मन्त्रि-परिषद् के किसी निर्णय को अस्वीकार किया हो।

मन्त्रालय

(The Ministries)

मन्त्रालय (The Ministries)—समस्त देश का अधिकतर शासन अलग-अलग मन्त्रालयो द्वारा चलाया जाता है। अखिल सघीय मन्त्रालयो के अध्यक्ष मन्त्री लोग होते हैं। मन्त्री लोग ही अपने अधीनस्थ विभागो का कार्य-सचालन करते है और उन्हे अधिकार है कि वे अपने प्रशासनिक क्षेत्र में मनमाना आदेश दे सकते हैं किन्तु शर्त यह है कि उनके आदेश और आज्ञप्तियां अखिल सघीय विधियो के विरुद्ध नही होनी चाहिएँ और न मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) की आज्ञप्तियो के ही विरुद्ध होनी चाहिएँ। और जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है मन्त्रि-परिषद् को अधिकार है कि वह व्यक्तिगत मन्त्रियो के अविशासी कृत्यो को रद्द कर सकती है। मन्त्रियो के लिए यह भी आवश्यक है कि उनमे जो भी प्रश्न सर्वोच्च सोवियट के जिस सदन में भी पूछे जायँ, उनको तीन दिन के अन्दर उसी सदन में उत्तर देने होगे।

सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ में मन्त्रि-परिषद् के चेयरमैन की स्थिति अत्यन्त उच्च मानी जाती है और यदि चेयरमैन का साम्यवादी दल में पूर्ण प्रभाव होता है तब तो मन्त्रि-परिषद् के चेयरमैन की स्थिति अत्यन्त सुदृढ होती है जिस प्रकार कि लेनिन (Lenin) और स्टालिन (Stalin) की स्थिति अत्यन्त उच्च और प्रभावपूर्ण थी। किन्तु यह भी असम्भव नही है यदि मन्त्रि-परिषद् के चेयरमैन की वही दशा हो जाय जो रिकोव (Rykov) की हुई। रिकोव (Rykov) १९२४ से १९३० तक मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) का चेयरमैन था। किन्तु अन्त मे वह अप्रिय हो गया और १९३८ मे उसके ऊपर देशद्रोह का जुर्म लगाया गया और उसे फांसी दे दी गई। स्टालिन के ऊपर तो ईश्वर का विशेप वरदान था। अपनी मृत्यु से कुछ ही दिन पूर्व लेनिन (Lenin) ने भय के साथ देखा था कि "कामरेड

स्टालिन (Comrade Stalin) ने सेक्रेटरी-जनरल होने के बाद अपार शक्ति सचित कर ली थी।" लेनिन (Lenin) की मृत्यु के बाद सेक्रेटरी-जनरल (Secretary General) ने अपनी शक्ति का अत्यन्त निर्दयतापूर्वक प्रयोग किया।

अधिकतर मन्त्री लोगो का विशेष राजनीतिक महत्त्व नही होता और विदेश मन्त्री (Foreign Minister) को छोडकर अन्य मन्त्रियो का न तो देश मे और न विदेश में कोई विशेष आदर होता है। किसी व्यक्ति के मन्त्रि-पद पर पहुँचने में न तो ससदीय दल का प्रभाव काम करता है और न कोई राजनीतिक प्रभाव ही प्रभावी होते हैं। सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (Soviet Union) मे कोई भी व्यक्ति इतना अत्यावश्यक नही होता कि उसे त्यागा न जा सके। किसी व्यक्ति को मन्त्रि पद पर नियुक्त करते समय दो विचार विशेष रूप से प्रभाव डालते हैं जिनमें एक विचार तो यह होता है कि उक्त व्यक्ति में सम्बन्धित कार्य के लिए वैयक्तिक योग्यता कितनी है क्योंकि सोवियट सघ में अनेको मन्त्रियो के पद विशेष योग्यता की अपेक्षा रखते हैं और दूसरा यह विचार भी प्रभाव डालता है कि उक्त व्यक्ति ने दल की कितनी सेवा की है। किन्तु मन्त्रियो मे जल्दी-जल्दी परन्तु शान्ति के साथ परिवर्तन होते रहते हैं और उन परिवर्तनो को समाचारपत्रो में भी नही दिया जाता और इस प्रकार के मन्त्रीय परिवर्तनो के सम्बन्ध में कभी सफाई नही दी जाती।

दो प्रकार के मन्त्रालय (Two Kinds of Ministries)—सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U. S S R) मे दो प्रकार के मन्त्रालय (Ministries) हैं (१) पहले प्रकार में अखिल सघीय मन्त्री (कमीसार्स) आते हैं जो उन मामलो का या तो प्रत्यक्ष रूप से या नियुक्त की हुई ऐजेन्सियो के माध्यम द्वारा प्रबन्ध करते हैं जिनका महत्त्व सम्पूर्ण सघ के लिये होता है और दूसरे शब्दो में कहा जा सकता है कि ये मन्त्री सघीय सरकार के अधिकार क्षेत्र में आने वाले समस्त मामलो का प्रबन्ध करते हैं, (२) दूसरे प्रकार में यूनियन गणराज्यो के मन्त्री आते हैं। ये मन्त्री मुख्यत यूनियन गणराज्यो की सरकारो के अधिकार क्षेत्र में आने वाले मामलो का प्रबन्ध करते हैं। ये मन्त्रालय सघ के एकक गणराज्यो के मन्त्रालयो के द्वारा अपना कार्य करते हैं और प्रत्यक्षत तो केवल कतिपय निश्चित[1] एव उन्ही विषयो का ही निरीक्षण और सचालन करते हैं जो एक सूची में दर्ज हैं जिसको सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) की प्रेजीडियम ने स्वीकार कर रक्खा है। मन्त्रालयो के इन दोनो समुदायो में स्पष्ट भेद यह है कि अखिल सघीय मन्त्रालय राष्ट्रीय और अखिल सघीय मामलो के निर्णय करते हैं किन्तु दूसरे प्रकार के अर्थात् यूनियन-गणराज्य-मन्त्री उन मामलो का प्रबन्ध एव निर्णय करते हैं जो अखिल सघीय शासन और एकक गणराज्यो के शासन के सम्मिलित अधिकार क्षेत्र में आते हैं। किन्तु दोनो प्रकार के मन्त्रालयो का भेद अत्यन्त क्षीण है, और प्राय कई एक मन्त्रालयो को एक समुदाय से हटाकर

---

[1] Articles 74-76.

दूसरे समुदाय में रखा गया है। डा० मनरो (Dr Munro) ने इन दोनो प्रकार के मन्त्रालयो के भेद को स्पष्ट करते हुए लिखा था कि अखिल सघीय मत्रालयो का प्रशासन मास्को (Moscow) में केन्द्रित है किन्तु सघ के गणराज्यीय मन्त्रालयो के "प्रशासन कार्य का नियन्त्रण तो केन्द्रीकृत है किन्तु उसकी कार्य-प्रणाली और क्रियान्विति काफी हद तक विकेन्द्रीकृत (Decentralized) है।"

अखिल सघीय मत्रालय (All Union Ministries) आजकल ३१ अखिल सघीय मन्त्रालय सोवियट सघ में हैं। ये मन्त्रालय राष्ट्रीय शासन के उन विभागो का सचालन करते हैं जिनका अखिल सघीय महत्त्व है। इन मन्त्रालयो का अधिकार क्षेत्र समस्त सघ पर छाया हुआ है और ये या तो प्रत्यक्ष रूप से स्वय प्रशासन और प्रबन्ध करते हैं अथवा स्वय एजेन्सियाँ नियुक्त करके उनके द्वारा प्रबन्ध सचालन करते हैं। प्रारम्भ में केवल पाँच अखिल सघीय मन्त्रालय थे। स्टालिन के सविधान (Stalin Constitution) ने आठ मन्त्रालयो की व्यवस्था की। १९४२ में प्रेजीडियम (Presidium) ने पाँच अन्य अखिल सघीय मन्त्रालय उत्पन्न किये। १९४७ तक इन मन्त्रालयो की सख्या ३६ तक पहुँच गई, जिनमें भारी उद्योगो (Heavy Industries) से सम्बन्धित ही २७ नये मन्त्रालय सम्मिलित थे। सोवियट सविधान के अनुच्छेद ७७ के जून १७, १९५५ के सशोधित रूप ने ३१ मन्त्रालयो को आदेश दिया है।

निम्न मन्त्रालय अखिल सघीय मत्रालय हैं—

वायुयान उद्योग सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of Air-craft Industry)।

मोटरगाडी और ट्रेक्टर उद्योग सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of the Automobile and Tractor Industry)।

विदेश-व्यापार सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of Foreign Trade)।

जहाजी बेडा सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of the Navy)।

युद्ध-सामग्री सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of Munitions)।

भौमिकी भूमापन विभाग (The Ministry of Geological Survey)।

नगर विकास सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of Town Development)।

राज्य खाद्य-विभाग और प्राकृतिक ससाधन सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of State Food and Material Reserves)।

कृषि-उत्पादन भण्डार-सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of Agricultural Stocks, Procurements)।

यन्त्र और औजार निर्माण उद्योग सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of the Machine and Instrument Making Industry)।

लोहा और इस्पात उद्योग सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of the

Metallurgical [Iron and Steel] Industry) ।

सामुद्रिक व्यापार सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of the Merchant Marine) ।

तेल उद्योग सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of the Oil Industry) ।

सचारण साधन उद्योग सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of the Communications Equipment Industry) ।

रेल यातायात मन्त्रालय (The Ministry of Railways) ।

नदी-नौका परिवहन सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of Inland Water Transport [River Fleet]) ।

यातायात विभाग अथवा मन्त्रालय (The Ministry of Communications)

कृषि यन्त्र उद्योग सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of the Agricultural Machinery Industry) ।

यन्त्र उपकरण उद्योग सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of the Machine-Tool Industry) ।

निर्माण और सडक निर्माण सम्बन्धी यन्त्रो के उद्योग सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of the Building and Road Building Machinery Industry) ।

यन्त्र निर्माण सम्बन्धी उद्योग का विभाग (The Ministry of Construction Machine Building Works)

जहाज उद्योग सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of Ship Building) ।

परिवहन यन्त्र उद्योग सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of the Transport Machinery Industry) ।

श्रम मन्त्रालय (The Ministry of Labour Reserves) ।

भारी उद्योग-निर्माण सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of Construction of Heavy Industry Works) ।

खनिज कोयला सम्बन्धी उद्योग मन्त्रालय (The Ministry of the Coal Mining Industry) ।

रसायन विज्ञान उद्योग सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of the Chemical Industry) ।

विद्युत उपकरण उद्योग सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of the Electrical Equipment Industry) ।

बिजलीघरो से सम्बन्धित मन्त्रालय (The Ministry of Power Stations) ।

यूनियन गणराज्य मन्त्रालय (The Union Republican Ministries)—यूनियन गणराज्यीय मन्त्रालय "अखिल सघीय महत्त्व की उस राष्ट्रीय अर्थ-व्यवस्था

और राष्ट्रीय प्रशासन का संचालन करते हैं जिसका प्रबन्ध किया जा सकता है और जिसका इस प्रकार केन्द्र से विविध संघीय गणराज्यों के संघीय गणराज्यीय मन्त्रालयों द्वारा प्रबन्ध किया जाना वाञ्छनीय है।" आजकल कुल संघीय गणराज्यीय मन्त्रालयों (The Union Republican Ministries) की संख्या २१ है किन्तु १९३६ में कुल संघीय गणराज्यीय लोकप्रबन्धक परिषद् (Union Republican Peoples' Commissariats of 1936) में केवल दस मन्त्रालय थे। सशस्त्र सेना-सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of the Armed forces) और विदेश मन्त्रालय (Ministry of Foreign Affairs) को अखिल संघीय मन्त्रालयों के समुदाय में से १९४४ में निकालकर संघीय गणराज्यीय समुदाय में उस समय मिला दिया गया जब कि अवयवी एकक गणराज्यों को यह अधिकार दिया गया था कि वे विदेशी राज्यों के साथ सीधे दौत्य सम्बन्ध स्थापित कर सकते हैं और उनके साथ सीधे समझौते कर सकते हैं और अपनी-अपनी सशस्त्र सेनाएँ रख सकते हैं।

निम्नलिखित मन्त्रालय संघीय गणराज्यीय मन्त्रालय (Union Republican Ministries) हैं—

गृह मन्त्रालय (The Ministry of Internal Affairs)।

युद्ध मन्त्रालय (The Ministry of War)।

उच्च शिक्षा सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of Higher Education)

राजकीय नियन्त्रण मन्त्रालय (The Ministry of State Control)।

राजकीय सुरक्षा मन्त्रालय (The Ministry of State Security)।

सार्वजनिक स्वास्थ्य मन्त्रालय (The Ministry of Public Health)।

विदेश विभाग (The Ministry of Foreign Affairs)।

चलचित्रण सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of Cinematography)।

लघु उद्योग मन्त्रालय (The Ministry of Light Industry)।

वन मन्त्रालय (The Ministry of Forestry)।

लकड़ी और कागज उद्योगसम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of Timber and Paper Industry)।

मांस और दूध उद्योग सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of Meat and Dairy Industry)।

खाद्य पदार्थ उद्योग सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of the Food Industry)।

भवन-निर्माण सम्बन्धी उद्योग विभाग अथवा मन्त्रालय (The Ministry of Building Material Industry)।

मछली उद्योग सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of Fish Industry)।

कृषि-मन्त्रालय (The Ministry of Agriculture)।

राजकीय कृषि फार्म सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of State Farms)

व्यापार मन्त्रालय (The Ministry of Trade)।
वित्त मन्त्रालय (The Ministry of Finance)।
कपास-उत्पादन सम्बन्धी मन्त्रालय (The Ministry of Cotton Growing)
न्याय मन्त्रालय (The Ministry of Justice)।

उपदेष्ट्री बोर्ड और नियोजनमण्डल (Advisory and Planning Boards)—इन मन्त्रालयो के अतिरिक्त अनेको उपदेष्ट्री बोर्ड (Advisory Boards) हैं। कुछ मन्त्रालयो के अपने विशेष उपदेष्ट्री बोर्ड हैं और कई उदाहरण ऐसे हैं जिनमें वे बोर्ड उपदेष्ट्री होने से अधिक कार्य करते हैं। इन बोर्डों में मुख्य रूप से श्रम-परिषद् (Council of Labour) और सुरक्षा परिषद् (Council of Defence) हैं और राज्य नियोजन आयोग (State Planning Commission), उच्च शिक्षा सम्बन्धी समिति और सास्कृतिक समिति (The Committee on Arts) हैं। सोवियत रूसी सघ में 'गोस प्लान' अथवा राज्य नियोजन आयोग ('Gosplan' or the State Planning Commission) के निर्देशन में ही समस्त अर्थ-व्यवस्था का नियोजन हो रहा है। किन्तु नियोजन के सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णय साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति अथवा राजनीतिक ब्यूरो ही करते हैं। गोसप्लान (Gosplan) का विशेषज्ञ समिति होने के नाते यह कर्त्तव्य है कि वह राजनीतिक ब्यूरो और केन्द्रीय साम्यवादी समिति के निर्णयो को क्रियान्वित करे और उनमें विस्तार करे "ताकि आर्थिक विकास ठीक ढग से हो और उसमें विषमता और असगतता न आने पावे।"

अध्याय ५

न्यायपालिका

(The Judiciary)

विधि के सम्बन्ध में सोवियट मान्यता (The Soviet Concept of Law)—विधि के सम्बन्ध में सोवियट मान्यता वही है जो राज्य की प्रकृति की मान्यता है। मार्क्स (Marx) के अनुसार राज्य एक दमनकारी यन्त्र है जिसकी उत्पत्ति ही इसलिये हुई है कि एक विशेष प्रकार के प्रचलित सामाजिक ढांचे को सुरक्षित रखा जाय। इसलिये वह कहता था कि पूंजीवादी समाज-व्यवस्था में विधि शासन के हाथो मे एक उपकरण हो जाता है जिसके द्वारा पूंजीपति वर्ग के जो समाज के ऊपर छाया हुआ रहता है, हितो की रक्षा की जावे। साम्यवादी दल का घोषणा-पत्र कहता है कि "वोर्जुआवादी राज्य (Bourgeois State) की विधि एक प्रकार से वोर्जुआ वर्ग की इच्छा का प्रतीक है और उसी पूंजीवादी वर्ग की इच्छा को सार्वजनीन विधि का नाम दे दिया गया है। वह घोषणा-पत्र (Manifesto) आगे कहता है कि पूंजीवादी व्यवस्था में विधि, वोर्जुआ वर्ग की ऐसी इच्छा है जिसका स्वरूप वोर्जुआ वर्ग की आर्थिक स्थिति से प्रभावित होता है।"

मार्क्स (Marx) और ऐन्गिल्स (Engels) दोनो विचारक वोर्जुआवादी राज्यो की विधि-व्यवस्था के आलोचक थे। वे कहते थे कि पूंजीवादी राज्य इस सिद्धान्त की आड मे गर्व करते है कि उनकी व्यवस्था में विधि के समक्ष सभी वरावर है, किन्तु उनके विचार से पूंजीवादी शासन-व्यवस्था में कोई वरावर ,नही है क्योकि पूंजीवादी समाज मे सर्वसाधारण के पास इतना पैसा ही नही है कि वे वैधिक कार्यवाही का आश्रय ले सकें। इनके अतिरिक्त न्यायाधीश लोग भी सम्पत्ति के हितो के पक्षपाती होते हैं और जिन विधि के अनुसार वे अपना निर्णय देते हैं, वह विधि तो शक्तिशाली पूंजीवादी वर्ग के हित रक्षणार्थ निर्मित ही हुई थी। विशिंस्की (Vyshinsky) लिखता है कि "मार्क्सवाद (Marxism) और लेनिनवाद (Leninism) ही विधि के सम्बन्ध में सच्ची और वैज्ञानिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं। मार्क्सवाद और लेनिनवाद से हमको यह शिक्षा मिलती है कि समाज और विधि का परस्पर सम्बन्ध आर्थिक जीवन चर्या में निहित है और विधि शक्तिशाली पूंजीपति वर्ग की ही इच्छा है जिसको सविधि में दर्ज कर दिया गया है।"

इसलिये सोवियट न्याय-व्यवस्था यह नहीं मानती कि ऐसी विधि ही सार्वजनीन न्याय के सिद्धान्तो को प्रतिपादित करती है जिसका राज्य के आर्थिक और सामाजिक ढांचे से कोई सम्बन्ध न हो। बल्कि सोवियट मान्यता यह है कि विधि वास्तव में राज्य की इच्छा की ही प्रतीक है, और उस राज्य की पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्था की

ही प्रतीक है और वर्गवादी समाज-व्यवस्था में विधि केवल शासक वर्ग की इच्छामात्र है। इसके विपरीत समाजवादी राज्य में कर्मकार लोग ही शासक वर्ग हैं इसलिये ऐसे राज्य में विधि का कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि वह सर्वहारावर्ग के राज्य को शत्रुओ से बचावे और समाजवादी समाज के निर्माण में सहायक सिद्ध हो। अन्त में जब राज्य की आवश्यकता ही न रह जायगी तो विधि की भी आवश्यकता न रहेगी। किन्तु जब तक राज्य मौजूद है तब तक सोवियट विधि को भी मजबूती से दृढ रहना चाहिए ताकि वह पूंजीवाद का नाश करदे और समाजवादी समाज के निर्माण में सहायक साधन बना रहे। सर्वहारावर्ग के अधिनायकवाद की यह निर्देशक नीति रहेगी। लेनिन (Lenin) ने कहा था कि "विधि राजनीतिक अस्त्र है, और विधि ही राजनीति है"। बोर्जुआवादी राज्यो मे विधि को सजाये गये अर्थों में लेते हुए कहा जाता है कि विधि के समक्ष सभी समान हैं, अथवा विधि अपक्षपाती है अथवा विधि की क्रियान्विति केवल एक है, किन्तु ये विचार गौण हैं और विशेष महत्त्व नहीं रखते। भविष्य में जो फल प्राप्त होंगे उन्ही से न्याय-व्यवस्था की सफलता अथवा असफलता आंकी जायगी। इस प्रकार सोवियट मान्यता के अनुसार विधि एक नीति का निर्देशक निमित्त है जिससे समाजवादी क्रान्ति के उद्देश्यो की पूर्ति होगी और इसीलिये सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ मे न तो प्राकृतिक विधि (Natural Law) के लिये कोई स्थान है और न यह स्वीकार किया जाता है कि विधि ही राज्य के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा करने वाला एक-मात्र साधन है।

सोवियट न्यायपालिका का उद्देश्य (Purpose of Soviet Judiciary)—अगस्त १९३८ की एक विधि का आदेश है कि सोवियट न्यायालयो के सामान्य उद्देश्य यह है कि वे सोवियत समाजवादी गणराज्य सघ (U. S S R) के नागरिकों को देश-प्रेम की शिक्षा प्रदान करे और उनमे समाजवादी भावना जाग्रत करें; साथ ही सोवियट विधियो के प्रति पूर्ण निष्ठा और अन्यून आज्ञा-पालन का भाव भरें। इसके साथ ही न्यायालय नागरिको को यह भी शिक्षा दें कि वे समाजवादी सम्पत्ति की रक्षा करें, श्रमिक लोग अनुशासन न खोवें, राज्य और सर्वसाधारण के प्रति अपने कर्त्तव्य पूर्ण करें और समस्त सोवियट गणराज्यो (Commonwealth) के नियमो का पूर्ण पालन करे।" इस प्रकार सोवियट न्यायालयो का मुख्य और मौलिक कर्त्तव्य यह है कि वे "सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U. S S R) की समाज-व्यवस्था और शासन-व्यवस्था की रक्षा करें अर्थात् सार्वजनिक समाजवादी सम्पत्ति और समाजवादी अर्थ-व्यवस्था की रक्षा करें।" सोवियत न्यायालयों की आवश्यकता पर बल देते हुए लेनिन (Lenin) और स्टालिन (Stalin) दोनों ने कहा था कि न्यायालय समाजवाद के शत्रुओ के विरुद्ध खुलकर कार्यवाही करें। उनके विचार से समाजवाद के शत्रु सार्वजनिक शत्रु हैं, देश-द्रोही हैं, भेदिये हैं, तोड़क, फोड़क, विनाशक है। न्यायालयों का यह भी कर्त्तव्य बताया गया था कि वे नई सोवियट शासन-प्रणाली को सुदृढ बनावें, नए सोवियट अनुशासन का कर्मकार वर्ग में दृढतापूर्वक

पालन करावे ।" इसलिये विधि ने सोवियट न्यायालयो को आज्ञा दी है कि वे राज्य के फार्मो (State Farms) या सहकारी फार्मो (Co operative Farms) या सामूहिक फार्मो (Collective Farms) की सम्पत्ति चुराने वालो को या श्रमिको अथवा राज्य के अनुशासन को भग करने वालो को अथवा अन्य ऐसे सार्वजनिक अपराधियो को जैसे सट्टेबाजो (Speculators) को, बदमाशो को, गुण्डो को तथा ऐसे लोगो को जो राज्य को अथवा सामुदायिक या सहकारी फार्मो को अथवा अन्य सार्वजनिक सस्थाओ को किसी प्रकार हानि पहुँचाते हैं कठोरतम दण्ड दें । दीवानी के न्यायालय (Civil Courts) नागरिको के उन राजनीतिक अधिकारो की रक्षा करते हैं जो सविधान ने उनको श्रम, निवास-स्थान, सम्पत्ति तथा अन्य हितो की रक्षार्थ प्रदान किये हैं ।

अपराधियो को दण्डित करने का सोवियट उद्देश्य यह है कि इससे सोवियट नागरिको मे क्रान्तिकारी चेतना भर दी जाय और वे उन विदेशी भेदियो और शत्रुओ से सावधान हो जायें जो देश में धडाधड घुसे चले आ रहे हैं और जो सोवियट समाजवादी सघ को हानि पहुँचाना चाहते हैं । न्यायालयो का यह भी कर्त्तव्य है कि वे सोवियट नागरिको मे यह भावना कूट कूटकर भरदे कि वे सोवियट विधियो का पूर्ण पालन करे । इसके अतिरिक्त सोवियट न्यायालय यह भी आदेश करते हैं कि सभी लोग समाजवादी सम्पत्ति की प्राणपण से रक्षा करें, राज्य और सर्वसाधारण के प्रति अपने कर्त्तव्यो का निष्ठापूर्वक पालन करे और सोवियट मातृभूमि और साम्यवाद के सिद्धान्तो के दृढानुग्रही बने रहे ।"

सोवियट न्याय-व्यवस्था की मुख्य विशेषताएँ (Salient Features of the Soviet Judicial System)—(१) सोवियट न्यायपालिका अन्य मन्त्रालयो जैसे वित्त मन्त्रालय अथवा कृषि-मन्त्रालय की ही भाँति राज्य के नियमित प्रशासकीय ढाँचे का केवल एक भाग है । न्यायपालिका को शासन का एक पृथक् व स्वतन्त्र अग नही समझा जाता । सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ के न्यायालयो को प्रोक्यूरेटर जनरल (Procurator General) अथवा महान्यायवादी (Attorney General) के आदेशानुसार न्याय-व्यवस्था करनी होती है । प्रोक्यूरेटर जनरल अथवा महान्यायवादी का प्रमुख कृत्य है क्रान्ति द्वारा स्थापित की गई सामाजिक व्यवस्था को विरोधी व्यक्तियो अथवा वर्गों के आक्रमणो से बचाना और समस्त सामाजिक सम्पत्ति की रक्षा करना तथा उसको एव उसके अधीनस्थ कर्मचारी वर्ग को यह देखना पडता है कि सोवियट सघ की सार्वजनिक सम्पत्ति का विनाश तो नही किया जा रहा अथवा सोवियट समाज-व्यवस्था विरोधी अपराध तो नही किये जा रहे हैं । सोवियट रूस के न्यायालय समाजवाद के शत्रुओ को नई सोवियट व्यवस्था के रक्षणार्थ अत्यधिक कठोर दण्ड देते हैं । न्याय मन्त्री (Commissar of Justice) श्री रिश्कोव (Rychkov) ने १९३८ में कहा था, "हमारे महान् देश में समाजवादी व्यवस्था को दृढ करने में और अक्तूबर क्रांति की महान् विजय को चिरजीवी बनाने में सर्वहारावर्ग के अधि-

नायकवाद के हाथों में हमारी न्याय-व्यवस्था एक अमोघ अस्त्र है। यही कारण है कि सभी न्यायिक अधिकारियों एवं सभी स्थानीय एवं दलीय शाखाओं का यह परम कर्त्तव्य हो जाता है कि वे न्याय-व्यवस्था में सुधार करें और न्यायालयों में काम करने के लिए नए, ईमानदार और साम्यवादी निष्ठा-युक्त व्यक्तियों को ही मनोनीत करें जो न केवल समाजवाद में निष्ठा रखते हों अपितु साम्यवादी दल और निर्दल बोल्शेविकों के प्रति भी मैत्री और निष्ठा भाव रखते हों।"

(२) सम्पूर्ण सोवियट संघ में एकसी फौजदारी और दीवानी कार्य-विधि और एकसी न्याय व्यवस्था है। इसका अर्थ है कि बिना किसी प्रकार के सामाजिक उद्‌भव धर्म, व्यवसाय, सम्पत्ति अथवा प्रजाति आदि भेदभाव के समस्त नागरिकों को कानून के समक्ष समानता मान ली गई है।

(३) यद्यपि न्याय प्रशासन केन्द्रीय विषय नहीं है, फिर भी समस्त सोवियट संघ में समान फौजदारी और दीवानी कार्यविधि के अनुसार कार्य होता है। सोवियट न्यायाधीश अपने क्षेत्र में स्वतन्त्र होते हैं और वे केवल देश की विधि के ही आधीन हैं। इसका यह अर्थ है कि न तो संघीय सत्ता को न किसी अवयवी गणराज्य की सत्ता को न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का अधिकार है और न कोई सत्ता न्यायालयों के निर्णयों को प्रभावित कर सकती है। न्यायाधीशों को प्रचलित सोवियट विधि के अनुसार ही निर्णय करने पड़ते हैं, किन्तु जैसा कि पोलिएन्स्की (Polıansky) ने कहा है, "यह स्पष्ट है कि सोवियट न्यायाधीश स्वतन्त्र होते हुए भी राजनीतिक आदेश की अवहेलना नहीं कर सकते क्योंकि राजनीतिक आदेश भी सोवियट विधि के विरुद्ध नहीं हो सकते और सोवियट विधि भी सर्वसाधारण अथवा विधि निर्माताओं की ही इच्छा की प्रतीक है और विधि का संचालन सर्वहारावर्ग के अधिनायकवाद के द्वारा ही तो होता है।"

(४) संविधान के अनुच्छेद १२७ ने व्यक्ति की अवध्यता (Inviolability of Person) का पूर्ण आश्वासन दिया है। संविधान आदेश करता है, "किसी भी व्यक्ति को उस समय तक गिरफ्तार नहीं किया जा सकता जब तक कि प्रोक्यूरेटर अथवा महान्यायवादी ने तदर्थ आज्ञा प्रदान न की हो अथवा किसी न्यायालय ने गिरफ्तारी का आदेश न दिया हो।" जब तक कि विधि ने ही वर्जित न किया हो, न्यायालय की समस्त कार्यवाही सार्वजनिक होनी चाहिए और अभियुक्त को पूरी छूट रहती है कि वह अपने बचाव का प्रबन्ध या तो स्वयं कर सकता है अथवा वकील द्वारा भी कर सकता है। केवल कुछ विधि विहित असाधारण मामलों में ही सार्वजनिक वैधिक कार्यवाही निषिद्ध की गई है, किन्तु उस अवस्था में न्यायालय का कार्य-संचालन तीन न्यायाधीश करते हैं और सर्वसाधारण से मनोनीत जूरी अथवा असेसर (Peoples Assessors) हट जाते हैं। न्यायालयों में स्थानीय भाषा का प्रयोग होता है और उन अन्यप्रान्त व्यक्तियों को जो उस भाषा को नहीं समझते, दुभाषिये (Interpretor) रखने का अधिकार होता है।

(५) सभी न्यायाधीश अपने पदो के लिए कुछ विशिष्ट अवधि के लिए ही निर्वाचित होते हैं। सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) में सर्वोच्च न्यायालय और विशिष्ट न्यायालयों (Special Courts) और उसी प्रकार अवयवी एकक गणराज्यो और सघो के सर्वोच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो का निर्वाचन पाँच वर्ष की अवधि के लिए सम्बन्धित सर्वोच्च सोवियटो (Supreme Soviets) द्वारा होता है। क्षेत्रीय न्यायालयो के न्यायाधीशो का निर्वाचन भी उसी प्रकार क्षेत्रीय सोवियटो (Territorial Soviets) द्वारा पाँच वर्ष के लिए ही होता है किन्तु निम्नतम न्यायालयों (The People's Courts) के न्यायाधीशो को उन्ही जिलो के सर्वसाधारण तीन वर्षो की अवधि के लिए निर्वाचित करते हैं।

(६) सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) के सभी न्यायालयों मे न्यायाधीश होते हैं और सर्वसाधारण के अभिनिर्धारक (Peoples, Assessors) होते हैं, किन्तु सर्वसाधारण के अभिनिर्धारको अथवा अनिपुण न्यायाधीशो को पच (Jurors) समझना उचित न होगा। सोवियट न्याय-व्यवस्था में पचो का कोई स्थान नही है। अनिपुण न्यायाधीश भी पूर्ण अधिकारयुक्त न्यायाधीश ही होते हैं किन्तु वे अस्थायी न्यायाधीश ही होते हैं। सामान्यत. प्रत्येक न्यायालय मे दो अनिपुण न्यायाधीश (Lay Judges) होते हैं और एक व्यावसायिक अथवा विशेषज्ञ न्यायाधीश होता है जो मौलिक अथवा प्रारम्भिक मामलो की सुनवाही में सभापतित्व का आसन ग्रहण करता है, किन्तु अपीलीय मामलो में सामान्यत अधिक सख्या में न्यायाधीश लोग बैठते हैं। अनिपुण न्यायाधीश विधि और तथ्यो से सम्बन्धित सभी पहलुओ पर विचार करते हैं और विशेषज्ञ अथवा व्यावसायिक न्यायाधीश के साथ मिलकर निर्णय भी देते हैं। बहुमत के द्वारा ही निर्णय किये जाते हैं किन्तु प्राय विशेषज्ञ अथवा व्यावसायिक न्यायाधीश की बात ही मानी जाती है।

(७) न्यायाधीशो और अभिनिर्धारको का निर्वाचन उसी प्रकार और उतने ही समय के लिए होता है और दोनो ही को हटाया जा सकता है। किन्तु जहाँ न्यायाधीशो को उतनी अवधि के लिए जितनी के लिए कि उनका निर्वाचन हुआ था, न्यायालय के नियमित सदस्य के रूप में कार्य करना पडता है, प्रत्येक अभिनिर्धारक को वर्ष में केवल दस दिन के लिए ही कार्य करना पडता है, हाँ यदि कोई विवाद लम्बा हो तो यह अवधि बढ भी सकती है, और इन दिनो में उसको अपने काम करने की जगह से पूरा वेतन भी मिलता रहता है। न्यायाधीशो अथवा अभिनिर्धारको (Assessors) के लिए कोई निश्चित शिक्षा सम्बन्धी अर्हताएँ नही है किन्तु नियमत न्यायाधीश लोग उच्च शिक्षा प्राप्त व्यक्ति होते हैं।

(८) न्यायाधीशो और अभिनिर्धारको (Assessors) को अपने पदो से हटाया भी जा सकता है और वही निर्वाचकमण्डल उनके प्रत्यावर्त्तन (Recall) की माँग कर सकता है जिसने उनको निर्वाचित करके भेजा था। निम्न न्यायालयों के न्यायाधीशो और अभिनिर्धारको के विरुद्ध जिला प्रोसक्यूटर यदि चाहे तो सम्बन्धित अवयवी

गणराज्य की प्रेज़ीडियम (Presidium) की आज्ञा लेकर फौजदारी अभियोग ला सकते हैं उसी प्रकार सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशो और अभिनिर्धारिको के विरुद्ध सोवियट सघ (U. S. S. R) का महान्यायवादी (Procurator General) सघीय प्रेज़ीडियम (Union Presidium) की आज्ञा लेकर न्यायिक कार्यवाही कर सकता है।

(९) २६ मई १९४७ को सर्वोच्च प्रेज़ीडियम ने एक आज्ञप्ति द्वारा शान्ति काल में मृत्यु-दण्ड निषिद्ध कर दिया। किन्तु फिर प्रेज़ीडियम ने १२ जनवरी १९५० को अपनी पुरानी आज्ञप्ति को सशोधित किया क्योंकि कई अवयवी एकक गणराज्यो ने, प्रदेशो और क्षेत्रो ने तदर्थ प्रार्थना की थी और अब की बार मृत्यु-दण्ड को कठोरतम दण्ड मानकर देश-द्रोहियो (Traitors), भेदियो अथवा गुप्तचरो (Spies) और विनाशकारी तत्त्वो (Wreckors) के लिये मृत्यु-दण्ड की पुन व्यवस्था की गई।

(१०) सोवियट विधि इस सम्बन्ध मे मौन है कि देशद्रोही, गुप्तचर और विनाशकारी तत्त्व कौन हैं। किन्तु सोवियट विधि की मान्यता यह है कि वह (सोवियट विधि) सर्वहारावर्ग के अधिनायकवाद के प्रमुख वर्ग की इच्छा की प्रतीक है। इस प्रकार यह हो जाता है कि वे ही व्यक्ति देश-द्रोही हैं जिनको साम्यवादी दल के नेता लोग सर्वसाधारण का शत्रु समझते हैं। रिश्कोव (Rytchkov) के १५ अगस्त १९३८ के वक्तव्य से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है। उसने कहा था, "राज्य चाहता है कि सभी न्यायालय समाजवाद के सभी शत्रुओ के विरुद्ध आम जिहाद बोलदें। न्यायालय देश के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करेंगे यदि वे ट्राट्स्कीवादियो (Trotskyites) और बुख़रनवादियो (Bucharinites) आदि सभी देश-द्रोहियो को सदैव के लिये नष्ट करदे।" सोवियट सघ में यदि कोई व्यक्ति साम्यवादी दल की अधिकृत नीति के विरुद्ध मत व्यक्त करे तो उसकी जान खतरे में पड सकती है अथवा यदि कोई व्यक्ति सार्वजनिक शत्रु की निन्दा न करे अथवा यदि वह सोवियट सघ छोडकर जाना चाहे तो भी उसकी जान को खतरा हो सकता है। यहाँ तक कि उन सिद्धान्तवादियो को भी, जो क्रान्ति की वैधानिकता के सिद्धान्त पर मतभेद रखते थे, सार्वजनिक शत्रु, विनाशक और ट्राट्स्की भक्तो की सज्ञा दी गई। सोवियट सघ में किसी को भी किसी भी समय सार्वजनिक शत्रु कहा जा सकता है। उक्त देश में न्याय-भावना राजनीतिक उद्देश्यो की चेरी है।

(११) सोवियट समाजवादी गणराज्य संघ (U. S S. R) की न्याय-व्यवस्था और सविधानिक आश्वासनो का महत्त्व अ-राजनीतिक मामलो के लिये कुछ हो सकता है। किन्तु राजनीतिक मामलो में जहाँ राज्य की रक्षा सोवियट विरोधी तत्त्वों से की जाती है, पूर्ण स्वेच्छाचारिता और निर्दयता का बोलबाला रहता है। कार्पिन्स्की (Karpinsky) ने स्वीकार किया है कि "सोवियट न्यायालय निश्चय ही समाजवाद के शत्रुओं के विरुद्ध कठोरतम दण्ड देते हैं।" ऐसे मामलो में स्वेच्छाचारिता की चलती है क्योंकि राजनीतिक अभियोग राज्य-सुरक्षा और गृह-विभागो (State Security and Internal Affairs) के मन्त्रालयो से सम्बन्धित राजनीतिक पुलिस-व्यवस्था के अधिकार क्षेत्र मे आते हैं। राजनीतिक पुलिस को अधिकार है कि वह किसी दोषी व्यक्ति को बिना उस पर मुकदमा चलाये ही प्रशासन की सुविधा के लिये देश से निकाल सकती है। अर्थात् राजनीतिक पुलिस दल यदि चाहे तो किसी राजनीतिक अभियुक्त को बिना उसके ऊपर अभियोग लगाये और बिना किसी प्रवाद की कानूनी कार्यवाही किये अज्ञात् स्थान-स्थित-श्रम-शिविरो (Labour Camps) के लिये निर्वासित कर सकती है। जब राजनीतिक पुलिस को क्रान्ति की नगी तलवार समझा जाता है और जब सविधान कहता है कि, "मातृ-भूमि के प्रति देश-द्रोह को कठिनतम दण्ड दिया जाय और उसको सबसे भयकर अपराध समझा जाय," तो फिर अनुच्छेद १२७ मे दी गई नागरिक की अबाध्यता सम्बन्धी गारटी का महत्त्व ही क्या रह जाता है। वह तो केवल एक राजनीतिक चाल-मात्र है।

न्यायिक सगठन
(System of Courts)

लोक न्यायालय (The People's Courts)—सोवियट रूस में न्यायालयो के क्रम में सबसे नीचे लोक न्यायालय (The People's Courts) हैं। इस न्यायालय में सीधे जनता द्वारा निर्वाचित एक नियमित न्यायाधीश और दो लोक-अभिनिर्धारक (People's Assessors) होते हैं। इन लोक न्यायालयो के न्यायाधीशो और लोक अभिनिर्धारको का निर्वाचन तीन वर्ष के कार्यकाल के लिये जिले के निर्वाचकमण्डल द्वारा प्रत्यक्ष गुप्त छन्दक अथवा मत पत्रक (By Direct Secret Ballot) द्वारा होता है। किन्तु लोक न्यायालय के न्यायाधीश अथवा अभिनिर्धारक (Assessor) को अपने पद से प्रत्यावर्तित (Recall) कराया जा सकता है।

लोक न्यायालय पूरी तरह से प्राथमिक सुनवाई के न्यायालय हैं और दीवानी व फौजदारी दोनो प्रकार के मामलो का निपटारा करते हैं और वे प्राय अधिकतर मामलो का निपटारा करते हैं। किन्तु इन न्यायालयो के समक्ष केवल छोटे विवाद ही आते हैं। बड़े अभियोगो के सम्बन्ध में प्राथमिक सुनवाई के लिये सर्वोच्च न्यायालय अथवा अन्य बड़े न्यायालयो की शरण ली जाती है।

प्रादेशिक न्यायालय (The Territorial Courts)—लोक न्यायालयो अथवा जिला न्यायालयों (People's Courts) के ऊपर प्रादेशिक (Territorial), प्रान्तीय (Regional), क्षेत्रीय (Area) तथा स्वायत्तशासी प्रान्तो (Autonomous Regions) और स्वायत्तशासी राष्ट्रीय क्षेत्रो के न्यायालय (Courts of the Autonomous National Areas) हैं। ये न्यायालय, लोक न्यायालयो के ऊपर अपीलीय न्यायालय होते हैं तथा अधिक गम्भीर अपराधो पर भी इनका क्षेत्राधिकार होता है। इन न्यायालयो को उन विवादो के सम्बन्ध में भी प्राथमिक सुनवाई का अधिकार है जिनका सम्बन्ध शान्ति विरोधी क्रिया-कलापो से हो, अथवा प्रशासन और

राज्य सम्बन्धी अपराधो से हो जबकि ऐसे अपराध राज्य के लिये खतरा उत्पन्न करते हो, अथवा सामाजिक सम्पत्ति की लूट-खसोट मे हो अथवा आर्थिक विनाश से हो।" व्यवहार विधि अथवा दीवानी विधि (Civil side) के सम्बन्ध में प्रादेशिक न्यायालयों के अधिकार क्षेत्र में ऐसे विवाद आते है जिनमें एक पार्टी राज्य हो और दूसरी ओर से समाजवादी सार्वजनिक सस्थाएँ हो, कारखाने हो अथवा अन्य सगठन हो। इन न्यायालयो के न्यायाधीशो का निर्वाचन अपने-अपने प्रदेश अथवा क्षेत्र की श्रमिक वर्गीय सोवियटो के द्वारा पाँच वर्ष की पदावधि के लिये होना है और उन निर्वाचित न्यायाधीशो को उन्ही निर्वाचकमण्डलों द्वारा प्रत्यावर्त्तित (Recall) भी किया जा सकता है।

स्वायत्तशासी गणराज्यो और अखिल सघ के सर्वोच्च न्यायालय (The Supreme Courts of Antonomous Republics and of Union)

गणराज्य (Republics)—प्रादेशिक न्यायालयो के ऊपर स्वायत्तशासी गणराज्यो के सर्वोच्च न्यायालय है। उनके मौलिक अधिकार क्षेत्र में व्यवहार विधि (Civil) और दण्ड विधि (Criminal) से सम्बन्धित प्राथमिक सुनवाई के मामले भी आते हैं और वे अपने निम्न न्यायालयो के निर्णयो के विरुद्ध अपीलें भी सुनते है।

प्रत्येक अवयवी एकक गणराज्य में सर्वोच्च न्यायिक सत्ता सर्वोच्च न्यायालय होता है। सर्वोच्च न्यायालय अवयवी एकक गणराज्य की प्रादेशिक सीमाओ में स्थित समस्त न्यायालयो के कार्य का निरीक्षण करता है। अपील किये जाने पर गणराज्यीय सर्वोच्च न्यायालय अपने से एक दर्जा न्यून न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णयो और आदेशो का पुनरीक्षण और निरीक्षण करता है। इस न्यायालय को ऐसे मामलो मे भी मौलिक अधिकार क्षेत्र प्राप्त है जो अत्यन्त भयकर हो और ऐसे अभियोग भी सुन सकता है जिनमे गणराज्य के उच्च अधिकारी अभियुक्त हो।

सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ का सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court of the U S S R)—सोवियट रूस के न्यायिक सगठन में सघीय सर्वोच्च न्यायालय (Supreme Court of the Union) का स्थान शीर्ष स्थानीय है। इसमें एक अध्यक्ष (Chairman), एक उपाध्यक्ष (Vice Chairman), अनेको न्यायाधीश (आजकल ६८ न्यायाधीश) तथा २५ सहायक न्यायाधीश अथवा लोक अभिनिर्धारक (Peoples Assessor) हैं। इन सब का निर्वाचन सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) के द्वारा पाँच वर्षों के लिये होता है। अखिल सघीय सर्वोच्च न्यायालय निम्न पाँच विभागो (Collegiums or Divisions) में कार्य करता है अर्थात् फौजदारी अथवा दण्ड विधि विभाग, दीवानी अथवा व्यवहार विभाग, सैनिक विभाग, रेलवे यातायात विभाग और जल-यातायात विभाग। सर्वोच्च न्यायालय का अध्यक्ष, किसी भी मामले की सुनवाई के समय सर्वोच्च न्यायालय की कार्यवाही का सभापतित्व कर सकता है। उसको यह भी अधिकार है कि सोवियत समाजवादी गणराज्य सघ (U S S. R) के किसी भी न्यायालय में से किसी भी अभियोग को निकाल ले और फिर उसी की

अपनी विरोध-रिपोर्ट सहित सर्वोच्च न्यायालय के पूर्ण अधिवेशन में विचारार्थ प्रस्तुत करे।

सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) के सर्वोच्च न्यायालय का अधिकार क्षेत्र मुख्यत पुनरावेदन मूलक और पुनरीक्षण मूलक है किन्तु अखिल सघीय महत्त्व के दीवानी और फौजदारी के मौलिक अभियोग भी इसके समक्ष आते हैं। सर्वोच्च न्यायालय के निर्णय अन्तिम होते हैं और उन निर्णयो का वही महत्त्व है जो देश की विधि का। यह निम्न न्यायालयो को न्याय-प्रशासन के सम्बन्ध में आवश्यक आदेश भी देता रहता है। साथ ही सर्वोच्च न्यायालय विधि और विधेयको का निर्वाचन करता रहता है और विधान की व्याख्याएँ प्रस्तुत करता रहता है किन्तु इसको यह अधिकार प्राप्त नही है कि किसी विधि अथवा आदेश या आज्ञप्ति को असवैधानिक घोषित कर सके।

विशेष न्यायालय (Special Courts)—सैनिक न्यायाधिकरण (Military Tribunals), रेलवे न्यायाधिकरण (Line Courts for the Railway), जल-यातायात न्यायाधिकर, इन तीनो का सम्बन्ध सोवियट सेना और नौसेना, तथा सोवियट रेलवे तथा सोवियट जल यातायात-सम्बन्धी सेवाओ से है। ये विशेष न्यायालय सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) के सर्वोच्च न्यायालय के अधीन होते हैं और इन विशेष न्यायालयो की अपीलें सर्वोच्च न्यायालय में ही जाती हैं। सोवियट सघ में विशेष सैनिक न्यायाधिकरणो की इसलिये आवश्यकता समझी जाती है कि सोवियट सघ की सैनिक शक्ति बढे और सेनाओ में अनुशासन ठीक रहे। रेलवे-यातायात न्यायाधिकरणो और जल-यातायात न्यायाधिकरणो की आवश्यकता भी इसीलिए पडती है कि उक्त देश की स्थिति ही कुछ ऐसी है। द्वितीय विश्व-युद्ध में रेलवे-यातायात न्यायाधिकरणो को सैनिक न्यायाधिकरणो मे परिवर्तित कर लिया गया था। इन विशेष न्यायालयो का अधिकार क्षेत्र अपराध की प्रकृति और अपराधी की स्थिति पर भी निर्भर करता है। इस प्रकार सैनिक न्यायाधिकरणो के सम्मुख असैनिक लोगो के मामले भी आ सकते हैं। इन विशेष न्यायालयो (Special Courts) के न्यायाधीशो को सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) पाँच वर्ष के लिये निर्वाचित करती है।

प्रोक्यूरेटर जनरल

(The Procurator General)

प्रोक्यूरेटर जनरल का पद (The Office of the Procurator General)—प्रोक्यूरेटर जनरल को अन्य देशों के महान्यायवादी अथवा अटोर्नी जनरल (Attorney General) के तुल्य समझा जा सकता है। किन्तु वास्तव में ऐसा नही है। सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) में प्रोक्यूरेटर जनरल का पद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण पद है। प्रोक्यूरेटर जनरल का पद सविधान ने सृजित किया है इसलिये

उसके अधिकार और उसकी शक्तियाँ इतनी व्यापक हैं और उनका गुप्त चर सगठन इतना सर्वव्यापी है कि वह राज्यीय शक्ति का एक आवश्यक एव मौलिक अग बन गया है। सोवियट सविधान के अनुच्छेद ११३ ने स्वय प्रोक्यूरेटर जनरल के पद की आवश्यकताओं और महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए कहा है, "सोवियट सघ (U S S. R) के प्रोक्यूरेटर जनरल के अधिकार में सर्वोच्च पर्यवेक्षण और निरीक्षण अधिकार होगा जिसमे वह लगातार पता रखेगा कि सरकारी विभागो, सस्थाओ तथा अधीनस्थ पदाधिकारियो एव नागरिको द्वारा कानूनो का ठीक-ठीक पालन किया जाता है या नही। इसका अर्थ है कि प्रोक्यूरेटर जनरल के पद की स्थापना का उद्देश्य ही यह है कि वह सर्वोच्च पर्यवेक्षक एव निरीक्षक शक्तियो से सज्जित हो और निरन्तर देखता रहे कि सोवियट विधि का पालन सभी शासकीय विभाग और मन्त्रालय तथा सभी अधीनस्थ सस्थाएँ एव पदाधिकारी तथा सभी सोवियट सघ के नागरिक उचित रूप से कर रहे हैं अथवा नही।" कार्पिस्की (Karpinsky) ने इस अनुच्छेद की सुन्दर शब्दो में व्याख्या की है। वह लिखता है, "ऐसे अवसर आते हैं जब कि स्थानीय अधिकारियो अथवा शासन के निर्णय अथवा उनकी आज्ञाएँ विधि के प्रतिकूल होती हैं अथवा जब कि विधियो को ग़लत अर्थों में समझा जाता है अथवा विधियो की क्रियान्विति ग़लत ढग से की जाती है। ऐसी स्थिति में शासन के अधिकारियो द्वारा प्रत्यक्ष रूप से जान-बूझकर विधि की अवहेलना की जाती है और कानून को विद्रूप किया जाता है। ऐसा भी होता है कि प्राय बहुत से लोग जो वास्तव में सर्वसाधारण के शत्रु हैं सोवियट सस्थाओ और उद्यमो में अपना स्थान बना लेते हैं तथा कानून को विद्रूप करने में और कानून के प्रयोग में विलम्ब करने में और राज्य को नुकसान पहुँचाने में अपनी शासकीय स्थिति से लाभ उठाते है।" प्रोक्यूरेटर जनरल का यह कार्य है कि ऐसे व्यक्तियो को, भेदियो को और विनाशक तत्त्वो को न्यायालयो के सम्मुख लावे और उन्हें दण्डित करावे। विशिन्स्की (Vyshinsky) लिखता है, "सोवियट रूस का सर्वोच्च अभियोजन अधिकारी (Prosecutor officer) जो १९३० के आसपास सोवियट सघ का प्रोक्यूरेटर जनरल भी था, समाजवादी विधान का रक्षक है, साम्यवादी दल अर्थात् सर्वोच्च सोवियट सत्ता का नीति-निर्णायक नेता है और समाजवाद के सिद्धान्तो का वीर रक्षक है।"

सोवियट प्रोक्यूरेटर जनरल का मुख्य निरीक्षण सम्बन्धी कर्त्तव्य यह देखना है कि सोवियट विधि का पालन कहाँ तक ठीक-ठीक ढग से हो रहा है। इस के लिये उसको सम्भवत सभी सस्थाओ में अपने स्वयसेवक वर्ग (Groups of Aid) रखने पडते हैं। वह इन स्वयसेवक वर्गो को आवश्यक मन्त्रणाएँ देता रहता है और उनसे निरन्तर सम्पर्क बनाए रखता है। कहा जाता है कि प्रोक्यूरेटर जनरल अपने कर्त्तव्यो का निर्वहन बिना इस प्रकार के सगठन की क्रियाशील सहायता के कर ही नहीं सकता। प्रत्येक स्वयसेवक-चर-मण्डल का एक नेता होता है और इस नेता की अध्यक्षता में वे प्राय सम्मिलित होते हैं और इसी के निर्देशन में वे प्राय कार्य करते

हैं। इन स्वयसेवक-चर-मण्डलो का काम यह है कि वे अनियमित कार्यवाही की सूचना प्रोक्यूरेटर जनरल के कार्यालय को देते रहें और वहां से नियमित खोज-पड़ताल प्रारम्भ हो जाती है। विशिस्की (Vyshinsky) लिखता है "सोवियट समाज के सभी अग, अर्थात् युवक साम्यवादी दल (The Young Communist Ieague), ट्रेड यूनियन (Trade Uuions), श्रमिक पत्रकार (Worker Correspondents), किसान पत्रकार (Peasant Correspondents) आदि सोवियट प्राभियोक्ता (Soviet prosecutor) के कार्यालय के कार्य में और समाजवादी न्याय-व्यवस्था को नियमित करने में हार्दिक सहयोग प्रदान करते हैं।" सरकारी आंकडो के आधार पर समझा जाता है कि इन स्वयसेवक-चर-मण्डलो ने प्राय सदैव सच-सच सूचना ही दी है, केवल उनके द्वारा दी गई सूचनाओ मे कठिनता से दस प्रतिशत सूचनाएँ असत्य सिद्ध हुई हैं।

प्रोक्यूरेटर जनरल के कर्त्तव्य (Functions of the Procurator General)—प्रोक्यूरेटर जनरल और उसके कार्यालय के कार्य का न्यायालयो से घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। उसको समस्त सार्वजनिक सम्पत्ति का सरक्षक माना जाता है, इसलिए जहां कही चोरी, विनाश अथवा सार्वजनिक सम्पत्ति का अपहरण आदि ऐसे अपराधो का सन्देह होता है जिन्हें सोवियट विरोधी अपराध समझा जाता है वही पहुँचकर प्रोक्यूरेटर जनरल खोज-पडताल करता है। प्रोक्यूरेटर जनरल ही नागरिको के व्यक्तिगत अधिकारो का सरक्षक है और वही नागरिको की व्यक्तिगत अबाध्यता का सरक्षण करता है। सविधान का आदेश है कि जब तक प्रोक्यूरेटर जनरल का आदेश न हो अथवा जब तक किसी न्यायालय ने ऐसा निर्णय न दिया हो, तब तक किसी व्यक्ति को गिरफ्तार नही किया जा सकता। प्रोक्यूरेटर (Procurator) का यह अधिकार भी है और कर्त्तव्य भी कि शासकीय विभागो और उनके अधिकारियों की अनियमित एव अवैधिक कार्यवाहियो और निर्णयो के विरुद्ध अपील करे। प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि वह किसी अन्याय के विरुद्ध प्रोक्यूरेटर (Procurator) से शिकायत कर सकता है।

प्रोक्यूरेटर जनरल ही फौजदारी के मामलो की जांच-पडताल कराता है उन स्थितियो की जांच-पडताल कराता है जिनमें उक्त मामलो की खोज-पड़ताल की गई थी, मौखिक और लिखित गवाहियां एकत्रित करता है और उसके बाद यदि आवश्यक होता है तो दोषी व्यक्ति अथवा दोषी व्यक्तियो के विरुद्ध तथा उनके साथी अपराधियो के विरुद्ध कानूनी कार्यवाही करता है। यह देखना भी उसका कर्त्तव्य है कि अन्य खोज-पडताल करने वाली समितियां अपने वैधिक अधिकार क्षेत्र का अतिक्रमण तो नही करतीं। जिस समय कोई फौजदारी का मामला न्यायालय के सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत होता है, उस समय प्रोक्यूरेटर ही न्यायालय के समक्ष सोवियट राज्य की ओर से अभियोजन अथवा प्राभियोजन (Prosecution) का कार्य करता है। मुकदमे की सुनवाई के समाप्त होने पर न्यायालय अपना निर्णय प्रोक्यूरेटर को दे देता है और उस समय प्रोक्यूरेटर देखता है कि निर्णय उचित हुआ अथवा

नहीं। यदि प्रोक्यूरेटर समझता है कि निर्णय गलत हुआ है तो वह उक्त निर्णय के विरुद्ध अपील दायर करता है, अन्यथा उक्त निर्णय की क्रियान्विति करता है।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि प्रोक्यूरेटर जनरल का कार्यालय समाजवादी न्याय्यता (Socialist legality) का प्रहरी है। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) के न्यायालयों की तरह, प्रोक्यूरेटर जनरल भी सोवियत न्याय्यता को दृढ़ करता है और सोवियत समाजवादी विधि और आन्तरिक शान्ति को स्थायित्व प्रदान करता है। सोवियत संघ के प्रोक्यूरेटर जनरल की शक्तियाँ, विशेषकर उसकी निरीक्षण और पर्यवेक्षण सम्बन्धी शक्तियाँ जिनके द्वारा वह सभी मन्त्रालयों और उनके अधीनस्थ संस्थाओं एवं सोवियत संघ (U. S. S. R.) के समस्त अधिकारियों और नागरिकों से विधि का कठोरतापूर्वक पालन कराता है, सर्वोच्च न्यायालय की शक्तियों की अपेक्षा महान् हैं। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) का सर्वोच्च न्यायालय, निम्न न्यायालयों के केवल न्यायिक क्रिया-कलापों का ही निरीक्षण करता है।

प्रोक्यूरेटर जनरल की नियुक्ति विधि और उसके कार्यालय का संगठन (Mode of Appointment and Organisation of the Office)—प्रोक्यूरेटर जनरल (Procurator General) प्रोक्यूरेटर विभाग का अध्यक्ष होता है और उसकी शक्तियाँ असीम और अत्यन्त व्यापक होती हैं। संविधान ने प्रोक्यूरेटर जनरल को उन विभागों से स्वतन्त्र माना है जिनका निरीक्षण और पर्यवेक्षण यह करता है। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) की सर्वोच्च सोवियत (Supreme Soviet) द्वारा प्रोक्यूरेटर जनरल की नियुक्ति सात वर्ष के लिये की जाती है, और प्रोक्यूरेटर जनरल केवल सर्वोच्च सोवियत के प्रति ही उत्तरदायी है। यहाँ तक कि सर्वोच्च मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) का भी प्रोक्यूरेटर जनरल के ऊपर कोई नियन्त्रण नहीं है। किन्तु प्रोक्यूरेटर जनरल की स्वतन्त्रता का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वह साम्यवादी दल अथवा उसकी राजनीतिक ब्यूरो से भी स्वतन्त्र हो।

क्योंकि प्रोक्यूरेटर जनरल का अधिकार क्षेत्र समस्त सोवियत संघ के ऊपर व्याप्त है, इसलिये यह आवश्यक है कि उसके सहायक अधिकारी सारे देश में नियुक्त किये जायें ताकि सब कहीं विधि का पालन हो और विधि की एकरूप क्रियान्विति हो। इसलिए वह सभी अवयवी एकक गणराज्यों में और अन्य उपगणराज्यों और क्षेत्रों और प्रदेशों में पाँच-पाँच वर्षों की अवधि के लिए प्रोक्यूरेटरों की नियुक्ति करता है। इसके बाद अवयवी गणराज्यों के प्रोक्यूरेटर, प्रोक्यूरेटर जनरल की सहमति से क्षेत्रीय प्रोक्यूरेटर, प्रादेशिक प्रोक्यूरेटर और नगर प्रोक्यूरेटर (Area, Regional and City Procurators) की नियुक्ति करते हैं। संघीय प्रोक्यूरेटर जनरल (Procurator General) ही प्रधान प्रोक्यूरेटरों (Chief Procurators) की नियुक्ति करता है जो सैनिक न्यायालयों, रेलवे यातायात न्यायालयों और जल यातायात न्यायालयों से सम्बन्धित होते हैं।

इस प्रकार प्रोक्यूरेटर का कार्यालय पूर्ण रूप से एकीकृत और केन्द्रीय निकाय है, और इस विभाग के सदस्य स्थानीय शासन सत्ताओ के प्रभाव से मुक्त हैं। उनको प्रोक्यूरेटर जनरल ही नियुक्त करता है और वे उसी के प्रति उत्तरदायी होते हैं। कार्पिस्की (Karpinsky) ने प्रोक्यूरेटर के कार्यालय की केन्द्रीकृत प्रवृत्ति को उचित ठहराया है। वह कहता है "प्रोक्यूरेटर का कार्य यह देखना है कि सोवियट विधियो का अखिल सोवियट सघ में उचित पालन हो रहा है अथवा नही, और इस महान् उत्तरदायित्व के निर्वहन के लिये यह आवश्यक है कि प्रोक्यूरेटर अपने कार्य-निर्वहन में सभी स्थानीय शासन सस्थाओ से स्वतन्त्र हो, और वह केवल अखिल सोवियट सघ के प्रोक्यूरेटर जनरल के ही आधीन हो। यही कारण है कि प्रोक्यूरेटरो की नियुक्ति केन्द्रीय विषय है और उनका निर्वाचन नही होता।"

अध्याय ६

प्रादेशिक शासन

(Regional Government)

संघ के अवयवी एकक (Units of the Federation)—जैसा कि बताया भी जा चुका है, नवम्बर १९१७ में नव स्थापित क्रान्तिकारी सरकार का पहला उद्देश्य यह था कि रूस की विभिन्न प्रजातियों का एक संघीय राष्ट्र निर्मित किया जाय। सभी यह सोचते थे कि सोवियट संघ में अनेकों परस्पर-विरुद्ध राष्ट्रीयताओं के रहते हुए सुदृढ सोवियट राज्य की कामना व्यर्थ रहेगी। इसलिये इस उद्देश्य से कि इन समस्त राष्ट्रीयताओं की राजनीतिक आकाक्षाएँ पूर्ण हो जायें, साथ ही विरोधी और विभिन्न जातियों के लोगों में विचार-साम्य और राष्ट्रीय चेतना का संचार हो जाय, लेनिन (Lenin) और उसकी बोल्शेविक पार्टी ने निश्चय किया कि एक ऐसे संघीय सोवियट राज्य की स्थापना की जाय जिसमें अवयवी एककों को अधिक से अधिक स्वायत्तता प्रदान की जाय। सम्भवतः यह रूस देश की विभिन्न जातियों और राष्ट्रीयताओं को इसलिये रियायत या छूट दी गई थी कि वे नई आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को स्वीकार करलें। किसी प्रकार चार तरह के राष्ट्रीय एकक राज्य निर्मित किये गये। वे थे—संघीय एकक गणराज्य, स्वायत्तशासी गणराज्य, स्वायत्तशासी जनपद अथवा प्रदेश, और राष्ट्रीय क्षेत्र। सोवियट समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) में विभिन्न प्रकार के राज्यत्व के द्वारा यह स्वीकार कर लिया गया है कि प्रत्येक जातीयता के विभिन्न हित हैं और इस प्रकार हरेक को पूरी-पूरी छूट दी गई है कि उसे अपने-अपने क्षेत्र में आर्थिक और सांस्कृतिक विकास का पूरा-पूरा अवसर प्राप्त हो। किन्तु सोवियत संघ में योजना-बद्ध अर्थ-व्यवस्था है और एक विशेष क्रम-बद्ध जीवन है इसलिये ऐसी स्थितियों में विभिन्न जातीयताओं को कहाँ तक आर्थिक और सांस्कृतिक विकास करने का अवसर प्राप्त हो सकेगा, यह बात समय के गर्भ में छिपी रहेगी। फिर भी विभिन्न अवयवी एककों के विभिन्न स्वरूप स्पष्टतः सोवियट समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) में विभिन्न जातीयताओं वाले राज्यों के अवयव हैं।

सोवियट समाजवादी गणराज्य (Soviet Socialist Republic)—आजकल सोवियट समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) में सोलह अवयवी एकक गणराज्य हैं। प्रत्येक गणराज्य संघ, चाहे उसमें कितने भी लोग बसते हों, चाहे उसका क्षेत्रफल कितना भी हो, और चाहे उसके आर्थिक साधन कितने भी हों, आपस में अधिकारों की दृष्टि से बराबर हैं। प्रत्येक संघीय गणराज्य की अपनी सत्ता है और जहाँ तक संविधान की भाषा का सम्बन्ध है, प्रत्येक संघीय गणराज्य 'प्रभु सत्ता'

(Sovereignty) का उपभोग करता है। अपने-अपने प्रशासन के अधिकार क्षेत्र में, प्रत्येक अवयवी गणराज्य अपनी सत्ता का स्वतन्त्रतापूर्वक उपभोग करता है। संविधान का अनुच्छेद १५ आदेश करता है कि "सोवियट समाजवादी गणराज्य संघ (U S S R) प्रत्येक अवयवी गणराज्य की प्रभुसत्ता की रक्षा करेगा।" प्रत्येक अवयवी गणराज्य को संघ से अलग हो जाने की छूट है। प्रत्येक अवयवी गणराज्य को प्रादेशिक स्वायत्तता और स्वाम्य का आश्वासन है और किसी भी अवयवी एकक गणराज्य की प्रादेशिक सीमाओं में किसी प्रकार का हेर-फेर उस समय तक नहीं किया जायगा जब तक कि सम्बन्धित गणराज्य स्वयं तदर्थ स्वीकृति न दे। संविधान ने प्रत्येक अवयवी गणराज्य को आज्ञा दी है कि वह अपनी सेनाएँ रख सकता है; विदेशों से सीधे दौत्य सम्बन्ध स्थापित कर सकता है, उनसे सीधे इकरारनामे कर सकता है और उनसे राजदूतों अथवा व्यापारिक दूतावासों का आदान-प्रदान कर सकता है। किन्तु जैसा कि पूर्व के अध्यायों में बताया जा चुका है, ये सब अवयवी गणराज्यों के प्रभुता-पूर्ण अधिकार नाममात्र के हैं और इन अधिकारों के ऊपर अनेकों मर्यादाएँ लगी हुई हैं और केन्द्रीय शासन का अवयवी गणराज्यों के प्रशासन पर कठोर अंकुश रहता है।

संघीय गणराज्य का प्रशासनिक स्वरूप (Administrative Structure of the Union Republic)—किसी संघीय गणराज्य की सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) ही व्यवस्थापिका है और सभी गणराज्यीय विधियाँ, गणराज्यीय सर्वोच्च सोवियट ही पास करती है। सर्वोच्च गणराज्यीय सोवियत के कुछ अन्य मुख्य कर्त्तव्य

(६) गणराज्यीय सर्वोच्च सोवियट ही यह निश्चय करती है कि उक्त गणराज्य (Union Republic) में किस प्रकार सैनिक संगठन किया जाय।

प्रेज़ीडियम (The Presidium)—गणराज्यीय सर्वोच्च सोवियट के अधिवेशनों के विराम-कालों में उसका कार्य संघीय गणराज्य की प्रेज़ीडियम चलाती है। प्रेज़ीडियम (Presidium) में ११ से लेकर १७ तक सदस्य होते हैं और वे चार वर्षों के लिये निर्वाचित किये जाते हैं। प्रेज़ीडियम की शक्तियाँ और उसके अधिकारों का निरूपण संघीय गणराज्य (Union Republic) का संविधान ही कर सकता है।

मन्त्रि-परिषद् (The Council of Ministers)—संघीय गणराज्य (Union Republic) की मन्त्रि-परिषद् की नियुक्ति उक्त गणराज्य की सर्वोच्च सोवियट द्वारा होती है और मन्त्रि-परिषद् ही गणराज्य में राज्य शक्ति का सर्वोच्च कार्यकारी और प्रशासनिक अंग है। गणराज्यीय मन्त्रि-परिषद्, गणराज्य की सर्वोच्च सोवियट के प्रति उत्तरदायी है अथवा उक्त सर्वोच्च सोवियट के अधिवेशनों के विराम कालों में संघीय गणराज्य (Union Republic) की प्रेज़ीडियम (Presidium) के प्रति उत्तरदायी है। यह आवश्यक है कि गणराज्यीय मन्त्रि-परिषद् के निर्णय और उसकी आज्ञाएँ सोवियट समाजवादी गणराज्य संघ (U S S R) तथा संघीय गणराज्य (Union Republic) की विधियों के विरुद्ध न हों। संविधान का अनुच्छेद ८१ आदेश देता है कि किसी संघीय गणराज्य (Union Republic) की मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) के लिये आवश्यक होगा कि वह सोवियट समाजवादी गणराज्य संघ (U S. S R) की मन्त्रि-परिषद् की आज्ञाओं और निर्णयों को क्रियान्वित करे। सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U S S R) की मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) को अधिकार है कि वह इस बात का निरीक्षण करे कि अवयवी गणराज्यों की मन्त्रि-परिषदें अखिल संघीय मन्त्रि-परिषदीय आज्ञाओं को ठीक-ठीक क्रियान्वित कर रही हैं या नहीं।

इसी प्रकार संघीय गणराज्य की मन्त्रि-परिषदों को यह अधिकार है कि वे स्वायत्तशासी गणराज्यों के निर्णयों को चाहें तो निलम्बित कर दें। इनको यह भी अधिकार है कि वह अपने अधीनस्थ प्रदेशों, क्षेत्रों और स्वायत्तशासी क्षेत्रों के सर्वहारा-वर्ग की सोवियट की अधिशासी समिति (Executive Committee of the Soviet of the Working People Deputies) के निर्णयों को अस्वीकृत और निषिद्ध कर सकती है।

संघीय गणराज्यों के मन्त्रालयों को निम्न विभागों में संगठित किया गया है। संघीय गणराज्यीय मन्त्रालय (Union Republican Ministries) और गणराज्यीय मन्त्रालय (Republican Ministries) राज्य के सामान्य प्रशासन का संचालन करता है और यह मन्त्रालय सोवियट समाजवादी गणराज्य संघ (U. S S R) की मन्त्रि-परिषद् और उसके प्रतिस्वरूप संघीय गणराज्य के मन्त्रालय (Union Republican Ministry) के भी अधीन रहता है। इसी प्रकार गणराज्यीय मन्त्रालय राज्य के

उस प्रशासन का सचालन करता है जो उसको सौंपा जाता है और यह सीधे सघीय गणराज्य (Union Republic) की मन्त्रि-परिषद् के आधीन होता है।

स्वायत्तशासी गणराज्य (Autonomous Republic)—१९३६ के स्टालिन के सविधान ने प्रत्येक राष्ट्रीयता को पूर्ण आश्वासन दिया है कि सभी को विकास और उन्नति के पूर्ण अवसर प्रदान किये जायेंगे। इसी आश्वासन की क्रियान्विति की दिशा में सविधान ने छोटे-छोटे प्रशासनिक एकक स्थापित किये है और ऐसे सभी प्रदेश और क्षेत्र सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ के पूर्ण प्रभुसत्तायुक्त मौलिक अवयवी एकक हैं। स्वायत्तशासी गणराज्य प्रथम अवयवी एकक हैं। ऐसा हो सकता है कि किसी सघीय गणराज्य (Union Republic) की सीमाओ में कुछ स्थानो पर ऐसी राष्ट्रीयताए निवास करती हो जो उक्त सघीय गणराज्य की बहुमत जनसख्या में विभिन्न जाति की हो और उनमे अपने अलग-अलग राष्ट्रीय लक्षण हो। यदि ऐसी राष्ट्रीयताएँ जिनकी गणराज्य में अलग स्थिति स्वीकार करते हुए उन्हें एक मन्त्रालय प्रदान कर दिया गया है, और यदि वे स्वय चाहें कि अपना अलग स्वायत्त शासन स्थापित करें तो उनको अपना स्वायत्तशासी गणराज्य स्थापित करने की आज्ञा प्रदान कर दी जाती है। प्रत्येक नये स्वायत्तशासी गणराज्य का नाम उस राष्ट्रीयता के नाम से सम्बद्ध रहता है जिसने उक्त स्वायत्तशासी गणराज्य की नीव डाली थी। उदाहरणस्वरूप रूस के सोवियट सघात्मक समाजवादी गणराज्य में बारह स्वायत्तशासी गणराज्य हैं और जार्जियन सोवियट समाजवादी गणराज्य (Georgian Republic) में दो स्वायत्तशासी गणराज्य । उजबैक सोवियत समाजवादी गणराज्य (The Uzbek Republic) में और अजरबिजान सोवियत समाजवादी गणराज्य (Azerbaijan Union Republic) मे केवल एक-एक स्वायत्तशासी गणराज्य सम्मिलित हैं।

यद्यपि प्रत्येक स्वायत्तशासी गणराज्य (Autonomous Republic) सघीय गणराज्य का अवयवी अग है फिर भी वह अपनी प्रादेशिक सीमाओ में स्वतन्त्रता और प्रभुस्वायत्तता का उपभोग करता है। इसका यह अर्थ है कि स्वायत्तशासी गणराज्य अपने आन्तरिक मामलो में स्वतन्त्र शासन का उपभोग करते हैं। राज्य की समस्त प्रशासनिक कार्यवाही स्वायत्तशासी गणराज्य की अधिकृत भाषा में ही होती है। प्रत्येक स्वायत्तशासी गणराज्य (Autonomous Republic) अपना अलग सविधान तैयार करता है किन्तु उस सविधान का का उस सघीय गणराज्य (Union Republic) की सर्वोच्च सोवियट द्वारा स्वीकार किया जाना आवश्यक है, जिसके प्रादेशिक अधिकार में उक्त स्वायत्तशासी गणराज्य अवस्थित है। साथ ही स्वायत्तशासी गणराज्य का सविधान सोवियत समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) के सविधान के विरुद्ध नही होना चाहिए और न सघीय गणराज्य (Union Republic) के सविधान के विरुद्ध ही होना चाहिए। स्वायत्तशासी गणराज्य (Autonomous Republic) का शास्त्र और झण्डा वही रहता है जो सघीय गणराज्य का होता

है, उसमें केवल स्वायत्तशासी गणराज्य का नाम और बढा दिया जाता है।

स्वायत्तशासी गणराज्य अपने अधिकार क्षेत्र में अपनी विधियाँ प्रवर्त्तित कर सकता है। किन्तु साथ ही सोवियत समाजवादी गणराज्य सघ (U. S S. R.) और सघीय गणराज्य (Union Republic) दोनो की विधियाँ भी स्वायत्तशासी गणराज्य में प्रभावी रहती हैं। प्रत्येक स्वायत्तशासी गणराज्य के अपने नागरिकता सम्बन्धी नियम हैं। किन्तु प्रत्येक नागरिक स्वायत्तशासी गणराज्य का नागरिक होने के साथ-साथ अपने सघीय गणराज्य (Union Republic) का भी नागरिक है और सोवियत समाजवादी गणराज्य सघ (U. S S R) का भी नागरिक है। इसका अर्थ है कि सोवियट सघ (U S S R) के निवासियो की तिहरी नागरिकता है।

स्वायत्तशासी गणराज्य में प्रशासन का वही ढग है जो सघीय गणराज्य (Union Republic) में पाया जाता है। राज्य की सर्वोच्च शक्ति उक्त स्वायत्तशासी गणराज्य (Autonomous Republic) की सर्वोच्च सोवियट (Supreme Soviet) में निवास करती है। सर्वोच्च सोवियत चार वर्षो के लिये निर्वाचित की जाती है, और यही प्रेजीडियम का निर्वाचन करती और मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministers) की नियुक्ति करती है। स्वायत्तशासी गणराज्य की मन्त्रि-परिषद् के निर्णय और आदेश सघीय गणराज्य की मन्त्रि-परिषद् (Council of Ministrers of its Union Republic) द्वारा निलम्बित किया जा सकता है।

स्वायत्तशासी प्रदेश अथवा जनपद (Autonomous Region)—किसी सघीय गणराज्य के कुछ ऐसे भाग हो सकते हैं जिनमें कुछ हजार के लगभग थोड़े से ही लोग निवास करते हो और जो स्वशासन के इच्छुक हो और इस प्रकार अपना स्पष्ट अस्तित्व चाहते हो। इस प्रकार के स्वेच्छा द्वारा निर्मित सघ को स्वायत्तशासी प्रदेश अथवा जनपद कह सकते हैं और ऐसे जनपद के साथ उस जाति का नाम जुड़ा हुआ रहता है जिसने ऐसे जनपद का निर्माण किया है।

इस प्रकार के स्वायत्तशासी जनपद की सम्पूर्ण राज्य शक्ति सर्वहारावर्ग के प्रतिनिधियो द्वारा निर्मित सोवियट (Soviet of the Working People Deputies) में निवास करती है। सर्वहारावर्ग के प्रतिनिधियो की सोवियट को अपने जनपदीय अधिकार क्षेत्र में स्वशासन का पूर्ण सविधानिक अधिकार है। इसके मुख्य कर्त्तव्य निम्न सार्वजनिक शान्ति और आन्तरिक सुरक्षा विधियो का उचित पालन नागरिकों के मौलिक अधिकारो की रक्षा और जनपदीय अथवा स्थानीय आर्थिक और सास्कृतिक विकास का सचालन। सर्वहारावर्ग के प्रतिनिधियो द्वारा निर्मित सोवियट (Soviet of the Working Peoples Deputies) को यह भी अधिकार है कि वह ऐसी आज्ञप्तियाँ और आदेश निकाल सके जिनको सोवियत समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R.) और सघीय गणराज्य (Union Republic) की विधियों ने स्वीकार किया है और जिन आदेशों के निकालने की आज्ञा दी है।

सर्वहारावर्ग के प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित सोवियट (The Soviet of the

Workıng People's Deputıes) स्वय अपनी कार्यकारी समिति (Executıve Commıttee) चुनती है जिसमें अध्यक्ष (Chaırman), उपाध्यक्ष (Vıce-Chaırman), सेक्रेटरी और सदस्य होते हैं। यह कार्यकारी समिति जनपदीय सोवियट (Regıonal Sovıet) के प्रति उत्तरदायी होती है। इस जनपदीय सोवियट और इसकी कार्यकारी समिति की शक्तियो और अधिकारो का निर्णय सघीय गणराज्य (Unıon Republıc) की सर्वोच्च सोवियट की विशेष आज्ञा के द्वारा होता है। सघीय गणराज्य की मन्त्रि-परिषद् को अधिकार है कि वह जनपदीय कार्यकारी समिति के निर्णयो और आज्ञाओ को निलम्बित कर सकती है।

राष्ट्रीय क्षेत्र (Natıonal Areas)—स्वायत्तशासी जनपद (Autonomous Regıon) का अल्प भाग, राष्ट्रीय क्षेत्र (Natıonal Area) का निर्माण करता है और वह कुछ थोडे से सोवियट लोगो की स्वेच्छा से बनता है। जो राष्ट्रीयता राष्ट्रीय क्षेत्र का निर्माण करती है वह अपने क्षेत्र के आन्तरिक मामलो में स्वतन्त्र एव स्वशासन के अधिकार का उपभोग करती है।

प्रत्येक राष्ट्रीय क्षेत्र (Natıonal Area) की एक क्षेत्रीय सोवियट होती है जो उस क्षेत्र के सर्वहारावर्ग के प्रतिनिधियो के योग से निर्मित होती है और एक कार्यकारी समिति (Executıve Commıttee) होती है। शासन के इन दोनो अगो की शक्तियो का निर्णय एक अध्यादेश (Ordınance) द्वारा निश्चित होता है और वह अध्यादेश द्वारा किया गया निर्णय उस सघीय गणराज्य (Unıon Republıc) की सर्वोच्च सोवियट की स्वीकृति का विषय है, जिसका उक्त राष्ट्रीय क्षेत्र अवयवी भाग है। क्षेत्रीय कार्यकारी समिति (Area Executıve Commıttee) के आदेशो और निर्णयो को सघीय गणराज्य (Unıon Republıc) की मन्त्रि-परिषद रद्द कर सकती है।

अध्याय ७

साम्यवादी दल

(The Communist Party)

प्रेरक एव नियन्त्रक बल (Leading and Directing Force)—साम्यवादी दल नये रूस का प्रेरक बल है। यह तथ्य राजनीतिक रूप से भी और वैधानिक रूप से भी सत्य है कि साम्यवादी दल की स्थिति समस्त सोवियट जीवन में केन्द्रीय है और सर्वाधिकार पूर्ण है। स्टालिन (Stalin) ने कहा था, "हमारे सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (Soviet Union) में सर्वहारावर्ग का अधिनायकवाद है और हमारे देश मे कोई भी राजनीतिक अथवा सगठन सम्बन्धी प्रश्न सोवियट अथवा अन्य प्रशासनिक अवयव उस समय तक निर्णय नही करते जब तक कि साम्यवादी दल का तदर्थ आदेश प्राप्त न हो जाय, इसलिये मानना पडेगा कि हमारी शासन-व्यवस्था में साम्यवादी दल एक प्रेरक बल है।" सोवियट सविधान केवल एक ही राजनीतिक दल को मान्यता देता है और वह है साम्यवादी दल। स्टालिन के सविधान का अनुच्छेद १२६ आदेश देता है कि कर्मकार वर्ग के श्रमिक वर्ग और राजनीतिक चेतना-युक्त नागरिकों ने सगठित होकर सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (Soviet Union) की बोल्शेविक पार्टी अथवा साम्यवादी दल की स्थापना की है और यह श्रमिक जनता के सब प्रकार के सगठनों का, उनकी समाजवादी पद्धति की शक्ति बढाने और विकसित करने की लडाई में सार्वजनिक क्षेत्र में और राज्य के क्षेत्र मे भी अगुआ है। सोवियट सविधान के अनुच्छेद १४१ मे केवल साम्यवादी दल ही ऐसा दल माना गया है जो सोवियट निर्वाचनों मे भाग ले सकता है। सविधान के इन आदेशों ने साम्यवादी दल को सोवियट शासन में अधिकारपूर्ण स्थिति प्रदान की है और अन्य सभी सगठनों का तो इसको अगुआ और नेता मान लिया गया है। इसमें सन्देह नही कि सविधान ने इस प्रकार के अन्य सगठनों और समाजों की भी आज्ञा दी है जैसे ट्रेड यूनियन, सहकारी सघ, युवक सगठन, सांस्कृतिक, कला सम्बन्धी एव वैज्ञानिक सगठन आदि, किन्तु इस प्रकार के समस्त सगठन और समाज अराजनीतिक सगठन हैं। इस प्रकार के सगठनों का उद्देश्य यह होता है कि सार्वजनिक कल्याण की वृद्धि हो, और देश समाजवादी पथ से गुजरता हुआ निरन्तर उन्नति की ओर अग्रसर होता रहे। साम्यवादी दल समस्त सर्वहारावर्ग का सम्मिलित मोर्चा है जिसमें अत्यधिक राजनीतिक चेतनायुक्त नागरिक सम्मिलित हैं, अतः स्वाभाविक यह दल उन सभी सांस्कृतिक एव विज्ञान कला आदि सम्बन्धी सगठनों पर भी निश्चित प्रभाव डालता है और इस दल के सदस्य ही उन समस्त सगठनों को भी दिशा प्रदान करते हैं।

सोवियट रूस के साम्यवादी दल के सम्बन्ध में लिखते हुए एण्ड्रे विशिस्की (Andrei Vyshinsky) ने कहा है, "सर्वहारा वर्ग के अधिनायकवाद की स्थापना की दृष्टि से सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ को साम्यवादी दल की आर्थिक, सामाजिक और सास्कृतिक क्षेत्रो में नियन्त्रक स्थिति ही राजनीतिक आधार प्रदान करती है।" साम्यवादी दल का सोवियट व्यवस्था पर कितना नेतृत्व और प्रभाव है, इसको दल के आज्ञापत्र (Charter) की प्रस्तावना से समझा जा सकता है जिसको १८वीं कांग्रेस ने सशोधित किया और २० मार्च १६३६ को स्वीकृत किया। प्रस्तावना इस प्रकार है, "सोवियट सघ (Soviet Union or Bolsheviks) का साम्यवादी दल, ससार-व्यापी साम्यवादी आन्दोलन सगठन (Communist International) का भाग होने के नाते अखिल सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S. R) का सगठित सेनामुख अथवा मुख्य मोर्चा (Organized vanguard) है और यह सब से श्रेष्ठ वर्ग-सगठन है। अपने क्रियाकलापो में साम्यवादी दल मार्क्सवाद और लेनिनवाद के सिद्धान्तो का अनुसरण करता है। सर्वहारावर्ग के अधिनायकवाद को सुदृढ बनाने के लिये, समाजवादी व्यवस्था को सुदृढ और विकासोन्मुख बनाने के लिये और साम्यवाद को विजयी करने के लिये साम्यवादी दल समस्त श्रमिक वर्ग, कृषक वर्ग, बौद्धिक वर्ग तथा सम्पूर्ण सोवियट समाज का नेतृत्व करता है। साम्यवादी दल ही सार्वजनिक क्षेत्र में और राज्यीय क्षेत्र में सर्वहारावर्ग के समस्त सगठनो का नियन्त्रक केन्द्रीय सगठन है और इसी से आशा की जाती है कि यह साम्यवादी समाज की सफलतापूर्वक स्थापना करेगा।"

सोवियट रूस में साम्यवादी दल के इतने सर्वव्यापी अधिकार और कार्यकलाप हैं कि कभी-कभी सोवियट शासन और साम्यवादी दल में भेद करना कठिन हो जाता है। साम्यवादी दल ही एकमात्र राजनीतिक दल के रूप में और वैधानिक रूप से स्वीकृत दल है और यह माना जाता है कि यही दल सोवियट समाज का नेतृत्व करके सर्वहारावर्ग का अधिनायकवाद स्थापित करायेगा और यही दल वास्तविक समाजवादी व्यवस्था का विकास करावेगा, इसलिये यह दल शक्ति का अन्तिम स्रोत है। शासन के नीति-सम्बन्धी समस्त निर्णय साम्यवादी दल के सम्मेलनो में, समितियो में, ब्यूरो (Bureau) में और विशेषकर राजनीतिक ब्यूरो (Polit Bureau) में किये जाते हैं। शासन तो उक्त निर्णयो को केवल स्वीकार करता है। लेनिन ने कहा था, "स्वय श्रमिक लोग शासन करना नही जानते, अत उनको वर्षों तक इस कला का प्रशिक्षण लेना होगा, इसलिये कुशल शासन करने के लिये अनेको क्रान्तिकारियो अथवा अभ्यास-वृद्ध साम्यवादियो की आवश्यकता होगी। हमारे पास साम्यवादी दल है जो इस प्रकार की हमारी आवश्यकताओ की पूर्ति करेगा।" "सोवियट शासन और साम्यवादी दल में नीति सम्बन्धी मतभेद नही हो सकते क्योकि दोनो की सदस्यता, विशेषकर उच्च स्तरो में एक है और वे अलग अलग नही किये जा सकते। साम्यवादी दल की सदस्यता प्राप्त किये विना किसी को कोई महत्त्वपूर्ण पद प्राप्त

नहीं हो सकता। अत्यन्त कठिन परीक्षा के बाद ही कोई नया सदस्य बनाया जाता है और दल की सदस्यता प्राप्त करने के बाद भी उसको दल की नीति अपनानी होगी अन्यथा उसको दल से बहिष्कृत किया जा सकता है। साम्यवादी दल एक सम्मिलित किन्तु क्रान्तिकारी संगठन है, इसके सभी सदस्य एक कठोर अनुशासन में दबे हुए हैं और यह अनुशासन सभी सदस्यों के ऊपर समानरूप से लागू है।' साम्यवादी दल के घोषणा-पत्र की प्रस्तावना में उक्त विचार व्यक्त किए गये हैं और उसी प्रस्तावना में आगे कहा गया है कि "साम्यवादी दल इसलिये सुदृढ़ है क्योंकि इस दल में समैक्य है, सब की समान इच्छा है और सब मिलकर कार्य करते हैं, इसलिये इस दल के पुरोगम (Programme) और इस दल के नियमों में रद्दोबदल नहीं होती; न कभी दल में अनुशासनीय फूट पड़ती है न कभी आपस में गुटबन्दी होती है और न कोई दुरंगी चाल (Double Dealings) चलता है।" दल ऐसे व्यक्तियों को निकाल देता है जो या तो दल के पुरोगम (Programme) को भंग करने का प्रयत्न करते हैं या उसके नियमों अथवा अनुशासन को भंग करते हैं। संक्षेप में कहा जा सकता है कि साम्यवादी दल शासन के हृदय में बसने वाला शासन है और सोवियत समाजवादी गणराज्य संघ (U. S. S. R.) में स्वाकृष्टि-केन्द्र (Centre of Gravitation) है। सर्वहारावर्ग का अधिनायकवाद, वास्तव में साम्यवादी दल का ही अधिनायकवाद है। सेमुएल हार्पर (Samuel Harper) ने लिखा है, "इस प्रकार जहाँ सरकारी तौर पर यह स्वीकार किया जाता है कि शासन ही विधियाँ स्वीकार करता है, शासन ही राज्य कार्य चलाता है, वही उद्योगों का प्रबन्ध करता है, वही सेना का संचालन और नियन्त्रण करता है, दल नहीं; किन्तु अनधिकृत अथवा गैरसरकारी तौर पर दल ही यह सब कार्य करता है और किन्हीं अर्थों में साम्यवादी दल ही इन सब कार्यों के लिये उत्तरदायी है।"

एकाधिकारपूर्ण कठोर दल और प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद (The Monolithic Party and Democratic Centralism)—साम्यवादी दल समस्त सोवियट संघ में एकमात्र एक रूप और पूर्ण केन्द्रीकृत संगठन है जो अत्यन्त कठोर एवं एकाधिकारपूर्ण भी है। समस्त दल में केवल 'एक इच्छा और एक संचालन' (One will and one direction) के द्वारा सारा कार्य चलता है। दल चाहता है कि उसके सभी सदस्य सदैव एक मत हों और सब कठोरतम अनुशासन के आधीन कार्य करें और दल यह भी चाहता है कि उसके सभी निर्णय नियमित ढंग से ठीक-ठीक समय पर बिना किसी हिचकिचाहट के क्रियान्वित किये जायें। दल में किसी प्रकार की गुटबन्दी सहन नहीं की जाती; और ऐसे सदस्य शीघ्र निकाल दिये जाते हैं जिनकी ओर से ऐसा सन्देह किया जाता है कि वे सर्वहारावर्गीय अनुशासन का पालन ठीक से नहीं कर रहे हैं। इसलिए साम्यवादी दल मार्क्स एवं लेनिन (Marxist-Leninist) के सिद्धान्तों के समर्थक लोगों का सुदृढ़ एवं पूर्ण संगठन है। साम्यवादी दल के १९३४ और

१९३९ के नियमो को देखने से पता लगता है कि वे दल की सयुक्तता, 'समान इच्छा और समान कार्यवाही' प्रदर्शित करते हैं। १७ जनवरी, १९५२ को साम्यवादी दल की कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पास करके यह इच्छा व्यक्त की कि "दल के कठोर एव एकाधिकारपूर्ण (Monolithism) होने की आवश्यकता है।" और वास्तव में यह दल कठोर है। ज़िनोवीयर (Zinovier) के अनुसार, "हमको दल में ऐसी कठोरता की आवश्यकता है जो आधुनिक कठोरता से भी हज़ार गुनी अधिक हो। हम इतनी छूट नही दे सकते कि दल के सदस्यो को काम करने की छूट हो अथवा पार्टीबन्दी बनाने की छूट हो।"

किन्तु साथ ही साम्यवादी दल को इम बात पर अभिमान है कि दल 'प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद' का उदाहरण है। इस सिद्धान्त के विकास के सम्वन्ध में बडा उग्र मतभेद रहा। साम्यवादी दल के कुछ सदस्य चाहते थे कि केन्द्रीय दल स्थानीय दलीय सगठनों को अधिकतम स्वायत्तता प्रदान करे और सिवाय उनसे साधारण विकास और उन्नति मम्बन्धी रिपोर्ट मांगने के, उनके नैतिक कार्यों में हस्तक्षेप नही करना चाहिए। इस विचार के विरुद्ध १९०३ में लेनिन (Lenin) ने यह विचार व्यक्त किया कि इस प्रकार की स्वतन्त्रता और स्वायत्तता दे देने से दल के हित स्थानीय मात्र रह जायेंगे। इसलिये उसने दृढता के साथ बल देकर कहा कि साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति को स्थानीय मामलों में और यदि आवश्यकता पडे तो स्थानीय हितो के विरुद्ध भी हस्तक्षेप करना चाहिए, यदि ऐसा करने से दल के उद्देश्य सफल होते हो अथवा यदि ऐसा हस्तक्षेप दल के हितो के लिये आवश्यक और लाभदायक जान पडे।

लेनिन (Lenin) के विचार स्वीकार कर लिये गये और आजकल दल की केन्द्रीय प्रवृत्ति को स्पष्ट मान्यता दी जा रही है। आजकल प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद (Democratic Centralism) का यह अर्थ लिया जाता है कि दल के निम्न स्तर पर सार्वजनीन सदस्यता प्रदान की जाय और शीर्ष पर समस्त सचालन एक केन्द्रीय समिति को सौंप दिया जाय। मार्च १९३९ में दल की १८वीं कांग्रेस ने जो दल का घोषणा-पत्र (Charter) स्वीकार किया वह इस प्रकार है —

(१) शीर्ष स्थान से नीचे तक दल के नेतृत्व सम्बन्धी निकायो का निर्वाचन ;

(२) समय-समय पर दल के उपकरण अथवा निकाय अपने दलीय सगठनों को प्रतिवेदन प्रस्तुत करते रहे ,

(३) दल में कठोर अनुशासन और अल्प मत का बहुमत की इच्छा के सामने पूर्ण आत्मसमर्पण,

(४) उच्चदलीय उपकरणो के निर्णयो की निम्न निकायो अथवा दलीय उपकरणो (Lower bodies) के ऊपर आवश्यक बाध्यता।

'प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद' (Democratic Centralism) का वास्तविक एवं अधिकृत सिद्धान्त यह है कि दलीय उपकरणो में वाद-विवाद की स्वतन्त्रता उस समय

तक तो है जब तक कि नीति सम्बन्धी निर्णय न हो, किन्तु एक बार जहां नीति निर्धारित हुई, उसके बाद सभी को पूर्ण रूप से उक्त नीति के अनुसार कार्य करना होगा। दलीय आज्ञापत्र अथवा चार्टर (Charter) में कहा गया है, "दलीय उपकरणों में अथवा समस्त दलीय सगठन मे दल की नीति से सम्बन्धित प्रश्नो पर स्वतन्त्र विचार-विनिमय हो सकता है और यह प्रत्येक दलीय सदस्य का अटल अधिकार है और यह दल की प्रजातन्त्रीय भावना का तर्कपूर्ण फल है।" इसका यह अर्थ है कि नीति सम्बन्धी निर्णय दल का शीर्ष करता है और समस्त दलीय शक्ति शीर्ष के पास केन्द्रित है। इसी को केन्द्रवाद कहते है। साम्यवादी दल की राजनीतिक ब्यूरो (The Politburo) ही समस्त दल की नीति का निर्माण करती है और इस प्रकार वही शासन की नीति का भी निर्माण करती है। किन्तु पोलिट ब्यूरो अथवा राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) में नीति निर्देष्टा कौन है, यह बताना कठिन है। सम्भव है कि राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) में उन्मुक्त वाद-विवाद होता हो, और तब बहुमत की राय से नीति निर्मित होती हो, अथवा दल का अत्यन्त प्रभावशाली नेता ही नीति निर्मित करता हो। १९३९ से लेकर आगे उसकी मृत्युपर्यन्त सभी लोग स्टालिन (Stalin) की अथक प्रशसा और चापलूसी करते रहते थे चाहे कैसा भी अवसर हो और बातचीत का विषय कुछ भी हो। ज्हैन्डोव (Zhandov) की मृत्यु अगस्त १९४८ में हुई। उससे पूर्व उसको स्टालिन (Stalin) का सम्भावित उत्तराधिकारी समझा जाता था। एक बार उसने असाधारण अवस्था में एक वक्तता करते हुए कह डाला, "हमारा स्टालिन महान् चिरजीवी हो! स्टालिन समस्त बॉल्शेविक दल का, समस्त सोवियट सर्वहारावर्ग का, समस्त उन्नतिशील और प्रगतिशील मनुष्यमात्र का एक अपूर्व बुद्धि वाला, दिमाग और हृदय है।" ख्रुश्चेव (Khruschev) ने भी, जो साम्यवादी दल की राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) का सदस्य था और जो इस समय सेक्रेटरी जनरल है स्टालिन (Stalin) को "समस्त मनुष्य जाति का सर्वश्रेष्ठ एव अपूर्व बुद्धि वाला मनुष्य बताया।" बेरिया (Beria) ने भी, जो राजनीतिक पुलिस दल का अध्यक्ष था और जिस पर बाद में राजद्रोह का अपराध लगाया गया और जिसको २३ दिसम्बर १९५३[1] को गोली मार दी गई। स्टालिन (Stalin) को मनुष्य जाति का सर्वश्रेष्ठ और अपूर्व बुद्धि वाला मनुष्य कहा था। इसलिये स्टालिन (Stalin) के जीवन-काल में वास्तविक नीति निर्माता वही रहा होगा न कि राजनीतिक ब्यूरो (Politburo)। इतने महत्त्वपूर्ण और प्रभावपूर्ण व्यक्ति के सम्मुख न तो कोई स्वतन्त्रतापूर्वक वाद-विवाद कर सकता है और न आलोचना ही की जा सकती है।

किन्तु दल में इतनी प्रजातन्त्रीय भावना अवश्य है कि व्यावहारिक वाद-विवाद की आज्ञा है, किन्तु वाद-विवाद ऐसा होना चाहिए जो एकता पैदा करे। इस प्रकार

---

[1] स्टालिन (Slalin) की मृत्यु ५ मार्च १९५३ को हुई थी।

लेनिन (Lenin) ने १६०६ मे लिखा था कि "प्रजातन्त्रीय केन्द्रवाद में आलोचना की छूट उस सीमा तक दी जा सकती है जब तक कि उसके द्वारा एकता मे बाधा न पडे, और ऐसी किसी भी आलोचना को सहन नही किया जायगा जो साम्यवादी दल द्वारा निर्णीत नीति अथवा निर्णयो की क्रियान्विति को या तो नष्ट करती हो अथवा कठिन बनाती हो।" दलीय नियमो के अनुसार किसी भी सदस्य को पूरी छूट है कि वह जो कुछ उचित समझे कह सकता है किन्तु वह अपने विचारो को किस रीति से व्यक्त करेगा इस पर कतिपय मर्यादाएँ लगी हुई हैं। ऐसी व्यवस्था है कि अखिल सघीय स्तर पर दल की नीति पर उन्मुक्त विचार विनिमय हो सकता है, किन्तु यह विचार विनिमय और वाद-विवाद इस प्रकार होना चाहिए कि दल का अल्प मत विशाल बहुमत के ऊपर छा जाने का प्रयत्न न करे, अथवा यह वाद-विवाद दल मे गुटबन्दी को प्रोत्साहन न दे। यदि कोई कभी आलोचक बनने का साहस करता है तो उसे अपने विचारो के पक्ष में समर्थक बनाने का प्रयत्न कभी नही करना चाहिए, अथवा कभी कोई ऐसा कार्य नही करना चाहिए जिससे उस पर गुटबन्दी प्रोत्साहित करने का अभियोग लगाया जा सके क्योकि यह अनुशासन सम्बन्धी गुरुतर अपराध है और दलीय एकता के सिद्धान्त के विरुद्ध भी भारी अपराध है। वाद-विवाद मे कभी नीति के ऊपर प्रत्यक्ष आक्रमण नही करना चाहिए। जैसा कि हम देख चुके हैं, दल के उच्च स्तर नीति निर्धारित करते हैं और निम्न स्तर उसका पालन करते हैं, और इस प्रकार नीति का वास्तविक निर्माण राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) ही करती है। दलीय नीति पर आक्रमण करना, सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R) में घोर अपराध समझा जाता है और वह दलीय अनुशासन के अतिक्रमण के समान अपराध माना जाता है।

दलीय अनुशासन की यह भी कठोर माँग है कि दल के अन्दर पूर्ण प्रजातन्त्रात्मक अनुशासन रहे। साम्यवादी दल की सदस्यता सभी के लिए उन्मुक्त और लभ्य नही है। केवल उन्ही लोगो को दल की सहायता के लिये स्वीकार किया जा सकता है जो दल के कार्यक्रम में विश्वास करते हो, जो दल के निर्णयो को स्वीकार करने और दल का चदा[1] देने को तैयार हो। दल के आज्ञापत्र (Party charter) की प्रस्तावना में, दल के कार्य के सम्बन्ध में कहा गया है, "दल अपने सदस्यो से आशा करता है कि सभी लोग त्याग और सेवा-भाव से क्रियाशील सहयोग देंगे तथा दल के प्रोग्राम और नियमो के अनुसार कार्य करेंगे तथा दल के और उसकी तमाम सम्बद्ध शाखाओ के निर्णयों को क्रियान्वित करेंगे, साथ ही दल में एकता और सहयोग वढाने का प्रयत्न करेंगे और सोवियट समाजवादी गणराज्य सघ (U S S R)

---

[1] दल का चदा वास्तव में अधिक है। उदाहरणस्वरूप सदस्यता का चदा मासिक आय पर सदस्यों और प्रत्याशी सदस्यों को इस प्रकार देना पड़ता है—

३०१ रूबल से लेकर ५०० रूबल मासिक आय पर २ प्रतिशत चदा, और ५०० रूबल से ऊपर आय वालों को ३ प्रतिशत चदा।

के सर्वहारावर्ग के भ्रातृत्वपूर्ण सम्बन्ध ससार के सभी देशो के सर्वहारावर्ग के साथ मैत्रीपूर्ण रखने का प्रयत्न करेंगे।"

दल के अन्दर पूर्ण प्रजातन्त्रात्मक अनुशासन में दो बातें और आती हैं—(१) दल की सभी शाखाओ (Organs of the Party) का निर्वाचन होता है। और (२) दल की प्रत्येक छोटी शाखा अपनी उस उच्च शाखा के प्रति उत्तरदायी है जिसने उस शाखा का निर्वाचन किया था। इसमें सन्देह नही कि दल की सभी शाखाएं प्रतिनिधिक एवं निर्वाचित निकाय है। किन्तु समस्त देश के राजनीतिक जीवन में जहाँ कही भी निर्वाचन होते हैं वे औपचारिकतामात्र हैं। सोवियट सघ (Soviet Russia) के लम्बे इतिहास में एक भी उदाहरण ऐसा नही मिलेगा जब किसी पद के लिये दो प्रतिद्वन्द्वी प्रत्याशियो में टक्कर हुई हो। औपचारिक चुनावो के पहले प्रतिद्वन्द्वी प्रत्याशियो की योग्यताओ पर विचार किया जा सकता है किन्तु अन्तिम चुनाव-सूची में प्रत्येक पद के लिए केवल एक ही प्रत्याशी रह जाता है। इसके अतिरिक्त किसी प्रत्याशी की किसी पद के लिए योग्यता पर निम्न स्तर पर विचार कर लिया जा चुकता है। जितने ही उच्च स्तर पर विचार किया जायगा, और जितना ही उच्च पद होगा जिसके लिये विचार किया जायगा, उतनी ही दल के उच्च नेता की बात महत्त्वपूर्ण मानी जायगी जिसको कभी भी टाला नही जाता।

समस्त दलीय शाखाओ (Party bodies) का दलीय संगठनो के प्रति उत्तरदायित्व केवल सैद्धान्तिक है। दलीय सम्मेलनो और दलीय महासभाओ के सम्मेलन अब अनियमित ढग से और लम्बे-लम्बे समय के बाद होते हैं यद्यपि दल के निश्चित आदेश हैं और नियम हैं कि दल के सम्मेलन निश्चित कालान्तरो में अवश्य होने चाहिएँ। न यही सम्भव है कि दल का अथवा उसकी किसी समिति का कोई अधिकारी अपने पद से आजकल की स्थिति में हटाया जा सके, हाँ यदि दल के शीर्ष स्थानीय नेता ही ऐसा चाहें तभी सम्भव हो सकता है। कांग्रेस तो यदि अधिवेशन करती है तो केवल दलीय नेताओ की इच्छाओ और निर्णयो को स्वीकार कर लेती है किन्तु १९३९ से तो कांग्रेस का अधिवेशन ही नहीं हुआ है।

इस प्रकार व्यवहार में दल की एकता और दल के कठोर अनुशासन से दो फल प्राप्त हुए हैं—(१) सर्वसाधारण का महत्त्वपूर्ण नीतिविषयक निर्णयो पर कोई प्रभाव नही है; और (२) नीति निर्धारण सम्बन्धी सारा उत्तरदायित्व कुछ छोटे से स्थायी वर्ग को दे दिया गया है जिसको राजनीतिक ब्यूरो (Politburo) कहते हैं। १९२४ में स्टालिन (Stalin) का जो ट्राट्स्की (Trotsky) के साथ सघर्ष चल रहा था उसमें स्टालिन ने एकाधिकारपूर्ण कठोर एकल वर्गीय दल (Monolithic Party) का विचार व्यक्त किया था, वह यही पोलिट ब्यूरो (Polit buro) द्वारा संचालित दल का विचार था, और आज भी दल का यह निर्देशक सिद्धान्त है। यहाँ तक कि लेनिन (Lenin) का यह विचार भी कि "दल के सदस्य दल की नीति और दल के विचारो की आलोचना कर सकेंगे" सत्य नही है। स्टालिन

Stalin) ने रूसी साम्यवादी दल की बारहवी महासभा में लूटोविनोव (Lutovinov) ो दलीलों का जो जवाब दिया था उससे सिद्ध हो जाता है कि लेनिन का उपर्युक्त थन सत्य नही निकला। स्टालिन (Stalin) ने कहा, "लूटोविनोव (Lutovinov) ाहते हैं कि दल में सच्चा प्रजातन्त्र पैदा हो। वे चाहते हैं कि यदि सब प्रश्न नही ो कम-से-कम अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न प्रत्येक सेल (Cell) अथवा प्रारम्भिक दल पकरण (Primary Party Organ) में निम्न स्तर से लेकर शीर्ष तक चारार्थ रखे जायें और वे यह भी चाहते हैं कि प्रत्येक प्रश्न पर समस्त दल प्रत्येक तर पर विचार करे। किन्तु साथियो! इस प्रकार की व्यवस्था करने से हमारा दल वल वाद-विवाद करने वाला एक क्लब अथवा गोष्ठीमात्र रह जायगा, सदैव कवक करता रहेगा किन्तु कभी भी कोई निर्णय न कर सकेगा। किन्तु आवश्यकता स बात की है कि हमारा दल नीति-निर्माता और अधिशासी दल है और दल को नर्णय करने वाला रोल (role) अपनाना चाहिए, क्योंकि हम अथवा हमारा दल त्तावारी दल है।" इस प्रकार दल की आभ्यन्तरिक तथाकथित लोकतन्त्रीय भावना Intra-party democracy) केवल एक ऐसी ही राजनीतिक चाल है (Political nyth) जैसी अनेको अन्य चालें हैं और कठोर एकाधिकारपूर्ण एकल वर्गीय दल Monolithic party) ने सिद्धान्तत और व्यवहारत सोवियट समाजवादी गण-ाज्य सघ (Soviet Union) में शीर्ष स्थानीय महत्त्व (Apex) प्राप्त कर लिया है।

दल की सदस्यता (Membership of the Party)—दलीय अनुशासन और लीय एकता के साथ दो प्रश्न जुडे हुए हैं। वे हैं 'दल का परिमाण' और दलीय दस्यता के ऊपर नियन्त्रण। साम्यवादी दल उन्मुक्त दल नही है अपितु नये तत्त्वो से नी हुई एक बन्द और तग-दिल सभा या समाज (Closed Society) है। इसको ान-बूझ कर छोटा दल रहने दिया गया है ताकि सभी सदस्यो का नैतिक स्तर उच्च बना रहे और सभी लोगो में कठोर अनुशासनीय भावना रहे। बल देकर कहा जाता है कि दल की मुख्य शक्ति एकता और अनुशासन-पालन में है न कि बहुसंख्यक सदस्यो में। दल प्रत्येक सदस्य के ऊपर दबाव डालता है कि वह प्रति दूसरे सदस्यो के सम्मुख उदाहरण उपस्थित करे, अपने काम के क्षेत्र में श्रेष्ठतम उत्पादन का उदाहरण उपस्थित करे, अपने व्यवसाय में पूर्ण निपुणता प्रदर्शित करे, अपनी योग्यताओ को निरन्तर बढावे, निरन्तर ज्ञानवर्द्धन की ओर अग्रसर रहे, अनुशासनहीन कभी न हो और राज्य की विधियो और आज्ञाओ का सदैव पालन करता रहे। सक्षेप में प्रत्येक सदस्य से यह आशा की जाती है कि उसका सार्वजनिक एव व्यक्तिगत चरित्र श्रेष्ठ हो। ऐसी श्रेष्ठ योग्यता के व्यक्ति, जिनमें समाजवादी समाज के निर्माण की लगन है, प्रारम्भ में भी कम थे और इस समय भी ऐसे व्यक्ति कम ही हैं, इसलिये सदैव यही विश्वास किया गया है कि केवल ऐसे थोडे से व्यक्ति ही दल की सदस्यता में लिए जायें जिनमें सेवा-भाव और कर्त्तृत्व-भाव कूट-कूट कर भरा हो। इसलिये

१६२४ में स्टालिन (Stalin) ने कहा था, "हर एक आदमी के वस की वात नही है कि वह साम्यवादी दल का सदस्य हो जाय। हर एक आदमी के वस की यह वात नही है कि वह उन सव कठिनाइयो और मुसीवतो के तूफानो को सहन कर ले जाय जो इस दल के सदस्यों को पार करने पडते हैं। केवल श्रमिक वर्ग के पुत्र ही, कठिनाइयो और आवश्यकताओ के लाडले ही, अकथनीय कष्ट सहन करने वालो के वच्चे ही, और अपार परिश्रमशील वर्ग ही ऐसे दल के सदस्य होने की क्षमता रखते हैं।"

इन कारणो से दल की सदस्यता आसानी से नही मिलती। नियम रहे हैं कि नये सदस्य वनने से पूर्व उनके प्रार्थना-पत्र पर दल के पुराने सदस्य की सिफारिश होनी चाहिए कि नया सदस्यता-प्रत्याशी अच्छी योग्यता का व्यक्ति प्रमाणित किया जाता है। प्रत्येक सदस्य के प्रार्थना-पत्र पर कितनी सिफारिशें हो, यह निश्चित नही रहा है। १६३६ से पूर्व प्राथियो के प्रार्थना-पत्रो को कई श्रेणियो में रखते थे। ये श्रेणियां इस आधार पर निर्मित की जाती थीं कि कौन सदस्यता-प्रत्याशी दल के सिद्धान्तो के प्रति कहाँ तक वफादार रहेगा। १६३६ में सदस्यता के सम्वन्ध में सर्वत्र समान नियम प्रभावी हो गये और सव रुकावटें समाप्त कर दी गईं। सभी सदस्यता प्रत्याशियो के लिये यह आवश्यक है कि उनके सदस्यता प्रार्थना-पत्र पर कम-से-कम तीन वर्ष पुराने ऐसे तीन सदस्य सिफारिश करें जो प्रत्याशी को कम-से-कम एक वर्ष से अवश्य जानते हो। प्रवेश प्राप्त करने के वाद एक वर्ष की प्रत्याशिता (Candidacy) प्राप्त हो जाती है और इस एक वर्ष के काल में प्रत्याशी-सदस्य को दल का इतिहास, दल की नीति और इसके कार्य करने के ढग आदि से अवगत होना पडता है और यह उन सव कार्यो को करता है जो दलीय उपकरण उसे करने को देते हैं। जो प्रत्याशी परीक्षाओं में पास ठहरते हैं, उनको प्रारम्भिक दलीय उपकरण (Primary Party Organization) की सामान्य मीटिंग (General meeting) के निर्णय से पूर्ण सदस्यता प्राप्त हो जाती है। किन्तु यह आवश्यक होता है कि प्रारम्भिक दलीय उपकरण का निर्णय या तो जिला समिति या नगर समिति द्वारा स्वीकृत कर लिया जाय।

युद्ध-काल में नये सदस्यो का साम्यवादी दल में प्रवेश सरल था। इसका कारण यह था कि युद्ध में दल के अनेको सदस्य काम आ गए। दल के सदस्यो से भी आशा की जाती थी कि वे त्याग और वीरता की भावना का परिचय दें और जिन लोगों ने देश की रक्षार्थ वीरतापूर्ण सेवा की उनको उन्मुक्त रूप से दलीय सदस्यता में प्रवेश मिला। १६४७ में दल के सेक्रेटरी जार्जी मैलेन्कोव (Georgi Malenkov) ने कहा था कि ६३,००,००० सदस्यो में से आधे सदस्य या तो युद्ध-काल में या युद्ध के वाद वने हैं। सोवियट सघ (U S S R) की समस्त जनसख्या की तीन प्रतिशत जनसख्या साम्यवादी दल की सदस्य है और यही सारे दल की जनसख्या है।

यह निरीक्षण करते रहने के लिये कि सभी सदस्य, दल के कार्यक्रम के प्रति वफादार रहे और दल के निर्णयो की ठीक-ठीक क्रियान्विति करें, समय-समय पर प्रत्येक सदस्य की गतिविधियो और कार्य-कलापो के सम्वन्ध में पुनरीक्षण और

पर्यवेक्षण होता रहता है। इस प्रकार दल में से बहुत से सदस्य निकाले भी जाते रहते हैं। कहा जाता है कि १९२१ और १९२२ मे दल के चौथाई से अधिक सदस्य निकाल दिये गए थे। १९२८ से १९२९ के काल में और पुन १९३३ से १९३८ के काल में बहुत भारी सख्या मे दल के सदस्य दल से निकाल दिये गए, और १९२९ से लेकर १९३३ तक के काल मे कुछ कम सख्या में सदस्य निकाले गए। केवल यह डर कि समय-समय पर दल में से अवाछित सदस्यो की छंटनी की जाती है, पर्याप्त है और साधारण सदस्य को चौकन्ना रखती है और वह अपने उत्तरदायित्वो और अनुशासन के प्रति जागरूक रहता है।

साम्यवादी युवक सगठन (Youth Organizations)—साम्यवादी दल के नियमित सवर्ग (Cadre) के अतिरिक्त कुछ अन्य अतिरिक्त वर्ग भी हैं जिनमें साम्यवादी युवक सगठन (Youth Organization) मुख्य हैं।

ये युवक सगठन तीन प्रकार के है—कॉमसोमॉल (Komsomols), यग पायनियर्स (Young Pioneers) और लिटिल अक्टूबरिस्ट्स (Little Octoborists)। ये सगठन न केवल साम्यवादी दल की छत्रछाया में काम करते हैं और उसके सिद्धान्तो का प्रचार करते हैं अपितु उनका मुख्य काम बालको तथा किशोर युवको और युवतियो को साम्यवादी विचारधारा में राजनीतिक कार्य करने के योग्य प्रशिक्षित करना होता है। साम्यवादी दल का मुख्य ध्यान युवको और किशोरो की ओर केन्द्रित है ताकि इन किशोर वयस्को को सर्वहारावर्गीय नैतिकता से पूरी तरह अवगत करा दिया जाय। १५ वर्ष से लेकर २० वर्ष तक की आयु के युवक कॉमसोमॉल (Komsomols) अथवा अखिल सघीय लेनिनवादी एव साम्यवादी युवक सघ (All Union Leninist Communist League of Youth) में भर्ती हो सकते हैं। कॉमसोमॉल (Komsomols) अखिल सघीय लेनिनवादी साम्यवादी युवक सघ का रूसी भाषी सक्षिप्त रूप है। सरकारी तौर पर इसको सोवियट सघ के साम्यवादी दल का सहकारी सदस्य-दल और उसका आरक्षित सदस्य-दल (The Assistant of the Communist Party of the Soviet Union 'Bolsheviks' and its reserve) कहा जाता है। १९५१ में इस सगठन की सदस्य सख्या १,२०,००,००० थी और समय-समय पर कॉमसोमॉल (Komsomol) की व्यवस्था निम्न प्रकार के विशेष कार्यों के लिये की जाती है १९३० के आस-पास सामूहिक खेती के कार्यों में रुचि लेने के लिये, सुदूर पूर्व में नये नगर के निर्माण के लिये, युद्ध से पूर्व देश के रक्षा साधनो को सुदृढ बनाने के उद्देश्य से और विज्ञान तथा व्यावसायिक शिक्षा में प्रगति और जोश पैदा करने के लिये जैसा कि आजकल होता है। कॉमसोमॉलो का मुख्य उद्देश्य यह है कि देश के युवको को साम्यवादी आदर्शों में प्रशिक्षित किया जाय और उनसे दल के कार्यक्रम में सहयोग प्राप्त किया जाय। कॉमसोमॉल (Komsomol) ही वह वर्ग है जिससे भविष्य में दल के सदस्य भर्ती किये जायेंगे।

१० वर्ष से लेकर १६ वर्षों तक के युवक और युवतियाँ पायनियर्स (Pioneers) कहलाते हैं। पायनियर्स (Pioneers) दल का सगठन प्रथम बार १९२३ में किया गया था। पायनियर्स के लिये १९३२ में यह कार्य सौपा गया था कि वे अपने समाज मे और छोटे बच्चो में विद्याध्ययन में, श्रम-कार्य में, और जातीय सेवा-भाव में समाजवादी दृष्टिकोण अपनावें और इस दृष्टिकोण से समवयस्क बालक और बालिकाओ को प्रभावित करें। पायनियर्स (Pioneers) सगठन में प्रवेश कठिन नही है किन्तु बालक अथवा बालिका को प्रवेश के प्रथम दो मास में विकास और उन्नति के लक्षण प्रकट करने चाहिएं। १९२५ में पायनियर्स (Pioneers) की सख्या १० लाख थी और १९४९ में यह सख्या १ करोड ३० लाख तक पहुँच गई। पायनियर्स को ब्रिगेडो में विभाजित किया जाता है और सब ब्रिगेड (Brigades) कॉमसोमॉल नामक प्रारम्भिक दलीय उपकरणो से सम्बन्धित कर दी जाती हैं। कॉमसोमॉल (Komsomol) उपकरण का एक सदस्य पायनियर ब्रिगेड (Pioneer Brigade) का नेता बना दिया जाता है।

युवक सगठनों मे तृतीय सगठन लिटिल अक्टूबरिस्ट्स (Little Octoberists) का है। आठ और ग्यारह वर्षों के बीच की आयु वाले लडके और लडकियो के लिये इस दल का सगठन किया जाता है। पाँच-पाँच सदस्यो के समुदायो मे इन लिटिल अक्टूबरिस्ट्स (Little Octoberists) को विभाजित कर दिया जाता है और प्रत्येक समुदाय (Link or group) का नेता एक पायनियर (Pioneer) सगठन का सदस्य बना दिया जाता है। पाँच-पाँच सदस्यों के पाँच समुदायो (Links or groups) के ऊपर एक कॉमसोमॉल (Komsomol) को नेता बना दिया जाता है। लिटिल अक्टूबरिस्ट्स (Little Octoberists) को कोई विशेष कर्त्तव्य नही सौंपे जाते। किन्तु इस सगठन के नेता लोग बच्चों में सामुदायिक खेल खिलवाते हैं और उनको छोटे-मोटे कर्त्तव्य दिये जाते हैं और इस प्रकार उनमें साथ-साथ मिलकर काम करने की आदत और उत्तरदायित्व की भावना पैदा की जाती है।

सहयोगी सगठन (Supporting Organizations)—सोवियट नागरिको का अपार बहुमत न तो साम्यवादी दल से सम्बन्ध रखता है और न ऊपर वर्णन किये गये युवक सगठनो से। सोवियत सघ की सम्पूर्ण जनसख्या लगभग २० करोड है। उसमें से अधिक-से-अधिक चार करोड व्यक्ति साम्यवादी दल और अन्य युवक सगठनो से सम्बन्धित हैं, और केवल ६० लाख प्रौढ (Adults) हैं। इसलिये कुछ अन्य सहायक उपकरणो की आवश्यकता है जो दल के कार्यक्रम को सहायता दें। स्टालिन (Stalin) ने बताया था कि श्रमिक सघो (Labour Unions), सहकारी सघो (Cooperatives) और सोवियटों (Soviets) के सहयोग के बिना सर्वहारा-वर्ग का अधिनायकवाद स्थापित नहीं हो सकता। "सर्वहारावर्ग को इन सगठनो के सहयोग की आवश्यकता है क्योंकि बिना इनके क्रियात्मक सहयोग के बोर्जुआवादी व्यवस्था के विरुद्ध सघर्ष में समाजवाद के निर्माण में और अपनी शक्ति के दृढीकरण में सर्वहारावर्ग अन्ततोगत्वा हार जायगा ।" श्रमिक अथवा व्यापार सघों

(Trade Unions) के सहयोग की आवश्यकता पर सविधान ने भी बल दिया है; और श्रमिक सघ उन सगठनो में प्रथम हैं जिनमें लोगो को सम्मिलित होने का अधिकार है। बताया गया है कि श्रमिक सघ एक प्रकार के 'साम्यवाद के शिक्षण केन्द्र' हैं और वे श्रमिक वर्ग के अभ्यासवृद्ध और उन्नत वर्गो में तथा पिछडे हुए वर्गों में कडी का काम करते हैं और इस प्रकार श्रमिक सघ सर्वसाधारण से नेताओ को मिलाते हैं।

इसके अतिरिक्त सहकारी सघ भी हैं। १६३६ के सविधान ने सहकारी सम्पत्ति को समाजवादी सम्पत्ति का ही एक रूप मान लिया है और सोवियट विधि सहकारी सम्पत्ति की उसी प्रकार रक्षा करने के लिये वाध्य है जिस प्रकार कि राज्य की सम्पत्ति की रक्षा करना उसका कर्त्तव्य है।

दल का सगठन
(Party Organization)

प्रारम्भिक दल उपकरण (Primary Party Organs)—साम्यवादी दल का सगठन बहुत अच्छा है। दल की अजेय शक्ति इस बात में है कि इसका सदैव और निरन्तर सर्वसाधारण के साथ निकट सम्पर्क बना रहता है। "यदि कोई दल अपना सर्वसाधारण के साथ का सम्पर्क खो दे या उस सम्पर्क को कमजोर करले तो ऐसा दल अपना समर्थन एव आत्मविश्वास खो वैठता है और वह नष्ट हो जाता है।" साम्यवादी दल की सफलता की यह सार्वजनिक सम्पर्क ही रहस्य है और इसी कारण इसका सगठन सारे देश में जाल की तरह फैला हुआ है और सर्वत्र प्रादेशिक और क्षेत्रीय उपकरण हैं। साम्यवादी दल की उपमा पिरैमिड (Pyramid) से दी जा सकती है और उस पिरैमिड (Pyramid) का आधार प्रारम्भिक दल उपकरण (Primary Party Organs) हैं जिनको पहले मूलभूत एकक 'सेल' (Cell) कहा जाता था। "दल के नियमो के अनुसार प्रारम्भिक दल उपकरणो (Primary Party Organs) की स्थापना कारखानो, वर्कशापो, स्टेट फार्मों, मशीनो और ट्रैक्टरो के कारखानो, कलेक्टिव अथवा सामूहिक फार्मों (Collective Farms) अन्य आर्थिक सगठनो, सेना और नौसेना के रेजीमेण्टो, गाँवो, कार्यालयो और शिक्षण सस्थाओ आदि आदि में, जहाँ कम-से-कम तीन सदस्य हो, की जा सकती है।" यदि तीन से कम दल के सदस्य हो, तो प्रारम्भिक दल उपकरण की स्थापना कॉमसोमॉल (Komsomol) के प्रत्याशी सदस्य और सदस्यगण कर सकते हैं जिसका नेतृत्व उच्चतर दल उपकरण के नेताओ द्वारा होगा। 'प्रवदा' (Pravda) दैनिक समाचार पत्र के अनुसार सारे सोवियट सघ में २,५०,००० दलीय उपकरण (Party Organs) हैं।

दल-उपकरण मुख्य रूप से आन्दोलनकारी और सगठनकारी सगठन हैं। प्रारम्भिक दल उपकरण (Primary Party Organ) सर्वसाधारण में पैठकर दल

के नारे लगाते हैं और उसके निर्णयो को क्रियान्वित करते हैं और भविष्य में होने वाले दल के सदस्यो में राजनीतिक प्रशिक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से नियमित प्रचार करते हैं। सभी मामलो में प्रारम्भिक दल उपकरण (Primary Party Organ) को उच्चतर-दल-उपकरणो के साथ सहयोग करना पडता है। इसको लगातार यह प्रयत्न करना पडता है कि सभी व्यापारो के लिये श्रमिको को एकत्रित करें और उनको उत्तेजित करें ताकि उत्पादन की निश्चित योजना पूर्ण हो और श्रमिकवर्ग में अनुशासन बना रहे। दलीय उपकरणों (Party Organs) की प्रतिष्ठावर्द्धन के हेतु नियम बना दिये गए हैं कि दलीय उपकरणो को अधिकार होगा कि वे किसी व्यापार अथवा वर्कशाप (enterprise) के प्रवन्ध को नियन्त्रित कर सकते हैं। सक्षेप में प्रारम्भिक दल उपकरणो का मुख्य कार्य यह है कि वे देश के आर्थिक और राजनीतिक जीवन में क्रियात्मक भाग लें।

उच्चतर दल उपकरण (Higher Party Organs)—प्रत्येक प्रारम्भिक दल उपकरण एक निर्वाचित व्यूरो या कार्यपालिका समिति (Executive bureau) चुनता है तथा एक सेक्रेटरी चुनता है जो सारा नैत्यिक काम-काज चलाता है। प्रारम्भिक दल उपकरण के ऊपर नगर अथवा जिला दल सम्मेलन (City or District Party Committees) होते हैं जो शहरो और देहातों, दोनो के लिये अलग अलग होते हैं। नगर अथवा जिला दल सम्मेलन 'सेलों' (Cells) अथवा प्रारम्भिक दल उपकरणो द्वारा चुने हुए प्रतिनिधियो से मिलकर बनते हैं। नगर अथवा जिला सम्मेलन अपना व्यूरो अथवा कार्यपालिका समिति एव तीन सेक्रेटरी निर्वाचित करता है। इसका निर्वाचन अपने से अगले उपकरण द्वारा, अर्थात् उस गणराज्य के साम्यवादी दल की जनपदीय, प्रादेशिक अथवा केन्द्रीय समिति द्वारा, जिसमें उक्त नगर अथवा जिला अवस्थित हो, पुष्ट होने पर वैध मान लिया जाता है। नगर अथवा जिला समिति अपने अधिकार-क्षेत्र में प्रारम्भिक दल उपकरणो के कार्य का निरीक्षण करती है और सम्पादकीय मण्डल की नियुक्ति करती है और दल के प्रचार सम्बन्धी पुस्तको के ज्ञापन कार्य का निरीक्षण और सचालन करती है। इसका यह भी कर्त्तव्य है कि ऐसे निर्दल सगठनों जैसे श्रमिक सघ अथवा व्यापार संघ, युवक सगठनो और सहकारी सगठनो आदि के अन्तर्गत दलीय समुदायो के क्रिया-कलापो पर दृष्टि रखे और उनका निरीक्षण और पर्यवेक्षण करे।

नगर अथवा जिला दल सम्मेलनों के ऊपर क्षेत्रीय दल सगठन (Area Party Organizations) हैं जो बडे जनपदो, प्रदेशो और गणराज्यों के उप-विभाग हैं। सम्मेलन (Conference) अथवा कांग्रेस (Congress) का अधिवेशन अठारह महीनो में एक बार होता है और वह एक समिति का निर्वाचन करती है जिसमें कम-से-कम ११ सदस्य होते हैं और दो सेक्रेटरी होते हैं। उसके ऊपर दल के वे सगठन अथवा उपकरण होते हैं जो सारे जनपद या प्रदेश या गणराज्यो में कार्य करते हैं। इस प्रकार के प्रत्येक सगठन में सर्वोच्च सत्ता, दलीय समिति (Party Conference) है

जो प्रति अठारह मास बाद समवेत होती है। यह एक समिति निर्वाचिन करती है और फिर यह समिति एक ब्यूरो समिति (Bureau) का निर्वाचन करती है और साथ ही चार या पाँच सेक्रेटरियो का निर्वाचन करती है। इस निर्वाचित व्यूरो और सेक्रेटरियो का निर्वाचन तभी वैध माना जायगा जब कि उनके निर्वाचन को अखिल सोवियट सघ (Soviet Union) की साम्यवादी पार्टी की केन्द्रीय समिति स्वीकार कर लेगी। इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि समस्त दलीय सगठन 'प्रजातन्त्रात्मक केन्द्रवाद' (Democratic Centralism) के आधार पर कार्य करता है, और हर हालत में निम्न एकक उच्चतर दलीय उपकरणो अथवा एकको के प्रति उत्तरदायी होते हैं और निम्न एकक उच्चतर उपकरणो के निरीक्षण में ही कार्य करते हैं। उसी प्रकार निम्न उपकरणो अथवा एकको के निर्वाचित कार्यकर्त्ता अपने दलीय पदो पर तभी स्वीकार किये जाते है जबकि उच्चतर एकक अथवा उच्चतर दलीय उपकरण उनका निर्वाचन वैध स्वीकार कर लेते हैं।

दल का सर्वोच्च उपकरण साम्यवादी दल की अखिल सघीय कांग्रेस (All Union Congress of Communist Party) है। सिद्धान्त मे दल की सर्वोच्च सत्ता अखिल सघीय कांग्रेस में निहित है। अखिल सघीय कांग्रेस के लिये प्रत्येक १,००० सदस्यो पर एक प्रतिनिधि लिया जाता है। कांग्रेस के सत्रो को साम्यवादी दल की केन्द्रीय समिति आहूत करती है। दल के नियम हैं कि कांग्रेस का अधिवेशन तीन वर्ष में कम-से-कम एक बार अवश्य होना चाहिए। यह भी नियम है कि अखिल सघीय अधिवेशनो के बीच में दलीय सम्मेलन (Party Conference) होना चाहिए। किन्तु न तो १९३९ से कांग्रेस का अधिवेशन हुआ है और न १९४१ से दलीय सम्मेलन हुआ है। दल ने अपना सारा कार्य १९३९ से अखिल यूनियन कांग्रेस के विना ही चलाया है इसलिये कांग्रेस अपरिहार्य नही है, ऐसा माना जाता है कि कांग्रेस का यह कर्त्तव्य है कि वह दल की मुख्य नीति का निर्देश करती है और कांग्रेस ही केन्द्रीय समिति का निर्वाचन करती है।"[1]

केन्द्रीय समिति (The Central Committee)—अखिल सघीय तृतीय दल उपकरण केन्द्रीय समिति है और यह वास्तविक रूप से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण दलीय उपकरण है जिसमें सोवियट यूनियन के निम्नलिखित वास्तविक सत्ताधारी उपकरण कार्य करते है अर्थात् राजनीतिक ब्यूरो (The Politburo), सगठन ब्यूरो (The Orgburo), और सेक्रेटेरियट (The Secretariat)। केन्द्रीय समिति का मुख्य महत्त्व इस बात में है कि यह दल और शासन के बीच कडी का काम करती है। लेनिन[2] ने कहा था, "हमारे गणराज्य में कोई भी राजनीतिक अथवा सगठन सम्बन्धी प्रश्न किसी एक राज्यीय सगठन अथवा सस्था द्वारा उस समय तक निर्णीत नही हो सकता जब तक कि उक्त प्रश्न पर केन्द्रीय समिति अपने विचार व्यक्त न

---

[1] Party Rules, Article 31 (c) and (d).

[2] Towster, op citd, p 153 n

करे, और दल के नियमो के अनुसार केन्द्रीय समिति ही केन्द्रीय सोवियट के समस्त कार्य का सचालन करती है तथा समस्त सार्वजनिक संगठनो का भी दलीय समुदायो के द्वारा कार्य-सचालन एव मार्ग-दर्शन करती है।"[1]

केन्द्रीय समिति में ७० सदस्य और ७० अवान्तर सदस्य होते हैं और केन्द्रीय समिति के पूर्ण अधिवेशन (Plenary Sessions) प्रति वर्ष तीन या चार वार होते हैं। इसके साधारण प्रस्ताव सदैव सार्वजनिक प्रकाश में आ जाते हैं। केन्द्रीय समिति के प्रस्तावो को अन्य दलीय उपकरणो अथवा सगठनो में विचारार्थ रखा जा सकता है किन्तु "उस स्थिति में उन प्रस्तावो की न तो आलोचना की जा सकती है न उन पर सशोधन उपस्थित किये जा सकते हैं।

राजनीतिक व्यूरो (Politburo)—सम्पूर्ण केन्द्रीय समिति की सभाएँ पर्याप्त समय के वाद हुआ करती हैं और दल का वास्तविक कार्य दल के अन्य उपकरणो द्वारा चलाया जाता रहता है जिनमें राजनीतिक व्यूरो (Politburo) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह ठीक है कि कुछ समय वाद तो केन्द्रीय समिति केवल राजनीतिक व्यूरो (Politburo) के निर्णयो को पजीकृतकारी उपकरणमात्र वनकर रह गया है किन्तु यह नही भूलना चाहिए कि राजनीतिक व्यूरो (Politburo) केवल एक समिति-मात्र है और वह केन्द्रीय समिति का आधीन उपकरण है। केन्द्रीय समिति का आधीन उपकरण होने के नाते राजनीतिक व्यूरो (Politburo) अपनी शक्ति मे कुछ नही कर सकता, वह तो केन्द्रीय समिति की शक्ति के आधीन ही कुछ करता है। किन्तु तथ्य यह है कि केन्द्रीय समिति जो कुछ कहती है वह सब कुछ राजनीतिक व्यूरो की वात ही कहती है। सत्य तो यह है कि राजनीतिक व्यूरो (Politburo) ही सोवियट सघ में वास्तविक नीति-निर्माता निकाय है। राजनीतिक व्यूरो ही (Politburo), दलीय सगठन रूपी पिरैमिड (Pyramid) का शिविर है और इसी में दल की समस्त नीति निर्धारित होती है और इस प्रकार सोवियट शासन और सोवियट सगठनो की अतिम और सर्वोच्च नीति भी इसी में स्वीकृत होती है।

इस प्रकार राजनीतिक व्यूरो के सदस्यो के हाथो में राज्य और दल की सर्वोच्च सत्ता निहित रहती है। स्टालिन (Stalin) कहा करता था कि, "राजनीतिक व्यूरो दल का सर्वोच्च सगठन अथवा उपकरण है न कि राज्य का, और दल समस्त राज्य की सर्वोच्च प्रेरक एव नियन्त्रक शक्ति है।" राजनीतिक व्यूरो (Politburo) के दस नियमित सदस्य होते हैं और चार या पाँच अवान्तर सदस्य होते हैं।

सगठन व्यूरो (Orgburo)—राजनीतिक व्यूरो (Politburo) से कम महत्त्व का सगठन अथवा व्यूरो, सगठन व्यूरो (Orgburo) है। सगठन व्यूरो (Organizational Bureau) का निर्वाचन केन्द्रीय समिति द्वारा किया जाता है और इसमें पाँच सदस्य तो सेक्रेटेरियट (Secretariat) के होते हैं और दस अन्य सदस्य तथा अवान्तर सदस्य होते हैं। सगठन व्यूरो (Orgburo) का मुख्य कार्य यह होता है

---

[1] Party Rules of 1939, Article 36

कि वह साम्यवादी दल के आन्तरिक क्रिया-कलापो का सञ्चालन करता है और उसको सगठन-सम्बन्धी मामलो की देख-रेख और दल का प्रशिक्षण, दल का सवर्ग (Cadre) आदि निश्चय करना होता है। सगठन व्यूरो (Orgburo) ही सेक्रेटेरियट के निर्णयों को समस्त दलीय सगठन में कार्यान्वित कराता है।

सेक्रेटेरियट (Secretariat)—प्रारम्भ में सेक्रेटेरियट (Secretariat) का कार्य यह था कि वह केन्द्रीय समिति के निर्णयो को कार्यान्वित किया करती थी। "किन्तु आजकल सेक्रेटेरियट, साम्यवादी दल और सोवियट शासन-व्यवस्था[1] का अत्यन्त आवश्यक उपकरण (gear box) वन गया है।" स्टालिन (Stalin) स्वय १९२२ में जनरल सेक्रेटरी वना और अपनी मृत्युपर्यन्त १९५३ तक इसी पद पर वना रहा। उसने सेक्रेटेरियट को विल्कुल वदलकर दल की वास्तविक कार्यपालिका में परिणत कर दिया। क्योकि अनेको समस्याएं समान रूप से राजनीतिक व्यूरो (Politburo) और सगठन व्यूरो (Orgburo) के सम्मुख आती थी, यह निश्चित किया गया कि जनरल सेक्रेटरी का इन दोनो उपकरणो अथवा सगठनो (agencies) का सदस्य होना आवश्यक है, और इस प्रकार वह दोनो उपकरणो का समन्वयक (Co-ordinator) है। सेक्रेटेरियट (Secretariat) में एक जनरल सेक्रेटरी और चार अन्य सेक्रेटरी होते हैं। स्टालिन की मृत्यु के वाद खुश्चेव (Khruschev) उसके पद पर जनरल सेक्रेटरी वना।

दल नियन्त्रण आयोग (The Party Control Commission)—एक अन्य दलीय उपकरण 'दल नियन्त्रण आयोग' (The Party Control Commission) है। उसका काम है कि साम्यवादी दल और केन्द्रीय समिति के निर्णयो की पूर्ति और क्रियान्विति की जाँच दलीय सगठनो और अन्य सोवियट आर्थिक सगठनो[2] द्वारा कराई जाय। इसलिये दल नियन्त्रण आयोग का मुख्य कार्य यह है कि दल के निर्णयो की पूर्ति और क्रियान्विति को देखे और जो लोग साम्यवादी दल के प्रोग्राम और नियमों के विरुद्ध कार्य करते हो उनके विरुद्ध अभियोग लगावे। इन अर्थों में दल नियन्त्रण आयोग (Party Control Commission) एक दलीय अनुशासनात्मक निकाय है। प्रारम्भ में तो दल नियन्त्रण आयोग का निर्वाचन अखिल सघीय कांग्रेस द्वारा हुआ था, किन्तु आजकल इन नियन्त्रण आयोग की नियुक्ति केन्द्रीय समिति करती है।

Suggested Readings

Carter, G M and Others	The Government of the Soviet Union (1954), World Press, Calcutta
Fainshod, M	How Russia is Ruled (1953)

---

[1] Towster, op citd, p 160 n

[2] Party Rules of 1939 Articles 34-35

Finer, H	The Theory and Practice of Modern Government (1954), pp 60-64, 234-237, 303-310, 541-544, 665-667
Florinsky, M T.	Russia A History and an Interpretation (1953)
Harper, S N	The Government of the Soviet Union. The Soviet Union and the World Problems,
Karpinsky, V	The Social and State Structure of the U S S R.
Leites, N.	The Operational Code of the Politburo (1951).
Lenin, V I	The State and the Revolution.
Marx M and Others	Foreign Governments (1952), Part VI, Chap 20-26
Munro, W B. and Ayearst, M	The Governments of Europe (1954), Chap. 38-43
Neumann, R G	European and Comparative Governments (1951) Part IV, Chap. I-XIII.
Ogg, F A and Zink, H	Modern Foreign Governments (1953), Chap 36-41
Rappard W F, Sharp W.R. and Others	Source Book on European Governments (1937)
Sohlesinger, R	Soviet Legal Theory (1951).
Shotwell, J. T. and Others	Governments of Constitutional Europe (1952) pp 667-862 Land of Socialism Today and Tomorrow.
	Reports and speeches of the 18th Congress of the Communist Party of the Soviet Union, March 10-21, 1939, (Moscow Foreign Languages Publishing House (1939).
Towster, J	Political Power in the U S.S R (1917-1947).
Vyshinsky, A Y	The Law of the Soviet State.

परिशिष्ट—१

(Appendix)

पारिभाषिक शब्दावली

(Glossary of Technical Terms)

Term	*Equivalent*
	A
Abandonment	परित्याग
Abbrieviation	सकेताक्षर
Abolish	अन्त करना
Abolition	अन्त, उत्सादन
Abrogate	निराकरण करना
Accession	प्रवेश
Accounts	लेखा
Acquisition	अर्जन
Acquittal	विमुक्ति
Act	अधिनियम
Acting	कार्यकारी, कायवाहक
Acting in his discreation	स्वविवेक के अनुसार कार्य करते हुए
Adress	अभिभाषण, समावेदन
Adherence	अनुषक्ति
Adhoc	तदर्थ
Ad infinitum	अनन्त तक
Ad-interim	अन्तरिम
Ad-Valorem	मूल्यानुसार
Adjourn	स्थगित करना
Adjournment Motion	स्थगन प्रस्ताव
Adjudication	न्याय निर्णयन, अभिनिर्णय
Adjustment	समायोजन
Administration	प्रशासन
Admiralty	नौकाधिकरण
Adulteration	अपमिश्रण
Adult suffrage	वयस्क मताधिकार
Advisory-Council	मत्रणा परिषद्

Term	*Equivalent*
Advocate	अधिवक्ता
Affidavit	शपथ-पत्र
Affirmation	प्रतिज्ञान
Agency	अभिकरण, एजेंसी
Agenda	कार्य-सूची, कार्यावलि
Alien	अन्यदेशीय, अदेशी
Allegiance	निष्ठा
Allocation	बँटवारा
Allotment	बाँट
Amendment	सशोधन
Amenities	सुविधाएँ
Anarchy	अराजकता
Anarchism	अराजकतावाद
Annex	सलग्न करना
Annexure	अनुबन्ध, अनुपत्र
Annual Financial Statement	वार्षिक वित्त विवरण
Annuities	वार्षिकी
Annul, To	रद्द करना
Anomalous	अनियमित, असगत
Answers to questions pending from the last session of the Assembly	सभा के पिछले सत्र से लम्बित प्रश्नों के उत्तर
Anti-dated	पूर्व-तिथिक
Anticipation	पूर्वाशा, प्रत्याशा
Anti corruption Department	भ्रष्टाचार - निरोध विभाग
Anti-Smuggling Force	अवैध व्यापार निरोधक दल, बल

Term	*Equivalent*
Appendix	परिशिष्ट
Appropriation	विनियोग
Approval	अनुमोदन
Arbitration	मध्यस्थ निर्णय, विवाचन
Aristocracy	कुलीनतत्र, श्रेणितत्र अभिजाततत्र
Article	अनुच्छेद, पदार्थ, लेख
As a matter of fact	वस्तुत
As amended	यथा सशोधित
As before	यथापूर्व
As compared with	तुलना में
As far as possible	यथासम्भव
As for instance	उदाहरणार्थ, उदाहरण-स्वरूप
As further amended	यथार्थ सशोधित
As in force for the time being	जैसा तत्काल प्रवृत्त हो
As nearly as possible	यथाशक्य
As originally enacted	यथा मूलत अधि-नियमित
As proposed	यथा प्रस्तावित
As required	यथापेक्षित
As such	इस प्रयोजनार्थ
As the case may be	यथास्थिति
Assemble	समवेत होना
Assembly	सभा
Assent	अनुमति
Assesment	निर्धारण
Asset	आस्तियाँ
Assigned	नियत
Assistant	सहायक
Assistant, Dealing	कार्यवाहक सहायक
Assistant In-charge	प्रभारी सहायक
Association	सघ, समुदाय, सस्था
Assumption	धारण
At par	सममूल्य पर
Attache	सहचारी
Attorney-General	महा न्यायवादी
Audit	लेखा-परीक्षा
Auditor-General	महालेखा-परीक्षक
Authentication	प्रमाणीकरण
Authorised	प्राधिकृत
Authority	प्राधिकार
Autocracy	स्वेच्छाचारिता
Autonomous	स्वायत्त, स्वायत्तशासी
Autonomous region	स्वायत्तशासी प्रदेश
Award	पचाट, निर्णय

B

Term	*Equivalent*
Bail	जामिन
Bicameral	द्विसदनात्मक
Biennial	द्विवार्षिक
Bill	विधेयक
The Bill be circulated for eliciting public opinion there on	जनमत जानने के लि विधेयक परि चालित किय जाये
The bill be referred to a select Committee	विधेयक प्रवर समि को निर्दिष्ट कि जाये

Term	*Equivalent*
The bill be taken into consideration and be passed	विधेयक पर विचार हो और इसे पारित किया जाये
Board	बोर्ड, मण्डल, मण्डली
Body	निकाय
Bonafide	वास्तविक
Breed	नस्ल
Broadcasting	प्रसारण
Bye law	उपविधि

C

Term	*Equivalent*
Cabinet	मन्त्रिमण्डल
Calculation	परिकलन
Call, to call in question	आपत्ति करना
Candidate	अभ्यर्थी, प्रत्याशी, उम्मीदवार
Capital value	मूल मूल्य
Caretaker	अवधायक
Caretaker Government	अवधायक सरकार
Casting Vote	निर्णायक मत
Casual	आकस्मिक
Cause of action	वाद मूल, वाद हेतु
Cease to have effect	प्रभावशून्य होना
Cease to be operative	प्रवर्तनहीन होना
Census	जनगणना
Centralization	केन्द्रीकरण
Certification	प्रमाणन
Certiorari	उत्प्रेषण लेख
Chairman	सभापति
Chamber	सदन
Chamber, low	निम्न सदन
Chamber, upper	उच्च सदन
Chief	मुख्य
Chief Commissioner	मुख्य आयुक्त
Chief Election Commissioner	मुख्य निर्वाचन आयुक्त
Chief judge	मुख्य न्यायाधीश
Citizenship	नागरिकता
Civil	असैनिक, व्यवहार
Civil Code	व्यवहार-संहिता
Civil Court	व्यवहार-न्यायालय
Civil Procedure	व्यवहार-प्रक्रिया
Civil Service	असैनिक सेवा, सिविल सर्विस
Colonization	उपनिवेशन
Come into force	प्रवृत्त होना
Come into operation	प्रवर्तन में आना
Commencement	प्रारम्भ
Commission	आयोग
Committee	समिति
Committee Business advisory Committee	कार्य-मन्त्रणा समिति
Committee on petitions	याचिका समिति
Committee on Privileges	विशेषाधिकार समिति
Committee, General purposes committee	सामान्य प्रयोजन समिति
Committee, House Committee	आवास समिति

Term	*Equivalent*
Committee, Public Accounts Committee	लोक लेखा समिति
Committee, Rules Committee	नियम समिति
Compensation	प्रतिकर
Competent	सक्षम
Composite	सामासिक
Composition	रचना
Comptroller and Auditor General	नियत्रक महालेखा परीक्षक
Concentration	केन्द्रण
Concurrence	सहमति
Concurrent list	समवर्ती सूची
Conduct of Business	कार्य-सचालन
Confederation	परिसघ, राज्यमडल
Consent	सम्मति, सहमति
Consolidated fund	सचित निधि
Constituency	निर्वाचन-क्षेत्र, चुनाव-क्षेत्र
Constituent Assembly	सविधान सभा
Constitution	सविधान
Constitution, Flexible	लचीला या सुपरिवर्तनीय सविधान
Constitution Rigid	कठोर या दुष्परिवर्तनीय सविधान
Consul	वाणिज्य-दूत
Consumption	उपभोग
Contempt	अवमान
Contract	सविदा, ठेका
Contravention	उल्लघन
Contribution	अशदान
Convener	सयोजक

Term	*Equivalent*
Convention	अभिसमय, रूढि, परिपाटी
Co-ordination	एकसूत्रता, समन्वय
Corporation	निगम
Correspondin	तत्स्थानी
Cottage Industry	कुटीर उद्योग
Council	परिषद्
Council of Ministers	मत्रि-परिषद्
Covenant	प्रतिज्ञा-पत्र
Court	न्यायालय
Court of first instance	प्रथम बार का न्यायालय
Crime	अपराध
Criminal	दण्डिक
Criminal law	दड विधि
Currency	चलार्थ
Custody	अभिरक्षा
Custom	रूढ़ि
Custom duty	सीमा शुल्क

D

Dealings	व्यवहार
Debenture	ऋण-पत्र
Decentralization	विकेन्द्रीकरण
Declaration	घोषणा
Decree	आज्ञप्ति
Defamation	मान-हानि
Defence	प्रतिरक्षा
Delegation	शिष्टमडल
Democracy	लोकतत्र, जनतत्र, प्रजातत्र
Diplomacy	राजनय, कूटनीति
Direct Action	प्रत्यक्ष कार्यवाही
Direction	निर्देश
Directive principles	निर्देशक सिद्धान्त

Term	*Equivalent*
Disability	निर्योग्यता
Discharge	निर्वहन
Discretionary power	विवेक-शक्ति
Discrimination	विभेद
Disqualification	अनर्हता
Dissent	विमति
Dissenting judgement	विमति निर्णय
Dissolution	विघटन
Divident	लाभाश
Document	दस्तावेज, प्रलेख
Domicile	अधिवास
Dominion	डोमीनियन, अधिराज्य
During the pleasure of the President	राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त
E	
Eligible	पात्र
Emergency	आपात
Emigration	उत्प्रवास
Emolument	उपलब्धि
Enact	अधिनियम
Engagement	वचन बध
Estate	सम्पत्ति, सम्पदा
Estimates	प्राक्कलन
Evacue	निष्क्राम्य
Exception	अपवाद
Excise duty	उत्पादन-शुल्क
Exclusion	अपवर्जन
Executive	कार्यपालिका
Exempt	विमुक्त करना
Ex-officio	पदेन
Expedient	इष्टकर
Expiration	समाप्ति
Export	निर्यात
Extradition	प्रत्यर्पण
Extra-territorial	राज्य क्षेत्रातीत
F	
Figures	आँकड़े
Filibustering	विध्यवरोधन
Finance	वित्त
Financed	वित्तपोषित
Financial Bill	वित्तीय विधेयक
Foregoing	पूर्वगामी, पूर्ववर्ती
For the time being	तत्समय, तत्स्थानी
Free Commerce	अबाध वाणिज्य
Fundamental	मूल, मूलभूत
G	
Gallery	दीर्घा
Gazzette	गजट, राजपत्र
Governing Body	शासी निकाय
Government	शासन, सरकार
Government, Parliamentary	ससदीय शासन
Government Presidential	राष्ट्रपतीय शासन अध्यक्षीय शासन
Governor	राज्यपाल
Governor, H E	महामहिम राज्यपाल
Graduate	स्नातक
Grant	अनुदान
Grants-in-aid	सहायक अनुदान
Gratuity	उपदान
Guarantee	प्रत्याभूति, गारन्टी
Guardian	सरक्षक
H	
Habeas Corpus	बन्दी प्रत्यक्षीकरण
Hereby	इसके द्वारा, एतद् द्वारा
Here in after	इसके पश्चात्, एतत्पश्चात्
High Court	उच्च न्यायालय

Term	*Equivalent*
Hereditary	आनुवंशिक, पैतृक
Heritage	दाय विरासत
Hierarchy	पद-सोपान उच्चोच्च परम्परा, श्रेणीबद्ध सगठन
High sea	महासमुद्र
High-way	राजपथ
His Excellency	महामहिम
His Majesty	सम्राट्
His Majesty in Council	सपरिवत्सम्राट
Hourding	अनुचित सग्रह, अपसंग्रह
Hoasting	आरोहण
Hold in abeyance	आस्थगित करना
Hold office, To	पद धारण करना

I

Term	*Equivalent*
Identification	अभिज्ञान
Identity Card	अभिज्ञान पत्रक
Illegal	अवैध
Illegal Practice	अवैधाचार
Illustration	दृष्टान्त
Immunity	उन्मुक्ति
Impeachment	महाभियोग
Implied	गर्भित, विवक्षित ध्वनित
Imputation	दोषारोपण
In-charge	भार-साधक
In course of time	कालान्तर में
Indian Penal Code	भारतीय दड सहिता
Interim	अन्तरिम
Initiate	सूत्रपात करना, पहल करना
Initiative	उपक्रम, आरम्भक

Term	*Equivalent*
Interalia	अन्यान्य विषयों में
Interpretation	निर्वाचन व्याख्या
Intrinsic Value	निजार्ह
Introduction	पुर स्थापना, प्रस्तावना
Invalid	अमान्य

J

Term	*Equivalent*
Judiciary	न्यायपालिका
Jurisdiction	क्षेत्राधिकार

L

Term	*Equivalent*
Law	विधि, क़ानून
Law and Order	कानून और व्यवस्था
Law, Civil	दीवानी क़ानून, व्यवहार-विधि
Law, Common	सामान्य विधि
Law, Constitutional	सविधानिक विधि
Law, Criminal	फ़ौजदारी क़ानून दड विधि
Law customary	रिवाजी कानून
Law, permissive	अनुज्ञापक क़ानून
Law, lessness	अराजकता, अव्यवस्था
Lease	पट्टा
Legislation	विधान, व्यवस्थापन
Legislative Assembly	विधान सभा
Legislative Power	विधायिनी शक्ति
Legislative Procedure	विधान प्रक्रिया
Liberty	स्वतन्त्रता, स्वाधीनता
Licence	अनुज्ञप्ति
Lieutenant	उपराज्यपाल
Local Government	स्थानीय शासन
Local self Government	स्थानीय स्वशासन

Term	*Equivalent*
M	
Majority	बहुमत
Majority, Absolute	पूर्ण बहुमत, निरपेक्ष बहुमत
Mandamus	परमादेश
Matriarchy	मातृतन्त्र
Matriarchel society	मातृसत्ताक समाज, मातृमूलक समाज
Mediation	मध्यस्थता
Mediator	मध्यस्थ
Memorandum	ज्ञापन, स्मृति-पत्र
Merger	विलय
Migration	प्रव्रजन
Ministry	मंत्रालय, मंत्रिमंडल
Ministry, Coalition	संयुक्त मंत्रिमंडल
Minor	अवयस्क
Minority	अल्पमत, अल्पसंख्यक
Money Bill	धन-विधेयक
Monopoly	एकाधिकार
Mortgage	बंधक
Municipality	नगरपालिका
N	
Nation	राष्ट्र
National	राष्ट्रीय
Nationalism	राष्ट्रवाद
Nationality	राष्ट्रीयता
Nationalization	राष्ट्रीयकरण
Naturalization	देशीयकरण
Nomination	नाम-निर्देशन, मनोनयन
Notice	सूचना
Notification	अधिसूचना
O	
Oligarchy	अल्पतन्त्र
Ordinance	अध्यादेश
Original jurisdiction	आरम्भिक क्षेत्राधिकार

Term	*Equivalent*
P	
Paramountcy	सर्वोपरिता, सार्वभौमता
Parity	समतुल्यता
Parliament	संसद्
Patriarchy	पितृतन्त्र
Patriarchy	पैतृक समाज, पितृमूलक समाज, पितृसत्ताक समाज
Patron	संरक्षक
Per annum	प्रतिवर्ष
Per mensem	प्रतिमास
Petition	याचिका
Pirachy	जल-दस्युता
Planning	योजना, आयोजन
Plebiscite	जनमतसंग्रह
Portfolio	संविभाग
Posting	पद-स्थापना
Preamble	प्रस्तावना
Precedence	पूर्ववादिता
Predecessor	पूर्वाधिकारी
Prerogative	परमाधिकार
President	राष्ट्रपति
Presiding Officer	पीठासीन अधिकारी
Prevail	अभिभावी होना
Preventive Detention	निवारक निरोध
Prime Minister	प्रधान मंत्री
Priority	पूर्ववर्तिता
Privilege	विशेषाधिकार
Procedure	प्रक्रिया
Proceedings	कार्यवाही
Proclamation	उद्घोषणा
Proclamation of Emergency	आपात की उद्घोषणा
Prohibition	प्रतिषेध
Promulgate	प्रख्यापन
Proportional	सानुपात

Term	*Equivalent*
Representation	प्रतिनिधित्व
Prorogue	सत्रावसान
Prosecution	अभियोजन
Protectorate	सरक्षित राज्य
Protocol	नयाचार
Provision	उपबन्ध
Provisional	अन्तर्कालीन
Public opinion	जनमत, लोकमत
Public Services	लोक-सेवायें
Public Service Commission	लोक-सेवा आयोग
Purpose	प्रयोजन
Q	
Question of Law	विधि-प्रश्न
Quorum	गणपूर्ति
Quowarranto	अधिकार पृच्छा
R	
Retification	अनुसमर्थन
Record	अभिलेख
Recurring	आवर्त्तक
Reference	निर्देश
Referendum	जनमत संग्रह
Remuneration	पारिश्रमिक
Repeal	निरसन
Report	प्रतिवेदन
Representation	अभिवेदन, अभ्यावेदन, प्रतिनिधित्व, प्रतिनिधान
Republic	गणराज्य, गणतत्र
Research	गवेषणा, शोध, अनुसंधान
Resolution	सकल्प
Resources	ससाधन, साधन
Respective	तत्सम्बन्धी
Retirement	निवृत्ति
Revenue	राजस्व
Roll	नामावलि
S	
Sanction	मजूरी
Schedule	अनुसूची
Section	धारा, विभाग
Secular	लौकिक, धर्मनिरपेक्ष
Security	सुरक्षा, प्रतिभूति
Self-determination	आत्म-निर्णय
Session	सत्र
Single Transferrable Vote	एकल सक्रमणीय मत
Social Welfare	समाज-कल्याण
Socialism	समाजवाद
Sovereign Democratic Republic	सर्वप्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक गणराज्य
Speaker	अध्यक्ष
Standard	मान-स्तर
Standing order	स्थायी आदेश
State	राज्य
State, Buffer	अन्तस्थ राज्य
State, Federal	सघीय राज्य, राज्य सघात्मक
State, Mandatory	निर्दिष्ट राज्य
State, Sovereign	प्रभु राज्य, प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य
State, Totalitarian	सर्वस्त्रायत्तवादी राज्य, सर्वाधिकारवादी राज्य
State, Unitary	एकात्मक राज्य, एकीय राज्य
Status	स्थिति, प्रस्थिति, परिष्ठा
Stock exchange	श्रेष्ठि, चत्वर
Subordinate Court	अधीन न्यायालय

Term	*Equivalent*
Succeeding	अनुवर्ती
Succession	उत्तराधिकार
Suffrage	मताधिकार
Suffrage, Adult	वयस्क मताधिकार
Suffrage, Universal	सार्वभौम वयस्क मताधिकार
Superintendence	अधीक्षण
Supply	सम्भरण
Supreme Court	उच्चतम न्यायालय, सर्वोच्च न्यायालय
Surcharge	अधिभार
Suspension	निलम्बन
Survey	सर्वेक्षण
T	
Tax	कर
Taxation	कराधान
Term	अवधि
Term of office	पदावधि, कार्यकाल
Theory	सिद्धान्त
Theory, Divine Origin	दैवी उत्पत्ति का सिद्धान्त
Theory, Evolutionary	विकासवादी सिद्धान्त
Theory, Force	शक्ति-सिद्धान्त
Theory, Social Contract	सामाजिक अनुबन्ध सिद्धान्त, सामाजिक संविदा सिद्धान्त, सामाजिक समझौते का सिद्धान्त
Transaction	व्यवहार, संव्यवहार
Transfer	स्थानान्तरण, हस्तांतरण
Transition	संक्रमण
Treaty	संधि
Tribunal	न्यायाधिकरण
U	
Uniformity	एकरूपता
Unilateral	एकपक्षीय, इकतरफ़ा
Union	संघ
Union Public Service Commission	संघ लोक सेवा आयोग
Unit	एकक, इकाई
Usage	प्रथा
V	
Veto	निषेधाधिकार प्रतिषेधाधिकार
Visas	दृष्टांक
Void	शून्य, व्यर्थ
Vote	मत
Vote, Casting	निर्णायक मत
Vote, Cumulative	संचित मत
Vote Limited	सीमित
Vote of Censure	निन्दा-प्रस्ताव
Warrant	अधिपत्र
Ways and Means	अर्थोपाय
Withhold	रोक लेना
Writ	लेख

भारतीय गणराज्य का शासन

अध्याय १

संविधान का निर्माण

(Making of the Constitution)

सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न भारत के लोकतन्त्रात्मक गणराज्यीय सविधान को भारत के लोगो ने अपनी सविधान सभा में २६ नवम्बर, १९४९ को अङ्गीकृत किया। इस सविधान ने विदेशी शासन को समाप्त किया और भारत को सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित कर के एक नये युग का श्रीगणेश किया। उस दिन महात्मा गांधी का स्वप्न साकार हुआ। यह भारतीय लोगो के १०० वर्षो के सघर्ष का परिणाम था जो उन्होने अपने जन्मसिद्ध स्वराज्य के अधिकार को मनवाने के लिए किया था।

सविधान सभा की नियुक्ति (The Constituent Assembly comes into being)—मार्च, १९४२ में पहली वार सविधान सभा की मांग को ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार किया जवकि सर स्टैफर्ड क्रिप्स (Sir Stafford Cripps) ब्रिटिश सरकार की ओर से सुधार-योजना लेकर भारत आये। क्रिप्स-योजना में द्वितीय विश्वयुद्ध के तुरन्त बाद सविधान सभा स्थापित करने की बात मान ली गई थी और उक्त प्रस्तावो ने वह योजना प्रस्तुत की जिसके अनुसार सविधान सभा के सदस्य निर्वाचित होने को थे। क्रिप्स प्रस्तावो की कांग्रेस, मुस्लिम लीग और अन्य राजनीतिक दलो ने भी अपने-अपने दृष्टिकोणो के अनुसार कटु आलोचना की, इसलिए वे प्रस्ताव अस्वीकृत कर दिए गए। किन्तु क्रिप्स प्रस्तावो में एक शुभ बात यह थी कि उन्होने भारतीय लोगों का यह अधिकार स्वीकार कर लिया कि उन्हे अपनी सविधान सभा द्वारा अपना सविधान स्वय निर्माण करने का अधिकार है। १५ मार्च, १९४६ को श्री एटली (Mr Atlee) ने भी ब्रिटिश लोकसभा में एक वक्तव्य द्वारा यह बात मान ली। श्रमिक दलीय ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने भारत की स्वतन्त्रता-सम्बन्धी मांग को स्वीकार करते हुए कहा था—"इसमे आश्चर्य ही क्या है यदि आज भारत जो चालीस करोड जनो का राष्ट्र है, और जिसने दो बार ससार की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए अपने सपूतो को वलि देने के लिए भेजा है, अपना भाग्य और अपना भविष्य स्वय निर्माण करना चाहता है। यह तो भारत ही स्वय निर्णय करेगा कि वर्त्तमान शासन-व्यवस्था के स्थान पर किस प्रकार की शासन-व्यवस्था उस देश मे स्थापित होगी। किन्तु हम तो यह चाहते हैं कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जाय जिसके द्वारा भविष्य के शासन का निर्णय सुगमता से हो जाय।"

जुलाई, १९४६ में मन्त्रिमण्डल मिशन योजना (The Cabinet Mission Plan) के अनुसार सविधान सभा के लिए निर्वाचन हुए। २१० सामान्य स्थानो (Seats) में से कांग्रेस ने १ ९ स्थान प्राप्त किए और ७८ मुस्लिम स्थानो मे से मुस्लिम लीग को ७३ स्थान प्राप्त हुए। कांग्रेस कुछ अन्य स्थानो पर भी प्रभाव रखती थी क्योकि उन स्थानो पर या तो कांग्रेस के नामांकित व्यक्ति थे या कांग्रेस के

पक्ष के व्यक्ति थे। इस प्रकार कांग्रेस के अधिकार में २९६ स्थानो में से २११ स्थान थे।

सविधान सभा कांग्रेस और मुस्लिम लीग के चोटी के नेताओ, अनुभवी राजनीतिज्ञो और सफल प्रशासको, प्रसिद्ध न्यायविदो, विद्वानो एव देश के प्रत्येक भाग के और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र के प्रसिद्ध मनुष्यो का सगम थी। कांग्रेस के नेताओ में प० जवाहरलाल नेहरू, डा० राजेन्द्र प्रसाद, श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचारी, सरदार वल्लभ भाई पटेल, प० गोविन्द वल्लभ पन्त, श्री बी० जी० खेर, बा० पुरुषोतम दास टण्डन, मौलाना अबुल कलाम आजाद, ~~खान अब्दुल गफ्फार खाँ~~, श्री आसफ अली, श्री रफी अहमद किदवई, श्रीयुत श्री कृष्ण सिन्हा, श्री कन्हैयालाल माणिक लाल मुन्शी, आचार्य जे० बी० कृपलानी, श्री टी० टी० कृष्णमाचारी आदि थे। अन्य लोगो में कांग्रेस के पक्ष के अथवा कांग्रेस द्वारा नामाकित ऐसे व्यक्ति भी थे जिनके समर्थन का कांग्रेस को पूर्ण विश्वास था। ऐसे सदस्यो में डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन, डा० सच्चिदानन्द सिन्हा, श्री एन० गोपाल स्वामी आयगर, डा० बी० आर० अम्बेदकर, डा० एम० आर० जयकर, श्री अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर, प० हृदय नाथ कुँजरु, श्री हरि सिह गौर, प्रो० के० टी० शाह आदि थे। सविधान सभा में कुछ प्रसिद्ध स्त्रियाँ भी सदस्याएँ थी जिनमें श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्रीमती दुर्गाबाई देशमुख, श्रीमती हसा मेहता, और श्रीमती रेणुका रे प्रमुख थीं। मुस्लिम लीग में नवाबजादा लियाकत अली खाँ, ख्वाजा नाज़िमुद्दीन, श्री एच० एस० सुहरावर्दी, सर फीरोज खाँ नून और सर मोहम्मद ज़फरुल्ला खाँ प्रमुख थे।

सविधान सभा का प्रथम अधिवेशन ९ दिसम्बर, १९४६ को होना निश्चित हुआ। सविधान सभा सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न निकाय नही थी, क्योकि इसके ऊपर कई प्रकार की मर्यादाएँ लगी हुई थी जिनका सम्बन्ध सिद्धान्तो से भी था और कार्य-प्रणाली से भी था। इसके अतिरिक्त यह ब्रिटिश ससद् के अधिकार की छाया में कार्य कर रही थी। किन्तु इन मर्यादाओ के होते हुए भी कांग्रेस ने सविधान सभा में भाग लेना स्वीकार कर लिया था। किन्तु मुस्लिम लीग ने उद्धत रुख अपनाया और ६ दिसम्बर, १९४६ के वक्तव्य के बावजूद जिसमे मुस्लिम लीग की सभी माँगें स्वीकार कर ली गई थी, यह अपने वायदो से पीछे हट गई और अब उसने दो सविधान सभाओ की माँग की, जिनमें से एक पाकिस्तान के लिए सविधान बनाती और दूसरी भारत अथवा हिन्दोस्तान के लिए। गति-अवरोध चलता रहा और मुस्लिम लीग सविधान सभा के बायकाट पर डटी रही यद्यपि उसने निश्चित तिथि पर नई दिल्ली में सविधान सभा के प्रारम्भिक अधिवेशन में भाग लिया था। मुस्लिम लीग की विघ्नकारी और अडगावादी नीति के कारण एटली सरकार का धैर्य जाता रहा और ब्रिटिश प्रधान मन्त्री ने ब्रिटिश सम्राट् के शासन की इस इच्छा की घोषणा की कि जून, १९४८ तक भारत सरकार का शासन उत्तरदायी भारतीय नेताओ को हस्तांतरित कर दिया जायगा। इस के बाद ३ जून, १९४७ को माउटबैटन योजना (Mountbatten Plan) प्रस्तुत की गई जिसमें प्रस्ताव किया गया कि भारत का दो भागो भारत और पाकिस्तान में विभाजन किया जाय। कांग्रेस और मुस्लिम लीग दोनो ही

ने इस योजना को स्वीकार कर लिया और उसी के फलस्वरूप १९४७ का भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पास हुआ। भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम ने मन्त्रिमण्डल मिशन योजना (Cabinet Mission Plan) को कूडे की टोकरी में डाल दिया और भारत को सम्पूर्ण बन्धनो से मुक्त कर दिया और इस प्रकार सविधान सभा पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न निकाय के रूप मे स्थापित हुई।

अप्रैल १९४७ में ही निम्नलिखित देशी राज्यो के प्रतिनिधि सविधान सभा में सम्मिलित हो चुके थे बडौदा, बीकानेर, उदयपुर, जोधपुर, रीवाँ और पटियाला। १४ जुलाई, १९४७ तक सभी देशी राज्यो ने सविधान सभा के लिए अपने-अपने प्रतिनिधि भेज दिये थे, केवल दो राज्य जम्मू और कश्मीर तथा हैदराबाद अपवाद थे। अक्तूबर, १९४७ में जम्मू और कश्मीर राज्य भी भारत मे सम्मिलित हो गया और उक्त राज्य के प्रतिनिधि ने सविधान सभा में भाग लिया। उसी प्रकार नवम्बर, १९४८ मे हैदराबाद राज्य भी भारत मे सम्मिलित हो गया और उसके प्रतिनिधियो ने भाग लिया। इस प्रकार सविधान सभा भारत की पूर्ण प्रतिनिधिक सभा बन गयी और उक्त निकाय का स्वरूप पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न हो गया।

सविधान का निर्माण (The Making of the Constitution)—भारत की पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न सविधान सभा के प्रथम अधिवेशन में सभा के अध्यक्ष डा० राजेन्द्र प्रसाद ने इच्छा व्यक्त की कि हम भारत मे वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं और समस्त भारतवर्ष को सभी नागरिको का सहयोगपूर्ण सयुक्त राष्ट्र बनाना चाहते हैं और उन्होने माँग की कि सविधान सभा का यह सर्वोच्च कर्त्तव्य है कि वह उक्त उद्देश्यो को सामने रखकर ही सविधान निर्माण करे। प० जवाहरलाल नेहरू ने उद्देश्यो सम्बन्धी प्रस्ताव प्रस्तुत करके सविधान की आधार-शिला का शिलान्यास किया। उक्त प्रस्ताव में कहा गया था—

"(१) यह सविधान सभा भारत को सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य घोषित करती है और उसकी शासन-व्यवस्था के लिए एक सविधान निर्मित करना चाहती है,

. . . .

. . . .

(४) सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न एव स्वतन्त्र भारत, उसके अवयवी एकको और शासन के सभी अगो के समस्त अधिकार और समस्त राजनीतिक शक्ति जनता से प्राप्त हुई है, और

(५) भारत के समस्त नागरिको को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्रदान किया जायगा, सभी को प्रतिष्ठा और अवसर की समानता प्रदान की जायगी, विधि के समक्ष सभी को समानता प्रदान की जायगी, सभी को विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना, उद्यम और व्यापार आदि की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी और सभी लोग स्वतन्त्रतापूर्वक साहचर्य और क्रियाकलाप कर सकेंगे, केवल देश की विधि और लोक-सदाचार का उक्त स्वतन्त्रताओ पर अकुश रहेगा। और

(६) भारत में अल्पसख्यक वर्गों को, अनुन्नत और पिछड़े हुए प्रदेशो अथवा

अनुसूचित क्षेत्रो को, अछूतो और अन्य पिछडे हुए वर्गों को पर्याप्त सरक्षण प्रदान किये जायेंगे, और

(७) इस प्रकार राष्ट्र की एकता अक्षुण्ण रखने के लिए, गणराज्य की प्रादेशिक स्वतन्त्रता को भी अक्षुण्ण रखने के हेतु और समस्त देश के जल-थल और आकाश के ऊपर पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न अधिकारो की स्वतन्त्रता एव गरिमा की रक्षार्थ

(८) इस अति प्राचीन देश ने ससार में अपना अधिकारपूर्ण एव सम्मान्य स्थान प्राप्त किया है और हम सभी भारत के नागरिक ससार में शान्ति स्थापनार्थ और समस्त मनुष्य जाति के कल्याणार्थ प्रत्येक कार्य में पूर्ण योगदान देंगे ।'[1]

उद्देश्यो सम्बन्धी प्रस्ताव १३ दिसम्बर, १९४६ को प्रस्तुत किया गया था और २२ जनवरी, १९४७ को स्वीकृत हुआ । इस प्रस्ताव के द्वारा उन मौलिक उद्देश्यो पर प्रकाश डाला गया था जिनके आलोक में सविधान सभा को सविधान तैयार करना था । उक्त प्रस्ताव के मुख्य उपबन्ध निम्नलिखित थे

(१) भारत पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न और स्वतन्त्र गणराज्य होगा,

(२) भारत लोकतन्त्रात्मक सघ (Union) होगा और उसके सभी अवयवी एकको में समान स्तर की स्वशासन की व्यवस्था होगी । पडित जवाहरलाल नेहरू ने बल देकर कहा था कि 'अलग-अलग राज्यो में स्वतन्त्रता के विभिन्न स्तर नही होगे अर्थात् देशी राज्यो में भी और शेष भारत में भी सभी नागरिको को समान स्वतन्त्रता प्राप्त होगी ।"[2]

(३) भारत की सघीय सरकार एव अवयवी एकको की सरकारो को समस्त राजनीतिक शक्ति एव समस्त अधिकार जनता से ही प्राप्त हुए हैं,

(४) देश का सविधान ऐसी शासन-व्यवस्था को जन्म देगा कि सभी लोगो को सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक समानता के आधार पर, अवसरो की समानता के आधार पर और विधि के समक्ष सभी की समानता के आधार पर पूर्ण न्याय मिलेगा,

(५) विधि के अनुसार तथा लोक सदाचार की रक्षा करते हुए सभी नागरिको को विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना, उद्यम और व्यापार, साहचर्य और क्रियाकलाप की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी,

(६) सविधान अल्पसख्यको, पिछडे हुए और अनुन्नत प्रदेशो अथवा अनुसूचित क्षेत्रो, अछूत एव अन्य पिछडे हुए वर्गों को न्याय अधिकार प्रदान करेगा ताकि सभी लोग देश के शासन में समान भाग ले सकें और सभी को समान सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक अधिकार न्याय्य रूप में मिलें,

(७) सविधान सभा ऐसा सविधान निर्माण करे कि जिसके बल पर ससार के राष्ट्रो मे भारत को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हो और तब भारत विश्व-शान्ति एव मनुष्य-मात्र के कल्याणार्थ सभी कार्यों मे पूर्ण योगदान दे ।

सविधान की मुख्य सामग्री उन अनेको समितियो के प्रतिवेदनो से प्राप्त हुई

---

[1] Constituent Assembly Proceedings, Vol I, Page 57

[2] Constituent Assembly Proceedings, Vol I, Page 60

है जिनमे से कुछ ये हैं—सघीय अधिकार समिति, सघीय सविधान समिति, प्रान्तीय सविधान समिति, अल्पसख्यक मन्त्रणादायक समिति, मौलिक अधिकार समिति, चीफ कमिश्नरो सम्बन्धी समितियाँ, सघ और राज्यो के बीच वित्त वितरण करने वाली समिति, पिछड़े प्रदेश सम्बन्धी मन्त्रणा समिति और सर्वोच्च न्यायालय सम्बन्धी समिति आदि आदि। किन्तु सविधान को अन्तिम स्वरूप प्रारूप समिति ने दिया जिस मे सात सदस्य थे और जिसके चेयरमैन डा० अम्बेदकर थे।[1] डा० अम्बेदकर ने सविधान का प्रारूप सविधान के अध्यक्ष को समर्पित करते हुए लिखा था—"प्रारूप तैयार करते समय, प्रारूप समिति से यह आशा की जाती थी कि वह या तो सविधान सभा के निर्णयो को स्वीकार करे अथवा उन अनेको समितियो के निर्णयो को स्वीकार करे जिनको सविधान सभा ने नियुक्त किया था। प्रारूप समिति ने यथासम्भव अपने इस कर्त्तव्य को निवाहा है। किन्तु कुछ मामले ऐसे भी सम्मुख आये जिन पर प्रारूप समिति को कुछ परिवर्त्तन करने पड गए।"[2] किन्तु एक सम्बन्ध में सविधान का प्रारूप उद्देश्यो सम्बन्धी प्रस्ताव से विल्कुल मेल नही खाता। उक्त प्रस्ताव में चाहा गया था, "भारत गणराज्य में उल्लिखित प्रदेशो की स्थिति स्वायत्तशासी एकको की सी रहेगी और उनको समस्त अवशिष्ट शक्तियाँ प्रदान कर दी जायँगी।" सविधान के प्रारूप मे सघीय अधिकार समिति (Union Powers Committee) की सिफारिश पर यह सुझाया गया है कि अवशिष्ट शक्तियाँ सघ के पास रहे (देशी राज्य अपवाद होगे)। प्रारम्भ में अवयवी एकको को पूर्ण स्वायत्तशासी एकक राज्य वनाने का विचार था, किन्तु अव उसके स्थान पर शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना का उपवन्ध किया गया है। ऐसा इसलिए आवश्यक हो गया क्योकि देश का बँटवारा हो गया[3] और देश की छाती पर ही एक विदेशी राज्य की स्थापना कर दी गई है।

सविधान सभा के २९ अगस्त, सन् '४७ के प्रस्ताव के अनुसार प्रारूप समिति की नियुक्ति की गई थी, और समिति ने अपना प्रतिवेदन २१ फरवरी, १९४८ को प्रस्तुत किया। ४ नवम्बर, १९४८ को उक्त रिपोर्ट सविधान सभा के विचारार्थ प्रस्तुत की गई अर्थात् उक्त रिपोर्ट प्रकाशित होने के लगभग आठ महीने वाद। इस प्रकार इतना पर्याप्त समय दे दिया गया जो सर्वसाधारण, समाचार-पत्र और प्रान्तीय विधान सभाएँ उक्त रिपोर्ट पर विचार करके जनमत तैयार कर सकें। इसका प्रथम वाचन सामान्य विचार-विनिमय के साथ ४ नवम्बर को प्रारम्भ होकर

---

[1] प्रारूप समिति के अन्य सदस्य निम्नलिखित थे—एन० गोपालास्वामी आयगर; के० एम० मुन्शी, सैयद मौहम्मद सादुल्ला, एन० माधव राव, डी० पी० खेतान। सर बी० एल० मित्तर को प्रारम्भ में सदस्य नियुक्त किया गया था, किन्तु वह सविधान सभा के प्रथम अधिवेशन के वाद उपस्थित न हो सके क्योंकि वह सविधान सभा के सदस्य ही नहीं रहे।

[2] Draft Constitution of India, III

[3] उद्देश्यों सम्बन्धी प्रस्ताव, १३ दिसम्बर, १९४६ का पुर स्थापित किय गया था और २२ जनवरी, १९४७ को स्वीकृत हुआ। माउण्टबैटन योजना के अनुसार ३ जून, १९४७ को देश का बँटवारा निश्चित हो गया।

अनुसूचित क्षेत्रो को, अछूतो और अन्य पिछडे हुए वर्गों को पर्याप्त सरक्षण प्रदान किये जायेंगे, और

(७) इस प्रकार राष्ट्र की एकता अक्षुण्ण रखने के लिए, गणराज्य की प्रादेशिक स्वतन्त्रता को भी अक्षुण्ण रखने के हेतु और समस्त देश के जल-थल और आकाश के ऊपर पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न अधिकारो की स्वतन्त्रता एव गरिमा की रक्षार्थ

(८) इस अति प्राचीन देश ने ससार में अपना अधिकारपूर्ण एव सम्मान्य स्थान प्राप्त किया है और हम सभी भारत के नागरिक ससार में शान्ति स्थापनार्थ और समस्त मनुष्य जाति के कल्याणार्थ प्रत्येक कार्य में पूर्ण योगदान देंगे।'[1]

उद्देश्यो सम्बन्धी प्रस्ताव १३ दिसम्बर, १९४६ को प्रस्तुत किया गया था और २२ जनवरी, १९४७ को स्वीकृत हुआ। इस प्रस्ताव के द्वारा उन मौलिक उद्देश्यो पर प्रकाश डाला गया था जिनके आलोक में सविधान सभा को सविधान तैयार करना था। उक्त प्रस्ताव के मुख्य उपबन्ध निम्नलिखित थे .

(१) भारत पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न और स्वतन्त्र गणराज्य होगा,

(२) भारत लोकतन्त्रात्मक सघ (Union) होगा और उसके सभी अवयवी एकको में समान स्तर की स्वशासन की व्यवस्था होगी। पडित जवाहरलाल नेहरू ने बल देकर कहा था कि 'अलग-अलग राज्यो में स्वतन्त्रता के विभिन्न स्तर नहीं होगे अर्थात् देशी राज्यो में भी और शेष भारत में भी सभी नागरिको को समान स्वतन्त्रता प्राप्त होगी।"[2]

(३) भारत की सघीय सरकार एव अवयवी एकको की सरकारो को समस्त राजनीतिक शक्ति एव समस्त अधिकार जनता से ही प्राप्त हुए हैं,

(४) देश का सविधान ऐसी शासन-व्यवस्था को जन्म देगा कि सभी लोगो को सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक समानता के आधार पर, अवसरो की समानता के आधार पर और विधि के समक्ष सभी की समानता के आधार पर पूर्ण न्याय मिलेगा,

(५) विधि के अनुसार तथा लोक सदाचार की रक्षा करते हुए सभी नागरिको को विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना, उद्यम और व्यापार, साहचर्य और क्रियाकलाप की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी,

(६) सविधान अल्पसख्यको, पिछडे हुए और अनुन्नत प्रदेशो अथवा अनुसूचित क्षेत्रो, अछूत एव अन्य पिछडे हुए वर्गों को न्याय अधिकार प्रदान करेगा ताकि सभी लोग देश के शासन में समान भाग ले सकें और सभी को समान सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक अधिकार न्याय्य रूप में मिलें,

(७) सविधान सभा ऐसा सविधान निर्माण करे कि जिसके बल पर ससार के राष्ट्रो में भारत को गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हो और तब भारत विश्व-शान्ति एव मनुष्य-मात्र के कल्याणार्थ सभी कार्यों में पूर्ण योगदान दे।

सविधान की मुख्य सामग्री उन अनेको समितियो के प्रतिवेदनो से प्राप्त हुई

---

[1] Constituent Assembly Proceedings, Vol I, Page 57

[2] Constituent Assembly Proceedings, Vol I, Page 60

है जिनमें से कुछ ये हैं—सघीय अधिकार समिति, सघीय सविधान समिति, प्रान्तीय सविधान समिति, अल्पसख्यक मन्त्रणादायक समिति, मौलिक अधिकार समिति, चीफ कमिश्नरो सम्बन्धी समितियाँ, सघ और राज्यो के वीच वित्त वितरण करने वाली समिति, पिछडे प्रदेश सम्वन्धी मन्त्रणा समिति और . र्वोच्च न्यायालय सम्वन्धी समिति आदि आदि। किन्तु सविधान को अन्तिम स्वरूप प्रारूप समिति ने दिया जिस मे सात सदस्य थे और जिसके चेयरमैन डा० अम्वेदकर थे।[1] डा० अम्वेदकर ने सविधान का प्रारूप सविधान के अध्यक्ष को समर्पित करते हुए लिखा था—"प्रारूप तैयार करते समय, प्रारूप समिति से यह आशा की जाती थी कि वह या तो सविधान सभा के निर्णयों को स्वीकार करे अथवा उन अनेको समितियो के निर्णयो को स्वीकार करे जिनको सविधान सभा ने नियुक्त किया था। प्रारूप समिति ने यथासम्भव अपने इस कर्त्तव्य को निबाहा है। किन्तु कुछ मामले ऐसे भी सम्मुख आये जिन पर प्रारूप समिति को कुछ परिवर्त्तन करने पड गए।"[2] किन्तु एक सम्वन्ध में सविधान का प्रारूप उद्देश्यो सम्वन्धी प्रस्ताव से विल्कुल मेल नही खाता। उक्त प्रस्ताव में चाहा गया था, "भारत गणराज्य में उल्लिखित प्रदेशो की स्थिति स्वायत्तशासी एकको की सी रहेगी और उनको समस्त अवशिष्ट शक्तियाँ प्रदान कर दी जायँगी।" सविधान के प्रारूप में सघीय अधिकार समिति (Union Powers Committee) की सिफारिश पर यह सुझाया गया है कि अवशिष्ट शक्तियाँ सघ के पास रहें (देशी राज्य अपवाद होंगे)। प्रारम्भ में अवयवी एकको को पूर्ण स्वायत्तशासी एकक राज्य वनाने का विचार था, किन्तु अब उसके स्थान पर शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना का उपवन्ध किया गया है। ऐसा इसलिए आवश्यक हो गया क्योकि देश का वँटवारा हो गया[3] और देश की छाती पर ही एक विदेशी राज्य की स्थापना कर दी गई है।

सविधान सभा के २९ अगस्त, सन् '४७ के प्रस्ताव के अनुसार प्रारूप समिति की नियुक्ति की गई थी, और समिति ने अपना प्रतिवेदन २१ फरवरी, १९४८ को प्रस्तुत किया। ४ नवम्वर, १९४८ को उक्त रिपोर्ट सविधान सभा के विचारार्थ प्रस्तुत की गई अर्थात् उक्त रिपोर्ट प्रकाशित होने के लगभग आठ महीने वाद। इस प्रकार इतना पर्याप्त समय दे दिया गया जो सर्वसाधारण, समाचार-पत्र और प्रान्तीय विधान सभाएँ उक्त रिपोर्ट पर विचार करके जनमत तैयार कर सकें। इसका प्रथम वाचन सामान्य विचार-विनिमय के साथ ४ नवम्वर को प्रारम्भ होकर

---

[1] प्रारूप समिति के अन्य सदस्य निम्नलिखित थे—एन० गोपालास्वामी आयगर, के० एम० मुन्शी, सैयद मोहम्मद साद्उल्ला, एन० माधव राव, डो० पी० खेतान। सर वी० एल० मित्तर को प्रारम्भ में सदस्य नियुक्त किया गया था, किन्तु वह सविधान सभा के प्रथम अधिवेशन के वाद उपस्थित न हो सके क्योंकि वह सविधान सभा के सदस्य ही नहीं रहे।

[2] Draft Constitution of India, III.

[3] उद्देश्यों सम्वन्धी प्रस्ताव, १३ दिसम्बर, १९४६ को पुर स्थापित किय गया था और २२ जनवरी, १९४७ को स्वीकृत हुआ। माउण्टबैटन योजना के अनुसार ३ जून, १९४७ को देश का बँटवारा निश्चित हो गया।

९ नवम्बर तक चला। इसके उपरान्त द्वितीय वाचन प्रारम्भ हुआ जिसमें प्रारूप की धाराओ पर विचार किया गया। द्वितीय वाचन १५ नवम्बर, १९४८ से १७ अक्तूबर, १९४९ तक चलता रहा। इस पर ७६३५ सशोधन प्रस्तुत किये गए जिनमें मे २४७३ सशोधन पुरस्थापित किये गए और उन पर वादविवाद हुआ। इस के उपरान्त सविधान सभा पुन प्रारूप के तृतीय वाचन के लिए १४ नवम्बर, १९४९ को बैठी। २६ नवम्बर को तृतीय वाचन समाप्त हुआ। इसी तिथि को सविधान के ऊपर सविधान सभा के अध्यक्ष के हस्ताक्षर हुए और सविधान पारित घोपित कर दिया गया।

२४ जनवरी, १९५० को सविधान सभा का अन्तिम अधिवेशन हुआ। इस अधिवेशन में सविधान सभा ने डा० राजेन्द्र प्रसाद को नये सविधान के अनुसार भारतीय गणराज्य का प्रथम राष्ट्रपति निर्वाचित किया और २६ जनवरी, १९५० से नया सविधान प्रभावी हो गया। गणराज्य के प्रतिष्ठापन के लिए उक्त तिथि को इसलिए चुना गया क्योकि इसी तिथि अर्थात् २६ जनवरी, १९३० को ही कांग्रेस ने लाहौर अधिवेशन में पूर्ण स्वतन्त्रता-सम्बन्धी प्रसिद्ध ऐतिहासिक प्रस्ताव पास किया था। तभी से प्रति वर्ष उसी तिथि को सारे देश में सभाएँ करके स्वतन्त्रता-सम्बन्धी वही प्रस्ताव दुहराया जाता रहा। यह क्रम १९४७ तक चलता रहा जब तक कि भारत स्वतन्त्र नही हुआ। यह अत्यन्त शुभ निश्चय था कि गणराज्य के प्रतिष्ठापन के लिए वही दिन चुना गया जिस दिन, अर्थात् २६ जनवरी को, स्वतन्त्रता दिवस मनाया जा रहा था।

सविधान निर्माताओ का कार्य (Task of the Constitution Makers)—इसमे सन्देह नही है कि सविधान के निर्माताओ का कार्य अत्यन्त कठिन था। अनेको और विभिन्न प्रकार की समस्याएँ उनके सम्मुख आईं। उनको ऐसे ३० करोड व्यक्तियो के लिए सविधान तैयार करना था जो किसी भी प्रकार न तो एक जाति के थे और न एक ही प्रकार के लोग थे। हमारे देश में अनेको विभिन्न जातियाँ निवास करती हैं, जो विभिन्न भाषाएँ बोलती हैं, जिनके विभिन्न रीति-रिवाज हैं, जिनकी विभिन्न परम्पराएँ हैं और जिनकी सस्कृतियाँ भी विभिन्न समझी जा सकती हैं। इसके अतिरिक्त देश में धार्मिक विभेद भी थे जिनको अग्रेजो ने खूब भडकाया था और जिन विभेदो के आधार पर वे हमारे देश में फलफूल रहे थे। धार्मिक विभेदो के आधार पर मुस्लिम लीग द्वारा देश के विभाजन की माँग, और अन्त में देश के पश्चिमी और पूर्वी भू-भागो के खण्ड-छेदन के कारण वह सारी प्रस्तावित शासन-व्यवस्था अस्तव्यस्त हो गई जिसको देश में प्रचलित करने के लिए सोचा जा रहा था। भारत की ही छाती पर एक विदेशी सत्ता के थोप देने के फलस्वरूप अब सविधान के निर्माताओ के सम्मुख देश की एकता और सुरक्षा का भी भारी खयाल था।

इसके अतिरिक्त भारतीय रजवाडो अथवा देशी राज्यो की अत्यन्त व्यग्रकारी समस्या थी। ब्रिटिश सरकार द्वारा स्व-परमेष्ठता के त्याग सम्बन्धी घोषणा ने बहुत ही पेचीदा स्थिति उत्पन्न कर दी थी। देशी राज्यो को स्वतन्त्र छोड दिया गया था

कि वे या तो भारत की उत्तराधिकारी सरकार या सरकारो के साथ सघीय सम्बन्ध स्थापित कर लें, या यदि ऐसा सम्भव न हो तो वे "उत्तराधिकारी सरकार या सरकारो के साथ मनोवाछित राजनीतिक सम्बन्ध स्थापित कर लें।"[1] "मन्त्रिमण्डल मिशन (Cabinet Mission) ने जो ज्ञापन 'देशी राज्यो, सन्धियो और परमेष्ठता' के सम्बन्ध में प्रकाशित कराया था, और जिस पर माउण्टवेटन (Mountbatten) योजना में भी वल दिया गया था, उसकी यदि विधि रूप में व्याख्या की जाय, तो उक्त ज्ञापन ने किसी देशी राज्य के राजा या नवाव को अथवा राजाओ और नवावो को पूरी स्वतन्त्रता दे दी थी कि वे चाहें तो स्वतन्त्र हो सकते हैं या वे किसी विदेशी सत्ता मे सन्धि कर सकते हैं और इस प्रकार भारत की छाती पर छोटे-छोटे स्वतन्त्र द्वीपो के रूप में रह सकते हैं।"[2] सत्य तो यह है कि कुछ राजे विदेशी राज्यो के साथ वात-चीत शुरू कर चुके थे और स्वतन्त्र राज्य स्थापित करने के स्वप्न देख रहे थे।[3] विभाजन के वाद भारत के वचे-खुचे अग की एकता इतनी आवश्यक थी कि "भारत सरकार का उसको वनाए रखना और उसके लिए व्यग्र होना स्वाभाविक था।"[4] प्रो० कूपलैंड (Prof Coupland) ने वहुत ही ठीक कहा था कि भारतवर्ष अपने शरीर के उत्तर-पूर्वी और उत्तर-पश्चिमी मुस्लिम-वहुल अगो के कट जाने पर भी जीवित रह सकता था। किन्तु क्या भारत हृदय के विना भी जीवित रहता? इसलिए स्वभावतः नई भारत सरकार का सवसे पहला कार्य यह था कि वह अपने हृदय की रक्षा करे, और देशी राज्य ही भारत का हृदय था। सविधान के निर्माताओ ने श्रमपूर्वक देशी राज्यो को भारत की सवैधानिक शासन-व्यवस्था में ढालने का प्रयत्न किया, जिसमे उनका उचित आकार वन जाय और उनमें शेष भारत के समान लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था स्थापित हो जाय। १५ मार्च, १९५० के देशी राज्यो सम्वन्धी श्वेत-पत्र (White Paper) में ठीक ही कहा गया था कि 'भारतीय स्वतन्त्रता के कोई अर्थ ही न रह जायेंगे, यदि देशी राज्यो के लोगो को भी वही राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रताएँ प्राप्त न हो सकी जो भारतीय प्रान्तो के लोगो को प्राप्त हैं।"

इसके अतिरिक्त पिछडी हुई और अनुन्नत जातियो और प्रदेशो, जिनको अनुसूचित आदिम जातियाँ और अनुसूचित-क्षेत्र भी कहा जा सकता है, की उन्नति का भी उपबन्ध करना था। इसलिए सविधान के निर्माताओ का कार्य अत्यन्त कठिन और भारी था। भारत में अनेको प्रकार की विभिन्नताएँ हैं जिनको ब्रिटिश शासन ने और अधिक वढाया था और उस दिशा में पूर्ण अस्तव्यस्तता का स्थिति उत्पन्न कर दी थी, और समस्त देश में सामाजिक, आर्थिक एव राजनीतिक कारणो से भी वह

---

[1] Memorandum of the Cabinet Mission on "States, Treaties and Paramountcy" dated May 12, 1946

[2] Refer to V N Shukla's 'The Constitution of India' (1950) XIVII

[3] उदाहरण स्वरूप जूनागढ़ और हैदरावाद।

[4] भारतीय राज्यों पर श्वेत पत्र (White Paper) dt July 1948 पृष्ठ स० १८।

विभिन्नता खूब फली-फूली थी, और सविधान के निर्माताओ को इसी अस्तव्यस्ततापूर्ण विभिन्नता के प्रांगण में एकता स्थापित करनी थी। सविधान सभा ने आश्चर्यजनक सफलता के साथ एक ऐसा सविधान तैयार किया जिसके द्वारा वे सभी कठिन समस्याएँ हल हो गई जो देश के सम्मुख आई हुई थी।[1]

सविधान के आधार अथवा स्रोत (Sources of the Constitution)—सविधान के निर्माताओ ने अत्यन्त बुद्धिमत्तापूर्वक और काफी खुलकर ससार के अन्य लोकतन्त्रात्मक देशो के गाढे अनुभवो से लाभ उठाया है। सत्य यह है कि ससार के प्राय सभी ज्ञात सविधानो को पढ कर ही सविधान का प्रारूप तैयार किया गया था। सविधान के लेखको के समक्ष १९३५ का भारत सरकार अधिनियम एव उसकी क्रियान्विति भी थी। सविधान ने बहुत अशो में १९३५ के भारत सरकार अधिनियम मे भी सहायता ली है। प्रो० श्रीनिवासन के अनुसार "हमारा सविधान भाषा और विषय की दृष्टि से १९३५ के भारत सरकार अधिनियम का बहुत अशो में ऋणी है।"[2] सविधान का लगभग दो-तिहाई भाग उक्त अधिनियम से ही लिया गया है, किन्तु देश की आधुनिक स्थिति और १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की व्यावहारिक क्रियान्विति के अनुसार कही-कही आवश्यक सशोधन भी कर दिए गए हैं।

सविधान के सैद्धान्तिक भाग अर्थात् मौलिक अधिकारो वाले भाग पर सयुक्त राज्य अमेरिका के सविधान की छाप है और "किसी सीमा तक नवीनतर अन्य सविधानो, जैसे आयरलैंड के सविधान का भी स्पष्ट प्रभाव पडा है।"[3] जैसा कि सविधान के निर्माताओ ने भी स्वीकार किया है, सविधान के सघीय स्वरूप पर मुख्यत कनाडा के सविधान का प्रभाव है और जहाँ तक सविधान की प्रस्तावना (Preamble) का सम्बन्ध है, उक्त प्रस्तावना की भाषा 'ब्रिटिश-उत्तरी अमेरिका अधिनियम' (British North America Act) के अनुसार ढाली गई है, और उसमे यत्र-तत्र आस्ट्रेलिया के सविधान की प्रस्तावना से भी भाव और भाषा ग्रहण किए गए हैं। समस्त शासन का, अर्थात् केन्द्र में भी और राज्यो में भी ससदीय स्वरूप, ब्रिटिश परम्पराओ से लिया गया है और केन्द्रीय शासन एव राज्यो के शासनो पर ब्रिटिश ससदीय शासन की परम्पराओ का स्पष्ट प्रभाव है।

इस प्रकार भारतीय गणराज्य का सविधान एक अद्भुत प्रलेख है जिसको अनेको स्रोतो से तैयार किया गया है।[4] सविधान के निर्माताओ ने प्रयत्नपूर्वक अन्य सविधानो के दोषो को यथासम्भव दूर रखा और उनकी केवल वही विशेषताएँ ली गई जो विभाजन के बाद भारत की तत्कालीन परिस्थितियो के अनुकूल थी। इस

---

[1] सविधान सभा में डा० राजेन्द्र प्रसाद की २६ नवम्बर, १९४९ की वक्तृता को देखिये।

[2] Democratic Government of India, op citd, p 143

[3] Basu, Durgadas, Commentary on the Constitution of India (1952) p 4

[4] Refer to the Constituent Assembly Proceedings, Vol VII, p 37 ff

कारण शासन-व्यवस्था के मान्य प्रयोगो और सिद्धान्तो से कही-कही हमारा सविधान प्रयाण कर गया है क्योकि हम अपने देश को शान्ति-काल और युद्ध-काल के आपात कालो के अनुरूप बनाना चाहते हैं ।

Suggested Readings

	Constituent Assembly Proceedings, Vol I, VII
Kapur, *Anup Chand*	The Theory of the Constituent Assembly and its Development in India
Munshi, *K M*	Constituent Assembly—the Hour of Freedom The Hindustan Times, Delhi, Independence Day Supplement, Monday, Aug 15, 1955
Narang, *Jaigopal*	Constituent Assembly and our Demand
Singh, Gurmukh Nihal	The Idea of an Indian Constituent Assembly, Indian Journal of Political Service January—March, 1941
Singh, Gurmukh Nihal	The Indian Constituent Assembly
Srinivasan, *N*	The Theory of the Constituent Assembly Indian Journal of Political Service, April—June 1940

अध्याय २

भारत के संविधान की मुख्य विशेषताएँ

(Salient Features of the Constitution)

बडा प्रलेख (A Comprehensive Document)—भारत का सविधान एक बडा प्रलेख है जिसमें प्रारम्भ में ३९५ अनुच्छेद[1] थे और आठ अनुसूचियाँ थीं और कुल प्रलेख २५१ पृष्ठो का था। ससार का कोई अन्य सविधान इतना बडा और विस्तृत नही है और न किसी सविधान पर इतना विचार किया गया जितना कि भारत यूनियन के सविधान पर हुआ। इसके कई कारण थे। भारत की पुरानी शासन-व्यवस्था और समस्त देश के राजनीतिक एव आर्थिक सगठन के कारण भी सविधान के निर्माताओ का कार्य कठिन था। इसके अतिरिक्त विभिन्न वर्गों को एक शासन-व्यवस्था में सम्मिलित करना था और अति विभिन्न एकको को शासन के एक सम्मिलित अग में पिरोना था। इन विभिन्नताओ के कारण सविधान के निर्माताओ का कार्य पर्याप्त कठिन हो गया था और ऐसी स्थिति में शासन में व्यवस्थापन एव प्रशासन-सम्बन्धी एकरूपता लाना प्राय असम्भव दिखाई दे रहा था। इसलिए आरम्भ मे सविधान ने चार विभिन्न प्रकार के अवयवी एकको की व्यवस्था की—अर्थात् चार प्रकार के राज्यो की व्यवस्था की गई। भाग A, भाग B, भाग C, और भाग D जिनको प्रथम अनुसूची के राज्यो मे विभाजित कर दिया गया। यह भी निश्चित किया गया कि इन चारो प्रकार के राज्यो में विभिन्न शासन-व्यवस्था प्रचलित होगी।

देश के विभाजन के उपरान्त जितना खण्डित भारत का भू-भाग बचा था उसकी प्रादेशिक एकता, देश की राजनीतिक शक्ति, पूर्ण आर्थिक विकास और भारत के सभी लोगो के पूर्ण सांस्कृतिक विकास के लिए इतनी आवश्यक थी कि सविधान के निर्माताओ ने कनाडा के सविधान को आधार बनाया और इस प्रकार न केवल भारतीय सघ के लिए सविधान बनाया अपितु राज्यो के लिए भी सविधान बनाए। सविधान ने सघ और राज्यो के बीच के जटिल सम्बन्धो पर भी विस्तृत प्रकाश डाला है, साथ ही अन्तर्राज्यीय सम्बन्धो के समन्वय तथा ऐसे विवादो के निर्णय की व्यवस्था की है जो विभिन्न राज्यों में बहने वाली नदियो के पानी अथवा नदियो की घाटियो से सम्बन्धित हो। सविधान सभा ने यह निर्णय किया कि इस प्रकार की विशिष्ट समस्याओ के लिए, जिनका सम्बन्ध सार्वजनिक सेवाओ से हो, अथवा विशेष वर्गों, जैसे आँग्ल-भारतीय, अनुसूचित जातियो अथवा अनुसूचित आदिमजातियो से हो, अलग से सवैधानिक अधिनियम बनाना चाहिए। उसी प्रकार

---

[1] इस समय भारतीय सविधान में ३९७ अनुच्छेद हैं और ९ अनुसूचियाँ हैं और सविधान की पृष्ठ सख्या २५४ है।

देश की अधिकृत भाषा और प्रादेशिक भाषाओ के सम्वन्ध मे भी सविधान में अलग से उपवन्ध रखे गए हैं ।

सविधान में मौलिक अधिकारो की एक सूची दी गई है और साथ ही राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व भी दिये गये हैं । सविधान के निर्माताओ ने सघीय न्यायपालिका और राज्यो की न्यायपालिकाओ के सगठन और अधिकार-क्षेत्र पर भी प्रकाश डाला है । यह भी हो सकता था कि केन्द्र में और राज्यो में न्यायपालिका के सगठन के सम्वन्ध मे सामान्य व्यवस्थापन के द्वारा व्यवस्था की जा सकती थी जिस प्रकार कि सयुक्त राज्य अमरीका और कई अन्य देशो मे हुआ ।

अन्तश , सविधान में आपातकालीन शक्तियो के सम्वन्ध मे भी उपवन्ध है । सविवान के निर्माताओ ने सविधान मे क्योकर आपातकालीन शक्तियो के सम्वन्ध में उपवन्ध रखा, इसका विवेचन उपयुक्त अवसर पर किया जायगा । यहाँ पर इतना निवेदन कर देना पर्याप्त होगा कि देश के विभाजन से पूर्व और देश के विभाजन के उपरान्त समस्त देश मे ऐसी भयावह स्थिति उत्पन्न हो गई थी कि सविवान के निर्माता भविष्य के वारे में चिंतित हो उठे अत उन्होंने केन्द्र को भारी शक्तियाँ दे डाली जिनसे यदि कभी देश में वाह्य अथवा आन्तरिक विप्लव की स्थिति हो और देश की स्वतन्त्रता को खतरा हो तो केन्द्र स्थिति को उचित ढग से कावू में कर सके ।

इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नही है कि सविधान के निर्माताओ ने सविधान-प्रलेख को लम्वा और वडा प्रलेख रखा, जो कही-कही तो अत्यधिक विस्तृत उपवन्धो से पूर्ण है । यह स्वाभाविक ही था क्योकि किसी देश का सविधान इतिहास के तथ्यो से अछूता नही रह सकता

सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य (A Sovereign Democratic Republic)—सविधान की प्रस्तावना में भारत को पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य कहा गया है । इसका अर्थ है कि भारत प्रभु सत्तावारी राज्य है और वह किसी सत्ता का दास नही है, अर्थात् अपने आन्तरिक प्रवन्ध में और विदेशी सम्वन्वो के निर्वहन में वह पूर्ण स्वतन्त्र है । भारत राज्य की शक्ति अपने अधिकार-क्षेत्र में पूर्ण है और सव प्रकार की मर्यादाओ से परे है ।

इसके अतिरिक्त भारत को लोकतन्त्रात्मक गणराज्य कहा गया है । कुछ लोगो का आक्षेप है कि 'लोकतन्त्रात्मक' और 'गणराज्य' दोनो शव्दो के एक ही अर्थ हैं अर्थात् सर्वसाधारण के निर्वाचित प्रतिनिधियो का शासन हो । किन्तु 'लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' को शव्दो की पुनरुक्ति (Tautology) मात्र कहना उचित नही है । केवल लोकतन्त्र का अर्थ आवश्यकत गणराज्य शासन नहीं है । लोकतन्त्र, इस प्रकार के नृपतन्त्र में भी प्राप्त हो सकता है, जैसे इग्लैड में प्रचलित है । गणराज्य में, राज्य का कार्यपालिका प्रधान, आवश्यकत सर्वसाधारण द्वारा निर्वाचित प्रधान होना चाहिए, चाहे सर्वसाधारण प्रत्यक्ष रूप से चुनें या सर्वसाधारण के प्रतिनिधि चुनें । भारत के सविधान में 'लोकतन्त्रात्मक गणराज्य' से यह ध्वनि निकलती है कि राज्य का कार्यपालिका प्रधान कोई राजा नहीं होगा और इससे यह भी अर्थ निकलता है

कि सविधान समस्त देश मे लोकतन्त्रात्मक सस्थाएँ स्थापित करेगा जिनके द्वारा सभी नागरिको को न्याय, स्वतन्त्रता और समानता प्राप्त होगी और सभी लोगो मे बन्धुत्व की भावना का सचार होगा। दूसरे शब्दो मे भारतीय सविधान की प्रस्तावना ने भारत में ऐसा शासन स्थापित किया है जो स्वरूप में और यथार्थ में सर्वसाधारण का शासन है, सर्वसाधारण के लाभ के लिए शासन है और सर्वसाधारण के द्वारा शासन है।

कुछ लोगो का आक्षेप है कि भारत राष्ट्रमण्डल[1] का सदस्य बना हुआ है और उसने ब्रिटिश सम्राट् को राष्ट्रमण्डल के स्वतन्त्र राष्ट्रो के बीच स्वतन्त्र सम्पर्क का प्रतीक मान लिया है, इसलिए ब्रिटिश सम्राट् को एक प्रकार से राष्ट्रमण्डल के सभी स्वतन्त्र राष्ट्रो का प्रमुख अथवा प्रधान स्वीकार कर लिया है, और यह भारत की गणराज्यीय स्थिति और सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न स्वरूप के सर्वथा विपरीत है। उन्ही आलोचको की यह सम्मति है कि १९४९ का राष्ट्रमण्डलीय समझौता विश्वासघात है और देश के विभाजन के बाद काँग्रेस की सब से बडी गलती है। वे उक्त समझौते को ब्रिटिश कूटनीति की विजय समझते हैं और भारतीय लोगो की राष्ट्रीय भावनाओ के प्रति गद्दारी समझते हैं।

अप्रैल १९४९ का राष्ट्रमण्डलीय समझौता, जो आठ राष्ट्रमण्डलीय देशो के प्रतिनिधियो की सम्मिलित घोषणा में निहित है, वास्तव में एक रियायतपूर्ण समझौता था अथवा "एक प्रकार की राजनीतिक चाल थी जिसके द्वारा दो असम्बद्ध व्यवस्थाओ में समन्वय कराना अभीष्ट था अर्थात् एक ओर तो भारत निर्णय कर चुका था कि सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्र राज्य होते हुए वह गणराज्यीय सविधान स्वीकार करेगा, और दूसरी ओर वह यह भी चाहता था कि राष्ट्रमण्डल का सदस्य बना रहे।"[2] इसमे कोई सन्देह नही है कि भारत ने कतिपय आशाओ और लाभो को लक्ष्य करते हुए राष्ट्रमण्डल में रहना उचित समझा हो और सम्राट् को "राष्ट्रमण्डल का प्रधान और राष्ट्रमण्डल के स्वतन्त्र राष्ट्रो के बीच स्वतन्त्र सम्पर्क का प्रतीक माना हो, किन्तु यह सवैधानिक विरोधाभास अवश्य है।" सम्राट् को ऐसे राष्ट्रमण्डल का प्रधान स्वीकार किया जाना जिसका भारत एक सदस्य है, और दूसरी ओर भारत का पूर्ण गणराज्य होना, परस्पर असम्बद्ध बातें हैं और सवैधानिक दृष्टिकोण से तो यह बेमानी और गडबड स्थिति है। यदि श्री एम० रामास्वामी की बात मान ली जाय कि सम्राट्, राष्ट्रमण्डल का प्रधान अवश्य है किन्तु वह प्रधान पद केवल औपचारिक है और उसका सवैधानिक महत्त्व प्राय बिलकुल नही है,[3] तो भी इसमे सवैधानिक हीनता का बोध तो अवश्य होता है, जैसा कि

---

[1] २७ अप्रैल, १९४९ को लण्डन कान्फ्रेंस के समाप्त होने पर राष्ट्रमण्डलीय प्रधान मन्त्रियों के वक्तव्य को देखिये।

[2] Banerjee, D N "The Commonwealth Agreement and India", Indian Journal of Political Science, April—June, 1950, page 32

[3] The Indian Law Review, Vol III, 1949, No 2

श्री राबर्ट जी० मेन्जीज (Robert G Menziez) ने, जो आस्ट्रेलिया के विरोधी दल के नेता थे, २८ अप्रैल १९४९ को कहा था कि "यह बात समझ में नही आती कि कोई राष्ट्र एक ओर तो गणराज्य बनने जा रहा है तथा राजतन्त्र से सम्बन्ध-विच्छेद कर रहा है, किन्तु साथ ही संयुक्त राष्ट्रमण्डल की सदस्यता से चिपका हुआ है जो निश्चित रूप से और मौलिक रूप से सम्राट् का राष्ट्रमण्डल है।"

किन्तु श्री मेन्जीज ने तथ्यो को समझा नही। भारत की स्थिति वही नही है जो अन्य अधिराज्यो (Dominions) की है। भारत की ब्रिटिश क्राउन के प्रति कोई निष्ठा नहीं है। ब्रिटिश सम्राट् को राष्ट्रमण्डल के स्वतन्त्र सदस्यो के बीच स्वतन्त्र सम्पर्क का प्रतीक माना गया है। कानूनत भारत की स्थिति राष्ट्रमण्डल के अन्य सदस्यो से ब्रिटिश शासन और ब्रिटिश संसद् के प्रति निष्ठा और आधीनता दोनो विचारो से भिन्न है। ग्लैडहिल (Gledhill) ने इसी बहस में भाग लेते हुए कहा था, "यद्यपि वेस्टमिन्स्टर संविधि (Statute of Westminster) में यह नही कहा गया है कि सब डोमीनियनो अथवा अधिराज्यो के विधान-मण्डल इंगलैंड की संसद् के आधीन स्वीकार किए जायें और यह भी सम्भावना नही है कि इंगलैंड की संसद् जान-बूझ कर कभी कोई ऐसा अधिनियम पास करेगी जिसका अधिराज्य अथवा डोमीनियन पर प्रभाव पडे, किन्तु यह प्रश्न उठ सकता है कि यदि कभी इंगलैंड की संसद् कोई ऐसा अधिनियम पास कर दे जो वेस्टमिन्स्टर की संविधि के विरुद्ध हो तो इंगलैंड का कोई न्यायालय यह दृष्टिकोण अपना सकता है कि क्योकि इंगलैंड की संसद् प्रत्येक विधि पारित करने के लिए सक्षम और स्वतन्त्र है इसलिए उस विधि को अधिनियम ही माना जायगा। इस प्रकार की स्थिति भारत के बारे में कभी नही आएगी क्योकि भारत के विधान-मण्डल केवल अपने संविधान के ही आधीन हैं।"[1]

राष्ट्रमण्डलीय समझौते का कोई वैधानिक महत्त्व नही है। यह संविधान से परे की चीज है। राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहने से भारत को यह अधिकार है कि वह राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलनो में भाग लेगा और राष्ट्रमण्डल सम्बन्धी सभी मामलो में उससे पूछा जायगा और उसकी राय माँगी जायगी। राष्ट्रमण्डलीय सम्मेलनो में जो निर्णय किए जायेंगे, उन निर्णयो को भारत के ऊपर उसकी इच्छा के विरुद्ध लागू नही किया जा सकता। यदि राष्ट्रमण्डल का कोई सदस्य-राष्ट्र किसी विदेशी सत्ता के साथ सन्धि करता है या किसी विदेशी सत्ता के साथ युद्ध की घोषणा करता है, तो वह सन्धि अथवा युद्ध की घोषणा भारत के ऊपर बिना भारत की स्वीकृति के प्रभावी नही होगी। १० मई, १९४९ को प० जवाहरलाल नेहरू ने एक ब्रॉडकास्ट भाषण में देहली रेडियो स्टेशन से कहा था, "हमने बहुत दिन पहले पूर्ण स्वराज्य प्राप्त करने की प्रतिज्ञा की थी। वह हमने प्राप्त कर लिया है। क्या कोई राष्ट्र किसी दूसरे राष्ट्र के साथ मैत्री सम्बन्ध स्थापित करने मे अपनी स्वतन्त्रता खो देता है ?

---

[1] The British Commonwealth The Development of its Laws and Constitutions, The Republic of India, Vol VI pp 14—15.

सन्धियो से परस्पर एक दूसरे के बन्धन स्वीकार करने पडते हैं। किन्तु सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्र राष्ट्रमण्डलीय देशो के आपसी स्वतन्त्र सम्पर्क मे किसी प्रकार के किसी के ऊपर कोई बन्धन नही हैं। राष्ट्रमण्डल के देशो के समझौते की शक्ति उसके लचीलेपन और उसकी पूर्ण स्वतन्त्रता में निहित है। सभी जानते हैं कि हर एक सदस्य-राष्ट्र के लिए खुली छूट है कि वह जब चाहे राष्ट्रमण्डल को छोड सकता है।" उसी ब्रॉडकास्ट भाषण को जारी रखते हुए प्रधान मन्त्री ने आगे कहा, "मै बताना चाहता हूँ कि हमने कुछ भी छिपे रूप में नही किया है और हमने अपने ऊपर कोई ऐसे बन्धन स्वीकार नही किए हैं जिनसे हमारी प्रभुसत्ता अथवा परमेष्ठता पर आँच आती हो अथवा जिनसे हमारी गृह नीति अथवा विदेश नीति पर कोई बन्धन लगे हो, न हमने राजनीतिक, आर्थिक अथवा सैनिक क्षेत्र में कोई मर्यादाएँ स्वीकार की हैं। मैने बार-बार अपने देश की विदेशी नीति का यह लक्ष्य निर्धारित किया है कि हम सभी देशो के साथ शान्ति और मैत्री रखेंगे और कभी किसी राष्ट्रीय गुट में शरीक नही होगे। हमारी विदेश नीति का अब भी वही निदेशक सिद्धान्त है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न भारत गणराज्य, यदि अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रमण्डलीय राष्ट्रो के साथ स्वतन्त्र सम्पर्क रखता है, तो भी वह इसी नीति पर स्वतन्त्रतापूर्वक चलता रहेगा, सम्भव है कि अब भारत पहले से भी अधिक प्रभाव और स्वतन्त्रता के साथ अपनी उसी स्वतन्त्र विदेश नीति पर चले।" हमारे प्रधान मन्त्री प० नेहरू ने ओटावा (Ottawa) में २४ अक्तूबर, १९४९ को एक प्रेस कान्फ्रेंस में भी यही विचार व्यक्त किए थे।

जहाँ तक भारत ने ब्रिटिश सम्राट् को राष्ट्रमण्डल का प्रधान स्वीकार किया है, इस सम्बन्ध में यह समझ लेना चाहिए कि सम्राट्, राष्ट्रमण्डल के स्वतन्त्र देशो के बीच के स्वतन्त्र सम्पर्क का प्रतीक मात्र है, और सम्राट् को केवल अपनी इस स्थिति में ही राष्ट्रमण्डल का प्रधान स्वीकार किया गया है। सम्राट् इस समय उसी रूप में भारत का सम्राट् नही है जिस रूप में कि उस समय था जबकि भारत भी अधिराज्य अथवा डोमिनियन था और जब तक कि भारत ने अपने आप को सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्र गणराज्य घोषित नही किया था। इस भाव को लेते हुए भारत के प्रधान मन्त्री प० नेहरू ने १० मई, १९४९ के अपने ब्रॉडकास्ट भाषण में कहा था, "यह याद रखना चाहिए कि राष्ट्रमण्डल किसी भी स्थिति में राज्यो से बढ़कर राज्य (Super-State) नही है। हमने तो स्वतन्त्र राष्ट्रो के स्वतन्त्र सम्पर्क के औपचारिक प्रधान के रूप में सम्राट् को स्वीकार किया है। किन्तु राष्ट्रमण्डल में सम्राट् की औपचारिक स्थिति के साथ कोई विशेष कर्त्तव्यो का उपबन्ध नही है। जहाँ तक भारत के सविधान का सम्बन्ध है, ब्रिटिश सम्राट् के लिए कोई स्थान नही है और हम किसी प्रकार उनके राज-भक्त नही होगे।"

सरदार पटेल ने भी २८ अप्रैल, १९४९ को नई दिल्ली में एक प्रेस सम्मेलन में लगभग यही विचार व्यक्त किये थे। उन्होने कहा, "भारत सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न स्वतन्त्र गणराज्य है इसलिए भारत के ऊपर हमारे राष्ट्रमण्डल का सदस्य बने रहने का कोई प्रभाव नही पडता क्योकि हम ब्रिटिश सम्राट के प्रति राज-भक्ति

की निष्ठा नही रखते। सम्राट् तो केवल अन्य सदस्यो की भाँति हमारे लिए भी स्वतन्त्र राष्ट्रो के स्वतन्त्र सम्पर्क का एक औपचारिक प्रतीक होगा।" जब एक पत्रकार ने प्रश्न किया कि राष्ट्रमण्डल के प्रधान के रूप में सम्राट् के कर्त्तव्य क्या होगे तो उन्होने उत्तर दिया, "सम्भवत राष्ट्रमण्डल के प्रधान के रूप में सम्राट् के कोई कर्त्तव्य नही होगे। किन्तु सम्राट् को राष्ट्रमण्डल में कुछ विशेष स्थिति तो अवश्य प्राप्त हुई है।" इसलिए ऐसा समझना भूल होगी कि राष्ट्रमण्डलीय सदस्यता स्वीकार करके भारत ब्रिटिश साम्राज्य का एक भाग ही बना रहा है अथवा भारत अब भी अधिराज्य (Dominion) ही बना हुआ है। राष्ट्रमण्डल की सदस्यता स्वीकार कर लेना, और ब्रिटिश सम्राट् को स्वतन्त्र राष्ट्रो के बीच स्वतन्त्र सम्पर्क का प्रतीक मान लेने से, और इस प्रकार सम्राट् को राष्ट्रमण्डल का औपचारिक प्रधान मान लेने से भी भारतीय स्वतन्त्रता और भारत की सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता पर कोई आँच नही आती। केवल यही भद्दापन अखरता है कि गणराज्य के साथ सम्राट् की स्थिति बेमेल है।

संविधान की प्रस्तावना (Preamble of the Constitution)—सविधान की प्रस्तावना निम्न शब्दो से प्रारम्भ होती है, "हम, भारत के लोग भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य बनाने के लिए" और निम्न शब्दो के साथ समाप्त होती है, "दृढ सकल्प होकर अपनी इस सविधान सभा में आज तारीख २६ नवम्बर, १९४९ ई० (मिती मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, सवत् दो हजार छः विक्रमी) को एतद् द्वारा इस सविधान को अङ्गीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।" सविधान को भारतीय जनता ने ही तैयार किया है और भारतीय जनता ने ही उसे अधिनियमित और अङ्गीकृत किया है। यद्यपि हमारे सविधान मे आयरलैंड[1] के सविधान की तरह एक स्वतन्त्र अनुच्छेद नही दिया गया है जिसमें यह घोषणा की जाती कि समस्त राजनीतिक शक्ति जनता से ही प्राप्त हुई है अथवा सयुक्त राज्य अमेरिका[2] के सविधान की तरह हमारे सविधान ने समस्त सचित अथवा आरक्षित शक्तियो की प्रभुता जनता जनार्दन को नहीं सौंपी है, फिर भी प्रस्तावना में सविधान ने बल देकर कहा है कि भारत के सर्वसाधारण ही अन्तिम रूप से सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न (Sovereign) हैं और सविधान की स्थापना भी सर्वसाधारण के अधिकार के आधार पर ही की गई है। इस प्रकार समस्त राजनीतिक शक्ति जनता से ही प्राप्त होती है और जनता ही समस्त शक्ति की भण्डार है। गोपालन विरुद्ध मद्रास राज्य वाले मामले में न्यायाधीश श्री शास्त्री ने कहा था "इस मे कोई सन्देह नही है, कि सविधान की प्रस्तावना के अनुसार, भारत के सर्वसाधारण ने ही अपने सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न अधिकारो के प्रयोग में सविधान का प्रजातन्त्रात्मक स्वरूप स्वीकार किया। सविधान के इस प्रजातन्त्रात्मक स्वरूप ने नागरिको को आश्वस्त किया है कि व्यक्ति की गरिमा का आदर किया जायगा और प्रत्येक व्यक्ति को पूरे अवसर दिये जायेंगे जिससे वह अपने व्यक्तित्व का

---

1. अनुच्छेद ६।
2. दसवाँ सशोधन।

पूर्ण विकास कर सके। उसी प्रकार भारत के सर्वसाधारण ने ही देश की व्यवस्थापिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका को सविधान में आवश्यक अधिकार प्रदान करते हुए कतिपय मौलिक अधिकार अपने लिए आरक्षित रखे।"

क्योकि भारत के सविधान को भारत के सभी लोगो ने सामूहिक रूप से अङ्गीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित किया है, और भारतीय यूनियन के राज्यो ने पृथक् राज्यो के रूप में अथवा पृथक्-पृथक् राज्यो के लोगो ने अङ्गीकृत नही किया है, इसलिए कोई एकक राज्य अथवा अवयवी एकको का समूह भी न तो सविधान को समाप्त कर सकता है और न सविधान द्वारा निर्माण किये हुए सघ अथवा यूनियन से सम्बन्ध-विच्छेद कर सकता है। भारत की सविधान सभा समस्त भारत के सर्वसाधारण की प्रतिनिधि सभा थी और उक्त सभा ने जो सविधान तैयार किया था, वह अवयवी राज्यो के अनुसमर्थन का विषय नही था, क्योकि स्वय अवयवी एकक राज्यो को भी तो सविधान ने ही निर्मित किया है। इससिए हर प्रकार से भारत के लोग अथवा सर्वसाधारण ही पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न हैं और पूर्ण प्रभुता (Sovereignty) उन्ही में निवास करती है।

कल्याणकारी राज्य (A Welfare State)—भारत का सविधान भारत में ऐसा कल्याणकारी राज्य स्थापित करना चाहता है जिसमें सभी नागरिको के लिए सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय मिलेगा, उन्हे विचार, भाषण, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी, और सभी को समान स्थिति और समान अवसर प्राप्त होगे। इसके अतिरिक्त सविधान भारत के सभी नागरिको मे बन्धुत्व की भावना का सचार करेगा और व्यक्ति की प्रतिष्ठा और गरिमा तथा राष्ट्र की पूर्ण एकता का पूर्ण आश्वासन देगा।

वास्तविक लोकतन्त्र का यही अर्थ है कि सभी नागरिको को न केवल समान समझा जाय, अपितु सभी के साथ न्याय किया जाय। वास्तविक न्याय भावना यही है कि राष्ट्र के सभी सर्वसाधारण का कल्याण और हित-साधन किया जाय। किन्तु थोडे से गिने-चुने व्यक्तियो का अथवा बहुमत का हित-साधन भी वास्तविक न्याय नही है। किन्तु इन अर्थों में उस समय तक सभी के लिए न्याय प्राप्त नही हो सकता जब तक कि सभी की समान स्थिति स्वीकार न कर ली जाय और जब तक कि सभी को विकास के समान अवसर प्राप्त न हो। किन्तु सभी लोगो को समान स्थिति और समान अवसर उस समय तक सम्भवत प्राप्त न हो सकें जब तक कि समाज के सभी वर्ग समान स्थिति के न हो जायें जो प्राप्त अवसरो से पर्याप्त लाभ उठा सकें। इसलिए हमारे सविधान ने न केवल मूल वश, धर्म, जाति और विश्वास के आधार पर सब विभेदो और पक्षपातो को समाप्त कर दिया है, अपितु पिछडे हुए वर्गो के हितो को समुन्नत करने की भी पूरी-पूरी व्यवस्था की है।[1] कुछ लोगो को सम्पत्ति के स्वामित्व के कारण अधिक अवसर प्राप्त हैं, इसके अतिरिक्त मूलवश, जाति और धर्म के आधार पर भी कुछ व्यक्तियो को अधिक अवसर प्राप्त हैं। सविधान की

---

[1] Articles 16(2), (4), Part XVI

आज्ञा है कि राज्य, काम की यथोचित और मानवोचित दशाओ को सुनिश्चित करे[1] तथा प्रत्येक नागरिक को आवश्यकतानुसार प्रसूति सहायता प्रदान करे और प्रत्येक नागरिक को अवकाश का सम्पूर्ण उपभोग सुनिश्चित करने वाली काम की दशाएँ तथा सामाजिक और सास्कृतिक अवसर प्राप्त कराने का पूर्ण प्रयास करे[2], और किसी के श्रम अथवा स्वास्थ्य का दुरुपयोग न हो,[3] और सभी नागरिको के लिए नि शुल्क और अनिवार्य शिक्षा की व्यवस्था हो ।[4] आर्थिक न्याय के आदर्श को प्राप्त करने की दिशा में सविधान ने राष्ट्र की नीति के निदेशक तत्त्वो में प्रतिज्ञा की है कि 'सभी को समान कार्य के लिए समान वेतन हो'[5] तथा 'समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा हो कि जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो[6], तथा आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले जिससे धन और उत्पादन के साधनो का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो ।[7]

किन्तु ये सब आदर्श तभी प्राप्त हो सकते है जब देश में सभी लोगो मे और सभी वर्गों मे बन्धुता स्थापित हो जाय । बन्धुता से यहाँ यह अभिप्राय है कि "सभी मनुष्य जाति के प्राणी अधिकारो और गौरव-गरिमा के अनुसार समान और बराबर हैं। सभी मनुष्यो को भगवान् ने अथवा प्रकृति ने विवेक-बुद्धि और विचार-शक्ति प्रदान की है इसलिए सभी मनुष्य एक दूसरे के प्रति बन्धुता की भावना के अनुसार आचरण करें ।"[8] हमारा सविधान भारत के नागरिको में बन्धुता की उसी भावना का सचार करना चाहता है और छुआछूत की भावना को मिटाकर व्यक्ति की गौरव-गरिमा को स्थापित करना चाहता है, साथ ही साम्प्रदायिक, वर्गवादी तथा स्थानीय एव प्रान्तीय भावनाओ को मिटाकर समस्त राष्ट्र की एकता प्रस्थापित करना चाहता है ।

सक्षेप में हमारा सविधान भारत में 'कल्याणकारी राज्य' अथवा 'समाज सेवक' राज्य (Welfare or Social Service State) स्थापित करना चाहता है । सविधान ने नागरिको को अनेको अधिकार और स्वतन्त्रताएँ प्रदान की हैं, जिनका केवल यही उद्देश्य है कि व्यक्ति का कल्याण हो । किन्तु उसके साथ ही सविधान ने राज्य को भी कुछ ऐसी शक्तियाँ दी हैं कि व्यक्ति यदि अपने अधिकारो का अतिक्रमण करने लगे अथवा यदि एक नागरिक के अधिकार समाज के लिए अहितकर सिद्ध हो जायें तो, राज्य व्यक्ति के अधिकारो के प्रयोग पर आवश्यक अकुश लगा सके ।

एकल नागरिकता (Single Citizenship)—भारत के सविधान ने कनाडा और बर्मा के सविधानो के समान किन्तु सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान[9] के विरुद्ध

---

[1] Article 42

[2] Article 43

[3] Article 39 (f)

[4] Article 45

[5] Article 39 (d)

[6] Article 39 (b)

[7] Article 39 (d)

[8] Article 1 of the Declaration of Human Rights, as passed by the United Nations

[9] सयुक्त राज्य अमरीका में दुहरी नागरिकता है, अर्थात् एक तो सयुक्त राज्य अमरीका की नागरिकता और दूसरी उस राज्य की नागरिकता जिसमें कोई व्यक्ति निवास करता हो । सयुक्त राज्य

अथवा विपरीत अपने नागरिको को एकल नागरिकता प्रदान की है,[1] अर्थात् भारत की नागरिकता। हमारे देश में दोहरी नागरिकता नही है यानी एक तो समस्त देश की नागरिकता और दूसरी उस राज्य की नागरिकता जिसमे सम्बन्धित व्यक्ति निवास करता हो। इसलिए सभी नागरिको के लिए एक ही प्रकार के अधिकार हैं जिनका सभी लोग प्रयोग करते हैं। साथ ही सभी नागरिको के कर्त्तव्य और दायित्व भी समान ही हैं।

मौलिक अधिकार (Fundamental Rights) – अब तक के किसी ससदीय अधिनियम में नागरिको के अधिकारो की कोई सूची नही दी गई थी। सत्य तो यह है कि ब्रिटिश राजनीतिज्ञ इस बात को पसन्द ही नही करते थे कि किसी सवैधानिक अधिनियम में अधिकारो का समावेश किया जाय। साइमन कमीशन (Simon Commission) और सयुक्त ससदीय समिति (Joint Parliamentary Committee) दोनो का यही मत था कि इस प्रकार के अधिकारो की घोषणा से विधानमण्डलो की शक्तियो पर अकुश लगेंगे और इसीलिए बहुत सी विधियाँ अवैध घोषित हो जायेंगी, इसलिए १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने मौलिक अधिकारो को स्थान नही दिया, यद्यपि कहा यह जाता था कि उक्त अधिनियम लोकतन्त्रात्मक सविधान है।

इसके विपरीत कांग्रेस सदैव यही चाहती थी कि मनुष्य के अविच्छेद्य अधिकारों की घोषणा होनी चाहिए और कांग्रेस के दृष्टिकोण से मनुष्य के अविच्छेद्य अथवा मौलिक अधिकार लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था के लिए अत्यावश्यक हैं। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक भारतीय गणराज्य के सविधान में मौलिक अधिकारो की एक विशद सूची होती। एक और भी कारण था जिससे हमारे सविधान में मौलिक अधिकारो की सूची सम्मिलित होती। अल्पसख्यको को आश्वस्त करने के लिए भी अधिकारो की घोषणा करना आवश्यक समझा गया। श्री जिन्ना हिन्दुओं के बहुमत को 'निर्दय बहुमत' कहा करते थे, इसलिए भी अल्पसख्यक वर्गों को आश्वस्त करना आवश्यक था कि उनके अधिकारो की सविधान ने गारण्टी की है और उनको किसी प्रकार का भय अपने मन में रखने की आवश्यकता नही है। इसके अतिरिक्त आधुनिक आर्थिक विचारो से भी भारतीय सविधान में मौलिक अधिकारो के सम्बन्ध में एक अध्याय रखना आवश्यक था, तथा कांग्रेस ने जो समय-समय पर लोगो से वायदे किए थे उनकी पूर्त्ति करने के लिए भी और विशेषकर अल्पसख्यको को जो वचन दिए थे उनके कारण भी मौलिक अधिकारो पर एक अध्याय सविधान में रखना नितान्त आवश्यक हो गया था।

सविधान में मौलिक अधिकारो की जो सूची दी गई है वह पर्याप्त विशद है यद्यपि उक्त सूची में सभी अधिकारो का समावेश नहीं है। कुछ ऐसे अधिकार हैं

अमरीका में दुहरी नागरिकता राज्यो के अधिकारों और राष्ट्रीय एकता के बीच समझौते की प्रतिफल थी।

[1] बर्मा के सविधान का १० वाँ अनुच्छेद आदेश देता है "सम्पूर्ण यूनियन में केवल एक नागरिकता होगी; अर्थात् सम्पूर्ण सघ अथवा यूनियन की नागरिकता और अवयवी एकक की नागरिकता अलग-अलग नहीं होगी।'

जिनको संविधान मे स्थान नही दिया गया है किन्तु उन अधिकारो के सम्बन्ध में प्रचलित विधियो और विनियमो में समावेश है। संविधान में दिए गए मौलिक अधिकारो की न्यायालयो मे माँग की जा सकती है और उनके प्रवर्तन[1] का संवैधानिक उपचार सुझाया गया है। इस प्रकार संविधान ने देश की न्यायपालिका को सर्वसाधारण की स्वतन्त्रताओ और उनके अधिकारो का संरक्षक स्वीकार किया है। किन्तु कोई भी मौलिक अधिकार वास्तविक अथवा निरपेक्ष अधिकार नही है। स्वयं संविधान ने उन अधिकारो पर मर्यादाएँ[2] लगा दी हैं और यदि कभी देश[3] की सुरक्षा के लिए आपात काल उपस्थित हो जाय, तो उक्त अधिकार निलम्बित किए जा सकते हैं।

राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व (Directive Principles of State Policy)—राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व, भारतीय संविधान की एक अपूर्व विशेषता है। मौलिक अधिकारो का यह उद्देश्य है कि वे व्यक्ति के जीवन और उसकी स्वतन्त्रता तथा सम्पत्ति की रक्षा करेंगे। मौलिक अधिकारो का नकारात्मक स्वरूप है क्योंकि वे राज्य को कुछ कार्य अथवा कृत्य करने से रोकते हैं किन्तु इसके विपरीत राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व प्राकृतिक अथवा आस्ति-स्वरूप के अधिकार हैं। ये राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व देश के शासन मे मूलभूत हैं और विधि बनाते समय इन तत्त्वो को प्रयोग करना राज्य का कर्त्तव्य होगा।[4] अनुच्छेद ३७ में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है, कि इस भाग में दिए गए उपबन्धो को किसी न्यायालय द्वारा बाध्यता न दी जा सकेगी, किन्तु तो भी वे "देश के शासन में मूलभूत हैं"।[5] १९३७ के आयर्लैंड[6] के संविधान में भी राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वो का समावेश है और इन तत्त्वो को उसी संविधान के आधार पर ही लिया गया है। संविधान के भाग ४ में सामान्य शब्दो मे उस सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का चित्रण किया गया है, जो संविधान के निर्माता भारत में स्थापित करना चाहते हैं। संविधान की प्रस्तावना उन आदर्शों को उपस्थित करती है जिनको संविधान भारत के सभी लोगो को प्राप्त कराना चाहता है और राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व उन आदर्शों की स्पष्ट व्याख्या है।

संसदीय शासन-प्रणाली (Parliamentary System of Government)—संविधान ने केन्द्र में और एकक राज्यो में भी संसदीय शासन-प्रणाली की व्यवस्था की है। शासन के मुख्य अधिकारी मन्त्रीगण हैं जिनको विधानमण्डल निर्वाचित करते हैं और विधानमण्डल के प्रसाद पर्यन्त ही वे अपने पदो पर बने रहते हैं। राष्ट्रपति

---

[1] Article 32

[2] Part III

[3] Article 358

[4] Article 37

[5] Article 37

[6] आयर्लैंड के संविधान का अनुच्छेद ४५ आदेश देता है इस अनुच्छेद में सामाजिक नीति के जो सिद्धान्त रखे गए हैं, उन पर शासन को ध्यान देना चाहिए। विधि के निर्माण करते समय संसद् के सदस्य इन सिद्धान्तों को क्रियान्वित करने का प्रयत्न करेंगे; किन्तु संविधान के किसी भी उपबन्ध के अनुसार इन सामाजिक सिद्धान्तों को किसी न्यायालय में मान्यता नहीं दी जायगी।" १९४८ के बर्मा (Burma) के संविधान के अनुच्छेद ३२ में भी इसी प्रकार के उपबन्ध हैं।

और राज्यपाल सवैधानिक प्रमुख हैं और वे अपने-अपने उत्तरदायी मन्त्रिमण्डलों की मन्त्रणा पर कार्य करते हैं।

सविधान के निर्माताओ ने जान-बूझकर ससदीय शासन-प्रणाली को चुना। भारत के लोग सविधानिक शासन-प्रणाली से परिचित थे और इस शासन-प्रणाली की क्रियान्विति सरल होनी है और लोगो की समझ में भी आती है, इसलिए भारत के लिए यही उपयुक्त समझी गई।[1] ससदीय शासन-प्रणाली सहानुभूति-पूर्ण भी होती है और उत्तरदायी भी। सविधान के प्रारूप को सविधान सभा के विचारार्थ प्रस्तुत करते हुए डा० अम्बेडकर ने सविधान सभा मे भाषण करते हुए कहा था, "ससदीय शासन-प्रणाली में शासन के उत्तरदायित्व का मूल्याकन प्रतिदिन भी होता रहता है और समय-समय पर भी होता रहता है।"[2] ससद् के सदस्य सार्वजनिक महत्त्व की समस्याओ पर प्रश्न करके शासन से जानकारी प्राप्त करते हैं, कभी-कभी ऐसे प्रस्ताव उपस्थित किए जाते हैं जिनके द्वारा शासन से विशेष प्रकार की नीति पर चलने की आशा की जाती है, और राज्यपाल अथवा राष्ट्रपति के भाषण पर वाद-विवाद अथवा स्थगन प्रस्तावो के द्वारा शासन की नीति की आलोचना की जाती है। यहाँ तक कि यदि बहुमत सदस्य अविश्वास प्रस्ताव का समर्थन करें तो शासन अपदस्थ भी हो सकता है। इस प्रकार ससदीय शासन-प्रणाली का नैत्यिक मूल्याकन होता है। किन्तु आम निर्वाचन के समय ससदीय शासन का अन्तिम मूल्याकन होता है। ऐसे अवसर समय-समय पर ही आते हैं। इस प्रकार ससदीय उत्तरदायित्वपूर्ण शासन सदैव चौकन्ना रहता है और वह स्वेच्छाचारी नही हो सकता।

सम्पूर्ण राज्य का कार्यपालिका-प्रधान राष्ट्रपति है जो पाँच वर्षों के लिए निर्वाचित होता है, और इस सम्बन्ध में वह फ्रेंच गणराज्य के राष्ट्रपति से समानता रखता है। भारत और फ्रास दोनो ही देशो में निर्वाचित राष्ट्रपति का पद ससदीय शासन के लिए उपयुक्त समझा गया है। किन्तु हमारी ससदीय शासन-प्रणाली फ्रास की शासन-प्रणाली से दो महत्त्वपूर्ण बातो में भिन्न है। प्रथमत, फ्रास के राष्ट्रपति की सवैधानिक स्थिति पूर्णत शक्तिहीन है, जब कि भारत के राष्ट्रपति के पास अपार शक्तियो का स्रोत है जिनसे आपात काल मे वह अत्यन्त प्रभावपूर्ण कार्य कर सकता है। द्वितीयत, हमारे सविधान के निर्माताओ ने ब्रिटिश मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली के आधार पर हमारी शासन-व्यवस्था निर्मित की है, अत हमारे देश में फ्रास अथवा अन्य यूरोपीय देशो के मन्त्रिमण्डलो की अपेक्षा अधिक स्थायी मन्त्रिमण्डल होते हैं।

सघ की प्रकृति (Naturo of the Federation)—भारतीय सविधान का स्वरूप सघात्मक है यद्यपि सविधान का अनुच्छेद १ इसको राज्यो का यूनियन बताता

---

[1] Refer to the speeches of Sir Alladi Krishnaswami Ayyar, Dr Ambedkar and Sri K M Munshi, all members of the Drafting Committee in the Constituent Assembly Constituent Assembly Proceedings, Vol VII, page 985 and Vol XI Pp 836, 967-968, 974 and 984

[2] Dated Nov 4, 1948 Constituent Assembly Proceedings Vol VII, p 33,

है । सत्य यह है कि पूरे सविधान में कही भी फैडरेशन (Federation) शब्द का प्रयोग नही किया गया है । सम्भवत ऐसा जान-बूझकर ही किया गया है । सविधान सभा के अध्यक्ष को सविधान का प्रारूप प्रस्तुत करते समय, डा० अम्बेदकर ने अपने प्रारम्भिक वक्तव्य की भूमिका मे लिखा था, "आप देखेंगे कि प्रारूप समिति ने सघान (Federation) के स्थान पर सघ (Union) शब्द का प्रयोग किया है । यद्यपि नाम का कोई विशेष महत्त्व नही है फिर भी समिति ने १८६७ के ब्रिटिश उत्तरी अमरीका अधिनियम की प्रस्तावना की भाषा को आधार बनाया है, और समिति का यह विचार है कि भारत को यूनियन कहना अधिक उपयुक्त होगा, यद्यपि भारत के सविधान का स्वरूप सघानीय (Federal) ही हो सकता है ।"[1] इस सम्बन्ध में मैं यह भी निवेदन करूँगा कि उत्तरी अमरीका अधिनियम की प्रस्तावना मे कनाडा को अधिराज्य (Dominion) कहा गया है, न कि यूनियन । उक्त प्रस्तावना इस प्रकार है—"कनाडा (Canada), नोवो स्कोशिया (Novo Scotia) और न्यू वर्न्सविक (New Burnswick) के प्रान्त एक ऐसे अधिराज्य के रूप में सगठित होना चाहते हैं जो इगलैण्ड और आयर्लैण्ड के सम्मिलित राज्य (U K) के क्राउन की आधीनता स्वीकार करना चाहता है और जिसका सविधान, सिद्धान्तत इगलैण्ड और आयर्लैण्ड के सम्मिलित राज्य के सविधान के समान होगा ।" उत्तरी अमरीका अधिनियम मे किसी भी अनुच्छेद में यूनियन अथवा सघ शब्द का प्रयोग नही हुआ है, हाँ केवल कनाडा के सविधान के एक अध्याय का शीर्षक स्वरूप सघ शब्द का प्रयोग अवश्य हुआ है । यह सत्य के अधिक निकट होता यदि प्रारूप समिति ने कहा होता कि भारत के सविधान ने सघ शब्द के प्रयोग के सम्बन्ध में १९०९ के दक्षिणी अफ्रीका के यूनियन अधिनियम (Union of the South Africa Act, 1909) की भाषा को आधार बनाया है और भारत को राज्यो का यूनियन (Union of States) कहा है, और दक्षिणी अफ्रीका का यूनियन, सघान होने का दावा नही करता ।

डा० अम्बेडकर के मतानुसार 'राज्यो का यूनियन' (Union of States) होने से दो बातें समझ में आती हैं ।[2] प्रथमतः भारतीय सघान (Indian Federation) एकक राज्यो के आपसी समझौते का फल नही है, और द्वितीयत अवयवी एकको को सघान से सम्बन्ध विच्छेद कर लेने की छूट नही है । इन दोनो बातो को समझ लेना आवश्यक है क्योकि भारतीय सघान की प्रकृति पर इन दोनो तथ्यो का गहरा प्रभाव है ।

सघान निर्माण करने की दो विधियाँ हैं, और सघान की निर्माण विधि पर अवयवी एकको की पूर्व-स्थिति का भी प्रभाव अवश्य पड़ता है । एक विधि तो यह है कि कुछ सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न और स्वतन्त्र राज्य स्वेच्छापूर्ण समझौते के द्वारा सघान मे सम्मिलित हो जायें । इस प्रकार के सघान में शरीक होने वाले राज्य, सभी राज्यो के सामान्य हितो के विषय नई राष्ट्रीय सरकार को सौंप देते हैं, और अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यो के अधिकार मे रहती हैं । इस प्रकार

---

[1] Draft Constitution, p 4

[2] Constituent Assembly Proceedings, Vol VII, p. 43.

सधान मे शरीक होने वाले अवयवी एकक, यूनियन अथवा सघ भी बना लेते हैं और साथ ही उनकी स्वतन्त्र सत्ता भी अक्षुण्ण बनी रहती है। किसी सघ (union) के सघटक एकक ही तो मिलकर सघ का निर्माण करते हैं, और बिना सघटक एकको के सघ का अस्तित्व ही नही हो सकता। इसमें एक बात और है। केन्द्रीय शासन और सघटक एकको में शक्तियों का जो विभाजन हुआ है, वह सवैधानिक मान्यता प्राप्त है, इसलिए न तो केन्द्रीय सरकार और न कोई अवयवी एकक एक दूसरे के अधिकारो का अतिक्रमण कर सकेंगे। यदि शक्तियों के सम्बन्ध में कोई परिवर्त्तन अभीष्ट है तो वह दोनो की सहमति से ही सम्भव होगा। कोई इकतरफा कार्रवाई अवैध होगी।

सधान निर्माण करने की एक दूसरी विधि भी है जिसमें किसी एकात्मक राज्य के प्रान्तो को मिला कर सघ का निर्माण कर लिया जाता है, जैसा कि कनाडा (Canada) मे हुआ। १८६७ के उत्तरी अमरीका अधिनियम के पूर्व कनाडा के प्रान्तो की कोई स्वतन्त्र स्थिति नही थी। सब प्रान्त कनाडा के उपनिवेशीय शासन के अग थे। किन्तु उत्तरी अमरीका अधिनियम के अनुसार वे ही प्रान्त कनाडा के सधान (Canadian Federation) के अवयवी एकक बन गये और उनको नये अधिकार तथा नया अधिकार-क्षेत्र प्राप्त हो गया। इसलिए कनाडा का सधान किसी समझौते का फल नही था। यह तो ससदीय अधिनियम की आज्ञानुवर्तिता के अनुसार बना।

१९३५ के भारत सरकार अधिनियम के पूर्व भारत में एकात्मक प्रणाली का शासन था। प्रान्तीय सरकारें, देहली की केन्द्रीय सरकार की अनुचर थी, और उनके सभी अधिकार केन्द्रीय सरकार से ही प्राप्त होते थे। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार ब्रिटिश ससद् ने भारत में उसी प्रकार का सधानीय अथवा सघीय शासन स्थापित करा दिया जिस प्रकार का शासन कि कनाडा में स्थापित किया गया था। प्रान्तो को सधान का सघटक एकक आवश्यकत बनना पडा और उनकी शक्तियो को १९३५ के अधिनियम ने निश्चित कर दिया। किन्तु १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के केन्द्रीय शासन का भाग निलम्बित करना पडा और केवल प्रान्तीय शासन अधिनियम की शर्तों के अनुसार प्रवर्त्तन में आया। प्रान्त, क्राउन (crown) के प्रति उत्तरदायी थे और जो अधिकार-क्षेत्र उनको दिया गया था, उसमें वे पूर्ण स्वायत्तशासी थे। किन्तु वास्तव में प्रान्तों में स्वायत्तता नही थी और केन्द्रीय सरकार ही अब भी प्रान्तो का सचालन और नियन्त्रण करती रही। केन्द्रीय शासन के पास प्रान्तीय शासनो को नियन्त्रित करने की अनेको युक्तियाँ थी, जैसे, राज्यपालो अथवा गवर्नरो के विशेष उत्तरदायित्व, और राज्यपाल के व्यक्तिगत निर्णय का अधिकार और अनेको मामलो में उसका विवेक-निर्णय आदि।

इस प्रकार भारतीय प्रान्त उसी रूप में सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य नही थे जिस रूप मे कि अमरीकन सघ के राज्य स्वतन्त्र राज्य थे। प्रान्तो की स्वतन्त्र सत्ता नही थी। जब भारत स्वतन्त्र हो गया, तो १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने प्रान्तो

में कामचलाऊ स्थिति उत्पन्न कर दी, और जैसा कि डा० जैनिग्ज ने ठीक ही कहा है, "जब भूतपूर्व प्रान्त राज्यो में परिणत हो गए, तो सारी की सारी व्यवस्था को बदलकर नई व्यवस्था लाना सम्भव नही था।"[1] भारत के नये सविधान के अनुसार "सघान की व्यवस्था मौलिक रूप से वही है जो १९३५ के अधिनियम की थी। सघ और अवयवी राज्यो के बीच शक्तियो का जो वितरण हुआ है, और अवयवी राज्यो को जो स्थिति प्रदान की गई है, वह कुछ मामूली मे परिवर्त्तनो सहित प्राय वही है जो १९३५ के अधिनियम मे थी।"[2] सक्षेप में कहा जा सकता है कि भारतीय यूनियन या सघ, सघटक एकको के बीच किसी ठोस सन्धि का फल नही है। वह तो भारत के सभी लोगो के द्वारा भारतीय सविधान सभा में एकत्र होकर बनाया गया है, और इस प्रकार भारतीय सर्वसाधारण द्वारा निर्मित सविधान ने केन्द्रीय शासन और सघटक एकको के शासनो के बीच शक्तियो का विभाजन किया है। इस प्रकार भारतीय सघान के राज्यों के कोई अधिकार नही हैं और न उनकी कोई और शक्तियाँ हैं, अर्थात् सघटक राज्यो की केवल वे ही शक्तियाँ हैं जो संविधान ने उन्हे सौंप दी हैं।[3] और सघ पूर्ण स्थायी है, इसका विघटन नही हो सकता, केवल भारत के सभी लोगो की इच्छा से ही ऐसा हो सकता है। राज्यो को सघ (Union) से सम्बन्ध विच्छेद कर लेने की छूट नही है, न राज्य सघ को विघटित कर सकते हैं।

डा० जैनिग्ज (Dr Jennings) के अनुसार १९३५ का भारत सरकार अधिनियम "किसी, स्वतन्त्र देश के सविधान का बुरा पूर्वभावी था।"[4] नवीन सविधान के तैयार हो जाने के बाद से ही भारतीय सविधान की प्रकृति के बारे में निरन्तर वाद-विवाद चल पडा है। प्रोफेसर व्हीर (Prof Wheare) का कथन है कि "नया सविधान ऐसी शासन-व्यवस्था को जन्म देगा जो अधिक से अधिक अर्द्ध सघीय (quasi federal) होगी, अथवा यह कहिए कि उसका स्वरूप अवनतिशील अथवा प्रक्रामणशील (devolutionary in character) है। अथवा भारत एकात्मक राज्य है जिसमें कतिपय सघीय विशेषताएँ गौण रूप मे आ गई हैं किन्तु उसको हम ऐसा सघात्मक अथवा सधानात्मक राज्य (federal state) नही कह सकते जिसमें गौण रूप से एकात्मक राज्य की विशेषताओ ने प्रवेश पा लिया हो।"[5] इण्डियाज चार्टर आफ फ्रीडम (India's Charter of Freedem) नामक पुस्तिका को भारत सरकार के इनफॉर्मेशन और ब्रॉडकास्टिंग (Information and Broadcasting) मन्त्रालय के प्रकाशन विभाग ने प्रसारित कराया था। उक्त पुस्तिका के सम्पादक ने उक्त पुस्तिका में लिखा था, "सविधान के प्रारूप को देखने से ऐसा पता चलता है कि भारत राज्यो का सघ बनने जा रहा है। इसका यह अर्थ है कि भारत की

---

[1] Some Characteristics of the Indian Constitution, p 56

[2] Srinivasan, N . Democratic Government in India, p. 145

[3] जम्मू और कश्मीर अपवादस्वरूप हैं।

[4] Some Characteristics of the Indian Constitution, p 56

[5] 'India's New Constitution Analysed' 48 A L J 21.

एकता अक्षुण्ण रहेगी। यद्यपि प्रशासनिक सुविधा के लिए देश को विभिन्न राज्यो मे विभाजित कर दिया गया है, किन्तु समस्त देश एक पूर्ण इकाई है, और इस देश के निवासी एक राष्ट्र का निर्माण करते है, और एक ऐसे शासन के अन्तर्गत रहते हैं जो केवल एक ही स्रोत से समस्त सत्ता प्राप्त करता है।"[1] हाल ही के एक लेख में जिसका शीर्षक था 'क्या भारत एक सघ है' (Is India a Federation?) डा० कृष्ण पी० मुकर्जी लिखते हैं, "मेरा अब यह विचार है कि सविधान के प्रारूप के तैयार करते समय अथवा उससे पूर्व की स्थिति कुछ भी हो, किन्तु भारतीय सविधान सभा ने अगस्त के वाद-विवादो के बाद जो सविधान निर्माण करके जनवरी १६५० मे देश को दिया है, वह निश्चित रूप से एक अ-सघीय (un-federal) अथवा एकात्मक सविधान (Unitary Constitution) है।"[2]

तो फिर सघवाद के वास्तविक अर्थ हैं क्या? सघवाद (Federalism) ऐसी शासन-व्यवस्था को कहते हैं जिसमें शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार और उन अवयवी एकको की सरकारो में बाँट दी जाती हैं जो मिलकर सघ का निर्माण करते हैं। सविधान दोहरे राजतन्त्र (dual polity) का निर्माण करता है। सरकारो की दो श्रेणियाँ हैं—सघ की सरकार और अवयवी राज्यो की सरकारें। सरकारो की ये दोनो श्रेणियाँ एक ही सघीय सरकार के आधीन होती हैं। सविधान सघ सरकार और राज्य सरकारो के बीच शक्तियो का स्पष्ट वितरण कर देता है। प्रकृत दशाओ में प्रत्येक सरकार अपने-अपने क्षेत्र मे दूसरे के नियन्त्रण से स्वतन्त्र होती है। राज्य अपनी शक्तियाँ सविधान से प्राप्त करते हैं। ये शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार उन्हें नही देती। केन्द्रीय अथवा राष्ट्रीय शासन को ऐसे विषयो पर अधिकार दिया जाता है जो देश के सभी लोगो के समान हितो से सम्बन्वित हैं, किन्तु वे विषय जिनके हित क्षेत्रीय हैं या जो विशेष लोगो के हितो के विषय हैं, उन्हें अवयवी राज्यो (regional government) के लिए छोड दिया जाता है। केन्द्रीय सरकार सभी के हितो का प्रतिनिधित्व करती है और समस्त राष्ट्र के हितो का सञ्चालन करती है, इसलिए स्थानीय अथवा क्षेत्रीय राज्यो के अधिकार-क्षेत्र में वह कोई दखल नही देती। इसका यह अर्थ है कि सरकारो की दोनो श्रेणियो की स्थिति बराबर है। कोई एक सरकार दूसरी श्रेणी की सरकार के ऊपर अपनी स्थिति के लिए आश्रित नही है। दोनो अर्थात् केन्द्रीय सरकार एव अवयवी राज्यो की सरकारें समान स्थिति का उपयोग करती हैं और दोनो ही एक दूसरे के अन्योन्याश्रित होती हैं।

किन्तु दोनो श्रेणियो की सरकारो की स्थिति सम्बन्धी समानता का यह अर्थ नही लगाना चाहिए कि उनकी शक्तियाँ भी पूर्णतया समान होती हैं। यह असम्भव कार्य है और किसी सविधान के लिए सहज नही है। केन्द्र और अवयवी एकको के बीच शक्तियो का वितरण बहुत सी बातो और कठिनाइयो पर निर्भर करता है, और

---

[1] 1949 में प्रकाशित, पृष्ठ स 11.

[2] The Indian Journal of Political Science, July-Sept 1954 p 177

प्रत्येक देश की अपनी-अपनी विशेष समस्याएँ होती हैं। सघवाद, केवल अच्छे शासन[1] के लिए एक युक्ति मात्र है, और अच्छे शासन को ध्यान में रखकर ही शक्तियो का वितरण किया जाता है। इसलिए विभिन्न सघानो मे शक्तियो का सतुलन विभिन्न सत्ताओ के पक्ष में होता है। कुछ सघानो में केन्द्र की शक्तियाँ प्रबल होती हैं और कुछ में एकको को अधिक शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। किन्तु इससे सविधान के सघीय स्वरूप पर उस समय तक कोई प्रभाव नही पडता जब तक कि "एक की शक्ति इस सीमा तक क्षीण न हो जाय कि वह असहाय हो जाय और अपने अस्तित्व के लिए अथवा अपने शासनिक क्रिया-कलापो के लिए दूसरे का आश्रित और मोहताज न हो जाए।"[2] प्रो० व्हीर (Prof Wheare) का कथन है, "सघीय सिद्धान्त से मेरा आशय शक्तियो के इस प्रकार वितरण से है कि केन्द्रीय शासन और एकको के शासन हर-एक स्वतन्त्र भी रहे और अन्योन्याश्रित अथवा सहयुक्त भी रहे।"[3] इसलिए केन्द्रीय शासन और प्रादेशिक शासनो के बीच केवल शक्तियो के वितरण की विधि ही सघवाद (federalism) की मुख्य विशेषता नही है।

शासन की दोनो श्रेणियो के स्वतन्त्र और सहयुक्त स्वरूप में दोहरी नागरिकता भी एक झझट है। सयुक्त राज्य अमरीका में दोहरी नागरिकता है, अर्थात् सघ की नागरिकता तथा राज्यो की नागरिकता, और दोनो नागरिकताओ से अलग-अलग लाभ और विमुक्तियाँ प्राप्त होती हैं।[4] इसके कारण दो श्रेणियो के अधिकारी और दो प्रकार के न्यायालय भी रखने पडेंगे।

सघवाद का एक अन्य महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि सघ मे सविधान सर्वोच्च होता है। सविधान की सर्वोच्चता के तीन अर्थ हैं प्रथमत, सविधान आवश्यकत लिखित होना चाहिए और यदि कभी कोई विवाद उठ खडा हो, तो वह सविधान के उपबन्धो के अनुसार ही निर्णीत होना चाहिए, सविधान कठोर होना चाहिए और प्रत्येक विधानमण्डल, चाहे वह केन्द्रीय विधानमण्डल हो, चाहे एकको का विधानमण्डल हो, आवश्यकत सविधान के आधीन ही होगा। सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता (sovereignty) राज्य में निवास करती है, और इसका प्रयोग सविधान सविधायी सत्ता करेगी।

सघ के लिए अन्तिम शर्त यह है कि स्वतन्त्र न्यायपालिका अथवा न्यायमण्डल होना चाहिए जिसको सविधान के अन्तिम निर्वचन का अधिकार हो। स्वतन्त्र न्यायमण्डल सविधान का अन्तिम सरक्षक होता है और इसको यह देखना पडता है कि सविधान का अतिक्रमण न तो केन्द्रीय शासन करे और न एकक राज्यो के शासन ही करें। यदि सघीय सिद्धान्त को सफल बनाना है तो यह अतीव आवश्यक है कि देश की न्यायपालिका सदैव सतर्क रहे और केन्द्रीय शासन तथा राज्यो के शासन पर

---

[1] Wheare, K. C op citd

[2] Ghosal, A K. Federalism in the Indian Constitution, Indian Journal of Political Science, Oct Dec , 1953, p 318

[3] Wheare, K C Federal Government, op citd , p 11.

[4] Burdick Law of the American Constitution, p. 329.

आवश्यक अकुश रखे ताकि केन्द्रापग बल (centrifugal force) और केन्द्राभिग बल (centripetal force) के बीच शक्ति-सतुलन नष्ट न होने पावे। केन्द्रापग और केन्द्राभिग शक्तियो के बीच सफल सन्तुलन ही वास्तविक सघवाद है। प्रो डायसी (Prof Dicey) ने बड़े सुन्दर ढग से सघवाद के इस पहलू पर विचार किया है—"सघवाद का सूत्र यह है कि समस्त राज्य एक हो किन्तु राज्य की एकता में भी समस्त अवयवी एकको की स्वतन्त्रता निहित हो। एकता (unity) पर भी वल दिया जाय किन्तु सघ (union) पर अधिक वल दिया जाय। अर्थात् राष्ट्रीय एकता की इच्छा के साथ प्रत्येक अवयवी एकक की स्वायत्तता की पूर्ण रक्षा का प्रबन्ध किया जाए।"

कोई सघात्मक सविधान यह दावा नही कर सकता कि वह सघवाद की सभी आवश्यकताओ को पूर्ण करता हो। यहाँ तक कि सयुक्त राज्य अमरीका का सविधान भी सघवाद की सभी शर्तों को पूरा नही करता यद्यपि वह सविधान आदर्श उपस्थित करता है। इसलिए प्रो० व्हीर को कहना पडा—"यह आवश्यक है कि सघीय सिद्धान्त को, अत्यन्त स्पष्टतया समझ लेना चाहिए, किन्तु 'सघीय सविधान' हरएक सविधान को सोच-समझ कर ही कहना चाहिए।"[1] यदि किसी संविधान में सघात्मक सिद्धान्त की सभी आवश्यकताएँ इस सीमा तक पूरी हो जायें कि उस सविधान की एकात्मक विशेषताएँ ढक-सी जायें तो भी हम ऐसे सविधान को सघात्मक सविधान कहेंगे। सविधानो के वर्गीकरण के इस सिद्धान्त को आधार स्वीकार करते हुए डा० घोषाल का मत है कि "सघात्मक सविधानो को उत्तरोत्तर क्रम में इस प्रकार रखा जाय जिस प्रकार कि वे सघात्मक सिद्धान्त की आवश्यकताओ की पूर्ति करते हो, तो, एक ओर हमको आस्ट्रेलिया का सविधान लेना होगा जो सिद्धान्त के अनुसार सघवाद के सबसे निकट है, तथा दूसरी ओर के छोर पर कनाडा को लेना होगा जहाँ सघात्मक सिद्धान्त के प्रति सब से कम आदर दिखाया गया है। इस प्रमाप में भारत का स्थान कनाडा के निकट आवेगा, आस्ट्रेलिया के निकट नही।"[2]

किन्तु सविधानो के सामान्य वर्गीकरण से हमारा काम नही चलेगा। सविधान की विधि और उसकी क्रियान्विति में पर्याप्त अन्तर हो सकता है, अर्थात् सघीय सविधान में और सघीय शासन में पर्याप्त अन्तर हो सकता है। प्रो० व्हीर ने इस प्रकार के अन्तर पर विशेष बल दिया है, और वह कहता है—"किसी देश में सघात्मक सविधान हो सकता है, किन्तु व्यवहार में उक्त देश, उक्त सविधान पर इस प्रकार अमल करता हो कि उसका शासन सघात्मक शासन न हो। अथवा, ऐसा हो सकता है कि किसी देश का सविधान सघात्मक न हो, किन्तु उक्त सविधान के अनुसार शासन इस प्रकार चलाया जाता हो कि वह सघात्मक शासन का श्रेष्ठ उदाहरण हो सकता है।"[3] कनाडा के सविधान का उदाहरण लीजिए। लार्ड

---

[1] Federal Government, op citd, p 17

[2] 'Federalism in the Indian Constitution', Indian Journal of Pol Science, op citd, page 321

[3] Federal Government, op citd, p 22

हैल्डेन (Lord Haldane) का मत था कि १८६७ के उत्तरी अमरीका अधिनियम का स्वरूप सघात्मक नही था।[1] कनाडा के सविधान के निर्माता सघवाद के अन्धभक्त नही थे और १८६७ के अधिनियम में अनेको ऐसे तत्त्व मिलेंगे जिनको अ-सघात्मक कहा जायगा। प्रो० व्हीर ने कनाडा के सविधान को अर्द्धसघात्मक कहा है। किन्तु वास्तविक व्यवहार में कनाडा की शासन-व्यवस्था के एकात्मक शासन के तत्त्व या तो समाप्त हो चुके हैं, या उन पर इस प्रकार व्यवहार हो रहा है कि सविधान के सघात्मक सिद्धान्त के साथ समझौता न हो। इसलिए, प्रो० व्हीर का कथन है कि "चाहे कनाडा का सविधान सघात्मक न हो, किन्तु कनाडा का शासन अवश्य सघात्मक है।" इसके विपरीत सयुक्त राज्य अमरीका, स्विट्जरलैंड और आस्ट्रेलिया के सविधान भी सघात्मक हैं और शासन भी सघात्मक है, यद्यपि इन तीनो देशो में भी केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति बढती जा रही है। यदि केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति इसी प्रकार वर्द्धमान रही, तो इन तीनो देशो के शासन भी निकट भविष्य में अर्द्ध-सघात्मक शासन का रूप धारण कर लेंगे।

जो कुछ ऊपर कहा गया है, वह सघवाद के सिद्धान्त और व्यवहार का विशद वर्णन था। किन्तु इतनी विशदता से इसलिए विचार किया गया क्योकि हमको भारतीय सविधान की प्रकृति निश्चित करना है। हम अपने देश के शासन की प्रकृति के सम्बन्ध में अभी कुछ निश्चित मत नही बना सकते क्योकि हमारे देश के शासन की सवैधानिक प्रथाएँ बनने में अभी समय लगेगा।

डा० मुखर्जी के अनुसार भारतीय सघ (Union), सघीय सिद्धान्त की कोई शर्त्त पूरी नही करता। उनका कथन है, "इसके विपरीत हमारा सविधान प्रारम्भ के चार अनुच्छेदो में स्पष्ट घोषणा करता है कि यह एकात्मक सविधान है, और सघ के अवयवी एकको को अथवा सघ और अवयवी एकको के बीच शक्तियो के वितरण से हमारे सघ को किसी भी श्रेणी में रखिये, किन्तु यह सब, अर्थात् एकको की स्थिति और शक्तियो का वितरण प्रशासन की सुविधा के लिए किया गया है, और यदि कभी इनके कारण कोई प्रशासनिक असुविधा उत्पन्न हुई तो एकको की स्वायत्तता अथवा शक्तियो का वितरण सविधानत वापस लिया जा सकता है, अथवा समाप्त किया जा सकता है अथवा उसमें परिवर्त्तन किया जा सकता है।"[2] भारत सरकार के प्रकाशन 'इण्डियाज़ चार्टर आफ फ्रीडम' (India's Charter of Freedom) के सुयोग्य लेखक ने भी यही कहा था, "यद्यपि सविधान देश को शासन की सुविधा के लिए विभिन्न राज्यो में बाँटता है ।"[3] सविधान का अनुच्छेद ३ उपबन्धित करता है

---

[1] Attorney-General for Commonwealth of Australia V. Colonial Sugar Refining Co Ltd

[2] 'Is India a Federation ?' Indian Journal of Political Science, July-September 1954 page 179

[3] Op citd p 11

ससद् विधि द्वारा—

(क) किसी राज्य से उसका प्रदेश अलग करके अथवा दो या अधिक राज्यो या राज्यो के भागो को मिलाकर अथवा किसी प्रदेश को किसी राज्य के भाग के साथ मिलाकर नया राज्य बना सकेगी,

(ख) किसी राज्य का क्षेत्र बढा सकेगी,

(ग) किसी राज्य का क्षेत्र घटा सकेगी,

(घ) किसी राज्य की सीमाओ को बदल सकेगी,

(ड) किसी राज्य के नाम को बदल सकेगी।

किन्तु उक्त अनुच्छेद उपबन्धित करता है कि इस प्रयोजन के लिए कोई विधेयक राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना ससद् में पुर स्थापित नही किया जा सकता। इसके अतिरिक्त जहाँ उल्लिखित राज्य या राज्यो की सीमाओ पर या नामो पर प्रभाव पडता हो वहाँ, "जब तक कि विधेयक की पुन स्थापना की प्रस्थापना के तथा उसके उपबन्ध, इन दोनो के सम्बन्ध मे, यथास्थिति, राज्य के विधानमण्डल अथवा राज्यो मे से प्रत्येक के विधानमण्डल के विचार राष्ट्रपति ने निश्चित रूप से न जान लिये हो, तब तक किसी सदन मे पुर स्थापित न किया जायगा।" इसका यह अर्थ हुआ कि राज्यो के विधानमण्डलो के विचार दो बातो पर जानने आवश्यक होगे (i) विधेयक की पुर स्थापना के सम्बन्ध मे, और (ii) विधेयक के उपबन्धो के सम्बन्ध में। किन्तु राष्ट्रपति के लिये सम्बन्धित एव प्रभावित राज्यो के विधानमण्डलो के विचारो को केवल जानना ही आवश्यक है, और यह राष्ट्रपति के विवेक और उसकी इच्छा पर निर्भर है कि वह उक्त विचारो को स्वीकार करे अथवा न करे। राष्ट्रपति से यह आशा नही की गई है कि वह सम्बन्धित एव प्रभावित राज्यो अथवा उनके विधानमण्डलो की स्वीकृति प्राप्त करे।[1]

सविधान के अनुच्छेद ४ ने उपबन्धित किया है कि सविधान के अनुच्छेद २ या ३ मे निर्दिष्ट किसी विधि से प्रभावित राज्य या राज्यो के भारतीय सघ में प्रवेश या नये राज्य की स्थापना केवल ससद् ही अपनी इच्छा और शर्तों के अनुसार करेगी, "किन्तु पूर्वोक्त प्रकार की ऐसी कोई विधि अनुच्छेद ३६८ के प्रयोजनो के लिए इस सविधान का सशोधन नही समझी जायगी।" इसका यह अर्थ हुआ कि

---

[1] सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान का अनुच्छेद IV, खण्ड ३ (१) देखिए "किन्तु किसी राज्य के अधिकार क्षेत्र में कोई नया राज्य स्थापित नहीं होगा। और सम्बन्धित राज्यों के विधानमण्डलों और काँग्रेस की स्वीकृति के बिना दो या अधिक राज्यों को मिलाकर या राज्यों के भागों या प्रदेशों को मिलाकर नया राज्य स्थापित नहीं किया जा सकता।" आस्ट्रेलिया के सविधान के १२३-१२४ अनुच्छेदों के अनुसार कामनवेल्थ की ससद् का अधिकार है कि वह किसी राज्य में से या राज्यों के भागों को लेकर नये राज्य की स्थापना कर ले, किन्तु इस प्रकार नये राज्य की स्थापना कर लेने के लिए सम्बन्धित राज्यों के विधानमण्डलों की तदर्थ स्वीकृति लेना आवश्यक होगा। किन्तु राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन करने के लिए सम्बन्धित राज्य के विधानमण्डल की स्वीकृति आवश्यक होगी—साथ ही सम्बन्धित राज्य के उक्त प्रश्न पर निर्णय करने वाले निर्वाचकों का बहुमत प्राप्त कर लेना आवश्यक होगा।

ससद् सामान्य व्यवस्थापन के द्वारा ही, सम्वन्धित राज्यो के विचार जान लेने के पश्चात्, भारत का मानचित्र वदल सकती है।

इस सव का यह अर्थ है कि ससद् एक पार्श्विक कार्रवाई के द्वारा भारतीय सघ के राज्यो की सीमाओ को वना भी सकती है और विगाड भी सकती है। किन्तु सयुक्त राज्य अमरीका मे राज्यो की सीमाओ मे सम्वन्धित राज्यो की स्वीकृति के विना कोई हेरफेर नहीं किया जा सकता। आस्ट्रेलिया में राज्यो की सीमाओ में हेरफेर तभी किया जा सकता है जवकि (i) सम्वन्धित राज्य का विधानमण्डल स्वीकृति प्रदान कर दे, (ii) सम्वन्धित प्रश्न पर मतदान करने वाले राज्य के निर्वाचको का वहुमत स्वीकृति प्रदान करे। अवयवी एकक राज्यो की सीमाओ में हेरफेर करने सम्वन्धी निर्णय के लिए सम्वन्धित राज्यो को वरावर और समान अवसर प्रदान करना ही सघीय सिद्धान्त का सार है, और इसलिए सयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया के सविधानो ने यह व्यवस्था की है। यदि हम सभी राजनीतिक विचारो को छोड दें और केवल विधि को विधि के अर्थो मे ग्रहण करें, तो भारतीय सविधान के अनुच्छेद ३ एव ४ न केवल सघीय सिद्धान्त के विरुद्ध हैं, अपितु वे एकात्मक सविधान की सही परिभाषा प्रस्तुत करते हैं।

जहाँ तक भारत का सविधान एक लिखित प्रलेख है, वह सघीय सविधान की परम्परागत शर्त को पूरी करता है। सविधान दोहरे राजतन्त्र का निर्माण करता है। सरकार की दो श्रेणियाँ हैं—सघ की सरकार और अवयवी राज्यो की सरकारें। सविधान ने सरकारो की दोनो श्रेणियों के वीच एक ही राज्य के सगठन और अधिकार-क्षेत्र में शक्तियो का स्पष्ट वितरण कर दिया है। प्रत्येक सरकार अपने-अपने क्षेत्र में दूसरे के नियन्त्रण से स्वतन्त्र है, और यदि कभी शक्तियो के वितरण के सम्वन्ध में कोई परिवर्त्तन करना अभीप्ट हो, तो इसके लिए सविधान मे सशोधन करना आवश्यक होगा, और तदर्थ कम-से-कम आधे राज्यो के विधानमण्डलो की स्वीकृति अनिवार्य होगी।[1] इस प्रकार न केन्द्रीय शासन को और न अवयवी राज्यो की सरकारो को एक पार्श्विक निर्णय करने का अधिकार है जिससे शक्तियो के वितरण सम्वन्धी सवैधानिक उपवन्ध का सशोधन कर सकें और इस प्रकार केन्द्रीय शासन और अवयवी एकक राज्यो के वीच शक्ति-सन्तुलन गडवड कर सकें। इसके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय, सविधान का अभिभावक है जो सविधान का निर्वचन कर सकता है, और वह सविधान की सर्वोच्चता और उसकी पवित्रता एव गौरव-गरिमा का सरक्षक है।[2] इसके अतिरिक्त सर्वोच्च न्यायालय को न्यायिक पुनरीक्षण (judicial review) का अधिकार प्रदान किया गया है, जिससे यदि देश का कोई विधानमण्डल ऐसे कानून को पास करता है, जो सविधान के किसी उपवन्ध का उल्लघन करता हो तो सर्वोच्च न्यायालय ऐसे कानून को असवैधानिक घोषित कर सकता है, अथवा यदि कोई भी शासन (केन्द्रीय अथवा

---

[1] Article 368.

[2] Chapter I of part XI and in any of the lists in the VII schedule.

एकक का) अपने अधिकार-क्षेत्र का अतिक्रमण करता है अथवा अपनी शक्तियो को बढाता है, और इस प्रकार सघीय सिद्धान्त के विरुद्ध आचरण करके शक्ति-सन्तुलन बिगाडता है, तो सर्वोच्च न्यायालय को ऐसी स्थिति में हस्तक्षेप करने का अधिकार है।

किन्तु वास्तविकता यह है कि सविधान ने अत्यधिक केन्द्रीय शासन की स्थापना की है, जो प्राय एकात्मक शासन ही समझा जायगा। सविधान की इन एकात्मक प्रवृत्तियो ने बहुत सीमा तक सघवाद की सामान्य विशेषताओ को भी नष्ट कर डाला है और सविधान के निर्माताओ ने ऐसा जान-बूझकर ही किया था। डा० जैनिंग्ज ने कहा है कि "सभी सविधान भूतकालिक इतिहास के जात होते हैं और भविष्य के दित्य पत्र लेखक (testators of the future) होते हैं।" सविधान के निर्माता भली भाँति जानते थे कि भारत में प्रारम्भ से ही केन्द्रापग शक्तियो (centrifugal forces) ने प्रभाव डाला है। देश का विभाजन भारत के समैक्य और स्थायित्व के लिए भारी चुनौती था, और विभाजन के बाद भी देश से उन पृथकतावादी तत्त्वो का अन्त नही हुआ, जिनको विदेशी शासन ने अच्छी तरह तैयार किया था, ताकि वे (विदेशी लोग) सदैव के लिए देश में अड्डा जमाये रहें। विदेशी शासन भारत छोडते-छोडते अपने पीछे दुर्भाग्यपूर्ण जातिगत भावनाएँ, बिरादरी की भावनाएँ और प्रान्तीयता की सकीर्णताएँ छोड गया, इसलिए सविधान के निर्माताओ को बडी चिन्ता थी कि केन्द्र को यथेष्ट शक्तियाँ दे दी जायँ ताकि उक्त दुर्भाग्यपूर्ण तत्त्वों (sinister forces) को नियन्त्रण में रखा जा सके। इसीलिए हमारे सविधान के जनको ने देश की एकता पर अधिक ध्यान दिया किन्तु सघ पर कम। किसी भी देश के सविधान के निर्माता सविधान को समय की वास्तविकताओ से अछूता नही रख सकते। वे ऐसा सविधान तैयार करने का प्रयत्न करते हैं जो सम्बन्धित लोगो का अधिक से अधिक हित साधन करे और फिर वे इस बात की चिन्ता नही करते कि वे राजनीति विज्ञान अथवा सवैधानिक विधि के सिद्धान्तो से प्रयाण कर रहे हैं। किन्तु जैसा कि डा० मुखर्जी ने कहा है, "सविधानों का वर्गीकरण करने वाला रियायत नही करेगा क्योंकि वह तो वैज्ञानिक है। उसके लिए तो या तो सघात्मक और एकात्मक सविधानो में अन्तर है और या नही है। यदि दोनो प्रकार के सिद्धान्तो में अन्तर नही है, तो व्यर्थ के वाद-विवाद में क्यो कर समय नष्ट किया जाय। किन्तु यदि दोनो प्रकार के सविधानो में अन्तर है तो फिर वैज्ञानिक के लिए यह मालूम करना आवश्यक है कि उस विभेद का क्या सिद्धान्त है अर्थात् सघीय सिद्धान्त क्या है, और यदि किसी सविधान मे सघात्मक सिद्धान्त का अनादर किया गया है, चाहे अनादर, राजनीतिक या सामाजिक या आर्थिक कारणो से ही किया गया हो, किन्तु उस सविधान को हम सघात्मक सविधान नही कहेगे।"[1] अब हम विचार करेंगे कि हमारे सविधान में किन-किन महत्त्वपूर्ण बातो में सघात्मक सिद्धान्त के प्रति उपेक्षा की गई है।

---

[1] 'Is India a Federation ?' The Indian journal of Political Science, July-September 1954, p. 177.

(१) हमारे सविधान ने कनाडा के सविधान की तरह सघ के लिए तथा राज्यो के लिए सविधानो की व्यवस्था की है, राज्यो में केवल जम्मू और काश्मीर अपवाद है। इसका यह अर्थ है कि अवयवी राज्यो की स्थिति की समानता के सिद्धान्त की उपेक्षा की गई है, चाहे उस उपेक्षा के कारण कुछ भी रहे हो।

(२) भारत के अवयवी राज्यो को सविधान मे सशोधन करने की स्वतन्त्र शक्ति नही है, किन्तु इस प्रकार की शक्ति कनाडा के अवयवी राज्यो को प्राप्त है। यहाँ तक कि यदि कोई राज्य अपने विधानमण्डल की विधान परिषद् (Legislative Council or Upper Chamber) को समाप्त करना चाहे, तो भी इसके लिए ससद् के अधिनियम[1] की आवश्यकता होगी। अन्य वहुत से परिवर्त्तन केवल सवैधानिक सशोधन के द्वारा ही लाए जा सकते हैं, और सविधान में सशोधन करने में केन्द्र और राज्यो को समान शक्तियाँ और अधिकार प्राप्त नही हैं। केवल कतिपय निर्देशित मामलो को छोड़कर जबकि कम से कम आधे राज्यो के विधानमण्डलो की तदर्थ स्वीकृति आवश्यक होती है, सविधान मे ससद् तभी सशोधन कर सकती है जबकि प्रत्येक सदन द्वारा उस सदन की समस्त सदस्य सख्या के वहुमत से तथा उस सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो के दो-तिहाई से अन्यून वहुमत से वह विधेयक पारित हो जाता है।

(३) सघवाद का एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त वह है, जिस पर सयुक्त राज्य अमरीका का सविधान भी आधारित है कि अवयवी एकक राज्य के आकार और जनसख्या के ऊपर विचार किए बिना ही सभी सघटक राज्य समान माने जाते हैं। सत्य यह है कि सयुक्त राज्य अमरीका में यह समझौता हो जाने पर ही सघ बन सका और अमरीका की सीनेट मे जो सभी राज्यो को बरावर प्रतिनिधित्व दिया गया है, वह इसी समझौते का प्रतिफल है। अमरीकी सविधान का अनुच्छेद V आदेश करता है. "किसी भी राज्य को बिना उसकी इच्छा के सीनेट में प्राप्त समान प्रतिनिधित्व से वचित नही किया जा सकता।" आस्ट्रेलिया के सघीय विधानमण्डल के उच्च सदन में भी उस देश के सविधान ने सभी सघटक अवयवी राज्यो को समान प्रतिनिधित्व प्रदान किया है। कनाडा में कनाडा, नोवा स्कोशिया और वर्नस्विक नाम के प्रारम्भिक प्रान्तो में से हर एक को सीनेट में २४ स्थान दिए गए हैं, किन्तु उन अन्य प्रान्तों के लिए, जो बाद मे सघ में आए, उच्च सदन की सदस्यता-संख्या में भेद रखा गया और इस प्रकार कम से कम चार तक स्थान भी दिए गए। हमारे सविधान में राज्य सभा में सभी राज्यो को समान प्रतिनिधित्व नही दिया गया है। वहुत से राज्यों के सदस्यो की सख्या में भेद है। इसके अतिरिक्त हमारी राज्य सभा में केवल राज्यो के प्रतिनिधि ही नही हैं जबकि कनाडा की सीनेट मे केवल राज्यो के प्रतिनिधि ही होते हैं। हमारी राज्य सभा में राज्यो के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त बारह ऐसे सदस्य होते हैं जिन्हें राष्ट्रपति नामाकित करता है।[3] यह सघीय सिद्धान्त की घोर उपेक्षा है।

---

[1] अनुच्छेद १६९, अनुच्छेद २-४ भी देखिए।

[2] अनुच्छेद ३६८, खण्ड (क), (ख), (ग), (घ) और (ङ)।

[3] अनुच्छेद ८०।

(४) भारत में जिस रूप में दोहरे राजतन्त्र (dual polity) की व्यवस्था की गई है, वह भी सघीय सिद्धान्त की उपेक्षा ही है। राज्यो की प्रभुता (sovereignty) को, जिसे प्रो० व्हीर अवयवी राज्यो की सहयुक्त एव स्वतन्त्र स्थिति कहते हैं, अमरीकन सविधान ने भी स्वीकार किया है और इसीलिए उक्त देश मे दोहरी नागरिकता, दोहरे अधिकारीगण और दोहरी न्यायालय-व्यवस्था कर दी गई है। किन्तु भारतीय सविधान ने कनाडा के सविधान का अनुसरण करते हुए केवल इकहरी नागरिकता की व्यवस्था की है।[1] यद्यपि भारत मे दो श्रेणियो के अधिकारी होंगे—राज्य अधिकारी एव अखिल भारतीय अधिकारी किन्तु सयुक्त राज्य अमरीका की तरह हमारे देश में भी अखिल सघीय विधियो और राज्यो की विधियो की क्रियान्विति मे स्पष्ट विभाजन-रेखा नही है। व्यवस्था ऐसी की गई है कि राज्य के अधिकारी राज्य की विधियो के अनुसार आचरण करेंगे और साथ ही सघीय विधियो के अनुसार भी आचरण करेंगे, और अखिल सघीय अधिकारी जिस समय राज्यो में कार्य करेंगे तब भी उसी प्रकार राज्य की विधियों के अनुसार प्रशासन करेंगे। सविधान का अनुच्छेद २५८ उपबन्धित करता है कि "सघ की कार्यपालिका किसी राज्य या उसके प्राधिकारो को किसी ऐसे विषय-सम्बन्धी कृत्य जिन पर सघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है, सौंप सकेगी।" इसी सम्बन्ध में सविधान के अनुच्छेद २५६ और २५७ भी हैं। अनुच्छेद २५६ स्पष्ट आदेश देता है कि "यह राज्यों का कर्त्तव्य होगा कि वे ससद् द्वारा निर्मित विधियो का पालन करें।" अनुच्छेद २५७ आदेश देता है कि "प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होगा कि जिससे सघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में कोई अड़चन या प्रतिकूल प्रभाव न हो।" सघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निदेश देने तक विस्तृत होगा जो भारत सरकार को उस प्रयोजन के लिए आवश्यक दिखाई दे। इसके अतिरिक्त सघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार राज्य को किसी ऐसे सचार साधनो के निर्माण करने और बनाये रखने के लिए निदेश देने तक भी विस्तृत होगा जिनका राष्ट्रीय या सैनिक महत्त्व का होना उस निदेश में घोषित किया गया हो। इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि सघीय विधियो के प्रशासन के लिए अलग से सघीय न्यायालयो की व्यवस्था नहा की गई है। कनाडा के ही समान, हमारे देश में भी एक ही प्रकार के न्यायालय राज्य में दोनो प्रकार की अर्थात् सघीय विधियो और राज्य की विधियो का प्रशासन करते हैं। राष्ट्रपति ही सर्वोच्च न्यायालय एव राज्यो के उच्च न्यायालयो के न्यायाधीशो की नियुक्ति करता है। अनुच्छेद २२२ के अनुसार, "राष्ट्रपति, भारत के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श करके भारत राज्य-क्षेत्र में के एक उच्च न्यायालय से किसी दूसरे उच्च न्यायालय को किसी न्यायाधीश का स्थानान्तरण कर मकेगा।"

(५) किन्तु सघ शासन को केवल राज्यो को निदेश-मात्र देने का ही अधिकार नही है। यदि सघ की कार्यपालिका द्वारा निदेश का अनुवर्त्तन करने में या

---

[1] अनुच्छेद ५।

उनको प्रभावी करने में कोई राज्य असफल हुआ है, वहाँ "राष्ट्रपति के लिए यह मानना विधिसंगत होगा कि ऐसी अवस्था उत्पन्न हो गई है जिसमें राज्य का शासन इस संविधान के उपबन्धों के अनुकूल नहीं चलाया जा सकता।"[1] और इस प्रकार कुछ समय के लिए राज्य का शासन निलम्बित कर दिया जायगा।[2] इसका अर्थ है राज्य को संघ के एकात्मक शासन में ले आना।

(६) किसी राज्य के राज्यपाल के प्रतिवेदन पर किसी राज्य के शासन को निलम्बित किया जा सकता है। राज्य के राज्यपाल को राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रासहित अधिपत्र द्वारा नियुक्त करेगा।[3] इस प्रकार राज्यपाल उस दल का नामांकित व्यक्ति होगा जिसका संघीय शासन पर अधिकार होगा। राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त राज्यपाल पाँच वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा।[4] इसका यह स्पष्ट अर्थ है कि संघीय शासन यदि चाहे तो राज्यपाल को उसके सामान्य कार्यकाल में भी हटा सकता है। इसका स्पष्ट फल यह होगा कि राज्यपाल, संघीय शासन के अभिकर्त्ता के रूप में कार्य करेगा। जब तक उसी एक दल का शासन केन्द्र में भी है और राज्यों में भी है, राज्यपाल और मन्त्रिमण्डल में विरोध हो जाने की कोई सम्भावना नहीं है। किन्तु जब केन्द्र में और राज्य में विभिन्न दलों का शासन है, उस समय ऐसी सम्भावना आ सकती है, कि राज्य का प्रमुख होने के नाते राज्यपाल और राज्य के मन्त्रिमण्डल में विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाय, विशेषकर जबकि केन्द्र और राज्यों के हितों में टकराव हो। उस स्थिति में केन्द्रीय शासन अपने अभिकर्त्ता (agent) राज्यपाल को प्रभावित कर सकता है और उसके द्वारा राज्य के शासन की नीति और प्रस्तावों को नियन्त्रित और प्रभावित कर सकता है। यदि राज्यपाल, केन्द्रीय शासन की इच्छानुसार राज्य के शासन को नियन्त्रित करने में असफल रहता है, और यदि केन्द्रीय शासन के अभिकर्त्ता के रूप में उसका राज्य के मन्त्रिमण्डल से समझौता नहीं हो पाता, तो उस स्थिति में राज्यपाल के प्रतिवेदन पर केन्द्रीय शासन राज्य के शासन को निलम्बित करके अपने अधिकार में ले सकता है। राज्य की संवैधानिक शासन-व्यवस्था को निलम्बित करने से पूर्व निर्वाचक वर्ग (electorate) से अपील नहीं की जा सकती। संसदीय शासन-व्यवस्था के साथ यह अन्याय है। साथ ही, सम्बन्धित राज्य के शासन से पूछे बिना राज्यपाल की नियुक्ति प्रणाली भी संघीय सिद्धान्त की उपेक्षा है। और संविधान के अनुच्छेद ३५६ के अनुसार राज्यपाल के प्रतिवेदन पर राज्य की शासन-व्यवस्था को निलम्बित कर देना भी संघीय सिद्धान्त की भारी उपेक्षा है क्योंकि संघीय सिद्धान्त में केन्द्रीय अथवा राष्ट्रीय सरकार तथा अवयवी एककों की सरकारें एक दूसरे से स्वतन्त्र भी हैं और सहयुक्त भी हैं।

(७) किसी राज्य का राज्यपाल केवल संवैधानिक अथवा औपचारिक प्रमुख ही नहीं है। संविधान के अनुच्छेद २०० तथा २०१ इस तथ्य के साक्षी हैं कि राज्यपाल, राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित किसी विधेयक पर अपनी अनुमति

---

[1] अनुच्छेद ३६५।

[2] अनुच्छेद ३५६।

[3] अनुच्छेद १५५।

[4] अनुच्छेद १५६।

रोक सकता है अथवा ऐसे विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित रख सकता है। राज्यपाल द्वारा जब कोई विधेयक राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर लिया जाय, तब "राष्ट्रपति यह घोषित करेगा कि वह विधेयक पर या तो सम्मति देता है या सम्मति रोक लेता है।" ससदीय शासन-व्यवस्था में यह असम्भव है, कि स्व मन्त्रिमण्डल, जो व्यवस्थापन में पहल करता है, व्यवस्थापन का समर्थन करता है और उसको विधानमण्डल मे प्राणपण से प्रयत्न करके पास कराता है, स्वय राज्यपाल से प्रार्थना करेगा कि वह किसी पारित विधेयक पर अपनी अनुमति रोक ले अथवा उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित रख ले। प्रो० कोगेकर (Pof Kogekar) ने पूछा है कि "सिवाय सघीय शासन के स्वेच्छाचारी विवेक के और क्या कारण हो सकता है, जो कोई राज्यपाल राज्य के विधान-मण्डल के परिश्रम को वृथा करे।"[1] उक्त प्रोफेसर ने आगे कहा है, "याद रखिये कि राज्यपाल केवल उन्ही मामलो में निषेधात्मक कार्रवाई नही करता जिनमें सविधानत राष्ट्रपति की स्वीकृति की आवश्यकता होती है, उदाहरणार्थ अनुच्छेद ३१, खण्ड ३ देखिये।"[2]

(८) केन्द्र और राज्यो के बीच शक्तियो का वितरण ही सघीय सिद्धान्त का सार है। इस सम्बन्ध मे हमारा नवीन सविधान उस १९३५ के भारत सरकार अधिनियम का अनुसरण करता है जो सघीय परम्परा के अनुकूल नही है। भारतीय सविधान में विषयों की तीन सूचियाँ दी गई हैं सघीय सूची, राज्य सूची और समवर्त्ती सूची और अवशिष्ट शक्तियाँ ससद् को सौंप दी गई हैं।[3] सयुक्त राज्य अमरीका और आस्ट्रेलिया में विनिर्दिष्ट शक्तियाँ केन्द्रीय शासन को दी गई हैं और अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यो को सौंप दी गई हैं। कनाडा के सविधान मे शक्तियो की दो सूचियाँ हैं, एक सूची अधिराज्य (Dominion) के लिए है, और दूसरी सूची प्रान्तो के लिए है तथा अवशिष्ट शक्तियाँ भी अधिराज्य को ही सौंप दी गई हैं। डा० जैनिंग्ज के अनुसार "अवशिष्ट शक्तियो का कनाडा के सविधान में कोई महत्त्व नहीं है क्योकि कुछ प्रगणित विषय ही इतने विस्तृत हैं जैसे 'प्रान्त मे सम्पत्ति सम्बन्धी और नागरिक अधिकार' कि अवशिष्ट विषय प्राय कुछ नही बचते। कनाडा के सविधान में शक्तियो का जो वितरण हुआ है, उसकी महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि शक्तियो की दोनो सूचियो को साथ-साथ पढना चाहिए क्योकि एक का निर्वचन दूसरी सूची के निर्वचन पर आधारित है।"

सब मिला कर केन्द्रीय शासन को ९७ विषय सौंपे गये हैं और राज्यो को ६६ विषय सौंपे गये हैं। समवर्त्ती सूची में कुल ४७ विषय हैं।[4] केन्द्र और राज्यों दोनों को ही समवर्त्ती विषयो पर व्यवस्थापन करने की छूट है किन्तु यदि दोनों ही

---

[1] 'Some observations on the Constitution of India,' India Journal of Political Science, April-June, 1950, p 62

[2] Ibid —Do

[3] अनुच्छेद २४८।

[4] १९३५ के भारत सरकार अधिनियम में सघीय सूची में ५९ विषय थे, प्रान्तीय सूची मे ५४ विषय थे और समवर्त्ती सूची में ३६ विषय थे।

उक्त विषय पर विधि तैयार करें, और यदि राज्य द्वारा पारित विधि उसी विषय पर ससद् द्वारा पारित विधि के उपबन्ध से मेल न खाती हो, तो सघ द्वारा पारित विधि प्रभावी होगी और राज्य द्वारा पारित उक्त विधि निलम्बित हो जायगी। ससद् को यह भी अधिकार है कि वह राज्यो की सूची के किसी विषय पर विधि तैयार कर सकती है, किन्तु शर्त यह है कि राज्य सभा अपने दो-तिहाई के अन्यून बहुमत से पास करके यह घोषित करे कि उक्त विषय अथवा बहुत से विषय अखिल सघीय महत्त्व के हैं अथवा राष्ट्रीय हित से सम्बन्धित हैं।[1] यदि आपात की उद्घोषणा प्रवर्त्तन में हो, भारत के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र के अथवा उसके किसी भाग के लिए राज्य सूची मे प्रगणित विषयो मे से किसी के बारे में ससद् को विधि बनाने का अधिकार होगा।[2] अन्तत अनुच्छेद २५३ "ससद् को किसी अन्य देश या देशो के साथ की हुई किसी सधि, करार या अभिसमय अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, सस्था या अन्य निकाय में किये गये किसी निश्चय के परिपालन के लिए भारत के सम्पूर्ण राज्य-क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए कोई विधि बनाने की शक्ति प्रदान करता है।" यह अनुच्छेद बहुत ही स्पष्ट है और जैसा कि जैनिंग्ज़ ने कहा है "सघीय ससद् किसी भी विषय पर अधिकार क्षेत्र प्राप्त कर सकती है यहाँ तक कि इसी उपबन्ध के द्वारा विश्वविद्यालयो की शिक्षा पर भी विधि बना सकती है क्योकि यह माना जा सकता है कि भारत का अन्तरविश्वविद्यालय बोर्ड एक अन्तर्राष्ट्रीय निकाय है क्योकि उसमें बर्मा और श्री लका के विश्वविद्यालयो के प्रतिनिधि भी सम्मिलित हैं।"[3]

(९) शेष अधिकार क्षेत्र आपतकालीन शक्तियों के अन्तर्गत प्राप्त कर लिया गया है।[4] इन शक्तियो के सम्बन्ध में इस समय हम विस्तार से विचार नही करेंगे। डा० अम्बेदकर ने सविधान सभा में स्वीकार किया था कि "सविधान पूर्णत सघात्मक सविधान नही बन सका है। यह ऐसा सविधान है जो सामान्य काल में सघात्मक सविधान रहेगा और युद्ध-काल में अथवा आपात कालो में यह एकात्मक सविधान हो जायगा, और उस समय इस सविधान का स्वरूप ऐसा हो जायगा कि इसमें कोई सघात्मक विशेषता न रह जायगी।

(१०) सविधान के अनुच्छेद ३२४ के अनुसार एक निर्वाचन आयोग की व्यवस्था की गई है। उक्त आयोग के सदस्यो की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है। निर्वाचन आयोग ही ससद् के तथा राज्यो के विधानमण्डलो के निर्वाचनो का अधीक्षण, निदेशन और नियन्त्रण करेगा।

(११) इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि राष्ट्रपति ही अपने हस्ताक्षर और मुद्रा-सहित अधिपत्र द्वारा नियन्त्रण-महालेखा परीक्षक (Comptroller and

---

[1] अनुच्छेद २४९।

[2] अनुच्छेद २५०।

[3] Jennings Some Characteristics of the Indian Constitution, op citd, p 66

[4] अनुच्छेद २५०, ३५६, ३६५।

Auditor-General) की नियुक्ति करता है ।[1] नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक सघ के और राज्य के वित्त पर कठोर नियन्त्रण रखता है ।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय सविधान में सघ और राज्यो की स्थिति बराबर की नही है और सघ सरकार राज्यो की सरकारो की अपेक्षा नि:सन्देह सर्वोच्च स्थिति का उपभोग करती है । ऐसी शासन-व्यवस्था को सघात्मक नही कहा जा सकता जिसमें एक शासन की स्थिति इतनी उच्च हो कि वह दूसरे शासन को नष्ट करने की क्षमता रखता हो । यह हो सकता है कि इस प्रकार के शासन का स्वरूप सघात्मक हो, किन्तु किसी शासन के सघात्मक स्वरूप से ही सघ का निर्माण नही हो सकता । भारतीय सविधान में भी सघीय ढाँचा इस प्रकार तैयार किया गया है, कि भारत सरकार जब चाहे, स्थानीय मामलो में भी राज्यो की नीतियो को प्रभावित कर सकती है । भारतीय सविधान के निर्माताओ ने कुछ भी कारणो से ऐसा सविधान तैयार किया हो, किन्तु स्पष्टत उनके अथक परिश्रम का फल ऐसी एकात्मक शासन-व्यवस्था है जो १९३५ के भारत सरकार अधिनियम द्वारा प्रस्तावित शासन-व्यवस्था से भी अधिक एकात्मक है । श्री बसु का कथन है कि "भारत का सविधान न तो पूर्णत सघात्मक है और न पूर्णत एकात्मक, अपितु अशत दोनो का सम्मिश्रण है । यह एक सघ है अथवा विभिन्न गुणो अथवा विशेषताओ की समष्टि है ।"[2] श्री बसु भी इस सम्बन्ध में मौन हैं कि हमारे जैसे सविधान को किस प्रकार का सविधान कहा जाय । यदि भारतीय सविधान के प्रशसक भारत को सघान (Federation) कहने से सन्तोष अनुभव करते है तो प्रो० व्हीर ने हमारे सविधान की जिन शब्दो में व्याख्या की है, वह सर्वश्रेष्ठ है । उनका कथन है "भारत का नया सविधान ऐसी शासन-व्यवस्था[3] को जन्म देता है जो अधिक से अधिक अर्द्ध-सघीय (quasi federal) है, अथवा यह कहिए कि उसका स्वरूप अवनतिशील अथवा प्रक्रमणशील (devolutionary in character) है, अथवा भारत एक एकात्मक राज्य है जिस में कतिपय सघीय विशेषताएँ गौण रूप से आ गई हैं किन्तु हम उसको ऐसा सघात्मक अथवा सधानात्मक राज्य नही कह सकते जिसमें गौण रूप से एकात्मक राज्य की विशेषताओ ने प्रवेश पा लिया हो ।" किन्तु प्रो० व्हीर भी भारतीय सविधान को अधिक से अधिक अर्द्ध-सघीय कहते हैं ।

सविधान का सशोधन और सविधान की कठोरता (Amendment of the Constitution and its Rigidity)—जहाँ सविधान सर्वोच्च होगा, वहाँ साथ ही साथ कठोर भी होगा । किसी सविधान की कठोरता दो बातो पर निर्भर करती है । प्रथम तो किसी सविधान की सशोधन विधि सरल है अथवा कठिन, इस पर सविधान की कठोरता निर्भर है, अर्थात् क्या किसी सविधान के सशोधन के लिए कोई ऐसी प्रक्रिया निर्धारित है जो सामान्य व्यवस्थापन की प्रक्रिया से भिन्न हो । द्वितीयत

---

[1] अनुच्छेद १४८ ।

[2] Basu, Durgadas Commentary on the Constitution of India, (1952), p. 37

[3] 'India's new Constitution Analysed' 48 A L J 21

सविधान की कठोरता सविधान के उपवन्धो पर भी निर्भर है। प्रो० जैनिग्ज का कथन है कि "हम भारतीय सविधान को इसलिए कठोर कहते हैं क्योकि एक तो इसकी सशोधन विधि कुछ जटिल है, दूसरे यह सविधान इतना विस्तृत है और विधि को वहुत ही व्यापक अर्थो मे लिया गया है, जिससे, अधिकतर सवैधानिक वैधता की वारवार परीक्षा करनी पडेगी।"[1] किन्तु वास्तव मे सशोधन विधि उतनी जटिल नही है। यह साधारण है यद्यपि सरल नही है। अमरीका और आस्ट्रेलिया के सविधानो की सशोधन विधि कही अधिक कठिन है, इसलिए हमारे सविधान ने उन कठिन प्रक्रियाओ को दूर रखने का प्रयत्न किया है। हम भारतीय सविधान को कुछ लचीला और कुछ कठोर कह सकते हैं, यद्यपि डा० जैनिग्ज का मत इसके विपरीत है। सविधान को लचीला वनाने के कारणो पर प्रकाश डालते हुए प० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, "यद्यपि हम अपने सविधान को इतना कठोर और स्थायी वनाना चाहते हैं जितना कि सभव हो सके किन्तु फिर भी सविधान सदैव के लिए स्थायी चीज़ नही वन सकता। सविधानो में कुछ लचीलापन होना ही चाहिए। यदि हम किसी चीज़ को स्थायी और कठोर वनाते हैं, तो हम राष्ट्र का विकास रोक देते हैं क्योकि राष्ट्र जीवित प्राणियो का समूह है। किसी भी स्थिति में हम अपने सविधान को इतना कठोर नही वनाना चाहते जो, यह वदलती हुई स्थितियो के अनुरूप वदल न सके। जब समस्त ससार सक्रान्ति काल से गुज़र रहा है और जवकि हम तेज़ी से सक्रान्ति काल के दौर से गुज़र रहे हैं तो जो कुछ हम आज करते हैं, वह सम्भवत कल को उचित न ठहराया जाय।" जैनिग्ज़ का भी यही विचार है। वह कहता है कि सविधान को न केवल उन अवस्थाओ मे क्रियान्वित होना है जिनमें वह निर्मित हुआ था वल्कि वह सैकडो वर्षो वाद तक प्रभावी रहेगा। "इसलिए सविधान आवश्यकत ऐसा होना चाहिए जो नई अवस्थाओ के अनुरूप अपने आपको वनाता चले।" इसलिए जैनिग्ज ने सलाह दी है कि "सविधान के निर्माताओ को यह करना चाहिए कि वे ऐसी किसी चीज को सविधान में न लें जिसको सरलता से छोडा जा सकता है।"[2] भारतीय सविधान की समीक्षा करते हुए जैनिग्ज़ ने कहा, "सविधान सभा ने एक लम्बा और जटिल प्रलेख तैयार किया है जिसका सशोधन करना कठिन होगा। यह स्पष्ट है कि सविधान मे कुछ ऐसे खण्ड हैं जिनको सवैधानिकत सविधान में रखने की आवश्यकता नही थी। उदाहरणार्थ अनुच्छेद २२४ ले लीजिए। यह अवकाश-प्राप्त अथवा सेवा-निवृत्त न्यायाधीश को उच्च न्यायालय मे कार्य करने की अनुमति देता है। क्या इस उपवन्ध का इतना सवैधानिक महत्त्व है कि इसकी सवैधानिक रक्षा की जाय और इसका भी आवश्यकता पडने पर और किसी प्रकार संशोधन न हो सके, केवल ससद् के दोनो सदनो के दो-तिहाई मतदान करने वाले सदस्यो के वहुमत से ही सशोधन हो सके।"[3]

---

[1] Some Characteristics of the Indian Constitution, op. citd, p 9-10

[2] Some Characteristics of the Indian Constitution, op citd, p 16

[3] Ibid

भारतीय सविधान ने सविधान के विभिन्न उपवन्धो के सशोधन के लिए तीन विभिन्न विधियाँ सुझाई हैं।

(१) सविधान के कुछ भागो का सशोधन ससद् के दोनों सदनो के सामान्य बहुमत द्वारा स्वीकृत हो जाने पर ही हो सकता है। किन्तु यह समझ लेना चाहिए कि ऐसे बहुत ही कम उपबन्ध हैं जिनका सशोधन सामान्य बहुमत से हो सकता है। इस विधि से नये राज्यो का निर्माण हो सकता है, या अन्य वर्त्तमान राज्यो का पुनर्गठन हो सकता है।[1] अथवा भारतीय नागरिकता के अर्थों में परिवर्त्तन किया जा सकता है,[2] राज्यो में उच्च सदन या विधान परिषद् स्थापित की जा सकती है या उसका उत्सादन किया जा सकता है अथवा[3] भाग ग (C) के राज्य मे विधानमण्डल या मन्त्रिमण्डल (Ministry) या उपदेष्ट्री परिषद् की स्थापना की जा सकती है।[4] अथवा अनुसूचित क्षेत्रो और अनुसूचित आदिम जातियो के प्रशासन-सम्बन्धी उपबन्धो में परिवर्त्तन किया जा सकता है।[5]

किन्तु इन विषयो को सविधान का सशोधन नही कहेंगे यद्यपि इन उपबन्धो मे कुछ तो सविधान के महत्त्वपूर्ण उपबन्ध हैं।

(२) अनुच्छेद ३६८ मुख्य रूप से सविधान के सशोधन का उपबन्ध प्रस्तुत करता है। कुछ विशिष्ट विषयो जैसे राष्ट्रपति के निर्वाचन की विधि, सघ अथवा राज्यो की कार्यपालिका और व्यवस्थापिका शक्तियों का विस्तार, सर्वोच्च न्यायालय अथवा उच्च न्यायालयो के सम्बन्ध मे उपबन्ध, राज्यों का ससद् में प्रतिनिधित्व, और सविधान के सशोधन की विधि आदि में सशोधन[6] करने के लिए (क) ससद् के दोनो सदनो मे कुल सदस्यो का सख्या के बहुमत द्वारा, (ख) ससद् के दोनो सदनो के उपस्थित और मत देने वाले सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत, और (ग) क और ख भाग के राज्यो में से कम-से-कम आधे राज्यों के विधान-मण्डलो द्वारा अनुसमर्थित होने पर सम्बन्धित सशोधन स्वीकृत समझा जायगा और प्रभावी हो जायगा। इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि सयुक्त राज्य अमरीका में कांग्रेस, अथवा केन्द्रीय विधानमण्डल मे उपस्थित अथवा मतदान करने वाले सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत द्वारा तथा समस्त राज्यो के ३/४ राज्यो द्वारा अनुसमर्थन प्राप्त होने पर ही सविधान में सशोधन हो सकता है।

(३) सविधान के शेष उपबन्धो के सशोधन के लिए (क) ससद् के दोनो सदनो में से प्रत्येक में समस्त सदस्य सख्या का बहुमत, (ख) और प्रत्येक सदन के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो में दो-तिहाई के बहुमत से पारित होने पर सविधान मे सशोधन हो सकता है।

सशोधन विधेयक के पास करने की प्रतिक्रिया के सम्बन्ध में भी कुछ वर्णन कर देना आवश्यक प्रतीत होता है। अस्थायी ससद् के अध्यक्ष ने यह आदेश दिया था कि "सविधान के सशोधन सम्बन्धी विधेयक को सदन खण्डश पारित करे और

---

[1] अनुच्छेद ४।

[2] अनुच्छेद ११।

[3] अनुच्छेद १६९।

[4] अनुच्छेद २४०।

[5] पचम अनुसूची, भाग (घ)

[6] अनुच्छेद ३६८ का प्रावधान (proviso

प्रत्येक खण्ड के पारित करते समय आवश्यक बहुमत की आवश्यकता होगी।" सर्वोच्च न्यायालय ने श्री शकरप्रसाद के विरुद्ध भारत सरकार वाले मामले मे यही दृष्टिकोण अपनाया। सर्वोच्च न्यायालय ने आदेश दिया कि सविधान के सशोधन की प्रक्रिया विधायी प्रक्रिया है और ससद् ने जो नियम अनुच्छेद ११८ के अन्तर्गत सामान्य विधायी प्रक्रिया के लिए स्वीकार किये हैं, उन्ही का अनुच्छेद ३ ८ के उपबन्धो के अन्तर्गत, सशोधन विधेयक के बारे मे भी प्रयोग होगा।

सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान की ही तरह हमारे सविधान ने भी समय की कोई पाबन्दी नही दी है, जिसमे राज्यो के विधानमण्डल उनके पास निर्णयार्थ अथवा अनुसमर्थनार्थ भेजे गये सशोधन को या तो स्वीकार कर लें अथवा रद्द कर दें।[1] सयुक्त राज्य अमरीका मे कोलमैन विरुद्ध मिलर (Coleman *V* Miller) वाले मामले में यह निश्चित किया जा चुका है कि यदि राज्य सशोधन के सम्बन्ध में अपना निर्णय अनिश्चित काल तक रोके रखें, तो यह कांग्रेस का कर्त्तव्य है न कि न्यायालयो का कि वह निर्णय करे कि सशोधन सम्बन्धी विधेयक समाप्त समझा जाय अथवा नही।

जब सवैधानिक सशोधन सम्बन्धी प्रक्रिया को सामान्य विधायी प्रक्रिया के समान समझा जाता है, तो फिर क्या सामान्य विधेयको के समान राष्ट्रपति सशोधन विधेयको पर भी अपनी अनुमति रोक सकता है। अनुच्छेद ३६८ ने राष्ट्रपति की एतद्-विषयक शक्ति पर प्रकाश नही डाला है। उसमें तो केवल इतना कहा गया है… "तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उसकी अनुमति के लिए रखा जायेगा तथा विधेयक को ऐसी अनुमति दी जाने के पश्चात् विधेयक के निबन्धनो के अनुसार सविधान सशोधित हो जायेगा।" अनुच्छेद १११ सामान्य विधेयको के सम्बन्ध में राष्ट्रपति की अनुमति के बारे में निम्न शब्दो मे उपबन्ध करता है " जब ससद् के दोनो सदनो द्वारा कोई विधेयक पारित कर दिया गया हो, तब वह राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित किया जायेगा तथा राष्ट्रपति घोषित करेगा कि वह विधेयक पर या तो अनुमति देता है या अनुमति रोक लेता है।" जब अनुच्छेद ३६८ ने स्पष्टतया यह नही बताया कि राष्ट्रपति किसी सशोधन विधेयक पर अपनी अनुमति रोक सकता है, तो यह मान लेना स्वाभाविक है कि यदि कोई सशोधन विधेयक ससद् द्वारा पारित हो जाता है तो उस पर राष्ट्रपति की अनुमति नियमतः हो ही जायगी। सशोधन विधेयक के सम्बन्ध में राष्ट्रपति अपनी अनुमति तभी रोक सकता है जबकि अनुच्छेद ३६८ मे वर्णित प्रक्रिया पर ठीक-ठीक पालन न हुआ हो। यह भी जान लेना रोचक होगा कि सयुक्त राज्य अमरीका मे सविधान के सशोधन सम्बन्धी विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष उसकी स्वीकृति के लिए नही रखे जाते, इसलिए उक्त विधेयको का राष्ट्रपति द्वारा प्रतिनिषेध किये जाने का प्रश्न ही नही उठता।

इस सम्बन्ध मे एक अन्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि सविधान के सशोधन का

---

[1] सयुक्त राज्य अमरीका में राज्य का अनुसमर्थन आवश्यक है, न कि राज्यों के विधानमण्डलों का।

विधेयक केवल संघीय संसद् में ही पुरःस्थापित किया जा सकता है। राज्यों को यह अधिकार नहीं दिया गया है कि वे संविधान के संशोधन का प्रस्ताव पुरःस्थापित कर सकें, हाँ, अनुच्छेद १६९ के अन्तर्गत यदि किसी राज्य की विधान सभा, राज्य के विधानमण्डल में विधान परिषद् के सृजन या उत्सादन के लिए संकल्प पारित करे तो संसद् तदर्थ उपबन्ध कर सकेगी।[1] जैसा कि हमने इसी अध्याय में पहिले भी कहा था, यह व्यवहार संघीय सिद्धान्त के विरुद्ध है और अन्य संघात्मक देशों में जो व्यवहार प्रचलित है, उसके पूर्णतया विरुद्ध है। प्रारूप समिति ने अधिकतर कनाडा के संविधान का अनुसरण किया था। किन्तु कनाडा में भी प्रान्तीय विधानमण्डलों को पूरा अधिकार है कि वे प्रान्तीय संविधान को व्यवस्थापन की सामान्य प्रक्रिया के द्वारा ही संशोधित कर सकते हैं, "हाँ केवल लेफ्टीनेण्ट गवर्नर के पद से सम्बन्धित संशोधन अपवाद है।"[2]

संक्षेप में इतना ही पर्याप्त है कि संविधान के संशोधन की प्रक्रिया उतनी सरल नहीं है जितनी सरल समझी जाती है। संसद् के प्रत्येक सदन की समस्त सदस्य संख्या का बहुमत प्राप्त करना और पुनः उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों का दो-तिहाई बहुमत प्राप्त करना सरल नहीं है। जब तक कि केवल एक ही राजनीतिक दल का राज्यों के विधानमण्डलों और संघीय संसद् में आवश्यक बहुमत है, आवश्यक दोहरा बहुमत (Double Majority) प्राप्त करना सरल होगा। किन्तु जहाँ राज्यों के विधानमण्डलों में और संसद् में अनेकों राजनीतिक दलों का बाहुल्य हुआ, कि आवश्य बहुमत प्राप्त करके अनुच्छेद ३६८ के अनुसार संविधान में संशोधन करना अतीव कठिन होगा। इसलिए डा० जैनिंग्ज़ ने ठीक ही कहा था कि "यदि संविधान का संशोधन करना सरल नहीं है तो फिर संविधान अत्यधिक सरल और अत्यधिक छोटा होना चाहिए।" हमारा संविधान आवश्यकता से अधिक लम्बा प्रलेख है और बहुत ब्योरेवार भी है। उसके संशोधन की प्रणाली भी आसान नहीं है, केवल ऐसे उपबन्धों का संशोधन करना अवश्य सरल है जहाँ संसद् के सामान्य बहुमत की ही आवश्यकता है। भारतीय संविधान की यह कमज़ोरी है। इसमें सन्देह नहीं कि संघीय संसद्, राष्ट्रीय महत्त्व के किसी भी विषय पर व्यवस्थापन कर सकती है जैसा कि अनुच्छेद २४९, २५० और २३३ में उपबन्धित किया गया है, किन्तु यह व्यवहार भी किसी ऐसे शासन के लिए उचित नहीं है जो संघीय स्वरूप का शासन होने का दावा करता है।

न्यायिक पुनरीक्षण (Judicial Review)—हमारे संविधान में न्यायिक पुनरीक्षण का सिद्धान्त निःसन्देह उपलक्षित है। शासन के विभिन्न अंगों पर संविधान ने निश्चित मर्यादाएँ और अंकुश लगा दिए हैं और यदि शासन का कोई उपकरण उक्त मर्यादाओं का उल्लंघन करेगा तो सम्बन्धित अधिनियम या विधि अवैध हो

---

[1] राज्य की विधान सभा, विधान परिषद् के उत्सादन अथवा सृजन के लिए समस्त सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों की संख्या के दो तिहाई से अन्यून बहुमत से तदर्थ संशोधन की प्रार्थना कर सकता है।

[2] Canadian Constitution, Section 92 (1)

जायेंगे । उदाहरणस्वरूप अनुच्छेद १३ आदेश देता है कि "राज्य कोई ऐसी विधि नही बनायेगा जो इस भाग द्वारा दिये अधिकारो को छीनती या न्यून करती हो और इस खण्ड के उल्लघन में बनी प्रत्येक विधि उल्लघन की मात्रा तक शून्य होगी ।" उसी प्रकार अनुच्छेद २५१ और २५४ का आदेश है कि यदि ससद् द्वारा पारित विधियो और राज्यो के विधानमण्डलो द्वारा निर्मित विधियो मे असगति हो, तो कतिपय हालतो में राज्य की विधि अवैध हो जायेगी । यह निर्णय न्यायालय ही करेंगे कि क्या किसी विधि द्वारा सवैधानिक मर्यादाओ का उल्लघन हुआ है अथवा नही, और यह भी न्यायालय ही निर्णय करेंगे कि सघ की विधि और राज्य की विधि में कोई असगति है अथवा नही । सर्वोच्च न्यायालय ने न्यायिक पुनरीक्षण के सम्बन्ध में अपने अधिकार-क्षेत्र की सीमाओ की परीक्षा करते हुए कहा था, "मौलिक अधिकारो को मर्यादित करने वाला विधान तभी वैध माना जायगा यदि उसने साथ ही उन अधिकारो के प्रयोग के सम्बन्ध में भी न्याययुक्त एव यथार्थ अकुश उपबन्धित कर दिये हो, और न्याययुक्तता और यथार्थता का निर्णय केवल न्यायालय ही करेंगे । विधानमण्डल को यह निर्णय करने का अधिकार नही है कि कोई मर्यादा या अकुश (restriction) न्याययुक्त अथवा यथार्थ है अथवा नही, यह इस न्यायालय के निर्णय का विषय है ।"

धर्म-निरपेक्ष राज्य (A Secular State)—"धर्म-निरपेक्ष राज्य का केवल यही उद्देश्य रहता है कि देश मे राजनीतिक शान्ति बनी रहे और देश की स्वतन्त्रता बनी रहे, और ऐसा राज्य अपनी सारी योजना और सारी शक्ति लोगो की आर्थिक समृद्धि और सामान्य जन-कल्याण के लिए ही व्यय करता है । इसलिए धर्म-निरपेक्ष राज्य का अर्थ ऐसी शासन-व्यवस्था है जो सासारिक आवश्यकताओ के अनुसार, तथा आधुनिक विज्ञान पर आधारित आधुनिक सस्कृति के मूल मन्त्रो के अनुसार क्रिया-कलाप करती हो ।" धर्म-निरपेक्ष राज्य अपने शासनिक क्रिया-कलापो में किसी ऐसे धर्म विशेष की शिक्षाओ या विश्वासो पर अमल नही करता जो उक्त राज्य की सीमाओ में माना जाता हो, चाहे उक्त धर्म के मानने वालो की सख्या कितनी भी हो । इसलिए धर्म-निरपेक्ष राज्य किसी विशेष धर्म के प्रचार पर न तो व्यय कर सकता है और न उसके साथ अपने आपको किसी प्रकार सम्बद्ध कर सकता है । ऐसा राज्य सभी नागरिको को धर्म की पूरी छूट देता है, किन्तु ऐसी छूट विधि और नैतिकता का अतिक्रमण न करे । धर्म व्यक्तिगत मामला है और यह व्यक्ति की अपनी इच्छा और उसके विश्वास की चीज है । "किन्तु इसका यह अर्थ भी नही है कि धर्म-निरपेक्ष राज्य अपने शासनिक क्रिया-कलापो मे सास्कृतिक और नैतिक विषयो पर भी तटस्थ रहेगा । धर्म-निरपेक्ष राज्य ऐसे सास्कृतिक और नैतिक विषयो से अपने आप को सम्बद्ध रखेगा जिनको सामान्य बहुमत का समर्थन प्राप्त है और जो राज्य की सामान्य नीति के उद्देश्यो और लक्ष्यो की प्राप्ति में सहायक होगे ।"[1]

---

[1] The Concept of a Secular State' The Indian Journal of Political Science, July-September 1951, p 29 Also refer to Prof S V Puntambekar's 'The Secular State A Critique', Ibid Jan.-June 1948, pp 58-72

भारतीय सविधान ऐसा पूर्ण धर्म-निरपेक्ष राज्य स्थापित करता है जिसमें किसी प्रकार के धार्मिक अथवा जातिगत पक्षपात को कोई स्थान नही होगा। सविधान ने यह भी आदेश दिया है कि सार्वजनिक व्यवस्था, राज्य की सुरक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य और सदाचार को ध्यान में रखते हुए सभी व्यक्तियो को धर्म, उपासना और अन्त करण की स्वतन्त्रता का पूरा अधिकार होगा। इसके अतिरिक्त सभी नागरिको को, बिना किसी ऐसे विभेद के, जिसका सम्बन्ध धार्मिक विश्वास, जाति, धर्म अथवा लिंग से हो, समान अधिकार प्रदान किये गये हैं।

हमारे देश में राजनीति का सदैव धर्म के साथ अटूट सम्बन्ध रहा है किन्तु हमारे नये राज्य का धर्म-निरपेक्ष आधार हमारी पुरानी परम्पराओ से क्रान्तिकारी प्रयाण इगित करता है। किन्तु हमारे इतिहास के तथ्य, हमारी राष्ट्रीय स्वतन्त्रता के जन्म से पूर्व की घटनाएँ और हमारी भारत को सुदृढ और सयुक्त बनाने की दृढ़ इच्छा इन सब ने मिलकर, भारत की द्रष्टव्य विभिन्नताओ के बावजूद, हमको मजबूर किया कि राज्य का स्वरूप धर्म-निरपेक्ष रखा जाय, क्योकि और कोई मार्ग ही नही था।

वयस्क मताधिकार (Adult Suffrage)—देश को धर्म-निरपेक्षता के आदर्श की ओर ले जाते हुए, सविधान ने जातिगत निर्वाचकमण्डल और जातिगत प्रतिनिधित्व को सदैव के लिए समाप्त कर दिया है। इससे राष्ट्रीय समैक्य बढेगा। हमारे सविधान की एक अन्य क्रान्तिकारी विशेषता है वयस्क मताधिकार। प्रो० श्री निवासन ने लिखा है कि "देश में पूर्ण वयस्क मताधिकार का सूत्रपात करके और उसके साथ, और किसी प्रकार की अर्हताएँ आरोपित न करके सविधान सभा ने अत्यन्त साहस और निष्ठा का कार्य किया था।"[1] १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने केवल १४ प्रतिशत जनसख्या को मताधिकार प्रदान किया था। इस १४ प्रतिशत में भी स्त्रियो को तो नाममात्र का मताधिकार दिया गया था। नये सविधान ने स्त्रियो और पुरुषो को मतदान का बराबर अधिकार दिया है और मताधिकार का विस्तार तो इसी तथ्य से जाना जा सकता है कि "भारत में प्रथम बार १४ करोड ऐसे व्यक्तियो को मतदान का अधिकार प्राप्त हुआ है जिनमें न तो समान सस्कृति और सभ्यता है और न समान विद्या और शिक्षा का स्तर है, और जबकि सम्पूर्ण निर्वाचकगण की सख्या लगभग १७ करोड है, और निर्वाचको की यह सख्या समस्त ससार के देशो में सबसे अधिक है।"[2]

Suggested Readings

Banerjee, D N	'Commonwealth Agreement and India', The Indian Journal of Political Science, April-June 1950, pp. 30-38
Basu, Durgadas	Commentary on the Constitution of India (1952), pp 25-46, 832-38

---

[1] Democratic Government of India, op citd p 151

[2] Ibid

Chitaley, V N and Appu Rao, S	The Constitution of India (1954), pp 1-132 Constituent Assembly Proceedings, Vol VII, VIII, XI
Ghosal, A K	'Balance of power under the New Constitution', The Indian Journal of Political Science, October-December 1950, pp 66-76
Do-	'Federalism in the Indian Constitution', The Indian Journal of Political Science, October-December 1953, pp 317-332
Gledhill, A	The Republic of India (1951), Vol 6, pp 70-97
Jennings, I	Some Characteristics of the Indian Constitution (1953), pp 1-29, 55-73
Shukla, V N	The Constitution of India (1951), pp XI VI/XX
Mukerji, K P	'Is India a Federation ?' The Indian Journal of Political Science, July-September 1954, pp 177-179
Srinivasan, N	Democratic Government in India (1954), pp 143-155

अध्याय ३

मौलिक अधिकार और राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व

(Fundamental Rights and the Directive Principles of State Policy)

मौलिक अधिकारो का महत्त्व (The Importance of Fundamental Rights)—"अधिकार ही किसी राज्य के आधार हैं। अधिकार ही वे गुण हैं जो शासन-सत्ता को नैतिक स्वरूप प्रदान करते हैं। मौलिक अधिकार प्राकृतिक अधिकार हैं क्योकि ऐसा विश्वास किया जाता है कि व्यक्ति के पूर्ण नैतिक और आध्यात्मिक विकास के लिए वे आवश्यक हैं।" यह स्वीकार किया जाता है कि देश के सविधान में मौलिक अधिकारो के सम्मिलित कर देने से व्यक्ति को ऐसे मूल अधिकार, जैसे जीवित रहने का अधिकार, स्वतन्त्रता, अभिव्यक्ति, धर्म और विश्वास आदि के अधिकार हर स्थिति मे अनुलघनीय हैं और उन्हे सत्तारूढ बहुसख्यक दल मनचाहे तरीके से आसानी से नही बदल सकता।[1] सयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री जैक्सन (Mr Jackson) ने पश्चिमी वर्जीनिया के राज्य शिक्षा आयोग विरुद्ध बार्नेट (1943) (West Virginia State Board of Education *Vs* Barnette [1943]) वाले मामले मे कहा था "सविधान में अधिकार घोषणा पत्र (Bill of Rights) इसीलिए सम्मिलित किया जाता है कि कुछ विषय राजनीतिक दलबन्दी से अलग कर लिये जाएँ। मूल अधिकार बहुमत दल वाले लोगो और अल्पमत वाले लोगो को भी समान रूप से प्राप्त होने चाहिएँ। मूल अधिकार एक प्रकार से वैधिक सिद्धान्त हैं जिन्हे सभी न्यायालयो को मानना ही पडेगा। इसलिए इस प्रकार के अधिकार जैसे जीवित रहने का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार, सम्पत्ति का अधिकार, स्वतन्त्र अभिव्यक्ति का अधिकार, मत प्रदर्शित करने का अधिकार, सघ बनाने की स्वतन्त्रता का अधिकार, उपासना करने का अधिकार आदि कुछ ऐसे मौलिक अधिकार हैं जिन पर निर्वाचनो के फल का प्रभाव नही पडना चाहिए। ये अधिकार राजनीतिक अल्पमत और बहुमत से परे हैं।"

मौलिक अधिकारो के सिद्धान्त का यह अर्थ भी है कि शासन स्वतन्त्र हो और मर्यादित हो। मौलिक अधिकार शासन और विधानमण्डल के ऊपर अकुश स्वरूप रहते हैं। उनके कारण विधानमण्डल स्वेच्छाचारी नही बन पाते। न्यायालयो का यह कर्त्तव्य है कि वे मौलिक अधिकारो की रक्षा करें। इसीलिए मौलिक अधिकारो की माँग न्यायालयो में की जा सकती है। अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश

---

[1] गोपालन विरुद्ध मद्रास राज्य वाले मामले में श्री जस्टिस शास्त्री ने कहा था कि मौलिक अधिकारों का दर्जा राज्यों की विधियों से ऊपर है। इसके अतिरिक्त Lakshmindratheerth Swamiar *Vs* Commr H R E Madras भी देखिये।

जस्टिस मैथ्यूज़ (Mr Justice Mathews) ने हर्टेडो विरुद्ध कैलीफोर्निया (Hertado *Vs* People of California) के नागरिको वाले मामले में कहा था "हमारे सविधान ने केन्द्रीय शासन और राज्यो की सरकारो के विरुद्ध जो मर्यादाएँ आरोपित कर दी हैं, वे अतीव आवश्यक हैं अन्यथा व्यक्तिगत और सार्वजनिक अधिकारों की रक्षा कठिन हो जाती यद्यपि हमारे शासन की सभी राजनीतिक सस्थाओ का स्वरूप पूर्ण प्रतिनिधिक है। स्वतन्त्र राष्ट्र इन मर्यादाओ को न्याय-व्यवस्था के द्वारा क्रियान्वित कराते हैं। इस युक्ति से व्यक्तियो और अल्पसख्यको के अधिकारो की रक्षा होती है, साथ ही बहुसख्यक लोग अल्पसख्यको को सता नही पाते, शासन के अधिकारी शासन के अभिकर्त्ताओ के रूप मे काम करते हुए भी अपने अधिकार-क्षेत्र का उल्लघन नही कर पाते।" मद्रास राज्य विरुद्ध वी० जी० राव (State of Madras *Vs* V G Row) वाले मामले मे जस्टिस शास्त्री ने कहा था "हमारे सविधान ने निश्चित रूप से व्यवस्थापिका के ऊपर न्यायालयो को न्यायिक पुनरीक्षण प्रदान किया है, अत न्यायालयो का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह देखें कि देश का व्यवस्थापन सविधान के उपबन्धो के सगत है अथवा नही। तब यदि हमारे न्यायालय इस कठिन किन्तु महत्त्वपूर्ण कार्य को अपने हाथ में ले लें तो, इसमे न्यायालय, व्यवस्थापिका सत्ता के विरुद्ध कुछ करने की इच्छा नही रखेंगे, अपितु वे सीधा अपना कर्त्तव्य पूरा करेंगे जो सविधान ने उन्हें करने को सौंपा है। यह बात विशेष रूप से मौलिक अधिकारो के सम्बन्ध में सच है क्योंकि यह न्यायालय उक्त मौलिक अधिकारो का सरक्षक और प्रहरी है।"

मूल अधिकारो का अध्ययन करते समय यह याद रखना आवश्यक है कि वे अधिकार निरकुश (absolute) नही हैं। मूल अधिकारो पर कतिपय अकुश रखना आवश्यक हो जाता है ताकि सम्पूर्ण समाज अथवा राज्य के हित सुरक्षित रहें। स्वतन्त्रता का अर्थ विप्लव अथवा कुव्यवस्था नही है। इसलिए अधिकारों के साथ-साथ अंकुश नितान्त आवश्यक है, और कई सविधानो ने इस प्रकार की मर्यादाएँ लगा दी हैं। जब सविधान विस्तृत अधिकार दे देते हैं, किन्तु उन अधिकारों का निर्वचन न्यायालयो पर छोड देते हैं, तो इस प्रकार सार्वजनीन हित में मूल अधिकारो के ऊपर उचित और आवश्यक अकुश लगा दिए जाते हैं। उदाहरणस्वरूप आस्ट्रेलिया के सविधान के अनुसार विभिन्न राज्यो के बीच वाणिज्य (trade), व्यापार (commerce) और यातायात (intercourse) पूर्णत स्वतन्त्र और मुक्त होगा, किन्तु आस्ट्रेलिया के न्यायालयो और प्रिवी परिषद् की न्यायिक समिति की यह राय है कि इस प्रकार की स्वतन्त्रता पर कतिपय मर्यादाएँ होनी चाहिएँ, अर्थात् वाणिज्य और व्यापार की स्वतन्त्रता पर भी अन्य स्वतन्त्रताओ की तरह सार्वजनिक हित में कुछ न कुछ मर्यादाएँ और अकुश लगा देने चाहिएँ।

भारतीय सविधान में मौलिक अधिकार (Fundamental Rights in the Indian Constitution)—भारतीय सविधान के निर्माताओ ने जानबूझ कर ही अधिकारो सम्बन्धी ब्रिटिश मान्यता को स्वीकार नही किया और अमरीकन सविधान की तरह अपने सविधान मे अधिकारो सम्बन्धी घोषणा को स्थान दिया। सविधान

में मौलिक अधिकारो पर एक अध्याय रखना, वास्तव में आधुनिक राजनीति विज्ञान के सिद्धान्तों के प्रति आदर है[1] और ये मौलिक अधिकार भारतीय राष्ट्रीय भावनाओ और आकाक्षाओ के प्रति भी श्रद्धा प्रकट करते हैं। भारनीय कांग्रेस ने पूरे स्वतन्त्रता-सघर्ष काल में यही कहा था कि स्वतन्त्र देश के स्वतन्त्र सविधान में मौलिक अधिकारो का समावेश आवश्यक है और इस प्रकार के अधिकार स्वतन्त्र समाज के लिए अपरिहार्य हैं। मौलिक मानवीय अधिकारो के भारतीय सविधान में रखने का एक अन्य कारण यह भी था कि अल्पसख्यको को सरक्षण प्रदान करना आवश्यक था। इन अनेको प्रकार के अल्पसख्यको में बहुत से लोग साम्प्रदायिक भावनाओं से ओत-प्रोत थे, बहुत सो में आदिम जातियो के प्रति विशेष मोह था। इसके अतिरिक्त यह भी सोचा गया कि मौलिक अधिकार प्रदान कर देने से ऐसी बहुत सी सामाजिक बुराइयाँ स्वत दूर हो जायेंगी जैसे छूआछूत अथवा व्यक्तिगत दासत्व भावना आदि।[2]

अल्पसख्यको सम्बन्धी मौलिक अधिकार उपसमिति ने सिफारिश की थी कि "सविधान में मौलिक अधिकारो की दो सूचियाँ दी जायें। पहली सूची में वे अधिकार हो जिनकी माँग न्यायालयो में की जा सके। तथा दूसरी सूची में वे अधिकार सन्निहित हो, जो राज्य की सामाजिक नीति के निदेशक सिद्धान्त हो, जो चाहे न्यायालयो द्वारा न माने जायें, किन्तु देश के शासन मे उनको मौलिक स्थान अवश्य प्राप्त हो।"[3] सविधान सभा ने उक्त उपसमिति की सिफारिश को पूर्णतया स्वीकार कर लिया।

मौलिक अधिकारो को सविधान में स्पष्टतया दे देने से कतिपय अधिकार पूर्ण सुरक्षित हो गए हैं और राजनीतिक दलो के अथवा शासन के परिवर्त्तन से उक्त अधिकारो में परिवर्त्तन नही होगा। द्वितीयत अल्पसख्यक वर्ग आश्वस्त हो गये हैं। इसके अतिरिक्त भी एक बात और है जो महत्त्वपूर्ण है। अधिकारो सम्बन्धी घोषणा से भारतीय लोगो को अपनी नई किन्तु स्वतन्त्र स्थिति का वास्तविक बोध हुआ है। मोतीलाल विरुद्ध उत्तर प्रदेश सरकार वाले मामले में जस्टिस सप्रू ने कहा था[4] कि "इस सविधान को पढकर मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूँ कि मौलिक अधिकारो का केवल यही उद्देश्य नही था कि इस देश में रहने वाले नागरिको को सुरक्षा और समानता प्रदान की जाय और इस प्रकार एक राष्ट्र का निर्माण किया जाय, अपितु यह भी उद्देश्य था, और यह उद्देश्य कम महत्त्वपूर्ण नही है, कि नागरिको का नैतिक और चारित्रिक स्तर ऊँचा हो, तथा उनमें नागरिकता, न्याय-भावना और पक्षपातहीनता के उच्च आदर्शों का समावेश और सचार हो। भारतीय सविधान की पृष्ठभूमि में मौलिक अधिकारो ने सभी नागरिको और सभी

---

[1] मोतीलाल विरुद्ध उत्तर प्रदेश सरकार।

[2] Constituent Assembly Proceedings, vol III, p 422

[3] मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में सरदार पटेल की वक्तृता को देखिए जो उन्होंने अन्तरिम प्रतिवेदन प्रस्तुत करते हुए दी थी। Constituent Assembly Proceedings, Vol III, p 422

[4] I L R (1951) Alld 269, (F B)

व्यक्तियों पर प्रभाव डाला और सभी लोगों ने स्पष्टतया अनुभव किया कि देश की सर्वोच्च विधि अर्थात् संविधान ने विशेषाधिकारों को समाप्त कर दिया है, और प्रत्येक वर्ग को अन्य वर्गों के पूर्णतया समान स्थिति प्रदान की है और जिन अधिकारों की सांसारिक एवं भौतिक सुखों तथा सांस्कृतिक एवं नैतिक उन्नति के लिए आवश्यकता है, उनके प्रयोग में सभी बराबर समझे जायगे।"

भारतीय संविधान के मौलिक अधिकारों की कुछ विशेषताएँ (Some Features of Fundamental Rights in India) - इन मूलभूत अधिकारों की प्रथम विशेषता यह है कि भारतीय संविधान का तृतीय भाग, जिसमें मौलिक अधिकारों का विवेचन किया गया है, संसार के किसी अन्य ऐसे संविधान से अधिक विस्तार और परिश्रम से तैयार किया गया है जिसमें अधिकारों सम्बन्धी घोषणा-पत्र दिया गया है। मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में संविधान के उपबन्ध पर्याप्त विस्तार के साथ दिये गये हैं और विभिन्न प्रकरणों पर पूर्ण प्रकाश डाला गया है। इनमें से कुछ प्रकरण तो भारत की विशिष्ट सामाजिक अवस्थाओं का परिणाम हैं।[1] इसके अतिरिक्त संविधान ने जो अधिकार प्रदान किए हैं उनमें कुछ तो केवल देश के नागरिकों तक ही सीमित हैं।[2] किन्तु कुछ मौलिक अधिकार ऐसे भी हैं जो नागरिकों एवं विदेशियों सभी के ऊपर प्रभावी हैं।[3]

मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में कुछ उपबन्ध निषेधाज्ञाओं (prohibitions) के समान हैं और वे राज्य के अधिकारों पर मर्यादाएँ आरोपित करते हैं. उदाहरणार्थ किसी व्यक्ति को विधि के समक्ष समता से अथवा विधियों के समान संरक्षण से राज्य द्वारा वंचित नहीं किया जायेगा,[4] अथवा किसी नागरिक के विरुद्ध किसी आधार पर विभेद का प्रतिषेध,[5] अथवा सेना या विद्या-सम्बन्धी उपाधि के सिवाय और कोई खिताब राज्य प्रदान नहीं करेगा।[6] किसी व्यक्ति के दृष्टिकोण से ऐसे अधिकारों को निषेधात्मक अधिकार कहा जायगा। मौलिक अधिकारों सम्बन्धी अध्याय के अन्य उपबन्धों में व्यक्ति के प्राकृतिक अथवा अस्ति अधिकार (positive rights) दिये गए हैं। इस अन्तर के होते हुए भी दोनों प्रकार के अधिकारों में स्पष्ट विभाजन-रेखा नहीं खींची जा सकती। किन्तु दोनों में एक महत्त्वपूर्ण भेद है। जिन संवैधानिक उपबन्धों द्वारा राज्य की अधिकार-शक्ति पर प्रतिबन्ध लगते

---

[1] अनुच्छेद १५(२) दुकानों, सार्वजनिक भोजनालयों आदि से धर्म, मूल वंश, जाति के आधार पर किसी नागरिक का प्रवेश निषिद्ध नहीं होगा।
,, १६ (४) पिछड़े हुए वर्गों, अनुसूचित जातियों और आदिम जातियों के सम्बन्ध में उपबन्ध।
,, १७ अस्पृश्यता का अन्त।

[2] अनुच्छेद १५, १६, १९, ३०।

[3] ,, १४, १७, २०, २१, २२, २३, २४, २५, २६, २७, २८, ३०, ३१, ३२।

[4] ,, १४।

,, १५।

[6] ,, १८ (१)।

हैं, वे पूर्ण रूप से बाध्य हैं, और यदि राज्य की कार्यपालिका या व्यवस्थापिका कोई ऐसा कृत्य करेगी जिससे उक्त उपबन्धो की अवहेलना होती है, तो वे कृत्य अवैध ठहराये जायेंगे। इसके विपरीत व्यक्तिगत नागरिको के अधिकारो सम्बन्धी उपबन्धो पर राज्यो के अधिकार-क्षेत्र की मर्यादाएँ हैं, और कतिपय निर्धारित सीमाओ[1] मे यदि राज्य नागरिक अधिकारो को सीमित और मर्यादित करेंगे तो ऐसी मर्यादाएँ और ऐसे निर्बन्ध अवैध न ठहराए जायेंगे। दूसरे शब्दो में व्यक्तिगत अधिकार परम अधिकार नही हैं।

जैसा कि पहले भी बताया गया था, परम अधिकार अथवा निर्वाध अधिकार दे देना सम्भव नही है। इगलैंड मे भी यही स्थिति है, यद्यपि उस देश में मौलिक अधिकारो के सम्बन्ध में सवैधानिक गारटी नही है।[2] सयुक्त राज्य अमरीका में प्रथम दस सविधानिक सशोधनो ने अमरीका के अधिकारो के घोषणा-पत्र पर कोई निर्बन्ध (restrictions) आरोपित नहीं किए हैं। किन्तु पुलिस अधिकार-क्षेत्र की व्याख्या करते हुए अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्वीकार किया है कि राज्य को पूर्ण अधिकार है कि वह व्यक्तियो के मूल अधिकारो पर ऐसे निर्बन्ध लगा सकता है जो सार्वजनिक हित मे आवश्यक जान पडें। किन्तु इस सम्बन्ध में अन्तिम निर्णय सर्वोच्च न्यायालय ही कर सकता है कि इस प्रकार के निर्बन्ध, सार्वजनिक हित में आवश्यक हैं अथवा नही। किन्तु इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि सयुक्त राज्य अमरीका में 'राज्य की सुरक्षा' का सिद्धान्त सर्वग्राही नही है, और इस आधार पर कि राज्य की सुरक्षा खतरे में है, व्यक्तियो के किसी मौलिक अधिकार का कोई व्यवस्थापिका अतिक्रमण नही कर सकती। इसके विपरीत भारत के सविधान ने ही मौलिक अधिकारो पर प्रत्यक्ष निर्बन्ध आरोपित किये हैं। डा० अम्बेदकर ने सविधान का प्रारूप प्रस्तुत करते हुए और मौलिक अधिकारों पर निर्बन्ध लगाने वाली धाराओं का समर्थन करते हुए कहा था—"हमने यह नही किया कि सविधान में निर्बाध मौलिक अधिकार प्रदान करके सर्वोच्च न्यायालय से यह आशा करते हैं कि वह पुलिस शक्ति के सिद्धान्त का आश्रय लेकर ससद् की सहायता करता, किन्तु इसके विपरीत हमने सविधान में राज्य को प्रत्यक्ष आज्ञा प्रदान की है कि वह मौलिक अधिकारो पर सीधे निर्बन्ध लगा सकेगा।"[3] इसलिए भारत के न्यायालय ऐसी किसी विधि को अवैध घोषित नही कर सकते, जो व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को मर्यादित करती हो, यदि ऐसा स्वीकार कर लिया जाय कि उक्त विधि पास कर देना विधानमण्डल के अधिकार-क्षेत्र में हैं।"[4]

इस प्रकार भारत के सविधान ने उसी रूप में विधान मण्डल-के ऊपर न्यायपालिका की सर्वोच्चता को स्वीकार नही किया है जैसा कि सयुक्त राज्य अमरीका

---

[1] अनुच्छेद १९ (२)—(६)।

[2] लिवरसिज विरुद्ध ऐण्डरसन (१९४२)।

[3] Constituent Assembly Proceedings, Vol VII, p 41.

[4] Lakhinarayan *Vs* Prov of Bihar (1949) Also refer to Gopalan *Vs.* the State of Madras.

में है, यद्यपि संविधान ने न्यायपालिका को ऐसी विधियों के ऊपर न्यायिक पुनरीक्षण का अधिकार प्रदान किया है जो मौलिक अधिकारों का अतिक्रमण करती हों। संघीय विधानमण्डल अथवा संसद् को अधिकार है कि वह अनुच्छेद ३६८ में वर्णित प्रक्रिया के अनुसार संविधान में संशोधन करके मौलिक अधिकारों को कम कर सकती है अथवा उन्हें समाप्त भी कर सकती है। संयुक्त राज्य अमरीका की प्रथा के विपरीत इस कार्य के लिए राज्यों के विधानमण्डलों का अनुसमर्थन आवश्यक नहीं है। इस प्रकार संसद् को अधिकार है कि वह विशेष बहुमत प्राप्त करके, न्यायपालिका के अवाछित निर्णयों को स्वीकार न करे। १९५१ में संविधान का जो प्रथम संशोधन हुआ था, उसकी आवश्यकता केवल इसीलिए पड़ी थी कि सर्वोच्च न्यायालय के कुछ निर्णयों को प्रभावहीन करना अभीष्ट था।

किन्तु यह संसद् की सम्पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्नता नहीं है। भारतीय संसद्[1] उस अनन्त शक्ति का भण्डार नहीं है, जो ब्रिटिश संसद् का सार है। स्वयलिखित संविधान भी संसद् की प्रभुसत्ता के ऊपर अकुश है। यह बात मारबरा विरुद्ध मैडीसन (Marbury *Vs* Madison) वाले मामले में सिद्ध हो गई है। प्रमुख न्यायाधीश मारशल (Chief Justice Marshall) ने न्यायालय का निर्णय देते हुए कहा था, "विधानमण्डल की शक्तियाँ मर्यादित हैं, और इन मर्यादाओं के सम्बन्ध में गलतफहमी नहीं होनी चाहिए क्योंकि संविधान लिखित प्रलेख है।" लगभग यही विचार गोपालन विरुद्ध मद्रास राज्य वाले मामले में भारतीय सर्वोच्च न्यायालय के हैं। मि० जस्टिस मुकर्जी ने कहा था, "भारतीय संविधान लिखित प्रलेख है और यद्यपि हमारे संविधान ने ब्रिटिश संसदीय शासन-व्यवस्था के अनेकों सिद्धान्तों को ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया है, किन्तु इसने व्यवस्थापन के सम्बन्ध में संसद् की निरवधि सर्वोच्च सत्ता को स्वीकार नहीं किया है। इस सम्बन्ध में हमारे संविधान ने अमरीका के संविधान और उसके सदृश अन्य शासन-व्यवस्थाओं का अनुसरण किया है।"

इस प्रकार भारतीय संविधान ने मौलिक अधिकारों के सम्बन्ध में न्यायपालिका की सर्वोच्चता और संसद् की सर्वोच्चता के बीच का मार्ग ग्रहण किया है। अनुच्छेद १३ ने स्पष्टतया संसद् की सर्वोच्चता के सिद्धान्त को तिरस्कृत कर दिया है। उक्त अनुच्छेद न्यायालयों को अधिकार देता है कि वे विधानमण्डल द्वारा पारित विधियों की वैधता की परीक्षा कर सकते हैं और निर्णय कर सकते हैं कि किसी विधि के द्वारा संविधान द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों का हनन तो नहीं हो रहा। किन्तु साथ ही संविधान ने विधानमण्डल को यह भी आज्ञा प्रदान की है कि वे संविधान द्वारा स्वीकृत मर्यादाओं के भीतर उक्त अधिकारों में न्यायोचित कमी कर सकते हैं। न्यायालयों को यह अधिकार प्राप्त नहीं है कि वे उक्त न्यायोचित कमी (valid exceptions) की परीक्षा कर सकें। संविधान ने न्यायपालिका की शक्तियों पर भी मर्यादाएँ लगा दी हैं। इस प्रकार न्यायपालिका को भारतीय संविधान ने सर्वोच्च स्थिति प्रदान नहीं की है।

---

[1] गोपालन विरुद्ध मद्रास राज्य।

भारत में मौलिक अधिकारो के सम्बन्ध में एक अन्य विशेष महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उनके प्रवर्त्तन के लिए सविधान ने व्यवस्था की है। मौलिक अधिकारो के सरक्षण के लिए सर्वोच्च न्यायालय की शरण ली जा सकती है, यह भी मान्य अधिकार है जिसको सविधान के अनुच्छेद ३२ मे स्वीकार कर लिया गया है। इस प्रकार सर्वोच्च न्यायालय मौलिक अधिकारो का सरक्षक है।[1] भारत का कोई नागरिक जिसके मूल अधिकारो का भारत के किसी अधिकारी द्वारा अतिक्रमण हुआ है, सर्वोच्च अथवा उच्चतम न्यायालय से अपने अधिकारो के प्रवर्त्तन की माँग कर सकता है और न्यायालय को अधिकार है कि "वह ऐसे निदेश या आदेश या लेख, जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण के प्रकार के लेख भी हैं, जो भी समुचित हो, निकाल सकेगा।"[2] राज्यो के उच्च न्यायालयो को भी अधिकार है कि वे अनुच्छेद २२६ के अनुसार आदेश लेख जारी करके अपने अधिकार-क्षेत्र की सीमाओ में नागरिको के मूल अधिकारो का प्रवर्त्तन करावें। इस प्रकार प्रत्येक नागरिक के अपने मौलिक अधिकारो के सरक्षण और प्रवर्त्तन के लिए सविधान ने ऐसे उपचार सुझाए हैं जो प्रत्येक नागरिक के लिए सुलभ हैं।

"किन्तु भारत में मौलिक अधिकारो को निर्बन्धित और निराकृत भी किया जा सकता है। अनुच्छेद ३३ के अनुसार मौलिक अधिकारो वाले उपबन्धो को निर्बन्धित किया जा सकता है और ससद् विधि द्वारा निर्धारण कर सकेगी कि इस भाग द्वारा प्रदत्त अधिकारो को सशस्त्र बलो अथवा सार्वजनिक शान्ति स्थापित करने वाले बलो के लिए प्रयोग होने की अवस्था में किस मात्रा तक निर्बन्धित या निराकृत किया जाय।" हमारे सविधान की अनोखी विशेषता यह है कि अनुच्छेद ३३ के उपबन्ध न केवल देश के सशस्त्र बलो पर प्रभावी होगे अपितु सार्वजनिक शान्ति स्थापित करने वाले सामान्य पुलिस दल के ऊपर भी प्रभावी होगे। अनुच्छेद ३४ ससद् को अधिकार प्रदान करता है कि वह क्षति पूर-विधि (law of indemnity) पास करे जिसके द्वारा भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर किसी ऐसे क्षेत्र में जहाँ सेना विधि (martial law) प्रवृत्त थी, उन सब कृत्यो को न्याय्य ठहरा दे, जो सामान्य विधि की दृष्टि मे नागरिको के अधिकारो का हनन ठहराया जाता। अन्तत जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्त्तन में है, तो अनुच्छेद ३५८ और ३५९ के अनुसार अधिकार निलम्बित हो सकते हैं।

भारतीय सविधान में न तो प्राकृतिक अधिकार स्वीकार किये गये हैं और न अ-प्रगणित अधिकारो को ही मान्यता दी गई है। इस सम्बन्ध में हमारे सविधान में और सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान में भारी अन्तर है। अमरीका के सविधान का जो नवम सशोधन किया गया था उसमें उपबन्धित किया गया है कि "सविधान मे कतिपय अधिकारो को प्रगणित कर देने के यह अर्थ नही लेने चाहि

---

[1] रमेश थापर विरुद्ध मद्रास राज्य में जस्टिस पातञ्जलि शास्त्री का निर्णय।

[2] अनुच्छेद ३२ (२)।

कि अन्य अधिकार जिन पर सभी का स्वामित्व है, उपेक्षित अथवा अमान्य होगे।" इसलिए सर्वोच्च न्यायालय ने निर्णय दिया था कि यदि विधानमण्डल द्वारा पारित कोई अधिनियम सामान्य सामाजिक आचरण के विरुद्ध पडता है, तो वह असवैधानिक माना जायगा।[1] सामान्य सामाजिक आचरण के प्रारम्भिक सिद्धान्त क्या हैं, इसका निर्णय न्यायालय ही करेंगे। इस सम्बन्ध में सयुक्त राज्य अमरीका का सर्वोच्च न्यायालय विधानमण्डलो से अधिक श्रेष्ठ स्थिति का उपभोग करता है, अथवा सर्वोच्च न्यायालय स्वय अधिक श्रेष्ठ विधानमण्डल वन बैठा है। भारतीय सविधान ने अपने उच्चतम न्यायालय को यह स्थिति प्रदान नही की है। भारत के उच्चतम न्यायालय की भी यही राय है कि जब तक विधानमण्डल द्वारा पारित कोई अधिनियम सविधान के किसी उपबन्ध से स्पष्ट असगति न रखता हो, उक्त अधिनियम को केवल इस आधार पर, कि न्यायालय उसे सविधान की भावना के विरुद्ध समझता है, असवैधानिक नही ठहराया जा सकता।[2] दूसरे शब्दो में, ऐसा कोई अधिकार, जिसको सविधान ने स्पष्टतया भाग III मे प्रगणित न किया हो और मौलिक अधिकार न माना हो, किसी भी स्थिति में मौलिक अधिकार नही है। किन्तु इसका यह अर्थ भी नही लेना चाहिए कि केवल वे ही अधिकार हैं जिनको मौलिक अधिकारो में प्रगणित किया गया है, तथा और कोई अधिकार ही नही है। किन्तु वे सभी अधिकार सामान्य वैधिक अधिकार हैं, मौलिक अधिकार नही, और उनके प्रवर्त्तन के सम्बन्ध मे अनुच्छेद ३२ के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय की शरण नही ली जा सकती। अनुच्छेद ३२ के अन्तर्गत जो वैधिक उपचार सुझाये गये हैं, वे केवल मौलिक अधिकारो के सम्बन्ध में हैं। उदाहरणस्वरूप अनुच्छेद २६५ को ले लीजिए, जिसमे कहा गया है कि "विधि के प्राधिकार के सिवाय कोई कर न तो आरोपित और न सग्रहीत किया जायगा।" यद्यपि उक्त अधिकार, सवैधानिक अधिकार है किन्तु यह मौलिक अधिकार नही है। अनुच्छेद ३२ के अन्तर्गत उक्त अधिकार का प्रवर्त्तन उच्चतम न्यायालय नहीं कर सकता क्योकि उक्त अनुच्छेद में जो सवैधानिक उपचार सुझाये गए हैं, वे केवल मौलिक अधिकारो से ही सम्बन्ध रखते हैं।[3]

अन्तिम बात इस सम्बन्ध मे यह है कि सविधान के अध्याय ४ में राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व दिये गये हैं। सविधान सभा की उपदेष्ट्री समिति ने, जिस समय वह मौलिक अधिकारो पर और उनको सविधान मे सन्निहित कर लेने पर विचार कर रही थी,[4] यह निश्चय किया कि मौलिक अधिकारो को दो भागो मे विभाजित किया जाय, एक भाग में न्याय योग्य (justiceable) अधिकार दिये जाएँ तथा दूसरे भाग में जो अधिकार हैं उन पर न्यायालयो द्वारा वाध्यता न दी जायेगी (non-justiceable)। ऐसे अधिकारो को जिन पर न्यायालयो द्वारा वाध्यता न दी जा सकेगी, अलग अध्याय मे दिया गया है जिसका शीर्षक है 'राज्य की नीति के निदेशक

---

[1] कैल्डर विरुद्ध बुल नामक मामले में प्रमुख न्यायाधीश चेस का निर्णय।

[2] गोपालन विरुद्ध मद्रास राज्य।

[3] रामजीलाल विरुद्ध आयकर अधिकारी।

[4] २४ जनवरी, १९४७, के सविधान सभा के प्रस्ताव को देखिए।

तत्त्व' । अनुच्छेद ३७ के अनुसार राज्य की नीति के निदेशक तत्त्वों से सम्बन्धित "उपबन्धो को किसी न्यायालय द्वारा वाध्यता न दी जा सकेगी । किन्तु तो भी इनमें दिये हुए तत्त्व देश के शासन में मूलभूत हैं और विधि वनाने मे इन तत्त्वो का प्रयोग करना राज्य का कर्त्तव्य होगा ।" व्यावहारिक अथवा दो टूक भाषा में कहा जा सकता है कि "भारतीय सविधान के 'मौलिक अधिकार' तो एक प्रकार की निषेध-आज्ञाएँ हैं जो शासन को कुछ काम करने का निषेध करती हैं । और 'राज्य की नीति के निदेशक तत्त्व' कुछ पवित्र आदर्श हैं जिनको प्राप्त करना शासन का कर्त्तव्य होगा ।"[1]

कुछ विशिष्ट मौलिक अधिकार

(Some Specific Fundamental Rights)

समता का अधिकार (The Right to Equality)—सविधान के भाग III में जो समता का अधिकार प्रदान किया गया है, उसका यह अर्थ नही करना चाहिए कि भारत में समाजवादी व्यवस्था प्रारम्भ कर दी गई है । समता के अधिकार का स्वरूप निषेधात्मक है । और यह अधिकार उन सामाजिक और नागरिक निर्योग्यताओ को दूर करना चाहता है जिनसे भारतीय सर्वसाधारण वहुत दिनो से अपार कष्ट सह रहे हैं । समान स्थिति वाले लोगो के समाज में ही लोकतन्त्र सफल हो सकता है, इसलिए भारतीय सविधान, भारतीय राज्य-व्यवस्था के लिए सामाजिक और नागरिक समता को आधार मानता है । सविधान, विधि के समक्ष सभी को समान स्थिति देता है,[2] और आदेश देता है कि किसी नागरिक के विरुद्ध केवल धर्म, मूलवश, जाति, लिंग, जन्मस्थान अथवा इनमें से किसी के आधार पर कोई विभेद नही किया जायगा,[3] तथा राज्याधीन नौकरियो या पदो पर नियुक्ति के सम्बन्ध में सब नागरिकों के लिए अवसर की समता होगी ।[4] सविधान एक ओर अस्पृश्यता[5] का अन्त करता है तथा दूसरी ओर खिताबो[6] का भी अन्त कर दिया गया है । राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य निधि से सहायना पाने वाली किसी शिक्षा-सस्था मे प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वचित न रखा जायगा ।[7] शिक्षा-सस्थाओ को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसख्यक वर्ग के प्रवन्ध मे है ।[8]

तथापि सविधान द्वारा प्रदत्त समता के अधिकार मे भी कुछ अपवाद हैं । सविधान, स्त्रियो और वच्चो की उन्नति के लिए विशेष उपवन्ध कर सकता है ।[9] सविधान का १९५१ में जो प्रथम सशोधन हुआ, उसने उपवन्धित किया कि इस अनुच्छेद मे अथवा अनुच्छेद २९ के खण्ड (२) में जो कुछ कहा गया है, वह किसी राज्य को रोक नही सकते और राज्य पिछडे हुए वर्गो को समाज के अन्य वर्गों के समान

---

[1] Gledhill, A The Republic of India, op citd, p 161

[2] अनुच्छेद १४ ।

[3] अनुच्छेद १५ ।

[4] अनुच्छेद १६ ।

[5] अनुच्छेद १७ ।

[6] अनुच्छेद १८ ।

[7] अनुच्छेद २९ ।

[8] अनुच्छेद ३० ।

[9] अनुच्छेद (१५) ३ ।

धरातल पर लाने के लिए विशेष उपबन्ध कर सकता है।[1] सार्वजनिक सेवाओ के सम्बन्ध मे भी सभी नागरिको को अवसर की समता प्रदान नही की गई है, यह भी समता के अधिकार का अपवाद है। ससद् चाहे तो किसी राज्य के या स्थानीय पद को वही के निवासियो के लिए आरक्षित कर सकती है।[2] राज्य पिछडे हुए किसी नागरिक वर्ग के पक्ष में, जिनका प्रतिनिधित्व राज्य की राय मे राज्याधीन सेवाओ में पर्याप्त नही है, नियुक्तियो या पदो के रक्षण के लिए उपबन्ध कर सकता है।[3] किसी धार्मिक या साम्प्रदायिक सस्था के कार्य से सम्बद्ध कोई पदधारी सम्बन्धित धर्म या सम्प्रदाय का अनुयायी भी हो सकता है।[4] ऐसे पद उक्त धर्म अथवा सम्प्रदाय के अनुयायी के लिए आरक्षित भी किए जा सकते हैं।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि समता का अधिकार प्रशासन और व्यवस्थापन के क्षेत्रो मे नागरिको की राज्यो के विभेदमूलक वर्ताव के विरुद्ध रक्षा करता है और सामाजिक रूप से अनुन्नत वर्गों की उन्नति का मार्ग प्रशस्त करने के लिए उनको कुछ विशेषाधिकार प्रदान करता है और इस प्रकार समाज मे से सामाजिक असमानता के अभिशाप को दूर भगाने का प्रयत्न करता है। भारत में जो लगभग ५ करोड अछूत हैं, उनको जन्म-जन्मान्तर की हीन अवस्था से ऊपर उठाता है। सविधान अस्पृश्यता का अन्त करके और दूकानो, कुओ, सडको, स्कूलो और पूजा के स्थानो तथा सार्वजनिक समागम के स्थानो के उपयोग का अधिकार सभी को देकर समता-अधिकार को मूर्त्तरूप प्रदान करता है, तथा पृथकतावादी सामाजिक प्रथाओ और निर्योग्यताओ को अवैध घोषित करता है।[5] सत्य तो यह है कि सविधान ने सव प्रकार की अस्पृश्यता का अन्त कर दिया है।

स्वातन्त्र्य अधिकार (The Right to Freedom)—सविधान के अनुच्छेद १९ से लेकर अनुच्छेद २२ तक मे स्वातन्त्र्य अधिकार का विवेचन किया गया है, जिस में व्यक्ति की सैद्धान्तिक स्वतन्त्रताओ का वर्णन है। इन तीनो अनुच्छेदो में भी अनुच्छेद १९ अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योकि यह सात मौलिक अधिकारो की गारण्टी करता है और इन अधिकारो को सात मौलिक स्वतन्त्रताएँ कहा जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं -(क) वाक्-स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति-स्वातन्त्र्य का अधिकार, (ख) शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का अधिकार, (ग) सस्था या सघ वनाने का अधिकार, (घ) भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र अवाध सचरण का अधिकार, (ड) भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भाग में निवास करने और वस जाने का अधिकार, (च) सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का अधिकार, तथा (छ) कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोवार करने का अधिकार।

अनुच्छेद १९ को दो भागो मे विभाजित किया जा सकता है। प्रथम भाग तो अधिकारो की घोपणा है, और जैसा कि अभी वताया गया था, उसमे सात स्वतन्त्रताओ

---

1. अनुच्छेद १५ का संशोधन।
2 अनुच्छेद १६ (३)।
3. अनुच्छेद १६ (४)।
4 अनुच्छेद १६ (५)।
5. अनुच्छेद १५ (२)।

का समावेश है । द्वितीय भाग में कतिपय परिसीमाएँ हैं जो खण्ड (२) से लगाकर खण्ड (६) तक दी गई हैं और इनमें से प्रत्येक खण्ड में प्रथम भाग का कोई न कोई खण्ड दिया गया है । इस सिद्धान्त के प्रसग में कि अधिकार कभी प्राकृतिक अथवा परम अथवा निरपेक्ष (absolute) नही होते, सविधान ने उक्त अधिकारो के प्रयोग और उपभोग पर कुछ विशिष्ट मर्यादाएँ और प्रतिवन्ध आरोपित किए हैं । यह किसी सीमा तक अमरीका के सविधान का सुधरा हुआ स्वरूप है, क्योकि अमरीका का सविधान व्यक्तियो और समाज के वीच विरोधी हितो का सामजस्य और व्यक्तियो के ऊपर मर्यादाओ की आवश्यकता का निश्चयकरण न्यायालयो के निर्णय पर छोड देता है । इसके विपरीत भारतीय सविधान तत्सम्बन्धी निर्वन्धनो (limitations) की सीमा निर्धारित करता है और राज्य को अधिकार दे देता है कि अनुच्छेद १९ में जो स्वतन्त्रताएँ प्रदान की गई हैं उनके उपभोग और प्रयोग पर वे प्रतिबन्ध प्रभावी किए जा सकते हैं जो उसी अनुच्छेद के मर्यादाकारी खण्डो में उपवन्धित किये गए हैं । ऐसा माना गया है कि ये प्रतिबन्ध अथवा मर्यादाएँ वास्तव में अमरीका के पुलिस सम्बन्धी सिद्धान्त का कानूनी स्वरूप है ।

वाक् स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य, तथा सम्पत्ति के अर्जन, धारण तथा व्यय सम्बन्धी स्वतत्रताओ पर जो प्रतिबन्ध थे, उनमे १९५१ के सविधान सशोधन अधिनियम ने कई परिवर्त्तन कर दिए । सविधान पर १६ मास तक शासन-व्यवस्था का अनुभव अर्जन करने के बाद १२ मई, १९५१ को ससद् में सविधान में सशोधन करने के उद्देश्य से एक विधेयक प्रस्तुत किया गया । १६ मई को प्रधान मन्त्री ने उक्त विधेयक को प्रवर ममिति के पास भेजने की प्रार्थना की और उक्त समिति ने २५ मई को प्रतिवेदन प्रस्तुत किया । २९ मई को ससद् ने प्रवर समिति के प्रतिवेदन पर विचार करना प्रारम्भ किया और २ जून, १९५१ को उक्त विधेयक पास कर दिया गया । १८ जून १९५१ को राष्ट्रपति ने उक्त विधेयक पर अपनी स्वीकृति दे दी, और इस प्रकार यह सविधान का प्रथम सशोधन था । सविधान को सशोधित करने के क्या उद्देश्य थे, यह उद्देश्यो और कारणो पर प्रकाश डालने वाले उसी वक्तव्य से स्पष्ट होगे जो उक्त सशोधनकारी विधेयक के साथ सलग्न था ।[1] उक्त वक्तव्य इस प्रकार था "मविधान की क्रियान्विति के पिछले पन्द्रह महीनो मे न्यायालयो के निर्णयो के फलस्वरूप हमारे समक्ष कतिपय कठिनाइयाँ उपस्थित हुई हैं जिनका सम्वन्ध विशेषकर मौलिक अधिकारो के अध्याय से है । सविधान ने अनुच्छेद १९ के खण्ड (१), उपखण्ड (क) में नागरिको को वाक् स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य का अधिकार प्रदान किया है । उक्त अधिकार इतना व्यापक और परिग्राही है कि यदि कोई नागरिक हत्या अथवा हिंसक कृत्यो की उत्तेजना देने का भी दोषी हो तो भी उसको दोषी ठहराना कठिन है । अन्य ऐसे देशो में जहाँ लिखित सविधान हैं, वाक् स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य को इतने व्यापक अर्थों में नही लिया जाता कि उक्त स्वतन्त्रता का अतिक्रमण करने वाले व्यक्ति को दण्ड नही दिया जा सके । अनुच्छेद १९ के

---

[1] Gazette of India, 1951, Part II, Section 2, p 357

खण्ड (१) उपखण्ड (छ) ने नागरिको को कोई वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने का अधिकार प्रदान किया है, किन्तु उक्त उपबन्ध पर साधारण जनता के हितो में कोई राज्य युक्तियुक्त प्रतिबन्ध लगा सकता है। यद्यपि 'साधारण जनता के हितो में' कह देने से सारा उपबन्ध इतना व्यापक और परिग्राही हो जाता है कि राष्ट्रीयकरण की कोई भी योजना, जिसको सम्बन्धित राज्य चाहे, उक्त अर्थों में ली जा सकती है; फिर भी यह वाछनीय है कि अनुच्छेद १९ के खण्ड (घ) का स्पष्टीकरण किया जाय और उक्त उपबन्ध को सदेह की स्थिति से परे कर लिया जाय।"

इसमें सन्देह नही है कि वाक् स्वातन्त्र्य का क्षेत्र तथा विस्तार प्रारम्भिक उपबन्ध के अनुसार अत्यन्त व्यापक और परिग्राही था। उक्त अधिकार को मर्यादित करने वाले केवल चार प्रतिबन्ध थे। अर्थात् अपमान लेख (libel), अपमान वचन (slander), मान-हानि (defamation), न्यायालय-अवमान (contempt of court), शिष्टाचार या सदाचार पर आघात करने वाले अथवा राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करने वाले विषयो आदि से सम्बन्धित विधियाँ। इस प्रकार स्पष्ट है कि सार्वजनिक शान्ति और सुरक्षा को ऐसा कारण नही माना गया था जिसके लिए वाक् स्वातन्त्र्य को मर्यादित किया जाय। उसी प्रकार हिंसक कृत्यो के लिए उत्तेजना देने को ऐसा विषय नही समझा गया जिसके लिए वाक् स्वातन्त्र्य के अधिकार को मर्यादित किया जाय। भारत के उच्चतम न्यायालय ने कई मामलो में यह दृष्टिकोण अपनाया कि ऐसी कोई विधि जो वाक् स्वातन्त्र्य पर तो बन्धन लगाती हो किन्तु साथ ही जो मान-हानि (defamation) अथवा न्यायालय-अवमान के सम्बन्ध में मौन हो, अथवा जिसका सम्बन्ध शिष्टाचार और सदाचार पर आघात करने वाले पापो से न हो, उसको असवैधानिक घोषित कर दिया जायगा यदि उसका सम्बन्ध राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करने अथवा राज्य को उलटने की प्रवृत्ति वाले किसी विषय से न हो।[1] रमेश थापर विरुद्ध मद्रास राज्य वाले मामले में यह निर्णय हुआ कि सविधान ने "ऐसे अपराधो को एक श्रेणी मे रख दिया है जो सार्वजनिक शान्ति भग करने के सम्बन्ध में हो और जो राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करने अथवा राज्य को उलटने वाली प्रवृत्ति के हो, और उच्चतम न्यायालय ने ऐसे अपराधो के निराकरण को ही मुख्य आधार माना जिसके लिए व्यवस्थापन पर मर्यादा लगाई जाय और वाक् स्वातन्त्र्य को मर्यादित किया जाय, अर्थात् राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करने वाले अथवा राज्य को उलटने वाले अपराधो के निराकरण के लिए ही वाक् स्वातन्त्र्य और अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य के अधिकार को मर्यादित किया जा सकता है।"

१९५१ के सविधान के सशोधन के कारण अनुच्छेद १९ (२) के उपबन्धो में तीन सीमाएँ और जोड दी गई हैं। वे तीन सीमाएँ निम्न हैं. राज्य, वाक् स्वातन्त्र्य के अधिकार को 'राज्य की सुरक्षा के हित में', 'विदेशी राज्यो से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखने के हित में'; 'सार्वजनिक सुरक्षा के हित में', और 'अपराधो को

---

[1] रमेश थापर विरुद्ध मद्रास राज्य, ब्रजभूषण विरुद्ध देहली राज्य वाले निर्णयों को देखिये।

उत्साहित करने के हित में सीमित कर सकता है। अनुच्छेद १९ का खण्ड (२) अब इस प्रकार है . "खण्ड (१) के उपखण्ड (क) की कोई बात अपमान लेख, अपमान वचन, मान-हानि, न्यायालय अवमान से अथवा शिष्टाचार या सदाचार पर आघात करने वाले अथवा राज्य की सुरक्षा को दुर्बल करने अथवा राज्य को उलटने की प्रवृत्ति वाले अथवा राज्य की सुरक्षा के हित में, अथवा विदेशी राज्यो से मित्रतापूर्ण सम्बन्ध रखने के हित में अथवा अपराधो को उत्साहित करने के हित में किसी विषय से ।" उपर्युक्त तीन अतिरिक्त परिसीमाओ को सम्मिलित कर देने से अभिव्यक्ति स्वातन्त्र्य पर पर्याप्त मर्यादाएँ लगा दी गई हैं और न्यायालयों के हस्तक्षेप की सभावनाएँ पर्याप्त बढ गई हैं यदि न्यायालयो को इस प्रकार की मर्यादाएँ उचित जान पडें। न्याययुक्त आयन्त्रणो से उच्चतम न्यायालय का यह अर्थ है कि ऐसे आयन्त्रण लगाये जा सकते हैं जो अत्यधिक अनुचित और कठोर न हो और जो सार्वजनिक हितो की आवश्यकता से अत्यधिक न हो। उच्चतम न्यायालय ने यह भी निर्णय दे दिया है कि "विधानमण्डल यह निर्णय नही कर सकता कि न्याययुक्त प्रतिबन्ध क्या है, यह निर्णय तो उच्चतम न्यायालय ही कर सकता है। मौलिक अधिकारो के सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय उन अधिकारो का सरक्षक और प्रहरी है जिनको सविधान ने सौंपा है, और यह उसके अधिकार-क्षेत्र मे है कि विधानमण्डल के किसी अधिनियम अथवा किसी विधि को रद्द कर दे, यदि उक्त विधि सविधान द्वारा प्रदत्त अधिकारो का अतिक्रमण करती हो।"[1]

जिन अन्य अधिकारो के सम्बन्ध में सविधान के अनुच्छेद १९ ने उपबन्ध किया है, वे निम्न हैं शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन का अधिकार सार्वजनिक शान्ति और सुरक्षा के हित से मर्यादित कर दिया गया है।[2] सस्था और सघ बनाने के अधिकार पर सार्वजनिक शान्ति और नैतिकता के न्याय्य प्रतिबन्ध लगा दिये गए हैं।[3] इस प्रकार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता पर जो प्रतिबन्ध लगाये गए हैं वे प्रथमत न्याय्य अथवा उचित होने चाहिएँ और द्वितीयत सार्वजनिक शान्ति और नैतिकता के रक्षार्थ ही होने चाहिएँ। मद्रास राज्य बनाम वी० जी० राव वाले मामले में निर्णय देते समय प्रमुख न्यायाधीश पातञ्जलि शास्त्री ने कहा था "सस्था और सघ बनाने का अधिकार तथा शान्तिपूर्वक और निरायुध सम्मेलन के अधिकार का इतना व्यापक और सर्वग्राही क्षेत्र है और इसका प्रयोग इतने विभिन्न क्षेत्रो मे हो सकता है और इस अधिकार पर प्रतिबन्ध लगाने से धार्मिक, राजनीतिक और आर्थिक सभी प्रकार के क्षेत्रो में ऐसी गम्भीर प्रतिक्रिया हो सकती है कि शासन की कार्यपालिका को ऐसे अधिकार दे देना, जिससे वे उक्त अधिकार पर प्रतिबन्ध लगा सकें, किन्तु यदि ऐसे प्रतिबन्ध लगाने के कारण न दिये जायँ, उचित नही होगा। यह आवश्यक है कि कार्यपालिका ऐसे प्रतिबन्ध लगाने के कारणो की व्याख्या कर दे। हमारे विचार से यह वाछनीय है कि जब कार्यपालिका ऐसे प्रतिबन्ध लगाये तो उनके औचित्य की

---

[1] चिन्तामनदास बनाम मध्य प्रदेश राज्य।

[2] अनुच्छेद १९ (३)।

[3] अनुच्छेद १९ (४)।

एक न्यायिक जाँच (judicial enquiry) में परीक्षा हो जाय। जब सरकार या उसके अधिकारी अपनी किसी मन्त्रणा समिति की राय पर नागरिको के मूल अधिकारो का अतिक्रमण करते हैं तो उनका यह कार्य कुछ असाधारण परिस्थितियो में ही उचित ठहराया जा सकता है। सामान्यत न्यायालय मूल अधिकारो पर प्रतिबन्धो का आरोपण उचित नही ठहरायेंगे।" फलत दण्ड विधान सशोधन अधिनियम, १९०८ [Criminal Law Amendment Act, 1908 की धारा १५(२) (S 15 (2)] को दण्ड विधान सशोधन (मद्रास) अधिनियम, १९५० [Criminal Law Amendment (Madras) Act, 1950] द्वारा सशोधित रूप मे अवैधानिक घोषित कर दिया गया। इसका कारण यह था कि उक्त धारा सघ बनाने की स्वतन्त्रता पर कुछ अनुचित प्रतिबन्ध लगाती थी।

अनुच्छेद १९ के खण्ड (१) के उपखण्ड (घ) द्वारा सारे भारत की सीमा के अन्दर बिना किसी रोकटोक के आने-जाने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। साथ ही भारत की सीमा के अन्दर कही भी बस जाने की अथवा सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन के अधिकार पर भी साधारण जनता के हितो के अथवा किसी अनुसूचित आदिम जाति के हितो के सरक्षण के लिए न्याय्य प्रतिबन्ध लगाये जा सकते हैं।[1]

किसी वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारबार सम्बन्धी अधिकार पर भी आवश्यक वृत्तिक या शिल्पिक अर्हताओ के प्रतिबन्ध हैं। १९५१ के सवैधानिक सशोधन ने राज्यो को अधिकार दे दिया है कि वह या तो सीधे या राज्याधीन निगमो द्वारा कोई पेशा या व्यापार चला सकते हैं और इस पेशे या व्यापार मे प्राइवेट व्यक्ति पूर्णत अथवा अशत वचित किये जा सकते हैं। इस सशोधन की इसलिए आवश्यकता आ पडी थी कि इलाहाबाद के उच्च न्यायालय ने मोतीलाल बनाम उत्तर-प्रदेश सरकार वाले मामले में जो निर्णय दिया, वह उक्त उपबन्ध के विरुद्ध था। १९३९ के यू० पी० मोटर वेहीकल्स, एक्ट (U P Motor Vehicles Act, 1939) को न्यायालय में चुनौती दी गई क्योकि वह सविधान के अनुच्छेद १४ के उपबन्धो से टकराता था। इलाहाबाद के उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया कि राज्य की मोटरो को उक्त अधिनियम के खण्ड ४३ उपखण्ड (३) धारा (१) मे विलग नही किया जा सकता, क्योकि उक्त अधिनियम की शर्त है कि सभी मोटरगाडियाँ उन आज्ञाओ अथवा अनुमति पत्रो (permits) की आज्ञाओ के अनुसार ही चलाई जायेंगी जिनको प्रादेशिक अथवा प्रान्तीय सरकार प्रदान करेंगी। केन्द्रीय विधि मन्त्री (Union Law Minister) ने सशोधन विधेयक पर हो रही बहस के दौरान मे सशोधन के उद्देश्यो पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि राज्य सरकारें शीघ्र ही राष्ट्रीयकरण की ओर जा रही हैं, अत यह आवश्यक है कि सविधान में आवश्यक सशोधन हो जायें और प्रस्तावित राष्ट्रीयकरण का अधिकार प्राप्त हो जाय।

इसलिए यह स्पष्ट है कि सशोधन विधेयक के खण्ड (६) के अनुसार वृत्ति, उपजीविका अथवा व्यापार के अधिकार के ऊपर प्रतिबन्धो को तीन भागों में

---

[1] अनुच्छेद १९ (५)।

विभाजित किया जा सकता है। (क) सर्वसाधारण के हित में सामान्य अधिकारो के आधार पर उचित प्रतिबन्ध, (ख) आवश्यक वृत्तिक और शिल्पिक अर्हताओ के आरोप सम्बन्धी प्रतिबन्ध, और (ग) राज्य द्वारा, या राज्य द्वारा नियुक्त निगम द्वारा वृत्ति, उपजीविका, व्यापार या कारोबार करने के सम्बन्ध मे वैधिक अधिकार। किन्तु इस सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि जो प्रतिबन्ध सार्वजनिक हित में लगाये जाते हैं, वे अत्यन्त विस्तृत और सर्वग्राही अर्थों में लिये जाते हैं और उनके द्वारा राज्य को हस्तक्षेप करने के पर्याप्त अवसर प्राप्त हो जाते हैं और इनमें सभी बातें ली जा सकती हैं, जैसे सार्वजनिक सुरक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सार्वजनिक नैतिकता आदि आदि।

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता (Personal Liberty)—अनुच्छेद २० से लेकर अनुच्छेद २२ तक जिन व्यक्तिगत स्वतन्त्रताओ का वर्णन किया गया है, वे सब 'स्वातन्त्र्य अधिकार' के अन्तर्गत आती हैं। अनुच्छेद २० किसी ऐसे व्यक्ति के मौलिक अधिकारो का वर्णन करता है जिस पर दोषारोपण किया गया है और उक्त अनुच्छेद में दण्ड-विधान के कतिपय महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तो का निरूपण और विवेचन किया गया है। अनुच्छेद २० का खण्ड (१) यह सिद्धान्त निरूपित करता है कि कोई व्यक्ति किसी अपराध के लिए सिद्धदोष नही ठहराया जायेगा, जब तक कि उसने अपराधारोपित क्रिया करने के समय किसी प्रवृत्त विधि का अतिक्रमण न किया हो। और न कोई व्यक्ति उससे अधिक दण्ड का पात्र होगा जो उस अपराध के करते समय प्रवृत्त विधि के अधीन दिया जा सकता था। द्वितीय खण्ड में यह मौलिक सिद्धान्त निहित है कि कोई व्यक्ति एक ही अपराध के लिए एक बार से अधिक अभियोजित और दण्डित न किया जायेगा। इस खण्ड में वही सिद्धान्त है जिसको अमरीका में 'दुहरे भय का सिद्धान्त' (Double Jeopardy) कहते हैं, यद्यपि शब्दो का कुछ हेर-फेर है। तृतीय खण्ड उक्त सिद्धान्त पर आधारित है कि किसी अपराध मे अभियुक्त कोई व्यक्ति स्वय अपने विरुद्ध साक्षी होने के लिए बाध्य न किया जायेगा। इस खण्ड की भाषा में प्राय वही शब्द हैं जो अमरीका के सविधान के पचम सशोधन मे हैं, यद्यपि हमारे सविधान मे जिस नियम के आधार पर इस खण्ड को निर्मित किया, उसकी सीमा उतनी व्यापक नही है जितनी कि अमरीकन नियम की है क्योकि "वह निर्वचनो के द्वारा अत्यधिक व्यापक अर्थों मे लिया जाने लगा है।"[1]

अनुच्छेद २१ प्रत्येक व्यक्ति को सब से महत्त्वपूर्ण प्राण और दैहिक स्वाधीनता का सरक्षण प्रदान करता है और आदेश करता है कि किसी व्यक्ति को अपने प्राण अथवा दैहिक स्वाधीनता से विधि द्वारा स्थापित प्रक्रिया को छोडकर अन्य प्रकार वचित न किया जायेगा। यद्यपि सविधान वन्दीकरण और निरोध की कतिपय अवस्थाओ में आज्ञा देता है किन्तु ऐसा वन्दीकरण और निरोध केवल तदर्थ वैधिक आज्ञा के अनुसार ही हो सकता है। यह अनुच्छेद इस अभिप्राय से नही लिखा गया था कि यह विधान-

---

[1] Basu, Durga Das Commentary on the Constitution of op citd, p 149

मण्डलो के अधिकारो पर सवैधानिक प्रतिवन्ध लगावे। "इसका उद्देश्य तो केवल यह है कि यह देश की कार्यपालिका शक्ति के ऊपर अकुश रहे और कार्यपालिका किसी व्यक्ति के प्राणो और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से, सिवाय किसी विधि की आज्ञा और उसमे वर्णित प्रक्रिया के अनुसार, खिलवाड न करे।" उक्त वैधानिक कार्रवाई की जो वैधानिक प्रक्रिया निर्धारित की जायगी उसका सविधान के अनुच्छेद २२ के अनुसार होना आवश्यक है।

भारतीय सविधान के अनुच्छेद २१ के उपवन्ध वही हैं जो अमरीकन सविधान के पाँचवें और चौदहवें सशोधनो के हैं। अमरीका के सविधान के पाँचवे सशोधन के अनुसार किसी व्यक्ति को प्राणो, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति से विना वैधिक प्रक्रिया के वचित नही किया जायगा। और चौदहवें सशोधन के अनुसार कोई राज्य विना वैधिक प्रक्रिया के किसी व्यक्ति को प्राणो, स्वतन्त्रता और सम्पत्ति से वचित नही करेगा। भारतीय सविधान ने सम्पत्ति के अधिकार को अलग लिया है और 'वैधिक प्रक्रिया' के स्थान पर 'विधि सम्मत प्रक्रिया' अपने सविधान में रखा है। 'विधि सम्मत प्रक्रिया' को १६४६ के जापानी सविधान के अनुच्छेद ३१ मे से लिया गया है।[1]

हमारे सविधान का अनुच्छेद २२ वन्दी व्यक्तियो को कुछ सवैधानिक अधिकार प्रदान करता है, और वन्दीकरण तथा विरोध के सम्वन्ध में कुछ मौलिक नियम निर्धारित करता है। यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक होगा कि वन्दीकरण और निरोध के सम्वन्ध में जो उपवन्ध दिए गए हैं वे अजीव से हैं क्योकि भारत के सविधान ने तो वन्दीकरण की आज्ञा शान्ति काल में भी दे दी है। अन्य लोकतन्त्रात्मक देशो में वन्दीकरण एव निरोध का आश्रय केवल युद्ध अथवा आपात-कालो[2] में ही लिया जाता है।

राज्य की सुरक्षा अथवा सार्वजनिक शान्ति अथवा प्रदाय या रसद या सार्वजनिक सेवाओ के आधार पर निवारक अवरोध (preventive detention) की व्यवस्था समवर्त्ती सूची[3] है (Concurrent list) मे की गई है। किन्तु रक्षा, विदेशी सम्वन्ध अथवा सघ (Union) की सुरक्षा के लिए निवारक अवरोध की व्यवस्था केवल ससद् ही कर सकती है।[4]

सामान्यत किसी विधि के आधार पर निवारक अवरोध की आज्ञा तीन मास से अधिक प्रवर्त्तन में नही रहती। ऐसी कोई विधि किसी व्यक्ति को तीन महीने से अधिक कालावधि के लिए निरुद्ध किया जाना प्राधिकृत तव तक न करेगी जव तक कि ऐसे व्यक्तियो को, जो उच्च न्यायालय के न्यायाधीश है, रह चुके हैं अथवा नियुक्त होने की अर्हता रखते हैं, मिलकर वनी मन्त्रणा मण्डली (Advisory Board) ने तीन

---

[1] जापानी सविधान का अनुच्छेद XXXI आदेश देता है "किसी व्यक्ति को जीवन अथवा स्वतन्त्रता से वचित नहीं किया जायगा, न कोई अन्य दण्ड दिया जायगा, सिवाय जव तक कि 'विधिसम्मत प्रक्रिया' से उक्त दण्ड उचित हो।"

[2] गोपालन वनाम मद्रास राज्य।

[3] समवर्त्ती सूची, पद ३।

[4] सघीय सूची, पद ३।

महीने की उक्त कालावधि की समाप्ति के पूर्व प्रतिवेदित नही किया है कि ऐसे निरोध के लिए उसकी राय में पर्याप्त कारण हैं, तो ससद् कतिपय विशिष्ट परिस्थितियो के आधीन कतिपय प्रकार के मामलो मे निवारक अवरोध की मुद्दत बढा सकेगी और ऐसी स्थिति में ससद् के लिए यह आवश्यक नही होगा कि वह मन्त्रणा मण्डली से पूछे और पूछकर ही तीन महीने से अधिक के लिए निवारक अवरोध की आज्ञा दे।[1]

निवारक निरोध उपबन्धित करने वाली किसी विधि के अधीन दिए गए आदेश के अनुसरण में जब कोई व्यक्ति निरुद्ध किया जाता है तब आदेश देने वाला प्राधिकारी यथाशक्य शीघ्र उस व्यक्ति को जिन आधारो पर वह आदेश दिया गया है उनको बताएगा तथा उस आदेश के विरुद्ध अभ्यावेदन करने के लिए उसे शीघ्रातिशीघ्र अवसर देगा।[2] किन्तु यदि आदेश देने वाला प्राधिकारी ऐसे तथ्यो को प्रकट करना लोक-हित के विरुद्ध समझे तो उसके लिए उपयुक्त तथ्यो का प्रकट करना आवश्यक नही होगा।[3]

शोषण के विरुद्ध अधिकार (Right Against Exploitation)—अनुच्छेद २३ और २४ मे शोषण के विरुद्ध अधिकार का वर्णन है। अनुच्छेद २३ स्पष्टतया मानव के पण्य और बलात् श्रम का प्रतिषेध करता है। तथा बेट बेगार अथवा ज़बर्दस्ती लिये हुए श्रम को अपराध घोषित करता है। मनुष्यो का पण्य अथवा क्रय-विक्रय स्पष्टत व्यापक और विस्तृत अर्थों में लिया गया है और इनमें न केवल गुलाम प्रथा का प्रतिषेध सम्मिलित है अपितु स्त्रियो का दुराचार और वेश्या-वृत्ति आदि बातें भी सम्मिलित हैं। इस उपबन्ध का उल्लघन अपराध होगा और विधि के अनुसार दण्डनीय होगा। किन्तु अनुच्छेद २३ का खण्ड (२) राज्य को आज्ञा देता है कि वह सार्वजनिक प्रयोजन के लिए बाध्य सेवा (compulsory service) लागू कर सकेगा। सार्वजनिक प्रयोजन (public service) शब्दो की व्याख्या कही भी नही की गई है, किन्तु इसका यह उद्देश्य प्रतीत होता है कि सार्वजनिक प्रयोजन से समस्त जाति का हित समझना चाहिए न कि किसी एक व्यक्ति का प्रयोजन अथवा कतिपय व्यक्तियो का प्रयोजन।[4] यह जान लेना रुचिकर होगा कि अमरीका में ऐसा विश्वास किया जाता है कि राज्य को अधिकार है कि वह किसी भी अपने अधिकार क्षेत्र के स्वस्थ शरीर वाले व्यक्ति को कुछ थोडे से उचित समय के लिए उसके निवास-स्थान के समीप की सार्वजनिक सडको पर काम करने के लिए बुला सकता है, और यह आवश्यक नही है कि उस व्यक्ति को प्रत्यक्ष वेतन या मजदूरी दी जाय।[5] सयुक्त राज्य अमरीका मे सैनिक सेवा को सार्वजनिक सेवा समझा जाता है, और भारत में भी ऐसा ही समझा जायगा। अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने आर्वेर वनाम सयुक्त राज्य अमेरिका (Arver *Vs* United States) वाले मामले मे निर्णय देते समय कहा था कि "न्यायी शासन की परिभाषा करते समय और उसके नागरिको के प्रति कर्त्तव्यो

---

[1] अनुच्छेद २२ (४)।

[2] अनुच्छेद २२ (५)।

[3] अनुच्छेद २२ (६)।

[4] विहार राज्य वनाम कामेश्वर सिह।

[5] बट्लर वनाम पेरी।

का विवेचन करते समय यह समझना आवश्यक होगा कि बदले में नागरिको के भी राज्य के प्रति कुछ आवश्यक कर्त्तव्य हैं और उन कर्त्तव्यो मे सैनिक सेवा भी है और यदि आवश्यक हो तो सैनिक सेवा के लिए नागरिको को बाध्य भी किया जा सकता है।”

अनुच्छेद २४ में कहा गया है कि चौदह वर्ष से कम आयु वाले किसी बालक को किसी कारखाने अथवा खान मे नौकर न रखा जायगा और न किसी दूसरी सकटमय नौकरी मे लगाया जाएगा। इस उपबन्ध मे हमारा सविधान अमरीका के सविधान से आगे बढ गया है क्योकि अमरीका के सविधान में किसी बालक के किसी कारखाने अथवा खान में अथवा किसी अन्य सकटमय नौकरी में लगाए जाने को निषिद्ध नही किया गया है।

धर्म-स्वातन्त्र्य का अधिकार (Right to Freedom of Religion)—सविधान के अनुच्छेद २५ से लगाकर अनुच्छेद २८ तक जिन विशिष्ट धार्मिक अधिकारो का वर्णन किया गया है. उनका क्षेत्र बहुत व्यापक है, और उक्त अनुच्छेद धर्म के वैयक्तिक एव सामाजिक स्वरूप पर भी प्रभाव डालते हैं। भारत मे रहने वाले सभी लोग, चाहे वे भारत के नागरिक हो अथवा विदेशी हो, इन अधिकारो का समान रूप से उपभोग करते हैं। सविधान आदेश देता है कि सार्वजनिक व्यवस्था सदाचार और स्वास्थ्य एव अन्य उपबन्धो के अधीन रहते हुए सब व्यक्तियो को, अन्त करण की स्वतन्त्रता का तथा धर्म के अबाध रूप से मानने, आचरण करने और प्रचार करने का समान हक होगा। चूँकि धार्मिक सस्थाएँ समवर्त्ती सूची में हैं, इसलिए धर्म-स्वातन्त्र्य के अधिकार के होते हुए भी किसी राज्य के विधानमण्डल को यह अधिकार बना रहता है कि वह धार्मिक आचरण से सम्बद्ध किसी आर्थिक, वित्तीय या राजनीतिक अथवा अन्य किसी प्रकार की लौकिक क्रियाओ का विनियमन अथवा निर्बन्धन करने वाली विधियाँ पास करे और इसीलिए जहाँ हिन्दुओ की सार्वजनिक प्रकार की धर्म सस्थाओ को हिन्दुओ के सब वर्गों और विभागो के लिए खोला जा सकता है, वही हिन्दुओ के प्रति निर्देश में सिक्ख, जैन या बौद्ध धर्म के मानने वाले व्यक्तियो का भी निर्देश अन्तर्गत है और तदनुसार राज्य ने हिन्दू, सिक्ख, जैन तथा बौद्ध धार्मिक सस्थाएँ सब वर्गों के लोगो के लिए एक समान खोलने का अधिकार प्राप्त कर लिया है।[1] सार्वजनिक व्यवस्था, सदाचार और स्वास्थ्य के अधीन रहते हुए प्रत्येक धार्मिक सम्प्रदाय अथवा उसके किसी विभाग को धार्मिक सस्थाओ की स्थापना और पोषण का, उनके प्रबन्ध करने का, जगम और स्थावर सम्पत्ति के अर्जन और स्वामित्व का पूर्ण अधिकार होगा।[3] किसी भी व्यक्ति को ऐसे करो के देने के लिए बाध्य नही किया जा सकता जिनके आगम किसी विशेष धर्म की उन्नति के लिए या पोषण में व्यय करने के लिए विनियुक्त कर दिए गए हो।[3] राज्य निधि से पूरी तरह से पोषित किसी शिक्षा-सस्था में कोई धार्मिक शिक्षा नही दी जायगी। किन्तु

---

[1] अनुच्छेद २५।

[2] अनुच्छेद २६।

[3] अनुच्छेद २७।

प्राइवेट सस्थाओ में धार्मिक शिक्षा दी जा सकेगी जिन्हें सरकार या राज्य ने मान्यता दे दी है या जिन सस्थाओ को सरकारी धन से सहायता मिलती है या जिन सस्थाओ का प्रवन्ध तो सरकार करती है परन्तु जो गैर-सरकारी धन से बनी हैं और चलती हैं और जिनके निर्माताओ और दाताओ ने साथ में यह शर्त लगा दी है कि उनमें धार्मिक शिक्षा दी जायगी, किन्तु शर्त यह होगी कि उक्त सस्था में पढने वाले किसी व्यक्ति को उक्त सस्था मे दी जाने वाली धार्मिक शिक्षा मे भाग लेने के लिए अथवा धार्मिक उपासना में भाग लेने के लिए उक्त सस्था की इमारत में उपस्थित होने के लिए उस समय तक बाध्य नही किया जायगा जब तक कि उक्त व्यक्ति ने या यदि वह वयस्क न हो तो उसके सरक्षक ने इसके लिए अपनी स्वीकृति न दे दी हो ।[1]

सस्कृति और शिक्षा सम्बन्धी अधिकार (Cultural and Educational Rights)—सविधान का अनुच्छेद २९ समस्त अल्पसख्यक वर्गों को आश्वस्त करता है कि उन्हे अपनी विशेष भाषा, लिपि या सस्कृति को बनाये रखने का अधिकार होगा और इस अधिकार पर सविधान के अनुच्छेद ३४३ के उपबन्धो का प्रभाव नही पडेगा जिसमे समस्त सघ के लिए देवनागरी लिपि में हिन्दी भाषा को अधिकृत भाषा के रूप मे स्वीकार किया गया है । अनुच्छेद २९ के खण्ड (२) ने उपवन्धित किया है कि राज्य द्वारा पोषित अथवा राज्य निधि से सहायता पाने वाली किसी शिक्षा-सस्था में प्रवेश से किसी भी नागरिक को केवल धर्म, मूलवश, जाति, भाषा अथवा इनमें से किसी के आधार पर वचित न रखा जायगा ।[2] धर्म या भाषा पर आधारित सब अल्पसख्यक वर्गों को अपनी रुचि की शिक्षा-सस्थाओ की स्थापना का अधिकार होगा और उक्त शिक्षा-सस्थाओ को सहायता देने में राज्य किसी विद्यालय के विरुद्ध इस आधार पर विभेद न करेगा कि वह धर्म या भाषा पर आधारित किसी अल्पसख्यक वर्ग के प्रशासन में है ।[3]

सम्पत्ति का अधिकार (Right to Property)—अनुच्छेद ३१ सम्पत्ति के अनिवार्य अर्जन के अधिकार को स्वीकार करता है । अनुच्छेद १९ के अन्तर्गत सम्पत्ति के अर्जन, धारण और व्ययन का सभी नागरिको को अधिकार प्रदान किया गया है ।[4] अनुच्छेद ३९ के खण्ड (१) के अनुसार कोई व्यक्ति विधि के प्राधिकार के बिना अपनी सम्पत्ति से वचित नही किया जायगा । इस प्रकार केवल कार्यपालिका आदेश पर ही किसी व्यक्ति को अपनी सम्पत्ति से वचित नही किया जा सकता, और यदि कार्यपालिका सत्ता विधि के अनुसार आचरण नही करती, तो ऐमा आदेश सविधान के अनुच्छेद ३१ के प्रतिकूल होगा अत उक्त आदेश अवैध माना जायगा । इसके अतिरिक्त अनुच्छेद ३१ का खण्ड (२) उपवन्धित करता है कि कोई सम्पत्ति केवल

---

[1] अनुच्छेद २८ ।

[2] मद्रास राज्य बनाम चम्पकम दोराइ राजन वाले मामले में भारत के उच्चतम न्यायालय ने आदेश दिया कि किसी राज्य सरकार को यह अधिकार नहीं है कि वह किसी शिक्षा-सस्था में जाति या धर्म के आधार पर विद्यार्थियों के प्रवेश के लिए स्थानों की सख्या निर्धारित करे ।

[3] अनुच्छेद ३० ।

[4] अनुच्छेद १९ (१) (च)

सार्वजनिक प्रयोजन के लिए तभी कब्जाकृत या अर्जित की जा सकती है जबकि उक्त अर्जित या कब्जाकृत सम्पत्ति के लिए प्रतिकर की राशि दे दी गई हो। अनुच्छेद ३१ के खण्ड (३), (४), (५) और (६) और अनुच्छेद ३१ (क) और ३१ (ख) में वे अपवाद दिए गए हैं जिनके आधार पर किसी की सम्पत्ति अर्जित की जा सकती है। इनका उद्देश्य यह है कि जमीदारी-उन्मूलन या भूमि-सुधार-सम्वन्धी जो भी कानून वनाए जाएँ वे इस कारण अमान्य न ठहराये जाएँ कि संविधान में दिए हुए मूल अधिकारो का वे अतिक्रमण करते हैं। इन उपवन्धो के अनुसार सार्वजनिक प्रयोजन के लिए प्रतिकर देकर किसी की सम्पत्ति अर्जित की जा सकती है। ये दोनों अनुच्छेद अर्थात् ३१ (क) और ३१ (ख) मूल संविधान में नही थे। ये संविधान में, प्रथम संशोधन कानून १९५१ द्वारा शामिल कर लिये गए थे। इन अनुच्छेदों का प्रभाव अत्यन्त विस्तृत है और इनको इस उद्देश्य से संविधान में शामिल किया गया था कि जमीदारियो को लिया जा सके और स्थायी वन्दोवस्त (permanent settlement) को समाप्त किया जा सके किन्तु इस कार्रवाई में न्यायालयो का हस्तक्षेप न हो। अनुच्छेद ३१ (क) उपवन्धित करता है कि कोई पुरानी अथवा भविष्य में निर्मित होने वाली विधि जो किसी सम्पत्ति के स्वामी अथवा जमीदार के अधिकारो को सीमित या समाप्त करती है, केवल इसी आधार पर अमान्य अथवा अवैध नही ठहराई जायेगी कि इस भाग में दी हुई धाराओ का उल्लंघन करती है अथवा अपहरण करती है अथवा सीमित करती है। इसका यह अर्थ हुआ कि न्यायालय में किसी ऐसी विधि को चुनौती नही दी जा सकती कि प्रतिकर की न्याय्य-व्यवस्था नही की गई है, अथवा सम्वन्धित सम्पत्ति के अर्जन में कोई सार्वजनिक प्रयोजन नही था, अथवा उक्त अर्जन संविधान के भाग तृतीय के उपवन्धो का अतिक्रमण करता है। इस प्रकार यह अनुच्छेद पटना के उच्च न्यायालय द्वारा दिए गए 'कामेश्वरसिंह वनाम विहार राज्य' वाले मामले के निर्णय को रद्द कर देता है जिसमें माननीय न्यायाधीश ने यह मत लिया कि न्यायालय इस वात पर विचार नही कर सकते कि कोई सम्पत्ति सार्वजनिक उपयोग के लिए अर्जित की जा रही है अथवा नही।[1] इसलिए चूंकि विहार स्टेट मैनेजमैण्ट आफ इस्टेट एण्ड टेन्यूर्स ऐक्ट, २१ आफ १९४९ (Bihar State Management of Estate and Tenures Act, 21 of 1949) किसी सार्वजनिक प्रयोजन के लिए नही था इसलिए वह वैध नहीं था। अनुच्छेद ३१ (ख) को इसलिए जोडा गया ताकि संविधान में दी गई अनुसूची ९ के कोई भी कानून और नियम अमान्य न समझे जाएँ। इस अनुच्छेद का यह भी उद्देश्य था कि उक्त

---

[1] पेप्सू के उच्च न्यायालय ने भी पृथी सिंह वनाम राज्य वाले मामले में यही दृष्टिकोण लिया था। इसके विपरीत, असरार अहमद वनाम राज्य वाले मामले में अजमेर के उच्च न्यायालय ने यह मत लिया कि चूँकि उत्तर प्रदेश के अस्थायी एकोमोडेशन रिक्विजिशन ऐक्ट, २५ आफ १९४७ (U P Temporary Accommodation Requisition Act 25 of 1947) के अनुसार, जो अजमेर पर भी लागू हुआ, के अनुसार घर लिया गया था, इसलिए जिलाधीश का यह कह देना काफी था कि उक्त घर सार्वजनिक प्रयोजन के लिए जा रहा था और उच्च न्यायालय जिलाधीश के उक्त कथन के आगे कुछ नहीं करेगा।

अनुसूची के अधिनियम यह कह कर अमान्य नही ठहराये जा सकते कि इस भाग में दी हुई धाराओ और नियमो का वे उल्लघन करते हैं या विरोध करते हैं। उक्त ३१ (ख) अनुच्छेद के होने से किसी न्यायालय के फैसले या आज्ञा द्वारा भी अनुसूची ९ के कानून अमान्य घोषित नही किए जा सकते। किन्तु फिर भी उक्त अनुच्छेद ने विधानमण्डल को यह अधिकार प्रदान किया है कि वह नवी अनुसूची (Ninth Schedule) के किसी कानून को रद्द कर सकता है अथवा सशोधित कर सकता है।

प्रतिकर (compensation) के सम्बन्ध मे सयुक्त राज्य अमरीका[1] और आस्ट्रेलिया[2] के सविधानो ने यह आदेश दिया है कि दोनो देशो मे किसी की सम्पत्ति ले लेने पर उसके लिए उचित और न्याय्य प्रतिकार दिया जाए, और उक्त दोनो देशो के न्यायालयो की यही मान्यता है कि न्याय्य प्रतिकर की राशि न्यायालय ही तय कर सकते हैं, विधानमण्डल अथवा कार्यपालिका[3] के अधिकार-क्षेत्र से यह निर्णय परे है। इसके विपरीत भारतीय सविधान ने अन्तिम अधिकार व्यवस्थापिका को दिया है, "न्यायालय केवल ऐसी हालत में पुनरीक्षण कर सकते हैं जहाँ सविधान के साथ धोखा किया गया हो, अर्थात् जहाँ सार्वजनिक प्रयोजन की बात केवल धोखे के रूप में कही गई थी, वास्तविक उद्देश्य व्यवस्थापन का यह था कि जबरदस्ती अधिकार कर लिया जाए, अथवा जहाँ विधानमण्डल ने किसी की सम्पत्ति को विना उचित प्रतिकर के छीन लिया हो।"[4]

किन्तु पटना और कलकत्ता के उच्च न्यायालयो ने भिन्न दृष्टिकोण अपनाया। पटना उच्च न्यायालय ने कामेश्वरसिंह बनाम बिहार राज्य वाले मामले में यह निर्णय दिया कि न्याय्य या उचित (just or fair) शब्दो के अभाव मे प्रतिकर की राशि न्याययोग्य (justiciable) नही है। कलकत्ता के उच्च न्यायालय का भी यही मत था।[5] यदि विधि द्वारा प्रतिकर रूप मे दी जाने वाली धन-राशि न्याय्य अथवा उचित नही है तो उक्त प्रतिकर को अनुच्छेद ३१ के खण्ड (२) के अनुसार प्रतिकर नही माना जायगा और इस प्रकार उक्त विधि अमान्य और असवैधानिक घोषित हो जायगी।

इन निर्णयो को उच्चतम न्यायालय ने स्वीकार कर लिया। दिसम्बर १९५३ में उच्चतम न्यायालय ने बम्बई के उच्च न्यायालय का द्वारकादास श्रीनिवास बनाम शोलापुर एम एण्ड डब्ल्यू क वाले मामले के निर्णय को अमान्य करते हुए यह निर्णय दिया कि शोलापुर मिल्स ऑर्डीनेन्स और अधिनियम (Sholapur Mills ordinance and Act) अनुच्छेद ३१ के अनुसार असविधानिक थे। इसलिए अनुच्छेद ३१ के सशोधन की आवश्यकता अनुभव हुई और १२ अप्रैल १९५५ को चतुर्थ सविधान सशोधन विधेयक पास हो गया जिसमें ३०२ मत सशोधन के पक्ष में थे और ५ मत विपक्ष में थे।[1] अन्तिम मत-गणना के पूर्व ही प्रधान मन्त्री प० नेहरू ने कहा था कि इस विधेयक के पास होने से उनके मार्ग की कुछ बाधाएँ हट जावेगी और फलस्वरूप वे देश के सामाजिक ढांचे में बिना किसी वर्ग के हितो को किसी प्रकार हानि पहुँचाये इच्छित परिवर्त्तन ला सकेंगे। उक्त सशोधन के उद्देश्य को प० नेहरू के निम्न शब्दो में ही सुनिये—"हम इस विधेयक के द्वारा कोई स्वेच्छ अथवा निरकुश (arbitrary), समपहारी (confiscatory), अथवा स्वामित्वहरणकारी या, सम्पत्तिहरणकारी (expropriatory) कार्रवाई नहीं करना चाहते। सत्य तो यह है कि विधि ने यही उपवन्धित किया है कि सम्पत्ति विधि के अनुसार ही अर्जित की जाए और उचित प्रतिकर (compensation) दे दिया जाए। किन्तु प्रतिकर की प्रमात्रा अथवा विशेष मात्रा (quantum or compensation) विधानमण्डल ही निश्चित करेंगे। इस समय मेरे लिए यह कह देना सरल नही है कि विधानमण्डल किसी विशिष्ट मामले मे प्रतिकर किस प्रकार निर्णय करेंगे। किन्तु फिर भी यदि आप इस देश में प्रजातन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था स्थापित करना चाहते हैं, तो आपको व्यवस्थापिका के ऊपर विश्वास करना ही पड़ेगा।"[2] इसके आगे प्रधान मन्त्री ने यह भी कहा कि प्रस्तावित सशोधन, प्रतिकर (compensation) के मामले में उच्चतम न्यायालय के अधिकार क्षेत्र को पूर्णत समाप्त नही करता, वह तो उसे केवल कुछ मर्यादित कर देता है। फिर भी श्री नेहरू ने यह आशा व्यक्त की कि हमारे उच्चतम न्यायालय के समक्ष जिस समय विधियो के निर्वचन का उत्तरदायित्व आवेगा, तो वह इस सम्बन्ध में देश के और सदन के वदले हुए वातावरण को भी ध्यान में रखकर ही विधियो का निर्वचन करेगा।[3]

---

[1] पचम सशोधन। सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान का पाँचवा सशोधन।

[2] आस्ट्रेलिया के सविधान का अनुच्छेद ५१ (३१)

[3] सी बोर्ड एयर लाइन क० बनाम सयुक्त राज्य अमरीका (१९२३), आस्ट्रेलियन मार्केटिंग बोर्ड बनाम टोंकिंग (१९४२)।

[4] Basu, Durgadas Commentary on the Constitution of India p 215

[5] वेस्ट बगाल सेटिलमैण्ट कानूगोज कोओपरेटिव क्रैडिट सोसाइटी लि० बनाम बेला बनर्जी (१९५१)।

सविधानिक उपचारों के अधिकार (Right to Constitutional Remedies)—सविधान का अनुच्छेद ३२ उन सविधानिक उपचारो के अधिकारों का भी उपवन्ध करता है, जिनके द्वारा उपर्युक्त अधिकारो को प्रवर्तित कराने के लिये उच्चतम न्यायालय की शरण में कोई नागरिक जा सकता है। इन मौलिक अधिकारो में से किसी भी अधिकार को परिवर्तित कराने के लिए उच्चतम न्यायालय को ऐसे आदेश या लेख या निदेश (orders, writs or directions) जिनके अन्तर्गत वन्दी प्रत्यक्षी-

---

[1] उक्त सशोधन विधेयक १५ मार्च १९५५ को प्रवर समिति (Standing Committee) को लोकसभा में दिया गया था जिसमें ३२२ मत पक्ष में थे और ६ मत विपक्ष में।

[2] प्रधान मन्त्री की ११ अप्रैल १९५५ की वक्तृता जो विधेयक पर प्रवर समिति के विचारों पर विचार करने के लिए दी थी। —Tribune Dt. 12-4-55 p 1, Col 7

[3] १५ मार्च १९५५ को लोकसभा में दी गई प्रधान मन्त्री की वक्तृता। Refer to Tribune, Dt March 16, 1955.

करण (Habeas Corpus), परमादेश (Mandamus), प्रतिषेध (Prohibition), अधिकार-पृच्छा (*Quo-warranto*) और उत्प्रेषण (Certiorari) के प्रकार के लेख भी हैं, निकालने की शक्ति प्राप्त है।

सविधानिक उपचारो से सम्बन्धित उपबन्ध को डा० अम्बेदकर ने सविधान की जान बताया था। तथ्य यह है कि मौलिक अधिकारो का ढिढोरा पीटना व्यर्थ होगा यदि उक्त अधिकारो के परिवर्तन के लिए प्रभावी सविधानिक उपचार न हो। इगलैड में मौलिक अधिकारो का घोषणा-पत्र नही है, फिर भी वहाँ व्यक्तियो के अधिकारों को परमाधिकार आदेश लेखो (Prerogative writs) के द्वारा पूर्ण सरक्षण प्राप्त है, और आचार्य डायसी (Dicey) ने इन परमाधिकार आदेश लेखो को ब्रिटिश सविधान का सिद्धान्त (bulwark of English Constitution) कहा है। सयुक्त राज्य अमेरिका के सविधान में इस प्रकार के आदेश लेखो (writs) का कोई उपबन्ध नहीं है। अमेरिका के सविधान के निर्माताओ ने सोचा होगा कि ये सामान्य विधि के आदेश लेख सयुक्त राज्य में आसानी से निकलते रहेगे, इसीलिए उन्होने स्पष्टतया बन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus) के निलम्बन पर रोक लगा दी।

किन्तु भारत में यदि आपात्-उद्घोषणा प्रवर्तन में हो तो वे मौलिक अधिकार जिनका सम्बन्ध सात स्वतन्त्रताओ से है, आपात काल के लिए निलम्बित कर दिये जाते हैं।[1] आपात् काल में राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि वह व्यक्तियो के मौलिक अधिकारो के प्रवर्तन के सम्बन्ध में न्यायालय के प्रचालन के अधिकार का निलम्बन कर सकता है किन्तु उक्त निलम्बन आदेश के दिये जाने के पश्चात् यथासम्भव शीघ्र वह ससद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जायगा।[2]

राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व

(Directive Principles of State Policy)

निर्देशक तत्त्व अथवा सिद्धान्त (Directive Principles)—राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वो का सविधान के भाग ४ में वर्णन किया गया है, जो देश के शासन में मूलभूत हैं।[3] इन राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तो में सामान्य शब्दों में उन उद्देश्यो और पवित्र इच्छाओ का वर्णन किया गया है जिनके अनुसार सविधान के निर्माता देश के शासन को चलाना चाहते थे। राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व एक प्रकार से शासन को आदेश है कि वह देश में लोक-कल्याणकारी राज्य की स्थापना करे और उन उच्च आदर्शों को प्राप्त करने का प्रयास करे जिनकी

---

[1] अनुच्छेद ३५८।

[2] अनुच्छेद ३५९।

[3] अनुच्छेद ३७।

सविधान की प्रस्तावना में शुभ कामना प्रकट की गई है। सविधान की प्रस्तावना में कहा गया है कि सभी नागरिको को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय मिले, विचार अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म की स्वतन्त्रता मिले, प्रतिष्ठा और अवसर की समानता मिले, और सभी में वन्धुता के भाव वढ़ें और इस प्रकार व्यक्ति की गरिमा तथा राष्ट्र की एकता सुनिश्चित हो।

सविधान में सामाजिक और आर्थिक नीति की घोषणा करने का प्रयोजन यह था कि अब राज्य का कार्य केवल नियामक सस्था ही वने रहना नही है, अपितु अब तो राज्य का कल्याणकारी स्वरूप ही माना जाता है। राज्य को कल्याणकारी सस्था वनाने का श्रेय वेमर सविधान (Weimar Constitution) को है। तव से कई लोकतन्त्रात्मक देशो ने अपने सविधानों[1] में इस प्रकार के नीति निर्देशक सिद्धान्तो को स्थान दिया है। किन्तु आयरलैंड के सविधान को छोडकर अन्य किसी सविधान ने न्याय योग्य (Justiciable) और अन्य अधिकारो के अन्तर को नही समझा। आयरलैंड के सविधान ने व्यक्ति के अधिकारों को न्याय योग्य माना किन्तु सामाजिक नीति[2] के अधिकारों को न्याय योग्य नही माना और इस सम्वन्ध में भारत के सविधान ने आयरलैंड का अनुसरण किया है।

नीति निर्देशक सिद्धान्त और मौलिक अधिकार (The Directive Principles and Fundamental Rights)—राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तो को मौलिक अधिकारो की अपेक्षा अधिक व्यापक अर्थों में लिया जाता है। मौलिक अधिकार एक प्रकार से शासन को निषेधात्मक आज्ञाएँ हैं कि वह कुछ विशेष प्रकार के कार्य न करे किन्तु निर्देशक सिद्धान्त कुछ अस्ति आदेश (Positive Commands) हैं जिनके आधार पर शासन से आशा की जाती है कि वह कतिपय आवश्यक एव पवित्र उद्देश्यो की पूर्ति करे। किन्तु एक वात में निर्देशक तत्त्व मौलिक अधिकारो से विल्कुल भिन्न हैं। जहाँ राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व न्याय योग्य नहीं (Non-Justiciable) हैं, मौलिक अधिकार न्याय योग्य हैं। अर्थात् मौलिक अधिकारों का, न्यायालय प्रवर्त्तन करा सकते हैं क्योकि वे शासन के आज्ञापत्र[3] के समान हैं जव कि निर्देशक तत्त्व (Directive Principles) केवल पवित्र इच्छायें मात्र हैं, और न्यायालय[4] उन तत्त्वो को प्रवर्त्तित नही करा सकते। यदि शासन उन उद्देश्यो की पूर्ति के लिए कोई प्रयत्न नहीं करता जिनको निर्देशक तत्त्वो में स्थान दिया गया है, तो भी शासन के विरुद्ध न्यायालयो में कोई कारवाई नहीं की जा सकती। किन्तु यदि कोई विधि मौलिक अधिकारो के प्रतिकूल है, तो ऐसी विधि को न्यायालय अवश्य अवैध घोषित कर देंगे। किन्तु न्यायालय किसी ऐसी विधि को, जो वैसे तो

---

[1] आस्ट्रिया का सविधान (१९२९), स्पेन का सविधान (१९३१), आयरलैंड (१९३७), ब्राज़ील (१९४२), फ्रांस (१९४६), इटली १९४७, वर्मा (१९४८) और जर्मनी का सविधान (१९४९)।

[2] अनुच्छेद ४५ (Irish Constitution)।

[3] अनुच्छेद ३२।

[4] अनुच्छेद ३७।

सब प्रकार वैध है किन्तु नीति के निर्देशक तत्त्वो से मेल नही खाती, उसको केवल इसी आधार पर कि वह निर्देशक तत्त्वो के अनुकूल नही है, अवैध घोषित नही किया जा सकता। यदि मौलिक अधिकारो और राज्य का नीति के निर्देशक तत्त्वो में विरोध हो, तो न्यायालयो में मौलिक अधिकारो को ही मान्यता दी जायगी। भारत के उच्चतम न्यायालय ने मद्रास राज्य बनाम चम्पकन दोराइराजन (State of Madras *Vs*. Champakan Dorairajain) के निर्णय में कहा था. "राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व न्यायालयों के लिए बाध्य और न्याय योग्य नहीं (unenforceable) हैं और वे भाग तृतीय के अन्य अधिकारो का अतिक्रमण नही कर सकते जो निश्चित रूप से न्यायालयो के लिए मान्य हैं। अनुच्छेद ३२ के अनुसार मौलिक अधिकारो के सम्बन्ध में आवश्यक निदेश, आदेश या लेख निकालने की शक्ति न्यायालयो को प्राप्त है। मौलिक अधिकारो वाला अध्याय अपरिवर्त्तनीय है और पवित्र है और इन अधिकारो को न तो कार्यपालिका की आज्ञा से और न व्यवस्थापिका के अधिनियम से ही मर्यादित किया जा सकता है, हाँ, केवल सम्बन्धित अध्याय में जो उपबन्ध हैं उन्ही के आधार पर उक्त अधिकारो का न्यूनन हो सकता है। इसके विपरीत राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व मौलिक अधिकारो के अध्याय के सन्दर्भ में ही लिए जा सकते हैं। यही सही तरीका होगा जिसके अनुसार सविधान के भाग तृतीय और भाग चतुर्थ के उपबन्धो को समझा जा सकता है। फिर भी जब तक मौलिक अधिकारो का अतिक्रमण भाग तृतीय के उपबन्धो के अनुसार न होता हो, इसमें कोई आपत्ति नही हो सकती यदि राज्य, सविधान के चतुर्थ भाग में वर्णित नीति के निर्देशक तत्त्वो के अनुसार कार्य करे, किन्तु फिर भी निर्देशक तत्त्वो पर व्यवस्थापिका और कार्यपालिका की मर्यादायें तो हैं ही, साथ ही सविधान के विभिन्न उपबन्धो की मर्यादाएँ भी राज्य के ऊपर प्रभाव डालती हैं।"

इसलिए राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व निदेश का विलेख (Instrument of Instructions), अथवा पवित्र आदेश और पवित्र आदर्श हैं जिनको राज्य की व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनो को ही मानना चाहिए और आदर करना चाहिए। प्रारूप समिति के चेयरमैन श्री अम्बेदकर ने सविधान सभा की अपनी वक्तृता में यह बात बल देकर कही थी। उन्होने कहा था "राज्य के नीति निर्देशक तत्त्व प्राय निदेश का विलेख (Instrument of Instructions) हैं जिनको पहिले ब्रिटिश सरकार गवर्नर जनरल (Governor General) को या उपनिवेशो के गवर्नरो को या भारत के वायसराय को १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार भेजा करती थी। इस समय उसी निदेश के विलेख का नाम बदल कर उसे राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व कहना प्रारम्भ कर दिया है। अन्तर केवल यह है कि अब निर्देशक तत्त्व राज्य की कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को दिया गया आदेश अथवा निदेश का विलेख है। मैं समझता हूँ कि हम सबको इसका आदर करना चाहिए। जहाँ कही सामान्य शब्दो में शान्ति, व्यवस्था और श्रेष्ठ शासन के लिए अधिकार सौंपे जाते हैं, यह भी आवश्यक है कि उस अधिकार के साथ-साथ

कुछ निदेश हो जिनके अनुसार अधिकारो का प्रयोग होना है।"[1] वर्मा (Burma) के सविधान के अनुच्छेद 32[2] मे भी लगभग वही उपबन्ध हैं जो हमारे सविधान के अनुच्छेद ३७ के हैं, उनकी विवेचना प्रस्तुत करते हुए स्वर्गीय श्री वी० एन० राव (B. N Rau) ने कहा था "वर्मा के सविधान के उपबन्ध राज्य के अधिकारियो के लिए नैतिक शिक्षाएँ हैं, और उनकी इस आधार पर आलोचना की जा सकती है कि सविधान में नैतिक शिक्षाओ के लिए स्थान नही होता। किन्तु उन शिक्षाओ का भी शैक्षणिक महत्त्व है और अनेको आधुनिक सविधानो ने इस प्रकार के सिद्धान्तो को स्थान दिया है। ये निर्देशक तत्त्व उन्हीं पुराने निदेशो के विलेख (Instruments of instructions) के समान हैं जिनसे हम पूर्व परिचित हैं और जिनका भारतीय सविधान में स्थान था। अन्तर केवल यह है कि जहाँ निदेश का विलेख (Instrument of instructions) गवर्नर जनरल या गवर्नर को भेजे जाते थे, राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व राज्य अथवा राज्यो के अधिकारियो को भेजे जा रहे हैं। वे अधिकारी व्यवस्थापिका के भी होगे और कार्यपालिका के भी होगे।"[3]

राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वों का महत्त्व (Value of the Directive Principles)—राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वो की कई आधारो पर आलोचना की गई है। आलोचको का कहना है कि चूँकि इस भाग के उपबन्धो को न्यायालयो द्वारा वाध्यता नही दी जा सकेगी, इसलिए इनका सविधान में होना न होना वरावर है। इसलिए इन तत्त्वो का केवल यही महत्त्व है कि वे राजनीतिक घोषणाएँ हैं जिनका कोई सविधानिक महत्त्व नही है। श्री नासिरउद्दीन (Mr Nasiruddin) ने, जो सविधान सभा के सदस्य थे, कहा कि निर्देशक तत्त्व नव वर्ष के वधाई सन्देशो से अधिक कुछ नही हैं। प्रो० के० टी० शाह (Pof. K T. Shah) ने कहा कि ये ऐसा चैक (cheque) है जिसका भुगतान वैंक की पवित्र इन्छा पर छोड दिया गया है। डा० व्हेयर जो ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के प्रोफेसर हैं, उन्होने नीति के निर्देशक तत्त्वो को "उद्देश्यो और आकांक्षाओ की घोषणा मात्र कहा है।" उनका विचार है कि सविधान में केवल उन्ही वातो अथवा उपवन्धो को स्थान देना चाहिए जिन पर न्यायालयो में परिवर्त्तन हो सकता है अर्थात् जो न्याय योग्य हैं, और इस प्रकार जो राज्य के लिए वाध्य और मान्य हो। डा० जैनिग्ज की निम्न आलोचना अनुचित प्रतीत होती है "ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय सविधान के भाग ४ पर सिडनी और ब्रीट्रिस वेव (Sydney and Beatrice Webb) की प्रेत छाया का प्रभाव है।

---

[1] Constituent Assembly Proceedings Vol VII, p 41 Also refer to the full bench decision delivered by C J chagla in fram Nuserwan Ji Balsara V State of Bombay (1951)

[2] वर्मा का सविधान उपबधित करता है. "इस अध्याय में जिन तत्त्वों का निर्देश किया गया है, वे राज्य को आदर्श मानने चाहिए"। इन सिद्धान्तों को मानना और इन पर व्यवस्थापन और प्रशासन आधारित करना राज्य का पुनीत कर्त्तव्य होगा, किन्तु इनको किसी न्यायालय में न्याय योग्य नहीं ठहराया जायगा।

[3] India Quarterly, Vol IV. p. 112

सविधान के भाग ४ में देर करने वाली अथवा टालू समाजवादी भावना (fabian socialism) व्यक्त की गई है किन्तु वास्तविक समाज के दर्शन नही होते, क्योकि न तो उत्पादन के साधनो का, न वितरण का और न विनिमय का राष्ट्रीयकरण किया गया है। किन्तु फैबियन समाजवादियो के लिए राष्ट्रीयकरण, उद्देश्य-प्राप्ति का साधन था, वह उनका अन्तिम उद्देश्य नही था। किन्तु भारतीय सविधान में अन्तिम लक्ष्य स्पष्टतया इगित कर दिया गया है।"[1] एक अन्य स्थान पर डा० जैनिग्ज़ ने सविधान मे राजनीतिक सिद्धान्तो को दे देने पर आश्चर्य प्रकट करते हुए पूछा है कि "ऐसे सिद्धान्तो को २०वीं शताब्दी के मध्य में देने की क्या आवश्यकता थी जो इगलैंड में १९वी शताब्दी में उपयुक्त समझे जाते थे।"[2] आगे वह कहता है कि "सविधान के चौथे भाग के विचारो को काफ़ी समय तक पढा जायगा, सम्भव है कि वे एक पीढी से भी अधिक मान्य रहें। इस समय इस बात को दृढतापूर्वक नही कहा जा सकता कि उक्त निर्देशक तत्त्व २१वी शताब्दी में भी उपयुक्त रहेंगे, क्योंकि तब तक सम्भवत यह सविधान प्रभावी रहेगा। किन्तु अधिक सम्भावना यही है कि ये तत्त्व उस समय तक अत्यधिक पुराने और असगत हो जायेंगे।"

किन्तु उक्त आलोचको से विनम्र निवेदन है कि यद्यपि भारतीय सविधान के चतुर्थ भाग के सिद्धान्त न्यायालयो में न्याय योग्य अथवा प्रवर्त्तनीय नही हैं फिर भी उनको निरर्थक कहना अत्यधिक अनुचित होगा। जैसा कि बताया भी जा चुका है, "ऐसी सविधानिक घोषणाओ का यही उद्देश्य होता है कि सविधान में कल्याणकारी राज्य के मानवीय अधिकारो का समावेश हो जाये।"[3] राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्त कल्याणकारी राज्य के आदर्श की घोषणा करते हैं और इस तथ्य पर बल देते हैं कि भारत का पूर्वगामी राज्य केवल नियामक (Regulatory) था किन्तु उसके स्थान पर अब लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो चुकी है। अनुच्छेद ३८ मे कहा गया है कि राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की, जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी सस्थाओ को अनुप्राणित करे, भरसक कार्यसाधक रूप में स्थापना और सरक्षण करके लोक-कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा। अनुच्छेद ३९ में कहा गया है कि राज्य अपनी नीति का विशेष रूप से ऐसा सचालन करेगा कि सभी नागरिको को जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त करने का अवसर मिलेगा। देश के साधनो का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार बँटा होगा, जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन हो। आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि धन और उत्पादन के साधनों का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी केन्द्रण न हो। पुरुषो और स्त्रियो दोनो का समान कार्य के लिए समान वेतन हो। श्रमिक पुरुषो और स्त्रियो के स्वास्थ्य और शक्ति तथा बालको की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग न हो तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिको को

---

[1] Some characteristics of the Indian Constitution p 31

[2] Some characteristics of the Indian Constitution, p 33

[3] Ibid

ऐसे रोजगारो मे न जाना पडे, जो उनकी आयु अथवा उनकी शक्ति के अनुकूल न हो। इसके अतिरिक्त राज्य प्रयत्न करे कि सभी को आजीविका के पर्याप्त अवसर हो, सभी के रहन-सहन का स्तर उच्चतर बनाया जाय और सार्वजनिक स्वास्थ्य की उन्नति हो। शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग से सरक्षण हो। राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य के भीतर और विकास की सीमाओ के भीतर काम पाने के, शिक्षा पाने के तथा बेकारी, बुढापा, बीमारी और अग-हानि तथा अन्य अभाव की दशाओ मे सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने का यथाशक्ति प्रयत्न करेगा। इसके अतिरिक्त सभी के लिए मुफ्त और अनिवार्य शिक्षा होगी तथा कृषि की उन्नति और सामूहिक सगठन की ओर विशेष ध्यान दिया जायगा।[1] सक्षेप में देश में आर्थिक लोकतन्त्र का विकास होगा।[2]

राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तो को न्याय योग्य और कठोर न बनाकर इसमें एक लाभ ही हुआ। नीति के निर्देशक तत्त्व राज्य से आशा करते हैं कि वह कुछ अस्ति (positive) प्रकार के कर्त्तव्य अवश्य करेगा, किन्तु राज्य के कृत्य समय और अवस्थाओ के अनुसार ही हुआ करते हैं। समय तीव्र गति के साथ बदलता चलता है और उसी प्रकार अवस्थाएँ भी तीव्र गति के साथ बदलती हैं, और तदनुसार ही न्याय के सम्बन्ध में हमारे विचार भी बदलते रहते हैं। यदि राज्य की नीति को सर्वसाधारण की आवश्यकताओ की पूर्ति के हित मे लगाना अभीष्ट है, और यदि राज्य की नीति न्याय-भावना के भी अनुकूल है, तो यह, न तो उचित होता और न व्यवहारिक ही होता यदि हम अपने नीति के निर्देशक तत्त्वो को कठोर अथवा न्याय योग्य (enforcable) बना डालते। राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वो का स्पष्टीकरण करते हुए और उनके महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डा० अम्बेदकर ने सविधान सभा में कहा था. "नीति के निर्देशक सिद्धान्तो की भाषा को हमने ऐसा स्वरूप दिया है, जिससे ऐसा प्रतीत होता होगा कि वे न तो स्थायी हैं और न कठोर हैं। हमने विभिन्न समय के और विभिन्न विचारो के लोगो के लिए पर्याप्त अवसर देने का प्रयास किया है कि वे अपने-अपने विचारो के अनुसार आर्थिक लोकतन्त्र स्थापित करने का प्रयास करें, और अपने विचारो एव रुचि के अनुकूल निर्वाचको पर प्रभाव डालें। मेरे विचार से यही आर्थिक लोकतन्त्र के स्थापित करने का सर्वोत्तम उपाय है और केवल इसी प्रकार आगे आने वाली नस्लो को अपने मनचाहे तरीके से कार्य करने का पूर्ण अवसर दिया जा सकता है।"[3]

राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वो पर यद्यपि न्यायालयो के द्वारा अमल नहीं कराया जा सकता, फिर भी सविधानिक तथ्यो के बारे में इन तत्त्वो का प्रभाव न्यायालयो के निर्णयो पर पडे बिना नही रह सकता। स्वर्गीय प्रमुख न्यायाधीश केनिया (Kania) ने कहा था "राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्त सविधान के अग हैं इसलिए उनको बहुमत दल की इच्छा मात्र मान लेना ग़लत होगा। ये तत्त्व तो सारे

---

[1] अनुच्छेद ३९।

[2] Constituent Assembly Proceedings, Vol. VII, p 494-495.

[3] Ibid

राष्ट्र की इच्छा के प्रतीक हैं, जिनको उस सविधान सभा के माध्यम से व्यक्त किया गया है, जिसको समस्त देश की सर्वोच्च विधि निर्मित करने के लिए आज्ञा दी गई थी।"[1] "जहाँ तक राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्व सविधानिक शासन-व्यवस्था के अग हैं और जहाँ तक उनमें व्यक्त राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक आदर्श देश के शासन में मूलभूत हैं, स्पष्टत न्यायालयो का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे इन पवित्र सिद्धान्तो का आदर करें, ताकि समय-समय पर जो राजनीतिक दल आवेंगे या जायेंगे, उनका इन तत्त्वो पर विपरीत और अनुकूल प्रभाव न पडने पावे।" निर्देशक तत्त्वो से यह आशा की जाती है कि उनमें निहित आदर्श राष्ट्रीय नीतियो मे एकरूपता और निरन्तरता बनाए रखेंगे और न्यायालयो का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि यह नीति की निरन्तरता और एकरूपता दलगत नीतियो का खिलौना बनकर न रह जाय और किसी समय इसका विकृत स्वरूप सामने न आने लगे।

इसके अतिरिक्त, लोक-हित में बहुत से मूल अधिकारो पर उचित और न्याय्य मर्यादाएँ आरोपित कर दी गई हैं। अत जब न्यायालय उन मूल अधिकारो का निर्वचन करेंगे जो न्याय योग्य हैं, तो न्यायालयो का कर्त्तव्य होगा कि वे उन नियमो को भी व्याख्या करेंगे जिनके अनुसार उन्हें यह निर्णय करना होगा कि उचित अथवा न्याय्य (reasonable) क्या है और सार्वजनिक हित (public interest) क्या है। और ऐसा करते समय उनको नीति के निर्देशक तत्त्वो पर विचार करना ही होगा, क्योंकि सविधान उक्त निर्देशक तत्त्वो को देश के शासन में मूलभूत मानता है। यह बात सूर्यपालसिह बनाम उत्तर प्रदेश वाले मामले में स्पष्टत सम्मुख आ चुकी है।[2] "सार्वजनिक उद्देश्य अथवा लोकहित और सार्वजनिक नीति अथवा लोकनीति का भेद स्पष्ट हो जायगा यदि सार्वजनिक नीति का यह अर्थ लिया जाय कि यह उस राजनीतिक दल की नीति है जो किसी समय सत्तारूढ है। किन्तु लोक-हित (public purpose) और लोक-नीति (public policy) का विभेद समाप्त हो जाता है यदि लोक-नीति से मतलब उस राज्य-नीति अथवा नीति से है जो सविधान में स्पष्टतया दे दी गई है और जिस नीति के सिद्धान्त देश के शासन में मूलभूत स्वीकार कर लिये गए हैं। यदि कोई विधि किसी निश्चित उद्देश्य को लेकर निर्मित की गई है, और जिसको सविधान में राज्य की नीति का निर्देशक सिद्धान्त मानकर रखा गया है, वह निश्चय ही लोक-हित प्रदर्शित करती है। इसलिए यदि उत्तर प्रदेश जमीदारी-उन्मूलन और भूमि सुधार कानून, १९५१ (U P Zamindari Abolition and Land Reform Act I of 1951) के अनुसार जमीदारो की सम्पत्ति छिन गई, किन्तु यदि उक्त सम्पत्ति हरण राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वो की क्रियान्विति अथवा उनके ऊपर अमल करने के अभिप्राय से हुआ, तो यह हरण भी सविधान के उपबन्धो के अनुकूल ही लोक-हित (public purpose) के लिए ही हुआ, और इस विषय में न्यायालयो को यह सोचने की आवश्यकता नही है कि विधि के अन्य अर्थों में उक्त

---

[1] गापालन बनाम मद्रास राज्य।

[2] A. I R 1951 A, p 674

सम्पत्ति हरण उचित है अथवा नही । इस प्रश्न का उत्तर देने के लिए न्यायालय को इस बात की आवश्यकता नही है कि वह उन समस्त साधनो पर विचार करे जो विधानमण्डल के उद्देश्य को सार्थक करने के लिए अधिनियम (Act) में उपबन्धित हैं । न्यायालय उसको न तो स्वीकार ही करेंगे और न अस्वीकार ही करेंगे । यू० पी० (U. P.) अधिनियम ने सम्पत्ति का अर्जन (acquisition) किया है, इसका उद्देश्य किसी न किसी राज्य-नीति के निर्देशक सिद्धान्तों का ही कार्यान्वित करना है, अत वह लोक-हित (public purpose) के लिए है ।

इसलिए केवल इस कारण, कि नीति निर्देशक तत्त्वो पर न्यायालयो के द्वारा अमल नही कराया जा सकता, उक्त तत्त्वो का सविधानिक महत्त्व नष्ट नहीं हो जाता । इन तत्त्वो का उल्लघन भी उतना ही असविधानिक है जितना कि किसी ऐसे उपबन्ध का उल्लघन असविधानिक माना जाएगा जिस पर न्यायालय द्वारा अमल कराया जा सकता है । यदि सरकार ऐसी नीति पर चले जो निर्देशक सिद्धान्तो का अतिक्रमण करती हो, तो उक्त नीति असविधानिक मानी जाएगी । और कोई भी ऐसा मन्त्रि-मण्डल जो सर्वसाधारण के प्रति उत्तरदायी है, कभी ऐसा दुस्साहस नही करेगा । श्री एलेन ग्लैडहिल ने ठीक ही कहा था "यदि भारतीय सविधान को अपना पवित्र स्वरूप बनाए रखना है और यदि इसको स्थायी रहना है तो किसी भी लोक-प्रिय मन्त्री के लिए ऐसा व्यवस्थापन प्रस्तावित करना कठिन होगा जिसका आधार मौलिक अधिकार अथवा निर्देशक तत्त्व न हो । मौलिक अधिकारो अथवा निर्देशक तत्त्वो से विरोध रखने वाले वैधिक प्रस्तावो को विरोधी दल असविधानिक कहकर अस्वीकृत कर देंगे ।"[1]

ससदीय शासन-प्रणाली में शासन के सभी कृत्यो पर विरोधी दल की आलोचक आँखें टकटकी लगाये रहती हैं । सर्वसाधारण और उनके नेता कठिन आलोचक दृष्टि से शासन के क्रियाकलापो को देखते हैं और वे किसी शासन की सफलता अथवा असफलता उस लक्ष्य-प्राप्ति के आधार पर करते हैं जो उस शासन ने सविधान के मार्ग को अपनाकर प्राप्त किया हो । यदि कोई शासन ऐसी नीति पर चलता है, जो सविधान के सिद्धान्तो के अनुकूल है और जो सर्वसाधारण की न्याय भावना के अनुसार कार्य करता है, उसको सदैव सर्वसाधारण का समर्थन प्राप्त होता रहेगा और ऐसा शासन सत्तारूढ रहेगा, किन्तु यदि कोई शासन इसके विरुद्ध चलता है, तो उसे शासन-सत्ता त्यागनी होगी । इस प्रकार प्रबुद्ध जनमत ही राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वो के पीछे शक्ति है । इस प्रकार यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि वैधिक रूप से सविधान के भाग ४ के निर्देशक तत्त्वो को न्यायालयो द्वारा न्याय योग्य नही ठहराया जा सकता, फिर भी उक्त सिद्धान्तो के पीछे लोकमत का समर्थन है जो आम चुनावो के द्वारा व्यक्त होता है । और लोकतन्त्र की पीठ पर वास्तविक शक्ति तो जनमत की ही होती है ।

और यदि यह भी स्वीकार कर लिया जाय कि राज्य की नीति के निर्देशक

---

[1] The Republic of India, op. citd p 162

तत्त्व पवित्र सकल्प अथवा श्रेष्ठ नैतिक आदर्श हैं, तो उक्त तत्त्वो का महत्त्व है ही। एलेन ग्लैडहिल ने लिखा है कि, "अनगिनती व्यक्तियो के जीवन नैतिक आदर्शों के फलस्वरूप सुधरे हैं, और यह भी कठिन नही है कि ऐसे उदाहरण अवश्य मिल जावेंगे जब कि उच्च नैतिक आदर्शों से राष्ट्रो के इतिहास पर प्रभाव पडा है।"[1] अग्रेज जाति के अधिकारो के विकास में मैग्नाकार्टा (Magnacarta) नामक अधिकार पत्र का भारी प्रभाव पडा है और "ससद् द्वारा पारित अनेको अधिनियमो को निश्चित रूप से मैग्नाकार्टा का जात कहा जा सकता है।"[2] १७७६ की अमरीकी स्वतन्त्रता घोषणा की प्रस्तावना (Preamble) ने उक्त देश के सामाजिक और राजनीतिक विकास का पथ-प्रदर्शन किया है। यद्यपि उक्त प्रस्तावना न तो अमेरिकी सविधान का अग है और न जिन सिद्धान्तो को उक्त प्रस्तावना में अङ्गीकृत किया गया है, उन्हें न्यायालयो द्वारा न्याय योग्य ठहराया जा सकता है। सक्षेप में कहा जा सकता है कि जिस प्रकार मैग्नाकार्टा के उपबन्धो ने सदैव ब्रिटिश न्यायाधीशो के निर्णयो पर प्रभाव डाला है, और जिस प्रकार अमेरिकी स्वातन्त्र्य-घोषणा की प्रस्तावना (Preamble) ने अमेरिका के न्यायाधीशो के निर्णयो पर प्रभाव डाला है, उसी प्रकार नीति के निर्देशक तत्त्व भा भारत सरकार की नीति का निर्माण भी करेंगे, और मार्ग-दर्शन भी करेंगे, उस समय उनके निर्णयों पर भी उक्त तत्त्व अवश्य प्रभाव डालेंगे।

किन्तु निर्देशक तत्त्वो की सफलता वास्तव में भारत के सर्वसाधारण और उनकी राजनीतिक शिक्षा पर अवलम्बित होगी। प्रो० लास्की (Pof laskı) ने ठीक ही कहा था "सडे हुए चमडे या काग़ज के टुकडे (Musty parchments) अर्थात् सविधान के काग़ज पवित्र माने जा सकते हैं, किन्तु उक्त चमडे के या काग़ज के पन्ने सविधान के आदर्शों की पूर्ति नही करा सकते।"[3] सविधान की वास्तविक सफलता सर्वसाधारण की सतर्कता और उनकी सामाजिक चेतना पर ही निर्भर करती है। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ सविधान भी केवल काग़ज के ढेर मात्र रह जायेंगे यदि उस देश के नागरिक सार्वजनिक मामलो में उदासीनता अथवा लापरवाही से काम ल। यह पुरानी कहावत है कि लोगो को वैसा ही शासन प्राप्त होता है जिस प्रकार के शासन के वे लोग योग्य होते हैं। इसलिए यह भारतीय लोगो के ही हाथो में है कि वे सविधान से पूरा लाभ उठावें और जो अवसर सविधान ने दिए हैं उनसे लाभ प्राप्त करें चाहे वे अवसर अथवा सविधानिक उपबन्ध न्याय योग्य (Justıcıable) हो अथवा न हो। यदि भारत के नागरिक अपने नागरिक कर्त्तव्यो की उपेक्षा करें और यदि सत्तारूढ राजनीतिक दल राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वो के अनुसार आचरण न करे, तो इसमें सविधान का दोष नही होगा। इसीलिए वारम्वार कहा जा रहा है कि वडे पैमाने पर सभी वर्गों को और सर्वसाधारण को राजनीतिक शिक्षा प्रदान की जाए और उक्त शिक्षा के द्वारा उचित जनमत के प्रकाशन की अवस्था का निर्माण किया जाए। इस उद्देश्य की प्राप्ति के हेतु यह आवश्यक है कि

---

[1] The Republıc of Indıa, op cıtd, p 161

[2] Gooch, R K. The Government of England, p 64.

[3] Laskı A Grammar of Polıtıcs, p. 103,

प्रत्येक स्कूली छात्र और छात्रा को भारतीय स्कूलो में मौलिक अधिकारो और नीति के निर्देशक तत्त्वो के सम्बन्ध में शिक्षा दी जाए।

राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वों का वर्गीकरण (Classification of the Directive Principles)—राज्य की नीति के निर्देशक तत्त्वो के अध्याय के प्रथम तीन अनुच्छेद (अनुच्छेद ३६, ३७ और ३८) सामान्य प्रकृति के हैं जिनमें सामान्य परिभाषाएँ, वैधिक मान्यता और सामान्य उद्देश्य दिये गये हैं। शेष अनुच्छेदो को हम सुविधा के लिए तीन भागो में वर्गीकृत कर सकते हैं—(१) वे अनुच्छेद जो भारत को कल्याणकारी राज्य वनाना चाहते हैं, (२) वे अनुच्छेद जो भारत को गाधीवादी राज्य अथवा राम राज्य वनाना चाहते हैं, और (३) वे अनुच्छेद जो अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को वढाना चाहते हैं।

(१) अनुच्छेद ३८ उपवन्धित करता है कि राज्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था की जिसमें सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय राष्ट्रीय जीवन की सभी संस्थाओ को अनुप्राणित करे, भरसक कार्यसाधक रूप में स्थापना और संरक्षण करके लोक कल्याण की उन्नति का प्रयास करेगा। इस प्रकार लोक कल्याण की उन्नति ही वह उद्देश्य है जिसकी प्राप्ति सविधान करना चाहता है और उस दिशा मे ऐसी सामाजिक व्यवस्था स्थापित करना चाहता है जिसमे सभी को सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक न्याय प्राप्त हो। इस प्रकार हमारे सविधान के दो मुख्य उद्देश्य हैं, लोक कल्याण और न्याय। अनुच्छेद ३९ वह मार्ग वताता है जिसके अनुसरण के द्वारा लोक कल्याण और न्याय सभी को प्राप्त हो सकें और इस प्रकार नई समाज-व्यवस्था का आधार स्थापित हो सके। इस भाग के अन्य अनुच्छेद प्राय इसी अनुच्छेद की विशद व्याख्या करते हैं, और प० जवाहरलाल नेहरू के शब्दो में वे ऐसे जाति-विहीन और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना का आदर्श उपस्थित करते हैं जिसकी प्राप्ति शान्तिपूर्ण और सहयोगपूर्ण आधार पर होगी। उक्त उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राज्य अपनी नीति का विशेपतया ऐसा संचालन करेगा कि सुनिश्चित रूप से—

(क) सभी नागरिको को अर्थात् पुरुषो और स्त्रियों को समान रूप[1] से जीविका के पर्याप्त साधन प्राप्त हो सकें,

(ख) देश के साधनो अथवा समुदाय की भौतिक सम्पत्ति का स्वामित्व और नियन्त्रण इस प्रकार वँटा हो जिससे सामूहिक हित का सर्वोत्तम रूप से साधन[2] हो सके,

(ग) आर्थिक व्यवस्था इस प्रकार चले कि जिससे धन और उत्पादन के साधनो का सर्वसाधारण के लिए अहितकारी[3] केन्द्रण न हो सके,

(घ) पुरुषो और स्त्रियो दोनो को समान कार्य के लिए समान वेतन[4] हो;

(ङ) श्रमिक पुरुषो, स्त्रियो और वालको के स्वास्थ्य और शक्ति तथा वालको

---

[1] अनुच्छेद ३९ (क)।

[2] अनुच्छेद ३९ (ख)।

[3] अनुच्छेद ३९ (ग)।

[4] अनुच्छेद ३९ (घ)।

की सुकुमार अवस्था का दुरुपयोग[1] न हो; तथा आर्थिक आवश्यकता से विवश होकर नागरिको को ऐसे रोज़गारो में न जाना पेड जो उनकी आयु या शक्ति के अनुकूल न हो,

(च) शैशव और किशोर अवस्था का शोषण से तथा नैतिक और आर्थिक परित्याग[2] से सरक्षण हो,

(छ) राज्य अपनी आर्थिक सामर्थ्य के अनुसार यथाशक्ति काम पाने के, शिक्षा पाने तथा बेकारी, बुढ़ापा, बीमारी और अग-हानि तथा अन्य अनर्ह अभाव की दशाओ में सार्वजनिक सहायता पाने के अधिकार को प्राप्त कराने का कार्य साधक उपबन्ध करेगा,[3]

(ज) राज्य काम की यथोचित और मानवोचित दशाओ का तथा प्रसूति सहायता के लिए उपबन्ध करेगा,[4]

(झ) राज्य श्रमिको के निर्वाह, मजूरी तथा शिष्ट जीवन-स्तर आदि का प्रबन्ध करेगा ताकि अवकाश और आराम के समुचित उपभोग की दशाओ तथा सामाजिक और सास्कृतिक उन्नति की दशाओं को प्राप्त कराया जा सके,[5]

(ञ) राज्य सब बालको को चौदह वर्ष की अवस्था समाप्ति तक नि शुल्क और अनिवार्य शिक्षा देने के लिए उपबन्ध करने का प्रयास करेगा,[6]

(ट) राज्य अपने लोगों के आहार पुष्टितल और जीवन-स्तर को ऊँचा करने तथा लोक-स्वास्थ्य के सुधार को अपने प्राथमिक कर्त्तव्यो में से मानेगा,[7]

(२) कतिपय नीति निर्देशक सिद्धान्त गाधी जीवन-व्यवस्था पर आधारित हैं और वे गाधी जी के सपनों का अहिसक राज्य निर्माण करते हैं:

(क) राज्य ग्राम पचायतो का सगठन करेगा और उन्हें ऐसी शक्तियाँ और अधिकार प्रदान करेगा जो उनको स्वायत्त शासन की इकाइयो के रूप में कार्य करने योग्य बना सकें,[8]

(ख) राज्य ग्रामो में कुटीर उद्योगो को वैयक्तिक तथा सहकारी आधार पर बढ़ाने का प्रयास करेगा।[9]

उपरोक्त दोनो उपबन्ध सर्वोदय प्राप्त करने के उद्देश्य को इगित करते हैं। प्रो० श्रीमन्नारायण अग्रवाल[10] का कथन है कि सर्वोदय अथवा शुद्ध समाजवाद, विकेन्द्रीकृत अर्थ-व्यवस्था (decentralized economy) और समष्ट्यात्मक लोकतन्त्र (composite democracy) के आधार पर गाधीवादी समाज-व्यवस्था स्थापित करना चाहता है। गाधीवादी समाज-व्यवस्था का आधार स्वतन्त्र एव

---

[1] अनुच्छेद ३९ (ड)।

[2] अनुच्छेद ३९ (च)।

[3] अनुच्छेद ४१।

[4] अनुच्छेद ४२।

[5] अनुच्छेद ४३।

[6] अनुच्छेद ४५।

[7] अनुच्छेद ४०।

[8] अनुच्छेद ४०।

[9] अनुच्छेद ४३।

स्वायत्तशासी ग्राम पचायतें (Village Communities) ही होगी। भारत की अर्थ-नीति सम्बन्धी वाद-विवाद का श्रीगणेश करते हुए भारतीय वित्त मन्त्री श्री सी० डी० देशमुख ने कहा था कि बडे उद्योगो का उत्तरोत्तर विकास वाछनीय है क्योकि इससे राष्ट्रीय हित होगा, किन्तु साथ ही ग्रामीण गृह-उद्योगो का भी विकास आवश्यक है क्योकि ग्रामीण कुटीर उद्योगो से अधिक लोगो को रोजगार प्राप्त होगा और सर्वसाधारण की आय बढेगी।' प्रधान मन्त्री ने वादविवाद मे हस्तक्षेप करते हुए कहा था कि हम नि स्सन्देह शान्तिपूर्ण आधार पर सभी के सहयोग से जाति-विहीन और वर्ग-विहीन समाज की स्थापना करना चाहते हैं। उन्होने यह भी कहा कि देश मे सब से बडा प्राइवेट खण्ड छोटे-छोटे खेतो वाले किसानो का है।"

(ग) राज्य जनता के दुर्बलतर विभागो के, विशेषतया अनुसूचित जातियो और अनुसूचित आदिम जातियो के शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितो की विशेष सावधानी से उन्नति करेगा तथा सामाजिक अन्याय तथा सब प्रकार के शोषण से उनका संरक्षण करेगा,[1]

(घ) राज्य विशेषतया स्वास्थ्य के लिए हानिकर मादक पेयो और औषधियो, औषधीय प्रयोजनो से अतिरिक्त उपभोग का प्रतिषेध करने का प्रयास करेगा,[2]

(ङ) राज्य कृषि और पशु-पालन को आधुनिक और वैज्ञानिक प्रणालियों से सघटित करने का प्रयास करेगा,[3]

(च) राज्य गायो और बछडो तथा अन्य दुधारू और वाहक ढोरो की नस्ल के परिरक्षण और सुधारने के लिए तथा उनके वध का प्रतिषेध करने के लिए अग्रसर होगा,[4]

(छ) राज्य, राष्ट्रीय महत्त्व वाले तथा ऐतिहासिक अभिरुचि वाले स्थानो और स्मारको तथा चीजो का सरक्षण करें;[5] और

(ज) राज्य देश की न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् करे, तथा समस्त देश के लिए एक व्यवहार-विधि (Civil code) का प्रचलन करे।[6]

(३) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति के सम्बन्ध में,

(क) राज्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की उन्नति का प्रयास करे,[7]

(ख) राज्य, राष्ट्रो के बीच न्याय और सम्मानपूर्ण सम्बन्धो को बनाये रखने का प्रयास करे,[8]

(ग) राज्य, अन्तर्राष्ट्रीय विधि और सधि बन्धनो के प्रति आदर बढाने का प्रयत्न करे;[9]

(घ) राज्य, अन्तर्राष्ट्रीय विवादो में मध्यस्थता द्वारा निवटारे का प्रयास करे और तदर्थ प्रोत्साहन दे।[10]

---

[1] अनुच्छेद ४६।
[2] अनुच्छेद ४७।
[3] अनुच्छेद ४८।
[4] अनुच्छेद ४८।
[5] अनुच्छेद ४९।
[6] अनुच्छेद ५०।
[7] अनुच्छेद ५१ (क)
[8] अनुच्छेद ५१ (ख)।
[9] अनुच्छेद ५१ (ग)
[10] अनुच्छेद ५१ (घ)।

अनुच्छेद ५१ के उपबन्धो के अनुसार हमारे देश की विदेश-नीति पूरी तरह क्रियान्वित हो रही है, और प० जवाहरलाल नेहरू की शक्तियुक्त और क्रियाशील तटस्थता की नीति (Doctrine of Dynamic Neutrality) भी सविधान के अनुच्छेद ५१ का ही व्यावहारिक स्वरूप है। भारत का सहअस्तित्व (Co-existence) में पूर्ण विश्वास, उसकी पचशील (Panch Shila) की हिमायत, और इन महानतम शान्ति और परस्पर-सहिष्णुता के सिद्धान्तों का भारत द्वारा स्वीकार कर लिया जाना ही स्वतन्त्र भारत की ससार को बहुत भारी देन माना जायगा। सत्य यह है कि भारत ने ससार को विनाश से बचा लिया है। माइकेल फुट (Michael Foot) ने लिखा है "शक्ति हम सभी को बिगाडती है और ससार स्वतन्त्र भारत का ऋणी है कि उसने हम सभी को बल्कि सारे ससार को शक्ति-जन्य दोषो से बचाया है, नही तो सम्भव था कि हम सभी विनाश के गर्त्त में पहुँच गये होते।[1] पचशील के पाँच प्रसिद्ध सिद्धान्तो,[2] (क) सब देशो द्वारा परस्पर एक दूसरे देश की प्रादेशिक अखण्डता एव प्रभुसत्ता का सम्मान, (mutual respect for each others territorial integrity and sovereignty), (२) परस्पर अनाक्रमण (Non-aggression), (३) आर्थिक, राजनीतिक या सैद्धान्तिक कारणो से परस्पर किसी देश के आन्तरिक मामलो में हस्तक्षेप का अभाव (non-interference in other's internal affairs for any reasons, either of an economic, political or ideological character), (४) परस्पर लाभ की समानता (equality and mutual benefit), और (५) शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व (peaceful co-existence), ने बडे-बडे राज्यो के प्रधान अधिकारियो के दिमागो में से युद्ध की सम्भावनाओं को दूर कर दिया है।

Suggested Readings

Aggarwala, Om Prakash	Fundamental Rights and Constitutional Remedies 2 Vols
Banerjee, D. N	Some aspects of our Fundamental Rights, The Indian Journal of Political Science, Oct -Dec 1950
Basu, Durgadas	Commentary on the Constitution of India, (1952), pp 52-238
	Constituent Assembly Proceedings, Vol VII

---

[1] The Tribune, Independence Number, August 15, 1955.

[2] पचशील सिद्धान्त की तृतीय धारा का सशोधन करके ही मौस्को (Moscow) में भारत और सोवियत् यूनियन के प्रधान मंत्रियों ने सम्मिलित घोषणा करते हुए पचशील में विश्वास प्रकट किया था। प्रारम्भ में तृतीय धारा इस प्रकार थी "परस्पर किसी देश के आन्तरिक मामलों में हस्तक्षेप का अभाव।" किन्तु सशोधन ने निम्न शब्द और जोड़ दिये "आर्थिक, राजनीतिक या सैद्धान्तिक

Chitaley, V. V. and Appu Rao, S.	The Constitution of India, (1954), Vol I, pp. 133-863
Gledhill, A.	The Republic of India, chapter 11.
Jennings, I	: Some characteristics of the Indian Constitution, chapters III & IV.
Mukerjee, K P	Limits of the Right of Association, Indian Journal of Political Science, July-September, 1952
	Report of the Minorities Sub-Committee of the Advisory Committee, Constituent Assembly Proceedings, Vol III
Petrocinio De Souza, J	Freedom of Religion under the Indian Constitution, Indian Journal of Political Science, July-September 1952
Sharma, Bodhraj	Effect of the Amendments to the Indian Constitution on the civil liberties of the Indian citizen, Indian Journal of Political Science, July-September 1952
Shree Ram Chandra Dash	Civil liberty in India 1947, Indian Journal of Political Science, July-September 1952

अध्याय ४

केन्द्रीय शासन

(Government at the Centre)

राष्ट्रपति

(The President)

भारत का राष्ट्रपति (The President of India)—भारत के सविधान ने व्यवस्था की है कि भारत का एक राष्ट्रपति[1] होगा। सघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होगी, और सघ के रक्षाबलो का सर्वोच्च समादेश राष्ट्रपति में निहित होगा।[2] किन्तु राष्ट्रपति उक्त कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग सविधान[3] के अनुसार करेगा, और सविधान ने उपबन्धित किया है कि राष्ट्रपति को अपने कृत्यो का सम्पादन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान, प्रधान मन्त्री होगा।[4] जब उक्त उपबन्ध को सविधान के अन्य उपबन्धों के साथ पढा जाएगा, तो, राष्ट्रपति की सवैधानिक स्थिति स्पष्ट हो जाएगी। अनुच्छेद ७५ (३) के अन्तर्गत, मन्त्रि-परिषद् लोकसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी। अनुच्छेद ७८ (क) के अन्तर्गत प्रधान मन्त्री का कर्त्तव्य होगा कि वह सघ कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी मन्त्रि-परिषद् के समस्त विनिश्चयो को राष्ट्रपति को पहुँचावे। पुन अनुच्छेद ७८ (ग) उपबन्धित करता है कि प्रधान मन्त्री का कर्त्तव्य होगा कि राष्ट्रपति की अपेक्षा करने पर कोई विषय, जिस पर किसी मन्त्री ने विनिश्चय कर दिया हो किन्तु मन्त्रि-परिषद् ने विचार नही किया हो, मन्त्रि-परिषद् के सम्मुख विचारार्थ रखवायेगा।

उक्त सब उपबन्धो से यही ध्वनि निकलती है कि भारत के राष्ट्रपति को अपने उत्तरदायी मन्त्रियो की मन्त्रणा पर ही चलना होगा, यद्यपि सघ की समस्त कार्यपालिका सत्ता राष्ट्रपति में ही निहित है और भारत सरकार के समस्त कार्यपालिका कृत्य राष्ट्रपति के नाम से किए हुए कहे जायेंगे।[5] सविधान में ऐसा उपबन्ध नही है जिसमें राष्ट्रपति को शासन के सभी कृत्यो के लिए उत्तरदायी ठहराया गया हो। इसके विपरीत मन्त्रि-परिषद् को लोकसभा के प्रति उत्तरदायी ठहराया गया है। मन्त्रि-परिषद् को लोकसभा के प्रति उत्तरदायी ठहराना उचित न होता यदि कार्यपालिका सम्धन्धी निर्णयो का अन्तिम अधिकार सविधान ने मन्त्रियो में निहित न किया होता। अनुच्छेद ७८ के खण्ड (क) और (ग) मन्त्रियो को उक्त अधिकार स्पष्ट

---

[1] अनुच्छेद ५२।

[2] अनुच्छेद ५३ (१)।

[3] Ibid

[4] अनुच्छेद ७४ (१)।

[5] अनुच्छेद ७७ (१)।

शब्दो में देते हैं यद्यपि कुछ विद्वानो ने उक्त खण्डो को सदिग्ध अर्थो में ग्रहण किया है।[1] खण्ड (क) उपबन्धित करता है कि प्रधान मन्त्री प्रशासन सम्बन्धी, मन्त्रि-परिषद् के समस्त विनिश्चय राष्ट्रपति के पास पहुँचावे। खण्ड (ग) उपबन्धित करता है कि यह प्रधान मन्त्री का कर्त्तव्य होगा कि राष्ट्रपति की अपेक्षा करने पर प्रधान मन्त्री किसी ऐसे विषय को जिस पर किसी मन्त्री ने तो विनिश्चय कर दिया हो किन्तु मन्त्रि-परिषद् ने विचार नही किया हो, मन्त्रि-परिषद् के समक्ष उसके विचारार्थ रखे। इसलिए 'विनिश्चय' (Decision) शब्द का प्रयोग निश्चित रूप से यही बताता है कि समस्त विनिश्चय मन्त्री और मन्त्रि-परिषद् ही करते है और सविधान ने उनको मन्त्रणा या सलाह देने भर के लिए मन्त्री नही बनाया है। मन्त्रियो की राय आवश्यकत मान्य है और राष्ट्रपति द्वारा मन्त्रियो के विनिश्चयो का तिरस्कार असवैधानिक होगा। प्रारूप समिति के चेयरमैन डा० अम्बेदकर ने सविधान के निर्माताओ की इच्छाओ पर प्रकाश डालते हुए स्पष्ट शब्दो में कहा था "हमारे राष्ट्रपति की वही सवैधानिक स्थिति है जो अग्रेजी सविधान में राजा की है। वह राष्ट्र का प्रधान अवश्य है किन्तु कार्यपालिका-प्रधान नही है। वह राष्ट्र का प्रतिनिधि अवश्य है किन्तु वह देश का शासक नही है। वह सामान्यत मन्त्रियो की मन्त्रणा मानने के लिए बाध्य है। वह मन्त्रियो की मन्त्रणा के विरुद्ध कुछ नही कर सकता।" कुछ इसी प्रकार के विचार सविधान के तत्कालीन सभापति डा० राजेन्द्रप्रसाद ने, जो इस समय हमारे राष्ट्रपति हैं, व्यक्त किए थे। उन्होने कहा था, "यद्यपि सविधान में स्पष्ट उपबन्ध नही है जिससे राष्ट्रपति को मन्त्रियो की मन्त्रणा मानना आवश्यक होता किन्तु ऐसी आशा की जाती है हमारे देश में भी ऐसी ही प्रथा अथवा अभिसमय स्थापित हो जाएगा जैसा कि इगलैड मे है, जिसके अनुसार राजा सदैव मन्त्रियो की मन्त्रणा पर ही चलता है, और इस प्रकार हमारा राष्ट्रपति भी सभी निर्णयो में 'सवैधानिक राष्ट्रपति' (Constitutional President) की भाँति ही आचरण करेगा।" लावेल (Lowell) ने उपर्युक्त अभिसमय (Convention) की अच्छे ढग से व्याख्या की है। वह कहता है "सविधान का प्राचीन सिद्धान्त यह था कि मन्त्री लोग राजा के उपदेष्टा (Counsellors) या समुपदेष्टा होते थे। मन्त्री लोग सलाह अथवा मन्त्रणा देते थे किन्तु सम्राट् विनिश्चय करता था। अब पासा पलट गया है। राजा से मन्त्रणा ली जाती है, किन्तु मन्त्री लोग विनिश्चय करते हैं।" भारत के सविधान ने भी विनिश्चय करने का अधिकार मन्त्रियों और मन्त्रि-परिषद् का दिया है।

संसदीय शासन-प्रणाली ही क्यों (Why Parliamentary System of Government Was Chosen)?—ससदीय शासन-प्रणाली में राज्य के प्रधान की नितान्त आवश्यकता है, चाहे वह प्रधान राजा हो या राष्ट्रपति हो किन्तु वास्तविक अधिकारी, उत्तरदायी मन्त्री लोग ही होते हैं जो शासन का निर्माण करते है और

---

[1] Srivastava, V N "The Union Executive in the Constitution of India", published in the Indian Journal of Political Science' Oct-December 1950, pp 19-20. Also refer to Dr. B M. Sharmas, Article in the same issue, p. 6

शासन चलाते हैं। किन्तु जब सविधान ने राष्ट्रपति की व्यवस्था की और उसका निर्वाचन एक विशेष निर्वाचकमण्डल से कराया, तो फिर भारतीय सविधान के निर्माताओ ने ससदीय शासन-प्रणाली को ही क्यो चुना ? इसका उत्तर स्वय सविधान के निर्माताओ ने ही दिया है।[1] वे ऐसी शासन-व्यवस्था स्थापित करना चाहते थे जो स्थायी हो और साथ ही उत्तरदायी भी हो, और उक्त निर्णय करते समय उन्होने उत्तरदायी शासन-व्यवस्था को अधिक महत्त्व दिया। इसलिए उन्होने ऐसी शासन-व्यवस्था स्थापित की जिसकी 'नीति की परीक्षा अथवा 'जिसकी नीति का 'मूल्य निर्धारण' प्रतिदिन होता चले (Daily Assessment of Policy) न कि पर्याप्त समय के पश्चात् (Periodic Assessment) जैसा कि अमरीका की शासन-व्यवस्था में होता है। इसके अतिरिक्त अमरीका की शासन-व्यवस्था में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में सम्पर्क (Cohesion) नही है। उक्त दोनो विभागो में सामजस्य केवल राजनीतिक दलीय निष्ठा का है, किन्तु दलीय निष्ठा ऐसा आवश्यक बन्धन नही है जिसके कारण दोनो विभागो की नीति समान दिशा में चले। अमरीका के शासन में नीति सम्बन्धी सामजस्य और उत्तरदायित्व का प्राय अभाव रहा है और इस कमी को अमरीका के राजनीतिज्ञो ने भय के साथ देखा है और इसीलिए बारम्बार कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच सामजस्य लाने के लिए अनेको उपाय सुझाये गये हैं, यद्यपि उस दिशा में अभी कोई सुधार नही हुआ है। भारत ऐसा सकट मोल लेने को तैयार नही था। लगभग १५० वर्षों की पराधीनता के बाद भारत को तुरन्त ऐसी शासन-व्यवस्था की आवश्यकता थी जो सर्वसाधारण की आवश्यकताओ के प्रति जागरूक भी हो और सर्वसाधारण के प्रति उत्तरदायी भी हो ताकि राष्ट्रीय विकास की अनेको नीतियो और योजनाओ पर सुचारु रूप से अमल किया जा सके और शासन के विभिन्न अगो और विभागो में तनिक भी विरोध या सघर्ष न हो। इसके अतिरिक्त भारत को ससदीय शासन-प्रणाली का कुछ ज्ञान भी था। १९३७ से भारतीय प्रान्तो में ससदीय शासन-प्रणाली के अनुसार सफलतापूर्वक शासन चल भी रहा है। ससदीय शासन-प्रणाली अत्यधिक जटिल व्यवस्था नही है और हमारे सर्वसाधारण उन सिद्धान्तो से पूर्व परिचित थे जिन पर उक्त व्यवस्था आधारित है। इसीलिए हमारे सविधान के निर्माताओ ने ससदीय शासन ही श्रेयस्कर समझा। और इस प्रकार की शासन प्रणाली में राष्ट्रपति को राज्य का प्रमुख बनाने से कोई विशेष असगति नही है।

राष्ट्रपति की अर्हताएँ और उपलब्धियाँ (Qualifications and Compensation of the President)—सविधान ने उपबन्धित किया है कि राष्ट्रपति भारत का नागरिक हो, पैंतीस वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो तथा लोकसभा के लिए सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता रखता हो।[2] किन्तु यह शर्त है कि कोई व्यक्ति जो

---

[1] Constituent Assembly Proceedings, Vol VII, p 32-33

[2] अनुच्छेद ५८। अमरीका के सविधान में राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध में निम्न उपबन्ध हैं, "केवल वही व्यक्ति अमरीका का राष्ट्रपति निर्वाचित हो सकता है जो अमरीका में पैदा हुआ हो अथवा इस सविधान की स्वीकृति के समय सयुक्त राज्य का नागरिक रहा हो, ऐसा कोई व्यक्ति

भारत सरकार के अधीन अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन अथवा किसी स्थानीय शासन के अधीन कोई लाभ का पद धारण किए हुए है, वह राष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र न होगा। लेकिन इस सम्बन्ध में कोई व्यक्ति लाभ का पद धारण किए हुए केवल इसी कारण नहीं समझा जायगा कि वह भारत का राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति या किसी राज्य का राज्यपाल या राजप्रमुख या उपराजप्रमुख है, अथवा संघ या किसी राज्य का मन्त्री है। इसके अतिरिक्त राष्ट्रपति संसद् के किसी सदन का अथवा किसी राज्य के विधानमण्डल के सदन का सदस्य नहीं होगा। यदि उक्त संस्थाओं का कोई सदस्य राष्ट्रपति के पद के लिए निर्वाचित हो जाए तो पद ग्रहण करते ही उसकी सदस्यता समाप्त हो जायगी।[1] राष्ट्रपति के चुनाव में प्रत्याशियों द्वारा कोई गड़बड़ी न हो, इसलिए संविधान ने राष्ट्रपति के निर्वाचन का अधीक्षण, निदेशन और नियन्त्रण करने के लिए उक्त अधिकार एक 'निर्वाचन आयोग' (Election Commission) में विहित किया है, और उक्त निर्वाचन आयोग संसद् के नियन्त्रण में कार्य करेगा।[2] राष्ट्रपति या उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न या संसक्त सब शंकाओं और विवादों की जांच और विनिश्चय उच्चतम न्यायालय करेगा और उसका विनिश्चय अन्तिम होगा।[3] उक्त निर्वाचन से उत्पन्न विवाद और शंकाएँ किस प्रकार निर्णीत की जायें, यह विधि एवं प्रक्रिया स्वयं उच्चतम न्यायालय ही तय करेगा।

संसद् ही राष्ट्रपति का वेतन और अन्य उपलब्धियां, भत्ते और विशेषाधिकारों के सम्बन्ध में निर्णय करेगी।[4] किन्तु राष्ट्रपति की उपलब्धियां और भत्ते उसके पद की अवधि में न तो बढ़ाये जा सकते हैं और न घटाये जा सकते हैं।[5] वेतन और भत्तों के अतिरिक्त राष्ट्रपति को बिना किराया दिए अपने पदावासों के उपयोग का हक होगा। जैसा कि द्वितीय अनुसूची में उल्लिखित है, राष्ट्रपति का वेतन १०,००० रुपये प्रति मास होगा और संसद् ने यही स्वीकार किया है।

राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित नहीं हो सकेगा जिसने ३५ वर्ष की आयु पूर्ण न कर ली हो और जो राष्ट्रपति निर्वाचित होते समय संयुक्त राज्य अमरीका में कम से कम १४ वर्षों तक न रह चुका हो।" अनुच्छेद ११, खण्ड २ उपखण्ड (५)।

राष्ट्रपति के निर्वाचन के सम्बन्ध में आयर्लैण्ड (Ireland) के संविधान में निम्न उपबन्ध है "प्रत्येक नागरिक जिसने ३५ वर्ष की आयु पूर्ण कर ली हो, राष्ट्रपति के पद पर निर्वाचित हो सकता है।" अनुच्छेद १२ (४) (१)।

[1] अनुच्छेद ५९ (१)। आयर्लैण्ड के संविधान के अनुच्छेद १२ में उपबन्ध है, "(१) राष्ट्रपति विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य नहीं होगा, (२) यदि विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य राष्ट्रपति निर्वाचित हो जाता है तो उसे अपनी विधानमण्डल की सदस्यता त्यागनी होगा; एवं (३) राष्ट्रपति अपनी पदावधि में और कोई लाभ का पद धारण नहीं करेगा।"

[2] अनुच्छेद ३२४।

[3] अनुच्छेद ७१।

[4] अनुच्छेद ५९।

[5] १९ १ के राष्ट्रपति पेंशन अधिनियम के अनुसार उपबन्धित किया गया है कि यदि राष्ट्रपति पदावधि समाप्त हो जाने के कारण या त्याग-पत्र दे देने के कारण अपने पद से अलग हो जाए, उसे १५,००० रु० वार्षिक पेंशन शेष जीवन भर मिलती रहेगी। यदि वह पुनर्निर्वाचित हो जाय तो उक्त पेंशन नहीं मिलेगी। राष्ट्रपति की पेंशन भारत की संचित निधि में से दी जायगी।

पदावधि (Term of Office)—राष्ट्रपति पाँच वर्षों तक अपने पद पर बना रहता है और वह पुनर्निर्वाचित हो सकता है।[1] किन्तु वह अपनी पदावधि में भी त्यागपत्र दे सकता है और ग्लैडहिल का विचार है कि "यदि राष्ट्रपति और उसकी मन्त्रि-परिषद् में विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाए, तो राष्ट्रपति सम्भवत. त्यागपत्र दे सकता है।"[2] सविधान ने उपबन्धित किया है कि राष्ट्रपति अपना त्यागपत्र उपराष्ट्रपति को सम्बोधित करेगा और उपराष्ट्रपति उक्त सूचना, तुरन्त लोकसभा के अध्यक्ष को देगा।[3] राष्ट्रपति, सविधान का अतिक्रमण करने पर महाभियोग द्वारा अपने पद से हटाया जा सकेगा,[4] यद्यपि उक्त अनुच्छेद ने 'सविधान के अतिक्रमण' वाक्याश (Violation of the Constitution) पर प्रकाश नही डाला है। अमरीका के सविधान के अनुसार केवल देशद्रोह, रिश्वत और अन्य दुराचार अथवा अपराधो पर ही राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग लगाया जा सकता है।[5] आयर्लैंड के सविधान ने उपबन्धित किया है कि दुराचारी सिद्ध हो जाने पर राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जा सकता है।[6] बर्मा के सविधान के अनुसार राष्ट्रपति पर देशद्रोह, सविधान का अतिक्रमण और भ्रष्ट दुराचार के कारण महाभियोग लगाया जा सकता है।[7]

भारतीय सविधान के अनुच्छेद ६१ ने विस्तारपूर्वक वह सारी प्रक्रिया वर्णित की है जिसके अनुसार राष्ट्रपति पर महाभियोग लगाया जायगा। राष्ट्रपति पर महाभियोग चलाने के लिए ससद् का कोई सदन दोषारोप करेगा। ऐसा दोषारोप तब तक नही किया जायगा जब तक कि ऐसे दोषारोप की प्रस्थापना किसी सकल्प में न हो, जो कम से कम चौदह दिन की ऐसी लिखित सूचना के दिये जाने के पश्चात् प्रस्तुत किया गया है, जिस पर उस सदन के कम से कम एक चौथाई सदस्यो ने हस्ताक्षर कर के, उस सकल्प को प्रस्तावित करने का विचार प्रकट किया है, तथा उस सदन के समस्त सदस्यो के कम से कम दो तिहाई बहुमत से ऐसा सकल्प पारित न किया गया हो। जब दोषारोप ससद् के किसी सदन द्वारा इस प्रकार किया जा चुके तब दूसरा सदन उस दोषारोप का अनुसन्धान करेगा या करायेगा।[8] राष्ट्रपति को उक्त अनुसन्धान में उपस्थित होने का तथा अपना प्रतिनिधित्व कराने का अधिकार होगा। यदि अनुसधान के फलस्वरूप, राष्ट्रपति के विरुद्ध किये गये दोषारोप की सिद्धि को घोषित करने वाला सकल्प दोषारोप के अनुसन्धान करने या कराने वाले सदन के समस्त सदस्यो के कम से कम दो-तिहाई बहुमत से पारित हो जाता है तो ऐसे सकल्प का प्रभाव उसकी पारण तिथि से राष्ट्रपति का अपने पद से हटाया जाना होगा।

---

[1] अनुच्छेद ५७।

[2] The Republic of India, op citd, p 99

[3] अनुच्छेद ५६ (२)।

[4] अनुच्छेद ५६ (१) (ख)।

[5] Article ii s 4

[6] आयर्लैण्ड का सविधान, अनुच्छेद १२ (१०) (i)।

[7] अनुच्छेद ५४। (बर्मा का सविधान)

[8] भारतीय सविधान के अनुच्छेद ६१ के खण्ड (३) को अनुच्छेद ३६१(१) के साथ पढ़िये

अमरीका के संविधान ने, जो ब्रिटिश आदर्श पर आधारित है, लोकप्रिय सदन अर्थात् प्रतिनिधि सदन (House of Representatives) को अधिकार दिया है कि वह महाभियोग की कार्रवाई करे। कार्रवाई प्रारम्भ करने के बाद, सदन एक विशेष समिति नियुक्त करता है जिसमें सदन के ही सदस्य होते हैं और उक्त समिति से दोषारोप में अनुसन्धान करने के लिए कहा जाता है। इसके उपरान्त यह समिति सदन से सिफारिश कर सकती है कि अभियोग सूची को महाभियोग के अन्तर्नियमो (Articles of impeachment) में संलग्न कर दिया जाए और उचित कार्रवाई हेतु सीनेट के पास प्रेषित कर दिया जाए। जब यह हो चुकता है, सीनेट एक न्यायालय के रूप में परिवर्तित हो जाता है और उसका सभापति सर्वोच्च न्यायालय का प्रमुख न्यायाधीश बनता है और उक्त सीनेट न्यायालय के रूप में महाभियोग सुनता है। दोषारोप की सिद्धि के लिए उपस्थित सीनेट सदस्यो के दो-तिहाई सदस्यो का समर्थन प्राप्त होना आवश्यक है।[1]

पुनर्निर्वाचन योग्यता (Eligibility for re-election)—राष्ट्रपति की पुनर्निर्वाचन योग्यता के सम्बन्ध में भारतीय संविधान ने कोई बाधा या आयन्त्रण नही लगाया है। इसका तात्पर्य यह है कि कोई व्यक्ति कितनी ही बार राष्ट्रपति निर्वाचित हो सकता है, चाहे लगातार कई पदावधियो के लिए चाहे अन्यथा। संविधान ने तो केवल यही उपबन्ध किया है कि "कोई व्यक्ति जो राष्ट्रपति के रूप में पद धारण कर रहा है अथवा कर चुका है इस संविधान के अन्य उपबन्धों के अधीन रहते हुए, उस पद के लिए पुनर्निर्वाचन का पात्र होगा।" अमरीका के संविधान का २२वाँ संशोधन उपबन्धित करता है कि कोई व्यक्ति अधिक से अधिक दो पदावधियों के लिए राष्ट्रपति चुना जा सकता है। आयर्लैण्ड का संविधान उपबन्धित करता है कि राष्ट्रपति अधिक से अधिक एक बार अपने पद के लिए पुनर्निर्वाचित हो सकता है।[2] बर्मा के संविधान ने भी राष्ट्रपति के केवल एक पुनर्निर्वाचन की आज्ञा दी है।[3] किन्तु भारतीय संविधान में इस प्रकार का कोई उपबन्ध न होने के कारण भारत मे राष्ट्रपति कई कई बार पुनर्निर्वाचित हो सकता है यदि वह लगातार सर्वसाधारण का विश्वास-भाजन बना रहे। भारतीय संविधान मे कई कई बार राष्ट्रपति के पुनर्निर्वाचन की सम्भावना आपत्तिजनक है क्योंकि इससे अधिनायकत्व की गन्ध निकलती है। किन्तु आशा की जाती है कि भारत भी इस सम्बन्ध में अन्य लोकतन्त्रात्मक देशों का अनुसरण करता हुआ राष्ट्रपति के लिए अधिक से अधिक दो पदावधियो की आज्ञा करेगा।

राष्ट्रपति के पद की रिक्तता-पूर्त्ति (Succession to Presidency)—संविधान ने उपबन्धित किया है कि राष्ट्रपति की पदावधि की समाप्ति अथवा उसकी मृत्यु अथवा उसका त्यागपत्र या पदच्युति के कारण हुई रिक्तता की पूर्त्ति कर ली जाए।

---

[1] अमरीका में अब तक केवल एक राष्ट्रपति एण्ड्रू जॉन्सन (Andrew Johnson) पर ही महाभियोग चला था किन्तु वह केवल एक मत से अपदस्थ होने और दोषी सिद्ध होने से बच गया। सीनेट ने तीन मास तक महाभियोग के विचार करने के लिए न्यायालय के रूप में कार्य किया था।

[2] आयर्लैण्ड के संविधान का अनुच्छेद १२ (३) (ii)।

[3] बर्मा के संविधान का अनुच्छेद ४.४८ (२)।

राष्ट्रपति की पदावधि की समाप्ति से हुई रिक्तता की पूर्ति के लिए निर्वाचन, अवधि-समाप्ति से पूर्व ही पूर्ण कर लिया जायगा। यदि नये राष्ट्रपति का निर्वाचन न हो सके तो पिछला राष्ट्रपति ही उस समय तक अपने पद से अलग नही होगा जब तक कि उसका उत्तराधिकारी राष्ट्रपति-पद पर न आवे।[1] राष्ट्रपति की मृत्यु या किसी अन्य कारण से सिवाय पदावधि की समाप्ति से हुई उसके पद की रिक्तता की पूर्ति के लिए निर्वाचन, रिक्तता होने की तारीख के पश्चात् यथासम्भव शीघ्र और हर अवस्था में छ मास बीतने के पहिले किया जायगा।[2] जब तक नया राष्ट्रपति निर्वाचित होकर अपना पद न सम्हाले, उपराष्ट्रपति ही राष्ट्रपति के पद पर कार्य करेगा[3] और उन सब कर्त्तव्यो का निर्वहन करेगा जो राष्ट्रपति के पद से सम्बन्ध रखते हैं।[4]

सयुक्त राज्य अमरीका (U S A) के सविधान ने भी ऐसी सम्भावना के लिए उपबन्ध किया है। किन्तु अमरीका के सविधान ने ऐसी व्यवस्था नही की है जिसके अनुसार कोई उपराष्ट्रपति अपने राष्ट्रपति का स्थान ऐसी स्थिति में ग्रहण कर सके जबकि राष्ट्रपति अपने कर्त्तव्यो का निर्वहन करने योग्य न रहे और जबकि राष्ट्रपति स्वय अपनी अशक्यता और अयोग्यता का अनुभव न करे। अमरीका के किसी राष्ट्रपति ने आज तक ऐसा नही किया यद्यपि गारफील्ड (Garfield) और विल्सन (Wilson) कई कई महीने तक अपने कर्त्तव्यो का निर्वहन नही कर सके। यहाँ तक कि कई राष्ट्रपति जैसे वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson), फ्रेंकलिन रूजवेल्ट (Franklin Roosevelt) और हैरी ट्रूमैन (Harry Truman) पर्याप्त समय तक सयुक्त राज्य अमरीका से बाहर रहे किन्तु उनकी अनुपस्थिति को भी 'उनके कार्य करने की अशक्यता' नही माना गया। अमरीका के सविधान की ही तरह भारतीय सविधान ने भी ऐसी व्यवस्था नही की है, जिससे उपराष्ट्रपति ऐसे राष्ट्रपति का स्थान ले सके जो स्वय इस बात का अनुभव नही करता कि वह अपने कर्त्तव्यो के निर्वहन के अयोग्य है।

निर्वाचन विधि (Mode of Election)—हमारे राष्ट्रपति के निर्वाचन की विधि मौलिक है और ऐसी विधि किसी अन्य सविधान ने नही दी है। राष्ट्रपति का निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचकगण के सदस्य करेंगे जिसमें (क) ससद् के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्य तथा (ख) राज्यो की विधान सभाओ के निर्वाचित सदस्य होगे। इस प्रकार राष्ट्रपति का निर्वाचन जनता के प्रतिनिधि, करते हैं, और नागरिक लोग उक्त निर्वाचन में सीधा भाग नही लेते। सविधान सभा ने राष्ट्रपति के चुनाव को अप्रत्यक्ष क्यो रखा इसके मुख्य कारण निम्न थे—

(१) सविधान ने देश के लिए ससदीय शासन-प्रणाली की व्यवस्था की है और इस प्रकार की शासन-व्यवस्था मे वास्तविक शक्ति मन्त्रिमण्डल और विधान-मण्डल मे निवास करती है जिनके सदस्यो को सर्वसाधारण प्रत्यक्षत निर्वाचित करते हैं। ऐसी व्यवस्था मे राष्ट्रपति को भी पूर्ण वयस्क मताधिकार के आधार पर निर्वाचित

---

[1] अनुच्छेद ६२ (१)।

[2] अनुच्छेद ६२ (२)।

[3] अनुच्छेद ६५ (१)।

[4] अनुच्छेद ६५ (२)।

कराना असंगत है, क्योकि इस प्रकार निर्वाचित राष्ट्रपति कह सकता है कि उसे शासन-सत्ता सीधे सर्वसाधारण से प्राप्त हुई है और तब वह मन्त्रिमण्डल और संसद् से विरोध की स्थिति उत्पन्न कर सकता है। हमारे संविधान के निर्माता चाहते थे कि "शासन का मन्त्रिमण्डलीय स्वरूप बना रहे और वास्तविक सत्ता मन्त्रिमण्डल और विधानमण्डल में निहित हो।" इस उद्देश्य की प्राप्ति का सबसे सरल उपाय यही था कि राष्ट्रपति का निर्वाचन अप्रत्यक्ष हो और इस प्रकार संघर्ष और राजनीतिक षड्यन्त्रो से यथासम्भव बचा जाये।

(२) यह भी भय था कि यदि राष्ट्रपति का प्रत्यक्ष निर्वाचन होगा तो उसके फलस्वरूप दलीय प्रतिद्वन्द्विता बढेगी और उसका फल देश की समस्त राजनीति पर पडेगा और उसके कारण समस्त सामाजिक जीवन का स्वरूप ही पूर्णत: बदल जायगा। राष्ट्रपति, उस अवस्था में किसी एक दल का प्रतीक बन जायगा या कई दलो के संगठन का एक हिमायती बन जायगा। उस अवस्था में राष्ट्रपति से यह आशा करना व्यर्थ होगा कि वह समस्त राष्ट्र के प्रतीक के रूप मे मध्यस्थ और तटस्थ की तरह कार्य करेगा। यदि राष्ट्रपति लोकप्रिय आधार पर निर्वाचित होता है, तो वह अपनी शक्ति और अधिकार का इस प्रकार प्रयोग कर सकता है कि सत्तारूढ दल संकोची स्थिति में पड सकता है, और यदि लोकप्रिय राष्ट्रपति का सत्तारूढ दल से विरोध हो जाए तो राष्ट्रपति, स्थिति का अनुचित लाभ उठाकर राष्ट्र का नायक (hero) बनने का प्रयत्न भी कर सकता है। भारत में प्राचीन काल से वीर पूजा (hero worship) की परम्परा रही है, किन्तु डा० अम्बेदकर इस वीर पूजा की परम्परा से इतना भय खाते थे कि उन्होने संविधान के तृतीय वाचन में वीर पूजा का विशेष रूप से जिक्र किया।[1]

(३) राष्ट्रपति के निर्वाचन के लिए निर्वाचकमण्डल, संसद् और राज्यो के विधानमण्डलो के सदस्यो से मिलकर बनता है, इसलिए सब लोगो को ऐसी आशा थी कि ऐसे निर्वाचकमण्डल द्वारा निर्वाचित राष्ट्रपति किसी दल विशेष का व्यक्ति न होकर सारे राष्ट्र की पसन्द का व्यक्ति होगा।

(४) भारत लगभग एक बडा महाद्वीप है जिसमे लगभग १७ करोड निर्वाचकगण हैं। प्रत्येक पाँच वर्ष बाद इतने बडे पैमाने पर प्रत्यक्ष चुनाव करने पर हर बार बहुत भारी निर्वाचन तैयारियो की आवश्यकता पडती। किन्तु जब हम अपने राष्ट्र-

---

[1] डा० अम्बेदकर ने कहा "लोकतन्त्र की रक्षार्थ दूसरी सावधानी, जिसको जॉन स्टुअर्ट मिल ने भी लोकतन्त्र की रक्षार्थ आवश्यक माना है, और यह कहा है कि "हम अपनी स्वतन्त्रता को किसी एक ही व्यक्ति के चरणों को अर्पित न कर दें, चाहे वह कितना ही बड़ा व्यक्ति क्यो न हो, और उस बडे व्यक्ति को वह सभी शक्तियां न दे डालें जिनके आधार पर वह सभी संस्थाओं का सर्वेसर्वा बन बैठे।" आगे डा० अम्बेदकर ने कहा कि "यह सतर्कता भारत में तो और भी आवश्यक है, क्योंकि हमारे देश में भक्ति या वीर पूजा को राजनीति में भी अत्यधिक स्थान प्राप्त है, सम्भवत संसार के किसी अन्य देश में भक्ति अथवा वीर पूजा को इतना महत्त्व न दिया जाता हो। धर्म में भक्ति की भावना से आत्मा की मुक्ति हो सकती है। किन्तु राजनीति में भक्ति अथवा वीर पूजा पतन के मार्ग पर ले जाती है, और अन्ततः अधिनायकवाद की स्थापना का मार्ग प्रशस्त करती है।"

नायक को केवल औपचारिक प्रधान मात्र बनाना चाहते हैं तो फिर इतना समय, धन और श्रम क्यो कर व्यर्थ किया जाए।

राष्ट्रपति के निर्वाचन की रीति (Procedure for the election of the President)—अनुच्छेद ५४ में उपबन्धित किया गया कि राष्ट्रपति का निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचकगण के सदस्य करेंगे जिसमें—(क) ससद् के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्य, तथा (ख) राज्यो की विधान सभाओ के निर्वाचित सदस्य होगे। उसके उपरान्त अनुच्छेद ५५ उपबन्धित करता है कि राष्ट्रपति का निर्वाचन अनुपाती प्रतिनिधित्व पद्धति (System of proportional representation) के अनुसार एकल-सक्रमणीय मत (single transferable vote) द्वारा होगा।[1] राज्यों में एकरूपता और समस्त राज्यो तथा सघ मे समतुल्यता[2] प्राप्त कराने के लिए सविधान ने उपबन्धित किया है, कि राष्ट्रपति के निर्वाचन मे भिन्न भिन्न राज्यों का प्रतिनिधित्व एक से मापमान से होगा। राज्यो और सघ मे एकरूपता और समतुल्यता प्राप्त करने के लिए निम्न विधि अपनायी जाती है।[3] इस विधि अथवा प्रक्रिया से भारतीय राष्ट्रपति की निर्वाचन-पद्धति कुछ जटिल हो गई है।

(१) विभिन्न राज्यो में प्रतिनिधित्व सम्बन्धी एकरूपता प्राप्त करने के उद्देश्य से उपबन्धित किया गया है कि किसी राज्य की विधान सभा के प्रत्येक निर्वाचित सदस्य के उतने मत होगे, जितने कि एक हजार के गुणित (multiples), उस भागफल मे हो जो राज्य की जनसख्या को उस सभा के निर्वाचित सदस्यो की सम्पूर्ण सख्या से भाग देने से आए। सक्षेप में कहा जा सकता है कि निर्वाचकगण के प्रत्येक सदस्य को, जो किसी राज्य के विधानमण्डल का सदस्य हो, निम्न सूत्र के अनुसार जितने मतो का अधिकारी होगा उतने मत प्राप्त होगे—

$$\frac{\text{किसी राज्य की सम्पूर्ण जनसख्या}}{\text{उसी राज्य की विधान सभा के निर्वाचित सदस्यो की सख्या}} \text{ को १००० से भाग}$$

तथा उक्त सख्या मे यदि भिन्न आवे तो आधे से अधिक भिन्न को एक गिना जायगा। सविधान के प्रारूप[4] मे निम्न उदाहरण प्रस्तुत किया गया है जिसके अनुसार उक्त हिसाब लगाया जा सकता है। सविधान का अनुच्छेद ५५ प्रारूप सविधान के अनुच्छेद ४४ के समान है।

'(1) मान लीजिए कि बम्बई प्रान्त अथवा राज्य की कुल सख्या २,०८,४९,८४० है। मान लीजिए कि बम्बई की विधान सभा के सदस्यो की सख्या २०८ है अर्थात् १ सदस्य लगभग एक लाख जनसख्या पर निर्वाचित हुआ है। यदि हम २,०८,४९,८४० को, जो बम्बई राज्य की जनसख्या है, २०८ से, जो उक्त विधान सभा

---

[1] अनुच्छेद ५५ खण्ड (३)।

[2] अनुच्छेद ५५ खण्ड (१) और (२)।

[3] अनुच्छेद ५५ खण्ड (२), उपखण्ड (क), (ख) और (ग)।

[4] प्रारूप सविधान के अनुच्छेद ४४ (२) पृष्ठ १७ पर नीचे की टीका देखिए।

के निर्वाचित सदस्यो की कुल सख्या है भाग दें तो १,००,२३९ भागफल आता है। इस भागफल में एक हज़ार के गुणित निकालने के लिए हम इसे १,००० से विभाजित करते हैं। यह हमे (२३९ के शेष को छोडते हुए जो ५०० से कम है), १०० गुणित देता है। इस प्रकार वम्बई विधान सभा के प्रत्येक सदस्य के १०० मत होगे।

(ii) दूसरा उदाहरण वीकानेर राज्य का ले लीजिए। मान लीजिए कि वीकानेर राज्य की कुल जन सख्या १२,९२,९३८ है। मान लीजिए कि वीकानेर के विधानमण्डल के निर्वाचित सदस्यो की सख्या १३० है (अर्थात् एक सदस्य लगभग १०,००० जनसख्या पर निर्वाचित हुआ है)। ऊपर वाले सूत्र के अनुसार यदि हम १२,९२,९३८ (अर्थात् जनसख्या) को १३० (अर्थात् निर्वाचित सदस्यो की सख्या) से भाग दे तो भागफल ९,९४५ आया। इसलिए वीकानेर के विधानमण्डल के प्रत्येक सदस्य को ९९४५/१००० अर्थात् १० मत या वोट देने का अधिकार होगा क्योकि ९४५ शेप आधे अर्थात् ५०० से अधिक है इसलिए उसे १,००० ही मान लिया गया।"

(२) समस्त राज्यो और समस्त सघ मे एकरूपता लाने के अभिप्राय से संसद् के प्रत्येक सदस्य के मत निम्न सूत्र के अनुसार निश्चित किये जायेंगे .

$$\frac{\text{सभी राज्यो के विधानमण्डलो के निर्वाचित सदस्यो के लिए निर्धारित मतसख्या}}{\text{ससद् के दोनो मदनो के निर्वाचित सदस्यो की मख्या,}}$$

उक्त सूत्र के अनुसार आधी से अधिक भिन्न को १ मान लिया जायगा। इस सम्बन्ध में सविधान के प्रारूप (Draft Constitution) में जो उदाहरण दिया गया है उसी को लेते हुए

मान लीजिये कि सभी राज्यो के विधानमण्डलो के सदस्यो को कुल मत ऊपर की गणना के अनुसार ७४,९४० मिले हैं और ससद् के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्यो की सख्या ७५० है, तो समद् के दोनो सदनो के सदस्यो को जितने मत राष्ट्रपति के निर्वाचन में प्राप्त होगे, वह जानने के लिए हमें ७४,९४० को ७५० से भाग देना होगा। इस प्रकार $\frac{७४९४०}{७५०} = ९९\frac{३३}{२५}$ अर्थात् १०० (क्योकि भिन्न $\frac{३३}{२५}$ आधे से अधिक है इसलिए १ मान लिया गया) है।

राष्ट्रपति द्वारा शपथ या प्रतिज्ञान (Oath or Affirmation by the President)—प्रत्येक राष्ट्रपति और प्रत्येक व्यक्ति जो राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा है अथवा उसके कृत्यो का निर्वहन करता है अपने पद ग्रहण करने से पूर्व भारत के मुख्य न्यायाधिपति अथवा उसकी अनुपस्थिति में उच्चतम न्यायालय के अन्य अग्रतम न्यायाधीश के समक्ष निम्न रूप से शपथ (Oath) या प्रतिज्ञान (Affirmation) करेगा और उस पर अपने हस्ताक्षर करेगा।[1] राष्ट्रपति जो शपथ

---

[1] "मैं" अमुक $\frac{\text{ईश्वर की शपथ लेता हूँ}}{\text{सत्य निष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ}}$ कि मैं श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति पद का कार्य पालन (अथवा राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन) करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता से सविधान और विधि का परिरक्षण और सरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा' और मैं भारत की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा।"

या प्रतिज्ञान करेगा उसके अनुसार भारत के राष्ट्रपति से आशा की जायगी कि वह

(i) श्रद्धापूर्वक भारत के राष्ट्रपति पद का कार्य पालन या राष्ट्रपति के कृत्यों का निर्वहन करेगा,

(ii) अपनी पूरी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करेगा, और

(iii) सदैव भारत की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहेगा।

अमरीका के राष्ट्रपति को भी अपने पद पर आसीन होने के पूर्व शपथ अथवा प्रतिज्ञान करना पड़ता है जिसमें उसे प्रतिज्ञा करनी होती है कि वह "निष्ठापूर्वक राष्ट्रपति के कर्त्तव्यों का निर्वहन करेगा और अपनी पूरी योग्यता से संयुक्त राज्य अमरीका के संविधान का परिरक्षण (Preserve), संरक्षण (Protect) और प्रतिरक्षण (Defend) करेगा।[1] यहाँ तक भारत और संयुक्त राज्य अमरीका समान हैं और शपथ या प्रतिज्ञान की भाषा दोनों देशों के संविधानों की एक सी है। सर्वसाधारण की सेवा और कल्याण सम्बन्धी प्रतिज्ञान के शब्द जो भारतीय संविधान में हैं, उनको आयर्लैंड के संविधान से लिया गया है।[2]

विलोबी (Willoughby) का विचार है कि किसी राज्य के कार्यपालिका प्रधान को जो अपने पद ग्रहण के पूर्व शपथ लेनी पड़ती है उससे न तो संविधान द्वारा प्रदत्त उसके अधिकारों और शक्तियों में वृद्धि होती है और न उसकी वैधिक शक्यताओं में कोई वृद्धि होती है।[3] ऐसी शपथ अथवा प्रतिज्ञान का कुछ नैतिक महत्त्व अवश्य है।

उपराष्ट्रपति

(The Vice-President)

उपराष्ट्रपति का पद (The Vice-Presidency)—संविधान ने उपराष्ट्रपति के पद की व्यवस्था की है और उक्त पद संयुक्त राज्य अमरीका के उपराष्ट्रपति के पद के अनुसार ही रखा गया है। अमरीका के उपराष्ट्रपति के समान ही भारतीय उपराष्ट्रपति को भी केन्द्रीय विधानमण्डल के उच्च सदन (राज्य सभा) का सभापति बनाया गया है। किन्तु संयुक्त राज्य अमरीका और भारत के उपराष्ट्रपतियों के पदों का साम्य यहीं समाप्त हो जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका में उपराष्ट्रपति के लिए भी वे ही अर्हताएँ रखी गई हैं जो राष्ट्रपति के लिए हैं, और वहाँ पर उसी प्रकार प्रत्यक्ष रूप से उसी निर्वाचकमण्डल (Electoral College) के द्वारा उपराष्ट्रपति भी निर्वाचित होता है जिस प्रकार कि राष्ट्रपति। इसका कारण भी स्पष्ट है। अमरीका में राष्ट्रपति के त्यागपत्र, मृत्यु अथवा उसकी पदच्युति

---

[1] अमरीका के संविधान का अनुच्छेद II, खण्ड I (८)।

[2] आयर्लैंड के संविधान का अनुच्छेद १२ (८)। इसके अतिरिक्त वर्मा के संविधान का भी अनुच्छेद ५१ देखिये। उक्त संविधान ने राष्ट्रपति से माँग की है कि "वह वर्मा के सब को सतर्कता से प्रत्येक हानि से बचाने का प्रयत्न करे।"

[3] Constitutional Law of the United States, vol 3, p 1473

के कारण रिक्तता की स्थिति मे उपराष्ट्रपति ही राष्ट्रपति का रिक्त स्थान लेता है और राष्ट्रपति की पदावधि के शेष समय तक वही राष्ट्रपति बना रहता है, जिस प्रकार कि फ्रेंकलिन डी० रूजवेल्ट (Franklin D Roosevelt) की मृत्यु पर हेरी ट्रूमैन (Harry Truman) राष्ट्रपति बन गया था। किन्तु इसके विपरीत भारत का उपराष्ट्रपति, स्थानापन्न राष्ट्रपति केवल थोडे से समय के लिए ही होता है और उक्त पद पर उस समय तक बना रहता है जब तक कि नया राष्ट्रपति सविधान के उपबन्धो के अनुसार निर्वाचित होकर अपना पद न सम्हाले।[1] सयुक्त राज्य अमरीका में राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति दोनो की पदावधियां समान हैं और दोनो अपनी-अपनी पदावधियो से पूर्व केवल महाभियोग के आधार पर ही हटाये जा सकते हैं। भारतीय उपराष्ट्रपति का निर्वाचन ससद् के दोनो सदन सम्मिलित सत्र में पाँच वर्ष की पदावधि के लिए करते हैं और उसको राज्य सभा (Council of States) के प्रस्ताव पर तथा लोक सभा (House of the People) की सहमति पर अपने पद से हटाया जा सकता है।

किन्तु दोनो पदो में सबसे अधिक विभिन्नता उक्त दोनो पदो के कर्त्तव्यो से सम्बन्धित है। भारतीय उपराष्ट्रपति पदेन (ex-officio) राज्य सभा का सभापति है और उसको इसी रूप मे वेतन मिलता है। राज्य सभा के सत्रो के विराम कालो में, वह सौहार्दपूर्ण दूतकर्म (goodwill mission) के लिए विदेशो के भ्रमण के लिए जा सकता है, जिस प्रकार कि डा० राधाकृष्णन् कई बार जा चुके हैं, किन्तु देश के शासन में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष कोई भाग भारतीय उपराष्ट्रपति नही लेता। न वह भारतीय सरकार का अधिकृत अधिवक्ता है। अमरीकी सविधान के निर्माता भी उपराष्ट्रपति के पद के प्रति विशेष उत्सुक नही थे। बेंजामिन फ्रेंकलिन (Benjamin Franklin) उपराष्ट्रपति के पद को इतना तिरस्कार योग्य समझते थे, कि उन्होने मज़ाक मे उपराष्ट्रपति को 'व्यर्थ के हिज हाईनेस जॉन एडम्स' कहा और यह भी कहा कि "आज तक उपराष्ट्रपति के पद से अधिक व्यर्थ का कोई पद सृजित नही किया गया है।" एक अन्य उपराष्ट्रपति ने अपनी स्थिति को स्पष्ट करते हुए कहा था कि मैं तो एक प्रकार से मिरगी अथवा अपस्मार के दौरे मे फँसा हूँ। अर्थात् "उपराष्ट्रपति को इतनी तो चेतना रहती है कि उसके चारो ओर क्या हो रहा है, किन्तु वह कुछ कर नही सकता।" किन्तु पिछले कुछ दिनो मे उपराष्ट्रपति पद के कृत्यो की सम्भावनाएँ विकसित हुई हैं। राष्ट्रपति हार्डिंग ने उपराष्ट्रपति कॉलिज (Collidge) को मन्त्रिमण्डल का कुछ काम सौंप दिया था। फ्रेंकलिन रूजवेल्ट ने हैनरी ए० वैलेस (Henry A Wallace) को कई उत्तरदायित्व सौंप रखे थे। यद्यपि उपराष्ट्रपति ट्रूमैन (Truman), राष्ट्रपति रूजवेल्ट (Roosevelt) से भिन्न प्रकृति का था फिर भी उपराष्ट्रपति ने राष्ट्रपति को कांग्रेस की अनेको समस्याओ को सुलझाने में सहायता दी थी। रिचर्ड निक्सन (Richard Nixon) पहिला उपराष्ट्रपति है जिनको नीति निर्धारण और नीति के स्पष्टीकरण का कार्य सौंपा गया है, और जो राष्ट्रपति का अभिन्न

---

[1] अनुच्छेद ६२ (२)।

साथी रहा है। राष्ट्रपति आइज़नहोवर (Eisenhower) स्वय जानते थे, कि जिस समय उपराष्ट्रपति ट्रूमैन (Truman) ने राष्ट्रपति रूज़वेल्ट (Roosevelt) की मृत्यु हो जाने पर राष्ट्रपति पद प्राप्त किया था, चारो ओर पूर्ण अव्यवस्था थी। चूंकि राष्ट्रपति की मृत्यु, त्यागपत्र या पदच्युति की स्थिति में उपराष्ट्रपति को ही राष्ट्रपति का पद सम्हालना पडता है, इसलिए इस समय यह राष्ट्रीय आवश्यकता है कि उपराष्ट्रपति देश के प्रशासन में क्रियात्मक सहयोग दे ताकि उसको बडी-बडी राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ का ज्ञान हो। इसीलिए राष्ट्रपति आइज़नहोवर (Eisenhower) ने अपने राष्ट्रपति की पदावधि के प्रारम्भ से ही चाहा है, कि उपराष्ट्रपति निक्सन (Nixon) प्रत्येक शासन से सम्बन्धित कागज को देखें, और राष्ट्रपति की अनुपस्थिति में मन्त्रिमण्डल की सभाओ का सभापतित्व करें और राष्ट्रीय रक्षा परिषद् (National Security Council) के कार्य का भी सचालन करें। भारत में ऐसा सम्भव नही होगा। भारतीय उपराष्ट्रपति को अमरीकन उपराष्ट्रपति की तरह शासन के शिक्षण की आवश्यकता नही है क्योकि वह तो केवल अत्यल्प काल के लिए ही राष्ट्रपति के रिक्त पद को लेता है और ज्योही राष्ट्रपति अपने कर्त्तव्यो पर आ जाता है, या यदि नए राष्ट्रपति का निर्वाचन होता है तो वह हट जाता है, और किसी भी स्थिति में राष्ट्रपति के पद की रिक्तता छ महीने से अधिक तक नही चलती।

उपराष्ट्रपति का निर्वाचन (Election of Vice President)—उपराष्ट्रपति का निर्वाचन ससद् के दोनो सदनो की सयुक्त बैठक में सानुपात प्रतिनिधित्व के अनुसार एकल सक्रमणीय मत के द्वारा गुप्त मतदान के अनुसार होगा।[1] कोई व्यक्ति उपराष्ट्रपति निर्वाचित होने का पात्र न होगा जब तक कि वह (क) भारत का नागरिक न हो, (ख) पैंतीस वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो, (ग) राज्य परिषद्[2] के लिए सदस्य निर्वाचित होने की अर्हता न रखता हो, (घ) यदि वह भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के आधीन अथवा किसी स्थानीय[3] प्राधिकारी के आधीन कोई लाभ का पद धारण करता है, (ङ) यदि वह ससद् के किसी सदन का अथवा किसी राज्य[4] के विधानमण्डल का सदस्य होगा। यदि कोई व्यक्ति ससद् के किसी सदन का सदस्य है या किसी राज्य के विधानमण्डल का सदस्य है, तो उसे उपराष्ट्रपति के पद पर आसीन होने से पहिले अपनी ससदीय या विधानमण्डलीय सदस्यता को त्यागना आवश्यक होगा।[5]

उपराष्ट्रपति की पदावधि ५ वर्ष है।[6] किन्तु वह अपनी सामान्य पदावधि[7] समाप्त होने के पहिले भी त्यागपत्र दे सकता है। उपराष्ट्रपति यदि अपना पद त्यागता है तो उसे त्यागपत्र राष्ट्रपति को सम्बोधित कर के देना पडेगा। यदि राज्य सभा के उपस्थित सदस्यो का बहुमत ऐसा सकल्प पास करे कि उपराष्ट्रपति हट जाय, और

---

[1] अनुच्छेद ६६ (१)।

[2] अनुच्छेद ६६ (३) (क), (ख) और (ग)।

[3] अनुच्छेद ६६ (४)।

[4] अनुच्छेद ६६ (२)।

[5] अनुच्छेद ६६ (२)।

[6] अनुच्छेद ६७।

[7] अनुच्छेद ६७ (क)।

यदि लोक सभा ने उक्त सकल्प स्वीकृत किया है तो उपराष्ट्रपति को अपने पद से हटना पडेगा। किन्तु इस आशय का कोई भी सकल्प तब तक प्रस्तावित न किया जायगा जब तक कि उपराष्ट्रपति को ऐसे प्रस्ताव के प्रस्तावित करने के अभिप्राय की सूचना कम से कम चौदह दिन पूर्व न दे दी गई हो।[1] किन्तु उपराष्ट्रपति अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी अपने उत्तराधिकारी के पद ग्रहण तक पद धारण किए रहेगा।[2] राष्ट्रपति के निर्वाचन की तरह से ही उपराष्ट्रपति के निर्वाचन से उत्पन्न सब शकाओ और विवादो की जांच और विनिश्चय उच्चतम न्यायालय करेगा और उसका विनिश्चय अन्तिम होगा।[3] अपने पद पर आसीन होने के पूर्व उपराष्ट्रपति या तो राष्ट्रपति के समक्ष या राष्ट्रपति द्वारा उस लिए नियुक्त किसी व्यक्ति के समक्ष शपथ या प्रतिज्ञान करेगा और उस पर अपना हस्ताक्षर करेगा।[4] वह शपथ लेकर प्रतिज्ञा करता है कि भारत के सविधान के प्रति निष्ठा और श्रद्धा रखेगा और अपने पद के कर्त्तव्यो का श्रद्धापूर्वक निर्वहन करेगा।

उपराष्ट्रपति के कर्त्तव्य (Duties of the Vice President)—उपराष्ट्रपति के दो प्रकार के कर्त्तव्य हैं। वह पदेन (ex-officio) राज्य सभा का सभापति है और उसकी सभाओ का सभापतित्व करता है और उसको इस पद के लिए ही वेतन मिलता है। उपराष्ट्रपति के पद का कोई वेतन नही है। किन्तु जब कुछ काल के लिए उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के स्थान पर कार्य करता है अथवा भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति के कर्त्तव्यो का निर्वहन करता है, तो वह उस काल मे राज्यसभा का सभापतित्व नही करता, अत उक्त काल में उसे राज्यसभा के चेयरमैन की हैसियत से मिलने वाला वेतन नही मिलता।

द्वितीयत, राष्ट्रपति की मृत्यु, पद-त्याग अथवा पद से हटाए जाने के कारण उसके पद में हुई रिक्तता की अवस्था में उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में उस समय तक कार्य करेगा जब तक नया राष्ट्रपति अपना पद ग्रहण करे[7] और नया राष्ट्रपति, राष्ट्रपति के पद की रिक्तता की तिथि के ६ मास के भीतर आ जाना चाहिए।[8] अनुपस्थिति, बीमारी अथवा अन्य किसी कारण से जब राष्ट्रपति अपने कृत्यो को करने में असमर्थ हो तब उपराष्ट्रपति उसके कर्त्तव्यो का निर्वहन उस तारीख तक करेगा जिस तारीख को कि राष्ट्रपति अपने कर्त्तव्यो को फिर से सभाले।[9] जब कि उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के रूप में कार्य करे और उसके कर्त्तव्यो का निर्वहन करे, उपराष्ट्रपति को राष्ट्रपति की सब शक्तियां और विमुक्तियां प्राप्त होगी तथा उसे वे सब उपलब्धियां, भत्ते और विशेषाधिकार प्राप्त होगे जो राष्ट्रपति को प्राप्त होते हैं।[10]

सविधान ने किसी को यह निर्णय करने का अधिकार प्रदान नही किया है कि

---

[1] अनुच्छेद ६७ (ख)।

[2] अनुच्छेद ६७ (ग)।

[3] अनुच्छेद ७१।

[4] अनुच्छेद ६६।

[5] अनुच्छेद ६७।

[6] अनुच्छेद ६४।

[7] अनुच्छेद ६५ (१)।

[8] अनुच्छेद ६२ (२)।

[9] अनुच्छेद ६५ (२)।

[10] अनुच्छेद ६५ (३)।

क्या राष्ट्रपति अपने कृत्यो को करने में असमर्थ है अथवा नही ? जब सविधान इस सम्बन्ध में मौन है तो इसका निर्णय स्वय राष्ट्रपति ही करेगा कि किसी समय वह अपने कृत्यों के निर्वहन के योग्य है अथवा नही। किन्तु यदि राष्ट्रपति ऐसा निर्णय करने में असमर्थ हो—आकस्मिक भयकर बीमारी के कारण—तो उस स्थिति में अनुच्छेद ७० के अनुसार ससद् उक्त सम्बन्ध में निर्णय कर सकती है। उक्त अनुच्छेद आदेश करता है "इस अध्याय में उपबन्धित न की हुई किसी आकस्मिकता में राष्ट्रपति के कृत्यो के निर्वहन के लिए ससद् जैसा उचित समझे वैसा उपबन्ध बना सकेगी।" सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान में इस प्रकार का कोई उपबन्ध नही है। उक्त सविधान के अनुच्छेद II खण्ड I (६) में उपबन्धित किया गया है "राष्ट्रपति की पदच्युति, मृत्यु, त्यागपत्र अथवा कर्त्तव्यो के निर्वहन सम्बन्धी उसकी अशक्यता से हुई रिक्तता की स्थिति में उक्त पद राष्ट्रपति के अधिकार में चला जायगा।" इस प्रकार भारतीय सविधान ने 'अशक्यता' (inability) के अर्थ स्पष्ट नही किए हैं, और किसी को यह निर्णय करने का अधिकार नही दिया है कि क्या किसी समय राष्ट्रपति किसी अशक्यता के कारण अपने कर्त्तव्यो के निर्वहन के लिए अशक्य है। सयुक्त राज्य के समूचे इतिहास में ऐसा अवसर कभी नही आया जब कि राष्ट्रपति अपने कर्त्तव्यो के निर्वहन के लिए आशक्य ठहराया गया हो और इस कारण उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के पद पर पहुँच गया हो।

राष्ट्रपति की शक्तियाँ और कर्त्तव्य

(The Powers and Duties of the President)

सविधान ने राष्ट्रपति को निम्न शक्तियाँ प्रदान की हैं

कार्यपालिका शक्तियाँ (Executive Powers)—सयुक्त राज्य अमरीका का राष्ट्रपति प्रशासन का मुखिया अथवा सर्वोच्च प्रशासक है। शासन के कुछ विभाग तो विधि द्वारा सीधे उसी के नियन्त्रण मे रख दिए गए हैं। कुछ अन्य विभाग उसके अधीक्षण और सचालन में हैं। किन्तु भारत के राष्ट्रपति को कोई प्रशासनिक कृत्य नही करने पडते और शासन के विभागो पर राष्ट्रपति को कोई अधीक्षण अथवा सचालन सम्बन्धी अधिकार प्राप्त नही है। सघीय अथवा केन्द्रीय शासन के विभिन्न विभागो के अध्यक्ष उत्तरदायी मन्त्री लोग हैं, और सब विभाग उन्ही के नियन्त्रण और उत्तरदायित्व मे कार्य करते हैं। राष्ट्रपति तो आवश्यक कडी के रूप में शासन के विभिन्न विभागो को जोडता है। यद्यपि राष्ट्रपति की शक्ति औपचारिक है, तथापि केन्द्रीय शासन की समस्त कार्यपालिका कार्रवाई राष्ट्रपति के नाम में ही की हुई कही जायगी।[1] सघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग मे की गई सब सविदायें राष्ट्रपति द्वारा की गई कही जायेंगी और वे राष्ट्रपति द्वारा निर्देशित रीति के अनुसार लिखी जायेंगी।[2] इसके अतिरिक्त सघ के सभी अधिकारी इसके अधीनस्थ अधिकारी हैं।[3]

---

[1] अनुच्छेद ७७।

[2] अनुच्छेद २९९ (१)।

[3] अनुच्छेद ५३ (१)।

राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह संघ कार्यों की प्रशासन सम्बन्धी समस्त जानकारी माँग सकता है।[1] राष्ट्रपति ही भारत सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किए जाने के लिए तथा मन्त्रियों में उक्त कार्य के बँटवारे के लिए आवश्यक नियम बनाता है।[2]

राष्ट्रपति ही प्रधान मन्त्री की नियुक्ति करता है तथा अन्य महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ भी वही करता है।[3] इन अन्य महत्त्वपूर्ण नियुक्तियों में संघ के अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति,[4] संघ के महान्यायवादी (Attorney General),[5] भारत के नियन्त्रक-महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor-General),[6] उच्चतम न्यायालय तथा उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति[7] और राज्यों के राज्यपालों (State Governors)[8] की नियुक्तियाँ भी सम्मिलित हैं। न्यायाधीशों को नियुक्त करने से पूर्व राष्ट्रपति को सेवारत न्यायाधीशों से पूछना होगा और वह इन नियुक्तियों को मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणा पर ही करेगा। जहाँ तक प्रधान मन्त्री की नियुक्ति का प्रश्न है राष्ट्रपति ऐसे व्यक्ति को ही प्रधान मन्त्री चुन सकता है जिसको लोकसभा का समर्थन होगा क्योंकि "प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा" और "मन्त्रिपरिषद् लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।"[9] सामूहिक उत्तरदायित्व तभी प्रवर्तित हो सकता है जबकि समस्त मन्त्रिमण्डल एक टीम की भाँति कार्य करे और जो टीम राजनीति का खेल एक ऐसे कप्तान के नेतृत्व में खेले जो लोकसभा के बहुमत दल का नेता हो। प्रधान मन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को कुछ छूट उस स्थिति में मिल सकती है जब लोक सभा में किसी भी एक दल का स्पष्ट बहुमत न हो। किन्तु उस स्थिति में भी राष्ट्रपति को ऐसे व्यक्ति को ही प्रधान मन्त्री चुनना चाहिए जिसे कुछ मन्त्रियों का सहयोग मिल सके और जो उन सहयोगियों के सहयोग से लोकसभा का सहयोग और विश्वास प्राप्त कर सके। इसलिए ऐसी स्थिति के उत्पन्न हो जाने पर भी राष्ट्रपति की वरीयता प्रधान मन्त्री की नियुक्ति के सम्बन्ध में राजनीतिक प्रभावों से आच्छादित रहती है। वैधिक रूप से भी वह मनमानी नहीं कर सकता क्योंकि संविधान का आदेश है कि वह संघ की कार्यपालिका शक्ति का निर्वहन संविधान के उपबन्धों के अनुसार ही कर सकता है।

राज्य के जिन उच्च अधिकारियों की नियुक्ति का राष्ट्रपति को अधिकार पिछले अनुच्छेद में बताया गया था, उनके अतिरिक्त राष्ट्रपति को निम्न प्रशासनिक आयोगों अथवा परिषदों को भी नियुक्त करने का अधिकार है एक अन्तर्राज्य परिषद् (An Inter State Council),[10] संघीय लोकसेवा आयोग (Union Public Service Commission), तथा राज्य आयोग या संयुक्त आयोग (Joint Commission for a group of states)[1], वित्त आयोग (Finance Commission),[2] निर्वाचन आयोग (Election Commission),[3] अनुसूचित प्रदेशो के प्रशासन पर प्रतिवेदन देने वाला आयोग (a Commission to report on the administration of Scheduled Areas),[4] अनुसूचित जातियो तथा अनुसूचित आदिमजातियो के लिए एक विशेष पदाधिकारी (a special officer for Scheduled Castes and Scheduled Tribes)[5] राज भाषा और भाषा आयोग (a Commission on Languages)[6] । पिछडे वर्गोंकी दशा सुधार सम्बन्धी आयोग (a Commissions to investigate into Conditions of backward classes)[7] । किन्तु उपर्युक्त सभी आयोगो अथवा परिषदो की नियुक्ति, राष्ट्रपति मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणा पर ही करता है ।

---

[1] अनुच्छेद ७८ (ख)।
[2] अनुच्छेद ७७ (३)।
[3] अनुच्छेद ७५ (१)।
[4] अनुच्छेद ७५ (१)।
[5] अनुच्छेद ७६ (१
[6] अनुच्छेद १४८ (१)।
[7] अनुच्छेद १२४ और २१७।
[8] अनुच्छेद १५५।
[9] अनुच्छेद ७५ (३)
[10] अनुच्छेद २६३।

अमरीका के राष्ट्रपति को अनेको ऐसे पदाधिकारियो को भी नियुक्त करने का अधिकार है जिनकी सविधान ने स्पष्ट आज्ञा नही दी है किन्तु भारतीय राष्ट्रपति को इस प्रकार की शक्ति नही है । समुचित विधानमण्डलो को अधिकार है कि वे अधिनियम के द्वारा सघ या किसी राज्य के कार्यों से सम्बद्ध लोक सेवाओ और पदो के लिए भर्ती का विनियमन करेंगे ।[8] सविधान ने सघ के लिए और प्रत्येक राज्य के लिए एक एक लोक सेवा आयोग (Public Service Commission) का उपबन्ध किया है ।[9] उक्त लोक सेवा आयोग सम्बन्धित शासन को सेवाओ और भर्त्ती के सम्बन्ध में सलाह देते हैं और उनकी मन्त्रणा को प्राय मान लिया जाता है ।

राष्ट्रपति को यह भी अधिकार है कि वह मन्त्री को अपने पद से हटा सकता है,[10] या भारत के महान्यायवादी (Attorney General for India)[11] को अथवा राज्यो के राज्यपालो को भी हटा सकता है ।[12] किन्तु राज्य के कार्यपालिका प्रधान द्वारा मन्त्री को पदच्युत कर देना ससदीय शासन प्रणाली का सार नही है । इगलैंड में १७८३ से आजतक राजा के द्वारा कोई भी सरकार पदच्युत नही की गई है और आज किसी राजा की यह हिम्मत नही हो सकती कि वह सरकार को अपदस्थ कर सके जबतक कि राजा भयकर जुआ खेलने को तैयार न हो, चाहे वैधिक रूप से राजा का यह अधिकार मान भी लिया जाए । अपने मन्त्रियों के सम्बन्ध में भारतीय राष्ट्रपति की वही स्थिति है जो इगलैंड के राजा की अपने मन्त्रियो के साथ है । डा० अम्बेदकर ने इस तथ्य पर सविधान सभा में बल दिया था । उन्होने कहा था "भारतीय गणराज्य और सयुक्त राज्य अमरीका के राज्यो

---

[1] अनुच्छेद ३१६ ।

[2] अनुच्छेद २८० ।

[3] अनुच्छेद ३२४ (२) ।

[4] अनुच्छेद ३३९ (१)

[5] अनुच्छेद ३३८ (१) ।

[6] अनुच्छेद ३४४ (१) ।

[7] अनुच्छेद ३४० ।

[8] अनुच्छेद ३०९ ।

[9] अनुच्छेद ३१५ ।

[10] अनुच्छेद ७५ (२) ।

[11] अनुच्छेद ७६ (४) ।

[12] अनुच्छेद १५६ (१) ।

के प्रधानो का नाम तो अवश्य एक-सा है किन्तु अमरीका की शासन-प्रणाली और भारतीय सविधान में प्रस्तावित शासन-प्रणाली में आकाश पाताल का अन्तर है।" इसके आगे उन्होने यह भी कहा कि "भारतीय शासन मे राष्ट्रपति की स्थिति केवल औपचारिक है, और उसकी नाम मुद्रा (seal) के सहारे राष्ट्र के सारे निर्णय किए जाएँगे। उसको प्राय अपने मन्त्रियो के निर्णयो को मानना ही होगा। वह मन्त्रियो की इच्छा के विरुद्ध कुछ भी नही कर सकेगा। इसके विपरीत अमरीका का राष्ट्रपति किसी भी समय अपने मन्त्री को हटा सकता है। भारतीय सघ के राष्ट्रपति को ऐसा अधिकार उस समय तक नही है, जबतक कि मन्त्रियो को ससद् के बहुमत का समर्थन प्राप्त है।"

राष्ट्रपति की कार्यपालिका शक्तियो के सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि वह प्रथम अनुसूची के भाग (ग) के राज्यो का प्रशासन राज्यपालो (Lieutenant Governors) के द्वारा अथवा आयुक्तो (Chief Commissioners) के द्वारा करेगा तथा इसी प्रकार अण्डमान (Andaman) और निकोबार (Nicobar) टापुओ का भी प्रशासन करेगा, और उक्त राज्यपालो एव आयुक्तो की नियुक्ति स्वय राष्ट्रपति करेगा।

सैनिक शक्तियां (Military Powers)—भारतीय राष्ट्रपति की सैनिक शक्तियां, सयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति एव इग्लैंड के राजा दोनो की अपेक्षा कम हैं। इसमें सन्देह नही कि भारतीय सविधान ने राष्ट्रीय सुरक्षा बलो की सर्वोच्च कमान राष्ट्रपति को सौंपी है किन्तु उससे यह आशा की गई है कि उक्त शक्ति को वह विधि की मान्यता के अनुसार प्रयोग करे।[1] देश के सशस्त्र बलो एव युद्ध और शान्ति[2] के सम्बन्ध में अन्तिम विधायिनी सत्ता[3] राष्ट्रपति में निवास करती है। अग्रेजी सविधान के ही समान युद्ध और शान्ति की घोषणा कार्यपालिका कृत्य माना जाता है, किन्तु भारतीय राष्ट्रपति ससद् की बिना अनुमति के अथवा ससद् की पश्चात्वर्ती अनुमति के विश्वास पर न तो युद्ध की घोषणा करेगा और न सशस्त्र बलो का प्रयोग करेगा। सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान में ऐसा उपबन्ध नही है कि राष्ट्रपति के सर्वोच्च स्थल और जल सेना के कमाण्डर के रूप मे कृत्यो पर विधियो का नियन्त्रण है। यद्यपि युद्ध के घोषणा करने की शक्ति केवल कांग्रेस को है, फिर भी राष्ट्रपति देश की विदेश नीति का सचालन इस प्रकार कर सकता है जिससे युद्ध की घोषणा नितान्त आवश्यक बन सकती है। राष्ट्रपति मैक किन्ले (Mc Kinley) ने एक युद्धपोत हवाना (Havana) को भेज दिया जहां उसे नष्ट कर दिया गया और इसी कारण स्पेन के साथ युद्ध छिड गया। १९१८ में राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने अमरीकी सेनाएं साइबीरिया (Siberia) में मित्र राष्ट्रो की सेनाओ को सहायता देने के अभिप्राय से भेज दी, यद्यपि उस समय सयुक्त राज्य

---

[1] अनुच्छेद ५३ (२)।

[2] अनुसूची ७, सूची १, सख्या १,२,३।

[3] अनुच्छेद २४६।

अमरीका और सोवियत रूस में युद्ध की स्थिति नहीं थी। सयुक्त-राज्य अमरीका ने जर्मनी के विरुद्ध १९४१ में युद्ध की घोषणा की थी किन्तु अमरीका के युद्धपोतो ने जर्मनी की उन पनडुब्बियो के विरुद्ध जो ब्रिटेन को जाने वाले जहाज़ी बेडो को निशाना बनाती थी, कार्रवाई काफी पहिले ही से प्रारम्भ कर दी थी। सत्य यह है कि लडाई १९४० में ही प्रारम्भ हो चुकी थी। १९५० में राष्ट्रपति ट्रूमैन (Truman) को कांग्रेस ने अधिकार नही दिया किन्तु फिर भी राष्ट्रपति ने अमरीका की फौजो को कोरिया के आक्रमण को विफल करने के अभिप्राय से भेज दिया था। यद्यपि भारतीय राष्ट्रपति को ऐसा अधिकार नही है, किन्तु अमरीका का राष्ट्रपति अपने सर्वोच्च कमाण्डर के अधिकारो के प्रयोग में अपार आपातकालीन शक्तियो का उपभोग कर सकता है, जैसा कि दोनो विश्वयुद्धो में हुआ। इगलैंड में राजा ही समस्त सशस्त्र बलो का सर्वोच्च कमाण्डर माना जाता है और युद्ध और शान्ति की घोषणाएँ राजा अथवा क्राउन के परमाधिकार हैं। ब्रिटिश ससद् को युद्ध की घोषणा करने का अधिकार नही है। १९१४ और फिर १९३९ में युद्ध की घोषणा शाही घोषणा के रूप में की गई जिस पर सपरिषद् आदेश (Order-in-Council) का प्रमाणीकरण था।

विदेश सम्बन्ध और कूटनीतिक अधिकार (Foreign Affairs and Diplomatic Powers)—विदेशो से सम्बन्धित सभी मामले ससद् के अधिकार क्षेत्र में आते हैं।[1] इस प्रकार विदेशी मामलो से सम्बन्धित कार्यपालिका शक्तियाँ सघ[2] के अधिकार-क्षेत्र में आती हैं, और सारी कूटनीतिक कार्रवाई राष्ट्रपति के नाम से सम्पादित होती है। कूटनीतिक दूत और व्यापार दूत राष्ट्रपति के नाम से ही नियुक्त किये जाते हैं। सारी सधियाँ और सारे अन्तर्राष्ट्रीय करार राष्ट्रपति के नाम में ही होते हैं, किन्तु ऐसे सभी करार (Agreements) और सभी सधियाँ ससद् की अनुमति के विषय हैं। अमरीका के राष्ट्रपति को पूरा-पूरा अधिकार रहता है कि वह किसी नई सरकार या किसी नये राज्य को स्वीकार करे या न करे। राष्ट्रपति द्वारा की हुई सधियो पर सीनेट के दो-तिहाई सदस्यो के बहुमत द्वारा समर्थन की आवश्यकता रहती है। किन्तु राष्ट्रपति के पास कई मार्ग रहते हैं जिनके द्वारा वह सीनेट की उपेक्षा कर सकता है। इनमे से एक मार्ग है कार्यपालिका करार (executive agreement)। कार्यपालिका करार दो देशो के कार्यपालिका प्रधानो के बीच करार या प्रतिज्ञाएँ (agreements) होते हैं जिनमें कतिपय मामलो पर वायदा या समझौता हो जाता है। इस प्रकार के कार्यपालिका करारो के लिए सीनेट के अनुसमर्थन की आवश्यकता नही है। भारत में इस प्रकार के करारो की सम्भावना नही है।

इगलैंड का सम्राट् विदेशी राजदूतो का स्वय स्वागत करता है यद्यपि यह केवल एक उपचार है, क्योकि सम्राट् की किसी विदेशी राजदूत के साथ भेंट के समय मन्त्री की उपस्थिति आवश्यक है। १९२९ मे सम्राट् जार्ज पञ्चम ने सोवियत

---

[1] अनुसूची सातवीं, सूची पहिली, मद १०—१४, १६—२१।

[2] अनुच्छेद ७३।

संघ के एक राजदूत से भेंट करना अस्वीकृत कर दिया। विदेश मन्त्री ने शिष्टता किन्तु दृढ़ता के साथ निवेदन किया कि मन्त्रिमण्डल ने उक्त सम्बन्ध में निर्णय कर लिया है और तब सम्राट् ने उक्त राजदूत से भेंट की। सभी सन्धियाँ और अन्तर्राष्ट्रीय करार क्राउन के द्वारा ही किये जाते हैं। ऐसी सन्धियों और अन्तर्राष्ट्रीय करारों पर संसद् के अनुसमर्थन की उस समय तक आवश्यकता नहीं होती जब तक कि उनको विशेष रूप से संसद् के अनुसमर्थन का विषय न बना दिया गया हो अथवा जब तक कि उक्त सन्धियों अथवा करारों में ऐसे विषय अन्तर्ग्रस्त न हों जैसे भू-भाग का त्याग, धन की अदायगी, देश की प्रचलित विधियों में परिवर्तन, आदि, जिनके वैधिक स्वरूप को स्वीकार किये जाने के लिए संसद् का अनुसमर्थन नितान्त आवश्यक माना गया है। किन्तु अब ऐसी प्रवृत्ति दिख रही है कि कोई भी उच्च नैतिक महत्त्व की सन्धि जैसे वार्साई की सन्धि (Treaty of Versailles) और लोकार्नो सन्धि (Locarno Treaty) निश्चित रूप से संसद् के दोनों सदनों के समक्ष रखी जानी चाहिए।

राष्ट्रपति की विधायिनी शक्तियाँ (Legislative Powers)—इंगलैण्ड के राजा की ही तरह भारत का राष्ट्रपति भी संघीय संसद् का एक अंग है। संविधान का आदेश है कि "संघ के लिए एक संसद् होगी जो राष्ट्रपति और दो सदनों से मिल कर बनेगी।[1] भारत के राष्ट्रपति की निम्नलिखित विधायिनी शक्तियाँ हैं

(१) राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह संसद् को अधिवेशन के लिए आहूत करे, तथा वह सत्रों का सत्रावसान[2] एवं लोक-सभा का विघटन[3] भी कर सकता है। यह आवश्यक है कि सदन वर्ष में दो बार आहूत किए जायें और एक सत्र के अन्त व दूसरे सत्र के प्रारम्भ में छः मास से अधिक का व्यवधान नहीं होना चाहिए। यदि छः मास के भीतर राष्ट्रपति संसद् को आहूत नहीं करता तो यह संविधान के विरुद्ध होगा। यदि संसद् के दोनों सदनों के बीच अवित्तीय विधेयक के विषय में गतिरोध उत्पन्न हो जाय, तो राष्ट्रपति संसद् के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक का भी संयोजन कर सकता है।[4] अमरीका के राष्ट्रपति को कांग्रेस के साधारण सत्र आहूत करने का अधिकार नहीं है। संविधान का आदेश है कि : "वर्ष में कम से कम एक बार कांग्रेस अवश्य सत्र में सम्मिलित होगी और उक्त अधिवेशन दिसम्बर मास के प्रथम सोमवार को प्रारम्भ होगा, हाँ, यदि कांग्रेस विधि द्वारा कोई और दिन निश्चित कर दे तो इसमें परिवर्तन भी हो सकेगा।"[5] किन्तु यदि कोई आवश्यक और महत्त्वपूर्ण बात विचारार्थ हो तो अमरीका का राष्ट्रपति कांग्रेस के असाधारण सत्र आहूत कर सकेगा किन्तु सामान्यतः न तो राष्ट्रपति कांग्रेस का सत्रावसान कर सकता है और न प्रतिनिधि सदन को विघटित कर सकता है।

---

[1] अनुच्छेद ७९।

[2] अनुच्छेद ८५ (१), (२) (क)।

[3] अनुच्छेद ८५ (२) (ख)।

[4] अनुच्छेद १०८ (१)।

[5] अमरीका के संविधान का अनुच्छेद १ खण्ड ४ (२)। उक्त उपबन्ध का अभी तक संशोधन नहीं हुआ है।

ससदीय शासन-प्रणाली में, विधान-मण्डल को विघटित करने की शक्ति केवल राज्य के कार्यपालिका प्रधान को है और वह भी ऐसा, प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा पर ही कर सकता है। विघटन से लोकसभा का जीवन समाप्त हो जाता है और उसके फलस्वरूप नए चुनाव आवश्यक हो जाते हैं। पिछले १० वर्षों में ऐसा अवसर कभी नही आया जबकि प्रधान मन्त्री की ससद् के विघटन-सम्वन्धी मन्त्रणा पर राजा ने ससद् का विघटन न किया हो। फिर भी इगलैण्ड में लोगो का ऐसा विचार रहा है कि राजा विघटन सम्वन्धी प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा को अस्वीकार भी कर सकता है, यदि राजा ऐसा समझे कि प्रधान मन्त्री के ससद्-विघटन-सम्बन्धी अधिकार से बेजा लाभ उठाया जा रहा है। उदाहरणस्वरूप इस प्रकार की स्थिति उस समय उत्पन्न हो गई थी जबकि मई १९४० में जर्मन लोग एल्वर्ट नहर (Albert Canal) पार कर रहे थे और उस समय सम्भवत मि० चेम्बरलेन (Mr Chamberlain) ससद् के विघटन की प्रार्थना कर सकते थे। "ऐसे नाजुक मौको पर", जैसा कि स्टैनर्ड (Stannard) ने लिखा है, "उस अभिसमय की परीक्षा का समय आ जाता है जिसके अनुसार क्राउन अथवा सम्राट् को राजनीति से ऊपर रहना चाहिए, और उस समय सम्राट् को निश्चय करना पडता है कि उसका कर्त्तव्य क्या है।"[1] पिछले ४६ वर्षो मे दो ऐसे अवसर निश्चित रूप से आए जबकि केवल सम्राट् की इच्छा पर ही ससद् विघटित हुई। प्रथम ससदीय विघटन एडवर्ड सप्तम (Edward VII) की इच्छा पर १९१० के आय-व्यय के प्रश्न पर हुआ, और उसी वर्ष दूसरा विघटन सम्राट् जार्ज पचम की इच्छा पर लार्ड सभा की शक्तियो के प्रश्न पर हुआ था, यद्यपि इन दोनो अवसरो पर प्रधान मन्त्री ने सकोचपूर्वक सम्राट् की इच्छा के आगे सर झुका दिया था, "और उक्त दोनो विघटन," प्रो० लास्की के अनुसार "मन्त्रि-मण्डलीय उत्तरदायित्व के आवरण में अच्छी तरह ढके रहे।" सामान्य अभिसमय यह है कि सम्राट् प्रधान मन्त्री की ससदीय विघटन की प्रथम प्रार्थना को स्वीकार न करे। इसके विपरीत कनाडा मे गवर्नर जनरल को अधिक स्वविवेकी स्वच्छन्दता है और वह ससद् का विघटन उस समय तक नही करेगा जबतक कि वैकल्पिक मन्त्रि-मण्डल की कोई भी सम्भावना दिखाई देगी।

आजकल ससदीय शासन-प्रणाली मे राज्य के प्रधान का यह अधिकार स्वीकार कर लिया गया है कि वह विधान-मण्डल को विघटित कर सकता है। सामान्यत वह उक्त अधिकार का प्रयोग अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा पर ही करता है, और हम आशा करते हैं कि भारत का राष्ट्रपति भी इसी प्रथा का अनुसरण करेगा। किन्तु राष्ट्रपति उस स्थिति मे विघटन अस्वीकार कर देगा यदि उसे ऐसा अनुभव हो, कि विघटन की आवश्यकता नही है अथवा "विघटन सम्वन्धी प्रार्थना को स्वीकार कर लेने से शक्ति का दुरुपयोग होगा।" कुछ लोगो का विचार है कि भारत के राष्ट्रपति को कनाडा के अभिसमय[2] का अनुसरण करना चाहिए, और प्रधान मन्त्री की ससदीय

---

[1] The Two Constitutions, p 17

[2] Basu, Durgadas Commentary on the Constitution of India, edn p 241

विघटन सम्बन्धी प्रार्थना को स्वीकार करने से पूर्व दूसरी वैकल्पिक मन्त्रि-परिषद् की सम्भावनाओं पर विचार कर लेना चाहिए। यदि इस प्रथा को स्वीकार किया जाता है, तो यह अतीव आवश्यक होगा कि राष्ट्रपति दलगत राजनीति से दूर रहे और वह अपने सब क्रियाकलापों में केवल सर्वसाधारण के कल्याण की भावना को ही स्थान दे। संसद् के विघटन-सम्बन्धी कनाडा की प्रथा का जिक्र करते हुए रिडेल (Ridell) कहता है "कनाडा का गवर्नर-जनरल आम चुनावों की आज्ञा दे या न दे, इस सम्बन्ध में हमारा अभिसमय सुस्थापित संवैधानिक नियमों और परम्पराओं पर आधारित है। गवर्नर-जनरल को दलीय भावनाओं से परे रहना चाहिए। उसे दलगत राजनीति और दलीय षड्यन्त्रों से बचना चाहिए। सभी राजनीतिक दलों को समान मान्यता देनी चाहिए और उसे अपने सामने केवल लोक-कल्याण के विचार ही रखने चाहिएँ। उसे विधान-मण्डल का विघटन केवल इसीलिए नहीं करना चाहिए कि एक राजनीतिक दल ही सत्तारूढ बना रहे और जबकि विभिन्न दलों में कोई महत्त्वपूर्ण प्रश्न विवादग्रस्त भी नहीं है।"[1] भारत का राष्ट्रपति स्वयं संविधान के अनुसार प्रतिज्ञा करता है कि "मैं भारत की जनता की सेवा में और कल्याण में निरत रहूँगा।"[2]

(२) भारतीय राष्ट्रपति संसद् को सम्बोधित कर सकता है। और वह संसद् को संदेश भी भेज सकता है।[3] आजकल इंगलैण्ड का सम्राट्, संसद् के समक्ष केवल औपचारिक अवसरों पर ही अभिभाषण देता है जिसे 'राज्यसिंहासन का भाषण' कहते हैं। 'राज्यसिंहासन के भाषण' में जिसे संसद् के प्रत्येक अधिवेशन के प्रारम्भ में या तो सम्राट् स्वयं पढता है या किसी के द्वारा पढवाता है, सम्राट् अधिवेशन के भावी व्यवस्थापक प्रोग्राम की रूप-रेखा प्रस्तुत करता है और विभिन्न राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर शासन के विचार व्यक्त करता है। उक्त भाषण अथवा संदेश प्रधान मन्त्री तैयार करता है और सम्राट् उसे पढता है। सम्राट् न तो उक्त भाषण अथवा संदेश को बदल सकता है और न उसमें कुछ बढा सकता है।

भारतीय राष्ट्रपति का अभिभाषण वैसा ही होता है, जैसा कि इंगलैण्ड में संसद् के सम्मुख राजा का अभिभाषण होता है। उक्त अभिभाषण में राष्ट्रपति शासन की गृह नीति और विदेश नीति पर प्रकाश डालता है। संयुक्त राज्य अमरीका में कोई ऐसा संवैधानिक उपबन्ध नहीं है जिसके द्वारा राष्ट्रपति के लिए कांग्रेस के प्रारम्भिक अधिवेशन में भाषण देना आवश्यक माना गया हो। साथ ही यदि राष्ट्रपति कांग्रेस के प्रारम्भिक अधिवेशन में अभिभाषण करना चाहे अथवा अपनी नीतियों पर प्रकाश डालना चाहे तो उसे रोका भी नहीं जा सकता। संविधान का आदेश है कि "राष्ट्रपति समय-समय पर समस्त संघ की स्थिति के बारे में कांग्रेस को सूचना देता रहे, और साथ ही कांग्रेस के विचारार्थ ऐसी सिफारिशें भेजता रहे जिन्हें वह आवश्यक

---

[1] Basu, Durgadas Commentary on the Constitution of India, op cit, p. 288

[2] अनुच्छेद ६०, राष्ट्रपति द्वारा शपथ अथवा प्रतिज्ञान।

[3] अनुच्छेद ८६।

अथवा लाभकर समझता हो।"[1] कांग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन के प्रारम्भ में आवश्यक सूचना भेजी जाती है और अधिवेशन के मध्यकाल में प्राय विशेष सदेश भेजे जाते हैं। वार्षिक सदेश का महत्त्व अधिक है जिसमे शासन के पिछले वर्ष के क्रियाकलापो का सिंहावलोकन रहता है, दल की नीतियो की घोषणा रहती है और साथ ही व्यवस्थापन सम्बन्धी ऐसी सिफारिशे रहती हैं जिन्हे राष्ट्रपति देश के हितार्थ आवश्यक समझता हो। उक्त सदेश कांग्रेस के दोनो सदनो के समक्ष राष्ट्रपति पढकर भी सुना सकता है[2] या वह प्रलेख (document) के रूप में भी भेजा जा सकता है। इस प्रकार अमरीका के राष्ट्रपति के वार्षिक सदेश को इगलैण्ड के सम्राट् के अभिभाषण अथवा भारतीय राष्ट्रपति के ससद् को दिए गए सदेश के समान माना जा सकता है।

भारत का सविधान राष्ट्रपति को यह भी अधिकार देता है कि वह किसी ऐसे विधेयक के साथ, जो या तो ससद् के समक्ष विचारार्थ हो अथवा जो अन्यथा महत्त्वपूर्ण हो, अपना सन्देश ससद् को भेज सकता है। ससद् का वह सदन जिसको राष्ट्रपति द्वारा उक्त सन्देश भेजा गया है, यथाशीघ्र उक्त सदेश पर विचार करेगा। सन्देश के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को व्यापक अधिकार मिल गया है, जिसके द्वारा राष्ट्रपति ससद् के ऊपर न केवल विचाराधीन विधेयक के बारे में अपितु अन्य किसी भी मामले में प्रभाव डाल सकता है। किन्तु आशा करनी चाहिए कि हमारा राष्ट्रपति कोई भी सन्देश बिना मन्त्रियो की राय के कभी नहीं भेजेगा, और यदि वह ऐसा करेगा तो वह ससद् के प्रति मन्त्रि-मण्डल के उत्तरदायित्व की सवैधानिक भावना के विरुद्ध माना जायगा।[3]

(३) राष्ट्रपति ससद् के समक्ष वार्षिक-वित्त-विवरण[4] (Budget) रखवायेगा अथवा यदि कोई अनुपूरक आयव्ययक[5] (Supplementary Budget) होगा तो उसे भी रखवायेगा, तथा भारत सरकार के लेखे के विषय मे भारतीय नियन्त्रक-महालेखापरीक्षक (Comptroller and Auditor General of India) के प्रतिवेदन को भी रखवायेगा,[6] साथ ही वित्त आयोग (Finance Commission) की सिफारिशो को एव उक्त सिफारिशो पर की गई कार्रवाई को भी ससद् के समक्ष रखवायेगा।[7] राष्ट्रपति लोक सेवा आयोग (Union Public Service Commission) के विभिन्न प्रतिवेदनो[1] और अन्य ऐसे प्रतिवेदन जैसे अनुसूचित आदिम जातियो के विशेष अधिकारी के प्रतिवेदन[2] तथा पिछडे हुए वर्गों की दशाओ के अनुसंधान के आयोग[3] के प्रतिवेदन को भी संसद् के समक्ष रखवायेगा। राष्ट्रपति संसद् से ऐसे विधेयकों पर विचार करने के लिए कह सकता है जिनका सम्बन्ध संघ के वित्त-व्यय से हो।[4] किन्तु राष्ट्रपति के उक्त सब कृत्य मन्त्रियो की राय पर ही किये जाते हैं।

---

[1] अमरीकन सविधान का अनुच्छेद II खण्ड ३।

[2] राष्ट्रपति वाशिंगटन और एडम्स (Washington and Adams) स्वय कांग्रेस में उपस्थित होते थे और सदेश पढकर सुनाते थे। राष्ट्रपति जैफ़रसन (Jefferson) ने लिखित सदेश भेजना प्रारम्भ किया और यह प्रथा १९१३ तक चली। उसके बाद राष्ट्रपति विल्सन (Wilson) ने राष्ट्रपति वाशिंगटन की प्रथा को प्रारम्भ कर दिया। राष्ट्रपति हूवर (Hoover) ने फिर उस प्रथा को बन्द कर दिया किन्तु फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट (Franklin Roosevelt) ने पुन वही प्रथा अर्थात् स्वय सदेश पढना प्रारम्भ कर दिया।

[3] भारतीय सविधान का अनुच्छेद ७५ (३) उपबन्धित करता है कि मन्त्रिपरिषद् सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होगी।

[4] अनुच्छेद ११२(१)।

[5] अनुच्छेद ११५ (१)।

[6] अनुच्छेद १५१ (१)।

[7] अनुच्छेद २८१।

(४) संसद् में किसी ऐसे विधेयक की प्रस्थापना, जिसका सम्बन्ध किसी नये राज्य को मान्यता देने से हो अथवा अपने देश के विभिन्न राज्यों की सीमाओ में परिवर्तन से हो बिना राष्ट्रपति की तदर्थ सिफारिश के नही की जा सकती।[5] सम्बन्धित राज्य के विधानमण्डल या विधानमण्डलो के विचार भी मालूम कर लेने चाहिएँ; किन्तु उक्त विधानमण्डल के विचार राष्ट्रपति के लिए सर्वथा मान्य नही हैं। चूंकि राष्ट्रपति संघीय मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणा पर चलेगा इसलिए यह निर्णय करना मन्त्रि-मण्डल का कार्य है कि सम्बन्धित विधेयक राज्य विधानमण्डलों के विरोध के बावजूद भी उपस्थित किया जाय अथवा नही।

(५) उसी प्रकार वित्तीय विधेयक (money bills),[6] अथवा ऐसा विधेयक जिसके अधिनियमित किये जाने और प्रवर्त्तन में लाये जाने पर भारत की संचित निधि से व्यय[7] करना पडेगा; अथवा ऐसे विधेयक जो राज्यो के हितो से सम्बद्ध करो (taxes)[8] पर प्रभाव डालने वाले हैं बिना राष्ट्रपति की अनुमति और सिफारिश के पुरःस्थापित ही नहीं किये जा सकते। राज्यो के विधान-मण्डलो में ऐसे विधेयक बिना राष्ट्रपति[9] की आज्ञा के पुरःस्थापित नही किये जा सकते जिनका सम्बन्ध अन्तर्राज्यीय वाणिज्य व्यापार पर निर्बन्धन लगाने से हो।

(६) राष्ट्रपति को यह भी अधिकार है कि वह संसद् द्वारा पारित किसी विधेयक को स्वीकार करे या उसे प्रतिनिषेध कर दे। यदि उक्त विधेयक वित्त विधेयक नही है, तो राष्ट्रपति उसे अपनी सिफारिश सहित संसद् के पुनर्विचारार्थ वापिस भेज सकता है। किन्तु यदि इस बार संसद् के दोनो सदन उक्त विधेयक को बिना संशोधन के ही पास कर देते हैं तो राष्ट्रपति को उक्त विधेयक पर अपनी स्वीकृति देनी ही पड़ेगी।[10] इस बार राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति को रोक नहीं सकता।

राज्यो के विधान-मण्डलो द्वारा पारित ऐसे विधेयको पर राष्ट्रपति अपनी अनुमति दे सकता है या रोक सकता है, जिनको किसी राज्य के राज्यपाल (governor) या राजप्रमुख[11] ने राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित रख लिया हो।

---

[1] अनुच्छेद ३२३ (१)।

[2] अनुच्छेद ३३८ (१)।

[3] अनुच्छेद ३४० (३)।

[4] अनुच्छेद ११३।

[5] अनुच्छेद ३।

[6] अनुच्छेद ११७।

[7] अनुच्छेद ११७ (३)।

[8] अनुच्छेद २७४ (१)।

[9] अनुच्छेद ३०४ का परन्तुक।

[10] अनुच्छेद १११।

[11] अनुच्छेद २०१।

इगलैड में कोई विधि तव तक सविधि पुस्तक में दर्ज नही की जा सकती जवतक कि उस पर सम्राट् की अनुमति प्राप्त न हो जाय, चाहे ससद् के दोनो सदनो ने उक्त विधि को पास भी कर दिया हो। किन्तु आज कल सम्राट् की अनुमति केवल उपचार मात्र है। सत्य यह है कि स्वय सम्राट् विधेयको पर अब अनुमति नही देता। उक्त अनुमति अब पाँच आयुक्त (Commissioners) देते हैं जिनको क्राउन (crown), शाही साइन मैन्युअल (royal sign manual) के अनुसार नियुक्त करता है, और यह विधेयको की अनुमति सम्बन्धी सारी प्रक्रिया एक सुन्दर उपचारपूर्ण दिखावा मात्र है। इसलिए इगलैड मे किसी विधेयक को सम्राट् द्वारा प्रतिनिषेध नही किया जा सकता। ऐसी कार्रवाई असवैधानिक मानी जायेगी। आयर्लैंड[1] और बर्मा दोनो देशो के सविधानो ने अपने-अपने राष्ट्रपति को प्रतिनिषेध (veto) का अधिकार नही दिया है। किन्तु इसके विपरीत अमरीका के राष्ट्रपति को निलम्बन-निषेधाधिकार प्राप्त है। यदि मरीका का राष्ट्रपति किसी ऐसे विधेयक को अस्वीकार कर देता है जिसे काग्रेम पास कर चुकी है, तो राष्ट्रपति को उक्त विधेयक १० दिन के भीतर अपनी आपत्तियो सहित उसी सदन को वापिस भेजना पडता है जहाँ से वह चला था अथवा प्रारम्भ हुआ था। यदि काग्रेस के दोनो सदन पुन उक्त विधेयक को दो-तिहाई के बहुमत से पास कर देते हैं, तो उक्त विधेयक विना राष्ट्रपति के हस्ताक्षरो के भी विधि रूप में पारित समझ लिया जाता है। यदि विधेयक को आवश्यक दो-तिहाई बहुमत प्राप्त नही होता तो राष्ट्रपति का निषेध प्रभावी माना जाता है। यदि विधेयक प्राप्त होने के १० दिन के अन्दर राष्ट्रपति न तो विधेयक पर हस्ताक्षर करे और न उस पर निषेधाधिकार का प्रयोग करे, तो भी विधेयक बिना राष्ट्रपति के हस्ताक्षरो के भी विधि रूप मान लिया जायगा। किन्तु, यदि राष्ट्रपति द्वारा विधेयक प्राप्त होने के दस दिन के भीतर काग्रेस स्थगित हो जाय, और यदि इन दिनो में राष्ट्रपति ने उक्त विधेयक के सम्बन्ध मे कोई कार्रवाई नही की, तो विधेयक स्वयमेव समाप्त समझा जायेगा।

भारत मे जब कोई विधेयक ससद् के दोनो सदनो द्वारा पारित हो जाता है और जब वह राष्ट्रपति के पास प्रस्तुत किया जाता है, उस समय राष्ट्रपति निम्न तीन मार्गों मे से कोई मार्ग अपना सकता है —

(क) राष्ट्रपति विधेयक को स्वीकार करके अपनी अनुमति दे सकता है,

(ख) वह उक्त विधेयक पर अपनी स्वीकृति रोक सकता है। किन्तु मन्त्रीय उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के अनुसार राष्ट्रपति को व्यवस्थापन के ऊपर जो निषेधाधिकार दिया गया उसमें यह उद्देश्य निहित है कि उक्त निषेधाधिकार कभी भी प्रयुक्त न किया जाय। जब तक मन्त्रि-मण्डल की पीठ पर ससद् के बहुमत का हाथ है, और जब तक ससद् सर्वसाधारण की प्रतिनिधि सभा है, तब तक ससद् की पीठ पर सर्वसाधारण का समर्थन भी है। अत ऐसी स्थिति मे निषेधाधिकार के प्रयोग की आवश्यकता ही नही है।

---

[1] आयर्लैंड के सविधान, अनुच्छेद १३ (३)।

(ग) अवित्तीय विधेयकों के सम्बन्ध में राष्ट्रपति यह कर सकता है कि वह उक्त विधेयक को किसी सन्देश सहित अथवा रहित संशोधन सुझाते हुए वापिस भेज सकता है। किन्तु यदि इस बार भी संसद् के दोनों सदन संशोधनों सहित अथवा बिना संशोधनों के उक्त विधेयक को पारित कर देते हैं, तो राष्ट्रपति को ऐसे विधेयक को स्वीकार करना ही पड़ेगा। यहाँ यह बात याद रखनी चाहिए, कि संयुक्त राज्य की प्रथा के विरुद्ध भारत में किसी विधेयक को पुनः पास करने के लिए विशेष बहुमत की आवश्यकता नहीं है। द्वितीयतः भारतीय संविधान ने समय की कोई अवधि निश्चित नहीं की है जिसमें राष्ट्रपति को किसी विधेयक के सम्बन्ध में अपनी स्वीकृति अथवा अपना निषेध प्रकट कर देना चाहिए, या उसे पुनर्विचार के लिए वापिस कर देना चाहिए। अनुच्छेद १११ केवल यही आदेश देता है कि "राष्ट्रपति, किसी विधेयक को अनुमति के लिए अपने समक्ष रखे जाने के पश्चात् यथाशीघ्र उसको लौटा दे।" इसके विपरीत अमरीका के संविधान ने दस दिन की अवधि निश्चित कर दी है, और इसी अवधि में राष्ट्रपति को विधेयक, पुनर्विचारार्थ उसी सदन को लौटा देना चाहिए जिस सदन में वह पुरःस्थापित किया गया था। यदि अमरीका का राष्ट्रपति इस दस दिन की अवधि में न तो विधेयक को अनुमति प्रदान करे और न निषिद्ध करे, तो वह विधेयक स्वयमेव दस दिन की अवधि के पश्चात् विधि रूप धारण कर लेगा। किन्तु भारतीय राष्ट्रपति के लिए इस प्रकार विधेयक के सम्बन्ध में देर लगाकर उस पर निषेध (veto) प्रयोग करना सम्भव नहीं होगा। मन्त्रीय उत्तरदायित्व का सिद्धान्त उसे ऐसा नहीं करने देगा।

(७) संसद् के विश्रान्ति-काल में यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाय कि तुरन्त कार्रवाई करने के लिए उसे बाधित करने वाली परिस्थितियाँ वर्त्तमान हैं तो वह ऐसे अध्यादेशों का प्रख्यापन कर सकेगा जो उसे परिस्थितियों से अपेक्षित प्रतीत हों।[1] ऐसे प्रख्यापित अध्यादेश का वही बल और प्रभाव है जो संसद् के अधिनियम का होता है। राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह अध्यादेश प्रख्यापित करने के कारण बतावे। स्वयं वह ही निर्णायक है कि किसी समय ऐसी स्थिति वर्त्तमान है जिसके कारण अध्यादेश द्वारा विधि निर्माण आवश्यक है। न्यायालय इस प्रकार की कार्रवाई को अवैध नहीं ठहरा सकते, न न्यायालय यही सवाल कर सकते हैं कि इस प्रकार की कार्रवाई की वास्तव में आवश्यकता थी अथवा नहीं।

किन्तु इस प्रकार प्रख्यापित अध्यादेश संसद् के दोनों सदनों के समक्ष रखा जाता है, ज्यों ही संसद् पुनः समवेत हो। किन्तु यदि संसद् उक्त अध्यादेश को स्वीकार नहीं करती, तो वह तुरन्त समाप्त हो जाता है। यदि संसद् उक्त अध्यादेश को अस्वीकार नहीं भी करती तो भी वह संसद् के पुनः समवेत होने की तिथि से छः सप्ताह पश्चात् स्वयं समाप्त हो जायगा और प्रवर्त्तन में न रहेगा। संसद् के सदनों के एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिए नियुक्त तारीख के बीच छः मास से अधिक का अन्तर नहीं होना चाहिए।[2] इसलिए

---

[1] अनुच्छेद १२३।

[2] अनुच्छेद ८५।

किसी अध्यादेश (ordinance) की अत्यधिक अवधि, यदि ससद् इस अवधि से पूर्व ही उसे समाप्त न कर दे, ६ मास और ६ सप्ताह है।

राष्ट्रपति की अध्यादेश प्रख्यापित करने की शक्ति, १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की देन है। इगलैंड में कार्यपालिका सत्ता को विधान निर्माण सम्बन्धी ऐसी स्वच्छन्द सत्ता प्राप्त नही है।[1] अध्यादेश प्रख्यापित करने सम्बन्धी शक्ति का उदाहरण न तो किसी अधिराज्य (Dominion) में मिलेगा और न आयरलैंड में। किन्तु भारत में अध्यादेश सम्बन्धी शक्ति का प्रयोग करने में राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा अवश्य लेगा।

(८) राष्ट्रपति राज्य-परिषद् (Council of States) के लिए १२ सदस्य मनोनीत करता है। ये व्यक्ति ऐसे होते हैं जिन्हे साहित्य, विज्ञान, कला या सामाजिक सेवा के बारे मे विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव होता हैं।[2] यदि राष्ट्रपति की राय हो कि लोक-सभा में आंग्ल भारतीय समुदाय का प्रतिनिधित्व पर्याप्त नही है तो वह लोक-सभा के लिए उस समुदाय के दो सदस्य मनोनीत कर सकता है।

न्यायिक शक्तियाँ (Judicial Powers)—राष्ट्रपति किसी व्यक्ति को क्षमा कर सकता है या उसके दण्ड को प्रविलम्बित (reprieve) कर सकता है। निम्नलिखित बातो में सजा पाये हुए अपराधियो की सजाएँ, राष्ट्रपति स्थगित कर सकता है, कम कर सकता है और माफ कर सकता है (i) उन सब बातो में जहाँ सजा सैनिक न्यायालय (Court Martial) द्वारा मिली हो, (ii) उन बातो में जहाँ मृत्यु दण्ड दिया गया हो। किन्तु राष्ट्रपति की क्षमादान सम्बन्धी शक्ति का राज्यो के राज्यपालो अथवा राजप्रमुखो और सैनिक न्यायालयो के सैनिक अधिकारियो की क्षमादान सम्बन्धी शक्ति पर कोई प्रभाव नही पडेगा। राष्ट्रपति का क्षमादान अधिकार उन सब मामलो पर और अपराधो पर प्रभावी होगा जिनका सम्बन्ध सघ की शक्तियो से सम्बन्धित अपराधो से होगा। किन्तु राष्ट्रपति, समवर्त्ती सूची वाले मामलो से सम्बन्धित अपराधो पर क्षमादान उस समय तक नही करेगा जब तक कि ससद् ने उक्त मामलो पर से राज्य की कार्यपालिका शक्ति को अलग न मान लिया हो।

राष्ट्रपति अपने क्षमादान के अधिकार का अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा पर ही प्रयोग करता है। इगलैंड मे क्षमादान सम्राट् का परमाधिकार है। किन्तु क्षमादान

---

[1] डा० अम्बेदकर ने भारतीय राष्ट्रपति की अध्यादेश सम्बन्धी शक्ति की तुलना इगलैंड के क्राउन की १९२० के आपातकालीन शक्ति अधिनियम के अनुसार आपातकालीन घोषणा से की थी, जिसके अनुसार क्राउन विनियम जारी कर सकता है। किन्तु ऐसी तुलना असगत है। (Constituent Assembly Proceedings, vol VIII, P 214) इगलैंड में जो विनियम आपातकालीन शक्ति अधिनियम के अनुसार बनाये जाते हैं, उनको सविधि का अधिकार प्राप्त है और उनका निर्माण सविधि की शर्तों के अनुसार ही होता है। यदि उक्त विनियम सविधि की शर्तों के अनुसार नहीं हैं तो वे न्यायालयों द्वारा अमान्य घोषित कर दिये जा सकते हैं। भारतीय सविधान के अनुच्छेद १२३ ने कोई शर्त्तें नहीं रखी हैं। इसके अतिरिक्त सविधान ने उन उद्देश्यों का भी स्पष्टीकरण नहीं किया है जिनके लिए अध्यादेश निकाले जा सकते हैं।

[2] अनुच्छेद ८० (३)।

में मुख्यतः गृह सचिव का निर्णय ही मुख्य रूप से माना जाता है और सम्राट् की इच्छा का तो केवल औपचारिक महत्त्व है। सामान्यतः क्षमादान दोष-प्रमाणन के बाद किया जाता है किन्तु प्रायः दोष प्रमाणित होने के पूर्व भी अभियुक्त को क्षमा कर दिया जाता है। संयुक्त राज्य अमरीका मे राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह संयुक्त राज्य अमरीका के विरुद्ध किये गए ऐसे अपराधो मे क्षमादान और प्रविलम्बन कर सकता है जिनमें दोष-प्रमाणित व्यक्ति के ऊपर महाभियोग न लगाया गया हो। यह अमरीकन राष्ट्रपति की इच्छा पर है, वह चाहे तो दोष-प्रमाणन (Conviction) के पूर्व भी क्षमादान कर सकता है, और दोषप्रमाणन के बाद भी। इसके विपरीत भारत का राष्ट्रपति केवल दोषसिद्धि के बाद ही क्षमा कर सकता है। यदि राजद्रोही-क्षमा (amnesty) करना हो तो राष्ट्रपति को संसद् की अनुमति लेनी पड़ेगी। अमरीका मे राष्ट्रपति किसी भी प्रकार के मामले में क्षमादान कर सकता है।

प्रकीर्ण शक्तियाँ (Miscellaneous Powers)—राष्ट्रपति की अनेको प्रकीर्ण शक्तियाँ हैं। राष्ट्रपति के नाम से दिए और निष्पादित भारत सरकार के आदेशो और अन्य लिखतो का प्रमाणीकरण इस रीति से होता है जो राष्ट्रपति द्वारा बनाये गए नियमो में उल्लिखित हो।[1] द्वितीयतः, भारत सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किए जाने के लिए तथा मन्त्रियो मे उक्त कार्य के बँटवारे के लिए राष्ट्रपति ही नियम बनाता है।[2] तृतीयतः, राज्य परिषद् के सभापति और लोक-सभा के अध्यक्ष से परामर्श करने के पश्चात् राष्ट्रपति दोनो सदनो की संयुक्त बैठको सम्बन्धी, तथा उनमें परस्पर संचार सम्बन्धी प्रक्रिया के नियम बनाता है।[3] चतुर्थतः, उच्चतम न्यायालय समय-समय पर राष्ट्रपति के अनुमोदन से न्यायालय की कार्यप्रणाली और प्रक्रिया के साधारण विनियमन के लिए नियम बनाता है।[4] पाँचवी बात यह है कि राष्ट्रपति ही संघीय लोक-सेवा आयोग के सदस्यो तथा कर्मचारी-वृन्द की सेवाओ की शर्तों के बारे में विनियम बनाने की शक्ति रखता है।[5] राष्ट्रपति ही ऐसे मामलो में विनियम बनाता है जिनमे यह निर्णय कर दिया जाय कि संघ की किस-किस प्रकार की सेवाओ के सम्बन्ध मे संघीय लोक-सेवा आयोग से पूछने की आवश्यकता न होगी।[6]

संविधान ने राष्ट्रपति को यह भी अधिकार दिया है कि वह सार्वजनिक महत्त्व के किसी ऐसे प्रश्न पर सर्वोच्च अथवा उच्चतम न्यायालय की सम्मति माँग सके जिसमे विधि और तथ्य के प्रश्न ग्रस्त हो सकते हैं।[7] इसका यह अर्थ है कि राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय के पास किसी प्रस्तावित विधेयक को भेज सकता है और पूछ सकता है कि अमुक विधेयक विधान-मण्डल के अधिकार-क्षेत्र में आता है अथवा नहीं। इसके साथ ही उच्चतम न्यायालय की मन्त्रणा मानना राष्ट्रपति के विवेक एवं निर्णय पर निर्भर है।

---

[1] अनुच्छेद ७७ (२)।

[2] अनुच्छेद ७७ (३)।

[3] अनुच्छेद ११८ (२)।

[4] अनुच्छेद १४५।

[5] अनुच्छेद ३१८।

[6] अनुच्छेद ३२० (३) का परादिक्।

[7] अनुच्छेद १७३।

राष्ट्रपति की आपात शक्तियाँ

(Emergency Powers of the President)

विभिन्न प्रकार के आपात (Different Kinds of Emergency)—राष्ट्रपति की जिन शक्तियो का ऊपर वर्णन किया गया है उनके अतिरिक्त भारत के राष्ट्रपति को ऐसी अनेको आपात शक्तियाँ प्रदान की गई हैं जिनको तीन विभागो मे बाँटा जा सकता है। इन आपात शक्तियो का प्रयोग राष्ट्रपति तीन प्रकार के राष्ट्रीय सकटो का सामना करने के लिए करता है

(१) **आपात की उद्घोषणा** (Declaration of Emergency)—भारत या भारत के किसी भूभाग को युद्ध, विदेशी आक्रमण अथवा आतरिक उपद्रवो द्वारा प्रादुर्भूत सकट के कारण आपातकालीन स्थिति उत्पन्न हो सकती है। ऐसी स्थिति के उत्पन्न हो जाने पर यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाय कि भारत की सुरक्षा खतरे मे है या खतरे की सम्भावना है, तो वह आपात काल की उद्घोषणा कर सकता है।[1]

(२) **किसी राज्य में सवैधानिक तन्त्र की विफलता** (Failure of the Constitutional Machinery in a State)—किसी राज्य में सवैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की अवस्था में यदि उक्त राज्य का राज्यपाल या राजप्रमुख राष्ट्रपति से प्रतिवेदन करे या अन्यथा राष्ट्रपति का समाधान हो जाय कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें उस राज्य का शासन सविधान के उपबन्धो के अनुसार नही चलाया जा सकता, तो राष्ट्रपति आपात की उद्घोषणा कर सकता है और भाग (क) या भाग (ख) के किसी राज्य का शासन अपने हाथो में ले सकता है।[2]

(३) **वित्तीय आपात** (Financial Emergency)—यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाय कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमे भारत या उसके किसी भाग के वित्तीय स्थायित्व पर सकट है तो वह वित्तीय आपात की उद्घोषणा निकाल सकता है।[3]

आपात की उद्घोषणा और किसी राज्य में सवैधानिक तन्त्र की विफलता में अन्तर (Difference between a Proclamation of Emergency and a Proclamation of Failure of Constitutional Machinery in a State)—उपर्युक्त दोनो प्रकार की उद्घोषणाएँ अर्थात् आपात की उद्घोषणा और किसी राज्य मे सवैधानिक तन्त्र की विफलता की उद्घोषणा एक दूसरे से उद्घोषणा के कारणो और उद्घोषणा के प्रभावो के सम्बन्ध में अलग-अलग हैं और विभिन्न हैं। आपात काल की उद्घोषणा इस कारण की जा सकती है यदि कभी विदेशी आक्रमण या आन्तरिक अशान्ति के कारण भारत की सुरक्षा या शान्ति खतरे में हो, अथवा यदि भारत का वित्तीय स्थायित्व सकट मे हो। इसके विपरीत सवैधानिक तन्त्र की

---

[1] अनुच्छेद ३५२।

[2] अनुच्छेद ३५६।

[3] अनुच्छेद ३६० (१)।

विफलता की उद्घोषणा इस कारण की जाती है कि सवैधानिक उपबन्धो के अनुसार किसी राज्य का शासन चलाना कठिन हो जाता है। भारत की सुरक्षा अथवा शान्ति के खतरे मे पड जाने से अथवा भारत का वित्तीय स्थायित्व सकट में पड जाने से यह आवश्यक नही है कि किसी राज्य में सर्वधानिक तन्त्र की विफलता की उद्घोषणा कर दी जाय। किसी राज्य के सवैधानिक तन्त्र की विफलता की उद्घोषणा का कारण या तो किसी राज्य की सवैधानिक तन्त्र की विफलता है अथवा किसी राज्य द्वारा अपने सवैधानिक दायित्वो को पूरा करने मे इन्कार हो सकता है।

जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्त्तन मे होगी, तो सविधान द्वारा प्रदत्त सात स्वतन्त्रताओ के अधिकार—भाषण और अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता, शान्तिपूर्वक सभा करने की स्वतन्त्रता, सघ बनाने की स्वतन्त्रता, अबाध सचरण की स्वतन्त्रता, किसी भाग में निवास करने की स्वतन्त्रता, सम्पत्ति धारण की स्वतन्त्रता और व्यवसाय सम्बन्धी स्वतन्त्रता—स्वय निलम्वित हो जाते हैं।[1] और आपात की उद्घोषणा काल मे राष्ट्रपति यह भी आदेश निकाल सकता है कि मौलिक अधिकारो के निलम्बन के सम्बन्ध में न्यायालयो की शरण नही ली जा सकती।[2] किन्तु किसी राज्य में सवैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने पर न तो मौलिक अधिकार निलम्वित किये जाते हैं और न मौलिक अधिकारो के प्रवर्तन सम्बन्धी न्यायालय की कार्रवाई से नागरिक वचित किये जाते हैं।

द्वितीयत, आपात पद्घोषणा का उद्देश्य ही यह होता है कि सघीय शासन को अधिक विस्तृत कार्यपालिका और व्यवस्थापिका शक्तियाँ प्रदान की जायें ताकि वह भारत की सुरक्षा को उपस्थित चुनौती अथवा देश के वित्तीय स्थायित्व के खतरे का सामना कर सके। किन्तु राज्य के अधिकारी अपना-अपना कार्य यथाविधि करते चलते हैं। राज्य-शासनो के विभिन्न अग यथापूर्व कार्य करते रहते हैं, अन्तर केवल यह होता है कि (१) भारत सरकार राज्यो को आदेश दे सकती है और विशेष प्रकार से राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रवर्त्तन करा सकती है,[3] (२) सघीय ससद् की व्यवस्थापक क्षमता विस्तृत हो जाती है और ससद् को उन विषयो पर भी विधि निर्माण करने का अधिकार मिल जाता है जो राज्यों की सूची मे सम्मिलित हैं,[4] और (३) राष्ट्रपति को अधिकार मिल जाता है कि वह अपनी आज्ञाओ से ही वित्तीय मामलो से सम्बन्धित सविधान के उपबन्धो में सशोधन कर सकता है। किन्तु जब किसी राज्य के सवैधानिक तन्त्र की विफलता की उद्घोषणा की जाती है तो उक्त राज्य की सरकार के स्थान पर सघ सरकार की सत्ता स्थापित हो जाती है, केवल उच्च न्यायालय वही रहता है। राज्य का विधान-मण्डल पूरी तरह निलम्वित हो जाता है और राज्य की कार्यपालिका पूरी तरह या आशिक रूप में निलम्वित हो जाती है।

बाह्य आक्रमण अथवा आन्तरिक अशान्ति के कारण आपात उद्घोषणा (Emergency by External or Internal Aggression)—यदि राष्ट्रपति का

---

[1] अनुच्छेद ३५८ (१)

[2] अनुच्छेद ३५९।

[3] अनुच्छेद ३५३ (क)।

[4] अनुच्छेद ३५३ (ख)।

समाधान हो जाय कि गम्भीर आपात विद्यमान है जिससे कि युद्ध या बाह्य आक्रमण से या आभ्यन्तरिक अशान्ति से भारत या उसके राज्य-क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा सकट में है तो राष्ट्रपति आपात की उद्घोषणा कर सकता है ।[1] सविधान ने निश्चितत उपबन्धित किया है कि यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाय कि भारत की या भारत के राज्य क्षेत्र के किसी भाग की सुरक्षा सकट में है, चाहे वास्तव में युद्ध अथवा ऐसा कोई आक्रमण या अशान्ति नही हुई हो तो भी राष्ट्रपति आपात की उद्घोषणा कर सकेगा ।[2] केवल राष्ट्रपति का समाधान होने की आवश्यकता है कि सकटकालीन परिस्थिति विद्यमान है, और आपात की उद्घोषणा की जा सकती है । न्यायालयो को यह अधिकार नहीं है कि वे आपात सम्बन्धी उद्घोषणा की वैधता अथवा आवश्यकता पर सशय कर सकें । आपात उद्घोषणा के सम्बन्ध में केवल राष्ट्रपति ही निर्णय कर सकता है, और उसके निर्णय को कोई चुनौती नही दे सकता । किन्तु राष्ट्रपति के समाधान का अर्थ है मन्त्रि-परिषद् का समाधान, और आपात की उद्घोषणा करते समय, राष्ट्रपति अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा पर कार्य करता है ।

आपात उद्घोषणा, उत्तरवर्ती उद्घोषणा (subsequent proclamation) द्वारा प्रतिसहृत (revoked) की जा सकती है,[3] अथवा यदि आपात उद्घोषणा प्रवर्त्तन के दो मास के भीतर ससद् के दोनो सदनो के सकल्पो द्वारा अनुमोदित न कर दी जाय तो उक्त उद्घोषणा दो मास की समाप्ति पर प्रवर्त्तन में न रहेगी ।[4] परन्तु यदि ऐसी कोई उद्घोषणा उस समय निकाली गई है जब कि लोक सभा का विघटन हो चुका है अथवा उसका विघटन दो मास की कालावधि के भीतर हो जाता है तो उद्घोषणा सम्बन्धी समर्थन करने वाला सकल्प राज्य परिषद् द्वारा दो मास के भीतर पास होना चाहिए और तीस दिन की कालावधि की समाप्ति से पूर्व उद्घोषणा को अनुमोदित करने वाला सकल्प नव-निर्वाचित लोक सभा द्वारा भी पारित होना चाहिए । यदि नव निर्वाचित लोकसभा अपने जीवन के प्रथम ३० दिन की कालावधि में आपात उद्घोषणा का समर्थन नही करती तो आपात उद्घोषणा, उस तारीख से जिसको कि लोकसभा का प्रथम अधिवेशन हुआ, ३० दिन की कालावधि की समाप्ति पर प्रवर्त्तन में न रहेगी ।[5]

आपात की उद्घोषणा जब तक प्रवर्त्तन में रहेगी, उसके निम्न वैधानिक प्रभाव हो सकते हैं ।

(१) (क) जब तक आपात की उद्घोषणा प्रवर्त्तन में है, भारत के सम्पूर्ण राज्य-क्षेत्र के अथवा उसके किसी भाग के लिए राज्य सूची मे प्रगणित विषयो मे से किसी के बारे मे ससद् को विधि बनाने की शक्ति रहती है ।[6] आपात काल में ससद् द्वारा निर्मित विधिया, आपात उद्घोषणा के प्रवर्त्तन मे न रहने के ६ मास बाद प्रभावशून्य हो जायेंगी ।[7]

---

[1] अनुच्छेद ३५२ (१) ।
[2] अनुच्छेद ३५२ (३) ।
[3] ,, ३५२ (२) (क) ।
[4] अनुच्छेद ३५२ (२) (ग) ।
[5] ,, ३५२ (२) (ग) का परान्तुक ।
[6] ,, २५० (१) ।
[7] अनुच्छेद २५० (२) ।

(ख) यदि राज्य-विधान-मण्डल द्वारा निर्मित कोई विधि, आपात उद्घोषणा के अन्तर्गत संसद् द्वारा निर्मित किसी विधि के उपबन्धो से असंगत ठहराई जाय, तो राज्य विधान-मण्डल द्वारा निर्मित विधि विरोध की मात्रा तक अवैध मानी जायगी।[1]

(ग) जब आपात उद्घोषणा प्रवर्त्तन में है, किन्तु जब संसद् सत्र में नही है, तो राष्ट्रपति उन विषयो पर भी अध्यादेश निकाल सकता है जो राज्य सूची में प्रगणित हैं। और उसी प्रकार अनुच्छेद १२३ के अनुसार राष्ट्रपति की शक्तियो में वृद्धि हो जाती है।

(घ) संसद् को अधिकार है कि विधियाँ बनावे और भारत सरकार को शक्तियाँ प्रदान करे और भारत सरकार के प्राधिकारियो को कर्त्तव्य सौंपे कि वे उन विधियो को क्रियान्वित करें जिनको संसद् ने आपात उद्घोषणा के प्रवर्त्तन के कारण अपने विस्तृत अधिकार-क्षेत्र में निर्मित किया है।[2]

(ङ) संसद् विधि द्वारा अपनी कालावधि को, जबतक आपात की उद्घोषणा प्रवर्त्तन में है, एक बार में एक वर्ष तक के लिए बढा सकती है, किन्तु किसी भी अवस्था में उद्घोषणा के प्रवर्त्तन का अन्त हो जाने के पश्चात् संसद् की विस्तृत कालावधि छः मास से अधिक विस्तृत नही हो सकती।[3]

(२) आपात की उद्घोषणा के प्रवर्त्तन काल में संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार यहाँ तक हो जाता है कि वह राज्यो को आदेश दे सकता है कि राज्य अपनी-अपनी कार्यपालिका शक्ति का किस प्रकार प्रयोग करें।

(३) आपात उद्घोषणा के प्रवर्त्तन काल में राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि वह केन्द्र और राज्यो[4] के बीच राजस्वो के प्रकृत वितरण में संशोधन कर सके, ताकि भारत सरकार को पर्याप्त धन प्राप्त होता रहे, और इस प्रकार भारत सरकार आपात काल की परिस्थितियो को पार कर ले जाय। किन्तु ऐसे आदेशो को उनके दिए जाने के पश्चात् यथासम्भव शीघ्र संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जाना आवश्यक है।[5] किन्तु ऐसे आदेश किसी भी स्थिति में उस वित्तीय वर्ष से आगे वैध न होंगे जिस वर्ष की आपात उद्घोषणा प्रवर्त्तन में नही रहती।[6]

(४) (क) आपात की उद्घोषणा के प्रवर्त्तन काल में संविधान के अनुच्छेद १९ के आधीन गारंटी किए गए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सात स्वतन्त्रताओ के मौलिक अधिकार स्थगित हो जाते हैं।[7] संविधान ने सात स्वतन्त्रताओ के अधिकारो के स्थगन के सम्बन्ध में यह स्पष्ट विभाजन-रेखा नही खींची कि युद्ध-काल में और शान्ति-काल में उक्त अधिकारो के स्थगन में कुछ भेद होगा अथवा नही। संविधान ने तो केवल यही उपबन्धित किया है कि ज्यों ही आपात की उद्घोषणा की जायगी, चाहे वह उद्घोषणा युद्ध के कारण हो, आन्तरिक अशान्ति के कारण हो, या इन दोनो के भय के कारण हो, अनुच्छेद १९ में प्रदत्त अधिकार स्थगित कर दिए जायेंगे।

---

1. अनुच्छेद २५१। 2 अनुच्छेद ३५३ (ख)।
3. ,, ८३ (२) का परन्तुक्। 4. ,, २६८-२७९।
5. ,, ३५४ (२)। 6 ,, ३५४ (१)।
7. ,, ३५८।

(ख) जिस समय आपात की उद्घोषणा प्रवर्त्तन में हो, उस समय वे सब प्रतिबन्ध भी स्थगित हो जाते हैं जो सविधान के अनुच्छेद १९ ने सघ, राज्यो और स्थानीय अधिकारियो की कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के ऊपर लगाए हैं, और तदनुसार किसी विधि या प्रशासनिक आज्ञा के विरुद्ध न्यायालयो में इस आधार पर शरण नही ली जा सकती कि उक्त विधि अथवा आज्ञा से सविधान के उपबन्धो का उल्लघन होता है।

(५) राष्ट्रपति को यह भी अधिकार है कि वह किसी अन्य मौलिक अधिकार की माँग के लिए न्यायालय मे जाने से नागरिको को रोक दे। उक्त अधिकार का निलम्बन आपात काल की उद्घोषणा के प्रवर्त्तन काल में प्रभावी रहेगा और राष्ट्रपति से आशा की गई है कि वह उक्त निषेधाज्ञा को जारी करने के यथाशीघ्र बाद ससद् के दोनो सदनो के समक्ष रखे।

इस उपबन्ध से प्रकट होगा कि राष्ट्रपति का मौलिक अधिकारो का निलम्बन सम्बन्धी आदेश अन्तिम नही है। ससद् विधि द्वारा राष्ट्रपति के उक्त आदेश को रद्द कर सकती है। फिर भी राष्ट्रपति यदि चाहे तो देर लगा सकता है और इस प्रकार ससद् उक्त आदेश पर देर से कार्रवाई कर सकेगी।[1] सविधान ने कोई समय निर्धारित नही किया है जब कि राष्ट्रपति उक्त आदेश ससद् के समक्ष रख दे। सविधान ने तो केवल यही आदेश दिया है कि राष्ट्रपति अपने प्रत्येक आदेश को जारी होने या निकालने के यथाशीघ्र बाद ससद् के दोनो सदनो के समक्ष रखे। इसलिए अब यह निर्णय करना तो राष्ट्रपति का ही कार्य है कि वह अपना उक्त आदेश ससद् के समक्ष कब रखे।

किसी राज्य में सवैधानिक तन्त्र की विफलता (Failure of Constitutional Machinery in a State)—भारतीय सविधान का अनुच्छेद ३५५ आदेश देता है कि बाह्य आक्रमण और आभ्यन्तरिक अशान्ति से प्रत्येक राज्य का सरक्षण किया जाय, तथा प्रत्येक राज्य की सरकार इस सविधान के उपबन्धो के अनुसार चलाई जाय, यह सुनिश्चित करना सघ का कर्त्तव्य होगा। इसलिए यदि किसी राज्य के राज्यपाल अथवा राजप्रमुख का प्रतिवेदन आने पर अथवा अन्यथा राष्ट्रपति का समाधान हो जाय कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमे किसी राज्य का शासन सविधान के उपबन्धो के अनुसार नही चलाया जा सकता तो राष्ट्रपति, उद्घोषणा द्वारा —

(क) उस राज्य की सरकार के सब या कोई कृत्य तथा यथास्थिति राज्यपाल या राजप्रमुख में अथवा राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी में निहित या तत्तद् द्वारा प्रयोक्तव्य सब या कोई शक्तियाँ अपने हाथ में ले सकता है, और

(ख) वह घोषित कर सकेगा कि राज्य के विधान-मण्डल की शक्तियाँ ससद् के प्राधिकार के द्वारा या अधीन प्रयोक्तव्य होगी।[2]

---

[1] Basu, Durgadas Commentary on the Constitution of India, p citd, p 810

[2] अनुच्छेद ३५६ (१)।

किन्तु किसी राज्य में शासन-तन्त्र के विफल हो जाने पर राष्ट्रपति उन शक्तियो को स्वय ग्रहण नही कर सकता जो उच्च न्यायालय में विहित हैं अथवा जो उसके द्वारा प्रयोक्तव्य हैं। न राष्ट्रपति, भारतीय सविधान के उच्च न्यायालयो से सम्बद्ध किन्ही उपबन्धो के प्रवर्त्तन को पूर्णत या अशत निलम्बित कर सकेगा।[1] किसी राज्य के सवैधानिक तन्त्र की विफलता सम्बन्धी उद्घोपणा किसी उत्तरवर्त्ती उद्घोपणा द्वारा प्रतिसहृत या परिवर्त्तित की जा सकती है।[2] किन्तु उक्त उद्घोपणा संसद् के प्रत्येक सदन के समक्ष रखी जाएगी तथा जहां वह पूर्ववर्त्ती उद्घोपणा को प्रतिसहृत करने वाली उद्घोपणा नही है, वहां वह दो महीने की अवधि से पूर्व, यदि ससद् के दोनो सदनो के सकल्पो द्वारा वह अनुमोदित नही हो जाती तो, प्रवर्त्तन में नही रहेगी। किन्तु यदि उक्त उद्घोपणा ससद् द्वारा अनुमोदित हो जाती है तो वह छ मास तक प्रवर्त्तन में रहती है, किन्तु ऐसी उद्घोपणा किसी अवस्था मे भी तीन वर्ष से अधिक प्रवृत्त नही रहेगी, किन्तु इस प्रकार की कालावधि वृद्धि एक बार में ६ मास से अधिक के लिए नही की जाएगी।

सविधान के अनुच्छेद ३५६ का यह उपबन्ध "इस राज्य का शासन इस सविधान के उपबन्धो के अनुसार नही चलाया जा सकता" व्यापक अर्थो में प्रयुक्त हुआ है। एक ओर तो युद्ध, वाह्य आक्रमण, आन्तरिक अशान्ति अथवा इनमे से किसी के लिए खतरे के कारण आपातकालीन स्थिति उत्पन्न हो सकती है, तथा दूसरी ओर किसी राज्य मे सवैधानिक शासन-तन्त्र की विफलता की स्थिति उत्पन्न हो सकती है, इन दोनो स्थितियो मे कोई आवश्यक सम्बन्ध नही है। किन्तु किसी राज्य या राज्यो मे सवैधानिक तन्त्र की विफलता की घोषणा इस स्थिति मे भी राष्ट्रपति कर सकता है यदि उसका समाधान हो जाय कि अनुच्छेद ३५२ और ३५३ के अनुसार युद्ध अथवा आभ्यन्तरिक अशान्ति के कारण जो उपबन्ध किये गये वे स्थिति को काबू मे लाने के लिए पर्याप्त और पूर्ण प्रभावी नही हैं। राष्ट्रपति ऐसी स्थिति में भी किसी राज्य मे सवैधानिक तन्त्र की विफलता की उद्घोपणा कर सकता है यदि उसका समाधान हो जाय कि उक्त राज्य मे राजनीतिक गतिरोध है और राज्य के विधानमण्डल में ऐसा स्थायी बहुमत नही है जो मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर सके। ऐसी घटनाएँ निम्न चार राज्यो में सम्मुख आई। पजाव, ट्रावनकोर-कोचीन, पटियाला और पूर्वी पजाव राज्य सघ, और आध्र। इनके अतिरिक्त, यदि कोई राज्य केन्द्रीय शासन के अनुदेशो का पालन करने में असमर्थ रहता है तो भी उक्त राज्य मे सवैधानिक तन्त्र की विफलता की घोषणा की जा सकती है।[3] यह भी जान लेना आवश्यक होगा कि किसी राज्य में सवैधानिक तन्त्र की विफलता की उद्घोपणा करने के लिए राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक नही है कि वह राज्यपाल या राजप्रमुख के प्रतिवेदन पर ही उक्त उद्घोपणा करे। राष्ट्रपति उक्त उद्घोपणा

---

1. अनुच्छेद ३५६ (१) का परादिक्।
2 „ ३५६ (२)।
3. „ ३६५।

अपने विवेक और अपने समाधान होने पर भी कर सकता है, केवल उसका समाधान हो जाना चाहिए कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है।

राष्ट्रपति के अधिकार में अत्यन्त व्यापक और प्रभावी शक्तियां हैं जिनके आधार पर वह किसी राज्य के शासन का उल्लघन कर सकता है। किन्तु ऐसी आशा करनी चाहिए कि राष्ट्रपति ऐसी कठोर कार्रवाई केवल अन्तिम उपचार के रूप में हा करेगा जबकि अन्य सवैधानिक उपाय जैसे निदेश (directions), चेतावनी (warning), पुन निदेश आदि व्यर्थ हो चुके हो।[1] किन्तु राष्ट्रपति ने जिन परिस्थितियों में पजाब, ट्रावनकोर-कोचीन, पैप्सू (Pepsu) और आन्ध्र में सवैधानिक तन्त्र की विफलता उद्घोषित की थी, उनको देखते हुए राष्ट्रपति से उदारता की आशा करना क्या उचित होगा ? इस सम्बन्ध में विभिन्न लोगो की विभिन्न रायें हो सकती हैं।

किसी राज्य में सवैधानिक तन्त्र की विफलता के निम्न सवैधानिक प्रभाव हो सकते हैं

(१) राष्ट्रपति सम्बन्धित राज्य के शासन के सभी कृत्य अपने अधिकार में ले सकता है और उन सभी शक्तियो और अधिकारो को भी स्वय ले सकता है जो सविधान ने राज्यपाल अथवा राजप्रमुख में विहित की हो,

(२) सम्बन्धित राज्य का विधानमण्डल निलम्बित हो सकता है और उसके सब अधिकार और कृत्य या तो केन्द्रीय ससद् स्वय कर सकती है या उन कृत्यो को अपने अधिकार-क्षेत्र में किसी अन्य निकाय या सस्था को सौंप सकती है,

(३) राष्ट्रपति सविधान के उपबन्धो को वदल सकता है, और इस प्रकार उनमें ऐसे आवश्यक आकस्मिक और अनुवर्त्ती परिवर्त्तन कर सकता है कि उद्घोषणा के उद्देश्य सफल हो सकें,

(४) किसी राज्य के सवैधानिक तन्त्र की विफलता की उद्घोषणा के प्रवर्त्तन काल में ससद् राष्ट्रपति मे वे विधायी अधिकार विहित कर सकती है जो राज्य के विधानमण्डल के हो। ससद् ऐसा इसलिए कर सकती है, ताकि उसके ऊपर उद्घोषणा के कारण अत्यधिक कार्य-भार न आ पडे। किन्तु, इस प्रकार विधायी सत्ता का हस्तान्तरण केवल ससद् की स्वीकृति से ही सम्भव है। स्वय राष्ट्रपति इस उत्तरदायित्व को अपने ऊपर से अपने अधीनस्थ अधिकारियो के ऊपर डाल सकता है,

(५) ससद्, या राष्ट्रपति या अन्य अधिकारी-वर्ग जिनको सवैधानिक तन्त्र की विफलता की उद्घोषणा के प्रवर्त्तन-काल में प्रभावित राज्य के सम्बन्ध में विधि वनाने का अधिकार है, अपने उक्त अधिकारो को सघ को या सघ के अधिकारियो को या प्राधिकारियो को प्रत्यावर्त्तित कर सकते हैं, और

(६) जब लोक-सभा सत्र में न हो, उस समय राष्ट्रपति अपनी अधिशासी आज्ञा के द्वारा, राज्य की सचित निधि में से आवश्यक खर्चे की अनुमति दे सकता है, किन्तु ऐसी अनुमति ससद् के अनुसमर्थन की विषय होगी।

---

[1] Constituent Assembly Proceedings, Vol. IX, p 277.

वित्तीय आपात (Financial Emergency)—यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाय कि इस प्रकार की परिस्थितियाँ उत्पन्न हो गई हैं जिनसे देश का या देश के किसी भाग का वित्तीय स्थायित्व संकट में है अथवा भारत की आर्थिक साख को खतरा है तो वह वित्तीय आपात की उद्घोषणा निकाल सकता है।[1] इस उद्घोषणा का प्रवर्त्तनकाल भी, युद्ध, बाह्य आक्रमण अथवा आभ्यन्तरिक अशान्ति के कारण वाली आपात उद्घोषणा के ही समान दो मास ही है। परन्तु यदि इसी बीच में संसद् के दोनों सदन अपने-अपने प्रस्तावों द्वारा इसे स्वीकृति दे दें तो यह अवधि बढ़ भी सकती है। यदि यह उद्घोषणा ऐसे समय में हो जबकि लोकसभा विघटित हो चुकी हो अथवा लोकसभा-विघटन उक्त दो मास के भीतर हो जाय, तो उक्त उद्घोषणा का समर्थन दो मास की अवधि के भीतर राज्य सभा के द्वारा आवश्यक होगा, और नव-निर्वाचित लोकसभा के द्वारा भी निर्वाचित होने के उपरान्त पहिले अधिवेशन की तिथि से ३० दिन के अन्दर समर्थन होना चाहिए। यदि नव-निर्वाचित लोकसभा उक्त वित्तीय आपात उद्घोषणा का समर्थन नहीं करती तो उक्त आपात उद्घोषणा लोकसभा के प्रथम अधिवेशन की तिथि से ३० दिन के उपरान्त प्रभावशून्य हो जाती है।[2]

वित्तीय आपात की उद्घोषणा के अधीन केन्द्रीय सरकार की कार्यपालिका-शक्ति किसी राज्य को वित्तीय औचित्य सम्बन्धी ऐसे सिद्धान्तों का पालन करने के लिए निर्देश देने तक जिन्हें राष्ट्रपति, भारत के वित्तीय स्थायित्व और आर्थिक दृढ़ता और आर्थिक साख के लिए देना आवश्यक और समुचित समझे, विस्तृत होगी।[3]

(१) इस संविधान में किसी बात के होते हुए भी ऐसे किसी निदेश के अन्तर्गत, राष्ट्रपति (क) राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में सेवा करने वाले व्यक्तियों के वेतनों और भत्तों में कमी के लिए निर्देश निकाल सकेगा, (ख) वह इस बात का भी उपबन्ध कर सकता है कि राज्य विधानमण्डलों द्वारा पास किये गए धन विधेयक राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित रखे जाएँगे।

(२) इस कालावधि में जिसमें कि वित्तीय आपात उद्घोषणा प्रवर्त्तन में है, उच्चतम न्यायालय और उच्च-न्यायालयों के न्यायाधीशों के सहित संघ के कार्यों के सम्बन्ध में सेवा करने वाले व्यक्तियों के सब या किसी वर्ग के वेतनों और भत्तों में कमी के लिए निदेश निकालने के लिए राष्ट्रपति सक्षम होगा।

राष्ट्रपति की आपात शक्तियों का मूल्यांकन (Emergency Powers Evaluated)—इसमें सन्देह नहीं है कि प्रत्येक राष्ट्र के जीवन में आपात काल आते हैं और ऐसे आपात कालों का सामना करने के लिए प्रत्येक राष्ट्र को पर्याप्त उपबन्ध करने चाहिएँ। एक लेखक ने लिखा था कि 'स्वरक्षा' (self-preservation) प्रत्येक राष्ट्र की प्रथम विधि होती है और हर एक राष्ट्र को ऐसी सक्षमता पार्जित करनी चाहिए जिससे वह सामने आये हुए आपात काल का सामना कर सके। प्रत्येक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न राज्य और राष्ट्रीयता के लिए यह अतीव आवश्यक है कि वह अपनी रक्षा करने में पूर्ण समर्थ हो। इसीलिए प्रत्येक राज्य में न्द्रीय शासन को उत्तरदायी ठहराया जाता है कि वह सम्पूर्ण देश की वाह्य आक्रमण और आभ्यन्तरिक अशान्ति एव हिंसा से रक्षा करे।

---

[1] अनुच्छेद ३६० (१)।

[2] अनुच्छेद ३६० (२), अनुच्छेद ३५२ (२) को भी वित्तीय आपात उद्घोषणा के ऊपर लागू करता है क्योंकि वे उपबन्ध युद्ध, बाह्य आक्रमण एवं आभ्यन्तरिक अशान्ति के कारण आपात उद्घोषणा से सम्बन्ध रखते हैं।

[3] अनुच्छेद ३६० (३)।

सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान ने किसी प्रकार की आपातकालीन क्तियो का उपबन्ध नही किया है। अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय की भी यही राय कि आपातकालीन शक्तियो से कोई विशेष शक्ति प्राप्त नही होती, और न आपात शक्तियो से उन शक्तियो में वृद्धि होती है जो सविधान ने दी हैं।[1] उक्त विधान तो केवल यही उपबन्धित करता है कि "सयुक्त राज्य अमरीका की सरकार घ के प्रत्येक राज्य को पूर्ण आश्वस्त करेगी कि वे हर स्थिति में पूर्ण स्वतन्त्र गणराज्य वने रहें और यदि बाह्य आक्रमण होगा अथवा यदि किसी राज्य का विधानण्डल, अथवा यदि विधानमण्डल सत्र में न हो तो उक्त राज्य की कार्यपालिका ार्थना एव प्रतिवेदन करे कि आन्तरिक विद्रोह की सम्भावना है तो सयुक्त राज्य मरीका तुरन्त सम्बन्धित राज्य की सहायता करेगा।[2] उक्त उपबन्ध के सहारे मरीका की राष्ट्रीय सरकार ने अपार शक्तियाँ अर्जित कर ली हैं। यदि देश के किसी ाग पर आक्रमण हो जाय तो राष्ट्रीय सरकार अपनी पूरी शक्ति से उक्त आपात ा सामना करेगी। इस प्रकार के सभी आपातो का सामना करने के लिए ांग्रेस ने सदैव राष्ट्रपति को विशाल शक्तियाँ प्रदान की हैं जिनके आधार पर वह हत्त्वपूर्ण विदेशी और घरेलू समस्याओ का स्वविवेक के अनुसार सफलतापूर्वक ामना कर सके। प्रथम विश्व-युद्ध में राष्ट्रपति विल्सन (Wilson) को सब प्रकार ी चीजों के उत्पादन, क्रय आदि का पूरा अधिकार था, जिनमें युद्ध के काम की भी चीजें, भोजन और सैनिकों की आराम व्यवस्था की चीजे सम्मिलित थी। उसके अधिकार मे युद्ध-नीति नियोजन, सैनिक क्षमता, औद्योगिक क्षमता और युद्ध अर्थ-व्यवस्था को सुनियोजित एव वृद्धि करने की पूरी शक्ति थी। द्वितीय विश्व-युद्ध ं राष्ट्रपति रूजवेल्ट लगभग सवैधानिक अधिनायक ही वन गया। किन्तु इस भारी प्रयत्न मे सर्वसाधारण की स्वतन्त्रताओ पर भी आवश्यकत प्रतिबन्ध लगे थे। किन्तु अमरीकन सविधान में ऐसा उपबन्ध नही है जिसके अनुसार वन्दी प्रत्यक्षीकरण (Habeas Corpus)[3] के सिवाय कोई अन्य मौलिक अधिकार युद्ध अथवा किसी प्रकार के आपात काल में स्थगित किये जा सकें। और अमरीका में बन्दी प्रत्यक्षीकरण का आदेश (writ of habeas corpus) भी उसी अवस्था मे निलम्बित हो सकता है जव या तो देश पर आक्रमण हो गया हो या देश मे मुक्त विद्रोह की स्थिति उत्पन्न हो गई हो।

---

[1] Home Building and Loan Association V Blaisdell

[2] अमरीका का सविधान, अनुच्छेद ४ (४)।

[3] अमरीका का सविधान, „ १ (६)।

संयुक्त राज्य अमरीका में ऐसा अवसर कभी नहीं आया जब कि केन्द्रीय शासन ने राज्य के मामलों में हस्तक्षेप किया हो या राज्यों के अधिकारों को निलम्बित इस आधार पर किया हो कि सम्बन्धित राज्य ने अपने संवैधानिक दायित्वों को पूर्ण नहीं किया। यदि ऐसी आन्तरिक अव्यवस्था की स्थिति उत्पन्न हो जाय जिससे अवयवी एकक राज्य का शासन चलाना असम्भव हो जाय, तो केन्द्रीय अथवा राष्ट्रीय सरकार सम्बन्धित राज्य द्वारा प्रार्थना करने पर अपने सशस्त्र बलों के बल पर राज्य की सहायता करती है। किन्तु यदि राज्य सरकारें आन्तरिक उपद्रवों के शमनार्थ राष्ट्रीय सरकार की सहायता की अपेक्षा करें और यदि वे स्वयं उक्त उपद्रव शान्त करने में असमर्थ ठहराये जाते हैं तो राष्ट्रीय शासन राज्यों में बारबार हस्तक्षेप कर सकता है। सामान्यत किसी राज्य का विधानमण्डल राष्ट्रपति से आन्तरिक उपद्रवों की स्थिति में सहायता की याचना करता है और यदि विधानमण्डल सत्र में नहीं है तो राज्य का गवर्नर अथवा राज्यपाल ही राष्ट्रपति से सहायता की याचना कर सकता है। किन्तु बिना किसी प्रार्थना के आने पर स्वयं राष्ट्रपति भी अपनी इच्छा से ऐसी स्थिति में हस्तक्षेप कर सकता है यदि वह ऐसा अनुभव करे कि संघीय विधियों और संघीय सचियों के प्रवर्त्तन में सशस्त्र प्रतिरोध की आशंका है अथवा यदि राष्ट्रीय शासन की सम्पत्ति खतरे में है। यदि राष्ट्रपति को आशंका हो कि संघीय विधियों का प्रवर्त्तन कठिन होगा अथवा यदि संघीय विधियों का विरोध हो सकता है तो ऐसी स्थिति में भी राष्ट्रपति सशस्त्र बलों के द्वारा हस्तक्षेप करके शान्ति स्थापित करा सकता है। १८९४ में राष्ट्रपति क्लीवलैंड ने इलिनोइस (Illinois) के राज्यपाल के विरोध के बावजूद शिकागो (Chicago) नगर में सैनिक भेज दिये और शान्ति स्थापित करा दी, जहाँ इतनी भयंकर रेलवे हड़ताल चल रही थी कि सारी व्यापार और डाक-व्यवस्था ठप्प हो गई थी। इसी प्रकार ग्रे, इण्डियाना, (Gray, Indiana) में श्रमिक झगड़े ने उग्र रूप धारण कर लिया था इसलिए राष्ट्रपति वुडरो विल्सन (Woodrow Wilson) ने भी सशस्त्र सैनिकों की सहायता लेकर शान्ति स्थापित करा दी थी। इसी प्रकार राष्ट्रपति हार्डिंग (Harding) ने रेलवे हड़ताल को रोकने के लिए सैनिकों को तैयार रहने का आदेश दे दिया था। १९४४ में जब हड़तालियों ने राष्ट्रपति की चेतावनियों पर कोई ध्यान नहीं दिया तो राष्ट्रपति ने सेना को आदेश दे दिया कि नार्थ अमेरिकन एयर प्लेन कारपोरेशन (North American Air Plane Corporation) की तमाम मशीनरी एवं सम्पत्ति पर अधिकार कर लिया जाय। किन्तु राष्ट्रपति इस प्रकार के हस्तक्षेप अपनी ही इच्छा से प्राय. नहीं करता, और यदि राष्ट्रपति कभी ऐसा हस्तक्षेप करता है, तो वह इस कारण ऐसा पग नहीं उठाता कि राज्य के अधिकारियों ने शान्ति रखने में कोई कोर-कसर की और स्थिति को संभाल न सके, अपितु इसलिए कि संघीय अथवा राष्ट्रीय सरकार का अधिकार है कि वह संघीय विधियों का यथायोग्य प्रवर्त्तन कराये और सारे देश की सारी भूमि पर राष्ट्रीय सरकार का आधिपत्य चले। राष्ट्रपति क्लीवलैंड की कार्रवाई को उचित प्रमाणित करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा था: "संविधान ने राष्ट्रीय

सरकार को जिन विधियो के प्रवर्त्तन का अधिकार सौंपा है और जिन अधिकारो की सुरक्षा का भार सौंपा है, उन विधियो का प्रवर्त्तन और उन अधिकारो की सुरक्षा राष्ट्रीय सरकार को अवश्य करनी होगी और उसके लिए समस्त राष्ट्र की समस्त शक्ति भी देश के किसी भाग में लगाई जा सकती है। राष्ट्रीय सरकार अपनी पूरी शक्ति के साथ अन्तर्राज्यीय वाणिज्य और डाक एव सचार-व्यवस्था की रक्षा करेगी और हर प्रकार की रुकावटो को दूर करेगी।"

इगलैंड में क्राउन को यह परमाधिकार (Prerogative) नही दिया गया है कि किसी समय आपात की उद्घोषणा कर सके। किन्तु देश की कार्यपालिका को युद्धकाल के लिए एव आभ्यन्तरिक असुरक्षा के काल के लिए कुछ आपात शक्तियाँ प्रदान की गई हैं, किन्तु उक्त शक्तियो पर ससद् का अधिकार है। ससद् के अधिनियमो के आधार पर ही क्राउन आपात की उद्घोषणा कर सकता है और उन्ही अधिनियमो के आधार पर परिषद् आदेश के रूप में राज्य की सुरक्षा के हित में विनियम निकाले जा सकते हैं। चूंकि यह विनियम सविधिक अधिकार के आधार पर बनाये जाते हैं, इसलिए ये विनियम स्वय सविधि की शर्तों के अनुसार ही होने चाहिएँ। यदि ये विनियम सविधि के विरुद्ध हैं तो न्यायालय उनको अवैध घोषित कर सकते हैं।

जर्मनी के वीमर सविधान के अनुच्छेद ४८ में आदेश है "जहाँ जर्मन देश में सार्वजनिक सुरक्षा और शान्ति को खतरा विद्यमान है, जर्मन राष्ट्रपति ऐसे उपाय कर सकता है जिनसे सुरक्षा और शान्ति स्थापित हो जाय और यदि इस दिशा में सशस्त्र वलो के प्रयोग की आवश्यकता पडे, तो वह यह भी कर सकता है। देश की शान्ति और सुरक्षा के स्थापित करने में राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि कुछ समय के लिए मौलिक अधिकारो को पूर्णत या अशत मर्यादित किया जा सकता है जो अनुच्छेदो में दिये गए हैं। जर्मन राष्ट्रपति (President of the Reich) को तुरन्त जर्मन ससद् (Reichstag) को बताना चाहिए कि उसने अनुच्छेद के अनुसार क्या कार्रवाई की। जर्मन ससद् (Reichstag) की आज्ञा पर उक्त कार्रवाई वापिस ले ली जायगी।" सविधान के इस उपवन्ध ने राष्ट्रपति को अधिकार दिया है कि यदि उसका समाधान हो जाय कि किसी समय जर्मन भूभाग में सार्वजनिक शान्ति और सुरक्षा के लिए गम्भीर खतरा उत्पन्न हो गया है, तो वह कुछ भी आवश्यक कार्रवाई कर सकता है और इस कार्रवाई में मौलिक अधिकारो को पूरी तरह या आशिक रूप से मर्यादित किया जा सकता है। राष्ट्रपति वॉन हिण्डनवर्ग (Von Hindenburg) ने इसी सवैधानिक उपवन्ध के वल पर १६२० में बर्लिन नगर को और १६२४-१६२५ में समस्त जर्मन राज्य को सेना-विधि (Martial Law) के मातहत रखा। इसलिए राष्ट्रपति की आपात शक्तियाँ वाह्य आक्रमण और आन्तरिक असुरक्षा के लिए कठोर थी।

स्विट्ज़रलैंड के सविधान ने भी आपात शक्तियो की व्यवस्था की है। सघीय परिषद् को अधिकार दिया गया है कि वह सघ के सविधान, विधियो, आज्ञप्तियो की और सघीय सन्धियो की रक्षा करे। तदनुसार सघीय परिषद् को अधिकार दिया गया है कि वह अपनी ओर से भी अथवा शिकायत आने पर हस्तक्षेप करे और

उचित कार्रवाई करे और प्रबन्ध करे ताकि कैण्टनो के शासन सहयोग करें और सघीय विधियो, आज्ञप्तियों और अन्तर्राष्ट्रीय सन्धियो की उचित क्रियान्विति करें। सघीय शासन, कैण्टन के विरुद्ध कार्रवाई में कैण्टन को दी जाने वाली सहायता रोक सकता है, और उक्त कार्रवाई के प्रवर्त्तन में सशस्त्र बलो से सहायता ली जा सकती है। १९१४ और विशेष रूप से १९३९ में सघीय सभा ने सघीय शासन को अपरिमित शक्तियाँ दे डाली थी जिनसे शासन देश की सुरक्षा, प्रादेशिक एकता और तटस्थता की रक्षा करे, और साथ ही समस्त देश की साख (credit), अर्थ-व्यवस्था (economic interest) और भोजन-व्यवस्था सुचारु रूप से बनी रहे।

सविधान का उपबन्ध है कि कैण्टनो के सविधान, समस्त देश के सविधान के उपबन्धों के प्रतिकूल न हो। सघ ने कैण्टनो के सविधानों की गारन्टी की है बशर्ते कि (क) कैण्टन के सविधान का कोई उपबन्ध सघीय सविधान के किसी उपबन्ध से टकराता न हो, (ख) कैण्टनो के सविधान ऐसे राजनैतिक अधिकार प्रदान करते हो जो प्रजातन्त्र अथवा गणराज्यो की शासन-प्रणाली के अनुरूप हो, और (ग) कैण्टनो के सविधान सर्वसाधारण को स्वीकार हों और यदि सर्वसाधारण का पूर्ण बहुमत उक्त सविधान में सशोधन करना चाहे तो कैण्टन के शासन, सविधान मे सशोधन की सुविधा प्रदान करें। किन्तु स्विट्ज़रलैंड में ऐसा कभी नही हुआ जब कि सघीय शासन ने कैण्टन के शासन को केवल इस कारण निलम्बित किया हो अथवा उसमें हस्तक्षेप किया हो कि कैण्टन के शासन ने अपने सवैधानिक दायित्वों को पूरा नही किया।

इन उदाहरणो से यह स्पष्ट होगा कि प्रत्येक देश का सविधान ऐसी आपात शक्तियो का उपबन्ध करता है जिनसे बाह्य आक्रमण अथवा आन्तरिक अशान्ति का एव अन्य राष्ट्रीय आपातो का सामना किया जा सके, और आपात कालों में नागरिको के अधिकार तथा अन्य सवैधानिक सुविधाएँ उस सीमा तक प्रतिबन्धित और मर्यादित कर दिये जाते हैं कि कार्यपालिका यथा आवश्यकता उपर्युक्त आपातो का सफलतापूर्वक सामना कर सके। इगलैंड में प्रसिद्ध कहावत है कि जब देश युद्धरत होता है, उस समय विधियाँ मौन रहती हैं और न्यायालय देश के हितो पर न्याय का बलिदान कर देते हैं (Inter arma silent leges)। किन्तु प्राय प्रत्येक देश मे कार्यपालिका सत्ता व्यवस्थापिका अधिकारो के आधीन आपात शक्तियाँ अर्जित कर लेती है। इगलैंड में स्वय ससद् कार्यपालिका को ऐसे अधिकार दे देती है, जिनसे सन्देहयुक्त व्यक्तियो को बिना मुकदमा चलाये गिरफ्तार किया जा सके। इस सम्बन्ध में 'दी डिफेन्स आफ दी रैल्म ऐक्ट, १९१४' (The Defence of the Realm Act, 1914), और 'एमर्जेन्सी पॉवर्स (डिफैन्स) ऐक्ट, १९३९' (Emergency Powers Defence Act, 1939) उदाहरण हैं। इसके अतिरिक्त 'युद्ध के कारण आपात' और 'आन्तरिक अशान्ति के कारण आपात, में भेद रखा जाता है तथा युद्ध-काल में 'विधि का शासन' (Rule of Law) अवश्य रखा जाता है। सयुक्त राज्य अमरीका का सविधान आदेश देता है: "बन्दी प्रत्यक्षीकरण के आदेश का अधिकार उस समय तक निलम्बित नही किया जा सकता जब तक कि युद्ध-काल

मे अथवा विद्रोह की स्थिति में उक्त अधिकार का निलम्बन अत्यावश्यक न हो जाय।"[1] उक्त उपबन्ध से यह स्पष्ट होगा कि बन्दी प्रत्यक्षीकरण आदेश का अधिकार केवल आक्रमण या आन्तरिक विद्रोह की स्थिति में ही निलम्बित किया जा सकता है। यह भी कहा जाता है कि उक्त आदेश को केवल कॉंग्रेस ही निलम्बित कर सकती है।[2] और यह निर्णय करना न्यायालयो का काम है कि क्या देश में वास्तव में ऐसी स्थिति वर्त्तमान है जिससे कॉंग्रेस का बन्दी प्रत्यक्षीकरण के सम्बन्ध में अधिकार का प्रयोग उचित हुआ अथवा अनुचित।[3] और जैसा कि बताया जा चुका है, अमरीका के सविधान में ऐसा उपबन्ध नही है, जिसने देश की कार्यपालिका अथवा व्यवस्थापिका को ऐसा अधिकार प्रदान किया हो कि वह युद्ध-काल में या किसी अन्य आपात काल में नागरिको के मौलिक अधिकारो को निलम्बित कर सकें। हाल ही के एक मुकद्दमे में न्यायालय ने निर्णय दिया था कि "युद्ध-काल मे भी सवैधानिक मौलिक स्वतन्त्रताओ का हनन नही किया जा सकता।"[4] नागरिको की स्वतन्त्रताओ और उनके अधिकारो पर राज्य की नियामक शक्ति (police power) द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धो की न्याय के अनुसार परीक्षा करनी चाहिए। आयरलैंड के सविधान ने कार्यपालिका को व्यवस्थापिका से स्वतन्त्र कोई आपात शक्तियाँ प्रदान नही की हैं।[5] हाँ, कार्यपालिका ऐसी कार्रवाई अवश्य कर सकती है जो वास्तविक बाह्य आक्रमण की दशा मे राज्य की सुरक्षा के लिए तुरन्त आवश्यक प्रतीत हो। किन्तु साथ ही सविधान ने यह भी आदेश दिया है कि "यदि आयरिश विधानमण्डल (Dail Eireann) सत्र में नही है तो उसे जल्दी से जल्दी आहूत किया जायगा।"[6] स्विट्ज़रलैंड में सघीय परिषद् राष्ट्रीय सभा की अनुचर है। सघीय परिषद् अपने अधिकार से कुछ भी नही कर सकती, और जब विदेशी मामलो अथवा सशस्त्र बलो अथवा सामान्य प्रशासन से सम्बन्धित किसी मामले में सघीय परिषद् अपने विशेषाधिकारो के प्रयोग द्वारा कुछ करना चाहती है तो ऐसी किसी कार्रवाई के लिए या तो सघीय परिषद् के पास राष्ट्रीय सभा की ओर से कुछ अधिकार मिला होना चाहिए या बाद में राष्ट्रीय सभा का उक्त कार्रवाई पर अनुसमर्थन आवश्यक होगा। इस प्रकार स्विट्ज़रलैंड मे सघीय परिषद् किसी भी हालत मे राष्ट्रीय सभा के ऊपर शासन नही कर सकती।

९—केवल भारत ही एक ऐसा देश है जिसने जर्मनी के वीमर सविधान का अनुसरण करते हुए राष्ट्रपति को आपात शक्तियाँ प्रदान की हैं। यह सही है कि भारत का राष्ट्रपति आपात की उद्घोषणा केवल अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा पर ही करेगा और आपात शक्तियाँ ग्रहण करने के पश्चात् वह अपने उन मन्त्रियों की राय

---

[1] अमरीका का सविधान अनुच्छेद १, खण्ड ९, उपखण्ड (२)।

[2] Ex parte Bollman

[3] Ex parte Milligan

[4] Home Building Association V Blaisdell

[5] आयरलैंड के सविधान का अनुच्छेद २८, खण्ड (३) उपखण्ड (३) और उक्त अनुच्छेद का सशोधन १९३९।

[6] आयरलैंड के सविधान का अनुच्छेद २८ (३)।

पर ही चलेगा जो ससद् के प्रति उत्तरदायी हैं और जो ससद् से ही शासन-सत्ता प्राप्त करते हैं। यह भी ठीक है कि आपात की उद्घोषणा ससद् के दोनो सदनो के समक्ष विचारार्थ रखी जायेगी, और आपात की उद्घोषणा जारी किये जाने के दो मास पश्चात् प्रवर्त्तन में नहीं रहेगी जब तक कि इस दो मास की अवधि मे ससद् के दोनो सदन सकल्पो द्वारा उक्त आपातकालीन उद्घोषणा का समर्थन न कर दें। इसके अतिरिक्त, सविधान के अनुच्छेद ३५९ के अन्तर्गत राष्ट्रपति को जो अधिकार दिया गया है कि वह आपात काल में नागरिकों के, सविधान के भाग III के मौलिक अधिकारो का न्यायालयो द्वारा प्रवर्त्तन निलम्बित कर सकेगा, केवल थोडे समय का अस्थायी अधिकार है, क्योकि उपबन्धित किया गया है कि राष्ट्रपति द्वारा पारित कोई भी आदेश शीघ्र से शीघ्र ससद् के समक्ष उसके विचारार्थ रखा जाय। इसलिए ऐसी स्थिति में आपात उद्घोषणा के प्रवर्त्तन और जारी रखने के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति एक प्रकार से ससद् ही में निवास करती है।

किन्तु भारत में आपातकालीन शक्तियो के प्रवर्त्तन और प्रयोग के सम्बन्ध में यह सही मूल्याकन नही है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्यो को भुलाया नहीं जा सकता।

(१) बिना ससद् से पूछे हुए भी आपात उद्घोषणा दो मास तक वैध रूप से प्रवर्त्तन में रह सकती है। यदि दो मास बाद भी उक्त उद्घोषणा को प्रवर्त्तन में रखना अभीष्ट हो तभी ससद् की स्वीकृति आवश्यक होती है और ऐसी स्वीकृति दो मास की प्रवर्त्तन-अवधि में ही प्राप्त हो जानी चाहिए। इसलिए कार्यपालिका को आपात उद्घोषणा के दो महीनो के लिए प्रवर्त्तित करने का अधिकार तो मिल ही जाता है।

(२) राष्ट्रपति ही निर्णय कर सकता है कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमें आपात उद्घोषणा की जाय, और राष्ट्रपति के उक्त निर्णय की न्याय्यता पर न्यायालय विचार नही कर सकते।

(३) 'युद्ध के कारण आपात' और 'शान्तिकालीन आपात' अर्थात् आभ्यन्तरिक अशान्ति के कारण आपात्' में कोई भेद नही किया गया है। देश में किसी भी प्रकार की अशान्ति हो, या अशान्ति का खतरा उत्पन्न हो जाय, जैसे आम हडताल के कारण गडबडी की आशका हो, तो भी आपात की उद्घोषणा की जा सकती है, और उसी प्रकार यदि देश पर बाह्य आक्रमण हो जाय या देश में विद्रोह की स्थिति उत्पन्न हो जाय तो भी उतनी ही सरलता से आपात की उद्घोषणा की जा सकती है।

(४) ज्योही आपात काल की उद्घोषणा होगी, सविधान के अनुच्छेद १९ द्वारा प्रदत्त सात मौलिक स्वतन्त्रताओ के अधिकार निलम्बित हो जाते हैं।

(५) सामान्य अवस्थाओ में, सविधान के भाग तृतीय में वर्णित मौलिक अधिकारों को न तो संसद् न्यून कर सकती है और न राज्यो के विधानमण्डल मर्यादित कर सकते हैं। किन्तु जब तक आपात उद्घोषणा प्रवर्त्तन में रहेगी; सघ और

राज्यो की कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के ऊपर मौलिक अधिकारो के सम्बन्ध में प्रतिबन्ध निलम्बित हो जाते हैं और मौलिक अधिकारो के हनन के सम्बन्ध में यदि उक्त आपात उद्घोषणा के प्रवर्त्तन काल में न्यायालयो की शरण ग्रहण की जायगी तो न्यायालय न्याय नही दे सकेंगे, अर्थात् न्यायालयो में अपील नही की जायगी।

(६) राष्ट्रपति को अधिकार है कि आपात उद्घोषणा के प्रवर्त्तन काल में मौलिक अधिकार निलम्बित किए जा सकते हैं। किन्तु यह आवश्यक नही है कि राष्ट्रपति एकबारगी सभी मौलिक अधिकारो को निलम्बित करे। अपने आदेश के द्वारा वह निर्णय करता है कि किन-किन मौलिक अधिकारो का निलम्बन वह आवश्यक समझता है। किन्तु राष्ट्रपति को कोई रोक नही सकता यदि वह सभी मौलिक अधिकारो को निलम्बित कर दे।

(७) सविधान का आदेश है कि मौलिक अधिकारो के निलम्बन का राष्ट्रपति का आदेश ससद् के दोनो सदनो के समक्ष रखा जाय। किन्तु उक्त आदेश ससद् के समक्ष कब रखा जाय, यह निर्णय राष्ट्रपति ही कर सकता है। सविधान का तो केवल यही आदेश है कि मौलिक अधिकारो का निलम्बन-आदेश जल्दी से जल्दी ससद् के दोनो सदनो के समक्ष रखा जाय।

(८) यह एक अनहोनी-सी चीज है कि सघीय शासन-व्यवस्था इतनी एकात्मक शासन की ओर उतर आए कि अपने अवयवी एकको के शासन-तन्त्र को समाप्त कर दे और उनके सविधानो को आपातकालीन उद्घोषणा के प्रवर्त्तन काल में निलम्बित कर दे। किसी एकक राज्य में शासन-तन्त्र की विफलता की उद्घोषणा ऐसी स्थिति में भी की जा सकती है जबकि किसी राज्य में राजनीतिक गतिरोध उत्पन्न हो जाय, जैसा कि पजाब, पैप्सू, ट्रावनकोर-कोचीन और आन्ध्र में हुआ। यही अन्त नही है, यदि कोई अवयवी एकक राज्य केन्द्रीय शासन के आदेशों का पूर्णत पालन न कर सके तो भी उक्त राज्य मे सवैधानिक तन्त्र की विफलता की घोषणा की जा सकती है।

हमारे सविधान में जिस रूप में आपात शक्तियो की व्यवस्था की गई है, उसके बारे में विभिन्न लोगो ने विभिन्न मत व्यक्त किए हैं। अनुच्छेद ३५९ ने राष्ट्रपति को अधिकार दिया है कि आपात काल की उद्घोषणा के प्रवर्त्तन-काल में मौलिक अधिकार निलम्बित किए जा सकते हैं और वे न्यायालयो द्वारा न्याय्य नही ठहराए जा सकते। सविधान सभा में उक्त अनुच्छेद की खरी आलोचना की गई थी। कुछ लोगो ने इसको सविधान का अत्यन्त प्रतिक्रियावादी अध्याय बताया था। कुछ अन्य लोगो ने इसको अत्यन्त निरकुश एव प्रतिक्रियावादी अध्याय बताया और कुछ और लोगों ने इसे १९२० के ब्रिटिश आपातकालीन अधिनियम की भद्दी प्रतिकृति कहा। यह भी कहा गया कि किसी अन्य देश की कार्यपालिका को इतनी कठोर प्रकृति की शक्तियाँ नही दी गई हैं जितनी कि भारत की कार्यपालिका को। डा० अम्बेदकर ने भी सविधान सभा में स्वीकार किया था कि भारत शान्ति-काल में सघ होगा किन्तु युद्ध-काल में एकात्मक राज्य हो जायगा। केन्द्र की स्थिति पर मत व्यक्त करते हुए डा० बोधराज शर्मा ने लिखा है "इसलिए भी भारतीय सविधान के निर्माताओ ने केन्द्र को शक्ति-

शाली बनाकर और आपात काल में ऐसी शक्तियाँ देकर जिनसे एकको के शासन में हस्तक्षेप किया जा सके, बुद्धिमत्ता का काम किया।"[1]

इस सम्बन्ध में यह जानना चाहिए कि इगलैंड का शासन भी एकात्मक है फिर भी उस देश में क्राउन को आपात की उद्घोषणा करने का परमाधिकार प्राप्त नही है। क्राउन को आपात शक्तियाँ ससद् से ही प्राप्त हुई हैं और प्रत्येक नागरिक को अधिकार है कि वह न्यायालय में जाकर यह निर्णय करा सकता है कि उसके मौलिक अधिकारो का जो हनन हुआ है, वह ससद् द्वारा अधिनियमित विधि के अनुकूल है अथवा नही। इगलैंड में आपात काल चाहे युद्ध के कारण हो अथवा आन्तरिक अशान्ति के कारण हो, किन्तु हर अवस्था में ससद् पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न निकाय रहता है और देश में विधि का शासन सदैव अक्षुण्ण बना रहता है।

इसमें सन्देह नही है कि आपात काल में राष्ट्रीय अथवा केन्द्रीय शासन सुदृढ और शक्ति-सज्जित होना चाहिए। प्रत्येक देश का इतिहास हमको यही शिक्षा देता है। भारत में पूर्वगामी शासन की अवस्थाओ ने भी सविधान के भावी स्वरूप पर प्रभाव डाला था, और साथ ही देश के राजनीतिक और आर्थिक ढाँचे ने भी सविधान के निर्माताओ को सविधान के निर्माण करने में एक दिशा प्रदान की थी। इसमें इसलिए कोई आश्चर्य नही है यदि आपातकालीन शक्तियाँ कई प्रकार से कठोर हो गई हैं। किन्तु आपात शक्तियो का प्रयोग सविधान के अनुसार होना चाहिए। कुछ लोगो का विचार है कि सविधान ने पर्याप्त उपबन्ध सुझाए हैं, जिनके अनुसार सघीय कार्यपालिका शक्तियो का दुरुपयोग नही कर सकेगी। कहा गया है कि चूकि सघीय कार्यपालिका ससद् के प्रति उत्तरदायी है यही आपात शक्तियो के दुरुपयोग के विरुद्ध पर्याप्त सरक्षण होगा। और इसके अतिरिक्त आपात उद्घोषणा तभी तक प्रवर्त्तन में रह सकती है जब तक कि ससद् तदर्थ अनुमति दे। फिर भी स्थिति तो भद्दी है ही। राष्ट्रपति कम से कम दो महीने के लिए तो विना ससद् से पूछे आपात की उद्घोषणा कर ही सकता है। और आपात की उद्घोषणा के प्रवर्त्तन में आते ही नागरिको की स्वतन्त्रताएँ निलम्बित हो जाती हैं और उनका न्यायालयो से न्याय माँगने का अधिकार भी समाप्त कर दिया जाता है। अनुच्छेद ३५९ के कारण नागरिको को यह अवसर नही रहता कि कार्यपालिका के अन्याय के विरुद्ध वे न्याय करा सके। यह स्थिति किसी भी लोकतन्त्रात्मक शासन के लिए अनहोनी-सी है, चाहे इसे हम अन्याययुक्त न भी मानें। हमारे सविधान के आपातकालीन, शक्तियो से सम्बन्धित उपबन्धो के समान उपबन्ध न तो अमरीका के सविधान में मिलेंगे और न ब्रिटेन के सविधान में।[2] चाहे लोगो को यह अच्छा लगे या न लगे, किन्तु यह वचन सर्वथा सत्य है जो अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने प्रसिद्ध अभियोग 'ऐक्स पार्टी मिलिगन'

---

[1] "Position of the Centre in the New Indian Constitution", The Indian Journal of Political Science, July-September, 1951, p 62

[2] अमरीका के सविधान में विदेशी आक्रमण अथवा आन्तरिक विद्रोह की स्थिति में बन्दी प्रत्यक्षीकरण निलम्बित रहता है, और इगलैण्ड में प्रथम विश्व-युद्ध के बाद से बन्दी प्रत्यक्षीकरण का निलम्बन समाप्त कर दिया गया है।

(Ex Parte Miligan) के सम्बन्ध के निर्णय में दिया था। सर्वोच्च न्यायालय ने कहा था "आज तक मनुष्य ने इतना हानिकारक कोई सिद्धान्त नही बनाया जितना यह सिद्धान्त बनाया कि नागरिको के अधिकार आपात कालो में सीमित किए जा सकते हैं।"

राष्ट्रपति की स्थिति (The Role of the President)—देश की शासन-व्यवस्था में भारत के राष्ट्रपति का जो गौरव-पूर्ण स्थान है उसके सम्बन्ध में विभिन्न लोगो के विभिन्न मत हैं। ग्लैडहिल ने लिखा है कि "समय ही बताएगा कि अपने कर्त्तव्यो के निर्वहन में राष्ट्रपति अपने व्यक्तिगत विचारो के अनुसार कहाँ तक कार्य करेगा।" उसने आगे लिखा है कि "कनाडा और आस्ट्रेलिया के सविधानो ने शासन के दो विभिन्न प्रकार के कृत्यो में भेद रखा है, अर्थात् वे कृत्य जो गवर्नर-जनरल अपने विवेक से करे और वे कृत्य जो वे अपनी मन्त्रि-परिषदो की सलाह पर करें, किन्तु अभिसमयो ने उक्त विभेद को अब प्राय समाप्त कर दिया है और अब गवर्नर-जनरल केवल अपने मन्त्रियो की सलाह पर ही चलते हैं।" ग्लैडहिल आगे कहता है कि "चाहे भारत में ऐसा ही विकास हो, किन्तु सम्भवत· सविधान के निर्माताओ की ऐसी इच्छा नही थी कि राष्ट्रपति मन्त्रियो की सलाह पर ही चले।"[1] इसके आगे वह कहता है "यह मान लेना सम्भव होगा कि सविधान ने ऐसी व्यवस्था पर्याप्त रूप से नहीं की है और पर्याप्त भय है कि शायद भारत का राष्ट्रपति अधिनायक बन बैठे।" ग्लैडहिल को भय है कि कोई अत्यधिक महत्त्वाकाक्षी और असावधान राष्ट्रपति सविधान की भावना के विरुद्ध कार्रवाई कर सकता है फिर भी सविधान का उल्लघन किए बिना वह अपनी महत्त्वाकाँक्षाएँ पूर्ण कर सकता है और प्राधिकारवादी शासन की स्थापना कर सकता है।" डा० बी० एम० शर्मा ने इण्डियन जर्नल आफ पॉलिटिकल साइस मे 'भारतीय गणराज्य का राष्ट्रपति' नामक शीर्षक के लेख में लिखा है[2] "भारतीय सविधान ने राष्ट्रपति को अत्यधिक विस्तृत शक्तियाँ प्रदान की हैं, किन्तु इस सम्बन्ध मे कोई उपबन्ध नही दिया है कि राष्ट्रपति उक्त शक्तियो का प्रयोग किस प्रकार करे। सविधान ने यह अभिसमयो पर छोड दिया है कि राष्ट्रपति अपने कर्त्तव्यों का निर्वहन किस प्रकार करेगा, अर्थात् क्या वह सवैधानिक प्रधान बना रहेगा अथवा क्या वह राज्य की कार्यपालिका का भी प्रधान बनना चाहेगा।" प्रो० मृत्युञ्जय बनर्जी ने भारतीय गणराज्य के राष्ट्रपति शीर्षक पर कठोर भाषा में लिखा है "राष्ट्रपति की स्थिति क्या होगी, यह तो भविष्य ही बताएगा, फिर भी भारतीय सविधान के निर्माताओ ने भारी गलती की है और एक सदिग्ध और द्वयर्थक सविधान तैयार किया है जिसमे उपबन्धित कुछ किया है, किन्तु जिसके अर्थ कुछ निकलते हैं। लिखित सविधान, सदैव स्पष्ट शब्दो मे विभिन्न निकायो और शासन के अगो के कार्यो और शक्तियो का निरूपण करते है ताकि विभिन्न शासन के अगो में विरोध और सघर्ष की सम्भावना न रहे। किन्तु भारतीय सविधान के निर्माताओ ने सविधान

---

[1] The Republic of India, op citd, p 107-108

[2] Oct December, 1950, p 8

लिखते समय इस बात पर बिल्कुल ध्यान नही दिया और सम्भवत आने वाली पीढ़ियाँ उन्हे दोषी ठहराएँ। इसमें कोई हानि न होती और सविधान के निर्माताओ की इसमें मान-हानि भी न होती यदि सविधान मे केवल यह उपबन्ध स्पष्ट भाषा में दे दिया गया होता कि राष्ट्रपति अपने कर्त्तव्यो के निर्वहन में अपनी मन्त्रि-परिषद् की सलाह पर चलेगा।"[1]

जिस समय सविधान सभा में सविधान पर विचार हो रहा था, राष्ट्रपति की शक्तियो सम्बन्धी उपबन्धो की कठोर आलोचना की गई थी। कहा गया था कि राष्ट्रपति को जो शक्तियाँ भारत सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किये जाने के लिए,[2] मन्त्रियो के निर्णयो को मन्त्रि-परिषद् के सम्मुख रखवाने के लिए,[3] ससद् मे उस समय लम्बित किसी विधेयक विषयक अथवा अन्य विषयक सन्देश भेजने के लिए[4] या विधेयक पर अनुमति देने या रोक लेने के लिए दी गई है,[5] वे ससदीय शासन-प्रणाली के विरुद्ध हैं। कहा गया है कि भारत के राष्ट्रपति की ये शक्तियाँ अमरीका के राष्ट्रपति की शक्तियो के समान हैं और इनके कारण राष्ट्रपति और ससद् में सघर्ष रहेगा और राष्ट्रपति इन अधिकारो के बल पर सदैव मन्त्रिमण्डल के कार्य में हस्तक्षेप करेगा। कुछ लोगो ने यह भी भय प्रकट किया है कि सविधान में ऐसा स्पष्ट उपबन्ध नही है कि राष्ट्रपति सदैव मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा मानने पर बाध्य होगा, और इस तथ्य से लाभ उठाकर कोई राष्ट्रपति किसी समय अपने मन्त्रियो की सलाह की उपेक्षा कर सकता है और स्वतन्त्र विवेक के अनुसार शासन कर सकता है। ऐसे आलोचक अपनी आलोचना के समर्थन में डा० राजेन्द्रप्रसाद के कथन को उद्धृत करते हैं। सविधान के अनुच्छेद ७४ (१) के सम्बन्ध मे डा० राजेन्द्रप्रसाद ने सविधान सभा में कहा था "मुझे सन्देह है कि इन शब्दो से राष्ट्रपति के ऊपर कोई प्रभावी अकुश लगेगा। उक्त अनुच्छेद स्पष्टत यह उपबन्धित नही करता कि राष्ट्रपति मन्त्रणा स्वीकार करने पर बाध्य होगा। इसमें दिक्कत ही क्या है यदि स्पष्ट उपबन्ध कर दिया जाय कि राष्ट्रपति को मन्त्रणा स्वीकार करनी पडेगी।"

कुछ लोगो का विचार है कि जैसे अभिसमय इगलैंड मे विकसित हुए हैं जिनके अनुसार सम्राट् मन्त्रियो की सलाह मानने पर विवश है, वैसे अभिसमय भारत मे विकसित नही होगे। सविधान भी एक वृक्ष के समान किसी विशेष देश की मिट्टी में ही विकसित होता है और वह विदेशी मिट्टी पर नही पनप सकता। इगलैंड में अलिखित सविधान है किन्तु भारत में लिखित सविधान है। इसके अतिरिक्त दोनो देशो के लोगो के राजनैतिक प्रशिक्षण मे भारी भेद है। अंग्रेजी शासन-व्यवस्था में अभिसमयो को भारी महत्त्व दिया जाता है किन्तु यह आवश्यक नही है कि भारतीय लोग भी

---

[1] The President of the Indian Republic—Indian Journal of Political Science, Oct -December, 1950, p 14-15.

[2] अनुच्छेद ७७ (३)।

[3] अनुच्छेद ७८ (ग)।

[4] ,, ८६ (२)।

[5] ,, १११।

राजनीति के क्षेत्र में अभिसमयो को वही महत्त्व देंगे। इसलिए ऐसी सम्भावनाएँ स्पष्ट रूप से विद्यमान हैं जिनसे राष्ट्रपति स्वेच्छाचारी शासक बन बैठे, और जर्मनी का वीमर सविधान हमको स्पष्ट चेतावनी देता है कि ऐसा सम्भव हो सकता है।

किन्तु ऐसा सोच लेना बाल की खाल खेंचने के समान होगा। जव तक कि राज्य का औपचारिक प्रधान न हो, ससदीय शासन-प्रणाली किसी भी देश में सफल नही हुई है, चाहे वह प्रधान इगलैड के राजा के समान सवैधानिक राजा हो अथवा भारत या फ्रास के राष्ट्रपति के समान राष्ट्रपति हो। सविधान ने भारत में ससदीय लोकतन्त्र की स्थापना की है और ससदीय लोकतन्त्र का प्रथम मौलिक सिद्धान्त यह है कि राज्य का प्रधान प्रशासन का प्रधान नही होता। राष्ट्रपति की यही वास्तविक स्थिति है। वह राष्ट्र का प्रतीक है किन्तु राष्ट्र का शासक नही है। राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त मन्त्रि-परिषद् में प्रशासन की सत्ता निवास करती है, किन्तु यह आवश्यक है कि मन्त्री लोग आवश्यकत ससद् के सदस्य हो।[1] यद्यपि मन्त्री लोग राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपने पदो पर रहते हैं[2] किन्तु उसका प्रसाद वास्तव में ससद् का ही प्रसाद है और ससद् के ही प्रसाद-पर्यन्त मन्त्री लोग अपने पदो पर बने रहते हैं, क्योकि सविधान ने स्पष्टत उपबन्धित किया है कि मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से लोक सभा के प्रति उत्तरदायी होगी।[3] लोक-सभा के प्रति उत्तरदायित्व के अर्थ हैं कि मन्त्रि-परिषद् को लोकसभा का विश्वास प्राप्त है और ऐसी स्थिति में यदि कोई राष्ट्रपति अपनी मन्त्रि-परिषद् को अपदस्थ करने का साहस करेगा तो उक्त कृत्य असवैधानिक माना जायगा और ऐसे दुस्साहस के फलस्वरूप स्वय राष्ट्रपति अपने राष्ट्रपति पद को भी खो सकता है। यह भी सम्भावना है कि उक्त कार्रवाई के कारण राष्ट्रपति के ऊपर महाभियोग (impeachment) लगाया जा सके क्योकि ससद् कभी भी राष्ट्रपति का असवैधानिक कृत्य सहन नही करेगी, विशेषकर जब कि ससद् के विश्वास-भाजन मन्त्रि-परिषद् को अपदस्थ करके स्वय ससद् की राजनैतिक सत्ता को चुनौती दी गई है।[4] सविधान ने राष्ट्रपति से प्रतिज्ञा ली है कि "मै अपनी पूरी योग्यता से सविधान और विधि का परिरक्षण, सरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा।"[5] सविधान की आज्ञा है कि मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगा, और उत्तरदायी शासन का नियम यह है कि राष्ट्रपति अपनी मन्त्रि-परिषद् को तभी अपदस्थ कर सकता है जव कि मन्त्रि-परिषद् ने लोकसभा का विश्वास खो दिया हो।

राष्ट्रपति अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा की उपेक्षा नही कर सकता। जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में वताया भी गया था, राष्ट्रपति को अपने मन्त्रियों की मन्त्रणा स्वीकार करनी ही होगी। मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली के सिद्धान्त और

---

[1] अनुच्छेद ७५ (५)। [2] अनुच्छेद ७५ (२)।

[3] ,, ७५ (३)।

[4] ,, ६१ (१)। जब राष्ट्रपति के ऊपर सविधान के अतिक्रमण के लिए महाभियोग चलाना हो

[5] अनुच्छेद ६० राष्ट्रपति द्वारा शपथ अथवा प्रतिज्ञान।

व्यवहार के अनुकूल ही यह प्रथा नही है, अपितु भारत के सविधान ने इस दिशा में स्पष्ट आदेश भी दिया है। सविधान ने स्पष्ट आदेश दिया है कि प्रधान मन्त्री सघ कार्यों के प्रशासन सम्बन्धी मन्त्रि-परिषद् के समस्त विनिश्चयो को राष्ट्रपति के पास पहुँचावे।[1] पुन प्रधान मन्त्री का यह भी कर्त्तव्य है कि यदि राष्ट्रपति चाहे तो किसी विषय को जिस पर किसी मन्त्री ने विनिश्चय कर दिया हो किन्तु मन्त्रि-परिषद् ने विचार नही किया हो, परिषद् के सम्मुख रखे।[2]

सविधान के अनुच्छेद ७८ में शब्द 'विनिश्चय' जान-बूझकर रखा गया है। इसका अर्थ है कि मविधान चाहता है कि मन्त्री लोग और मन्त्रि-परिषद् ही निर्णय या विनिश्चय करें। विनिश्चय अथवा निर्णय करना राष्ट्रपति का काम नही है और सविधान नही चाहता कि राष्ट्रपति विनिश्चय करे। सविधान चाहता यह है कि मन्त्री और मन्त्रि-परिषद् विनिश्चय करें, किन्तु वे विनिश्चय राष्ट्रपति के नाम से प्रवर्त्तित किए जाएँ। इगलैड में भी मन्त्री लोग ही विनिश्चय करते हैं और यह प्रथा लम्बे अभिसमय पर आधारित है। भारत में भी मन्त्री लोग ही निर्णय और विनिश्चय करते हैं क्योकि सविधान की भी ऐसी ही आज्ञा है।

इसका निर्वचन एक अन्य प्रकार से भी किया जा सकता है। सविधान में ऐसा कोई उपबन्ध नही है जिसके अनुसार राष्ट्रपति को उत्तरदायी ठहराया गया हो। किन्तु मन्त्रि-परिषद् को विशेष रूप से लोकसभा[3] के प्रति उत्तरदायी ठहराया गया है। मन्त्रि-परिषद् को उत्तरदायी बनाने के कोई अर्थ ही न रह जाएँगे यदि सविधान की इच्छा यह न होती कि शासन की नीतियो के निर्माण करने में अन्तिम निर्णय मन्त्रि-परिषद् का ही होगा। सत्य तथ्य यह है कि सविधान ने अनुच्छेद ७८ के अन्तर्गत नीतियो के निर्माण और विनिश्चय सम्बन्धी सारा उत्तरदायित्व मन्त्रिमण्डल को ही सौंपा है।

जब हर बात में राष्ट्रपति को मन्त्रियो की ही मन्त्रणा पर चलना है तो सविधान के अनुच्छेद ७७ (३) के इस उपबन्ध का कि "भारत सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किए जाने के लिए तथा मन्त्रियों में उक्त कार्य के बँटवारे के के लिए राष्ट्रपति नियम बनावेगा" कोई सवैधानिक महत्त्व नही रह जाता।[4] यदि उक्त उपबन्ध का कुछ सवैधानिक महत्त्व मान भी लिया जाय तो भी जब राष्ट्रपति को सविधान के मन्त्रिमण्डल की सभाओ का सभापतित्व करने की आज्ञा नही दी है और जब समस्त विनिश्चय मन्त्रिमण्डल की सभाओ में किए जाते हैं तो कैसे माना जा सकता है कि राष्ट्रपति नियम बनाता है अथवा राष्ट्रपति विनिश्चय करता है। शासन के विभिन्न विभागो के अध्यक्ष मन्त्री लोग ही होते हैं और अपने-अपने विभागो के प्रशासन में वे असदिग्ध रूप से मन्त्रिमण्डल के निर्णयो का अनुसरण करते हैं और तदनुसार उन्हीं निर्णयो, विनिश्चयो और नीतियो की क्रियान्विति कराते हैं। इसलिए इस प्रथा के विरुद्ध कार्रवाई करना उस मन्त्रिमण्डलीय सामूहिक

---

[1] अनुच्छेद ७८ (क)। [2] अनुच्छेद ७८ (ग)।

[3] ,, ७४ (२)। [4] ,, ७७ (३)।

उत्तरदायित्व की भावना के विरुद्ध होगा जिसकी सविधान ने आज्ञा दी है।[1]

ग्लैडहिल के इस कथन में कोई सार नही है कि राष्ट्रपति बिना सविधान का उल्लघन किए हुए भी एकाधिकारवादी शासन-व्यवस्था स्थापित कर सकता है।[2] उसका कहना है कि "कोई महत्त्वाकाक्षी राष्ट्रपति अपनी सामान्य शक्तियो के प्रयोग के द्वारा ही अपने मन्त्रियो को बर्खास्त कर सकेगा[3] और नये आम चुनाव की आज्ञा दे सकेगा।[4] इसके अतिरिक्त, राष्ट्रपति यदि चाहेगा तो छ मास तक नव-निर्वाचित लोकसभा को आहूत नही करेगा[5] और उस लोकसभा के अनुपस्थिति-काल में अपनी इच्छा के मन्त्री नियुक्त कर सकेगा क्योकि छ मास की कालावधि के समाप्त हो जाने पर ही मन्त्री ससद् की सदस्यता के अभाव में मन्त्री नही रह सकता।[6] इसके बाद राष्ट्रपति, अध्यादेश जारी कर सकता है, जो ससद के अधिनियमो के समान ही प्रभावी होते हैं।[7] ऐसी स्थिति में आपात की उद्घोषणा की जा सकती है और ऐसी उद्घोषणा के विरुद्ध न्यायालयो में अपील नही की जा सकती। इसके उपरान्त आपात शक्तियो का सहारा लेकर राष्ट्रपति मौलिक अधिकारो को निलम्बित कर देगा और राज्यो के शासन को अपने हाथो में ले लेगा, और चूँकि वह समस्त सशस्त्र बलो का सर्वोच्च सेनापति भी है, इसलिए वह सेना की सहायता से और सिविल प्राधिकारियो को अपने साथ मिलाकर ऐसी स्थिति उत्पन्न कर सकता है जिससे लोकसभा के निर्वाचित सदस्य उसकी इच्छाओ के दास हो और इस प्रकार वह ससद् को पूरी तरह प्रभावित कर सकेगा।"

श्री ग्लैडहिल ने स्वय स्वीकार किया है कि उपर्युक्त स्थिति दु स्वप्न जैसी प्रतीत हो सकती है किन्तु ऐसी ही स्थिति में जर्मनी का वीमर सविधान नष्ट किया गया था। जहाँ तक श्री ग्लैडहिल की कल्पना का प्रश्न है, हमें कुछ भी नही कहना है क्योंकि हर एक व्यक्ति कुछ भी कल्पना करने में स्वतन्त्र है। यदि यह भी मान लिया जाय कि उक्त कल्पना सविधान-विधि के आधार पर की गई है तो भी यह सत्य नही है। वैधिक सत्य सदैव ही राजनीतिक सत्य नही हो सकते, और कोई भी समझदार राष्ट्रपति, केवल इसलिए कि वह महत्त्वाकाक्षी राष्ट्रपति है और इसलिए कि वैधिक रूप से वह ऐसा कर सकता है, वह यह सब कभी नही करेगा जिसकी श्री ग्लैडहिल ने कल्पना की है। जैनिंग्ज के अनुसार, "शासन एक सहकारी कृत्य है और केवल वैधिक नियमो के आधार पर ही सामुदायिक एव सहकारी शासन नही चलाया जा सकता।"[8] शासन में ऐसे बहुत से व्यक्तियो का सहयोग प्राप्त करना पडता है जो शासन और प्रशासन में सहयोग देते हैं। ऐसे प्रत्येक व्यक्ति को किसी न किसी नियम का अनुसरण तो अवश्य ही करना पडेगा यदि उसे अपना कार्य

---

[1] अनुच्छेद ७५ (३)।

[2] The Republic of India, op citd , p 108

[3] अनुच्छेद ७५ (२)। [4] अनुच्छेद ८३ (२)।

[5] ,, ८५ (१)। [6] ,, ७५ (५)।

अच्छे ढग से सम्पादित करना है, अब उन नियमो को चाहे तो शासन के नियम (rules of political behaviour) कह लीजिए, चाहे विधियाँ (laws) कह लीजिए और चाहे अभिसमय (conventions) कह लीजिए। मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली के नियमो और अभिसमयो की यही माँग है कि ऐसे राज्य का प्रमुख आवश्यकत गौरवपूर्ण और तटस्थ व्यक्ति ही होना चाहिए। सविधान ने देश मे ससदीय शासन-प्रणाली की आधार-शिला रखी है, और राष्ट्रपति उस शासन-व्यवस्था का आवश्यक अग है। इसमें कोई सन्देह नही है कि वह राज्य का प्रथम कोटि का नागरिक (first citizen of the State) है किन्तु देश की राजनीतिक और प्रशासनिक व्यवस्था में वह सर्वेसर्वा नही है। प्रधान मन्त्री ही वास्तव मे शासन का मुखिया है। वही राष्ट्र का मार्ग-दर्शन करता है और वही देश के राजनीतिक जीवन-पोत का कर्णधार है। राष्ट्रपति की शक्तियो की परीक्षा करते हुए प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने कहा था "हमने अपने राष्ट्रपति को कोई वास्तविक शक्ति नही दी है, फिर भी हमारे राष्ट्रपति की स्थिति महान् अधिकारो और गौरव से पूर्ण है।"

राष्ट्रपति, उपदेष्टा के रूप में (The President as Adviser)—डा० जैनिग्ज ने ब्रिटिश सम्राट् की शक्तियो और स्थिति का विश्लेषण करते हुए लिखा है कि "जो कृत्य किसी की मन्त्रणा पर किए जाते हैं, आवश्यकत औपचारिक अथवा यन्त्रवत् नही होते।" ऐसे अवसर कई बार आ सकते हैं जबकि सम्राट् को मनाना पडता है और ऐसे भी अवसर आ सकते हैं जबकि स्वय सम्राट् मन्त्रियो की खुशामद करे। श्री एस्क्विथ ने सम्राट् के अधिकारो और उत्तरदायित्वो की विवेचना करते हुए लिखा है कि "सम्राट् को अधिकार है और यह उसका कर्त्तव्य भी है कि वह मन्त्रियो को वह सारी जानकारी दे जो उसे हो, मन्त्रियो के सुझाये गए मार्ग के सम्बन्ध में सारी आपत्तियाँ मन्त्री को बतावे जिन्हे वह उचित समझता हो और यदि उसके दिमाग़ में कोई वैकल्पिक नीति हो तो उसे भी मन्त्री को सुझा दे। ऐसी मन्त्रणाओ को सभी मन्त्री पूर्ण समादर के साथ सुनेंगे और सम्राट् की मन्त्रणा का अन्य सामान्य व्यक्तियो की मन्त्रणा की अपेक्षा अधिक आदर होना भी चाहिए।"[1] इसी तथ्य को बेजहॉट ने इस प्रकार व्यक्त किया है "सम्राट् के तीन अधिकार हैं, अर्थात् परामर्श देने का अधिकार, प्रोत्साहन देने का अधिकार और चेतावनी देने का अधिकार।" बेजहॉट ने आगे यह भी लिखा है कि "बुद्धिमान् सम्राट् को इन तीन अधिकारों के अतिरिक्त चौथे अधिकार की कामना भी नही करनी चाहिए।"

भारतीय सविधान ने बिलकुल यही रोल (role) भारतीय राष्ट्रपति को सौंपा है। यद्यपि, राष्ट्रपति, मन्त्रिमण्डलो की बैठको मे न तो उपस्थित होता है और न उनका सभापतित्व ही करता है, फिर भी उसे उन सभी विनिश्चयो और निर्णयो का पूर्ण ज्ञान होता है जो मन्त्रिमण्डल करते हैं। प्रधान मन्त्री का कर्त्तव्य है कि वह मन्त्रि-परिषद् के समस्त निर्णय राष्ट्रपति की सेवा में पहुँचावे, यदि राष्ट्रपति शासन-सम्बन्धी कोई सूचना माँगे तो उसे राष्ट्रपति को दे और यदि राष्ट्रपति चाहे तो

---

[1] Spender, J A Life of Oxford and Asquith, Vol II, p 29.

ऐसा कोई मामला जिसे किसी एक मन्त्री ने तो निर्णय कर दिया हो किन्तु
पर समस्त मन्त्रि-परिषद् ने सामुदायिक रूप से विचार न किया हो उसे मन्त्रि-प
के समक्ष विचारार्थ रखे। मन्त्रि-परिषद् के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धा
रक्षा के लिए व्यक्तिगत मन्त्रियो के निर्णय, समस्त मन्त्रि-परिषद् के विचारार्थ र
जा सकते है।

सक्षेप में कहा जा सकता है कि भारत का राष्ट्रपति अपने मन्त्रि
आलोचक है, परामर्शदाता है और मित्र है। परामर्शदाता के रूप मे वह अपने वि
को मन्त्री के समक्ष बल के साथ रख सकता है। आलोचक के रूप में वह उस म
पर आपत्ति कर सकता है जो मन्त्री ने उसे किसी विषय पर दी हो। किन्
जिद या हठ नही करनी चाहिए, और अन्तिम उपचार के रूप में यदि मन्त्री रा
की बात को न मानना चाहे तो उसे मान जाना चाहिए। मन्त्रिमण्डल के मि
रूप में राष्ट्रपति को इतनी सावधानी बरतनी चाहिए कि अपनी बात पर व्य
लिए ही अडा न रहे जिसके फलस्वरूप शासन का स्थायित्व खतरे में पड ज
जब तक राष्ट्रपति ऐसे मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा पर चलता है जिसको लोक
का विश्वास प्राप्त है, वह कोई असवैधानिक कृत्य नही कर सकता।

राष्ट्रपति के सम्बन्ध मे अन्तिम बात यह है कि वह राज्य का निव
प्रधान होगा और एक अभ्यास-वृद्ध और वयोवृद्ध राजनीतिज्ञ होगा, जिसको वि
राजनीतिक ज्ञान और पर्याप्त प्रशासनिक अनुभव होगा और सम्भवत देश के श
तन्त्र में उसके समान योग्य राजनीतिज्ञ और प्रशासक कोई दूसरा कठिना
मिलेगा। सविधान के आदेशानुसार वह भारतीय जनता की सेवा और कल्या
निरत रहेगा। इसलिए मन्त्रि-परिषद् के विनिश्चयो पर राष्ट्रपति का प्रभाव सुदूर
होगा। वह शासन की नीति के निर्माण में सहायक हो सकता है फिर भी
निश्चितत राज्य का सवैधानिक प्रधान है। १९५० से डा० राजेन्द्रप्रसाद
के राष्ट्रपति रहे हैं। इस अल्पकाल का इतिहास हमको बताता है कि राष
अपनी बुद्धिमत्ता से किस प्रकार सभी सन्देह, चाहे वे वास्तविक हो अथवा
दूर कर सकता है और किस प्रकार राष्ट्रपति अपनी शक्तियो का प्रयोग कर
है जिससे उनका दुरुपयोग न हो। डा० प्रसाद ने ऐसी परम्पराएँ स्थापित
जिनमे सविधान के निर्माताओ के उद्देश्य पूरे होगे और ऐसे अभिसमय स्थापित
जो डा० जैनिंग्ज के शब्दो में सविधान रूपी विधि के ककालकाय में रक्त और
की व्यवस्था करेंगे। और इस प्रकार ये अभिसमय कठोर सविधान को ऐसा ल
और समयानुसार बनायेंगे कि वह बदलते हुए राजनीतिक विचारो और सर्वसाध
की आवश्यकताओ के अनुरूप बदलता जायेगा।

Suggested Readings

Banerjee, M	'The President of the Indian Republic'.
,,	The Indian Journal of Political Science, October-Dec 1950
Basu, Durga Das	Commentary on the Constitution of India, pp 247-308, 794-811
,,	Constituent Assembly Proceedings, Vol IV, p 734 ff and 846 ff, Vol VII, pp 33ff, Vol XI, pp 6 21 ff
Chitaley, V V and Rao, S Appa	The Constitution of India, Vol I, pp 864-942
Gledhill, A	The Republic of India, pp 98 109
Sharma, B M	The President of the Indian Republic
,,	The Indian Journal of Political Science, Oct -Dec 1950
Sharma, Bodh Raj	Position of the Centre in the new Constitution
,,	The Indian Journal of Political Science. July-September 1951
Sharma, Shri Ram	Crisis Government in the Indian Constitution The Indian Journal of Political Science, Oct -December 1949
Srinivasan, N	Democratic Government in India, Chapter XIV
Srivastava, V N	The Union Executive in the Constitution of India
,,	The Indian Journal of Political Science, Oct -December 1950, and July-September 1951

अध्याय ५

केन्द्रीय शासन (क्रमशः)

(Government at The Centre) *Contd*

मन्त्रि-परिषद्

(The Council of Ministers)

मन्त्रि-परिषद् (The Council of Ministers)—यदि राष्ट्रपति, राज्य का सवैधानिक प्रधान है, तो मन्त्रि-परिषद् देश की वास्तविक कार्यपालिका है। सविधान का अनुच्छेद ७४ आदेश देता है कि राष्ट्रपति को अपने कृत्यो का सम्पादन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी, जिसका प्रधान, प्रधान मन्त्री होगा। राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की नियुक्ति करता है तथा अन्य मत्रियो की नियुक्ति राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की मत्रणा पर करता है।[1] राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त मन्त्री अपने पदो पर बने रहते हैं।[2] मन्त्रि-परिषद् लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदाया होती है।[3] किसी मन्त्री के अपने पद ग्रहण करने से पहिले राष्ट्रपति उससे तृतीय अनुसूची में इसके लिए दिये हुए पत्रों के अनुसार पद की तथा गोपनीयता की शपथें कराता है।[4] यह आवश्यक है कि मन्त्री ससद् के किसी सदन का सदस्य हो। यदि कोई मन्त्री निरन्तर छ मास की कालावधि तक ससद् के किसी सदन का सदस्य न रहे तो उस कालावधि की समाप्ति पर वह मन्त्री

---

1. अनुच्छेद ७५ (१)।
2 „ ७५ (२)।
3 „ ७५ (३)।
4 „ ७५ (४)। सघ के मन्त्री के लिए पद शपथ का प्रपत्र I

ईश्वर की शपथ लेता हूँ
“मैं अमुक ———— कि मैं विधि द्वारा स्थापित
सत्य निष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ

भारत के सविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूँगा, सघ के मन्त्री के रूप में अपने कर्त्तव्यों का श्रद्धापूर्वक और शुद्ध अन्तःकरण से निर्वहन करूँगा, तथा भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना मैं सब प्रकार के लोगों के प्रति सविधान और विधि के अनुसार न्याय करूँगा।”

सघ के मन्त्री के लिए गोपनीयता शपथ का प्रपत्र II

ईश्वर की शपथ लेता हूँ
“मैं अमुक ———— कि जो विषय सघ मन्त्री के
सत्य निष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ

रूप में मेरे विचार के लिए लाया जायगा, अथवा मुझे ज्ञात होगा, उसे किसी व्यक्ति या व्यक्तियों को उस अवस्था को छोड़ कर जब कि ऐसे मन्त्री के रूप में अपने कर्त्तव्यों के उचित निर्वहन के लिए ऐसा करना अपेक्षित हो, अन्य अवस्था में, मैं प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में ससूचित या प्रकट नहीं करूँगा।”

नहीं रह सकता ।[1] मन्त्रियो के वेतन तथा भत्ते ऐसे होगे जैसे समय-समय पर संसद् विधि द्वारा निर्धारित करती है ।[2]

क्या मन्त्रियो ने राष्ट्रपति को कोई मन्त्रणा दी और यदि दी तो क्या दी, इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जाँच नही की जा सकती ।[3] अनुच्छेद ३६१ उपबन्धित करता है कि राष्ट्रपति अपने कर्त्तव्यो के पालन में अपने किसी कृत्य के लिए किसी न्यायालय को उत्तरदायी नही होगा । इसलिए मन्त्री द्वारा राष्ट्रपति को दी गई मन्त्रणा न्यायालयो के अधिकार-क्षेत्र से परे है और राष्ट्रपति को अपने कार्यकाल में और उसके उपरान्त भी पूर्ण वैधिक उन्मुक्ति प्राप्त है । उक्त उपबन्ध यह भी निर्धारित करता है कि राष्ट्रपति और उसके मन्त्रियो के सम्बन्ध पूर्णतया गोपनीय हैं । सविधान के इन उपबन्धो में वही सिद्धान्त काम कर रहा है जिसके अनुसार अग्रेजी सविधान में 'ब्रिटिश राजा कोई ग़लती नही कर सकता (The King can do no wrong)" । इस वाक्याश का वास्तविक अर्थ यह है कि राजा विधि से ऊपर है और अपने किसी व्यक्तिगत दोष के लिए उसे न्यायालय में उपस्थित नही किया जा सकता, न उसके विरुद्ध कोई वैधिक कार्रवाई की जा सकती है, यहाँ तक कि, जैसा कि डायसी ने मजाक में लिख मारा कि यदि सम्राट् अपने प्रधान मन्त्री को ही गोली मार दे तो भी उसके विरुद्ध कोई वैधिक कार्रवाई नही की जा सकती । उसी प्रकार भारत में भी राष्ट्रपति के कार्यकाल में भारत के राष्ट्रपति के विरुद्ध कोई दण्ड विधि की कार्रवाई नही की जा सकती, यद्यपि यदि राष्ट्रपति महाभियोग के अपराध मे पदच्युत हो जाय तो उसके विरुद्ध मुकदमा चलाया जा सकता है ।[4]

किन्तु इस वाक्याश का कि "राजा कोई गलती नही कर सकता" वास्तविक अर्थ यह है कि सम्राट् कोई सार्वजनिक कृत्य अपने विवेक के अनुसार करता ही नही, वह तो सभी कुछ अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा पर ही करता है । और मन्त्री लोग यद्यपि अपने सभी कृत्य सम्राट् के नाम में करते हैं, किन्तु वे ससद् के प्रति उत्तरदायी हैं । इसको सीधी-सादी भाषा में व्यक्त करते हुए कहा जा सकता है कि "सम्राट् कुछ भी सही या ग़लत ऐसा काम अपने विवेक के अनुसार कर ही नही सकता जिसका कोई वैधिक महत्त्व हो ।" किसी भी सार्वजनिक कृत्य के लिए न्यायालयो में अथवा ससद् के अन्दर या बाहर कोई मन्त्री सम्राट का नाम लेकर किसी सार्वजनिक कृत्य के उत्तरदायित्व से अपने आपको बचा नही सकता । यदि मन्त्री से कोई ग़लती हो जाय या कोई भूल हो जाय तो भी वह अपने बचाव में यह नही कह सकता कि उसने उक्त कार्य सम्राट् के आदेशो के अनुसार किया था । भारत के सविधान ने भारतीय शासन के लिए मन्त्रि-परिषद् की नियुक्ति को आवश्यक माना है और राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा पर ही शासन

---

1. अनुच्छेद ७५ (५) ।
2. ,, ७५ (६) ।
3 ,, ७४ (२) ।
4. ,, ३६१ (२) (३) ।

करे। राष्ट्रपति और उसकी मन्त्रि-परिषद् के बीच के सम्बन्ध गोपनीय (confidential) ठहराए गए हैं और सम्बन्धो की इस गोपनीयता को इस उपबन्ध के द्वारा सरक्षण प्रदान किया गया है कि मन्त्री लोग राष्ट्रपति को क्या मन्त्रणा देते हैं, इस बारे में न्यायालयो में विचार नही हो सकता। मन्त्रियो द्वारा राष्ट्रपति को दी गई मन्त्रणा राष्ट्रपति को सर्वथा मान्य है क्योकि सविधान ने यही उपबन्धित किया है कि मन्त्री लोग ही विनिश्चय अथवा निर्णय करेंगे।[1] इसलिए यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत का राष्ट्रपति भी इगलैड के सम्राट् की ही तरह कोई सार्वजनिक कृत्य स्वविवेक के अनुसार नही करता, वह तो सभी कुछ अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा पर ही करता है। यह भी आवश्यक है कि मन्त्री लोग ससद् के सदस्य होते हैं और समस्त मन्त्रि-परिषद् लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है। सविधान ने यह भी निर्धारित किया है कि मन्त्रियो के वेतन तथा भत्ते ऐसे होगे जैसे, समय-समय पर, ससद् विधि द्वारा निर्धारित करे।[2] इसका यही निष्कर्ष निकलता है कि मन्त्री लोग जो कुछ भी राष्ट्रपति के नाम में करते हैं, उसके लिए वे इगलैड की ही तरह ससद् के प्रति उत्तरदायी होते हैं। चूंकि राष्ट्रपति और उसके मन्त्रियो के बीच के सम्बन्ध गोपनीय होते हैं, इसलिए मन्त्री लोग अपने किसी अवैधिक अथवा असवैधानिक कृत्य के लिए राष्ट्रपति के आदेश की आड नही ले सकते और न राष्ट्रपति की वैधिक उन्मुक्तियों (legal immunities) की आड लेकर मन्त्री अपनी रक्षा कर सकते हैं।

इस प्रकार भारत के सविधान मे ससदीय शासन-प्रणाली के सभी आवश्यक गुण विद्यमान हैं। इगलैंड में मन्त्रिमण्डल सयोग का जात है, और उस देश की मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली समय की आवश्यकताओ और सकट कालो का प्रतिफल है। इसलिए मन्त्रि-मण्डलीय-प्रणाली का समस्त शासन-तन्त्र अभिसमयों पर आधारित है। ये अभिसमय अलिखित अवश्य हैं किन्तु इनको सदैव उतनी ही वैधिक मान्यता प्रदान की जाती है जितनी कि विधि के किसी नियम को। अधिराज्यों में भी कबिनेट शासन-प्रणाली इगलैड की प्रचलित प्रथाओ, रिवाजो और अभिसमयो के आधार पर आधारित है यद्यपि अधिराज्यो के सविधान लिखित हैं। तृतीय गणराज्य द्वारा निर्मित फ्रास के सविधान ने भी उत्तरदायी शासन के कतिपय सिद्धान्तो को स्वीकार किया था और मन्त्रिमण्डल को कुछ सवैधानिक शासन-सम्बन्धी कृत्य सौंपे थे, यद्यपि उक्त सविधान ने अनेकों बातें अस्पष्ट ही छोड दी थी। आयर्लैंड[3]

---

[1] अनुच्छेद ७८ (ग)।

[2] अनुच्छेद ७५ (६)।

[3] अनुच्छेद १३ (२) (११) आदेश करता है कि राष्ट्रपति अपने मन्त्रियो की मन्त्रणा के अनुसार निर्णय करे किन्तु ऐसे प्रधान मन्त्री के मन्त्रणा के अनुसार सदन का विघटन न करे जो सदन का विश्वास खो चुका हो। इस सम्बन्ध में हमारे राष्ट्रपति को पूर्ण स्वविवेक के अनुसार निर्णय करने का अधिकार है। किन्तु इगलैंड में ऐसा नहीं है। आयरलैंड का राष्ट्रपति अधिराज्यों के गवर्नर-जनरलों की अपेक्षा भी सदन के विघटन करने की शक्ति को अधिक स्वच्छन्दता के साथ प्रयोग कर सकता है।

के सविधान ने तथा चतुर्थ गणराज्य के फ्रास के सविधान ने[1] और इटली के भी सविधान ने कैबिनेट शासन-प्रणाली को सवैधानिक मान्यता दे दी थी, और उक्त सविधानो में कैबिनेट के कृत्यो का स्पष्ट निर्देश और उपबन्ध था। श्रीलका (Ceylon) का सविधान, जो सर आइवर जैनिग्स के सिद्धान्तो का मूर्त्त स्वरूप है, वास्तव मे एक यथार्थवादी प्रयत्न है जिसमे मन्त्रिमण्डलीय शासन के अभिसमयो को लिखित रूप में मूर्त्त स्वरूप प्रदान किया गया है।[2]

मन्त्रि-परिषद् और मन्त्रिमण्डल (The Council of Ministers and the Cabinet)—इगलैंड में जिस रूप मे मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली का उदय हुआ है उससे मन्त्रि-परिषद् और मन्त्रिमण्डल में भेद किया जाता है। जब प्रधान मन्त्री को कहा जाता है कि वह मन्त्रि-परिषद् का निर्माण करे तो उसे लगभग ७० स्थानो की पूर्त्ति करनी पडती है जिनमें कुछ उच्च पद होते हैं और कुछ निम्न और सभी को मिलाकर मन्त्रि-परिषद् कहा जाता है। उक्त मन्त्रि-परिषद् मे लगभग २० अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सदस्य मन्त्रिमण्डल का निर्माण करते हैं। ये मन्त्रिमण्डल के सदस्य सामूहिक रूप से एकत्रित होते हैं, और सामूहिक रूप से ही नीति-सम्बन्धी निर्णय करते हैं और सामान्यत वे ही शासन को चलाते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे मन्त्री होते हैं जो कैबिनेट की स्थिति (cabinet rank) के मन्त्री होते हैं।[3] कैबिनेट की स्थिति के मन्त्री अपने-अपने प्रशासनिक विभागो के अध्यक्ष होते हैं और यद्यपि औपचारिक रूप में उनका दर्जा मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियो के समान ही होता है फिर भी वे मन्त्रिमण्डल के सदस्य नही होते। यदि कभी प्रधान मन्त्री उन्हें कुछ ऐसे मामले निर्णय करने के लिए आमन्त्रित करता है जिनका सम्बन्ध उनके विभागो से हो तो वे कैबिनेट की सभाओं में उपस्थित होते हैं। अतएव ससदीय सचिव अथवा उपमन्त्री होते हैं और इनके अतिरिक्त शाही घराने के पाँच राजनीतिक प्राधिकारी होते हैं। ये सब प्रकार

---

[1] अनुच्छेद ३२ के अनुसार फ्रास का राष्ट्रपति मन्त्रि-परिषद् की बैठकों का सभापतित्व करता है किन्तु अनुच्छेद ३८ उपबन्धित करता है कि गणराज्य के राष्ट्रपति के प्रत्येक निर्णय पर मन्त्रि-परिषद् के प्रधान के भी प्रति-हस्ताक्षर होने चाहिएँ और साथ में एक मन्त्री के भी प्रति-हस्ताक्षर होने चाहिएँ। किन्तु तृतीय गणराज्य के सविधान में राष्ट्रपति के प्रत्येक निर्णय पर केवल एक मन्त्री के प्रति-हस्ताक्षरों की आवश्यकता थी।

[2] श्रीलका के सविधान के खण्ड ४ (२) के अनुसार १९४६ के सपरिषद् आदेश में कहा गया था "सम्राट् या गवर्नर-जनरल में विहित समस्त शक्तियाँ, सत्ताएँ और कृत्य इस आदेश के अथवा तत्-समय-प्रवृत्त अन्य किसी विधि के उपबन्धो के अधीन रहते हुए जहाँ तक हो सकेगा, उन वैधानिक अभिसमयों के अनुसार प्रयुक्त होंगे जो इंगलैंड में सम्राट् की इस प्रकार की शक्तियों एव सत्ताओं के कृत्यों के प्रयोग के सम्बन्ध में लागू होती हैं। लेकिन शर्त यह है कि गवर्नर-जनरल के किसी कार्य या भूल पर किसी न्यायालय में इस आधार पर आपत्ति नहीं की जायेगी कि इस उपधारा के उक्त उपबन्धों का पालन नहीं हुआ है।

धारा ४६ (१) में यह भी कहा गया है कि "एक मन्त्रिमण्डल होगा जो गवर्नर-जनरल द्वारा नियुक्त किया जायेगा और श्रीलका के शासन का नियन्त्रण और निर्देशन करेगा।"

[3] १९४९ में श्री एटली की जो सरकार बनी थी उसमें मन्त्रिमण्डल के १५ सदस्य थे किन्तु १९५१ के श्री चर्चिल के मन्त्रिमण्डल में १८ सदस्य थे।

के मन्त्री जो मिलाकर मन्त्रि-परिषद् का निर्माण करते हैं ससद् के सदस्य होते हैं और सब व्यक्तिगत रूप मे भी और सामूहिक रूप में भी ससद् के प्रति उत्तरदायी होते हैं और वे तभी तक अपने पदो पर रह सकते हैं जब तक कि उनको ससद् का विश्वास प्राप्त रहता है। किन्तु मन्त्रि-परिषद् के सामूहिक कृत्य कुछ नही होते। केवल कैबिनेट अथवा मन्त्रिमण्डल ही सामूहिक रूप से कार्य करता है। कैबिनेट के मन्त्री लोग सब साथ समवेत होते हैं, साथ विचार करते हैं, एक साथ नीति निर्धारित करते हैं और वे सभी इस बात का प्रयत्न करते हैं कि उनके द्वारा निर्धारित नीति सफलतापूर्वक क्रियान्वित हो। किन्तु समस्त मन्त्रि-परिषद् एक साथ कभी समवेत नही होती और न वह कभी नीति निर्धारित करती है।

भारतीय सविधान ने कही भी मन्त्रिमण्डल शब्द का प्रयोग नही किया है। सविधान ने मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था की है जिसका प्रधान, प्रधान मन्त्री है और जिस का कर्त्तव्य है कि राष्ट्रपति की सहायता करे और उसके कर्त्तव्यो के निर्वहन के सम्बन्ध में उसे मन्त्रणा दे। किन्तु प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने जो मन्त्रि-परिषदो का निर्माण किया है उनमें चार प्रकार के मन्त्री रखे गए और उनमें मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियो और कैबिनेट स्थिति के मन्त्रियो में स्पष्ट विभेद रखा गया। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू की १९५० की मन्त्रि-परिषद् में १४ कैबिनेट अर्थात् मन्त्रिमण्डल के मन्त्री थे और ५ राज्य मन्त्री थे। किन्तु प्रधान मन्त्री श्री नेहरू की आधुनिक मन्त्रि-परिषद् में १६ मन्त्रिमण्डल के मन्त्री हैं, १३ कैबिनेट स्थिति के मन्त्री हैं, १५ उपमन्त्री हैं और ९ ससदीय सचिव हैं। इगलैंड के ही समान भारत में भी कैबिनेट स्थिति के मन्त्रियो का औपचारिक रूप से वही पद होता है और उन्हे वही वेतन मिलता है, जो मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियो को मिलता है। वे प्रशासनिक विभागो के या शासन के उप-विभागो के अध्यक्ष होते हैं। किन्तु वे मन्त्रिमण्डल की बैठको मे उपस्थित नही होते, हाँ यदि प्रधान मन्त्री उन्हे किसी ऐसे विषय पर बातचीत करने के लिए आमन्त्रित करे जिसका सम्बन्ध उनके विभाग से हो, तो मन्त्रिमण्डल की बैठक में वे भाग ले सकते हैं। कैबिनेट की स्थिति के मन्त्रियो से घटिया दर्जे के उपमन्त्री होते हैं। उपमन्त्रियो को न तो किसी विभाग का अध्यक्ष बनाया जाता है और न उन्हे उतना वेतन मिलता है जितना कि कैबिनेट की स्थिति के मन्त्रियो को मिलता है। उपमन्त्रियो का काम यह है कि वे सम्बद्ध विभाग से सम्बन्धित प्रशासनिक और ससदीय कर्त्तव्यो के निर्वहन में मन्त्रियों को सहायता दें। भारत के उपमन्त्रियो की तुलना इगलैंड के ससदीय सचिवो अथवा उपसचिवो से की जा सकती है, जो सत्तारूढ दल के नवयुवक सदस्य होते हैं और उक्त पदो पर उनकी योग्यता की जांच होती है, तथा उस जांच के बाद ही वे बडे पदो के लिए निर्वाचित हो सकते हैं। सर्वश्री के० डी० मालवीय, एम० सी० शाह और ए० सी० गुहा ७ दिसम्बर, १९५४ तक उपमन्त्री ही थे, और तभी उन्हें राज्य मन्त्री के पदों पर लिया गया। इसके अतिरिक्त ससदीय सचिव भी हैं। यद्यपि मन्त्रि-परिषद् में उनकी भी गणना की जाती है किन्तु वे मन्त्री नही हैं और न उनको मन्त्रियो की कोई शक्ति ही प्राप्त है। ससदीय सचिवो को ऐसे कार्य सौंपे जाते हैं जिन्हें सम्बन्धित विभाग का मन्त्री सौंपना चाहे।

इस प्रकार भारत में भी मन्त्रिमण्डल का विकास सवैधानिक आधार पर नही हुआ है। जिस प्रकार कि इगलैंड के १९३७ के मिनिस्टर्स आफ दी क्राउन ऐक्ट ने कैबिनेट के मन्त्रियो का वेतन निश्चित किया है, उसी प्रकार भारत में १९५२ के सेलरीज एण्ड एलाउन्सेज आफ मिनिस्टर्स ऐक्ट ने भारतीय मन्त्रियो के वेतन आदि का निश्चय किया है। किन्तु उपर्युक्त दोनो अधिनियमो ने न तो इगलैंड में और न भारत में ही मन्त्रिमण्डल की अभिसामयिक प्रकृति को वैधिक स्वरूप प्रदान किया है। उक्त दोनो अधिनियम केवल मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियो की स्थिति को स्वीकार करते हैं, साथ ही अन्य श्रेणी के मन्त्रियो की स्थिति को भी स्वीकार किया गया है। किन्तु यह भी समझ लेना आवश्यक होगा कि जहाँ किसी अभिसमय को व्यवस्थापन द्वारा स्वीकार कर लिया जाता है, तो उक्त अभिसमय प्राय विधि के समान ही मान लिये जाते हैं।

यद्यपि सविधान में मन्त्रिमण्डल का उपबन्ध नही है फिर भी यह भारतीय शासन-व्यवस्था का हृदय है। मन्त्रिमण्डल ही सर्वोच्च नीति-निर्णायक निकाय है जो न केवल समस्त कार्यपालिका सत्ता का सचालन और समन्वयन करता है, अपितु विधानमण्डल के विधान-निर्माण को भी दिशा प्रदान करता है। मन्त्रिमण्डल के मन्त्री लोग सामूहिक रूप मे समवेत होते हैं, तथा नीति-निर्णय करते हैं और यह उन्ही मन्त्रियो का दायित्व है कि नीति की सही-सही क्रियान्विति हो। भारतीय मन्त्रि-परिषद् को भी इगलैंड की मन्त्रि-परिषद् के ही समान कोई सामूहिक कृत्य नही सौंपे गए हैं। समस्त मन्त्रि-परिषद् कभी एक साथ एकत्रित नही होती और वह कभी नीति निर्धारित भी नही करती। नीति-निर्धारण मन्त्रिमण्डल (Cabinet) का कर्त्तव्य है।

मन्त्रि-परिषद् का आकार (Size of the Council of Ministers)—सविधान ने मन्त्रि-परिषद् का आकार निश्चित नही किया है। समय की आवश्यकता के अनुसार प्रधान मन्त्री स्वय निर्णय करता है कि वह अपनी मन्त्रि-परिषद् में कितने मन्त्री रखे। ३१ दिसम्बर, १९५२ को भारतीय मन्त्रि-परिषद् में १५ मन्त्रिमण्डल के मन्त्री थे जिनमें प्रधान भी सम्मिलित थे, ६ कैबिनेट की स्थिति के मन्त्री थे और १५ उपमन्त्री थे तथा ४ ससदीय सचिव थे, इस प्रकार समस्त मन्त्रि परिषद् में ४० मन्त्री थे। १ जनवरी, १९५४ को मन्त्रि-परिषद् में कुल ४४ मन्त्री थे जिनमें ९ ससदीय सचिव थे और आजकल मन्त्रि-परिषद् में कुल ५३ मन्त्री हैं, जिनमे १६ मन्त्रिमण्डल के मन्त्री हैं, १३ कैबिनेट की स्थिति के मन्त्री हैं, १५ उपमन्त्री हैं और ९ ससदीय सचिव हैं।[1] पिछले पाँच वर्षों में मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियो की सख्या १४ और १६ के मध्य बदलती रही है, और सम्भवत यह सख्या इगलैण्ड के मन्त्रिमण्डल के मन्त्रियो की सख्या के अनुसार ही है। दोनो विश्व-युद्धो के विराम-काल में ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की सदस्य सख्या सदैव लगभग २२ रही और बारम्बार शिकायत की

---

[1] तीन ससदीय सचिव विदेश मन्त्री विभाग में हैं, दो ससदीय सचिव शिक्षा मन्त्री विभाग में हैं, एक ससदीय सचिव रेल और यातायात मन्त्री विभाग में है, एक उत्पादन मन्त्री विभाग में है, और एक ससदीय सचिव सूचना एव प्रसारण मन्त्री विभाग में है।

नही ठहराया है। केवल इस कारण ही कि भारतीय सविधान में कोई स्पष्ट उपबंन्ध नहीं है कि राष्ट्रपति आवश्यकत मन्त्रियों की मन्त्रणा पर ही कार्य करेगा, कैबिनेट शासन-प्रणाली का यह अटल सिद्धान्त विकृत नही हो जाता कि राज्य का प्रधान केवल औपचारिक कार्यपालिका प्रधान मात्र होता है। और "सविधान में मन्त्रि-परिषद् राष्ट्रपति को सहायता और मन्त्रणा देती है", इसका भी यह अर्थ नही है कि कैबिनेट शासन-प्रणाली का यह सिद्धान्त विकृत हो गया कि "राज्य के प्रधान को सदैव अपने उत्तरदायी मन्त्रियो की मन्त्रणा पर ही कार्य करना चाहिए।" ब्रिटिश उत्तरी अमरीका अधिनियम ने भी कुछ-कुछ इसी प्रकार का उपबन्ध किया है किन्तु फिर भी कनाडा का गवर्नर-जनरल बहुत काल मे राज्य की कार्यपालिका का सवैधानिक प्रमुख के रूप में कार्य कर रहा है। इसलिए सविधान के अनुसार भारत मे मन्त्रि-परिषद् के कृत्य केवल परामर्शदाता के से नही हैं। स्थिति वस्तुत बिल्कुल विपरीत है, और राष्ट्रपति का सवैधानिक कर्त्तव्य है मन्त्रणा देना तथा मन्त्रियो का कर्त्तव्य है विनिश्चय करना।

ब्रिटिश उत्तरी अमरीका अधिनियम की प्रस्तावना मे जिन शब्दो का प्रयोग हुआ है, वैसा स्पष्ट उपबन्ध भारतीय सविधान में कही देखने को नही मिलता यद्यपि उक्त सविधान इगलैंड के सविधान से मिलता-जुलता है। श्रीलका सविधान सपरिषद् आदेश (The Ceylon Constitution Order in Council, 1946) कहता है "सम्राट् या गवर्नर-जनरल में विहित समस्त शक्तियां, सत्ताएँ और कृत्य इस आदेश के अथवा तत्समय प्रवृत्त अन्य किसी विधि के उपबन्धो के आधीन रहते हुए यथासम्भव उन वैधानिक अभिसमयो के अनुसार प्रयुक्त होंगे जो इगलैंड में सम्राट् की इसी प्रकार की शक्तियो, सत्ताओ और कृत्यो के सम्बन्ध में लागू होते हैं।"

हमारे सविधान मे कुछ ऐसे उपबन्ध भी हैं जो उत्तरदायी शासन के अग्रेजी सिद्धान्तो के विपरीत हैं। अनुच्छेद ७७ (२) उपबन्धित करता है कि राष्ट्रपति द्वारा निष्पादित आदेशो का प्रमाणीकरण राष्ट्रपति द्वारा बनाए जाने वाले नियमों के अनुसार होगा। जिस प्रकार कि १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत प्रथा थी आज भी, राष्ट्रपति की आज्ञाओ का प्रमाणीकरण एक सचिव द्वारा होता है। इगलैंड मे इस प्रकार का प्रमाणीकरण मन्त्री के द्वारा होता है। फ्रास के चतुर्थ गणराज्य का सविधान उपबन्धित करता है कि "गणराज्य के राष्ट्रपति के प्रत्येक निर्णय व कृत्य पर या तो मन्त्रि-परिषद् के प्रधान के या किसी मन्त्री के प्रति-हस्ताक्षर (Counter-Signature) होने चाहिएँ।"[1] द्वितीयत ब्रिटिश प्रधानमन्त्री स्वय अपने सहयोगी मन्त्रियो को चुनता है और वही उन्हे विभाग सौंपता है। इसके अतिरिक्त प्रधान मन्त्री समय-समय पर विभागो के वितरण या विभाजन पर पुन विचार करता रहता है और उसे यह देखना पडता है कि क्या कार्यक्षमता की दृष्टि से उक्त विभाग विभाजन (allocation of offices) सर्वश्रेष्ठ है अथवा नही। भारतीय सविधान का अनुच्छेद ७७ (३) उपबन्धित करता है कि भारत सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किए जाने के लिए तथा मन्त्रियो मे उक्त कार्य के बँटवारे के लिए

---

[1] अनुच्छेद ३८।

राष्ट्रपति नियम बनावेगा। किन्तु यदि एक बार उत्तरदायी शासन के सिद्धान्तो को स्वीकर कर लिया जाता है तो उक्त अनुच्छेद किसी भी हालत में प्रधान मन्त्री के इस अधिकार को विकृत नही करता कि 'वही मन्त्रियो में विभागो का विभाजन करे'।

मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली में मन्त्री लोग ससदीय बहुमत में से लिये जाते है (Ministers chosen from Parliamentary Majority)—द्वितीयत, मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली में मन्त्री आवश्यकत विधानमण्डल के सदस्य होते हैं और वे उस दल मे से लिये जाते हैं जिसका निर्वाचित सदन में बहुमत होता है। इन दोनो तथ्यो का मौलिक महत्त्व है। विधानमण्डल की सदस्यता के कारण मन्त्रियो का स्वरूप प्रतिनिधिक और उत्तरदायी हो जाता है और इसके कारण देश की कार्यपालिका और व्यवस्थापिका में आपस में सामजस्य रहता है, और फलस्वरूप शासन के इन दोनो अगो मे उद्देश्य-विरोध नही होने पाता। इस प्रकार की सहयोगपूर्ण सहकार्यता के फलस्वरूप स्थायी और सहानुभूतिपूर्ण एव उत्तरदायी शासन की सृष्टि होती है। इसके अतिरिक्त विधानमण्डल के सदस्य होने के नाते मन्त्रियो को पर्याप्त अवसर प्राप्त होते हैं जब कि वे विधानमण्डल के समक्ष अपने विचारों और प्रस्तावों को प्रस्तुत करें, उनकी वकालत करें और उनका समर्थन करें।

इगलैंड में अब यह सुस्थापित अभिसमय है कि मन्त्री लोग या तो लार्ड सभा के सदस्य (peers) हो या लोकसभा के सदस्य हो। किन्तु ऐसा कोई लिखित वैधिक नियम नही है कि मन्त्री नियुक्त होते समय उसे ससद् का सदस्य अवश्य होना चाहिए। ऐसी भी कोई निश्चित कालावधि नही है जिसमे उक्त मन्त्री को ससद् की सदस्यता अर्जित कर लेनी चाहिए। जनरल स्मट्स विभाग विहीन मन्त्री थे और १९१६ से प्रथम विश्व-युद्ध के अन्त तक युद्ध-मन्त्रिमण्डल के सदस्य रहे यद्यपि वह ससद् के सदस्य नही थे। रैम्जे मैक्डानल्ड और माल्कम मैक्डानल्ड दोनो मन्त्रिमण्डल के सदस्य थे यद्यपि नवम्बर १९३५ से १९३६ के प्रारम्भ तक वे ससद् के सदस्य नही थे। किन्तु ऐसा कभी-कभी ही हो सकता है और मन्त्री लोग ससद् से बाहर केवल इतने समय तक के लिए ही रहते हैं जितने में उन्हे ससद् के लिए निर्वाचित होने को स्थान मिले। यदि वे किसी प्रकार ससद् में स्थान प्राप्त करने में असफल रहते हैं और यदि वे लार्ड सभा में जाना पसन्द नही करते तो उनको मन्त्री पद से त्याग-पत्र देना पडता है। कनाडा में विधानमण्डल का सदस्य न होने पर भी कोई व्यक्ति मन्त्री बनाया जा सकता है। कम से कम विधि का इस दिशा में प्रतिबन्ध नहीं है। किन्तु अभिसमय के अनुसार उचित समय के भीतर ऐसे मन्त्री को ससद् के किसी सदन की सदस्यता अर्जित कर लेनी चाहिए अन्यथा उसे त्याग-पत्र देना होगा। आस्ट्रेलिया के सविधान का उपबन्ध है कि "राज्य का कोई मन्त्री यदि सीनेट (Senate) या प्रतिनिधि भवन का वह सदस्य नही है तो तीन मास से अधिक अपने मन्त्रि पद पर नही रह सकता।"[1] दक्षिणी अफ्रीका के सविधान

---

[1] आस्ट्रेलिया के सविधान का अनुच्छेद ६४।

में भी लगभग ऐसा ही उपबन्ध है जैसा कि आस्ट्रेलिया के सविधान में है।[1] श्रीलका का सविधान-सपरिषद्-आदेश कहता है : "यदि कोई मन्त्री लगातार चार मास तक विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य नही है, तो उक्त कालावधि के समाप्त हो जाने पर उक्त मन्त्री अपने पद से हट जायगा।"[2]

भारतवर्ष में ऐसे व्यक्ति के मन्त्री बनने पर कोई प्रतिबन्ध नही है जो ससद् का सदस्य न हो। भारत में ऐसे अनेको उदाहरण मिलेंगे, जिनमें ऐसे व्यक्ति मन्त्री नियुक्त कर दिए गए जो ससद् के सदस्य नही थे। उदाहरणार्थ डा० जॉन मथाई, श्री राजगोपालाचार्य, श्री श्रीप्रकाश, श्री सी० डी० देशमुख, सरदार स्वर्णसिंह, प० गोविन्द वल्लभ पन्त और हाल ही में श्री मोरारजी देसाई के नाम लिये जा सकते हैं। किन्तु अनुच्छेद ७५ (५) में भारतीय सविधान का आदेश है कि कोई मन्त्री जो निरन्तर छ मास की किसी कालावधि तक ससद् के किसी सदन का सदस्य न रहे, उस कालावधि की समाप्ति पर मन्त्री नही रहेगा। इस उपबन्ध का स्पष्ट अर्थ है कि प्रत्येक मन्त्री के लिए मन्त्री पद अर्जित करने के उपरान्त, यदि वह पहिले ही से ससद् का सदस्य नही है, छ मास की कालावधि मे ससद् के किसी भी सदन की सदस्यता अर्जित कर लेनी होगी।

कैबिनेट शासन का अर्थ है दलीय शासन और इगलैंड में जो सफल दलीय शासन चल रहा है, उसका मुख्य गुण यह रहा है कि दलीय शासन ने इगलैंड को सदैव एक ही विचारधारा के अनुशासनयुक्त नेताओ के नेतृत्व में एकरूप और स्थायी शासन दिया है। इगलैंड में मिली-जुली सरकारें पसन्द नही की जातीं क्योकि मिली-जुली सरकार सिद्धान्तत कैबिनेट शासन के इस प्रकार विपरीत शासन है कि जहाँ मन्त्रिमण्डल (cabinet) ऐसे दल का पतिनिधित्व करता है जिसके सभी सदस्य एक सिद्धान्त को मानने वाले हैं, मिली-जुली सरकार उस सिद्धान्त के विपरीत निर्माण की जाती है। हाँ, भयकर आपात कालो में जैसे कि दोनों विश्व-युद्धो में तथा १९३१ के महान् आर्थिक अवपात (Economic Depression) काल में मिली-जुली सरकारें भी इगलैंड में रही।[3] भारत के सविधान ने स्पष्टत उपबन्धित नहीं किया है कि प्रधान मन्त्री आवश्यकत ससद् के बहुमत दल ही का नेता हो। सविधान ने यह भी नही बतलाया कि प्रधान मन्त्री अपने मन्त्रियो का चयन किस प्रकार करे। किन्तु सविधान ने उपबन्धित किया है कि समस्त मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से लोकसभा के प्रति उत्तरदायी होगी, इसलिए यह स्वाभाविक है कि मन्त्रि-परिषद् के सभी सदस्य किसी एक ही ऐसे दल के व्यक्ति हो जिनका एक नीति में विश्वास हो। मन्त्रिमण्डल का स्वाभाविक अर्थ है एकता और इस एकता को प्राप्त करने

---

[1] दक्षिणी अफ्रीका के सविधान का अनुच्छेद १४ (१)।

[2] श्रीलका के सविधान का अनुच्छेद ४९ (२)।

[3] १९१८ और १९४५ के बीच में केवल छ वर्ष ऐसे थे जब कि सामान्य सरकारें रहीं किन्तु इस काल की एक दलीय सरकारें अत्यन्त क्षीण बहुमत की सरकारें थीं। किन्तु मई १९५५ के आम चुनाव के फलस्वरूप पुन अनुदार दल को पर्याप्त बहुमत प्राप्त हो गया है। १९२४ और १९२९

का साधन है सामूहिक उत्तरदायित्व। मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली में मुख्यत एक टीम (team) की भाँति सारा कार्य चलता है और यह टीम भावना (team spirit) और किसी प्रकार प्राप्त नही की जा सकती। प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने १९५० में जिस मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया था, उसमें ससद् के अन्य दलों के सदस्य भी लिये थे और कुछ स्वतन्त्र सदस्य भी थे।[1] श्री नेहरू का प्रथम मन्त्रिमण्डल हर प्रकार से राष्ट्रीय सरकार का स्वरूप था। इस सम्बन्ध में भी श्री नेहरू ने ब्रिटिश परम्पराओं का अनुसरण किया। उस स्थिति में भारत को सभी दलो के सहयोग की नितान्त आवश्यकता थी ताकि कठिनाइयो का सफलतापूर्वक सामना किया जा सके और राष्ट्रीय पुनर्निर्माण को सही दिशा प्रदान की जा सके। आधुनिक मन्त्रिपरिषद् में केवल कांग्रेस के ही सदस्य हैं और यह केवल एक दल की ही सरकार है।

प्रधान मन्त्री का नेतृत्व (Leadership of the Prime Minister)—मन्त्रिमण्डल अथवा कैबिनेट खिलाडियो की एक टीम होती है जो राजनीति का खेल प्रधान मन्त्री की अधीनता (captaincy) में खेलती है। मॉर्ले (Morley) के अनुसार प्रधान मन्त्री मन्त्रिमण्डल के वृत्तखण्ड का मुख्य पत्थर (key stone) है। यद्यपि मन्त्रिमण्डल मे सभी मन्त्री समान हैं, सभी समान प्रभाव के साथ बोलते हैं और सब समान दिशा में कार्य करते हैं, फिर भी कैबिनेट का अध्यक्ष समान स्थिति वालो में प्रथम होता है और उसकी स्थिति विशेष गौरवपूर्ण और अधिकारपूर्ण होती है। ससद् के बहुमत वाले दल का वह नेता होता है और अन्य सभी मन्त्री उसी के नेतृत्व में कार्य करते हैं। इसमें सन्देह नही है कि वैधानिकत मन्त्रियो की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है किन्तु वास्तविक व्यवहार में वे प्रधान मन्त्री के ही नामनिर्देशित व्यक्ति होते हैं और राष्ट्रपति तो उस सूची की स्वीकृति भर करता है जिसको प्रधान मन्त्री राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करता है। यदि प्रधान मन्त्री को मन्त्री नियुक्त करने का अधिकार है तो उसे मन्त्री को अपदस्थ करने का भी अधिकार है। मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली में बिना प्रधान मन्त्री के मन्त्रियों की कोई स्थिति नही है। सक्षेप में, दल, दलीय भावना के अनुसार कार्य करता है और शासन के अग के रूप में दल, प्रधान मन्त्री के नेतृत्व में अपनी निरन्तर ससृष्ट स्थिति को कायम रख सकता है। इस सब के फलस्वरूप एकता प्राप्त होती है और मन्त्रियो में, कैबिनेट में और ससदीय बहुमत में निकट सहयोग बना रहता है।

भारत के सविधान ने प्रधान मन्त्री की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति को स्वीकार किया है। सविधान का आदेश है कि "एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान, प्रधान मन्त्री होगा।"[2] पुन सविधान का आदेश है कि "प्रधान मन्त्री की नियुक्ति राष्ट्रपति करेगा तथा अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा पर करेगा।"[3] इगलैंड में वॉलपोल के समय से ही, स्वय प्रधान मन्त्री ही अपने मन्त्री

---

[1] स्वतन्त्र सदस्य निम्न थे डा० बी० आर० अम्बेदकर, डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी, सरदार बलदेव सिंह, श्री गोपाल स्वामी आयङ्गर, और श्री षन्मुखम् चेट्टी।

[2] अनुच्छेद ७४ (१)।

[3] अनुच्छेद ७५ (१)।

चुनता है। भारतीय सविधान ने भी उक्त अभिसमय का आदर किया है। यद्यपि सविधान का उपबन्ध तो यह है कि राष्ट्रपति, प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा पर अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति करेगा किन्तु राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा मानने पर बाध्य है, जिस प्रकार कि इगलैड का राजा प्रधान मन्त्री की मन्त्रियो की सूची को स्वीकार कर लेता है। इस सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए डा० अम्बेदकर ने सविधान सभा में कहा था "जैसा कि मैं पहिले भी कह चुका हूँ, सामूहिक उत्तरदायित्व केवल प्रधान मन्त्री के कारण ही प्राप्त किया जा सकता है। इसलिए प्रधान मन्त्री ही वास्तव में मन्त्रिमण्डल रूपी वृत्त-खण्ड की मुख्य शिला (keystone of the arch of the cabinet) है और जब तक प्रधान मन्त्री का पद इस सविधिक अधिकार से सज्जित न होगा जो मन्त्रियो को नियुक्त वा वियुक्त कर सके, तब तक सामूहिक उत्तरदायित्व केवल दिवा-स्वप्न के समान होगा।"[1]

मन्त्रीय उत्तरदायित्व (Ministerial Responsibility)—मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली का सार, मन्त्रीय उत्तरदायित्व है, और सामूहिक उत्तरदायित्व, ब्रिटेन की महान् देन है जो उसने आधुनिक शासन-व्यवस्थाओ को दी है। मन्त्रीय उत्तरदायित्व के दो अर्थ हैं। प्रथमत, कैबिनेट का मन्त्री प्रशासनिक विभाग का अध्यक्ष होता है और उक्त विभाग के समस्त क्रियाकलापो के लिए वह व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होता है। उक्त उत्तरदायित्व के अलावा प्रत्येक मन्त्री बहुत सीमा तक सामूहिक रूप से शासन के अन्य सदस्यो के साथ उत्तरदायी होता है। इस प्रकार अपने विभाग के अतिरिक्त जो कुछ भी अन्य सार्वजनिक विभागो में कार्यकलाप होते हैं उन सब के लिए समस्त कैबिनेट सामूहिक रूप से उत्तरदायी होती है। समस्त मन्त्रि-परिषद् एक इकाई है। सभी मन्त्री एक इकाई के रूप में अपने पदो पर आते हैं और इन्हें इकाई के रूप में ही अपने पद छोडने पडते हैं। सभी मन्त्री एक ही दल के व्यक्ति होते हैं और वे सब एक ऐसे व्यक्ति के नेतृत्व में कार्य करते हैं जिसको दल अपना नेता मानता है; और इसीलिए सभी मन्त्री साथ-साथ ही डूबते हैं और साथ ही तैरते हैं। मन्त्रिमण्डल का सार है परस्पर अधीनता अथवा समान उद्देश्य (common front), इसलिए मन्त्रिमण्डल के प्रत्येक सदस्य के ऊपर यह बाध्य है और मन्त्रिमण्डल के बाहर प्रत्येक राजनीतिक अधिकारी के ऊपर भी यह बाध्य है, चाहे उस अधिकारी की स्थिति कुछ भी हो, कि एक ऐसी सर्वनिश्चित नीति पर चले, जिसके लिए सभी समान रूप से उत्तरदायी हैं और जिस नीति पर चलने के फलस्वरूप सभी या तो साथ-साथ शासन मे रहेंगे या साथ-साथ शासन छोड देंगे। ऐसा मन्त्री जो मन्त्रिमण्डल के विनिश्चय का समर्थन न कर सके, मन्त्रिमण्डल में नही रह सकता, उसे पद त्याग देना चाहिए। यदि कोई मन्त्री त्यागपत्र नही देता, तो मन्त्रिमण्डल का विनिश्चय उसी का विनिश्चय भी समझा जायगा, चाहे मन्त्रिमण्डल में उक्त प्रश्न पर उसने अपना विरोध भी प्रकट किया हो। इसलिए एक मन्त्री का कर्त्तव्य केवल यही नही है कि वह विधानमण्डल में शासन का समर्थन

---

[1] 'Constituent Assembly Proceedings', Vol VII, p 1160,

करे, वल्कि यह भी उसका परम पुनीत कर्त्तव्य है कि वह विधानमण्डल के बाहर भी कोई ऐसी वात न कहे जो मन्त्रिमण्डल की नीनि के विरुद्ध हो अथवा वह नीति सम्वन्धी कोई ऐसी घोषणा न करे जिस पर कैबिनेट ने अभी निर्णय न किया हो।

भारतीय सविधान ने स्पष्टत उपवन्धित किया है कि मन्त्रि-परिषद् लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।[1] "मन्त्रिमण्डल का मसद् के प्रति सामूहिक उत्तरदायित्व" ब्रिटेन की आधुनिक शासन-व्यवस्था को अनुपम देन है, और उक्त उपबन्ध, ब्रिटेन की इसी देन की सवैधानिक मान्यता है। फ्रास के चतुर्थ गणराज्य का सविधान उपवन्धित करता है कि सभी मन्त्री सामूहिक रूप मे मन्त्रि-मण्डल की सामान्य नीति के लिए राष्ट्रीय सभा (National Assembly) के प्रति उत्तरदायी होंगे और प्रत्येक मन्त्री अपने-अपने व्यक्तिगत कृत्य के लिए भी राष्ट्रीय सभा के प्रति उत्तरदायी होगा। वे गणराज्य परिषद् (Council of the Republic) के प्रति उत्तरदायी नही होगे।"[2] आयरलैंड का सविधान उपवन्धित करता है कि "(१) शासन आयरिश मसद् (Dail Eireann) के प्रति उत्तरदायी होगा, (२) समस्त शासन अथवा मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से समवेत होगा और मामूहिक रूप से निर्णय करेगा, और शासन के सदस्य जिस जिस शासन के विभाग का मचालन और प्रशामन करेंगे उन सव के लिए समस्त मन्त्रिमण्डल सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगा।"[3] श्री-लका (Ceylon) का सविधान उपवन्धित करता है 'एक मन्त्रियो की कैबिनेट होगा और वे सव मन्त्री सामूहिक रूप से मसद् के प्रति उत्तरदायी होगे।"[4] इसलिए भारतीय मविधान के निर्माताओ ने इस आधुनिक प्रथा को अपनाते हुए उस ब्रिटिश अभिसमय को सविधान में स्थान दिया जिसके अनुसार समस्त मन्त्री लागो की प्रति-निधि सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होते हैं। इसका यह अर्थ हैं कि मन्त्रि-परिषद् तव तक शासन पर पदासीन रह मकती है जव तक कि उसे लोकसभा का विश्वास प्राप्त रहे, और लोकसभा का विश्वास तव तक उसको प्राप्त रह सकता है जव तक कि लोकसभा का वहुमत मन्त्रि-परिपद् की नीति और प्रशामन का समर्थन करता रहे।

हमारे सविधान में प्रत्येक मन्त्री व्यक्तिगत रूप से लोकसभा के प्रति उत्तर-दायी नही ठहराया गया है। मविधान में व्यक्तिगत उत्तरदायित्व का उपवन्ध ही नही है। इसके विपरीत मविधान उपवन्धित करता है कि "मन्त्री लोग राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद धारण करेंगे,[5] और "मन्त्रि-परिपद्, लोकमभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी।"[6] इससे यह अर्थ निकलता है कि राष्ट्रपति अपने

---

[1] अनुच्छेद ७५ (३)।

[2] फ्रास का सविधान, अनुच्छेद ४८।

[3] आयरिश सविधान का अनुच्छेद २८ (४)।

[4] अनुच्छेद ४६ (१)।

[5] अनुच्छेद ७५ (२)।

[6] अनुच्छेद ७५ (३)।

मन्त्रियो को तो हटा सकता है किन्तु उसे मन्त्रि-परिषद् को हटाने का अधिकार नही है। ससदीय कार्यप्रणाली नियम, १९५० (The Rules of Procedure and Conduct of Business in Parliament, 1950) ने भी यही व्यवस्था की है कि समूची मन्त्रि-परिषद् के विरुद्ध ही अविश्वास का प्रस्ताव लाया जा सकता है किन्तु व्यक्तिगत मन्त्रियो के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव नही लाया जा सकता। उक्त नियमो का १२७वाँ नियम इस प्रकार है "(१) मन्त्रि-परिषद् के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव निम्न प्रतिबन्धो के अधीन प्रस्तुत किया जा सकता है ।" डॉ० अम्बेदकर ने, जो सविधान प्रारूप समिति के चेयरमैन थे, इस प्रश्न के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए सविधान सभा मे कहा था "सभा के सभी सदस्य चाहते हैं कि हमारा मन्त्रिमण्डल सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर कार्य करे और सभी एकमत हैं कि यह अच्छा सिद्धान्त है। किन्तु मैं नही कह सकता कि कोई सदस्य यह भी समझते हैं कि उक्त उत्तरदायित्व किस प्रकार प्रवर्त्तित किया जाए। स्पष्ट है कि विधि के दबाव से सामूहिक उत्तरदायित्व प्रवर्त्तित नही कराया जा सकता। मान लीजिए कि कोई मन्त्री, मन्त्रिमण्डल के अन्य मन्त्रियो के विचारो से सहमत नहीं है और उसने अपने उन विचारो को व्यक्त कर दिया जो मन्त्रिमण्डल के विचारो से विरुद्ध हैं, तो ऐसी स्थिति में विधि कुछ नही कर सकेगी और न मन्त्री के विरुद्ध सामूहिक उत्तरदायित्व के उल्लघन के लिए मुकदमा चलाया जा सकता है। स्पष्ट है कि सामूहिक उत्तरदायित्व विधि के बल पर प्रवर्त्तित नही कराया जा सकता। केवल प्रधान मन्त्री के पद के द्वारा ही सामूहिक उत्तरदायित्व प्रवर्त्तित कराया जा सकता है। मेरा विचार है कि सामूहिक उत्तरदायित्व दो सिद्धान्तो के आधार पर प्रवर्त्तित कराया जा सकता है। प्रथम सिद्धान्त तो यह है कि मन्त्रिमण्डल में कोई मन्त्री बिना प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा के नियुक्त नही किया जाना चाहिए। द्वितीय सिद्धान्त यह है कि यदि प्रधान मन्त्री चाहे कि कोई मन्त्री उसके मन्त्रिमण्डल में से हट जाना चाहिए तो वह मन्त्री अवश्य हट जाए। जब कैबिनेट के सभी मन्त्री यह समझ लेंगे कि उनकी मन्त्री-रूप में नियुक्ति और वियुक्ति प्रधान मन्त्री के अधिकार में है, तभी हम समस्त मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व प्रवर्त्तित कर सकेंगे। मेरी समझ में सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को और किसी अन्य साधन के द्वारा प्रवर्त्तित नही कराया जा सकता।"[1]

किन्तु क्या प्रधान मन्त्री किसी ऐसे मन्त्री को अपदस्थ कर देंगे जो या तो समूचे मन्त्रिमण्डल की नीति मे सहमत न हो या जो कोई ऐसा कार्य कर बैठे जिससे समूचे मन्त्रिमण्डल की परस्पर आधीनता या पूर्णता अथवा स्थिरता में बाधा पहुँचती हो। इसमें सन्देह है कि प्रधान मन्त्री सिवाय अत्यन्त विकट परिस्थिति के कभी मन्त्री को अपदस्थ कराना चाहेगा और हमको आशा करनी चाहिए कि ऐसा सकट-काल कभी नही आयेगा। इगलैंड में ऐसी परम्परा है, अथवा कहानी है कि "कोई मन्त्री मन्त्री-पद का भूखा नहीं है, किन्तु वह सार्वजनिक हित मे अपने पद पर बना रह सकता है।"[2]

---

[1] Constituent Assembly Proceedings, Vol VII, p 1159-60

[1] Jennings . Cabinet Government, p 97

इस परम्परा के अनुसार ज्यों ही प्रधान मन्त्री का इशारा होगा, कोई भी मन्त्री त्यागपत्र देने को प्रस्तुत हो जायगा। आशा करनी चाहिए कि यह परम्परा भारत में भी घर कर लेगी और यहाँ भी सार्वजनिक जीवन में सभी लोग केवल सार्वजनिक हित की भावना से ही प्रवेश करेंगे। और यह भी आशा करनी चाहिए कि प्रधान मन्त्री से इशारा पाते ही कोई भी मन्त्री त्यागपत्र देने को प्रस्तुत हो जायगा, अन्यथा स्वय मन्त्री लोग अपनी ओर से ही त्यागपत्र दे देंगे जिस प्रकार कि सर्वश्री षण्मुखम् चेट्टी, डा० जॉन मथाई, डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी, के० सी० नियोगी, एच० सी० भाभा, मोहनलाल सक्सेना और वी० वी० गिरि ने त्यागपत्र दे दिये थे।

गोपनीयता (Secrecy)—यदि सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को प्रभावी ढग से प्रवर्त्तित कराना है तो यह आवश्यक है कि कैबिनेट के विचार विनिमय गोपनीय हो और इसकी कार्रवाइयाँ पूर्ण सुरक्षित एव गोपनीय रखी जाएँ। लार्ड सैलिसबरी ने कहा था "मन्त्रिमण्डल में ऐसे लोग विचार विनिमय करते हैं जो नीति-निर्माण-सम्बन्धी निर्णय करने के उद्देश्य से मिलकर एक सार्वजनिक कार्य के रूप में कार्य करते हैं। यदि आप चाहते हैं कि ऐसे लोग बुद्धिमत्तापूर्वक समझदारी एव विवेक के साथ स्वतन्त्र विचार प्रस्तुत करें तो वादविवाद की गोपनीयता की रक्षा के लिए वादविवाद पर एकदम कठोर प्रतिबन्ध लगाने ही पड़ेंगे।[1] विचार-विनिमय में व्यक्त किये गए विचारो को प्रकाश में लाने से मन्त्री लोग एक दूसरे के सामने खुलकर विचार न रख सकेंगे, और इस प्रकार विचारो मे एकरूपता कभी न आ सकेगी। मन्त्रिमण्डल की कार्रवाइयो को गोपनीय रखने का व्यावहारिक लाभ यह होगा कि वादविवाद खुलकर हो सकेंगे, और मुक्त वादविवाद के फलस्वरूप समझौता हो जायगा और यह भय नहीं रहेगा कि किसी मन्त्री ने वादविवाद मे क्या बात कही और किस बात में वह झुक गया, यह तथ्य प्रकाश में नहीआयेंगे।"[2] इसके अतिरिक्त यदि यह प्रकाश में आ जायगा कि मन्त्रियों में क्या मतभेद थे, तो समस्त दल उस निर्धारित नीति को समर्थन नही कर सकेगा। पुन, मतभेद प्रकाश में आ जाने से विरोधी दल को शासन के विरुद्ध आक्रमण करने के अपार अवसर प्राप्त होते हैं क्योकि विरोधी दल तो सदैव इस ताक मे रहता है कि सत्तारूढ दल को किधर से दबाया जाए।

इस प्रकार गोपनीयता, ससदीय शासन-प्रणाली की जान है। गोपनीयता से राजनीतिक एकमतता प्राप्त होती है। और राजनीतिक एकमतता, गोपनीयता को आवश्यक शर्त है। इगलैंड में मन्त्रिमण्डल की कार्रवाइयो की गोपनीयता विधि और अभिसमयो द्वारा पूर्ण सुरक्षित रहती है। सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल के वादविवादो की गोपनीयता के सम्बन्ध मे केवल एक अपवाद है कि यदि मन्त्रिमण्डल में विचार-विभिन्नता के कारण कोई मन्त्री त्यागपत्र देता है, तो उसे सदन के समक्ष व्यक्तिगत सफाई देने की छूट रहती है, यद्यपि उस पर वादविवाद की माँग नही की जा

---

[1] Cecil, Gwendolen, Life of Lord Salisbury, vol II, p 223.

[2] Keith, The British Cabinet System, p 248

सकती। किन्तु यह आवश्यक है कि इसके लिए त्यागपत्र देने वाले मन्त्री को प्रधान मन्त्री के माध्यम द्वारा सम्राट् की तदर्थ अनुमति लेनी होगी।[1] और ऐसी अनुमति अवश्य मिल जाती है। मन्त्री अपनी सफाई केवल त्यागपत्र से सम्बन्धित विवाद पर ही दे सकता है और वह मन्त्रिमण्डल के अन्य गोपनीय विषय प्रकाश में नही ला सकता।"

भारत मे भी मन्त्रिमण्डल एक गोपनीय निकाय है और वह विनिश्चयों के लिए सामूहिक रूप से उत्तरदायी है। प्रत्येक मन्त्री को मन्त्री-पद पर आसीन होने से पूर्व गोपनीयता की शपथ लेनी पडती है। उक्त शपथ के द्वारा प्रत्येक मन्त्री सवैधानिक रूप से बाध्य है कि वह किसी कैबिनेट के भेद को नही खोलेगा।[2] इसके अतिरिक्त कैबिनेट के विनिश्चय राष्ट्रपति की सेवा मे उसकी स्वीकृति के लिए भेजे जाते हैं और राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है, तभी मन्त्रिमण्डल द्वारा की गई मन्त्रणा प्रकाश मे लाई जा सकती है। यदि कोई मन्त्री मतभेद के कारण त्यागपत्र देता है तो ससदीय कार्य-प्रणाली के नियमो ने ऐसे मन्त्री को आज्ञा दी है कि वह सदन के समक्ष व्यक्तिगत सफाई दे सकता है, किन्तु उक्त सफाई पर वादविवाद की आज्ञा नही मिल सकती।[3] श्री सी० डी० देशमुख ने राज्य पुनर्गठन के प्रश्न पर त्यागपत्र देते समय इस प्रकार व्यक्तिगत सफाई सदन के समक्ष दी थी। इस प्रकार भारतीय ससद् की कार्य-प्रणाली के नियमों में ब्रिटिश अभिसमयों पर प्रयोग हो रहा है।

कुछ अन्य उपाय भी हैं जिनके द्वारा लगभग विश्वसनीय खबरें मिल ही जाती हैं कि मन्त्रिमण्डल में किसने क्या विचार व्यक्त किए और क्या विनिश्चय हुए। प्रो० लास्की का कथन है कि "ऐसी शायद ही कोई मन्त्रिमण्डल की बैठक होती हो जिसमें समाचारपत्रो को कुछ न कुछ प्रतिनिधित्व प्राप्त न होता हो।"[4] प्रत्येक देश में या तो प्रधान मन्त्री या उसकी ओर से कोई मन्त्री समाचारपत्रो को कुछ ऐसे समाचार अवश्य देता है जिनमें मन्त्रिमण्डल के विनिश्चयो का सकेत रहता है ताकि शासन जिस नीति पर चलना चाहता है, उस पर जनमत तैयार किया जा सके। मन्त्रिमण्डल के विनिश्चयो के भेद खुल जाने के सम्बन्ध में अपने विचार रखते हुए प्रो० लास्की ने कहा है कि 'ऐसे मन्त्रिमण्डल बहुत ही कम हुए हैं जिनका कोई

---

[1] १८३४ में लार्ड मैलबोर्न ने आपत्ति की थी कि क्यों सम्राट् ने बिना प्रधान मन्त्री से पूछे आज्ञा दी। उन्होंने कहा कि "सम्राट् सीधे, बिना प्रधान मन्त्री के पूछे कार्रवाई नहीं कर सकता और इस प्रकार उन सिद्धान्तों पर आंच आती है जिन पर इस देश का शासन सदैव से चलता आ रहा है।"

[2] अनुच्छेद ७५ (४)।

[3] नियम १२८ इस प्रकार है "(१) किसी ऐसे सदस्य को जिसने मन्त्री पद त्याग दिया है, स्पीकर की आज्ञा पर अपने त्यागपत्र के सम्बन्ध में व्यक्तिगत सफाई देने की छूट होगी। (२) इस प्रकार का सफाई सम्बन्धी वक्तव्य प्रश्नों के बाद किन्तु दिन की अन्य कार्रवाई प्रारम्भ होने से पूर्व पढ़ा जायगा, (३) इस प्रकार के वक्तव्य के सम्बन्ध में कोई वादविवाद नहीं होगा, किन्तु वक्तव्य दिये जाने के पश्चात् कोई मन्त्री यदि चाहे तो उक्त वक्तव्य के सम्बन्ध में अपना वक्तव्य दे सकेगा।"

[4] Parliamentary Government in England, p 255

न कोई सदस्य देश के किसी प्रसिद्ध पत्रकार का मित्र या रिश्तेदार न रहा हो।"[1] प्रो० लास्की का उक्त कथन फिलहाल भारत के ऊपर लागू नही है।

भारत ने मन्त्रिमण्डल-सचिवालय की स्थापना करके ब्रिटिश उदाहरण का अनुसरण किया है। मन्त्रिमण्डल-सचिवालय के निम्न मुख्य कर्त्तव्य हैं प्रधान मन्त्री के निर्देशन मे मन्त्रिमण्डल की सभाओ के लिए कार्यक्रम तैयार करना, मन्त्रिमण्डल के विनिश्चयो को लेखबद्ध करके सम्बन्धित विभागो को प्रेषित करना, और मन्त्रिमण्डल के विचारार्थ आवश्यक सामग्री जुटाना। मन्त्रिमण्डल की सारी कार्रवाई गुप्त रखी जाती है और कार्रवाई के सम्बन्ध में कोई वक्तव्य समाचारपत्रो को नही दिए जाते। मन्त्रिमण्डल की कार्रवाइयो के समग्त विवरण पूर्ण गुप्त रखे जाते हैं। इंगलैंड में मन्त्रिमण्डल के सचिव को स्थायी आदेश है कि जिस समय वह कार्रवाई के विवरण तैयार करे, व्यक्तिगत मन्त्रियो के किसी विषय पर व्यक्तिगत विचार उक्त विवरण में न दिए जायें, और कार्रवाइयो के विवरण इतने सक्षिप्त होने चाहिएँ कि प्राय केवल मन्त्रियो द्वारा किये गए विनिश्चय ही दिये जाएँ। भारत में इस दिशा में क्या प्रक्रिया अपनायी जा रही है, इसका कोई पुष्ट प्रमाण नही है फिर भी ऐसी आशा करनी चाहिए कि इस ओर भी ब्रिटिश प्रथा के अनुसार ही कार्य हो रहा है।

कैबिनेट के कृत्य (Functions of the Cabinet)—शासन-तन्त्र समिति की १९१८ की रिपोर्ट के अनुसार इगलैंड के मन्त्रिमण्डल के तीन मुख्य कृत्य हैं।

(क) मन्त्रिमण्डल अन्तिम रूप से नीति निर्धारित करके ससद् के विचारार्थ प्रस्तुत करता है,

(ख) ससद् द्वारा व्यवस्थित सर्वोच्च कार्यपालिका नीति के अनुसार राष्ट्र की कार्यपालिका सत्ता का सर्वोच्च नियन्त्रण करता है,

(ग) शासन के विभिन्न विभागो में सामजस्य और उनके हितो की सीमाओ का स्थिरीकरण करता है।

कैबिनेट के कृत्यो के सम्बन्ध मे इससे अधिक सही वक्तव्य आज तक नही दिया गया है। चूंकि भारत ने स्वेच्छया ससदीय शासन-प्रणाली को अपनाया है, और ससदीय प्रणाली मे कैबिनेट ही वह चूल या धुरी है जिसके चारो ओर समस्त शासन-यन्त्र घूमता है, इसलिए कैबिनेट के कृत्यो की परीक्षा उन्ही कृत्यो की छाया में करनी चाहिए जिनका शासन-तन्त्र समिति ने भी वर्णन किया है।

नीति-निर्धारण सम्बन्धी कृत्य (Policy Determining Functions)—जैसा कि बताया भी जा चुका है, कैबिनेट एक विचारशील और नीति-निर्णायक निकाय है। कैबिनेट ही सब प्रकार की राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ पर विचार-विनिमय करती है, और उक्त विचार-विनिमय के फलस्वरूप एकमत होकर शासन की नीति पर विनिश्चय किये जाते हैं। कैबिनेट, ससद् और सारे ससार के समक्ष एक नीति प्रस्तुत करती है और यही उस सामूहिक उत्तरदायित्व का सार है,

---

[1] Parliamentary Government in England, p. 255

जिसकी सविधान ने आज्ञा दी है। यदि कोई व्यक्तिगत मन्त्री कैबिनेट द्वारा निर्धारित नीति से सहमत नही है, तो वह केवल त्यागपत्र दे सकता है, जैसा कि डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी, श्री के० सी० नियोगी, श्री सी० डी० देशमुख तथा कई अन्य मन्त्रियों ने किया था।

जिस समय कैबिनेट नीति निर्धारित कर चुकती है, सम्बद्ध विभाग, उक्त निर्धारित नीति की क्रियान्विति या तो प्रवर्त्तित विधि के अनुसार करते हैं या ससद् में तदर्थ नया विधेयक पुरस्थापित करते हैं। इस प्रकार व्यवस्थापिका, प्रशासन की चेरी है और कैबिनेट ही वह साधन है जो शासन के कार्यपालिका अग को व्यवस्थापिका से जोडता है। इस प्रकार कैबिनेट ही ससद् को कार्रवाई करने का आदेश देती है और जब तक ससद् के बहुमत का हाथ कैबिनेट की पीठ पर रहता है, कैबिनेट अपनी नीति, ससद् में स्वीकार करा ही लेती है।

ये कैबिनेट के मुख्य-मुख्य व्यवस्थापक कृत्य हैं। "किन्तु आधुनिक राज्य में", जैनिंग्ज के अनुसार, "अधिकतर व्यवस्थापिका कृत्यो का उद्देश्य यह होता है कि प्रशासनिक अधिकारो में रूप भेद किया जाये", इसलिए व्यवस्थापन और प्रशासन मे स्पष्ट विभाजन-रेखा खीचना सरल नही है ससद् के प्रत्येक अधिवेशन के प्रारम्भ में कैबिनेट ही व्यवस्थापन सम्बन्धी कार्यक्रम तैयार करती है, और शासन की ओर से पुरस्थापित किए जाने वाले विधेयको को या तो कोई कैबिनेट का मन्त्री या कैबिनेट की स्वीकृति पर कोई अन्य मन्त्री पुरस्थापित करता है। कोई मन्त्री स्वेच्छया किसी विधेयक को ससद् मे पुरस्थापित नही कर सकता, और यह निर्णय करना कैबिनेट का काम है, कि ससद् के किसी अधिवेशन में किस किस विधेयक को पुरस्थापित किया जाय। इसलिए व्यवस्थापन के सम्बन्ध में कैबिनेट का मन्त्रि-परिषद् के ऊपर पूर्ण और प्रभावी नियन्त्रण रहता है। इगलैंड की कैबिनेट के नीति-निर्णायक कृत्यो को गिनाते हुए ऑग (Ogg) ने ठीक ही कहा था "कैबिनेट के मन्त्री लोग नीति निर्धारित करते हैं, विनिश्चय करते हैं, और प्रत्येक ऐसे आवश्यक विषय पर विधेयको के प्रारूप तैयार करते हैं जिनको वे विधि रूप मे पास कराना चाहते हैं और इसके बाद ससद् को आज्ञा देते हैं कि वह उनकी नीतियो और विनिश्चयो पर विचार करे तथा आवश्यक मतदान करे तथा उन्हे स्वीकृत भी करे।" इसमे तनिक भी अतिशयोक्ति नही है कि वास्तविक व्यवस्थापन, ससद् की मन्त्रणा और स्वीकृति पर, कैबिनेट ही करती है।

राष्ट्र की कार्यपालिका सत्ता का सर्वोच्च नियन्त्रण (Supreme Control of the National Executive)—भारतीय मन्त्रिमण्डल को कार्यपालिका सत्ता इस अर्थ मे नही कहा जा सकता कि विधि ने कोई कार्यपालिका सत्ता मन्त्रिमण्डल को नही सौंपी है। सविधान ने तो सघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित की है और वह इस शक्ति का प्रयोग सविधान के अनुसार या तो स्वय करे या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियो के द्वारा करे।[1] वास्तविक अधिकारी मन्त्री लोग होते हैं। ये मन्त्री लोग शासन के विभिन्न विभागो के अध्यक्ष होते हैं और वे ही मन्त्रिमण्डल

---

[1] अनुच्छेद ५३।

द्वारा निर्धारित एव ससद् द्वारा स्वीकृत नीति को क्रियान्वित कराते हैं। इस समय केन्द्रीय शासन के २२ विभाग हैं।[1] अपने-अपने विभागो के कार्य-सचालन में सभी मन्त्रियो को, चाहे वे मन्त्रिमण्डल के मन्त्री हो, चाहे न हो, कैबिनेट के विनिश्चयो और नीतियों की क्रियान्विति मे कैबिनेट के आदेशो का अनुसरण करना आवश्यक है। कैबिनेट के विनिश्चयो और उसकी निर्धारित नीतियो के विरुद्ध आचरण को दलीय अनुशासन की अवहेलना समझा जाता है, और फलस्वरूप ऐसा कोई मन्त्री जो दलीय एकता को आक्रान्त करता है, हटाया जा सकता है। इस प्रकार भारतीय मन्त्रिमण्डल वास्तव में सर्वोच्च राष्ट्रीय कार्यपालिका है यद्यपि सविधान ने कार्यपालिका सत्ता राष्ट्रपति में निहित की है।

कैबिनेट और मन्त्रियो को जो प्रत्यायुक्त व्यवस्थापन (delegated legislation) का अधिकार मिल गया है उससे भी उनकी कार्यपालिका शक्ति में वृद्धि हुई है। इन दिनो व्यवस्थापन का कार्य वहुत वढ गया है और वहुत कुछ प्राविधिक (technical) हो गया है, और ससद् प्राय विधियो की रूपरेखा मात्र स्वरूप में (in skeleton form) पारित करती है और उक्त रूपरेखा को मन्त्रि-परिषद् अथवा सम्वन्धित विभागो के अध्यक्ष मन्त्री पूर्ण करते हैं और वे ही नियम (rules) अथवा विनियम (regulations) वनाकर उक्त विधियो को क्रियान्वित करते हैं।

कैबिनेट, विभिन्न विभागो का समन्वयकारी साधन (The Cabinet as a Co-ordinator)—कैविनेट का मुख्य काम यह है कि वह शासन के विभिन्न विभागो के कृत्यो का मार्ग-दर्शन करती है और उन सव में समन्वय स्थापित करती है। यह सम्भव नही है कि इतने वडे देश का समस्त प्रशासन वाईस या अधिक विभागो में पूर्णतया बाँट दिया जाए। हो सकता है कि एक विभाग के किसी कृत्य का दूसरे विभाग पर प्रभाव पडता हो। सत्य यह है कि प्रत्येक महत्त्वपूर्ण समस्या एक से अधिक विभागो को प्रभावित करती है और कैविनेट ही नीति सम्वन्धी समन्वय स्थापित करती है। अन्त विभागीय मामलो मे स्वय विभाग प्रयत्न करते हैं और इस प्रकार अपने मतभेदो को दूर करके स्थिति को ठीक कर लेते हैं। यदि विभाग आपस में किसी समझौते पर नही पहुँच पाते, तो प्रधान मन्त्री मध्यस्थ और समन्वयकारी के रूप में कार्य करता है। यदि फिर भी निर्णय नही हो पाता तो अन्तिम अपील मन्त्रिमण्डल में की जाती है।

इसमें सन्देह नही है कि कैविनेट को वहुत भारी कार्य निपटाना पडता है। प्राय मन्त्रिमण्डल की वैठक प्रति सप्ताह एक वार एक या दो घण्टे के लिए होती है। मन्त्रिमण्डल मे इतने अधिक सदस्य होते हैं कि प्रभावपूर्ण विचार-विनिमय नही हो पाता और मन्त्रिमण्डल के सदस्य विभागो के अध्यक्ष होते हैं जिनको अपने विभागो के कार्य से ही छुट्टी नही होती। इसलिए कैविनेट के पास इतना समय ही कहाँ है कि

---

[1] १९५५ के प्रारम्भ में केन्द्रीय शासन के २० विभाग थे। मई १९५५ में नया मन्त्रि-विभाग खुला जिसका नाम था लोहा और इस्पात विभाग (Iron and Steel Department) और तत्पश्चात् १९५६ में भारी उद्योगों और नित्य प्रति की आवश्यक वस्तुओं सम्वन्धी Heavy Industries and Consumers' Goods का विभाग खुला।

वह शासन की विभिन्न बारीकियो पर समय दे। फलस्वरूप कैबिनेट समितियो का विकास हुआ है। कैबिनेट की समितियो से दो लाभ हैं। प्रथमत, उक्त समितियाँ विचार-विनिमय करने के बाद प्रत्येक प्रश्न पर अपना प्रतिवेदन देती हैं और उक्त प्रतिवेदन पर कैबिनेट को अपना निर्णय देना पडता है। समितियो मे प्रत्येक प्रश्न पर खुलकर विचार-विनिमय होता है और कुछ न कुछ निर्णय या समझौता कर लिया जाता है। द्वितीयत, कम महत्त्व के प्रश्नो पर समितियाँ उन कृत्यो को करती हैं जिन के लिए कैबिनेट उन्हे आदेश देती है, और इस प्रकार समितियाँ उन प्रश्नों का निर्णय कर डालती हैं, जिन पर, अन्यथा, मन्त्रिमण्डल को अपना अमूल्य समय देना पडता।

वित्त के ऊपर नियन्त्रण (Control over Finances)—मन्त्रिमण्डल अथवा कैबिनेट (cabinet) के जिन कृत्यो का ऊपर विवेचन किया गया है, उनके अतिरिक्त उसके दो कृत्य और भी हैं। प्रथम यह है कि मन्त्रिमण्डल ही राज्य के ऊपर व्यय होने वाली समस्त धनराशि के लिए और उस व्यय को पूरा करने के लिए आवश्यक राजस्व एकत्र करने के लिए उत्तरदायी है। इगलैंड मे वार्षिक आय-व्यय सम्बन्धी विवरण पर समस्त कैबिनेट को विनिश्चय करने का अधिकार नही है। किन्तु जहाँ तक वार्षिक आयव्ययक एक राजनैतिक महत्त्व का भी विषय है, यह सदैव मन्त्रिमण्डल के समक्ष लाया जाता है और वित्त मन्त्री (Chancellor of the Exchequer) अपने आयव्ययक सम्बन्धी भाषण से कुछ दिन पूर्व मौखिक रूप से कैबिनेट के समक्ष आय-व्ययक के सम्बन्ध मे मोटी रूपरेखा प्रस्तुत कर देता है। आगणनो (estimates) के सम्बन्ध में मन्त्रिमण्डल को आयव्ययक के ऊपर पूरा नियन्त्रण प्राप्त है। यदि आयव्ययक में करारोपण सम्बन्धी नये प्रस्ताव हैं, जिनके फलस्वरूप करारोपण सम्बन्धी नीति में भारी परिवर्त्तन होता है, तो ऐसे प्रस्तावो पर आयव्ययक प्रस्थापित करने से पूर्व मन्त्रिमण्डल विस्तारपूर्वक विचार करेगा। अभी तक निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि एतद्विषयक भारतीय प्रक्रिया क्या होगी। सम्भवत हमारे देश में भी इगलैंड के अनुसार आचरण होगा। फिर भी कैबिनेट को अधिकार है कि आयव्ययक के ससद् के समक्ष प्रस्तुत किये जाने के बाद भी उसमें सुधार किये जा सकते हैं। यदि कैबिनेट अनुभव करे कि ससद् या विशाल जनमत ने आयव्ययक को सराहा नही है तो वह ऐसे आयव्ययक को रद्दी की टोकरी में फेंक सकती है, किन्तु ऐसा करने में वित्त मन्त्री के त्यागपत्र देने का खतरा उठाना होगा।

नियुक्तियो के ऊपर नियन्त्रण (Control over Appointments)—सामान्यत नियुक्तियो से सम्बद्ध प्रश्न मन्त्रिमण्डल के समक्ष नही आते। किन्तु सभी ऐसी नियुक्तियाँ जो बडे पदो पर की जाती हैं, मन्त्रिमण्डल की स्वीकृति की अपेक्षा रखती हैं।

प्रधान मन्त्री

(The Prime Minister)

सविधान में प्रधान मन्त्री के पद का स्पष्ट उल्लेख (Prime Minister, a Creation of the Constitution)—सविधान में प्रधान मन्त्री के पद का स्पष्ट

उल्लेख है और उक्त पद का अधिकारी संविधान अथवा शासन का मुख्य अधिकारी है। शासन ही, संघीय कार्यपालिका का मुख्य अंग है और प्रधान मन्त्री शासन का मुखिया है। प्रधान मन्त्री, मन्त्रि-परिषद् का प्रधान है[1] और यद्यपि कहने को तो अन्य मन्त्रियों की नियुक्ति राष्ट्रपति करता[2] है, किन्तु व्यवहारतः प्रधान मन्त्री ही करता है और राष्ट्रपति तो प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा को केवल स्वीकार करता है। समस्त मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से लोकसभा[3] के प्रति उत्तरदायी है। किन्तु मन्त्री लोग राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त ही अपने पदों पर रह सकते हैं,[4] और मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली में इसके भी यही अर्थ हैं कि मन्त्री लोग तथ्यतः प्रधान मन्त्री के प्रसाद पर्यन्त ही अपने पदों पर रह सकते हैं। डॉ० अम्बेदकर ने भी कहा था कि "सामूहिक उत्तरदायित्व केवल प्रधान मन्त्री के पद के द्वारा ही प्रवर्त्तित कराया जा सकता है।" डॉ० अम्बेदकर ने यह भी कहा था कि यदि प्रधान मन्त्री चाहेंगे तो ही कोई व्यक्ति मन्त्रिपरिषद् का सदस्य बना रह सकता है अन्यथा नहीं।" डॉ० अम्बेदकर ने आगे यह भी कहा कि "जब सभी मन्त्री अपनी नियुक्ति और वियुक्ति के सम्बन्ध में प्रधान मन्त्री के आश्रित होंगे, तभी हम मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व के आदर्श को प्राप्त कर सकेंगे।" इसलिए प्रो० लास्की (Prof Laski) के शब्दों में "प्रधान मन्त्री ही मन्त्रि-परिषद् का निर्माण करता है, उसके प्रसाद-पर्यन्त ही मन्त्रि-परिषद् जीवित रहती है और उसकी इच्छा पर ही मन्त्रि-परिषद् की मृत्यु होती है।" प्रधान मन्त्री ही मन्त्रि-परिषद् को बनाता है, वही उसमें परिवर्त्तन कर सकता है और वही उसको विघटित कर सकता है। और इस सम्बन्ध में संविधान की आज्ञा हो चाहे इस सम्बन्ध में संवैधानिक उपबन्ध पूर्ण स्पष्ट न भी हो, फिर भी संविधान की भावना यही है, और संविधान ने जो संसदीय शासन-प्रणाली की स्थापना की है, उसकी भी यही माँग है।

प्रधान मन्त्री की नियुक्ति (The Appointment of the Prime Minister)—मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली का यह मौलिक सिद्धान्त है कि कैबिनेट की पीठ पर विधानमण्डल के लोकप्रतिनिधि सदन के बहुमत का हाथ रहना चाहिए इसलिए प्रधान मन्त्री का चयन अत्यन्त सरल है और राज्य का प्रधान कार्यपालिका अध्यक्ष विधानमण्डल के लोकप्रतिनिधि सदन के बहुमत दल के नेता को बुलाता है और उसको मन्त्रिमण्डल अथवा मन्त्रि-परिषद् निर्माण करने का निमन्त्रण देता है। इंगलैंड में सम्राट् की व्यक्तिगत पसन्द के लिए कोई अवसर नहीं रहता जबकि किसी दल का स्पष्ट बहुमत होता है और जब उस स्पष्ट बहुमत का नेता भी हो। किन्तु सम्राट् को अपनी इच्छा से प्रधान मन्त्री चुनने का अवसर तब प्राप्त हो जाता है जबकि किसी दल का बहुमत तो हो किन्तु नेता न हो, अथवा जबकि किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत न हो। इसके अतिरिक्त सम्राट् को ऐसे समय पर भी प्रधान मन्त्री के चयन में छूट मिल जाती है जब कि प्रधान मन्त्री अपने पद से

---

[1] अनुच्छेद ७४ (१)।

[2] अनुच्छेद ७५ (१)।

[3] अनुच्छेद ७५ (३)।

[4] अनुच्छेद ७५ (२)।

त्यागपत्र दे दे, या उसकी मृत्यु हो जाय और ऐसी अवस्था में यदि हटने वाले या मृत प्रधान मन्त्री का स्थान ग्रहण करने वाला उसके दल में कोई दूसरा व्यक्ति न हो अथवा दूसरे नम्बर का मान्य नेता न हो। ऐसी स्थिति मे सम्राट् ने सदैव प्रधान मन्त्री के चयन मे पूर्ण तटस्थता के साथ कार्य किया है। यदि कोई मन्त्रिमण्डल हार जाता है और उक्त हार जाने के परिणामस्वरूप वह त्यागपत्र दे देता है, तो प्रथा यह है कि विरोधी दल के नेता को आमन्त्रित किया जाय और उसी को मन्त्रिमण्डल निर्माण करने के लिए कहा जाता है।

भारतीय सविधान इस सम्बन्ध में मौन है कि राष्ट्रपति प्रधान मन्त्री का चयन कैसे करे। सविधान ने यह भी नही कहा कि प्रधान मन्त्री आवश्यकत. लोकसभा का ही सदस्य हो अथवा क्या वह ससद् के किसी भी सदन का सदस्य हो सकता है। यदि सविधान विधि के शब्दो का पालन करें तो ऐसा व्यक्ति भी छ. मास के लिए प्रधान मन्त्री नियुक्त किया जा सकता है जो ससद् के किसी भी सदन का सदस्य न हो। किन्तु मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली का यह नियम ही नही है। इस सम्बन्ध में सुस्थापित अभिसमय यह है कि राज्य का प्रधान ससदीय बहुमत दल के नेता को आहूत करता है और यदि ऐसा कोई नेता नही है, तो किसी ऐसे व्यक्ति को बुलाता है जो विधानमण्डल के बहुमत का समर्थन प्राप्त कर सकने में समर्थ हो सके, यदि किसी एक ही दल का बहुमत न हो, और ऐसे व्यक्ति को प्रधान मन्त्री नियुक्त कर दिया जाता है और उसी को मन्त्रिमण्डल निर्माण करने को कहा जाता है। ऐसा कोई व्यक्ति जो विधानमण्डल का सदस्य न हो, मन्त्री तो नियुक्त किया जा सकता है किन्तु ऐसे व्यक्ति को प्रधान मन्त्री नियुक्त नही किया जा सकता। समूची मन्त्रि-परिषद् का विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायित्व और विधानमण्डल के प्रति ही नही, अपितु लोकसभा के प्रति उत्तरदायित्व के कारण इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति के सामने और कोई विकल्प ही नही रह जाता यदि लोक सभा मे किसी दल का स्पष्ट बहुमत हो जाय और उक्त बहुमत दल का नेता भी हो। १९५२ में लोकसभा मे कांग्रेस को ४९९ सदस्यो के सदन में ३६३ स्थान प्राप्त हुए थे। ऐसी स्थिति मे यदि राष्ट्रपति कांग्रेस दल के नेता को छोडकर किसी अन्य व्यक्ति को मन्त्रिमण्डल निर्माण करने के लिए बुलाता, तो राष्ट्रपति का उक्त कृत्य असवैधानिक कहा जाता।

किन्तु राष्ट्रपति स्वविवेक के अनुसार भी प्रधान मन्त्री का चयन कर सकेगा, यदि कोई एक दल ऐसा नही है जिसके अधिकार मे स्पष्ट बहुमत हो। ऐसी स्थिति की सम्भावनाएँ हैं और ऐसी स्थिति कई बार भी आ सकती है। आजकल लोक सभा में कांग्रेस के अतिरिक्त १२ अन्य राजनीतिक दल और समुदाय हैं और भय है कि दलो की सख्या में और अधिक वृद्धि हो जाय और हमारा विधानमण्डल फ्रांस के विधानमण्डल जैसा हो जाय। ऐसा विकास भयावह होगा किन्तु आशा करनी चाहिए कि जब लोकसभा मे किसी एक ही दल का स्पष्ट बहुमत न होगा और जब ऐसी स्थिति मे राष्ट्रपति को प्रधान मन्त्री के चयन मे स्वविवेक के अनुसार कार्य करना पडेगा, तो राष्ट्रपति सदैव तटस्थता के साथ प्रधान मन्त्री को चुनेगा। ऐसी

स्थिति में राष्ट्रपति को केवल यह देखना चाहिए कि वह ऐसा व्यक्ति प्रधान मन्त्री के पद के लिए चुने जिसे मन्त्रि-परिषद् निर्माण करने के लिए कुछ साथी मिल सकें और साथ ही जो लोकसभा का विश्वास प्राप्त कर सके। यह ठीक है कि राष्ट्रपति एक अभ्यास-वृद्ध राजनीतिज्ञ होगा और वह सम्भवत दलगत निष्ठा से ऊपर न हो। किन्तु भारतीय राष्ट्रपति एक महान् राष्ट्र का महान् प्रधान है। उसने शपथ ली है कि वह पूरी योग्यता के साथ सविधान और विधि का परिरक्षण, सरक्षण और प्रतिरक्षण करेगा और श्रद्धापूर्वक राष्ट्रपति के कर्त्तव्यो का निर्वहन करेगा। इसलिए राष्ट्रपति को इसमें कोई रुचि नही होनी चाहिए कि कौनसा दल या कौनसे दल शासन का निर्माण करते हैं। राष्ट्रपति की भी इच्छा और अनिच्छा के व्यक्ति हो सकते हैं जिस प्रकार कि सम्राट् भी पक्षपातशून्य नही होते, उदाहरणार्थ सम्राज्ञी विक्टोरिया प्रधान मन्त्री ग्लैडस्टन से चिढ़ी हुई थी, किन्तु हमे विश्वास करना चाहिए कि हमारा राष्ट्रपति न तो पक्षपातपूर्ण होगा और न वह राजनीतिज्ञ होगा। उससे तो अपेक्षा की जाती है कि वह सभी का राष्ट्रपति है न कि किसी एक दल का या किसी एक वर्ग का।

प्रधान मन्त्री के कर्त्तव्य (Functions of the Prime Minister)—जैसा कि बताया भी गया था, प्रधान मन्त्री ही सविधान-भवन-रूपी वृत्तखण्ड की मुख्य शिला है। उसी के हाथो में शासन का सारा उत्तरदायित्व है। इसलिए उसके कर्त्तव्य कठिन हैं और उसका अधिकार महान् है। इगलैंड के प्रधान मन्त्री को बहुत से लोग अधिनायक कहते हैं। ग्रीव्ज़ (Greaves) का कथन है कि ब्रिटिश प्रधान मन्त्री की औपचारिक शक्तियाँ किसी एकाधिकारपूर्ण सम्राट् से कम नही हैं। यह वक्तव्य अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकता है फिर भी उक्त वक्तव्य से यह तो अवश्य ज्ञान होता है कि मन्त्रिमण्डलीय शासन-व्यवस्था मे प्रधान मन्त्री की शक्तियों का पर्याप्त विस्तार हो सकता है, और भारत का प्रधान मन्त्री भी उक्त लाछन से बिलकुल ही अछूता नही बचा रहेगा। सक्षेप में प्रधान मन्त्री के निम्न कर्त्तव्य हैं

(१) प्रधान मन्त्री ही शासन का निर्माण करता है। जहाँ राष्ट्रपति ने प्रधान मन्त्री को नियुक्त कर दिया, उसका मुख्य कार्य समाप्त हो जाता है क्योंकि अपने सहयोगी मन्त्रियो का चयन तो प्रधान मन्त्री करता है और वही मन्त्रियो की सूची को राष्ट्रपति के समक्ष उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत करता है। शाब्दिक अर्थों में मन्त्रियो की नियुक्ति पर राष्ट्रपति का अधिकार होना चाहिए क्योकि वही उन्हे नियुक्त करता है। किन्तु वास्तविक व्यवहार में मन्त्रियो के सम्बन्ध में विनिश्चय करना प्रधान मन्त्री का अधिकार है और राष्ट्रपति तो उक्त सम्बन्ध मे केवल एक औपचारिक स्थिति का उपयोग करते हैं।

मन्त्रि-परिषद् के साथियो को चुनने में और फिर मन्त्रियो को विभाग सौंपने में प्रधान मन्त्री को पर्याप्त छूट रहती है। प्रधान मन्त्री ही निर्णय करता है कि मन्त्रिमण्डल में कितने मन्त्री हो और कौन-कौन मन्त्री हो। प्रधान मन्त्री यदि चाहे तो दल से बाहर के व्यक्ति भी मन्त्रि-परिषद् में लिये जा सकते हैं जिस प्रकार कि प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने प्रथम यूनियन मन्त्रिमण्डल में गैर-कांग्रेसियो को लिया था, यही

नही, प्रधान मन्त्री संसद् से बाहर का व्यक्ति भी मन्त्रिमण्डल में ले सकता है यदि वह ऐसा आवश्यक समझे और यदि उसके विचार से कोई व्यक्ति किसी विशेष विभाग के लिए विशेष उपयुक्त जान पडे । इस सम्बन्ध में ब्रिटेन के प्रधान मन्त्री को बहुत अधिक छूट रहती है, परन्तु भारत के प्रधान मन्त्री को उतनी स्वतन्त्रता नही है। ऐमरी ने प्रधान मन्त्री की अपने सहयोगी नियुक्ति करने की शक्ति के सम्बन्ध में कहा है कि "शायद किसी अधिनायक (dictator) को इतनी एकाधिकारी छूट या स्वतन्त्रता नही रहती जितनी कि स्वतन्त्रता ब्रिटिश प्रधान मन्त्री को अपने मन्त्रिमण्डल के निर्माण करने में रहती है।"[1] किन्तु इसके विपरीत भारत के प्रधान मन्त्री को मन्त्रि-परिषद् के सहयोगियो की नियुक्ति करते समय दल की आवश्यकताओ, भौगोलिक आवश्यकताओ, और विभिन्न जातियो के प्रतिनिधित्व की आवश्यकताओ को ध्यान में रखना पडता है। यद्यपि सविधान ने कोई उपबन्ध नही किया है जिससे उसकी छूट मर्यादित हो किन्तु व्यावहारिक आवश्यकताओ के कारण उसको अपनी मन्त्रि-परिषद् में विभिन्न हितो और विभिन्न वर्गों को प्रनिनिधित्व देना ही पडता है।

मन्त्रियो को विभाग सौपते समय भी प्रधान मन्त्री स्वविवेक के अनुसार ही कार्य करता है और कभी-कभी ऐसा भी होता है कि यदि कोई अभ्यास-वृद्ध राजनीतिज्ञ ऐसा अनुभव करे कि जो विभाग उसको दिया गया है, वह उसकी राजनीतिक स्थिति के प्रतिकूल है तो वह उक्त पद को अस्वीकृत भी कर सकता है। परन्तु प्रधान मन्त्री द्वारा अन्तिम विभाग वितरण पर शायद ही कभी कोई आपत्ति की जाती हो क्योकि, जैसा कि मि० एमरी (Mr Amery) ने लिखा है, "यदि किसी जिद्दी राजनीतिज्ञ ने एक बार प्रधान मन्त्री द्वारा दिए गए पद को ठुकराया तो प्राय उसका राजनीतिक जीवन समाप्त ही हो जाता है।" प्राय १९२९ से लगभग १० वर्ष तक श्री चर्चिल और स्वय एमरी को पुन मन्त्रिमण्डल में स्थान नही मिला।[2]

(२) यदि शासन-तन्त्र को ठीक-ठीक और कुशलतापूर्वक चलाना है तो फिर प्रधान मन्त्री को पूरी छूट देनी ही होगी कि वह अपने साथियो को स्वतन्त्रतापूर्वक चाहे तो नियुक्त करे, चाहे पदो का परिवर्त्तन करे और चाहे अपने साथियो में से किसी को अपदस्थ करे । वह पूर्ण स्वतन्त्रता और तटस्थता के साथ जिस व्यक्ति को भी मन्त्री पद पर नियुक्त करना चाहे कर सकता है। यह भी उसका असदिग्ध अधिकार है कि वह समय-समय पर पुनरीक्षण करता रहे कि विभिन्न मन्त्रियो में उसने जो विभाग वितरण कर रखा है, वह क्या अब भी सर्वश्रेष्ठ प्रबन्ध है अथवा उसमें किसी पद पर परिवर्त्तन अभीष्ट है। इस प्रकार वह मन्त्रि पदो में जिस प्रकार चाहे और जब चाहे परिवर्त्तन कर सकता है। जहाँ तक वह मन्त्रिमण्डल रूपी टीम का कप्तान है और प्रशासन का मुखिया है, प्रधान मन्त्री को अधिकार है और उसका कर्त्तव्य भी है कि वह किसी ऐसे मन्त्री से कह दे कि वह त्यागपत्र दे दे जिसकी उपस्थिति से मन्त्रिमण्डल की कार्यकुशलता ईमानदारी या शासन की नीति पर आँच आती हो या लाछन लगता

---

[1] Champion and Others Parliament, A Survey, p 63

[2] Ibid p 64

हो। इसलिए, डा० अम्बेदकर ने कहा था कि "प्रधान मन्त्री वास्तव में मन्त्रिमण्डल-भवन के वृत्तखण्ड की मुख्य शिला है और जब तक हम उक्त पद को इतनी अधिकारपूर्ण स्थिति प्रदान न करें कि वह स्वेच्छया मन्त्रियो को नियुक्त या वियुक्त कर सके, तब तक मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व प्राप्त नही हो सकता।"[1]

प्रधान मन्त्री को यह भी अधिकार है कि वह राष्ट्रपति से किसी मन्त्री के अपदस्थ करने को कहे। सविधान के अनुसार कोई मन्त्री अपने पद पर केवल राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त ही रह सकता है और इसलिए राष्ट्रपति जब चाहे, किसी मन्त्री को हटा भी सकता है। किन्तु मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली की यह एक सुस्थापित प्रथा बन गई है कि राष्ट्रपति किसी मन्त्री को केवल प्रधान मन्त्री की मन्त्रणा पर ही अपदस्थ कर सकता है। प्रश्न के इस पहलू पर विचार करते हुए, डा० अम्बेदकर ने सविधान सभा में कहा था "मेरे विचार से सामूहिक उत्तरदायित्व दो सिद्धान्तो से प्रवर्त्तित किया जाता है। प्रथम सिद्धान्त यह है कि कोई व्यक्ति मन्त्रिमण्डल में प्रधान मन्त्री की इच्छा के विरुद्ध नही लिया जाएगा। द्वितीयत, यदि प्रधान मन्त्री किसी व्यक्ति को अपने मन्त्रिमण्डल से हटाना चाहे तो वह व्यक्ति किसी भी हालत में मन्त्रिमण्डल मे नही बना रहना चाहिए। जब मन्त्रिमण्डल के सभी मन्त्री अपनी नियुक्ति और वियुक्ति के सम्बन्ध मे पूरी तरह प्रधान मन्त्री के आश्रित होंगे, तभी हम मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व के आदर्श तक पहुँच सकेंगे। मेरी समझ मे सामूहिक उत्तरदायित्व का प्रवर्त्तन प्रभावी कराने के लिए अन्य कोई उपाय नही है।"[2] किन्तु प्रधान मन्त्री केवल अत्यधिक असाधारण स्थिति में ही किसी मन्त्री को अपने पद से वियुक्त करानेकी सिफारिश करेगा। फिर भी प्रधान मन्त्री को किसी मन्त्री के अलग करने का अधिकार तो अक्षुण्ण है, इसमें कोई सन्देह ही नही है।

(३) महानिर्वाचन, वास्तव में प्रधान मन्त्री के निर्वाचन के लिए ही होता है। पिछले महानिर्वाचन का यही नारा था "काँग्रेस को वोट देकर नेहरू के हाथो को मजबूत बनाओ।" सत्य तो यह है कि आज नेहरू और काँग्रेस दो नही हैं। देखने में, दलीय तन्त्र पर नेहरू जी का एकाधिपत्य नही है किन्तु सर्वसाधारण पर नेहरू जी का जो प्रभाव है वह इतना पूर्ण है कि शायद ही किसी अन्य लोकतन्त्रात्मक देश में किसी राजनीतिज्ञ का अपने देश के लोगो पर इतना प्रभाव होगा। और पिछले कुछ वर्षों मे नेहरू जी को सारे ससार में इतनी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है, कि उस प्रतिष्ठा के सामने सभी मन्दाभ हो गए हैं। श्री के० आर० श्री निवास आयगर ने 'प्रधान मन्त्री, (The Prime Minister) नामक शीर्षक के अन्तर्गत लिखा है · "जब वे (श्री नेहरू) किसी सभा में पहुँचते हैं चाहे वह स्थायी समिति (Select Committee) की सभा हो और चाहे कोई सार्वजनिक सभा हो, दोनो प्रकार की सभाओ मे, वे समान रूप से प्रभाव डालते हैं। सभी की आँखें उन्ही की ओर लग जाती हैं, सभी के हाथ प्रेमपूर्ण सत्कार के रूप में इस प्रकार तालियाँ पीटने लगते हैं मानो इन हाथो से कोई पूर्व

---

1. Constituent Assembly Proceedings, Vol VII, p. 1159
2. Constituent Assembly Proceedings, Vol VII, p. 1159

निश्चित लय निकल रही हो, और सारा वातावरण शान्त होकर सभी लोग प्रधान मन्त्री की निर्भय गतिविधियो को ताकते हैं और उनके एक-एक शब्द को पकडने की कोशिश करते हैं। पुरुष लोगो की साँस कुछ-कुछ रुक-सी जाती है और स्त्रियाँ कुछ घबरा सी जाती हैं।"[1] इस प्रकार प्रधान मन्त्री वास्तव में अपने दल का नेता है। प्रधान मन्त्री प्रतिनियुक्त प्रतिनिधियों (deputations) से मिलकर, और उनसे विचार-विनिमय करके सार्वजनिक भाषण देकर तथा दलीय सम्मेलनो का आयोजन करके, तथा अन्य महत्त्वपूर्ण अवसरो से लाभ उठाकर जनमत का मार्ग दर्शन कराते हैं। किन्तु प्रधान मन्त्री का दलीय नेतृत्व उसके व्यक्तित्व, उसकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और उसकी कार्यपटुता (Strategy) पर निर्भर है। जैनिंग्ज ने लिखा है "प्रधान मन्त्री की वैयक्तिक प्रतिष्ठा और व्यक्तित्व का जनमत के ऊपर काफी प्रभाव पडता है इसलिए उसको फिल्म अभिनेता की तरह अपने आपको सजधज के साथ पेश करना चाहिए जिस प्रकार कि मि० ग्लैडस्टन अपने कॉलर ठीक रखते थे, मि० लायड जार्ज अपने बालो को बनाकर रखते थे, मि० बाल्डविन (Baldwin) अपनी पाइप (pipe) को सम्हाल कर पकडा करते थे और श्री चर्चिल अपने कीमती सिगार सदैव मुंह में रखकर बाहर निकलते थे।"[2] उसी प्रकार श्री नेहरू अपने हाथ में छोटा सा रूल (baton) और अपनी अचकन के बटन के छेद में गुलाब का फूल रखते हैं।

(४) पुन प्रधान मन्त्री अपनी कैबिनेट का चेयरमैन होता है और प्राय "सामान्यत किसी भी समिति के चेयरमैन के प्रति सभी को निष्ठा रखनी पडती है क्योकि सभी समझते हैं कि समिति की कार्रवाई को सुचारु रूप से चलाने और उन्नत करने के लिए आदेश और व्यवस्था की आवश्यकता होती है और सभी लोग यह भी समझते हैं कि सम्मिलित कार्य को सुचारु रूप से गति देने के लिए चेयरमैन के निर्णयो को स्वीकार करना अत्यावश्यक है।"[3] मन्त्रि-परिषद् में विचार-विनिमय करते समय मन्त्रियो में मत-विभिन्नता हो सकती है, किन्तु अन्त मे सभी को सर्वसम्मति से एक विनिश्चय करना होगा, और तभी दल में एकता और परस्पर-अधीनता रह सकती है। सत्य यह है कि मन्त्रि-परिषद् में विरोध की सम्भावनाएँ बहुत ही कम होती हैं। यदि दो मन्त्रियो में या दो विभागो में विरोध हो तो आपसी बातचीत के द्वारा या प्रधान मन्त्री की पचायत (arbitration) के द्वारा विवाद सुलझ सकता है। यदि कैबिनेट के वादविवादो में विरोध निकल आयें तो मन्त्रिमण्डल या कैबिनेट के चेयरमैन के नाते प्रधान मन्त्री अपनी उच्च स्थिति का लाभ उठाते हुए उक्त विरोध को शान्त करा देता है और कुछ न कुछ फैसला करा ही देता है। इसके अतिरिक्त वह सारे दल का नेता है और उसके १५ या अधिक मन्त्रिमण्डल के सहयोगी उसके प्रति, व्यक्तिगत रूप में भी और दलगत निष्ठा के कारण भी भक्ति और निष्ठा के भाव रखते हैं। और वही सारी कार्यावलि (agenda) नियन्त्रित करता है। यह उसी की इच्छा पर

---

[1] Hindustan Times, Sunday Magazine, Nov 13, 1955, p 1

[2] Jennings Cabinet Government, p 163

[3] Finer, H The Theory and Practice of Modern Government (1954) p 592

निर्भर है कि किसी विषय को मन्त्रिमण्डल के विचारार्थ रखे या रखने की आज्ञा न दे। इगलैड की प्रथा यह है कि हर एक मन्त्री किसी विधेयक पर विचार होने से पूर्व अपने प्रधान मन्त्री की आज्ञा लेता है और उसकी सहायता की और उसके समर्थन की याचना करता है। किन्तु इस सीमा तक परस्पर-अधीनता तभी प्राप्त की जा सकती है जबकि ससद् में केवल एक ही दल का स्पष्ट बहुमत हो। और यदि मिली-जुली सरकार (Coalition Government) हो और विशेषकर ऐसी स्थिति में सरकार में पाँच या छ दलो का सहयोग हो तब मन्त्रियो में परस्पर-अधीनता कठिन होती है और ऐसी स्थिति में मन्त्रियो की, प्रधान मन्त्री के प्रति न तो वैयक्तिक निष्ठा रहती है और न दलीय निष्ठा ही रहती है।

(५) प्रधान मन्त्री एक प्रकार से शासन-व्यापार का प्रधान मैनेजर होता है। वही विभिन्न मन्त्रियो और मन्त्रि विभागो की नीतियो में सामजस्य और एकरूपता प्राप्त करता है। वह सारे शासन को एक इकाई के रूप मे देखता है और शासन के विभिन्न क्रियाकलापो में उचित सामजस्य स्थापित करता है। किन्तु ससार के किसी भी लोकतन्त्रात्मक देश में प्रधान मन्त्री के लिए सम्भव नही है कि वह शासन के सभी विभागो पर नियन्त्रण रख सके और उनका मार्ग-दर्शन कर सके। शासन के क्रियाकलाप इतने बढ गए हैं और इतने विभिन्न प्रकार के हो गए हैं और साथ ही इतने जटिल हो गए हैं कि यदि कोई प्रधान मन्त्री सभी विभागो पर व्यक्तिगत नियन्त्रण रखने का दुस्साहस करता, तो सम्भवत न केवल प्रधान मन्त्री मुसीबत में पड जाता, अपितु सारे देश के लिए भी ऐसा दुस्साहस अनिष्टकर होता। इसलिए प्रधान मन्त्री के उत्तरदायित्वो को अन्तरग मन्त्रिमण्डल (inner cabinet) के मन्त्री लोग बाँट लेते हैं और सब मन्त्रि-विभागो मे समन्वय स्थापित करने का कार्य मन्त्रिमण्डल की समितियो के ऊपर छोड दिया जाता है। फिर भी माना यही जाता है कि शासन के सभी विभाग प्रधान मन्त्री की देख-रेख में चलते हैं और यह आवश्यक है कि शासन-सम्बन्धी सभी मामलो पर चाहे वे महत्त्वपूर्ण हो या साधारण, विवाद-ग्रस्त हो या विवाद-शून्य, प्रधान मन्त्री की राय ली जाय।

(६) प्रधान मन्त्री लोकसभा का नेता होता है। इगलैंड में ऐसी प्रथा है कि प्रधान मन्त्री अपने किसी साथी को लोकसभा का नेता नामाकित कर देता है ताकि उसे इन कर्त्तव्यो से छुट्टी मिल सके। किन्तु लोकसभा के नेतृत्व की अन्तिम ज़िम्मेदारी प्रधान मन्त्री की ही है। शासन की नीति और लोकसभा की कार्यवाही के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण घोषणाएँ प्रधान मन्त्री को ही करनी पडती हैं और ऐसे सभी प्रश्न जिनका सम्बन्ध किसी विशेष विभाग से न हो, अथवा अत्यन्त शीघ्र निर्णय वाले प्रश्न अब भी प्रधान मन्त्री को ही सम्बोधित किए जाते हैं। लोकसभा की महत्त्वपूर्ण बहसो या वाद-विवादो का वही सूत्रपात करता है और आवश्यकता आने पर वही ऐसे वाद-विवादो मे हस्तक्षेप करता है। सत्य यह है कि लोक सभा प्रधान मन्त्री को नीति का स्रोत समझती है। इसके अतिरिक्त प्रधान मन्त्री को ही अधिकार है कि यदि उसके किसी सहयोगी मन्त्री से कोई भूल या गलत काम बन पड़े तो वही उक्त भूल को तुरन्त सुधार सकता है।

(७) सार्वजनिक महत्त्व के मामलो पर राष्ट्र के प्रधान से केवल प्रधान मन्त्री के माध्यम के द्वारा ही सम्पर्क स्थापित किया जा सकता है। वही राष्ट्रपति को मन्त्रिमण्डल के विनिश्चयो से अवगत कराता है। यदि कोई मन्त्री, प्रधान मन्त्री द्वारा दिए गए विवरण की नुक्ताचीनी करता है, अथवा यदि वह राष्ट्रपति के पास सीधे मन्त्रिमण्डल की सूचनाएँ पहुँचाता है, तो यह मन्त्रिमण्डलीय शिष्टाचार के विरुद्ध व्यवहार होगा। राष्ट्रपति का मुख्य परामर्शदाता, प्रधान मन्त्री ही है, और आपात-कालो मे राष्ट्रपति सर्वप्रथम प्रधान मन्त्री से ही परामर्श करेगा।

(८) प्रधान मन्त्री लोगो के ऊपर अनेको प्रकार से अनुग्रह कर सकता है। सभी बडे पदो पर प्रधान मन्त्री ही नियुक्तियाँ करता है। इस प्रकार की नियुक्तियाँ करते समय, प्रधान मन्त्री अन्य मन्त्रियो से भी परामर्श करता है किन्तु अन्तिम रूप से उसी के मन की चलती है।

प्रधान मन्त्री की स्थिति (The Prime Minister's Position)—अभी निश्चित रूप से यह कहना कठिन है कि प्रधान मन्त्री की स्थिति अन्य मन्त्रियो के प्रसग में क्या है। किन्तु सामान्यत यह समझा जाता है कि प्रधान मन्त्री समकक्षों में प्रथम (primus interpares) है। रैम्जे म्योर ने इस स्थिति को ठीक नही बताया और उसने 'समकक्षो में प्रथम' वाक्याश को बकवास कहा है क्योकि "प्रधान मन्त्री तो ऐसा शक्य और अधिकारी पुरुष है जो अपने साथी मन्त्रियों को नियुक्त या वियुक्त कर सकता है। प्रधान मन्त्री तो तथ्यत राष्ट्र का और राज्य का कार्यकारी प्रधान है चाहे वैधानिकत ऐसा न भी हो और उसको इतनी अपार शक्ति और अधिकार प्राप्त है जितनी शक्ति कि ससार के किसी अन्य सवैधानिक शासक को भी प्राप्त न होगी; यहाँ तक कि सयुक्त राष्ट्र अमरीका के राष्ट्रपति को भी इतनी शक्ति और इतना अधिकार प्राप्त नही है।"[1] जैनिग्ज का कथन है कि "प्रधान मन्त्री 'समकक्षो मे प्रथम मात्र ही नही है', वह तो वास्तव में सूर्य है जिसके चारो ओर ग्रह अथवा नक्षत्र घूमते रहते हैं।"[2]

प्रधान मन्त्री वास्तव में सूर्य ही है जिसके चारो ओर नक्षत्र घूमते रहते हैं। यदि प्रधान मन्त्री अपने पूरे अधिकारो का प्रयोग करना चाहे, तो वास्तव मे उसकी स्थिति महान् है। भारतीय प्रधान मन्त्री का पद सविधान का जात है और इस प्रकार प्रधान मन्त्री के पद के पीछे सविधान की अधिकारपूर्ण स्वीकृति है। वह मन्त्रि-परिषद्[3] का प्रधान है और मन्त्रियो की नियुक्ति, राष्ट्रपति केवल प्रधान मन्त्री के परामर्श पर ही करता है।[4] मन्त्री लोग राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त[5] ही अपने पदो पर रह सकते हैं, किन्तु मन्त्रिमण्डलीय शासन-प्रणाली के अनुसार राष्ट्रपति अपनी शक्ति का प्रयोग प्रधान मन्त्री के परामर्श पर ही करेगा। डा० अम्बेदकर ने कहा था कि प्रधान मन्त्री को अपने मन्त्रियो को नियुक्त या वियुक्त करने का पूरा अधिकार

---

[1] How Britain is Governed, p 83.

[2] Cabinet Governmnet, p 183

[3] अनुच्छेद ७४ (१)।

[4] अनुच्छेद ७५ (१)।

[5] अनुच्छेद ७५ (२)।

BookNo. 1729

मिलना चाहिए और यह अधिकार ही ऐसा साधन है जिसके द्वारा मन्त्रिमण्डल के सामूहिक उत्तरदायित्व का आदर्श प्राप्त किया जा सकता है।[1] यदि कोई मन्त्री, प्रधान मन्त्री की अवज्ञा करे अथवा उसके अधिकार को चुनौती दे, तो ऐसा करना मन्त्री के हित में घातक होगा, और उसकी समस्त राजनैतिक महत्त्वाकाक्षाओ पर पानी पड जायेगा, हाँ यदि प्रधान मन्त्री ने अपने पद पर अयोग्यता दिखाई है और यदि सभी लोग उसको अयोग्य प्रधान मन्त्री समझते हैं तो कोई भी मन्त्री प्रधान मन्त्री को चुनौती दे सकता है।

जैनिंग्ज़ ने कहा है कि प्रधान मन्त्री का पद वहुत कुछ स्वय प्रधान मन्त्री के ऊपर निर्भर करता है कि वह उसे कैसा वनावे और इस पर भी निर्भर करता है कि अन्य मन्त्री उस पद को किस रूप में विकसित होने दें। प्रधान मन्त्री की अधिकारपूर्ण स्थिति का विस्तार कुछ तो प्रधान मन्त्री के व्यक्तित्व, कुछ उसकी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा और कुछ दल के समर्थन पर निर्भर करता है। नेहरूजी की वास्तविक शक्ति है उनका गतिशील और शक्तिशाली व्यक्तित्व। नेहरूजी स्वय वास्तव में एक सस्था हैं और दल के ऊपर और शासन के ऊपर वे एकछत्र शासन करते हैं। डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है कि 'जव नेहरूजी के सहयोगी मन्त्री या दल के उच्च नेताओ को नेहरूजी का ऐसा पत्र मिलता है, जिसमें वे किसी समाचारपत्र की किसी अस्पष्ट खवर पर उनकी रिपोर्ट माँगते हैं और जिस पत्र के साथ सम्वन्धित समाचारपत्र की कटिंग सलग्न होती है तो अच्छो-अच्छो के होश विगड जाते हैं।"[2] कहा जाता है ~~कि नेहरूजी ने पिछले महानिर्वाचन में जो सारे देश का दौरा किया था, उतना वडा निर्वाचन दौरा ससार के किसी देश के किसी प्रधान मन्त्री ने नही किया है; और इतना भारी दौरा स्वय नेहरूजी ने भी कांग्रेस के सभापतित्व काल में भी नही किया था~~। औसतन, नेहरूजी ने प्रतिदिन दस सभाओ में भाषण दिये, प्रतिदिन १,००० मील का सफर किया और ऐसा कार्यक्रम तीन महीने तक चला।[3]

~~नेहरूजी की प्रतिष्ठा और लोकप्रियता देश में और विदेशो में वढ रही है~~। ~~नेहरूजी की वास्तविक शक्ति का कारण यह है कि वे राष्ट्रनायक (national hero) हैं, दलगत राजनीति से परे हैं और वे छोटी-छोटी वातो के विवादो में नही पड़ते~~। "यद्यपि नेहरूजी जन्मत कुलीन और ठाटवाटी हैं किन्तु उन्होने अपने आपको सर्वसाधारण का एक पुरजा मात्र वना लिया है और अपने जीवन को ~~स्वतन्त्र भारत के निर्माण में लगा दिया है और उन्होने तीस करोड नर-नारियो के स्वतन्त्र जीवन को उन्नत करने का वीडा उठाया है~~।" नेहरूजी इस समय अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति-प्राप्त व्यक्ति हैं और उनका प्रभाव ससार की मुख्य घटनाओ पर पडे विना नही रहता, और इस समय तो उनका महान् ध्येय, ससार में शान्ति स्थापित करना है। इसलिए इस समय नेहरूजी की देश में और विदेशो में भी महान् ख्याति

---

[1] See ante, Constituent Assembly Proceedings Vol VII p 1159

[2] The Tribune, Magazine Section, Nov. 13, 1955, p 1

[3] The Tribune, Magazine Section, Nov. 13, 1955, p 11

है और सम्भवत जब तक श्री नेहरू प्रधान मन्त्री बने रहेंगे, उनके किसी सहयोगी मन्त्री के लिए इतना सम्मानपूर्ण स्थान बनाना कठिन होगा।

किन्तु प्रधान मन्त्री की स्थिति दल के साथ बँधी हुई है। इसमें कोई सन्देह नही है कि श्री नेहरू की प्रतिष्ठा भी कांग्रेस की सफलता का कारण है और उनके व्यक्तित्व के कारण कांग्रेस में एकता बनी हुई है, किन्तु दल से अलग नेहरूजी कुछ नही हैं। नेहरूजी जो कुछ भी हैं अथवा जो कुछ बनने का दावा करते हैं, यह सब कुछ पार्टी का ही बनाया हुआ है। जब तक नेहरूजी का प्रभाव दल पर है, तब तक वह दल की नीति निर्माण करते रहेंगे। जहाँ दल ने उन्हे बाहर निकाला कि तुरन्त वे रैम्जे मैक्डानल्ड की तरह कही के न रहेगे। एस्क्विथ और लॉयड जार्ज का भी यही हाल हुआ था।

अध्याय ६

केन्द्रीय शासन (क्रमशः)

(Government at the Centre) *Contd*

ससद्

(Parliament)

ससद् का संविधान (Constitution of the Parliament)—भारतीय सविधान ने सघीय विधानमण्डल[1] का नाम ससद् रखा है। ससद् राष्ट्रपति और दो सदनो से मिलकर बना है जिनके नाम क्रमश. राज्य-परिषद् अथवा राज्य सभा और लोक सभा हैं।[2] इस प्रकार राष्ट्रपति, ससद् का अवयवी अग है जिस प्रकार कि इगलैंड का राजा ब्रिटिश ससद् का अभिन्न अग है। किन्तु अमरीका का राष्ट्रपति, उक्त देश के विधानमण्डल का अभिन्न अग नही है। सयुक्त राज्य अमरीका का सविधान उपबन्धित करता है "समस्त विधायिनी शक्तियाँ सयुक्त राज्य अमरीका की कांग्रेस में निहित होगी जिसमें दो सदन होगे जिनके नाम सीनेट (Senate) और प्रतिनिधि सदन होगे।"[3]

यद्यपि भारतीय सविधान ने केन्द्रीय विधानमण्डल को वही स्वरूप प्रदान करने का प्रयत्न किया है जो इगलैंड की ससद् का है और इगलैंड के राजा के समान भारत के राष्ट्रपति को ससद् का सघटक भाग माना है, फिर भी भारतीय ससद् इगलैंड की ससद् के समान सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न विधानमण्डल नही है। डायसी का कथन है कि इगलैंड की ससद् सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न निकाय है और वैधिक दृष्टिकोण से इगलैंड के शासन के सभी अगो पर ससद् छायी रहती है। ससद् की सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्नता का यह अर्थ है कि ससद् जो कुछ भी चाहे और जिस रूप मे चाहे विधि निर्मित कर सकती है और ससद् जो कुछ भी निर्णीत करेगी, वह देश की सर्वोच्च विधि होगी। ससद् जो कुछ भी अधिनियमित करेगी, न्यायालय उसी को प्रमाण मानकर उसी का निर्वचन करेगे और ससद् ही जब तक उस अधिनियम को रद्द करके दूसरा अधिनियम अधिनियमित न करेगी, न्यायालय उसी विधि की क्रियान्विति करते रहेंगे। इस प्रकार ससद् व्यवस्थापिका सभा भी है और सविधान सभा भी, और ससद् के किसी अधिनियम को किसी न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकती।

---

[1] अनुच्छेद ७९।

[2] अनुच्छेद ७९।

[3] अमरीका के सविधान का अनुच्छेद १, खण्ड १।

किन्तु भारतीय ससद् की विधायी क्षमता शान्तिकाल में केवल उन विषयो तक सीमित है जिनको सघ सूची में और सविधान की सातवीं अनुसूची की समवर्ती सूची में प्रगणित कराया गया है। इसके अतिरिक्त ससद् की सर्वोच्चता अपने अधिकार-क्षेत्र में भी उन मौलिक अधिकारो के द्वारा मर्यादित है जिनकी सविधान के तृतीय भाग में व्यवस्था की गई है। सविधान का अनुच्छेद १३ (२) उपबन्धित करता है कि राज्य ऐसी कोई विधि पारित नही कर सकता जो मौलिक अधिकारो को छीनती या न्यून करती हो। यदि राज्य ने कोई ऐसी विधि बनाई हो जो मौलिक अधिकारो का उल्लघन करती हो, तो ऐसी प्रत्येक विधि उल्लघन की मात्रा तक शून्य हो जायगी। इगलैंड में सविधान-विधि और सामान्य-विधि में कोई अन्तर नहीं किया जाता, और ससद् ही किसी विधि को बदल सकती है या रद्द कर सकती है, और विधि के बदलने या रद्द करने की प्रक्रिया भी एक ही है। किन्तु इसके विपरीत भारत में सविधिक विधि और सविधान विधि में अन्तर किया जाता है, और सविधान के परिवर्तन के लिए एक विशेष प्रक्रिया निश्चित की गई है।[1] सविधान ने न्यायालयो को भी अधिकार दिया है कि वे निर्णय कर सकते हैं कि कोई विधि वैध है या नही।

ससद् की सर्वोच्चता के ऊपर लगे इन प्रतिबन्धो के बावजूद, ससद् वह धुरी या कील है जिसके सहारे सारा शासन-तन्त्र घूमता है। इसका व्यवस्थापक अधिकार-क्षेत्र अत्यन्त विशाल है और इसकी वित्तीय शक्तियाँ भी अपरिमित हैं। युद्ध की घोषणा और शान्ति सन्धि करने के लिए भी ससद् की स्वीकृति अनिवार्य है। सत्य यह है कि केन्द्र में सारे शासन-तन्त्र को ससद् ही सचालित करती है और वस्तुत सारे देश में अच्छे शासन के लिए ससद् ही उत्तरदायी है। आपातकाल की उद्घोषणा होने पर ससद् के ऊपर लगे विधायी या वित्तीय प्रतिबन्ध समाप्त हो जाते हैं। वास्तव में, आपात उद्घोषणा के प्रवर्तन काल में राष्ट्रपति और मन्त्रि-परिषद् सहित ससद् ही सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न अधिकार प्राप्त कर लेती है।

ससद् द्विसदनात्मक है (Parliament is Bicameral)—सघीय स्वरूप वाले राज्यो में विधानमण्डल के द्वितीय सदन अपरिहार्य होते हैं, और इसीलिए हमारी ससद् भी द्विसदनात्मक है। प्रतिनिधि सदन अथवा लोक सभा में जनसख्या के आधार पर लोगो को प्रतिनिधित्व दिया गया है। और राज्य परिषद् या राज्य सभा में सम्पूर्ण सघ के अवयवी एकक राज्यो को प्रतिनिधित्व दिया गया है। सघवाद का यह मान्य सिद्धान्त है कि उच्च सदन में सभी अवयवी राज्यो को बिना उनके आकार, क्षेत्रफल, जनसख्या या साधन स्रोतो पर विचार किये समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है, किन्तु भारतीय सविधान ने समान प्रतिनिधित्व के उक्त सिद्धान्त का पालन नही किया है, बल्कि विभिन्न अवयवी राज्यो को प्राय जनसख्या के ही आधार पर राज्य सभा के स्थान निर्धारित किये गए हैं।[2] किसी राज्य को एक स्थान प्राप्त

---

[1] अनुच्छेद ३६८।

[2] अनुसूची चतुर्थ किन्तु यदि राज्य की सीमाओं में अन्तर हुआ तो सदस्य सख्या में भी परिवर्तन किया जा सकता है।

है तो किसी राज्य को ३१ स्थान दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त राज्य सभा में १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्देशित (nominated) होते हैं, जो राज्यो के प्रतिनिधियों के अतिरिक्त हैं।[1] यह भी संघीय सिद्धान्त के विरुद्ध है।

राज्य सभा या राज्य परिषद्

(The Council of States)

रचना (Composition)—संविधान ने उपबन्धित किया है कि राज्य परिषद् में कुल २५० प्रतिनिधि होंगे जिनमें से १२ प्रतिनिधि राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्देशित किये जायेंगे। जैसा कि बताया भी जा चुका है विभिन्न अवयवी राज्यों को राज्य सभा के लिए जो स्थान दिये गए हैं, वे समान प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के आधार पर नहीं दिये गए हैं। प्रत्येक अवयवी राज्य को जो प्रतिनिधित्व दिया गया है उसका आधार यह है कि प्रत्येक दस लाख जनसंख्या पर एक स्थान दिया गया है किन्तु इस प्रकार प्रथम ५० लाख जनसंख्या तक ५ प्रतिनिधि उक्त राज्य से आ सकते हैं और यदि किसी राज्य की जनसंख्या ५० लाख से अधिक होगी तो ५० लाख से ऊपर प्रत्येक २० लाख जनसंख्या पर एक प्रतिनिधि भेजा जा सकेगा। इस आधार पर छोटे एककों को कुछ सामान्य सा प्रभार (weightage) मिल गया है। राज्य परिषद् के लिए जो १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्देशित किये जाते हैं वे ऐसे होने चाहिएँ, जिन्हें निम्नलिखित विषयों में से किसी एक का विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव हो—साहित्य, कला, विज्ञान और समाज-सेवाएँ।[2] इस प्रकार राज्य सभा ऐसे योग्य व्यक्तियों को भी राजनीति में पदार्पण करने का अवसर प्रदान करती है जो चुनाव दंगल में भाग न लेना चाहते हों। संविधान सभा में नाम निर्देशन के सिद्धान्त की कटु आलोचना हुई थी और इस प्रथा को लोकतन्त्रात्मक गणराज्य में प्रतिक्रियावादी एवं अ-लोकतन्त्रात्मक कहा गया था। यह सही है कि थोड़े से अत्यधिक योग्य और व्यावहारिक अनुभव के व्यक्तियों को राज्य सभा में नाम-निर्देशन के आधार पर ले लेने से देश का लाभ होगा और राज्य सभा के सम्मान की वृद्धि होगी, किन्तु संघ में उच्च सदन, राज्यों का प्रतिनिधि सदन है न कि वह समस्त देश का प्रतिनिधि सदन है। संविधान ने वास्तव में राज्य सभा को भी सर्वसाधारण का प्रतिनिधि सदन ही बना दिया है क्योंकि यह उपबन्धित किया गया है कि राज्य सभा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों की दो-तिहाई संख्या द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा घोषित करे कि संसद् राज्य सूची में प्रगणित किसी विषय पर विधि बना सकेगी।[3] परन्तु जहाँ राज्य सभा में राज्यों के प्रतिनिधि जनसंख्या के आधार पर निर्वाचित होते हैं और जहाँ राज्य सभा में १२ सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नाम-निर्देशित भी होते हैं, ये दोनों ही तथ्य संघवाद के सिद्धान्त के विपरीत हैं।

---

1. अनुच्छेद ८० (क)।
2 अनुच्छेद ८० (३)।
3 अनुच्छेद २४९ (१)।

इस समय राज्य सभा में १२ नाम-निर्देशित सदस्यों सहित कुल २१६ सदस्य हैं।

राज्य सभा की अवधि (The Term of the Rajya Sabha)—राज्य सभा स्थायी सदन है। उसका विघटन नहीं होता।[1] जिस समय लोक सभा का विघटन हो जाता है, उस समय भी राज्य सभा सत्र में हो सकती है और अपना कार्य करती रहती है। उदाहरणार्थ मान लीजिए कि लोक सभा के विघटित हो जाने पर राज्य सभा के सकल्प की आवश्यकता आ पडे जिसके अनुसार आपात उद्घोषणा का प्रवर्त्तन काल दो मास से अधिक बढाना अभीष्ट हो तो राज्य सभा अपना कार्य अवश्य करेगी यद्यपि लोक सभा विघटित हो चुकी है।[2] इस प्रकार राज्य सभा एक स्थायी सदन है।[3] लेकिन प्रति दूसरे वर्ष उसके एक-तिहाई सदस्य अपना स्थान खाली कर देते हैं। इस प्रकार राज्य सभा के किसी सदस्य का सामान्य कार्यकाल ६ वर्ष है।

सदस्यों की अर्हताएँ (Qualifications for Members)—कोई व्यक्ति राज्य सभा में के किसी स्थान की पूर्ति के लिए चुने जाने के लिए अर्ह न होगा जब तक कि—[4]

(क) वह भारत का नागरिक न हो,

(ख) कम-से-कम ३० वर्ष की आयु पूर्ण न कर चुका हो,

(ग) और वे सब शर्तें पूर्ण न करता हो जिन्हें ससद् निर्धारित करे। १९५१ के लोक-प्रतिनिधित्व-अधिनियम के अनुसार राज्य सभा के लिए चुने जाने वाले प्रत्याशी का उस राज्य का ससद् के लिए निर्वाचक होना आवश्यक है जिसमें वह निवास करता हो।

राज्य सभा की सदस्यता अर्जित करने के लिए वही अर्हताएँ रखी गई हैं जो लोक सभा के लिए हैं, अन्तर केवल यह है कि लोक सभा की सदस्यता के लिए प्रत्याशी की आयु कम-से-कम २५ वर्ष होनी चाहिए। सविधान के निर्माताओ ने सोचा था कि राज्य सभा के सदस्यो की उच्चतर अर्हताएँ निर्धारित करने से सदन के मान में वृद्धि होगी, साथ ही सदस्यों की सामान्य योग्यता अधिक होगी। डा० अम्बेदकर ने कहा था कि "राज्य सभा के सदस्यो को जिस प्रकार के कृत्य करने होंगे उनमें पर्याप्त अनुभव और योग्यता की आवश्यकता होगी, साथ ही ससार के मामलो का व्यावहारिक अनुभव भी अपेक्षित होगा, इसलिए मेरा विचार है कि यदि ये अतिरिक्त योग्यताएँ और अर्हताएँ स्वीकार कर ली जाती हैं तो हम को ऐसे प्रत्याशी सदस्य मिल सकेंगे जो सदन की सेवा सामान्य निर्वाचक की अपेक्षा अच्छे ढग से कर सकेंगे।"[5] सयुक्त राज्य अमरीका में सीनेट सदस्य के लिए आवश्यक है कि वह कम से कम ३० वर्ष का हो, जिस राज्य से निर्वाचित होना चाहता है, उस राज्य का नागरिक हो, और सयुक्त राज्य का कम से कम ९ वर्ष से नागरिक रहा हो।

---

[1] अनुच्छेद ८३ (१)।

[2] अनुच्छेद ८३।

[3] ,, (८३) (१)।

[4] ,, (८४)।

[5] Constituent Assembly Proceedings, Vol VIII, p 89

सभापति (The Presiding Officer)—भारत का उपराष्ट्रपति पदेन राज्य सभा का सभापति होता है, और इस सम्वन्ध में वह सयुक्त राज्य अमरीका के उपराष्ट्रपति के समान है जो पदेन सीनेट का सभापति होता है। भारत का उपराष्ट्रपति भी अमरीका के उपराष्ट्रपति की तरह राज्य सभा का सदस्य नहीं होता और इस प्रकार दोनो मे से किसी को सिवाय किसी प्रश्न पर वरावर-वरावर मत होने के, मत देने का अधिकार नही है। किन्तु सीनेट का सभापति केवल सभापति अथवा मध्यस्थ (mediator) मात्र है। पहचान (recognition) के अधिकार के द्वारा वह वादविवाद को नियन्त्रित नही कर सकता। वह सदस्यो को उसी क्रम से वोलने के लिए वुलाने को वाध्य है जिस क्रम से कि वे खडे हो। इसके विपरीत राज्य सभा के चेयरमैन या सभापति की स्थिति अधिक गौरवपूर्ण है। वह सदन के सदस्यो को वैठ जाने का आदेश देता है, औचित्य प्रश्नों (points of order) पर निर्णय देता है, वादविवादो में व्यवस्था और क्रम वनाये रखता है और प्रश्न करता है तथा निर्णय भी घोषित करता है। अमरीका का उपराष्ट्रपति सीनेट का सभापति पद सदैव के लिए छोड देता है ज्योही वह राष्ट्रपति के पद पर पहुँच जाता है, किन्तु भारत का उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति के पद पर केवल थोडे समय के लिए जाता है और ज्यो ही नया राष्ट्रपति निर्वाचित होकर अपने पद पर आ जाता है, तुरन्त उपराष्ट्रपति भी राज्य सभा का सभापतित्व पुन ग्रहण कर लेता है।

राज्य सभा अपने किसी सदस्य को ही अपना उप-सभापति चुनती है[1] और उक्त उपसभापति ही ऐसे समय में जवकि सभापति का पद रिक्त हो अथवा जव उपराष्ट्रपति राष्ट्रपति के रूप में कार्य कर रहा हो, तव सभापति के पद के कर्त्तव्यो का पालन[2] करता है, और, यदि राज्य सभा की किसी वैठक में सभापति और उपसभापति दोनो अनुपस्थित हो, तो ऐसा व्यक्ति जो परिषद् की प्रक्रिया के नियमो द्वारा निर्धारित किया जाए सदन के सभापति के रूप मे कार्य करता है। और यदि कोई ऐसा व्यक्ति उपस्थित नही है तो ऐसा अन्य व्यक्ति जिसे राज्य परिषद् निर्धारित करे, सभापति के रूप में कार्य करता है।[3]

उपराष्ट्रपति, राज्य परिषद् के ऐसे सकल्प द्वारा हटाया जा सकता है जिसे लोक सभा ने स्वीकृत किया हो।[4] किन्तु जवकि उपराष्ट्रपति को अपने पद से हटाने का कोई सकल्प राज्य परिषद् में विचाराधीन हो तव सभापति को परिषद् मे वोलने तथा दूसरी प्रकार से उसकी कार्रवाइयो मे भाग लेने का अधिकार होगा किन्तु ऐसे सकल्प पर अथवा ऐसी कार्रवाइयो में किसी अन्य विषय पर मत देने का विल्कुल हक नही है।[5] राज्य परिषद् का उपसभापति भी परिषद् के समस्त सदस्यो के वहुमत से पारित सकल्प के द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है।[6] सभापति की तरह से

---

[1] अनुच्छेद ८९ (२)।
[2] अनुच्छेद ९१ (१)।
[3] ,, ९१ (२)।
[4] ,, ६७ (ख)।
[5] ,, ९२ (२)।
[6] , ९० (ग)।

उपसभापति भी उस समय परिषद् में पीठासीन न होगा जिस समय उसको अपने पद से हटाने का कोई सकल्प विचाराधीन होगा।[1]

सभापति और उपसभापति के वेतन और भत्तो के सम्बन्ध मे ससद् ही निर्णय कर सकती है और उनको देश की सचित निधि से वेतन आदि दिया जाता है। डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् भारत के प्रथम उपराष्ट्रपति हैं और तदनुसार प्रथम राज्य सभा के प्रथम चेयरमैन हैं। राज्य सभा या राज्य परिषद् के उपसभापति श्री एस० वी० कृष्णामूर्ति राव हैं।

राज्य सभा के कृत्य

(Functions of the Rajya Sabha)

राज्य सभा के कृत्यो का अध्ययन पाँच विभिन्न भागो में किया जा सकता है· वे हैं व्यवस्थापक कृत्य, वित्तीय कृत्य, प्रशासनिक कृत्य, सविधान सम्बन्धी कृत्य, और मिले-जुले कृत्य।

व्यवस्थापक कृत्य (Legislative Functions)—विधि-निर्माण का कार्य समस्त ससद् सम्मिलित रूप मे करती है जिसमें राष्ट्रपति, राज्य सभा और लोक सभा सभी का योग रहता है। अकेली लोक सभा कुछ नही कर सकती यद्यपि राष्ट्रपति और राज्य सभा की शक्तियो पर लोक सभा के अकुश रहते हैं। वित्तीय विधेयको को छोडकर कोई अन्य विधेयक ससद् के किसी भी सदन में आरम्भ हो सकता है।[2] और कोई विधेयक उस समय तक विधि रूप धारण नहीं कर सकते जब तक कि ससद् के दोनो सदनो द्वारा पारित न हो जाएँ।[3] इसका यह अर्थ है कि वित्तीय विधेयको को छोडकर अन्य सभी विधेयक दोनो सदनो में से किसी भी सदन में आरम्भ किए जा सकते हैं, तथा कोई विधेयक तभी विधि रूप धारण कर सकता है जबकि ससद् के दोनो सदन उसे पारित कर दें। यदि किसी विधेयक को किसी एक सदन द्वारा सशोधित कर दिया जाता है तो उक्त सशोधन पर दोनो सदनो की स्वीकृति आवश्यक होगी। यदि किसी विधेयक में किये गए सशोधन पर दोनों सदन असहमत हैं, या सम्पूर्ण विधेयक पर ही दोनो सदन असहमत हैं तो राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह लोक सभा और राज्य सभा का सम्मिलित अधिवेशन आहूत करे और उक्त सम्मिलित सत्र में विधेयक या विधेयक के सशोधन के विषय में पर्यालोचन कराके मतदान कराए।[4] सम्मिलित अधिवेशन में सभी प्रश्न समस्त उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो के बहुमत के समर्थन पर निर्णीत किए जाते हैं। इस प्रकार जो विधेयक पारित हो जाता है उसे दोनो सदनो द्वारा पारित मान लिया जाता है। सम्मिलित अधिवेशन की विधि किसी ऐसे विधेयक के ऊपर भी प्रभावी होगी जिसको किसी एक सदन ने तो पारित कर दिया हो और जो दूसरे सदन

---

[1] अनुच्छेद ९० (१)।

[2] ,, १०७ (१)।

[3] ,, १०७ (२)।

[4] ,, १०८।

को भेज दिया गया हो किन्तु दूसरे सदन ने उक्त विधेयक को प्राप्त करने के ६ मास तक पारित न किया हो, किन्तु ऐसी ६ मास की कालावधि की सगणना मे ऐसी कालावधि को सम्मिलित नही किया जाता जिसमें निर्दिष्ट सदन निरन्तर चार दिनो से अधिक के लिए सत्रावमित (prorogued or adjourned) रहता है।[1]

इस प्रकार राज्य सभा और लोक सभा की समान व्यवस्थापिका शक्तियाँ हैं। सामान्य व्यवस्थापन के सम्बन्ध में राज्य सभा की शक्तियो पर किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नही हैं। किन्तु इगलैंड की लार्ड सभा की शक्तियो पर १९११ के ससद् अधिनियम (Parliament Act, 1911) ने तथा पुन उसके १९४९ के सशोधित रूप ने प्रतिबन्ध लगा दिए हैं। राज्य सभा और लोक सभा का इस सम्बन्ध में समान दर्जा है, और राज्य सभा यदि चाहे तो किसी विधेयक पर दो सदनो के विरोध को निबटाने के उद्देश्य से सम्मिलित अधिवेशन आहूत करा सकती है। किन्तु सम्मिलित अधिवेशन में राज्य सभा की स्थिति कमज़ोर पडती है। राज्य सभा की सदस्य सख्या २१९ है जबकि लोक सभा मे ४९९ सदस्य हैं, और इस प्रकार राज्य सभा लोक सभा की अपेक्षा लगभग आधी से भी कम है। इस प्रकार लोक सभा आसानी से राज्य सभा को हरा सकती है। राज्यसभा तो केवल लोक सभा द्वारा पारित किसी विधेयक को पास करने में अधिक से अधिक छ मास की देर लगा सकती है किन्तु वह किसी विधेयक को समाप्त नही कर सकती।

वित्तीय कृत्य (Financial Functions)—किन्तु वित्तीय विधेयको के सम्बन्ध में राज्य सभा की स्थिति, लोक सभा की अपेक्षा निश्चित रूप मे घटिया है। सविधान ने धन विधेयको की स्पष्ट परिभाषा की है[2] और उपबन्धित किया है कि यदि ऐसा प्रश्न उठे कि कोई विधेयक धन विधेयक है या नही तो इस सम्बन्ध में लोक सभा के अध्यक्ष का विनिश्चय अन्तिम होगा।[3] सविधान ने स्पष्टत उपबन्धित किया है कि राज्य परिषद् में धन विधेयक पुर:स्थापित नही किया जा सकता,[4] और धन विधेयक के सम्बन्ध में राज्य सभा या राज्य परिषद् की स्वीकृति की आवश्यकता नही है। जब लोक सभा किसी धन विधेयक को पारित कर देती है, तो वह राज्य परिषद् या राज्य सभा के पास उसकी सिफारिशो के लिए भेजा जाता है[5] तथा राज्य परिषद्, विधेयक की अपनी प्राप्ति की तारीख से चौदह दिन की कालावधि के भीतर उक्त विधेयक को अपनी सिफारिशो सहित लोक सभा को लौटा देती है, तथा ऐसा होने पर लोक सभा राज्य परिषद् की सिफारिशो में से सब को या किसी को स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है। यदि राज्य परिषद् की सिफारिशो में से किसी को भी लोक सभा स्वीकार नही करती है, तो धन विधेयक उस रूप में दोनो सदनो द्वारा पारित समझा जायगा जिस रूप में कि वह लोक सभा

---

[1] अनुच्छेद १०८ (ग) और १०८ (२)।

[2] ,, ११०।

[3] ,, ११० (३)।

[4] ,, १०९ (१)।

[5] ,, १०९ (२)।

द्वारा पारित किया गया था।[1] यदि राज्य परिषद् किसी धन विधेयक को अपनी सिफारिशो सहित या रहित चौदह दिन के अन्दर लोक सभा को वापिस नही करती है तो भी उक्त विधेयक उस रूप में दोनो सदनो द्वारा पारित समझा जायगा जिस रूप में कि वह लोक सभा द्वारा पारित किया गया था। प्रदायो (supplies) के सम्बन्ध में अधिकार विधानमण्डल का सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषाधिकार है। भारतीय सविधान ने प्रदायों सम्बन्धी अधिकार केवल लोक सभा को सौंपा है। अनुदान (grants) सम्बन्धी माँगें राज्य सभा मे नही जाती हैं।[2]

प्रशासनिक कृत्य (Administrative Functions)—सविधान ने मन्त्रि-परिषद् को लोक सभा के प्रति उत्तरदायी ठहराया[3] है इसलिए राज्य परिषद् या राज्य सभा का देश की कार्यपालिका के ऊपर कोई नियन्त्रण नही है। सत्य यह है कि नियन्त्रण और उत्तरदायित्व अलग-अलग नही किए जा सकते। किन्तु राज्य सभा दो प्रकार से देश की कार्यपालिका पर प्रभाव डाल सकती है। राज्य सभा शासन से उसके कृत्यो के बारे में जानकारी माँग सकती है और वह शासन की आलोचना भी कर सकती है। मौखिक और लिखित प्रश्नो के द्वारा तथा पूरक प्रश्नो के द्वारा राज्य सभा शासन से शासन के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करती है। कार्यपालिका की आलोचना का अवसर सामान्यत स्थगन प्रस्ताव (adjournment motion) के समय आता है और यह अधिकार लोक सभा के समान राज्य सभा को भी प्राप्त है। राज्य सभा ऐसे प्रस्ताव उपस्थित कर सकती है जिनके द्वारा शासन से एक विशेष प्रकार की नीति पर चलने के लिए प्रार्थना की जा सकती है। जिस समय विधि का निर्माण होता है, उसी समय शासन की नीति की परीक्षा होती है। और विधि-निर्माण में लोक सभा और राज्य सभा दोनो को समान अधिकार प्राप्त हैं। शासन की नीति की हिमायत करने के उद्देश्य से राज्य सभा में कुछ मन्त्री उपस्थित रहते हैं, और कुछ मन्त्री तो राज्य सभा के सदस्यो में से ही लिये जाते हैं। सविधान ने किसी ऐसे मन्त्री को भी राज्य सभा की कारवाई मे भाग लेने की आज्ञा प्रदान की है जो राज्य सभा का सदस्य न हो, और उसे बोलने का भी अधिकार दिया है किन्तु वह मतदान में भाग नही ले सकता।[4] किन्तु राज्य सभा को यह अधिकार नही है कि वह शासन को अपदस्थ कर सके।

सविधायी या सविधान सम्बन्धी कृत्य (Constituent Functions)—राज्य-सभा लोक-सभा के साथ-साथ सविधान सविधायी कृत्य भी करती है। सविधान में सशोधन करने वाला विधेयक ससद् के किसी भी सदन में पुर स्थापित किया जा सकता है।[5] सविधान में सशोधन करने वाले विधेयक के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक सदन की सम्पूर्ण सदस्य सख्या के बहुमत से तथा उपस्थित और मतदान

---

[1] अनुच्छेद १०६ (४)।

[2] अनुच्छेद ११३ (२)।

[3] अनुच्छेद ७५ (३)।

[4] अनुच्छेद ८८।

[5] अनुच्छेद ३६८।

करने वाले सदस्यो के दो-तिहाई बहुमत से पारित हो, तभी सविधान में सशोधन हो सकता है।

यदि सविधान में सशोधन करने वाले किसी विधेयक के सम्बन्ध में दोनो सदनो मे विरोध हो जाए तो ऐमे विरोध को शान्त करने के लिए सविधान ने कोई उपाय नही सुझाया है। शकरी प्रसाद बनाम भारत सरकार वाले मामले में भारत के उच्चतम न्यायालय ने फैसला दिया था कि सविधान मे सशोधन करना और उसकी प्रक्रिया निश्चित करना सामान्य विधायी प्रक्रिया है, और ससद् ने सविधान के अनुच्छेद ११८ के अनुसार सामान्य विधायी कार्य-प्रणाली के लिए जो नियम बनाए हैं, वे नियम ही अनुच्छेद ३६८ के उपबन्धो के अन्तर्गत भी किसी ऐसे विधेयक के सम्बन्ध में भी लागू होगें जिसका उद्देश्य सविधान में सशोधन करना हो। उच्चतम न्यायालय के उक्त निर्णय के अनुसार यह निश्चित हो गया है कि सविधान-सशोधन-विधेयक के बारे में यदि दोनो सदनो में विरोध उत्पन्न हो जाए तो वह विरोध उसी प्रक्रिया के अनुसार सुलझाया जाएगा जिस प्रकार कि सविधान के अनुच्छेद १०८ के अनुसार सामान्य विधेयक के सम्बन्ध में विरोध को सुलझाया जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि दोनो सदनो का सम्मिलित अधिवेशन हो। किन्तु सम्मिलित अधिवेशन मे राज्य सभा प्राय प्रभावहीन हो जाती है, क्योंकि वहाँ राज्य सभा १ २ के हिसाब से अल्प मत में होती है।

मिले-जुले अथवा प्रकीर्ण कृत्य (Miscellaneous Functions)—राज्य सभा के प्रकीर्ण या मिले-जुले कृत्य निम्नलिखित हैं—

(१) राज्य सभा के निर्वाचित सदस्य भारत के राष्ट्रपति के निर्वाचन में भाग लेते हैं।[1] राष्ट्रपति का निर्वाचन एक ऐसे निर्वाचक गण के सदस्य करते हैं जिसमें ससद् के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्य तथा राज्यो की विधान सभाओ के निर्वाचित सदस्य होते हैं।[2]

(२) भारत के राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग लाया जा सकता है और राष्ट्रपति के विरुद्ध महाभियोग सम्बन्धी सकल्प ससद् के किसी भी सदन में पुरस्थापित किया जा सकता है, और यदि उक्त प्रस्ताव, सदन की सम्पूर्ण सदस्य सख्या के दो-तिहाई बहुमत से पारित हो जाता है, तो ससद् का दूसरा सदन उक्त अभियोग की जाँच-पडताल करता है या सदन अभियोग को किसी न्यायाधिकरण (Court of Tribunal) के शोधनार्थ भेज देता है, किन्तु महाभियोग तभी सफल तथा सिद्ध माना जाएगा जबकि अनुसधान करने वाले सदन की सम्पूर्ण सदस्य सख्या के दो-तिहाई बहुमत से महाभियोग समर्थित हो।[3] इसका यह अर्थ है कि यदि दोपारोप सम्बन्धी प्रस्थापना राज्य सभा में प्रस्तुत की जाती है तो लोक सभा उक्त दोपारोप का अनुसधान करेगी किन्तु यदि दोपारोप सम्बन्धी सकल्प लोक सभा में पुरःस्थापित किया जाता है तो राज्य सभा उक्त दोपारोप का अनुसधान करेगी। महाभियोग सम्बन्धी

---

[1] अनुच्छेद ५५ (२) (ग)।

[2] अनुच्छेद ५४।

[3] अनुच्छेद ६१।

दोषारोप तभी सिद्ध और सफल माना जाएगा जबकि अनुसंधान करने वाले सदन की सम्पूर्ण सदस्य संख्या के दो-तिहाई बहुमत से दोषारोप सम्बन्धी संकल्प पारित हो जाता है। इस प्रकार राष्ट्रपति के ऊपर महाभियोग के सम्बन्ध मे राज्य सभा और लोक सभा का दर्जा बराबर और समान है।

(३) उपराष्ट्रपति का निर्वाचन संयुक्त अधिवेशन में समवेत संसद् के दोनों सदनो के सदस्यो के द्वारा किया जाता है,[1] और वह राज्य परिषद् के ऐसे संकल्प के द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है जिसे परिषद् के तत्कालीन समस्त सदस्यो के बहुमत ने पारित किया हो तथा जिसे लोक सभा ने स्वीकृत कर लिया हो।[2]

(४) उच्चतम न्यायालय[3] या किसी उच्च न्यायालय (High Court)[4] के किसी न्यायाधीश को अपने पद से तभी हटाया जा सकता है जबकि सिद्ध कदाचार अथवा असमर्थता के लिए ऐसे हटाए जाने के हेतु प्रत्येक सदन की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत द्वारा तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों में से कम से कम दो-तिहाई के बहुमत द्वारा समर्थित समावेदन पर राष्ट्रपति ने आदेश दिए हो।

(५) राज्य सभा या राज्य परिषद् उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो की दो-तिहाई से अन्यून संख्या द्वारा समर्थित संकल्प द्वारा घोषित कर सकती है कि राष्ट्रीय हित में आवश्यक या इष्टकर है कि संसद् राज्य सूची[5] में प्रगणित किसी विषय के बारे में विधि बनाए। ऐसा पारित राज्य सभा का संकल्प एक से अनधिक वर्ष तक प्रवृत्त रहेगा।

(६) आपात की उद्घोषणा चाहे वह वित्तीय आपात[6] की उद्घोषणा हो, चाहे सामान्य आपात[7] की हो, और चाहे किसी राज्य[8] में शासन-तन्त्र के विफल हो जाने की उद्घोषणा हो, केवल दो मास तक प्रवर्त्तन में रहेगी, किन्तु यदि संसद् के दोनो सदनो के संकल्पो द्वारा वह उस अर्थात् दो मास की कालावधि की समाप्ति से पहिले ही अनुमोदित कर दी जाती है तो उक्त उद्घोषणा के प्रवर्त्तन की कालावधि बढ जाएगी। उसी प्रकार यदि राष्ट्रपति आपात की उद्घोषणा के प्रवर्त्तन काल में मौलिक अधिकारो को निलम्बित करेगा तो ऐसे प्रत्येक आदेश के दिए जाने के पश्चात् उक्त आदेश यथासम्भव शीघ्र संसद्[9] के प्रत्येक सदन के समक्ष रखा जाएगा।

राज्य सभा या राज्य परिषद्—एक कमजोर सदन (Rajya Sabha, a Weaker Chamber)—संविधान के निर्माताओ की ऐसी ही इच्छा थी की राज्य सभा, लोक सभा की अपेक्षा कमजोर सदन रहे। और संसदीय शासन-प्रणाली की भी यही मांग है कि राज्य परिषद् अथवा उच्च सदन एक कमजोर सदन रहे। संविधान ने राज्य सभा को ऐसी शक्तियों से सज्जित नही किया है जो वह कार्यपालिका सत्ता

---

[1] अनुच्छेद ६६ (१)।

[2] अनुच्छेद ६७ (ख)।

[3] ,, १२४ (४)।

[4] ,, २१७।

[5] ,, २४९।

[6] ,, ३६० (१)।

[7] ,, ३५२ (२) (ग)।

[8] ,, ३५६ (ग)।

[9] , ३५९ (३)।

को नियन्त्रित कर सके। यद्यपि राज्य सभा प्रश्नो और पूरक प्रश्नो के द्वारा शासन से किसी भी विषय पर जानकारी मांग सकती है और स्थगन-प्रस्ताव के द्वारा शासन की नीति की आलोचना भी कर सकती है किन्तु राज्य सभा मन्त्रि-परिषद् को अपदस्थ नही कर सकती। यदि राज्य सभा में शासन की हार भी हो जाए तो भी मन्त्रि-परिषद् के लिए त्यागपत्र देना आवश्यक नही होगा। सविधान ने मन्त्रि-परिषद् को केवल लोक सभा के प्रति उत्तरदायी माना है।

राज्य परिषद् या राज्य सभा के बारे में कहा जाता है कि सामान्य व्यवस्थापन में उसका दर्जा लोक सभा के समान है। किन्तु यह तथ्य नही है। राज्य सभा किसी विधेयक को निषेध (Veto) नही कर सकती। यह तो केवल देर लगा सकती है। यदि राज्य सभा किसी विधेयक को अस्वीकार कर देती है, या यदि उसको छ महीने के अन्दर पारित नही करती है, या यदि राज्य सभा किसी विधेयक में ऐसे सशोधन कर देती है जिन पर लोक सभा सहमत नहीं है, तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति ससद् के दोनो सदनों का सम्मिलित सत्र आहूत कर सकता है और उक्त सम्मिलित अधिवेशन में विधेयक पर विचार और मतदान हो सकता है। इस प्रकार लोक सभा, अपनी अधिक सदस्य सख्या के बल पर अपने मन की करा लेती है। धन विधेयको के सम्बन्ध में राज्य परिषद् पूर्ण अशक्त है। धन विधेयक केवल लोक सभा में ही पुरस्थापित किए जा सकते हैं। सविधान ने धन विधेयक की स्पष्ट परिभाषा की है और लोक सभा के अध्यक्ष या सभापति को अधिकार प्रदान किया है कि वही अन्तिम रूप से निर्णय करेगा कि कौन विधेयक धन विधेयक है, और कौनसा विधेयक धन विधेयक नही है। और राज्य सभा के पास कोई अन्य प्रभावपूर्ण वित्ताय अधिकार भी नही हैं। लोक सभा किसी धन विधेयक को राज्य सभा के पास उसकी सिफारिशो के लिए भेजती है और यह आवश्यक है कि राज्य सभा उक्त धन विधेयक को अपनी सिफारिशो सहित चौदह दिन के अन्दर लौटा दे। यदि राज्य सभा, चौदह दिन के अन्दर उक्त धन विधेयक को अपनी सिफारिशो सहित न लौटावे, अथवा यदि राज्य सभा उक्त धन विधेयक को ऐसी सिफारिशो सहित लौटावे जो लोक सभा को मान्य नही हैं तो लोक सभा की इच्छा ही सर्वोपरि होगी। इसके अतिरिक्त अनुदानो सम्बन्धी मांग या अभियाचना (demand for grants) राज्य सभा के समक्ष प्रस्तुत नही की जाती और सार्वजनिक व्यय की स्वीकृति केवल लोक सभा ही करती है।

राज्य सभा की हीनता की कहानी अभी और शेष है। यह सघीय द्वितीय सदन भी तो नही है। सघात्मक शासन-व्यवस्था का यह सुपरिचित सिद्धान्त है कि उच्च सदन अवयवी एकक राज्यो का प्रतिनिधि सदन होता है, और ऐसी शासन व्यवस्था का सविधान इस आधार पर निर्मित होता है कि सघ के सभी अवयवी एकक राज्यो को उच्च सदन में या द्वितीय सदन में, बिना राज्यो के आकार या जनसख्या पर विचार किए समान प्रतिनिधित्व दिया जाता है। किन्तु भारतीय राज्य सभा में सभी राज्यो को समान प्रतिनिधित्व प्राप्त नही है। साथ ही राज्य सभा राज्यों की हित रक्षिका नही है, और इसको कोई ऐसी शक्ति प्राप्त नही है जिससे वह राज्यों के हितो का सरक्षण कर सके।

किन्तु इसके यह अर्थ भी नहीं है कि राज्य सभा की स्थिति उतनी ही दयनीय है जितनी कि फ्रास के उच्च सदन (French Council of Republic) की है। भारतीय राज्य सभा कनाडा की सीनेट के समान नही है क्योकि वह न तो जल्दबाजी के विधान निर्माण पर किसी प्रकार का प्रभावी अकुश रखती है, और न वह ऐसा सदन होता है जिसमें निम्न सदन द्वारा पारित विधेयको पर सुचारु रूप से पुर्नविचार हो सके। राज्य सभा निश्चित रूप से अपने वादविवादों के द्वारा शासन और सर्वसाधारण के ऊपर प्रभाव डालती है। राज्य सभा ऐसा अवसर प्रदान करती है, जहां वक्ता लोग विवादग्रस्त विषयो पर जानकारीपूर्ण प्रकाश डालते हैं और ऐसा वे तटस्थ भाव से करते हैं। राज्य सभा के वादविवाद प्राय उन्मुक्त और स्वतन्त्र होते हैं क्योकि राज्य सभा के मतदान का सरकार की सत्ता पर कोई प्रभाव नही पडता। ऐसा शासन जो जनमत की चिन्ता करता है और जो लोगो के प्रति उत्तरदायी होता है, इतना खतरा उठाने को तैयार नही होगा कि अत्यन्त समझदार, योग्य और अनुभवी व्यक्तियो की राय पर विचार भी न करे।

भारतीय राज्य सभा ने अपने छोटे से जीवन-काल में कई बार अवित्तीय विधेयको के सम्बन्ध में लोक सभा के समकक्ष स्थिति प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। राज्य सभा ने विधि मन्त्री को, जो राज्य सभा का सदस्य भी था, आज्ञा नही दी कि वह लोक सभा में जाकर किसी गलतफहमी को दूर करे, क्योकि इसमें राज्य सभा ने अपनी हीनता का अनुभव किया। इसके अतिरिक्त लोक सभा ने एक बार राज्य सभा से प्रार्थना की कि वह अपने सात सदस्य नाम-निर्देशित करे जो लोक लेखा समिति के कार्य में सहयोग दें किन्तु राज्य सभा ने स्वीकार नहीं किया। राज्य सभा का कहना था कि लोक लेखा समिति (Public Accounts Committee) लोक सभा की समिति थी, न कि ससद् की समिति। इसलिए राज्य सभा की शान के खिलाफ था कि वह अपने सदस्यो को लोक सभा की किसी समिति मे कार्य करने के लिए भेजती। इन दोनो अवसरो पर प्रधान मन्त्री ने होशियारी से स्थिति को सँभाल लिया।

इसलिए राज्य सभा बिल्कुल ही बेजान सस्था नही है। फिर भी इसकी स्थिति निम्न है, इससे भी इनकार नही किया जा सकता। सविधान ने भी इसे लोक-सभा से घटिया दर्जे का सदन बनाया है और ससदीय शासन-व्यवस्था का यह नियम भी है। ससदीय शासन-प्रणाली में उच्च सदन पुर्नविचारक सदन होता है। उच्च सदन एक प्रकार का अकुश या ब्रेक (brake) है, किन्तु यह ब्रेक ऐसा सख्त नही होना चाहिए जो दोनो सदनो में विरोध उत्पन कर दे। भारतीय सविधान के निर्माताओ की यही इच्छा थी कि राज्य सभा को ऐसे अधिकार दिए जाएँ जो वह प्रभावी रोक या अकुश लगा सके किन्तु राज्य सभा को ज़िद नही करनी चाहिए।

लोक सभा

(The House of the People)

लोक सभा (The Lok Sabha)—लोक सभा ससद् का निम्न सदन है और यह कई प्रकार से इगलैंड की लोक सभा से मिलती-जुलती है। भारत की ससद्

भी इगलैड की ससद् की ही तरह एक सस्था नही है। ब्रिटिश ससद् राजा, लार्ड सभा और लोक सभा से मिलकर बनती है । तीनो सत्ताएँ मिलकर ही ससद् का निर्माण करती हैं। उसी प्रकार भारतीय ससद् भी राष्ट्रपति, राज्य सभा और लोक-सभा से मिलकर बनती है। दोनो ही देशो मे राज्य का प्रधान केवल औपचारिक प्रधान है और देश के व्यवस्थापन में वह केवल औपचारिक भाग लेता है और ससदीय शासन-प्रणाली मे ऐसा ही होना चाहिए यद्यपि भारतीय सविधान ने राष्ट्रपति को कतिपय विशिष्ट विधायी शक्तियाँ प्रदान की हैं। १६११ के ससदीय अधिनियम के पास होने और पुन १६४६ में सशोधित होने के पश्चात् इगलैड की लार्ड सभा की वैधानिक क्षमता अत्यन्त मर्यादित हो गई है। उसी प्रकार राज्य सभा भी एक अशक्त निकाय है। और इगलैड की लोक सभा के समान भारत की लोक सभा भी वास्तविक आकर्षण का निकाय है, यद्यपि राष्ट्रपति, राज्य सभा और लोक सभा तीनो के सम्मिलित योग से ही विधि तैयार हो सकती है।

लोक सभा की रचना (Composition)—लोक सभा प्रतिनिधि सदन है जिसके सदस्य प्रत्यक्षत सर्वसाधारण द्वारा निर्वाचित होकर आते हैं। केवल जम्मू और कश्मीर, आसाम के आदिम जाति क्षेत्रो, अण्डमान और निकोबार द्वीपो, और कुछ अन्य ऐसे क्षेत्रो जिनका उदय राज्य पुनर्गठन के फलस्वरूप हुआ है, और आंग्ल भारतीय समुदाय के प्रतिनिधियो को निर्वाचन के आधार पर न लिया जाकर नामनिर्देशन के आधार पर लिया जाता है। जम्मू और कश्मीर को लोक सभा में ६ स्थान प्रदान किये गए हैं और इन छ प्रतिनिधियो का नाम-निर्देशन, राष्ट्रपति जम्मू और कश्मीर राज्य की सिफारिश पर करता है, आसाम के आदिम जाति क्षेत्रो और अण्डमान और निकोबार द्वीपो को एक-एक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है तथा आंग्ल भारतीय[1] समुदाय को दो प्रतिनिधि भेजने का अधिकार प्रदान किया गया है—इन सबको राष्ट्रपति ही नाम-निर्देशित करता है । सविधान ने निश्चित किया है कि लोक सभा में पाँच सौ से अनधिक सदस्य होगे।[2] इस समय लोक सभा की समस्त सदस्य सख्या ४६६ है जिनमें ४८६ तो निर्वाचित सदस्य हैं और १० सदस्य राष्ट्रपति द्वारा निर्देशित हैं।

निर्वाचन के प्रयोजन के लिए भारत के राज्यो का प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रो में विभाजन, वर्गीकरण या निर्माण किया गया है तथा प्रत्येक ऐसे निर्वाचन-क्षेत्र को बाँट में दिये गये सदस्यो की सख्या इस प्रकार निर्धारित की गई है जिससे यह सुनिश्चित रहे कि प्रति ७,५०,००० जनसख्या के लिए एक से कम सदस्य तथा प्रति ५,००,००० जनसख्या के लिए एक से अधिक सदस्य न हो।[3] १६५२ के सविधान (द्वितीय सशोधन) अधिनियम ने यह उपबन्ध समाप्त कर दिया है कि ७,५०,००० जनसख्या पर एक से कम सदस्य न हो। इस सशोधन की आवश्यकता इसलिए पडी कि १६५१ की मर्दुमशुमारी (census of population) ने जनसख्या में वृद्धि

---

[1] अनुच्छेद ३३१।

[2] अनुच्छेद ८१ (१) (क)।

[3] अनुच्छेद ८१ (१) (ख)

इगित की। परिसीमन (delimitation) केवल ससद्[1] द्वारा पारित अधिनियम के द्वारा ही हो सकता है, किन्तु किसी निर्वाचन-क्षेत्र से कितनी जनसख्या पर कितने सदस्य निर्वाचित किये जायें, यह तो पिछली जनगणना[2] के आधार पर ही हो सकता है। प्रत्येक दस वर्षों बाद जो जनगणना होती है उससे निर्वाचन-क्षेत्रो में समायोजन या परिवर्त्तन होते रहते हैं, किन्तु ऐसे पुन समायोजन से लोक सभा के प्रतिनिधित्व पर तब तक कोई प्रभाव नही पडेगा जब तक कि उस समय वर्तमान सदन का विघटन[3] न हो जाय। ससद् की किसी ऐसी विधि की जो निर्वाचन-क्षेत्रो के परिसीमन या ऐसे निर्वाचन-क्षेत्रो को स्थानो के बाँटने से सम्बद्ध है, मान्यता पर किसी न्यायालय[4] में आपत्ति नही की जा सकती।

भारत ने भी इगलैंड के ही समान, एकल सदस्य निर्वाचन-क्षेत्र रखे हैं यद्यपि कुछ निर्वाचन-क्षेत्र ऐसे अवश्य हैं जहाँ से कई-कई सदस्य निर्वाचित होने हैं, किन्तु इसका उद्देश्य केवल यह रहा कि कतिपय अनुसूचित जातियो (scheduled castes) और अनुसूचित आदिम जातियो (scheduled tribes) को कुछ सरक्षित स्थान प्राप्त हो सकें।[5]

लोक सभा वास्तव में लगभग सभी भारतीय सर्वसाधारण की प्रतिनिधि सभा है क्योकि २१ वर्ष की आयु के ऐसे सभी स्त्रियो और पुरुषो को निर्वाचन में मतदाता के रूप में पर्जीबद्ध होने का हक है जो किसी विधि के अधीन अनिवास (non-residence), चित्त-विकृति (unsoundness of mind), अपराध, अथवा भ्रष्ट वा अवैध आचार के आधार पर अनर्ह घोषित नहीं किए गए हैं।[6] निर्वाचनो के लिए नामावली तैयार करने और निर्वाचनो का अधीक्षण, निर्वाचन आयोग (Election Commission) करेगा जिसके सदस्यो की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है।[7] मुख्य निर्वाचन आयुक्त (Chief Election Commissioner) की वियुक्ति उसी प्रकार हो सकती है जिस प्रकार कि उच्चतम *न्यायालय* के किसी *न्यायाधीश* को *वियुक्त* किया जा सकता है।

लोक सभा की सदस्यता के लिए अर्हताएँ (Qualifications for Membership)—लोक सभा की सदस्यता के लिए आवश्यक है कि कोई व्यक्ति भारत का नागरिक हो, और कम से कम २५ वर्ष की आयु पूरी कर चुका हो तथा ऐसी अन्य अर्हताएँ रखता हो जो इस सम्बन्ध में ससद् निर्मित किसी विधि द्वारा या विधि के अधीन विहित की जाएँ।[8] कोई व्यक्ति एक ही समय में ससद् के दोनो सदनो का सदस्य नही रह सकता, और उसी प्रकार कोई व्यक्ति एक ही समय में ससद् के किसी सदन का तथा किसी राज्य के विधानमण्डल का सदस्य साथ-साथ नही हो सकता।[9]

---

[1] अनुच्छेद ३२७।

[2] अनुच्छेद ८१ (ग)।

[3] ,, (३)।

[4] ,, ३२९ (क)।

[5] ,, ३३०।

[6] ,, ३२६।

[7] ,, ३२४।

[8] ,, ८४।

[9] ,, १०१ (१)(२)।

कोई व्यक्ति ससद् के किसी सदन का सदस्य चुने जाने के लिए और सदस्य होने के लिए अनर्ह होगा यदि—(१) वह भारत सरकार के अथवा किसी राज्य की सरकार के अधीन, ऐसे पद को छोड़कर जिसे धारण करने वाले का अनर्ह न होना ससद् ने विधि द्वारा घोषित किया है,[1] कोई अन्य लाभ का पद धारण किए हुए है, (२) यदि वह विकृत चित्त (पागल) है और सक्षम न्यायालय की तदर्थ घोषणा हो चुकी है, (३) यदि वह अनुन्मुक्त दिवालिया (undischarged insolvent) है, (४) यदि वह भारत का नागरिक नहीं है अथवा किसी विदेशी राज्य की नागरिकता को स्वेच्छया अर्जित कर चुका है अथवा किसी विदेशी राज्य के प्रति निष्ठा या अनुशक्ति को अभिस्वीकार किये हुए है, और (५) यदि वह ससद् निर्मित किसी विधि के द्वारा या अधीन अनर्ह घोषित कर दिया गया है।[2]

यदि ससद् के किसी सदन का सदस्य साठ दिन की कालावधि तक सदन की अनुज्ञा के विना उसके सब अधिवेशनों से अनुपस्थित रहे तो सदन ऐसे सदस्य का स्थान रिक्त घोषित कर सकता है।[3]

लोक सभा की कालावधि (Duration of the House)—लोक सभा की सामान्य कालावधि पाँच वर्ष है, किन्तु वह इससे पूर्व भी विघटित की जा सकती है। किन्तु जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्तन मे है, ससद् विधि द्वारा उक्त पाँच वर्ष की कालावधि को बढ़ा सकती है, किन्तु वह एक बार मे एक वर्ष से अधिक के लिए नही बढ़ाई जा सकती तथा किसी अवस्था में भी उद्घोषणा के प्रवर्तन का अन्त हो जाने के पश्चात् छ मास की कालावधि से अधिक के लिए नही बढाई जाएगी।[4]

सघीय सविधान समिति (Union Constitution Committee) ने सिफारिश की थी कि सदन का कार्यकाल चार वर्ष हो। परन्तु प्रारूप समिति ने कालावधि पाँच वर्ष रखी। प्रारूप सविधान की एक टिप्पणी में पांच वर्ष की अवधि का औचित्य सिद्ध किया गया है।[5] उक्त टिप्पणी में कहा गया है—"प्रारूप समिति

---

[1] अनुच्छेद १०२ (२) का निर्देश है कि केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारों के मन्त्री लोगों के पद लाभ के पद नहीं समझे जायेंगे और इस कारण वे अनर्ह न होंगे। ससदीय अनर्हता निरोधक अधिनियम, १९५० (Parliament Prevention of Disqualification Act, 1950) के अनुसार आदेश हुआ कि किसी राज्य का मन्त्री या उपमन्त्री या ससदीय सचिव या ससदीय उपसचिव के पदों पर काम करने वाले ससद् की सदस्यता के लिए अनर्ह न होंगे। यह अनर्हता सम्बन्धी विमुक्ति १९५१ में विभिन्न आयोगों, अनुसन्धान समितियों तथा निगमों के ऐसे सदस्यों को भी दे दी गई जो वेतन या मानवेतन (honoraria) पाते हों किन्तु उक्त मानवेतन अथवा वेतन उस भत्ते और यात्रा-व्यय से अधिक न हो जो उन्हें ससद् सदस्य के रूप में प्राप्त होता है। १९५४ में विश्वविद्यालयों के उपकुलपतियों, ससद् के उपसचेतकों (Deputy Chief Whips) तथा सेना के कई प्रकार के अधिकारियों को भी ससदीय सदस्यता अनर्हता से विमुक्ति मिल गई।

[2] अनुच्छेद १०२ (१)।

[3] अनुच्छेद १०१ (४)।

[4] अनुच्छेद ८३ (२)।

[5] पृष्ठ ३०।

ने लोक सभा का सामान्य जीवन चार वर्ष के बजाय पाँच वर्ष रखा है क्योंकि प्रारूप समिति का विचार है कि ससदीय शासन-प्रणाली मे यदि मन्त्री का कार्य-काल चार वर्ष रखा जाता है तो उसका पहिला वर्ष तो उसको प्रशासन की जानकारी प्राप्त करने में लग जाएगा और अन्तिम वर्ष महानिर्वाचन की तैयारी में व्यय हो जाएगा, तथा इस प्रकार उसके पास कार्य करने के लिए केवल दो वर्ष का समय बचेगा, और नियोजित प्रशासन के लिए दो वर्ष का समय अत्यल्प है।"

अध्यक्ष (The Speaker)—लोक सभा अपने एक सदस्य को अध्यक्ष चुनती है जो उसके अधिवेशनो का सभापतित्व करता है तथा सदन का कार्य सचालन करता है।[1] यदि अध्यक्ष लोक सभा का सदस्य नही रहता तो उसे अपना पद त्यागना पडता है।[2] अध्यक्ष किसी भी समय अपना पद त्याग सकता है,[3] अथवा लोक सभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित सकल्प के द्वारा अध्यक्ष को अपने पद से हटाया जा सकता है।[4] किन्तु उक्त प्रयोजन के लिए किसी सकल्प के प्रस्तावित करने के अभिप्राय की कम से कम चौदह दिन की सूचना आवश्यक होती है। लोक सभा के विघटित होने पर अध्यक्ष तुरन्त अपने पद से नही हट जाता, किन्तु विघटन के पश्चात् होने वाले लोक सभा के प्रथम अधिवेशन के ठीक पहिले तक अध्यक्ष अपने पद पर बना रहता है। सविधान ने लोक सभा के लिए एक उपाध्यक्ष की भी व्यवस्था की है और उपाध्यक्ष अध्यक्ष की अनुपस्थिति में उसका कार्य करता है[5] अथवा वह उस समय भी अध्यक्ष पद पर कार्य करता है जबकि अध्यक्ष पद रिक्त हो। इगलैंड में स्पीकर के बिना सदन की कोई कार्रवाई नही चल सकती। उदाहरणार्थ १९४३ में जब स्पीकर श्री फिट्ज रॉय (Fitz Roy) की मृत्यु हो गई तो लोक सभा उठ गयी और उसकी सारी कार्रवाई तब तक रुकी रही जब तक कि नये स्पीकर का निर्वाचन न हो गया, यद्यपि वह आपात-काल था और देश द्वितीय विश्व-युद्ध में फँसा हुआ था।[7] इसके विपरीत भारतीय सविधान ने उपबन्धित किया है कि जब अध्यक्ष का पद रिक्त होता है तो अध्यक्ष पद के कर्त्तव्यो का निर्वहन उपाध्यक्ष करता है। और यदि किसी कारणवश उस समय उपाध्यक्ष का पद भी रिक्त हो, तो ऐसे समय पर अध्यक्ष पद पर काम करने के लिए राष्ट्रपति लोक सभा के किसी सदस्य को नियुक्त करता है और वही अध्यक्ष के कर्त्तव्यो का निवर्हन करेगा।[8] यदि सदन के किसी अधिवेशन में अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनो अनुपस्थित हो तो ऐसी अवस्था में ऐसा व्यक्ति सदन का अध्यक्ष होगा जिसके बारे में सदन की कार्य-प्रणाली के नियमो (rules of procedure of the House) ने आज्ञा दी हो। १९५० के सदन की कार्रवाई के नियमो (the rules of procedure and conduct of business in

---

[1] अनुच्छेद ९३।

[2] अनुच्छेद ९४ (क)।

[3] ,, ९४ (ख)।

[4] अनुच्छेद ९४ (ग)।

[5] अनुच्छेद ९३ एव ९५ (१)।

[6] अनुच्छेद ९५ (२)।

[7] Briers and others Papers on Parliament, Symposium, p 2

[8] अनुच्छेद ९५ (१)।

Lok Sabha) ने आदेश दिया है कि "ससद् के जीवन के प्रारम्भ में अथवा यथा आवश्यकता, सदन का अध्यक्ष ससद् के सदस्यो में से छ से अनधिक चेयरमैनो को चुनता है,[1] और यदि कभी ऐसा अवसर आता है जब अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनो अनुपस्थित हो तो उन छ में से एक सदस्य अध्यक्ष के स्थान पर उसके कर्त्तव्यो का निर्वहन करता है।" यदि उक्त छ सदस्य-चेयरमैनो मे से भी कोई व्यक्ति उपस्थित न हो तो स्वय सदन अपने ही सदस्यो में से किसी सदस्य को चुनता है जो सदन का अस्थायी अध्यक्ष होगा।[2] जिस समय लोक सभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के पद से हटाने का सकल्प सदन के विचाराधीन होता है, उस समय न तो अध्यक्ष और न उपाध्यक्ष लोक सभा की बैठको में पीठासीन होगा।[3] किन्तु जब लोक सभा में अध्यक्ष को अपने पद से हटाने का कोई सकल्प विचाराधीन हो, उस समय उसको लोक सभा में बोलने, उपस्थित रहने और अपनी सफाई देने का हक होगा।[4]

सविधान ने अध्यक्ष को केवल निर्णायक मत का अधिकार ऐसी अवस्था में दिया है जब कि किसी प्रश्न पर मत साम्य (in case of equality of votes) हो।[5] उक्त उपबन्ध इगलैंड के इस अभिसमय (convention) पर आधारित है कि लोक सभा का स्पीकर केवल मत साम्य की अवस्था में ही निर्णायक मत देता है। किन्तु इगलैंड का स्पीकर प्राय अपना निर्णायक मत इस प्रकार देता है कि उसके मत से अन्तिम निर्णय नही होता और इस प्रकार वह कुछ समय और देता है जिसमे सदन प्रश्न पर पुन विचार करे।

भारतीय सविधान ने उपबन्धित किया है कि अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को ऐसे वेतन और भत्ते दिए जाएँगे जैसे ससद् विधि द्वारा नियत करे।[6] अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते भारत की सचित निधि पर भारित व्यय होता है।[7] अध्यक्ष को ३,००० रुपए मासिक और उपाध्यक्ष को १,५०० रुपए मासिक वेतन उन कालावधियो के लिए मिलता है जिनमें ससद् कार्य करती है, अर्थात् वास्तविक सेवा में बिताये समय के बारे में उक्त दर से वेतन मिलता है। कुछ लोगो का ऐसा प्रस्ताव था कि अध्यक्ष का वेतन घटाकर २,२५० रुपए प्रति मास कर दिया जाए।

अध्यक्ष की स्थिति और शक्तियाँ (Position and Powers of the Speaker)—भारत में लोक सभा के अध्यक्ष का पद महान् आदर और गौरव का पद है। वरीयता के हिसाब से देश में यह सातवाँ पद है और उक्त पद का वही महत्त्व है जो उच्चतम न्यायालय के प्रमुख न्यायाधीश का है।[8] इगलैंड की लोक सभा के स्पीकर के समान भारतीय लोक सभा का अध्यक्ष भी सदन की इच्छाओ का निर्वचन भी करता है और वह सदन की ओर से बोलता है तथा सदन को भी

---

[1] नियम न० ७।

[2] अनुच्छेद ९५ (२)।

[3] अनुच्छेद ९६ (१)।

[4] ,, ९६ (२)।

[5] ,, १००।

[6] ,, ९७।

[7] ,, ११२ (३) (ख)।

[8] As in May 1954, India 1955, p 629.

सम्बोधित करता है। वह सदन के गौरव का रक्षक है और सदन की कार्रवाइयों में वह पूर्ण तटस्थता से भाग लेता है। इगलैड में शॉ लेफवेयर (Shaw Lefvere) के काल से सभी समझते हैं कि स्पीकर का पद एक न्यायिक पद है और इसीलिए उक्त पद का राजनीति से कोई सम्बन्ध नही रहता। ज्यों ही किसी व्यक्ति को निर्वाचित करके स्पीकर पद दिया जाता है, वह तुरन्त निर्दल व्यक्ति हो जाता है और राजनीति से सदैव के लिए सन्यास ग्रहण कर लेता है। इसलिए इगलैड में ऐसा अभिसमय है कि प्रत्येक ससद् के प्रारम्भिक अधिवेशन में स्पीकर को सर्व-सम्मति से चुन लिया जाता है[1] और वह ससद् के जीवन-पर्यन्त अपने पद पर बना रहता है। यदि गत ससद् का पूर्व सभापति नई ससद् मे भी सदन का सदस्य निर्वाचित होकर आया है तो प्रथा यही है कि उसी को पुन स्पीकर चुन लिया जाता है। यह भी अभिसमय है कि अवकाश प्राप्त करने वाले स्पीकर को ससद् के लिए अवश्य ही चुन भी लिया जाता है।[2]

श्री विट्ठल भाई पटेल भारत के प्रथम स्पीकर थे यद्यपि सरकारी तौर पर उनको विधान सभा का अध्यक्ष कहा जाता था, और पटेल महोदय ने अग्रेजी परम्पराओं के अनुसरण में उक्त पद का श्रीगणेश किया था। १९२५ में ज्यो ही श्री विट्ठल भाई पटेल विधान सभा के अध्यक्ष पद के लिए निर्वाचित हुए उन्होने अपने आप को निर्दल व्यक्ति घोषित कर दिया और राजनीति से अपना हाथ खीच लिया। निष्पक्ष स्पीकर के रूप में उनकी ऐसी धाक बँध गई थी और उनकी स्थिति इतनी दृढ थी कि उनको तत्कालीन केन्द्रीय विधान सभा के सरकारी और गैर-सरकारी सभी सदस्यो का समर्थन मिला और वे पुन निर्वाचित हुए,[3] यद्यपि उन्होने कई बार ऐसे भी निर्णय दिए जो तत्कालीन ब्रिटिश शासन को अप्रिय लगे। जब १९३० के असहयोग आन्दोलन में पटेल ने भाग लेना चाहा तो उन्होंने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। किन्तु इगलैड में स्पीकर के पद के साथ जो पुराने अभिसमय जुडे हुए हैं उनका उल्लघन भी सर्वप्रथम कांग्रेस ने ही किया, यद्यपि पटेल महोदय ने उन अभिसमयो और प्रथाओ की प्राणभग से रक्षा की थी। श्री पटेल का स्थान श्री मोहम्मद याकूब ने लिया किन्तु वे केवल एक सत्र उक्त पद पर रहे। याकूब महोदय के स्थान पर श्री इब्राहीम रहीमतुल्ला आए किन्तु उन्होंने शीघ्र ही खराब

---

[1] स्पीकर के पद के लिए सघर्ष भी हो सकता है। १९५१ में श्रमिक दल ने अनुदार दलीय प्रत्याशी को लेने पर आपत्ति नहीं की किन्तु यह भी स्पष्ट कहा कि पूर्व डिप्टी स्पीकर अपने अधिक अनुभव के कारण अधिक उपयुक्त स्पीकर रहता। इसके पश्चात् मतदान हुआ जिसके फलस्वरूप अनुदार दलीय प्रत्याशी विजयी हुआ।

[2] किन्तु १९३५ में और पुन १९४५ में श्रमिक दल ने अनुदार दलीय स्पीकरों फ़िट्ज राय (Fitz Roy) और क्लिफ्टन ब्राउन (Clifton Brown) के पुनर्निर्वाचन पर सघर्ष किया यद्यपि श्रमिक दल हार गया। १९५० में अधिकृत श्रमिक दलीय प्रत्याशी ने विरोध नहीं किया। किन्तु एक स्वतन्त्र श्रमिक प्रत्याशी ने विरोध किया किन्तु वह बुरी तरह हारा।

[3] Kaul, M. N Growth of the Position and Powers of the Speaker, Hindustan Times, Sunday Magazine, January 24, 1954

स्वास्थ्य के कारण पद त्याग दिया। रहीमतुल्ला साहव के स्थान पर श्री शणमुखम चेट्टी आए। किन्तु अगले महानिर्वाचन मे कांग्रेस के प्रत्याशी ने चेट्टी महोदय को हरा दिया। कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने सकल्प द्वारा निर्णय किया कि राज्यो और केन्द्र के स्पीकर लोग कांग्रेस के चुनावो से दूर रहे। किन्तु कांग्रेस कार्यकारिणी समिति के उक्त सकल्प के यह अर्थ नही थे कि कांग्रेस के स्पीकर लोग कांग्रेस की सदस्यता भी त्याग दें। जिस समय वावू पुरुषोत्तमदास टण्डन सयुक्त प्रान्त की विधान सभा के अध्यक्ष थे, उन्होने स्पष्ट शव्दो में घोषणा की थी कि स्पीकर पद के सम्वन्ध मे यह आवश्यक नही है कि भारत में भी इगलैंड की प्रथा का अनुसरण किया जाए। श्री टण्डन का विचार था कि सदन में स्पीकर निर्दल व्यक्ति के समान आचरण करे किन्तु सदन के वाहर वह दलगत निष्ठाएँ रख सकता है। इसी प्रकार के विचार भारतीय लोक सभा के प्रथम अध्यक्ष श्री जी० वी० मावलकर के भी थे। श्री मावलकर ने कहा था 'भारत का स्पीकर इस समय उसी प्रकार राजनीति से दूर नही रह सकता जिस प्रकार कि ब्रिटिश लोक सभा (House of Commons) का स्पीकर राजनीति से सन्यास ले लेता है। फिलहाल भारत का स्पीकर राजनीति मे भाग लेता रहेगा यद्यपि राजनीतिक क्रियाकलापो मे उसको सोच-समझकर ही मर्यादित भाग लेना चाहिए। वह अपने दल का सदस्य वना रह सकता है किन्तु दल के विभिन्न क्रियाकलापो से उसे हाथ खीच लेना चाहिए; विशेषकर ऐसे मामलो में उसे विशेष रुचि नही लेनी चाहिए जो ससद् में विचारार्थ आने को हो। सक्षेप में उसे ऐसे किसी प्रचार-कार्य में रत नही होना चाहिए या अपने विचार इस प्रकार प्रकट नही करने चाहिएँ जिससे ऐसा आभास मिले कि स्पीकर किसी दल-विशेष का आदमी है। माना कि स्पीकर किसी दल-विशेष के कार्यक्रम में विश्वास न करता हो फिर भी वह किसी एक दल में निष्ठा तो रखता ही है, और जहां कोई व्यक्ति एक दल विशेष से सम्वद्ध हुआ कि उसके विचारो मे पक्षपात आ जाते हैं। और फिर अभ्यास-वृद्ध राजनीतिज्ञो के पक्षपात अत्यन्त कठिन होते हैं।" इसलिए भारतीय स्पीकर को उतना सर्वदलीय आदर प्राप्त नही हो सकता जितना कि इगलैंड के स्पीकर को अपनी पूर्ण तटस्थता के कारण प्राप्त होता है।

जव स्पीकर सभी प्रकार की राजनीति से पूर्ण संन्यास ग्रहण कर लेता है तो यह भी आवश्यक है कि उसे चुनाव में न लडना पडे। यह सच है कि श्रमिक दल ने १९३५ में और पुन १९४५ में अनुदारदलीय स्पीकरो के पुर्नानिर्वाचनो में सघर्ष करके १०० वर्ष पुरानी प्रथा को तोड दिया। किन्तु दोनो वार श्रमिक दल के प्रत्याशी हार गए और ऐसा प्रतीत होता है कि निर्वाचकगण भी अनुभव करते हैं कि स्पीकर का निर्विरोध चुना जाना श्रेयस्कर है। भारत के निर्वाचको का ऐसा दृष्टिकोण उस समय तक नही वनेगा जव तक कि स्पीकर राजनीतिज्ञ वना रहेगा और स्पीकर का निर्विरोध निर्वाचन कठिन होगा। मावलकर महोदय जैसी स्थिति के महान् व्यक्ति को भी १९५२ के महानिर्वाचन में विरोध सहन करना पडा था। अध्यक्ष पद पर भी उनका निर्वाचन सर्वसम्मत नहीं था।

लोक सभा के स्पीकर की शक्तियाँ प्राय वही हैं जो इगलैंड की लोक सभा के

स्पीकर की है। अध्यक्ष[1] लोक सभा की बैठको का सभापतित्व करता है और उसकी समस्त कार्रवाई सचालित करता है। अध्यक्ष ही निर्णय करता है कि कौन बोलेगा और सभी लोग बोलने में अध्यक्ष को ही सम्बोधित करते हैं। सदन में वह शान्ति और व्यवस्था बनाए रखता है और उसके अधिकार में व्यापक शक्तियाँ हैं जिनके द्वारा वह अव्यवस्था या व्यर्थ बकवास अथवा असंसदीय भाषा अथवा असंसदीय व्यवहार को नियन्त्रित कर सकता है। हठी और दुर्मुख सदस्यो को पहिले तो वह चेतावनी देता है और यदि कोई सदस्य चेतावनी के बावजूद अव्यवस्था और अशान्ति पर डटा रहता है, तो अध्यक्ष या स्पीकर ऐसे सदस्य को सदन से निकल जाने का आदेश दे सकता है। यदि सदस्य फिर भी अपनी हठ नही छोड़ता तो स्पीकर सदन के सशस्त्र परिचारक (Marshal of the House) की सहायता से उसको सदन से बाहर निकलवा सकता है। यदि सदन में अव्यवस्था इस हद तक पहुँच जाए कि सदन की कार्रवाई चलाना कठिन हो जाए तो स्पीकर सदन की कार्रवाई को निलम्बित कर सकता है। यदि स्पीकर निर्णय दे कि वादविवाद मे जिस भाषा या जिन शब्दो का प्रयोग हुआ है वे अपमानजनक या गँवारू या असंसदीय अथवा सम्मान-विरुद्ध हैं तो वह ऐसे शब्द या शब्दो को सदन की कार्रवाई के अभिलेखो से हटवा सकता है।

सदन के नेता के परामर्श से अध्यक्ष ही निर्णय करता है कि सदन की कार्रवाई का क्रम क्या होगा, राष्ट्रपति के अभिभाषण पर वादविवादो पर कितना समय व्यय किया जायगा, और प्राइवेट विधेयको को कितने दिन दिये जायेंगे। अध्यक्ष ही अन्तिम रूप से निर्णय करता है कि किन प्रश्नो को, प्रस्तावो को, विधेयको को, स्थगन प्रस्तावो को, अथवा सदन की कार्रवाई से सम्बन्धित बातो को स्वीकार किया जाए और किन को नही। सविधान के अनुच्छेद ११० के अनुसार अध्यक्ष को ही विनिश्चय करना होता है कि कौन विधेयक धन विधेयक है अथवा नही।

किन्तु लोक सभा के अध्यक्ष का मुख्य और सबसे कठिन कार्य यह है कि वह वादविवादो का न्यायपूर्वक और विवेकपूर्ण ढग से सचालन करे। वक्तृताओ के लिए वह समय निर्धारित करता है, और किसी विधेयक या प्रस्ताव पर सदन के विचारार्थ जो सशोधन आते हैं उनमें कुछ सशोधनो को वही छांटता है। वास्तव में स्पीकर या अध्यक्ष 'वादविवादो का मालिक' (Lord of Debates) ही है। वही यह देखता है कि वादविवाद मुख्य प्रश्न से हटने न पावे, तथा वक्ता लोग सदन में भाषण करते समय अनजाने या जानबूझकर विचाराधीन विषय से हटकर व्यर्थ की बकवास न करने लग जाएँ। इसके अतिरिक्त सदन की कार्य-प्रणाली के सम्बन्ध में बारम्बार लोग उससे अपील करते हैं। इस सम्बन्ध मे स्पीकर ससद् की विधि का निर्वचक होता है। उसकी व्यवस्था या उसका निर्णय अन्तिम है और उसके विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती। वही सदन को अथवा सदस्यो को सदन की कार्रवाई के नियमों से अवगत कराता है। वह प्रश्न द्वारा भी सदस्यो की राय

---

1. १९५० की ससद् की कार्रवाई और प्रक्रिया के नियमों को देखिए।

माँग सकता है और मतो के निर्णयो को भी वही निश्चित करता है। स्वयं अध्यक्ष अपना निर्णायक मत केवल तभी देता है जब किसी प्रश्न पर मत साम्य हो अर्थात् दोनों पक्षो के बराबर-बराबर मत हो।

स्पीकर लोक सभा को शासन के अतिक्रमणो से बचाता है। जब मन्त्री लोग सदस्यो की स्वतन्त्रता का अतिक्रमण करते हैं, या उनके प्रश्नो का उत्तर देने में आनाकानी करते हैं, या पर्याप्त सूचना नही देते तो सदस्य स्पीकर से मन्त्री के विरुद्ध अपील करते हैं कि सदस्यो के अधिकारो की रक्षा कार्यपालिका के अतिक्रमणो के विरुद्ध की जाए। स्पीकर ही विभिन्न स्थायी समितियो के लिए लोक सभा के सदस्यो में से ही सभापति नाम-निर्देशित करता है। कुछ सदन की समितियो का तो वह स्वय पदेन सभापति होता है, जैसे नियम और विशेषाधिकार समिति और कार्रवाई परामर्शदात्री समिति (Business Advisory Committee)।

ससद् और राष्ट्रपति के बीच की सारी लिखा-पढ़ी या पत्र-व्यवहार स्पीकर के ही माध्यम द्वारा होता है। वही सारे विधेयको पर हस्ताक्षर करता है और उसके हस्ताक्षर हो जाने पर ही कोई विधेयक लोक सभा द्वारा पारित माना जा सकता है। उसके हस्ताक्षर के बाद ही कोई विधेयक राज्य सभा या राष्ट्रपति के पास भेजा जाता है।

लोक सभा का अपना सचिवालय है और संसद् के किसी भी सदन के सचिवालयो में जो व्यक्ति नियुक्त होते हैं, उनकी सेवा की शर्तें ससद् की विधि द्वारा नियमित होती हैं। लोक सभा के सचिवालय में कार्य करने वाले लोग सीधे स्पीकर के नियन्त्रण में कार्य करते हैं और वे उसी के प्रति उत्तरदायी हैं। स्पीकर का सदन की सारी भूमि पर नियन्त्रण है और सदन के अन्दर और बाहर उसके अधिकार पर कोई नियन्त्रण नही है। नवागन्तुको अथवा दर्शको के ससद् मे आने-जाने पर वही अकुश रखता है और वह किसी भी दर्शक को किसी भी समय सदन से निकल जाने का आदेश दे सकता है।

लोक सभा के कृत्य

(Functions of the Lok Sabha)

व्यवस्थापक कृत्य (Legislative Functions)—विधि-निर्माण की विधि ससद् निश्चित करती है जो राष्ट्रपति राज्य सभा और लोक सभा से मिलकर बनती है।[1] बिना राष्ट्रपति और राज्य सभा के केवल लोक सभा कुछ भी नही कर सकती, यद्यपि राष्ट्रपति और राज्य सभा की शक्तियो और अधिकारो पर कई प्रकार की मर्यादाएँ लगी हुई हैं। अ-वित्तीय विधेयक ससद् के किसी भी सदन में पुर स्थापित किया जा सकता है।[2] कोई विधेयक तभी विधि रूप धारण कर सकता है जबकि उसे ससद् के दोनो सदनो द्वारा पास कर दिया गया हो।[3] यद्यपि इगलैंड की

---

[1] अनुच्छेद ७९।

[2] „ १०७ (१)।

[3] „ १०७ (२)।

लोक सभा,[1] लार्ड सभा की पूर्ण उपेक्षा कर सकती है, किन्तु भारतीय लोक सभा, राज्य सभा की उपेक्षा नहीं कर सकती। यदि संसद् के दोनों सदनों में मतभेद हो जाए, अथवा यदि किसी विधेयक के किसी सदन में भेजे जाने के छ मास तक उक्त सदन विधेयक को पास करके न लौटाये, तो ऐसी स्थिति में राष्ट्रपति दोनों सदनों की सम्मिलित बैठक बुलाता है। यदि उक्त संयुक्त बैठक में उपस्थित और मतदान करने वाले समस्त सदस्यों के बहुमत से विधेयक पास कर दिया जाता है, तो वह विधेयक संसद् के दोनों सदनों द्वारा पारित माना जायगा।[2] यही लोक सभा की वास्तविक उच्च स्थिति है। संयुक्त बैठक में लोक सभा के मन की बात होगी क्योंकि लोक सभा की सदस्य संख्या दूनी से अधिक है।

वित्तीय कृत्य (Financial Functions)—मैडिसन (Madison) ने फैडेरलिस्ट (Federalist) नामक पत्रिका में लिखा था कि जिसके हाथ में धन होता है उसी के हाथों में शक्ति केन्द्रित रहती है। लोक सभा का राष्ट्रीय वित्त के ऊपर नियन्त्रण है इसलिए उसका राज्य सभा के ऊपर भी पूरा नियन्त्रण है। संविधान का आदेश है कि "कोई धन विधेयक राज्य सभा में पुरःस्थापित नहीं होगा।" धन विधेयक केवल लोक सभा में ही पुरःस्थापित किया जा सकता है और लोक सभा जब किसी धन विधेयक को पास कर चुकती है, तभी वह राज्य सभा के पास उसकी सिफारिशों के लिए भेजा जाता है। तथा राज्य सभा के लिए विधेयक की अपनी प्राप्ति की तारीख से चौदह दिन की कालावधि के भीतर, विधेयक को अपनी सिफारिशों सहित लौटा देना आवश्यक होगा।[3] यदि राज्य सभा की सिफारिशों में से किसी को लोक सभा स्वीकार कर लेती है तो धन विधेयक राज्य सभा द्वारा सिफारिश किये गए तथा लोक सभा द्वारा स्वीकृत संशोधनों सहित दोनों सदनों द्वारा पारित समझा जाता है।[4] यदि राज्य सभा की सिफारिशों में से किसी को भी लोक सभा स्वीकार नहीं करती है, तो भी धन विधेयक दोनों सदनों द्वारा उस रूप में पारित समझा जायगा जिसमें कि वह लोक सभा द्वारा पारित किया गया था।[5] यदि लोक सभा द्वारा पारित तथा राज्य सभा को उसकी सिफारिशों के लिए पहुँचाया गया धन विधेयक उक्त चौदह दिन की कालावधि के भीतर लोक सभा को लौटाया नहीं जाता, तो उक्त चौदह दिन की कालावधि की समाप्ति पर यह दोनों सदनों द्वारा, उस रूप में पारित समझा जायगा जिसमें लोक सभा ने उसको पारित किया था।[6] इस प्रकार राज्य सभा की केवल यही शक्ति है कि वह किसी धन विधेयक के ऊपर अधिक से अधिक चौदह दिन का विलम्ब लगा सकती है। इस प्रकार राज्य सभा भी इंगलैंड की लार्ड

---

[1] Refer to Parliament Act, 1911, and the Amending Act of 1949

सभा के समान ही अशक्त सदन है यद्यपि लार्ड सभा किसी धन विधेयक पर एक मास तक का विलम्ब लगा सकती है।

इसके अतिरिक्त अनुदान-सम्बन्धी माँगें राज्य सभा के समक्ष नही जाती। समस्त व्यय की स्वीकृति (Sanctioning of expenditure) केवल लोक सभा ही करती है।

निर्वाचक कृत्य (Electoral Functions)—ससद् के दोनो सदनो के निर्वाचित सदस्य राष्ट्रपति के निर्वाचक गण के भाग हैं।[1] इस सम्बन्ध में लोक सभा और राज्य सभा की शक्ति समान है। उसी प्रकार सयुक्त अधिवेशन में समवेत ससद् के दोनो सदनो के सदस्यों के द्वारा भारतीय गणराज्य के उपराष्ट्रपति का निर्वाचन होता है।[2]

कार्यपालिका का नियन्त्रण और निरीक्षण (Controlling the Executive)—लोक सभा का सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य यह है कि वह मन्त्रिमण्डल के कार्य का नियन्त्रण और निरीक्षण कर सकती है। सविधान ने मन्त्रि-परिषद् को लोक सभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी ठहराया है,[3] और मन्त्रि-परिषद् का लोक सभा के प्रति उत्तरदायित्व यह सिद्ध करता है कि सदन का शासन के ऊपर सदैव नियन्त्रण बना रहेगा। नियन्त्रण और उत्तरदायित्व का चोली-दामन का साथ है। मन्त्रिमण्डल के उत्तरदायित्व का यह अर्थ है कि वह उसी समय तक सत्तारूढ रह सकता है जब तक कि वह लोक सभा का विश्वास-पात्र बना रहे। और यदि शासन की नीति से लोक सभा का विरोध है तो शासन को त्यागपत्र देना होगा। इसलिए लोक सभा का भी यह उत्तरदायित्व हो जाता है कि वह शासन के विभिन्न क्रिया-कलापो पर इस प्रकार दृष्टि रखे कि कार्यपालिका और लोक प्रतिनिधियो के बीच नीति सम्बन्धी मौलिक विभेद स्पष्टतया सम्मुख आते रहे। यदि शासन की वास्तविक और सम्भाव्य गलतियाँ स्पष्टतया दिखाई न देंगी तो डर है कि शासन अनुत्तरदायित्वपूर्ण हो जाए। लोक सभा का जो नियन्त्रण, कार्यपालिका के ऊपर रहता है, उसके फलस्वरूप शासन उत्तरदायी बना रहता है क्योकि मन्त्रियो को सदैव भय बना रहता है कि उनसे जवाब-तलब किया जा सकता है।

लोक सभा, कार्यपालिका के ऊपर दो प्रकार से नियन्त्रण रख सकती है। प्रथमतः, शासन के विभिन्न कृत्यो के सम्बन्ध मे सदन मे लगातार जानकारी और सूचना की माँग बनी रहती है। द्वितीयतः सदन में शासन के प्रत्येक कार्य की आलोचना होती रहती है। ये दोनो विधियाँ एक दूसरे से सम्बन्धित हैं और इनके कई रूप हो सकते हैं। लोक सभा मौखिक या लिखित प्रश्नों के द्वारा मन्त्रि-परिषद् से हर प्रकार की जानकारी प्राप्त कर सकती है। लोक सभा का कोई भी सदस्य, नियमानुसार मन्त्रियो से प्रश्न पूछ सकता है, और मन्त्री लोग सदन के अधिवेशन के प्रारम्भ में लगभग एक घण्टे तक उन प्रश्नो के उत्तर देते हैं जो उनसे पूछे जाते हैं। यदि

---

[1] अनुच्छेद ५४।

[2] अनुच्छेद ६६।

[3] „ ७५ (३)।

के विरुद्ध महाभियोग लाया जा सकता है और तदर्थ दोषारोप किया जा सकता है। जब दोषारोप लोक सभा द्वारा किया जाय, तो राज्य सभा उक्त दोषारोप का अनुसधान करती है या कराती है, यदि राज्य सभा दोषारोप करती है, तो फिर लोक सभा उक्त दोषारोप का अनुसधान करती या कराती है। यदि अनुसधान करने या कराने वाले सदन के समस्त सदस्यो के कम से कम दो-तिहाई बहुमत से राष्ट्रपति के विरुद्ध किए गए दोषारोप की सिद्धि को घोषित करने वाला सकल्प पारित हो जाता है तो दोषारोप सिद्ध माना जाता है और उसका प्रभाव उसकी पारण तिथि से राष्ट्रपति का अपने पद से हटाया जाना होता है।[1] यदि राज्य सभा, उपराष्ट्रपति को अपने पद से हटाने के सम्बन्ध में सकल्प पारित करे, तो ऐसे सकल्प की लोक सभा द्वारा स्वीकृति भी आवश्यक होती है।[2] किन्तु उपराष्ट्रपति को हटाने के सम्बन्ध में कोई सकल्प लोक सभा में पुरःस्थापित नही किया जा सकता। राष्ट्रपति द्वारा प्रवर्तित विभिन्न प्रकार की आपात उद्घोषणाओ का लगातार प्रवर्त्तन लोक सभा और राज्यसभा की सम्मिलित सम्मति से ही सम्भव हो सकता है।

विधान-निर्माण सम्बन्धी प्रक्रिया

(Legislative Procedure)

विधान-निर्माण सम्बन्धी प्रक्रिया (Legislative Procedure)—सविधान ने ससद् के दोनो सदनो द्वारा विधेयको के पास करने की विस्तृत प्रक्रिया नही बताई है। सविधान ने केवल यही बतलाया है कि कोई सामान्य विधेयक (अ-वित्तीय) ससद् के किसी भी सदन में पुरःस्थापित किया जा सकता है, और कोई विधेयक उस समय तक ससद् के दोनो सदनो द्वारा पारित नही माना जाएगा जब तक कि उक्त विधेयक को दोनो सदनो ने स्वीकार न कर लिया हो। चाहे तो बिना किसी सशोधन के और चाहे ऐसे सशोधन सहित जिनको दोनो सदनो ने स्वीकार कर लिया हो यदि कोई विधेयक किसी सदन के विचाराधीन है और यदि ऐसी स्थिति में ससद् स्थगित हो जाए, तो उक्त विधेयक समाप्त नही होगा। किन्तु लोक सभा के विघटन के फलस्वरूप ऐसा विधेयक समाप्त हो सकता है जो लोक सभा के विचाराधीन हो अथवा जिसको लोक सभा तो पारित कर चुकी हो किन्तु जो राज्य सभा के विचाराधीन हो। किन्तु ऐसा विधेयक लोक सभा के विघटन के फलस्वरूप समाप्त नही माना जाएगा, जो राज्य सभा में पुरःस्थापित किया गया हो और जो विघटन के समय भी उसी सदन में विचाराधीन हो। जब राष्ट्रपति आदेश देता है कि ससद् के दोनो सदनो का सम्मिलित अधिवेशन आहूत किया जाए, तो उसके फलस्वरूप लोक सभा के विघटित होने से भी कोई विचाराधीन विधेयक समाप्त नहीं होगा।

शेष विधान-निर्माण सम्बन्धी प्रक्रिया ससद् के नियमो में दे दी गई है। इन नियमो के द्वारा ससद् के दोनो सदनों में समान प्रक्रिया स्थापित की गई है। प्रत्येक विधेयक के आवश्यकत तीन वाचन होते हैं और उसे प्रत्येक सदन में पांच स्तर पार करने पड़ते हैं तभी वह ससद् के किसी सदन द्वारा पारित माना जा सकता है। वे

---

[1] अनुच्छेद 61। [2] अनुच्छेद 67।

पांच स्तर निम्न हैं . (i) प्रथम वाचन, (ii) द्वितीय वाचन, (iii) प्रवर समिति स्तर, (iv) प्रतिवेदन स्तर, और (v) तृतीय वाचन।

प्रथम वाचन (The First Reading)—प्रथम वाचन में कोई विधेयक पुर:स्थापित किया जाता है, और उसे भारतीय गजट में प्रकाशित कर दिया जाता है। सामान्य विधायी प्रस्ताव, किसी भी सदस्य द्वारा पुर स्थापित किया जा सकता है। जो सदस्य किसी विधेयक को पुर:स्थापित करना चाहता है, उसके लिए आवश्यक है कि एक मास पूर्व अपनी विधेयक सम्बन्धी इच्छा की सूचना दे दे, और तदर्थ आज्ञा प्राप्त कर ले। उक्त सूचना में विधेयक का प्रारूप, उक्त विधेयक के उद्देश्य और कारण तथा ज्ञापन भी सलग्न रहना चाहिए जिसमें तत्सम्बन्धी आवर्त्ती (recurring) और अनावर्त्ती (non-recurring) व्ययो का लेखा रहे तथा यदि आवश्यक हो तो तदर्थ राष्ट्रपति की स्वीकृति भी सलग्न हो। ऐसे विधेयक जिनका प्रभाव प्रथम अनुसूची के भाग (क) और भाग (ख) में[1] उल्लिखित राज्य या राज्यो की सीमाओ पर पडता हो अथवा ऐसे विधेयक जिनका प्रभाव सरकारी भाषा को वदलने पर पडता हो जिससे उच्चतम न्यायालय या उच्च न्यायालयो या अधिनियमो अथवा विधेयको में प्रयुक्त होने वाली भाषा को सविधान[2] के प्रभावी होने के प्रथम १५ वर्षों में वदला जा रहा हो, तो वे सब विधेयक राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से ही पुर स्थापित हो सकते हैं।

विधेयक की पुर स्थापना के निश्चित दिन विधेयक का प्रस्तावक या पुर:स्थापक सदस्य सदन की अनुमति से विधेयक का शीर्षक पढता है। यदि विधेयक की पुर स्थापना का विरोध किया जाता है, लोक सभा का अध्यक्ष विधेयक के प्रस्तावक अथवा पुर स्थापक और विरोधी सदस्यो को विधेयक के सम्बन्ध में अपनी-अपनी बात कहने का अवसर देता है। इसके बाद प्रश्न पर मत लिये जाते हैं और यदि उपस्थित सदस्यो में से बहुमत सदस्य विधेयक का समर्थन करते हैं, तो मान लिया जाता है कि विधेयक पुर स्थापित हो गया। ज्यो ही विधेयक के पुर-स्थापित करने की आज्ञा सदन देता है कि विधेयक भारतीय गजट मे छपने भेज दिया जाता है। किसी सदस्य की प्रार्थना पर भी सदन का अध्यक्ष विधेयक को भारतीय गजट मे छपने के लिए भेज सकता है। ऐसी स्थिति में विधेयक के पुर स्थापित करने के लिए सदन की आज्ञा लेने की आवश्यकता नही रहती।

द्वितीय वाचन (The Second Reading)—जिस दिन विधेयक पर विचार होना निश्चित होता है, विधेयक का प्रस्तावक या पुर स्थापक सदस्य निम्न प्रस्तावो में से कोई एक प्रस्ताव रख सकता है

(i) कि सदन विधेयक पर या तो तुरन्त विचार करे या प्रस्ताव में निर्देशित किसी अन्य दिन उक्त विधेयक पर विचार किया जाए,

(ii) कि विधेयक प्रवर समिति में भेज दिया जाए,

(iii) कि विधेयक को घुमाया जाए और उस पर जनमत सग्रह किया जाए।

---

[1] अनुच्छेद ३।

[2] अनुच्छेद ३४६।

किसी विधेयक पर तुरन्त विचार तो प्राय कभी नही किया जाता; हाँ यदि कोई विधेयक विरोध शून्य हो और शासन द्वारा पुरस्थापित किया गया हो, तो शायद उस पर तुरन्त विचार करने की अनुमति मिल जाए। सामाजिक महत्त्व के ऐसे विधेयको को जिनका राष्ट्र के जीवन पर प्रभाव पडना सम्भव है, अथवा कोई ऐसी नई बात जो राष्ट्र के जीवन में उथल-पुथल मचा दे, और जिसके कारण विवाद और विरोधी भाव जाग्रत हो अवश्य ही जनमत के लिए प्रसारित की जाती है। और सब प्रकार के विधेयक अवश्य ही प्राय प्रवर समिति में विचारार्थ भेज दिए जाते हैं।

जब ऊपर वर्णन किए गए तीनो प्रस्तावो में से कोई एक प्रस्ताव रख दिया जाता है, तो, या तो उसी दिन अथवा किसी अन्य दिन, विधेयक के मुख्य सिद्धान्तो पर विचार किया जाता है। विधेयक का प्रस्तावक विस्तारपूर्वक और स्पष्टतया समझाता है और व्याख्या करता है कि प्रस्तावित विधेयक की क्यो आवश्यकता है और उसकी आवश्यकता का क्या महत्त्व है। विधेयक के अन्य समर्थक भी यही करेंगे। किन्तु उक्त विधेयक के विरोधी सदस्य उक्त विधेयक की आलोचना करेंगे। किन्तु यह समझ लेना आवश्यक होगा कि यह समय न तो विस्तारपूर्वक विधेयक पर विचार करने का है, न इस समय विधेयक पर सशोधन उपस्थित किए जा सकते हैं और न धारा प्रति धारा पर मतदान हो सकता है। इस समय तो समूचे विधेयक पर विचार किया जाता है, और यदि सशोधन प्रस्तुत भी किए जाते हैं तो वे विधेयक पर नही, अपितु उस प्रस्ताव पर जिसके द्वारा तुरन्त विचार करने की प्रार्थना की गई थी, अथवा जिसके द्वारा जनमत सग्रह करने की बात कही गई थी अथवा जिसके द्वारा उक्त विधेयक को प्रवर समिति में विचारार्थ भेजने के लिए कहा गया था। यदि उक्त प्रस्ताव स्वीकृत हो जाता है तो विधेयक अपने जीवन के तृतीय स्तर में पहुँच जाता है।

समिति स्तर (Committee Stage)—यदि सदन, विधेयक को प्रवर समिति मे भेजने सम्बन्धी प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है, तो एक समिति तदर्थ नियुक्त की जाती है। उक्त समिति में अन्य सदस्यों के अतिरिक्त दो सदस्यो का होना अत्यावश्यक है—एक तो विधेयक का प्रस्तावक और दूसरा विधि सदस्य जो पदेन प्रवर समिति का सदस्य होता है। सदन के सदस्यो में से ही किसी सदस्य को, सदन का अध्यक्ष अथवा स्पीकर प्रवर समिति का चेयरमैन नियुक्त कर देता है। यदि किसी समिति मे सदन का उपाध्यक्ष भी सदस्य हो तो वही समिति का चेयरमैन भी होगा। समिति, विधेयक की सूक्ष्म परीक्षा करती है। समिति को अधिकार है कि वह किसी भी व्यक्ति को बुला सकती है और उसकी गवाही कराके उससे ऐसे कागज़ या सबूत मांग सकती है जो उसके पास उक्त विधेयक के सम्बन्ध में हो। समिति, विधेयक के विषय से सम्बन्धित विशेषज्ञो या ऐसे लोगो की राय ले सकती है जिनके हितो पर उक्त विधेयक का प्रभाव पडने वाला हो। प्रवर समिति, विधेयक में सशोधन भी उपस्थित कर सकती है। यदि समिति ने विधेयक मे परिवर्तन कर दिए हैं, तो समिति, विधेयक के प्रस्तावक से सिफारिश करती है कि वह सदन से

ार्थना करे कि उक्त विधेयक को प्रसारित किया जाए, और यदि विधेयक एक ार पहिले ही प्रसारित हो चुका है तो उसको पुन प्रसारित कराए। समिति के लिए ह आवश्यक है कि वह उक्त विधेयक के सम्बन्ध में तीन मास के अन्दर या सदन ारा निर्धारित कालावधि में सदन को प्रतिवेदन प्रस्तुत करे। समिति का प्रतिवेदन, दन के समक्ष समिति का चेयरमैन प्रस्तुत करता है, और यदि चेयरमैन उपस्थित ा हो, तो कोई अन्य सदस्य भी कर सकता है।

प्रतिवेदन स्तर (Report Stage)—विमति टिप्पण (minutes of lissent) सहित, यदि कोई हो, समिति का प्रतिवेदन, सदन के सचिव के आदेश से काशित कराया जाता है और उसकी मुद्रित प्रतियाँ सभी सदस्यो को दे दी जाती ं। प्रतिवेदन प्रस्तुत किए जाने के पश्चात्, विधेयक का प्रस्तावक निम्न प्रस्ताव रख कता है -

(i) कि प्रवर समिति द्वारा प्रतिनिवेदित विधेयक पर विचार किया जाए, या

(ii) कि समिति द्वारा प्रतिनिवेदित विधेयक को पुन प्रवर समिति के पास आज्ञाओ सहित अथवा आज्ञाओ रहित भेजा जाए, या

(iii) कि प्रतिनिवेदित रूप मे विधेयक को जनमत-सग्रह के लिए प्रसारित या पुन प्रसारित किया जाए।

यदि सदन विधेयक पर उसी रूप में विचार करना स्वीकार कर लेता है जिस रूप में प्रवर समिति ने प्रतिनिवेदित किया है, तो सदन में विधेयक के प्रत्येक खण्ड पर विचार किया जाता है और इस स्तर पर सशोधन प्रस्तावित किए जा सकते हैं। सदन का स्पीकर ही निर्णय करता है कि सशोधन स्वीकार किए जाएँ अथवा नही और वही अनेको सशोधनो में से कुछ सशोधन स्वीकार करके उन पर विचार करने की आज्ञा प्रदान करता है। विधेयक का प्रथम खण्ड, प्रस्तावना (preamble) और विधेयक के शीर्षक को विचारार्थ सव से अन्त में लेते हैं। किन्तु प्रत्येक खण्ड पर मतदान अलग-अलग होता है।

तृतीय वाचन (The Third Reading)—प्रतिवेदन स्तर और विचार विनिमय के पश्चात् विधेयक तृतीय वाचन के स्तर पर पहुँचता है। तृतीय वाचन में विधेयक के पक्ष में दलीलें दी जाती हैं। व्यर्थ की वारीकियो को दलीलो में नही देने दिया जाता, केवल ऐसे तथ्य उपस्थित किए जा सकते हैं जिनकी अपने वक्तव्यो के समर्थन में आवश्यकता जान पडे। इस स्तर पर मौखिक सशोधन भी रखे जा सकते हैं।

तृतीय वाचन के पश्चात् यदि सदन के उपस्थित सदस्यो के वहुमत ने उक्त विधेयक पास कर दिया जाता है तो उसे उस सदन द्वारा पारित मान लिया जाता है जिसमें कि वह पुर स्थापित किया गया था। इसके वाद सदन के अध्यक्ष (स्पीकर या चेयरमैन) द्वारा या सदन के सेक्रेटरी द्वारा उक्त विधेयक का प्रमाणीकरण (authentication) किया जाता है और प्रमाणीकरण के पश्चात् विधेयक को दूसरे सदन में भेज दिया जाता है जहाँ फिर उसी प्रकार की सारी कार्रवाई होती है। यदि दूसरा सदन भी विधेयक को उसी रूप में पास कर देता है जिस रूप में कि उस सदन

ने भेजा है जिसमें विधेयक पुर स्थापित किया गया था, तो विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। राष्ट्रपति विधेयक को स्वीकार भी कर सकता है और उस पर अपनी स्वीकृति को रोक भी सकता है और यदि वह चाहे तो विधेयक को दोनो सदनों के पुनर्विचार के लिए वापिस भेज सकता है, और ऐसा करते समय उक्त विधेयक में सशोधन सुझाते हुए अपना सदेश भी वह भेज सकता है या बिना ऐसे सदेश के भी वापिस भेज सकता है। किन्तु यदि दुबारा ससद् के दोनो सदन, उक्त विधेयक को सशोधनो सहित या सशोधनो रहित पास कर देते हैं, तो राष्ट्रपति को अवश्य ही स्वीकृति प्रदान करनी होगी। इस प्रकार कोई विधेयक विधि का रूप धारण करता है।

विवादग्रस्त विधेयक और सयुक्त बैठकें (Disputed Bills and Joint Sittings)—यदि विधेयक को दूसरे सदन के द्वारा अस्वीकृत कर दिया जाता है, अथवा दूसरा सदन ऐसे सशोधनों सहित उसे पारित करता है जिन्हें वह सदन स्वीकार नही करता जिसमें विधेयक पुर स्थापित किया गया था, अथवा दूसरे सदन मे जब विधेयक विचारार्थ भेजा गया था तो उसे ६ मास तक लौटाया न जाए, ऐसी स्थितियो में राष्ट्रपति ससद् के दोनो सदनो की सम्मिलित बैठक बुला सकता है, जहाँ दोनों सदन मिलकर विधेयक पर विचार करें और मतदान करें। राष्ट्रपति के तदर्थ आदेश के उपरान्त ससद् के दोनो सदनों की सयुक्त बैठक कभी भी हो सकती है। यदि सयुक्त बैठक सम्बन्धी आदेश निकल चुका है तो उसके बाद यदि लोक सभा विघटित भी हो जाए, तो भी विधेयक समाप्त नही होगा। सयुक्त बैठक के लिए दोनो सदनो की सम्पूर्ण सदस्य सख्या का दसवाँ भाग गणपूर्त्ति (quorum) के लिए पर्याप्त है। सयुक्त बैठक में लोक सभा का स्पीकर, और यदि स्पीकर अनुपस्थित हो तो डिप्टी स्पीकर सभापति का आसन ग्रहण करता है और सयुक्त बैठक में लोक सभा की प्रक्रिया के अनुसार कार्रवाई होती है, यदि स्पीकर आवश्यक समझे तो कार्रवाई की प्रक्रिया मे परिवर्त्तन भी हो सकता है। दोनो सदनो की सयुक्त बैठक में सशोधन प्रस्तावित किए जा सकते हैं, किन्तु केवल ऐसे सशोधन प्रस्तावित किये जा सकते हैं जो विधेयक के पारित होने में देर लग जाने के कारण आवश्यक हो गए हैं अथवा जो उन सशोधनो से सम्बन्ध रखते हैं जिनको किसी एक सदन ने प्रस्तावित किया था किन्तु दूसरे सदन ने जिन्हे तिरस्कृत कर दिया था। सशोधनो की आज्ञा दी जाए या नही, इस सम्बन्ध में सभापति का आदेश और निर्णय अन्तिम होता है। यदि सयुक्त बैठक के उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो के बहुमत द्वारा उक्त विवादग्रस्त विधेयक पारित हो जाता है तो उसे दोनो सदनो द्वारा पारित मान लिया जाता है।

वित्तीय कानून निर्माण

(Financial Legislation)

वित्तीय प्रक्रिया (Financial Procedure)—भारतीय ससद् की वित्तीय कानून निर्माण की प्रक्रिया में वही सिद्धान्त काम करते हैं जिन पर ब्रिटिश ससद् में वित्तीय विधान निर्माण होता है। प्रथमत, धन विधेयक दोनो देशो में मन्त्रिमण्डल

की ओर से ही पुरःस्थापित किए जा सकते हैं। द्वितीयतः भारतीय लोक सभा ही ब्रिटिश कॉमन-सभा की तरह प्रदाय (supplies) स्वीकृत कर सकती है और वही करारोपण अथवा प्रवेश्य कर (imposts) लगा सकती है। अन्ततः, दोनो ही देशों मे करारोपण (taxation), विनियोग (appropriations), और सार्वजनिक निधि (public funds) से व्यय करने के लिए व्यवस्थापिका की आज्ञा आवश्यक है।

धन विधेयक (Money Bills)—संविधान ने धन विधेयकों के लिए विशेष प्रक्रिया निर्धारित की है। ऐसा इसलिए निर्धारित किया गया है कि धन विधेयकों के सम्बन्ध में लोक सभा की स्थिति सर्वोच्च रहे। संविधान ने स्पष्टतया उपबन्धित किया है कि धन विधेयक राज्य सभा में पुरःस्थापित नही किए जा सकते। जब कोई धन विधेयक लोक सभा द्वारा पारित कर दिया जाता है, उसे लोक सभा के स्पीकर के इस आदेश सहित राज्य सभा को भेज दिया जाता है कि उक्त विधेयक धन विधेयक है, और इस सम्बन्ध में स्पीकर का निर्णय अन्तिम है। राज्य सभा किसी धन विधेयक को अस्वीकृत नही कर सकती, किन्तु राज्य सभा धन विधेयक के प्राप्त होने के चौदह दिन के अन्दर उसे अपनी सिफारिशो सहित लोक सभा को अवश्य वापिस कर देती है। यदि लोक सभा चाहे तो राज्य सभा की किसी सिफारिश या सिफारिशों को माने या न माने। यदि लोक सभा, राज्य सभा की किसी सिफारिश को स्वीकार करती है, तो उक्त धन विधेयक सम्बन्धित संशोधनो सहित दोनो सदनो द्वारा पारित मान लिया जाता है। यदि लोक सभा, राज्य सभा के किसी संशोधन को स्वीकार नही करती है, तो भी उक्त धन विधेयक दोनो सदनो द्वारा उसी रूप में पारित मान लिया जाता है जिस रूप में कि वह लोक सभा द्वारा पारित किया गया था। यदि राज्य सभा, धन विधेयक को चौदह दिन के अन्दर लोक सभा को अपनी सिफारिशो सहित वापिस नही करती, तो भी चौदह दिन की कालावधि के बीत जाने पर उक्त धन विधेयक उसी रूप में दोनो सदनो द्वारा पारित मान लिया जाएगा जिस रूप मे कि लोक सभा ने उसे पास किया था।

संविधान ने धन विधेयकों की परिभाषा की है। कोई विधेयक धन विधेयक समझा जाएगा यदि उसमें निम्नलिखित विषयो में से सब अथवा किसी मे सम्बन्ध रखने वाले उपबन्ध अन्तर्विष्ट हैं,[1] अर्थात्—

(क) किसी कर का आरोपण (imposition), उत्सादन (abolition), परिहार (alteration) या विनियमन (regulation),

(ख) भारत सरकार द्वारा धन उधार लेने का, अथवा कोई प्रत्याभूति (guarantee) देने का अथवा भारत सरकार द्वारा लिये गए अथवा लिये जाने वाले किन्हीं वित्तीय आभारो से सम्बद्ध विधि के संशोधन करने का विनियमन,

(ग) भारत की संचित निधि (consolidated fund) अथवा आकस्मिक निधि (contingency fund) की अभिरक्षा, ऐसी किसी निधि में धन डालना अथवा उसमे से धन निकालना;

---

[1] अनुच्छेद ११०।

(घ) भारत की सचित निधि में से धन का विनियोग,

(ङ) किसी व्यय को भारत की सचित निधि पर भारित व्यय घोषित करना थवा ऐसे किमी व्यय की राशि को बढाना,

(च) भारत की सचित निधि के या भारत के लोक लेखे (public ccounts) के मद्दे धन प्राप्त करना अथवा ऐसे धन की अभिरक्षा (custody) निकासी (issue) करना अथवा सघ या राज्य के लेखाओ का लेखा परीक्षण audit), और

(छ) उपखण्ड (क) से (च) तक में उल्लिखित विषयो में से किसी का आनु-गिक कोई विषय।

धन विधेयक की परिभाषा करते समय प्रारम्भ के 'यदि' (only) शब्द पर शेष ध्यान देने की जरूरत है। सविधान ने दो शर्तें निर्धारित की हैं और उन्ही शर्तों पूरा करने पर कोई विधेयक धन विधेयक माना जा सकता है। प्रथमत, धन विधे-क का सम्बन्ध उन सभी बातो से होना चाहिए जिनका अनुच्छेद ११० (१) में र्णन किया गया है। द्वितीयत, किमी धन विधेयक के उपबन्धों का सम्बन्ध केवल न्ही विपयो से होना चाहिए, इनके अतिरिक्त किसी अन्य विषय से नही। इसलिए सा कोई धन विधेयक अधिनियमित नही हो सकता जिसके द्वारा सविधान विधि के देशो के पालन में अन्यथा बाधा उपस्थित होती हो। धन विधेयक तो सीधा-सादा न विधेयक ही होना चाहिए। ऐसा कोई विधेयक जिसके द्वारा जुर्मानो, अन्य अर्थ ण्डो का आरोपण (penalties), अथवा अनुज्ञप्तियो के लिए फीसो (licence fees) ी अथवा किमी स्थानीय प्राधिकारी द्वारा करारोपण की व्यवस्था होती हो, धन वधेयक (Money Bill) या वित्त विधेयक (Financial Bill) नही माना जाएगा।[1] जिस समय कोई धन विधेयक राष्ट्रपति के समक्ष उसकी स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है, उस समय उक्त विधेयक के साथ लोक सभा के अध्यक्ष या स्पीकर का यह प्रमाणपत्र या सर्टीफिकेट भी होना चाहिए कि सम्बन्धित और सलग्न विधेयक एक धन विधेयक ही है।

आयव्ययक (The Budget)—प्रत्येक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ में ससद् के दोनो सदनो के समक्ष राष्ट्रपति, भारत सरकार की उस वर्ष के लिए प्राक्कलित प्राप्तियो और व्यय का विवरण रखवाएगा जिसका नाम 'वार्षिक वित्त विवरण' अथवा 'आयव्ययक' होगा।[2] वित्तीय वर्ष का अर्थ उस वर्ष से है जो प्रथम अप्रैल को प्रारम्भ होता है। भारत में आयव्ययक या वार्षिक वित्त विवरण, ससद् के समक्ष दो भागो में प्रस्तुत किया जाता है। एक तो रेलवे का आयव्ययक और दूसरा सामान्य आयव्ययक। रेलवे आयव्ययक मे केवल उन्ही प्राप्तियो और व्ययो का समावेश रहता है जिनका सम्बन्ध रेलो से होता है और इस रेलवे आयव्ययक को अलग से रेल मन्त्री (Minister for Railways) प्रस्तुत करता है। इसके विपरीत सामान्य आयव्ययक मे भारत सरकार

---

[1] अनुच्छेद ११० (१) और अनुच्छेद ११७।

[2] अनुच्छेद ११२ (१)।

के सभी विभागो के प्राक्कलन (estimates) रहते हैं, केवल रेलवे विभाग छोड दिया जाता है और इस आयव्ययक को वित्त मन्त्री (Finance Minister) संसद् के समक्ष प्रस्तुत करता है। किन्तु आयव्ययक प्रस्तुत करने की प्रक्रिया दोनो आयव्ययको में समान है चाहे वह रेलवे का आयव्ययक हो, चाहे सामान्य आयव्ययक हो।

आयव्ययक अथवा वार्षिक वित्त विवरण में दिए हुए व्यय के प्राक्कलनो में जो व्यय इस संविधान मे भारत की संचित निधि पर भारित व्यय के रूप में वर्णित है उसकी पूर्ति के लिए अपेक्षित राशियाँ तथा भारत की संचित निधि से किए जाने वाले अन्य प्रस्थापित व्यय की पूर्ति के लिए अपेक्षित राशियाँ पृथक्-पृथक् दिखाई जाती हैं तथा उनका राजस्व लेखे पर होने वाले व्यय से भेद किया जाता है।[1] भारत की संचित निधि मे से निम्न व्यय किए जाते हैं

(क) राष्ट्रपति की उपलब्धियाँ (emoluments) और भत्ते और उस पद से सम्बन्धित अन्य व्यय;

(ख) राज्य सभा के सभापति और उपसभापति के वेतन और भत्ते तथा लोक सभा के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष के वेतन और भत्ते,

(ग) भारत सरकार पर भारित कर्जे और उनका व्याज, निक्षेप निधि व्यय (sinking fund charges), निष्क्रयण व्यय (redemption charges) तथा ऐसे अन्य व्यय जिनका सम्बन्ध कर्जे लेने से हो अथवा कर्जों के निष्क्रयण या तदर्थ सेवाओ से हो,

(घ) (i) उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो को अथवा उनके सम्बन्ध मे दिए जाने वाली उपलब्धियाँ, भत्ते और पेंशनें,

(ii) संघीय न्यायालय को या उसके सम्बन्ध में दी जाने वाली पेंशनें,

(iii) ऐसे किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को या उसके सम्बन्ध में दी जाने वाली पेंशनें जो भारत भू-भाग में सम्मिलित किसी क्षेत्र पर क्षेत्राधिकार रखता हो अथवा जो इस संविधान के प्रवर्त्ती होने से पूर्व किसी ऐसे प्रान्त में क्षेत्राधिकार रखता हो जो अब प्रथम अनुसूची के भाग (क) का राज्य माना जाता हो।

(ङ) भारत के नियन्त्रक और महालेखा परीक्षक (Comptroller and Auditor General of India) को या उसके सम्बन्ध में दिये जाने वाले वेतन, भत्ते और पेंशनो के सम्बन्ध मे धन राशियाँ,

(च) किसी न्यायालय या पचाट-न्यायाधिकरण के निर्णय, आदेश या पचाट निर्णय (award) की शर्तों के अनुसार दायित्वो को भरने, तथा

(छ) और कोई विशेष व्यय जिसे संसद् या संविधान विधि द्वारा देना आवश्यक कर दे।

भारत की संचित निधि में से जो कुछ व्यय किया जाता है उस पर संसद् अपना निर्णय नही दे सकती किन्तु ऐसे व्ययो पर संसद् के किसी भी सदन में विचार-विनिमय किया जा सकता है। किन्तु अन्य प्रकार के व्ययो के बारे मे लोक सभा की

---

[1] अनुच्छेद ११२ (२)।

अनुमति आवश्यक है और उनके बारे में अनुदान सम्बन्धी मांग (demand for grants) ससद् मे की जाती है। लोक सभा को अधिकार है कि वह किसी मांग को स्वीकार कर ले, या अस्वीकृत कर दे अथवा स्वीकार तो कर ले किन्तु मांग के धन में कुछ कमी कर सकती है। किन्तु राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना किसी भी अनुदान की मांग नही की जा सकती।[1]

वित्तीय विधान निर्माण में विभिन्न स्तर (Stages in Financial Legislation)—वार्षिक वित्त विवरण अथवा आयव्ययक को पांच स्तर पार करने पडते हैं जो निम्न हैं (१) पुरस्थापना अथवा उपस्थापन (Introduction or Presentation), (२) पर्यालोचन अथवा सामान्य विचार-विनिमय (General Discussion), (३) मांगो पर मतदान (Voting of Demands), (४) विनियोग विधेयक पर विचार करके उसे पारित करना (Consideration and Passing of the Appropriation Bill), और (५) करारोपण सम्बन्धी प्रस्तावो पर विचार करके उन्हे पास करना तथा वित्तीय विधेयक पर अन्तिम विचार (Consideration and Passing of the Taxation Proposals, the Finance Bill)।

(१) आयव्ययक अथवा वार्षिक वित्त विवरण की पुरस्थापना अथवा उपस्थापन (Introduction or Presentation of the Budget)—आयव्ययक अथवा बजट अधिवेशन (The Budget Session) सामान्यत फरवरी के मध्य में प्रारम्भ होता है, जबकि रेल मन्त्री रेलवे का वार्षिक विवरण पुरस्थापित करता है और उसके बाद वित्तमन्त्री लोक सभा मे वार्षिक वित्त विवरण विचारार्थ प्रस्तुत करता है। वार्षिक वित्त विवरण के साथ-साथ वित्त मन्त्री आयव्ययक सम्बन्धी भाषण (Budget Speech) भी करता है। ससद् के जीवन में यह महत्त्वपूर्ण घटना होती है क्योंकि वार्षिक वित्त विवरण से सरकार की आगामी वर्ष की वित्त नीति और अर्थ नीति पर प्रकाश पडता है। आयव्ययक अथवा वार्षिक वित्त विवरण एव वित्त मन्त्री के आयव्ययक सम्बन्धी भाषण (Financial Statement) की मुद्रित प्रतियां सभी सदस्यो के अवलोकनार्थ दी जाती है।

(२) ससद् के दोनो सदनों में पर्यालोचन अथवा विचार-विनिमय (The General Discussion in both Houses)—आयव्ययक अथवा वार्षिक वित्त विवरण की पुरस्थापना के उपरान्त वित्त मन्त्री के वार्षिक वित्त विवरण सम्बन्धी भाषण पर दोनो सदनो मे पर्यालोचन और विचार-विनिमय होता है। इस स्तर पर न तो विस्तार के साथ वादविवाद होता है, और न कटौती प्रस्ताव (Cut motions) उपस्थित किये जा सकते हैं। यह सामान्य पर्यालोचन (discussion) होता है, जो दोनो सदनो मे तीन या चार दिन तक चलता है, और व्यय की सभी मदो पर विचार-विनिमय होता है, इन मदो (items) में वे मदें भी शामिल होती हैं जो प्रभृत व्यय (charged expenditures) हैं और जिन पर ससद् निर्णय नही दे सकती। इस स्तर पर शासन की नीति पर वादविवाद होता है और प्रशासन के विभिन्न

---

[1] अनुच्छेद ११३।

विभागो के कार्यों की भी आलोचना हो सकती है; और इस अवसर पर सर्वसाधारण की आम शिकायतें भी शासन के कानो तक पहुँचाई जाती हैं।

(३) लोक सभा द्वारा मांगो पर मतदान (Voting of Demands by the Lok Sabha)—सामान्य पर्यालोचन और वादविवाद के पश्चात् राज्य सभा को वार्षिक वित्त विवरण सम्बन्धी भाषण से और कुछ करना धरना नहीं रहता। किन्तु ज्यो ही सामान्य पर्यालोचन (general discussion) समाप्त होता है, लोक सभा उन विभिन्न मांगो पर मतदान करना प्रारम्भ करती है जो भारत की सचित निधि पर प्रभृत व्यय नही हैं। केवल लोक सभा ही शासन की मांगो पर मतदान कर सकती है, राज्य सभा इस अधिकार से वचित है। प्रत्येक मांग के सम्बन्ध में लोक सभा को निम्न शक्तियां हैं (i) वह मांग को स्वीकृत कर सकती है, (ii) मांग को अस्वीकृत कर सकती है, अथवा (iii) मांग की राशि को घटा सकती है। किन्तु लोक सभा किसी मांग की राशि को बढा नही सकती, किसी अनुदान के लक्ष्य को नही वदल सकती और न किसी अनुदान के विनियोग पर कोई शर्तें लगा सकती है।

आगणनो के सम्बन्ध में वादविवादो पर कितना समय व्यय किया जाय, यह निर्णय सदन के नेता से परामर्श करके किया जाता है। विभिन्न मन्त्रालयो के पिछले वर्ष के क्रियाकलापो से सभी सदस्यो को अवगत कराया जाता है। जिस समय किसी मन्त्रालय की मांगो पर अनुदान का समय आता है, उस समय सम्बन्धित मन्त्रालय की पिछले वर्ष की कार्रवाइयो की परीक्षा होती है, और वादविवाद का लक्ष्य मुख्यत मन्त्रालय के पिछले वर्ष के क्रियाकलाप और उसकी प्रशासनिक नीति ही रहते हैं। किन्तु वास्तविक वादविवाद उस समय होता है, जबकि मांगो पर सशोधन उपस्थित किये जाते हैं।

मांगो पर मतदान निश्चित दिन समाप्त हो जाना आवश्यक है अन्यथा समापन (closure) का भय है और सभी बची हुई मांगो पर मतदान हो जाएगा और तदनुसार उनको समाप्त कर दिया जाएगा, चाहे उन पर वाद विवाद और विचार-विनिमय सम्यक् रीति से हो सका हो अथवा नही।

(४) विनियोग विधेयक (The Appropriation Bill)—अगला स्तर विनियोग विधेयक पर विचार-विनिमय करना है और उसे सविधि का स्वरूप प्रदान करना है। लोक सभा द्वारा सभी स्वीकृत मांगें और जितना भी व्यय देश की सचित निधि पर प्रभृत है, सभी को मिलाकर एक विधेयक का स्वरूप दे दिया जाता है जिसको वार्षिक विनियोग विधेयक कहते हैं। इस विधेयक के विभिन्न स्तरो को कितना-कितना समय दिया जाए, इसका निर्णय लोक सभा का स्पीकर ही करता है; और उक्त विधेयक का द्वितीय वाचन सामान्य होता है। जिस समय विधेयक पर विचार होना प्रारम्भ होता है, वाद-विवाद केवल उन्ही मदो पर होता है जिन पर आगणनो के वाद-विवाद में विचार नही हुआ हो। प्रस्तावित व्ययो को कम करने वाले सशोधन ही उपस्थित किए जा सकते हैं। सदन ने जिन अनुदानो को पहिले ही स्वीकृत कर लिया है, उन पर सशोधन प्रस्तुत नही किए जा सकते; न अनुदान

के लक्ष्य को बदला जा सकता है और न उस धन-राशि में परिवर्त्तन किया जा सकता है जिसकी अदायगी भारत की सचित निधि से होनी है।

जब विनियोग विधेयक अपने जीवन के सभी स्तरो को पार कर लेता है, तब उस पर अन्तिम मतदान होता है, और यदि लोक सभा उसे पास कर देती है, तो सदन का स्पीकर उसको धन विधेयक के रूप में प्रमाणीकृत करता है और तब वह राज्य सभा मे भेज दिया जाता है। राज्य सभा अपनी सिफारिशो सहित उक्त विधेयक को चौदह दिन के अन्दर लोक सभा को वापिस कर देती है। लोक सभा यदि चाहे तो राज्य सभा की मिफारिशो को स्वीकार करे, चाहे तो स्वीकार न करे। राष्ट्रपति की विनियोग विधेयक पर स्वीकृति केवल एक औपचारिक क्रिया है। राष्ट्रपति किसी धन विधेयक को पुनर्विचारार्थ नही लौटा सकता।

(५) **वित्तीय विधेयक** (The Finance Bill)—सरकार, आगामी वर्ष के लिए जिन वित्तीय प्रस्नावो को ससद् में प्रस्तुत करती है, उन्ही प्रस्तावो को लेकर वित्तीय विधेयक की रचना होती है और यह विधेयक भी ससद् मे उसी समय पुरस्थापित किया जाता है जिस समय कि वार्षिक वित्त विवरण या आयव्ययक। वित्तीय विधेयक के सम्बन्ध में भी वही कार्य-प्रणाली अपनायी जाती है जो अन्य धन विधेयको के सम्बन्ध में अपनायी जाती है। द्वितीय वाचन में वित्तीय विधेयक के ऊपर जो पर्यालोचन होता है, वह केवल सिद्धान्तो तक सीमित रहता है। केवल प्रवर समिति में विधेयक पर विस्तारपूर्वक विचार किया जाता है और तभी सशोधन उपस्थित किए जा सकते हैं। प्रतिवेदन स्तर के बाद प्रत्येक खण्ड और धारा पर अलग-अलग विचार किया जाता है और सशोधन केवल ऐसे प्रस्तावो के सम्बन्ध में प्रस्थापित किए जा सकते हैं जिनमें किसी कर में कमी करना या उसको समाप्त करना अभीष्ट हो। प्रावीजनल कलेक्शन ऑफ टैक्सेज ऐक्ट १९३१ (Provisional Collection of Taxes Act, 1931) के अनुसार वित्तीय प्रस्ताव, वार्षिक वित्त विवरण के पुरस्थापित करते ही प्रभावी हो जाते हैं। वित्तीय विधेयक का अप्रैल के अन्त तक पारित हो जाना अत्यावश्यक होता है।

Suggested Readings

Basu, D D	Commentary on the Constitution of India, pp 308-399
Champion	An Introduction to the Procedure of the House of Commons
,,	Parliament, A Survey, Chapters VI, XI, XIII
,,	Constituent Assembly Proceedings Vol VII, VIII and IX
Jennings, W I	Parliament, Chapters VI, X, XIII.
Lal, A B	The Indian Parliament, A Symposium
Laski, H J	Parliamentary Government in England, Chapter IV
Sharma, M P	The Government of the Indian Republic, Chapters VII, VIII
Srinivasan, N	Democratic Government in India, Chapters XVI, XVII
Taylor, E	The House of Commons at work

अध्याय ७

उच्चतम न्यायालय

(The Supreme Court)

सघीय न्यायपालिका की आवश्यकता (The Need for the Federal Judiciary)—"सघात्मक सविधान में सघीय न्यायपालिका अपरिहार्य है। यह एक ही साथ सविधान का निर्वचक भी है और सरक्षक भी और सघ के अवयवी एकक राज्यो के विवादो को निर्णय करने वाला न्यायाधिकरण भी है।" सघ की यह आवश्यक शर्त होती है कि सघ और अवयवी एकको के बीच ऐसा समझौता हो जाए जिसके अनुसार उनमें विधायी, वित्तीय और कार्यपालिका शक्तियो का बँटवारा हो जाए। सघीय सरकार और राज्य सरकारें दोनो ही अपने-अपने अधिकारों के लिए सविधान के प्रति ऋणी हैं और दोनो के अधिकार-क्षेत्रो पर सवैधानिक उपबन्धो की मर्यादाएँ लगी हुई हैं। जहाँ दोनो प्रकार की सरकारो के अधिकार-क्षेत्र टकराते हैं अथवा परिसीमित होते हैं, वही या तो सविधान के विभिन्न निर्वचन के कारण, अथवा केन्द्र और एकको के अधिकारो के कारण विवाद उठ खडे हो सकते हैं। इसलिए सघात्मक शासन-व्यवस्था मे यह आवश्यक है कि एक तटस्थ और निष्पक्ष निकाय हो जो सघ और सघ की व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के प्रभाव मे ऊपर हो, साथ ही एकको की सरकारों के प्रभाव-क्षेत्र से भी वाहर हो और इस प्रकार उक्त स्वतन्त्र निकाय आपस के विवादो को निपटा सके और सविधान की पवित्रता की रक्षा कर सके। हैमर बनाम डैगनहार्ट (Hammer *vs* Dagenhart) वाले मामले मे सयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय ने लिखा था . "सर्वोच्च न्यायालय का केवल यही महत्वपूर्ण कार्य है कि वह देखे कि सघीय सरकार तथा राज्य सरकारें अपने-अपने सवैधानिक अधिकार-क्षेत्र की मर्यादाओ के भीतर रहे ताकि एक सत्ता दूसरी के साथ मिलकर वे कार्य करती रहे जिनको सविधान ने इन दोनो सत्ताओ को सौंपा है।" और सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान ने सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार प्रदान किया है कि "वह उन सभी विवादो का समाधान करे जिनमें सयुक्त राज्य ग्रस्त हो और उन सब विवादो का भी निर्णय करे जो दो या अधिक राज्यो में हो।"[1]

जिस सघ की भारतीय सविधान ने रचना की है वह अवयवी एकक राज्यों के बीच किसी सधि अथवा करार का प्रतिफल नही है। फिर भी सघीय सरकार और अवयवी एकक राज्यो के बीच विधायी और प्रशासनिक अधिकारो का स्पष्ट विभाजन है। इसलिए सविधान ने उच्चतम न्यायालय को अधिकार दिया है कि वह भारत सरकार और राज्य सरकारो के बीच अथवा दो या दो से अधिक राज्यों की सरकारों

---

[1] अमरीकन सविधान का अनुच्छेद III, खण्ड २ (१)।

के बीच के विवादो में मौलिक अधिकार-क्षेत्र का उपभोग करे और विवादो का निर्णय करे।[1] एक अन्य महत्त्वपूर्ण कारण है जिस लिए भारत में स्वतन्त्र न्यायपालिका की नितान्त आवश्यकता है। सविधान ने सघ को कुछ ऐसी शक्तियाँ प्रदान की हैं जो सघात्मक शासन-व्यवस्था के मौलिक अधिकारो से मेल नही खाती और भारतीय शासन-व्यवस्था सघात्मक होने की अपेक्षा एकात्मक ही अधिक है। श्री दुर्गादास वसु ने ठीक ही कहा है कि "उच्चतम न्यायालय के सवैधानिक निर्वचनो के द्वारा ही केन्द्राभिग (centripetal) तत्त्वो और केन्द्रापग (centrifugal) तत्त्वो को वश में रखा जा सकेगा और तभी सविधान द्वारा शक्तियो के वितरण की सघीय सरकार के अतिक्रमण से रक्षा की जा सकेगी।"[2]

उच्चतम न्यायालय की इस सम्बन्ध में उपयोगिता का वर्णन करते हुए श्री मल्लादि कृष्णस्वामी एय्यर ने कहा था "भारतीय सविधान का विकास बहुत कुछ उच्चतम न्यायालय के निर्णयो पर और उस दिशा पर निर्भर करेगा जो वह सविधान को देगा। समय-समय पर जब सविधान का निर्वचन किया जाएगा, उच्चतम न्यायालय को समाज के परस्पर विरोधी वर्गों के हितो को ध्यान में रखना पडेगा। यह ठीक है कि सविधान का निर्वचन ही सर्वोच्च अथवा उच्चतम न्यायालय का मुख्य कर्त्तव्य है परन्तु फिर भी अपने कर्त्तव्यो के निर्वहन मे समय और समाज की उन सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियो की उपेक्षा नही की जा सकती जिन्होने सविधान की पृष्ठभूमि तैयार की है। उच्चतम न्यायालय को परस्पर विरोधी शक्तियो में सन्तुलन रखना ही होगा। जिस समय सविधान का निर्वचन होगा, कभी तो ऐसा प्रतीत होगा मानो सघ को एकको की अपेक्षा बल दिया गया है और कभी ऐसा भी प्रतीत होगा कि प्रान्तो और राज्यो को राष्ट्रवाद की अपेक्षा अधिक बढावा दिया जा रहा है।[3]

उच्चतम न्यायालय सविधान का सरक्षक भी है। भारत के सविधान ने नागरिकों[4] के कुछ मौलिक अधिकारो की घोषणा की है और उन अधिकारो का आश्वासन दिया है और यदि उक्त मौलिक अधिकारो का अतिक्रमण हो तो उच्चतम न्यायालय के द्वारा उक्त अधिकारो की रक्षा कराई जा सकती है।[5] तदनुसार बारम्बार

---

[1] अनुच्छेद १३१। किन्तु भारतीय उच्चतम न्यायालय को मौलिक अधिकार-क्षेत्र उसी प्रकार प्राप्त नहीं हैं, जिस प्रकार कि अमरीका और ऑस्ट्रेलिया के सविधानों ने अपने-अपने सर्वोच्च न्यायालयों को प्रदान किए हैं, जिनके आधार पर वे विभिन्न राज्यों के निवासियों के आपसी झगड़ों को अथवा एक राज्य के निवासी का दूसरे राज्य के निवासी के साथ के झगड़े को निबटा सकें। भारतीय सविधान के अनुसार ऐसे विवाद उच्चतम न्यायालय के समक्ष केवल अपील के रूप में ही आते हैं, यदि सवैधानिक उपबन्धों के अनुसार वे विवाद उच्चतम न्यायालय में जा सकते हैं।

[2] Basu Commentary on the Constitution of India, p 400

[3] As quoted in D D Basu's Commentary on the Constitution of India, p 400

[4] Chapter III

[5] अनुच्छेद ३२।

उच्चतम न्यायालय का दरवाजा खटखटाया जाता है जब कभी कार्यपालिका द्वारा कोई आदेश या कोई ऐसी विधि पारित की जाती है जो मौलिक अधिकारो का अतिक्रमण करती हो, और ऐसी अवस्थाओ में उच्चतम न्यायालय से सम्बन्धित आदेश या विधि की न्यायसङ्गतता पर निर्णय की याचना की जाती है। भारत के प्रथम महान्यायवादी (Attorney-General) श्री एम० सी० सीतलवाड ने २८ जनवरी, १९५० को उच्चतम न्यायालय के प्रतिष्ठापन के अवसर पर उच्चतम न्यायालय के गौरव पर बोलते हुए कहा था "सविधान ने विस्तार के साथ मौलिक अधिकारो को गिनाया है और कुछ ऐसे भी उपबन्ध सविधान मे हैं जिन्होने उक्त मौलिक अधिकारो को मर्यादित किया है इसलिए उच्चतम न्यायालय को अत्यन्त बुद्धिमानी और नीर-क्षीर विवेक के साथ उक्त उपबन्धो का निर्वचन करना होगा। न्यायालयों का दायित्व होगा कि वे नागरिको को गारन्टी किए गए अधिकारो की रक्षा करेंगे साथ ही नागरिको के मौलिक अधिकारो की रक्षा करते हुए समाज के अधिकारो और राज्य की सुरक्षा का भी खयाल रखेंगे।"

उच्चतम न्यायालय की स्थापना और सविधान (Establishment of the Supreme Court and the Constitution)—सविधान ने भारत के उच्चतम न्यायालय की स्थापना का आदेश किया है जिसमें एक प्रमुख न्यायाधीश अथवा मुख्य न्यायाधिपति (Chief Justice of India) होगा, और जब तक ससद् विधि द्वारा और अधिक सख्या निर्धारण नही करती, तब तक अन्य सात से अनधिक न्यायाधीश होगे।[1] मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति और अन्य न्यायाधीशो की नियुक्ति भी राष्ट्रपति के द्वारा की जाती है। किन्तु मुख्य न्यायाधिपति की नियुक्ति करते समय, राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयो के ऐसे न्यायाधीशो से परामर्श करता है जिनसे परामर्श करना वह आवश्यक समझे, और जब कभी राष्ट्रपति उच्च न्यायालयो के छोटे न्यायाधीशो की नियुक्ति करता है, उस समय वह अवश्य ही भारत के मुख्य न्यायाधिपति का परामर्श लेता है। सामान्यत राष्ट्रपति इस प्रकार की सभी नियुक्तियाँ परामर्श पर ही करता है।

इस समय उच्चतम न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति और सात अन्य छोटे न्यायाधीश हैं। यद्यपि सविधान ने उपबन्धित किया है कि ससद् विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय के लिए सात से अधिक न्यायाधीशो की व्यवस्था भी कर सकती है किन्तु सविधान ने ऐसा उपबन्ध नही किया है कि उच्चतम न्यायालय मे न्यायाधीशो की कम से कम सख्या क्या हो? किन्तु जब सविधान का आदेश है कि ऐसे किसी मुकदमे में जिसमें विधि अन्तर्ग्रस्त हो जैसे सविधान का निर्वचन[2] अथवा अनुच्छेद १४३ के अन्तर्गत मामलो के निर्णय में कम से कम पाँच न्यायाधीश निर्णय करेंगे, तो यह निष्कर्ष निकलता है कि उच्चतम न्यायालय किसी सवैधानिक मुकदमे के सम्बन्ध में अथवा अनुच्छेद १४३ के अन्तर्गत परामर्शदायक कोई कृत्य उस समय तक नही कर

---

[1] अनुच्छेद १२४।

[2] अनुच्छेद १४५।

सकता जब तक कि उसका बेंच पूरा न हो और बेंच मे कम से कम पांच न्यायाधीशो की उपस्थिति आवश्यक ठहराई गई है। इसके अतिरिक्त यह भी उपबन्धित किया गया है कि किसी साधारण अपील को सुनते समय यदि कोई न्यायिक बेंच ऐसा अनुभव करे कि विवाद मे सविधान-विधि अन्तर्ग्रस्त है तो उक्त न्यायिक बेंच उस प्रश्न को किसी ऐसी सवैधानिक बेंच के निर्णयार्थ भेज सकती है जिसमें कम से कम पांच न्यायाधीश हो।

यदि किसी समय न्यायाधीशो की गणपूर्त्ति न[1] हो जो उच्चतम न्यायालय के सत्र को चालू रखने के लिए पर्याप्त मानी जाती हो तो राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से तथा सम्बद्ध उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श करके भारत का मुख्य न्यायाधिपति किसी उच्च न्यायालय के किसी ऐसे न्यायाधीश से, जो उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त होने के लिए यथारीति अर्ह है, तथा जिसे भारत का मुख्य न्यायाधिपति नामोद्दिष्ट करे न्यायालय की बैठको में इतनी कालावधि के लिए, जितनी आवश्यक हो, तदर्थ-न्यायाधीश के रूप में उपस्थित रहने के लिए लेख द्वारा प्रार्थना कर सकेगा। इस प्रकार नामोद्दिष्ट न्यायाधीश का कर्त्तव्य होगा कि वह ऐसी कालावधि में उच्च न्यायालय का न्यायाधीश भी बना रहेगा और उच्चतम न्यायालय की बैठको में वह अपने पद के अतिरिक्त कर्त्तव्यो का निर्वहन करेगा, तथा जब वह इस प्रकार उच्चतम न्यायालय में उपस्थित होगा, तब उसको उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के, सब क्षेत्राधिकार, शक्तियाँ और विशेषाधिकार प्राप्त होगे।[2] भारत में एतदर्थ (ad hoc) न्यायाधीशो की नियुक्ति की प्रथा कनाडा की प्रथा का अनुसरण है जहाँ इसी प्रकार एतदर्थ न्यायाधीश नियुक्ति किए जाते हैं।[3] भारत के सविधान ने यह भी उपबन्धित किया है कि अवकाश-प्राप्त

---

[1] जहाँ सविधान ने उपबन्धित किया है कि ऐसे मामलों को तय करने के लिए जिनमें सवैधानिक उपबन्ध अन्तर्ग्रस्त हैं अथवा अनुच्छेद १४३ के अन्तर्गत परामर्शदायक कृत्यों के निर्वहन में उच्चतम न्यायालय के कम से कम पाँच न्यायाधीशों की बेंच बैठे, स्वय उच्चतम न्यायालय के नियमों में उपबन्धित है कि "इन नियमों के अन्य उपबन्धों के रहते हुए प्रत्येक अभियोग या अपील या विषय पर निर्णय देने के लिए एक ऐसा बेंच आवश्यक होगा जिसमें कम से कम तीन न्यायाधीश होंगे जिनकी नियुक्ति प्रमुख न्यायाधिपति करेगा।"

[2] अनुच्छेद १२७।

[3] कनाडा के सविधान का अनुच्छेद ३० उपबन्धित करता है "एतदर्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति—यदि किसी समय सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की गणपूर्त्ति इतनी न हो कि जो न्यायालय की बैठक हो सके, जिसका कारण एक या अधिक पद-रिक्तता हो सकता है या किसी न्यायाधीश की बीमारी के कारण छुट्टी हो या किसी अन्य कारण छुट्टी हो या सपरिषद् आदेश पर कोई न्यायाधीश किसी अन्य कार्य पर लगा दिया गया हो या कोई न्यायाधीश या कई न्यायाधीश अनर्ह घोषित कर दिए गए हों तो मुख्य न्यायाधिपति या उसकी अनुपस्थिति में ज्येष्ठ न्यायाधीश लिखित प्रार्थना पर किसी एक्सचेकर न्यायालय (Exchequer Court) के न्यायाधीश को अथवा यदि उक्त न्यायालय के न्यायाधीश ओटावा (Ottawa) में उपस्थित न हों अथवा अन्य किसी कारणवश सर्वोच्च न्यायालय की सेवा करने के अयोग्य हों, तो किसी प्रान्तीय उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को लिखित प्रार्थना पर बुलाया जा सकता है।"

न्यायाधीश भी उच्चतम न्यायालय में सेवा करने के लिए बुलाए जा सकते हैं। भारत का मुख्य न्यायाधिपति, किसी समय, राष्ट्रपति की पूर्व-सम्मति से उच्चतम न्यायालय या फेडरल न्यायालय के किसी अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश से प्रार्थना कर सकता है कि वह उच्चतम न्यायालय मे न्यायाधीश के रूप मे बैठे और कार्य करे।[1] किन्तु इस सम्बन्ध मे यह जान लेना उपादेय होगा कि जहाँ उच्चतम न्यायालय मे स्थायी न्यायाधीशो की गणपूर्ति का न होना आवश्यक है और तभी एतदर्थ न्यायाधीश (ad hoc judges) नियुक्त किए जा सकते हैं, उच्चतम न्यायालयो के अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश या किसी फेडरल न्यायालय के अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश की नियुक्ति के सम्बन्ध मे कोई ऐसी शर्त नही है। राष्ट्रपति की पूर्व-सम्मति से, भारत का मुख्य न्यायाधिपति किसी भी समय किसी अवकाश-प्राप्त न्यायाधीश को नियुक्त कर सकता है।

उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश तब तक अपने पद पर बना रहता है जब तक कि वह पैंसठ वर्ष[2] की आयु प्राप्त न कर ले। न्यायाधीश अपने पद से त्यागपत्र दे सकता है और न्यायाधीश के सिद्ध कदाचार अथवा उसकी असमर्थता के लिए हटाये जाने के हेतु ससद् के प्रत्येक सदन की समस्त सदस्य सख्या के बहुमत द्वारा, तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो में से कम से कम दो-तिहाई के बहुमत द्वारा समर्थित समावेदन के राष्ट्रपति के समक्ष रखे जाने पर न्यायाधीश अपने पद से हटाया भी जा सकता है।[3] उच्चतम न्यायाधीश को अपने पद से वियुक्त करने के हेतु समावेदन के रखे जाने की तथा उसके कदाचार या असमर्थता के अनुसधान तथा सिद्ध करने की, प्रक्रिया का ससद् विधि द्वारा विनियमन कर सकती है।[4]

उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश पद पर नियुक्त होने के लिए आवश्यक अर्हताएँ (Qualifications for Appointment of a Judge)—भारतीय उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश पद के प्रत्याशी का भारतीय नागरिक होना आवश्यक है, साथ ही वह एक या अधिक उच्च न्यायालयो का न्यायाधीश कम से कम पाँच वर्ष तक लगातार रह चुका हो, अथवा वह एक या एक से अधिक उच्च न्यायालयो का लगातार दस वर्षों तक अधिवक्ता (advocate) रह चुका हो, अथवा राष्ट्रपति के विचार से वह पारगत विधिवेत्ता अथवा कानून-प्रवीण (jurist) हो। सविधान के प्रारूप मे ऐसा उपबन्ध नही था कि वकालत न करने वाले विधिवेत्ता लोग भी उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश पद पर नियुक्त हो सकते हैं। किन्तु जिस समय सविधान के प्रारूप पर विचार हो रहा था, उस समय प्रसिद्ध कानून-प्रवीण या विधिवेत्ताओ को भी उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश होने के लिए अर्ह मान

---

[1] अनुच्छेद १२८।

[2] अनुच्छेद १२४ (२)।

[3] सयुक्त राज्य अमरीका (U S A) में सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश, सदाचार-पर्यन्त अपने पदों पर बने रहते हैं, और वे अन्य सघीय अधिकारियों की भाँति महाभियोग के द्वारा ही हटाये जा सकते हैं।

[4] अनुच्छेद १२४ (५)।

लिया गया और इस प्रकार वकालत न करने वाले और प्रसिद्ध विधिवेत्ताओ और कानून-प्रवीणो की सेवाओ से उच्चतम न्यायालय को लाभान्वित कराया गया। उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश के लिए इस अर्हता को स्वीकार करने में सविधान सभा को सयुक्त राज्य अमरीका की प्रथा से बल मिला जहाँ अनेक वार वकालत न करने वाले कानून-प्रवीण लोगो को उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश पदो पर नियुक्त किया गया है। इस सम्बन्ध मे हाल ही में श्री फ़ैलिक्स फ़्रैंकफर्टर (Felix Frankfurter), जो हारवर्ड विश्वविद्यालय में विधि (law) के प्रोफेसर थे, उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश नियुक्त किए गए हैं। श्री अनन्तशयनम आयगर ने इस बात की सिफारिश की थी कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो में प्रमुख एव प्रसिद्ध कानून-प्रवीणो और विधि-वेत्ताओ को भी स्थान मिलना चाहिए। उन्होने सविधान सभा में कहा था "श्रीमन्! मैं माननीय श्री कामथ की उक्ति से सहमत हूँ। उन्होने कहा है कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो का चुनाव करते समय केवल ऐसे न्यायाधीशो पर ही विचार न किया जाय जो दस वर्षों से न्यायाधीश पदो पर कार्य कर रहे हो। श्री कामथ चाहते हैं कि राष्ट्रपति को स्वतन्त्रता रहनी चाहिए कि यदि वे उचित समझें और न्याय के प्रशासन में हितकर समझें तो उक्त पद पर कोई प्रसिद्ध कानून-प्रवीण अथवा विधिवेत्ता भी ले लिया जाय। उन्होने आगे कहा कि सर्वोच्च न्यायालय के सम्मुख बहुत से ऐसे मामले भी आते हैं जिनमें सवैधानिक महत्त्व के विवादो पर निर्णय करने पडते हैं। वकालत करने वाले सामान्य वकील को सवैधानिक समस्याओ से प्राय कभी सामना नही होता। प्राय लोग एकदम वकालत पास करते ही वकील बन जाते हैं। किन्तु इसके विपरीत कानून-प्रवीण या पारगत विधिवेत्ता किसी विश्वविद्यालय के विधि विभाग का प्रोफेसर हो सकता है अथवा किसी कानूनी कालिज का सदस्य या प्राध्यापक हो सकता है। हमारे देश में अनेको प्रसिद्ध न्यायविद और कानून-प्रवीण लोग हैं, अनेको प्रसिद्ध लेखक हैं, और अनेको प्रसिद्ध पारगत विधिवेत्ता हैं। तो फिर क्यो न सविधान में ऐसा उपबन्ध कर दिया जाय जिससे राष्ट्रपति यदि आवश्यक समझें तो किसी पारगत विधिवेत्ता (eminent jurist) को भी उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त कर सकें। वास्तव में, मेरी तो यह राय है कि उच्चतम न्यायालय के सात न्यायाधीशो में कम से कम एक न्यायाधीश कोई प्रसिद्ध पारगत विधिवेत्ता अवश्य हो।"[1]

उच्चतम न्यायालय के प्रत्येक न्यायाधीश को सेवा-भार ग्रहण करने के पूर्व राष्ट्रपति या राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किसी अन्य व्यक्ति के समक्ष प्रतिज्ञा करनी पडती है और शपथ लेनी पडती है कि "मै विधि द्वारा स्थापित भारत के सविधान के प्रति श्रद्धा और निष्ठा रखूँगा, तथा मैं सम्यक् प्रकार से और श्रद्धापूर्वक तथा अपनी पूरी योग्यता, ज्ञान और विवेक से अपने पद के कर्त्तव्यो को भय या पक्षपात, अनुराग या द्वेष के बिना पालन करूँगा, तथा मै सविधान और विधियो की मर्यादा बनाये रखूँगा।"[2]

---

[1] Constituent Assembly Proceedings, Vol VIII, p. 254

[2] तृतीय अनुसूची, चतुर्थ प्रतिज्ञा।

न्यायाधीशों के वेतन आदि (Salaries, etc of the Judges)—उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो को वेतन उसी क्रम से मिलेगा जिस प्रकार कि भारतीय सविधान की द्वितीय अनुसूची मे दिया गया है। मुख्य न्यायाधिपति को ५,०००) मासिक तथा अन्य न्यायाधीशो को ४,०००) मासिक। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो के वेतन सविधान ने निश्चित कर दिये हैं और वे ससद् द्वारा निश्चित किये हुए नही हैं। किन्तु उस कालावधि में, जिसमें कि आपात उद्घोषणा प्रवर्तन में है, राष्ट्रपति को अधिकार होगा कि उक्त न्यायाधीशो के वेतनो और भत्तो में कमी कर सके।[1]

इसके अतिरिक्त न्यायाधीशो को विना किराया दिये निवास-स्थान का हक है, और उन्हें यात्रा-सम्बन्धी सुविधाएँ भी हैं जिस समय वे अपने कर्त्तव्यो के निर्वहन के सम्बन्ध मे यात्रा करते हैं, कुछ सवेतन छुट्टियो का भी हक है और अवकाश ग्रहण करने पर पेंशन का भी अधिकार है। न्यायाधीशो के वेतन, भत्ते, पेंशन आदि भारत की सचित निधि पर भारित व्यय होगा।[2] इसलिए ये व्यय ससद् की स्वीकृति के विषय नही हैं। प्रत्येक न्यायाधीश को ऐसे विशेषाधिकारो और भत्तो का तथा अनुपस्थिति छुट्टी और पेंशन के बारे में ऐसे अधिकारो का जिन्हे ससद् समय-समय पर निर्धारित करे, हक होगा, किन्तु उक्त विशेषाधिकारो, भत्तो, अनुपस्थिति छुट्टी या पेंशन विषयक किसी न्यायाधीश के अधिकारो में उसकी नियुक्ति के पश्चात् उसको अलाभकारी कोई परिवर्त्तन नही किया जा सकता।[3]

इस प्रकार सविधान ने उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीशो को उपलब्धियो, सेवा शर्तों और सेवा सुरक्षा का पूर्ण आश्वासन दिया है। इन उपबन्धो का यह प्रयोजन है कि न्यायपालिका स्वतन्त्र हो, निष्पक्ष हो, अभ्रष्ट हो और न्यायाधीशो में इतना साहस हो कि वे विधि-अनुकूल उचित न्याय करें। एलेक्जेंडर हैमिल्टन ने कहा था कि "हमको पहिले तो न्यायाधीशो के पदो की स्थिरता का आश्वासन देना होगा और इसके बाद यह भी अतीव आवश्यक है कि न्यायाधीशो को भविष्य मे भरण-पोषण का आश्वासन देना चाहिए। जब तक ये दोनो बातें न होगी, न्यायाधीश कभी स्वतन्त्र न होगे। सामान्यत. मनुष्य की प्रकृति यही है कि अभावो के कारण मनुष्य अपनी आत्मा भी बेच देता है।[4]

उच्चतम न्यायालय का स्थान (Seat of the Supreme Court)—उच्चतम न्यायालय का स्थान दिल्ली में है। किन्तु राष्ट्रपति के अनुमोदन से भारत का मुख्य न्यायाधिपति उच्चतम न्यायालय की बैठकें अन्य स्थानो पर भी कर सकता है।[5]

उच्चतम न्यायालय, अभिलेख न्यायालय होगा (Supreme Court to be a Court of Record)—उच्चतम न्यायालय अभिलेख न्यायालय है तथा उसे अपने

---

[1] अनुच्छेद ३६० (४) (ख)।

[2] अनुच्छेद ११२ (३) (घ) (i)

[3] अनुच्छेद १२५ (२)।

[4] Federalist no 79

[5] अनुच्छेद १३०।

अवमान के लिए भी दण्ड देने की शक्ति है।[1] अभिलेख न्यायालय ऐसा न्यायालय होता है जिसके सभी कृत्य और सभी कार्रवाइयाँ सदैव के लिए यादगार और प्रमाण रूप मे सुरक्षित रखी जाती हैं। इन अभिलेखो का इतना सर्वोच्च महत्त्व है कि इन की पवित्रता के ऊपर उँगली नही उठाई जा सकती और न कोई न्यायालय इन अभिलेखो के विरुद्ध जा सकता है, यद्यपि स्वय अभिलेख न्यायालय अपने अभिलेखो की लिपि सम्बन्धी भूलो को सुधार सकता है। अभिलेख न्यायालय को अधिकार होता है कि यदि कोई व्यक्ति उसके अधिकार अथवा उसकी सत्ता का अवमान करे तो वह अपराधी पर जुर्माना या जेल की सज़ा तक दे सकता है।

सविधान के प्रारूप में उच्चतम न्यायालय की स्थिति विषयक कोई अनुच्छेद नही था। इसके बाद डा० अम्बेदकर के कहने पर अनुच्छेद १२९ बढाया गया था। उक्त सशोधन प्रस्तुत करते हुए डा० अम्बेदकर ने कहा था "श्रीमन्! नम्बर १०८ का नया अनुच्छेद आवश्यक है क्योंकि सविधान के प्रारूप में हमने ऐसा कोई उपबन्ध नही रखा है जो उच्चतम न्यायालय की स्थिति के विषय में कुछ प्रकाश डाले। यदि सदन अनुच्छेद १९२ पर दृष्टिपात करेगा, तो वे बिल्कुल इसी प्रकार का एक अनुच्छेद पावेंगे जिसका सम्बन्ध भारत के उच्च न्यायालयो से है। इसलिए यह भी आवश्यक प्रतीत होता है कि ऐसा ही उपबन्ध सविधान में जोड दिया जावे जो उच्चतम न्यायालय की स्थिति की परिभाषा करे। मै यह बताने का प्रयत्न करके सदन का समय बर्बाद नही करना चाहता कि अभिलेख न्यायालय के क्या अर्थ हैं। सक्षेप में इतना कहना पर्याप्त होगा कि अभिलेख न्यायालय ऐसा न्यायालय होता है जिसके अभिलेख प्रमाण माने जाते हैं और उनको प्रमाण मानने से कोई न्यायालय इनकार नही कर सकता। अभिलेख न्यायालय के यही अर्थ हैं। इसके अतिरिक्त अनुच्छेद १०८ का द्वितीय भाग आदेश करता है कि अभिलेख न्यायालय को अधिकार होगा कि वह किसी ऐसे व्यक्ति को दण्ड दे सकेगा जो उक्त न्यायालय का अवमान करेगा। सत्य यह है कि जहाँ आप विधि द्वारा किसी न्यायालय को अभिलेख न्यायालय बना देते हैं, तो वह स्वयमेव यह अधिकार प्राप्त कर लेता है कि अपनी बेइज्ज़ती करने वाले को सज़ा दे सके। किन्तु हमने यह सोचा था कि चूँकि इगलैंड में यह शक्ति सामान्य विधि (Common Law) से प्राप्त होती है, और चूँकि हमारे देश में सामान्य विधि को मान्यता नही दी गई है, इसलिए उचित यही समझा गया है कि सारी स्थिति को सविधि (Statute) में ही स्पष्ट कर दिया जाये।"[2]

अभिलेख न्यायालय की दो मुख्य विशेषताएँ निम्न हैं (१) अभिलेख न्यायालय की कार्रवाइयाँ सुरक्षित करके अभिलेखो के रूप में रखी जाती हैं और जिन प्रश्नो पर उक्त अभिलेख मत व्यक्त करते हैं, वे अन्तिम प्रमाण हैं, और (२) अभिलेख न्यायालय को अधिकार है कि यदि कोई उसकी अवज्ञा या अवमान करेगा तो वह उसे दण्ड दे सकता है। विनायकराव बनाम मोरेश्वर घोष वाले विवाद में

---

[1] अनुच्छेद १२९।

[2] Constituent Assembly Proceedings, Vol VIII, p 352

न्यायमूर्त्ति वोस महोदय ने कहा था : "अभिलेख न्यायालय का यही तो सार है। अभिलेख न्यायालय के सभी निर्णय सुरक्षित करके रखे जाते हैं; न कि केवल वही निर्णय जिनको पसन्द किया जाता है या जिन्हे विशेष रूप से स्वीकृत किया गया हो। ऐसा क्यों ? कारण यह है कि अभिलेख न्यायालय के निर्णय पूर्वभावियो के रूप में प्रयुक्त होते हैं और कभी भी कोई न्यायालय उन्हे माँगकर पढ सकता है और आवश्यकतानुसार उन निर्णयो के अनुसार निर्णय दे सकता है।"

उच्चतम न्यायालय के कार्य

(Functions of the Supreme Court)

उच्चतम न्यायालय के कार्य (Functions of the Supreme Court)—उच्चतम न्यायालय के कार्यों का पता उसके अधिकार-क्षेत्र से चलता है। १९३७ में सघीय न्यायालय की प्रस्थापना करते समय सर मॉरिस ग्वायर ने कहा था : "पुरानी कहावत तो यह है कि अच्छे पच का काम यह है कि वह अपने अधिकार-क्षेत्र को वढावे, किन्तु यह तो भविष्य में देखा जायगा, इस समय तो मुझे न्यायालयों के आधुनिक कर्त्तव्यो और कार्यों पर प्रकाश डालना चाहिए। और इस समय इन्हीं कार्यों और कर्त्तव्यो का महत्त्व भी है। न्यायालयो का मुख्य कर्त्तव्य यह होना चाहिए कि वे शासन से तथा राजनीतिक दलो के प्रभाव से स्वतन्त्र रहे और उनके ऊपर नीतियो का प्रभाव न पडने पावे। और इस प्रकार न्यायाधीश सविधान का सही-सही निर्वचन करे और ऐसे विवादो का उचित, न्याय और शान्तिपूर्ण हल खोजें जिनके निष्पक्ष और स्वतन्त्र हल न निकलने की अवस्था में खून-खरावी और हिंसा का भय निहित हो। हम सदैव यही प्रयत्न करेंगे और भारतीय सविधान को सदैव एक ऐसे जीवित प्राणी के रूप में देखेंगे जिसमे जीवन है, और जिसमे विकास और उन्नति की अपार सम्भावनाएँ हैं, चाहे मौजूदा सविधान हो अथवा भविष्य में निर्मित होने वाला सविधान हो। और मैं यह भी वताना चाहता हूँ कि हम जिस प्रकार भी सविधान का भविष्य में निर्वचन करें, हम सदैव सवैधानिक अभिसमयो और प्रथाओ का विकास अवरुद्ध नही करेंगे, चाहे विधि ने ऐसी प्रथाओ और ऐसे अभिसमयो के लिए कोई आज्ञा नही दी है, फिर भी यदि अभिसमयो को अवसर दिया गया तो भविष्य के राजनीतिज्ञ इन सवैधानिक अभिसमयो में फलदायक और प्रभावी राजनीतिक अकुर प्रस्फुटित पावेंगे।"

मुझे विश्वास है कि सघीय न्यायालय विधि का निर्वचन करेगा और इसमें वह केवल औपचारिक अर्थों में विधि को स्वीकार नही करेगा। किन्तु आप मुझे गलत न समझें। यह न्यायालय अवसर देगा कि विभिन्न राजनीतिक दल और धाराएँ केवल जो सविधान को जीवन-दान दे सकती हैं, विधि की मर्यादाओ के भीतर अपने कार्यकलाप जारी रखें किन्तु यह न्यायालय विधि के निर्वचन करते समय न तो विधि को वदल सकता है और न उसमें सशोधन कर सकता है। विधि को सशोधित करना या वदल देना, यह दूसरी सत्ता का कार्य है। फिर भी, मुझे कोई सन्देह नही है कि वर्णित मर्यादाओ के भीतर सघीय न्यायालय, भारत के विकास में पूर्ण सहयोग देगा

और भारत को महान् और अनुशासनयुक्त राष्ट्र के रूप मे परिवर्तित करेगा, तभी भारत पूर्व और पश्चिम मे कडी का काम देगा किन्तु फिर भी भारत की शासन-व्यवस्था और भारत की सस्कृति अपनी विशिष्ट सस्कृति होगी।

सर मॉरिस ग्वायर का उक्त भाषण एक लम्बा वक्तव्य है, फिर भी वह सक्षेप मे किसी देश के सर्वोच्च न्यायालय के कार्यों पर प्रकाश डालता है कि किस प्रकार वह सम्बन्धित देश के भाग्य का निर्माण कर सकता है। भारतीय सविधान ने उच्चतम न्यायालय को प्रारम्भिक एव अपीलीय दोनो प्रकार का अधिकार-क्षेत्र प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय को परामर्श देने का भी अधिकार-क्षेत्र प्राप्त है। उच्चतम न्यायालय के प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र में मुख्यत ऐसे विवाद आते हैं जिनमे सघ और राज्यो के बीच के विवादो में सविधान का निर्वचन आवश्यक होता है, अथवा जिनमे स्वय राज्यो के बीच के विवादो मे सविधान का निर्वचन आवश्यक हो। प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र मे आदेश लेख (writs) भी दिए जा सकते हैं यदि मौलिक अधिकारो का प्रवर्तन आवश्यक हो। इन दोनो प्रकार के विवादो के अतिरिक्त और किसी प्रकार के विवाद में उच्चतम न्यायालय को मौलिक अधिकार-क्षेत्र प्राप्त नही है किन्तु उच्चतम न्यायालय का अपीलीय अथवा पुनरावेदन मूलक अधिकार-क्षेत्र उन सभी अपीलो पर है जो राज्यो के उच्च न्यायालयो के निर्णयो के विरुद्ध आती हैं अथवा अन्य विशिष्ट न्यायाधिकरणो (tribunals) से आती हैं।

उच्चतम न्यायालय का प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र

(Original Jurisdiction of the Supreme Court)

(१) **विवादों के सम्बन्ध में अधिकार-क्षेत्र** (Jurisdiction relating to Disputes)—जैसा कि पहिले भी कई बार बताया जा चुका है, सघात्मक शासन व्यवस्था में, शक्तियां केन्द्रीय सरकार और राज्यो की सरकारो के बीच वितरित और परिसीमित कर दी जाती हैं, इसलिए स्वतन्त्र न्यायपालिका की नितान्त आवश्यकता होती है जो सविधान का न्याय्य निर्वचन करके सघ और अवयवी एकको के उचित अधिकारो की व्याख्या करे। इसलिए भारतीय सविधान ने उच्चतम न्यायालय को निम्न प्रकार के विवादो पर अपवर्जी प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र प्रदान किया है —

(क) भारत सरकार तथा एक या अधिक राज्यो के बीच के विवाद, अथवा

(ख) एक ओर भारत सरकार और कोई राज्य या राज्यो तथा दूसरी ओर एक या अधिक राज्यो के बीच के विवाद, अथवा

(ग) दो या अधिक राज्यो के बीच के किसी विवाद में, यदि और जहाँ तक उस विवाद में ऐसा कोई प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है (चाहे तो विधि का चाहे तथ्य का) जिस पर किसी वैध अधिकार का अस्तित्व या विस्तार निर्भर है।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि चाहे तो भारत सरकार और राज्यो के बीच कोई विवाद हो, अथवा राज्यो के आपस में विवाद हो, उस विवाद का आधार कोई न्याय योग्य अधिकार (justiceable right) ही होगा। किन्तु यदि विवादग्रस्त पक्षो में से कोई पक्ष

---

[1] अनुच्छेद १३१।

ऐसा दावा करता है जो विधि पर आधारित नहीं है अपितु वैधिक विचारो अथवा वैधिक मान्यताओ पर आधारित है, तो ऐसे विवादो में उच्चतम न्यायालय को प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र (original jurisdiction) प्राप्त नही होगा। इसलिए उच्चतम न्यायालय मे उसके प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र से लाभ उठाने के लिए दो शर्तें आवश्यक हैं . (१) विवादग्रस्त पक्ष, (२) विवादग्रस्त प्रश्न की प्रकृति। यदि ये दोनो शर्तें पूरी नही होती तो कोई दावा उच्चतम न्यायालय के समक्ष विचारार्थ नही लाया जा सकता।

जहाँ अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय[1] को ऐसे विवादो पर भी प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र है जिनमें विदेशी राजदूत (ambassadors), या सार्वजनिक अधिकारी या मन्त्री (public ministers) या सन्धियाँ (treaties) अन्तर्ग्रस्त हैं, भारतीय उच्चतम न्यायालय को ऐसे विवादो पर प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र प्रदान नही किया गया है।[2] भारतीय उच्चतम न्यायालय ऐसे दावे (suits) भी स्वीकार नही कर सकता जिनमें नागरिक एक पक्ष में हो। यदि नागरिक, सघ या किसी अवयवी एकक के विरुद्ध दावा करना चाहें तो वे किसी सामान्य न्यायालय मे जा सकते हैं किन्तु ऐसे विवाद उच्चतम न्यायालय के समक्ष केवल अपील के रूप में आएँगे, बशर्ते कि अन्य शर्तों के अनुसार उक्त विवाद की अपील उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है। सविधान उपवन्धित करता है कि उच्चतम न्यायालय को किसी अन्तर्राज्यिक नदी (inter-state river) या नदी दून (river valleys) के या में जलो के प्रयोग, वितरण आदि से सम्वन्धित ऐसे विवाद पर भी प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र नही होगा[3] जिसे विशेष सविविक्र न्यायाधिकरण को सौंप दिया गया हो, तथा ऐसे विवादो पर भी प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र नही होगा जो वित्त आयोग (Finance Commission) के अधिकार-क्षेत्र मे आते हैं,[4] तथा सघ और राज्यो के बीच कतिपय व्ययो के विषय मे समायोजन (adjustment) से सम्वन्धित मामलो पर भी उच्चतम न्यायालय को प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र प्राप्त नही होगा[5] तथा कतिपय सन्वियो, करारो इत्यादि से उद्भूत विवादो में भी उच्चतम न्यायालय या किसी भी न्यायालय द्वारा हस्तक्षेप वर्जित होगा।[6]

(२) **मौलिक अधिकारो के प्रवर्तन-सम्वन्धी-विवादों में मौलिक अथवा प्रारम्भिक अधिकार-क्षेत्र** (Jurisdiction in the matter of Enforcement of Fundamental Rights)—उच्चतम न्यायालय को विशेष अधिकार-क्षेत्र प्रदान किया गया है जिसके द्वारा वह मौलिक अधिकारों का प्रवर्त्तन करा सकता है,[7] और इस अधिकार-क्षेत्र के प्रयोग में उच्चतम न्यायालय को अधिकार है कि वह ऐसे निदेश (directions or orders), आदेश या लेख जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश या परमलेख (mandamus), प्रतिषेध (prohibition), अधिकार

---

[1] Article III, Sec २ (२)।

[2] अनुच्छेद १३१।

[3] अनुच्छेद २६२।

[4] अनुच्छेद २८०।

[5] अनुच्छेद २९०।

[6] अनुच्छेद ३६३ (१)।

[7] अनुच्छेद ३२ (२)।

पृच्छा (quo warranto), और उत्प्रेषण (certiorari) के प्रकार के लेख भी हैं, निकाल सकता है। संविधान ने यह भी उपबन्धित किया है कि मौलिक अधिकारो के प्रवर्त्तन के अतिरिक्त अन्य प्रयोजनो के लिए भी उच्चतम न्यायालय ऐसे निदेश, आदेश या लेख जिनके अन्तर्गत बन्दी प्रत्यक्षीकरण, परम लेख या परमादेश प्रतिषेध आदि लेख भी हैं, अथवा इनमें से किसी को निकालने की शक्ति संसद् विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय को दे सकती है।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि अपने मौलिक अधिकार-क्षेत्र के प्रयोग में, उच्चतम न्यायालय, मौलिक अधिकारो के प्रवर्त्तन के हेतु ऐसे निदेश, आदेश या लेख जारी कर सकता है जिन्हे वह उचित समझे, तथा अन्य प्रयोजनो के लिए वह तब जारी कर सकेगा जब संसद् विधि द्वारा उसे अधिकार प्रदान करे। किन्तु यह भी समझ लेना आवश्यक होगा कि मौलिक अधिकारो के प्रवर्त्तन के लिए उच्चतम न्यायालय का निदेश और आदेश, लेख के रूप में निकालने का अधिकार अपवर्जी (exclusive) नही है। उक्त अधिकार उच्च न्यायालयो के अधिकार के साथ समवर्त्ती है।[2] उच्च न्यायालयो को भी अधिकार है कि वे मौलिक अधिकारो के प्रवर्त्तन तथा अन्य प्रयोजनो के लिए निदेश, आदेश और लेख निकाल सकते हैं। किन्तु संविधान ने विशेष रूप से उच्चतम न्यायालय को उत्तरदायी ठहराया है कि वह "मौलिक अधिकारो को प्रवर्तित कराने के लिए समुचित कार्रवाई करे।"[3] किन्तु अनुच्छेद २२६ के अन्तर्गत उच्च न्यायालयो पर उक्त उत्तरदायित्व नही डाला गया है। रमेश थापड बनाम मद्रास राज्य के विवाद में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया था कि संविधान का अनुच्छेद ३२, उच्चतम न्यायालय को केवल उसी प्रकार अधिकार नही देता जिस रूप में कि अनुच्छेद २२६ ने उच्च न्यायालयो को अधिकार प्रदान किया है, कि वे मौलिक अधिकारो के प्रवर्त्तन के लिए अथवा किसी अन्य प्रयोजन के लिए आदेश लेख अपने सामान्य अधिकार-क्षेत्र के प्रयोग में जारी कर सकते हैं। अनुच्छेद ३२ ने मौलिक अधिकारो की रक्षा के लिए निश्चित गारन्टी दी है और मौलिक अधिकारो के प्रवर्त्तन-सम्बन्धी उपाय को संविधान में स्थान देकर स्वयं यह उपाय भी एक मौलिक अधिकार बन गया है। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय को मौलिक अधिकारो का प्रत्याभू (guarantor) और संरक्षक मान लिया गया है। इसलिए यह अपने महान् उत्तरदायित्व के निर्वहन करने के लिए किसी ऐसी प्रार्थना को लेने से इनकार नहीं कर सकता जिसमें मौलिक अधिकारो की रक्षा की दुहाई दी गई हो। अब मौलिक अधिकारो के संरक्षण के लिए कोई नागरिक सीधे उच्चतम न्यायालय की शरण ले सकता है और उसको संविधान के अनुच्छेद २२६ के अन्तर्गत पहिले उच्च न्यायालय में जाने की आवश्यकता नही है।"

उच्चतम न्यायालय का पुनरावेदन-मूलक अधिकार-क्षेत्र (Appelate Jurisdiction of the Supreme Court)—भारत राज्य क्षेत्र में के किसी उच्च न्यायालय के तथा अन्य न्यायाधिकरणो द्वारा दिए गए निर्णयो के विरुद्ध अपील उच्चतम

---

[1] अनुच्छेद १३९।

[2] अनुच्छेद २२६।

[3] अनुच्छेद ३२ (१)।

न्यायालय में हो सकती है। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय देश का अन्तिम अपीलीय न्यायालय है। सभी प्रकार के विवादो की अपीलें उच्चतम न्यायालय में की जा सकती हैं चाहे वे व्यवहार-विषयक (civil) हो, चाहे दण्ड-विषयक (criminal) हो चाहे अन्य कार्रवाइयो से सम्बन्धित हों, शर्त केवल यह है कि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि उक्त मामले में इस सविधान के निर्वचन का कोई सारवान विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है।[1] निर्वाचन आयोग बनाम वेंकटराव के विवाद में निर्णय देते समय उच्चतम न्यायालय ने कहा था "उच्चतम न्यायालय के पुनरावेदन-मूलक अधिकार-क्षेत्र की सारी योजना ही स्पष्टत इगित करती है कि सविधान के निर्वचन सम्बन्धी प्रश्नो का अलग महत्त्व है चाहे विवाद की कार्रवाइयाँ किसी प्रकार की हो, और ऐसे प्रश्नो से अन्तर्ग्रस्त अपीलो को आवश्यक स्वीकार करना होगा।" व्यवहार-विषयक विवादो में जहाँ उच्च न्यायालय ने प्रमाणित कर दिया कि आवश्यक धन-राशि उक्त विवाद मे अन्तर्ग्रस्त है, तुरत उच्चतम न्यायालय में अपील ली जा सकेगी।[2] दण्ड-विषयक विवादो में भी ऐसे विवादो में उच्चतम न्यायालय को अपील की जा सकेगी जिनमें या तो अभियुक्त को मृत्यु-दण्ड दिया गया हो अथवा किसी उच्च न्यायालय ने अपील मे किसी अभियुक्त व्यक्ति की विमुक्ति के आदेश को उलट दिया हो तथा उसको मृत्यु दण्डादेश दिया हो अथवा उसने प्रमाणित किया हो कि मामला उच्चतम न्यायालय मे अपील किए जाने योग्य है। इसके अतिरिक्त उच्चतम न्यायालय को विस्तृत अधिकार है कि वह स्वविवेक से भारत राज्य-क्षेत्र के किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण द्वारा किसी विषय या वाद में दिए गए किसी निर्णय, आज्ञप्ति, निर्धारण, दण्डादेश या आदेश की अपील के लिए विशेष इजाज़त दे सकता है।[3]

इसलिए भारतीय उच्चतम न्यायालय भारत में सर्वोच्च पुनरावेदन-मूलक न्यायालय है और भारतीय न्यायालयों का शिखर है। इसका अपीलीय अधिकार-क्षेत्र सयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय से भी अधिक विस्तृत है क्योंकि अमरीकन सर्वोच्च न्यायालय में केवल ऐसी ही अपीलें आती हैं जिनका सम्बन्ध सघीय अधिकार क्षेत्र से हो अथवा विधियो की वैधता से हो। २८ जनवरी, १९५० को श्री एम० सी० सीतलवाड ने भारतीय उच्चतम न्यायालय के प्रतिष्ठापन के समय कहा था. "इस महान् न्यायालय के आदेश २० लाख वर्गमील के क्षेत्र में प्रभावी होगे जिसमें लगभग ३० करोड नर-नारी रहते हैं। यह ठीक ही कहा गया है कि हमारे उच्चतम न्यायालय का अधिकार-क्षेत्र राष्ट्रमण्डल के अन्य किसी देश या सयुक्त राज्य अमरीका के सर्वोच्च न्यायालयो के अधिकार-क्षेत्रो से कही अधिक विस्तृत है।" इस प्रकार भारतीय उच्चतम न्यायालय का अपीलीय अधिकार-क्षेत्र दो प्रकार का है (१) उन अपीलो का अधिकार-क्षेत्र जिनका सम्बन्ध व्यवहार, दण्ड और अन्य विधियो से सम्बन्धित सविधान के निर्वचन से हो, और (२) अन्य प्रकार के व्यवहार और दण्ड-विषयक मामलो मे अपीलीय अधिकार-क्षेत्र।

---

[1] अनुच्छेद १३२ (१)।

[2] अनुच्छेद १३३ (१) (क—ख)।

[3] अनुच्छेद १३६।

(१) **सवैधानिक अभियोग** (Constitutional Cases)—भारत राज्य-क्षेत्र में के किसी उच्च न्यायालय के, चाहे तो व्यवहार-विषयक, चाहे दण्डिक चाहे अन्य कार्रवाई मे दिए निर्णय, आज्ञप्ति या अन्तिम आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है यदि वह उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि उस मामले में इस सविधान के निर्वचन का कोई सारवान विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है।[1] जहां कि उच्च-न्यायालय ने ऐसा प्रमाण-पत्र देना अस्वीकार कर दिया हो वहां, यदि उच्चतम न्यायालय का समाधान हो जाए कि उस मामले में इस सविवान के निर्वचन का सारवान विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है तो, वह ऐसे निर्णय, आज्ञप्ति या अन्तिम आदेश की अपील के लिए विशेष इजाज़त दे सकता है।[2] जब किसी पक्ष को आवश्यक प्रमाण-पत्र उच्च न्यायालय से प्राप्त हो जाता है या जब उच्चतम न्यायालय अपील के लिए विशेष इजाज़त दे देता है तो विवादग्रस्त कोई भी पक्ष उच्चनम न्यायालय में यह भी अपील कर सकता है कि उच्च न्यायालय ने सविधान का निर्वचन गलत आधार पर किया है अथवा विधि प्रश्नो को गलत अर्थों में लिया है। अपीलार्थी उच्चतम न्यायालय की आज्ञा से अन्य आधारो पर भी अपील कर सकता है।[3] अन्य अथवा नया आधार जो उच्चतम न्यायालय की आज्ञा से लिया जायगा, या लिया जाता है, उसके लिए यह आवश्यक नही है कि वह आधार सवैधानिक आधार ही हो।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी विधि की वैधता या कोई ऐसा प्रश्न निर्णय करने में जिसमे सविधान का निर्वचन अन्तर्ग्रस्त हो, उच्च न्यायालय का निर्णय अन्तिम नही है। सविधान के निर्वचन के सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय ही अन्तिम निर्णय दे सकता है चाहे मुकद्दमे की प्रकृति कैसी भी हो। किन्तु यह निर्विवाद है कि जिस मुकद्दमे की अपील उच्चतम न्यायालय में आती है—चाहे उच्च न्यायालय ने प्रमाण-पत्र दिया हो और चाहे उच्चतम न्यायालय ने विशेष इजाज़त दी हो, उस मुकद्दमे में किसी विधि का प्रश्न अन्तर्ग्रस्न होना चाहिए और यह विधि का स्पष्ट प्रश्न होना चाहिए जिसमे सविधान का निर्वचन अन्तर्ग्रस्त हो। उक्त अपील केवल तथ्यो मे ही सम्वन्धित न हो और उक्त अपील में किसी ऐसी अन्य विधि का निर्वचन भी अन्तर्ग्रस्त न हो जिसमें सविधान का निर्वचन अन्तर्ग्रस्त ही न हो। सविधान के निर्वचन का कोई सारवान विधि प्रश्न जिस मामले में अन्तर्ग्रस्त है, उसका विनिश्चय करने के प्रयोजन के लिए, अथवा इस सविधान के अधीन सौंपे गए प्रश्न को सुनने के प्रयोजन के लिए बैठने वाले न्यायाधीशो की न्यूनतम सख्या पांच निश्चित की गई है।[4] अर्थात् उच्चतम न्यायालय में किसी सवैधानिक प्रश्न को निर्णय करने के लिए कम मे कम पांच न्यायाधीशो का गण (bench) या धर्मासन होना चाहिए।

(२) **व्यवहार विधि के मुकद्दमो में अपीलें** (Appeals in Civil Matters)—अनुच्छेद १३३ उपवन्धित करता है कि भारत राज्य-क्षेत्र में के उच्च न्यायालय की

---

[1] अनुच्छेद १३२ (१)।

[2] अनुच्छेद १३२ (२)।

[3] अनुच्छेद १३२ (३)।

[4] अनुच्छेद १४५ (३)।

व्यवहार कार्रवाई मे के किसी निर्णय, आज्ञप्ति या अन्तिम आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय में हो सकती है यदि उच्च न्यायालय प्रमाणित कर दे कि मामला उच्चतम न्यायालय मे अपील लायक है।[1] यदि उच्च न्यायालय यह भी प्रमाणित कर दे कि विवाद-विषय की राशि या मूल्य प्रथम बार के न्यायालय में बीस हजार रुपये से कम न थी और अपील गत विवाद में भी इससे कम नही है, तो भी उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है।[2] अथवा यदि उच्च न्यायालय यह प्रमाणित कर दे कि निर्णय, आज्ञप्ति या अन्तिम आदेश मे २०,००० रु० की मूल्य की सम्पत्ति से सम्बद्ध दावा या प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है, तो भी अपील उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है। किन्तु यदि उच्च न्यायालय का निर्णय निम्नतर न्यायालय के निर्णय को सही करता है, तो फिर एक और प्रमाण-पत्र आवश्यक होगा जिसमें उच्च न्यायालय प्रमाणित करेगा कि अभी और भी विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है। यदि कोई पक्ष ऐसा प्रमाणीकरण प्राप्त कर लेता है कि सारवान विधि प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है, फिर भी उसको अधिकार होगा कि वह सवैधानिक प्रश्न पर भी विवाद उठा सकता है।

किन्तु उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश के निर्णय, आज्ञप्ति या अन्तिम आदेश की अपील उच्चतम न्यायालय में उस समय तक न होगी जब तक कि ससद् विधि द्वारा अन्यथा उपबन्धित न कर दे।[3]

(३) दण्डविधि के मुकद्दमो में अपीलें (Appeals in Criminal Cases)—भारत राज्य-क्षेत्र में के किसी उच्च न्यायालय के किसी दण्ड कार्रवाई में दिए हुए निर्णय अन्तिम आदेश या दण्डादेश की उच्चतम न्यायालय मे अपील हो सकती है यदि (१) उस उच्च न्यायालय ने अपील में किसी अभियुक्त व्यक्ति की विमुक्ति के आदेश को उलट दिया है तथा उसको मृत्यु दण्डादेश दिया है, अथवा

(२) उस उच्च न्यायालय ने अपने अधीन न्यायालय से किसी मामले को परीक्षण करने के हेतु अपने पास मँगा लिया है तथा ऐसे परीक्षण में अभियुक्त व्यक्ति को सिद्ध-दोष ठहराया है और मृत्यु दण्डादेश दिया है, अथवा

(३) उच्च न्यायालय प्रमाणित करता है कि मामला उच्चतम न्यायालय में अपील किए जाने लायक है।[4]

इसके अतिरिक्त सविधान ने ससद् को अधिकार प्रदान किया है कि वह विधि द्वारा दण्डविधि के मामलो में उच्चतम न्यायालय का अपीलीय अधिकार-क्षेत्र विस्तृत कर सकती है।[5] किन्तु जब तक अनुच्छेद १३४ (२) के अन्तर्गत ससद् विधि नही निर्मित करती, सविधान की यही इच्छा है कि जिन बातों अथवा अवस्थाओ का ऊपर वर्णन किया गया है उनके सिवाय अन्य मामलो में राज्यो के उच्च न्यायालय ही सामान्यत· फौजदारी के अभियोगो के सम्बन्ध में अन्तिम अपीलीय न्यायालय

---

[1] अनुच्छेद १३३ (१), (ग)।

[2] अनुच्छेद १३३, (१) (क)।

[3] अनुच्छेद १३३ (३)।

[4] अनुच्छेद १३४।

[5] अनुच्छेद १३४ (२)।

रहेंगे। इसलिए यदि कभी उच्च न्यायालय ऐसा प्रमाणपत्र दे देता है कि 'मामला उच्चतम न्यायालय में अपील किये जाने लायक है', तो ऐसा प्रमाणपत्र उच्च न्यायालय को बहुत ही सोच-समझ कर देना चाहिए और वहाँ देना चाहिए, "जहाँ यह स्पष्ट है कि विधि की उपेक्षा से अथवा प्राकृतिक या स्वाभाविक न्याय के सिद्धान्तो के उल्लघन से भारी अन्याय हो सकता है अथवा अन्याय हुआ है।"[1]

उच्चतम न्यायालय द्वारा अपील के लिए विशेष इजाजत (Special Leave to appeal by the Supreme Court)—उच्चतम न्यायालय स्वविवेक से भारत राज्य-क्षेत्र में के किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण द्वारा किसी वाद या विषय में दिए हुए किसी निर्णय, आज्ञप्ति, निर्धारण, दण्डादेश या आदेश की अपील की अपील के लिए इजाज़त दे सकता है, किन्तु सशस्त्र बलो से सम्बद्ध किसी न्यायाधिकरण के किसी निर्णय, निर्धारण, दण्डादेश या आदेश को उक्त कोई बात लागू नही होगी।[2] इस उपबन्ध ने उच्चतम न्यायालय को अपार और अत्यन्त विस्तृत शक्तियाँ दे डाली हैं। अनुच्छेद १३२-१३५ का सम्बन्ध उन सामान्य अपीलो से है जो उच्चतम न्यायालय में की जा सकती हैं और उक्त अनुच्छेदो मे वे शर्तें दी गई हैं जिनके मातहत मामान्यत उच्चतम न्यायालय में अपील की जा सकती है। किन्तु अनुच्छेद १३६ में सविधान ने उच्चतम न्यायालय को स्वविवेक प्रयोग करने का अधिकार दिया है कि वह सैनिक न्यायाधिकरण के निर्णय को छोडकर अन्य न्यायालयो या न्यायाधिकरणो के निर्णयो के विरुद्ध अपीलें स्वीकृत कर सकता है। इसका यह अर्थ है कि अनुच्छेद १३२ से लगाकर १३५ तक के अनुच्छेदो में अपीलो के सम्बन्ध में जो प्रतिबन्ध लगाए गये हैं तथा यदि कोई उच्च न्यायालय भी उच्चतम न्यायालय में अपील की आज्ञा न दे तो भी अनुच्छेद १३६ के अनुसार अपील की इजाज़त दी जा सकती है। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय को जो अपील करने की विशेष इजाज़त देने का अधिकार है, उस पर किसी प्रकार का सवैधानिक प्रतिबन्ध नही है। अपील के लिए विशेष इजाज़त देना न देना पूर्णत उच्चतम न्यायालय के स्वविवेक पर छोड दिया गया है। श्री दुर्गादास वसु लिखते हैं कि "मोटे तौर पर उच्चतम न्यायालय इस अधिकार का प्रयोग पीडित पक्ष को महायता देने के अभिप्राय से ऐसे मामलो में कर सकता है जहाँ यह अनुभव किया जाता हो कि प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तो का अतिक्रमण हुआ है, चाहे पीडित पक्ष को न्यायिक और वैधिक अधिकारत अपील करने का अधिकार न भी होता हो।[3]

इसके अतिरिक्त अनुच्छेद १३६ ने भारत राज्य-क्षेत्र में के किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण और साथ ही किसी उच्च न्यायालय के निर्णय, आज्ञप्ति, निर्धारण, आदेश आदि के विरुद्ध अपील की विशेष इजाज़त देने का अधिकार उच्चतम न्यायालय को दिया है। इस प्रकार यह भी माना जा सकता है कि उच्चतम न्यायालय

---

[1] मोहिन्दरसिंह बनाम राज्य।

[2] अनुच्छेद १३६।

[3] Commentary on the Constitution of India, p 444 Also fer to Bharat Bank *Vs* Employees of Bharat Bank

किसी उच्च न्यायालय के ऐसे निम्न न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध भी अपील करने की इजाजत दे सकता है जिसके कर्त्तव्य और कृत्य उसी प्रकार के हो जिस प्रकार के किसी न्यायालय के होते हैं। भारत बैंक विरुद्ध भारत बैंक के कर्मचारियो के मामले मे निर्णय देते हुए जस्टिस फजलअली ने कहा था "तो क्या हम यह मान लें कि औद्योगिक न्यायाधिकरण, अनुच्छेद १३६ की सीमाओ में नही आता ? यदि हम केवल नाम पर जायें तो हम निश्चित रूप से औद्योगिक न्यायाधिकरण को अनुच्छेद १३- के अन्तर्गत ले सकते हैं। किन्तु हम को इसमे आगे देखना चाहिए, और इस पर विचार करना चाहिए कि न्यायाधिकरण के मुख्य कृत्य क्या हैं और वह अपने कृत्यो का सपादन किस प्रकार करता है। यह आवश्यक है क्योंकि मैं यही समझता हूँ कि केवल ऐसे न्यायाधिकरण की अपील ही उच्चतम न्यायालय में की जा सकती है जो किसी प्रकार के न्यायिक कृत्य सपादित करता हो और किसी न किसी रूप मे न्यायालयो के से कृत्य करता हो।"

उच्चतम न्यायालय के क्षेत्राधिकार की वृद्धि (Enlargement of the Jurisdiction of the Supreme Court)—सविधान ने यह भी उपबन्धित किया है कि ससद् विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र में वृद्धि कर सकती है।[1] किन्तु यदि उक्त अधिकार-क्षेत्र की वृद्धि के फलस्वरूप सघ सूची के विषयो पर प्रभाव पडता है तो आवश्यकत राज्य सरकार के साथ करार करना होगा। उच्चतम न्यायालय के मौलिक अधिकार-क्षेत्र मे भी वृद्धि हो सकती है और अपीलीय अधिकार-क्षेत्र मे भी। उच्चतम न्यायालय को यह अधिकार-क्षेत्र ससद् के उस अधिकार से मिला है जिसके द्वारा वह उक्त विषयो पर मनचाहे ढग से विधि निर्मित कर सकती है। उच्चतम न्यायालय की तदर्थ समिति (adhoc Committee) ने कहा था "यदि किसी विषय पर विधि निर्मित करने का अधिकार ससद् को प्राप्त है, तो ससद् को यह भी अधिकार है कि वह किसी न्यायाधिकरण को न्यायिक शक्तियाँ प्रदान कर सके, और यदि ससद् तदर्थ शक्तियाँ उच्चतम न्यायालय को सौंपती है, तो उच्चतम न्यायालय प्रदत्त अधिकार-क्षेत्र का उपभोग करेगा।"[2]

ससद्, विधि द्वारा उच्चतम न्यायालय को मौलिक अधिकारो के प्रवर्त्तन से भिन्न किन्ही अन्य प्रयोजनो के लिए ऐसे निदेश, आदेश या लेख निकालने की आज्ञा दे सकती है जिन्हे वह उचित समझे।[3] इस सम्बन्ध में यह याद रखना आवश्यक होगा कि जहाँ मौलिक अधिकारो के प्रवर्त्तन के हेतु उच्चतम न्यायालय को आदेश, निदेश और लेख जारी करने का अधिकार सविधान ने दिया है, अन्य प्रयोजनो के लिए आदेश और लेख आदि निकालने का अधिकार ससद् के अधिनियम के अधीन है और इस प्रकार ससद् के विनियमन के अधीन है।

ससद् विधि द्वारा ऐसी अनुपूरक अथवा सहायक शक्तियाँ उच्चतम न्यायालय

---

[1] अनुच्छेद १३८।

[2] Report of the ad hoc Committee on Supreme Court, Constituent Assembly Proceedings, vol IV, no 6, p 755

[3] अनुच्छेद १३९।

को दे सकती है जो सविधान के उपबन्धो में से किसी से असगत न हो और जिनके आधार पर वह उन कर्त्तव्यो का निर्वहन कर सके जो सविधान द्वारा उच्चतम न्यायालय को करने को सौंपे गए हैं।[1]

निर्णयों या आदेशों पर उच्चतम न्यायालय द्वारा पुनर्विलोकन (Power to Review its own Decisions)—अन्य देशो के उच्चतम न्यायालयो के समान भारतीय उच्चतम न्यायालय को भी अपने निर्णयो या आदेशो पर पुनर्विलोकन का अधिकार है और वह अपने पुराने निर्णयो पर सदैव के लिए वाध्य नही है।[2] जव उच्चतम न्यायालय किसी विषय पर अपना निर्णय दे चुके, उसके ३० दिन वाद उक्त न्यायालय के रजिस्ट्रार को प्रार्थना-पत्र दिया जा सकता है और जिन आधारो पर पुनर्विलोकन की प्रार्थना की जा रही है, उनको स्पष्टतया लिखने हुए निर्णय का पुनर्विलोकन या पुनरीक्षण कराया जा सकता है।[3] इस प्रकार की प्रार्थना के साथ किसी अधिवक्ता का प्रमाण-पत्र होना चाहिए कि निर्णय का पुनर्विलोकन न्याय-सगत है।[4]

उच्चतम न्यायालय की आज्ञप्तियों और आदेशो का प्रवृत्त कराना (Enforcement of Decrees and Orders of the Supreme Court)—उच्चतम न्यायालय द्वारा घोपित विधि या निर्णय भारत राज्य-क्षेत्र के भीतर सव न्यायालयो को सर्वथा मान्य होगे।[5] अपने क्षेत्राधिकार के प्रयोग में उच्चतम न्यायालय कोई भी आज्ञप्ति या आदेश जारी कर सकता है, और उक्त आज्ञप्तियाँ या आदेश भारत राज्य-क्षेत्र में सर्वत्र ऐसी रीति से, जैसी कि ससद् किसी विधि के द्वारा या आधीन विहित करे, प्रवर्त्तनीय हैं।[6] भारत राज्य-क्षेत्र के सभी असैनिक और न्यायिक प्राधिकारी उच्चतम न्यायालय की सहायता और अधीनता में कार्य करने को बाध्य हैं।[7]

इस प्रकार सविधान ने उच्चतम न्यायालय के निर्णयो को वन्धनकारी माना है और इसलिए इन निर्णयो और आदेशो की सर्वोच्चता और अनुल्लघनीयता के विरुद्ध साधारण विधायी अधिनियम प्रभावी नही हो सकते।

उच्चतम न्यायालय के परामर्शदायक कृत्य (Consultative or Advisory Functions of the Supreme Court)—यदि किसी समय राष्ट्रपति को प्रतीत हो कि विधि या तथ्य का कोई ऐसा प्रश्न उत्पन्न हुआ है, जो सार्वजनिक महत्त्व का है, तो सविधान द्वारा प्रदत्त अधिकार के अनुसार, राष्ट्रपति उक्त प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय का परामर्श माँग सकता है।[8] इस प्रकार जो प्रश्न उच्चतम

---

[1] अनुच्छेद १४०।

[2] अनुच्छेद १३७।

[3] Supreme Court Rules, 1950, Order 38, p 2

[4] Grounds are mentioned in Order 47, Rule 1, of the Code of Civil Procedure

[5] अनुच्छेद १४१।

[6] अनुच्छेद १४२।

[7] अनुच्छेद १४४।

[8] अनुच्छेद १४३।

न्यायालय के परामर्शार्थ भेजा जायगा, उस पर उच्चतम न्यायालय के पाँच न्यायाधीशो की बेंच विचार करती है और सामान्यत इस प्रकार के परामर्श-दायक कृत्यो के निर्वहन में भी वही कार्य-प्रणाली अपनायी जाती है जो सामान्य मुकदमो की सुनवाई में। न्यायालय का परामर्श उन्मुक्त न्यायालय में सुनाया जाता है और उक्त निर्णय न्यायाधीशो के बहुमत से किया जाता है किन्तु यदि कोई न्यायाधीश विभिन्न मत रखता है और अपना मत उच्चतम न्यायालय के बहुमत निर्णय के साथ नत्थी कराना चाहता है तो उस न्यायाधीश के विमत को भी रख लिया जाता है। किन्तु उच्चतम न्यायालय का परामर्श राष्ट्रपति के ऊपर बाध्य नही है क्योकि यह न्यायिक निर्णय नही होता।

इस प्रकार सविधान का अनुच्छेद १४३ राष्ट्रपति को अधिकार प्रदान करता है कि वह विधि के किसी सार्वजनिक महत्त्व के सारवान प्रश्न के समाधान हेतु उच्चतम न्यायालय से परामर्श कर सकता है। और जिस प्रश्न पर राष्ट्रपति ने उच्चतम न्यायालय मे परामर्श माँगा है वह विधि का प्रश्न भी हो सकता है और तथ्यो का प्रश्न भी हो सकता है और उसको परामर्श लेने का केवल उस समय ही अधिकार नही है जब कि विधि अथवा तथ्य का कोई प्रश्न उत्पन्न हुआ हो अपितु वह उस समय भी परामर्श ले सकता है जबकि ऐसे प्रश्न के उत्पन्न होने की सभावना हो। तदनुसार राष्ट्रपति उस समय भी किसी प्रश्न पर उच्चतम न्यायालय से परामर्श माँग सकता है जब विधानमण्डल के समक्ष कोई विधेयक विचाराधीन हो और वह पूछ सकता है कि उक्त विधेयक विधानमण्डल की शक्ति के अन्तर्गत है अथवा नही।

उच्चतम न्यायालय के परामर्शीय कृत्य लगभग उसी प्रकार के हैं जिस प्रकार के कि प्रिवी परिषद् (Privy Council) कृत्य किया करती थी। १८३३ के न्यायिक समिति अधिनियम ने उपबन्धित किया है कि "सम्राट् प्रिवी परिषद् की न्यायिक समिति से ऐसे किसी प्रश्न पर परामर्श कर सकता है जिसे सम्राट् उचित समझे।" जिस प्रश्न पर न्यायिक समिति से परामर्श माँगा जाएगा, समिति उस पर विचार करेगी और सम्राट् को उचित परामर्श प्रदान करेगी। किन्तु प्रिवी परिषद् में विमत (dissenting opinions) नही दिए जाते और इस सम्बन्ध में प्रिवी परिषद् की कार्य-प्रणाली भारत की कार्य-प्रणाली से भिन्न है।

इसी प्रकार १९०६ के कनाडा के सर्वोच्च अधिनियम के खण्ड ६० ने अधिनियमित किया है कि कनाडा का गवर्नर-जनरल विधि और तथ्य के प्रश्नो पर सर्वोच्च न्यायालय का परामर्श प्राप्त कर सकता है। सर्वोच्च न्यायालय को ऐसा परामर्श देना ही होगा और उक्त परामर्श के उत्तर मन्त्रणा के रूप में दिए जाते हैं। किन्तु सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान में ऐसा कोई उपबन्ध नही है और उक्त देश के सर्वोच्च न्यायालय ने सदैव इस प्रकार के भावसूक्ष्म विधि ग्रस्त प्रश्नो पर परामर्श देने से आनाकानी की है। अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय का मत है कि इस प्रकार के परामर्श देने से सर्वोच्च न्यायालय की सवैधानिक स्थिति खराब हो जाएगी।[1]

---

[1] Muskrat *Vs* United States

भारत के प्रवीण न्यायशास्त्रियो (Jurists) और राजनीतिज्ञो मे इस सम्बन्ध में विभिन्न मत रहे हैं कि न्यायालय देश की कार्यपालिका को विधि के प्रश्नो पर परामर्श देने के लिए बाध्य ठहराए जाएँ अथवा नही।[1] किन्तु सविधान के निर्माताओ ने यही उचित समझा कि उच्चतम न्यायालय को कतिपय परामर्शदायक कर्त्तव्य भी सौंपे जाएँ। उच्चतम न्यायालय पर तदर्थ समिति ने कहा था "इस प्रश्न के पक्ष और विपक्ष के सभी पहलुओ पर विचार करने के उपरान्त हमारा यह मत है कि यही उत्तम होगा कि नए सविधान के प्रारम्भ होने पर भी उच्चतम न्यायालय के उक्त अधिकार-क्षेत्र को ज्यो का त्यो रखा जाए। ऐसा मान ही लेना चाहिए कि उच्चतम न्यायालय को उक्त अधिकार-क्षेत्र के प्रयोग की बारम्बार आवश्यकता नही पडेगी।" श्री दुर्गादास बसु ने उक्त सम्बन्ध मे अधिकार-क्षेत्र शब्द के प्रयोग पर आपत्ति की है। उन्होने इगलैण्ड की हैलिसबरी विधियो (Halisbury Laws of England) का हवाला दिया है जहाँ किसी न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र को ऐसा माना जाता है कि वह उस न्यायालय की शक्ति या अधिकार में है कि किसी शिकायत को सुने और उस पर अपना निर्णय दे।' बसु महोदय का कथन है कि उच्चतम न्यायालय को जो इस सम्बन्ध में अधिकार प्रदान किया गया है वह किसी शिकायत या वाद को सुनने से सम्बन्ध नही रखता। यहाँ तो उच्चतम न्यायालय को सार्वजनिक महत्त्व के किसी प्रश्न पर राष्ट्रपति द्वारा परामर्श माँगे जाने पर अपना मत देना है।

उच्चतम न्यायालय, सविधान का सरक्षक (Supreme Court, as a Guardian of the Constitution)—उच्चतम न्यायालय सविधान का सरक्षक भी है। जिस किसी सविधान में शासन की शक्तियाँ प्रगणित होती हैं, उस सविधान को सर्वोच्च प्रमाणित करने के लिए उस देश के न्यायालयो को सविधान के निर्वचन का अधिकार होता है। श्री हैमिल्टन ने फेडेरलिस्ट न० ३६ में लिखा था कि "मर्यादित सविधान उस सविधान को कहते हैं जिसमें व्यवस्थापिका की शक्तियो पर कुछ अकुश रहते हैं, उदाहरणार्थ मर्यादित सविधान में कालुष्य विधेयक (bills of attainder) और घटनोत्तर विधि (ex post facto laws) आदि। सविधान के ऊपर इस प्रकार के प्रतिबन्ध लगाने का उपाय केवल न्यायालय ही हो सकते हैं जिनका कर्त्तव्य है कि वे ऐसी सभी विधियो को अवैध कर दें जो सविधान के विरुद्ध हो। इसके बिना अधिकारो और विशेषाधिकारो के सरक्षण की बात निरर्थक है।" इसी बात को सयुक्त राज्य अमरीका के प्रमुख न्यायाधीश मारशल ने मारबरी बनाम मैडीसन वाले विवाद के निर्णय में बल देकर व्यक्त किया था। उन्होने कहा था "विधानमण्डल की शक्तियाँ सीमित होती हैं। और इन मर्यादाओ को दिमाग मे ताजा रखने के अभिप्राय से ही सविधान का लिखित होना आवश्यक माना जाता है। सविधान या तो सर्वोपरि और सर्वोच्च विधि है जिसको सामान्य विधायी विधि से बदला

---

[1] इस सम्बन्ध में प्रोफेसर फेलिक्स फ्रेंकफ़र्टर (Feleix Frankfurter) के जो इस समय अमरीका सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीश हैं, के विचारों को भी देखिए—Quoted by V N. Shukla in his Constitution of India, p 142

नहीं जा सकता या फिर यह स्वीकार करना होगा कि इसका वही महत्त्व है जो सामान्य अधिनियम का, और अन्य साधारण अधिनियमो की तरह सविधान में भी विधानमण्डल जब चाहे रद्दोबदल कर सकता है। यदि पिछली बात सच है तो फिर लोग व्यर्थ ही लिखित सविधानो पर समय खोते हैं और…"

"यह निश्चित करना कि विधि क्या है, केवल न्यायपालिका का ही कर्त्तव्य है और उसी के अधिकार-क्षेत्र का विषय है। यदि न्यायालय सविधान का उचित मान करेंगे और यदि सविधान, किसी सामान्य विधान मण्डल के अधिनियम से उच्चतर है, तो निश्चित निष्कर्ष निकलता है कि न्यायालयो को सविधान को ही प्रमुख मान्यता देनी होगी, न कि साधारण अधिनियमो को, इसलिए निर्णय देते समय सविधान को प्रमाण माना जा सकता है।"

सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान ने स्पष्टतया उच्चतम न्यायालय को यह अधिकार प्रदान नही किया है कि वह सघीय विधियो की वैधानिकता की परीक्षा करे। किन्तु सर्वोच्च न्यायालय ने यह अधिकार सविधान के दो महत्त्वपूर्ण उपबन्धो से ग्रहण किया है जिनसे सविधान के निर्माताओ की भी यही इच्छा प्रतीत होती है। अमरीकी सविधान के अनुच्छेद *VI* ने सविधान को देश की सर्वोच्च विधि माना है; और अनुच्छेद तृतीय ने समस्त सघीय न्यायिक शक्ति उच्चतम न्यायालय को उन सभी मामलो मे प्रदान की है जिसका सम्बन्ध इस सविधान के अन्तर्गत विधि और न्याय-भावना मे है। प्रमुख न्यायाधीश मारशल ने इन्ही उपबन्धो के आधार पर मारबरी बनाम मैडीसन के विवाद मे निर्णय किया कि सर्वोच्च न्यायालय ही सघ और राज्यो की विधियो की वैधानिकता की परीक्षा कर सकता है और जब सविधान को देश की सर्वोच्च विधि स्वीकार कर लिया गया हो, तो यह अधिकार स्वत सिद्ध है। अन्यथा चीफ जस्टिस मारशल के अनुसार सविधान को सर्वोच्च विधि मानने का कोई अर्थ ही न रह जाएगा।

श्री मारशल ने उक्त निर्णय १८०३ में दिया था और तब से अमरीकन शासन-व्यवस्था में न्यायिक पुनर्विचार का परीक्षण या परीक्षण का सिद्धान्त घर कर गया है और आचार्य डायसी के अनुसार अमरीका के प्रत्येक न्यायाधीश ने यह रवैया अख्तियार कर लिया है कि ऐसे भी अधिनियमो को अवैध घोषित कर दिया जाए, जो सविधान विधि का उल्लघन करते हो।

भारतीय सविधान में भी स्पष्ट उपबन्ध नही है जिसके द्वारा सविधान को देश की सर्वोच्च विधि स्वीकार किया गया हो। सम्भवत सविधान के निर्माताओ ने ऐसी घोषणा आवश्यक न समझी हो, क्योकि जब शासन के सभी सघीय और राज्यीय अग सविधान के जात हैं और शासन के सभी अग अपने-अपने अधिकारो और शक्तियो के लिए सविधान के प्रति ऋणी हैं और जबकि सविधान मे और किसी प्रकार सशोधन नही किया जा सकता, यदि किया जा सकता है तो उस प्रक्रिया के द्वारा, जो स्वय सविधान ने अनुच्छेद ३६८ में स्वीकार की है, तो यह निर्विवाद सत्य है कि सविधान भारत की सर्वोच्च विधि है।

पुन यह भी मानना पडेगा कि सविधान ने स्पष्टतया न्यायालयो को यह

अधिकार प्रदान नही किया है कि वे विधियो को असवैधानिक घोषित कर दें । किन्तु यदि सविधान में ऐसा उपबन्ध नही है, तो भी न्यायालयो का यह अधिकार छिन नही जाता जिससे वे प्रमाणित कर सकें कि कोई विधि सवैधानिक है अथवा नही । सविधान की सर्वोच्चता का यह आवश्यक प्रतिफल है । इसके अतिरिक्त सघीय शासन-व्यवस्था निर्धारित और परिसीमित क्षेत्रो में कार्य करती है । फलस्वरूप, सविधान शासन के विविध अगो पर निश्चित मर्यादाएँ आरोपित करता है और यदि शासन का कोई अग अपने अधिकार-क्षेत्र का उल्लघन करता हो, तो यह शासन के उक्त अग द्वारा सवैधानिक मर्यादाओ का अतिक्रमण माना जाएगा और इस प्रकार असवैधानिक माना जाएगा । यह निर्णय तो न्यायालय ही कर सकते हैं कि शासन ने अथवा उसके किसी अग ने सवैधानिक मर्यादाओ का उल्लघन किया है अथवा नही ।

भारतीय सविधान ने विधानमण्डल की शक्तियो पर दो प्रकार के प्रतिबन्ध लगाए हैं (क) विधायिनी क्षमता और (ख) सविधान के भाग तृतीय मे प्रदत्त मौलिक अधिकार ।

(क) विधायिनी क्षमता (Legislative Competence)—सविधान के अनुच्छेद २५१ और २५४ उपबन्धित करते हैं कि यदि कभी ससद्-निर्मित विधि और राज्यो के विधानमण्डल द्वारा निर्मित विधि में असगति हो तो ससद् द्वारा निर्मित विधि मानी जायगी और राज्य विधानमण्डल द्वारा निर्मित विधि अवैध घोषित कर दी जायगी । किन्तु ऐसा कोई तत्स्थानी उपबन्ध नही है जिसके द्वारा राज्य सूची सम्बन्धित किसी विषय पर सघीय विधि अवैध घोषित की जा सके । किन्तु सविधान के अनुच्छेद २४६ ने विधियो के विषय को स्पष्टतया ससद् की क्षमता और राज्य विधानमण्डलो की क्षमता के बीच बाँट दिया है और इस प्रकार सूची १ तथा २ मे सारे विषयों को बाँट दिया गया है । यह भी स्पष्टत उपबन्धित कर दिया गया है कि ससद् को उन विषयो पर विधि निर्मित करने की पूरी छूट होगी जो सघ सूची में प्रगणित किए गए हैं और राज्यो के विधानमण्डलो को उन विषयो पर विधि निर्मित करने का पूरा अधिकार होगा जो राज्यो की सूची में प्रगणित किए गए हैं । इसमें सन्देह नही है कि सघीय ससद् को अनुच्छेद २४५ के अन्तर्गत अधिकार है कि वह सम्पूर्ण भारत क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए विधि बना सकती है, किन्तु ससद् के इस पूर्ण प्रादेशिक अधिकार-क्षेत्र पर सविधान के उपबन्धो का नियन्त्रण है और सविधान के उपबन्धो ने ससद् के अधिकार-क्षेत्र को सीमित करके केवल सघ सूची के विषयो तक मर्यादित कर दिया है ।[1] इस प्रकार यदि ससद् प्रत्यक्षत कोई ऐसी विधि बनाती है जिसका विषय राज्य सूची में प्रगणित है और यदि वह सविधान के उपबन्धो के अनुकूल नही है, तो न्यायालयो का यह स्पष्ट कर्त्तव्य हो

---

[1] संविधान के भाग (घ) के राज्य क्षेत्र के विषय में ससद् की सामान्य विधायिनी शक्तियाँ राष्ट्रपति के विनियमों द्वारा किए गए सशोधनों की विषय हैं । राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह अपने विनियमों द्वारा ऐसी किसी विधि को रद्द या सशोधित कर सके जिसे ससद् ने अनुच्छेद २४५ (१) के अनुसार किसी राज्य-क्षेत्र के लिए बनाया हो, और राष्ट्रपति के उक्त विनियमों का वही प्रभाव होगा जो ससद् के किसी अधिनियम का ।

जाता है कि वे संसद् द्वारा निर्मित ऐसी किसी विधि को असवैधानिक घोषित कर दें।[1] इस प्रकार भारतीय न्यायालयों को अधिकार है कि वे विधियो की वैधानिकता के सम्वन्ध मे विधायी शक्तियों के अतिक्रमण के प्रसग मे अपना निर्णय दे सकते हैं, यद्यपि यह शक्ति सविधान ने केवल उच्च न्यायालयो[2] और उच्चतम न्यायालय[3] को ही प्रदान की है। सविधान ने इस प्रकार की शक्ति निम्न न्यायालयो को नही दी है।

(ख) कुछ अन्य उपवन्ध जो ससद् और राज्यो के विधानमण्डलो की शक्तियो को प्रतिवन्धित करते हैं, सविधान के भाग तृतीय में वर्णित मौलिक अधिकार हैं। अनुच्छेद १३ उपवन्धित करता है कि भारत राज्य-क्षेत्र मे वे सव प्रवृत्त विधियाँ शून्य होगी जो मौलिक अधिकारो का उल्लघन करती हो। सविधान में अनुच्छेद १३ का उपवन्धित करना अत्यन्त सावधानी और बुद्धिमानी का काम था। यदि उक्त उपवन्ध न भी होता, और यदि कोई विधानमण्डल मौलिक अधिकारो का हनन करते, तो भी न्यायालयो के पास अधिकार है कि मौलिक अधिकारो के उल्लघन की सीमा तक उक्त अधिनियम को असवैधानिक घोषित किया जा सकता है।

सविधान ने जिन मौलिक अधिकारो की घोषणा की है वे असीमित और मर्यादित नही हैं। उन पर मर्यादाएँ लगी हुई हैं। कुछ मौलिक अधिकारो के सम्वन्ध में तो स्वय सविधान ने मर्यादाएँ आरोपित कर दी हैं। कुछ अन्य अधिकारो के सम्वन्ध में न्यायालयो के ऊपर छोड दिया गया है कि वे जैसा उचित समझें प्रतिवन्ध लगा सकते हैं। किन्तु यह वात मार्के की है कि हर हालत में अधिकार ही मौलिक हैं, प्रतिवन्ध मौलिक नही हैं। इसलिए उच्चतम न्यायालय का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह प्रयत्नपूर्वक यह देखे कि जिन अधिकारो को मौलिक माना गया है, वे मौलिक ही रहे और यदि कोई विधि उक्त मौलिक अधिकारो का अतिक्रमण करती है, तो वह उच्चतम न्यायालय की छानवीन का विषय है। यदि उच्चतम न्यायालय निर्णय करेगा कि विधि के द्वारा सीमाओ का अतिक्रमण हुआ है, तो ऐसी विधि असवैधानिक घोषित कर दी जायगी। उच्चतम न्यायालय का यह कर्त्तव्य है कि उसकी देख-रेख में न तो ससद् और न कार्यपालिका उन सीमाओ का अतिक्रमण करे जो सविधान ने ससद् तथा कार्यपालिका पर आरोपित कर दी हैं।

उच्चतम न्यायालय का कार्य (Role of the Supreme Court)—निस्सन्देह उच्चतम न्यायालय का कार्य महान् है और उसकी शक्तियाँ व्यापक हैं। श्री अल्लादि कृष्णस्वामी अय्यर के शब्दो में भारतीय उच्चतम न्यायालय की शक्तियाँ ससार के किसी अन्य उच्चतम न्यायालय से अधिक हैं। भारतीय उच्चतम न्यायालय एकीकृत न्यायपालिका के शिखर पर अवस्थित है और यह न केवल सविधान का अपितु सामान्य विधि का भी निर्वचन करता है। तदनुसार इसका मुख्य कर्त्तव्य यह है कि इसकी देख-रेख मे विधियो का यथाविधि पालन होता रहे, और कोई न्यायालय या न्यायाधिकरण किसी के साथ अन्याय न करे। वैधानिकत तो उच्चतम न्यायालय

---

[1] अनुच्छेद १३१—१३२—१३३ देखिए।

[2] अनुच्छेद २२८।

[3] अनुच्छेद १३१ से लगाकर १३६ तक।

में अपील की ही जा सकती है, इसके अतिरिक्त सविधान ने उच्चतम न्यायालय को कतिपय असाधारण अधिकार दिए हैं जिनके द्वारा वह न्याय के पक्ष मे हस्तक्षेप कर सकता है। उच्चतम न्यायालय को जो अधिकार प्रदान किया गया है कि वह किसी न्यायालय या न्यायाधिकरण के फैसले के विरुद्ध अपील की विशेष इजाजत दे सकता है, उस पर किसी प्रकार का सवैधानिक बन्धन नही है। इस प्रकार की अपीलो की विशेष इजाजत देना पूर्णतया उच्चतम न्यायालय के स्वविवेक पर छोड दिया गया है और उक्त न्यायालय किसी पीडित पक्ष को ऐसी हालतो मे कुछ राहत दे सकते हैं जहाँ प्राकृतिक न्याय के सिद्धान्तो का अतिक्रमण हुआ है।

उच्चतम न्यायालय अभिलेख न्यायालय भी है और उसको वे सब अधिकार हैं जो अभिलेख न्यायालय को प्राप्त होते हैं, जिनमे एक अधिकार यह भी है कि वह अपना अवमान करने वाले व्यक्ति को स्वय दण्ड दे सकता है। अभिलेख न्यायालय के निर्णय और उसकी कार्रवाइयो का इतना भारी महत्त्व होता है कि उनकी सत्यता को किसी भी न्यायालय मे चुनौती नही दी जा सकती। इस कारण उच्चतम न्यायालय की स्थिति अत्यन्त उच्च हो जाती है। उच्चतम न्यायालय के निर्णय भारत के सभी न्यायालयो को मान्य हैं, और इसके निर्णयो की सर्वग्राह्य और सर्वमान्य स्थिति को व्यवस्थापिका के अधिनियम से भी प्रतिबन्धित नही किया जा सकता। उच्चतम न्यायालय के परामर्शदायक कर्त्तव्यो का भी महत्त्व है क्योकि यह विधि-सम्बन्धी भावसूक्ष्म प्रश्नो पर भी परामर्श के रूप में अपने विचार और निर्णय दे सकता है।

किन्तु उच्चतम न्यायालय का मौलिक कर्त्तव्य यह है कि वह सविधान का निर्वचन करे और विधियो की घोषणा करे। जहाँ केन्द्र और राज्यो के अधिकार क्षेत्र में टक्कर होती है, वहाँ उच्चतम न्यायालय ही सविधान का निर्वचन करके विधियो का निर्धारण करता है। इस सम्बन्ध में भारतीय उच्चतम न्यायालय के कृत्य सयुक्त राज्य अमरीका के कृत्य से भिन्न हैं। इस भिन्नता का एक कारण यह है कि दोनो देशो के सघो की प्रकृति में पर्याप्त अन्तर है।

भारतीय सविधान की सातवी अनुसूची में सघ सरकार और राज्यो की सरकारो की शक्तियो का स्पष्ट रूप से उल्लेख कर दिया गया है। हमारे यहाँ अवशिष्ट शक्तियाँ भी सघ सरकार को सौंप दी गई है। सघ सरकार समय-समय पर राज्य-सरकारो को निर्देश दे सकती है। इसके अतिरिक्त आपात-कालो मे वह राज्यो की सत्ता का अतिक्रमण कर सकती है। इन समस्त कारणो की वजह से भारत में सघ सरकार और राज्य सरकारो के बीच विवाद की बहुत कम सभावना रहती है। फलत भारत में उच्चतम न्यायालय भी न्यायिक पुनरीक्षण की उतनी विशाल शक्तियाँ ग्रहण नही कर सकता जितनी अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय को प्राप्त हैं।

भारतीय सविधान में मौलिक अधिकारो का विस्तृत वर्णन है, और जिन उपबन्धो ने उक्त अधिकारो पर कतिपय न्याय्य प्रतिबन्ध भी लगाए हैं, उच्चतम न्यायालय को न्यायिक पुनर्विचार अथवा पुनरीक्षण का अधिकार प्रदान किया है, वास्तव

में न्यायिक पुनर्विचार आवश्यक हो गया है। किन्तु जिस रूप में भारतीय उच्चतम न्यायालय मौलिक अधिकारो के अतिक्रमण करने पर विधियो को अवैध घोषित कर सकता है, वह अधिकार अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय के तत्सम्बन्धी अधिकार से भिन्न है। हमारे सविधान में न तो 'यथोचित विधि प्रक्रिया' (due process) को स्थान दिया गया है और न 'न्यायिक परमेष्ठता' (judicial supremacy) के सिद्धान्त को ही मान्यता दी गई है। सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान में 'यथोचित विधि प्रक्रिया' नाम की धारा को और 'न्यायिक परमेष्ठता' के सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करके अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय को सयुक्त राज्य अमरीका की सामाजिक नीति के निर्माण मे महत्त्वपूर्ण और निर्णायक भाग लेने का अवसर प्राप्त हो गया है। इस प्रकार अमरीकन सर्वोच्च न्यायालय विधानमण्डल से भी उच्चतर स्थिति (super legislature) का उपभोग करता है, और इसी के आधार पर जस्टिस ह्यूजेज ने कहा था कि "यद्यपि हम सविधान के अनुयायी हैं, परन्तु सविधान वही है जो न्यायाधीश कहे और जिस प्रकार वह सविधान का निर्वचन करे।" इस के विपरीत भारत में 'ससद् की परेमष्ठता' के सिद्धान्त पर कार्य होता है यद्यपि उक्त ससदीय परमेष्ठता पर भी कतिपय सवैधानिक प्रतिबन्ध लगे हुए हैं। भारत में उच्चतम न्यायालय किसी अधिनियम को असवैधानिक घोषित कर सकता है, यदि वह सवैधानिक प्रतिबन्धो का अतिक्रमण करेगा, किन्तु भारतीय उच्चतम न्यायालय विधान निर्माण-सम्बन्धी नीति की वैधानिकता की परीक्षा नही कर सकता। यद्यपि यह ठीक है कि उच्चतम न्यायालय को खोज और छानबीन के साथ यह देखते रहना चाहिए कि विधानमण्डल मौलिक अधिकारो का अतिक्रमण न कर सकें, फिर भी यह अमरीका के सर्वोच्च न्यायालय की तरह विधान मण्डल का तृतीय सदन नही है और भारतीय उच्चतम न्यायालय को विधानमण्डल की नीति पर निर्णय देने का अधिकार नही है और न उच्चतम न्यायालय विधि में निहित नीति की परीक्षा कर सकता है। स्वय उच्चतम न्यायालय ने गोपालन बनाम मद्रास राज्य के विवाद में अपने अधिकारो की सीमाओ की व्याख्या की थी। भारत में न्यायपालिका की स्थिति कुछ-कुछ सयुक्त राज्य अमरीका और इगलैंड की न्यायपालिकाओ के बीच की सी है। भारतीय न्यायपालिका वह कार्य कदापि नहीं कर सकती, जो सयुक्त राज्य अमरीका का सर्वोच्च न्यायालय करता है। भारत में उच्चतम न्यायालय इस प्रकार अपना कार्य करेगा कि न तो ससद् और न कार्यपालिका ही सवैधानिक सीमाओ का अतिक्रमण कर सकें।

किन्तु जिस समय उच्चतम न्यायालय विधियो का निर्वचन या विधि को वैधानिक घोषित करता है उस समय न्यायालय को चाहिए कि वह सविधान को मृत प्राणी न समझे बल्कि उसे प्राणयुक्त सजीव प्राणी समझे जिसमें सभी जीवित प्राणियों के समान वृद्धि और विकास की सभावनाएँ हैं। सक्षेप में कहने का अर्थ यह है कि उच्चतम न्यायालय को नई परिस्थितियो और नये वातावरण का ध्यान रखना चाहिए, जैसा कि प्रधान मन्त्री प० नेहरू ने सविधान के चतुर्थ सशोधन विधेयक पर शासन की स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुए कहा था। सर मॉरिस ग्वायर ने भी

१९३७ में उच्चतम न्यायालय के प्रतिष्ठापन के अवसर पर यही कहा था "मुझे विश्वास है कि संघीय न्यायालय विधियों का निर्वचन और विधियों की वैधानिकता की घोषणा करते समय केवल औपचारिक और क्षुद्र विधि परायणता (formal and barren legalism) के अनुसार ही आचरण नहीं करेंगे।"[1] सर मॉरिस ग्वायर का उक्त कथन, उच्चतम न्यायालय के यथार्थ कार्यों पर सम्यक् प्रकाश डालता है। यदि उच्चतम न्यायालय को राष्ट्र की स्थिति का ज्ञान नहीं है और यदि उसे देश की आवश्यकताओं का भान नहीं है और यदि वह केवल औपचारिक और क्षुद्र विधि-परायणता के पीछे पडा रहा तो निश्चित रूप से संविधान में संशोधन करने की आवश्यकता आ खडी होगी, यद्यपि संविधान में संशोधन करना कठिन है।

सत्य यह है कि भारतीय उच्चतम न्यायालय का मुख्य कर्त्तव्य यह है कि वह कार्यपालिका द्वारा अतिक्रमणों पर नियन्त्रण रखे किन्तु व्यवस्थापिका के कृत्यों के ऊपर उतने कठोर नियन्त्रण की आवश्यकता नहीं है। कार्यपालिका के ऊपर नियन्त्रण रखने के लिए संविधान ने उच्चतम न्यायालय को पर्याप्त शक्तियाँ और अधिकार प्रदान किये हैं। प्रथमतः अपीलों की आज्ञा देकर उच्चतम न्यायालय अवैधानिक अधिनियमों को रद्द कर सकता है, इसके अतिरिक्त उत्प्रेषण लेख तथा परमलेख आदि के द्वारा भी उच्चतम न्यायालय को पुनरीक्षण अथवा पुनर्विचारक अधिकार प्राप्त हो गए हैं। ये आदेश लेख (writs) वास्तव में नागरिकों की स्वतन्त्रताओं के प्रहरी हैं, और जहाँ राज्य के क्रियाकलापों में अपार वृद्धि हुई है, इन लेखों की उपयोगिता में भी उतनी ही वृद्धि हुई है। श्री अल्लादि कृष्ण स्वामी अय्यर ने ठीक ही कहा था "यद्यपि इंगलैंड के लार्ड चीफ जस्टिस (स्वर्गीय) ने इसे अनुचित माना है फिर भी आधुनिक परिस्थितियों में शासन के क्रियाकलापों में अपार वृद्धि हुई है, अतः, फलस्वरूप प्रशासनिक न्यायाधिकरण तथा अन्य न्यायिक और अर्द्ध-न्यायिक कृत्यों को करने वाले शासनिक उपकरण, आधुनिक शासन-व्यवस्था के आवश्यक अंग बने रहेंगे, सत्य तो यह है कि वे अपरिहार्य हो गए हैं। इस प्रकार के प्रशासनिक न्यायाधिकरण और अर्द्धन्यायिक न्यायालयों से डर है कि वे अपने अधिकारों का दुरुपयोग करेंगे, अतः इसका केवल एक ही उपाय है कि देश के उच्च न्यायालयों अथवा सर्वोच्च न्यायालय को पुनरीक्षण या पुनर्विचार का अधिकार-क्षेत्र प्रदान कर दिया जाय।"[2]

Suggested Readings

Basu, D D	Commentary on the Constitution of India, pp 399-462
Carr, R K	The Supreme Court and the Judicial Review

---

[1] Speech delivered at the inaugural sitting of the Federal Court on Dec 6, 1937

[2] As quoted by Shri D D Basu in his Commentary on the Constitution of India, p 406

Corwin, E. S	Court over Constitution; A Study of the Judicial Review as an Instrument of Popular Government
Ghosh, R C	Constitutional Divisions of the Supreme Court, Indian Journal of Political Science, April-June 1953
Gledhill, A	The Republic of India, Chapter 9.
Joshi, G N	The Constitution of India pp. 151-186
Mukherjee, T B	Supreme Court as a Guardian of the Constitution Indian Journal of Political Science, April-June 1951
Sharma, M. P	The Government of the Indian Republic. Chapter X

अध्याय ८

संघ और राज्य

(The Union and the States)

सघ के एकक (The Units of the Federation)—भारत, अर्थात् इण्डिया राज्यो का सघ है।[1] सविधान प्रारूप समिति[2] ने सघ के लिए यूनियन शब्द का प्रयोग जान-बूझ कर इसलिए किया था कि सविधान जिस सघ की स्थापना करने जा रहा था, वह अवयवी राज्यो के बीच किसी प्रकार के समझौते का प्रतिफल नही था, और अवयवी एकको को सघ मे सम्बन्ध-विच्छेद कर लेने की भी छूट नही है। भारतीय सघ सदैव के लिए स्थिर है और उसका विघटन नही हो सकता। सघ के अवयवी राज्य सविधान के जात हैं और राज्यो मे जिस प्रकार की शासन-प्रणाली और अर्थ-व्यवस्था चालू होगी और शासन-व्यवस्था के अन्तर्गत जितनी स्वायत्तता राज्यो को प्राप्त होगी, यह सब कुछ सविधान ही निश्चित करता है। राज्यो की वास्तविक स्थिति का वर्णन डा० अम्बेदकर ने सविधान सभा में किया था। उन्होने कहा था "यद्यपि हम देश को और प्रजा को विभिन्न राज्यो में प्रशासनिक सुविधा के लिए विभाजित कर सकते हैं, किन्तु समस्त देश एक इकाई है, इसकी समस्त प्रजा एक राष्ट्र का निर्माण करती है और एक विधि की परम सत्ता (imperium) के नीचे निवास करती है और वह परम सत्ता एक ही स्रोत से प्राप्त हुई है।"[3] इस प्रकार भारत सघ का स्वरूप एकात्मक है, यद्यपि सघ अथवा यूनियन सघान (federation) को कहते हैं।

सविधान ने सघ के सभी एकको को राज्य कहा है चाहे इस सविधान के प्रभावी होने के पूर्व वे गवर्नरो द्वारा शासित प्रान्त थे, चाहे चीफ कमिश्नरो के प्रान्त थे और चाहे वे भारतीय नरेशो के रजवाड़े अथवा राज्य थे। ब्रिटिश शासित भारत के प्रशासनिक एकक स्वतन्त्रता के बाद भी ज्यो के त्यो बने रहे, किन्तु भारतीय नरेशो के राज्य जो भारत सघ में विलीन हो गए, विभिन्न प्रकार की शासन-व्यवस्था रखते थे और सघ के विभिन्न एकको का उक्त प्रशासनिक भेद सविधान ने ज्यो का त्यो जारी रखा यद्यपि राज्य पुनर्गठन आयोग (States Reorganisation Commission) की सिफारिशों के फलस्वरूप वह भेद बाद में समाप्त कर दिया गया। तदनुसार सघटक अथवा अवयवी राज्यो को तीन श्रेणियो में विभाजित किया गया कुछ राज्यो को प्रथम अनुसूची के भाग (क) में रखा गया, कुछ राज्यो को

---

[1] अनुच्छेद १ (१)।

[2] भारत के सविधान का प्रारूप, p IV.

[3] Proceedings of the Constituent Assembly, Vol. VII, Part I, p 43

भाग (ख) में रखा गया और कुछ राज्यो को भाग (ग) में रखा गया। भाग (क) में प्रगणित राज्यो में सात राज्य, भूतपूर्व गवर्नरो के प्रान्त थे जिनके निम्न नाम थे आसाम, विहार, वम्बई, मध्य प्रान्त अथवा मध्य प्रदेश, मद्रास, उडीसा और सयुक्त प्रान्त और इन सात प्रान्तो के अतिरिक्त दो विभाजित प्रान्त भी थे जिनके नाम वगाल और पजाव थे जिनका अगभग १९४७ के देश के विभाजन के फलस्वरूप हुआ था। १९५३ में मद्रास राज्य के तैलुगु भाषाभाषी भागो को मिलाकर आन्ध्र नाम के राज्य की स्थापना की गई, इस प्रकार कुल दस राज्य तो यह रहे। इसके अतिरिक्त भाग (क) के राज्यो मे उनके प्रशासन के अन्तर्गत वन्यजाति क्षेत्र (tribal areas) भी थे और वे भारतीय नरेशो के राज्य भी थे जो उक्त राज्यो के साथ मिला दिए गए थे।

भाग (ख) के राज्यो में वे एकक थे जो पहिले भारतीय नरेशो द्वारा शासित राज्य कहलाते थे। भारतीय नरेशो के राज्यो को भारत सघ में मिलाने में चार शैलियाँ अपनायी गयी

(१) २१६ राज्य, जिनकी समस्त जनसख्या लगभग १९० लाख थी, आसपास के प्रान्तो में मिला दिए गए, उदाहरणार्थ वडोदा और कोल्हापुर को वम्बई राज्य में मिला दिया गया, वगनपाले (Banganpalle) और पुदुक कोटाई (Pudukkottai) को मद्रास राज्य में मिला दिया गया, और लोहारू, दुजुना (Dujuna) और पटौदी (Pataudi) को पूर्वी पजाव राज्य में मिला दिया गया।

(२) ६१ राज्यों को, जिनकी जनसख्या लगभग ७० लाख थी, नए केन्द्र-प्रशासित एकको में परिणत कर दिया गया।

(३) २७५ राज्यों को, जिनकी समस्त जनसख्या लगभग ३५० लाख थी इस प्रकार मिला दिया गया कि उनमे से निम्न नए प्रशासनिक एकक निर्माण किए गए राजस्थान, मध्य भारत, ट्रावनकोर-कोचीन, सौराष्ट्र और पैप्सू (पटियाला और पूर्वी पजाव राज्यो का सघ)।

(४) हैदरावाद, जम्मू और कश्मीर और मैसूर अपनी अलग सत्ता वनाए रख सके। किन्तु उनका आन्तरिक प्रशासन और उनके भारत राज्य के साथ सम्बन्ध इस प्रकार वनाए गए कि वे सुविधापूर्वक भारत के नए सवैधानिक ढाँचे के अनुरूप वन गए।

इस प्रकार प्रथम अनुसूची में भाग (ख) के जिन राज्यों की गणना की गई, वे निम्नलिखित थे हैदरावाद, जम्मू और कश्मीर, मध्य भारत, मैसूर, पैप्सू (PEPSU), राजस्थान, सौराष्ट्र और ट्रावनकोर-कोचीन—इस प्रकार सव मिलाकर आठ राज्य थे। जम्मू और कश्मीर का राज्य यद्यपि प्रथम अनुसूची के भाग (ख) के राज्यो में माना गया, किन्तु उसको विशेष स्थिति प्रदान की गयी और सविधान के अनुच्छेद ३७० में इस स्थिति का स्पष्टीकरण कर दिया गया है। भाग (ख) के अन्य राज्यो को सविधान के सातवें भाग के अनुच्छेद २३८ में लिया गया है।

भाग (ग) के राज्यो में अजमेर, भोपाल, कुर्ग, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, कच्छ,

मणिपुर, त्रिपुरा और विन्ध्य प्रदेश थे। इनमे से दिल्ली, अजमेर-मेरवाडा और कुर्ग पहिले केन्द्र द्वारा शासित क्षेत्र माने जाते थे। भोपाल, कच्छ, मणिपुर और त्रिपुरा पहिले देशी नरेशों के राज्य थे जिन्होने अपनी पूर्व स्थिति ज्यो की त्यो बनाए रखी, किन्तु उनको भाग (ग) के राज्यो में प्रगणित किया गया। हिमाचल प्रदेश और विन्ध्य प्रदेश दोनो कई-कई नरेशो के राज्यो को मिलाकर बने हुए सघ थे। कूच बिहार जो पहिले भाग (ग) का राज्य था, बाद मे पश्चिमी बगाल मे मिला दिया गया। उसी प्रकार बिलासपुर भी पहिले भाग (ग) का पृथक् राज्य था किन्तु बाद में इसको भी हिमाचल प्रदेश में मिला दिया गया।

भारत सघ के अवयवी एकको की असमान स्थिति को समाप्त कर दिया गया है (Disparate Status of the Constituent Units Disappears)—भारतीय सविधान की एक अनोखी विशेषता यह थी कि सघ के अवयवी एकको की स्थिति में आकाश-पाताल का अन्तर था। सविधान के प्रारूप मे, प्रारूप समिति ने इस असमानता के कारणो पर प्रकाश डाला था। उसमें कहा गया था "प्रारूप के अनुच्छेद १ में भारत को राज्यो का सघ कहा गया है। सारे राज्यो में एकरूपता लाने के लिए प्रारूप समिति ने यह उचित समझा कि नए सविधान मे भारत सघ के सभी अवयवी एकको को राज्य कहा जाए, चाहे उनको इस समय गवर्नरों का प्रान्त कहा जाता हो, चाहे चीफ कमिश्नरो का प्रान्त कहा जाता हो और चाहे भारतीय नरेशो के राज्य कहा जाता हो। नए सविधान में भारत के अवयवी एकको में कुछ न कुछ अन्तर तो अवश्य रहेगे और इन्ही विभेदो अथवा अन्तरों के विचार से राज्यो को तीन श्रेणियो में बाँटा गया है। अर्थात् वे राज्य जो प्रथम अनुसूची के भाग १ में प्रगणित कराए गए हैं, वे राज्य जिनको सविधान के भाग २ गिनाया गया है और वे राज्य जो सविधान के भाग तृतीय मे गिनाए गए हैं।"[1] सविधान ने राज्यो के इस विभेद अथवा अन्तर को स्वीकार किया और जैसा कि बताया भी जा चुका है, राज्यो की तीन श्रेणियाँ रखीं और प्रत्येक श्रेणी को उसका अलग स्वरूप दिया और हर एक की स्थिति भी अलग रखी।

भाग (क) और (ख) के राज्यो की स्थिति सघवाद के सिद्धान्त के आधार पर रखी गई किन्तु दोनो प्रकार के राज्यो की शासन-व्यवस्था में कुछ महत्त्वपूर्ण भेद थे। भाग (क) के राज्यो का प्रधान गवर्नर या राज्यपाल होता था जिसको राष्ट्रपति पाँच वर्ष की अवधि के लिए नियुक्त करता था। इसके विपरीत भाग (ख) के राज्य का प्रमुख या प्रधान राजप्रमुख कहलाता था और उक्त पद हैदराबाद और मैसूर में विशेषकर वशागत अथवा पितागत (hereditary) रखा गया था। जम्मू और कश्मीर राज्य का प्रधान सदर-ए-रियासत कहलाता है, और उसको राज्य का विधानमण्डल पाँच वर्ष के लिए निर्वाचित करता है। कई देशी राज्यो के सघ के राजप्रमुख को उन देशी राज्यो के नरेशों की परिषद् चुनती थी जिनसे मिलकर उक्त सघ सघटित होता था, और यह आवश्यक था कि राजप्रमुख मुख्य अव-

---

[1] Draft Constitution of India, p. IV

यवी राज्यो में से किसी राज्य का नरेश हो। यह भी आवश्यक था कि राजप्रमुख को भारत का राष्ट्रपति स्वीकार कर ले। राष्ट्रपति जम्मू और कश्मीर राज्य के सदर-ए-रियासत को भी स्वीकृति प्रदान करता है किन्तु यह स्वीकृति केवल औपचारिक है। किन्तु भाग (क) और भाग (ख) के राज्यो में मुख्य अन्तर सविधान के अनुच्छेद ३७१ के उपबन्ध के कारण था, जिसने सघ सरकार को अधिकार प्रदान किया कि वह भाग (ख) के राज्यो पर सविधान के प्रवर्ती होने से दस वर्षों तक अपना सामान्य नियन्त्रण रख सकेगी, अथवा यदि ससद् विधि द्वारा अन्यथा समयावधि निर्धारित करे तो उस समय तक अपना साधारण नियन्त्रण रख सकेगी। यह भी उपवन्धित किया गया कि भाग (ख) के राज्यो को राष्ट्रपति की ओर से समय-समय पर जो आदेश प्राप्त हो, उनका पालन अनिवार्य होगा किन्तु राष्ट्रपति की ओर से भाग (ख) के राज्यो को जो आदेश और निर्देश मिलते थे वे इतनी जल्दी-जल्दी और इतने सर्वव्यापी (ubiquitous) होते थे कि सघ सरकार का भाग (ख) के राज्यो के ऊपर जो नियन्त्रण था, उसे कई लेखको ने नये प्रकार का साम्राज्यवाद कहा था। किन्तु मैसूर राज्य को इस प्रकार के नियन्त्रण से मुक्त कर दिया गया था।[1]

राज्यो के उत्तरोत्तर क्रम में भाग (ग) के राज्य निम्नतम श्रेणी के थे, और सघ सरकार उनका प्रशासन प्रत्यक्षत एकात्मक शासन के रूप में करती थी। सविधान ने स्पष्टत उपवन्धित किया कि राष्ट्रपति प्रथम अनुसूची के भाग (ग) में उल्लिखित राज्यो का प्रशासन करेगा, तथा वह इस बारे में अपने द्वारा नियुक्त किये जाने वाले मुख्य आयुक्त या उप-राज्यपाल (Lieutenant Governor) के द्वारा अथवा पडोसी राज्य की सरकार के द्वारा कार्य करेगा।[2] पुन सविधान ने यह भी उपवन्धित किया कि प्रथम अनुसूची के भाग (ग) मे उल्लिखित तथा मुख्य आयुक्त या उप-राज्यपाल द्वारा प्रशासित किसी राज्य के लिए ससद् विधि द्वारा स्थानीय विधानमण्डलो का निर्माण कर सकती है और ऐसे विधानमण्डलो के कर्तव्य निर्देशित कर सकती है।[3] ससद् को यह भी अधिकार प्रदान किया गया कि वह भाग (ग) के इन राज्यो के लिए मन्त्रणादाताओ की परिषद् अथवा मन्त्रियो की परिषद् सृजित कर सकती है।[4] तदनुसार भारतीय ससद् ने भाग (ग) राज्य शासन अधिनियम, १९५१ (Government of Part C States Act, 1951) पास किया, जिसके अनुसार भाग (ग) के राज्यो में विधानमण्डलो की स्थापना की गई और मन्त्रिमण्डलो की भी स्थापना कर दी गई। किन्तु इस प्रकार भाग (ग) के राज्यो को और उनके विधानमण्डलो को सारी शक्तियाँ सौंप देने मे भी न तो ससद् की उक्त राज्यो के ऊपर विधायी प्रभुसत्ता

---

[1] Proviso to article 371

[2] अनुच्छेद २३९ (१)।

[3] अनुच्छेद २४० (१) (क)।

[4] अनुच्छेद २४० (१) (ख)।

मे किसी प्रकार की कमी आई और न सघ सरकार का जो भाग (ग) के राज्यो पर शासन करने का ससद् के प्रति उत्तरदायित्व है, उसमें किसी प्रकार कमी हुई। वास्तव में भाग (ग) के राज्यो को सघ के अवयवी एकक समझना भी सघवाद के विरुद्ध है।

सघ के राज्यो के प्रशासन के अतिरिक्त सविधान ने भाग (घ) के राज्य-क्षेत्रो के प्रशासन की भी व्यवस्था की है तथा कुछ अन्य प्रदेशो, जिनमे ऐसे प्राप्त या विजित प्रदेश भी सम्मिलित हैं जिनको अलग से सविधान मे निर्दिष्ट नही किया गया है, के प्रशासन की भी व्यवस्था की है। भाग (घ) के राज्यो मे केवल अण्डमन और निकोबार टापुओ का ही निर्देश किया गया है। प्रदेश या राज्य-क्षेत्र और राज्य में अन्तर है। प्रदेश या राज्य-क्षेत्र को भारत सघ का एकक नही माना गया, और इसलिए सघीय ससद् के प्रतिनिधित्व मे राज्यो और प्रदेशो में अन्तर रखा गया। राज्य सभा में केवल राज्यो[1] को ही प्रतिनिधित्व दिया गया और चूंकि प्रदेश सघ का एकक नही था, इसलिए उसको राज्य सभा के प्रतिनिधित्व से वचित रहना पडा। विभिन्न राज्यो की प्रजा को लोक सभा में सविधान के उपबन्धो के अनुसार प्रतिनिधित्व प्राप्त हुआ, जबकि भारत राज्य-क्षेत्र मे समाविष्ट किन्तु किसी राज्य के अन्तर्गत न होने वाले राज्य-क्षेत्रो का प्रतिनिधित्व लोक सभा मे वैसा होता है जैसा कि ससद् ने विधि द्वारा उपबन्धित किया है।[2]

किसी राज्य-क्षेत्र का प्रशासन राष्ट्रपति मुख्य आयुक्त के द्वारा करता था या अपने अधिकार द्वारा नियुक्त किसी अधिकारी द्वारा करता था और ऐसे विनियमो के आधार पर उक्त राज्य-क्षेत्रो का प्रशासन होता था जो ससद् के अधिनियमो के समान प्रभावी थे।[3] ससद् की विधायिनी शक्ति उन विषयो पर भी थी जो राज्य सूची मे प्रगणित थे।[4] इस प्रकार सघ सरकार को सभी प्रकार की पूर्ण शक्तियाँ थी और उनमे प्रशासन सम्बन्धी, व्यवस्थापिका सम्बन्धी और विनियम बनाने सम्बन्धी सभी प्रकार की शक्तियाँ सम्मिलित थी।

किन्तु भाग (ख) के राज्यो के अन्दर भी और बाहर भी इस सवैधानिक स्थिति के प्रति घोर असन्तोष था, क्योकि सघ के विभिन्न अवयवी एकको को जो सिद्धान्तत समान दर्जा मिलना चाहिए, उसके यह विरुद्ध था। आलोचको का यह भी कथन था कि जहाँ सविधान ने भारत के सभी लोगो को समान अवसर प्रदान करने का वचन दिया है, उस वचन अथवा उपबन्ध के भी उक्त स्थिति विपरीत थी। इस सम्बन्ध में प्रबल जनमत से प्रभावित होकर ही राज्य-पुनर्गठन-आयोग ने सिफारिश की थी कि राज्यो के पुनर्गठन के फलस्वरूप भारत सघ के विभिन्न अवयवी एकको में जो सवैधानिक असमानता है वह नष्ट हो जायेगी। राज्य पुनर्गठन आयोग ने अपनी रिपोर्ट मे कहा था—"इस गम्भीर समस्या को सुलझाने का केवल एक ही उपाय है

कि भारत सघ के सभी अवयवी एकको को समान स्थिति प्रदान की जाए और सभी एकक राज्यो का सघ के साथ समान स्तर का सम्बन्ध रहे, हाँ यदि किसी छोटे राज्य क्षेत्र को देश की सुरक्षा अथवा किसी युद्ध-नीति के रक्षणार्थ किसी सर्वाङ्गपूर्ण एकक के साथ मिला देना अभीष्ट न जान पडे तो दूसरी बात है और ऐसी स्थिति में ऐसे किसी राज्य-क्षेत्र को भी एकक के रूप मे रखा जा सकेगा ।"[1] कमीशन अथवा आयोग की राय थी कि भारत के विभिन्न राज्यो को तीन श्रेणियो मे केवल सक्रान्तिकालीन व्यवस्था के लिए ही बाँटा गया था, और उक्त व्यवस्था को स्थायी राजनीतिक व्यवस्था के सम कभी भी स्वीकार नही किया गया था। राज्य पुनर्गठन आयोग ने सिफारिश की थी कि सविधान के अनुच्छेद ३७१ को उडा दिया जाए और राजप्रमुख का पद समाप्त कर दिया जाए तो इस प्रकार भाग (ख) के राज्य भाग (क) के राज्यो का दर्जा प्राप्त कर लेंगे। आयोग ने यह भी लिखा था कि राजप्रमुख के पद का राजनीतिक महत्त्व भी है और बहुत अधिक सख्या में लोग राजप्रमुख पद को आदर की दृष्टि से नही देखते और अपार जनमत इस पद को इस कारण समाप्त करना चाहता है कि राजप्रमुख हमारे देश के लोकतन्त्रीय ढाँचे मे उपयुक्त नही लगते ।"[2]

भाग (ग) के राज्यो के सम्बन्ध मे राज्य-पुनर्गठन आयोग ने यह सिफारिश की कि केवल दिल्ली, मणिपुर, अण्डमान टापू और निकोबार टापू को छोडकर बाकी सभी भाग (ग) के राज्यो को पास-पडोस के राज्यो में मिला देना चाहिए, तथा उक्त चार राज्य (अर्थात् दिल्ली, मणिपुर, अण्डमान और निकोबार) केन्द्र द्वारा शासित राज्य रहे।[3] आयोग ने यह भी छूट दे दी कि यदि भाग (ग) के किसी राज्य को देश की सुरक्षा अथवा किसी अन्य आवश्यक कारण से पास-पडोस के राज्यो में मिलाना सम्भव न हो तो ऐसे प्रत्येक राज्य को भी केन्द्र द्वारा शासित राज्य-क्षेत्र के रूप मे गठित किया जाए।[4]

इस प्रकार राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशो के अनुसार भारत सघ में दो श्रेणियो के अवयवी एकक राज्य हैं

(क) वे राज्य जो भारत सघ के मौलिक अवयवी एकक हैं,

(ख) वे राज्य-क्षेत्र जो केन्द्र द्वारा शासित हैं।

भारत सरकार ने १६ जनवरी, १६५६ को घोषित किया कि उसे राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशे स्वीकार हैं और फलस्वरूप भाग (क), (ख) और (ग) के राज्यों के बीच की सवैधानिक असमानता को समाप्त कर दिया जाएगा और साथ ही राजप्रमुख का पद भी समाप्त कर दिया जाएगा।[5]

---

[1] Report of the States Reorganisation Commission, para 237.

[2] Ibid, para 242

[3] Ibid ,, 268

[4] Ibid ,, 287.

[5] Govt Communique dated 1-1-1956, the Tribune, Ambala.

राज्यों के पुनर्गठन की समस्या

(The Problem of Reorganisation of States)

राज्यों की सरचना (Structure of the States)—पूर्वकालिक भारत के प्रान्त, जो फिर भारत सघ के राज्य बन गए, न तो किसी वैज्ञानिक आधार पर और न किसी युक्ति के आधार पर ही प्रान्तो के रूप में गठित हुए थे। वे मनमाने निर्णयो के फल थे, केवल प्रशासनिक सुविधा और इष्टानुकूलता (*expediency*) को सभवत अवश्य ध्यान में रखा गया था। ज्यो-ज्यो ब्रिटिश लोग विजयी होते गए और ज्यो-ज्यो उनका प्रभाव-क्षेत्र बढता रहा, त्यो-त्यो प्रान्तीय प्रशासन के सगठन को इस प्रकार नियोजित किया गया कि उससे दो लाभ हो : प्रथमत आर्थिक और सामाजिक महत्त्व के क्षेत्रो में सर्वोच्च सत्ता का प्रत्यक्ष प्रभाव-क्षेत्र अक्षुण्ण रहे और द्वितीयत नव-विजित प्रदेशो मे समुचित शासन-व्यवस्था स्थापित हो जाए। इन दोनो उद्देश्यो में से, राज्य पुनर्गठन आयोग के अनुसार, "प्रथम उद्देश्य ही मुख्य उद्देश्य था और इस उद्देश्य की प्राप्ति मे आवश्यकत परम्परागत और प्रादेशिक राजवशीय भक्ति या निष्ठाओ का दमन करना जरूरी था। अत इस उद्देश्य प्राप्ति के लिए पुराने सीमान्तो (old frontiers) को नष्ट करके ऐसे नए प्रान्तो का निर्माण किया गया जिनके निर्माण में न तो बन्धुता अथवा सादृश्य (affinity) पर कोई विचार किया गया और न सबके सामान्य आर्थिक हितो पर ही विचार किया गया।"[1] इस प्रकार प्रान्तो का प्रशासनिक सगठन ऐसा किया गया कि वे (प्रान्त) पूरी तरह केन्द्रीय सरकार के अधीन रहें, और जबकि स्वय केन्द्रीय सरकार ब्रिटिश सरकार की अनुचर थी ही, और वह साम्राज्य के हितो को पोषण करने वाली एक उपकरण मात्र थी।

इन प्रशासनिक एकको का मनमाना सीमा-निर्धारण इस शताब्दी के प्रारम्भ तक चलता रहा, और फिर यह अनुभव किया जाने लगा कि प्रशासनिक सुविधा के लिए भी ऐसे सहत (Compact) प्रशासनिक एकको की आवश्यकता होती है जिनमें किसी न किसी प्रकार की एकरूपता और समानता विद्यमान हो। इसलिए नए प्रान्त निर्माण करते समय ऐसी अनेक बातो पर भी विचार किया गया जिनसे प्राकृतिक एकको के विकास में सहायता मिलती है, यद्यपि इन सब विचारों को भी उतना मुख्य महत्त्व नही दिया गया जितना कि प्रशासनिक सुविधा और सामयिक सकट-कालीन आवश्यकताओ को दिया गया। इसके बाद सतुलनो और प्रतिभार की नीति प्रारम्भ हुई और उसके फलस्वरूप जितने भी प्रादेशिक सीमा-निर्धारण सम्बन्धी परिवर्तन हुए उन सब का केवल एक ही उद्देश्य था कि देश में राष्ट्रीयता के बढते हुए उभार को दबाया जाए और जहाँ कही सम्भव हो, मुसलमानो को हिन्दुओ के समान दर्जा तो दिया ही जाए यदि यह सम्भव न भी हो कि उन्हे हिन्दुओ से अधिक श्रेष्ठ स्थिति प्रदान की जा सके।

सन् १९३० में परिनियत आयोग ने स्वय स्वीकार किया था कि "भारतीय प्रान्त केवल ऐसे प्रशासनिक क्षेत्रफल थे जो विजयो, देशी नरेशो को विस्थापित करने,

---

[1] Report of the States Reorganisation Commission, para 15

अथवा प्रशासनिक सुविधाओ के फलस्वरूप बने थे ।"[1] परिनियत आयोग ने प्रान्तो की उत्पत्ति के जो तीन कारण गिनाए है उनमे चौथा कारण यह भी जोडा जा सकता है कि हमारे पुराने आकाओं (old masters) ने सतुलनो और प्रतिभार की नीति पर बडे परिश्रम और तत्परता से कार्य किया था ।

१९४७ में जब भारत ने स्वतन्त्रता प्राप्त की तो उसे उत्तराधिकार में विलक्षण और गलत प्रान्तीय सीमाएँ मिली ।[2] भारत की भौगोलिक स्थिति और भी पेचीदा उस समय हो गई जब पुराने देशी राज्य विघटित हो गए जिनके विघटन के फलस्वरूप विलीनीकरण की विधि (process of merger) के द्वारा कुछ प्रान्तो की तो सीमाओ मे आकस्मिक वृद्धि हो गई और कुछ राज्य सघो मे सघटित कर दिए गए और कुछ राज्यो को केन्द्र द्वारा प्रशासित राज्य-क्षेत्रो मे परिवर्तित कर दिया गया । इसीलिए राज्य पुनर्गठन आयोग ने कहा था कि "भारतीय गणराज्य के प्रतिष्ठापन के अवसर पर भारत सघ के राज्यो का जो स्वरूप था वह कुछ तो सयोग का और कुछ घटनाओ का प्रतिफल था और किसी हद तक वह पुराने देशी राज्यो के विलीनीकरण की ऐतिहासिक कहानी का भी फल था ।"[3]

राज्यों के पुनर्गठन की आवश्यकता (Need for Reorganising the States)—१९३० के परिनियत आयोग ने इस बात को स्वीकार कर लिया था कि भारत के लिए सघीय शासन-व्यवस्था मे पहिले प्रान्तो के पुनर्गठन की आवश्यकता है । परिनियत आयोग ने अनुभव किया कि प्रान्तीय सीमाओ का पुनर्निर्धारण पहिले होना चाहिए, तभी सघात्मक शासन-व्यवस्था की नई योजनाओ पर विचार होगा । सघ का जैसा साँचा तैयार होगा, उसके बाद फिर पुनर्गठन अथवा पुनर्वितरण कठिन हो जाएगा ।[4] राज्य पुनर्गठन आयोग ने परिनियत आयोग के उक्त वक्तव्य या विचार पर सहमति प्रकट करते हुए लिखा था "उक्त विचार अधिकतर ऐसे एकक राज्यो पर सही-सही लागू होते हैं जो बिना सोचे-समझे निर्मित हो गए है और जिनमे कुछ पुराने देशी राज्यो के क्षेत्र भी शामिल हो गए है, अत ऐसे प्रान्तो अथवा एकको के भविष्य पर पहिले विचार कर लेना चाहिए नही तो भय है कि निहित स्वार्थ घर कर जायेंगे और तब उचित समाधान कठिन हो जाएगा ।"[5] सत्य यह है कि देशी राज्यो के विघटन के फलस्वरूप जो भारतीय सघ के अवयवी एकक राज्य बने, वे ब्रिटिश भारत के प्रान्तो की अपेक्षा अधिक तर्करहित थे और उनकी सीमाएँ अपेक्षाकृत अधिक बेडौल थी । राज्य पुनर्गठन आयोग ने ठीक ही कहा था कि राज्यो के पुनर्गठन की आवश्यकता न केवल नीतिपूर्ण है अपितु इसकी तुरन्त आवश्यकता है क्योकि

---

[1] Report of the Indian Statutory Commission, Vol II, para 25

[2] Dash, S C States Reorganisation Commission and Orissa The Indian Journal of Political Science, Oct -Dec 1955, page 240

[3] Report of the States Reorganisation Commission, para 14

[4] Report of the Indian Statutory Commission, Vol II, para 38

[5] Report of the States Reorganisation Commission, para 87

भारत बहुत बडे पैमाने पर नियोजन करने जा रहा है और ऐसे बडे नियोजनो के लिए स्थायी राजनीतिक एकक आवश्यक शर्त हैं।[1]

भाषावार प्रान्तो का आन्दोलन (The Movement for Linguistic Provinces)—अब प्रश्न यह है कि राज्यो का पुनर्गठन किस आधार पर किया जाए। राज्यो के पुनर्गठन की माँग के साथ-साथ प्राय भाषा के आधार पर प्रान्तो के पुनर्निर्माण की माँग की गई है। भाषावार प्रान्तो के निर्माण की बात सबसे पहिले श्री रिसले (Risley) के परिपत्र (circular letter) मे १६०३ मे सुझाई गई थी जिसमें बगाल के विभाजन को भाषा के आधार पर न्याय्य ठहराया गया था। १६०५ के बगाल के विभाजन के प्रस्ताव में भी भाषा के सिद्धान्त को भारी महत्त्व दिया गया था और पुन १६११ में भी भाषा के सिद्धान्त को ही मुख्य रूप मे महत्त्व दिया गया था जबकि लॉर्ड हार्डिञ्ज की सरकार ने भारत सचिव से यह सिफारिश की कि उक्त विभाजन रद्द कर दिया जाए। किन्तु, जैसा कि राज्य पुनर्गठन आयोग ने ठीक ही कहा है, "भाषा के सिद्धान्त पर इन अवसरो पर जो बल दिया गया उसकी आड में मुख्य रूप मे प्रशासनिक सुविधा का विचार प्रमुख था और किसी हद तक राजनीतिक आवश्यकताओ का भी उनमें हाथ था। वास्तव मे, जिस रूप में बगाल का विभाजन किया गया था, वह भाषागत समानता के सिद्धान्त का घोर तिरस्कार था। १६१२ में जो समझौता हुआ, उसमे भी भाषागत सिद्धान्त को विशेष आदर प्रदान नही किया गया क्योंकि उक्त समझौते के फलस्वरूप बगाल के हिन्दुओ और मुसलमानो मे स्पष्ट विभाजन-रेखा खीच दी गई। इस प्रकार उक्त दोनो विभाजन इस सिद्धान्त के सर्वथा विरुद्ध थे कि विभिन्न भाषाभाषी समुदाय ऐसे थे जो समान सामाजिक अवस्था वाले एकको का निर्माण करते थे और जिनके समान राजनीतिक और आर्थिक हित थे।"[2]

मॉन्टेग्यू और चेम्सफर्ड ने जो मिलकर रिपोर्ट लिखी थी, उसमें भी स्वीकार किया गया था कि प्रान्तीय सीमाओ का पुनर्वितरण वाछनीय है जिसके फलस्वरूप छोटे और समान एकक सगठित कर दिये जाएँ, किन्तु "उनके विचार से वह समय उपयुक्त नही था जबकि देश के सभी राजनीतिक एकको का भौगोलिक पुनर्वितरण किया जाये, क्योंकि इसे वे अतीव कष्ट-साध्य कार्य समझते थे।"[3] छोटे और एकरूप प्रशासनिक राजनीतिक एकको की सिफारिश करते हुए उन्होने कहा था "हमें इस में में सन्देह नही है कि यदि भारत के प्रशासनिक एकक (प्रान्त) छोटे हो और साथ ही एकरूप (homogeneous) भी हो तो शासन को सुविधा होगी, और जब हम यह भी सोच रहे हैं कि भारत में शासन का उत्तरदायित्व कुछ-कुछ अनुभवहीन लोगो के हाथो में आने को है, तो प्रान्तों के पुनर्गठन की हमारी सिफारिश का वज़न कुछ बढ जाता है। इसी आधार पर हम भाषा-सम्बन्धी या जाति-सम्बन्धी प्रशासनिक एकको के निर्माण की भी सिफारिश करते हैं क्योंकि इन आधारो पर प्रान्तो की

---

[2] Report of the States Reorganisation Commission, para 85.

[1] Ibid para 46

[3] Report on Indian Constitutional Reforms (1918) para 301.

स्थापना करने के बाद प्रान्तो मे व्यवस्थापन का सारा कार्य प्रान्तीय भाषा में ही होगा, और फलस्वरूप सार्वजनिक जीवन में ऐसे योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्तियो का सहयोग भी प्राप्त किया जा सकेगा जो अग्रेजी नही जानते।"[1] इस सम्बन्ध में यह भी बताना आवश्यक है कि मॉन्टेग्यू-चेम्सफर्ड ने अपनी रिपोर्ट मे इस सम्भावना की भी परीक्षा की थी कि बड़े प्रान्तों मे भाषा अथवा जाति के आधार पर उपप्रान्तो की स्थापना कर दी जाए ताकि ऐसे छोटे-छोटे एकको का निर्माण हो सके जिन पर उत्तरदायी शासन का प्रयोग किया जा सके। किन्तु इस सुझाव को अव्यावहारिक मानकर त्याग दिया गया।

भारतीय परिनियत आयोग ने, जिसका वर्णन पहिले भी किया जा चुका है, जबर्दस्त सिफारिश की कि प्रान्तो का पुनर्गठन आवश्यक ही नही है, वरन् वह संघात्मक शासन-व्यवस्था की पहिली शर्त है। इसमे भी सन्देह नही है कि परिनियत आयोग ने प्रान्तो के पुनर्गठन के लिए भाषा के सिद्धान्त पर बल दिया, परन्तु केवल भाषा को ही एकमात्र प्रमाण अथवा सिद्धान्त नही माना। पुनर्गठन के लिए कुछ अन्य सिद्धान्तो को भी स्वीकार किया गया जिनमें एक यह था कि प्रान्तों के पुनर्गठन के फलस्वरूप जिन लोगो पर प्रभाव पड़ने वाला है, उनकी पूर्व सहमति आवश्यक है। परिनियत आयोग ने उन कारको (factors) पर प्रकाश डालते हुए, जिनके आधार पर प्रान्तो का पुनर्गठन होना था, लिखा "यदि एक ही भाषाभाषी लोग किसी ऐसे सहत राज्य-क्षेत्र मे निवास करते हैं जो सहत होने के साथ-साथ अनन्यापेक्ष या स्वत पूर्ण भी है, और जो इस प्रकार अवस्थित है और उसके ऐसे आर्थिक स्रोत हैं कि वह पृथक् प्रान्त के रूप में रह सकता है, तो इसमे कोई सन्देह नही है कि प्रान्तो के पुनर्गठन में भाषा एक मजबूत और प्राकृतिक आधार प्रदान करती है। किन्तु केवल भाषा ही एक कसौटी नही है जिसके आधार पर प्रान्तो का पुनर्निर्माण हो, कुछ अन्य आधार भी हैं जिनमे जाति, धर्म, आर्थिक हित, भौगोलिक समीपता, देश और नगर के बीच उचित सन्तुलन, तथा समुद्र किनारे आन्तरिक भाग के बीच उचित सन्तुलन आदि भी ऐसे आधार हैं जो प्रातो के पुनर्गठन में विचारणीय हैं। इस सम्बन्ध मे व्यावहारिक उद्देश्यो के लिए उन सभी लोगो की सहमति अत्यन्त आवश्यक है जिन पर पुनर्गठन सम्बन्धी परिवर्तनो का प्रभाव पड़ने वाला है अर्थात् उस प्रान्त के लोगो की सहमति भी आवश्यक है जिसमे क्षेत्र मिलाया जा रहा है और उस प्रान्त के लोगो की सहमति भी आवश्यक है जिसमें से भूभाग काटकर दूसरे प्रान्त को दिया जा रहा है।"[2]

यद्यपि परिनियत आयोग ने भाषावार प्रान्तो के पुनर्गठन के सिद्धान्त का केवल मर्यादित समर्थन किया, फिर भी भारत सरकार ने १९३१ में उड़ीसा आयोग की स्थापना की जिसके चेयरमैन सर सेम्युएल ओ डोनेल थे और उक्त आयोग को आदेश दिया गया कि वह परीक्षा करे कि कहाँ तक उड़िया भाषाभाषी लोगो का

---

1. Report on Indian Constitutional Reforms (1918), para 46

2 Report of the Indian Statutory Commission, Vol II, para 38

अलग प्रशासनिक एकक स्थापित हो सकता है, और यदि इस प्रकार विभाजन सम्भव हो तो आयोग नवनिर्मित उडिया भाषा-भाषी प्रान्त की प्रादेशिक सीमाएँ निर्धारित करे और ऐसे नए प्रान्त के कारण क्या-क्या प्रशासनिक और वित्तीय परिवर्त्तन करने होगे उन पर भी प्रकाश डाले ।[1] इस प्रकार भारत सरकार ने उडीसा प्रान्त के निर्माण में भाषा के सिद्धान्त को मान्यता दे दी । किन्तु सेम्युएल ओ डोनेल समिति ने भाषा के अतिरिक्त और भी विचारो को स्थान दिया जैसे जाति, लोगो की स्थिति और विचार, भौगोलिक स्थिति, आर्थिक हित और प्रशासनिक सुविधा और जहाँ कही सम्भव हुआ, सम्बन्धित प्रदेश के निवासियो की इच्छा को जानने का प्रयास किया ।[2] किन्तु १९३३-३४ की सयुक्त ससदीय समिति ने और किसी विचार को स्थान नही दिया और कहा कि "उडीसा का अलग प्रान्त ब्रिटिश भारत में सजातीयता और भाषा-भाषिता के हिसाब से सब से एकरूप और समान प्रकार के लोगो का प्रान्त होगा ।"[3] समिति ने उडीसा प्रान्त के निर्माण मे कथित वित्तीय कठिनाइयो पर कोई ध्यान नही दिया बल्कि यह कहा "उडीसा के नये प्रान्त के निर्माण में मुख्य कठिनाई अर्थ-सम्बन्धी है क्योकि उडीसा एक घाटे का प्रान्त है और सम्भवत कुछ समय तक घाटे का प्रान्त रहेगा । किन्तु हम समझते हैं कि आर्थिक कठिनाई को इतना महत्त्व नही देना चाहिए क्योकि अपेक्षाकृत विभाजन से लाभ अधिक होगे ।"[4] भारत सरकार ने ओ डोनेल समिति की सिफारिशो को पूरी तरह स्वीकार नही किया, और फलस्वरूप १९३६ में जिस उडीसा प्रान्त की स्थापना हुई, वह उक्त समिति की सिफारिशो में आवश्यक परिवर्त्तन और सुधारो का फल था ।

सिन्ध प्रान्त की स्थापना भी १९३६ में हुई और स्पष्टत भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्त को इस प्रान्त के निर्माण में भी मान लिया गया था । भारतीय परिनियत आयोग ने सिन्ध को बम्बई प्रान्त से अलग करना अस्वीकार करते हुए कहा कि सिन्ध को अलग प्रान्त बनाने में भयकर प्रशासनिक कठिनाइयाँ हैं, क्योकि फलस्वरूप सिन्ध बम्बई की सहायता से वचित हो जायगा यदि अलग प्रान्त बनने से पहिले ही सक्कर बाँध की समस्या हल नही हो जाती और यदि तत्सम्बन्धी अन्य आवश्यक बातें पहिले से ही निर्णय नही हो जाती ।" किन्तु सयुक्त ससदीय समिति ने सिन्ध को बम्बई प्रान्त से अलग करना स्वीकार कर लिया क्योकि इसके लिए न केवल सिन्ध के मुसलमानो ने इच्छा प्रकट की थी अपितु समस्त भारत के मुसलमान नेता भी यही चाहते थे कि सिन्ध बम्बई से अलग हो जाय । समिति ने यह भी कहा कि अन्य विचारो के अलावा सिन्ध को बम्बई से प्रशासित करने में कई प्रकार की साम्प्रदायिक कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी और अपेक्षाकृत सिन्ध को स्वतन्त्र एकक के रूप में प्रशासित करने मे उतनी कठिनाइयाँ न होगी ।"[5] तदनुसार सिन्ध का जन्म

---

[1] Resolution No 82/VI/31 of the Govt of India, Report of the Orissa Committee, Vol II, p 1

[2] Ibid, Vol I, para 6

[3] J P C Report Vol I, para 60

[4] Ibid

[5] Ibid Vol I, para 57

ब्रिटिश मनमानी का प्रतिफल था, न कि भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्त की रक्षा अथवा पुष्टि।

भाषावार प्रान्त और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Linguistic Provinces and the Indian National Congress)—भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने जिस समय १९०५ में बंगाल के विभाजन के विरुद्ध आन्दोलन किया था जिसके फलस्वरूप बंगाली भाषाभाषी लोग दो भागों में अथवा दो एककों में विभक्त हो गए थे, उस समय भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुनर्गठन की हिमायत की थी। किन्तु १९२० के नागपुर अधिवेशन में कांग्रेस ने सभी प्रान्तों का भाषा के आधार पर पुनर्गठन करना स्वीकार करके उसे अपना राजनीतिक उद्देश्य स्वीकार किया। इस नीति के फलस्वरूप कांग्रेस ने अगले वर्ष अपने प्रादेशिक संगठन के लिए भी क्षेत्रीय भाषा को आधार मान लिया। १९२७ में जब भारतीय परिनियत आयोग की नियुक्ति हो गई, तो कांग्रेस ने प्रस्ताव पास करके घोषणा की कि "अब भाषा के आधार पर प्रान्तों के पुनर्गठन का समय आ गया है", और फिर यह प्रस्ताव रखा कि उस दिशा में पहल करने के लिए आन्ध्र, उत्कल, सिन्ध और कर्नाटक को प्रान्तों का दर्जा प्रदान कर दिया जाय। जिन लोगों ने उक्त प्रस्ताव का समर्थन किया, उन्होंने तो यहाँ तक कह डाला कि एक भाषाभाषी और एक सी सांस्कृतिक परम्पराओं के लोगों को हक है कि वे अपना भविष्य स्वयं निर्णय करें। उनका मतलब सर्वसाधारण के आत्म-निर्णय के अधिकार (People's right of self-determination) से था।

१९२८ में सर्वदल सम्मेलन ने नेहरू समिति को नियुक्त किया था कि वह भारत का संविधान तैयार करे। उक्त समिति (Nehru Committee) ने प्रान्तों के पुनर्गठन के लिए एक भाषा के सिद्धान्त का समर्थन किया और कहा : "यदि किसी प्रान्त के लोगों को शिक्षित बनाना है और यदि उसे अपना सार्वजनिक और प्रशासनिक कार्य अपनी ही भाषा में चलाना है तो यह आवश्यक है कि प्रान्त एक भाषा-भाषी लोगों का प्रदेश या क्षेत्र हो। यदि किसी कारणवश कोई प्रान्त अथवा एकक विभिन्न भाषाओं का क्षेत्र बना रहा, तो कई प्रकार की कठिनाइयाँ उत्पन्न होंगी; और शिक्षा के माध्यम तथा सार्वजनिक क्रियाकलापों के लिए दो या दो से भी अधिक भाषाओं का सहारा लेना होगा। इसलिए यह अतीव आवश्यक है कि प्रान्तों का पुनर्गठन भाषा के आधार पर हो। नियमत, भाषा भी संस्कृति, परम्पराओं और साहित्य के समान ही उन्हीं का एक विशेष रूप है। एक भाषाभाषी क्षेत्र में संस्कृति, परम्पराएँ और साहित्य तीनों मिलकर प्रान्त के विकास में सहायक होंगे।"[1] नेहरू समिति ने बताया कि "प्रान्तों के पुनर्गठन में लोगों की इच्छा, भाषा एवं भौगोलिक, आर्थिक और वित्तीय परिस्थितियों पर भी विचार करना होगा, किन्तु उक्त सभी विचारों में मुख्य रूप से लोगों की 'इच्छा' और 'भाषागत एकता' को विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए।"[2]

---

[1] Report of the Nehru Committee, p 62

[2] Ibid, p 61.

कॉंग्रेस ने पुन. १९२७ और १९४५ के मध्य काल मे दो अवसरो पर प्रान्तो के पुनर्गठन के सम्बन्ध में भाषा के सिद्धान्त को मान्यता दी। १९३७ मे कलकत्ता अधिवेशन में यह स्वीकार करते हुए कि कॉंग्रेस का राजनीतिक ध्येय भाषा के आधार पर प्रान्तो का पुनर्गठन है, कॉंग्रेस ने मांग की कि तुरन्त आध्र और कर्नाटक प्रान्त बना दिये जाएँ। जुलाई १९३८ में कॉंग्रेस कार्यकारिणी ने आध्र, कर्नाटक और केरल (Kerala) के नियुक्त प्रतिनिधियो (deputations) को आश्वासन दिया कि जब कभी कॉंग्रेस के हाथो में सत्ता होगी, वह अवश्य भाषा के आधार पर प्रान्तो का पुनर्गठन करेगी।

कॉंग्रेस अपनी नीति से हट गई (Shift in the Congress Policy)—किन्तु १९४५ मे कॉंग्रेस ने जो चुनाव घोषणा-पत्र जारी किया, उसमें कॉंग्रेस अपनी पुरानी और प्रतिज्ञात नीति से हट गई। पिछले आश्वासनो को दुहराते हुए चुनाव घोषणा-पत्र में कहा गया कि प्रान्तो अथवा प्रशासनिक एकको को जहाँ तक सम्भव हो, भाषा और सस्कृति के आधार पर पुनर्गठित किया जाय। भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्त पर यह मर्यादा आरोपित कर दी गई कि सभी प्रान्तो को तो नही किन्तु जहाँ तक सम्भव होगा, और जहाँ उचित परिस्थितियाँ वर्त्तमान होगी, उन प्रान्तो को भाषा और सस्कृति के आधार पर पुनर्गठित कर लिया जायगा। कॉंग्रेस की नीति में परिवर्तन २७ नवम्बर, १९४७ को सविधान सभा भवन में स्पष्ट दीख पडा जब कि भारत के प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने भाषावार प्रान्तो के पुनर्गठन की बात को स्वीकार करते हुए कहा कि "प्राथमिक आवश्यकता की बात पहिले होनी चाहिए और इस समय हमारे लिए भारत की सुरक्षा और भारत का स्थायित्व प्रथम महत्त्व की चीजें हैं।" प्रधान मन्त्री के उक्त वक्तव्य के बाद धर आयोग (Dar Commission) की नियुक्ति हुई।

धर आयोग की नियुक्ति सविधान की प्रारूप समिति की सिफारिशो के आधार पर हुई थी। सविधान की प्रारूप समिति ने सविधान सभा से सिफारिश की थी कि एक भाषावार प्रान्त पुनर्गठन आयोग (Linguistic Provinces Commission) की नियुक्ति की जाए जो जाँच करके प्रतिवेदन या रिपोर्ट प्रस्तुत करे कि आन्ध्र, कर्नाटक, केरल और महाराष्ट्र के अलग प्रान्त बनाना कहाँ तक उचित होगा और साथ ही यह भी जाँच करे कि उक्त पुनर्गठन के वित्तीय, आर्थिक और प्रशासनिक असर सम्बन्धित प्रान्तो मे और पास-पडौस के प्रान्तो में कैसे होगे और साथ ही उक्त आयोग को प्रस्तावित नए प्रान्तो की सीमाएँ निर्धारित करने का भी आदेश दिया गया। धर आयोग को जो आदेश दिए गए, उनसे स्पष्ट है कि प्रान्तो के पुनर्गठन मे अब केवल भाषा ही एकमात्र आधार नही था। उक्त सम्बन्ध मे अन्य विचार भी उतने ही महत्त्वपूर्ण थे जितना कि भाषा-सम्बन्धी विचार।

धर आयोग ने सविधान सभा के समक्ष दिसम्बर १९४८ मे अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की। आयोग ने सिफारिश की, कि यद्यपि प्रान्तीय सीमाओ के पुनर्निर्धारण में भाषा का सिद्धान्त महत्त्व रखता है, किन्तु उक्त सिद्धान्त हमारे सामने न तो मुख्य सिद्धान्त था और न वह अपवर्जी सिद्धान्त था। भाषा के साथ-साथ हम को, भौगोलिक

विचारो, आर्थिक विचारो, वित्तीय विचारो और प्रशासनिक सुविधाओ को भी देखना था और इन सभी का समान महत्त्व था। इन सभी बातो पर विचार करने के बाद आयोग ने सिफारिश की कि आधुनिक अवस्था में प्रान्तो के किसी प्रकार के पुनर्गठन का उचित अवसर नही है। आयोग ने स्वीकार किया कि भाषा-सम्बन्धी एकरूपता भी प्रशासनिक सुविधा के अन्तर्गत एक सुविधा ही है। आयोग ने पुन यह भी बल देकर कहा कि "राज्यो के पुनर्गठन के सम्बन्ध मे उन तत्त्वो को कोई बढावा नही दिया जाना चाहिए जो राष्ट्रीयता के विकास के मार्ग मे बाधक हैं। जब भारतीय रियासतो का विघटन हो चुके, और देश में स्थिरता उत्पन्न हो जाए तथा एक-राष्ट्रीयता स्थापित हो जाए, केवल तभी कुछ प्रान्तो के पुनर्गठन के बारे में सोचा जा सकता है।"

ज्यो ही धर आयोग ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत की, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने जयपुर अधिवेशन में एक समिति नियुक्त की जिसके सदस्य प० जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभ भाई पटेल और डा० पट्टाभि सीतारमय्या थे। इस समिति को आदेश दिया गया कि भाषा के आधार पर प्रान्तो के पुनर्गठन के प्रश्न पर धर आयोग की रिपोर्ट और स्वतन्त्रता के बाद की नयी समस्याओ के आलोक में विचार किया जाए। उक्त समिति (J V P. Committee) ने यथार्थत धर आयोग की सिफारिशो को ही दुहराया। समिति ने आगे कहा कि भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने प्रान्तो के पुनर्गठन के सम्बन्ध में भाषा के सिद्धान्त को उस समय स्वीकार कर लिया था जब कि उसे यह ज्ञात नही था कि उसे उक्त सिद्धान्त की क्रियान्विति में क्या व्यावहारिक कठिनाइयाँ होगी और इसीलिए उस समय कांग्रेस यह नही समझ सकी कि उसके क्या परिणाम होगे। समिति के सदस्यो ने आगे कहा कि हम सभी का मुख्य ध्येय तो भारत की सुरक्षा, एकता और आर्थिक समृद्धि है, अत प्रत्येक विभाजनकारी और तोडक फोडक प्रवृत्ति को कुचल देना चाहिए। समिति ने यह भी कहा कि भाषा लोगो को जोडती भी है और अलग भी करती है। "इसलिए कांग्रेस की पुरानी भाषावार प्रान्तो की नीति पर अब बहुत सोच-विचार कर ही आचरण किया जाएगा और भाषा के आधार पर प्रान्तो का पुनर्गठन तभी किया जाएगा यदि उसके फलस्वरूप भयकर प्रशासनिक उलट-फेर न हो, या ऐसे आपसी झगडो को प्रोत्साहन न मिले जिनसे देश की राजनीतिक और आर्थिक स्थिरता और समृद्धि खतरे में पड जाए।"

किन्तु समिति ने स्वीकार किया कि यदि प्रबल जनमत भाषा के आधार पर प्रान्तो का पुनर्गठन चाहेगा तो ऐसी माँग की व्यावहारिकता पर और उसके प्रतिफलो और उसकी प्रतिक्रियाओ पर विचार किया जाएगा किन्तु उसमे दो शर्तें होगी. प्रथम शर्त यह होगी कि प्रारम्भ में भाषा का सिद्धान्त केवल ऐसे क्षेत्रो पर प्रयोग किया जाएगा जिनके लोगो में परस्पर मतैक्य है, और द्वितीय शर्त यह होगी कि भाषावार प्रान्तो के पुनर्गठन के सम्बन्ध मे एक ही साथ उन सभी प्रान्तो का पुनर्गठन नही किया जाएगा जिनका भाषा के आधार पर पुनर्गठन करना वाञ्छनीय है। इस दिशा मे पहल करने के लिए सब से पहिले आन्ध्र प्रान्त को अलग प्रान्त

बना दिया जाना चाहिए। अप्रैल, १९४९ में कांग्रेस कार्यकारिणी ने जे० वी० पी० समिति की रिपोर्ट को स्वीकार कर लिया और आध्र राज्य की स्थापना करना निश्चित करा लिया।

कांग्रेस १९५३ तक तो जे० वी० पी० समिति की रिपोर्ट मे प्रतिपादित नीति को पकडे रही। १९५१ के चुनाव घोषणा-पत्र मे घोषणा की गई थी कि राज्यो का पुनर्गठन अन्ततोगत्वा, सम्बन्धित लोगो की इच्छानुसार ही किया जाएगा। चुनाव घोषणा-पत्र मे यह भी कहा गया था कि इस सम्बन्ध में भाषा-सम्बन्धी एकरूपता का अपना महत्त्व है, किन्तु राज्यो के पुनर्गठन मे कुछ और विचारो पर भी निर्णय किया जाएगा और उनमे आर्थिक, प्रशासनिक और वित्तीय विचारो का मुख्य स्थान होगा। इसके बाद १९५३ मे कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन हैदराबाद में हुआ, और उक्त अधिवेशन में काग्रेस की नीति फिर बदली। १९५१ मे प्रथम पचवर्षीय योजना का श्रीगणेश हुआ था और इसकी सफलता मे सारी भारत सरकार और कांग्रेस की पूर्ण रुचि थी। विस्तृत नियोजन के फलस्वरूप एकीकृत नीति आवश्यक हो जाती है क्योकि नियोजन सारे राष्ट्र के सम्पूर्ण जीवन से सम्बन्ध रखता है। ऐसी स्थिति में राज्य का कोई कर्त्तव्य राष्ट्र के कर्त्तव्यो से अलग-थलग नही रह सकता। विभिन्न एकको के क्रियाकलाप भी राष्ट्रीय महत्त्व धारण कर लेते हैं, और यद्यपि राज्यो के क्रियाकलापो के स्थानीय प्रशासन की सीमाओ मे सीमित करने के लाभ हैं, फिर भी उक्त स्थानीय कृत्यो का उच्चतलीय प्रमापीकरण (standardised at high level) आवश्यक है। इसके लिए आवश्यक है समस्त कार्रवाई एकीकृत नियन्त्रण में हो। इसलिए यह स्वाभाविक ही था कि राज्यो के पुनर्गठन के सम्बन्ध में कांग्रेस की नीति में परिवर्त्तन हो गया। १९५३ के कांग्रेस के हैदराबाद प्रस्ताव मे पास किया गया कि राज्यो को पुनर्गठित करते समय इन सभी आवश्यकताओ पर विचार किया जाएगा जैसे भारत की एकता, राष्ट्रीय सुरक्षा और शान्ति, सास्कृतिक और भाषा सम्बन्धी एकरूपता, तथा सम्बन्धित राज्य अथवा प्रान्त की और सारे राष्ट्र की वित्तीय स्थिति तथा आर्थिक समृद्धि आदि। श्री चक्रवर्ती राजगोपालाचार्य ने तो यहाँ तक कह डाला कि भाषावार प्रान्तो के निर्माण का आदर्श असभ्य कालीन जहनियत या मनोवृत्ति का परिचय देता है।

मई १९५३ मे कांग्रेस कार्यकारिणी ने जो प्रस्ताव पारित किया उसमे वही नीति घोषित की गई जो हैदराबाद अधिवेशन मे निश्चित की गई थी। जनवरी १९५४ मे कल्याणी अधिवेशन मे भी वही नीति दुहरायी गई। कल्याणी अधिवेशन में जो प्रस्ताव पारित किया गया उसमें यह घोषित किया गया कि हर कीमत पर भारत की एकता और राष्ट्रीय सुरक्षा को प्राथमिकता दी जाएगी।

राज्य पुनर्गठन आयोग की नियुक्ति (Appointment of the States Reorganisation Commission)—२२ दिसम्बर, १९५३ को प्रधान मन्त्री प० नेहरू ने ससद् में घोषणा की कि एक उच्चस्तरीय आयोग की नियुक्ति की जाएगी जो निष्पक्षता और शान्तचित्तता से भारत सघ के राज्यो के पुनर्गठन की समस्या पर जाँच करेगा ताकि उक्त पुनर्गठन के फलस्वरूप प्रत्येक अवयवी एकक का और साथ ही सारे

राष्ट्र का हित वर्द्धन हो सके।" प्रधान मन्त्री ने उक्त घोषणा करते समय उन महत्त्वपूर्ण अवयवी कारणो की भी चर्चा की जिनको ध्यान मे रखकर ही आयोग राज्यो का पुनर्निर्माण करेगा। उन्होने कहा—"किसी प्रदेश के लोगो की भाषा और सस्कृति का निस्सन्देह भारी महत्त्व है क्योकि भाषा और सस्कृति ही किसी क्षेत्र के लोगो के जीवन के मापो का प्रतिनिधित्व करते हैं। किन्तु राज्यो का पुनर्गठन करते समय कुछ और विषयो अथवा अवयवी कारणों पर भी ध्यान रखना होगा। इस सम्बन्ध में प्रथमत भारत की एकता और सुरक्षा का स्थायित्व ध्यान देने योग्य है। इसके अतिरिक्त वित्तीय और आर्थिक स्थायित्व एव प्रशासनिक सुविधा का भी प्रत्येक सम्बन्धित राज्य के हितो में और सारे राष्ट्र के हितो में उतना ही महत्त्व है। भारत ने आर्थिक, सास्कृतिक और नैतिक उन्नति के लिए महान् नियोजन प्रारम्भ किये हैं। ऐसे भारी राष्ट्रीय नियोजन के मार्ग में यदि प्रस्तावित राज्य-पुनर्गठन के फलस्वरूप बाधाएँ उपस्थित हो गईं, तो यह सारे राष्ट्र के लिए दुर्भाग्यपूर्ण होगा।"[1]

राज्य पुनर्गठन आयोग मे निम्न तीन सदस्य थे सर्वश्री सैयद फजल अली, चेयरमैन, डा० हृदयनाथ कुंजरू और सरदार के० एम० पणिक्कर सदस्य गण, और उक्त आयोग की नियुक्ति गृह मन्त्रालय (भारत सरकार) के २९ दिसम्बर, १९५३ के प्रस्ताव के अनुसार हुई थी। आयोग को निर्देश दिया गया था कि वह राज्यो के पुनर्गठन के सम्बन्ध में सारी स्थिति का अवलोकन करे, समस्या की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का अध्ययन करे, और साथ ही वर्त्तमान परिस्थितियो का भी अध्ययन करे और तत्सम्बन्धी सारी महत्त्वपूर्ण जानकारी एकत्रित करे। राज्य पुनर्गठन आयोग को पूरी छूट दे दी गई थी कि वह राज्य पुनर्गठन के सम्बन्ध में किसी भी प्रस्ताव पर विचार कर सकता है। शासन या सरकार को आशा थी कि प्रारम्भ में आयोग समस्या की बारीकियो में न जायेगा बल्कि मोटे सिद्धान्तो के सम्बन्ध में पहिले प्रतिवेदन करेगा, और पुन उन मोटे सिद्धान्तो के आधार पर ही समस्या का समाधान सुझायेगा। और यदि कुछ राज्य किसी विशेष प्रकार से पुनर्गठित होना चाहे तो आयोग उस सम्बन्ध मे भी मोटी रूपरेखा प्रस्तुत कर सकेगा और इसलिए राज्य पुनर्गठन आयोग को यह भी आदेश दिया गया था कि वह "सरकार के विचार के लिए अन्तरिम प्रतिवेदन (interim reports) भी प्रस्तुत कर सकता है।"[2]

राज्य पुनर्गठन आयोग को आदेश दिया गया था कि वह ३० जून, १९५५ तक सरकार को अपनी रिपोर्ट दे दे। पुन उक्त कालावधि ३० सितम्बर, १९५५ के लिए बढा दी गई। आयोग को १,५२,२५० सन्देश प्राप्त हुए जिनमें तार भी थे, प्रस्ताव भी थे और स्मृति-लेख भी थे। उक्त सन्देशो में विभिन्न क्षेत्रों के लोगो ने अपनी-अपनी इच्छाएँ किसी विशेष क्षेत्र मे रख दिए जाने के लिए व्यक्त की थी।

---

[1] The Hindustan Times, December 23, 1953 Also refer to para 4 of the resolution, in the Ministry of Home Affairs, Govt of India dated 29th December, 1953

[2] Paragraph 7 of the resolution of Ministry of Home Affairs, Govt. of India, Dt 29-12-53

किन्तु आयोग के कथनानुसार "वास्तव मे विचार-योग्य स्मृति-पत्र जो आयोग को विचारार्थ प्राप्त हुए, वे २,००० से अधिक न थे।"[1] राज्य पुनर्गठन आयोग ने लगभग सारे देश का दौरा किया और १०४ स्थानो पर कयाम किया, तथा कुल यात्रा में आयोग ने ३८,००० मील का सफर तै किया और लगभग ६,००० व्यक्तियो से भेंट की।[2] स्वय आयोग ने स्वीकार किया है कि "उसने सभी के मतो को अथवा विभिन्न मतो को जानने का पूरा प्रयत्न किया। इस बात का पूरा प्रयत्न किया गया कि सामान्य जनमत के ऐसे प्रतिनिधियो की बात अवश्य सुनी जाय जो जनता के मान्य प्रतिनिधि होने का दावा करते हो, और जो लोग स्वय आयोग के सम्मुख आकर अपने विचारो को व्यक्त करने के अनिच्छुक नही थे, ऐसे सभी व्यक्तियो से आयोग ने भेंट की और उनको अपने विचार व्यक्त करने का अवसर दिया। जिन विभिन्न लोगो से आयोग ने भेंट की, उनमें राजनीतिक दलो के लोग थे, सार्वजनिक सस्थाओ के सदस्य थे, सामाजिक कार्यकर्त्ता थे, पत्रकार थे, नगर प्रशासन बोर्ड तथा जिला प्रशासन बोर्ड के सदस्य अथवा प्रतिनिधि थे, और अन्य बहुत से ऐसे लोग भी थे जो सास्कृतिक, शैक्षणिक, भाषागत और स्थानीय हितो का प्रतिनिधित्व करते थे। राज्य पुनर्गठन आयोग ने सारे भारत का भ्रमण केवल इसलिए ही नही किया कि उक्त प्रश्न पर जनमत जान लिया जाय, वरन् इसलिए भी किया था कि विभिन्न स्थानो में जाकर स्थानीय पूछ-ताछ और जाँच-पड़ताल की जाय और समस्या की पृष्ठभूमि को समझ लिया जाय और राज्यो के पुनर्गठन के सम्बन्ध में समस्या के विभिन्न पार्श्वों को भी समझ लिया जाय।[3]

आयोग ने अपनी रिपोर्ट भारत सरकार के समक्ष ३० सितम्बर, १९५५ को प्रस्तुत की। किन्तु उक्त रिपोर्ट सर्वसाधारण के समक्ष १० अक्तूबर, १९५५ को आई। रिपोर्ट को सर्वसाधारण के अवलोकनार्थ प्रकाशित करने से पूर्व प्रधान मन्त्री ने अपने ब्रॉडकास्ट भाषण में कहा "आयोग की कतिपय सिफारिशो ने तो मुझे आश्चर्य में डाल दिया है। मैं समझ सकता हूँ कि और भी बहुत से लोग जब इस रिपोर्ट को पढ़ेंगे तो मेरी ही तरह आश्चर्य करेंगे।" अपने उक्त ब्रॉडकास्ट भाषण को जारी रखते हुए प्रधान मन्त्री ने आगे कहा "कोई भी रिपोर्ट या कुछ भी सिफारिशें सभी को प्रसन्न नही कर सकती थी। इसलिए हमें उक्त रिपोर्ट में से ऐसी चीजें स्वीकार करनी होगी जो सारे देश के हित मे होगी और जिन पर अधिक से अधिक लोगो की सहमति और समर्थन होगा।"[4]

राज्य पुनर्गठन आयोग की सिफारिशें (Recommendations of the States Reorganisation Commission)—आयोग ने इस प्रस्ताव पर भी विचार किया कि क्या इस समय बड़े पैमाने पर भारत के मौजूदा राजनीतिक स्वरूप को

---

[1] Report of the States Reorganisation Commission, para 5

[2] Ibid, para 6

[3] Ibid, para 7

[4] The Hindustan Times, Oct 11, 1955.

बदल देना वांछनीय होगा, और इस प्रश्न पर आयोग का मत यह था कि "भारत के राजनीतिक एककों का पुनर्गठन टाला नहीं जा सकता और इसलिए राज्यों का पुनर्गठन इस आशा में तुरन्त कर डालना चाहिए कि पुनर्गठन के फलस्वरूप जो परिवर्त्तन होंगे, उनसे भारत के अधिकतर लोग सन्तुष्ट हो जायेंगे।"[1]

आयोग ने यह भी कहा कि जहाँ किसी राज्य में सीमा-सम्बन्धी कोई परिवर्त्तन किये जायँ, वहाँ इस बात को भी ध्यान में रखा जाय कि पुनर्गठन के फलस्वरूप सम्बन्धित राज्य में क्या-क्या गड़बड़ियों की सम्भावना है। इसलिए पुनर्गठन सम्बन्धी जो परिवर्त्तन किए जाएँ वे ऐसे हों कि लोगों को सुख-समृद्धिदायक हों ताकि प्रशासन के ऊपर जो पुनर्गठन के फलस्वरूप भारी बोझा आ पड़ेगा और राज्य के ऊपर जो वित्तीय बोझा भी आ पड़ेगा, उसका लोगों की सुख-समृद्धि से निराकरण हो सके।[2]

आयोग ने यह विचार भी व्यक्त किया कि राष्ट्रीय एकता के हित में यह आवश्यक है कि देश के राजनीतिक और प्रशासनिक ढाँचे को गौण स्थान दिया जाय किन्तु राष्ट्र के हितों को प्राथमिकता दी जाय।[3] किन्तु सामरिक महत्त्व के क्षेत्रों की प्रशासनिक स्थापना, केवल राष्ट्रीय सुरक्षा को ध्यान में रखकर की जाय। यदि भारत की सीमाओं को छूने वाले क्षेत्र सीधे केन्द्र के अधीन नहीं हैं, तो यह अधिक उपयुक्त होगा कि भारत की सीमा के राज्य या प्रान्त बड़े और समृद्धिशाली एकक हों।[4]

पुनर्गठन सम्बन्धी सभी तथ्यों पर विचार करने के बाद राज्य पुनर्गठन आयोग इस नतीजे पर पहुँचा कि केवल भाषा या केवल संस्कृति के आधार पर राज्यों का पुनर्गठन न तो सम्भव है और न वांछनीय।[5] इसलिए आयोग के मत से राष्ट्रीय एकता के हित में उक्त समस्या का समाधान संतुलित आधारों पर होना चाहिए। उसने अर्थात् आयोग ने निर्धारित किया कि पुनर्गठन के लिए सन्तुलित आधार यह होंगे—

(क) भाषा-सम्बन्धी एकरूपता को प्रशासनिक सुविधा के लिए एक महत्त्वपूर्ण कारण के रूप में स्वीकार किया जायगा, किन्तु भाषा को राज्यों के पुनर्गठन के लिए एकमात्र आधार नहीं माना जायगा जिससे कि प्रशासनिक, वित्तीय अथवा राजनीतिक आधारों की पूर्ण उपेक्षा कर दी जाय।

(ख) इस बात का पूर्ण प्रयत्न किया जायगा कि विभिन्न भाषा-भाषी समुदायों को प्रचार, शिक्षा और संस्कृति के सम्बन्ध में पूरी आज़ादी होगी, चाहे तो वे भाषा-भाषी समुदाय ऐसे एकक या राज्य में निवास करते हों जहाँ एक भाषा बोलने वालों का अपार बहुमत हो और चाहे वे ऐसे क्षेत्र में या एकक में निवास

---

[1] Report of the States Reorganisation Commission, para 91

[2] Ibid, para 106

[3] Ibid, para 112

[4] Ibid, para 113 (iii) E

[5] Ibid, para 162

करते हो जिसमें विभिन्न भाषाओ के बोलने वाले विभिन्न प्रशासनिक एकक हो।

(ग) जिन राज्यो की स्थिति सतोषजनक है और जहाँ आर्थिक, राजनीतिक और प्रशासनिक सुविधाएँ ऐसी हैं कि विभिन्न भाषाओ और विभिन्न सस्कृतियो के लोगो के एकक बन सकते हैं, उन राज्यो को उसी रूप मे चलने देना श्रेयस्कर है, केवल यह आवश्यक सरक्षण बाध्य कर दिया जाय कि सभी वर्गों के लोगो को समान अधिकार और समान अवसरो की गारटी होगी।

(घ) भारतीय सविधान का यह मौलिक सिद्धान्त है कि सारा भारतवर्ष सभी का घर है, इसलिए इस प्रवृत्ति को बढावा नही दिया जाना चाहिए कि प्रान्तो को लोग अपनी पितृ-भूमि समझने लगें, क्योकि भारतीय सविधान ने मौलिक अधिकारो में सभी नागरिको को सारे भारत सघ में समान अधिकारो और समान सुविधाओ का आश्वासन दिया है।

(ङ) यह सिद्धान्त तिरस्कार योग्य है कि 'एक राज्य में एक ही भाषा होनी चाहिए।' यह सिद्धान्त भाषागत एकरूपता के आधार पर भी उचित नही ठहरता क्योकि एक से अधिक राज्य भी ऐसे हो सकते हैं जो एक ही भाषा बोलते हो और इससे भाषा सम्बन्धी सिद्धान्त विकृत नही होता, और उक्त सिद्धान्त कि 'एक राज्य एक भाषा' व्यावहारिक भी नही है, क्योंकि विभिन्न भाषा-भाषी समुदाय जिनमें भारत सघ के अपार हिन्दी-भाषी लोग भी सम्मिलित हैं निश्चित रूप से अलग-अलग भाषावार प्रान्तो मे विभाजित नही किए जा सकते। और

(च) जहाँ तक एक भाषा-भाषी राज्यो के निर्माण से पृथकतावादी भावनाओ को बढावा मिलता हो, उस भावना के निराकरण के लिए ऐसे निश्चित उपाय किए जाएँ जिनसे भारतीय राष्ट्रीयता को बल मिले, और उक्त उपायो की दिशा में विभिन्न क्षेत्रो में सास्कृतिक आदान-प्रदान कराए जाए और विभिन्न राज्यों में पारस्परिक सहयोग और सम्पर्क को बढ़ावा दिया जाय और केन्द्र अथवा सघ और राज्यो मे सहयोग और मेल बढे ताकि राष्ट्रीय नीतियो और योजनाओं की क्रियान्विति में अधिक सहयोग और सफलता प्राप्त हो सके।[1]

राज्य पुनर्गठन आयोग की सम्मति में किसी राज्य की वित्तीय समर्थता (Financial Viability) के लिए यह आवश्यक है कि उसके पास अपना खर्चा चलाने के लिए तथा अपने विकास के लिए साधन उपलब्ध हैं। जहाँ तक सम्भव हो, प्रत्येक प्रशासनिक एकक आत्म-निर्भर हो और उसका सगठन ऐसा हो कि वह विकास के सम्बन्ध में उपक्रम कर सके और अपने विकास के लिए कुछ न कुछ साधन जुटाने के योग्य हो। किन्तु आगे चलकर आयोग ने यह भी कहा कि राज्यो का पुनर्गठन इस प्रकार करना सम्भव नही होगा कि वे आर्थिक क्षेत्रों का स्वरूप धारण कर सके। किसी प्रशासनिक एकक के लिए आर्थिक आत्म-निर्भरता की शर्त राज्यो के पुनर्गठन के लिए आवश्यक प्रमाण नही माना जा सकता। वित्तीय समर्थता के साथ-साथ अन्य महत्त्वपूर्ण तथ्यो को भी सोचना होगा और तब राष्ट्र के हितो को ध्यान में

---

[1] Report of the States Reorganisation Commission, para 163.

रखते हुए ही पुनर्गठन के पक्ष में निर्णय करना होगा।[1] इसलिए इन विचारो से प्रेरित होकर आयोग इस निर्णय पर पहुँचा कि जहाँ तक सम्भव हो, विभिन्न राज्यो के वित्तीय साधनो में कम से कम अन्तर हो,[2] अर्थात् विभिन्न एकको के वित्तीय और आर्थिक साधन जहाँ तक सम्भव हो समान हों। आयोग इस निर्णय पर भी पहुँचा कि भारत के एकक इतने बडे भी हो जो सुविधापूर्वक प्रशासित हो सकें और साथ ही साथ आर्थिक विकास और लोगो का कल्याण-साधन साथ-साथ चलता चले।[3]

राज्यो के पुनर्गठन के सम्वन्ध मे राज्य पुनर्गठन आयोग ने लोगो की इच्छा को महत्त्व अवश्य दिया किन्तु केवल लोगो की इच्छा को ही प्रमाण नही माना।[4] लोगो के ऐतिहासिक समागमो की चर्चा करते हुए आयोग ने कहा कि तर्कों को ही विशेष महत्त्व नही दिया जा सकता। आधुनिक स्थिति का अधिक महत्त्व है चाहे भूतकाल में कैसे भी ऐतिहासिक सम्पर्क रहे हो।[5] आयोग ने कहा कि प्रशासनिक सुविधा के लिए भौगोलिक समीपता भी आवश्यक है "किन्तु भौगोलिक समीपता का अर्थ भौगोलिक सरहद नही है यद्यपि कुछ स्मृति-पत्रो में प्राकृतिक भौगोलिक सीमाओ पर बल दिया गया था और यह चाहा गया था कि प्रत्येक राज्य की सामान्यत ऐसी प्राकृतिक सीमाएँ होनी चाहिएँ जैसे पहाड या नदियाँ या जल-प्रपात आदि।"[6]

राज्यो के पुनर्गठन के सम्वन्ध में सभी आधारो पर विचार करने के वाद आयोग इस निर्णय पर पहुँचा कि राज्यो का पुनर्गठन किसी एक आधार पर नहीं किया जा सकता। प्रत्येक राज्य का पुनर्गठन करते समय सभी तथ्यो पर विचार करना अतीव आवश्यक होगा।[7] इसलिए आयोग ने सिफारिश की कि—

(१) भारत सघ के राज्यों में भाग (क), भाग (ख) और भाग (ग) के राज्यो का विभेद समाप्त कर दिया जाय, क्योकि राज्यो के पुनर्गठन की किसी भी योजना में प्रदेशो और क्षेत्रों की श्रेणियाँ वनी नही रह सकती,[8]

(२) भाग (ख) के राज्यो को भाग (क) के समान स्तर पर ले आया जाय और इसके लिए सविधान का अनुच्छेद ३७१ समाप्त कर दिया जाय।[9]

(३) राजप्रमुख का पद समाप्त कर दिया जाए,[10]

(४) भाग (ग) के राज्यो में से केवल दो राज्यो को तो केन्द्र द्वारा शासित रखा जाय, किन्तु शेष भाग (ग) के राज्यो को पास-पडौस के राज्यो में मिला दिया जाय।[11]

---

[1] Report of the States Reorganisation Commission, para 184

[2] Ibid, para 197-210

[3] States Reorganisation Report, paras 211-220

[4] Ibid, paras 221-228

[5] Idid, paras 229-231.

[6] Ibid, paras 232-233

[7] Ibid, paras 235

[8] Ibid, paras 237.

[9] Ibid, paras 240 to 241.

[10] Ibid, paras 242-244

[11] Ibid, para 268.

(५) कुछ निश्चित समय के लिए केन्द्रीय सरकार हिमाचल प्रदेश, कच्छ, और त्रिपुरा राज्यो के ऊपर प्रबन्ध-सम्बन्धी नियन्त्रण रखे ताकि उक्त राज्यो का विकास अवरुद्ध न हो जाए,[1] और

(६) भाग (ग) के ऐसे राज्य जिनको देश की सुरक्षा अथवा अन्य किसी कारणवश पास-पडौस के राज्यो में विलीन नही किया जा सकता, उन्हें लगातार केन्द्र ही प्रशासित करता चले और वे केन्द्र-प्रशासित प्रदेश बने रहें।[2]

आयोग की पुनर्गठन योजना के अनुसार भारत सघ के १६ एकक राज्य होंगे जिन्हे राज्य (States) कहा जायगा, तथा तीन केन्द्र द्वारा प्रशासित प्रदेश होंगे। आयोग द्वारा प्रस्तावित राज्यो और प्रदेशो के नाम निम्न तालिका में दिए जा रहे हैं। साथ ही प्रत्येक राज्य और प्रत्येक प्रदेश का क्षेत्रफल और जनसख्या भी साथ ही दी जा रही है

राज्य का नाम	क्षेत्रफल वर्गमीलों में	जनसख्या प्रयुतों (या दस लाखों) में
मद्रास (Madras)	५०,१७०	३० ०
केरल (Kerala)	१४,९८०	१३ ६
करनाटक (Karnataka)	७२,७३०	१९ ०
हैदराबाद (Hyderabad)	४५,३००	११ ३
आन्ध्र (Andhra)	६४,९५०	२०·९
बम्बई (Bombay)	१५१,३६०	४० २
विदर्भ (Vidarbha)	३६,८८०	७·६
मध्य प्रदेश (Madhya Pradesh)	१७१,२००	२६ १
राजस्थान (Rajasthn)	१३२,३००	१६ ०
पजाब[3] (Punjab)	५८,१४०	१७ २
उत्तर प्रदेश (Uttar Pradesh)[4]	११३,४१०	६३ २
बिहार (Bihar)	६६,५२०	३८ ५
पश्चिमी वगाल (West Bengal)	३४,५९०	२६ ५
असम (Assam)	८९,०४०	९ ७
उडीसा (Orissa)	६०,१४०	१४ ६
जम्मू और कश्मीर (Jammu and Kashmir)	९२,७८०	४४

---

[1] States Reorganisation Commission, para 270

[2] Ibid, para 276 and 285

[3] राज्य पुनर्गठन आयोग के चेयरमैन, श्री फजल अली अपने अन्य दोनों साथियों से इस सम्बन्ध में असहमत थे कि हिमाचल प्रदेश को पजाब में मिला दिया जाय। आयोग की रिपोर्ट में सलग्न एक टिप्पणी में भी श्री फजल अली ने विमति लेख में लिखा और सिफारिश की कि हिमाचल प्रदेश को केन्द्र द्वारा प्रशासित प्रदेश रखा जाय।

[4] उत्तर प्रदेश के विघटन के सम्बन्ध में सरदार के० एम० पणिक्कर ने एक विमति लेख (dissenting note) लिखा और सिफारिश की कि उत्तर प्रदेश के दो खण्ड कर दिए जायँ, किन्तु आयोग के चेयरमैन और तीसरे सदस्य श्री कुजरू ने यही सिफारिश की है कि राज्यों की पुनर्गठन योजना में भी उत्तर प्रदेश का यही स्वरूप बना रहेगा।

केन्द्र द्वारा प्रशासित प्रदेश
(Territories to be Centrally Administered)

प्रदेश का नाम	वर्गमीलों में क्षेत्रफल	सही जनसंख्या
दिल्ली (Delhi)	५७८	१७,४४,०७२
मणिपुर (Manipur)	८,६२८	५,७७,६३५
अण्डमान और निकोबार (Andaman and Nicobar)	३,२१५	३०,९७१

राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट का मूल्यांकन (Evaluation of the States Reorganisation Commission Report)—आयोग की उपपत्तियो (Findings) के प्रकाशित होते ही पहिली प्रतिक्रियाएँ आयोग की रिपोर्ट के विरुद्ध थी। स्वय प्रधान मन्त्री ने भी आश्चर्य प्रकट किया और उक्त रिपोर्ट के प्रकाशित होने मे पूर्व अपने ब्रॉडकास्ट भाषण मे उन्होने स्वीकार किया कि 'राज्य पुनर्गठन आयोग की कुछ सिफारिशें अवश्य अजीव हैं।" श्री नेहरू ने यह भी कहा "उक्त रिपोर्ट पर मत देने मे पहिले मैं अपने मन्त्रिमण्डल के साथियो के साथ विचार-विनिमय करूँगा। मै समझता हूँ और लोग भी इस रिपोर्ट के पढने पर यही अनुभव करेंगे।"[1] कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने अपने १४ अक्तूबर, १९५५ के प्रस्ताव मे सभी कांग्रेस जनो से अपील की कि वे रिपोर्ट पर किसी प्रकार के आन्दोलन का समर्थन न करें और न वे अन्य दलो के लोगो के साथ मिलकर प्रादेशिक माँगो के सम्बन्ध में कोई आन्दोलन करें। सब से ज्यादा शिकायत इस बात की थी कि महाराष्ट्रियो को बम्बई और विदर्भ नाम के दो राज्यो में बाँट दिया गया था और यह भी शिकायत थी कि तेलुगु भाषा भाषी लोगो को हैदराबाद के शेष भाग से वचित कर दिया गया। पजाब के सम्बन्ध मे आयोग ने जो सिफारिशें की थी उनको मास्टर तारासिंह ने 'सिखो के विनाश का आदेश' बताया।[2] सिवाय मध्य श्रेणी के लोगो के, प्राय सभी ने—कम्यूनिस्टो ने, व्यापार सघ वालो ने, समाजवादियो ने, अकालियो ने, हिन्दू महासभाइयों ने कुछ कांग्रेस वालो ने भी रिपोर्ट की आलोचना की।

इसमें सन्देह नही है कि राज्य पुनर्गठन आयोग को जो कार्य सौंपा गया था, वह जटिल भी था और विवादग्रस्त भी था। भाषा के आधार पर राज्यो को पुनर्गठित करने की समस्या इसलिए आयोग को सौंपी गई थी कि प्रान्तों का पुनर्गठन परेशानी अथवा व्याकुलता-वर्द्धक था और साथ ही लोगो में भ्रष्टाचार और विद्रोह भावना को प्रोत्साहन देने वाला था क्योकि सभी अपनी-अपनी माँगो पर डटे हुए थे और आन्दोलन पर उतारू थे और इस प्रकार समय की परिस्थितियो के अनुसार राज्यों के पुनर्गठन की समस्या का हल होने को था और उसी के अनुसार लोगो के दावे या तो स्वीकार किए जाते या उन्हें अस्वीकार किया जाता। इस दिशा मे

---

[1] The Tribune, October 10, 1955, p 1

[2] Ibid, 1955, p 1

आन्ध्र ने अन्य राज्यों को सकेत दिया था और भाषा के आधार पर प्रान्त वनाने के इच्छुक लोग तदर्थ आन्दोलन की तैयारी कर रहे थे। इसमे भी सन्देह नही है कि स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद राज्यो का पुनर्गठन अनिवार्य हो गया था। कांग्रेस वचनवद्ध थी और उसने वायदा किया था कि प्रान्तो को भाषा के आधार पर पुनर्गठित किया जायगा। किन्तु स्वतन्त्रता के बाद के आठ वर्षों के अनुभव, नई राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओ का उद्‌भव, और प्रथम पचवर्षीय योजना की क्रियान्विति—इन सब ने कांग्रेस को यह सोचने पर मजबूर कर दिया कि क्या वास्तव में भाषावार प्रान्तो का पुनर्गठन उचित होगा, और इसी के फलस्वरुप भाषा-सम्बन्धी सिद्धान्त कुछ फीका पडने लगा। किसी राज्य के निर्माण मे केवल भाषा को ही आधार और प्रमाण नही माना जा सकता जब कि वह राज्य सघ का अवयवी एकक भी है। अन्य आधारो जैसे भौगोलिक आधार, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, वित्तीय स्थायित्व और प्रशासनिक सुविधा आदि पर भी विचार करना ही होगा तभी उचित सतुलन प्राप्त होगा और एकरूपता आएगी जो सारे राष्ट्र की शक्ति और स्थायित्व के लिए अत्यावश्यक हैं, यद्यपि विभिन्न एकको के निर्माण में विभिन्न विचारो अथवा आधारो पर विशेष बल दिया जा सकता है। यदि पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट या प्रतिवेदन को इस दृष्टिकोण से देखा जाय तो मानना पडेगा कि आयोग ने निष्पक्ष और सन्तुलित रिपोर्ट प्रस्तुत की है। इस रिपोर्ट का आधार अनेको तथ्य रहे हैं और बहुत से परस्पर-विरोधी आधारो और तथ्यो में समझौता भी रहा है। आयोग ने ठीक ही कहा था कि एक ही कसौटी पर किसी भी प्रस्ताव या प्रस्तावो को नही जांचा जा सकता। किन्तु पक्षपाती और स्वार्थपूर्ण राजनीतिक दलो और समुदायो ने उक्त रिपोर्ट को केवल अपने हित की कसौटी पर जांचा है और इसीलिए उन्होने उसमें कोई अच्छाई नही देखी। आयोग की रिपोर्ट की उपपत्तियो (Findings) के मूल्याकन के लिए और उसके निर्णयो को समझने के लिए यह समझना आवश्यक होगा कि सारी पुनर्गठन की योजना मे क्या-क्या मूल तत्त्व निहित थे और मूल तत्त्वो का किस प्रकार देश की एकता से सामजस्य पैदा करना आवश्यक था। इसमें सन्देह नही है कि राज्यो के पुनर्गठन की समस्याओ में अनेको उलझनें होती हैं और इसलिए पुनर्गठन के किसी भी पहलू पर मतैक्य प्राप्त करना सदैव कठिन होता है। १४ अक्तूबर, १९५५ के प्रस्ताव में कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने सभी से याचना की कि "आयोग की रिपोर्ट पर सहयोगपूर्ण विचार होना चाहिए, साथ ही उन सभी समस्याओ पर भी सहयोगपूर्ण विचार की याचना की गई जिन पर उक्त रिपोर्ट मे विचार किया गया है।"[1] आचार्य जे० बी० कृपलानी ने कहा कि आयोग ने रिपोर्ट तैयार करने मे परिश्रम से कार्य किया है और कोई अन्य आयोग इससे अच्छा काम नही कर सकता था।"[2] आयोग के लिए यह कैसे सम्भव हो सकता था कि विभिन्न भाषा-भाषी समुदायो की विभिन्न प्रकार की मांगो और इच्छाओ को सन्तुष्ट कर सकता।

---

[1] The Hindustan Times, Oct 15, 1955, p 1

[2] The Tribune, Oct 15, 1955, p 9

भारत का नया मानचित्र (The New Map of India)—असीम वाद-विवाद, विचार-विनिमय और समझाने-बुझाने के बाद भारत सरकार ने राज्यो के पुनर्गठन की योजना को लेते हुए एक विधेयक का प्रारूप तैयार किया और उक्त विधेयक के प्रारूप पर राज्यो के विधानमण्डलो के मत माँगे गये। १६ मार्च, १९५६ को राज्य पुनर्गठन विधेयक का प्रारूप ससद् के दोनो सदनो की मेज पर रख दिया गया। राज्य पुनर्गठन आयोग के प्रस्तावो में १६ राज्य और ३ केन्द्र-प्रशासित प्रदेशो की योजना प्रस्तुत की गई थी। किन्तु राज्य पुनर्गठन विधेयक के प्रारूप में भारत सघ को १५ राज्यो और ७ केन्द्र-प्रशासित प्रदेशो में विभाजित करने की योजना प्रस्तुत की गई। प्रस्तावित राज्यो के नाम ये थे: आन्ध्र-तैलगाना, आसाम, बिहार, गुजरात, केरल, मध्य प्रदेश, मद्रास, महाराष्ट्र, मैसूर, उडीसा, पजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश पश्चिमी बगाल और 'जम्मू और कश्मीर'। और प्रस्तावित केन्द्र-प्रशासित प्रदेशो के निम्न नाम थे · बम्बई, मणिपुर, त्रिपुरा, अण्डमान और निकोबार द्वीप, लक्का दीव, मिनिकॉय (Minicoy) और अमिनिडाइव (Amindive) द्वीप-समूह।

राज्य पुनर्गठन के सम्बन्ध में अन्तिम योजना जो १ नवम्बर, १९५६ को प्रभावी हुई, उसके अनुसार अब भारत सघ में १४ राज्य हैं और ६ केन्द्र-प्रशासित प्रदेश हैं। नीचे दिखाया गया है कि भारत के नए राज्य उसी प्रकार के अन्य देशो की तुलना मे कैसे हैं

(१) बम्बई (क्षेत्रफल १,९०,९१९ वर्गमील, जनसख्या ४८० लाख अथवा ४८ प्रयुत (Millions)। बम्बई राज्य लगभग उतना ही बडा है जितना कि थाइलैंड (Thailand) किन्तु बम्बई की जनसख्या थाईलैंड की जनसख्या की लगभग ढाई गुनी है।

(२) मध्यप्रदेश (क्षेत्रफल १,७१,२०१ वर्गमील, जनसख्या २६० लाख अथवा २६ प्रयुत)। मध्य प्रदेश राज्य का लगभग वही आकार है जो स्विटजरलैंड (Switzerland) का है किन्तु जनसख्या मध्यप्रदेश की स्विट्जरलैंड की अपेक्षा लगभग चौगुनी है।

(३) उत्तर प्रदेश (क्षेत्रफल १,१३,४१० वर्गमील, जनसख्या ६३ प्रयुत उत्तर प्रदेश राज्य का क्षेत्रफल ईराक (Iraq) अथवा इटली (Italy) से केवल ३,००० वर्गमील कम है किन्तु, उत्तर प्रदेश की जनसख्या ईराक और इटली की जनसख्याओ को मिलाकर भी १२ प्रयुत अधिक है।

(४) राजस्थान (क्षेत्रफल १,३२,०८८ वर्गमील, जनसख्या १६ प्रयुत)। राजस्थान राज्य वियतनाम (Vietnam) से क्षेत्रफल में बड़ा है किन्तु जनसख्या वियतनाम की अपेक्षा केवल दो तिहाई है।

(५) आन्ध्र (क्षेत्रफल १,०५,९६३ वर्गमील, जनसख्या ३१ ३ प्रयुत)। आन्ध्र राज्य का क्षेत्रफल पोलैण्ड की अपेक्षा ८,००० वर्गमील कम है किन्तु पोलैण्ड की जनसख्या केवल १९ २ प्रयुत है।

(६) जम्मू और कश्मीर (क्षेत्रफल ९२,७८० वर्गमील, तथा जनसख्या ४ ४ प्रयुत)। जम्मू और कश्मीर राज्य आकार में लगभग उतना ही बडा है जितना

कि यूनाइटेड किंगडम है किन्तु जनसख्या उक्त देश की अपेक्षा केवल १/१२ है।

(७) आसाम (क्षेत्रफल ८४,९२४ वर्गमील, तथा जनसख्या ९ प्रयुत)। आसाम राज्य ब्रिटिश गायना की अपेक्षा क्षेत्रफल मे कुछ बडा है किन्तु आसाम की जनसख्या अपेक्षाकृत दुगुनी है।

(८) मैसूर (क्षेत्रफल ६७,३०० वर्गमील, तथा जनसख्या लगभग १९ प्रयुत)। मैसूर राज्य का क्षेत्रफल उरुग्वे (Uruguay) की अपेक्षा कुछ बडा है किन्तु उक्त राज्य की अपेक्षा मैसूर राज्य की जन-मख्या लगभग आठ गुनी है।

(९) बिहार (क्षेत्रफल ६७,३०० वर्गमील, तथा जनसख्या ३८ ८२ प्रयुत)। बिहार का आकार लगभग उतना ही है जितना कि कम्बोडिया (Combodia) का किन्तु बिहार की जनसख्या अपेक्षाकृत दस गुनी अधिक है।

(१०) उडीसा (क्षेत्रफल ६०,१४० वर्गमील, तथा जनसख्या १४ ८ प्रयुत)। उडीसा की तुलना सीरिया (Syria) से की जा सकती है जिसका क्षेत्रफल ६६,४६४ वर्गमील है किन्तु जिसकी जनमख्या केवल ३० लाख अथवा ३ प्रयुत ही है।

(११) मद्रास (क्षेत्रफल ५०,११० वर्गमील, तथा जनसख्या लगभग ३० प्रयुत)। मद्रास राज्य का क्षेत्रफल लगभग मलाया के बराबर है किन्तु मद्रास की जनसख्या मलाया की अपेक्षा लगभग छ गुनी है।

(१२) पजाब (क्षेत्रफल ४७,४५६ वर्गमील, तथा जनसख्या १६ प्रयुत)। पजाब का क्षेत्रफल क्यूबा (Cuba) अथवा बल्गेरिया (Bulgaria) से बडा है। किन्तु जनसख्या पर यदि विचार किया जाय तो दोनो देशो (क्यूबा और बल्गेरिया) की जनसख्या का योग भी केवल १२ २ प्रयुत है।

(१३) पश्चिमी वगाल (क्षेत्रफल ३३,८०५ वर्गमील, तथा जनसख्या २६ २५ प्रयुत)। पश्चिमी वगाल का क्षेत्रफल ऑस्ट्रिया की अपेक्षा बडा है और जनसख्या तो पश्चिमी बगाल की आस्ट्रिया की अपेक्षा लगभग चौगुनी है।

(१४) केरल (क्षेत्रफल १५,०३५ वर्गमील, तथा जनसख्या १३ ५५ प्रयुत)। केरल यद्यपि सबसे छोटा भारतीय राज्य है, फिर भी केरल, बेल्जियम अथवा नीदरलैण्ड्स की अपेक्षा आकार और जन-सख्या के हिसाब से बडा है। बेल्जियम की जनसख्या लगभग ८½ प्रयुत है और नीदरलैण्ड्स की जनसख्या लगभग १० प्रयुत है।

निम्नलिखित केन्द्र-प्रशासित राज्य हैं (१) मणिपुर, (२) त्रिपुरा, (३) दिल्ली, (४) हिमाचल प्रदेश, (५) अण्डमान और निकोबार द्वीप-समूह, (६) लक्का दीव, मिनिकोय (Minicoy) और अमिनडाइव (Amindive) द्वीप-समूह।

डा० राजेन्द्र प्रसाद ने कहा था कि "भारत का नया राजनीतिक स्वरूप एकीकरण (Integration) और समेकन (Consolidation) की रीति का स्वाभाविक परिणाम है। भारत के नए राजनीतिक मानचित्र के फलस्वरूप भारत के आन्तरिक मानचित्र में भी पर्याप्त अन्तर ही नही हुआ है वरन् कई प्रकार के अन्तर हुए हैं, फिर भी हमारे आन्तरिक राजनीतिक ढाँचे में अधिक एकरूपता आएगी। इन नए राज्यों की स्थापना का भारी राष्ट्रीय महत्त्व है।"

संघ और राज्यो के बीच के सम्बन्ध

(Relations between the Union and the States)

विधायी सम्बन्ध (Legislative Relations)—जैसा कि बताया भी जा चुका है, सघवाद के वास्तविक अर्थो मे राष्ट्रीय सरकार और राज्य की सरकारो के बीच शक्तियो का स्पष्ट वितरण अत्यन्त आवश्यक है। अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में राष्ट्रीय और राज्य सरकारें पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न और सर्वोच्च होती हैं और उनके अधिकार समकक्ष और परस्पर अधीन होते हैं। यदि अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध में विभिन्न राज्यो अथवा केन्द्रीय सरकार और किसी राज्य के बीच विवाद उठ खडा हो तो उसका निपटारा स्वतन्त्र न्यायपालिका द्वारा किया जाता है—उसे चाहे तो सघीय न्यायालय कहिए और चाहे उसे उच्चतम न्यायालय भी कह सकते है।

प्रत्येक सघ में शक्तियो का विभाजन उन विशिष्ट राजनीतिक अवस्थाओ के आधार पर होता है जिनमें उक्त सघ का निर्माण हुआ हो। सयुक्त राज्य अमरीका में जिस समय पूर्ण प्रभुत्व-सम्पन्न राज्य, सघ में सम्मिलित होने को तैयार हुए, वे यह कभी नही चाहते थे कि हर विषय मे राष्ट्रीय सरकार की अधीनता स्वीकार करनी पडे। वे सघ अथवा केन्द्रीय सरकार को सामान्य हितो के और राष्ट्रीय महत्त्व के कुछ विषय तो सौंपने को तैयार थे किन्तु शेष अधिकार वे अपने लिए अक्षुण्ण रखना चाहते थे। तदनुसार, सयुक्त राज्य अमरीका के सविधान में विषयो की केवल एक सूची है जिस पर केन्द्रीय सरकार का अधिकार है और अवशिष्ट शक्तियां राज्यो में निहित हैं।[1] किन्तु कनाडा का सविधान इसके विपरीत है। कनाडावासियो ने सयुक्त राज्य अमरीका की सघीय शासन-व्यवस्था की क्रियान्विति लगभग १०० वर्षो तक देखी थी। उन्होने १८६१ के अमरीका के गृह-युद्ध की विभीषिका को भी देखा था। इसलिए स्वाभाविक ही था कि कनाडावासी राष्ट्रीय सरकार को मजबूत बनाते और केन्द्र में अधिक शक्तियाँ निहित करते। १८६७ के उत्तरी अमरीका अधिनियम (North America Act of 1867) मे शक्तियो की दो सूचियाँ दी गई हैं जिनमें केन्द्र और एकको अथवा प्रान्तो की शक्तियो को अलग प्रगणित कर दिया गया है, और अवशिष्ट शक्तियो को अधिराज्यीय ससद् को सौंप दिया गया है। आस्ट्रेलिया ने अमरीका के आदर्श को चुना क्योंकि उस देश की राजनीतिक अवस्थाएँ अमरीका के आदर्श को स्वीकार करने के योग्य थीं। फलस्वरूप आस्ट्रेलिया के सविधान में शक्तियो की केवल एक सूची है जिसमें सघ सरकार की शक्तियो को प्रगणित कराया गया है और अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यो को सौंप दी गई हैं।

१९३५ के भारत सरकार अधिनियम में शक्तियो की तीन सूचियाँ दी गई थीं—सघीय सूची, प्रान्तीय सूची और समवर्ती सूची—और अवशिष्ट शक्तियाँ गवर्नर-जनरल के स्वविवेक पर छोड दी गई थीं। भारत सरकार अधिनियम १९३५

---

[1] दशम सशोधन इस प्रकार है "सविधान ने जिन शक्तियों को न तो केन्द्र (United States) को सौंपा है और न जिनका राज्यों के लिए स्पष्टत निषेध किया है, वे राज्यों के लिए अथवा सर्वसाधारण के लिए सुरक्षित रख ली गई है।"

में जिस रीति के अनुसार शक्तियो का वितरण किया गया था, वह न तो अमरीका की रीति से और न कनाडा की रीति से ही मिलता था। भारत की तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियो का वह प्रतिफल था। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अधिनियमित होने से पूर्व जो तृतीय गोलमेज कान्फ्रेंस हुई थी उसमें हिन्दू और मुसलमान प्रतिनिधियो (तथाकथित) में अवशिष्ट शक्तियो के सौंपने के सम्बन्ध मे भारी मतभेद था। हिन्दू लोग शक्तिशाली केन्द्र के पक्ष में थे इसलिए वे चाहते थे कि अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र को दे दी जाएँ, किन्तु इसके विपरीत मुसलमान लोग शक्तिशाली प्रान्तो के पक्ष में थे इसलिए उन्होने चाहा कि अवशिष्ट शक्तियाँ प्रान्तो को सौंप दी जाएँ। इन परस्पर-विरोधी माँगो में सामजस्य लाने और समस्या का उचित समाधान ढूंढने के अभिप्राय से यह उपाय किया गया कि केन्द्र और प्रान्तो की अपवर्जी शक्तियो को अलग-अलग प्रगणित कर दिया गया, "फलस्वरूप अवशिष्ट शक्तियाँ इतनी कम और नगण्य रही कि किसी भी पक्ष को उनकी ओर मे कोई भय और सन्देह नही रहा।"[1] सयुक्त ससदीय समिति ने समवर्त्ती सूची रखने की आवश्यकता को भी समझाया और कहा "भारत और अन्य देशो के अनुभव ने सिखाया है कि कुछ ऐसे विषय होते हैं जो अपवर्जितया न तो केन्द्रीय विधानमण्डल को सौंपे जा सकते हैं और न प्रान्तीय विधानमण्डल को ही सौंपे जा सकते हैं। कुछ विषयो के लिए यह भी आवश्यक है कि उन पर केन्द्रीय विधानमण्डल को अधिकार-क्षेत्र मिलना चाहिए, यद्यपि यह भी माना जाता है कि कुछ विषयो के प्रान्तीय अधिकार-क्षेत्र में रहने से सारे देश में विधि के मुख्य सिद्धान्तो के सम्बन्ध में एकरूपता बनी रहेगी तथा केन्द्र प्रान्तीय उपक्रमो में निरन्तर सहायता और मार्ग-दर्शन देता रहेगा, और कतिपय परिस्थितियो में जहाँ प्रान्त कुछ ऐसी गडबडी करेंगे जिसका एक प्रान्त से अन्य प्रान्तो में फैलने का भय होगा वहाँ केन्द्र ऐसी शरारतो का इलाज भी कर सकेगा।"[2]

भारतीय सविधान में भी शक्तियो के वितरण की योजना और वितरण वे सिद्धान्त प्राय वही हैं जो १९३५ के भारत सरकार अधिनियम में थे। शक्तियो कं तीन सूचियाँ हैं. सघ सूची, राज्य सूची और समवर्त्ती सूची। भारतीय ससद् कं *केवल उन विषयो पर विधि-निर्माण करने की अपवर्जी शक्ति है* जो सघ सूची ं दिये गए हैं। राज्यो के विधानमण्डलो को केवल उन विषयो पर विधि-निर्माण करं की अपवर्जी शक्ति है जो राज्य सूची में प्रगणित हैं। किन्तु उन विषयों के विषर में जो समवर्त्ती सूची में प्रगणित हैं, ससद् भी और राज्यो के विधानमण्डल भं समवर्त्ती अधिकार रखेंगे, केवल शर्त यह होगी कि जहाँ केन्द्रीय विधि और राज्य

जायगी ।[1] किन्तु फिर भी समद् यदि चाहे तो किसी समय कोई ऐसी विधि निर्मित कर सकती है जो राज्य के विधानमण्डल द्वारा इस प्रकार निर्मित विधि को प्रभावहीन कर सकती है ।[2]

सविधान ने अवशिष्ट शक्तियाँ ससद् को दी हैं ।[3] १९३५ के भारत सरकार अधिनियम में ऐसा नही था । उक्त अधिनियम ने अवशिष्ट शक्तियो को गवर्नर-जनरल में विहित किया था और इसको अधिकार था कि वह स्वेच्छया ऐसी कोई शक्ति चाहे तो केन्द्र को दे सकता था और चाहे राज्य या प्रान्त को भी दे सकता था जो किसी भी सूची में प्रगणित नही थी ।

भारतीय सविधान की शक्तियो के वितरण सम्बन्धी तीनो सूचियो में विषयों का प्रगणन अत्यन्त विस्तृत है और कोशिश यह की गई है कि एक सामान्य शासन के सारे कार्यकलाप उक्त विषयो मे समा जायँ । सघ और राज्यो की कार्यपालिका शक्ति एव उनकी व्यवस्थापिका शक्ति यथास्थिति अन्योन्याश्रित है । किन्तु उन विषयो के सम्वन्ध मे जो समवर्त्ती सूची में प्रगणित हैं, सारा अधिकार राज्यों को ही प्राप्त है, जहाँ तक कि सघ सरकार ने उक्त विषयो पर अपवर्जी अधिकार-क्षेत्र प्राप्त नही कर लिया है । सविधान ने सघ सरकार को अधिकार प्रदान किया है कि वह राज्यों की सरकारो के द्वारा केन्द्रीय विधियो की क्रियान्विति करा सकेगी वशर्ते कि ऐसी क्रियान्विति में राज्यो के ऊपर वित्तीय भार न पडता हो ।

यद्यपि सविधान ने राज्यों के विधानमण्डलो को उन विषयो पर विधि बनाने का अपवर्जी अधिकार प्रदान किया है जो राज्य सूची में प्रगणित हैं,[4] फिर भी सविधान के अनुच्छेद २४९-२५३ उपवन्धित करते हैं कि राज्य सूची में प्रगणित किसी विषय पर भी ससद् विशेष अवस्थाओ में विधि निर्माण कर सकती है । सामान्यत ससद् को अधिकार नही है कि वह राज्य सूची के किसी विषय पर विधि निर्मित कर सके । अनुच्छेद २४९ ने ससद् को अधिकार दिया है कि यदि राज्य परिषद् उपस्थित और मत देने वाले सदस्यो की दो-तिहाई से अन्यून सख्या द्वारा समर्थित सकल्प द्वारा घोषित कर दे कि राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक और हितकर है कि ससद् 'राज्य सूची' में प्रगणित किसी विषय के वारे में विधि वनाये—तो ससद् राज्य सूची के किसी विषय पर विधि निर्माण कर सकती है । अमरीका के सविधान में शक्तियो का वितरण स्थायी और कठोर है और उस देश में शक्तियो के वितरण मे विना सविधान को सशोधित किए कोई परिवर्त्तन नही किया जा सकता । ऑस्ट्रेलिया में भी यदि उन शक्तियो में कोई परिवर्त्तन अभीष्ट है जो राज्य को सविधान द्वारा सौंप दी गई हैं, तो तदर्थ सविधान का सशोधन अभीष्ट होगा और तभी उक्त राज्य की शक्तियाँ केन्द्रीय ससद् को दी जा सकती हैं ।

---

[1] अनुच्छेद २५४ (२) ।

[2] अनुच्छेद २५४ का परादिक् ।

[3] अनुच्छेद २४८ ।

[4] अनुच्छेद २४६ ।

कनाडा में केन्द्रीय ससद् को अधिकार है कि वह ऐसे प्रान्तीय या स्थानीय विषयो पर भी विधि बना सकेगी जिनका राष्ट्रीय महत्त्व है। किन्तु केन्द्रीय ससद् को किसी ऐसे विषय पर प्रत्यक्षत विधि बनाने का अधिकार नही है जो अपवर्जितया प्रान्तीय सूची में प्रगणित है। यदि कोई विषय राष्ट्रीय महत्त्व धारण कर ले, तो ऐसे विषय पर केन्द्रीय ससद् अपनी अवशिष्ट शक्तियो के आधार पर कनाडा की शान्ति, व्यवस्था और अच्छे शासन के हित मे विधि निर्माण कर सकती है।[1] किन्तु इसका निर्णय न्यायालय ही कर सकते हैं, ससद् नही कि ससद् द्वारा इस प्रकार प्रान्तीय शक्तियो का अपहरण आवश्यक था अथवा नही। इसके विपरीत भारत में ससद् के एक ही सदन को निर्णय करना पडता है कि किसी प्रान्तीय विषय का राष्ट्रीय महत्त्व है अथवा नहीं, और यदि राज्य परिषद् आवश्यक बहुमत द्वारा तदर्थ प्रस्ताव पास कर देती है तो ससद् को तुरन्त अधिकार मिल जाता है कि वह राज्य सूची के किसी विषय पर राज्य सभा द्वारा पारित सकल्प की सीमाओ तक विधि निर्मित कर सके। इसमें सन्देह नही है कि इस सम्बन्ध में ससद् की शक्तियाँ अस्थायी हैं। फिर भी इससे यह बोध होता है कि भारत का सविधान एकात्मक प्रकृति का है। किसी अन्य सघात्मक सविधान ने ऐसा उपबन्ध नही रखा है क्योकि यह व्यवस्था सघीय सिद्धान्त से मेल नहीं खाती।

सविधान ने सघ में ही सारी शक्ति विहित की है कि वह आपात कालो में सर्वग्राही शक्तियो और अधिकारो का उपभोग करे। सविधान के अनुच्छेद २५० ने ससद् को अधिकार प्रदान किया है कि यदि आपात की उद्घोषणा प्रवर्त्तन में है तो राज्यसूची में के किन्ही विषयो के बारे में ससद् को विधि बनाने की शक्ति होगी। यदि राष्ट्रपति का समाधान हो जाए कि युद्ध या बाह्य आक्रमण या आभ्यन्तरिक अशान्ति का सकट सन्निकट है तो वह आपात-काल की उद्घोषणा कर सकेगा। आपात की उद्घोषणा का औचित्य ससद् ही निर्णय कर सकती है, न्यायालयो को यह अधिकार नही है कि वे आपात की उद्घोषणा का औचित्य निर्णय कर सकें। और जहाँ एक बार आपात की उद्घोषणा प्रवर्त्तन में आई, कि उसके प्रवर्त्तन-काल में सविधान प्रभावत एकात्मक हो जाता है और ऐसी स्थिति में ससद् को पूरा-पूरा अधिकार रहता है कि वह तीनो सूचियो के किसी भी विषय पर मनमाने ढंग से विधि निर्माण करे। सघ की कार्यपालिका सत्ता, सघ की व्यवस्थापिका सत्ता के समकक्ष और अन्योन्याश्रित है, इसलिए आपात की उद्घोषणा के प्रवर्त्तन-काल में सघ सरकार को अधिकार रहता है कि वह राज्य सरकारो को आदेश दे सके कि वह राज्य अपनी कार्यपालिका शक्ति का किस रीति से प्रयोग करे।[3]

किसी राज्य में सवैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की अवस्था में भी संविधान ने आपातकालीन उद्घोषणा के प्रवर्त्तन का उपबन्ध किया है।[4] यदि किसी

---

[1] Section 91, North America Act, 1867

[2] अनुच्छेद ३५२ (१) (३)।

[3] अनुच्छेद ३५३ (क)।

[4] अनुच्छेद ३५६।

राज्य के राज्यपाल मे प्रतिवेदन मिलने पर या अन्यथा राष्ट्रपति का समाधान ह जाय कि ऐसी स्थिति पैदा हो गई है जिसमे कि उस राज्य का शासन इस मविधा के उपवन्वो के अनुसार नही चलाया जा सकता, अथवा यदि कोई राज्य सरका मघ के किसी निदेश का अनुवर्त्तन करने में या उसको प्रभावी करने में असफल हु है,[1] तो भी राष्ट्रपति आदेश दे मकता है और उक्त राज्य के समस्त विधायी कृत ससद् को सौंप सकता है। ऐमी उद्घोषणा मसद् की स्वीकृति की विषय है किन् समद् की स्वीकृति के वाद भी उक्त घोपणा केवल छ मास तक प्रभावी रह सकत है। हाँ यदि छ माम में पुन· समद् उक्त उद्घोषणा की अवधि वढा दे तो फिर अव और वढ सकती है।

राज्य सूची की अनन्यता (exclusiveness) पर सविधान के अनुच्छेद २५ ने भी मर्यादा आरोपित की है, जिसने मसद् को अधिकार प्रदान किया है कि व राज्य सूची में प्रगणित किसी भी विषय पर विधि निर्माण कर मकती है यदि किन्ह दो अथवा अधिक राज्यो के विधानमण्डलो को यह वांछनीय प्रतीत हो और मकल्पो द्वारा मसद् मे प्रार्थना करें कि मसद् उनके लिए विधि निर्माण करे ससद् द्वारा इस प्रकार पारित विधियाँ अथवा अविनियम ऐसे अन्य राज्यों प भी लागू हो सकते हैं जो तत्पश्चात् उसी प्रकार ससद् से प्रार्थना करें और उ विवियो को स्वेच्छया अगीकार करें। जहाँ राज्य के विवानमण्डल की प्रार्थना प ससद् को किसी राज्य के लिए विधि निर्माण करने का अविकार मिल जाता है वहाँ उन विपयो पर राज्य के विधानमण्डल का अधिकार-क्षेत्र छिन जाता है श्री जोशी लिखते हैं कि “इस शक्ति मे ही पता चलता है कि सविवान के निर्माता ने सघीय सिद्धान्त पर विशेष वल नही दिया था अन्यथा ऐसी शक्ति कभी न द गई होती। इससे यह भी पता चलता है कि राज्यो के विधानमण्डल स्वय अप अधिकार-क्षेत्र के प्रयोग में भी कितना अविश्वास और सकोच करते हैं। इस उपवन् से भी भारतीय सविवान का एकात्मक स्वरूप ही प्रतिविम्बित होता है।’[2]

मघ सूची के १४वें अनुच्छेद ने मसद् को अनन्य अधिकार दिया है कि व विदेशो से सधि और करार करने तथा विदेशो से की गई मधियो, करारों और अभि समयो की पूर्त्ति के लिए आवश्यक विधियाँ वना सकती है। अनुच्छेद २५३ ससद् को अधिकार प्रदान किया है कि वह किसी अन्य देश या देशो के साथ क हुई किसी सधि, करार या अभिसमय अथवा किमी अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन, सस्था य किसी अन्य निकाय के लिए किये गये किसी विनिश्चय के परिपालन के लिए भार के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिए कोई विधि वनाने मे सक्षम है इस प्रकार किमी विदेश के साथ की गई सधि या करार के परिपालनार्थ सस को पूरा-पूरा अधिकार है कि वह चाहे तो मघ सूची के किसी विषय पर, चाहे त राज्य सूची के किमी विषय पर और चाहे तो समवर्त्ती सूची के किसी विषय प

---

[1] अनुच्छेद ३५६।

[2] Joshi, G N. The Constitution of India, p 278.

विधि बना सकती है। ससद् राज्य-सूची में प्रगणित किसी विषय पर भी अधिनियम बना सकती है यदि विदेश के साथ की गई किसी सधि या करार के परिपालनार्थ ऐसी आवश्यकता आ पड़े। और ऐसी अवस्था में ससद् द्वारा अधिनियमित की हुई कोई विधि केवल इस कारण अवैध नही ठहराई जा सकती कि उक्त विधि के कुछ उपबन्धो में ऐसे विषय अन्तर्ग्रस्त हैं जिनका सम्बन्ध राज्य सूची से है।

प्रशासनिक सम्बन्ध

(Administrative Relations)

सघ और राज्यों के बीच सम्बन्ध अथवा राज्यो के परस्पर सम्बन्ध (Relations between Union and States and between States 'inter se')—सघात्मक शासन-व्यवस्था में शासन-तन्त्र को सुचारु रूप से चलाने के लिए और सघर्ष को मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि दोनो ओर से सहयोग और परस्पर प्रीति हो। किन्तु प्रत्येक सघात्मक शासन में कुछ न कुछ दृश्य अथवा अदृश्य शक्तियां इस प्रकार काम करती ही रहती हैं जिनको यदि कानून द्वारा मर्यादा मे न रखा जाय तो वे विवाद और विग्रह को प्रोत्साहन देती हैं और अन्ततोगत्वा राज्य के स्थायित्व को खतरे मे डाल देती हैं। आपातकालीन अवस्थाओ का सामना करने के लिए भी कुछ न कुछ प्रवन्ध कर लेना चाहिए क्योकि सघीय शासन-व्यवस्था में ऐसी अवस्था का आजाना स्वाभाविक है या शासन के दोनो प्रकार के अवयवो—सघ और राज्यों—के स्वतन्त्र अधिकार-क्षेत्र में टक्कर होने के फलस्वरूप भी आपातकालीन अवस्था आ सकती है, और इस प्रकार की स्थिति का सामना करने के लिए पहले से ही तैयारी कर लेनी चाहिए। सारे देश और राष्ट्र में शान्ति, सुव्यवस्था, सुशासन और सुरक्षा बनाये रखने के लिए राष्ट्रीय या केन्द्रीय सरकार ही उत्तरदायी है। इन सब कारणो से यह आवश्यक हो जाता है कि केन्द्र और राज्यो के प्रशासनिक क्षेत्रो में समन्वय और सहयोग रहे और सत्य तो यह है कि सघात्मक शासन-व्यवस्था की सफलता और शक्ति इसी बात पर अवलम्बित है कि सघ और राज्यो की सरकारो में अथवा राज्यो की सरकारो में सम्बन्ध परस्पर सहयोग के आधार पर बनें।

किसी सघात्मक शासन-व्यवस्था वाले देश में सघ और राज्यो के प्रशासनिक सम्बन्धों की निम्न दो शीर्षको के अन्तर्गत परीक्षा की जा सकती है (१) राज्यो के ऊपर सघीय नियन्त्रण की विधियाँ और (२) राज्यो मे परस्पर सौजन्य।

राज्यों के ऊपर संघीय नियन्त्रण की विधियां (Techniques of Union Contral over the States)—आपात-कालो में सघ का राज्यो के ऊपर सब प्रकार से पूर्ण नियन्त्रण रहता है और जसा कि बताया भी जा चुका है, आपात कालीन उद्घोषणा के प्रवर्त्तन-काल में भारतीय सविधान का स्वरूप एकात्मक शासन में वदल जाता है। सामान्य कालो में सघ, राज्यो के ऊपर विभिन्न विधियो और विभिन्न उपकरणो के माध्यम द्वारा नियन्त्रण स्थापित रखता है जो निम्नलिखित हैं (१) राज्य सरकारो को निदेशो के द्वारा, (२) सघीय सरकार अथवा सघ के कुछ कृत्य राज्यों को सौंप कर, (३) अखिल भारतीय सेवको के द्वारा, और (४) सहायक अनुदानो के द्वारा।

(१) **राज्य सरकारो को निदेश** (Directions to the State Governments)—सयुक्त राज्य अमरीका मे राष्ट्रीय सरकार द्वारा राज्यो की सरकारो को निदेश देना अप्रिय माना जाता है। किन्तु भारतीय सविधान के निर्माताओ ने यह प्रथा १९३५ के भारत सरकार अधिनियम से ग्रहण की है। इस समय सविधान ने उपबन्धित किया है कि सघ राज्य-सरकारो को निम्नलिखित विषयो पर निदेश दे सकता है :

(क) ससद् द्वारा निर्मित विधियो तथा वर्त्तमान विधियो का पालन कराना सघ की कार्यपालिका शक्ति का कर्त्तव्य है। सविधान का अनुच्छेद २५६ उपबन्धित करता है कि "प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार होगा कि जिसमे ससद् द्वारा निर्मित विधियो का तथा किन्ही वर्त्तमान विधियो का, जो उस राज्य में लागू हैं, पालन सुनिश्चित रहे, तथा सघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निदेश देने तक विस्तृत होगा जो कि भारत सरकार को उस प्रयोजन के लिए आवश्यक दिखाई दे।" इसलिए प्रत्येक राज्य का यह वैधानिक कर्त्तव्य है कि वह सघीय विधियो की क्रियान्विति कराये और सघीय सरकार को अधिकार है कि वह राज्य सरकारो को निदेश दे सकती है ताकि वे सघीय विधियो की क्रियान्विति और उनके प्रवर्त्तन के सम्बन्ध में अपने कर्त्तव्यो का निर्वहन करें।

(ख) सघीय कार्यपालिका का यह देखना कर्त्तव्य है कि राज्य की कार्यपालिका सत्ता का सघ की कार्यपालिका सत्ता से सघर्ष न होने पावे। अनुच्छेद २५७ (१) उपबन्धित करता है कि "प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का इस प्रकार प्रयोग होना चाहिए जिससे सघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग मे अड़चन या प्रतिकूल प्रभाव न पड़े तथा सघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निदेश देने तक विस्तृत होगा जो भारत सरकार को उस प्रयोजन के लिए आवश्यक दिखाई दे।" अनुच्छेद २५७ का उद्देश्य यह है कि सघ सरकार और राज्य सरकारो की कार्यपालिका नीतियो मे विरोध न होने पावे। इस प्रकार राज्य सूची में प्रगणित विषयो के क्षेत्र मे भारत सरकार को अधिकार होगा कि वह राज्य सरकारो को ऐसे निदेश दे सके ताकि राज्यो की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग किसी प्रकार सघ सरकार की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग का विरोध न करने लग जाय, अर्थात् उन विषयो के प्रशासन मे जो सघ सूची और समवर्त्ती सूची मे प्रगणित हैं, केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकारो के बीच सघर्ष की नौबत नही आनी चाहिए।

जब अनुच्छेद २५६ और २५७ को साथ-साथ लिया जाता है तो उनसे भारत सरकार की शक्तियाँ और उसका राज्यो के अधिकार-क्षेत्र मे प्रवेश असाधारणतया बढ जाते हैं। उक्त दोनो अनुच्छेद राज्यो की कार्यपालिका सत्ताओ पर निश्चित रूप से विधेयात्मक (positive) और निषेधात्मक (negative) प्रतिबन्ध लगाते हैं और भारत सरकार को विस्तृत अधिकार प्रदान करते हैं कि वह राज्यो मे किसी भी प्रकार के निर्वाध गति से प्रशासनिक कृत्य कर सकती है। अनुच्छेद ३६५ ने भी भारत सरकार को अधिकार प्रदान किया है कि वह राज्य सरकारो को निदेश दे सकती है, जिसमे उपबन्धित किया गया है "जहाँ इस सविधान के उपबन्धो में से

विधि बना सकती है। समद् राज्य-सूची में प्रगणित किसी विषय पर भी अधिनियम बना सकती है यदि विदेश के साथ की गई किसी सधि या करार के परिपालनार्थ ऐसी आवश्यकता आ पडे। और ऐसी अवस्था में ससद् द्वारा अविनियमित की हुई कोई विधि केवल इस कारण अवैध नही ठहराई जा सकती कि उक्त विधि के कुछ उपबन्धो में ऐसे विषय अन्तर्ग्रस्त हैं जिनका सम्बन्ध राज्य सूची से है।

प्रशासनिक सम्बन्ध

(Administrative Relations)

सघ और राज्यों के बीच सम्बन्ध अथवा राज्यों के परस्पर सम्बन्ध (Relations between Union and States and between States 'inter se')—सघात्मक शासन-व्यवस्था में शासन-तन्त्र को सुचारु रूप से चलाने के लिए और सघर्ष को मिटाने के लिए यह आवश्यक है कि दोनो ओर से सहयोग और परस्पर प्रीति हो। किन्तु प्रत्येक सघात्मक शासन में कुछ न कुछ दृश्य अथवा अदृश्य शक्तियाँ इस प्रकार काम करती ही रहती हैं जिनको यदि कानून द्वारा मर्यादा में न रखा जाय तो वे विवाद और विग्रह को प्रोत्साहन देती हैं और अन्ततोगत्वा राज्य के स्थायित्व को खतरे मे डाल देती हैं। आपातकालीन अवस्थाओ का सामना करने के लिए भी कुछ न कुछ प्रवन्ध कर लेना चाहिए क्योकि सघीय शासन-व्यवस्था में ऐसी अवस्था का आजाना स्वाभाविक है या शासन के दोनो प्रकार के अवयवो—सघ और राज्यों—के स्वतन्त्र अधिकार-क्षेत्र में टक्कर होने के फलस्वरूप भी आपातकालीन अवस्था आ सकती है, और इस प्रकार की स्थिति का सामना करने के लिए पहले से ही तैयारी कर लेनी चाहिए। सारे देश और राष्ट्र में शान्ति, सुव्यवस्था, सुशासन और सुरक्षा बनाये रखने के लिए राष्ट्रीय या केन्द्रीय सरकार ही उत्तरदायी है। इन सब कारणो से यह आवश्यक हो जाता है कि केन्द्र और राज्यो के प्रशासनिक क्षेत्रो में समन्वय और सहयोग रहे और सत्य तो यह है कि सघात्मक शासन-व्यवस्था की सफलता और शक्ति इसी बात पर अवलम्बित है कि सघ और राज्यो की सरकारों में अथवा राज्यों की सरकारो में सम्बन्ध परस्पर सहयोग के आधार पर बनें।

किसी सघात्मक शासन-व्यवस्था वाले देश में सघ और राज्यो के प्रशासनिक सम्बन्धों की निम्न दो शीर्षको के अन्तर्गत परीक्षा की जा सकती है (१) राज्यो के ऊपर सघीय नियन्त्रण की विधियाँ और (२) राज्यो में परस्पर सौजन्य।

राज्यों के ऊपर सघीय नियन्त्रण की विधियाँ (Techniques of Union Control over the States)—आपात-कालो में सघ का राज्यो के ऊपर सब प्रकार से पूर्ण नियन्त्रण रहता है और जसा कि बताया भी जा चुका है, आपात कालीन उद्घोषणा के प्रवर्त्तन-काल में भारतीय सविधान का स्वरूप एकात्मक शासन में वदल जाता है। सामान्य कालो में सघ, राज्यो के ऊपर विभिन्न विधियो और विभिन्न उपकरणो के माध्यम द्वारा नियन्त्रण स्थापित रखता है जो निम्नलिखित हैं (१) राज्य सरकारो को निदेशो के द्वारा, (२) सघीय सरकार अथवा सघ के कुछ कृत्य राज्यो को सौंप कर, (३) अखिल भारतीय सेवकों के द्वारा, और (४) सहायक अनुदानो के द्वारा।

भारत सरकार राज्य सरकारो को यह भी आज्ञा कर सकती है कि वे रेलो अथवा रेल-मार्गों की रक्षा तथा रेल सम्पत्ति की रक्षा के हेतु पुलिस दल नियुक्त करें और यदि आवश्यक हो तो अनुच्छेद २५७ (४) के उपबन्धो के अधीन ऐसे अतिरिक्त पुलिस-दल नियुक्त करे जिनके ऊपर खर्च होने वाली धनराशि भारत सरकार अदा करेगी।

(२) सघीय कृत्यों का राज्य सरकारों को सौंपना (Delegation of Union Functions)—अनुच्छेद २५८ उपबन्धित करता है कि किसी राज्य की सरकार की सम्मति से राष्ट्रपति उस सरकार को या उसके पदाधिकारियो को ऐसे किसी विषय सम्बन्धी कृत्य, जिन पर सघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है, शर्तों के साथ या बिना शर्तों के सौंप सकता है। कोई सघीय विधि, जो किसी राज्य पर ऐसे विषय पर भी लागू होती है जिस पर राज्य के विधानमण्डल को अधिकार-क्षेत्र प्राप्त नही है, किसी राज्य को कुछ भी अधिकार प्रदान कर सकती है और उस पर अथवा उसके अधिकारियो पर तत्सम्बन्धी कुछ भी कृत्य सौंप सकती है। इस प्रकार ससद् का कोई अधिनियम किसी राज्य या उसके अधिकारियो के ऊपर सघ सूची अथवा समवर्ती सूची के किसी विषय के सम्बन्ध मे कुछ भी कर्त्तव्य सौंप सकता है अथवा कुछ भी अधिकार प्रदान कर सकता है।

यह उपबन्ध कुछ अजीब सा है क्योकि सघीय सिद्धान्त केन्द्र और अवयवी एकको में समानता का दर्जा स्थापित करता है। अनुच्छेद २५८ ने यूनियन को अथवा केन्द्र को राज्यो अथवा एकको का मालिक बना दिया है और राज्यो को उसका अनुचर बना डाला है, और स्वाभाविक है कि एजेण्ट या सेवक, मालिक की सभी इच्छाओ की पूर्ति करने को बाध्य है।

(३) अखिल भारतीय सेवाएँ (All-India Services)—सघीय शासन व्यवस्था मे दो प्रकार के शासन होते हैं, उसी प्रकार दो भिन्न श्रेणियो के सार्वजनिक सेवक भी होते हैं, एक श्रेणी के सेवक राज्यो के लिए होते हैं और दूसरी श्रेणी के सेवक सघीय सरकार के लिए, और वे दोनो श्रेणियो के सेवक अपनी-अपनी सरकारो की विधियो की क्रियान्विति करते हैं। भारतीय सविधान ने भी उपबन्धित किया है कि सघ सरकार और राज्य सरकारो के अलग-अलग सार्वजनिक अधिकारी होगे और वे अपने-अपने अधिकार-क्षेत्र में कार्य करेंगे। किन्तु साथ ही सविधान ने यह भी उपबन्धित किया है कि भारतीय प्रशासन सेवा और भारतीय आरक्षी सेवा सघ और राज्यो दोनो में समान रूप से कार्य करेंगी। सविधान के अनुच्छेद ३१२ ने ससद् को अधिकार प्रदान किया है कि वह राष्ट्र-हित मे विधि द्वारा सघ और राज्यो के लिए अखिल भारतीय सेवको के सृजन के लिए उपबन्ध कर सकती है। यह उपबन्ध भारतीय सविधान की एक अनोखी विशेषता है। डा० बी० आर० अम्बेदकर ने अखिल भारतीय सेवाओ के सृजन की आवश्यकता पर प्रकाश डाला था और उन्होने यह भी बताने का प्रयत्न किया था कि सघ सरकार का नियन्त्रण राज्यो के प्रशासन के ऊपर कहाँ तक विस्तृत होगा। डा० अम्बेदकर ने कहा था "प्रत्येक सघात्मक शासन-व्यवस्था में दो श्रेणियो के राज्य होते हैं और इसलिए प्रत्येक सघ में दो श्रेणियो के सेवक भी होते हैं। सभी सघो में अखिल सघीय सिविल सेवाएँ

किसी के अधीन सघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग मे दिए गए किन्ही निदेशो का अनुवर्तन करने में या उनको प्रभावी करने में कोई राज्य असफल हुआ है, वहाँ राष्ट्रपति के लिए यह मानना विधिसगत होगा कि ऐसी अवस्था उत्पन्न हो गई है जिसमे राज्य का शासन इस सविधान के उपबन्धो के अनुकूल नही चलाया जा सकता ।"

(ग) सघ कार्यपालिका का यह देखना कर्त्तव्य है कि राज्य सरकारें सामरिक महत्त्व की सडको और अन्य सचार साधनो की उचित देखभाल और मरम्मत करती हैं अथवा नही । सामान्यत सचार साधन (communications) राज्य सूची का विषय है ।[1] अनुच्छेद २५७ (२) सघ सरकार को अधिकार देता है कि वह किसी राज्य को ऐसे सचार साधनो के निर्माण करने और बनाये रखने के लिए निदेश दे सकती है जो भारत सरकार को राष्ट्रीय या सैनिक महत्त्व के प्रतीत हो । इसका यह अर्थ है कि भारत सरकार स्वय भी ऐसे सचार साधनो का निर्माण और उनकी देखभाल, मरम्मत आदि करेगी जिन्हे वह सैनिक, नौसैनिक अथवा वायुसैनिक आवश्यकताओ के लिए उचित समझे,[2] साथ ही सघ सरकार को अधिकार होगा कि वह ऐसे सचार साधनो के निर्माण या मरम्मत आदि के लिए राज्य सरकारो को भी निदेश दे सकती है जिन्हे वह राष्ट्रीय या सामरिक महत्त्व का समझती हो ।

राज्यो को निदेश देने सम्बन्धी सवैधानिक उपबन्ध ससद् की शक्तियो पर किसी प्रकार की मर्यादाएँ आरोपित नही करते, और ससद् उक्त उपबन्धो के बावजूद किन्ही राजपथो या बडी सडको (highways) या नहरो या जलपथो अथवा नौकागम्य नदियो (waterways) को राष्ट्रीय राजपथ या राष्ट्रीय जलपथ घोषित कर सकती है । उक्त उपबन्ध सघ सरकार की शक्तियो पर भी किसी प्रकार के प्रतिबन्ध नही लगाते और वह किसी भी राजपथ या जलपथ को राष्ट्रीय राजपथ या राष्ट्रीय जलपथ घोषित कर सकती है ।[3] उक्त उपबन्ध सघ सरकार की इस शक्ति पर भी कोई मर्यादा नही लगाते कि वह नौ, स्थल और विमान बल की कर्मशालाएँ निर्मित करे या उनकी मरम्मत करे और उक्त बलो के लिए सचार साधन निर्मित करे ।[4]

(घ) सघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य में की रेलो की रक्षा के लिए किए जाने वाले उपायो के बारे मे उस राज्य को निदेश देने तक भी है ।[5] रेलें सघ सूची में प्रगणित विषय हैं[6] और रेलवे पुलिस सहित सामान्य पुलिस राज्य सूची का विषय है ।[7] इस प्रकार सघ की कार्यपालिका सत्ता किसी राज्य की रेलो के सरक्षण के हेतु निदेश देने तक विस्तृत है और इस प्रकार उक्त निदेश में

---

[1] राज्य सूची न० II, पद १३ ।

[2] सघ सूची न० I, पद ४ और अनुच्छेद २५७ (२) ।

[3] सघ सूची न० I, पद २३, २४ ।

[4] सघ सूची न० I, पद [illegible] ।

[5] अनुच्छेद २५७ (३) ।

[6] सघ सूची न० I, पद २२ ।

[7] राज्य सूची न० II, पद २ ।

विनियमो के अधीन ही होते हैं। सभी जानते हैं कि जो धन व्यय करता है वही अपनी इच्छा के अनुसार निर्धारित करता है।

राज्यों में परस्पर सौजन्य (Inter-State Comity)—यद्यपि घ के सभी अवयवी एकक अपने-अपने प्रादेशिक अधिकार-क्षेत्र में पूर्ण स्वायत्तता का उपभोग करते है फिर भी कोई एकक पूर्णतया अलग या किसी से बिना सम्बन्ध रखे हुए नही रह सकता। सत्य यह है कि किसी एकक की स्वायत्तता के यही अर्थ हैं कि प्रत्येक एकक परस्पर सहयोग के कुछ सिद्धान्तो का अनुसरण करे। तदनुसार सभी सघीय सविधान कुछ ऐसे परस्पर-सौजन्य के नियम रखते हैं जिनका पालन आपसी सम्बन्धो के निर्वहन में प्रत्येक एकक के लिए आवश्यक माना जाता है। भारतीय सविधान ने ससद् को अधिकार प्रदान किया है कि वह विधि द्वारा किसी अन्तर्राज्यिक नदी या नदी दून के, या में, जलो के प्रयोग वितरण या नियन्त्रण के बारे में किसी विवाद या फरियाद के न्याय-निर्णयन के लिए उपबन्ध कर सकती है। ससद् को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह विधि द्वारा उपबन्ध कर सकेगी कि न तो उच्चतम न्यायालय और न अन्य कोई न्यायालय किसी विवाद या फरियाद के बारे मे क्षेत्राधिकार का प्रयोग करेगा।[1] सविधान ने अन्तर्राज्य-परिषदो (Inter-State Councils)[2] की स्थापना का भी उपबन्ध किया है। यदि किसी समय राष्ट्रपति को यह प्रतीत हो कि ऐसी अन्तर्राज्य-परिषद् की स्थापना से लोक-हितो की सिद्धि होगी, जिस पर—(क) राज्यो के बीच जो विवाद उत्पन्न हो चुके हो उनकी जांच करने और उन पर मन्त्रणा देने, (ख) कुछ या सब राज्यो के, अथवा सघ और एक या अधिक राज्यो के, पारस्परिक हित से सम्बद्ध विषयो के अनुसधान और चर्चा करने, अथवा (ग) ऐसे किसी विषय पर सिफारिश करने, और विशेषत इस विषय के बारे में नीति और कार्रवाई के अधिकतर अच्छे समन्वय के हेतु सिफारिश करने का भार हो तो राष्ट्रपति के लिए यह विधिसगत होगा कि वह आदेश द्वारा ऐसी परिषद् की स्थापना करे तथा उस परिषद् के द्वारा किए जाने वाले कर्त्तव्यो के स्वरूप को और उसके सघटन और प्रक्रिया को परिभाषित करे।

अनुच्छेद २६१ ने उपबन्धित किया है कि भारत के राज्य-क्षेत्र मे सर्वत्र, सघ की और प्रत्येक राज्य की सार्वजनिक क्रियाओ, अभिलेखो और न्यायिक कार्रवाइयो को पूरा विश्वास और पूरी मान्यता दी जायगी। किन्तु ससद् विधि द्वारा सार्वजनिक क्रियाओ, अभिलेखो और न्यायिक कार्रवाइयो की सिद्धि की रीति तथा उनके प्रभाव अन्य राज्यो मे स्वय उपबन्धित करेगी। यह भी उपबन्धित किया गया है कि भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भाग मे के व्यवहार न्यायालयो (Civil Courts) द्वारा दिए गए अन्तिम निर्णय या आदेश भारत राज्य-क्षेत्र के अन्दर कही भी विधि अनुसार निष्पादन योग्य होगे।[3]

---

1 अनुच्छेद २६२।

2 अनुच्छेद २६३।

3. अनुच्छेद २६१ (३)।

और राज्य सेवाएँ होती हैं। यद्यपि भारतीय सघ मे भी दो श्रेणियो के राज्य (dual polity) हैं और उनमें दो श्रेणियो के सेवक भी होगे, किन्तु एक महत्त्वपूर्ण अतर होगा। यह माना जाता है कि प्रत्येक देश की प्रशासन-व्यवस्था मे कुछ पद ऐसे होते हैं जिनको उच्च प्रशासनिक स्तर की हैसियत से मुख्य महत्त्व के पद कह सकते हैं। इसमे कोई सन्देह नही है कि अच्छा या बुरा प्रशासन सिविल सेवको की योग्यता पर निर्भर है और महत्त्व के पदो पर इन्ही सिविल सेवको को नियुक्त किया जाता है। सविधान ने उपबन्धित किया है कि अखिल भारतीय सेवा की स्थापना होनी चाहिए जो अखिल भारतीय आधार एव समान योग्यताओ के आधार पर समान वेतन क्रम के अनुसार हो और केवल अखिल भारतीय सेवक ही सारे सघ में महत्त्वपूर्ण पदो पर नियुक्त हो। किन्तु उक्त उपबन्ध ने राज्यो का अधिकार नही छीना है और राज्य भी अपनी सिविल सेवाएँ कायम कर सकते हैं।"

(४) **सहायक अनुदान** (Grants-in-Aid)—सघीय वित्त-व्यवस्था का सामान्य सिद्धान्त यह है कि वित्त के सम्बन्ध में सघ सरकार और राज्य सरकारें परस्पर स्वतन्त्र रहे और सबके पास अपने योग्य पर्याप्त वित्तीय साधन हो। किन्तु इस सिद्धान्त की इतनी कठोर क्रियान्विति कही भी पूर्णतया सम्भव नही है और प्रत्येक सघात्मक सविधान ऐसी व्यवस्था करता है कि करो से प्राप्त कुछ धनराशि सघीय सरकार और राज्य सरकारो के बीच बँट जाया करे। किन्तु अवयवी राज्यो की वित्तीय आवश्यकताएँ इतनी बढती जा रही हैं कि उक्त व्यवस्था से भी पूरा नही पडता, और इसलिए राज्यो को केन्द्रीय सरकार से सहायक अनुदान स्वीकार करने पडते हैं। सविधान के अनुच्छेद २७५ ने उपबन्धित किया है और ससद् को अधिकार दिया है कि वह उन राज्यो के राजस्वो के सहायक अनुदान के रूप में ऐसी राशियाँ विधि द्वारा उपबधिन्त करे और निर्धारित करे कि उन्हे कितने धन की आवश्यकता है और यह भी उपबन्धित किया गया है कि सहायक अनुदानो के रूप में राज्यो को दी गई धनराशियाँ भारत की सचित निधि (Consolidated Fund of India) पर भारित होगी। ससद् को यह अधिकार तो है ही कि वह कभी भी धन की आवश्यकता वाले किसी राज्य को सहायक अनुदान कर सकती है, इसके अतिरिक्त सविधान ने भी दो अवसरो पर राज्यो को केन्द्र द्वारा आर्थिक सहायता दिलवाने की व्यवस्था की है (१) यदि कभी किसी राज्य ने भारत सरकार की पूर्व सहमति से ऐसी विकास योजनाओ की क्रियान्विति अपने हाथ में ली हो जिनका उद्देश्य अनुसूचित आदिम जातियो का कल्याण हो, अथवा जिनका उद्देश्य अनुसूचित क्षेत्रो के सामान्य प्रशासन का स्तर ऊँचा करना हो, तो तदर्थ सहायक अनुदान सम्बन्धित राज्य को दिया जा सकता है किन्तु उक्त अनुदान भारत की सचित निधि पर भारित होगा। (२) आसाम राज्य को भी उस राज्य के अनुसूचित क्षेत्रो के विकास के लिए सहायक अनुदान दिए जा सकते हैं।

सहायक अनुदानो के द्वारा वित्तीय सहायता के कारण केन्द्र अथवा सघ सरकार को सम्बन्धित राज्यो के मामलो मे नियन्त्रण और हस्तक्षेप के पर्याप्त अवसर जाते हैं। सहायक अनुदान सदैव सशर्त दिए जाते हैं और वे सघ सरकार के

विनियमो के अवीन ही होते हैं। सभी जानते हैं कि जो वन व्यय करता है वही अपनी इच्छा के अनुमार निर्धारित करता है।

राज्यों में परस्पर सौजन्य (Inter-State Comity)—यद्यपि घ के सभी अवयवी एकक अपने-अपने प्रादेशिक अधिकार-क्षेत्र मे पूर्ण स्वायत्तता का उपभोग करते है फिर भी कोई एकक पूर्णतया अलग या किसी से विना सम्बन्ध रखे हुए नही रह सकता। सत्य यह है कि किसी एकक की स्वायत्तता के यही अर्थ हैं कि प्रत्येक एकक परस्पर सहयोग के कुछ मिद्धान्तो का अ ुसरण करे। तदनुसार सभी सघीय मविधान कुछ ऐसे परम्पर-सौजन्य के नियम रखते हैं जिनका पालन आपसी सम्बन्वो के निर्वहन में प्रत्येक एकक के लिए आवश्यक माना जाता है। भारतीय सविधान ने मसद् को अविकार प्रदान किया है कि वह विधि द्वारा किसी अन्तर्राज्यिक नदी या नदी दून के. या में, जलो के प्रयोग वितरण या नियन्त्रण के बारे में किसी विवाद या फरियाद के न्याय-निर्णयन के लिए उपवन्ध कर सकती है। ससद् को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह विधि द्वार। उपवन्ध कर सकेगी कि न तो उच्चतम न्यायालय और न अन्य कोई न्यायालय किसी विवाद या फरियाद के वारे में क्षेत्राधिकार का प्रयोग करेगा।[1] मविधान ने अन्तर्राज्य-परिषदो (Inter-State Councils)[2] की स्थापना का भी उपवन्ध किया है। यदि किमी समय राष्ट्रपति को यह प्रतीत हो कि ऐसी अन्तर्राज्य-परिषद् की स्थापना से लोक-हितो की मिद्धि होगी, जिस पर—(क) राज्यो के वीच जो विवाद उत्पन्न हो चुके हो उनकी जाँच करने और उन पर मन्त्रणा देने, (ख) कछ या सब राज्यो के, अथवा सघ और एक या अधिक राज्यो के, पारस्परिक हित से सम्बद्ध विपयो के अनुसधान और चर्चा करने, अथवा (ग) ऐमे किमी विपय पर सिफारिश करने, और विशेपत इस विपय के वारे में नीति और कार्रवाई के अधिकतर अच्छे ममन्वय के हेतु सिफारिश करने का भार हो तो राष्ट्रपति के लिए यह विधिसगत होगा कि वह आदेश द्वारा ऐमी परिषद् की स्थापना करे तथा उस परिषद् के द्वारा किए जाने वाले कर्त्तव्यो के स्वरूप को और उमके सघटन और प्रक्रिया को परिभापित करे।

अनुच्छेद २६१ ने उपवन्धित किया है कि भारत के राज्य-क्षेत्र मे सर्वत्र, सघ की और प्रत्येक राज्य की मार्वजनिक क्रियाओ, अभिलेखो और न्यायिक कार्रवाइयो को पूरा विश्वाम और पूरी मान्यता दी जायगी। किन्तु ममद् विधि द्वारा मार्वजनिक क्रियाओ, अभिलेखो और न्यायिक कार्रवाइयो की सिद्धि की रीति तथा उनके प्रभाव अन्य राज्यो मे स्वय उपवन्धित करेगी। यह भी उपवन्धित किया गया है कि भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भाग में के व्यवहार न्यायालयो (Civil Courts) द्वारा दिए गए अन्तिम निर्णय या आदेश भारत राज्य-क्षेत्र के अन्दर कही भी विधि अनुसार निष्पादन योग्य होगे।[3]

---

1 अनुच्छेद २६२।

2 अनुच्छेद २६३।

3. अनुच्छेद २६१ (३)।

सविधान ने यह भी उपबन्धित किया है कि भारत राज्य-क्षेत्र मे सर्वत्र व्यापार, वाणिज्य और समागम स्वतन्त्र और अबाध है ।[1] किन्तु अन्य स्वतन्त्रताओ के समान ही व्यापार, वाणिज्य और समागम भी पूर्ण अबाध (absolute) नहीं हैं। ससद् को अधिकार है कि वाणिज्य, व्यापार और समागम पर ऐसे निर्बन्धन लगा सकती है जिन्हे वह लोकहित मे उचित समझे या जो लोकहित में अपेक्षित हो ।[2] किन्तु लोकहित को इतने व्यापक अर्थों मे लिया जा सकता है कि इससे ससद् को अत्यन्त विस्तृत शक्तियाँ प्राप्त हो गई हैं। यदि लोकहित में ससद् चाहे तो अन्तर्राज्यिक वाणिज्य और व्यापार पर निर्बन्धन लगा सकती है। अनुच्छेद ३०३ ने ससद् से भी और राज्यो के विधानमण्डलो से भी, ऐसी कोई विधि बनाने की शक्ति छीन ली है जिसका सम्बन्ध सप्तम अनुसूची की किसी सूची में प्रगणित किसी वाणिज्य या व्यापार से हो, और जो एक राज्य को दूसरे राज्य से अधिमान (preference) देती हो अथवा एक राज्य और दूसरे राज्य के बीच में कोई विभेद करती हो। किन्तु वही अनुच्छेद ससद् को अधिकार भी प्रदान करता है कि वह ऐसी विधि बना सकेगी जो एक राज्य को दूसरे राज्य पर कोई ऐसा अधिमान (preference) देती हो अथवा जो विभिन्न राज्यो में ऐसा कोई विभेद करती हो बशर्ते कि ऐसी विधि द्वारा यह घोषित किया गया हो कि भारत राज्य-क्षेत्र के किसी भाग मे वस्तुओ की दुर्लभता से उत्पन्न किसी स्थिति से निबटने के प्रयोजन के लिए ऐसा करना आवश्यक है। यहाँ यह समझने की जरूरत है कि जहाँ अनुच्छेद ३०३ ने ससद् को अधिकार प्रदान किया है कि वह एक राज्य को दूसरे पर अधिमान दे सकती है या राज्यो मे विभेद भी कर सकती है बशर्ते कि भारत के किसी भाग मे वस्तुओ की ऐसी दुर्लभता उत्पन्न हो गई है और उससे निबटने के प्रयोजन के लिए ऐसा करना आवश्यक है, वही सविधान ने वस्तुओ की दुर्लभता के कारण राज्यो के विधानमण्डलों के सम्बन्ध मे कोई अपवाद नही बतलाया है। सविधान ने राज्यो के विधानमण्डलो को किसी प्रकार का अधिमान देने या विभेद (discrimination) बर्तने मे पूरी तरह वर्जित कर दिया है।

किन्तु राज्य विधानमण्डलो को अधिकार है कि वे विधि द्वारा अन्य राज्यों से आयात की गई वस्तुओ पर ऐसे कर आरोपित कर सकेंगे बशर्ते कि उस राज्य में निर्मित या उत्पादित वैसी ही वस्तुओ पर वैसे ही कर लगते हो ।[3] इसके अतिरिक्त राज्य विधानमण्डल उस राज्य के साथ या भीतर व्यापार-वाणिज्य और समागम की स्वतन्त्रता पर ऐसे युक्तियुक्त निर्बन्धन लगा सकता है जैसे कि लोकहित में अपेक्षित हो। किन्तु उपर्युक्त निर्बन्धन आरोपित कर सकने के प्रयोजनो के लिए कोई विधेयक या सशोधन राष्ट्रपति की पूर्व मजूरी के बिना राज्य के विधानमण्डल में प्रस्तावित नही किया जा सकता ।[4] भारतीय सविधान के उपर्युक्त उपबन्धो का वही

---

[1] अनुच्छेद ३०१। [2] अनुच्छेद ३०२।

[3] अनुच्छेद ३०४ (क)। [4] अनुच्छेद ३०४ (ख) का परादिक (proviso)।

कनाडा में भी यही माना जाता है कि प्रान्तीय विधानमण्डल पुलिस या म्युनिसिपैलिटी Municipality) या स्वास्थ्य के सम्बन्ध में स्थानीय प्रकार के विनियम पारित कर सकते हैं यद्यपि ट्रीय ससद् (Parliament) को वाणिज्य और व्यापार के विनियमन करने की व्यापक शक्तियाँ हैं।

प्रयोजन है जो अमरीका के राज्यों की पुलिस शक्ति (police power) का अर्थ है, जिसके अनुसार उस देश के राज्य अन्तर्राज्यिक वाणिज्य और व्यापार पर निर्बन्धन लगा सकते हैं। किन्तु अमरीका में राज्यों के उक्त अधिकार के ऊपर न्यायालयों का नियन्त्रण है इसलिए उस देश में राज्यों को उक्त अधिकार न्यायिक सिद्धान्त के आधार पर प्राप्त हुआ है। किन्तु इसके विपरीत भारत में राज्यों को संविधान ने अधिकार प्रदान किया है। इसके अतिरिक्त भारतीय संविधान के उक्त उपबन्धों की सीमाएँ अत्यन्त विस्तृत हैं, जब कि संयुक्त राज्य अमरीका में राज्यों की पुलिस शक्ति (police power) के सिद्धान्त का व्यवहार अपेक्षाकृत सीमित है।

संविधान के अनुच्छेद ३०७ ने संसद् को अधिकार प्रदान किया है कि वह अन्तर्राज्यिक वाणिज्य और व्यापार पर निर्बन्धन लगाने के प्रयोजनों को कार्यान्वित करने के लिए जो कुछ उचित समझे कर सकती हैं, तथा इस दिशा में ऐसे प्राधिकारी की नियुक्ति कर सकती है तथा इस प्रकार नियुक्त प्राधिकारी को ऐसी शक्तियाँ और ऐसे कर्त्तव्य सौंपे जा सकते हैं जिन्हें संसद् आवश्यक समझे। भारत में इस प्रयोजन के लिए नियुक्त प्राधिकारी की लगभग वही स्थिति होगी जो संयुक्त राज्य अमरीका में अन्तर्राज्यिक वाणिज्य आयोग (Inter-state Commerce Commission of U S A) की है।

वित्तीय सम्बन्ध

(Financial Relations)

एककों की वित्तीय स्वायत्तता या राजकोषीय स्वायत्तता (Fiscal Autonomy of the Units)—संघात्मक शासन-व्यवस्था में वित्त-व्यवस्था और प्रकार की होती है किन्तु एकात्मक शासन-व्यवस्था में दूसरी प्रकार की। संघवाद का सार है—कर्त्तव्यों का विभाजन, किन्तु कर्त्तव्यों के विभाजन के लिए यह भी आवश्यक है कि देश के द्रव्य साधनों का भी बँटवारा हो जाय ताकि कर्त्तव्य कुशलतापूर्वक और उचित ढंग से हो। इसलिए संघीय वित्त-व्यवस्था की पहली आवश्यकता तो यह है कि राष्ट्रीय सरकार और अवयवी राज्यों की सरकारों के पास इतने और पर्याप्त द्रव्य साधन हों कि वे दोनों अपने-अपने अधिकार-क्षेत्रों में अपने-अपने निर्धारित कर्त्तव्यों को पूरा करने में समर्थ हो सकें। प्रत्येक सरकार (अर्थात् संघ सरकार और राज्य सरकारें) को पूरी स्वतन्त्रता हो कि वह उपक्रम ले और व्यापार या कार्य करे और इस प्रकार अपने द्रव्य साधनों के अनुसार उपक्रम और कार्य करते हुए स्वय व्ययों के वहन करने में समर्थ हो। संक्षेप में कहा जा सकता है कि संघीय शासन-व्यवस्था में राजनीतिक सत्ता के समान ही वित्तीय अधिकार भी पूर्णतः विकेन्द्रीकृत (decentralized) होना चाहिए क्योंकि "वित्तीय या आर्थिक स्वतन्त्रता भी सामान्य स्वतन्त्रता का ही एक भाग है।" संघात्मक शासन-व्यवस्था में यदि राजनीतिक एककों अथवा राज्यों को आर्थिक स्वायत्तता नहीं है तो उनकी राजनीतिक स्वायत्तता झूठी है। राष्ट्रीय सरकार और राज्यों की सरकारों के बीच उचित सम्बन्ध यही होगा कि उनके बीच समन्वय और नियन्त्रण दोनों का सामंजस्य रहे। संघीय वित्त-व्यवस्था की जटिल समस्या पर अपने विचार व्यक्त करते हुए प्रोफेसर आदरकर ने

लिखा है "उपक्रम और कार्य करने की स्वतन्त्रता का विस्तार दोनो सरकारो अर्थात् सघ सरकार और राज्य सरकारो को भी रहना चाहिए। यह इसलिए आवश्यक है क्योकि किसी भी सरकार को अपने निर्दिष्ट कर्त्तव्यो के निर्वहन मे किसी प्रकार का सकोच न होने पावे और वे अपने-अपने क्षेत्र मे सामाजिक और आर्थिक विकास के द्वारा अपनी न्याय्य आकाक्षाओ की पूर्त्ति कर सकें।"[1]

किन्तु किसी भी सघ मे इस सिद्धान्त का कठोरतया पालन नही किया जाता। आजकल इस सिद्धान्त का इस प्रकार सुधार कर दिया गया है कि इसके द्वारा सम्बन्धित राज्य अथवा देश की अपनी विशिष्ट आर्थिक और वित्तीय आवश्यकताएँ पूरी हो सकती हैं। सघवाद के सिद्धान्त मे हाल ही मे कुछ नये विकास हुए हैं, उन विकासो के कारण भी यह नितान्त आवश्यक हो गया है कि उक्त सिद्धान्त के प्रयोग में कुछ सुधार अथवा परिवर्त्तन कर दिये जायें। इसलिए द्रव्य साधनो के वितरण का आधार प्राय प्रत्येक सघ मे अलग-अलग ढग मे होता है। सयुक्त राज्य अमरीका में केन्द्रीय विधानमण्डल अथवा कांग्रेस को अधिकार है कि वह कर लगा सकती है और करो को एकत्रित कर सकती है, साथ ही चुंगी कर, आयात-कर और उत्पाद-कर लगा सकती है और उक्त करो को एकत्रित कर सकती है। कांग्रेस को यह भी अधिकार है कि वह सयुक्त राज्य के ऊपर के ऋणो को चुकाये, और देश के रक्षा साधनो तथा सामान्य कल्याण के लिए धन जुटाये और यदि आवश्यकता आ पडे तो सयुक्त राज्य अमरीका की साख पर धन उधार ले ले। कनाडा में सघीय ससद् को अधिकार है कि वह किसी भी प्रकार या किसी भी प्रकार के कर द्वारा धन एकत्र कर सकती है और वह सार्वजनिक साख पर धन उधार ले सकती है। आस्ट्रेलिया मे केन्द्र और राज्यो को समवर्त्ती शक्तियाँ हैं और वह दोनो ही कर लगा सकते हैं, अपवाद केवल यह है कि चुंगी-कर, आगम-शुल्क और उत्पाद-कर पर केवल केन्द्रीय सरकार को ही अपवर्जी अधिकार है।

भारतीय सविधान की प्रारूप समिति ने सिफारिश की थी कि १९४८ की भारत की अस्थिर स्थिति को देखते हुए यह वाछनीय होगा कि १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने जिस रीति से द्रव्य साधनो का केन्द्र और प्रान्तो के बीच वितरण किया था उसी योजना को पांच वर्षों तक चालू रखा जाये और पांच वर्षों के बाद वित्त आयोग की स्थापना की जाय और उक्त आयोग इस समस्या पर पुनर्विचार करे। तदनुसार सविधान ने गणराज्य की प्रस्थापना के दो वर्षों के भीतर और उसके बाद प्रति पांच वर्षों बाद या उससे पहिले भी एक ऐसे वित्त आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था की है जिसका एक चेयरमैन होगा और चार अन्य सदस्य होगे। आयोग को सिफारिश करनी होगी कि केन्द्र और राज्यो के बीच करो द्वारा प्राप्त द्रव्य साधन किस प्रकार विभाजित किया जाय और सघ सरकार राज्यो को सहायक अनुदान किस सिद्धान्त के आधार पर दे।[2] इस प्रकार भारत सरकार ने सार्वजनिक राजस्वो के

---

[1] Adarkar, B P The Principles and Problems of Federal Finance, p 219

[2] अनुच्छेद २८०।

वितरण की समस्या को नये ढग से हल करने का प्रयास किया है। यह लचीली विधि है तथा राजस्वो के वितरण से सम्बन्धित सारी समस्या पर प्रति पाँच वर्षो बाद पुनर्विचार हो सकता है या उससे पहिले भी विचार किया जा सकता है। पहिला वित्त आयोग १६ अक्तूबर, १९५१ को नियुक्त किया गया था। उक्त आयोग के श्री के० सी० नियोगी सभापति थे तथा सदस्यो मे श्री वी० पी० मेनन, श्री न्यायमूर्त्ति आर० के० राव, डा० वी० के० मदान और श्री एम० वी० रगाचारी थे। द्वितीय वित्त आयोग की नियुक्ति जून १९५६ मे हुई। उक्त आयोग के चैयरमैन अथवा सभापति श्री सन्थानम हैं और ऐसी आशा की जाती है कि यह आयोग १९५७ के प्रारम्भ में अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर देगा।

राजस्वो का बँटवारा (Allocation of Revenues)—वैधानिक सूचियो (*legislative lists*) के कर तो अब भी प्राय वही हैं जो भारत सरकार अधिनियम १९३५ के अनुसार थे। राज्य सूची के करो से सम्बन्धित सारा द्रव्य राज्यो के कोषो मे जाता है और सघ उन करो से प्राप्त धन को लेता है जो सघ सूची मे प्रगणित हैं, साथ ही सघ सरकार ऐसे करो से प्राप्त धन को भी लेती है जो किसी भी सूची मे प्रगणित नही हैं। समवर्त्ती सूची (concurrent list) में करो का कोई जिक्र नही है। राज्य-सूची में प्रगणित करो से प्राप्त धन राज्यो के कोष मे जाता है किन्तु सघ सूची में प्रगणित कुछ करो से प्राप्त धन का बँटवारा पूर्णत या अशत राज्य के हित में हो सकता है। सविधान ने सघीय करो की चार श्रेणियाँ निर्धारित की हैं जिनसे प्राप्त धन पूर्णत या अशत राज्यो के कोषो में जाता है

(१) सघ द्वारा आरोपित किये जाने वाले किन्तु राज्यो द्वारा सगृहीत और विनियोजित किए जाने वाले शुल्क विनिमय-पत्रो के सम्बन्ध मे, धनादेशो के सम्बन्ध मे, प्रतिज्ञा, अर्थपत्रो अथवा वचन-पत्रो के सम्बन्ध में, वहन पत्रो (bills of lading) के सम्बन्ध मे, साख पत्रो (letters of credit) के सम्बन्ध में, आरोप लेखा (Insurance policies) के सम्बन्ध मे, अश सक्रामण (transfer of shares) के सम्बन्ध मे, ऋणपत्रो (debentures), प्रतिपुरुष पत्रो (proxies), और रसीदो (receipts) के सम्बन्ध में तथा औषधीय और प्रसाधनीय सामग्री के सम्बन्ध मे ऐसे शुल्क जो सघ सूची मे वर्णित हैं भारत सरकार द्वारा आरोपित किए जा सकते हैं किन्तु राज्यो द्वारा सग्रहीत और विनियोजित किए जाते हैं।

(२) दूसरी श्रेणी के वे शुल्क हैं जिनको सघ आरोपित भी करता है और सग्रह भी करता है किन्तु जो राज्यो को सौंपे गए हैं। वे निम्न हैं[1]

(क) कृषि-भूमि से अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार-विषयक शुल्क,
(ख) कृषि-भूमि से अन्य सम्पत्ति-विषयक सम्पत्ति शुल्क,
(ग) रेल, समुद्र या वायु से वाहित वस्तुओ या यात्रियो पर सीमा कर,
(घ) रेल-भाडो और वस्तु-भाडो पर कर,

---

[1] अनुच्छेद २६९।

(ङ) श्रेष्ठिचत्वरो (stock exchanges) और वायदा बाज़ारो के सौदो पर मुद्राक शुल्क से अन्य कर,

(च) समाचारपत्रो के क्रय-विक्रय तथा उनमे प्रकाशित विज्ञापनो पर कर।

उपर्युक्त शुल्को से जो शुद्ध आय होती है उसका कुछ अश निश्चितत केन्द्र-प्रशासित प्रदेशो को जाता है, और शेष द्रव्य भाग ससद् के निर्णय के अनुसार राज्यो मे बाँट दिया जाता है।

(३) तीसरी श्रेणी के वे शुल्क हैं जो सघ द्वारा आरोपित और सग्रहीत किए जाते हैं किन्तु जो सघ और राज्यो के बीच वितरित कर दिये जाते हैं। इस श्रेणी में केवल आय-कर ही आता है। निगम-कर का बँटवारा नही होता, उस पर केवल सघ का अधिकार है। कृषि-आय-कर पर राज्य का भाग है इसलिए वह निगम-कर की श्रेणी मे नही आता। आय-कर से प्राप्त द्रव्य धन का कुछ अश केन्द्र-प्रशासित प्रदेशो को निश्चितत जाता है और उसका कुछ भाग सघ के व्ययो और परिलब्धियो (union emoluments) की ओर चला जाता है तथा शेष शुद्ध आय जो आय-कर से प्राप्त होकर बचती है वह सघ और राज्यो में और पुन विभिन्न राज्यो में इस रीति से बाँट दी जाती है जिस प्रकार कि वित्त आयोग की रिपोर्ट पर विचार करने के उपरान्त राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा निर्धारित करता है।[1]

भारत सघ के प्रयोजनो के लिए ससद् यदि चाहे तो ऐसे शुल्को या करो में अधिकार द्वारा वृद्धि कर सकती है जो राज्यो को बाँटे जाने वाले हैं।[2] किन्तु ससद् बिना राष्ट्रपति की सिफारिश के ऐसे किसी कर या शुल्क मे वृद्धि नही कर सकती जिन करों का सम्बन्ध या प्रभाव राज्यो के हितो पर पडता हो।[3]

(४) चतुर्थ श्रेणी में वे कर आते हैं जो सघ सूची में वर्णित औषधीय तथा प्रसाधन सामग्री पर उत्पादन-शुल्क से अन्य सघ-उत्पादन-शुल्क भारत सरकार द्वारा उद्गृहीत और सग्रहीत किए जाते है किन्तु वे शुल्क ससद् की आज्ञा द्वारा ही वितरित किये जा सकते हैं।[4] इस श्रेणी में वर्णित औषधीय और प्रसासन सामग्री पर लगने वाले उत्पादन-शुल्क पूर्णतया राज्यो को सौंपे गए हैं जैसा कि पद (१) में अभी-अभी वर्णित किया जा चुका है।[5]

सहायक अनुदान (Grants-in-aid)—सविधान ने सघ की ओर से राज्यो के लिए तीन प्रकार के सहायक अनुदानो की व्यवस्था की है। अनुच्छेद २७३ के अनुसार असम, बिहार, उडीसा और पश्चिमी बगाल को पटसन और पटसन से बनी हुई वस्तुओ पर निर्यात शुल्क के प्रत्येक वर्ष के शुद्ध आगम के किसी भाग को सौंपने के स्थान में उक्त राज्यो को सहायक अनुदान के रूप में भारत की सचित निधि से ऐसी राशियां दी जाती हैं जसी कि राष्ट्रपति द्वारा विहित की जाएँ। पटसन या पटसन से बनी हुई वस्तुओ पर जब तक भारत सरकार कोई निर्यात शुल्क उद्गृहीत करती रहेगी अथवा इस सविधान के प्रारम्भ से दस वर्षों की समाप्ति तक, या इन

---

[1] अनुच्छेद २७०।

[2] अनुच्छेद २७१।

[3] अनुच्छेद २७४।

[4] अनुच्छेद २७०।

[5] अनुच्छेद २६८।

दोनो में से जो भी पहिले हो उसके होने तक इस प्रकार विहित राशियाँ भारत की सचित निधि पर भारित बनी रहेगी, और वे राज्यो को दी जाती रहेगी।

अनुच्छेद २७५ में सघ द्वारा कतिपय राज्यो को दिए जाने वाले अनुदान सम्बन्धी सामान्य उपबन्ध है। ससद् विधि द्वारा उपबन्धित कर सकती है और ऐसे राज्यो को सहायक अनुदानो के रूप में ऐसी आर्थिक सहायता दिला सकती है जिन्हे धन की आवश्यकता है। किन्तु ससद् ही निर्धारित करती है कि किसी राज्य को दी जाने वाली धन-राशि अथवा अनुदान की धन-राशि कितनी हो, और ऐसी धन-राशि विभिन्न राज्यो की आवश्यकताओ के अनुरूप भिन्न होती है। इसके अतिरिक्त सघ का यह वैधानिक कर्त्तव्य है कि वह अनुसूचित आदिम जातियो के कल्याणार्थ स्वीकृत विकास योजनाओ की धन से सहायता तथा पूर्ति करे और अनुसूचित क्षेत्रो के प्रशासन का स्तर उच्चतर बनाने के लिए भी उचित धन-राशि के अनुदानो से सहायता करे। अनुसूचित वनजाति क्षेत्रो (tribal areas) को विकसित करने के उद्देश्य से सविधान ने आसाम राज्य को विशेष सहायक अनुदान देने की व्यवस्था की है।

इसके अतिरिक्त अनुच्छेद २८२ सघ और राज्य सरकारों को आम आज्ञा देता है कि वे किसी सार्वजनिक प्रयोजन के हेतु कोई भी अनुदान दे सकते हैं चाहे वह प्रयोजन ऐसा न भी हो कि जिसके विषय में यथास्थिति ससद् या उस राज्य का विधानमण्डल विधि बना सकते हो।

करों से विमुक्ति (Exemption from Taxation)—भारतीय सविधान ने भी १९३५ के भारत सरकार अधिनियम का अनुसरण करते हुए उपबन्धित किया है कि एक राज्य की सम्पत्ति पर दूसरा राज्य कर नही लगा सकता। अनुच्छेद २८५ उपबन्धित करता है कि जहाँ तक ससद् विधि द्वारा अन्यथा उपबन्धित न करे, वहाँ तक किसी राज्य द्वारा आरोपित सब करो से सघ की सम्पत्ति विमुक्त होगी। किन्तु साथ ही सघ ऐसे चालू और प्रचलित कर स्थानीय अधिकारियो को उस समय तक देता रहेगा जब तक ससद् उक्त करो के विषय मे निषेधाज्ञा न करे। भारत सरकार के प्रयोग में अथवा रेल-प्रशासन के प्रयोग में आने वाली बिजली के लिए कोई राज्य बिना संसद् की आज्ञा के कोई कर या फीस वसूल नही कर सकते। बिना राष्ट्रपति की आज्ञा के कोई राज्य ऐसे प्राधिकारी द्वारा नियन्त्रित या दी गई पानी या बिजली की सुविधा पर करारोपण नही कर सकता जिसने उक्त पानी या बिजली की व्यवस्था अन्तर्राज्यिक नदियो या नदी दूनो के विकास या विनियमन के लिए की हो।[1]

राज्य की सम्पत्ति और आय पर सघ सरकार कर नही लगा सकती। किन्तु उपर्युक्त विमुक्ति राज्य की सरकार द्वारा या उसकी ओर से किए जाने वाले किसी प्रकार के व्यापार या कारबार के बारे मे उस समय तक प्रभावी नही होगी जब तक कि ससद् विधि द्वारा घोषित न करे कि उपर्युक्त व्यापार या कारबार भी सम्बन्धित राज्य के सामान्य कर्त्तव्यो का भाग ही है।[2]

---

[1] अनुच्छेद २८८।

[2] अनुच्छेद २८९।

अध्याय ६

राज्य की कार्यपालिका

(The State Executive)

राज्यपाल की नियुक्ति (Appointment of a Governor)—राज्य के राज्यपाल को राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा-सहित अधिपत्र द्वारा नियुक्त करता है। राज्यपाल की पदावधि पाँच वर्ष है और वह राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर बना रहता है। सविधान सभा ने जिस प्रान्तीय सविधान ममिति की स्थापना की थी, उसने सिफारिश की थी कि राज्यपाल सर्वसाधारण द्वारा निर्वाचित हुआ करे। किन्तु प्रारूप समिति (Drafting Committee) ने इस प्रस्ताव को स्वीकार नही किया और यह राय व्यक्त की कि "विधानमण्डल में जब राज्यपाल और मुख्य मन्त्री दोनो सर्वसाधारण द्वारा निर्वाचित व्यक्ति होगे तो इससे मघर्षो की सम्भावना हो सकती है।"[1] प्रारूप समिति ने राज्यपालो की नियुक्ति का एक वैकल्पिक मार्ग सुझाया, कि "किसी राज्य का विधानमण्डल चार नाम चुने जिनके उसी राज्य के निवासी होने की शर्त नही होगी, और उन चार नामो में से भारत का राष्ट्रपति किसी एक को राज्य के राज्यपाल के लिए नामाकित कर दे।"[2] किन्तु सविधान सभा ने उक्त दोनो प्रस्तावो को अस्वीकृत कर दिया और यह निश्चय किया कि राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा नामाकित हो।

इस प्रकार राज्य का राज्यपाल, भारत सरकार का नियुक्त पुरुष होता है और उसे भारत सरकार ही किसी भी समय अपदस्थ भी कर सकती है। यह प्रथा उस सघीय सिद्धान्त के विरुद्ध है जिसके अनुसार सयुक्त राज्य अमरीका मे आचरण होता है। सयुक्त राज्य अमरीका में किसी राज्य के गवर्नर या राज्यपाल को उसी राज्य के लोग निर्वाचित करते हैं और उसको केवल राज्य के विधानमण्डल द्वारा सफल महाभियोग के द्वारा ही अपदस्थ किया जा सकता है। आस्ट्रेलिया के किसी राज्य के गवर्नर की नियुक्ति, इगलैंड का सम्राट्, ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणा पर करता है। किन्तु ब्रिटिश मन्त्रिमण्डल, सम्राट् को राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में मन्त्रणा देने से पूर्व सम्बन्वित राज्य के प्रधानमन्त्री की राय जान लेता है। इस प्रकार आस्ट्रेलिया के किसी राज्य का गवर्नर ब्रिटिश सम्राट् के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद पर वना रहता है और वह किसी भी प्रकार आस्ट्रेलिया के गवर्नर-जनरल के प्रति उत्तर-दायी नही है। इसलिए आस्ट्रेलिया के राज्यो के गवर्नर राज्य के प्रयोजनो के लिए उतने ही ब्रिटिश सम्राट् के प्रतिनिधि हैं जितने कि सारे आस्ट्रेलिया देश के

---

[1] Draft Constitution of India, p VII

[2] Ibid, p VII

प्रयोजनो के लिए गवर्नर-जनरल ब्रिटिश सम्राट् का प्रतिनिधि है। इसके विपरीत कनाडा के प्रान्तों के लेफ्टिनेन्ट गवर्नरो को सपरिषद् गवर्नर-जनरल नियुक्त करता है, अर्थात् गवर्नर-जनरल, कनाडा के मन्त्रिमण्डल की मन्त्रणा पर लेफ्टिनेण्ट गवर्नरो की नियुक्ति करता है और उनको गवर्नर-जनरल ही किसी निश्चित और सिद्ध आरोप के आधार पर अपदस्थ भी कर सकता है। यद्यपि कनाडा का लेफ्टिनेण्ट गवर्नर कनाडा की सघ सरकार के द्वारा नियुक्त किया जाता है और उसी सरकार की सत्ता द्वारा वह अपदस्थ किया जा सकता है, फिर भी वह कनाडा अधिराज्य का सेवक नही है और उसके ऊपर कनाडा के मन्त्रिमण्डल का सीधा नियन्त्रण नही है।[1] कनाडा मे जहाँ किसी लेफ्टिनेण्ट गवर्नर की एक बार नियुक्ति हो गई, फिर, वह भी आस्ट्रेलिया के किसी राज्य के गवर्नर के समान स्थिति का उपभोग करने लगता है। वह सम्राट् का प्रतिनिधि है, न कि सघ सरकार का अभिकर्त्ता, और वह प्रान्त के शासन का सर्वेसर्वा होता है। "इसलिए कनाडा में जिस प्रकार प्रान्तीय कार्यपालिका प्रधान की नियुक्ति होती है, वह सघीय सिद्धान्त के अधिक विरुद्ध नही है।"[2]

भारतीय सविधान ने राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में कनाडा की पद्धति का अनुसरण किया है। किन्तु कनाडा के विपरीत किसी भारतीय राज्य का राज्यपाल अपने आपको सघ सरकार का अभिकर्त्ता समझता है और वह प्राय उसी प्रकार आचरण भी करता है। यह अभिसमय भी है कि किसी राज्य के लिए राज्यपाल नियुक्त करते समय सम्वन्धित राज्य के मुख्य मन्त्री से भी पूछ लिया जाता है, किन्तु इस अभिसमय से भी स्थिति में कोई अन्तर नहीं पड़ता। राज्यपाल यह कैसे भूल जायगा कि वह सघ सरकार के सत्ताधारी दल का नामाकित और नियुक्त व्यक्ति है और उसका सामान्य कार्यकाल पाँच वर्ष है और वह उस कालावधि में राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद से नही हटाया जा सकता, और राष्ट्रपति के 'प्रसाद-पर्यन्त' के माने हैं कि वह सघ की सरकार के प्रसाद-पर्यन्त अपने पद से हटाया नही जा सकता। इसलिए सघीय मन्त्रिमण्डल किसी राज्यपाल को उसके सामान्य कार्यकाल में भी केवल किसी राजनीतिक आधार पर हटा सकता है, यद्यपि राज्यपाल को अपने पद से हटाने के लिए कोई कारण देने की आवश्यकता नही है। यह कनाडा की प्रथा के प्रतिकूल है। कनाडा के किसी प्रान्त के लेफ्टिनेण्ट गवर्नर को गवर्नर-जनरल किसी 'निश्चित और सिद्ध आरोप' के आधार पर ही अपदस्थ कर सकता है। सविधान ने राज्यपाल से अपेक्षा की है कि वह कुछ मामलो में स्वविवेक से विनिश्चय कर सकता है।[3] यह गम्भीर खतरे की बात है क्योंकि राज्यपाल, सघ सरकार का नियुक्त अधिकारी होने के कारण कुछ ऐसे कृत्य कर सकता है जो उसकी

---

[1] Liquidators of Maritime Bank *Vs* Receiver General, citd by Sri D D Basu in his "Commentary on the Constitution of India", p 470

[2] Kennedy Some Aspects of the Constitutioal Law, p 79 and Dawson Government of Canada, p 37

[3] अनुच्छेद १६३।

मन्त्रि-परिषद् की रुचि के अनुकूल न हो, विशेषकर ऐसी स्थितियो मे जहाँ केन्द्र और राज्य के हितो मे सघर्ष हो, ऐसी सभावना बढ जाती है। अनुच्छेद ३५६ स्पष्टत इगित करता है कि राज्यपाल केन्द्रीय शासन का अभिकर्त्ता है क्योकि राज्यपाल की रिपोर्ट पर ही तो राष्ट्रपति किसी राज्य मे शासन-तन्त्र के विफल हो जाने की घोषणा कर सकता है और फिर उक्त राज्य का शासन-सचालन अपने हाथो में ले सकता है।

राज्यपाल नियुक्त होने के लिए अर्हताएँ और उक्त पद के लिए शर्तें (Qualifications for Appointment as Governor and Conditions of the Office)—कोई व्यक्ति राज्यपाल नियुक्त होने का पात्र न होगा जब तक कि वह भारत का नागरिक न हो तथा पैंतीस वर्ष की आयु पूरी न कर चुका हो। राज्यपाल को न तो ससद् का सदस्य होना चाहिए और न किसी राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य होना चाहिए। तथा यदि ससद् के किसी सदन का या राज्य के किसी विधानमण्डल का वह सदस्य है तो ऐसे किसी सदस्य के राज्यपाल नियुक्त हो जाने पर यह समझा जाएगा कि उसने राज्यपाल होने की तिथि से सम्बन्धित विधानमण्डल की सदस्यता त्याग दी है।[1] राज्यपाल लाभ के किसी अन्य पद को धारण नही कर सकता। राज्यपाल को बिना किराया दिए, अपने पदावासो के उपयोग का हक है तथा उसको उन उपलब्धियो, भत्तो और विशेषाधिकारो, जो ससद् निर्मित विधि द्वारा निर्धारित किए जाएँ हक है। जब तक ससद् विधि द्वारा अन्यथा निर्णय न करे, सविधान ने आदेश दिया है कि राज्यपाल को ५,५०० रु० मासिक वेतन तथा ऐसे भत्ते भी दिए जाएँ जैसे कि भारत के भूतपूर्व गवर्नरो को इस सविधान मे ठीक पहिले दिए जाते थे।[2] राज्यपाल की पदावधि में उसकी उपलब्धियाँ और भत्ते घटाए नही जा सकते।[3]

प्रत्येक राज्यपाल तथा प्रत्येक व्यक्ति, जो राज्यपाल के कृत्यो का निर्वहन करता है अपने पद ग्रहण करने से पूर्व, सम्बन्धित राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति के समक्ष एक निश्चित और विहित शब्दो मे शपथ या प्रतिज्ञान करता है।[5]

राज्यपाल अपने पद के निर्वहन में जो कृत्य करता है अथवा अपने अधिकारो और कर्त्तव्यो के निर्वहन में वह जो भी कृत्य करता है, उनके लिए वह किसी न्याया-

---

1 अनुच्छेद १५८।

2 द्वितीय अनुसूची भाग (क)।

3 अनुच्छेद १५८ (४)।

4 अनुच्छेद १५९। शपथ या प्रतिज्ञान का विहित स्वरूप यह है "मैं अमुक ईश्वर की शपथ लेता हूँ / सत्य निष्ठा से प्रतिज्ञान करता हूँ कि मैं श्रद्धापूर्वक (राज्य का नाम) के राज्यपाल का कार्यपालन (अथवा राज्यपाल के कृत्यों का निर्वहन) करूँगा तथा अपनी पूरी योग्यता मे सविधान और विधि का परिरक्षण, सरक्षण और प्रतिरक्षण करूँगा और मैं (राज्य का नाम) की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा।"

लय को उत्तरदायी नही है। किसी राज्य के राज्यपाल के विरुद्ध उसकी पदावधि में किसी न्यायालय में दण्ड विधि के अनुसार कोई कार्रवाई नही की जा सकती और न ऐसी कोई कार्रवाई चालू ही रखी जा सकती है। उसकी पदावधि में उसे बन्दी या कारावासी करने के लिए किसी न्यायालय से कोई आदेशिका नही निकाली जा सकती। राज्यपाल के विरुद्ध अपने वैयक्तिक रूप में किए गए किसी कार्य के बारे में राज्यपाल के विरुद्ध अनुतोष की माँग करने वाली कोई व्यवहार कार्रवाइयाँ उसकी पदावधि में किसी न्यायालय में तब तक संस्थित नही की जा सकती जब तक कि कार्रवाइयो के स्वरूप, उनके लिए वाद का कारण, ऐसी कार्रवाइयो के संस्थित करने वाले पक्षकार का नाम, विवरण तथा उससे माँग किए जाने वाले अनुतोष का वर्णन करने वाली लिखित सूचना को राज्यपाल को दिए जाने के पश्चात् दो मास का समय न बीत गया हो।[1]

किसी आकस्मिकता में किसी राज्य के राज्यपाल के कृत्यो के निर्वहन के लिए अथवा किसी राज्यपाल की अनुपस्थिति में उसके कृत्यो के निर्वहन के लिए राष्ट्रपति जैसा उचित समझे, वैसा उपबन्ध बना सकेगा।[2] प्रान्तीय सविधान समिति ने प्रस्तावित किया था कि प्रत्येक राज्य में एक उपराज्यपाल की भी नियुक्ति होनी चाहिए। किन्तु प्रारूप समिति ने इस प्रस्ताव को रद्द करते हुए कहा था "हम उपराज्यपालो को आवश्यक नही समझते क्योंकि राज्यपाल जब तक अपने पद पर है, उपराज्यपाल के करने के लिए कोई काम ही नही होगा। केन्द्र में बात ही और है क्योंकि उपराष्ट्रपति पदेन राज्य परिषद् का सभापति भी है, किन्तु अधिकतर राज्यो में उच्च सदन या द्वितीय सदन नही होगा इसलिए ऐसे राज्यों में उपराज्यपालों को वे कृत्य नहीं सौंपे जा सकते जो केन्द्र में उपराष्ट्रपति को सौंपे गए हैं। सविधान के प्रारूप में इस बात की व्यवस्था कर दी गई है कि या तो सम्बन्धित राज्य का विधानमण्डल या सघ का राष्ट्रपति आकस्मिक आवश्यकता आने पर राज्यपाल के पद के कर्त्तव्यो के निर्वहन के लिए उपयुक्त व्यवस्था कर सकता है।"[3]

राज्यपाल की शक्तियाँ

(Powers of the Governor)

राज्यपाल की वैधानिक स्थिति (Constitutional Position of the Governor)—केन्द्र के समान ही राज्यो की शासन-व्यवस्था भी ससदीय प्रणाली की है। सविधान ने उपबंध किया है कि "जिन बातो में सविधान द्वारा या सविधान के आधीन राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने कृत्यो को स्वविवेक से करे, उन बातो को छोडकर राज्यपाल को अपने कृत्यो का निर्वहन करने में सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी।"[4] "सविधान ने राज्यपाल की स्वविवेकी शक्तियो की परिभाषा नही की है, केवल एक स्थान पर सकेत मिलता है कि राज्यपाल, राष्ट्रपति के पूर्वानुमोदन से कुछ आदिम जाति क्षेत्रो का प्रशासन

---

[1] अनुच्छेद ३६१। [2] अनुच्छेद १६०।

[3] Draft Constitution of India, pp. VII-VIII

[4] अनुच्छेद १६३ (१)।

स्वविवेक से करेगा[1] किन्तु उक्त प्रशासन भी राज्यपाल राष्ट्रपति के अभिकर्त्ता के रूप में ही करेगा और वह भी स्वायत्तशासी जिलान्तर्गत किसी आदिम जाति[2] क्षेत्र की जिला परिषद् को दिए जाने वाले ऐसे स्वामित्व के अंश के बारे में यदि कोई विवाद पैदा हो तो ही वह (राज्यपाल) स्वविवेक से राशि निर्धारित कर सकेगा और इस प्रकार वह एक ओर आसाम सरकार तथा दूसरी ओर आदिम जाति क्षेत्र की जिला परिषद् के बीच के विवाद को स्वविवेक से शान्त कर सकेगा।"[3]

इस सम्बन्ध में भारत के राष्ट्रपति और भारत के किसी राज्य के राज्यपाल की स्थितियों में भिन्नता है यद्यपि देखने में यही प्रतीत होता है कि जिस प्रकार का संसदीय शासन केन्द्र में है उसी प्रकार का संसदीय शासन राज्यों में भी है। एक ओर राष्ट्रपति के लिए यह आवश्यक है कि वह अपनी मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा के अनुसार ही आचरण करे और संविधान ने राष्ट्रपति को किसी भी प्रकार के कृत्यों के निर्वहन में स्वविवेक की छूट नहीं दी है, किन्तु इसके विपरीत संविधान ने राज्यपालों को अधिकार दे दिया है कि वे अपने स्वविवेकी कृत्यों के निर्वहन में स्वविवेक से काम ले सकते हैं, और इस प्रकार के निर्णयों के करने में राज्यपालों को अपने मन्त्रियों से परामर्श लेना या उस परामर्श पर आचरण करना आवश्यक नहीं समझा गया है। संविधान में प्रयुक्त वाक्यांश 'स्वविवेक से' १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की याद दिलाता है जिसमें यह वाक्यांश प्रयुक्त किया गया था। किन्तु १९३५ के भारत सरकार अधिनियम ने प्रान्तीय गवर्नर के स्वविवेकी अधिकार-क्षेत्र की स्पष्ट सीमाएँ निर्धारित कर दी थी किन्तु भारतीय संविधान ने ऐसा नहीं किया है। भारत सरकार अधिनियम १९३५ के विपरीत भारतीय संविधान ने राज्यपाल में अधिकार विहित किया है कि वह निर्णय कर सकता है कि किस विषय को वह स्वविवेक से निर्णय करे और उक्त विषय में स्वविवेक से दिया गया उसका निर्णय अन्तिम होगा। कई लेखकों ने बताया है कि केवल आसाम के राज्यपाल को छोड़कर और किसी राज्यपाल को स्वविवेक के अनुसार कार्य करने की छूट नहीं है, और आसाम के राज्यपाल की स्वविवेकी स्वतन्त्रता भी अनुसूचित आदिम क्षेत्रों के प्रशासन से सम्बन्धित विषयों तक ही सीमित है और वह भी विशेष रूप से खनन-अधिकार शुल्कों (mining royalties) के सम्बन्ध में है। इसलिए श्री दुर्गादास वसु का कथन है "इसलिए किसी सीमा तक संविधान के अनुच्छेद १६३ में 'स्वविवेक से' (in his discretion) वाक्यांश के प्रयोग को नीति-विरुद्ध या नियम-विरुद्ध कहा जा सकता है।"[4]

कलकत्ता के उच्च न्यायालय ने सुनिलकुमार बोस एवं साथी बनाम मुख्य सचिव, पश्चिम बंगाल सरकार के मामले में निर्णय देते हुए कहा था · "आधुनिक

---

[1] छठी अनुसूची, अनुच्छेद १८ (३)।

[2] वही ९ (२)।

[3] अनुच्छेद १६३ (२)।

[4] Basu, D D Commentary on the Constitution of India, p 475

सविधान के अनुसार कोई राज्यपाल बिना मन्त्रियो का परामर्श लिये कोई निर्णय कर ही नही सकता। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार स्थिति दूसरी थी। उस समय प्रान्तीय गवर्नर स्वविवेक मे कुछ कृत्य कर सकता था अर्थात् वह बिना अपने मन्त्रियो की सलाह लिये स्वविवेक से स्वय निर्णय कर सकता था, अर्थात् कहने का तात्पर्य यह है कि भारत सरकार अधिनियम के अन्तर्गत प्रान्तीय राज्यपाल या गवर्नर अपने मन्त्रियो का परामर्श लेकर भी व्यक्तिगत रूप से कुछ भी निर्णय कर सकता था किन्तु अपने व्यक्तिगत निर्णयो में उसे मन्त्रियो का परामर्श स्वीकार करना अनिवार्य नही था। किन्तु आधुनिक सविधान के अनुसार राज्यपाल न तो 'स्वविवेक से' कार्य कर सकता है और न 'अपनी व्यक्तिगत हैसियत से' ही वह कोई काम कर सकता है, इसलिए अब आवश्यक है कि राज्यपाल अपने मन्त्रियो के परामर्श के अनुसार कार्य करे। भारत के महाधिवक्ता के अनुसार राज्यपाल की वैधानिक स्थिति यही है और हम उसके विचारो से सहमत हैं।"

किन्तु वास्तविक स्थिति यह नही है। १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुसार गवर्नर को अपने स्वविवेकी कृत्यो के करने मे गवर्नर-जनरल के आदेशो का पालन करना आवश्यक था। भारतीय सविधान ने भी ऐसे अनेको अवसरो पर यह आवश्यक माना है कि राज्यपाल को राष्ट्रपति से आदेश प्राप्त हो और राज्यपाल का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह राष्ट्रपति के उक्त आदेशो का पालन करे चाहे फिर उसकी मन्त्रि-परिषद् उसे उस सम्बन्ध मे कुछ भी परामर्श दे। साथ ही राज्यपाल को यह भी नही भूलना चाहिए कि वह सघ सरकार द्वारा नियुक्त अधिकारी है और वह केवल राष्ट्रपति के प्रसाद-पर्यन्त ही अपने पद पर बना रह सकता है। और यह अनिवार्य सत्य है कि राज्यपाल तब तक सदैव ही सघीय सरकार के आदेशो का पालन करने को बाध्य है जब तक कि राज्य सरकार सघीय सरकार के आदेशो का ठीक ढग से पालन नही करती। राज्य सरकारें उस समय तक तो सम्भवतः सघीय सरकार के आदेशो की अवहेलना नही करेंगी जब तक कि केन्द्र में और राज्यो में एक ही दल की सरकारें शासन करती हैं। किन्तु फिर भी विरोध की सम्भावनाएँ तो हैं ही और यदि केन्द्र में और राज्यो मे विभिन्न दलो की सरकारे हैं तो ऐसा सम्भव हो सकता है कि कोई राज्य सरकार केन्द्रीय सरकार के आदेशो की अवहेलना कर दे। यह राज्यपाल का वैधानिक कर्त्तव्य है, और इस कर्त्तव्य के निर्वहन मे राज्यपाल को स्वविवेक के अनुसार निर्णय करना चाहिए, कि यदि राज्य मे किसी प्रकार की आपातकालीन स्थिति उत्पन्न हो जाए तो वह राष्ट्रपति को तत्सम्बन्धी सूचना दे दे। यदि उक्त राज्य में सविधान निलम्बित हो जाता है, तो फिर राष्ट्रपति राज्य का प्रशासन स्वय राज्यपाल के माध्यम से चलाता है।

उपर्युक्त मर्यादाओं के अन्तर्गत राज्यपाल, राज्य का सवैधानिक प्रधान या अध्यक्ष होता है, और राज्यपाल तथा उसकी प्रान्तीय या राज्य की मन्त्रि-परिषद् के बीच ऐसे ही सम्बन्ध होते हैं जैसे कि राष्ट्रपति के सम्बन्ध सघीय मन्त्रि-परिषद् के साथ हैं। फिर भी राज्यपाल की स्थिति सन्देहयुक्त है। उसे दो स्वामियो की सेवा करनी है। एक तो राज्य के मन्त्री हैं जो सर्वसाधारण के प्रतिनिधि हैं और जिनकी

मन्त्रणा मानना राज्यपाल के लिए आवश्यक है । राज्यपाल का दूसरा स्वामी राष्ट्रपति है जो सघ कार्यपालिका का प्रधान है । किसी ससदीय शासन-प्रणाली वाले देश में वैधानिक प्रधान के कर्त्तव्यो की प्रकृति ऐसी नही है जैसी कि भारत के राज्यपाल के कर्त्तव्यो की प्रकृति है ।

राज्यपाल की शक्तियाँ (Powers of the Governor)—राज्यपाल की वैधानिक स्थिति को ध्यान मे रखते हुए हम उसकी शक्तियो को निम्न चार भागो में बाँट सकते हैं (१) कार्यपालिका शक्तियाँ, (२) विधायिनी शक्तियाँ, (३) वित्तीय शक्तियाँ, और (४) न्यायिक शक्तियाँ ।

(१) **कार्यपालिका शक्तियाँ** (Executive Powers)—राज्य की कार्यपालिका राज्यपाल में निहित है, तथा वह इसका प्रयोग इस सविधान के अनुसार या तो स्वय या अपने अधीनस्थ पदाधिकारियो के द्वारा करता है ।[1] किसी राज्य की सरकार की समस्त कार्यपालिका कार्रवाई राज्यपाल के नाम से की हुई मानी जाती है ।[2] राज्यपाल के नाम से दिये और निष्पादित आदेशो और अन्य लिखतो का प्रमाणीकरण उसी रीति से किया जायगा जो राज्यपाल द्वारा बनाये जाने वाले नियमो में उल्लिखित हो, तथा इस प्रकार के प्रमाणीकृत आदेश या लिखत की मान्यता पर किसी न्यायालय मे आपत्ति इस आधार पर न की जा सकेगी कि वह राज्यपाल द्वारा दिया या निष्पादित आदेश या लिखत नही है ।[3]

जिन विषयो मे राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह अपने स्वविवेक से कार्य करे, उन बातो को छोडकर राज्यपाल को अपने कृत्यो का निर्वहन करने मे सहायता और मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होती है जिसे राज्यपाल स्वय नियुक्त करता है और जिसका प्रधान मुख्य मन्त्री होता है ।[4] यह विनिश्चय स्वय राज्यपाल ही कर सकता है कि किस विषय पर उसे स्वविवेक से निर्णय करना चाहिए । राज्यपाल का स्वविवेक से किया हुआ विनिश्चय अन्तिम होता है और उस के किसी निर्णय पर किसी न्यायालय में जाँच-पडताल अथवा आपत्ति नही की जा सकती ।[5] क्या मन्त्रियो ने राज्यपाल को कोई मन्त्रणा दी, और यदि दी तो क्या दी, इस प्रश्न की किसी न्यायालय मे जाँच नही की जा सकती ।[6] राज्य की सरकार का कार्य अधिक सुविधापूर्वक किये जाने के लिए तथा विभिन्न मन्त्रियो मे शासन के कार्य के बँटवारे के लिए राज्यपाल ही नियम बनाता है ।[7] मन्त्रीगण वैधानिकत राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त अपने पदो पर बने रहते हैं यद्यपि व्यवहारत वे विधान सभा के प्रसाद पर्यन्त अपने पदो पर बने रहते हैं ।

सविधान उपबन्धित करता है कि प्रत्येक राज्य के मुख्य मन्त्री का यह कर्त्तव्य होगा कि वह राज्य-कार्यो के शासन सम्बन्धी मन्त्रि-परिषद् के समस्त विनिश्चय तथा विधान के लिए सभी प्रस्थापनाएँ राज्यपाल के पास पहुँचाए ।[8] मुख्य मन्त्री का यह

---

[1] अनुच्छेद १५४ (१) ।

[2] अनुच्छेद १६६ (१) ।

[3] अनुच्छेद १६६ (२) ।

[4] अनुच्छेद १६३ (१) ।

[5] अनुच्छेद १६३ (२) ।

[6] अनुच्छेद १६३ (३) ।

[7] अनुच्छेद १६६ (३) ।

[8] अनुच्छेद १६७ (क) ।

भी कर्त्तव्य होगा कि वह राज्य-कार्यों के प्रशासन-सम्बन्धी तथा विधान के लिए प्रस्थापनाओं सम्बन्धी जिस जानकारी को राज्यपाल मँगावे उसे वह दे ।[1] साथ ही मुख्य मन्त्री का यह भी कर्त्तव्य है कि वह किसी विषय को, जिस पर मन्त्री ने विनिश्चय कर दिया हो किन्तु मन्त्रि-परिषद् ने विचार नहीं किया हो, उसे राज्यपाल की उपेक्षा करने पर परिषद् के सम्मुख विचारार्थ रखवाये ।[2]

पंजाब, आन्ध्र और तेलंगाना राज्यों में जिन प्रादेशिक समितियों का निर्माण हुआ है, वे यदि अपने अधिकार-क्षेत्र के सम्बन्ध में कुछ परामर्श राज्य की सम्बन्धित सरकार को देंगे, तो सामान्यतः उनका परामर्श शासन को और राज्य के विधानमण्डल को स्वीकार्य होगा, किन्तु यदि इस सम्बन्ध में कोई विरोध होगा तो उक्त विवाद राज्यपाल के निर्णयार्थ प्रेषित किया जाएगा और इस सम्बन्ध में राज्यपाल का निर्णय अन्तिम और बाध्य होगा ।

राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति राज्यपाल नहीं करता किन्तु संघ का राष्ट्रपति उक्त नियुक्तियाँ करते समय सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल का परामर्श प्राप्त कर लेता है ।[3] राज्यपाल ही राज्य के महाधिवक्ता की नियुक्ति करता है ।[4] राज्यपाल ही ऐसे राज्य के लोक सेवा आयोग के सदस्यों की नियुक्ति करता है ।[5]

(२) **विधायिनी शक्तियाँ (Legislative Powers)**—किसी राज्य के विधानमण्डल का राज्यपाल उसी प्रकार एक अंग[6] है जिस प्रकार कि राष्ट्रपति संसद् का अंग है । राज्यपाल को अधिकार है कि वह राज्य विधानमण्डल के एक सदन को या दोनों सदनों को आहूत करे (यदि उक्त राज्य में द्विसदनीय विधानमण्डल है) । उसे यह भी अधिकार है कि वह किसी समय और किसी स्थान पर विधानमण्डल का सत्र आहूत कर सकता है, किन्तु शर्त यह है कि विधानमण्डल के पिछले अधिवेशन की अन्तिम बैठक और अगले अधिवेशन की प्रथम बैठक के बीच छः मास से अधिक का अन्तर न होना चाहिए । राज्यपाल विधानमण्डल को या उसके एक सदन को स्थगित कर सकता है और वह विधान सभा को विघटित भी कर सकता है । वह विधानमण्डल के किसी एक सदन को अथवा साथ समवेत दोनों सदनों को सम्बोधित कर सकता है । वह धन विधेयकों के अतिरिक्त अन्य विधेयकों को पुनर्विचार के लिए विधानमण्डल के पास वापिस भेज सकता है । यदि राज्यपाल विधानमण्डल के किसी सदन को कोई सन्देश भेजता है तो सम्बन्धित सदन उस सन्देश पर शीघ्रातिशीघ्र विचार करता है । राज्यपाल के लिए यह आवश्यक है कि वह प्रत्येक महानिर्वाचन के बाद और प्रतिवर्ष के प्रथम अधिवेशन में विधान सभा को, या यदि उक्त राज्य में द्विसदनात्मक विधानमण्डल है तो साथ समवेत दोनों सदनों को एक साथ सम्बोधित करे ।

---

1. अनुच्छेद १६७ (ख) ।
2 अनुच्छेद १६७ (ग) ।
3 अनुच्छेद २१७ (१) ।
4. अनुच्छेद १६५ ।
5 अनुच्छेद ३१६ (१) ।
6 अनुच्छेद १६८ ।

राज्य के विधानमण्डल द्वारा पास किया गया कोई विधेयक राज्यपाल के पास उसकी अनुमति और अनुमोदन के लिए भेजा जाता है। राज्यपाल चाहे तो विधेयक पर अपनी अनुमति दे सकता है, और चाहे तो उसे रोक सकता है और विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित रख सकता है। वह धन विधेयको को छोडकर बाकी विधेयको को पुनर्विचार के लिए विधानमण्डल के पास भी वापिस भेज सकता है। किन्तु यदि विधानमण्डल उक्त विधेयक को सशोधनो सहित या बिना सशोधनो के दुबारा पास कर देता है तो उस पर राज्यपाल को अपनी अनुमति देनी ही होगी।

विधानमण्डल के विश्रान्ति काल में राज्यपाल को उसी प्रकार अध्यादेश निकालने की शक्ति है जिस प्रकार कि राष्ट्रपति को है। लेकिन विधानमण्डल की बैठक आरम्भ होने के ६ सप्ताहो के अन्दर ऐसे सब अध्यादेश समाप्त हो जायेंगे। अथवा यदि छ हफ्तो के भीतर विधान सभा उस अध्यादेश को अस्वीकृत करने का प्रस्ताव पास करती है तो ऐसी स्थिति में उस अध्यादेश को रद्द या समाप्त समझा जाएगा। राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति के बिना राज्यपाल कोई ऐसा अध्यादेश जारी नही कर सकता—(१) यदि उसी प्रकार का विधेयक विधान सभा मे पेश करने के लिए राष्ट्रपति की पूर्व स्वीकृति की आवश्यकता होती, अथवा (२) यदि उसी प्रकार के विधेयक का राज्यपाल राष्ट्रपति द्वारा विचार होना आवश्यक समझता, अथवा (३) यदि विधानमण्डल का उसी प्रकार का कानून राष्ट्रपति द्वारा विचार करने के लिए रोका जाता और राष्ट्रपति की स्वीकृति न मिलने पर वह अमान्य समझा जाता।

(३) वित्तीय शक्तियाँ (Financial Powers)—धन विधेयको और वित्तीय विधेयको के सम्बन्ध मे राज्यपाल की वही शक्तियाँ और उत्तरदायित्व हैं जो उक्त सम्बन्ध में राष्ट्रपति को हैं। राज्यपाल की सिफारिश के बिना कोई भी धन विधेयक अथवा वित्त विधेयक विधान सभा में पुरस्थापित नही किया जा सकता। बिना राज्यपाल की सिफारिश के विधेयको मे ऐसे सशोधन भी पुरस्थापित नही किये जा सकते जिनका वित्तीय विषयो पर प्रभाव पडता हो। किन्तु यदि किसी सशोधन या विधेयक द्वारा किसी कर मे कमी या उस कर का उत्सादन अभीष्ट है तो ऐसी स्थिति में राज्यपाल की सिफारिश की आवश्यकता नही है।

प्रत्येक वित्तीय वर्ष के प्रारम्भ मे राज्यपाल राज्य के विधानमण्डल के समक्ष (मन्त्रियो द्वारा) वार्षिक वित्त विवरण रखवाता है। राज्यपाल की सिफारिश के बिना कोई अनुदान की माँग नही की जा सकती। इसी प्रकार विधानमण्डल के सदन या सदनो के सामने राज्यपाल पूरक अथवा अतिरिक्त खर्च सम्बन्धी विवरण पेश कराता है तथा अधिक आर्थिक अनुदान की माँग भी पेश कराता है।

न्यायिक शक्तियाँ (Judicial Powers)—जिन बातो के सम्बन्ध में राज्य की कार्यपालिका के अधिकार प्राप्त हैं, उनके कानूनो के विरुद्ध अपराध करने वाले व्यक्तियो के दण्ड को राज्यपाल कम कर सकता है, स्थगित कर सकता है, बदल ता है, तथा क्षमा भी कर सकता है।

मन्त्रि-परिषद्

(Council of Ministers)

मन्त्रि-परिष (The Council of Ministers)—सविधान में कि एक मन्त्रि-परिषद् होगी जिसका प्रधान मुख्य मन्त्री होगा। सविधा राज्यपाल जिन कार्यों को स्वेच्छानुसार करेगा, उनको छोड़कर शेष क परिषद्, राज्यपाल के कार्यों में सलाह और सहायता देगी।[1] जैसा वि जा चुका है, सविधान ने राज्यपाल की स्वविवेकी शक्तियो की परि है; हां केवल आसाम राज्य के राज्यपाल के विषय में यह बताया गय अनुसूचित आदिम क्षेत्रो के प्रशासन के सम्बन्ध में राष्ट्रपति के अभिक स्वविवेक के अनुसार कार्य कर सकता है। किन्तु किन विषयो पर राज्य से निर्णय करेगा, यह निर्णय भी राज्यपाल ही स्वविवेक से ही करेगा औ में राज्यपाल का निर्णय अन्तिम होगा।

मुख्य मन्त्री की नियुक्ति राज्यपाल करता है तथा अन्य मन्त्रियो राज्यपाल मुख्य मन्त्री की सलाह के अनुसार करता है।[2] मन्त्रियो का का पाल की इच्छा पर निर्भर है।[3] किन्तु मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से राज सभा के प्रति उत्तरदायी है। इसका यह अर्थ है कि जहां व्यक्तिगत मन द्वारा अपदस्थ किया जा सकता है, समस्त मन्त्रि-परिषद् को केवल राज सभा ही अपदस्थ कर सकती है। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धा राज्यपाल सामूहिक रूप से सारी मन्त्रि-परिषद् को अपदस्थ नही कर सम्बन्ध में यह याद रखना चाहिए कि सविधान मे कही भी मन्त्रियो रूप से विधान सभा के प्रति उत्तरदायी नही माना गया है। व्यक्तिग इस उपबन्ध में निहित है कि "मन्त्री लोग राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त ह पर रह सकते हैं" और इस वाक्यांश का ससदीय शासन-प्रणाली के अनुसार यह अर्थ है कि 'मन्त्री लोग मुख्य मन्त्री के प्रसाद-पर्यन्त ही रह सकते हैं।' यदि कभी कोई मन्त्री मन्त्रि-परिषद् की नीति मे सहमत कोई मन्त्री कुछ ऐसा काम करता है जिससे मन्त्रिमण्डल का स्थायित ईमानदारी खतरे में पड़ जाती है, तो वैधानिक सद्व्यवहार और का यही तकाजा है कि वह मन्त्री मुख्य मन्त्री से सकेत मिलते ही तु दे दे। किन्तु यदि ज़िद्दी मन्त्री त्यागपत्र देने को उद्यत नही है, तो य का कर्त्तव्य है और अधिकार भी है कि वह राज्यपाल को उक्त मन्त्र करने की सिफारिश करे। डा० अम्बेदकर ने विधान सभा में इस त डालते हुए कहा था "मेरे विचार से सामूहिक उत्तरदायित्व दो सिद्धा से प्रभावी हो जायगा। प्रथम सिद्धान्त तो यह है कि मन्त्रिमण्डल बिना प्रधान मन्त्री की इच्छा जाने हुए न लिया जाय। द्वितीय सिद्ध

---

[1] अनुच्छेद १६३ (१)।

[2] अनुच्छेद १६४ (१)।

[3] अनुच्छेद १६४ (१)।

जिस मन्त्री को प्रधान मन्त्री अपने मन्त्रिमण्डल से हटाना चाहे, वह मन्त्री किसी भी हालत में मन्त्रिमण्डल में न रहने पावे। हम अपने शासन मे सामूहिक उत्तरदायित्व का आदर्श तभी प्राप्त कर सकेंगे जब मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्य नियुक्ति और वियुक्ति के सम्बन्ध मे प्रधान मन्त्री के आश्रित होगे। सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को क्रियान्वित करने का और कोई उपाय ही नही है।"

मन्त्रियो की संख्या सदैव के लिए निश्चित नही है। मुख्य मन्त्री ही निर्णय करता है कि अपनी मन्त्रि-परिषद् में कितने मन्त्री रखे और वह समय की आवश्यकताओ के अनुसार मन्त्रियो की संख्या निर्धारित करता है। संवैधानिक उपबन्ध तो केवल यह है कि बिहार, मध्यप्रदेश और उडीसा मे एक मन्त्री आदिम जातियो के कल्याण हितो को देखे और उसी को साथ-साथ अनुसूचित जातियों और पिछडे हुए वर्गों के कल्याण का भी कार्य-भार वहन करना होता है।[1]

किसी राज्य के मन्त्री के पद ग्रहण करने से पूर्व राज्यपाल उससे पद की शपथ और गोपनीयता-शपथ लेता है जो भारतीय संविधान की तृतीय अनुसूची में विहित प्रपत्र के अनुसार होती है।[2] यदि किसी राज्य के विधानमण्डल के दो सदन हैं तो यह आवश्यक होगा कि मन्त्री उन दोनो सदनो में से किसी एक का सदस्य अवश्य हो। किन्तु यदि कोई मन्त्री निरन्तर छ मासो तक राज्य के विधानमण्डल का सदस्य नही रहता तो छ मास की समाप्ति पर वह मन्त्री नही रह सकता।[3] मन्त्रियो के वेतन तथा भत्ते ऐसे होते हैं जैसे समय-समय पर उस राज्य का विधानमण्डल विधि द्वारा निर्धारित करे।[4] क्या मन्त्रियो ने राज्यपाल को कोई मन्त्रणा दी और यदि दी तो क्या दी, इस प्रश्न की किसी न्यायालय में जाँच नही की जा सकती।[5] इसलिए मन्त्रियो द्वारा दी गई मन्त्रणा के विषय मे न्यायालयो में आपत्ति नही की जा सकती। इस उपबन्ध से यह भी सुनिश्चित हो जाता है कि राज्यपाल और मन्त्रियो के बीच के सम्बन्ध गोपनीय हैं।

संविधान में कही भी न तो संघ के बारे मे और न राज्यो के बारे में ही मन्त्रिमण्डल शब्द का प्रयोग हुआ है। विधान ने केन्द्र और राज्यो के लिए मन्त्रि-परिषदो की स्थापना की है। किन्तु केन्द्र अथवा संघ में संविधान के उपबन्धो के अतिरिक्त मन्त्रिमण्डल का विकास हो गया है। प्रधान मन्त्री, प० नेहरू ने संघ शासन में अब तक जो दो मन्त्रि परिषदें निर्माण की, उन दोनो मे दो प्रकार के मन्त्री रखे जिनमे कुछ तो 'मन्त्रिमण्डल के मन्त्री' थे और कुछ 'मन्त्रिमण्डल की स्थिति के मन्त्री' थे। राज्यो की मन्त्रि-परिषदो में इस प्रकार का विभेद नही किया जाता, यद्यपि कुछ राज्यो की मन्त्रि-परिषदो में उपमन्त्री और संसदीय सचिव भी हैं। किन्तु राज्यो में केवल मन्त्री ही एक साथ समवेत होते हैं, विचार करते हैं और नीति निर्धारित

---

[1] अनुच्छेद १६४ (१)।

[2] भारतीय संविधान के पृष्ठ ७५५ पर ५वें और ६ठे प्रपत्रों को देखिये।

[3] अनुच्छेद १६४ (४)।

[4] अनुच्छेद १६४ (५)।

[5] ,, १६३ (३)।

करते हैं। राज्य-सरकार के विभिन्न प्रशासनिक विभागो के वे अध्यक्ष होते हैं और उनको यह देखना पडता है कि जो नीति सारी मन्त्रि-परिषद् ने सामूहिक रूप से निर्णय की है उसकी उचित ढग से क्रियान्विति हो। ऐसा कभी भी नही होता कि मन्त्री, उपमन्त्री और ससदीय सचिव एक साथ मिलकर समवेत होते हो या एक साथ विचार करके नीति निर्धारित करते हो। नीति निर्माण करना केवल राज्य के मन्त्रियो का काम है और समझना चाहिए कि वे ही राज्यो की कैबिनेट या मन्त्रि-मण्डल का निर्माण करते हैं। उप-मन्त्रियो को मन्त्रियो की अपेक्षा कम वेतन मिलता है और वे शासन के किसी विभाग के स्वतन्त्र रूप से अध्यक्ष नही होते। उप-मन्त्री तो केवल उन मन्त्रियो की सहायता करते हैं जिनके मातहत वे काम करते हैं और विभागीय और ससदीय कर्त्तव्यो के निर्वहन मे वे मन्त्री का हाथ बँटाते हैं। ससदीय सचिव न तो मन्त्री हैं और न उन्हे कोई अधिकार हैं। उनको ऐसे कार्य सौंपे जाते हैं जिन्हे विभागीय अध्यक्ष या मन्त्री उनको सौंपना चाहे। किन्तु यह आवश्यक है कि मन्त्रि-परिषद् के सभी मन्त्री राज्य-विधानमण्डल के सदस्य हो, विधान सभा के बहुमत दल से सम्बन्धित हो और सामूहिक रूप मे विधान सभा के प्रति उत्तरदायी हो। मन्त्रि-परिषद् के मन्त्री तभी तक अपने पदो पर बने रह सकते हैं जब तक कि उन्हे विधान सभा का विश्वास प्राप्त रहे।

मुख्य मन्त्री (The Chief Minister)—किसी राज्य की मन्त्रि-परिषद् का प्रधान मुख्य मन्त्री होता है। उसकी नियुक्ति राज्यपाल करता है। किन्तु अन्य मन्त्रियो की नियुक्ति, राज्यपाल मुख्य मन्त्री की मन्त्रणा पर करता है। वास्तव मे मुख्य मन्त्री ही मन्त्रि-परिषद् के अन्य मन्त्रियो का चयन करता है और राज्यपाल तो मुख्य मन्त्री के विनिश्चयो को स्वीकार भर करता है। इसलिए राज्यपाल के द्वारा मन्त्रियो की नियुक्ति केवल कहने भर की है। समस्त मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी है, किन्तु व्यक्तिगत मन्त्रियो को राज्यपाल अपदस्थ कर सकता है, यद्यपि अपदस्थ कराने में भी जैसा कि बताया जा चुका है, मुख्य मन्त्री की बात ही मुख्य रूप से मानी जाती है। भारत के प्रधान मन्त्री की तरह से किसी राज्य का मुख्य मन्त्री भी सम्बन्धित राज्य के सविधान रूपी भवन की मुख्य शिला है और वही राज्य की मन्त्रि-परिषद् का निर्माण करता है। वही अपनी मन्त्रि-परिषद् का निर्माण करता है और वही उसे बर्खास्त करा सकता है और जब वह चाहे और जिस प्रकार वह चाहे अपनी मन्त्रि-परिषद् का पुनर्गठन कर सकता है।

मुख्य मन्त्री की स्थिति और उसके कृत्यो की जो ऊपर सामान्य परीक्षा की गई है, उससे ऐसा लगता है मानो राज्यो की शासन-व्यवस्था उसी प्रकार की है जैसी कि इगलैंड में प्रचलित है। यह सन्तोष की बात है कि काफी हद तक इगलैंड के शासन-सचालन की प्रथाओ का भारत के केन्द्रीय शासन में अनुसरण हो रहा है और इगलैंड के प्रधान मन्त्री के समान ही भारत के प्रधान मन्त्री की भी स्थिति अग्रगण्य है और कोई अन्य मन्त्री भारतीय प्रधान मन्त्री को चुनौती नही दे सकता। किन्तु अधिकतर राज्यो के मुख्य मन्त्री, विशेष रूप से पजाब का मुख्य मन्त्री ऐसी सुदृढ स्थिति का

उपभोग नही करता और उसका वह रौब और दबदबा नही है जो अन्य राज्यो के मुख्य मन्त्रियो का है अथवा होना चाहिए। कई राज्यो के विधानमण्डलो मे कांग्रेस दल के बहुमत मे और मन्त्रियो मे अनुशासन, स्थायित्व और एकरूपता का सर्वथा अभाव रहा है। व्यक्तिगत मतभेद, दल के आन्तरिक विरोध, पदो की लोलुपता, पक्षपात, यहाँ तक कि साम्प्रदायिकता और प्रान्तीयता या प्रादेशिकता का राज्यो के विधानमण्डलो में इतना बोलबाला रहा है कि कांग्रेस दल के मुख्य गुटो मे भीषण कलह केवल कांग्रेस के उच्च स्तरो द्वारा कठोर मध्यस्थता से ही बच सकी। कई बार केन्द्रीय पार्लियामेण्टरी बोर्ड ने भी मध्यस्थता की और अपने निर्णय दिये और फलस्वरूप कई बार मन्त्रि-परिषदो के पुनर्गठन हुए और कई बार मुख्य मन्त्री भी बदले। कांग्रेस दल के उच्च स्तरो के आदेशो पर ही श्री भीमसेन सच्चर को पंजाब के कांग्रेस दल का नेता बनाया गया था। पुन जब श्री भीमसेन सच्चर से त्यागपत्र दिलाकर श्री प्रतापसिंह कैरो को पंजाब का मुख्य मन्त्री बनाया गया था उस समय भी कांग्रेस हाई कमाण्ड के आदेश पर ही यह समझौता हुआ था। किन्तु क्या वे तरीके ससदीय लोकतन्त्र में होने चाहिएँ? कांग्रेस जिस प्रकार के ओछे व्यवहारो पर उतर आई है, उनसे कुछ समय के लिए कांग्रेस दल में स्थायित्व और मन्त्रिमण्डलो मे परस्पर अधीनता आ सकती है किन्तु इन ओछे व्यवहारो से प्राप्त एकता और परस्पर अधीनता थोडे दिनो तक ही रह सकती है। इस प्रकार प्राप्त एकता और परस्पर अधीनता मे न तो मुख्य मन्त्री का प्रभाव रह सकता है और न सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना बनी रह सकती है। सत्य यह है कि इससे गुटबन्दी को बढावा मिलता है और मन्त्रिमण्डल में फूट फैलती है जिससे मुख्य मन्त्री को स्थिति सँभालना कठिन हो जाता है। दल को अपना नेता चुनने में पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए और फिर नेता को अपने शासन के निर्माण मे पूरी स्वतन्त्रता होनी चाहिए। यदि दल का नेता उच्च स्तरो से चुनकर भेजा जायगा तो ऐसा नेता मन्त्रियो के आदर और श्रद्धा का पात्र न होगा। यह भी आवश्यक है कि मन्त्रिमण्डल के सदस्य मुख्य मन्त्री के प्रति व्यक्तिगत निष्ठावान भी हो और दलगत निष्ठावान भी हो।

मुख्य मन्त्री के कर्त्तव्य (Duties of the Chief Minister)—सविधान[1] आदेश देता है कि प्रत्येक राज्य के मुख्य मन्त्री का—

(क) राज्य-कार्यों के शासन-सम्बन्धी मन्त्रि-परिषद् के समस्त विनिश्चय तथा विधान के लिए प्रस्थापनाएँ राज्यपाल को पहुँचाने का,

(ख) राज्य-कार्यों के प्रशासन-सम्बन्धी तथा विधान के लिए प्रस्थापनाओ सम्बन्धी जिस जानकारी को राज्यपाल मँगावे, उसको देने का, तथा

(ग) किसी विषय को, जिस पर मन्त्री ने विनिश्चय कर दिया हो किन्तु मन्त्रि परिषद् ने विचार नही किया हो, राज्यपाल की अपेक्षा करने पर परिषद् के सम्मुख विचारार्थ रखने का कर्त्तव्य होगा।

किन्तु जहाँ एक बार, मन्त्रि-परिषद् के समक्ष रखी हुई कोई बात विनिश्चित हो

चुकी, फिर राज्यपाल को उस पर अपनी सम्मति देनी ही होगी। संविधान ने राज्यपाल को यह अधिकार प्रदान नही किया है कि जिस विषय पर मन्त्रि-परिषद् विनिश्चय कर चुकी है, उस पर वह पुनर्विचार करा सके। केवल किसी व्यक्तिगत मन्त्री के विनिश्चय को ही सारी मन्त्रि-परिषद् के विचारार्थ भेजा जा सकता है।

इस प्रकार का उपबन्ध सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के अनुरूप है। सभी मन्त्री सामूहिक रूप से राज्य की विधान सभा के प्रति मन्त्रि-परिषद् के सभी विनिश्चयो के लिए उत्तरदायी होते हैं, और यदि विधान सभा मन्त्रि-परिषद् के किसी विनिश्चय को स्वीकार नही करती तो सभी मन्त्री एक साथ त्यागपत्र दे देते हैं। यदि कोई व्यक्तिगत मन्त्री मन्त्रि-परिषद् के किसी विनिश्चय से सहमत नही है तो उसे त्यागपत्र दे देना चाहिए। यदि वह त्यागपत्र नही देता, तो यह माना जायगा कि मन्त्रि-परिषद् का विनिश्चय उसका ही विनिश्चय है, चाहे उसने मन्त्रि-परिषद् में उक्त विनिश्चय करते समय विरोध भी प्रकट किया हो। इसका यह निष्कर्ष निकलता है कि विधानमण्डल मे सभी मन्त्रियो को उक्त विनिश्चय पर पक्ष मे मत देना होगा और यदि आवश्यकता आ पडे तो उस विनिश्चय का विधानमण्डल में भी और बाहर भी समर्थन करना होगा। इसका यह भी निष्कर्ष निकलता है कि कोई मन्त्री उस समय तक न तो नीति-सम्बन्धी कोई घोषणा कर सकता है न उस सम्बन्ध में कोई महत्त्वपूर्ण कार्रवाई कर सकता है जब तक कि उस सम्बन्ध में सारी मन्त्रि-परिषद् ने नीति सम्बन्धी विनिश्चय न कर लिया हो। इसलिए भारतीय संविधान ने उचित ही राज्यपाल को अधिकार दिया है कि वह किसी ऐसे विषय को सारी मन्त्रि-परिषद् के समक्ष विचारार्थ रखवाये जिस पर किसी एक मन्त्री ने तो विचार कर लिया हो किन्तु जिस पर मन्त्रि-परिषद् ने विचार नही किया हो।

जब तक किसी राज्य के विधानमण्डल मे किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत है और जब तक मन्त्रि-परिषद् मे समान विचारो वाले लोग हैं, तब तक इस बात की बिल्कुल सम्भावना नही है कि कोई मन्त्री नीति-सम्बन्धी ऐसी घोषणा कर दे या किसी महत्त्वपूर्ण विषय पर ऐसी कार्रवाई कर डाले जिस पर सारे मन्त्रिमण्डल का निर्णय नही हुआ है, या कोई मन्त्री मन्त्रिमण्डल के विनिश्चय के विरुद्ध आचरण करे। किन्तु जब विधानमण्डल में किसी एक ही दल का स्पष्ट बहुमत नहीं है, और यदि मन्त्रि-परिषद् मिली-जुली हो, अर्थात् यदि मिली-जुली सरकार हो, उस स्थिति में ऐसा होना सम्भव है कि कोई मन्त्री कुछ ऐसी कार्रवाई कर डाले या किसी ऐसी नीति की घोषणा कर दे जो मन्त्रि-मण्डल के विनिश्चय के विरुद्ध हो या जिन पर मन्त्रिमण्डल का विनिश्चय ही न हुआ हो। केवल ऐसी स्थिति में राज्यपाल का हस्तक्षेप आवश्यक होगा। राज्यपाल पक्षपात-रहित पञ्च की भाँति आचरण करे और निगाह रखे कि राजनीति का खेल नियमो के अनुसार खेला जा रहा है और उसे यह भी देखना है कि प्रत्येक खिलाड़ी खेल को ठीक प्रकार से खेलता है अथवा नही। राज्यपाल की इस शक्ति की व्याख्या करते हुए श्री के० एम० मुन्शी ने संविधान सभा में कहा था "यदि राज्यपाल मन्त्रि-मण्डल के ऊपर अपना प्रभाव रखे, तो इससे भारी लाभ होगा, तथा इससे हानि

की कोई सम्भावना नही है। जैसा कि मैने बताया था, इस समय सभी प्रान्तो मे केवल एक ही दल का बहुमत है, किन्तु ऐसा भी समय आ सकता है जब कि प्रान्तो के विधानमण्डलो मे अनेको दल होगे और जब मुख्य मन्त्री इस योग्य न हो सके कि आपात काल मे विभिन्न दलो मे सामञ्जस्य स्थापित करा सके, ऐसे समय में राज्यपाल की स्थिति अत्यन्त लाभकर होगी और इसी दृष्टिकोण से मै निवेदन कर रहा हूँ कि जो शक्तियाँ राज्य के वैधानिक प्रधान को सौपी जा रही हैं वे प्रजातन्त्र की सफल क्रियान्विति मे आवश्यक ही नही हैं अपितु इन शक्तियो से स्वय मन्त्रियो को लाभ होगा क्योकि तब मन्त्री लोग एक ऐसे व्यक्ति से गोपनीय और विश्वसनीय मन्त्रणा प्राप्त कर सकेंगे जो न केवल उनका (मन्त्रियो का) विश्वास-भाजन है वरन् सभी दलो का समान रूप से विश्वास-पात्र है।"[1]

राज्यपाल और मन्त्रि-परिषद् के बीच सम्बन्ध (Relations between the Governor and the Council of Ministers)—राज्यपाल की स्थिति से सम्बन्धित बहस में भाग लेते हुए डा० अम्बेदकर ने सविधान सभा मे कहा था कि कृत्यो और कर्त्तव्यो के विभेद को समझ लेना आवश्यक होगा। यद्यपि राज्यपाल के कोई कृत्य नही हैं और उसको ऐसा अधिकार नही होगा कि वह किसी मामले मे मन्त्री की बात को उलट दे, फिर भी यह राज्यपाल का कर्त्तव्य होगा कि वह मन्त्रि-परिषद् को किसी दल-विशेष के व्यक्ति के रूप में परामर्श नही देगा बल्कि वह इस रूप मे मन्त्रणा और परामर्श देगा मानो वह सभी का राज्यपाल है और उसके परामर्श और मन्त्रणा का केवल एक ही प्रयोजन होगा कि उसके प्रान्त या राज्य में कुशल, पक्षपात-शून्य और शुद्ध एव न्याय्य प्रशासन हो।[2] हम यह भी बता चुके हैं कि सामान्यत राज्यपाल, राज्य के वैधानिक प्रधान के रूप में आचरण करेगा, क्योकि सविधान ने स्पष्टतया मन्त्रि-परिषद् की व्यवस्था की है और उसको राज्य के विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी ठहराया है। किन्तु साथ ही सविधान ने राज्यपाल को मन्त्रियो की मन्त्रणा के अनुसार आचरण करने पर बाध्य नही ठहराया है। और सविधान ने राज्यपाल के कृत्यो के लिए मन्त्रियो को उत्तरदायी भी नही ठहराया है। इसके अतिरिक्त सविधान ने राज्यपाल को अधिकार प्रदान किया है कि वह स्वविवेक के अनुसार भी आचरण कर सकता है यद्यपि राज्यपाल की स्वविवेकी शक्तियो के विस्तार की व्याख्या नही की गई है, और सविधान ने यह भी कहा है कि जिन मामलो मे वह स्वविवेक से निर्णय करेगा, वे निर्णय अटल होगे। सविधान ने ऐसे अनेको अवसरो की कल्पना की है जब राष्ट्रपति राज्यपाल को आदेश देगा, और राज्यपाल के लिए यह आवश्यक होगा कि वह राष्ट्रपति के आदेशो का पालन करे चाहे उस सम्बन्ध मे उसको राज्य की मन्त्रि-परिषद् ने कुछ भी मन्त्रणा दी हो। क्योकि राज्यपाल, केन्द्रीय अथवा सघ सरकार का अभिकर्त्ता है इसलिए वह अपनी मन्त्रि-परिषद् की मन्त्रणा के विरुद्ध भी स्वतन्त्र कार्रवाई कर सकता है, विशेषकर ऐसी स्थिति में जबकि सघ सरकार और राज्य की सरकार में नीति-सम्बन्धी क्लेश

---

[1] Constituent Assembly Proceedings, Vol VII, p. 130

हो अथवा जब राज्य सरकार, संघ सरकार के आदेशो की उपेक्षा करने पर उतर आवे। इस प्रकार राज्यपाल की स्थिति कठिन है क्योकि एक ओर तो उसे देखना है कि उसके मन्त्री लोग विधानमण्डल के प्रति उत्तरदायी हैं तथा दूसरी ओर उसे यह भी देखना है कि वह राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी है और संविधान के प्रति भी उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त राज्यपाल ने संवैधानिक शपथ ली है कि वह श्रद्धा और निष्ठा के साथ राज्यपाल के कर्त्तव्यो का निर्वहन करेगा और पूरी योग्यता, ज्ञान और विवेक से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करेगा। संविधान ने राज्यपाल को अधिकार प्रदान किया है कि जब उसे ऐसा लगे कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है जिसमे कि उक्त राज्य का शासन इस संविधान के उपबन्धो के अनुसार नही चलाया जा सकता,[1] अथवा यदि राज्यपाल अनुभव करे कि राज्य का शासन संसद् द्वारा निर्मित प्रचलित विधियो के अनुसार नही चलाया जा सकता,[2] अथवा यदि राज्यपाल अनुभव करे कि राज्य के शासन मे संघ की कार्यपालिका शक्ति की क्रियान्विति में अड़चन[3] पड रही है तो वह स्वविवेक से कार्य कर सकता है और ऐसी स्थिति में राज्यपाल को मन्त्रिमण्डल से परामर्श लेना अपेक्षित नही होगा। राज्यपाल के सामान्य कर्त्तव्यो के अतिरिक्त उपर्युक्त निश्चित कृत्य हैं। डा० अम्बेदकर ने सही स्थिति का वर्णन नही किया जिस समय उन्होने यह कहा कि राज्यपाल को स्वयं कोई कृत्य करने नही होगे और राज्यपाल को अधिकार नही होगा कि वह किसी विषय में मन्त्रियो की इच्छा के विरुद्ध आचरण कर सके। डा० अम्बेदकर ने जो कुछ राज्यपाल के विषय मे कहा, वह राष्ट्रपति के विषय मे सच है, क्योकि उसे स्वविवेक से कोई कृत्य या निर्णय नही करना होगा[4], न राष्ट्रपति के ऊपर कोई उत्तरदायित्व हैं[5] और न उसे कोई आदेश दे सकता है जिनका मानना उसके लिए आवश्यक हो। किन्तु इसके विपरीत राज्यपाल को स्वविवेकी कृत्य करने पडते हैं, उसके ऊपर कतिपय उत्तरदायित्व भी हैं और उसे राष्ट्रपति के आदेशो का पालन भी करना होता है।

तीन अवसर और भी आ सकते हैं जब कि राज्यपाल स्वतन्त्र होकर निर्णय करता है और वास्तव मे उन कर्त्तव्यो के निर्वहन मे कुछ न कुछ स्वविवेक के प्रयोग की गुंजायश अवश्य ही रहती है। वे निम्नलिखित हैं (१) मुख्य मन्त्री की नियुक्ति में, (२) मन्त्रियो के अपदस्थ करने मे, और (३) विधान सभा के विघटन मे। किन्तु यह भी याद रखना चाहिए कि उपर्युक्त निर्णयो के करने मे स्वविवेक का प्रयोग संसदीय प्रथाओ और अभिसमयो के अनुसार ही किया जा सकता है।

(१) मुख्य मन्त्री की नियुक्ति (Appointment of the Chief Minister)—मुख्य मन्त्री का चयन स्पष्ट होता है यदि राज्य के विधानमण्डल में किसी दल का स्पष्ट बहुमत हो और यदि उक्त दल का नेता भी हो। किन्तु यदि किसी एक दल का स्पष्ट बहुमत न हो, तो राज्यपाल स्वविवेक का प्रयोग कर सकता है। किन्तु ऐसी

---

[1] अनुच्छेद ३५६।

[2] अनुच्छेद ३५६।

[3] अनुच्छेद २५७।

[4] अनुच्छेद ७४ (१)।

[5] अनुच्छेद २५६ और २५७।

का परामर्श मानने पर बाध्य होगा। यदि कोई राज्यपाल ज़िद्दी है और अपने मन्त्रियो की बात नही मानता तो वह शासन के स्थायित्व को खतरे मे डाल सकता है। डा० अम्बेदकर ने भी यही कहा था कि राज्यपाल के अपने मन्त्रिमण्डल के प्रति दो प्रकार के कर्त्तव्य होगे "राज्यपाल का प्रथम कर्त्तव्य यह होगा कि वह मन्त्रिमण्डल को कायम रखे क्योकि मन्त्रिमण्डल या मन्त्रि-परिषद् राज्यपाल के प्रमाद-पर्यन्त ही सत्तारूढ रह सकती है। राज्यपाल का द्वितीय कर्त्तव्य यह है कि वह मन्त्रिमण्डल को समझावे और उसे वैकल्पिक नीति का मार्ग सुझावे और इस प्रकार मन्त्रियों से कहे कि वे अपने निर्णयो पर पुनर्विचार करे।"[1]

प्रादेशिक समितियाँ (Regional Committees)—राज्यो की पुनर्गठन योजना में प्रस्तावित किया गया है कि पजाब और आन्ध्र-तैलगाना मे सम्बन्वित राज्य विधान सभा की प्रादेशिक समितियाँ स्थापित हो। पजाव राज्य मे पजावी भाषा-भाषी प्रदेशो को हिन्दी भाषा-भाषी क्षेत्रो मे अलग विभाजित किया जायगा और प्रत्येक क्षेत्र या प्रदेश में उसकी अपनी प्रादेशिक समिति होगी। उक्त प्रादेशिक समिति में उस क्षेत्र या प्रदेश के राज्य विधान सभा के सदस्य होगे और कुछ ऐसे मन्त्री भी होंगे जो उस क्षेत्र या प्रदेश से राज्य विधान सभा के लिए निर्वाचित हुए हो। किन्तु उक्त प्रादेशिक समिति मे राज्य का मुख्य मन्त्री सदस्य नही होगा। उसी प्रकार आन्ध्र-तैलगाना राज्य में दो प्रादेशिक समितियाँ होगी, जिनमे एक आन्ध्र के लिए होगी तथा दूसरी तैलगाना के लिए होगी। पजाव की प्रादेशिक समितियो की योजना की रूप-रेखा के अनुसार सारे पुनर्गठित पजाब राज्य के लिए एक ही विधानमण्डल होगा, जो सारे राज्य के लिए विधान तैयार करेगा तथा सारे राज्य के लिए केवल एक ही राज्यपाल होगा जिसकी सहायता करने और जिसको मन्त्रणा देने के लिए एक मन्त्रि-परिषद् होगी। उक्त मन्त्रि-परिषद् सारे राज्य के समस्त प्रशासन के लिए राज्य की विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होगी। यदि कोई विधि किसी विशिष्ट विषय पर तैयार करनी होगी तो ऐसी विधि के सम्बन्ध मे प्रस्ताव प्रादेशिक समितियो को भेज दिये जायेंगे। विशिष्ट विषयो के सम्बन्ध में प्रादेशिक समितियाँ अपनी ओर से भी राज्य सरकार को सामान्य नीति के सम्बन्ध में ऐसे सुझाव दे सकती हैं जिनमें विशेष वित्तीय दायित्व निहित न हों। सामान्यत प्रादेशिक समितियाँ जो परामर्श सरकार को देंगी उनको मानना शासन के लिए भी और राज्य के विधानमण्डल के लिए भी प्राय आवश्यक होगा। यदि मतभेद हो तो राज्य का राज्यपाल निर्णय करेगा और उसका निर्णय अन्तिम होगा और वाध्य भी होगा।

भारत सरकार ने जिन प्रादेशिक समितियो की योजना का विकास किया है, उस विकास के फलस्वरूप सम्बन्धित राज्य के विभिन्न क्षेत्रो और प्रदेशो मे रहने वाले सभी लोगो के अधिकारो और हितो की रक्षा हो सकेगी, इसलिए यह एक नया सवैधानिक प्रयोग है। प्रो० व्हीर ने प्रादेशिक समिति के विचार के बारे मे लिखा है "प्रादेशिक समिति की कल्पना करते समय हम एक ऐसे निकाय की कल्पना करते

---

[1] Constituent Assembly Proceedings, Vol. VIII, p 546

हैं जो किसी न किसी रूप में उस सत्ता या उस व्यक्ति के प्रति उत्तरदायी है जिसने प्रादेशिक समिति की स्थापना की है या जिसने उक्त निकाय को कुछ अधिकार या कर्त्तव्य सौंपे हैं।"[1] यह ठीक है कि प्रादेशिक समिति के पास अन्तिम निर्णय करने की सत्ता नही है, और यदि उसके पास अन्तिम निर्णय करने की सत्ता होती तो हम उसे समिति नही कह सकते। प्रो० व्हीर ने पुन लिखा है कि "समिति का अर्थ ही ऐसे निकाय से है जो किसी अन्य सत्ता या निकाय के अधीन हो या जिसने किसी अन्य सत्ता से अधिकार ग्रहण किया हो, वास्तव में समिति के पास कोई मौलिक अधिकार-क्षेत्र नही होता। समिति या तो किसी अन्य निकाय की ओर से या किसी अन्य निकाय के प्रति उत्तरदायी होकर अपना कार्य करती है।"[2]

कोई समिति अपना कार्य ठीक प्रकार से कर रही है या नही, इसका निर्णय प्रो० व्हीर तीन प्रमाणों से करते हैं[3] प्रथमत, समिति को किसी निर्णय पर पहुँच जाना चाहिए। समिति का निर्णय यह भी हो सकता है कि वह कोई तथ्य ढूंढे या किसी तथ्य पर प्रकाश डाले, और समिति का निर्णय यह भी हो सकता है कि वह अपने से उच्चतर निकाय मे कुछ सिफारिश करे, या कुछ प्रशासनिक आदेश दे या किसी की नियुक्ति करे या किसी विषय पर विचार करना स्थगित कराए। समिति अपने हाथ में कुछ भी कर्त्तव्य ले, किन्तु उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह विचाराधीन विषय पर कुछ न कुछ निश्चित निर्णय करे, और यदि समिति निश्चित निर्णय नही करती तो यही माना जायगा कि वह अपना कार्य नही कर रही है। किन्तु केवल किसी निर्णय पर पहुँच जाना ही पर्याप्त नही है। समिति को अच्छा निर्णय भी करना चाहिए। अन्तिम बात यह है कि क्या समिति अपना कार्य कर रही है ?

अभी इतनी जल्दी यह कह देना कठिन है कि प्रादेशिक समितियाँ अपना कार्य अच्छी तरह निबाहेंगी, अथवा जो निर्णय समितियाँ करेंगी वे अच्छे निर्णय होंगे। किन्तु समितियाँ लाभदायक कार्य करेंगी यदि उनको अच्छा नेतृत्व मिले और यदि उनको प्रोत्साहन मिले। प० गोविन्दवल्लभ पन्त ने पजाब की प्रान्तीय समितियों की योजना की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए कहा था "यह अच्छी और शुभ योजना है जिससे जाब के सभी लोगों मे एकता और समानता का विकास होगा और उनके कल्याण की अभिवृद्धि होगी।"[4] मास्टर तारासिंह जी वयोवृद्ध अकाली नेता हैं। उन्होंने 'ट्रिब्यून' नामक पत्र में एक लेख छपवाया जिसका शीर्षक था "मैंने यह समझौता क्यों स्वीकार किया" (Why I accepted this Compromise)। उक्त लेख के अन्तर्गत मास्टरजी ने लिखा "पजाबी सूबे के लिए जिन प्रान्तीय समितियों पर समझौता हुआ है वह सब कुछ भी है और कुछ भी नहीं है। यह सब कुछ है

---

[1] Wheare, K C Government by Committee, p 6

[2] Ibid, p 6

[3] Ibid, p 10

[4] Statement in the Lok Sabha, The Tribune, Ambala Cantt, April 4, 1956, p 1

यदि हम सिखो के दिलो में से क्रोध, उत्तेजना और भय की भावना को दूर कर सके और साथ ही ऐसी भावनाएँ हिन्दुओ में भी पैदा न कर सके। किन्तु यह समझौता व्यर्थ होगा यदि इस समझौते के फलस्वरूप हम हिन्दुओ और सिखो के सम्बन्धो को सुखद न बना सके।" मास्टर तारासिह जी ने आगे कहा "मैने इस समझौते को स्वीकार किया है और इस पर मै ईमानदारी और निष्ठा के साथ प्रयोग करना चाहता हूँ।" इसलिए पजाब की प्रादेशिक समितियो की योजना तभी सफल हो सकती है यदि हिन्दू और सिख दोनो सम्प्रदायो के लोग मिलकर पूर्ण सहयोग के साथ कार्य करें। ऐसा न हो कि पजाब का समझौता केवल उदासीन स्वीकृति-मात्र सिद्ध हो।

प्रादेशिक समितियो के कृत्यो को समझ लेना भी उपादेय होगा। पजाब की प्रादेशिक समितियाँ जिन विषयो पर कार्रवाई करेंगी, उनमे से कुछ विषय ये हैं

(१) राज्य का विधानमण्डल समस्त राज्य के लिए जिन विकास योजनाओ को निश्चित करेगा और जिन योजनाओ के सम्बन्ध में नीति निर्माण करेगा, उन्ही विकास योजनाओ और नीतियो की क्रियान्विति के अन्तर्गत प्रादेशिक समितियाँ अपने-अपने प्रदेशो के लिए विकास योजनाएँ और आर्थिक योजनाएँ तैयार करेंगी।

(२) प्रादेशिक समितियाँ स्थानीय स्वशासन का कार्य करेंगी अर्थात् नगर प्रशासन सम्बन्धी निगमों, सुधारमण्डलो, जिला बोर्डों और अन्य अधिकारियो के स्थानीय स्वशासन या गाँव प्रशासन या ग्राम पचायतो के सम्बन्ध में उनको मन्त्रणा देंगी और उनका मार्ग-दर्शन करेंगी।

(३) प्रादेशिक समितियाँ सार्वजनिक स्वास्थ्य, आरोग्य और सफाई, छोटे अस्पतालो और दवाखानो की भी देखभाल करेंगी।

(४) वे प्रारम्भिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा का सचालन भी करेंगी।

(५) कृषि-विकास भी उन्हें सौंपा गया है।

(६) कुटीर उद्योग-धन्धो को प्रोत्साहन देंगी।

(७) पशुओ की नस्लो का परिरक्षण, रक्षण और सुधार करेंगी तथा पशुओ को छूत की बीमारियो से बचाने का प्रयत्न करेंगी एव पशु-चिकित्सा का प्रशिक्षण देंगी तथा ऐसे पशु-चिकित्सालयो को खुलवायेंगी।

(८) पशुओ को बन्द करने के बाडो अथवा कान्जी हाउसो की व्यवस्था करेंगी ताकि इस प्रकार जानवर खेतो का या घरो का नुकसान न कर सकें।

(९) जगली जानवरो और चिड़ियो का सरक्षण।

(१०) मत्स्य-पालन (Fisheries) को प्रोत्साहन।

(११) सरायो या धर्मशालाओ की व्यवस्था और उनके रखवालो की व्यवस्था।

(१२) बाजारो, हाटो और मेलो को प्रोत्साहन देंगी तथा उनकी व्यवस्था करेंगी।

(१३) सहकारी समितियो या सभाओं की स्थापना करेंगी और उन्हें प्रोत्साहन देंगी।

(१४) दान और दानशील अथवा परोपकारी सस्थाओ दानशील अथवा परोपकारार्थ नीवि और अन्य धार्मिक सस्थाओ का प्रबन्ध आदि करेगी।

किन्तु यह सम्भव नही है कि सारे राज्य के विधानमण्डल का और प्रादेशिक समिति के अधिकार-क्षेत्रो का पूर्ण विभाजन किया जा सके। इसका सीधा सा कारण यह है कि प्रशासन को पूर्णतया विभाजित नही किया जा सकता। सत्य तो यह है कि राज्य का कोई भी कार्य कोष्ठीकृत अर्थात् केवल राज्य का कार्य नही कहा जा सकता। राज्य का प्रत्येक कृत्य कुछ न कुछ राष्ट्रीय महत्त्व लिये हुए होता है, और यद्यपि प्रत्येक कार्य को स्थानीय प्रशासन के माध्यम से करने के कुछ न कुछ गुण हैं फिर भी उन कृत्यो को उच्चस्तरो के अनुसार प्रमाणीकृत करना आवश्यक होगा। इसके अतिरिक्त सफल नियोजन के लिए सारे राष्ट्र का सम्मिलित प्रयास और सहयोग आवश्यक है। जहाँ राजनीतिक सत्ता विभिन्न केन्द्रो मे केन्द्रित होती है वहाँ का विकास असन्तुलित और अव्यवस्थित होता है, और इस कारण नियोजन अत्यन्त कठिन हो जाता है। इसलिए प्रजातन्त्र की सफल क्रियान्विति के लिए सत्ता का विकेन्द्रीकरण सिद्धान्तत आकर्षक लग सकता है किन्तु व्यवहारत विकेन्द्रीकृत सत्ता के अन्तर्गत यदि प्रजातन्त्र का प्रयोग किया जायगा तो सामाजिक आर्थिक गडबडियाँ पैदा हुए बिना न रहेगी। इस समय सारे ससार में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिस्थितियाँ बदली हुई हैं इसलिए हर एक देश में सत्ता का केन्द्रीकरण हो रहा है।

विशिष्ट विषयो पर विधि निर्माण करते समय प्रादेशिक समितियो का परामर्श अवश्य लिया जायगा और विशिष्ट विषयो के सम्बन्ध में स्वय प्रादेशिक समितियाँ भी राज्य सरकार के पास अपने प्रस्ताव भेज सकती हैं और विधान निर्माण अथवा सामान्य नीति के विषय में वे राज्य की सरकार को अपनी ओर से भी परामर्श भेज सकती हैं। प्रादेशिक समितियो द्वारा दी गई मन्त्रणा या सलाह सामान्यत राज्य सरकार को और राज्य के विधानमण्डल को माननी होगी। यदि किसी प्रस्ताव के सम्बन्ध में मतभेद होगा तो राज्यपाल निर्णय करेगा और उसका निर्णय सभी पर मान्य और बाध्य होगा। यदि प्रादेशिक समितियाँ अपना कार्य अच्छे ढग से करेंगी और यदि उनके निर्णय उचित होगे, तो सामान्यत समितियो की सलाह को राज्य की सरकार भी मानेगी और विधानमण्डल भी मानेगा। प्रादेशिक समितियो के कार्य में अधिक सफलता तब मिलेगी जब उसी एक ही दल का बहुमत विधान सभा में भी हो और प्रादेशिक समितियो मे भी हो, या फिर उन्हें अधिक सफलता तब मिलेगी जब सम्बन्धित राज्यो में सयुक्त सरकारो का निर्माण हो। यदि राज्य विधानमण्डलो मे और प्रादेशिक समितियो में एक ही दल का स्पष्ट बहुमत हो, तो प्रादेशिक समितियो की सफलता के लिए आदर्श स्थिति उत्पन्न हो सकती है, किन्तु आधुनिक परिस्थितियो को देखते हुए ऐसा लगता है कि अभी कुछ समय तक पजाब की स्थिति अस्थिर ही बनी रहेगी। यदि एक ही दल का स्पष्ट बहुमत दोनो में (राज्य के विधानमण्डल में और प्रादेशिक समितियो में) न हो तो फिर यही अच्छा होगा कि राज्य में मिली-जुली सरकार हो। मिली-जुली या सयुक्त सरकार निस्सन्देह एक

विरोधाभास है क्योकि यह मन्त्रिमण्डल के उस मौलिक सिद्धान्त के विरुद्ध है जिसके अनुसार मन्त्रिमण्डल एक ऐसे दल का प्रतिनिधित्व करता है जिसके सभी सदस्य एक सिद्धान्त के मानने वाले हो। किन्तु यदि प्रादेशिक समितियो की योजना को सफल बनाने के लिए सयुक्त सरकार का निर्माण करना पडे, तो कोई विशेष हानि न होगी। यदि पजाब के हिन्दू और सिख नेता मिलकर सच्चे दिल से हिन्दुओ और सिखो के दिलो में से पृथकतावादी भावनाओ के दूर करने का प्रयास करें और इस दिशा मे मास्टर तारासिह और उनके अनुयायियो ने कार्य करने का वचन भी दिया है—तो फिर कोई कारण नही है कि पजाब के राजनीतिक जीवन मे शीघ्रातिशीघ्र सुधार न हो। जब साम्प्रदायिकता का अन्त हो जायगा और प्रादेशिक भाषा का प्रश्न वैधानिकत हल हो जायगा, तो फिर प्रान्तीय समितियो की सचमुच आवश्यकता ही न रह जायगी, और फिर सयुक्त या मिली-जुली सरकार की भी आवश्यकता न रहेगी। यह एक कहावत सी बन गई है कि इगलैड में सयुक्त सरकारे पसन्द नही की जाती, फिर भी १९१८ से लेकर १९४५ तक के काल मे केवल ६ वर्ष तक तो सामान्य सरकारो ने शासन किया जिनमे प्रभावी बहुमत के आधार पर एक दल की सरकारो का शासन रहा, अन्यथा इतने लम्बे काल तक इगलैड मे भी मिली-जुली सरकारो का शासन रहा। इगलैड का इतिहास साक्षी है कि जब कभी इगलैड के ऊपर आपत्ति के बादल घहराये, उस समय देश को आपात से बचाने और देश की एकता और स्थिरता की रक्षा के हेतु इगलैड के मन्त्रिमण्डलो ने सदैव अपने दलीय स्वरूप को त्याग दिया है। कांग्रेस सरकार ने भी देश का एकता को बनाये रखने के लिए प्रान्तीय समितियो की योजना की है, और यदि कांग्रेस पजाब मे मिली-जुली या सयुक्त सरकार बनाने की अनुमति दे दे, तो यह कांग्रेस का बहुत बडा त्याग होगा। ज्ञानी करतार सिह ने जो निम्न वक्तव्य दिया था कि "शासन के क्षेत्र में हम सहयोग कर सकते है यदि शासन हमारा सहयोग अकालियो के रूप में चाहे" उसका कुछ गम्भीर अर्थ है। कांग्रेस इतनी नीचे भी नही गिर सकती कि वह अकालियो के साम्प्रदायिक दल के साथ सयुक्त सरकार बनावे। किन्तु यदि अकाली दल अपनी उन्मादपूर्ण और हठी साम्प्रदायिकता को त्याग दें और सच्चे मन से वचन दें कि पजाब के दोनो सम्प्रदायो मे सहयोग बढ़ाने का प्रयास करेगा, तो यह हानि-रहित राजनीतिक बुद्धिमत्ता होगी कि अवसर से लाभ उठाया जाय चाहे किन्ही कारणो से अकाली दल का नाम साम्प्रदायिक ही जान पडे। अकालियो ने सदैव यही कहा है कि उनका धर्म राजनीति से अलग नही हो सकता, इसलिए उनसे ऐसी आशा नही करनी चाहिए कि वे इस समय धर्म को राजनीति से अलग करके अपनी राजनीतिक आत्महत्या कर डालेंगे।[1]

---

[1] हाल ही में सरदार ज्ञान सिंह राड़ेवाला ने एक वक्तव्य में कहा था कि जब पंजाब और पैप्सू के पुनर्गठन के सम्बन्ध में सरकार और अकालियों में समझौता हो चुका है तो फिर सिखों के एक राजनीतिक संगठन के रूप में अकाली दल का आवश्यकता ही क्या रह गई ! उन्होंने यह भी घोषणा की कि वे अपने समर्थकों और सहयोगियों के सहित काँग्रेस में मिल रहे हैं। इस नई परिस्थिति से सम्भवतः पंजाब की राजनीति का पाँसा पलट जायगा। किन्तु मास्टर तारासिंह ऐसा नहीं समझते कि

इसके अतिरिक्त यह भी ससदीय शासन-प्रणाली के सर्वथा विरुद्ध है कि राज्य के कार्यपालिका प्रधान को ऐसी शक्ति दे दी जाय जिससे वह मन्त्रिमण्डल और प्रादेशिक समिति के बीच विवाद की स्थिति में मध्यस्थता करे। इससे राज्यपाल राजनीतिक विवादो में फँस जायगा और फलस्वरूप उसकी वैधानिक स्थिति खराब हो जायगी। यह सिद्धान्त अपनी जगह अटल है कि, "राज्य का प्रधान दलगत राजनीति से दूर रहे, साथ ही उसको केवल इतना ही अधिकार रहना चाहिए कि वह उत्तरदायी मन्त्रियो की आलोचना करे, उन्हे परामर्श दे, और उनका मित्र बना रहे।" यदि राज्यपाल इस निर्दिष्ट मार्ग से इधर-उधर हटता है तो बुरे परिणाम हो सकते हैं, और राजनीतिक सकट सदैव बने रह सकते हैं।

अकाली दल की आवश्यकता समाप्त हो चुकी है और वे अकाली दल को एक राजनीतिक दल के रूप में समाप्त करने को अभी तैयार नहीं है। वे इसके लिए भी तैयार नहीं हैं कि अकाली दल केवल एक अ-राजनीतिक सास्कृतिक दल के रूप में बना रहे जैसा कि श्री गरेवाल ने सुझाव दिया है।

अध्याय १०

राज्य का विधानमण्डल

(The State Legislature)

राज्य का विधानमण्डल (The State Legislature)—नये सविधान के अधीन प्रथम अनुसूची के भाग (क) में के प्रत्येक राज्य मे एक विधानमण्डल है जो राज्यपाल और यथास्थिति एक सदन या दो सदनो से मिलकर बनता है। प्रारम्भ में भाग (क) के राज्यो में बिहार, बम्बई, मद्रास, पजाब, उत्तर प्रदेश और पश्चिमी बगाल में और भाग (ख) के राज्यो मे मैसूर मे द्विसदनात्मक विधानमण्डल थे। मध्य प्रदेश का नया राज्य, जिसकी स्थापना चार राज्यो के मेल से हुई है, भी द्विसदनात्मक विधानमण्डल वाला राज्य होगा।[1] जिन राज्यो में द्विसदनात्मक विधानमण्डल हैं, उनमें निम्न सदन, विधान सभा कहलाता है और उच्च सदन, विधान परिषद् के नाम से विख्यात है। किन्तु उन राज्यो में, जिनके विधानमण्डल में एक सदन होगा, उनका विधानमण्डल विधान सभा कहलाता है।

द्विसदनात्मक विधानमण्डल (Bicameral Legislatures)—सविधान सभा ने प्रान्तीय सविधान के निर्माण के लिए प्रान्तीय सविधान समिति की स्थापना की थी और यह उसी की सिफारिशो का फल था जो कुछ राज्यो मे तो द्विसदनात्मक विधानमण्डलो की स्थापना की गई और कुछ राज्यो में एकल सदनीय विधानमण्डलो की। समिति ने सिफारिश की थी कि किसी प्रान्त में द्वितीय सदन रखा जाय या नही, यह प्रश्न सम्बन्धित प्रान्त को स्वय निर्णय करना चाहिए। यदि कोई प्रान्त यह निर्णय करे कि उसे द्विसदनात्मक विधानमण्डल रखना चाहिए, तो ऐसे प्रान्त में विधान परिषद् की स्थापना हो जानी चाहिए। किन्तु यदि कोई प्रान्त विधान परिषद् रखना न चाहे तो उसको मजबूर नही किया जा सकता। प्रान्तीय सविधान समिति की उक्त सिफारिश के फलस्वरूप निर्णय किया गया कि सविधान सभा में विभिन्न प्रान्तो के जो प्रतिनिधि हैं उनको अलग-अलग अपने-अपने प्रान्त के लिए निर्णय करना चाहिए कि क्या वे अपने-अपने प्रान्त में द्वितीय सदन रखने के इच्छुक हैं अथवा नही। आसाम, मध्यप्रदेश और उडीसा, इन तीन प्रान्तो के प्रतिनिधियो ने द्वितीय

---

[1] चूकि मध्य प्रदेश के लिए विधान परिषद् की स्थापना में अभी कुछ समय लगेगा, इसलिए यह व्यवस्था की गई है कि सविधान के अनुच्छेद १६८ (१) में ऐसी तारीखों से सशोधन कर लिया जाए जिन्हें राष्ट्रपति निश्चित करे। १९५७ के निर्वाचन में ज्योंही मध्य प्रदेश की विधान सभा निर्वाचित होकर आ जायगी और ज्योंही उक्त नव निर्वाचित विधान सभा के सदस्य विधान परिषद् के लिए आवश्यक सख्या में सदस्य निर्वाचित कर लेंगे, त्योंही उक्त अनुच्छेद में इच्छित सशोधन की अनुमति राष्ट्रपति प्रदान कर देगा।

सदन के विरुद्ध निर्णय किया, किन्तु अन्य सभी प्रान्तों के प्रतिनिधियों ने द्वितीय सदन रखने के पक्ष में निर्णय किया ।[1] १९५६ के राज्य पुनर्गठन अधिनियम ने व्यवस्था की है कि पुनर्गठित और वृद्धि-प्राप्त मध्य प्रदेश राज्य में द्विसदनात्मक विधानमण्डल होगा । राज्य पुनर्गठन विधेयक के प्रारूप में एक टिप्पणी दी गई है, जो इस प्रकार है "प्रस्तावित मध्य प्रदेश का नया राज्य क्षेत्रफल की दृष्टि से भारत संघ का सब से बड़ा राज्य होगा और वह चार वर्तमान राज्यों से मिलकर बनेगा इसलिए उक्त मध्य प्रदेश राज्य के लिए जितनी जल्दी व्यावहारिक हो, द्विसदनात्मक विधानमण्डल की स्थापना होनी चाहिए ।"[2] इसीलिए मध्य प्रदेश के नये राज्य में द्वितीय सदन की स्थापना संघ सरकार के विनिश्चय का फल है जिसकी आवश्यकता राज्य के पुनर्गठन के फलस्वरूप पैदा हो गई, यद्यपि प्रारम्भ में मध्य प्रदेश ने द्विसदनात्मक विधानमण्डल रखने के विरुद्ध निर्णय किया था ।

संविधान ने संसद् को यह शक्ति दी है कि वह विधान परिषद् को उस राज्य में, जिसमें वह नहीं है, स्थापित कर सकती है और उसे उस राज्य में जिसमें वह है, समाप्त कर सकती है । किन्तु विधान परिषद् का उत्सादन या सृजन संविधान का संशोधन नहीं समझा जायगा ।[3] संसद् विधि द्वारा किसी विधान परिषद् वाले राज्य में विधान परिषद् के उत्सादन के लिए अथवा वैसी परिषद् से रहित राज्य में उसके सृजन के लिए उपबन्ध कर सकती है यदि सम्बन्धित राज्य की विधान सभा ने इस उद्देश्य का संकल्प सभा की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों की संख्या के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से पारित कर दिया हो ।[4] कहने का तात्पर्य यह है कि यदि किसी राज्य की विधान सभा ने अपने राज्य में विधान परिषद् के सृजन (creation) या उत्सादन (abolition) के लिए एक संकल्प, सभा की समस्त सदस्य संख्या के बहुमत से तथा उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो-तिहाई से अन्यून बहुमत से पास कर दिया हो, तो संसद् तदर्थ विधि पास करके आवश्यक कार्रवाई करेगी ।

विधान परिषद् के सृजन या उत्सादन के लिए जिस प्रणाली को अपनाया गया है, वह प्रणाली १९३५ के भारत सरकार अधिनियम की तदर्थ प्रणाली के ही समान है । डा० अम्बेदकर ने संविधान सभा में राज्यों की विधान परिषदों के सृजन या उत्सादन के सम्बन्ध में अपनायी गई प्रणाली पर प्रकाश डालते हुए कहा था "इस अनुच्छेद के उपबन्ध लगभग वही हैं जो १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के अनुच्छेद ६० में विधान परिषद् के सृजन के लिए और अनुच्छेद ३०८ में उसके उत्सादन के लिए दिये गए हैं । हमने विधान परिषद् के सृजन या उत्सादन के सम्बन्ध में जो प्रणाली स्वीकृत की है उसके अनुसार किसी राज्य का निम्न सदन संकल्प द्वारा

---

[1] Proceedings of the Constituent Assembly, Vol VII, p 130—9

[2] Para 24, p 6

[3] अनुच्छेद १६९ (३) ।

[4] अनुच्छेद १६९ (१) ।

सिफारिश करेगा कि विधान परिषद् सृजित हो या उत्सादित की जाए। इस प्रकार विधान परिषद् वाले राज्य में विधान परिषद् के उत्सादन के लिए और विधान परिषद् से रहित राज्य में विधान परिषद् के सृजन के लिए जो परिवर्तन होगे उनको सुगम बनाने के विचार से उपबन्धित किया गया है कि ससद् की तदर्थ विधि सविधान का सशोधन नही समझी जायगी क्योंकि सविधान का सशोधन जरा टेढी खीर है।"[1]

विधान परिषदो की उपयोगिता (Utility of the Legislative Councils)–प्रान्तीय सविधान समिति ने द्वितीय सदनो की स्थापना के लिए जो प्रणाली अपनायी, उसके लिए उनके पास कुछ भी कारण या आधार रहे हो, किन्तु यह निस्सन्देह स्पष्ट है कि भारतीय सविधान के स्वय निर्माता भी विधान परिषदो की उपयोगिता के सम्बन्ध में पूर्णतया निश्चित नही थे। विधान परिषदो के उत्सादन की व्यवस्था करके सविधान के निर्माताओ ने विधान परिषदो को राज्य शासन-व्यवस्था में अत्यन्त हीन और अस्थायी (tentative) स्थिति प्रदान की। इस प्रकार विधान-परिषदें न केवल द्वितीय सदन हैं वरन् वे घटिया दर्जे की और अ-प्रधान भी हैं। विधान परिषदो का धन विधेयकों के ऊपर कोई नियन्त्रण नही है। धन विधेयक केवल विधान सभा में पुरःस्थापित किया जा सकता है, और जब विधान सभा उसे पास कर चुके, तब वह विधान परिषद् के पास उसकी सिफारिशो के लिए भेजा जाता है। विधान परिषद् के लिए यह आवश्यक है कि वह धन विधेयक के प्राप्त होने की तारीख के चौदह दिनो के अन्दर उक्त विधेयक को अपनी सिफारिशो सहित या बिना सिफारिशो के भी विधान सभा को वापिस भेज दे। किन्तु विधान परिषद् की सिफारिशें विधान सभा के लिए सर्वथा मान्य नही हैं। यदि विधान सभा, विधान परिषद् की सिफारिशो को अस्वीकृत करे अथवा यदि विधान परिषद् चौदह दिनो के अन्दर कोई सिफारिश ही न करे, तो भी विधेयक राज्यपाल की अनुमति प्राप्त होने पर विधि का रूप धारण कर लेगा। विधान परिषद् अधिक से अधिक किसी धन विधेयक को चौदह दिन तक रोके रख सकती है। अ-वित्तीय विधेयको के सम्बन्ध मे भी विधान परिषद् के पास कोई प्रभावी शक्तियाँ नही हैं। किसी अ वित्तीय विधेयक के पास होने मे विधान परिषद् अधिक से अधिक चार मास की देर लगा सकती है। यदि राज्य के विधानमण्डल के दोनो सदनो में किसी बात पर मतभेद हो जाए तो सविधान ने उक्त मतभेद को सुलझाने के लिए दोनो सदनो के सम्मिलित अधिवेशन की व्यवस्था नही की है। अन्त में विधान सभा ही जो कुछ चाहती है वही होता है।

विधान परिषद् मे विभिन्न तत्त्वो का प्रतिनिधित्व होता है तथा उसमें कुछ नामाकित सदस्य भी होते हैं। ऐसा बेमेल सदन न तो ठीक-ठीक पुनर्विचारक सदन के रूप में कार्य कर सकता है और न यह विधान सभा द्वारा जल्दबाजी में पास किए गये किसी विधान की उचित जाँच-पडताल या परीक्षा कर सकता है। सत्य यह है कि प्रत्येक राज्य के दोनो सदनो के लिए योग्य प्रतिनिधियो की कमी है और विधान परिषदें अपनी ओर योग्य व्यक्ति आकर्षित नही कर सकी हैं। कई ऐसे राज्य

जिनमें द्विसदनात्मक विधानमण्डल हैं यह अनुभव करने लगे हैं कि राज्यों में द्विसदनात्मक विधानमण्डलों का रखना निरी मूर्खता है। वे यह भी अनुभव करते हैं कि यह मँहगा प्रयोग है और राज्यों के स्वल्प द्रव्य-साधनों पर भारी भार है। बम्बई राज्य की विधान सभा ने ४ दिसम्बर, १९५३ को ३१ मतों के विरुद्ध १८२ मतों से विधान परिषद् के उत्सादन-सम्बन्धी संकल्प को पास किया। यदि विधान परिषदें द्वितीय सदन की लोकतन्त्रात्मक आवश्यकताओं की पूर्त्ति नहीं करतीं तो उनका जारी रखना भारी छलपूर्ण मज़ाक है।

विधान परिषदों की रचना (Composition of the Legislative Councils) संविधान ने तो केवल यही उपबन्धित किया है कि प्रत्येक राज्य की विधान सभा में अधिक से अधिक और कम से कम कितने सदस्य होने चाहिएँ। प्रारम्भ में संविधान ने उपबन्धित किया था कि किसी भी विधान परिषद् में चालीस से कम सदस्य न हों और उसके सदस्यों की अधिक से अधिक संख्या उस राज्य की विधान सभा के सदस्यों की समस्त संख्या के २५% से अधिक नहीं हो। राज्यों के पुनर्गठन के कारण संविधान में कुछ संशोधन करने के उद्देश्य से नवें विधान संशोधन अधिनियम ने उपबन्धित किया है कि विधान परिषद् के सदस्यों की समस्त सदस्य संख्या उस राज्य की विधान सभा के सदस्यों की समस्त संख्या की एक-तिहाई से अधिक न होगी। वर्त्तमान उपबन्धों के अधीन, जब तक कि संसद् विधि द्वारा अन्यथा निर्णय न करे, राज्य की विधान परिषद् की रचना निम्न रीति से होगी[1] —

(क) यथाशक्य एक-तिहाई संख्या उस राज्य की नगरपालिकाओं, जिलामण्डलों तथा अन्य ऐसे स्थानीय प्राधिकारियों के, जैसे कि संसद् कानून द्वारा निर्धारित करे, सदस्यों से मिलकर बने निर्वाचकमण्डलों द्वारा निर्वाचित होगी।

(ख) यथाशक्य बारहवाँ भाग उस राज्य में निवास करने वाले ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बने हुए निर्वाचकमण्डलों द्वारा चुना जायगा, जो भारत राज्य-क्षेत्र के किसी विश्वविद्यालय के कम से कम ३ वर्ष के स्नातक हैं, अथवा जो कम से कम ३ वर्ष से ऐसी शर्तों को पूरा करते हैं, जो संसद् निर्मित किसी कानून के द्वारा या अधीन वैसे किसी विश्वविद्यालय के स्नातक की उपाधियों या अर्हताओं के बराबर ठहराई गई हों।

(ग) यथाशक्य बारहवाँ भाग ऐसे व्यक्तियों से मिलकर बने निर्वाचकमण्डलों द्वारा निर्वाचित होगा, जो राज्य के भीतर माध्यमिक पाठशालाओं से अनिम्न स्तर की ऐसी शिक्षा-संस्थाओं में पढ़ाने के काम में कम से कम ३ वर्ष से लगे हुए हैं, जैसी कि संसद् निर्मित कानून द्वारा या अधीन निर्धारित की जाए।

(घ) तृतीयांश राज्य की विधान सभा के सदस्यों द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से निर्वाचित होगा, जो विधान सभा के सदस्य नहीं हैं।

(ङ) शेष सदस्य राज्यपाल द्वारा ऐसे व्यक्तियों में से मनोनीत किये जायेंगे जिन्हें साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारी आन्दोलन और सामाजिक सेवा के विषयों के बारे में विशेष ज्ञान या व्यावहारिक अनुभव है।

---

[1] अनुच्छेद १७१ (३)।

विधान परिषद् की रचना सक्षेप मे इस प्रकार होगी (१) विधान परिषद् के तृतीयाश सदस्य स्थानीय निकायो द्वारा निर्वाचित होगे, (२) विधान परिषद् के तृतीयाश सदस्य राज्य की विधान सभा के सदस्यो द्वारा ऐसे व्यक्तियो में से निर्वाचित होगे जो सभा के सदस्य नही हैं, (३) शेष तृतीयाश सदस्यो के लिए अर्थात् विधान परिषद् के सदस्यो के $\frac{1}{6}$ सदस्य राज्यपाल द्वारा मनोनीत किये जायेंगे, (४) अब शेष बचे विधान परिषद् की समस्त सदस्य सख्या के $\frac{1}{6}$ सदस्य जिनमे से (क) द्वादशाश विश्वविद्यालयो के उन स्नातको द्वारा निर्वाचित होगे जो कम से कम तीन वर्षों से विश्वविद्यालयो के स्नातक हैं, और जो उसी राज्य में निवास करते हैं तथा (ख) शेष द्वादशाश सदस्य ऐसे अध्यापको द्वारा निर्वाचित होगे जो माध्यमिक पाठशालाओ से अनिम्न स्तर की शिक्षा-सस्थाओ में पढाने के काम में लगे हुए हैं।

जो सदस्य स्थानीय सस्थाओ, स्नातको और शिक्षको द्वारा निर्वाचित होगे उनके निर्वाचन-क्षेत्र प्रादेशिक होगे जिन्हे ससद् निर्मित कानून के आधार पर बनाया जायगा। नागरिको के प्रतिनिधित्व कानून, १९५० के अनुच्छेद ११ ने ऐसे निर्वाचन क्षेत्रो की सीमाओ को परिसीमित किया है। विधान परिषदो के लिए होने वाले सभी निर्वाचन, आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली से एकल क्रमणीय मत (single transferable vote) द्वारा होगे। विधान परिषद् का सदस्य निर्वाचित होने के लिए किसी व्यक्ति को—भारत का नागरिक होना चाहिए, उसकी आयु तीस वर्षों से कम नही होनी चाहिए, और उसे वे सब शर्तें पूरी करनी चाहिएँ जिन्हे केन्द्रीय विधान-मण्डल अर्थात् ससद् निर्धारित करे।[1] यह भी उपबन्धित किया गया है कि यदि विधान परिषद् का कोई सदस्य, परिषद् की सभाओ से ६० दिनो तक लगातार बिना आज्ञा लिये अनुपस्थित रहे तो परिषद् उसके स्थान को रिक्त घोषित कर सकती है।

विधान परिषद् का सघटन (Organisation of the Legislative Council)—विधान परिषद् एक स्थायी निकाय है जिसका विघटन नही हो सकता। उसके एक-तिहाई सदस्य प्रति दूसरे वर्ष हट जाते हैं और इस प्रकार एक सदस्य का सामान्य कार्यकाल ६ वर्ष है। यह आवश्यक है कि विधान सभा के सहित विधान परिषद् वर्ष मे कम से कम दो बार अधिवेशन के लिए आहूत हो और इसके पिछले सत्र की अन्तिम बैठक और अगले सत्र की प्रथम बैठको के बीच का समय छ मास से अधिक नही होना चाहिए।[2] राज्यपाल विधान परिषद् को कुछ काल के लिए स्थगित कर सकता है। राज्यपाल यदि चाहे तो केवल विधान परिषद् को अलग से सम्बोधित कर सकता है या वह दोनो सदनो को साथ समवेत करके सम्बोधित कर सकता है और ऐसे अवसर पर इस प्रयोजन के लिए विधानमण्डल के सदस्यो को उपस्थित होने का आदेश दे सकता है। वह परिषद् मे उस समय लम्बित किसी विधेयक विषयक अथवा अन्य विषयक सन्देश भेज सकता है, और परिषद् के लिए आवश्यक होगा कि वह सदेश द्वारा अपेक्षित विचारणीय विषय पर यथासुविधा शीघ्र विचार करे।

---

[1] अनुच्छेद १७३।

प्रत्येक सत्र के आरम्भ में विधान सभा को, अथवा राज्य मे विधान परिषद् होने की अवस्था में साथ समवेत हुए दोनो सदनो को, राज्यपाल सम्बोधित करता है तथा वह आह्वान का कारण भी विधानमण्डल को बताता है। परिषद् के विनियामक नियमो से राज्यपाल के अभिभाषण में निर्दिष्ट विषयो की चर्चा के हेतु समय रखने के लिए तथा सदन के अन्य कार्य पर इस चर्चा को पूर्ववर्तिता देने के लिए व्यवस्था की जाती है। राज्य के प्रत्येक मन्त्री और महाधिवक्ता को अधिकार है कि वह उस राज्य की विधान सभा मे अथवा राज्य मे विधान परिषद् होने की अवस्था मे दोनो सदनो मे बोले तथा दूसरे प्रकार से उनकी कार्यवाइयो में भाग ले, तथा विधानमण्डल की किसी समिति में, जिसमें उसका नाम सदस्य के रूप में दिया गया हो, बोले तथा दूसरे प्रकार से कार्यवाइयो में भाग ले, किन्तु उसको मत देने का अधिकार न होगा।[1]

प्रत्येक राज्य की विधान परिषद् अपने दो सदस्यो को अपना सभापति और उपसभापति चुनती है। परिषद् के सभापति या उपसभापति के रूप में पद धारण करने वाला सदस्य यदि परिषद् का सदस्य नही रहता तो वह अपना पद भी रिक्त कर देता है।[2] परिषद् के सभापति या उपसभापति को, परिषद् के तत्कालीन समस्त सदस्यो के बहुमत से पारित संकल्प के द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है।[3] परिषद् की बैठक में सभी प्रश्न उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो के बहुमत से निर्णीत होते हैं किन्तु सभापति मतदान नही कर सकता। यदि किसी प्रश्न पर बराबर-बराबर मत आवें, तो सभापति मतदान करता है और उसका मत निर्णायक होगा।

विधान परिषद् के विधायी कृत्य (Legislative Functions of the Council)—अ-वित्तीय विधेयक (A bill other than Money Bill) राज्य के विधानमण्डल के किसी भी सदन में पुरःस्थापित किया जा सकता है अर्थात् जिस राज्य मे विधान परिषद् है, उसकी परिषद् में भी अ-वित्तीय विधेयक पुरःस्थापित किया जा सकता है। कोई अ-वित्तीय विधेयक उस समय तक ऐसे राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित नही माना जा सकता जिसमें विधान परिषद् भी है जब तक कि उक्त दोनो सदनो ने उस विधेयक पर अपनी-अपनी स्वीकृति न दे दी हो। धन विधेयको को छोडकर अन्य प्रकार के विधेयक के सम्बन्ध मे विधान परिषद् के अधिकारो पर जो सीमाएँ लगा दी गई हैं, उनका वर्णन अनुच्छेद १९७ में किया गया है। जो विधेयक विधान सभा मे पास हो गया है और विधान परिषद् में विचार के लिए भेजा गया है उसमे संशोधन करने की शक्ति भी प्राय विधान परिषद् से छीन ली गई है। जब ऐसा कोई विधेयक (क) विधान परिषद् द्वारा अस्वीकार कर दिया जाता है, अथवा (ख) परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तारीख से, उसमे विधेयक पारित हुए बिना, तीन मास से अधिक समय व्यतीत हो जाता है, अथवा (ग) ऐसे संशोधनो

---

[1] अनुच्छेद १७७।

[2] अनुच्छेद १८३ (क)।

[3] अनुच्छेद १८३ (ग)।

सहित पास किया जाता है, जिन्हे विधान सभा स्वीकार नही करती, तो विधान सभा उस विधेयक को अपने उसी अधिवेशन अथवा बाद के अधिवेशनो में परिषद् द्वारा सुझाये गये सशोधनो सहित अथवा उनके बिना फिर से पास कर सकती है और उसे फिर से विधान परिषद् मे भेजती है। अब यदि विधान परिषद् (क) उक्त विधेयक को पुन अस्वीकार कर देती है, अथवा (ख) परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तारीख से, उससे विधेयक पारित हुए बिना एक मास से अधिक समय व्यतीत हो जाता है, अथवा (ग) परिषद् द्वारा विधेयक ऐसे सशोधनो सहित पारित होता है जिन्हें विधान सभा स्वीकार नही करती, तो वह विधेयक राज्य के विधानमण्डल के दोनो सदनो द्वारा उसी रूप मे पास समझा जायेगा, जिस रूप में विधान सभा ने उसे दुबारा पास किया था, और उसमे केवल वही सशोधन होगे जिन्हे विधान सभा ने स्वीकार किया है। इस प्रकार राज्यो के विधानमण्डलो के दोनो सदनो की विधायिनी शक्तियाँ बराबर नही हैं। विधान-परिषद् तो केवल किसी विधेयक के पास होने में कुछ देर लगा सकती है और देर भी केवल चार महीने से अधिक नही।

विधान परिषद् के वित्तीय कृत्य (Financial Functions of the Council)—धन विधेयको के सम्बन्ध में विधान परिषद् के प्राय वे ही कृत्य हैं जो ससद् के उच्च सदन अर्थात् राज्य सभा के हैं। विधान परिषद् में धन विधेयक पुर-स्थापित नही किया जा सकता।[1] जब विधान सभा में कोई धन विधेयक पास हो जाता है, तब वह विधान परिषद् मे उसकी सिफारिशो के लिए भेजा जाता है। परिषद् में प्रस्तुत होने के १४ दिन के भीतर यदि वह धन विधेयक विधान परिषद् की सिफारिशो के सहित सभा मे वापिस नही आता, तो वह विधेयक दोनो सदनो द्वारा पारित हुआ मान लिया जाता है। किन्तु यदि इस समय मे परिषद् उस विधेयक को अपनी सिफारिशो सहित सभा में भेज देती है, तो उन सिफारिशो को स्वीकार करने अथवा अस्वीकार करने का अधिकार सभा को है। यदि विधान परिषद् विधेयक को अस्वीकार कर देती है तो भी विधेयक उसी रूप में दोनो सदनो द्वारा पारित माना जायेगा जिस रूप में उक्त विधेयक को विधान सभा ने पास किया था।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि धन विधेयको के सम्बन्ध में विधान परिषद् के पास न तो कोई शक्तियाँ हैं और न धन विधेयक परिषद् से प्रारम्भ ही हो सकते हैं। धन विधेयको के सम्बन्ध मे परिषद् तो केवल कुछ पवित्र सिफारिशें मात्र कर सकती है और विधान सभा चाहे तो उन पवित्र सिफारिशो को स्वीकार करे चाहे न करे। यदि परिषद् मे प्रस्तुत होने के चौदह दिनो के भीतर भी परिषद् किसी विधेयक पर अपनी सिफारिशें नही करती है तो भी ऐसा विधेयक राज्य के विधानमण्डल के दोनो सदनो द्वारा उसी रूप मे पारित माना जाता है जिस रूप में उस विधेयक को विधान सभा ने स्वीकार किया था। इसलिए वित्तीय विषयो से सम्बन्धित विधेयको के विषय में वास्तविक शक्ति विधान सभा के पास है।

---

[1] अनुच्छेद १९८ (१)।

विधान परिषद् के प्रशासनिक कृत्य (Administrative Functions of the Council)—मन्त्रि-परिषद्, विधान परिषद् के प्रति उत्तरदायी नही है। सविधान ने स्पष्ट आदेश दिया है कि मन्त्रि-परिषद् सामूहिक रूप से विधान सभा के प्रति उत्तरदायी है। फिर भी विधान परिषद् को अधिकार है कि वह प्रश्नो और पूरक प्रश्नो के द्वारा ऐसे विषयो पर वाद-विवाद कर सकती है जिनका सम्बन्ध सार्वजनिक प्रशासन से हो और सार्वजनिक महत्त्व के ऐसे प्रस्ताव पर भी वाद-विवाद और विचार विनिमय कर सकती है जिसका सम्बन्ध राज्य के प्रशासन से हो।

विधान सभा

(The Legislative Assembly)

विधान सभा की रचना (Composition of the Legislative Assembly)—विधान सभा ही राज्य का लोकप्रिय सदन है और इसी सदन में वास्तविक शक्ति निवास करती है। विधान सभा ऐसे सदस्यो से मिलकर बनती है जो सर्वसाधारण द्वारा प्रत्यक्ष रीति से निर्वाचित होते हैं, तथा वे उन प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रो से निर्वाचित होकर आते हैं जिनमें राज्य को विभाजित कर दिया जाता है। निर्वाचन वयस्क मताधिकार के आधार पर होता है अर्थात् प्रत्येक नागरिक को जिसकी आयु २१ वर्ष से कम नही है, और जो निवास-स्थान, पागलपन, अपराध और भ्रष्टाचार के कारण मतदान करने से वचित नही कर दिया गया है, मताधिकार प्राप्त है। किसी नागरिक को वश, मूल जाति, धर्म या लिंग के आधार पर मताधिकार से वचित नही किया गया है। निर्वाचन आयोग के सचालन और निर्देशन में निर्वाचक नामावलियाँ प्रतिवर्ष तैयार कराई जाती हैं और उनका सशोधन किया जाता है।

सविधान का आदेश है कि किसी भी राज्य की विधान सभा मे ५०० से अधिक और ६० से कम सदस्य नही होगे। प्रत्येक प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्र से प्रतिनिधित्व का आधार प्रति ७५,००० व्यक्तियो पर एक सदस्य से अधिक नही होना चाहिए। निर्वाचन-क्षेत्रो को परिसीमित करने का सारा उत्तरदायित्व ससद् के अधिकार में दे दिया गया है और प्रत्येक जनगणना के बाद विभिन्न प्रादेशिक निर्वाचन-क्षेत्रो के प्रतिनिधित्व को ऐसी सत्ता इस रूप मे सशोधित और पुन क्रमबद्ध कर लेती है जैसा इन सम्बन्धो मे ससद् विधि द्वारा उपबन्धित करे। इन सामान्य उपबन्धो को छोडकर राज्यो के विधानमण्डलो मे अल्पसख्यक वर्गो के प्रतिनिधित्व के लिए कुछ विशेष उपबन्ध बनाये गये हैं। अनुच्छेद ३३२ में कहा गया है कि आसाम के आदिम जाति क्षेत्रो को छोडकर राज्यो के विधानमण्डलो मे अनुसूचित जातियो और अनुसूचित आदिम जातियो के लिए स्थान सुरक्षित रहेगे। साथ ही आसाम राज्य की विधान सभा में स्वायत्तशासी जिलो के लिए भी कुछ स्थान सुरक्षित रख दिये गए हैं।[1] ऐंग्लो-इण्डियन जाति के लिए भी एक विशेष उपबन्ध बनाया गया है। यदि किसी राज्य के राज्यपाल का यह मत है कि उस राज्य की विधान सभा में ऐंग्लो-इण्डियन[2] जाति का प्रतिनिधित्व

---

[1] अनुच्छेद ३३२। [2] अनुच्छेद ३३३।

उपयुक्त रूप मे नही हुआ है, तो वह उस जाति के उपयुक्त व्यक्ति या व्यक्तियो को विधान सभा के लिए नामनिर्देशित कर सकता है। अनुसूचित जातियो, अनुसूचित आदिम जातियो तथा ऐंग्लो-इण्डियन जातियो के लिए जो ये विशेष उपबन्ध बनाए गए हैं अथवा जो स्थान सरक्षित रखे गए हैं वे संविधान के प्रारम्भ होने के १० वर्ष बाद समाप्त हो जायेंगे।[1]

विधान सभा की सदस्यता के लिए अर्हताएँ (Qualifications for Membership of the Legislative Assembly)—किसी राज्य की विधान सभा का सदस्य निर्वाचित होने के लिए प्राय वही अर्हताएँ और शर्ते रखी गई हैं जो लोक सभा की सदस्यता के लिए रखी गई हैं। विधान सभा के लिए निर्वाचन में खडे होने वाले प्रत्याशियो के लिए यह आवश्यक है कि वे भारत के नागरिक हो, उनकी आयु २५ वर्ष से कम न हो, और वे उन सारी शर्तों को पूरा करते हो जिन्हे संसद् निर्धारित करे। एक ही व्यक्ति, राज्य के विधानमण्डल के दोनो सदनो का एक साथ सदस्य नही रह सकता, यदि उस राज्य में विधान परिषद् भी है। उसी प्रकार एक ही व्यक्ति, दो या दो से अधिक राज्यो के विधानमण्डलो का एक ही समय मे सदस्य नही हो सकता। और राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य, यदि सदन की आज्ञा के बिना लगातार ६० दिनो तक उसकी बैठको से अनुपस्थित रहता है तो सदन उसका स्थान रिक्त घोषित कर देता है।

संविधान ने कतिपय ऐसी अनर्हताएँ (disqualifications) भी निर्धारित की हैं जिनके कारण कोई व्यक्ति राज्य की विधान सभा का सदस्य चुने जाने के लिए अर्ह न होगा। ये अनर्हताएँ निम्नलिखित हैं (क) यदि वह भारत सरकार या किसी राज्य सरकार के अधीन किसी ऐसे लाभ के पद पर हो, जिस पद को कानून द्वारा राज्य के विधानमण्डल ने उन्मुक्ति नही दी है, (ख) यदि उसका दिमाग़ ठीक नही है तथा किसी मान्य न्यायालय ने उक्त घोषणा कर दी है, (ग) यदि वह दिवालिया है, (घ) यदि वह भारत का नागरिक नही है, अथवा स्वेच्छापूर्वक किसी अन्य राज्य की नागरिकता उसने प्राप्त कर ली है, अथवा यदि उसकी राज्य भक्ति किसी अन्य विदेशी राज्य के प्रति है, (ङ) अथवा यदि वह राज्य के विधानमण्डल के किसी कानून के द्वारा विधानमण्डल की सदस्यता के अधिकार से वंचित कर दिया गया है। शर्त न० (क) के सम्बन्ध में यह स्पष्ट कर दिया गया है, कि यदि कोई व्यक्ति भारत सरकार का अथवा किसी अन्य राज्य का मन्त्री है तो उसका पद इस सम्बन्ध मे या इस प्रयोजन के लिए लाभ का पद नही समझा जायेगा। यदि कभी यह प्रश्न उठे कि किसी राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन के सदस्य पर इनमें से कोई शर्त लागू होती है या नही तो इस सम्बन्ध मे राज्य के राज्यपाल का विनिश्चय अन्तिम होगा। किन्तु अपना विनिश्चय देने से पूर्व राज्यपाल के लिए आवश्यक होगा कि वह उक्त विषय में निर्वाचन आयोग की सम्मति ले ले और राज्यपाल अपना विनिश्चय, निर्वाचन आयोग की सम्मति के आधार पर ही देगा।[2]

---

[1] अनुच्छेद ३३४।

[2] अनुच्छेद १९२।

इसलिए राज्यपाल का विनिश्चय एक प्रकार से निर्वाचन आयोग का ही विनिश्चय अथवा सहमति होगा।

विधान सभा की अवधि (Duration of the Legislative Assembly)—विधान सभा की अवधि पांच वर्ष है। तथापि उसका इस अवधि की समाप्ति के पूर्व भी विघटन किया जा सकता है। जब आपात की उद्घोषणा प्रवर्त्तन में है, संघीय संसद् विधान सभा की अवधि एक बार में एक से अनधिक वर्ष के लिए बढ़ा सकती है। लेकिन जब आपात की उद्घोषणा समाप्त हो चुकी है, तब यह अवधि किसी भी दशा मे छ मास से अधिक के लिए नही बढ़ाई जा सकती।

राज्य के विधानमण्डल के सत्र, सत्रावसान और विघटन (Sessions, Prorogation and Dissolution)—राज्य का राज्यपाल राज्य के विधानमण्डल को ऐसे समय तथा स्थान पर, जैसा वह उचित समझे, अधिवेशन के लिए आहूत कर सकता है। किन्तु राज्य के विधानमण्डल को प्रति वर्ष कम से कम दो बार अधिवेशन के लिए आहूत किया जाना आवश्यक है, तथा उसके एक सत्र की अन्तिम बैठक तथा आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिए नियुक्त तारीख के बीच छ मास से अधिक का अन्तर नही होना चाहिए। किन्तु राज्यपाल सदन का सत्रावसान कर सकता है और विधान सभा का उसकी पाँच वर्ष की सामान्य अवधि से पूर्व भी विघटन कर सकता है।[1]

राज्यपाल विधान सभा को अथवा राज्य में विधान परिषद् होने की अवस्था मे उस राज्य के विधानमण्डल के किसी एक सदन को, अथवा साथ समवेत दोनों सदनो को सम्बोधित कर सकता है।[2] राज्यपाल राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन मे उस समय लम्बित किसी विधेयक-विषयक अथवा अन्य-विषयक सन्देश उस राज्य के विधानमण्डल के सदन अथवा सदनो को भेज सकता है तथा जिस सदन को कोई सन्देश इस प्रकार भेजा गया हो वह सदन उस सन्देश द्वारा अपेक्षित विचारणीय विषय पर यथासुविधा शीघ्र विचार करता है।[3]

संविधान ने राज्यपाल के ऊपर कर्त्तव्य-भार सौंपा है कि प्रत्येक महानिर्वाचन (General Election) के बाद नये विधानमण्डल को तथा प्रत्येक सत्र के आरम्भ मे सदन या सदनो को सम्बोधित करे तथा आह्वान का कारण बतावे। विधानमण्डल के सदन या सदनो की प्रक्रिया के विनियामक नियमो में राज्यपाल के अभिभाषण में निर्दिष्ट विषयो की चर्चा के हेतु समय रखने के लिए व्यवस्था की जाती है। राज्यपाल के अभिभाषण पर जो वादविवाद और मतदान होता है, वह वास्तव में मन्त्रि-परिषद् के समर्थन में प्रतिवर्ष विश्वास के प्रस्ताव का अवसर प्रदान करता है।

राज्य के प्रत्येक मन्त्री को और राज्य के महाधिवक्ता को अधिकार है कि वह उस राज्य की विधान सभा मे, अथवा राज्य में विधान परिषद् होने की अवस्था में दोनो सदनो में बोले तथा दूसरे प्रकार उनकी कार्यवाइयो में भाग ले तथा विधानमण्डल

---

[1] अनुच्छेद १७४।

[2] अनुच्छेद १७५ (१)।

[3] अनुच्छेद १७५ (२)।

की समितियो में भी भाग ले। किन्तु मन्त्री मतदान केवल उसी सदन में कर सकता है जिसका वह सदस्य है।

जब तक राज्य का विधानमण्डल विधि द्वारा अन्यथा उपबन्ध न करे, राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन की कार्रवाई के हेतु आवश्यक गणपूर्ति (Quorum) दस सदस्य अथवा सदन की समस्त सदस्य सख्या के $\frac{1}{10}$ सदस्य, इन दोनो सख्याओ में से जो भी अधिक होगी, वही सख्या आवश्यक गणपूर्ति रहेगी।

अध्यक्ष (The Presiding Officer)—प्रत्येक राज्य की विधान सभा अपने दो सदस्यो को क्रमश अपने अध्यक्ष और उपाध्यक्ष चुनती है। तथा जब-जब अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष का पद रिक्त हो तब-तब सभा किसी अन्य सदस्य को यथास्थिति अध्यक्ष या उपाध्यक्ष चुनती है। विधान सभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के रूप में पद धारण करने वाला सदस्य यदि सभा का सदस्य नही रहता तो अपना पद रिक्त कर देता है। विधान सभा का अध्यक्ष या उपाध्यक्ष अपने पद को किसी भी समय त्याग सकता है। यदि विधान सभा का अध्यक्ष त्यागपत्र देता है तो उसे अपना त्यागपत्र सदन के उपाध्यक्ष को सम्बोधित करना चाहिए, किन्तु यदि उपाध्यक्ष त्यागपत्र देता है तो उसका त्यागपत्र अध्यक्ष को सम्बोधित किया जायगा। विधान सभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के रूप में पद धारण करने वाला सदस्य विधान सभा के तत्कालीन समस्त सदस्यो के बहुमत से पारित सकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकता है, किन्तु उक्त पयोजन के लिए कोई सकल्प तब तक प्रस्तावित नही किया जा सकता जब तक कि उस सकल्प के प्रस्तावित करने के अभिप्राय की कम मे कम १४ दिन पूर्व सूचना न दे दी गई हो।[1] किन्तु विधान सभा के विघटित होने पर भी अध्यक्ष अपने पद पर बना रहता है, और विघटन के पश्चात् होने वाली विधान सभा के प्रथम अधिवेशन के ठीक पहिले तक अध्यक्ष अपने पद को रिक्त नही करता। जब अध्यक्ष का पद रिक्त होता है, उस समय उसके कर्त्तव्यो का निर्वहन उपाध्यक्ष करता है। यदि किसी समय अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनो के पद रिक्त हो तो विधान सभा का ऐसा सदस्य, जिसे राज्यपाल उस प्रयोजन के लिए अस्थायी रूप से नियुक्त करे, अध्यक्ष पद के कर्त्तव्यो का पालन करता है। यदि विधान सभा की किसी बैठक से अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनो अनुपस्थित हैं, तो ऐसा व्यक्ति अध्यक्ष के रूप मे कार्य करता है जो सभा की प्रक्रिया के नियमो के अनुसार तदर्थ निर्धारित किया जाए। किन्तु यदि ऐसा भी कोई व्यक्ति उपस्थित नही है तो ऐसा अन्य व्यक्ति, जिसे सभा निर्धारित करे, अध्यक्ष के रूप मे कार्य करता है। विधान सभा की किसी बैठक में, जब अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को अपने पद से हटाने का कोई सकल्प विचाराधीन हो, तब अध्यक्ष या उपाध्यक्ष सभा में उपस्थित रहने पर भी पीठासीन (to preside) नही हो सकता। किन्तु जिस समय विधान सभा में ऐसा कोई सकल्प (अध्यक्ष को हटाने सम्बन्धी) विचाराधीन हो उस समय अध्यक्ष या उपाध्यक्ष को बोलने तथा दूसरे प्रकार से उसकी कार्रवाइयो में भाग लेने का अधिकार है और ऐसे सकल्प

---

[1] अनुच्छेद १७९ (ग)।

पर वह प्रथमतः ही मतदान करने का हकदार होगा। अर्थात् ऐसे अवसर पर अध्यक्ष या उपाध्यक्ष सामान्य सदस्य की तरह मत दे सकता है और इसलिए उसका निर्णायक मत (Casting Vote) नही रहता। अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को ऐसे वेतन और भत्ते मिलते हैं जैसे राज्य का विधानमण्डल विधि द्वारा नियत करे और इस वेतन और भत्ते की धनराशि राज्य की सचित निधि पर भारित व्यय होगा।

राज्य की विधान सभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष की प्रायः वे ही शक्तियाँ और कर्त्तव्य हैं जो लोक सभा के अध्यक्ष अथवा उपाध्यक्ष की हैं। विधान सभा का अध्यक्ष एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष अधिकारी है और उसको वे सारे अधिकार प्राप्त हैं जिनके आधार पर वह सदन की कार्रवाई सुनिश्चित और व्यवस्थित ढग से चलाता है। उसको अधिकार है कि वह प्रश्न स्वीकृत करे, और सकल्प तथा प्रस्ताव स्वीकार करे और वही विधान सभा के विचाराधीन सारी और विभिन्न कार्रवाई के लिए समय निश्चित करता है। सदन के नेता से परामर्श करके वह सदन की कार्रवाई की सूची तैयार करता है और यह निश्चित करता है कि निश्चित कार्रवाई किस क्रम से निपटायी जाय, और फिर वही प्रत्येक सदस्य के भाषण के लिए समय भी निर्धारित कर देता है। अध्यक्ष सदन मे शान्ति और गौरव-गरिमा बनाये रखता है और उसे अधिकार है, कि यदि कोई सदस्य सदन के नियमो को तोडता है तो वह उस सदस्य को सदन से बाहर जाने का आदेश दे सकता है, और यदि उक्त सदस्य का व्यवहार अत्यन्त अभद्र है और उसने अध्यक्ष के आदेशो की बारबार अवहेलना की है, तो ऐसे सदस्य को अध्यक्ष सारे अधिवेशन के लिए भी सदस्यता से निलम्बित कर सकता है। यदि सदन में भीषण गडबडी उत्पन्न हो जाय तो अध्यक्ष सदन की कार्रवाई को स्थगित कर सकता है या उसके सत्र को निलम्बित कर सकता है। अध्यक्ष ही कई नाम सभापति पद के लिए तथा विधेयको से सम्बन्धित प्रवर समितियो के सभापतियो तथा विधान सभा की अन्य समितियो के लिए भी वही सभापतियो का नाम निर्देशित करता है। सभा के नियमो का निर्वचन वही करता है और वही आदेश बिन्दुओं (points of order) को तय करता है। सदन की कार्य-प्रणाली उसी की इच्छानुसार निश्चित की जाती है। उसके समादेश (rulings) अन्तिम (final) होते हैं। उनके विरुद्ध सदन से अपील नही की जा सकती।

विधान सभा के कार्य और उसकी शक्तियाँ

(Powers and Functions of the Assembly)

विधायी कृत्य (Legislative Functions)—राज्य-विधानमण्डल राज्य-सूची मे प्रगणित विषयो पर कानून बनाने के लिए सक्षम है। और साधारणतया उन विषयो के सम्बन्ध मे उन्हे अपवर्जी अधिकार-क्षेत्र प्राप्त है। राज्य-सूची के कुछ महत्त्वपूर्ण विषय ये हैं सार्वजनिक व्यवस्था, आरक्षी दल, न्याय-प्रशासन, कारागार, सुधारालय, बोर्स्टल संस्थाएँ और तद्रूप अन्य संस्थाएँ (Prisons, Reformatories Borstal institutions, and other institutions of a like nature), स्थानीय स्वशासन, सार्वजनिक स्वास्थ्य और स्वच्छता, तीर्थ-यात्राएँ और तीर्थ-स्थान, अंगहीनो और नौकरियों के लिए अयोग्य व्यक्तियों की सहायता, शिक्षा, पुस्तकालय,

सचार अर्थात् सडकें आदि, कृषि, पशुओ की नस्लो का परिरक्षण, सरक्षण और उन्नति, जल अर्थात् सिचाई आदि, भूमि, वन, खनिजो का विकास, उद्योग व्यापार, बाजार और मेले, बाट और माप, सार्वजनिक निर्माण, राजस्व, उच्छुल्क अथवा उत्पादन-शुल्क आदि।

उन विषयो के अतिरिक्त जो राज्य सूची में प्रगणित हैं, राज्य के विधानमण्डल उन विषयो पर भी विधि बनाने में सक्षम हैं जो समवर्त्ती सूची (concurrent list) में प्रगणित हैं। समवर्त्ती सूची के कुछ महत्त्वपूर्ण विषय निम्नलिखित हैं दण्डविधि, दण्ड प्रक्रिया (Criminal Procedure), निवारक निरोध (Preventive detention), विवाह और विवाह-विच्छेद, सविदा (Contracts), न्यास और न्यासी (Trust and Trustees), व्यवहार प्रक्रिया, आहिण्डन (Vagrancy), उन्माद और मनोवैकल्य (Lunacy and Mental Deficiency), खाद्य-पदार्थों और अन्य वस्तुओ में अपमिश्रण (Adulterations of foodstuffs and other goods), औषधियाँ और विष, आर्थिक और सामाजिक योजना, व्यापार सघ, श्रमिको का कल्याण, व्यावसायिक और शिल्पी प्रशिक्षण, विधि वृत्तियाँ, वैद्यक वृत्तियाँ और अन्य वृत्तियाँ (Legal, medical and other professions), विस्थापित व्यक्तियो की सहायता और पुनर्वास, व्यापार और वाणिज्य, मूल्य नियन्त्रण, कारखाने, विद्युत् आदि। समवर्त्ती सूची के विषयो पर ससद् और राज्य के विधानमण्डल, दोनो को ही विधि बनाने का अधिकार है, किन्तु यदि समवर्त्ती सूची के किसी विषय पर ससद् द्वारा विधि बन चुकी है तो राज्य का विधानमण्डल उसी विषय पर विधि नही बना सकता। इसके विपरीत यदि समवर्त्ती सूची के किसी विषय पर राज्य के विधानमण्डल ने कोई विधि बना रखी है तो भी ससद् उसी विषय पर विधि निर्मित कर सकती है, और राज्य की विधि जहाँ तक ससद् की विधि के विरुद्ध होगी, वहाँ तक प्रभावहीन हो जायगी। किन्तु ससद् की विधि के विरोध होने की दशा मे भी राज्य की विधि प्रभावयुक्त रहेगी यदि राज्य की विधि को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित करके रख लिया गया हो और यदि राष्ट्रपति ने अपनी अनुमति प्रदान कर दी हो।

सविधान ने राज्यो के विधानमण्डलो की शक्तियो पर उनके अपवर्जी अधिकार-क्षेत्र मे भी कतिपय प्रतिबन्ध आरोपित किए हैं, जो निम्न हैं

(१) राज्य के विधानमण्डल द्वारा बनायी गयी कुछ विधियाँ तब तक प्रभावी नही होगी जब तक कि ऐसी विधियो को राष्ट्रपति के विचार के लिए रक्षित किए जाने के पश्चात्, उसकी अनुमति न मिल गई हो।[1] उदाहरणार्थ समवर्त्ती सूची के ऐसे विषयो के बारे मे विधियाँ जो ससद् द्वारा पूर्व पारित विधियो के उपबन्धो के विरुद्ध हो,[2] अथवा ऐसी विधियाँ जो ऐसी वस्तुओ के क्रय और विक्रय पर करारोपित करती हो जिन्हे ससद् ने राष्ट्र और समुदाय के जीवन के लिए आवश्यक घोषित कर दिया है।[3]

---

[1] अनुच्छेद ३१ (३)

[2] अनुच्छेद २५४ (२)।

[3] ,, २८६।

(२) कतिपय विधेयक राज्यो के विधानमण्डलो मे तभी पुरःस्थापित किए जा सकते हैं जब तदर्थ राष्ट्रपति की पूर्व अनुमति मिल जाय, उदाहरणार्थ ऐसे विधेयक जो राज्य के साथ या भीतर व्यापार, वाणिज्य और समागम की स्वतन्त्रता पर प्रतिबन्ध आरोपित करते हो।[1]

(३) ससद् को राज्य सूची मे प्रगणित किसी विषय पर भी विधि बनाने का अधिकार प्राप्त हो जाता है यदि राज्य सभा ने उपस्थित और मत देने वाले सदस्यो की दो-तिहाई से अन्यून सख्या द्वारा समर्थित सकल्प द्वारा घोषित किया है कि उक्त विषय पर ससद् द्वारा विधि निर्माण करना राष्ट्रीय हित में इष्टकर है।[2] किन्तु ऐसा सकल्प कुछ निश्चित अवधि तक ही प्रवृत्त रह सकता है।

(४) जब तक आपात की उद्घोषणा प्रवर्त्तन में रहती है, ससद् को अधिकार होगा कि वह राज्य सूची मे प्रगणित किसी भी विषय पर विधि बना सकती है।[3]

(५) किसी राज्य मे सवैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की अवस्था मे राष्ट्रपति उक्त राज्य के विधानमण्डल को निलम्बित कर सकता है तथा उस राज्य के विधानमण्डल की शक्तियाँ ससद् मे निहित कर सकता है।[4]

किसी ऐसे राज्य के विधानमण्डल के किसी भी सदन में अवित्तीय विधेयक पुरःस्थापित किया जा सकता है जिसमे विधान परिषद् हो। कोई विधेयक विधानमण्डल के दोनो सदनो द्वारा पारित तभी माना जायगा जब उस पर दोनो सदनो ने अनुमति प्रदान कर दी हो यद्यपि हर प्रकार विधान सभा की ही बात मानी जाती है। विधान परिषद् किसी भी विषय पर विधान सभा को मानने के लिए मजबूर नही कर सकती। विधान परिषद् केवल किसी अवित्तीय विधेयक को अधिक से अधिक चार मास की देर लगा सकती है। सक्षेप में राज्य की समस्त विधायिनी शक्ति विधान सभा मे केन्द्रित है, हाँ, जब विधानमण्डल सत्र मे नही होता उस समय राज्यपाल भी अध्यादेश जारी कर सकता है।

वित्तीय कृत्य (Financial Functions)—राज्य के वित्तो पर विधान सभा का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। धन विधेयक केवल विधान सभा मे ही पुरःस्थापित किये जा सकते हैं और धन विधेयको के सम्बन्ध में विधान सभा ही सब कुछ है। यदि किसी राज्य मे विधान परिषद् भी है, वहाँ परिषद् को धन विधेयक को अपनी सिफारिशो सहित या बिना सिफारिशो के प्राप्ति की तारीख से चौदह दिन के अन्दर वापिस कर देना जरूरी है। यदि परिषद् धन विधेयक को चौदह दिनो के अन्दर वापिस नही करती, या यदि उक्त विधेयक के सम्बन्ध में परिषद् की सिफारिशें विधान सभा को मान्य नही हैं तो भी वह विधेयक दोनो सदनो द्वारा उस रूप में पारित किया हुआ मान लिया जाता है जिस रूप में उसको विधान सभा ने स्वीकार किया था। वार्षिक वित्त विवरण या आयव्ययक राज्य के विधानमण्डल के एक सदन या यदि दो सदन हो तो दोनो सदनो के समक्ष रखा जाता है। राज्य की सचित निधि

---

[1] अनुच्छेद ३०४ (ख)।

[2] अनुच्छेद २४९ (१)।

[3] ,, २५० (१)।

[4] ,, ३५६ (ख)।

पर भारित व्यय से सम्बद्ध प्राक्कलनो को छोडकर अन्य सब व्यय-सम्बन्धी प्रस्तावो पर विधानमण्डल में मतदान नही हो सकता, यद्यपि उन पर विचार-विनिमय और चर्चा हो सकती है। तथा ऐसी सब प्राक्कलनें विधान सभा के समक्ष अनुदान माँग के रूप में रखी जाती हैं। अनुदानो सम्बन्धी माँगो के सम्बन्ध मे विधान सभा की ही चलती है और सभा किसी माँग को स्वीकार या अस्वीकार कर सकती है या किसी माँग की राशि में कमी कर सकती है यद्यपि सभा को भी यह अधिकार नही है कि वह अनुदान की माँग की राशि मे किसी प्रकार की वृद्धि कर सके। सविधान ने यह भी उपबन्ध किया है कि किसी राज्य में कोई कर विना विधान सभा की अनुमति के नही लगाया जा सकता।

प्रशासन के ऊपर नियन्त्रण (Control over Administration)—राज्यो मे ससदीय शासन-प्रणाली का यह अनिवार्य परिणाम है कि विधान सभा का प्रशासन के ऊपर पूर्ण नियन्त्रण हो। विवान सभा के बहुमत-दल मे से ही मन्त्रि-परिषद् का निर्माण किया जाता है और सामूहिक रूप से मन्त्रि-परिषद् विधान सभा के प्रति उत्तरदायी होती है। जब तक कोई व्यक्ति राज्य के विधानमण्डल के किसी सदन का सदस्य न हो तब तक वह राज्य का मन्त्री छ मास से अधिक लगातार नही रह सकता। मन्त्रियो के वेतन और भत्ते पर विधानमण्डल की स्वीकृति आवश्यक है।

सभा को अधिकार है कि प्रश्नो और पूरक प्रश्नो के द्वारा शासन से सार्वजनिक प्रशासन के सम्बन्ध में पूरी जानकारी प्राप्त कर सकती है। विधान सभा ऐसे सकल्प भी पारित कर सकती हैं जिनके द्वारा वह शासन से सार्वजनिक महत्त्व के किसी विषय पर कुछ करने की सिफारिश करे। यदि सभा को सरकार की नीति से सन्तोष नही है, तो वह अविश्वास का प्रस्ताव पास करके सरकार को हटा सकती है।

निर्वाचन सम्बन्धी कृत्य (Electoral Functions)—भारत गणराज्य के राष्ट्रपति को निर्वाचित करने के लिए राज्य की विधान सभा एक निर्वाचक मण्डल का रूप धारण कर लेती है।

विधान प्रक्रिया
(Legislative Procedure)

विधान प्रक्रिया (Legislative Procedure)—राज्यो के विधानमण्डलो के लिए विधान प्रक्रिया सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण नियम सविधान के अनुच्छेद १९६ से लगाकर २०१ तक दिए गए हैं। कम महत्त्व के और अधिक विस्तार के नियमो को, राज्यो के विधानमण्डलो के ऊपर ही छोड दिया गया है कि वे स्वय निर्धारित करें। सविधान ने जो नियम राज्यो के विधानमण्डलो की विधान प्रक्रिया के लिए निर्धारित किये हैं वे प्राय वही हैं जो सविधान के अनुच्छेद १०७ से लगाकर अनुच्छेद १११ तक ससद् की विधान प्रक्रिया के सम्बन्ध में निर्धारित किये गए हैं। राज्यो के विधानमण्डल भी ससद् की प्रक्रिया के नियमो का अनुसरण करते हैं।

अवित्तीय विधेयक (Legislative Bills)—प्रचलित विधान प्रक्रिया के अनुसार धन विधेयक या वित्तीय विधेयक (Money or Finance Bill) को छोड

स्थापित किया जा सकता है जिसमें विधान परिषद् हो । कोई विधेयक, विधान परिषद् वाले राज्य के विधानमण्डल के दोनो सदनो द्वारा तब तक पारित नही समझा जायगा जब तक कि या तो बिना संशोधनो के या केवल ऐसे संशोधनो के सहित, जो दोनों सदनो द्वारा स्वीकृत कर लिये गए हैं दोनो सदनो द्वारा वह स्वीकृत न कर लिया गया हो ।[1] किसी राज्य के विधानमण्डल में लम्बित विधेयक उसके सदन या सदनो के सत्रावसान के कारण व्यपगत नही हो सकता ।[2] किसी राज्य की विधान परिषद् में लम्बित विधेयक, जिसको विधान सभा ने पारित नही किया है, विधान सभा के विघटन पर व्यपगत नही होता ।[3] कोई विधेयक जो किसी राज्य की विधान सभा में लम्बित है, अथवा जो विधान सभा से पारित होकर विधान परिषद् में लम्बित है, वह विधान सभा के विघटन पर व्यपगत हो जाता है ।[4]

यदि किसी विधेयक के सम्बन्ध में विधान सभा और विधान परिषद् में मत-भेद हो, ऐसी स्थिति के लिए संविधान ने विधानमण्डल के दोनो सदनो की संयुक्त बैठक का उपबन्ध नही किया है जिस प्रकार कि संघीय विधानमण्डल[5] में ऐसे मतभेद उत्पन्न हो जाने पर लोक सभा और राज्य परिषद् की संयुक्त बैठक में उक्त मतभेद सुलझाने की व्यवस्था की गई है । यदि राज्य के विधानमण्डल के दोनो सदनो में किसी विधेयक के सम्बन्ध में मतभेद हो तो उसका केवल यही सीधा सा उपाय है कि उसे विधान सभा दुवारा पारित कर दे । संविधान ने उपबन्धित किया है कि यदि विधान-परिषद् वाले राज्य की विधान सभा ने किसी विधेयक को पारित कर दिया है और वह विधान परिषद् को पहुँचा दिया गया है; और यदि (क) परिषद् द्वारा उक्त विधेयक अस्वीकार कर दिया जाता है, अथवा (ख) परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तारीख से उससे विधेयक पारित हुए बिना तीन मास से अधिक समय व्यतीत हो जाता है, अथवा (ग) परिषद् द्वारा विधेयक ऐसे संशोधनो सहित पारित होता है जिनसे सभा सहमत नही होती तो विधान सभा विधेयक को ऐसे किन्ही संशोधनो सहित या बिना, जो विधान परिषद् ने सुझाए हैं या स्वीकार किए हैं, पुन पारित कर सकती है । यदि विधान सभा द्वारा विधेयक के इस प्रकार दोबारा पारित हो जाने तथा विधान परिषद् को दोबारा प्रेषित किए जाने के पश्चात्—(क) परिषद् द्वारा विधेयक अस्वीकार कर दिया जाता है, अथवा (ख) परिषद् के समक्ष विधेयक रखे जाने की तारीख से, उससे विधेयक पारित हुए बिना एक मास से अधिक समय व्यतीत हो जाता है, अथवा (ग) परिषद् द्वारा विधेयक ऐसे संशोधनो सहित पारित होता है जिन्हे विधान सभा स्वीकार नहीं करती, तो विधेयक राज्य के विधानमण्डल के दोनो सदनो द्वारा उस रूप में पारित समझा जाएगा जिसमें कि वह विधान सभा द्वारा दूसरी बार पारित किया गया था ।[6]

जब उपर्युक्त प्रक्रिया के अनुसार कोई विधेयक राज्य के विधानमण्डल द्वारा

---

1. अनुच्छेद १९६ (२) ।
2. अनुच्छेद १९६ (३) ।
3. अनुच्छेद १९६ (४) ।
4 अनुच्छेद १९६ (५) ।
5 अनुच्छेद १०८ ।
6 अनुच्छेद १९७ (१) और (२) ।

पारित हो चुकता है, तो वह राज्यपाल के पास उसकी अनुमति के लिए भेजा जाता है। राज्यपाल या तो विधेयक पर अनुमति देता है, या अनुमति रोक लेता है अथवा वह विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रक्षित कर लेता है। परन्तु राज्यपाल अनुमति के लिए अपने समक्ष विधेयक रखे जाने के पश्चात् यथाशीघ्र उस विधेयक को सदन या सदनो को ऐसे सदेश के साथ लौटा सकता है कि सदन या दोनो सदन सम्पूर्ण विधेयक पर या उसके किन्ही उपबन्धो पर पुनर्विचार करें और इस प्रकार पुनर्विचार के लिए लौटाए जाने के पश्चात् सदन यथा शीघ्र विधेयक पर पुनर्विचार करते हैं। तथा यदि विधेयक सदन या सदनो द्वारा सशोधन सहित या रहित पुन पारित हो जाता है तथा राज्यपाल के समक्ष अनुमति के लिए रखा जाता है तो राज्यपाल उस पर अनुमति नही रोक सकता।[1]

सार्वजनिक या अवित्तीय विधेयको को पारित करने की प्रक्रिया (Different stages in the Passage of a Legislative Bill)—धन विधेयको को छोडकर अन्य सार्वजनिक विधेयको को राज्य के विधानमण्डल में या दोनो सदनो में यदि उक्त राज्य में द्विसदनात्मक विधानमण्डल है, तीन स्तर या वाचन पार करने पडते हैं, तथा उसके बाद वह विधेयक राज्यपाल के पास उसकी अनुमति के लिए भेजा जाता है। ज्योही किसी विधेयक का नोटिस दिया जाता है और उसकी पुर स्थापना की प्रार्थना प्रस्ताव के रूप में सदन मे प्रस्तुत की जाती है, प्रथम वाचन प्रारम्भ हो जाता है। मन्त्री के अतिरिक्त कोई अन्य सदस्य जो विधेयक को पुर स्थापित करना चाहता है, सबसे पहिले विधेयक का नोटिस देता है। ऐसे प्रयोजन के लिए दिए गए नोटिस का समय १५ दिन होता है, तथा ऐसे नोटिस के साथ विधेयक की छ प्रतियाँ सलग्न करनी पडती हैं, और साथ ही उक्त विधेयक मे निहित सिद्धान्त और प्रयोजनो सम्बन्धी वक्तव्य भी साथ में नत्थी करना पडता है। यदि विधेयक की पुर स्थापना सम्बन्धी प्रस्ताव का विरोध किया जाता है, तो सदन का अध्यक्ष विधेयक के प्रस्तावक को उक्त विधेयक के सम्बन्ध मे कुछ कहने के लिए सदन के समक्ष आहूत करता है और उनके बाद उसी प्रकार पुर स्थापन का विरोध करने वाले सदस्य को भी बोलने का अवसर दिया जाता है और फिर उक्त विधेयक पर प्रश्न किए जाते हैं और उत्तर दिए जाते हैं और तब मतदान होता है। यदि पुर स्थापना सम्बन्धी प्रस्ताव पास हो जाता है तो सदन का सचिव विधेयक के शीर्षक को जोर से पढता है और तब यह मान लिया जाता है कि विधेयक पुर स्थापित हो गया। इसके बाद विधेयक गजट में प्रकाशित कराया जाता है। राज्यपाल को अधिकार है कि वह किसी ऐसे विधेयक को भी गजट में छपवाने की आज्ञा दे दे जिसकी पुर स्थापना की अनुमति सदन ने नही दी है। इस स्थिति में विधेयक की पुर स्थापना की अनुमति लेना आवश्यक नही होता, और यदि इसके बाद विधेयक पुर स्थापित किया जाता है, तो उसको पुन. गजट मे छपवाना आवश्यक नही है।

विधेयक की पुर स्थापना के पश्चात् या तो शीघ्र बाद या कुछ समय पश्चात्

---

[1] अनुच्छेद २००।

जिस सदस्य के नाम से विधेयक पुरःस्थापित किया गया है, वह निम्नलिखित मे से कोई एक प्रस्ताव सदन मे रखता है (१) कि विधेयक पर सभा या तो तुरन्त या किसी अन्य दिन जिसकी तारीख तुरन्त निर्धारित कर दी जाय विचार करे, अथवा (२) कि विधेयक प्रवर समिति में भेज दिया जाय, अथवा (३) कि उक्त विधेयक पर जनमत सग्रह कराने के लिए उसे प्रकाशित कराया जाय। इसी स्तर पर विधेयक के सिद्धान्तो के ऊपर वादविवाद होता है और उसके सामान्य उपबन्धो की परीक्षा होती है किन्तु विधेयक की सूक्ष्म परीक्षा नही होती। विधेयक के ऊपर केवल इतने विस्तार के साथ विचार होता है कि उसके सिद्धान्तो का विश्लेषण हो जाए। इस स्तर पर सशोधन उपस्थित नही किए जाते किन्तु यदि विधेयक के प्रस्तावक ने यह प्रस्ताव रखा हो कि विधेयक पर विचार किया जाए तो विधेयक को प्रवर समिति के विचारार्थ रखने या उसके ऊपर जनमत जानने के अभिप्राय से प्रकाशित कराने का प्रस्ताव किया जा सकता है।

प्रवर समिति मे प्राय दस से लेकर पन्द्रह तक सदस्य होते हैं। विधेयक से सम्बन्धित विभाग का मन्त्री, विधेयक-प्रस्तावक-सदस्य तथा प्रवर समिति के अन्य सदस्यो का नाम उस प्रस्ताव में रख दिया जाता है जिसके द्वारा प्रवर समिति की प्रस्थापना की जाती है। यदि विधेयक से सम्बन्धित विभाग का अध्यक्ष अर्थात् मन्त्री सभा का सदस्य है, तो सामान्यत उसी को प्रवर समिति का सभापति भी नियुक्त किया जाता है। किन्तु यदि द्विसदनात्मक विधानमण्डल है और मन्त्री दूसरे सदन का सदस्य है तो ऐसी स्थिति में प्रवर समिति स्वयं अपने एक सदस्य को अपना सभापति चुनती है। समिति विधेयक का सूक्ष्म परीक्षण करती है, उसके सभी उपबन्धो पर विचार करती है और विधेयक की एक-एक धारा पर विचार करती है। यदि समिति चाहे तो विधेयक के विषय के विशेषज्ञो की राय पूछ सकती है या ऐसे लोगो की गवाही ले सकती है जिनके हितो पर उक्त विधेयक के उपबन्धो का प्रभाव पड़ता हो। समिति चाहे तो विधेयक मे सशोधन भी किए जा सकते हैं। समिति की रिपोर्ट, सहित विमतो के भी, यदि कोई हो, प्रकाशित की जाती है और सदन के सदस्यों के पास पहुँचाई जाती है। इसके बाद समिति का सभापति उक्त रिपोर्ट या प्रतिवेदन को सदन के समक्ष प्रस्तुत करता है। प्रतिवेदन या रिपोर्ट प्रस्तुत करते समय समिति का सभापति यदि चाहे तो तथ्यों से सम्बन्धित छोटा सा वक्तव्य भी दे सकता है।

जब प्रवर समिति की विधेयक के सम्बन्ध में रिपोर्ट सदन के समक्ष पहुँच जाती है, उस समय विधेयक का प्रस्तावक निम्नलिखित मे से कोई प्रस्ताव कर सकता है (१) कि जिस रूप मे प्रवर समिति ने विधेयक की सिफारिश की है, उस पर विचार किया जाय, अथवा (२) विधेयक को पुनरार्पण (re-committment) के लिए (क) बिना किन्ही प्रतिबन्धो के, या (ख) केवल कुछ विशिष्ट धाराओ या सशोधनो के विषय मे ही, या (ग) प्रवर समिति को कुछ निश्चित आदेशों के साथ कुछ अन्य उपबन्ध जोड़ने के लिए भेजा जाय। किन्तु इसके विपरीत यदि विधेयक का प्रस्तावक सदस्य यह प्रस्ताव करे कि विधेयक पर विचार कर लिया जाय तो

कोई अन्य सदस्य भी प्रस्ताव कर सकता है और सशोधन रख सकता है कि विधेयक को पुनरूपार्पित किया जाय।

जब सदन उपर्युक्त प्रस्ताव को स्वीकार कर लेता है, तो विधेयक के ऊपर धारा प्रति धारा विचार किया जाता है। इस स्तर पर सशोधन प्रस्तुत किये जा सकते हैं और विधेयक पर सूक्ष्म विचार-विनिमय होता है और उसकी सूक्ष्म आलोचना भी होती है। इसी समय विधेयक के समर्थको और विरोधियो में वास्तविक टक्कर होती है। पहिले तो सशोधनो पर मतदान होता है और उसके बाद सशोधित धाराओ पर मतदान होता है। इसके बाद अन्तिम स्तर आ पहुँचता है जब कि यह प्रस्ताव किया जाता है कि विधेयक को पास किया जाय। इस स्तर पर केवल कुछ शब्दों के हेर-फेर के अलावा और किसी प्रकार के सशोधनो का प्रस्ताव नही किया जा सकता, न कोई वादविवाद हो सकता है। जब सदन विधेयक को पास कर चुकता है, उसे विधान परिषद् को, यदि उस राज्य मे विधान परिषद् है, भेज दिया जाता है। विधान परिषद् में वही सारी प्रक्रिया होती है जो विधान सभा में हुई थी।

जब अन्तिम रूप से विधेयक सदन या सदनो द्वारा पारित हो चुकता है, उस के बाद उसको राज्यपाल के पास उसकी अनुमति के लिए भेजा जाता है। राज्यपाल स्वय भी अनुमति दे सकता है या उस विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए रक्षित कर के रख सकता है। यदि राज्यपाल अथवा राष्ट्रपति उक्त विधेयक पर स्वीकृति दे देते हैं, तो वह गज़ट या राजपत्र में राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित अधिनियम के रूप मे प्रकाशित होता है।

धन विधेयकों को पारित करने की प्रक्रिया (Procedure in respect of Money Bills)—धन विधेयको की पुरस्थापना विधान सभा में ही होना आवश्यक है। यदि किसी राज्य के विधानमण्डल में विधान परिषद् है, तो भी धन विधेयक विधान-परिषद् में पुरस्थापित नहीं किया जा सकता। जब धन विधेयक विधान सभा पास कर चुकती है तो उस विधेयक को विधान परिषद् की सिफारिशो के लिए उसके पास भेजा जाता है। विधान परिषद् के लिए यह आवश्यक है कि वह विधेयक के प्राप्त होने के चौदह दिनो के भीतर ही उसे अपनी सिफारिशो सहित विधान सभा को वापिस कर दे। विधान सभा को अधिकार है कि वह परिषद् की सिफारिशो को स्वीकार करे या न करे। यदि विधान सभा, परिषद् की विधेयक के सम्बन्ध में की गई किसी सिफारिश को नही मानती तो भी वह धन विधेयक दोनों सदनो द्वारा उसी रूप में पास किया गया माना जाता है जिस रूप में उसको प्रारम्भ में विधान सभा ने पारित किया था। यदि विधान परिषद् चौदह दिन की निश्चित अवधि में विधेयक को न तो पारित करती है और न उसे अपनी सिफारिशो सहित वापिस भेजती है, तो भी उक्त धन विधेयक चौदह दिन के पश्चात् राज्यपाल की अनुमति प्राप्त होने पर, उसी रूप में अधिनियम का स्वरूप धारण कर लेता है जिस रूप में उसको प्रारम्भ में विधान सभा ने पास किया था।

वित्तीय विषयो में प्रक्रिया
(Financial Procedure)

वित्तीय विषयो में प्रक्रिया (Financial Procedure)—राज्यो के विधानमण्डलो मे वित्तीय विषयो में जो प्रक्रिया अपनायी जाती है उसके पीछे वही सिद्धान्त काम करते हैं जो संसद् की वित्तीय प्रक्रिया मे कार्य करते हैं और वे सिद्धान्त प्रतिनिधिक शासन-प्रणाली के और राज्य-वित्त-प्रबन्ध के सिद्धान्तो से सर्वथा मेल खाते हैं। प्रथमत वित्त-विधेयकों का पुरःस्थापन केवल शासन की ओर से ही हो सकता है। समस्त व्यय राशियाँ अनुदान माँगो के रूप में विधान सभा के सम्मुख रखी जाती हैं और राज्य के व्ययो की विभिन्न मदो के लिए विधान सभा ही धनराशियाँ नियत करती है। विधान सभा किसी अनुदान माँग को स्वीकार, अस्वीकार या घटा सकती है। सभा के अनुमोदन के बिना कोई कर नहीं लगाया जा सकता। इसके अतिरिक्त विधान सभा की स्वीकृति के बिना राज्य की सरकार कोई ऋण भी नही ले सकती। इस सम्बन्ध में अन्तिम बात यह है कि उस समय तक न तो राज्य की संचित निधि में से कुछ व्यय किया जा सकता है और न कोई कर लगाया जा सकता है जब तक कि तदर्थ वैधानिक या परिनियत आज्ञा न हो।

वार्षिक वित्त-विवरण (Annual Financial Statement)—प्रत्येक वित्तीय वर्ष के बारे में राज्य के विधानमण्डल के सदन अथवा सदनो के सामने, राज्यपाल (Governor) उस वर्ष के लिए अनुमानित प्राप्तियो और व्ययो का विवरण या आयव्ययक रखवाता है। वार्षिक वित्त-विवरण में या आयव्ययक में निम्न दो बातें अलग-अलग दिखलाई जाती हैं—(१) जो व्यय राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय के रूप मे वर्णित है उसके लिए आवश्यक रकमें तथा (२) संचित निधि से अन्य जो खर्चे किये जायेंगे, उनके लिए आवश्यक रकमें। वार्षिक वित्त-विवरण अथवा आयव्ययक मे यह भी स्पष्टतया दिखाना चाहिए कि कौन से व्यय राजस्वो पर भारित होंगे तथा कौन से संचित निधि पर भारित होंगे। निम्नलिखित व्यय प्रत्येक राज्य की संचित निधि पर भारित व्यय होता है[1]

(१) राज्यपाल की उपलब्धियाँ और भत्ते तथा उसके पद से सम्बद्ध अन्य व्यय,

(२) विधान सभा के अध्यक्ष तथा उपाध्यक्ष के, तथा जहाँ विधान परिषद् है, वहाँ विधान परिषद् के सभापति और उपसभापति के वेतन और भत्ते,

(३) ऋण भार और तत्सम्बन्धी अन्य खर्च,

(४) किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीशो के वेतनो और भत्तो सम्बन्धी खर्चे।

(५) किसी न्यायालय या मध्यस्थ न्यायाधिकरण के निर्णय, आज्ञप्ति (decree) या पंचाट (award) के भुगतान के लिए आवश्यक कोई राशियाँ,

(६) अन्य कोई खर्च जो भारतीय संविधान द्वारा या राज्य के विधानमण्डल के कानून द्वारा इस प्रकार भारित घोषित किया जाय।

---

[1] अनुच्छेद २०२ (३)।

आन्ध्र-तैलगाना और पजाब के पुनर्गठित राज्यो मे उनकी विधान सभाओ की प्रादेशिक समितियो की स्थापना कर सकेगा, और शासन के नियमो मे कुछ हेर-फेर करके और विधान सभा की कार्य-प्रणाली के नियमो में कुछ सशोधन करके वह उक्त दोनो राज्यो में प्रादेशिक ममितियो का सहयोग प्राप्त कर सकेगा।

पजाब राज्य के लिए प्रादेशिक समितियो की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए भारत के गृह मन्त्री प० गोविन्दवल्लभ पन्त ने ३ अप्रैल, १९५६ को लोक सभा में कहा था कि "पुनर्गठित द्विभाषा-भाषी पजाब राज्य को दो प्रदेशो में विभाजित किया जाएगा जिनमे एक पजाबी भाषा-भाषी प्रदेश होगा तथा दूसरा हिन्दी भाषा-भाषी प्रदेश होगा। प्रत्येक क्षेत्र या प्रदेश मे पजाब राज्य की विधान सभा की प्रादेशिक समितियाँ होगी। उक्त प्रादेशिक समितियो में अपने-अपने क्षेत्र या प्रदेश के पजाबी विधान सभा के सदस्य रहेगे और कुछ ऐसे मन्त्री भी उक्त समितियो के सदस्य होगे जो उस क्षेत्र या प्रदेश से राज्य की विधान सभा के लिए निर्वाचित हुए हो, किन्तु उक्त प्रादेशिक समितियो में से किसी मे राज्य का मुख्य मन्त्री सदस्य नही होगा। विशिष्ट विषयो पर विधान निर्माण करते समय, प्रादेशिक समितियो की मन्त्रणा माँगी जायगी। विशिष्ट विषयो के सम्बन्ध में प्रादेशिक समितियाँ अपनी ओर से भी राज्य की सरकार को सामान्य नीति के सम्बन्ध में अथवा विधान-निर्माण के सम्बन्ध में ऐसे सुझाव दे सकती हैं जिनमे विशेष वित्तीय दायित्व निहित न हो। सामान्यत प्रादेशिक समितियाँ जो परामर्श सरकार को देंगी, उसको मानना शासन के लिए भी और राज्य के विधानमण्डल के लिए भी आवश्यक होगा। यदि मतभेद हो तो राज्य का राज्यपाल निर्णय करेगा और मतभेद के सम्बन्ध मे राज्यपाल का निर्णय अन्तिम होगा और सभी के ऊपर बाध्य होगा।

जिन विशिष्ट विषयो पर राज्यो की प्रादेशिक समितियाँ कार्रवाई करेंगी, उनमें से कुछ निम्नलिखित हैं ·

(१) राज्य का विधानमण्डल समस्त राज्य के लिए जिन विकास योजनाओ को निश्चित करेगा और जिन योजनाओ के सम्बन्ध में नीति निर्माण करेगा, उन्ही विकास योजनाओ और नीतियो की क्रियान्विति के अन्तर्गत प्रादेशिक समितियाँ अपने-अपने पदेशो के लिए विकास योजनाएँ और आर्थिक योजनाएँ तैयार करेंगी।

(२) प्रादेशिक समितियाँ स्थानीय स्वशासन का कार्य करेंगी अर्थात् नगर प्रशासन सम्बन्धी निगमो, सुधारमण्डलो, जिला बोर्डों और अन्य अधिकारियो के स्थानीय स्वशासन या गाँव प्रशासन या ग्राम पचायतो के सम्बन्ध में उनको मन्त्रणा देंगी और उनका मार्ग-दर्शन करेंगी।

(३) प्रादेशिक समितियाँ सार्वजनिक स्वास्थ्य, आरोग्य और सफाई, छोटे अस्पतालो और दवाखानो की भी देख-भाल करेंगी।

(४) वे प्रारम्भिक और उच्चतर माध्यमिक शिक्षा का सचालन भी करेंगी।

(५) कृषि-विकास भी उन्हे सौंपा गया है।

(६) कुटीर उद्योगो को वे प्रोत्साहन देंगी।

(७) पशुओ की नस्लो का परिरक्षण, सरक्षण और सुधार करेंगी तथा

पशुओ को छूत की बीमारियो से बचाने के प्रयत्न करेंगी एव पशु-चिकित्सा का प्रशिक्षण देंगी तथा ऐसे पशु-चिकित्सालयो को खुलवायेंगी ।

(८) पशुओ को बन्द करने के बाडो अथवा कान्जीहाउसो की व्यवस्था करेगी ताकि इस प्रकार जानवर खेतो का या घरो का नुकसान न कर सकें ।

(९) जगली जानवरो और चिडियो का सरक्षण करेंगी ।

(१०) मत्स्य पालन को प्रोत्साहन देगी ।

(११) सरायो या धर्मशालाओ की व्यवस्था करेंगी और उनके रखवालो का प्रबन्ध करेंगी ।

(१२) बाजारो, हाटो और मेलो को प्रोत्साहन देंगी तथा उनकी व्यवस्था करेंगी ।

(१३) सहकारी समितियो या सभाओ की स्थापना करेंगी और उन्हे प्रोत्साहन देंगी ।

(१४) दान और दानशील अथवा परोपकारी सस्थाओ, दानशील अथवा परोपकारार्थ नीवि और अन्य धार्मिक सस्थाओ का प्रबन्ध करेंगी ।

प्रादेशिक समितियाँ विधान निर्माणकारी निकाय नही हैं और उनको किसी विषय पर भी पूर्ण अधिकार प्राप्त नही हैं । प्रादेशिक समितियो की योजना की रूप-रेखा के प्रथम अनुच्छेद मे ही यह तथ्य स्पष्ट कर दिया गया है, जो इस प्रकार है : "सारे पुनर्गठित पजाब राज्य के लिए केवल एक विधानमण्डल होगा और वही सारे राज्य के लिए विधियाँ निर्माण कर सकेगा ।" प्रादेशिक समितियो को दो कर्त्तव्य सौंपे गए हैं (१) प्रादेशिक समितियाँ राज्य के विधानमण्डल को विशेष विषयो पर विधि निर्माण के सम्बन्ध में मन्त्रणा और परामर्श दे सकती हैं, और (२) विशिष्ट विषयो के सम्बन्ध मे स्वय प्रादेशिक समितियाँ भी राज्य की सरकार के पास अपने प्रस्ताव भेज सकती हैं और विधान निर्माण के विषय में अपनी ओर से प्रस्ताव भेज सकती हैं । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि प्रादेशिक समितियाँ केवल परामर्श देने वाले निकाय मात्र हैं, यद्यपि अपने अधिकार-क्षेत्र में सामान्यतया जो परामर्श प्रादेशिक समितियाँ देंगी उसको राज्य की सरकार और राज्य के विधानमण्डल द्वारा माना जायगा । यदि किसी प्रस्ताव या परामर्श के सम्बन्ध मे मतभेद होगा, तो राज्यपाल निर्णय करेगा और उनका निर्णय सभी पर मान्य और बाध्य होगा । माना यह जाता है कि राज्यपाल एक तटस्थ व्यक्ति है, तो फिर राज्यपाल ने ऐसे विवादो में पचायत कराना उचित नही है जो किसी समय राजनीतिक स्वरूप धारण कर सकते है, फिर भी उक्त उपबन्ध से यह निश्चित हो जाता है कि प्रादेशिक समितियाँ केवल परामर्श और मन्त्रणा देने वाले निकाय हैं ।

अध्याय ११

राज्य की न्यायपालिका

(The State Judiciary)

उच्च न्यायालय (The High Court)—उच्च न्यायालय राज्य का उच्चतम न्यायालय है और वह राज्य के न्यायिक उत्तरोत्तर क्रम में शीर्ष-स्थानीय न्यायिक निकाय है। प्रत्येक उच्च न्यायालय अभिलेख का न्यायालय (A Court of Record) भी है, अतः ऐसे न्यायालय को अपने अवमान (Contempt) के लिए दण्ड देने का अधिकार होता है। अभिलेख न्यायालय की दो विशेषताएँ होती हैं, अर्थात् ऐसे न्यायालय के अभिलेख साक्षिक-अर्हा पूर्ण (of evidentiary value) होते हैं और यदि ऐसे किसी न्यायालय के किसी अभिलेख को किसी अन्य न्यायालय में प्रस्तुत किया जाता है तो उसको मान्यता प्रदान की जाती है और दूसरी विशेषता यह है कि अभिलेख न्यायालय अपने अवमान के लिए किसी को दण्डित कर सकता है। मूलतः संविधान ने भाग (क) और भाग (ख) के राज्यों के लिए एक-एक उच्च न्यायालय की व्यवस्था की थी। संसद् को यह शक्ति भी दे दी गयी थी कि वह भाग (ग) के राज्य में एक उच्च न्यायालय की स्थापना कर दे या उसके किसी न्यायालय को उच्च न्यायालय की कुछ शक्तियाँ दे दे या पड़ोस के किसी भाग (क) या भाग (ख) के राज्यों के उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार को उस तक विस्तृत कर दे। इस व्यवस्था के अनुसार भारत में कुल अठारह उच्च न्यायालय थे और सात न्यायिक आयुक्तों के न्यायालय थे। ये अठारह उच्च न्यायालय भाग (क) और भाग (ख) राज्यों में से प्रत्येक के लिए थे। ये सात न्यायिक आयुक्तों के न्यायालय कुर्ग और दिल्ली को छोड़कर भाग (ग) के राज्यों में से प्रत्येक के लिए थे। राज्यों के पुनर्गठन के फलस्वरूप, राज्यों के उच्च न्यायालयों की संख्या कम हो गई है। अब भारत में कुल चौदह उच्च न्यायालय और तीन न्यायिक आयुक्तों के न्यायालय हैं।

प्रत्येक उच्च न्यायालय में एक मुख्य न्यायाधिपति तथा कुछ न्यायाधीश होते हैं। उनकी नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा होती है और उनकी अधिकतम संख्या राष्ट्रपति समय-समय पर निर्धारित करता है। प्रारम्भ में संविधान के अनुच्छेद २१६ के परन्तुक (proviso) ने उपबन्धित किया था कि राष्ट्रपति उच्च न्यायालय के लिए समय समय पर जितने न्यायाधीशों की आवश्यकता समझे उतने नियुक्त कर सकता है और समय-समय पर न्यायालय के लिए अधिकतम न्यायाधीशों की संख्या भी वही निर्धारित करेगा। किन्तु नवम संशोधन अधिनियम ने अनुच्छेद २१६ के उक्त परन्तुक को समाप्त कर दिया है क्योंकि अब उसका कोई व्यावहारिक महत्त्व नहीं रह गया है।

उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति तथा उसके पद की शर्तें (Appointment and Conditions of the Office of a Judge of a High Court)—प्रत्येक राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति मे राष्ट्रपति भारत के प्रधान न्यायाधिपति तथा उस राज्य के राज्यपाल या राजप्रमुख की सलाह लेता है और प्रमुख न्यायाधीश को छोडकर अन्य न्यायाधीशो की नियुक्ति के सम्बन्ध में वह उस राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की भी सलाह लेता है। मुख्य न्यायाधीश और अन्य न्यायाधीशो की नियुक्ति राष्ट्रपति स्वय अपने हस्ताक्षर और मुद्रा-सहित अधिपत्र द्वारा करता है। किसी उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के रूप में नियुक्ति के लिए कोई व्यक्ति तब तक अर्ह न होगा जब तक कि वह भारत का नागरिक न हो, तथा (क) भारत राज्य-क्षेत्र मे कम से कम दस वर्ष तक न्यायिक पद धारण न कर चुका हो, अथवा (ख) किसी राज्य के उच्च न्यायालय का लगातार कम से कम दस वर्ष तक अधिवक्ता न रह चुका हो। सविधान ने ऐसे वकीलो को उच्च न्यायालय के न्यायाधीश पद के लिए अर्ह नही माना है जो वकालत न करते हो। किन्तु कोई व्यक्ति, उच्चतम न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त हो सकता है, यदि राष्ट्रपति के विचार से वह व्यक्ति प्रसिद्ध विधिवेत्ता (distinguished jurist) हो। न्यायाधीशो की अपने पद से अवकाश ग्रहण करने की आयु ६० वर्ष की निर्धारित की गई है। उच्च न्यायालय का कोई न्यायाधीश उसी प्रकार अपना पद त्याग सकता है अथवा उसी प्रकार अपने पद से हटाया जा सकता है जिस प्रकार कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश को हटाया जा सकता है। इस प्रकार उच्च न्यायालय के न्यायाधीश अपने पदो पर उतने ही सुरक्षित हैं जितने कि उच्चतम न्यायालय के न्यायाधीश अपने पदो पर सुरक्षित हैं अर्थात् उनको तभी पदच्युत किया जा सकता है जब ससद् का प्रत्येक सदन एक ही अधिवेशन मे अयोग्यता या दुर्व्यवहार का आरोप प्रमाणित करके राष्ट्रपति से उसे पदच्युत करने की माँग करे। तभी राष्ट्रपति के आदेश द्वारा उसे पदच्युत किया जा सकता है। उस माँग या प्रस्ताव को सदन के कुल सदस्यो की सख्या का बहुमत तथा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो की दो-तिहाई सख्या का समर्थन प्राप्त होना चाहिए।

प्रारम्भ मे सविधान ने उपबन्धित किया था[1] कि सविधान प्रारम्भ होने के बाद जो व्यक्ति उच्च न्यायालय के न्यायाधीश के पद पर रह चुका है, वह फिर भारत क्षेत्र के किसी न्यायालय मे अथवा अन्य किसी अधिकारी के सामने वकालत या कार्य नही कर सकता। किन्तु सविधान नवम सशोधन अधिनियम ने उच्च न्यायालयो के अवकाश-प्राप्त न्यायाधीशो के ऊपर अनुच्छेद २२० मे वर्णित प्रतिबन्ध में कुछ सशोधन कर दिया है। उक्त अनुच्छेद २२० के सशोधित स्वरूप ने उच्च न्यायालयो के अवकाश-प्राप्त न्यायाधीशो को आज्ञा दे दी है कि वे उच्चतम न्यायालय में वकालत कर सकते हैं अथवा किसी ऐसे उच्च न्यायालय में भी वकालत कर सकते हैं जिसके वे स्वय स्थायी न्यायाधीश न रह चुके हो।

---

[1] अनुच्छेद २२०।

न्यायाधीशों के वेतन इत्यादि (Salaries etc of the Judges)—संविधान नवम संशोधन अधिनियम ने केरल, मैसूर और राजस्थान के उच्च न्यायालयों के मुख्य न्यायाधीशों का वेतन अन्य राज्यों के मुख्य न्यायाधीशों के वेतन की अपेक्षा कम उपबन्धित किया है। उपर्युक्त तीन राज्यों को छोड़कर शेष राज्यों के मुख्य न्यायाधीशों का वेतन ४०००) रु० है तथा अन्य न्यायाधीशों का वेतन ३५००) रु० है। उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के वेतनों में कमी नहीं हो सकती और इस सम्बन्ध में न तो संसद् को और न राज्य के विधानमण्डल को कोई अधिकार प्राप्त है। वित्तीय आपात की उद्घोषणा के प्रवर्तन-काल में राष्ट्रपति को अधिकार है कि वह न्यायाधीशों के भी वेतन आदि में कमी कर सकता है।[1] न्यायाधीशों को ऐसे भत्तों, अनुपस्थिति-छुट्टी और निवृत्ति-वेतन के बारे में ऐसे अधिकार होंगे जैसे कि संसद् निर्मित विधि के द्वारा निर्धारित किये जाएँ। परन्तु किसी न्यायाधीश के, न तो भत्ते और न उसकी अनुपस्थिति-छुट्टी या निवृत्ति-वेतन-विषयक, उसके अधिकारों में उसकी नियुक्ति के पश्चात् कोई अलाभकारी परिवर्त्तन नहीं किया जा सकता है।[2] उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन आदि राज्य की संचित निधि पर भारित हैं अतः उन पर मतदान नहीं हो सकता। किन्तु उनके निवृत्ति-वेतन (pensions etc) भारत की संचित निधि पर भारित व्यय हैं।[3]

एक उच्च न्यायालय से दूसरे को किसी न्यायाधीश का स्थानान्तरण (Transfer of Judges from one High Court to another)—राष्ट्रपति भारत के मुख्य न्यायाधिपति से परामर्श करके भारत राज्य-क्षेत्र में के एक उच्च न्यायालय में से दूसरे उच्च न्यायालय को किसी न्यायाधीश का स्थानान्तरण कर सकता है। संविधान के अनुच्छेद २२२ के उपबन्धों के अनुसार इस प्रकार स्थानान्तरित न्यायाधीशों को प्रतिकारात्मक भत्तों का हक है। किन्तु ऐसा समझा जा रहा है कि उक्त उपबन्ध अनुचित है, इसलिए संविधान नवम संशोधन अधिनियम के द्वारा अनुच्छेद २२२ में उस सीमा तक संशोधन कर दिया गया है।

अस्थायी न्यायाधीशों की नियुक्ति (Appointment of Temporary Judges)—प्रारम्भ में संविधान के अनुच्छेद २२४ ने किसी राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश को अधिकार दिया था कि वह किसी भी समय राष्ट्रपति की पूर्व सम्मति से, किसी व्यक्ति से, जो उस न्यायालय के या किसी अन्य उच्च न्यायालय के न्यायाधीश का पद धारण कर चुका है उस राज्य के न्यायालय में न्यायाधीश के रूप में बैठने और कार्य करने की प्रार्थना कर सकेगा। किन्तु उक्त उपबन्ध को उचित नहीं समझा गया, इसलिए संविधान नवम संशोधन अधिनियम ने आदेश किया है कि अवशिष्ट कार्य को निपटाने के लिए राष्ट्रपति अस्थायी न्यायाधीश दो वर्ष से अनधिक काल के लिए नियुक्त कर सकता है। यदि कोई स्थायी न्यायाधीश अपने

---

[1] अनुच्छेद ३६० (४)।

[2] अनुच्छेद २२१ (२) तथा अनुच्छेद २[illegible]८ (१३)।

[3] अनुच्छेद ११२ (३) (घ) (३)।

पद से गैरहाजिर है अथवा यदि वह मुख्य न्यायाधीश के स्थान पर कार्य कर रहा है, तो राष्ट्रपति किसी न्यायाधीश पद की अर्हताएँ रखने वाले व्यक्ति को अस्थायी तौर पर न्यायाधीश पद पर नियुक्त कर सकता है।

उच्च न्यायालयों का क्षेत्राधिकार (Jurisdiction of the High Courts)—उच्च न्यायालयों के क्षेत्राधिकार के विस्तार के सम्बन्ध में अनुच्छेद २३०, २३१ और २३२ का इस प्रकार संशोधन कर दिया गया है कि दो या दो से अधिक राज्यों के लिए एक या एक से अधिक सम्मिलित उच्च न्यायालय स्थापित किए जा सकें और जिसके फलस्वरूप किसी उच्च न्यायालय का क्षेत्राधिकार किसी संघ-राज्य-क्षेत्र तक विस्तृत हो सके अथवा जिसके फलस्वरूप उससे ऐसा कोई अधिकार-क्षेत्र छीना जा सके।

व्यवहार-विधि और दण्ड-विधि दोनों प्रकार की अपीलों के लिए उच्च न्यायालय राज्यों के सर्वोच्च अपीलीय न्यायालय हैं। उच्च न्यायालय को मौलिक अधिकार-क्षेत्र तो केवल नौवैधिक मामलों (Admiralty cases), सप्रमाण मामलों (Probate cases), वैवाहिक विवादों (Matrimonial cases), और न्यायालय-अवमान सम्बन्धी मामलों (Contempt of court cases) में ही प्राप्त है। किन्तु पहिले की ही तरह अब भी कलकत्ता, मद्रास और बम्बई के उच्च न्यायालयों को दोनों प्रकार का अर्थात् अपीलीय और मौलिक अधिकार-क्षेत्र प्राप्त है। व्यवहार-विधि से सम्बन्धित मौलिक मामलों में उक्त न्यायालयों का अधिकार-क्षेत्र ऐसे मामलों तक सीमित है जिनमें विवादग्रस्त राशि २०००) रु० से अधिक है। दण्ड-विधि से सम्बन्धित मौलिक मामलों में उनका क्षेत्राधिकार ऐसे मामलों तक है जो महाप्रान्त-दण्डाधिकारी से भेजे गए हैं। उनका अपीलीय अधिकार-क्षेत्र उन सारी व्यवहार-विधि और दण्ड-विधि सम्बन्धी मुकदमों की अपीलों तक विस्तृत है जो निम्नतर न्यायालयों से आते हैं अथवा जो उन्हीं के यहाँ प्रारम्भ हुए हों। कुछ तो ऐतिहासिक कारणों से और कुछ १९३५ के भारत सरकार अधिनियम के विशिष्ट उपबन्धों के कारण, भारत में किसी उच्च न्यायालय को राजस्व के सम्बन्ध में कोई मौलिक क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं था।[1] किन्तु अनुच्छेद २२५ के परन्तुक ने अब उस निर्बन्धन को समाप्त कर दिया है।

उच्च न्यायालय के क्षेत्राधिकार पर तथा उन विधियों पर जिन पर उच्च न्यायालय निर्णय देते हैं, संसद् तथा राज्य के विधानमण्डल प्रभाव डाल सकते हैं। संसद् का अपवर्जी अधिकार है कि वह न्यायालयों के क्षेत्राधिकार, शक्तियों और अधिकारों को प्रभावित करने वाले ऐसे विषयों पर विधियाँ पारित कर सकती है जिन पर उसको विधि बनाने का अधिकार है। संसद् उन विषयों पर भी विधि निर्माण कर सकती है जो समवर्ती सूची में प्रगणित हैं। इसी प्रकार राज्य के विधानमण्डल को भी अधिकार है कि वह राज्य सूची और समवर्ती सूची में प्रगणित उन सभी विषयों पर विधियाँ निर्मित करे जिनसे राज्य में कार्य करने वाले न्यायालयों के अधिकार-क्षेत्र, शक्तियाँ और अधिकारों पर प्रभाव पड़ता हो। किन्तु समवर्ती सूची में प्रगणित

---

[1] Section 226

विषयो पर बनी हुई ससद् द्वारा पारित विधि, राज्य विधानमण्डल द्वारा पारित विधि को विरोध की दशा में प्रभावहीन कर देती है।

कुछ लेखो को निकालने के लिए उच्च न्यायालयों की शक्ति (Power of the High Courts to issue Certain Writs)—इस सविधान के प्रारम्भ होने के पूर्व १९५० तक केवल कलकत्ता, मद्रास और बम्बई के उच्च न्यायालयो को अधिकार था कि वे अपने सीमित क्षेत्राधिकार में कुछ आदेश या लेख निकाल सकें। किन्तु सविधान के अनुच्छेद २२६ ने सभी उच्च न्यायालयो को अधिकार प्रदान किया है कि वे मौलिक अधिकारो के प्रवर्त्तन के लिए तथा अन्य प्रयोजनो के लिए अपने अधिकार-क्षेत्र-सम्बन्धी सारे राज्य-क्षेत्र में किसी व्यक्ति या प्राधिकारी के प्रति समुचित निदेश, आदेश या लेख निकाल सकते हैं। इस प्रकार यह ध्यान देने योग्य है कि जहाँ उच्चतम न्यायालय को मौलिक अधिकारो के रक्षण और प्रवर्त्तन के लिए आदेश और लेख जारी करने का अधिकार सविधान ने प्रदान किया है[1] वहाँ भारत के प्रत्येक उच्च न्यायालय को भी अधिकार दे दिया गया है कि उन्हें भी किसी व्यक्ति या प्राधिकारी के प्रति अथवा शासन के प्रति अपने अधिकार-क्षेत्र-सम्बन्धी राज्य-क्षेत्र मे ऐसे आदेश, निदेश या लेख जिनके अन्तर्गत वन्दी प्रत्यक्षीकरण, परमादेश, प्रतिषेध, अधिकार-पृच्छा और उत्प्रेषण के प्रकार के लेख भी हैं, अथवा उनमें से किसी को निकालने की शक्ति है।

यद्यपि मौलिक अधिकारो के प्रवर्त्तन के लिए उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयो को समवर्त्ती क्षेत्राधिकार प्रदान किया गया है, फिर भी सविधान ने मौलिक अधिकारो के सरक्षण और प्रवर्त्तन की जिम्मेदारी उच्च न्यायालयो पर उसी रूप में नही सौंपी है जिस रूप मे कि उच्चतम न्यायालय को सौंपी गई है। सविधान ने अनुच्छेद ३२ के अन्तर्गत उच्चतम न्यायालय को मौलिक अधिकारो का प्रत्याभू (guarantor) और सरक्षक स्वीकार किया है, किन्तु जहाँ तक उच्च न्यायालयो का सम्बन्ध है, उनके क्षेत्राधिकार का यह एक भाग है कि वे मौलिक अधिकारो के प्रवर्त्तन की दिशा में कार्य करें। न्यायमूर्त्ति श्री पातञ्जलि शास्त्री ने रमेश थापड़ वनाम मद्रास राज्य के मामले में निर्णय देते हुए इस सम्बन्ध मे उच्चतम न्यायालय की विशिष्ट स्थिति की ओर ध्यान दिलाते हुए कहा था "वह अनुच्छेद[2] इस न्यायालय को सविधान के भाग ३ में दिए गए अधिकारो के सरक्षण के लिए अथवा अन्य किसी वात पर आदेश देने का अधिकार केवल उसके कार्य-क्षेत्र के अश के रूप में नहीं देता जैसा कि अनुच्छेद २२६ उच्चतम न्यायालयो का प्रदान करता है। यदि ऐसा होता तो यह अनुच्छेद (अनु० ३२), अनुच्छेदो १३१ और १३९ के बीच मे कही रखा जाता, जो कि कार्यक्षेत्र की व्याख्या करते हैं। अनुच्छेद ३२ उन अधिकारो की रक्षा की गारटी देता है। इसके द्वारा उपचार की एक प्रकार की सनद प्राप्त हो जाती है। और भाग ३ मे शामिल करके, इस गारटी को स्वय एक मूल अधिकार

---

[1] अनुच्छेद ३२।

[2] अनुच्छेद ३२।

बना दिया गया है। इस प्रकार यह न्यायालय मूल अधिकारों का संरक्षक और अभिभावक बन गया है। और इस जिम्मेदारी को पूरा करने के लिए उच्चतम न्यायालय ऐसी किसी प्रार्थना की उपेक्षा नहीं कर सकता है, जिसमें यह दुहाई दी गई हो कि मूल अधिकारों का अतिक्रमण किया गया है और उनकी रक्षा होनी चाहिए।"

सब न्यायालयों के अधीक्षण की उच्च न्यायालय की शक्ति (Power of Superintendence)—प्रत्येक उच्च न्यायालय उन राज्य-क्षेत्रों में सर्वत्र सैनिक न्यायाधिकरणों को छोड़ते हुए उन सब न्यायालयों और न्यायाधिकरणों का अधीक्षण कर सकता है जिनके सम्बन्ध में उसे क्षेत्राधिकार प्राप्त है। उच्च न्यायालय ऐसे न्यायालयों या न्यायाधिकरणों से विवरणी (returns) मँगा सकता है, उनकी कार्य-प्रणाली और कार्रवाइयों के विनियमन के हेतु साधारण नियम बना और निकाल सकता है तथा प्रपत्रों को विहित कर सकता है।[1] इस प्रकार संविधान ने उच्च न्यायालयों को अपने-अपने प्रादेशिक क्षेत्राधिकार में ऐसे विशेष अधिकार और उत्तरदायित्व प्रदान किए हैं, जिनके कारण वह सैनिक न्यायालयों के अतिरिक्त अन्य सभी न्यायालयों और न्यायाधिकरणों से उच्चतर स्थिति का उपभोग करते हैं, और उनका अधीक्षण करते हैं ताकि राज्य के अन्य सभी अधीनस्थ न्यायालय और न्यायाधिकरण ठीक ढंग से विध्यनुकूल अपने कार्य करते चलें। उच्च न्यायालयों को निम्नतर न्यायालयों के ऊपर अधीक्षण सम्बन्धी जो अधिकार प्रदान किए गए हैं, वे न्यायिक भी हैं और प्रशासनिक भी। उच्च न्यायालयों के अधीक्षण सम्बन्धी अधिकारों पर संविधान ने कोई प्रतिबन्ध आरोपित नहीं किए हैं। इस तथ्य पर न्यायमूर्ति श्री नसीर उल्ला बेग ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय में जोधे बनाम राज्य के विवाद पर निर्णय देते समय स्पष्ट रूप में प्रकाश डाला था "यदि मैं इस धारा पर विचारपूर्वक गौर करता हूँ, तो इसका यही निर्वचन कर पाता हूँ कि उच्च न्यायालय का निम्न न्यायालयों के ऊपर अधीक्षण केवल प्रशासनिक विषयों तक ही सीमित नहीं है। इस धारा में उच्च न्यायालय के अधीक्षण सम्बन्धी अधिकारों पर कोई प्रतिबन्ध नहीं हैं, और सम्भवतः इस धारा का उद्देश्य ही यह है कि उच्च न्यायालय को अपने क्षेत्राधिकार की प्रादेशिक सीमाओं में ऐसे पूर्ण अधिकारों से सज्जित कर दिया जाय जिनके आधार पर वह अपने निम्नतर न्यायालयों का अधीक्षण करता रहे और देखता रहे कि वे सब न्यायपूर्वक न्यायदान कर रहे हैं।"

विशेष मामलों का उच्च न्यायालय को हस्तान्तरण (Transfer of Certain Cases to High Court)—यदि उच्च न्यायालय का समाधान हो जाय कि उसके अधीन न्यायालय में लम्बित किसी मामले में इस संविधान के निर्वचन का कोई सारवान विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है जिसका निर्धारित होना मामले को निबटाने के लिए आवश्यक है तो वह उस मामले को अपने पास मँगा सकता है, तथा उस समय या तो मामले को स्वयं निबटा सकता है, या उक्त विधि-प्रश्न का निर्धारण कर सकता है, तथा ऐसे प्रश्न पर अपने निर्णय की प्रतिलिपि सहित उस मामले को उसी न्यायालय को,

---

[1] अनुच्छेद २२७।

जिससे मामला इस प्रकार मँगा लिया गया है लौटा सकता है। इसके बाद निम्न न्यायालय उच्च न्यायालय के निर्णय का अनुसरण करते हुए उस मामले को निबटाने के लिए आगे कार्रवाई करेगा।[1] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सविधान ने निम्न न्यायालयो को सविधान के निर्वचन का अधिकार नही दिया है, और ऐसा केवल इसीलिए किया गया है ताकि सवैधानिक मामलो के निर्णयो में अधिक से अधिक एकरूपता बनी रहे। इस प्रकार निम्न न्यायालयो का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वे ऐसे किसी मामले पर उच्च न्यायालय की सम्मति प्राप्त कर लें जिसमें कोई सारवान विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त है और जिसके निर्णय करने के लिए सविधान का निर्वचन आवश्यक है और जो मामला बिना सवैधानिक निर्वचन के निर्णय नही किया जा सकता। यदि पीडित पक्ष भी उच्च न्यायालय को प्रार्थना करे कि उसका मामला निम्न न्यायालय से उठाकर स्वय उच्च न्यायालय निर्णय करे तो भी उच्च न्यायालय किसी ऐसे मामले को अपने पास मँगा सकता है।

अधरिक या अधीन न्यायालय

(Subordinate Courts)

अधरिक या अधीन न्यायालयों की व्यवस्था (The System of Courts)—उच्च न्यायालयो के अधीन या अधरिक न्यायालयो की वही शक्तियाँ और वही अधिकार हैं जो इस सविधान के प्रवर्त्तन में आने से पूर्व थे।[2] निम्न या अधीन न्यायालयो के क्षेत्राधिकारो और शक्तियो का वर्णन विभिन्न केन्द्रीय और प्रान्तीय सविधियो में मिलता है। किन्तु उच्च न्यायालय के अधीन न्यायालयो का गठन एव सगठन, और उनका प्रादेशिक क्षेत्राधिकार पूरी तरह राज्य के अधिकार-क्षेत्र के विषय हैं।[3] तदनुसार किसी राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित किसी अधिनियम के द्वारा आधुनिक अधीन या निम्न न्यायालयो के प्रादेशिक क्षेत्राधिकार में या न्यायालयो में (उच्चतम न्यायालय को छोडकर) ली जाने वाली फीसो में परिवर्त्तन किया जा सकता है। तथा ऐसी विधि के द्वारा वर्त्तमान न्यायालय व्यवस्था में भी परिवर्त्तन किया जा सकता है।

दण्ड-न्यायालय (Criminal Courts)—प्रत्येक राज्य के प्रत्येक ज़िले में दण्ड-न्यायालय भी हैं और व्यवहार-न्यायालय भी हैं। दण्ड न्यायालयो की कार्यप्रणाली के सम्बन्ध में सारे भारत में एकरूपता है क्योकि दण्ड-प्रक्रिया-सहिता सारे भारत के न्यायालयो पर समान रूप से लागू है। प्रत्येक ज़िले की न्यायालय-व्यवस्था के उत्तरोत्तर क्रम में एक सत्र न्यायालय है जिसका अध्यक्ष सत्र न्यायाधीश होता है। किसी सत्र न्यायालय का न्यायाधीश या तो सप्तजनी (jury) के साथ या अभिनिर्धारको (assessors) के साथ निर्णय करने बैठता है, किन्तु अभिनिर्धारको का निर्णय न्यायालय को मानना आवश्यक नही है। तथा सत्र न्यायालय का न्यायाधीश कुछ भी वैधिक निर्णय देने मे सक्षम है, किन्तु यदि वह मृत्यु-दण्ड देगा तो उसकी

---

[1] अनुच्छेद २२८।

[2] अनुच्छेद ३७२।

[3] सप्तम अनुसूची, राज्य सूची, पद ३।

पुष्टि उच्च न्यायालय द्वारा होनी आवश्यक है। सत्र न्यायालयों के अधीन प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय श्रेणी के या वर्ग के दण्डाधिकारियों (magistrates) के न्यायालय होते हैं। प्रत्येक वर्ग के दण्डाधिकारी का क्षेत्राधिकार विशिष्ट प्रकार के अपराधों तक सीमित होता है, और प्रथम वर्ग का दण्डाधिकारी दो वर्षों से अनधिक कारावास अथवा एक हजार रुपये तक के जुर्माने की सज़ा दे सकता है। द्वितीय वर्ग का दण्डाधिकारी छः मास तक का कारावास और दो सौ रुपये तक के जुर्माने की सजा दे सकता है, तथा तृतीय वर्ग का दण्डाधिकारी एक मास तक की सजा या कारावास एवं पचास रुपये तक का जुर्माना कर सकता है। कुछ राज्यों में गाँव पञ्चायतों को भी ऐसे छोटे-मोटे दण्ड-विधि के मुकदमों के निर्णय का अधिकार दे दिया गया है जिनमें मामूली मारपीट या अनधिकार प्रवेश या पशुओं की चोरी आदि सम्मिलित हैं। ग्राम पञ्चायतें सौ रुपयों तक का जुर्माना कर सकती हैं, किन्तु उन्हें कारावास का दण्ड देने का अधिकार प्राप्त नहीं है। ग्राम पञ्चायतों के निर्णयों के विरुद्ध अपील नहीं की जा सकती।

सत्र न्यायाधीश और जिलाधीश अपने-अपने अधीन दण्डाधिकारियों के न्यायालयों के कार्यों का अधीक्षण करते हैं और उनका अधीक्षण न्यायिक भी है और प्रशासनिक भी। द्वितीय और तृतीय वर्गों के दण्डाधिकारियों के निर्णयों के विरुद्ध अपीलें जिलाधीश या जिलादण्डाधिकारी के न्यायालय में की जाती हैं किन्तु अन्य दण्डाधिकारियों के निर्णयों के विरुद्ध अपीलें सत्र न्यायालय में की जाती हैं। सत्र न्यायालय के निर्णय के विरुद्ध अपील उच्च न्यायालय (High Court) में की जाती है। केवल ऐसे दण्डादेशों को छोड़कर जिनमें सत्र न्यायालय ने एक मास से अनधिक के कारावास का दण्ड दिया हो; या ५० रुपये का जुर्माना (अथवा २०० रुपये का जुर्माना यदि मामला, दण्डाधिकारी ने संक्षेपत अन्वीक्षा [Summary trial] के द्वारा निर्णय किया हो) किसी सत्र न्यायालय, जिलाधीश या प्रथम वर्ग के दण्डाधिकारी ने दिया हो, सब दण्डादेशों के विरुद्ध अपील की जा सकती है। अभिमुक्ति या परिमोचन (acquittal) के विरुद्ध भी अपीलें स्वीकार कर ली जाती हैं किन्तु ऐसी अपीलें प्रायः नहीं की जातीं। दण्डाभियोग के पीड़ित पक्ष को यह भी अधिकार है कि वह जिलाधीश, सत्र न्यायालय या उच्च न्यायालय से अपने मामले पर पुनर्विचार कराने के लिए प्रार्थना करे। जिलाधीश और सत्र न्यायालय के अधिकार पुनर्विचार के मामलों में अत्यन्त सीमित हैं। किन्तु वे यह सिफारिश कर सकते हैं कि यदि अन्याय हुआ है तो उच्च न्यायालय उक्त मामले पर हस्तक्षेप करे।

दण्ड न्यायालयों के लिए यह आवश्यक है कि वे अपने उच्चतर अधीक्षक न्यायालयों के द्वारा समय-समय पर उच्च न्यायालय को यह सूचना देते रहें कि उन्होंने कितने मामलों को निबटाया। इन्हीं आवेदनों या निरूपणों से अधीक्षक न्यायालय टीका-टिप्पणी तैयार करते हैं और उन टीकाओं या टिप्पणियों को वे निम्नतर न्यायालयों को वापिस करते हैं और उन पर निम्नतर न्यायालयों से या तो स्पष्टीकरण माँगते हैं, या निम्न न्यायालयों से अपेक्षा की जाती है कि वे उक्त टीकाओं और टिप्पणियों के अनुसार आचरण करें। अधीक्षक न्यायालय अपने निम्न या

अधीन न्यायालयो से फाइलें या अभिलेख भी मँगा सकते हैं और उनकी परीक्षा कर सकते हैं, और यदि कार्य-प्रणाली में कोई कमी देखते हैं या यदि वे देखते हैं कि आदेशो और विनियमो का उचित ढग से पालन नही हो रहा है तो वे ऐसे मामलो को उच्च न्यायालय के पास भेज देते हैं और वे सिफारिश कर सकते हैं कि उच्च न्यायालय या तो हस्तक्षेप करे या पुनर्विचार करे ।

व्यवहार-न्यायालय (Civil Courts)—सारे भारतवर्ष मे, केवल महाप्रान्तीय नगरो (Presidency Towns) को छोडकर, ज़िला व्यवहार-न्यायालय का अध्यक्ष ज़िला न्यायाधीश होता है जो ज़िला न्यायाधीश के अतिरिक्त सत्र न्यायाधीश भी होता है । ज़िला या मण्डल न्यायाधीश का न्यायालय किसी ज़िले में मुख्य व्यवहार न्यायालय होता है और यह न्यायिक एव प्रशासनिक दोनो प्रकार के अधिकारो का उपभोग करता है । व्यवहार-विधि सम्बन्धी मामलो में इस न्यायालय को मौलिक और पुनरावेदनमूलक दोनो प्रकार के अधिकार हैं और कुछ ऐसे विशेष अधिनियमो जैसे उत्तराधिकार अधिनियम, प्रतिपालक तथा प्रतिपाल्य अधिनियम (The Guardian and Wards Act), प्रान्तीय शोधाक्षमता अधिनियम (the Provincial Insolvency Act) और विवाह-विच्छेद अधिनियम में ज़िला या मण्डल व्यवहार न्यायालय को विस्तृत शक्तियाँ और अधिकार प्राप्त हैं । ज़िले या मण्डल के अधीन व्यवहार-न्यायालयों के ऊपर ज़िला व्यवहार-न्यायालय को अधीक्षण सम्बन्धी अधिकार भी प्राप्त हैं ।

ज़िले के व्यवहार-न्यायालयो के क्रम मे ज़िला या मण्डल व्यवहार-न्यायालय के नीचे व्यवहार-न्यायाधीश का न्यायालय होता है, जिसे ज्येष्ठ अधरिक न्यायाधीश का न्यायालय भी कह सकते हैं । व्यवहार-न्यायाधीश या ज्येष्ठ अधरिक न्यायाधीश के न्यायालय में सब व्यवहार-विधि-सम्बन्धी मामले जा सकते हैं चाहे उन विवादो में अन्तर्ग्रस्त राशि कितनी भी हो । उन राज्यो में, जिनमें व्यवहार-न्यायाधीशो के न्यायालय हैं, उनको अपीलीय क्षेत्राधिकार प्राप्त नही है, जबकि ज्येष्ठ अधरिक न्यायाधीशो के न्यायालयो को छोटे-मोटे मामलो मे पुनरावेदनमूलक अधिकार भी प्राप्त हैं । व्यवहार-न्यायाधीशो या ज्येष्ठ अधरिक न्यायाधीशो के न्यायालयो के नीचे अधरिक न्यायाधीशो या मुसिफो के न्यायालय होते हैं । (बिहार, उडीसा, उत्तर प्रदेश और आसाम में मुसिफ ही पुकारा जाता है जिसको अन्य राज्यो में अधरिक न्यायाधीश कहते हैं ।) मुसिफो या अधरिक न्यायाधीशो मे भी कोई प्रथम वर्ग या श्रेणी का हो सकता है और कोई द्वितीय श्रेणी का हो सकता है, और तदनुसार उनके अधिकार-क्षेत्रो में भी अन्तर होता है । प्रथमत, अधरिक व्यवहार-न्यायालयो के निर्णयो के विरुद्ध अपील ज़िला या मण्डल व्यवहार-न्यायालय को जाती है यदि अन्तर्ग्रस्त धन-राशि पांच हज़ार रुपये से अधिक नही है । यदि अन्तर्ग्रस्त धन-राशि पांच हज़ार रुपयो से अधिक है, तो अपील सीधे उच्च न्यायालय में की जाती है । द्वितीय अपील के अधिकार विभिन्न राज्यो में भिन्न हैं, किन्तु ऐसे किसी प्रश्न पर द्वितीय अपील की आज्ञा मिल जाती है जिसमें सारवान विधि-प्रश्न अन्तर्ग्रस्त हो, अथवा यदि मामले मे अपनायी गई कार्य-प्रणाली दोषपूर्ण रही हो, अथवा यदि

प्रथम अपील का न्यायालय, मौलिक न्यायालय से तथ्यो के प्रश्न पर सहमत न हो।

कुछ बडे नगरो मे लघुवाद न्यायालय स्थापित कर दिये गए हैं ताकि ऐसे छोटे-मोटे मुकदमे शीघ्रता से निबटाये जा सकें जिनमें अन्तर्ग्रस्त धन-राशि राज्य सरकार द्वारा निर्धारित, किसी राज्य मे दो हज़ार रुपये से अनधिक है, किसी राज्य में एक हज़ार से अनधिक है और किसी राज्य में पांच सौ रुपये से अनधिक है। लघुवाद न्यायालय सक्षेपत अन्वीक्षा की प्रक्रिया के अनुसार मामलो को निबटाते हैं और सामान्यत लघुवाद न्यायालयो के निर्णयो के विरुद्ध अपील नही की जा सकती, यद्यपि यदि विधि के सम्बन्ध में कोई भारी भूल हुई है तो वह भूल या अशुद्धि पुनर्विचार मे सुधारी जा सकती है।

कुछ राज्यो मे ग्राम पचायतो की स्थापना हुई है जिन्हे छोटे व्यवहार-विधि से सम्बन्धित ऐसे मामलो के निर्णय करने का अधिकार है जिनमें चल सम्पत्ति अन्तर्ग्रस्त हो। पचायतो के निर्णयो के विरुद्ध अपील नही की जा सकती।

न्यायिक सेवा में ज़िला न्यायाधीशो और उनसे अन्य व्यक्तियो की भर्ती (Appointment of District Judges and of persons other than District Judges)—सविधान ने न्यायिक पदो को दो श्रेणियो में विभाजित किया है।[1] प्रथम या उच्चतर श्रेणी में ज़िला या मण्डल सत्र न्यायाधीश, नगर व्यवहार-न्यायालयो के न्यायाधीश, सहायक ज़िला या मण्डल सत्र न्यायाधीश, लघुवाद न्यायालयो के मुख्य न्यायाधीश और मुख्य प्रेसीडेंसी दण्डाधिकारी आते हैं। द्वितीय या निम्नतर श्रेणी मे अन्य वे व्यवहार न्यायिक पद (civil judicial posts) आते हैं जो ज़िला या मण्डल न्यायाधीश के पद से निम्नतर हैं। उच्चतर या प्रथम श्रेणी के न्यायिक पदो पर नियुक्ति राज्य का राज्यपाल उस राज्य के सम्बन्ध मे क्षेत्राधिकार प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श करके करता है।[2] कोई व्यक्ति जो सघ की या राज्य की सेवा में पहिले से ही नही लगा हुआ है, ज़िला या मण्डल न्यायाधीश होने के लिए केवल तभी पात्र हो सकता है जब कि वह सात से अन्यून वर्षों तक अधिवक्ता या वकील रह चुका है तथा उसकी नियुक्ति के लिए उच्च न्यायालय ने सिफारिश की है।[3]

निम्न श्रेणी के न्यायिक पदो पर अर्थात् ज़िला न्यायाधीशो से अन्य व्यक्तियो की जिनमे नगर व्यवहार-न्यायालयो के न्यायाधीश, सहायक ज़िला या मण्डल सत्र न्यायाधीश, लघुवाद न्यायालयो के मुख्य न्यायाधीश और मुख्य प्रेसीडेंसी दण्डाधिकारी सम्मिलित हैं, राज्य की न्यायिक सेवा मे नियुक्तियाँ, राज्यपाल द्वारा, राज्य लोक सेवा आयोग तथा उस राज्य के सम्बन्ध में क्षेत्राधिकार का प्रयोग करने वाले उच्च न्यायालय से परामर्श के पश्चात् की जाती हैं।[4]

---

[1] अनुच्छेद २३६।

[2] अनुच्छेद २३३ (१)।

[3] अनुच्छेद २३३ (२)।

[4] अनुच्छेद २३४।

अधीन न्यायालयो पर नियन्त्रण (Control over Subordinate Courts)—जिला या मण्डल न्यायालयो और उनसे निम्नतर न्यायालयो के ऊपर राज्य के उच्च न्यायालय का नियन्त्रण रहता है। अनुच्छेद २३५ उपबन्धित करता है कि जिला न्यायाधीश के पद से निचले किसी पद को धारण करने वाले राज्य की न्यायिक सेवा के व्यक्तियो की पद स्थापना पदोन्नति और उनको छुट्टी देने के सहित जिला न्यायालयो तथा उनके अधीन न्यायालयो का नियन्त्रण राज्य के उच्च न्यायालय मे निहित है। इस प्रकार उच्च न्यायालय का नियन्त्रण अधीन न्यायालयो पर उनमें किसी निचले पद को धारण करने वाले राज्य की न्यायिक सेवा के व्यक्तियो की पद स्थापना, पदोन्नति, और उनको छुट्टी देने के सम्बन्ध मे है, किन्तु यह नियन्त्रण जिला जज या मण्डल न्यायाधीश से निचले पदो वाले न्यायिक अधिकारियो पर ही लागू होता है। सक्षेप मे सारे निम्नतर न्यायालय उच्च न्यायालय के प्रशासनिक नियन्त्रण में आ गये हैं।

कार्यपालिका का न्यायपालिका से विच्छेद (Separation of the Executive from the Judiciary)—भारतीय सविधान भी यही चाहता है कि कार्यपालिका का न्यायपालिका से विच्छेद रहे। आजकल जिलाधीशो या जिला दण्डाधिकारियो और अधीन दण्डाधिकारियो के ऊपर पद स्थापना, पदोन्नति और अन्य बातो मे राज्य की सरकार का नियन्त्रण है किन्तु उच्च न्यायालय को उपर्युक्त दण्डाधिकारियो के ऊपर पद स्थापना, पदोन्नति आदि विषयो में कोई नियन्त्रण नही है। अनुच्छेद २३७ उपबन्धित करता है कि अधीन दण्ड न्यायालयो के ऊपर प्रशासनिक नियन्त्रण उच्च न्यायालय का रहना चाहिए। सविधान का आदेश है "राज्यपाल सार्वजनिक अधिसूचना द्वारा निदेश दे सकता है कि इस अध्याय के पूर्वगामी उपबन्ध तथा उनके अधीन बनाये गये कोई नियम ऐसी तारीख से जो कि वह इस बारे मे नियत करे, राज्य के किसी प्रकार या प्रकारो के दण्डाधिकारियो के सम्बन्ध में ऐसे अपवादो और रूप भेदो के अधीन रहकर जैसे कि अधिसूचना में उल्लिखित हो, वैसे ही लागू होगे जैसे कि वे राज्य की न्यायिक सेवा में नियुक्त व्यक्तियो के सम्बन्ध में लागू होते हैं।"

राज्य की नीति के निर्देशक सिद्धान्तो से सम्बन्धित अनुच्छेद ५० मे सविधान राज्य को परामर्श देता है कि "राज्य की लोक सेवाओ में, राज्य, न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् रखने का प्रयास करे।" सभी लोगो की स्वतन्त्रताओ की रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् रखा जाय और जैसा कि मॉण्टेस्क्यू ने कहा है "उस देश मे स्वतन्त्रता नही रह सकती, जिसमें न्यायपालिका को व्यवस्थापिका और कार्यपालिका से अलग न रखा जाता हो।" भारत के पूर्वगामी शासन मे जिला स्तर पर एक ही अधिकारी मे कार्यपालिका और न्यायपालिका अधिकार निहित थे, और उस व्यवस्था के दोष भी सर्वविदित थे। न्यायपालिका के उच्च आदर्शो के अनुसार जिस स्वतन्त्रता और पक्षपातहीनता की अपेक्षा की जाती है, उसका सर्वथा अभाव था। इसलिए भारतीय जनमत ऐसी स्थिति से असन्तुष्ट था और बार-बार न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् कराने के लिए आन्दोलन चले।

पटना के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश श्री मेरेडिथ ने न्यायपालिका को

कार्यपालिका से अलग रखने की सिफारिश की थी। उन्होंने कहा था "सबसे पहिले यह समझने की जरूरत है कि न्यायिक और कार्यपालिका सम्बन्धी कृत्यो को पृथक् रखने का अर्थ क्या है और इसमें क्या समस्याएँ अन्तर्गस्त हैं? इसका अर्थ इस सिद्धान्त को मान लेना होगा कि जो न्यायाधीश किसी विवाद पर निर्णय देता है, उस को पूर्ण पक्षपातहीन होना चाहिए, किसी भी पक्ष की हार-जीत की ओर से वह उदासीन होना चाहिए तथा उस पर बाहरी प्रभाव न पड सकने चाहिएँ।" यदि इस सामान्य सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाता है तो इससे दो महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं प्रथमत जो न्यायाधीश या दण्डाधिकारी किसी मुकदमे का निर्णय करने बैठता है, वह किसी प्रकार प्राभियोजन (Prosecution) से न तो सम्बद्ध रहा हो और न किसी प्रकार प्राभियोजन में अभिरुचि रखता हो। द्वितीयत वह न्यायाधीश या दण्डाधिकारी किसी ऐसी सत्ता के अधीन न हो जो 'प्राभियोजन या प्रतिरक्षा' से सम्बन्धित हो। इस समस्या के ये दोनो पहलू समान रूप से महत्त्वपूर्ण हैं; और इन पहलुओ के अन्तर्गत यदि हम अपनी आधुनिक व्यवस्था को समझने का प्रयास करेंगे तो हमें स्पष्ट कमियाँ दिखाई देंगी, क्योंकि हमारी न्याय-व्यवस्था में दण्डाधिकारी जो या तो किसी दण्डाभियोग की सुनवाई करता है या किसी दण्डाभियोग के सम्बन्ध मे अपील की सुनवाई करता है, प्राय स्वय या तो उप-विषय-अधिकारी होता है अथवा जिलाधीश या सर्वोच्च जिला दण्डाधिकारी होता है जिसका सम्बन्ध पुलिस और अभियोजन अधिकारियो से होता है, और वह स्वय उस मामले की जीत मे रुचि रखता है क्योंकि कार्यपालिका का उच्च अधिकारी होने के नाते वह जिले मे शान्ति और व्यवस्था बनाये रखने के लिए उत्तरदायी है, और यदि कोई दण्डाधिकारी उस मामले की सुनवाई करता है तो वह स्वय उप-विषय-अधिकारी (S D O), जिलाधीश या आयुक्त (Commissioner) और / अथवा शासन के अन्य कार्यपालिका अधिकारियो का अधीन अधिकारी होता है और चूंकि उपर्युक्त सभी अधिकारी सम्राट् के मुकदमो (crown cases) मे सरकारी पक्ष की जीत चाहते हैं, इसलिए वह न तो निष्पक्ष हो सकता है और न बाहरी प्रभावो से मुक्त।"

न्यायमूर्त्ति श्री मेरेडिथ आगे कहते हैं कि 'स्पष्टत कोई न्यायाधीश न्याय करने में पूर्ण निष्पक्ष नहीं हो सकता यदि वह किसी पक्ष की जीत मे रुचि रखता हो। यह इस समस्या का पहिला पहलू है। प्रत्यक्षत यह भी किसी न्यायाधीश के लिए असम्भव होगा कि वह किसी ऐसे मामले मे निष्पक्ष और तटस्थ भाव से न्याय कर सके जिसमें जिले के उसके उच्च अधिकारी जैसे जिलाधीश या पुलिस के अधिकारी एक पक्ष मे रुचि रखते हो और जब कि स्वयं न्यायाधीश या दण्डाधिकारी की पद स्थापना, पदोन्नति और प्रत्याशना आदि जिले के प्रधान कार्यपालिका अधिकारी की इच्छा पर निर्भर हैं, विशेष रूप से जब कि वह कार्यपालिका अधिकारी जिले की सारी पुलिस का भी प्रधान अधिकारी है और जिले की सारी पुलिस व्यवस्था का नियन्त्रण उसके हाथ मे है। इसलिए मेरे विचार से यदि कार्यपालिका से न्यायपालिका स्वतन्त्र हो, तो उपर्युक्त दोनो दोष समाप्त किए जा सकते हैं। और सम्भवत सभी लोग स्वीकार करेंगे कि उपर्युक्त दोनो भारी दोष हैं।"

न्यायमूर्त्ति श्री मेरेडिथ के विचारो का यह एक लम्बा उद्धरण है, किन्तु न्यायपालिका और कार्यपालिका सत्ताओ के पृथक्करण के सिद्धान्त को न्यायमूर्त्ति श्री मेरेडिथ के विचारो मे पुष्टि मिलती है। यद्यपि राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तो में उक्त सिद्धान्त को भारतीय सविधान ने स्वीकार कर लिया है फिर भी कुछ लोगो का विचार है कि जब भारत स्वतन्त्र हो चुका है और भारत के सभी अवयवी राज्यो में उत्तरदायी सरकारें कार्य कर रही हैं तो फिर अब न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग रखने की आवश्यकता ही क्या रह गई है। यह सत्य है कि सविधान ने उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालयो की स्वतन्त्रता को स्वीकार किया है फिर भी अधीन दण्डाधिकारीय न्यायालयो की स्थिति उतनी अच्छी नही है जितनी कि होनी चाहिए। सत्ता के अनुचित केन्द्रीकरण से, सभी वे अधिकारी, जिनमें अत्यधिक सत्ता केन्द्रित हो जाती है, अवश्य ही बिगड जाते हैं, फिर चाहे देश स्वतन्त्र भी हो और लोकतन्त्रात्मक भी हो अथवा पराधीन हो, यद्यपि इतना अवश्य मानना पडेगा कि देश की पराधीनता की अवस्था मे न्यायपालिका और कार्यपालिका सत्ताओ को एक ही हाथो में दे देने के दोष अधिक भयावह होगे। लार्ड हीवर्ट ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक दी न्यू डैस्पॉटिज्म (The New Despotism) में लिखा है "सार्वजनिक अधिकारी स्वतन्त्र नही हैं। यह सामान्य समझ-बूझ की बात है कि किसी प्रशासनिक अधिकारी को उसी के विभाग से सम्बन्धित न्यायिक कृत्य नही सौंपे जाने चाहिएँ। दोनो प्रकार के कृत्य असगत और बेमेल हैं। ऐसी स्थिति में किसी भी सार्वजनिक अधिकारी के लिए यह कठिन होगा कि वह निष्पक्ष भाव से अपने न्यायिक कृत्य सम्पादित कर सके। यद्यपि सार्वजनिक अधिकारी अपना कार्य ईमानदारी से करेगा और यथाशक्य सही निर्णय करेगा, फिर भी किसी विभागीय विवाद पर निर्णय देते समय उसका विभागीय मस्तिष्क अवश्य ही उसके साथ ही रहेगा, और विभागीय मस्तिष्क और न्यायिक मस्तिष्क दो अलग प्रकार के मस्तिष्क होते हैं, जैसा कि उन सभी लोगो को अनुभव है जो ऐसे सार्वजनिक अधिकारियो के बारे में जानते हैं जिन्हे विभागीय कृत्यो के साथ-साथ न्यायिक कृत्यो का भी निर्वहन करना पडता है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अधिकारी का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने से बडे अधिकारियो की आज्ञाओ का पालन करे, और यदि किसी विशिष्ट विषय पर कोई विशिष्ट आदेश न भी हो, तो भी उस अधिकारी का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह विभाग की नीति के अनुसार निर्णय करे। इस प्रकार प्रत्येक अधिकारी के ऊपर राजनीतिक प्रभाव पडने सम्भव हैं।"

भारत सघ के कुछ राज्यो ने तो न्यायपालिका को कार्यपालिका से अलग कर दिया है। पजाब सहित कुछ राज्य इस सम्बन्ध में परीक्षण कर रहे हैं, और उन्होने कुछ जिलो मे न्यायिक दण्डाधिकारियो की नियुक्तियां की हैं। किन्तु यह समझ लेना उपादेय होगा कि केवल नाम बदल देने मात्र से और दण्डाधिकारियो को न्यायिक दण्डाधिकारी मात्र कह देने से न्यायपालिका और कार्यपालिका का सम्बन्ध विच्छेद नही हो जाता और न सविधान के तत्सम्बन्धी उपबन्धो का पालन हो जाता है। न्यायपालिका का कार्यपालिका से पूर्ण सम्बन्ध-विच्छेद तभी माना जायगा, जब

कि राज्य के दण्डाधिकारियों की नियुक्तियां, पद स्थापनाएं, पदोन्नतियां, और अन्य तत्सम्बन्धी बातें राज्य के उच्च न्यायालयों के अधिकार में सौंप दी जायें। तभी और केवल तभी न्यायपालिका कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त होगी। श्री हैमिल्टन ने ठीक ही कहा था कि "यह अत्यन्त भयावह स्थिति होगी यदि देश के न्यायाधीशों को कार्यपालिका के प्रभाव में रखा जाय, क्योंकि इनसे देश की न्यायपालिका भ्रष्ट हो सकती है।"

अपने अध्यक्ष अथवा मन्त्री को वह सारी सूचना और सारी जानकारी दे दे, जिसके द्वारा मन्त्री विभाग के कृत्यो का विधानमण्डल में और सर्वसाधारण मे समर्थन कर सके। इसलिए विभाग का कार्य इस प्रकार चलाना चाहिए, और उसकी नीति इस प्रकार निर्धारित करनी चाहिए कि उसकी नीति और उसके कृत्य समर्थनीय हो और उनका न्यायपूर्वक रक्षण किया जा सके।

विभाग का दूसरा मुख्य कार्य है नीति-निर्धारण अथवा नीति-निर्माण। वास्तव मे नीति-निर्धारण का कार्य मन्त्रिमण्डल करता है। किन्तु उक्त नीति के निर्धारण के सम्बन्ध में सारी विस्तृत बाते और सारी बारीकियां, शासन के विभिन्न विभागो के ऊपर छोड दी जाती हैं। प्राय ऐसा होता है कि विभाग स्वय शासन की नीति के दायरे में नीति की क्रियान्विति निर्णय कर लेता है। इस प्रकार के नीति की क्रियान्विति सम्बन्धी प्रस्ताव स्वय विभाग के प्रशासनिक अनुभव के फल हो सकते हैं, या वे मन्त्री द्वारा दिए गए आदेशो के भी फल हो सकने हैं। चाहे उक्त प्रस्तावो का स्रष्टा स्वय विभाग हो या मन्त्री हो, किन्तु विभाग ही उक्त नीति की क्रियान्विति सम्बन्धी योजना को तैयार करता है, फिर मन्त्रिमण्डल की सामान्य नीति के अनुरूप उक्त योजना के विस्तृत विवरण तैयार करता है, और फिर उन विभागो की भी राय ली जाती है जिन पर उक्त नीति का प्रभाव पडना सम्भव है। यदि उक्त नीति की योजना प्रवर्त्तित विधियो के द्वारा क्रियान्वित नही की जा सकती तो उक्त योजना पर विधेयक का प्रारूप तैयार किया जाता है। जब विधेयक का प्रारूप मन्त्रिमण्डल द्वारा स्वीकृत कर लिया जाता है तो उसको विधेयक के रूप में तैयार किया जाता है और फिर विधानमण्डल में प्रस्तुत किया जाता है। यह सारी प्रक्रिया ससद् में और राज्य के विधानमण्डलो मे प्राय समान है। जिस विभाग से सम्बन्धित विधेयक होगा, उसी विभाग के मन्त्री को विधेयक की पुर स्थापना करनी पडती है, और यह उसी का उत्तरदायित्व है कि उस विधेयक को विधानमण्डल मे पास करावे। किन्तु सम्बन्धित विभाग के सिविल सेवक विधानमण्डल में सदैव मन्त्री की सहायता के लिए खडे रहते हैं और जब कभी मन्त्री को जिस जानकारी की आवश्यकता होती है, वे तुरन्त अपने अध्यक्ष की तन-मन से सेवा करके उसको सफल बनाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि विधेयक चाहे मन्त्री की ओर से प्रेरित भी किया गया हो, फिर भी किसी विधेयक के सम्बन्ध में सारी प्रारम्भिक अथवा सृजनात्मक कार्रवाई विभाग को और विशेषकर विभाग के स्थायी सचिव को ही करनी पडती है। श्री एटली ने लिखा है कि "जब कोई नया मन्त्री अपने पद पर पहुँचता है तो उसे ऐसा अनुभव होगा कि (विभागीय) सिविल सेवक मन्त्री की नीति के विरुद्ध हर प्रकार की आपत्तियां उपस्थित करता है, किन्तु शनै शनै मन्त्री जान लेता है कि सिविल सेवक केवल विरोध के लिए विरोध नही करता, बल्कि यह उसका कर्त्तव्य है कि मन्त्री उस नीति के अनुसरण के सम्बन्ध में सारी कठिनाइयां समझ ले, जिस पर वह चलना चाहता है।"[1]

---

[1] Civil Servants, Ministers, Parliament and Public
—The Indian Journal of Public Administration, April-June 955 p 96

आधुनिक सविधियाँ, प्राय विधि की रूपरेखा मात्र प्रस्तुत करती हैं। विधानमण्डल, सामान्य शब्दों मे विधि का निर्माण करते हैं, और विभागों को अधिकार दे देते हैं कि वे उक्त विधियो के सम्बन्ध में विस्तृत विनियम बनावें और इस प्रकार उक्त विधियो की क्रियान्विति करें। इस प्रकार जो नियम और विनियम बनाये जाते हैं उनका वही महत्त्व है जो विधि का। विभाग सम्भवत विधेयक की तैयारी के साथ-साथ विनियम और उप-अधिनियम भी तैयार करता है और ज्योंही विधेयक विधि का रूप धारण कर लेता है, विभाग उन विनियमो और उप-अधिनियमों को उस रूप में निकाल देता है जिस रूप में कि विधि विभाग उनके प्रारूप तैयार करता है। नियमो एव विनियमो के प्रयोग के सम्बन्ध मे अथवा किसी विशिष्ट विषय पर उनको लागू करने के सम्बन्ध में कार्यपालिका प्राय अर्द्ध-न्यायिक सत्ता का स्वरूप धारण कर लेती है। सार्वजनिक सेवाओ के प्रशासन में अनेकों प्रकार के ऐसे अवसर आते हैं, जिनमे अनेको लोगो के कल्याण से सम्बन्धित मामलो में विभागो अथवा कार्यपालिका को न्यायिक अथवा अर्द्ध-न्यायिक कृत्य करने पड़ते हैं। सत्य यह है कि कहाँ तो पहिले राज्य केवल निषेधात्मक प्रकार के कृत्य ही किया करता था, और अब राज्य कल्याणकारी कार्य करने लग गया है, इस कारण अब यह आवश्यक हो गया है कि विधानमण्डल दो प्रकार के कृत्य करते हैं। विधानमण्डलो ने प्रथमत प्रशासन अथवा विभागो को विनियम और उप-अधिनियम बनाने की आज्ञा प्रदान की है और द्वितीयत प्रशासन को अधिकार दे दिया है कि वे किन्ही विशिष्ट हालतो मे विरोधो और विवादो मे अधिनिर्णय दे दें। इस प्रकार के अधिनिर्णय, वास्तव मे न्यायिक निर्णय नही होते, क्योंकि वे वैधिक अधिकारो के सम्बन्ध मे निर्णय नही होते। फिर भी उक्त अधिनिर्णय, अत्यन्त महत्त्वपूर्ण साधन उपस्थित करते हैं, जिसके द्वारा कार्यपालिका अपनी नीति निर्धारित करती है और ससद् द्वारा प्रदत्त शक्तियो और अधिकारो के द्वारा राष्ट्र का भविष्य निर्माण करती है।

अन्तश विभाग ही नीति की क्रियान्विति करता है। जब निर्धारित हो चुकने के बाद नीति ससद् के समक्ष प्रस्तुत की जाती है और जब ससद् भी उक्त निर्धारित नीति को स्वीकृत कर चुकती है, तो फिर विभाग के स्थायी सिविल सेवको की बारी आती है और यह उनका पुनीत कर्त्तव्य है कि वे उस नीति को निष्ठापूर्वक क्रियान्वित करें, चाहे उक्त नीति, उस नीति से विरुद्ध हो जिसे उन्होंने पसन्द किया था। सर वारेन फिशर (Sir Warren Fisher) ने उन सिद्धान्तो का जहाँ-तहाँ निरूपण किया है जिन पर इगलैंड के सिविल सेवक चलते हैं। उन सिद्धान्तों का उद्धरण यहाँ देना उपादेय होगा। फिशर महोदय लिखते हैं: "नीति का निर्धारित करना मन्त्रियो का कार्य है, और जहाँ नीति निर्धारित हो गई, वहाँ यह सिविल सेवक का असदिग्ध कर्त्तव्य हो जाता है कि वह प्राणपण से उक्त नीति को क्रियान्वित कराने का प्रयत्न करें; और चाहे उक्त सिविल सेवक उस नीति से सन्तुष्ट हो या न हो, उसे समान सदिच्छा के साथ ही उस नीति पर चलना चाहिए। यह सर्वमान्य सिद्धान्त है और इस पर कभी दो मत नहीं हो सकते। साथ ही सिविल सेवकों

का यह कर्त्तव्य भी है कि जिस समय नीति के सम्बन्ध में निर्णय हो रहा हो, उस समय वे अपने विभागीय अध्यक्षो अथवा मन्त्रियो के समक्ष वह सारी सूचना और सारा अनुभव उँडेल दें और वे सारी आपत्तियाँ और कठिनाइयाँ अपने मन्त्री की सेवा में प्रस्तुत कर दें जो उस नीति पर चलने के मार्ग मे बाधक हो सकती हैं, और इस दिशा में सिविल सेवक को न तो डरने की जरूरत है और न किसी नीति के प्रति पक्षपात करने की ही आवश्यकता है। उसे इसकी भी चिन्ता करने की आवश्यकता नही है कि उसके द्वारा सुझाई गई वैकल्पिक नीति पर मन्त्री सहमत होगा अथवा नही। किन्तु मन्त्री के समक्ष तथ्य प्रस्तुत करने में सिविल सेवक को पूरी-पूरी सावधानी बरतनी चाहिए, क्योकि इस दिशा मे तनिक भी असावधानी होने से सारे विभाग की प्रतिष्ठा पर आ बनती है। पुराने तथ्यो के सम्बन्ध में प्रतिवेदन प्रस्तुत करने में भी सिविल सेवक को अत्यन्त बुद्धिमानी और निष्पक्षता के साथ कार्य करना चाहिए।"[1] इगलैंड में ऐसा उदाहरण शायद ही मिलेगा, जबकि सिविल सेवको ने अपने विभागो के अध्यक्षो अथवा मन्त्रियो द्वारा निर्धारित नीति की क्रियान्विति में अडगा लगाया हो।

जानपद सेवा या सिविल सेवा का सगठन (Organisation of the Civil Service)—जानपद या सिविल सेवा के सगठन के सिद्धान्त अत्यन्त सरल और स्पष्ट हैं। उक्त सिद्धान्त तीन हैं एकीकृत सेवा, प्रतिस्पर्द्धी परीक्षाओ के आधार पर सेवा में प्रवेश, और समस्त सेवाओ का नीति-निर्धारण से सम्बद्ध बौद्धिक वर्ग, एव लिपिक वर्ग के कार्यों से सम्बद्ध लिपिक वर्ग में वर्गीकरण, तथा दोनो वर्गो के सिविल सेवको की दो विभिन्न प्रकार की प्रतियोगी परीक्षाओ के आधार पर भर्ती। दोनो प्रकार के कर्त्तव्यो के निर्वहन के लिए और उनमें उचित सामजस्य लाने के लिए यह आवश्यक है कि जानपद या सिविल सेवको को दो भागो या वर्गों में वर्गीकृत किया जाय। और तभी उत्तरदायी और प्रतिचारी नीति की क्रियान्विति हो सकती है। लिपिक वर्ग ऐसे कृत्य करता है जो या तो सामान्य यान्त्रिक प्रकार के कार्य होते हैं अथवा ऐसे कार्य होते हैं जिनमें सुनिश्चित विनियमो, निर्णयो और व्यवहारो की विशिष्ट मामलो में क्रियान्विति करनी पडती है। दूसरे प्रकार के कर्त्तव्यो अर्थात् नीति-निर्धारण से सम्बन्धित बौद्धिक कृत्यो में वे सब कृत्य आते हैं जिनका सम्बन्ध नीति-निर्धारण से होता है अथवा जिनका सम्बन्ध प्रचलित प्रथाओ या प्रचलित विनियमो या निदेशो में परिवर्त्तन करने से या शासन-सचालन और शासन के सगठन में परिवर्त्तन करने से होता है।

(१) समस्त जानपद या सिविल सेवा में प्रशासनिक सेवा वर्ग ही सचालक वर्ग है। ब्रिटिश प्रशासनिक सेवको के सम्बन्ध में डा० फाइनर ने कहा है कि "वे ही मन्त्री द्वारा निर्धारित नीति के सम्बन्ध मे सारी कार्रवाई के लिए उत्तरदायी हैं अर्थात् सविधियो के आधार पर विनियम तैयार करते हैं, फिर नीति की घोषणा वे ही करते हैं और अन्तश सर्वसाधारण तक मे उस नीति की क्रियान्विति के लिए भी वे ही

---

[1] As quoted in Jennings Cabinet Government, pp 114-115

उत्तरदायी हैं।"[1] इगलैड की ही तरह भारत मे भी प्रशासनिक सेवक वर्ग ही विभागीय नीति का निर्धारण करते हैं, और वे ही विभिन्न विभागो को नियन्त्रित और सचालित करते हैं। प्रशासनिक सेवक वर्ग ऐसे परामर्शदाता लोगो का निकाय है जो ऐसे मामलो का भी निर्णय करते हैं जो विभागेतर हो, वे ऐसे प्रस्ताव उपस्थित कर सकते हैं जो सर्वोच्च नीति के निर्माण में सहायक हो सकते हैं, और वे ही विभिन्न विनियमो का निर्वचन करते हैं। भारत के सविधान में राज्य की नीति के निदेशक सिद्धान्तो ने आदेश दिया है कि समाजवादी ढाँचे पर कल्याणकारी राज्य का निर्माण किया जायें, और पचवर्षीय योजनाओ को क्रियान्वित करने मे जो अपार श्रम और उद्योग करना होगा उसके फलस्वरूप समस्त प्रशासन के ऊपर और विशेषकर भारतीय प्रशासनिक सेवा के ऊपर अपार उत्तरदायित्व आ पडा है। पचवर्षीय योजनाओ को क्रियान्वित करने के लिए प्रशासनिक सेवको को सारे राष्ट्र के सामाजिक एव आर्थिक जीवन का नियोजन, नियन्त्रण और मार्ग-दर्शन करना पडता है। मन्त्रिमण्डल के सचिव श्री सुक्थाकर (Shri Sukthankar) ने लिखा है कि "जब राज्य का मुख्य कार्य यह होता है कि वह लोकतन्त्रात्मक मूल्यो और पद्धतियो के प्रति निष्ठा रखते हुए भी स्वतन्त्रता की भावना को ठोस सामाजिक और आर्थिक आधार प्रदान करे, सब के लिए समान अवसर सुलभ करे तथा विशाल देश के मानवी और भौतिक ससाधनो का अधिकतम विकास करे तब प्रशासन के सामने नयी और बहुत महत्त्वपूर्ण समस्याएँ आती हैं।"[2] इन नयी और अत्यन्त महत्त्वपूर्ण समस्याओ के समाधान के लिए "सामाजिक और आर्थिक नीति के नये रूपो को ठीक से विकसित करने की आवश्यकता होती है।"[3]

इन भारी और कठिन दायित्वो के निर्वहन के लिए प्रशासनिक अधिकारियो मे उच्च कोटि की मानसिक शक्ति होनी चाहिए जिससे वे जटिल समस्याओ का समाधान कर सकें। साथ ही उनमे मनुष्य के प्रति सहानुभूति भी होनी चाहिए। ९ दिसम्बर, १९५५ को कुरनूल (Kurnool) की एक सभा में सार्वजनिक सेवको के समक्ष प० जवाहरलाल नेहरू ने कहा था "देश की सार्वजनिक सस्थाएँ सेवा करेंगी। किन्तु वे किनकी सेवा करें ? निश्चय ही भारत के सार्वजनिक सेवक समाज, सर्वसाधारण और देश की सेवा करेगे। मै ऐसा इसलिए कह रहा हूँ क्योंकि अन्ततोगत्वा हर एक सेवक की कार्य-कुशलता की परीक्षा की कसौटी यही होगी कि समस्त सेवाओ ने या किसी एक सेवक ने, समाज की या राष्ट्र के हितो की कहाँ तक सेवा की है"।[4]

---

[1] Finer, H. . The Theory and Practice of Modern Government, p 767

[2] Introduction to Public Administration in India, Report of a Survey by Paul H Appleby

[3] Govind Ballabh Pant, "Public Servant in a Democracy" Published in the Indian Journal of Public Administration, July-Sept 1955, p 181.

[4] Published in the Indian Journal of Public Administration Oct-Dec. 1955, p 289

इसलिए सार्वजनिक सेवको मे जिन विशेष गुणो की आवश्यकता होगी वे हैं उपक्रम (initiative) और उद्यम (enterprise), नियोजन और सगठन-सम्बन्धी क्षमता, कार्य-कुशलता, ईमानदारी, निष्ठा, राजनीतिक तटस्थता, सामाजिक दृष्टिकोण की व्यापकता और सामाजिक सेवा की लगन।

सेवाओ का वर्गीकरण (Classification of Services)—सघात्मक शासन-व्यवस्था वाले देशो में प्राय केन्द्रीय या राष्ट्रीय सरकार तथा एकको अथवा राज्यो की सरकारें अलग-अलग अपनी-अपनी सेवाएँ सगठित करते हैं जो दोनो प्रकार की सरकारो के क्षेत्राधिकार में आने वाले विषयो का प्रशासन करते हैं। भारत में भी दोनो प्रकार के सेवको के वर्ग अलग-अलग हैं अर्थात् केन्द्रीय या अखिल भारतीय सेवाएँ और राज्य की सेवाएँ। केन्द्रीय अथवा अखिल भारतीय सेवक ऐसे विषयो का प्रशासन करते हैं जो राष्ट्रीय सूची के विषय हैं, जैसे विदेशी मामले, प्रतिरक्षा आयकर, सीमा-शुल्क, डाक और तार विभाग आदि, और उपर्युक्त विभागो के सेवक पूरी तरह सघीय सरकार के सेवक माने जाते हैं। और राज्यो के अधिकार-क्षेत्र में निम्न प्रकार के विषय आते हैं, जैसे भूमि कर या भूमि राजस्व, कृषि, वन, शिक्षा, स्वास्थ्य, पशु-चिकित्सा आदि, जिनका प्रशासन राज्यो की सेवाओ द्वारा किया जाता है और इनके अधिकारी वर्ग राज्यो की सरकारो के अधीन होते हैं। सेवाओ के इन दो वर्गों के अतिरिक्त सविधान ने एक अन्य अखिल भारतीय सेवा वर्ग की व्यवस्था की है जो एक प्रकार का सेविवर्ग सगठन है। इस प्रकार का सेविवर्ग सगठन और किसी सघात्मक शासन-व्यवस्था वाले देश में नही मिलेगा, केवल पाकिस्तान में अवश्य है। अखिल भारतीय सेवाएँ समान रूप से सघीय सरकार और राज्य की सरकारो से सम्बद्ध रहती हैं और "इन अखिल भारतीय सेवको को किसी भी समय राज्यो की सेवाओ मे भी लगाया जा सकता है और सघ की सेवाओ में भी लगाया जा सकता है, तथापि उपर्युक्त अखिल भारतीय सेवक पूरी तरह न तो सघ के अधीन हैं और न राज्यो के अधीन हैं।" सविधान ने भारत प्रशासन सेवा (I A S) और भारत आरक्षी सेवा (I P S) को ससद् द्वारा सृजित सेवा समझा है।[1] किन्तु यह भी उपबन्धित किया गया है कि अन्य सेवाओ को ससद् यदि चाहे तो अखिल भारतीय सेवाएँ घोषित कर सकती है बशर्ते कि राज्य परिषद् उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो की दो-तिहाई से अन्यून सख्या द्वारा समर्थित सकल्प द्वारा घोषित कर दे कि राष्ट्र-हित मे ऐसा करना इष्टकर है।[2] डा० अम्बेदकर ने उन कारणो पर प्रकाश डालते हुए सविधान सभा में कहा था जिनके आधार पर अखिल भारतीय प्रशासन सेवाओ के उपबन्ध की आवश्यकता आ पडी थी। उन्होने कहा था "किसी भी सघात्मक शासन-व्यवस्था वाले देश में दो प्रकार की शासन-व्यवस्थाएँ रहती हैं और फलस्वरूप प्रत्येक सघ में दो प्रकार की सेवाएँ भी आवश्यकत होती ही हैं, जिनमें से एक अखिल सघीय सिविल सेवा होती है और दूसरी राज्य सिविल सेवा होती है।

---

[1] अनुच्छेद ३१२ (२)।

[2] अनुच्छेद ३१२ (१)।

भारतीय सघ भी अन्य सघो के समान दुहरी शासन-व्यवस्था वाला सघ है और इसलिए इस देश में भी दो प्रकार की सेवाएँ ही होगी, किन्तु एक महत्त्वपूर्ण अन्तर होगा। ऐसा स्वीकार किया जाता है कि प्रत्येक देश की शासन-व्यवस्था में कुछ ऐसे महत्त्वपूर्ण पद अवश्य होते हैं जिनको उच्च प्रशासनिक स्तर की दृष्टि से अत्यधिक और मार्मिक महत्त्व दिया जाता है ··· । इसमें कोई सदेह नही है कि प्रशासन की कुशलता इन्ही मार्मिक महत्त्व के सिविल सेवको की कार्य-कुशलता पर निर्भर है जिन्हें उक्त महत्त्वपूर्ण और मार्मिक पदो पर नियुक्त किया जाता है। ··· ··सविधान ने आदेश किया है कि राज्यो को भी अधिकार रहेगा कि वे अपनी-अपनी सिविल सेवाएँ स्थापित कर सकेंगे, किन्तु फिर भी अखिल भारतीय सेवा की स्थापना की जायेगी। उक्त सेवा के लिए सारे भारत मे से समान योग्यता-मापदण्डो के अनुसार समान वेतन-क्रम में बिना किसी प्रकार के भेदभाव के लोगो की भर्त्ती की जायगी और उपर्युक्त अखिल भारतीय सेवा के व्यक्ति या सदस्य ही सारे भारत सघ मे महत्त्वपूर्ण पदो पर नियुक्त किये जायेगे।" इस प्रकार अखिल भारतीय प्रशासन सेवा (I A S) के सदस्य ही केन्द्र मे भी और राज्यो मे भी सारे प्रशासन का सचालन करते हैं।

अखिल भारतीय प्रशासन सेवा (The Indian Administrative Service)—श्री एम० वी० वापत ने लिखा है कि "भारतीय प्रशासनिक सेवा का नियन्त्रण और प्रबन्ध एक सयुक्त और सहकारी कार्य है।"[1] इस सेवा का सगठन इस आधार पर किया जाता है कि प्रत्येक राज्य के लिए कई-कई वर्गो के अखिल भारतीय प्रशासनिक सेवक (I A S) रहे। इस सेवा के लिए केन्द्रीय सरकार प्रतियोगी एव प्रतिस्पर्द्धी परीक्षा के आधार पर योग्यतम व्यक्तियो का चयन करती है और ये परीक्षाएँ सघीय लोक-सेवा आयोग सगठित करता है। इन परीक्षाओ के आधार पर जो अधिकारी चुने जाते हैं उन्हे विभिन्न राज्यो के विभिन्न सवर्गो (cadres) के लिए नियुक्त कर दिया जाता है। प्रत्येक सवर्ग के लिए इतने अफसर या सेवक नियुक्त किए जाते हैं, कि उस सवर्ग में कुछ अतिरिक्त सेवक रहे ताकि उन अतिरिक्त सेवको को एक या कई बार चार-पाँच वर्ष के कार्य-काल के लिए सघ सरकार की सेवा मे नियुक्त किया जा सके और उस तीन, चार या पाँच वर्ष के कार्य-काल के पश्चात् उक्त प्रशासनिक सेवक को पुन राज्य-सेवा सवर्ग मे वापिस भेज दिया जाता है। इस व्यवस्था का यह लाभ है कि सघ सरकार के पास कुछ ऐसे योग्य और अनुभवी सेवक रहते हैं जिन्हे राज्यो के प्रशासन का भी पूर्ण ज्ञान और अनुभव होता है। और इसी प्रकार राज्यो के पास कुछ ऐसे योग्य और अनुभवी सेवक रहते हैं जिन्हें केन्द्रीय सरकार की नीतियो और कार्यक्रम का पूरा-पूरा अनुभव होता है।

भारतीय प्रशासनिक सेवा की एक अन्य विशेषता भी है। यह बहूद्देशीय सेवा वर्ग है जिसमें सभी प्रकार के प्रशासनिक अधिकारी रहते हैं। इनसे आशा की जाती है कि वे समय-समय पर विभिन्न क्षेत्रो और विभिन्न कर्तव्यो के पदो पर

---

[1] "The Training of the Indian Administrative Service."—The Indian Journal of Public Administration, April June,'55, p 119

लगाये जा सकते हैं। आवश्यकता आ पडने पर उन्हें शान्ति और व्यवस्था स्थापित करने के लिए लगाया जा सकता है, कभी उन्हे राजस्वो के एकत्रित करने के कार्य में लगाया जा सकता है, या व्यापार, वाणिज्य अथवा उद्योग के विनियमन के लिए प्रयुक्त किया जा सकता है, और यदि आवश्यकता आ पडे तो उन्हें राज्य के ऐसे कल्याणकारी कर्त्तव्यो में भी लगाया जा सकता है जैसे शिक्षा, स्वास्थ्य, श्रम अथवा विकास योजनाओ की क्रियान्विति अथवा कृषि और पुर्ननिर्माण से सम्बन्धित विकास और विस्तार योजनाओ की क्रियान्विति आदि आदि। इस प्रकार इन प्रशासको को प्रशासन की प्राय प्रत्येक शाखा में प्रशासनिक अनुभव प्राप्त हो जाता है। सेवा की ऐसी व्यवस्था के दो निश्चित लाभ हैं। मैकॉले और जॉवेट के अनुसार, बौद्धिक क्रियाकलापो को सम्पन्न करने के लिए विशिष्ट प्रशिक्षण प्राप्त करने की अपेक्षा यह अच्छी योग्यता का आधार है, और जो प्रशासक इस प्रकार के प्रशिक्षण में सफलता लाभ कर लेगा, उसमे श्रेष्ठ चारित्रिक गुणो का विकास अवश्य होगा। द्वितीयत, इस प्रकार के प्रशिक्षण-प्राप्त प्रशासको का दृष्टिकोण उदार बनेगा।

भारतीय प्रशासनिक सेवा (I A S) की भर्त्ती के लिए ऊँचे दर्जे की लिखित प्रतियोगी परीक्षा में बैठना आवश्यक है। लिखित प्रतियोगी परीक्षा मे कुछ अनिवार्य प्रश्नपत्र होते हैं और कुछ वैकल्पिक प्रश्नपत्र भी होते हैं, किन्तु वैकल्पिक प्रश्नपत्रो के विषय इस प्रकार रखे जाते हैं कि प्रत्येक परीक्षार्थी को कुछ ऐसे विषय भी आवश्यकत इस प्रतियोगी परीक्षा के लिए तैयार करने पडते हैं जिन्हे सम्भवत. उसने विश्वविद्यालय में न पढा हो। लिखित प्रतियोगी परीक्षा के उपरान्त कुछ प्रत्याशियो को व्यक्तित्व की कठोर परीक्षा से भी गुज़रना पडता है। किन्तु समक्षकार भेट (interview) के लिए किसी प्रत्याशी को तभी बुलाया जाता है, जब कि अनिवार्य और वैकल्पिक पत्रो में उसने कुछ निश्चित प्रतिशत अक प्राप्त कर लिये हो। व्यक्तित्व की परीक्षा के लिए भी कुछ निश्चित अक प्राप्त करना आवश्यक माना जाता है। यदि कोई प्रत्याशी लिखित परीक्षाओ में कितने भी अधिक अक प्राप्त कर ले, किन्तु यदि वह व्यक्तित्व की परीक्षा में आवश्यक अक प्राप्त नही कर पाता, तो उसे प्रशासनिक सेवा के लिए नही लिया जा सकता। श्री एस० बी० बापत ने लिखा है कि "भर्त्ती की इस प्रणाली के अनुसार यह निश्चय है कि केवल ऐसे ही नवयुवक भारतीय प्रशासन सेवा में प्रवेश करेंगे जो न केवल उच्च बौद्धिक एव पुस्तकीय ज्ञान से सज्जित होगे बल्कि जिनमे ऐसे उच्च चारित्रिक और वैयक्तिक गुण भी होगे—जैसे दूरदर्शिता, विचारो और अभिव्यक्ति सम्बन्धी स्पष्टता, ईमानदारी, आत्मविश्वास, आत्मनिर्भरता, उदार दृष्टिकोण, नैतिक और सामाजिक मूल्यो का बोध आदि—जिनका किसी लोकतन्त्रात्मक कल्याणकारी राज्य का उत्तरदायी प्रशासनिक अधिकारियो मे होना अतीव आवश्यक है।"[1]

सघ या राज्य की सेवा करने वाले व्यक्तियो की भर्त्ती तथा सेवा की शर्तें (Recruitment and Conditions of Service of Persons, serving the

---

[1] "The Training of the Indian Administrative Service"—The ndian Journal of Public Administration, April-June, 1955

Union or a State)—१९३३-३४ के भारतीय सवैधानिक सुधारो की परीक्षा करने वाली सयुक्त प्रवर समिति ने लिखा है कि किसी शासन-व्यवस्था में उत्तरदायी शासन की स्थापना के लिए यह अतीव आवश्यक है कि उस शासन की सेवा में ऐसे योग्य और स्वतन्त्र सिविल सेवक हो जो जाने और आने वाले मन्त्रियो को अपने लम्बे प्रशासनिक अनुभव के आधार पर सही परामर्श दे सकें, जो अपने सदाचार-पर्यन्त अपने पदो पर सुरक्षित हो, और जो उस नीति के क्रियान्वित करने के लिए उत्तरदायी हो, जिस पर सरकार और विधानमण्डल पूर्व निर्णय कर चुके हो।" डा० जैनिंग्ज ने ठीक ही लिखा है कि यदि राजनीतिज्ञो का भद्दा प्रभाव सिविल सेवको की नियुक्ति और पदोन्नति पर पडेगा, तो पूरा भय है कि ऐसे शासन में चापलूसी और स्वार्थपरता का बोलबाला रहेगा।[1] और फिर ऐसे शासन में मन्त्री के पास सिवाय अपने चापलूसो को प्रसन्न करते रहने के और कोई काम ही न रहेगा। ऐसी स्थिति मे सारा प्रशासन ही दूषित हो जायगा और सेवाओ मे योग्य, कार्यकुशल, ईमानदार और अनुभवी प्रशासको का पूर्ण अभाव हो जायगा। इसलिए सार्वजनिक सेवाओ मे भर्ती और सेवको की सेवा की शर्तों का अत्यधिक महत्त्व है, अन्यथा भय है कि ठीक प्रकार के योग्य व्यक्ति इन सेवाओ में न आ सकेंगे।

प्रारूप समिति ने यह उचित समझा कि सेवाओ के सम्बन्ध में विस्तृत उपबन्धो का विनियमन विधानमण्डलो के द्वारा होना चाहिए न कि सवैधानिक उपबन्धो के द्वारा।[2] सविधान सभा ने प्रारूप समिति की उक्त सिफारिश को स्वीकार कर लिया; और तदनुसार सविधान ने कुछ सामान्य उपबन्ध तो अवश्य किए हैं, किन्तु सघ और राज्यो मे कार्य करने वाले सेवको की भर्ती और उनकी सेवा की शर्तों के विषय में विस्तृत नियमो की व्याख्या आदि को सम्बन्धित विधानमण्डलो के निर्णयो पर छोड दिया गया है।

सविधान ने उपबन्धित किया है कि ऐसा प्रत्येक व्यक्ति जो सघ की प्रतिरक्षा सेवा या असैनिक सेवा का या अखिल भारतीय सेवा का सदस्य है अथवा सघ के अधीन प्रतिरक्षा से सम्बन्धित किसी पद को अथवा किसी असैनिक पद को धारण करता है, केवल राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त ही पद धारण करता है। तथा प्रत्येक ऐसा व्यक्ति जो राज्य की असैनिक सेवा का सदस्य है अथवा किसी राज्य के अधीन किसी असैनिक पद को धारण करता है, राज्य के राज्यपाल के प्रसाद-पर्यन्त पद धारण करता है।[4] जो व्यक्ति सघ की असैनिक सेवा का या अखिल भारतीय सेवा का या राज्य की असैनिक सेवा का सदस्य है अथवा सघ के या राज्य के अधीन असैनिक पद को धारण करता है, वह अपनी नियुक्ति करने वाले प्राधिकारी से निचले किसी प्राधिकारी द्वारा न तो पदच्युत किया जा सकता है और न पद से हटाया जा सकता है। उपर्युक्त प्रकार का कोई सेवक तब तक न तो पदच्युत किया जा

---

1 Vol I, para 274

2. The Draft Constitution of India, p XI.

3 अनुच्छेद ३०९। सघ सूची की प्रविष्टि ७० और राज्य सूची की प्रविष्टि ४१ को भी देखिये।

4 अनुच्छेद ३१०।

सकता है, न पद से हटाया जा सकता है और न उसे पक्तिच्युत किया जा सकता है जब तक कि उसे उसके बारे में प्रस्थापित की जाने वाली कार्रवाई के खिलाफ़ कारण दिखाने का युक्तियुक्त अवसर उसे न द दिया गया हो। परन्तु यह खण्ड वहाँ लागू न होगा—

(क) जहाँ कोई व्यक्ति ऐसे आचार के आधार पर पदच्युत किया गया या हटाया गया या पक्तिच्युत किया गया है जिसके लिए दण्ड-दोषारोप पर वह सिद्ध-दोष हुआ है,

(ख) जहाँ किसी व्यक्ति को पदच्युत करने या पद से हटाने या पक्तिच्युत करने की शक्ति रखने वाले किसी प्राधिकारी का समाधान हो जाता है, कि किसी कारण से, जो उस प्राधिकारी द्वारा लेखवद्ध किया जायगा, यह युक्ति युक्त रूप में व्यवहार्य नही है, कि उस व्यक्ति को कारण दिखाने का अवसर दिया जाय, अथवा

(ग) जहाँ यथास्थिति राष्ट्रपति या राज्यपाल का समाधान हो जाता है कि राज्य की सुरक्षा के हित में यह इष्टकर नही है कि उस व्यक्ति को ऐसा अवसर दिया जाय।[1]

यदि कोई प्रश्न पैदा होता है कि क्या उपर्युक्त किसी सेवक को कारण दिखाने का अवसर देना युक्तियुक्त रूप में व्यवहार्य है या नही, तो ऐसे व्यक्ति को यथास्थिति पदच्युत करने या पद से हटाने अथवा उसे पक्तिच्युत करने की शक्ति वाले प्राधिकारी का उस पर विनिश्चय अन्तिम होगा।[2] ऐसे विनिश्चय के ऊपर कोई न्यायालय आपत्ति नही कर सकता।

लोक सेवा आयोग

(Public Service Commissions)

सघ और राज्यो के लिए लोक सेवा आयोग (Public Service Commission for the Union and for the States)—सविधान ने सघ के लिए एक सघीय लोक सेवा आयोग की तथा प्रत्येक राज्य के लिए एक-एक राज्य लोक सेवा आयोग की व्यवस्था की है। किन्तु दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल सकल्पो द्वारा विनिश्चय करें कि उन राज्यो के समूह के लिए केवल एक ही लोक सेवा आयोग होगा, तो ससद् उन राज्यो या राज्यो के समूह के लिए अथवा उनकी आवश्यकताओ की पूर्त्ति के लिए सयुक्त आयोग का उपबन्ध कर सकेगी। यदि किसी राज्य का राज्यपाल सघ के लोक सेवा आयोग से ऐसा करने की प्रार्थना करे, तो राष्ट्रपति के अनुमोदन से, वह उस राज्य की सब या किन्ही आवश्यकताओ की पूर्त्ति के लिए कार्य करना स्वीकार कर सकता है।[3]

सदस्यों की नियुक्ति तथा पदावधि (Appointment and Terms of Office of Members)—लोक सेवा आयोग के अध्यक्ष और अन्य सदस्यो की नियुक्ति, यदि वह सघ-आयोग या सयुक्त आयोग है, तो राष्ट्रपति द्वारा, तथा यदि वह राज्य आयोग

---

[1] अनुच्छेद ३११।

[2] अनुच्छेद ३११ (३)।

[3] अनुच्छेद ३१५।

है तो राज्य के राज्यपाल द्वारा की जाती है। परन्तु प्रत्येक लोक सेवा आयोग के सदस्यों में से यथाशक्य निकटतम आधे ऐसे व्यक्ति होंगे, जो अपनी-अपनी नियुक्तियों की तारीख पर भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन कम से कम दस वर्ष तक पद धारण कर चुके हों। लोक सेवा आयोग का सदस्य, अपने पद ग्रहण की तारीख से छ वर्ष की अवधि तक, अथवा यदि वह संघ आयोग है तो पैंसठ वर्ष की आयु को प्राप्त होने तक तथा यदि वह राज्य आयोग है तो, साठ वर्ष की आयु को प्राप्त होने तक, जो भी इनमें से पहिले हो अपना पद धारण करता है। कोई व्यक्ति, जो लोक सेवा आयोग के सदस्य के रूप में पद धारण करता है, अपनी पदावधि की समाप्ति पर उस पद पर पुनर्नियुक्ति के लिए अपात्र नहीं माना जाता।[1] संघ लोक सेवा आयोग का सभापति भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन किसी भी और नौकरी के लिए पात्र नहीं होगा। किन्तु संघ लोक सेवा आयोग का सदस्य, संघ आयोग का सभापति या किसी राज्य सेवा आयोग का सभापति नियुक्त हो सकता है। किसी राज्य लोक सेवा आयोग का सभापति संघ आयोग का सभापति या सदस्य नियुक्त हो सकता है, या किसी अन्य राज्य लोक सेवा आयोग का सभापति भी नियुक्त हो सकता है। उसी प्रकार किसी राज्य लोक सेवा आयोग का कोई सदस्य संघ आयोग का सभापति या सदस्य नियुक्त हो सकता है, अथवा वह किसी अन्य राज्य के लोक सेवा आयोग का सभापति भी नियुक्त किया जा सकता है। किन्तु संघ लोक सेवा आयोग का सभापति या सदस्य अथवा किसी राज्य लोक सेवा आयोग का सभापति या सदस्य भारत सरकार या राज्य सरकार के अधीन किसी अन्य नौकरी के लिए पात्र नहीं होगा।[2]

संघ आयोग या संयुक्त आयोग के बारे में राष्ट्रपति तथा राज्य आयोग के बारे में सम्बन्धित राज्य का राज्यपाल विनियमों द्वारा आयोग के सदस्यों की संख्या तथा उनकी सेवाओं की शर्तों का निर्धारण करता है।[3] किन्तु बाद में यह भी निर्णय कर दिया गया है कि संघ लोक-सेवा आयोग में छ से लेकर आठ तक सदस्य होंगे; और राज्य लोक सेवा आयोग में लगभग तीन सदस्य होंगे। परन्तु किसी लोक सेवा आयोग के सदस्य की सेवा की शर्तों में उसकी नियुक्ति के पश्चात् उसको अलाभकारी परिवर्तन नहीं किया जा सकता।[4]

लोक सेवा आयोग के किसी सदस्य का हटाया जाना या निलम्बित किया जाना (Removal and Suspension of a Member of a Public Service Commission)—लोक सेवा आयोग का सभापति या अन्य कोई सदस्य अपने पद से केवल राष्ट्रपति द्वारा कदाचार के आधार पर दिए गए उस आदेश पर ही हटाया जा सकता है, जो कि उच्चतम न्यायालय से राष्ट्रपति द्वारा पृच्छा किए जाने पर उस न्यायालय द्वारा की गई जाँच पर उस न्यायालय द्वारा दिए गए इस प्रतिवेदन के

---

[1] अनुच्छेद ३१६।

[2] अनुच्छेद ३१९।

[3] अनुच्छेद ३१८।

[4] अनुच्छेद ३१८ का परन्तुक (Proviso)।

पश्चात्, कि यथास्थिति सभापति या ऐसे किसी सदस्य को, ऐसे किसी आधार पर हटा दिया जाय, दिया गया है।[1] आयोग के सभापति या अन्य किसी सदस्य को जिसके सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय से पृच्छा की गई है, राष्ट्रपति, यदि वह संघ आयोग या संयुक्त आयोग है, या राज्यपाल यदि वह राज्य आयोग है, उसको पद से तब तक के लिए निलम्बित कर सकता है जब तक कि ऐसी पृच्छा की गई बात पर उच्चतम न्यायालय के प्रतिवेदन के मिलने पर राष्ट्रपति अपना आदेश न दे।[2] किन्तु राष्ट्रपति अपने आदेश द्वारा किसी लोक सेवा आयोग के सभापति या सदस्य को अपने पद से हटा सकता है यदि किसी आयोग का सभापति या सदस्य •

(क) दिवालिया न्यायनिर्णीत हो जाता है, अथवा

(ख) अपनी पदावधि में अपने पद के कर्त्तव्यो से बाहर कोई वैतनिक नौकरी करता है, अथवा

(ग) राष्ट्रपति की राय में मानसिक या शारीरिक दौर्बल्य के कारण अपने पद पर बने रहने के अयोग्य है।[3]

यदि लोक सभा आयोग का सभापति या अन्य कोई सदस्य भारत सरकार के या राज्य की सरकार द्वारा, या ओर से, की गई किसी संविदा या करार में, निगमित समवाय (incorporated company) के सदस्य के नाते तथा उसके अन्य सदस्यो के साथ-साथ के सिवाय किसी प्रकार से भी सम्पृक्त या हित सम्बद्ध है या हो जाता है अथवा किसी प्रकार से उसके किसी लाभ में अथवा तदुत्पन्न किसी फायदे या उपलब्धि में भाग लेता है तो वह कदाचार का अपराधी माना जायगा।[4]

१९३५ के भारत सरकार अधिनियम में लोक सेवा आयोगो के सदस्यो को अपने पदो से हटाने के सम्बन्ध में अथवा उन्हे निलम्बित करने के सम्बन्ध में कोई उपबन्ध नही था। इस सम्बन्ध मे सारी बाते उन नियमो के आधार पर निर्णीत होती थी जिन्हे गवर्नर-जनरल या गवर्नर यथास्थिति केन्द्रीय लोक सेवा आयोग या प्रान्तीय लोक सेवा आयोग के लिए स्वविवेक के आधार पर विनियमित करता था।[5] संविधान का अनुच्छेद ३१७ राष्ट्रपति को अधिकार प्रदान करता है कि केवल वही किसी लोक सेवा आयोग के किसी सदस्य को अपने पद से पृथक् कर सकता है। जब कभी कोई सदस्य दिवालिया न्यायनिर्णीत हो जाता है, या वह अपनी पदावधि में कोई बाहर की वैतनिक नौकरी कर लेता है, या वह मानसिक दौर्बल्य के कारण अपने पद के कर्त्तव्यो के निर्वहन के लिए अयोग्य ठहराया जाता है तो राष्ट्रपति अपने आदेश से ऐसे, आयोग के किसी सदस्य को उसके पद से हटा सकता है। किन्तु कदाचार के आक्षेप पर यदि किसी आयोग के किसी सदस्य को हटाया जाता है, तो संविधान में उपबन्धित कुछ औपचारिकता का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। अनुच्छेद ३१७ (४) मे संविधान ने कदाचार का एक उदाहरण भी उपबन्धित किया है। यदि कदाचार (misbehaviour) के सम्बन्ध में किसी सदस्य को अपने पद से हटाना

---

[1] अनुच्छेद ३१७ (१)।

[2] अनुच्छेद ३१७ (२)।

[3] अनुच्छेद ३१७ (३)।

[4] अनुच्छेद ३१७ (४)।

[5] धारा २६५ (२) (क)।

अभीष्ट है तो उसके लिए उच्चतम न्यायालय से परामर्श लेना आवश्यक ठहराया गया है। उच्चतम न्यायालय आवश्यक जांच-पड़ताल करेगा। यदि उच्चतम न्यायालय राष्ट्रपति को प्रतिवेदन दे, कि सम्बन्धित सदस्य सिद्ध कदाचार के आरोप पर अपने पद से हटा दिया जाय, तो राष्ट्रपति आदेश दे देता है और राष्ट्रपति के आदेश पर किसी आयोग का सम्बन्धित सदस्य अपने पद से अलग कर दिया जायगा।

लोक सेवा आयोगों के कृत्य (Functions of the Public Service Commissions)—संविधान ने लोक सेवा आयोगों के निम्न कर्त्तव्य निर्धारित किए हैं।[1]

(१) संघ लोक सेवा आयोग और राज्य लोक सेवा आयोग प्रतियोगी परीक्षाओं के आधार पर संघ और राज्यों की सेवाओं के लिए व्यक्तियों का चयन करेंगे;

(२) यदि संघ लोक सेवा आयोग से कोई दो या अधिक राज्य ऐसा करने की प्रार्थना करें तो उसका यह कर्त्तव्य होगा कि ऐसी किन्हीं सेवाओं के लिए, जिनके लिए विशेष अर्हता वाले अभ्यर्थी अपेक्षित हैं, मिली-जुली भर्ती की योजनाओं के बनाने तथा प्रवर्त्तन में लाने के लिए उन राज्यों की सहायता करे।

(३) यथास्थिति संघ लोक सेवा आयोग या राज्य लोक सेवा आयोग से—

(क) असैनिक सेवाओं में और असैनिक पदों के लिए भर्ती की रीतियों से सम्बद्ध समस्त विषयों पर, तथा ऐसे पदों पर नियुक्त करने के तथा एक सेवा से दूसरी सेवा में पदोन्नति और बदली करने के विषय पर,

(ख) तथा अभ्यर्थियों की ऐसी नियुक्ति, पदोन्नति अथवा बदली की उपयुक्तता के बारे में अनुसरण किए जाने वाले सिद्धान्तों पर,

(ग) समस्त असैनिक सेवकों पर प्रभाव डालने वाले अनुशासनात्मक कार्यवाइयों के विषयों पर,

(घ) ऐसे व्यक्ति द्वारा कृत, जो भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन असैनिक हैसियत से सेवा कर रहा है या कर चुका है, अथवा ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध मे कृत, जो कोई दावा है कि अपने कर्त्तव्य-पालन में किए गए, या अनुभिप्रेत, कार्यों के सम्बन्ध मे उसके विरुद्ध चलाई गई किन्ही विधि कार्यवाइयों में जो खर्चा उसे अपनी प्रतिरक्षा मे करना पड़ा है वह यथास्थिति भारत की संचित निधि में से या राज्य की संचित निधि में से दिया जाना चाहिए इस दावे पर,

(ङ) भारत सरकार या किसी राज्य की सरकार के अधीन असैनिक हैसियत मे सेवा करते समय किसी व्यक्ति को हुई क्षति के बारे में निवृत्ति वेतन दिए जाने के लिए किसी दावे पर तथा ऐसी दी जाने वाली राशि क्या हो, इस प्रश्न पर—परामर्श किया जायगा, तथा इस प्रकार उनसे पूछा किए हुए किसी विषय पर तथा किसी अन्य विषय पर, जिस पर यथास्थिति राष्ट्रपति या राज्यपाल उनसे पूछा करे, परामर्श देने का लोक सेवा आयोग का कर्त्तव्य होगा।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि साधारणतया लोक सेवा आयोग से इन सभी विषयों पर अवश्य परामर्श मांगा जायगा जिनका सम्बन्ध असैनिक पदों पर भर्ती या इन

---

[1] अनुच्छेद ३२०।

[2] अनुच्छेद ३२०।

सम्बन्ध मे अनुसरण किए जाने वाले सिद्धान्तो से होगा, या जिनका सम्बन्ध अभ्यर्थियो की पदोन्नति, बदली आदि से होगा[1], या जिनका सम्बन्ध अभ्यर्थियो की उपयुक्तता से होगा, या जिनका सम्बन्ध असैनिक सेवको पर प्रभाव डालने वाली अनुशासनात्मक कार्रवाइयो से होगा, या जिनका सम्बन्ध ऐसे दावो से होगा जो असैनिक सेवकों ने किन्ही विधि कार्रवाइयो मे अपनी प्रतिरक्षा के ऊपर किए गए खर्चे के दावे के रूप में किया हो, या जिनका सम्बन्ध किसी अधीन असैनिक हैसियत से सेवा करते समय किसी व्यक्ति को हुई क्षति के बारे में निवृत्ति वेतन की राशि के निश्चय करने में से हो। किन्तु साथ ही संविधान ने राष्ट्रपति और राज्यपालों को अधिकार दिया है कि वे कुछ विषयो पर ऐसे विनियम बना सकेंगे और निर्धारित कर सकेंगे कि कतिपय विशिष्ट परिस्थितियो में लोक सेवा आयोगो से परामर्श लेना आवश्यक भी नही होगा। उदाहरणार्थ इस सम्बन्ध में लोक सेवा आयोग से परामर्श माँगना आवश्यक नही है कि पिछडे वर्गों, अनुसूचित जातियो और अनुसूचित आदिम जातियो के लिए कितने पद या स्थान सुरक्षित रखे जायें।[2] संविधान उपबन्धित करता है कि जिन विषयो पर यथास्थिति राष्ट्रपति या राज्यपाल विनियम के द्वारा आदेश करे कि लोक सेवा आयोग का परामर्श लेना आवश्यक नही है, वहाँ ऐसे सब विनियम उनके बनाए जाने के पश्चात् यथासम्भव शीघ्र यथास्थिति सम्बन्धित विधानमण्डल के समक्ष रखे जायें, तथा ऐसे सब विनियम संसद् या राज्य के विधानमण्डल की स्वीकृति के विषय होंगे।[3]

संसद् के अधिनियम के द्वारा संघ लोक सेवा आयोग के कृत्यो का विस्तार हो सकता है, और उसी प्रकार राज्य लोक सेवा आयोग के कृत्यो का भी विस्तार राज्य के विधानमण्डल द्वारा पारित अधिनियम के आधार पर हो सकता है।[4]

लोक सेवा आयोगों के प्रतिवेदन (Reports of Public Service Commissions)—संविधान उपबन्धित करता है कि संघ तथा राज्यों के लोक सेवा आयोगो का कर्त्तव्य होगा कि वे क्रमश संघ की सेवाओं और राज्यो की सेवाओ में नियुक्तियो के लिए परीक्षाओ का संचालन करें। संविधान ने यह भी उपबन्धित किया है कि सेवाओ में भर्ती के विषय में लोक सेवा आयोगो का परामर्श लिया जाना चाहिए।[5] फिर भी लोक सेवा आयोगो की स्थिति विशेष रूप से परामर्शदाता निकाय की सी है। लोक सेवा आयोग सामान्यत. राष्ट्रपति या राज्यपाल को अपना परामर्श मात्र या सिफारिश मात्र देते हैं कि किस पद या स्थान के लिए कौन प्रत्याशी उपयुक्त है, किन्तु आयोग का परामर्श मानना राष्ट्रपति या राज्यपाल के लिए नितान्त आवश्यक ही नही है।[6]

---

[1] अनुच्छेद ३२० का परन्तुक (Proviso of article ३२०)।

[2] अनुच्छेद ३२० (४)। अनुच्छेद १६ (४) और अनुच्छेद ३३५ भी देखिए।

[3] अनुच्छेद ३२० (५)।

[4] अनुच्छेद ३२१।

[5] अनुच्छेद ३२०।

[6] अनुच्छेद ३२० (३)। 'परामर्श किया जायगा' (Shall be Consulted) का विशेष अर्थ है।

वास्तविक नियुक्तियाँ संघ में राष्ट्रपति के द्वारा और राज्यों में राज्यपाल के द्वारा की जाती हैं। किन्तु संविधान ने उपबन्धित किया है कि संघ आयोग प्रतिवर्ष राष्ट्रपति को साल भर के अपने कृत्यों का विवरण प्रस्तुत करे और प्रतिवेदन निवेदित करे। उपर्युक्त विवरण अथवा प्रतिवेदन के प्राप्त होने पर राष्ट्रपति उक्त प्रतिवेदन की प्रतिलिपि केन्द्रीय विधानमण्डल के दोनों सदनों के समक्ष रखवाता है; और प्रतिवेदन के साथ एक ज्ञापन भी नत्थी कराता है जिसमें उन मामलों का पूरा विवरण रहता है जिन पर राष्ट्रपति ने संघीय लोक सेवा आयोग की सिफारिशों को स्वीकार नहीं किया; और पुन उक्त सिफारिशों को स्वीकार न करने के कारणों पर भी प्रकाश डाला जाता है।[1] इसी प्रकार राज्य आयोग का भी कर्तव्य है कि राज्य के राज्यपाल के समक्ष आयोग द्वारा किए गए काम के बारे में प्रतिवर्ष प्रतिवेदन दे; तथा ऐसे प्रतिवेदन के मिलने पर राज्यपाल उन मामलों के बारे में यदि कोई हों, जिनमें कि आयोग का परामर्श स्वीकार नहीं किया गया है, ऐसी अस्वीकृति के लिए कारणों को स्पष्ट करने वाले ज्ञापन के सहित उस प्रतिवेदन की प्रतिलिपि राज्य के विधानमण्डल के समक्ष रखवाएगा।[2]

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भारतीय संविधान की मान्यता यही है कि संघ और राज्यों की व्यवस्थापिकाएँ शासन के निर्णयों की परीक्षा करें। वास्तव में संविधान ने नियुक्तियों के सम्बन्ध में अन्तिम शक्ति एक प्रकार से विधानमण्डलों को दी है। जैसा कि श्री एस० बी० बापट (Shri S B Bapat) ने लिखा है, "संविधान का उपर्युक्त उपबन्ध निश्चित कर देता है कि नियुक्तियों के सम्बन्ध में लोक सेवा आयोग से परामर्श करना आवश्यक है और लोक सेवा आयोग का परामर्श सामान्यतः मानना ही होगा; और शासन केवल कुछ ऐसे मामलों में आयोग का परामर्श अस्वीकृत कर सकता है; जहाँ कोई गम्भीर सिद्धान्त अन्तर्ग्रस्त है और जहाँ शासन अपने निर्णय का औचित्य विधानमण्डल के समक्ष सिद्ध करने की हिम्मत रखता हो।"[3] भारतीय संघ सरकार प्रतिवर्ष लगभग छः हजार मामलों पर संघ लोक सेवा आयोग का परामर्श माँगती है; और जिन मामलों पर संघ सरकार ने आयोग की सिफारिशों को नहीं माना, वे प्राय नगण्य हैं। निम्न तालिका से यह तथ्य स्पष्ट हो जाएगा।

वर्ष	ऐसे कुल मामले जिन पर आयोग की सिफारिश को स्वीकार नहीं किया गया।
१९५०-५१	६
१९५१-५२	२
१९५२-५३	२
१९५३-५४	४
१९५४-५५	१

---

[1] अनुच्छेद ३२३ (१)।

[2] अनुच्छेद ३२३ (२)।

[3] Bapat, S B : Public Service Commission—An Indian Approach, The Indian Journal of Public Administration, Jan.-March 1956, page, 58

Suggested Readings

Appleby, Paul, H	Public Administration in India, Report of a Survey
Attlee, C R	Civil Servants, Ministers, Parliament and Public, The Indian Journal of Public Administration, April June 1955
Bapat, S B	. The Training of the Indian Administrative Service, The Indian Journal of Public Administration, April-June '55
”	Public Service Commissions—An Indian Approach, The Indian Journal of Public Administration, Jan -March '56
Dutt, R C	Principles of Selection in Public Services, The Indian Journal of Public Administration, July-Sept 1955
Finer, H.	The British Civil Service
Finer, H	. The Theory and Practice of Modern Government (1954), Chapter XXX
Gadgil, N V.	Accountability of the Administration, The Indian Journal of Public Administration, July-Sept 1955
Jennings W I	Cabinet Government, pp 110—123
Khosla, J N	Presidential Address delivered at the Indian Political Science Conference Trivandrum, session January '48, Published in the Indian Journal of Political Science
Laski, H. J	Parliamentary Government in England, pp 263—308, and Chapter VI.
Nehru, J L.	A Word to the Services, The Indian Journal of Public Administration, Oct -Dec 1955
Pant, Govind Ballabh	Public Servant in a Democracy, The Indian Journal of Public Administration, July-Sept 1955
Raja Gopalachari, C R.	Patel Memorial Lecture of A I R, Hindustan Times, Aug 15, 1955

अध्याय १३

राजनीतिक दल

(Political Parties)

राजनीतिक दल और लोकतन्त्र (Political Parties and Democracy)—लोकतन्त्र की सफल क्रियान्विति के लिए राजनीतिक दलों का होना अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि बिना राजनीतिक दलों के लोकतन्त्र अधिनायकवाद का स्वरूप धारण कर लेता है। मैक्आइवर (MacIver) ने लिखा है, "बिना राजनीतिक दलों के न तो सम्यक् नीति निर्धारित की जा सकती है, न संवैधानिक आधार पर विधान-मण्डलों के लिए निर्वाचनों की उचित व्यवस्था की जा सकती है, और न बिना राजनीतिक दलों के ऐसी मान्य राजनीतिक संस्थाओं और निकायों की स्थापना की जा सकती है जिनके द्वारा दल सत्ता और अधिकार प्राप्त करते हैं।"[1] जो लोग राजनीतिक दलों के बढ़ते हुए प्रभाव और उनकी स्थिति से चिढ़ते हैं, वे वास्तव में लोकतन्त्र की क्रियान्विति से अनभिज्ञ हैं। लॉवेल (Lowell) ने ठीक ही कहा था कि "किसी बड़े देश में सर्वसाधारण के शासन की कल्पना कोरी मनगढन्त कल्पना मात्र है क्योंकि जहाँ कहीं व्यापक और विस्तृत मताधिकार है, वहाँ दलों की उपस्थिति अनिवार्य है और निस्सन्देह शासन का नियन्त्रण उस दल के हाथों में रहेगा जिसका बहुमत होगा अर्थात् जिसके पक्ष में सर्वसाधारण का बहुमत होगा।" दलीय संगठन के बिना झगड़े-टण्टे बढ़ेंगे और लोग या वर्ग अपने-अपने कष्टों के निवारणार्थ सीधे सरकार के पास पहुँचने का प्रयत्न करेंगे। राजनीतिक दल केवल शासन को प्रभावित या उसका केवल समर्थन मात्र नहीं करते। वास्तव में राजनीतिक दल ही शासन का निर्माण करते हैं और वे ही शासन चलाते हैं। राजनीतिक दलों का मुख्य कार्य तो यह है कि वे निर्वाचकों को प्रभावित करते हैं, फिर चुनाव जीतते हैं और फिर वे अपने चुनाव घोषणा-पत्र में घोषित कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के उद्देश्य से शासन का निर्माण करते हैं। राजनीतिक दल एक संगठित इकाई है जिसकी प्रेरणा पर समान विचारधारा के लोग एक निश्चित कार्यक्रम पर चलते हैं और उसकी क्रियान्विति के लिए सम्मिलित प्रयास करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल सर्वसाधारण के समक्ष एक निश्चित व्यवस्था और कार्यक्रम उपस्थित करके और नीति-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर सर्वसाधारण का अनुमोदन प्राप्त करके अव्यवस्था में व्यवस्था और क्रम का संचार करते हैं। राजनीतिक दल ही निर्वाचनों का संयोजन करते हैं, और वे निर्वाचनों में विजय लाभ करने का प्रयत्न करते हैं। निर्वाचन में कोई दल तभी विजयी हो सकता है जबकि उसके कार्यक्रम

---

[1] The Modern State, p 396

बन जाती है, और यह मन्त्रि-परिषद् राजनीति के खेल को एक टीम के समान एक उद्देश्य के आसरे अपने मान्य नेता की कप्तानी में खेलती है। सभी मन्त्री एक साथ पदो पर आते हैं और एक साथ पदो को छोडते हैं और वे सब व्यक्तिश और सामूहिक रूप से उस नीति के लिए उत्तरदायी होते हैं जिसे मन्त्रिमण्डल निर्धारित करता है और जिसे वे सब क्रियान्वित करते हैं। यदि निम्न सदन या लोकप्रिय सदन शासन की नीति को स्वीकार नही करता और शासन के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पास कर देता है तो निम्न दो बातों में से एक बात अवश्य होगी। या तो विरोधी दल शासन सत्ता को सँभालता है, यदि विरोधी दल को लोकप्रिय सदन के बहुमत दल का समर्थन प्राप्त हो सके, अन्यथा प्रधान मन्त्री प्रार्थना कर सकता है कि विधानमण्डल को विघटित कर दिया जाय, और ऐसी स्थिति में महानिर्वाचन होगा और नीति के सम्बन्ध में देश अपना मत व्यक्त करेगा। महानिर्वाचन के फलस्वरूप निम्न अथवा लोकप्रिय सदन में जिस दल का बहुमत बन जायेगा, उसी की सरकार बनेगी।

किन्तु अधिकाश यूरोपीय देशो में दो से अधिक राजनीतिक दल हैं, और कुछ देशो में तो १७ से लेकर २० तक राजनीतिक दल हैं, और उन देशो में एक देश फ्रास भी है। बहुदल पद्धति वास्तव में कुछ परेशानी की स्थिति है। जहाँ दो से अधिक राजनीतिक दल हैं, वहाँ उन्हे राजनीतिक दल कहना भी उचित नही होगा। तथ्यत वे राजनीतिक समुदाय हैं। जब ऐसे अनेको राजनीतिक समुदाय होते हैं, तो किसी दल को इतना सुनिश्चित बहुमत प्राप्त नही हो सकता कि वह स्थायी सरकार का निर्माण कर सके। ऐसी स्थिति में बहुमत तभी प्राप्त हो सकता है जबकि कई कई राजनीतिक समुदाय मिल जायें, किन्तु मिलने पर भी उनमे साम्य नही होता --न तो उनमें समान भक्ति होती है और न समान निष्ठा। ऐसे राजनीतिक समुदायो के गठबन्धन से प्राप्त बहुमत को हम सौदेबाज़ी और समझौते का प्रतिफल कह सकते हैं। ऐसी मन्त्रि-परिषद् जो समझौता और सौदेबाज़ी के आधार पर बनी हो तनिक से मतभेद और बहाने पर टूट सकती है। मिली-जुली या सयुक्त सरकार का कोई सर्वमान्य या सामान्य नेता नही होता, जो सब दलो के प्रतिनिधियो को एक मार्ग पर चला सके। प्रत्येक मन्त्री प्रधान मन्त्री बनने का आकाक्षी होता है। इसलिए इस प्रकार बने हुए मन्त्रिमण्डल अत्यन्त अस्थायी और कमजोर होते हैं। श्री ब्रायण्ड ने एक अवसर पर कहा था कि जिस दिन फ्रास का प्रधान मन्त्री अपना पद सँभालता है उसी दिन से उसके मन्त्रियो में से कोई न कोई मन्त्री अपने प्रधान मन्त्री की जड खोखली करने लगता है।[1]

बहुदल पद्धति के कुछ भी गुण हो, और चाहे यहाँ भी मान लिया जाय कि बहुदल पद्धति विभिन्न लोगो के विभिन्न मतो के अनुरूप है, फिर भी यह मानना ही पडेगा कि यह अव्यावहारिक है और इसकी क्रियान्विति कठिन है। अच्छे प्रशासन के लिए सब से अधिक आवश्यकता इस बात की है कि अनिश्चितता का अन्त हो। शासन

---

[1] Laski, H. J Democracy in Crisis.

को अवसर मिलना चाहिए कि वह एक निश्चित नीति के अनुसार लगातार आगे बढ़े। इसके लिए यह अतीव आवश्यक है कि किसी एक दल को या कई संयुक्त दलों को स्थायी बहुमत प्राप्त हो। "अन्यथा स्थिति में विधानमण्डल कार्यपालिका के ऊपर इस बुरी तरह छा जाता है कि कार्यपालिका बड़ी प्रशासनिक योजनाओं को हाथ में लेने का साहस नहीं कर सकती, और जो समय देश के लिए कल्याणकारी सेवा में बिताया जाना चाहिए था, वह समय वास्तव में जोड़-तोड़ और षड्यन्त्रों में बर्बाद किया जाता है और फलस्वरूप ज्योंही कोई नया पद प्राप्त किया जाता है, कि उसके छिन जाने की भी तैयारी पूरी हो चुकती है।"[1] डा० फाइनर (Dr Finer) का कथन है कि "द्विदल पद्धति देश के कल्याण और हित का साधन करेगी किन्तु बहु-दल पद्धति अहितकर होगी। किन्तु यदि केवल दो दल ही राजनीति के मैदान में होंगे तो उसका यह लाभ होगा कि झूठ और दोष पकड़ लिये जायेंगे, और काफी हद तक लोगों की इच्छाओं का न तो हनन होगा और न दृष्टिकोण का विघटन ही होगा।"[2]

भारत के राजनीतिक दलों का विकास (Growth of Political Parties in India)—प्रो० लास्की (Prof Laski) के अनुसार राजनीतिक दलों का मुख्य कार्य यह है कि वे राज्य के आर्थिक संविधान की रचना करते हैं। यदि इस आधार पर देखा जाय तो कहना पड़ेगा कि भारतीय स्वतन्त्रता से पहिले भारत में कोई ऐसा राजनीतिक दल नहीं था जिसने भारत के आर्थिक स्वरूप को प्रभावित करने का प्रयत्न किया हो अथवा भारत के आर्थिक संविधान के निर्माण करने का प्रयत्न किया हो, यद्यपि उस काल में भी तीन मुख्य और महत्त्वपूर्ण राजनीतिक दल वर्त्तमान थे, जिनके नाम निम्नलिखित थे (१) भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस, जिसकी स्थापना १८८५ में हुई, (२) अखिल भारतीय मुसलिम लीग जिसकी स्थापना १९०६ में हुई, और (३) अखिल भारतीय हिन्दू महासभा जिसकी स्थापना १९१६ में हुई थी। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Indian National Congress) में विभिन्न विचार-धाराओं के लोग थे और इसका मुख्य उद्देश्य यह था कि किसी प्रकार भारत को विदेशी गुलामी से मुक्ति मिले। प्रो० अवस्थी के अनुसार "कांग्रेस एक राजनीतिक दल नहीं था बल्कि वह तो सारे राष्ट्र की प्रतीक थी जिसने देश की स्वतन्त्रता प्राप्त करने का बीड़ा उठा रखा था।"[3] जहाँ तक कांग्रेस राष्ट्रीय आन्दोलन की अगुआ थी, इस राष्ट्रीय संगठन के लिए स्वाभाविकतः अनिवार्य था कि वह राष्ट्रीय स्वतन्त्रता की प्राप्ति के हेतु सभी को अपने कार्यक्रम की ओर आकर्षित करती। इसलिए कांग्रेस के सदस्यों में और समर्थकों में जमींदार थे, किसान थे, पूंजीवादी भी थे और मजदूर भी थे, डाक्टर भी थे और रईस थे, बैंकर भी थे, और सभी व्यवस्थाओं, सभी व्यवसायों सभी जातियों, सभी धर्मों और मतों के लोग थे, यहाँ

---

1. Laski, H J Grammar of Politics, pp 314-315
2 Finer, H Theory and Practice of Modern Govt , p 36
3 The Indian Journal of Political Science, Jan.-March 1951, p. 7.

तक कि कांग्रेस में पर्याप्त सख्या में अछूत और पिछडे वर्गों के लोग भी थे। ऐसे बेमेल (heterogeneous) सगठन के लिए यह सम्भव नही था कि वह किसी निश्चित सामाजिक या आर्थिक कार्यक्रम को अपने हाथो में लेता, क्योंकि ऐसा करने में भय था कि "कांग्रेस को दो मोर्चों पर अर्थात् साम्राज्यवाद के विरुद्ध और आन्तरिक या सामाजिक विद्रोह के विरुद्ध लडना पडता, और सम्भवत कोई अनुभवी सेनानी इस स्थिति के लिए तैयार न होता।"[1] उस समय ऐसा अनुभव किया जाता था कि कांग्रेस का समर्थन ही देशप्रेम था और कांग्रेस का विरोध ही देशद्रोह या विदेशियो की चापलूसी (toadyism) थी। प० जवाहरलाल नेहरू ने ठीक कहा था कि भारत में केवल दो दल हैं, एक दल उन देशप्रेमियो का है जो देश की आजादी के दीवाने हैं और दूसरा दल उन लोगो का है जो ब्रिटिश साम्राज्यवाद का समर्थन कर रहे हैं। यहाँ तक कि जब कांग्रेस एक राजनीतिक दल के रूप में कार्य कर रही थी, उस समय भी "उसने देश की स्वतन्त्रता के ध्येय से मुख नही मोडा और कांग्रेस ठीक ही दावा करता थी कि वही देश के सभी वर्गों और सभी जातियो की वास्तविक प्रतिनिधि सस्था थी।[2]

कांग्रेस के विपरीत अखिल भारतीय मुसलिम लीग एक साम्प्रदायिक दल था और उसको राजनीतिक दल कहना उचित नही होगा। लीग की सदस्यता केवल मुसलमानो तक ही सीमित थी और १९०६ में इसकी स्थापना के पीछे दो मुख्य उद्देश्य थे (१) भारतीय मुसलमानो में ब्रिटिश शासन के प्रति बफादारी की भावना भरी जाय और यदि मुसलमानो के हृदय में ब्रिटिश शासन के किसी कृत्य के विरुद्ध विरोध भाव हो तो उसे शमन करना, और (२) सम्यक्, अपितु अधिक प्रतिनिधित्व प्राप्त करके मुसलमानो के राजनीतिक हितो का सरक्षण करना।[3] किन्तु उन्ही दिनो कुछ ऐसे कारण[4] उपस्थित हो गए जिनकी वजह से मुसलिम लीग के दृष्टिकोण में भारी परिवर्त्तन हो गया और १९१३ मे लीग का सविधान इस प्रकार सशोधित किया गया कि लीग का आदर्श भारत के लिए उपयुक्त स्वशासन की स्थापना बन गया और भारत की स्वतन्त्रता के आदर्श की प्राप्ति के लिए राष्ट्रीय एकता पर बल दिया गया। १९१६ का लखनऊ समझौता वास्तव में राष्ट्रवादी मुसलमानो की विजय थी। मुसलिम लीग ने अपने १९१९ के अधिवेशन में भारत के लिए आत्म-निर्णय की माँग की और १९२० में तो लीग ने कांग्रेस के असहयोग आन्दोलन का समर्थन किया। इसके बाद १९२७ में लीग मे फूट पड गई जिसके फलस्वरूप उसी वर्ष उसके दो अलग-अलग अधिवेशन हुए। एक अधिवेशन मियाँ मुम्हमद शफी के सभापतित्व मे लाहौर में हुआ और दूसरा अधिवेशन श्री मोहम्मद याकूब के सभापतित्व में

---

[1] The Indian Journal of Political Science Oct -Dec 1939

[2] Chandrashekhran, C V Political Parties, p 60

[3] Lal Bahadur The Muslim League, p 43

[4] मुसलिम लीग के दृष्टिकोण में परिवर्त्तन लाने वाले मुख्य कारण निम्नलिखित थे टर्की या तुर्की के प्रति यूरोपीय देशों का दृष्टिकोण, तुर्की और फ़ारस के राष्ट्रीय आन्दोलन और में बंगाल विभाजन रद्द किया जाना।

कलकत्ता में हुआ। मियाँ शफ़ी के दल ने सिफारिश की थी कि लीग सविवि आयोग के साथ सहयोग करे किन्तु दूसरे दल ने जिन्ना साहब के नेतृत्व में उक्त आयोग के बायकाट की माँग की। इसके बाद १९२८ में नेहरू रिपोर्ट (Nehru Report) आई जिसने मतभेदों को कम करने में सहायता दी, यद्यपि लीग के आन्तरिक विभेद १९३४ तक बने रहे। उसी वर्ष लीग का पुनर्गठन किया गया।

हिज़ हाईनेस आगा खाँ के सभापतित्व में सर्वदलीय मुसलिम कॉन्फ्रेंस दिल्ली में हुई। उक्त कॉन्फ्रेंस में जहाँ एक ओर नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकृत किया गया, वहीं यह भी प्रस्ताव पास किया गया कि तत्कालीन शासन-व्यवस्था से मुसलमानों को अधिक से अधिक लाभ उठाना चाहिए। इस ओर मुसलिम लीग अपनी पहली नीति से हट गई यद्यपि दिखावे भर को लीग अब भी राष्ट्रीयता और लोकतन्त्र का दम भरती थी। अगले वर्षों में लीग की नीति बिल्कुल बदलने लगी, और अक्तूबर १९३७ में लखनऊ अधिवेशन में श्री जिन्ना ने अपने अध्यक्षीय भाषण में कहा कि "मुसलिम लीग भारत के लिए पूर्ण लोकतन्त्रात्मक शासन की माँग का समर्थन करती है। परन्तु कांग्रेस के वर्त्तमान नेताओं ने पिछले दस वर्षों में हिन्दू-समर्थक नीति का आश्रय लिया है, जिसके कारण मुसलमान आमतौर पर कांग्रेस से विलग हो रहे हैं, और जिन छः प्रान्तों में कांग्रेस का बहुमत होने के कारण कांग्रेस का शासन है, उन प्रान्तों में कांग्रेस के नेताओं ने अपने शब्दों से, कृत्यों से और प्रोग्राम से यह सिद्ध कर दिया है कि मुसलमानों को उनसे न्याय या ईमानदारी की आशा करना व्यर्थ है। जो कुछ थोड़ी सी शक्ति मिली है उसी से फूलकर बहुसंख्यक जाति अर्थात् हिन्दुओं ने हमारे समक्ष स्पष्ट कर दिया है कि हिन्दुस्तान को वे केवल हिन्दुओं के लिए ही रखना चाहते हैं।" मुसलिम लीग की नीति और कार्यक्रम में इस परिवर्त्तन का तात्कालिक कारण यह था कि कांग्रेस और लीग में उन प्रान्तों में मिली-जुली सरकारें बनाने के सम्बन्ध में समझौता नहीं हो सका जिनमें कांग्रेस के स्पष्ट बहुमत थे, और जिनमें बाद में कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल बनाये गए। प्रिंसिपल श्री गुरुमुख निहालसिंह के शब्दों में "अब लीग को ज्ञान हुआ कि भारत में मुसलमान तो सदैव ही विरोधी दल की हैसियत से ही रहेंगे और उन्हें कांग्रेस के बहुमत वाले प्रान्तों में शासन-सूत्र सँभालने का अवसर शायद कभी न मिलेगा और सम्भवतः केन्द्र में भी शासन-सत्ता हथियाने का कभी अवसर हाथ न लगेगा क्योंकि उपर्युक्त सभी प्रान्तों और केन्द्र में वे (मुसलमान) अल्पमत में ही रहेंगे।"[1]

लीग के कांग्रेस के साथ चल रहे विरोध के फलस्वरूप लीग ने कहा कि भारत में हिन्दू और मुसलमान दो पृथक् राष्ट्र हैं, और इस दिशा में जिन्ना साहब एवं अन्य मुसलमान नेताओं ने भारी आन्दोलन किया। जब १९३९ में कांग्रेस ने देखा कि ब्रिटिश सरकार ने भारतीय नेताओं से बिना पूछे युद्ध में भारत को भी

---

[1] Presidential Address delivered at the Agra Session of the All-India Political Science Conference—Indian Journal of Political Science, April-June 1943, p. 393

अपने पक्ष में घसीट लिया है तो कांग्रेस के मन्त्रिमण्डल ने इसके विरोध मे त्यागपत्र दे दिए। उस अवसर पर मुसलिम लीग ने जश्न मनाया और कांग्रेस के राज्य से मुक्ति पाने पर प्रसन्नता प्रकट की। लीग की इस हरकत के कारण कांग्रेस और लीग के बीच किसी प्रकार के समझौते की आशा धूमिल पड गई। इसके बाद मार्च १९४० में लीग ने अपने लाहौर अधिवेशन मे पाकिस्तान की मांग की। १९४१ में लीग का अगला अधिवेशन मद्रास में हुआ, जिसमें लीग का सविधान इस प्रकार सशोधित हुआ कि लीग का ध्येय पाकिस्तान की प्राप्ति बन गया। भारी सख्या मे मुसलमान लीग के झण्डे के नीचे आ गए, और १९४७ में भारत का विभाजन हुआ और पाकिस्तान का जन्म हुआ।

मुसलिम लीग के विरोध मे हिन्दुओ के हितो की रक्षा के लिए हिन्दू महासभा का जन्म हुआ। प्रारम्भ में हिन्दू महासभा एक सास्कृतिक सस्था थी, किन्तु मुसलिम लीग की साम्प्रदायिक नीति और घोर साम्प्रदायिक प्रोग्राम ने हिन्दू महासभा को भी राजनीतिक क्षेत्र में उतर आने के लिए मजबूर कर दिया, और अब हिन्दू महासभा ने लीग के विरुद्ध कठोर रुख अपनाया। हिन्दू महासभा का अब यह उद्देश्य बन गया कि हिन्दुओ की प्राचीन गौरवपूर्ण रण-गाथाओ को सुना सुना कर लोगो को पूर्ण स्वराज्य का सन्देश सुनाया जाय और हिन्दू राष्ट्र का सस्थापन किया जाय। अहिंसा की नीति, जो कांग्रेस को मार्ग-दर्शन कराती थी, महासभा द्वारा त्याग दी गयी। श्री सावरकर ने, जो १९३३ मे हिन्दू महासभा के सभापति थे, घोषणा की कि "हिन्दू महासभा हिन्दू जाति, हिन्दू सस्कृति, हिन्दू सभ्यता और हिन्दू राष्ट्र के गौरव को बढाना चाहती है और इस प्रकार हिन्दुओ को पूर्ण स्वतन्त्रता या स्वराज्य अर्थात् वैध साधनो द्वारा राजनीतिक स्वतन्त्रता दिलाना चाहती है।"

मुसलिम लीग और हिन्दू महासभा के समान ही और भी कई साम्प्रदायिक दल थे जिनमें आँग्ल-भारतीय, भारतीय ईसाई वर्ग, सिख वर्ग और दलित वर्ग प्रमुख थे। ये सब साम्प्रदायिक दल अपने-अपने वर्गों के हितो का सरक्षण चाहते थे, किन्तु इनमें से अथवा अन्य किसी वर्ग को सारे भारत के कल्याण की कोई चिन्ता नही थी। उपर्युक्त सब साम्प्रदायिक दल अत्यन्त विषाक्त वातावरण में उत्पन्न हुए थे, और हर एक साम्प्रदायिक दल का दृष्टिकोण और कार्यक्रम प्रतिक्रियावादी था। इन सब दलो के कार्यक्रम के फलस्वरूप राष्ट्रवादी तत्त्वो के मार्ग मे बाधा खडी होती थी और सत्य यह है कि ब्रिटिश सरकार इन साम्प्रदायिक दलो को छिपे-छिपे और खुलकर भी प्रोत्साहन दे रही थी।

वर्त्तमान स्थिति (The Present Position)—किन्तु स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद जब भारत में धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना हुई, तो राजनीति में धर्मनिरपेक्षता का उदय हुआ। भारतीय सविधान ने साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व और साम्प्रदायिक निर्वाचकमण्डलो को समाप्त करा दिया। सविधान ने पूर्ण वयस्क मताधिकार प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप सभी २१ वर्ष की आयु वाले नागरिको को बिना किसी प्रकार के प्रतिबन्ध के समान मताधिकार मिल गया। तदनुसार सभी राजनीतिक दलो राजनीतिक क्षेत्र में पदार्पण किया। पुराने साम्प्रदायिक दल स्वय समाप्त हो गए,

और कई नए राजनीतिक दल मैदान में आ गए, जिनमें अधिकाश दल साम्प्रदा
आधार पर सगठित नही हुए थे। कई दल तो अखिल भारतीय दल थे। अक्त
१९५१ से लेकर मई १९५२ तक जो महानिर्वाचन हुआ था, उसमें निम्नलि
अखिल भारतीय राजनीतिक दलो को निर्वाचन आयुक्त के द्वारा चुनाव-चिह्न प्र
किए गए थे।

(१) भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस।
(२) समाजवादी दल।
(३) अखिल भारतीय साम्यवादी दल।
(४) किसान मजदूर प्रजा पार्टी।
(५) दलित जाति सघ।
(६) फारवर्ड ब्लाक—मार्क्सवादी दल।
(७) फारवर्ड ब्लाक—सुभाष बोसवादी दल।
(८) क्रान्तिकारी समाजवादी दल।
(९) अखिल भारतीय बॉल्शेविक दल।
(१०) अखिल भारतीय क्रान्तिकारी साम्यवादी दल।
(११) कृषिकार लोक पार्टी।
(१२) रामराज्य परिषद्।
(१३) जन सघ।
(१४) हिन्दू महासभा।

उपर्युक्त चौदह अखिल भारतीय राजनीतिक दलो के अतिरिक्त बहुत
स्थानीय दल थे। कुछ स्थानीय दलो के नाम ये थे

(१) तामिलनाड का किसान दल। (२) त्रावणकोर तामिलनाड कांग्रेस
(३) लाल साम्यवादी। (४) आदिवासी महासभा। (५) किसान जनता सयुक्त
दल। (६) खेदत सघ। (७) गणतन्त्र परिषद्। (८) अखिल मणिपुर राष्ट्रीय
सघ। (९) मुसलिम लीग। (१०) उत्तर प्रदेश प्रजा पार्टी। (११) केरल समाज-
वादी दल। (१२) पर्वतीय जनजाति दल। (१३) छोटा नागपुर और सन्थाल
परगना जनता दल। (१४) न्यायवादी दल। (१५) त्रावणकोर तामिलनाड कांग्रेस
(१६) पजाबी जमीदारा लीग। (१७) अकाली दल। (१८) पुरुषार्थी पचायत।
(१९) अनुसूचित आदिम जाति। (२०) माओ मेरियन यूनियन। (२१) गाधी
सेवक सघ। (२२) त्रिपुरा गणतान्त्रिक सघ आदि आदि। सक्षेप में समझ लेना
होगा कि सारे भारतवर्ष मे ७५ से अधिक राजनीतिक दलो ने स्वतन्त्र भारतवर्ष के
प्रथम महानिर्वाचन में भाग लिया था। इनके अतिरिक्त हजारो स्वतन्त्र प्रत्याशियो
ने भी चुनावो में भाग लिया था।

देश में द्वितीय साधारण निर्वाचन ४ फरवरी १९५७ को प्रारम्भ हुए और २६ फरवरी, १९५७ को समाप्त हुए। इस बार कुल मतदाता प्राय १९ करोड ३० लाख थे। प्रथम साधारण निर्वाचनो मे मतदाताओ की सख्या १७ करोड ३० लाख थी। इन मतदाताओ ने लोकसभा के ४९४ सदस्यो को और राज्य विधान सभाओ के २,९०६ सदस्यो को चुना। १९५७ में लोकसभा की कुल सदस्य सख्या ५०५ है। सविधान में लोकसभा के लिए जो अधिकतम सख्या निश्चित की गई है, यह सदस्य-सख्या उससे केवल १५ कम है। ३ सदस्य आसाम के भाग (ख) जनजाति क्षेत्रो और आंग्ल-भारतीयो का, ६ प्रतिनिधि जम्मू और काश्मीर राज्य का और १ अडमान और निकोबार द्वीपो का प्रतिनिधित्व करने के लिए राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत किये गए हैं। ७३ स्थान अनुसूचित जातियो और अनुसूचित जनजातियो के लिए सरक्षित रखे गये हैं। निम्नलिखित तालिका निर्वाचनो के परिणामो का राज्यवार विश्लेषण करती है—

लोक सभा

राज्य	स्थान-सख्या	कांग्रेस	पी०एस०पी०	साम्यवादी दल	जनसघ	अन्य दल	स्वतत्र
आध्र प्रदेश	४३	३७	—	२	—	२	२
आसाम	१२	९	२	—	—	—	१
विहार	५३	४१	२	—	—	९	१
वम्बई	६६	३८	५	४	२	९	८
केरल	१८	६	१	९	—	—	२
मध्य प्रदेश	३६	३५	—	—	—	१	—
मद्रास	४१	३१	—	२	—	१	८
मैसूर	२६	२३	१	—	—	१	१
उडीसा	२०	७	२	१	—	७	३
पजाव	२२	२१	—	१	—	—	—
राजस्थान	२२	१९	—	—	—	—	३
उत्तर प्रदेश	८६	७०	४	१	२	—	९
पश्चिमी वगाल	३६	२३	२	६	—	२	३
दिल्ली	५	५	—	—	—	—	—
हिमाचल प्रदेश	४	४	—	—	—	—	—
मणिपुर	२	१	—	—	—	—	१
त्रिपुरा	२	१	—	१	—	—	—
कुल योग	४९४	३७१	१९	२७	४	३१	४२

राज्यों के विधानमण्डल

राज्य	स्थान-सख्या	कांग्रेस	पी० एस० पी०	साम्यवादी दल	जनसघ	अन्य दल	स्वतंत्र
आध्र प्रदेश[1]	१०५+२	६९	१	—	—	२४	१३
आसाम	१०८	७२	८	४	—	—	२४
विहार	३१८	२१०	३१	७	—	५५	१५
वम्बई	३९६	२३३	३७	१३	४	४५	६४
केरल	१२६	४३	९	६०	—	—	१४
मध्य प्रदेश	२८८	२३२	१२	२	१०	१२	२०
मद्रास	२०५	१५१	२	४	—	—	४८
मैसूर	२०८	१५०	१८	१	—	४	३५
उडीसा	१४०	५६	११	९	—	५१	१३
पजाव	१५४	१२०	१	६	९	५	१३
राजस्थान	१७६	११९	१	१	६	१७	३२
उत्तर प्रदेश	४३०	२४६	४४	९	१७	—	७४
पश्चिमी वगाल	२५२	१५२	२१	४६	—	८	२५
कुल योग	२९०६+२	१८६३	१९६	१६२	४६	२२१	३९०

कुछ दलो का संगठन और राजनीतिक कार्यक्रम

(Organisation and Platform of Some of the Parties)

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (The Indian National Congress)—इस समय भारतवर्ष में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ही सत्तारूढ दल है और इसी दल का सबसे अच्छा सगठन है और सारे देश में यही सब से सशक्त राजनीतिक दल है। कांग्रेस की स्थापना श्री ए० ओ० ह्यूम (A O Hume) ने की थी। वे ब्रिटिश भारत सरकार के अवसर-प्राप्त सचिव थे। कांग्रेस की स्थापना करने में ह्यूम महोदय

---

[1] आध्र में केवल तैलगाना क्षेत्र में ही १०५ सदस्यों के चुनाव के लिए मतदान हुआ था। आध्र विधान सभा की कुल सदस्य सख्या ३०१ है। उक्त आँकड़े केवल १०५ स्थानों और पर्ववर्त्ती आध्र के २ उपनिर्वाचनों से सम्बन्ध रखते हैं। पुराने आध्र की विधान सभा के १९४ सदस्यों की, जो नए आध्र प्रदेश की विधान सभा के भी सदस्य हैं, दलगत स्थिति इस प्रकार है—

सयुक्त कांग्रेस विधानमण्डल दल	१४७
साम्यवादी	१३
समाजवादी	१२
राष्ट्रवादी .. .	१९
स्वतन्त्र .. .	३
कुल ...	१९४

का यह उद्देश्य था कि देश में सामाजिक सुधार करने वाली एक सस्था को जन्म दिया जाय। किन्तु भारत के तत्कालीन वायसराय लार्ड डफरिन ने यह चाहा कि कांग्रेस नाम के नये सगठन को राजनीतिक दल के रूप मे सगठित किया जाय। लार्ड डफरिन चाहते थे कि "भारत में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस वे ही कृत्य करे जो इगलैंड में सम्राट् या साम्राज्ञी का विरोधी दल करता है। उस समय के भारत के समाचारपत्र विश्वसनीय नही थे, इसलिए भारतीय वायसराय लार्ड डफरिन ने सोचा कि इससे भारत सरकार और भारतीय प्रजा सब ही का हित होगा यदि भारत के राजनीतिज्ञ प्रतिवर्ष एकत्र हो और शासन को बतावे कि प्रशासन में क्या दोष हैं और उन दोषो को दूर करने के उपाय भी सुझाएँ।"[1] भारतीय कांग्रेस, अपने शैशवकाल के प्रथम बीस वर्षों में प्रतिवर्ष ऐसे प्रस्ताव पास करती थी जिनके द्वारा सरकार का ध्यान सार्वजनिक शिकायतो की ओर खींचा जा सके, और इस प्रकार के प्रस्तावो मे राजनीतिक सुधारो और राजनीतिक अधिकारो की भी मांग की जाती थी। डा० चन्द्रशेखरन् ने लिखा है "प्रारम्भ में कांग्रेस पूर्ण वैधानिक साधनो का प्रयोग करती थी, किन्तु प्रारम्भ से ही कांग्रेस का आदर्श यदि व्यक्त नही था, तो भी उपलक्षित अवश्य था।"[2] मार्च १८८५ में कांग्रेस के तत्कालीन नेताओ ने जो घोषणा की थी, उससे कांग्रेस का ध्येय अथवा आदर्श स्पष्ट ध्वनित होता है। "अप्रत्यक्षत यह सभा राष्ट्रीय ससद् का स्वरूप धारण करने जा रही है और यदि इस सस्था का सचालन ठीक रीति से होता रहा तो कुछ ही वर्षों में कांग्रेस उन लोगो को मुंह-तोड जवाब देगी जो यह बकते हैं कि भारत प्रतिनिधिक शासन के अयोग्य है।"[3]

वर्तमान शताब्दी के प्रथम दशक मे लार्ड कर्जन की नीति के फलस्वरूप, विशेषकर बगाल के विभाजन के फलस्वरूप सारे भारतवर्ष में रोष की तीव्र लहर दौड गई; और उसके फलस्वरूप स्वदेशी आन्दोलन का जन्म हुआ। इस राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व कांग्रेस ने ही किया, और तभी से कांग्रेस का सगठन सुदृढतर होता रहा है और इसके क्रियाकलापो का उद्देश्य और ध्येय निरन्तर यह रहा है कि भारतीय जनमत को गुलामी के विरुद्ध जगाया जाय और विदेशी शासन को हटा कर भारत की स्वतन्त्रता प्राप्त की जाय। इस प्रकार कांग्रेस एक राष्ट्रीय सगठन अथवा ऐसा राजनीतिक दल बन गया जो निरन्तर विदेशी सत्ता के विरुद्ध सघर्ष करता रहा और अन्त मे १५ अगस्त, १९४७ को कांग्रेस के प्रयत्नो के फलस्वरूप ही भारत स्वतन्त्र हुआ। किन्तु स्वतन्त्रता के साथ-साथ राजनीतिक दृश्य भी पूर्णता बदल चुका था। भारत मे ब्रिटिश अधिकार का दायित्व कांग्रेस के कधो पर आ पडा। उस समय कांग्रेस में पर्याप्त विचार मन्थन हुआ और गम्भीरता के साथ इस बात पर विचार किया गया कि जब कांग्रेस का उद्देश्य और ध्येय पूर्ण हो गया तो फिर

---

[1] As cited in C V Chandrashekharan's *Political Parties*, p. 56

[2] Ibid

[3] Ibid

काँग्रेस को विघटित कर दिया जाय अथवा नही । स्वय गाधी जी का भी यही विचार था कि काँग्रेस को विघटित कर दिया जाय और वह केवल एक लोक सेवक सघ के रूप में बनी रहे, ताकि अपने अपार परिश्रम से पालित और राष्ट्रीय एकता की प्रतीक काँग्रेस राजनीतिक दलदल न बन जाय और फलस्वरूप शक्ति हथियाने और षडयन्त्र करने का अखाडा न बन जाय । किन्तु, प्रो० अवस्थी के शब्दो में "काँग्रेस के अधिकतर लोगो ने काँग्रेस को विघटित नही होने दिया और निश्चित किया कि भविष्य में काँग्रेस भी एक राजनीतिक दल के रूप में भारत में कार्य करेगी ।"[1] किन्तु इस निर्णय के साथ ही साथ काँग्रेस का वियोजन (disintegration) भी प्रारम्भ हो गया । समाजवादी लोग, जो काँग्रेस के वाम पक्ष का निर्माण करते थे काँग्रेस से हट गए और उन्होने श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में अलग दल बना लिया । स्वर्गीय श्री शरतचन्द्र बोस ने एक अलग दल बनाया जिसका नाम था समाजवादी गणतन्त्र दल । काँग्रेस के कुछ अन्य केन्द्रीय विधानमण्डल के सदस्यो ने प्रो० के० टी० शाह के नेतृत्व मे एक नये दल का निर्माण किया जिसका नाम था समाजवादी लोकतन्त्रात्मक दल ।

जब काँग्रेस भी अन्य दलो के समान ही एक राजनीतिक दल बन गई, तो यह आवश्यक ही हो गया कि काँग्रेस की नीति और उसके कार्य करने के तरीको में परिवर्त्तन हो । जयपुर अधिवेशन के समय काँग्रेस ने राष्ट्र को निम्न सन्देश दिया था "महात्मा गाधी के नेतृत्व मे अहिंसा के द्वारा राजनीतिक स्वतन्त्रता प्राप्त कर लेने के पश्चात् अब काँग्रेस पूरा-पूरा प्रयत्न करेगी कि देश को सामाजिक और आर्थिक स्वतन्त्रता दिलाई जाय ।" १९४८ में काँग्रेस का नया सविधान स्वीकृत हुआ । "अब काँग्रेस का ध्येय यह था कि सभी भारतीयो को उन्नति के समान अवसर मिलें और शान्तिपूर्ण एव वैधानिक उपायो से भारत में सभी राज्यो और सभी वर्गो मे पूर्ण सहयोग स्थापित हो, और इस सहयोग का आधार सभी लोगो और सभी वर्गों मे पूर्ण अवसर समानता, और समान राजनीतिक, आर्थिक और सामाजिक अधिकार होने चाहिएँ, और भारत मे उक्त लक्ष्य-प्राप्ति के उपरान्त सारे ससार मे शान्ति और भ्रातृ-भावना के लिए प्रयत्न किया जाना चाहिए ।" काँग्रेस के नये सविधान के अनुसार वह कृतसकल्प है कि भारत में वर्ग विभेद नही रहेंगे, तथा वैधानिक उपायो के द्वारा वर्ग-विहीन लोकतन्त्रात्मक समाज की स्थापना की जायगी । अब काँग्रेस प्रत्यक्ष कार्रवाई (Direct action) में विश्वास नही रखती और अब वह इस प्रकार की कार्रवाइयो की निन्दा करती है, जैसे कानूनो का भग करना, हडतालो का करना, जुलूस निकालना, नारे लगाना, धरना देना, भूख हडताल आदि आदि, जिनकी पहिले काँग्रेस ही ने प्रेरणा दी थी और देश की आज़ादी की लडाई के दौर में जिन उपायो का काँग्रेस ने स्वय आश्रय लिया था । प्रो० अवस्थी ने लिखा है कि "सत्तारूढ होने के पश्चात् स्वय काँग्रेस अपने उन्ही पुराने उपायो को दमन करने मे जिन्हे अब अन्य दल शासन

---

[1] Political Parties in India, The Indian Journal of Political Jan.-March 1951, p 8.

के विरुद्ध प्रयोग कर रहे हैं, उन्ही साधनो का प्रयोग कर रही है जिनके विरोध में वह ब्रिटिश शासन की भरपेट बुराई किया करती थी।"[1]

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने अपने आवडी (Avadi) अधिवेशन मे जो सकल्प पारित किया उसका उद्देश्य यह था कि भारत मे वर्ग विहीन लोकतन्त्रात्मक समाजवादी ढग के समाज की स्थापना होनी चाहिए। प्रो० श्रीमन्नारायण, जो भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के जनरल सेक्रेटरी हैं, कहते हैं कि समाजवादी समाज की स्थापना के लिए निम्न सात मौलिक आवश्यकताएँ हैं[2]

(१) सभी को सेवा-योजन और काम का अधिकार।

(२) राष्ट्रीय धन और सम्पत्ति का अधिकतम उत्पादन। इसके लिए देश का आर्थिक जीवन इस प्रकार सगठित किया जाय कि देश में उपभोक्ता वस्तुओ का अधिकाधिक उत्पादन हो और उसके फलस्वरूप सर्वसाधारण का जीवन-स्तर श्रेष्ठतर बने। ग्रामोद्योगो और कुटीर उद्योगो को प्रोत्साहन दिया जाय। इनसे सभी लोगो को पूरे काम के अवसर प्राप्त होगे। इसलिए देश के आर्थिक विकास में ग्रामोद्योगो का वही महत्त्व है जो भारी उद्योगो का है।

(३) देश को यथाशक्य आत्म-निर्भर बनाया जाय।

(४) देश मे आर्थिक और सामाजिक न्याय हो। इसके लिए छुआछूत का अन्त करना होगा, स्त्रियो की दशा को सुधारना होगा, शराब और वेश्यावृत्ति को समाप्त करना होगा, रईसो और गरीबो के बीच की चौडी खाई को कम करना होगा, और गाँवो और शहरो मे आर्थिक असमानताओ को समाप्त करना होगा।

(५) समाजवादी समाज की स्थापना के लिए केवल शान्तिपूर्ण, अहिंसक और लोकतन्त्रात्मक अथवा वैधानिक उपायो का ही सहारा लिया जाय।

(६) गाँव पञ्चायतो और औद्योगिक सहकारी सस्थाओ की स्थापना की जाय और इस प्रकार आर्थिक और राजनीतिक सत्ता का विकेन्द्रीकरण किया जाय।

(७) समाज में जो वर्ग सबसे गरीब हैं और सबसे अधिक पिछडे हुए हैं, उनकी आवश्यकताओ को सर्वोपरि प्राथमिकता दी जाय।

उपर्युक्त सात सिद्धान्त ही सर्वोदय का सार हैं और ये महात्मा गाधी की शिक्षाओ का भी सार हैं। किन्तु प्रो० श्रीमन्नारायण ने लिखा है कि "सर्वोदय शब्द का प्रयोग इसलिए नही किया गया है कि इसके द्वारा हम एक उच्च आदर्श से कोई राजनीतिक लाभ नही उठाना चाहते हैं। किन्तु सत्य यही है कि महात्मा गाधी की शिक्षाओ के अनुसार भारत निश्चित रूप से सर्वोदय के सिद्धान्तो पर आचरण करने के लिए कृतसकल्प है।"[3] इस प्रकार कांग्रेस किसी विशिष्ट सिद्धान्त या वाद (ism) पर चलने के लिए बाध्य नही है। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अमृतसर[4] अधिवेशन के

---

[1] Political Parties in India, The Indian Journal of Political Science, Jan-March 1951, p 9

[2] The Tribune, Ambala Cantt, June 14, 1955

[3] Ibid

[4] Ibid, Feb. 13, 1956 p 8.

अवसर पर प्रधान मन्त्री श्री जवारलाल नेहरू ने आर्थिक नीति सम्बन्धी प्रस्ताव को प्रस्तुत करते हुए कहा था कि "भारत संसार के समक्ष औद्योगिक क्रान्ति लाने का एक नया उपाय प्रस्तुत कर रहा है। यह उपाय अमरीका या इंगलैंड या सोवियत रूस के उपायों से सर्वथा भिन्न है। श्री नेहरू ने आगे कहा "हमने अन्तिम रूप से निश्चय कर लिया है कि हमारा लक्ष्य समाजवाद की स्थापना है, और हम शीघ्रातिशीघ्र शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा अपने देश और समाज में समाजवादी व्यवस्था लाना चाहते हैं।" उस नये उपाय को समझाते हुए, जिसको भारत ने औद्योगिक क्रान्ति लाने के लिए अपनाया था, श्री नेहरू ने कहा था कि "ब्रिटेन अमरीका, फ्रांस और जर्मनी ने अपने-अपने देशों में जिस उपाय से कार्य किया था उसके अनुसार वहाँ १००-१५० वर्षों में औद्योगिक क्रान्ति पूर्ण हुई थी। उक्त देशों ने इतने लम्बे समय तक धीरे-धीरे क्रान्ति को पूर्ण किया। किन्तु रूस ने दूसरे उपाय से काम किया। सोवियत रूस ने केवल २० या ३० वर्षों में ही औद्योगिक क्रान्ति का लक्ष्य प्राप्त कर लिया। किन्तु उपर्युक्त लक्ष्य की प्राप्ति में रूस की सरकार ने पर्याप्त दमन किया, और वहाँ की तत्कालीन सरकार सर्वाधिकारवादी (authoritarian) थी; इसलिए रूस के सर्वसाधारण को औद्योगिक क्रान्ति के लिए मँहगी कीमत चुकानी पडी थी। श्री नेहरू ने दोनों प्रकार के तरीकों को अनुपयुक्त बताया और इसलिए कहा कि "हमारे देश में वे उपाय सफल नहीं होंगे।" प्रत्येक देश औद्योगिक और सामाजिक क्रान्ति लाने के लिए अपने ही उपायों से सफल हो सकता है। भारत भी अपने देश में औद्योगिक क्रान्ति उतनी ही शीघ्रता के साथ लाना चाहता है जितनी शीघ्रता के साथ कि रूस में औद्योगिक उन्नति हुई। किन्तु आगे चलकर श्री नेहरू ने यह भी कह दिया कि "हम अपने देश में लोकतन्त्रात्मक और शान्तिपूर्ण उपायों के द्वारा ही औद्योगिक क्रान्ति लाना चाहते हैं।"[1]

विदेश नीति के सम्बन्ध में कांग्रेस विश्व में शान्ति चाहती है और उसका विश्वास है कि यदि संसार के राष्ट्र सह-विनाश अथवा परस्पर-विनाश के इच्छुक नहीं हैं, तो यह अतीव आवश्यक है कि संसार के सभी देश पंचशील (Panch-Shila) के सिद्धान्त के अनुसार आचरण करें। संसार के विभिन्न राष्ट्रों में कलह का एक ही कारण है और वह यह है कि आपस में एक राष्ट्र दूसरे के प्रति सन्देह रखता है। पंचशील पर आचरण करने से आपसी अविश्वास और तनाव कम होगा। इस प्रकार कांग्रेस ने सारे संसार को सत्य और अहिंसा का उपहार दिया है। कांग्रेस के अमृतसर अधिवेशन में विदेश नीति सम्बन्धी प्रस्ताव को प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने पुरःस्थपित किया था। उक्त प्रस्ताव को 'बुद्ध का सन्देश' कहकर पुकारा गया था। उक्त प्रस्ताव में संसार के विवेक को चुनौती दी गई थी कि वह या तो गौतम बुद्ध और गांधी के मार्ग पर चले या अणुबम द्वारा विनाश का मार्ग स्वीकार करे। श्री नेहरू ने उक्त प्रस्ताव पर बोलते हुए विषय समिति में कहा था. "मनुष्य जाति को या तो गौतम बुद्ध और महात्मा गांधी का मार्ग चुनना है या हाइड्रोजन

---

[1] The Tribune, Ambala Cantt., Feb 13, 1956. p 8.

बम द्वारा स्व-विनाश का पथ प्रशस्त करना है। इन दो विकल्पो के अतिरिक्त और कोई मार्ग ही नही है।"

१९५७ के साधारण निर्वाचनो में कांग्रेस पुन देश के सबसे महत्त्वपूर्ण राजनीतिक दल के रूप मे उदित हुई है। वह केन्द्र में और केरल को छोडकर अन्य समस्त राज्यो में सत्तारूढ है। केन्द्र मे उसकी स्थिति मजबूत है, लेकिन राज्यो में उसकी स्थिति कमजोर पड गई है। यदि प्रथम साधारण निर्वाचनो से तुलना की जाये, तो ज्ञात होगा कि कांग्रेस ने बिहार मे २७, उत्तर प्रदेशो में १००, गुजरात में ३० और महाराष्ट्र में १३५ स्थानो से हाथ धोया है। उडीसा में कांग्रेस के हाथ से ११ स्थान निकल गये हैं और उसे वहाँ मिली-जुली सरकार का निर्माण करना पडा है। कांग्रेस की पहली वास्तविक पराजय केरल में हुई है। वहाँ १२६ सदस्यो की विधान सभा में उसकी सदस्य सख्या केवल ४३ रह गई है। बगाल में उसने अपनी स्थिति को कायम रखा है। पजाब और मद्रास में कांग्रेस को अवश्य लाभ हुए हैं, लेकिन इन पर साम्प्रदायिक तत्त्वो का प्रभाव है। राजस्थान में कांग्रेस की सफलता का कारण यह है कि उसने राजाओ, जागीरदारो और जमीदारो को अपने अन्दर शामिल कर लिया है।

प्रजा समाजवादी दल (The Praja Socialist Party)—पूर्वकाल की समाजवादी पार्टी और आचार्य कृपलानी द्वारा सस्थापित कृषक मजदूर प्रजा पार्टी के मिल जाने के फलस्वरूप प्रजा समाजवादी दल का जन्म हुआ। जैसा कि बताया भी जा चुका है, पहिले समाजवादी पार्टी, कांग्रेस का वामपक्ष थी, किन्तु मार्च १९४८ में स्वतन्त्रता-प्राप्ति के शीघ्र बाद समाजवादी कांग्रेम से विलग हो गए, और उन्होने श्री जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व मे भारतीय समाजवादी दल की स्थापना की। समाजवादी दल कृतसकल्प था कि भारत में लोकतन्त्रात्मक समाजवादी समाज की स्थापना होनी चाहिए। समाजवादियो की मान्यता थी कि लोकतन्त्रात्मक समाजवादी समाज में "हर एक व्यक्ति को श्रम करना पडेगा, और सभी व्यक्ति स्त्रियो सहित समान होगे, उस समाज में सभी को उन्नति और काम के समान अवसर उपलब्ध होगे और व्यक्तियो के वेतनो मे इतना भारी अन्तर नही होगा कि वर्ग-विभेदो को प्रश्रय मिले, उस समाज में सारी सम्पत्ति पर सारे समाज का आधिपत्य होगा, तथा उस समाज मे नियोजन के अनुसार विकास होगा, परिश्रम का पारिश्रमिक मिलेगा और किसी से जवर्दस्ती बेट बेगार नही ली जायगी, सक्षेप में उस समाज में जीवन सुखी होगा, पूर्ण होगा और सुन्दर होगा।"[1] उपर्युक्त लोकतन्त्रात्मक समाजवादी समाज की स्थापना के लिए क्रान्ति को आवश्यक माना गया। समाजवादी दल लोकतन्त्रात्मक समाजवाद में विश्वास करता है, और सर्वाधिकारवादी साम्यवाद में निहित खतरो से भी बेखबर नही है। इस प्रकार समाजवादी पार्टी ने अपने नीति सम्बन्धी वक्तव्य में कहा था "हम लोकतन्त्रात्मक समाजवाद की स्थापना के लिए

---

[1] *Statement of Policy*, Published by the Socialist Party of India.

क्रान्ति का मार्ग ग्रहण करेंगे। शासन-सत्ता हथियाने के लिए वैधानिक उपाय ऐसे ही देश मे प्रभावी हो सकते हैं जहाँ पूर्ण लोकतन्त्र के अनुसार व्यवहार होते हैं, और जहाँ श्रमिक वर्ग, कृषक वर्ग, और निम्न मध्य वर्ग के लोगो के दिल और दिमाग वयस्क हो चुके हैं और जहाँ सशक्त राजनीतिक दल हैं। जिस देश मे ऐसी अवस्थाओ का अभाव है, वहाँ लोकतन्त्रात्मक समाजवाद की स्थापना के लिए वैधानिक उपाय प्रभावशून्य, अपर्याप्त और भयानक सिद्ध होगे।"[1] सक्षेप में समाजवादी दल वैधानिक उपायो का तभी आश्रय ले सकता था जब देश मे पूर्ण लोकतन्त्र का आधिपत्य हो। यदि लोकतन्त्रात्मक राजनीतिक सस्थाओ को फलने-फूलने से रोका गया तो क्रान्ति का मार्ग प्रशस्त हो सकता है।

समाजवादी दल और कृषक मजदूर प्रजा पार्टी के मिल जाने के फलस्वरूप, नव-निर्मित प्रजा समाजवादी दल का कार्यक्रम इस प्रकार तैयार किया गया है कि अब यह दल शान्तिपूर्ण उपायो से ऐसे लोकतन्त्रात्मक समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहता है जिसमें राजनीतिक, सामाजिक अथवा आर्थिक शोषण वर्जित हो। इस प्रकार प्रजा समाजवादी दल, समाजवादी समाज की स्थापना के लिए शान्तिपूर्ण उपायो में विश्वास करता है। निष्क्रिय (defunct) समाजवादी दल की तरह, प्रजा समाजवादी दल इस बात के लिए ज़िद नही करता कि यदि देश में उन्मुक्त और पूर्ण लोकतन्त्र नही है तो क्रान्ति का मार्ग ग्रहण करना आवश्यक होगा। प्रजा समाजवादी दल (P S P.) की राष्ट्रीय कार्यकारिणी समिति ने जो नीति सम्बन्धी वक्तव्य तैयार किया और जिस पर दिसम्बर १९५५ में गया में विचार-विनिमय हुआ, उसमें स्पष्ट शब्दो मे उस समाज की रूपरेखा प्रस्तुत की गई है, जो पार्टी का लक्ष्य है, और उक्त वक्तव्य के द्वारा प्रतिज्ञा की गई है कि वर्तमान पूँजीवादी ढाँचे के स्थान पर समाजवादी समाज की स्थापना के लिए केवल वैधानिक और लोकतन्त्रात्मक उपायो को ही काम मे लाया जायगा।

प्रजा समाजवादी दल (P S P) का शान्तिपूर्ण, वैधानिक और लोकतन्त्रात्मक उपायो मे विश्वास है, इसलिए यह दल कांग्रेस के निकट है। कांग्रेस और प्रजा समाजवादी दल (P S P) के सामाजिक और आर्थिक प्रोग्राम में पर्याप्त समानता है। दोनो दल शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा समाजवादी व्यवस्था लाना चाहते हैं। दोनो दलो को विश्वास है कि लोगो के जीवन-स्तर को उठाया जा सकता है, देश में पूर्ण रोजगार की अवस्था लाई जा सकती है, उद्योगीकरण और राजकीय सहायता के द्वारा आर्थिक समानता प्राप्त की जा सकती है, ग्रामोद्योगो और कुटीर उद्योगो को प्रोत्साहन मिलना चाहिए, भूमि का इस प्रकार पुनर्वितरण होना चाहिए कि हर एक को गुज़ारे के लायक जमीन मिल जाय, समाज का सगठन सहकारी आधार पर किया जाय, फैक्टरियो के प्रबन्ध में श्रमिको का भी हाथ हो, गाँव पचायतो का विकास हो और बडे पैमाने पर समन्वित नियोजन हो। किन्तु सामाजिक आर्थिक प्रश्नो पर समाजवादी दृष्टिकोण और कांग्रेस के दृष्टिकोण में एक महत्त्वपूर्ण

---

[1] *Statement of Policy,* Published by the Socialist Party of India.

अन्तर है। प्रजा समाजवादी दल (P S. P) के नीति-सम्बन्धी वक्तव्य के अनुसार बडे उद्योगो पर सारे समाज का स्वामित्व होगा। इसके विपरीत, इस समय, कांग्रेस वर्त्तमान उद्योगो के राष्ट्रीयकरण के लिए उद्यत नही है, और वह चाहती है कि द्वितीय पचवर्षीय योजना मे प्राइवेट उद्योगो के लिए स्थान रहे और यही द्वितीय पचवर्षीय योजना का लक्ष्य है।

विदेश नीति के सम्बन्ध में कांग्रेस और प्रजा समाजवादी दल (P S P) में कोई मतभेद नही है। दोनो दल यही चाहते हैं कि किसी शक्ति गुट में न मिला जाय, शान्ति का क्षेत्र बढ़ाया जाय, एक तृतीय गुट (शान्ति गुट) की स्थापना की जाय, अणु आयुधो के युद्ध पर रोक लगायी जाय, प्रत्येक देश के शस्त्रास्त्रो मे कमी की जाय, जातीयता के भाव को निरुत्साहित किया जाय, साम्राज्यवाद और अन्य शोषण की सस्थाओ का उन्मूलन किया जाय, पिछडे आर्थिक वर्गों का विकास किया जाय जिसके लिए बिना राजनीतिक शर्तो के विदेशी सहायता मिलनी चाहिए और सभी देशो को पचशील में निहित सिद्धान्त स्वीकार्य हो।

प्रजा समाजवादी दल चाहता है कि भारतीय सविधान पर पुनर्विचार हो, ताकि नागरिक स्वतन्त्रताओ का विस्तार हो, राष्ट्रपति की आपातकालीन शक्तियाँ कम की जाएँ तथा राष्ट्रपति की अध्यादेश जारी करने सम्बन्धी शक्तियाँ मर्यादित की जाएँ, साथ ही सम्पत्ति के अधिकारो सम्बन्धी सवैधानिक उपबन्धो को इस प्रकार सशोधित किया जाय कि यथा आवश्यकता प्राइवेट सम्पत्ति को सार्वजनिक उपभोग के लिए आसानी से अर्जित किया जा सके।

प्रजा समाजवादी दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी समिति के नीति-सम्बन्धी वक्तव्य से दो तथ्य स्पष्ट हो जाते हैं। इन तथ्यो को समझ लेना उपादेय होगा क्योकि तभी इस दल के भविष्य के बारे में कुछ मत बनाया जा सकता है। प्रजा समाजवादी दल कुछ बुनियादी बातो में अपना स्पष्ट दृष्टिकोण रखता है, जो कांग्रेस के दृष्टिकोण से भिन्न है। कांग्रेस समझती है कि समाजवाद के सिद्धान्त इस सीमा तक काल्पनिक, कठोर, सैद्धातिक और अस्पष्ट हैं कि उन पर व्यावहारिक अमल नही हो सकता। इसके विपरीत प्रजा समाजवादी दल कांग्रेस को प्रतिक्रियावादी और अलोकतन्त्रात्मक सगठन समझता है। फिर भी कांग्रेस और प्रजा समाजवादियो में जो सैद्धान्तिक मतभेद हैं, वे उतने मौलिक और उग्र नही हैं जितने कि उक्त दोनो सगठनो या दलो के साम्यवादियो से भिन्न हैं। साधारण बुद्धि का कोई व्यक्ति कांग्रेस और प्रजा समाजवादियो में भेद नही कर सकता। १९५४ के प्रारम्भ में प्रजा समाजवादी दल ने कांग्रेस के समर्थन पर त्रावण कोर-कोचीन में मन्त्रिमण्डल का निर्माण किया था, यद्यपि ११९ सदस्यो के सदन में प्रजा समाजवादियो को केवल १९ स्थान हस्तगत थे। पुन, प्रजा समाजवादी दल की राष्ट्रीय कार्यकारिणी का मत है कि दल की सर्वोच्च परिषद् की आज्ञा से आपात काल की अवस्था मे सयुक्त या मिली-जुली केन्द्रीय सरकार के निर्माण में प्रजा समाजवादी दल सहयोग कर सकता है। इससे भी यही अनुमान लगाया जा सकता है कि कांग्रेस और प्रजा समाजवादी दल में मौलिक मतभेद नही हैं।

हाल ही मे प्रजा समाजवादी दल मे फूट के लक्षण दिखाई दिए थे। इससे लोगो के दिमागो में खलबली मच गई है, और नही कहा जा सकता कि प्र० स० दल (P S P) कहाँ तक सर्वसाधारण की आशाओ को पूर्ण करेगा, क्योकि प्रजा समाजवादियो के अनुसार स्पष्टत कांग्रेस शासन अयोग्य सिद्ध हो रहा है। तथ्य यह है कि दल विघटित होने की स्थिति में है, इसलिए शीघ्रातिशीघ्र उसको अपनी कमियो की ओर ध्यान देना चाहिए। उसने राज्य विधानमडलो में कुल १९६ स्थान प्राप्त किये हैं। उसकी सदस्य-सख्या यू० पी० में ४४, वम्बई में ३६ और विहार मे ३१ है। श्री एन० आर० मलकानी का कहना है कि "यह दल कांग्रेस को कही भी चुनौती नही देता। उसने महाराष्ट्र मे भाषा—तूफान पर सवारी की है, और विहार तथा यू० पी० में कांग्रेस के विघटन से लाभ उठाया है। उसके पास नेतृत्व और कार्यक्रमो का अभाव है। अपने अपवित्र गठवधनो के कारण उसकी स्थिति और खराव हो जायेगी। वह पूर्ण सत्ता तो कही भी प्राप्त न कर सकेगी। हाँ, जहाँ-तहाँ मिली-जुली सरकारो का भले ही निर्माण कर ले।"[1]

साम्यवादी दल (The Communist Party)—साम्यवादी और अन्य वामपक्षी दलो का सगठन ही लोक सभा में विरोधी दल का निर्माण करता है। इस दल ने १९५२ के प्रथम साधारण निर्वाचनो की तुलना में अधिक स्थान प्राप्त किये हैं। उसने अपना ध्यान मुख्य रूप से केरल, पश्चिमी वगाल और आध्र मे केन्द्रित रखा है। केरल मे उसने पहली वार साम्यवादी सरकार का निर्माण किया है। भारतीय साम्यवादी दल चाहता है "कि गरीव और मजदूर वर्ग को सगठित किया जाय और तव साम्राज्यवाद विरोधी और कृषकवर्गीय क्रान्ति के लिए प्रयत्न किया जाय। उक्त सफल क्रान्ति के फलस्वरूप पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त की जाय। पूर्ण राष्ट्रीय स्वतन्त्रता प्राप्त करने के वाद सर्वहारावर्गीय लोकतन्त्रात्मक राज्य की स्थापना की जाय। उक्त राज्य की प्रशासनिक वागडोर श्रमिक वर्ग अथवा सर्वहारा वर्ग के हाथो में होगी। इस प्रकार साम्यवादी दल देश में मार्क्स और लेनिन के सिद्धान्तो पर समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहता है।" साम्यवादी दल के कार्यक्रम में निम्नलिखित ध्येय वताये गए हैं। भारत का ब्रिटिश राष्ट्रमण्डल से सम्बन्ध विच्छेद, भारत में निवास करने वाली राष्ट्रीयताओ को आत्म-निर्णय का अधिकार दिया जाय और यदि वे भारत सघ से विलग होना चाहे तो उन्हे तदर्थ छूट दी जाय; भारत का पूर्ण ऐच्छिक सघ वने जिसमे स्वायत्तशासी एव एक भाषाभाषी राज्य हो, अल्पसख्यको को अपनी-अपनी भाषा और सस्कृति वनाये रखने का अधिकार हो, सारे राजे, महाराजे और भूतपूर्व सामन्त समाप्त कर दिये जाएँ, विदेशी पूंजी को जब्त कर लिया जाय, सारी भूमि किसानो मे वितरित कर दी जाय, सारे उद्योगो का राष्ट्रीयकरण कर दिया जाय, सभी को कम से कम गुज़ारे और वसर के लायक वेतन दिया जाय, काम के घटे आठ से अधिक न हो, स्त्रियो के विरुद्ध सारी आर्थिक और सामाजिक निर्योग्यताएँ समाप्त कर दी जाएँ, स्त्रियो को पुरुषो के समान

---

[1] Hindustan Times, New Delhi, April 2, 1957.

काम के लिए समान वेतन मिले, सभी बच्चो के लिए मुफ्त और आवश्यक रूप से शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय, सभी लोगो को मुफ्त डाक्टरी सेवा और मुफ्त दवाएँ मिलें, नौकरशाही प्रशासन के स्थान पर निर्वाचित अधिकारी नियुक्त किए जाएँ जिनके मार्ग-दर्शन के लिए सर्वहारावर्गीय समितियाँ नियुक्त की जाएँ, लोकतन्त्रात्मक आधार पर सेना का सगठन किया जाय और सभा नागरिको को हथियार रखने की छूट हो।

भारतीय साम्यवादी दल (C P I) अपने उद्देश्य और ध्येय की प्राप्ति के लिए जिन मार्ग को ग्रहण करता था, वह कुछ दिन पहिले तक तो पुराना वही आन्दोलन और प्रत्यक्ष कार्रवाई का मार्ग था, अर्थात् हडताल, तोड-फोड आदि, और उक्त उपाय मार्क्स और लेनिन की शिक्षाओ के अनुरूप ही थे। किन्तु आजकल सोवियत साम्यवादी दल की नीति में आकाश-पाताल का अन्तर है। अब यह स्वीकार किया जाता है कि शान्तिपूर्ण उपायो के द्वारा भी समाजवादी व्यवस्था लाई जा सकती है, और जिस देश में ससदीय शासन-प्रणाली पचलित है, वहाँ शान्तिपूर्ण उपायो के द्वारा विना हिंसक क्रान्ति का सहारा लिये पूँजीवादी व्यवस्था को वदल कर समाजवादी व्यवस्था लाना सम्भव है। इस प्रकार लगभग लोकतन्त्रात्मक दृष्टिकोण को स्वीकार कर लिया गया है, तथा अब मार्क्स के वर्ग-सघर्ष के सिद्धान्त और सर्वहारावर्गीय क्रान्ति को तिलाञ्जलि दे दी गई है। भारतीय साम्यवादी दल की चतुर्थ कांग्रेस का अधिवेशन पालघाट में पिछले वर्ष ही हुआ था। उक्त कांग्रेस मे जो राजनीतिक प्रस्ताव पास हुआ, उसके ऊपर प्रकाश डालते हुए, साम्यवादी दल के जनरल सेक्रेटरी श्री अजय घोष ने वताया था कि भारतीय साम्यवादी भी सोवियत दल के नये और परिवर्त्तित विचारो से पूणतया सहमत हैं।

भारतीय साम्यवादी दल (C P I) की नई नीति के अनुसार अब साम्यवादी नेहरू जी की विदेश नीति का समर्थन करते हैं। घरेलू मामलो में भी भारतीय साम्यवादियो का रुख उतना कठोर नही है जितना कि पहिले था। पालघाट कांग्रेस के अवसर पर साम्यवादियो ने उन सम्भावनाओ पर विचार किया था जिनके आधार पर नेहरू सरकार का समर्थन किया जा सके। इस प्रकार पालघाट की चतुर्थ कांग्रेस में सर्वसम्मति से राजनीतिक प्रस्ताव का पास हो जाना यह इगित करता है कि दल के वाम पक्ष और मध्य पक्ष की जीत है, फिर भी दलीय नीति में भारी परिवर्त्तन अवश्य दिखाई देता है। १९ मई, १९५६ को भारतीय साम्यवादी दल के जनरल सेक्रेटरी ने नई दिल्ली में एक प्रेस कॉन्फ्रेंस मे कहा था कि "द्वितीय पचवर्षीय योजना के जो लक्ष्य और उद्देश्य वताये गए हैं, और तत्सम्बन्धी जो प्रस्ताव सामने आये हैं, उन पर हमारा सरकार से मतैक्य है।" उन्होने यह भी कहा कि "साम्यवादी दल किसी भी दल और कांग्रेस के साथ भी किसी ऐसी योजना को कार्यान्वित करने मे सहयोग देने को तैयार है जिसका सम्वन्व देश के आर्थिक विकास से हो अथवा जिसका सम्वन्व सर्वसाधारण के जीवन-स्तर को सुधारने से हो।"[1] इन परिवर्त्तनो की पृष्ठभूमि में कहा जा सकता है कि भारतीय साम्यवादी दल (C P I)

---

[1] The Tribune, Ambala Cantt, May 20, 1956

ने भारत सरकार को विदेश नीति, गृह नीति, रक्षा नीति अथवा आर्थिक नीति आदि सभी बातो में विरोध का अपना पुराना हठ छोड दिया है, और इस समय साम्यवादी (C P I) सहयोग और समझदारी से काम करने को तैयार दिखाई देते हैं ।

हिन्दू महासभा (The Hindu Mahasabha)—भारत के स्वतन्त्र होने के बाद भी हिन्दू महासभा साम्प्रदायिक संस्था ही बनी रही, यद्यपि भारतीय संविधान ने स्पष्टतः धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना की है । हिन्दू महासभा ने देश के विभाजन का कठोर विरोध किया था और उस सम्बन्ध मे कांग्रेस की कार्रवाई को अर्थात् कांग्रेस द्वारा देश के विभाजन को स्वीकार कर लेने को मुसलिमपरस्ती (appeasement of the Muslims) कहा था । हिन्दू महासभा के एक अदूरदर्शी सदस्य ने ही राष्ट्रपिता महात्मा गांधी की हत्या की थी । इसके कारण दल की प्रतिष्ठा घट गई, और हिन्दू महासभा के अनेको समझदार सदस्यो ने यह इच्छा व्यक्त की कि हिन्दू महासभा को केवल सांस्कृतिक क्षेत्र में कार्य करना चाहिए । किन्तु उन्हे सफलता नही मिली और हिन्दू महासभा अब भी उसी प्रकार चल रही है ।

हिन्दू महासभा चाहती है कि देश का जो १९४७ में विभाजन हुआ, वह रद्द हो जाय और अखण्ड हिन्दुस्तान की स्थापना हो, तथा भारत मे हिन्दू राष्ट्र का तथा हिन्दू राष्ट्रीयता का जन्म हो । किन्तु उक्त ध्येय किस प्रकार प्राप्त होगा, यह अभी व्यक्त नही किया गया है । दल को केवल ऐसे हिन्दुओ से समर्थन मिलता है जो हिन्दू धर्म और हिन्दू संस्कृति पर गर्व करते हैं और जो हिन्दू गौरव को पुनः संस्थापित करना चाहते हैं । हिन्दू महासभा के समर्थक विशेष रूप से महाराष्ट्र, पश्चिमी बंगाल और पंजाब मे अधिक संख्या मे मिलेंगे । किन्तु देश की राजनीति में हिन्दू महासभा का कोई स्थान नही है । पिछले महानिर्वाचन में हिन्दू महासभा को कुछ थोडी-सी सीटें तो संसद् में प्राप्त हुई थी और कुल बीस सीटे राज्यो के विधान-मण्डलो में प्राप्त हुई थी । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि हिन्दू साम्प्रदायिकता ने देश के निर्वाचको को बिल्कुल प्रभावित नही किया, और सारे देश मे धर्मनिरपेक्ष दलो (Secular Parties) को अपेक्षाकृत अधिक समर्थन मिला ।

राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ (The Rashtriya Swayam Sewak Sangh)—यह दल राजनीतिक संगठन तो नही है किन्तु इसके आदर्श और ध्येय वही हैं जो हिन्दू महासभा और अन्य हिन्दू संगठनो जैसे भारतीय जनसंघ आदि के हैं । इस दल की स्थापना १९२५ में इस उद्देश्य से की गई थी कि हिन्दुओ को सैनिक प्रशिक्षण दिया जाय और उनमे सामाजिक चेतना का विकास हो, साथ ही हिन्दुओ की शारीरिक, बौद्धिक और नैतिक उन्नति हो और इस प्रकार भारत में हिन्दू राष्ट्र की स्थापना हो । श्री एम० एम० गोलवलकर राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के प्रधान हैं । उनकी ५२वीं वर्षगांठ के अवसर पर एक उत्सव मनाया गया था । उस अवसर पर उन्होने कहा था कि "भारतीय राष्ट्र का नाम हिन्दू राष्ट्र होगा; और राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ ही एक ऐसा संगठन है जिसके प्रयत्नो के फलस्वरूप भारत मे हिन्दू राज की स्थापना होगी ।" आगे चलकर श्री गोलवलकर महोदय ने कहा, "राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के मार्ग में कुछ

भी बाधाएँ उठ खडी हो, किन्तु हम भारत में हिन्दू राष्ट्र की स्थापना करके रहेगे।"[1] राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ भारत की एकता में विश्वास करता है क्योकि एकता से ही देश समृद्ध और सुदृढ होगा। सघ, भाषावार प्रान्तो के पुनर्गठन के पक्ष में नही है, और प्रान्तीयता की भावना को सघ हेय दृष्टि से देखता है। श्री गोलवलकर ने दिल्ली की एक महती सभा में घोषणा की थी कि "प्रान्तीयता या भाषा के सम्बन्ध से पृथकता की भावना रखना देशद्रोह है।"[2] किन्तु उन्होने यह नही समझा कि भारत की एकता और हिन्दू राष्ट्र के मन्सूबे दो परस्पर-विरोधी सिद्धान्त हैं।

भारतीय जन-सघ (The Bhartiya Jan Sangh)—स्वतन्त्र भारत के प्रथम महानिर्वाचन के पूर्व स्वर्गीय डा० श्यामा प्रसाद मुखर्जी के नेतृत्व में भारतीय जन-सघ का जन्म हुआ। जन-सघ, वास्तव में राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ का ही अग है, और इस सगठन में राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ के कार्यकर्ता हैं अथवा वे लोग हैं जो एक देश, एक सस्कृति और एक राष्ट्र में विश्वास करते हैं। जन-सघ को पिछले महानिर्वाचन मे सफलता नही मिली और ससद् के लिए सघ ने ९४ स्थानो पर सघर्ष किया, किन्तु वह केवल तीन स्थान प्राप्त कर सका। दूसरे साधारण निर्वाचनो में उसने लोकसभा मे ४ स्थान प्राप्त किए हैं। जन-सघ का प्रभाव विशेष रूप से मध्य प्रदेश, पजाब, राजस्थान और यू० पी० में है।

भारतीय राजनीतिक दल व्यवस्था की कुछ महत्त्वपूर्ण विशेषताएँ

(Some Important Features of the Indian Party System)

एक दल की प्रधानता (The Dominance of a Single Party)—भारतीय राजनीतिक दल-व्यवस्था की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि केन्द्र और राज्यो में कांग्रेस की ही प्रधानता है और सभी लोगो ने कांग्रेस के प्रति प्रेम और भक्ति का भाव प्रदर्शित किया है। इसके कई कारण हैं। देश की स्वतन्त्रता की लडाई में जिन अनेको शहीदो ने प्राण त्याग किए, उन्ही के खून और हड्डियो के ढाँचे पर कांग्रेस का निर्माण हुआ, इसलिए भारतीय सर्वसाधारण की निगाहो में कांग्रेस के प्रति महान् आदर है। वे समझते हैं कि कांग्रेस उन करोडो ज्ञात और अज्ञात हुतात्माओ की पवित्र यादगार है जिन्होने कांग्रेस के तिरगे के नीचे भारत माता की स्वतन्त्रता की खातिर अपना सभी कुछ बलिदान कर दिया। कांग्रेस ने ही ब्रिटिश भारतीय सरकार का उत्तरदायित्व सँभाला, और महान् आपात के काल में कांग्रेस ही स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद देश को सुरक्षित रूप से बचा ले गई, और यह कांग्रेस के त्याग और गौरव का सूचक है कि उसके प्रयत्नो के फलस्वरूप नया शिशु—भारत-राज्यरूपी जहाज मुसीबत के झझावातो से साफ बचाकर किनारे लगा दिया गया। कांग्रेस की पुरानी सफलताओं को देखते हुए अब भी लोगो को कांग्रेस में विश्वास है। और जिन लोगो के हाथो में देश और शासन की बागडोर है, वे ऐसे त्यागी और कर्मनिष्ठ राजनीतिज्ञ हैं जिनके देश-प्रेम, सचाई, ईमानदारी और राजनीतिक योग्यता की भारी धाक है। जहाँ गाधी जी और उनकी कांग्रेस ने देश को आजादी दिलाई, नेहरू जी और

---

[1] The Tribune, Ambala Cantt, April 7, 1956, p 8

[2] Ibid, April 10, 1956, p 5.

उनकी सरकार ने देश को अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में प्रमुख स्थान दिला दिया है। जहाँ गाधी जी ने कांग्रेस में क्रान्ति की लहर फूंक दी और उसे स्वतन्त्रता की लडाई का सेना मुख बनाया, नेहरू जी ने ऐसी लहर फूंक दी है जिससे कांग्रेस सरकार ने दो ऐसी पचवर्षीय योजनाओ का सूत्रपात किया है जिनका आदर्श है देश में समाजवादी समाज की स्थापना करना। सत्य यह है कि आज नेहरू जी ही कांग्रेस है, और कांग्रेस ही नेहरू की वाणी है। नेहरू जी का गतिशील व्यक्तित्व सारे देश की राजनीति पर छाया हुआ है, और विरोधी दलो के सदस्य भी मुक्त कण्ठ से नेहरू जी की प्रशसा करते हैं।[1] भारतीय सम्यवादी दल की नीति मे परिवर्तन और उसका नेहरू सरकार की विदेशी नीति के प्रति समर्थन, और द्वितीय पचवर्षीय योजना एव अन्य कई प्रस्तावो और उद्देश्यो के प्रति सरकार और साम्यवादियो में मतैक्य—ये सब ऐसे तथ्य हैं जिन्होने कांग्रेस और साम्यवादियो के बीच के विभेदो की दीवार को छाँट दिया है, और विशेष रूप से जब साम्यवादी यह कहने लगे हैं कि समाजवादी व्यवस्था शान्तिपूर्ण उपायो के द्वारा भी प्राप्त की जा सकती है और सामाजिक विकास के नियम सभी देशो मे समान नही हैं, तो निश्चित रूप से यह सब नेहरू और कांग्रेस की महान् सफलता का द्योतक है।[2]

श्री अजय कुमार घोष, भारतीय साम्यवादी दल के जनरल सेक्रेटरी ने साम्यवादी दल की चौथी कांग्रेस की स्वागत समिति के समक्ष पालघाट में कहा था कि "हाल के वर्षों में भारत की अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में ख्याति बढी है, और अब भारत अन्तर्राष्ट्रीय मामलो में एक शक्तिशाली सत्ता है जो ससार में शान्ति स्थापना मे योग दे रहा है।"[3]

इस प्रकार विरोधी दल के द्वारा, शासन की गृहनीति और विदेशी नीति की सराहना, वास्तव में ससदीय लोकतन्त्र के लिए एक अनहोनी-सी चीज़ है। और कांग्रेस के अतिरिक्त किसी अन्य दल का न तो सर्वसाधारण पर इतना प्रभाव है और न सर्वसाधारण में इतना मान है। सत्तारूढ दल होने के कारण, कांग्रेस को अन्य दलो की अपेक्षा अधिक प्रचार सुविधाएँ हैं और उसके आर्थिक स्रोत भी अन्य दलो की अपेक्षा अच्छे हैं। इन सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि कांग्रेस का सगठन सारे देश में जाल की तरह फैला हुआ है। और यह सगठन सुदृढ और सुव्यवस्थित है। कांग्रेस का सदेश और कांग्रेस सरकार की सफलताओ के भारत के कोने-कोने मे

---

[1] श्री एम० वी० कामथ (M V. Kamath) ससद्-सदस्य ने, ७ अप्रैल, १९५६ को एक साहित्यिक गोष्ठी में एक भाषण दिया था, जो ट्रिब्यून (Tribune) नामक पत्र में ९ अप्रैल, १९५६ के अक में १०वें पृष्ठ पर प्रकाशित हुआ था। इसे देखिए।

[2] भारतीय साम्यवादी दल (C P I) की चतुर्थ कांग्रेस के राजनीतिक प्रस्ताव को देखिए। १३ अप्रैल, १९५६ को श्री गोपालन ने त्रिचूर में एक वक्तव्य दिया था उसे भी देखिए। उक्त वक्तव्य ट्रिब्यून नामक पत्र में १४ अप्रैल, १९५६ के अक में पृष्ठ ६ पर छपा था।

[3] The Tribune, April 14, 1956, p 6 इसके अतिरिक्त श्री अजय कुमार घोष की प्रेस कॉन्फ्रेंस की वार्त्ता भी देखिए जो उन्होंने दिल्ली में १९ मई, १९५६ को दी थी। इसके लिए २० मई, १९५६ का ट्रिब्यून पत्र देखिए।

डके पिट रहे हैं। इसलिए स्वाभाविक ही है जो इस समय कांग्रेस ही देश की राजनीति पर छायी हुई है। निश्चित है कि अभी कुछ वर्षों तक कांग्रेस की ही तूती बोलेगी। विरोधी दल भी ऐसा ही समझते हैं।[1]

सगठित विरोधी दल का अभाव (Absence of Effective Opposition)—भारतीय राजनीति मे यह भी आश्चर्यजनक विशेषता है; और सम्भवत यह कांग्रेस की सर्वप्रियता का आवश्यक परिणाम है कि देश मे, कांग्रेस के विरोध में प्रभावी और सगठित विरोधी दलो का पूर्ण अभाव है। यद्यपि कांग्रेस अब ससदीय कार्यक्रम में विश्वास करती है, फिर भी उसने अपने पुराने रवैये को नही त्यागा है। कांग्रेस अब भी अपने आपको राष्ट्रीय सगठन समझती है, और अब भी उसने अपना पुराना हठ नही छोडा है जिसके अनुसार उसके नेता कहा करते थे कि "जो कांग्रेस के साथ नही हैं, वे देश की समृद्धि और स्थायित्व के लिए खतरा पैदा करते हैं।" दूसरे शब्दो में कहा जा सकता है कि कांग्रेस को ऐसा अभिमान हो गया है मानो देश-भक्ति का कांग्रेसियो ने ही ठेका ले लिया है और कांग्रेसी अन्य दलो की देश-भक्ति पर सन्देह करते हैं। तथ्य यह है कि कांग्रेस विरोधी दलो से घबराती है क्योकि वह कांग्रेस के विरोधियो को देश के विरोधी समझ रही है। स्थिति यहाँ तक बिगड गई है कि सामान्य कांग्रेसी ईमानदारीपूर्ण मतभेद को भी सहन करने के लिए तैयार नही है।

किन्तु बिना शक्तिशाली और सगठित विरोधी दल के लोकतन्त्र अधिनायकवाद से अधिक भयावह बन सकता है। कहावत है कि यदि विरोधी दल नही है तो सच्चा लोकतन्त्र भी नही है। विरोधी दल वह है जो सत्तारूढ दल का विरोध करे, उसकी कमजोरियो पर आक्षेप करे और यदि सम्भव हो तो उसको पदच्युत कर दे। विरोधी दल सदैव इस ताक मे रहता है कि सरकार की या व्यक्तिगत मन्त्रियों की गलतियो पर आक्षेप करे और इस प्रकार सामान्य जनमत उनके विरोध में उभाडे। विरोधी दल अपने इस कर्त्तव्य का धैर्यपूर्वक निर्वहन करता रहता है, और यह, ससदीय शासन-प्रणाली मे, भ्रष्टाचार को रोकने के लिए और कुशासन को बदलने के लिए अत्यन्त प्रभावी अकुश है। यही वह साधन है जिसके द्वारा व्यक्तिगत अन्याय का निराकरण हो सकता है। यदि किसी देश में उत्तरदायी और सहानुभूतिपूर्ण शासन की सृष्टि करना है, तो उस देश के शासन में आलोचना का आदर करना ही होगा। आलोचना सहन करने वाला शासन उन्मुक्त और ईमानदारी पूर्ण शासन करता है। ऐसा शासन, आलोचना के जवाब में विरोधियो का दमन नही करता, अपितु वह विवेकयुक्त तर्कों से विरोधियो को समझाने का प्रयत्न करता है, किन्तु उक्त विवेकयुक्त तर्कों के पीछे जनमत का समर्थन होना चाहिए। यदि कोई शासन विरोध को सहन करने के लिए तैयार नही है, तो वह स्वय खतरा मोल लेता है।

---

[1] श्री एम० वी० कामथ ने ७ अप्रैल, १९५८ को एक साहित्यिक गोष्ठी में भाषण दिया था, जो ट्रिब्यून नामक पत्र में ९ अप्रैल, १९५८ को पृष्ठ ६ पर छपा था। उसे देखिए।

इसलिए ससदीय शासन-प्रणाली के लिए विरोधी दल अत्यन्त अपरिहार्य है। अत, यह बहुत आवश्यक है कि यदि भारत में शक्तिशाली ससदीय लोकतन्त्र की स्थापना वाछनीय है, तो शक्तिशाली विरोधी दल बनाना ही होगा। सत्तारूढ दल का भी यह कर्त्तव्य है कि वह अपने राजनीतिक दायित्वो को पूरा करे क्योकि शासन के बाद दूसरा दर्जा विरोधी दल का है। साम्यवादी दल की नीति मे परिवर्त्तन हुआ है और इस दल की यह इच्छा भी है कि देश में शान्तिपूर्ण उपायो के द्वारा समाजवादी व्यवस्था स्थापित की जाय, तो फिर "निश्चित रूप से सभी देशभक्त और लोकतन्त्रात्मक दलो को मिल जाना चाहिए।" श्री अजय कुमार घोष के शब्दों में "सम्मिलित प्रयत्नो के फलस्वरूप अपने देश के महान् गौरव को अधिक बढाना चाहिए।"[1] २५ फरवरी, १९५६ को ससदीय लोकतन्त्र के ऊपर एक तत्त्वान्वेषक गोष्ठी हुई थी जिसके सभापति डा० राधकृष्णन् थे, और जिसका उद्घाटन प० जवाहरलाल नेहरू ने किया था। उक्त गोष्ठी (Seminar) ने निर्णय किया था कि सत्तारूढ दल और विरोधी दल मिलकर ही ससदीय लोकतन्त्र को सफल बना सकते हैं। डा० राधाकृष्णन् ने अपने अभिभाषण मे कहा था कि ससदीय लोकतन्त्र की परीक्षा इस बात से होगी कि वह अपने देश के अल्पसख्यको के साथ कैसा व्यवहार करता है। उन्होने आगे चलकर कहा कि "अल्पसख्यक चाहे अधिक न हो, फिर भी यह समझना ही होगा कि ससदीय लोकतन्त्र पर शासन का भी उतना ही अधिकार है जितना कि विरोधी दलो का। लोकतन्त्रात्मक व्यवस्था में यह आवश्यक है कि शासन अथवा सत्तारूढ दल और विरोधी दल एक साथ बैठें और अपने मतभेदो को दूर करें और सम्मिलित प्रयासो के फलस्वरूप देश को उन्नत करें।"[2]

साम्प्रदायिक दल (The Communal Parties)—भारतीय राजनीतिक रगमच पर एक अन्य महत्त्वपूर्ण विकास यह हुआ है कि साम्प्रदायिक भावनाओ को उभार मिला है और साम्प्रदायिक दलो को प्रश्रय मिला है। साम्प्रदायिक दलो का जन्म ब्रिटिश सरकार का उपहार था, और ऐसा विश्वास किया जाता था कि अग्रेज़ो के चले जाने के पश्चात् और भारत मे धर्मनिरपेक्ष राज्य स्थापित हो जाने के पश्चात् साम्प्रदायिकता का विष दूर हो जायगा, और सभी साम्प्रदायिक दल स्वत समाप्त हो जायेंगे। पिछले महानिर्वाचन में साम्प्रदायिक दलो को बिल्कुल सफलता नही मिली और निर्वाचको ने निश्चित रूप से धर्मनिरपेक्ष दलों को अधिक मत दिए। किन्तु पूर्वी पाकिस्तान से बहुत बडी सख्या में हिन्दुओ को निकाला जा रहा है। इस कारण हिन्दू सम्प्रदायवादियो को एक बहाना मिल गया है कि वे अपनी गतिविधियो को बढावें और इस प्रकार हिन्दुओ के वास्तविक मित्र बनने का दावा करें। हिन्दू महासभा और राष्ट्रीय स्वय सेवक सघ ने हिन्दू राष्ट्र का नारा बुलन्द किया है और श्री एन० सी० चटर्जी (Shri N C Chatterjee) कहते हैं

---

[1] भारतीय साम्यवादी दल (C P I) की चतुर्थ काग्रेस की स्वागत समिति के समक्ष अभिभाषण। देखिए १८ अप्रैल, १९५६ का ट्रिब्यून, पृष्ठ ६।

[2] The Sunday Tribune, Ambala Cantt, Feb 26, 1956, p 1

कि हिन्दू राष्ट्र का विचार शुभ है।[1] यद्यपि मुसलिम लीग का अस्तित्व समाप्त हो चुका था, फिर भी वह पुनरुज्जीवित हो चुकी है और पिछले वर्ष अलीगढ कॉन्फ्रेंस में मुसलिम नेताओ ने फिर पुरानी साम्प्रदायिक जहनियत का प्रदर्शन किया। २८ दिसम्बर, १९५५ को प्रधान मन्त्री श्री नेहरू ने कालीकट में एक सार्वजनिक सभा में कहा "मुझे बताया गया है कि मालाबार मे मुसलिम लीग के वशज अभी मौजूद हैं। यह आश्चर्य की बात है कि लीग जैसा बदनाम सगठन, जिसने भारत की आजादी के मार्ग में रोडे अटकाए और भारतवासियो को अपार कष्ट दिए, पुन मालाबार में अपना कृष्ण मुख चमका रहा है।"[2] इधर सिखो ने भी पजाब मे पजाबी सूबे की माँग की थी क्योकि "पजाबी सूबे के बनने से न तो किसी सम्प्रदाय को किसी अन्य सम्प्रदाय के आधीन रहना पडेगा और इससे भाषा की समस्या भी हल हो जायगी।"[3] आजकल अकाली दल राजनीतिक दल नही रह गया है, क्योकि इसने सिखो मे धार्मिक, सास्कृतिक और शिक्षा सम्बन्धी विकास को ही अपना कार्यक्रम बना लिया है।

भारत में न तो ससदीय लोकतन्त्र सफल होगा और न धर्मनिरपेक्ष आदर्श प्राप्त किया जा सकेगा, यदि साम्प्रदायिक तत्त्वो को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी जायगी और यदि साम्प्रदायिक दल इसी प्रकार देश के राजनीतिक वातावरण को दूषित करते रहेगे और 'हिन्दू राष्ट्र' जैसे पुराने और सिरफिरे विचारो का प्रचार करते रहेगे। साम्प्रदायिक दल औचित्य का अतिक्रमण करते हैं और विचार-स्वातन्त्र्य का नाश करते हैं। ऐसे दल एक नागरिक और दूसरे नागरिक के बीच द्वेषपूर्ण विभेद मानते हैं, और वे असहिष्णु, आक्रामक और उद्दण्ड होते हैं, वे देश की एकता और स्थिरता का नाश करते हैं। यदि भारतीयो को उन्नतिशील और लोकतन्त्रात्मक राष्ट्र के रूप में सगठित करना है तो हम को अपने साम्प्रदायिक विचारो पर पुनर्विचार करना ही होगा। हमारे राष्ट्र में सभी विश्वासो और सभी धर्मो के व्यक्ति निवास करते हैं और लोकतन्त्र मनुष्यो में भेद नही करता। सभी नागरिको के समान अधिकार हैं और समान विशेषाधिकार हैं।

बहुदल पद्धति (The Multiple-Party System)—चूँकि भारत मे कई साम्प्रदायिक दल हैं और सशक्त एव सगठित वरोधी दल का अभाव है, इसलिए अनेको राजनीतिक दलो की मानो बाढ-सी आ गई है। केवल लोक सभा मे ही अनेको राजनीतिक दल हैं।[4] इसके अतिरिक्त बहुत से निर्दल सदस्य भी हैं। भारत

---

[1] "चर्जी का नेहरू के नाम जवाब।"—The Tirbune, Ambala Cantt, April 12, 1956, p 5

[2] The Tribune, Ambala Cantt, Decembar 20, 1955. p 10

[3] ११ फ़रवरी १९५६ को अकाली कॉन्फ्रेंस के अमृतसर अधिवेशन के अवसर पर मास्टर तारासिंह ने जो अध्यक्ष पद से भाषण दिया था, उसे देखिये।

[4] India, 1955 . 59

एक विशाल देश है जिसमें विभिन्न लोग निवास करते हैं जिनकी अलग भाषा है और जिन्हें अपनी-अपनी संस्कृतियों पर अभिमान है। ऐसे देश में इतने अधिक राजनीतिक दलों और समुदायों का उद्भव भविष्य के लिए कष्टकारी होगा क्योंकि इससे लोगों में प्रान्तीय और क्षेत्रीय भावना का ज़ोर होगा और पृथकतावादी हितों को प्रोत्साहन मिलेगा। ऐसी स्थिति में राष्ट्रीय मतैक्य समाप्त हो जायगा। इसके अतिरिक्त बहुसंख्यक दलों के कारण षड्यन्त्रों को प्रश्रय मिलता है, और यदि क्षेत्रों और सम्प्रदायों के आधार पर परस्पर-विरोधी दलों में समझौते के द्वारा संयुक्त मन्त्रिमण्डल बनता है, तो ऐसा मन्त्रिमण्डल कमज़ोर होगा और अस्थायी होगा। इसलिए यह अत्यन्त युक्तियुक्त होगा यदि विभिन्न राजनीतिक दल अपनी नीतियों और विधियों को इस प्रकार निर्धारित करें कि देश में द्विदल पद्धति का श्रीगणेश हो, और संसदीय लोकतन्त्र की यही माँग है। इस समय देश का वातावरण इसके लिए अनुकूल है। साम्यवादी दल के इस निर्णय के फलस्वरूप कि 'समाजवाद शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा स्थापित किया जा सकता है, देश के राजनीतिक वातावरण में क्रान्तिकारी परिवर्तन होगा। और यह भी आशा करनी चाहिए कि भारत के लोगों को राजनीतिक बुद्धि और न्याय्य प्रेरणा मिलेगी ताकि भारत के राजनीतिक रंगमंच में साम्प्रदायिक दल तिरोहित हो सकें।

कांग्रेस की शुद्धि (Purifying the Congress)—यद्यपि इस समय कांग्रेस केन्द्र और सभी राज्यों में सत्तारूढ़ दल है फिर भी यह कहना पड़ेगा कि कांग्रेस अपनी ओर इस समय आदर्शवादी युवकों को आकर्षित नहीं करती। शासन सत्ता ने कांग्रेस के नेताओं को भ्रष्ट कर दिया है, और सत्ता हथियाने के सम्बन्ध में जो कांग्रेस के नेताओं में परस्पर होड़ है, उसके कारण कांग्रेस की प्रतिष्ठा कम हो गई है। दल में गुटबन्दी का बोलबाला है और इस समय एक सामान्य कांग्रेसी अपने पिछले त्यागों से अत्यधिक लाभ उठाना चाहता है। इस समय सामान्य कांग्रेसी, परमिटों, लाइसेन्सों, नौकरियों आदि के चक्कर में रहता है, और उसे कांग्रेस या उसके उद्देश्यों की किंचित् मात्र चिन्ता नहीं है। हाल ही में राज्यों के पुनर्गठन और भाषा के प्रश्न पर कांग्रेसियों ने जिस काली ज़हनियत का परिचय दिया, वह देश के लिए अशुभ है। प्रसिद्ध और सम्मानित कांग्रेसियों द्वारा राष्ट्र-विरोधी कृत्यों का करना और प्रोत्साहित करना और इस प्रकार राष्ट्रीय एकता को धक्का पहुँचना दुःखभरी कहानी है और इस बात का सूचक है कि कांग्रेस और देश का भविष्य खतरे से खाली नहीं है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि १९५७ के महानिर्वाचन में कांग्रेस की विजय हुई किन्तु विजय के कारण कांग्रेस को निष्क्रिय होकर नहीं बैठ जाना चाहिए। यदि कांग्रेस ऐसी ग़लती करेगी, तो यह उसकी महान् भूल होगी। यदि कांग्रेस को बहुमत मिला तो इसका कारण केवल यह था कि विरोधी दल आपस में संगठित नहीं थे। लेकिन केरल में साम्यवादी दल को जो सफलता मिली है, उससे कांग्रेस को सावधान हो जाना चाहिए। वास्तव में कांग्रेस का कार्य अत्यन्त कठिन है। साम्यवादियों ने यह घोषणा कर दी है कि वे संविधान के अन्तर्गत और योजना आयोग की सिफारिशों

के अनुसार कार्य करेंगे। यदि वे राज्य को सुचारु प्रशासन दे सके और भ्रष्टाचार का जिससे अब जनता तंग आ गई है, निवारण कर सके, तो वे जनता के हृदय में अपना स्थान बना लेंगे और हो सकता है कि आगामी साधारण निर्वाचनों में फिर जनता उन्हीं को मतदान दे। द्वितीय साधारण निर्वाचनों में कई स्थलों पर कांग्रेस को जो मुंह की खानी पड़ी है, इसके कारणों का विश्लेषण करते हुए श्री जवाहरलाल नेहरू ने अप्रैल, १९५७ में कांग्रेस संसदीय दल में भाषण देते हुए कहा था "कि अब कांग्रेस में उस गतिशीलता (dynamism) का अभाव पाया जाता है जो उसमें १९२० और १९३० के बीच रहा था।" उन्होंने कहा, "इसलिए यह अति आवश्यक है कि कांग्रेस ऐसी नीतियों को बनाये और कार्यान्वित करे जिससे कि वह जनसाधारण से कभी दूर न रह सके।" उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि कांग्रेस संगठन की त्रुटियों को दूर किया जाये और मंत्री अपनी शान-शौकत में कमी करें।

कांग्रेस को वास्तविकताओं का सामना करना चाहिए और अपनी अशुद्धियों और कमियों की ओर ध्यान देना चाहिए। कांग्रेस के नेताओं और सदस्यों को अधिक धैर्य और संयम से काम लेना चाहिए। प्रत्येक कांग्रेसी का यह कर्त्तव्य होना चाहिए कि कांग्रेस संगठन में वही महत्ता, वही पवित्रता, वही निष्ठा और वही लगन बनी रहे जिन्हें जवाहरलाल जी चाहते हैं। तभी कांग्रेस के द्वारा गतिशील सामाजिक परिवर्त्तनों का मार्ग ग्रहण किया जा सकेगा, और तभी कांग्रेस की ओर लोगों का झुकाव होगा। उच्चादर्शों के ऊँचे नारों से कांग्रेस की खोई हुई प्रतिष्ठा और शक्ति वापिस नहीं आ सकती। कांग्रेस की शक्ति के लिए उसके समर्थकों में आदर्शवाद की भावना रहनी चाहिए, और उसके छोटे और बड़े नेताओं में कर्त्तव्य की भावना भी रहनी चाहिए।

Suggested Readings

Avasthi, A	· Political Parties in India, the Indian Journal of Political Science, January-March 1951
Chandrasekharan, C V	Political Parties with special reference to India
Jha, Chetker	Future of Indian Political Parties, The Indian Journal of Political Science January March 1951
Lal Bahadur	The Muslim League
Malhotra, D R	Task before the Congress, The Tribune, Ambala Cantt, February 11, 1956 Supplement, Indian National Congress, Amritsar Session, p 10
Raj Kumar, N V.	· Indian Political Parties
Sitaramayya, P	The History of the Indian National Congress, Vol I and II

अध्याय १४

क्षेत्रीय परिषदें

(Zonal Councils)

क्षेत्र और क्षेत्रीय परिषदें (Zones and Zonal Councils)—राज्य पुनर्गठन अधिनियम ने राज्यो और सघ प्रदेशो (Union territories) को पाँच क्षेत्रों में विभाजित किया है और प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक क्षेत्रीय परिषद् की योजना की है। किन्तु सघ के प्रदेशो में तदर्थ अण्डमन, निकोबार, लका-दीव, मिनिकॉय और अमिन्दिवी टापू सम्मिलित नही किये गये हैं। निम्न पाँच क्षेत्र हैं—

(क) उत्तरी क्षेत्र जिसमें पजाब, राजस्थान जम्मू और कश्मीर राज्य होंगे तथा दिल्ली और हिमाचल प्रदेश होंगे।

(ख) मध्य क्षेत्र जिसमें उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के राज्य होंगे।

(ग) पूर्वी क्षेत्र जिसमे बिहार, पश्चिमी बगाल, उडीसा, असम राज्य होंगे तथा मणिपुर एव त्रिपुरा होंगे।

(घ) पश्चिमी क्षेत्र जिसमे केवल बम्बई का राज्य होगा।

(ङ) दक्षिणी क्षेत्र जिसमे आध्र-तैलगाना, मद्रास, मैसूर और केरल के राज्य होंगे।

क्षेत्रीय परिषदो की रचना (Composition of the Councils)—प्रत्येक क्षेत्र के लिए जो परिषद् बनेगी उसमे निम्नलिखित सदस्य होंगे—

(१) राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त एक सघीय मन्त्री,

(२) प्रत्येक क्षेत्र मे जितने राज्य होंगे, उनमे से प्रत्येक का मुख्य मन्त्री और प्रत्येक ऐसे राज्य के दो-दो अन्य मन्त्री जिन्हे सम्बन्धित राज्य का राज्यपाल नाम निर्देशित करे,

(३) यदि किसी क्षेत्र में सघ का प्रदेश (Union territory) पडता है, तो ऐसे प्रत्येक प्रदेश के लिए एक-एक सदस्य होगा जिसे राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त किया जायगा।

(४) पूर्वी क्षेत्र के सम्बन्ध में वह व्यक्ति भी लिया जायगा, जो आजकल असम के राज्यपाल का अनुसूचित आदिम जाति क्षेत्रों के लिए परामर्शदाता (Adviser to the Governor of Assam for Tribal Areas) है।

क्षेत्रीय परिषदो के परामर्शदाता (Advisers to the Zonal Councils)—प्रत्येक क्षेत्र के लिए जिस क्षेत्रीय परिषद् का निर्माण होगा, उनमें निम्न परामर्शदाता होंगे—

(क) एक व्यक्ति भारतीय आयोजना आयोग (Planning Commission) द्वारा नामांकित किया जायगा,

(ख) सम्बन्धित क्षेत्र मे जितने राज्य होगे, उनमें से सब राज्यो के चीफ सेक्रेटरी, और

(ग) सम्बन्धित क्षेत्र में जितने राज्य होगे, उनमें सभी राज्यो के विकास कमिश्नर।

परामर्शदाताओ का कर्त्तव्य होगा कि वे क्षेत्रीय परिषदो को उनके कर्त्तव्यो के सम्बन्ध मे परामर्श दें और सहायता करें। यदि क्षेत्रीय परिषद् में किसी विषय पर विचार-विनिमय होगा तो उस परामर्शदाता को क्षेत्रीय परिषद् के विचार-विनिमय में भाग लेना होगा यदि वह परामर्शदाता उक्त परिषद् का सदस्य नाम निर्देशित कर दिया जाता है। किन्तु परामर्शदाता को परिषद् की सभा मे मतदान का अधिकार नही होगा, और न उसे किसी समिति में ही मतदान करने का अधिकार होगा।

समितियाँ नियुक्त करने का अधिकार (Power to appoint Committees)—क्षेत्रीय परिषद् यदि चाहे तो समय-समय पर अपने सदस्यो और परामर्शदाताओ के योग से समितियो का निर्माण कर सकेगी और उन समितियो को ऐसे कृत्य करने को सौंपे जा सकते है जैसे कि सकल्प द्वारा विनिश्चित किये जाएँ। परिषद् यदि चाहे तो किसी समिति के साथ कार्य करने के लिए किसी सघ मन्त्री को या किसी ऐसे राज्य के मन्त्री को जो क्षेत्र मे सम्मिलित हो, या सघ सरकार के किसी अधिकारी को या राज्य सरकार के किसी अधिकारी को जिस रूप मे चाहे लगा सकती है। क्षेत्रीय परिषद् की किसी समिति से सम्बद्ध किसी व्यक्ति को अधिकार होगा कि वह समिति की कार्रवाई में भाग ले सकेगा, किन्तु उसे मत देने का अधिकार नही होगा। परिषद् के उन परामर्शदाताओ को भी मत देने का अधिकार नही है, जो समितियो के सदस्य हैं। इस प्रकार नियुक्त की गई समिति कार्रवाई के सचालन के सम्बन्ध में कार्य-प्रणाली सम्बन्धी ऐसे नियमो का आश्रय लेती है, जिन्हे क्षेत्रीय परिषद् समय-समय पर भारत सरकार की स्वीकृति से निर्धारित करे।

परिषद् का कार्यालय और उसके सेवक (Staff and Office of the Council)—प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् का अपना सचिवालय होगा जिसमे एक सेक्रेटरी या सचिव और एक सयुक्त सचिव तथा कुछ अन्य अधिकारी होगे जिनकी सख्या परिषद् का चेयरमैन निश्चित करेगा। क्षेत्र के अन्तर्गत राज्यो के जो मुख्य सचिव क्षेत्रीय परिषद् के सदस्य होगे, वे ही परिषद् के सचिव होगे, किन्तु प्रत्येक मुख्य सचिव परिषद् का सचिव बारी-बारी से एक वर्ष के लिए होगा। परिषद् के सयुक्त सचिव पद के लिए उन अधिकारियो मे से कोई व्यक्ति परिषद् के चेयरमैन के द्वारा नियुक्त किया जायगा जो परिषद् मे प्रतिनिधित्व प्राप्त किसी राज्य के सेवक न हो। प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् का सचिवालय ऐसे स्थान पर स्थापित किया जायगा जो क्षेत्र की सीमाओ मे हो और जिसे परिषद् स्वीकार कर ले।

क्षेत्रीय परिषद् का सभापति और उपसभापति (Chairman and Vice Chairman of the Council)—राष्ट्रपति द्वारा नामांकित सघ मन्त्री (Union

Minister), क्षेत्रीय परिषद् का सभापति होगा। क्षेत्र में सम्मिलित राज्यो के मुख्य मन्त्री बारी-बारी से परिषद् के उपसभापति होगे। अर्थात् प्रत्येक राज्य का मुख्य मन्त्री बारी-बारी से एक-एक वर्ष के लिए एक बार मे परिषद् का उपसभापति होगा।

परिषद् की बैठकें (Meetings of the Council)—प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् सभापति द्वारा आहूत होने पर बैठक मे समवेत होगी। यदि परिषद् स्वय अन्यथा उपबन्धित न करे, तो क्षेत्रीय परिषद् क्षेत्र मे सम्मिलित राज्यो में से प्रत्येक राज्य मे बारी-बारी से समवेत हुआ करेगी। परिषद् की बैठको का सभापतित्व सभापति करेगा, और उसकी अनुपस्थिति मे उपसभापति सभापति का आसन ग्रहण करेगा। यदि सभापति और उपसभापति दोनो अनुपस्थित हो, तो परिषद् के उपस्थित सदस्यो मे से उनके द्वारा निर्वाचित सदस्य सभापति का आसन ग्रहण करेगा। परिषद् का सभापति कार्य-प्रणाली सम्बन्धी ऐसे नियमो के आधार पर परिषद् की कार्रवाहियो का सचालन करेगा जिन्हे समय-समय पर परिषद् केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति से निर्धारित करे।

क्षेत्रीय परिषद् की बैठको मे सभी प्रश्न उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यो के बहुमत से निर्णीत होगे। यदि किसी प्रश्न पर बराबर-बराबर मतदान हो तो सभापति का मत, और यदि सभापति अनुपस्थित हो तो उसके स्थान पर स्थानापन्न सभापति का मत निर्णायक मत होगा। क्षेत्रीय परिषद् की समस्त कार्रवाई और सभी निर्णय सघ सरकार को और सम्बन्धित राज्य सरकारो को भी भेजना आवश्यक होगा।

परिषद् के कृत्य (Functions of the Council)—प्रत्येक क्षेत्रीय परिषद् (Zonal Council) पूर्णत परामर्शदात्री निकाय होगा। परिषद् मे ऐसे किसी भी प्रश्न पर विचार हो सकेगा, जिसमे क्षेत्र के एक या एक से अधिक राज्य की रुचि हो, अथवा जिस प्रश्न में सघ और एक या एक से अधिक क्षेत्र मे सम्मिलित राज्य की रुचि हो। परिषद् तत्सम्बन्धी परामर्श या मन्त्रणा, सम्बन्धित राज्य या राज्यो को दे सकती है। यह भी उपबन्धित किया गया है कि क्षेत्रीय परिषद् विचार करने के उपरान्त निम्नलिखित विषयो पर सिफारिश कर सकती है—

(क) राज्यो के पुनर्गठन या सीमा-विवादो या भाषा सम्बन्धी अल्पमतो या अल्पसख्यको अथवा अन्तर्राज्यीय परिवहन के सम्बन्ध में सभी विषय या प्रश्न,

(ख) आर्थिक नियोजन से सम्बन्धित कोई प्रश्न, और

(ग) सामाजिक नियोजन के क्षेत्र में सभी लोगो और सभी वर्गों के सामान्य हित के सभी प्रश्न।

क्षेत्रीय परिषदो के विचार का जन्म (Birth of the idea of Zonal Councils)—जिन स्थितियो में किसी नये विचार का जन्म होता है, उन्ही परिस्थितियो के अनुसार उस विचार को पुष्टता मिलती है। राज्य पुनर्गठन आयोग के प्रस्तावो पर भाषावार प्रान्तों के आन्दोलनकारियो ने जिस काली और भद्दी जहनियत का प्रदर्शन किया उसी का परिणाम क्षेत्रीय परिषदो का विचार था। २१ दिसम्बर १९५५ को राज्य पुनर्गठन आयोग के प्रतिवेदन पर अपना भाषण समाप्त

करने से पूर्व लोक सभा के मच पर प० जवाहरलाल नेहरू ने उस समय सदन को आश्चर्यचकित कर दिया जब उन्होने कहा कि राज्यो के पुनर्गठन के पश्चात् समस्त देश को चार या पाँच क्षेत्रो मे बाँट दिया जायगा, और प्रत्येक क्षेत्र के लिए एक क्षेत्रीय परिषद् होगी जो सभी लोगो को सहकारिता के आधार पर सोचने और कार्य करने की प्रेरणा देगी। प्रधान मन्त्री ने इस सम्बन्ध में अपने विचारो को भी स्पष्ट रूप से प्रकट किया। उन्होने कहा—"राज्यो के पुनर्गठन के सम्बन्ध मे जितना मैने विचार किया है उतना ही मै क्षेत्रीय परिषदो के विचार की ओर आकृष्ट हुआ हूँ, यद्यपि पहिले, मै देश को पाँच या छ क्षेत्रो में विभाजित करने के पक्ष मे नही था।" किन्तु श्री नेहरू ने यह भी स्वीकार किया कि सारे देश को पहिले ही चार-पाँच क्षेत्रो मे विभाजित कर देना चाहिए था। आगे चलकर प्रधान मन्त्री ने कहा—"मैं चाहता हूँ कि सदन विचार करे कि क्या क्षेत्रीय परिषदो की स्थापना सम्भव है। मेरा मतलब यह है कि ससद् राज्यो के पुनर्गठन के सम्बन्ध मे अन्तिम निर्णय कुछ भी करे, तो भी हम क्षेत्रीय परिषदो की स्थापना कर सकते हैं। क्षेत्रीय परिषदो से मेरा मतलब यह है कि तीन या चार-पाँच राज्यो का सगठन बने और उनकी एक क्षेत्रीय परिषद् हो।" प्रारम्भ में क्षेत्रीय परिषदे परामर्शदाता निकाय होगे। श्री नेहरू ने कहा—"फिर हमे देखना है कि इनका क्या विकास होगा। आर्थिक समस्याओ और सीमा सम्बन्धी विवादो के समाधान के लिए केन्द्रीय सरकार भी इन परिषदो के कार्य मे पूरा सहयोग देगी।"

श्री नेहरू ने यह योजना सदन की प्रतिक्रिया जानने के अभिप्राय से प्रस्तुत की थी किन्तु सदन ने इस योजना का स्वागत किया। न केवल सत्तारूढ दल ने बल्कि विरोधी दल ने भी स्वीकृति प्रदान की। फलस्वरूप क्षेत्रीय परिषदो का विचार घर कर गया और भारत सरकार ने एक सकल्प पारित किया जो १६ जनवरी १९५६ को प्रकाशित हुआ। उक्त सकल्प मे राज्य पुनर्गठन आयोग के प्राय समस्त प्रस्ताव सम्मिलित थे। उक्त सकल्प में विनिश्चय किया गया कि "नये राज्यो के गठन के साथ भारत सरकार क्षेत्रीय परिषदें स्थापित करना चाहती है। उक्त परिषदें राज्यो के सामान्य हितो की बातो का निर्णय करेंगी और उन आर्थिक समस्याओ पर भी विचार करेंगी जो राज्यो के पुनर्गठन के कारण उठ खडी हुई हैं।" भारत सरकार के उक्त सकल्प मे क्षेत्रीय परिषदो के क्रियाकलापो का विशद वर्णन है, और उक्त सकल्प राज्य पुनर्गठन विधेयक के रूप में ससद् के समक्ष विचाराधीन है।

क्षेत्रीय परिषदो के लाभ (Utility of the Zonal Councils)—जिस समय भारतीय सविधान तैयार हो रहा था, कुछ राजनीतिक नेताओ की राय थी कि भारत की शासन-व्यवस्था एकात्मक हो न कि सघात्मक। उन्होने कहा था कि सघवाद के कारण फूट और कलह को प्रोत्साहन मिलेगा, आर्थिक नियोजन कठिन हो जायगा और प्रशासनिक एकरूपता कठिन होगी। किन्तु सविधान के निर्माताओ ने एकात्मक सविधान के स्थान पर सघात्मक सविधान को अच्छा समझा क्योकि उनके विचार से सघवाद के द्वारा ही विभिन्न सामाजिक और सास्कृतिक स्तरो के लोगो मे और देश एकता स्थापित की जा सकेगी, और सत्ता का अत्यधिक केन्द्रीकरण होने से बच

जायगा। वे सत्ता के अत्यधिक केन्द्रीकरण को लोकतन्त्रात्मक भावना के विरुद्ध समझते थे। फिर भी वे सघवाद के विरोधियो के विचारो का महत्त्व भी समझते थे। इसलिए उन्होने सघात्मक शासन-व्यवस्था को तो रखा, किन्तु उक्त सघवाद के साथ-साथ अत्यधिक एकात्मक स्वरूप की सघात्मक शासन-व्यवस्था का सूत्रपात किया।

हाल ही में दो घटनाएँ ऐसी हुई हैं जिनके कारण लोगो ने पुन एकात्मक शासन की माँग करना प्रारम्भ कर दिया है। एक घटना तो राज्य पुनर्गठन आयोग की रिपोर्ट पर भीषण वाद-विवाद और दगो का होना था। द्वितीयत, अब लोगो मे समझ आई है कि सघ के छोटे-छोटे अवयवी एकक राज्य, देश की विकास योजनाओ की क्रियान्विति मे बाधा उपस्थित करते हैं। किन्तु अब एकात्मक शासन-व्यवस्था स्थापित करने से भी भारत की कठिनाइयाँ हल नही होगी। नेहरू जी ने ससद् में मार्मिक शब्दो मे कहा था कि निस्सन्देह भारत मे एकता का नितान्त अभाव है और क्षेत्रीय परिषदो की योजना उस कमी को पूरा कर सकेगी। क्षेत्रीय परिषदे पूर्णतया विचारशील और परामर्शदाता निकाय होगी जो प्रत्येक क्षेत्र के राज्यो मे आर्थिक सहयोग और प्रशासनिक समन्वय की सस्थाओ और प्रथाओ को प्रोत्साहन देगे। क्षेत्रो मे स्थित राज्यो की नई सीमाओ की कठोरता के कारण जो सीमा विवाद और प्रशासनिक असुविधाएँ हो सकती हैं उनको निवटाने मे क्षेत्रीय परिषदो द्वारा पैदा किया हुआ विभिन्न राज्यो में परस्पर सहयोग और समन्वय अत्यधिक लाभदायक सिद्ध हो सकता है और अन्तत उक्त परिषदे पुनर्गठित राज्यो के कारण उठी हुई भाषागत और प्रान्तीय कुभावनाएँ और द्वेष-भावनाएँ शान्त कर सकेंगी और लोगो के परस्पर विरोध और उनकी पृथकतावादी भावनाएँ स्वय शान्त होगी। क्षेत्रीय परिषदो के सम्बन्ध मे प० पन्त ने ससद् मे ठीक ही कहा था "नदियो का बहाव उनके किनारे पर बसने वाले लोगो की भाषा के अनुसार नही प्रवाहित होता। उसी प्रकार पहाडो और खानो की बनावट पर भी किसी भाषा की छाप नही है। इसलिए कम से कम आर्थिक विकास के लिए हमें क्षेत्रीय परिषदो का आश्रय लेना ही होगा। इसके अतिरिक्त क्षेत्रीय परिषदो से वह कटुता कम होगी जो राज्यो के पुनर्गठन के फलस्वरूप कुछ स्थानो मे पैदा हो गई प्रतीत होती है।"

अप्रैल, १९५७ में उत्तरक्षेत्रीय योजना (North Zonal Council) का उद्घाटन करते समय पण्डित पन्त ने क्षेत्रीय योजना के निम्नलिखित मुख्य उद्देश्य निर्धारित किये थे .

(१) देश का भावात्मक एकीकरण करना,

(२) राज्य-भावना, प्रादेशिक भावना, भाषावाद और पृथक्तावादी भावनाओ को रोकना,

(३) कुछ स्थितियो में पृथकत्व के बाद के परिणामो को दूर करना जिससे कि पुनर्गठन, एकीकरण और आर्थिक विकास की प्रक्रिया सयुक्त रूप से आगे बढ सके;

(४) केन्द्र और राज्यो को जो आर्थिक और सामाजिक कार्यक्रमो को अधिकाधिक पूरा कर रहे हैं, आपस में सहयोग और विचार-विनिमय करने के

अवसर देना जिससे कि समाज के सामान्य हित की एक सी नीतियो का विकास किया जा सके और समाजवादी समाज का आदर्श सिद्ध किया जा सके,

(५) प्रमुख विकास-परियोजनाओ के सफल और द्रुत क्रियान्वीकरण मे एक दूसरे के साथ सहयोग करना, और

(६) देश के विभिन्न क्षेत्रो मे कुछ राजनीतिक सतुलन प्राप्त करना।

सक्षेप में कहा जा सकता है कि क्षेत्रीय परिषदो की योजना सह-अस्तित्व की दिशा मे एक परीक्षण है। परिषदे ऐसी लचीली सस्थाएँ हैं जो अन्तर्राज्यीय सहयोग उत्पन्न करेगी और इस अन्तर्राज्यीय सहयोग से ही देश का भावमय समैवय और एकता का मार्ग प्रशस्त होगा और नेहरू जी का स्वप्न पूर्ण होगा। प० पन्त जी ने भी कहा था कि "जब तक हम देश की सुरक्षा और एकता की ओर से निश्चिन्त और आश्वस्त नही हैं तब तक देश में कोई धर्म भी उन्नति नही कर सकता।"

फिर भी लोगो को पर्याप्त सन्देह है कि क्षेत्रीय परिषदो के द्वारा राज्यो के पुनर्गठन से उत्पन्न कटुता और विवादो का शमन हो सकेगा अथवा सीमा-विवाद या भाषागत अल्पमतो की शिकायतें या अन्तर्राज्यीय परिवहन सम्बन्धी विवाद शान्त हो सकेंगे। यह हम सभी का कटु अनुभव है कि सीमा-विवादो या अन्तर्राज्यीय परिवहन से उत्पन्न समस्याओ या अन्य विवादग्रस्त समस्याओ का समाधान पडौसी राज्य आपसी बातचीत या समझौते के द्वारा तय नही कर सकेंगे। मद्रास और आन्ध्र के राज्य, मामूली सीमा-सम्बन्धी झगडो को भी तय करने में असमर्थ रहे। सत्य यह है कि कभी-कभी व्यक्तियो या स्थानो से सम्बन्धित छोटे-छोटे विवाद भी इतना उग्र रूप धारण कर लेते हैं, जितना बडे-बडे नीतिसम्बन्धी प्रश्न उग्र रूप धारण नही करते। राष्ट्रमण्डल के देशो मे पूर्ण सहयोग के साथ जो कार्य हो रहा है, उसका एक मुख्य कारण यह भी है कि यदि कभी राष्ट्रमण्डल के दो सदस्य राष्ट्रो में कोई विवाद उठ खडे होते हैं तो ऐसे विवादो को सम्मेलनो की कार्यावलि में स्थान नही दिया जाता। कश्मीर के प्रश्न पर पाकिस्तान से भारत का झगडा चल रहा है अथवा दक्षिणी अफ्रीका के साथ भारतीयो की स्थिति के सम्बन्ध में भी हमारा दक्षिणी अफ्रीका के साथ विरोध है, यदि इन प्रश्नो को मुक्त रूप से उन्मुक्त सम्मेलन में सुलझाने का प्रयत्न किया जाता तो राष्ट्रमण्डल कभी का विघटित हो गया होता। इसलिए उचित ही था कि सयुक्त राष्ट्र सघ (U N O) को राष्ट्रमण्डल के इस प्रकार के विवादों को हल करने के लिए उपयुक्त माध्यम समझा गया। उसी प्रकार अन्तर्राज्यीय विवादो का निर्णय करने के लिए सघ सरकार या ससद् या तो प्रत्यक्षत हस्तक्षेप कर सकते हैं या कोई ऐसी अभिकरण सस्था स्थापित कर सकते हैं जिसके द्वारा सारे विरोध शान्त किए जा सकते हैं और अपेक्षाकृत, प्रस्तावित क्षेत्रीय परिषदें इस दिशा मे उतनी सफल होगी, इसमें सन्देह है।